हिंदी विश्वकोश

सूरदास

(पृ० सं० १६१-१६२)

(नागरीप्रचारिणी सभा के सौजन्य से)

हिंदी विश्वकोश

खंड १२

'सवर्गीय यौगिक' से 'ह्वाइटहेड, एलफ्रेड नार्थ' तक
तथा
परिशिष्ट

नागरीप्रचारिणी सभा
वाराणसी

हिंदी विश्वकोश के संपादन एवं प्रकाशन का संपूर्ण व्यय भारत
सरकार के शिक्षामंत्रालय ने वहन किया तथा इसकी
बिक्री की समस्त आय भारत सरकार को
'सभा' दे देती है।

प्रथम संस्करण

शकाब्द १८९१ सं० २०२६ वि० १९७० ई०

नागरी मुद्रण, वाराणसी, में मुद्रित

परामर्शमंडल के सदस्य

पं० कमलापति त्रिपाठी, सभापति, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी (अध्यक्ष)

माननीय श्री भक्तदर्शन, राज्य शिक्षा मंत्री, भारत सरकार, नई दिल्ली।

श्री कृष्णदयाल भार्गव, उपसचिव (भाषा), शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

सुश्री डॉ० कौमुदी, उप वित्त सलाहकार, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

प्रो० ए० चंद्रहासन, निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, दरियागंज, नई दिल्ली।

डॉ० नंदलाल सिंह, अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', 'अलका', पो—रूपसपुर, पूर्णिया, बिहार।

डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, २१ वेस्टलैंड एवन्यू, हार्नचर्च, एसेक्स, इंग्लैंड।

श्री करुणापति त्रिपाठी, प्रकाशनमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श्री मोहनचंद मेहरा, अर्थमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', साहित्यमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श्री सुधाकर पांडेय, प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी (मंत्री तथा संयोजक)।

संपादक समिति

पं० कमलापति त्रिपाठी, सभापति, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी (अध्यक्ष)

माननीय श्री भक्तदर्शन, राज्य शिक्षा मंत्री, भारत सरकार, नई दिल्ली।

श्री कृष्णदयाल भार्गव, उपसचिव (भाषा), शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा, संपादक (विज्ञान) हिंदी विश्वकोश, शक्ति निवास, बोरिंग रोड, पटना।

श्री मोहनचंद मेहरा, अर्थमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, २१ वेस्टलैंड एवन्यू, हार्नचर्च, एसेक्स, इंग्लैंड।

श्री मुकुंदीलाल श्रीवास्तव, सिद्धगिरि बाग, वाराणसी।

श्री करुणापति त्रिपाठी, प्रकाशन मंत्री; नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', साहित्यमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श्री सुधाकर पांडेय, प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी (मंत्री तथा संयोजक)।

प्रधान संपादक

कमलापति त्रिपाठी

संपादक

सुधाकर पांडेय

अधीक्षक तथा प्रबंध संपादक

सर्वदानंद

सहायक तथा सहकारी संपादक

कल्याणदास, कैलाशनाथ सिंह, अवतार सिंह, बालधर त्रिपाठी 'प्रवासी', लालबहादुर पांडेय, विभूतिभूषण पांडेय

चित्रकार,—बैजनाथ वर्मा

तत्वों की संकेतसूची

संकेत		तत्व का नाम	संकेत		तत्व का नाम	संकेत		तत्व का नाम
अ	Am	अमरीशियम	ट$_{क}$	Tc	टैक्नीशियम	मो	Mo	मोलिब्डेनम
आ$_{इ}$	En	आइंस्टियम	टे$_{ल}$	Te	टेल्यूरियम	य	Zn	यशद
ऑ	O	ऑक्सीजन	टै	Ta	टैंटेलम	यू	U	यूरेनियम
आ	I	आयोडीन	डि	Dy	डिस्प्रोशियम	यू$_{र}$	Eu	यूरोपियम
आ$_{ग}$	A	आर्गन	ता	Cu	ताम्र	र	Ag	रजत
आ$_{र}$	As	आर्सेनिक	थू	Tm	थूलियम	रु$_{थ}$	Ru	रुथेनियम
ऑ$_{स}$	Os	ऑस्मियम	थै	Tl	थैलियम	रु$_{ब}$	Rb	रुबिडियम
इं$_{ड}$	In	इंडियम	थो	Th	थोरियम	रे$_{ड}$	Rn	रेडॉन
इ$_{ट}$	Yb	इटर्बियम	ना	N	नाइट्रोजन	रे	Ra	रेडियम
इ$_{ट्र}$	Y	इट्रियम	नि$_{य}$	Nb	नियोबियम	रे$_{न}$	Re	रेनियम
इ	Ir	इरीडियम	नि	Ni	निकल	रो	Rh	रोडियम
ए$_{र}$	Eb	एर्बियम	नी	Ne	नीऑन	लि	Li	लिथियम
ऐं$_{ट}$	Sb	ऐंटिमनी	ने$_{प}$	Np	नेप्च्यूनियम	लै	La	लैंथेनम
ऐ$_{क}$	Ac	ऐक्टिनियम	न्यो	Nd	न्योडियम	लो	Fe	लोह
ऐ	Al	ऐलुमिनियम	पा	Hg	पारद	ल्यू	Lu	ल्यूटीशियम
ऐ$_{स}$	At	ऐस्टैटीन	पै	Pd	पैलेडियम	वं	Sn	वंग
का	C	कार्बन	पो	K	पोटैशियम	वै	V	वैनेडियम
कै$_{ड}$	Cd	कैडमियम	पो$_{ल}$	Po	पोलोनियम	स	Sm	समेरियम
कै$_{ल}$	Cf	कैलिफोर्नियम	प्रे	Pr	प्रेज़िओडिमियम	सि	Si	सिलिकन
कै	Ca	कैल्सियम	प्रो$_{ट}$	Pa	प्रोटोऐक्टिनियम	सि$_{ल}$	Se	सिलीनियम
को	Co	कोबाल्ट	प्रो$_{म}$	Pm	प्रोमीथियम	सी$_{ज}$	Cs	सीज़ियम
क्यू	Cm	क्यूरियम	प्लू	Pu	प्लूटोनियम	सी$_{र}$	Ce	सीरियम
क्रि	Kr	क्रिप्टॉन	प्लै	Pt	प्लैटिनम	सी	Pb	सीस
क्रो	Cr	क्रोमियम	फा	P	फॉस्फोरस	सें	Ct	सेंटियम
क्लो	Cl	क्लोरीन	फ्रा	Fr	फ्रांसियम	सो	Na	सोडियम
गं	S	गंधक	फ्लो	F	फ्लोरीन	स्कै	Sc	स्कैंडियम
गै$_{ड}$	Gd	गैडोलिनियम	ब	Bk	बर्कीलियम	स्ट्रॉ	Sr	स्ट्रॉशियम
गै	Ga	गैलियम	बि	Bi	बिस्मथ	स्व	Au	स्वर्ण
ज$_{र}$	Zr	जर्कोनियम	बे	Ba	बेरियम	हा	H	हाइड्रोजन
ज$_{म}$	Ge	जर्मेनियम	बे$_{र}$	Be	बेरीलियम	ही	He	हीलियम
ज़ी	Xe	ज़ीनान	बो	B	बोरन			
टं	W	टंग्स्टन	ब्रो	Br	ब्रोमीन			
			मू	R	मूलक (रैडिकल)			
ट$_{र}$	Tb	टर्बियम	मैं	Mn	मैंगनीज़	है	Hf	हैफ्नियम
टा$_{इ}$	Ti	टाइटेनियम	मै$_{ग}$	Mg	मैग्नीशियम	हो	Ho	होल्मियम

फलक सूची

द्वादश खंड के लेखक

अ० दे० वि० (स्व०) अत्रिदेव विद्यालंकार, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अ० ना० अ० डा० अमरनारायण अग्रवाल, ५, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद।

अ० ना० मे० अजितनारायण मेहरोत्रा, एम० ए०, बी० एस-सी०, बी० एड०, साहित्य संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

अ० बि० मि० अवधबिहारी मिश्र, भूतपूर्व प्राध्यापक, वाणिज्य विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

अ० शा० फ० (स्व०) अनंत शास्त्री फड़के, २६।४१, कपिलेश्वर गली, दुर्गाघाट, वाराणसी।

अ० सि० अभय सिन्हा, एम० एस-सी०, पी० एच-डी०, आर० आई० सी० लंदन, टेक्नॉलोजिस्ट प्लैनिंग, ऐंड डेवलपमेंट डिविजन, फर्टिलाइजर कारपोरेशन ऑव इंडिया, सिंदरी, धनबाद।

आ० कौ० या
भ० आ० कौ० भदंत आनंद कौसल्यायन, विद्यालंकार परिवेण, विश्वविद्यालय केलानिया, श्रीलंका।

आ० भू० आर्यभूषण, ऐडिशनल कमिश्नर ऑव रेलवे सेफ्टी वेस्टर्न सर्किल, गवर्नमेंट ऑव इंडिया आफिस, क्वींस रोड, बंबई।

आ० बे० (फादर) आस्कर वेरे ब्रूसे, प्रोफेसर ऑव होली स्क्रिप्चर्स, सेंट अलबर्ट्‌स सेमिनरी, राँची।

आर० एन० दां० आर० एन० दांडेकर, भांडारकर शोधसंस्थान, पूना।

इं० दे० इंद्रदेव, एम० ए०, पी० एच-डी०, रीडर, समाजशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

इ० हु० सि० इक्तिदार हुसैन सिद्दीकी, द्वारा डा० खलीक अहमद निज़ामी, ३, इंग्लिश हाउस, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

उ० ना० पां० उदयनारायण पांडेय, एम० ए०, रजिस्ट्रार, लद्दाखी बौद्ध विहार, बेला रोड, दिल्ली।

उ० सि० उजागर सिंह, एम० ए०, पी० एच-डी० (लंदन), रीडर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

ओं० ना० श० ओंकार नाथ शर्मा, भूतपूर्व वरिष्ठ लोको फोरमैन, बी० बी० ऐंड सी० आई० रेलवे, निवृत्त प्रधानाध्यापक, यंत्रशास्त्र, प्राविधिक प्रशिक्षण केंद्र, पूर्वोत्तर रेलवे, लक्ष्मी निवास, गुलाबबाड़ी, अजमेर।

ओं० प्र० ओम प्रकाश, १३।४, शक्ति नगर, दिल्ली—७।

का० बु० कामिल बुल्के, एस० जे०, एम० ए०, डी० फिल०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सेंट जेवियर्स कालेज, राँची।

क० प० त्रि० करुणापति त्रिपाठी, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

का० ना० सिं० काशीनाथ सिंह, एम० ए०, पी० एच डी०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

कृ० प्र० श्री० कृष्ण प्रसाद श्रीवास्तव, पी० एच-डी०, प्राध्यापक, जंतु शास्त्र विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

के० ना० त्रि० केसरीनारायण त्रिपाठी, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

के० ना० ला० केदारनाथ लाभ, हिंदी विभाग, राजेंद्र कालेज, छपरा (बिहार)।

कै० ना० सि० कैलासनाथ सिंह, बी० एस० सी०, एम० ए०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

कै० ना० सिं० कैलासनाथ सिंह, एम० ए०, एम० एस-सी०, एल० एल० बी०, एल० टी०, साहित्यरत्न, अध्यक्ष, भौतिक शास्त्र विभाग, डी० ए० वी० कालेज, वाराणसी।

गि० कि० ग० गिरिराज किशोर गहराना, प्राध्यापक, धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़।

गि० चं० त्रि० गिरीशचंद्र त्रिपाठी, एम० ए०, पी० एच-डी० नानकी निकुंज, पुराना किला, लखनऊ।

गु० ना० दु० गुरुनारायण दुबे, एम० एस-सी०, सर्वेक्षण अधीक्षक, भारत सर्वेक्षण विभाग, हैदराबाद (आं० प्र०)।

चं० प्र० शु० चंद्रिका प्रसाद शुक्ल, एम० ए०, पी० एच-डी०, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

चं० प्र० गो० या
चं० प्र० गो० चंद्रप्रकाश गोयल, एम० ए०, एम० ए० एस०, पी० एच-डी०, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

चं० भा० पां० चंद्रभान पांडेय, एम० ए०, पी० एच-डी०, भू० पू० लेक्चरर, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

चं० भू० त्रि० चंद्रभूषण त्रिपाठी, एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० फिल०, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

चं० मो० चंद्रमोहन, पी० एच-डी० (लंदन), एफ० एस०

चा० च० ओ०	एस०, रीडर गणित विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।
चं० शे० मि०	चंद्रशेखर मिश्र, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी ।
ज० कृ०	डा० जयकृष्ण, बी० एस सी०, सी० ई० (आनर्स), पी० एच-डी०,(लंदन) एम० आई० ई० (इंडिया), मेंबर साईस्मोलॉजिक सोसायटी (संयुक्त राज्य अमरीका), फेलो अमरीकन सोसायटी ऑव सिविल इंजीनियर्स, प्रोफेसर, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की ।
ज० च०	जवाहरलाल चतुर्वेदी, प्रधान संपादक, 'पुष्टिमार्गीय ग्रंथरत्न कोश', कुआवाली गली, सूरसागर कार्यालय, मथुरा ।
ज० दे० सिं०	जयदेव सिंह, भूतपूर्व म्यूजिक प्रोड्यूसर, आकाशवाणी, नई दिल्ली, डी० ६१।२६ एफ०, विश्राम-कुटी, सिद्धिगिरिबाग, वाराणसी ।
ज० ना० म०	जगदीशनारायण मल्लिक, एम० ए०, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, राजेंद्र कालेज, छपरा ।
ज० बि० मि०	जगदीशबिहारी मिश्र, अंग्रेजी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
ज० यू०	जन यून-हुआ, एम० ए०, पी० एच-डी०, शांतिनिकेतन, प० बं० ।
ज० स० ग०	डा० जगदीशसरन गर्ग, बी० एस सी० (ए० जी०), एम० एस-सी० (ए० जी०), एम० ए० (अर्थशास्त्र), पी० एच-डी०, प्रोफेसर इकानोमिस्टक्स, प्रोफेसर, राजकीय महाविद्यालय, कानपुर ।
जं० सिं०	जंगीर सिंह, एम० ए०, एल० टी०, (अवकाश-प्राप्त अध्यापक, प्रशिक्षण महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय) डी० ६०।३६, छोटी गैबी, वाराणसी ।
ता० पां०	तारकेश्वर पांडेय, बलिया ।
तु० ना० सिं०	तुलसीनारायण सिंह, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५ ।
त्रि० पं०	त्रिलोचन पंत, एम० ए०, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
द० दु० या द० शं० दु०	दयाशंकर दुबे, एम० ए०, ए० एल० बी०, भूतपूर्व प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, दुबे निवास, ८७३, दारागंज इलाहाबाद ।
द० श०	दशरथ शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
द० सिं०	दलजीत सिंह, आयुर्वेद बृहस्पति, हकीम, श्री चुनार आयुर्वेदीय यूनानी औषधालय, चुनार ।
दी० चं०	दीवान चंद, एम० ए०, डी० लिट्०, भूतपूर्व वाइस चांसलर आगरा विश्वविद्यालय, ६१, छावनी मार्ग, कानपुर ।
दु० शं० ना०	दुर्गाशंकर नागर, बी० एस-सी० (कृषि), उप-निदेशक (प्रशिक्षण), कृषि निदेशालय, उत्तर प्रदेश, लखनऊ ।
दे० रा० क०	देवराज कथूरिया, लेफ्टिनेंट कर्नल, बी० ई० (सिविल) ए० एम० आई० ई० (भारत), स्टॉफ आफिसर ग्रेड—१ प्लैनिंग, चीफ इंजीनियर्स आफिस, १५ कोर, ५६ ए० पी० ओ०, इंजीनियर्स ब्रांच ।
धी० चं० गां०	धीरेंद्रचंद्र गांगुली, एम० ए०, पी० एच-डी० (लंदन), भूतपूर्व प्रोफेसर ढाका विश्वविद्यालय, सेक्रेटरी और क्यूरेटर, विक्टोरिया मेमोरियल, कलकत्ता—१६ ।
न० क०	नवरत्न कपूर, एम० ए०, पी०-एच-डी०, हिंदी विभाग, महेंद्र डिग्री कालेज, पटियाला (पंजाब) ।
न० कु०	नरेंद्रकुमार, बार-ऐट लॉ, राजेंद्रनगर, पटना—४ ।
न० कु० रा०	नंदकुमार राय, एम० एस-सी०, संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी ।
न० प्र०	नर्मदेश्वर प्रसाद, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
नि० न० गु०	नित्यानंद गुप्त, एम० डी० (मेडिसिन), तथा फिजीशियन, मेडिकल कालेज, लखनऊ ।
नि० शा०	निखिलेश शास्त्री, एम० ए०, एम० लिट्०, बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली—७ ।
पु० वा०	पुरुषोत्तम वाजपेयी, एम० ए०, अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश बैंक इंप्लाइज यूनियन, वाराणसी ।
प्र० ग्रो०	प्रभा ग्रोवर, एम० एस-सी०, डा० फिल, १४, पार्क रोड, इलाहाबाद ।
प्र० मा०	प्रभाकर माचवे, एम० ए०, पी० एच-डी, सहायक मंत्री, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली ।
प्र० ना० मे०	प्रकाशनाथ मेहरोत्रा, एम० एस-सी, पी० एच०-डी०, एफ० ई० एस० आई०, एफ० आर० ई० एस०, रीडर एवं अध्यक्ष, प्राणिविज्ञान विभाग, राँची कालेज राँची, बिहार ।
प्रा० ना०	प्राणनाथ, एम० एस-सी०, पी० एच-डी०, प्रोफेसर, गणित विभाग, इंजीनियरिंग कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५ ।
प्रि० कु० चौ०	प्रियकुमार चौबे, बी० ए०, ए० बी० एम० एस०, डी० सी० पी०, मेडिकल एवं हेल्थ आफिसर, काशीविद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
फ्रां० भ०	(श्रीमती) फ्रांस भट्टाचार्य, फ्रेंच भाषा लेक्चरर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।
फू० स० व०	फूलदेव सहाय वर्मा, एम० एस-सी०, ए० आई० आई० एस० सी; भूतपूर्व प्रोफेसर, औद्योगिक रसायन

एवं प्रधानाचार्य, कालेज ऑव टेक्नोलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, संप्रति संपादक हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

बं० श्री० बंशीधर श्रीवास्तव, संपादक, नई तालीम, सर्वसेवा-संघ प्रकाशन, वाराणसी।

ब० उ० बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य, निदेशक, अनुसंधान, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ब० ना० सिं० बशिष्ठ नारायण सिंह, शोधछात्र, जैनाश्रम, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

ब० प्र० मि० बलभद्र प्रसाद मिश्र, ४७।१२, कबीर मार्ग, लखनऊ।

ब० ला० जै० बसंत लाल जैन, प्राध्यापक, डिग्री कॉलेज, भरतपुर।

बा० ना० बालेश्वर नाथ, बी० एस-सी, सी० ई० (ऑनर्स), एम० आई० आई०, मेंबर इरिगेशन टीम (कोप) कमिटी आन प्लान प्रोजेक्टस, प्लानिंग कमीशन-३, मथुरा रोड, नई दिल्ली।

ब्र० चौ० ब्रजराज चौहान, रीडर, इन्स्टीट्यूट ऑव सोशल सायंसेज, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।

ब्र० र० दा० (स्व०) ब्रजरत्न दास, बी० ए०, एल० एल० बी०, भूतपूर्व प्रधानमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, एवं वकील, सुड़िया, वाराणसी।

बै० पु० बैजनाथ पुरी, एम० ए०, डी० लिट्० (आक्सफोर्ड), प्रोफेसर इतिहास, नेशनल एकेडेमी ऑव ऐडमिनिस्ट्रेशन, चार्ल विल, मंसूरी।

बै० ना० प्र० बैजनाथ प्रसाद, पी० एच-डी०, प्राध्यापक, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भ० प्र० श्री० भगवती प्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल० एल० बी०, एसोसिएट प्रोफेसर, धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़।

भ० मि० भगीरथ मिश्र, एम० ए०, पी० एच-डी०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)।

भ० दा० व० भगवान दास वर्मा, बी० एस-सी०, एल० टी०, भूतपूर्व अध्यापक डेली (चीफ्स) कालेज, इंदौर, भूतपूर्व सहायक संपादक, इंडियन क्रॉनिकल, संप्रति विज्ञान सहायक संपादक, हिंदी विश्वकोश, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भ० दी० मि० भगवानदीन मिश्र, एम० ए०, पी० एच-डी०, हिंदी विभाग, एम० बी० डिग्री कालेज, हल्द्वानी, (नैनीताल)।

भ० शं० या० (स्व०) भवानीशंकर याज्ञिक, डाक्टर, ८, लाटूशब्ज रोड, हजरतगंज, लखनऊ।

भ० श० उ० भगवत शरण उपाध्याय, एम० ए०, डी० फिल० (आनेर), भूतपूर्व संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भ० स्व० च० भगवत स्वरूप चतुर्वेदी, आई० ई० एस०, कमांडेंट, प्रांतीय रक्षक दल, साउथ एवेन्यू, लखनऊ।

भा० प्र० त्रि० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, अनुसंधान संस्थान, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भा० शं० मे० भानुशंकर मेहता, एम० बी० बी० एस०, पैथालाजिस्ट, बुलानाला, वाराणसी।

भा० स० भाऊ समर्थ, जे० जे० स्कूल ऑव आर्ट्स (बंबई), चित्रकार, गोयनका उद्यान, सोनेगाँव, नागपुर—५।

भा० सिं० गौ० भारत सिंह गौतम, एम० ए०, हरिश्चन्द्र डिग्री कालेज, वाराणसी।

भी० गो० दे० भीमराव गोपाल देशपांडे, एम० ए०, बी० टी०, प्रवक्ता, मराठी विभाग, (काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी); ५, डी०, २१।१४, कमच्छा, वाराणसी।

भू० कां० रा० भूपेंद्रकांत राय, एम० ए०, रिचर्स आफिसर, नेशनल ऐटलस आर्गनाइजेशन, १, लोअर सर्कुलर रोड, कलकत्ता—२०।

भृ० ना० प्र० या भृ० प्र० भृगुनाथ प्रसाद, अध्यक्ष, जीवविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

मं० चं० जै० का० मंगलचंद्र जैन कागजी, विधि विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

म० गु० मन्मथनाथ गुप्त, संपादक 'आजकल', पब्लिकेशंस डिवीजन, भारत सरकार, पुराना सचिवालय, दिल्ली।

म० ना० मे० महाराज नारायण मेहरोत्रा, एम० एस-सी०, एफ० जी० एम० एस०, प्राध्यापक, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

म० ला० द्वि० मनोहर लाल द्विवेदी, साहित्याचार्य, एम० ए०, पी० एच-डी०, सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

म० रा० जै० महेंद्र राजा जैन, एम० ए०, डिप्लोमा इन लाइब्रेरी साइंस एंड इन मांटेसोरी ट्रेनिंग, साहित्यरत्न, फेलो ऑव लाइब्रेरी साइंस (लंदन), लाइब्रेरियन, दारुस्सलाम, (पूर्वी अफ्रीका)

म० ला० श० डा० मथुरा लाल शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०, प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

मा० माधवाचार्य, भूतपूर्व संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

मि० चं० पा० मिथिलेशचंद्र पांड्या, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, अमरोहा, (मुरादाबाद)।

मि० च० — मिल्टन चरण, बी० ए०, भारतीय मसीही सुधार समाज, एल, १७।१६, राजाबाजार, वाराणसी।

मु० ला श्री० या मु० श्री० — मुकुंदी लाल श्रीवास्तव, साहित्यादि संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

मु० या० या मो० या० — मुहम्मद यासीन, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

मु० रा० — मुद्राराक्षस, दुगावाँ, लखनऊ।

र० उ० — रत्नाकर उपाध्याय, एम० ए०, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, गवर्नमेंट इंटर कालेज, श्रीनगर, गढ़वाल।

र० च० क० — रमेशचंद्र कपूर, डी० एस-सी०, डी० फिल०, प्रोफेसर, रसायन विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

र० च० ति० — रमेशचंद्र तिवारी, एम० ए०, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

र० ज० — रजिया सज्जाद जहीर, एम० ए०, भूतपूर्व लेक्चरर, उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, वजीर मंजिल, वजीरहसन रोड, लखनऊ।

र० श० द्वि० — रमाशंकर द्विवेदी, प्राध्यापक, वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

रा० अ० — राजेंद्र अवस्थी, राजनीति विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

रा० कु० सिं० — राजेंद्र कुमार सिंह, डी. ए. वी. कालेज, काशी।

रा० अ० द्वि० — रामअवध द्विवेदी, एम० ए० डी० लिट०, भूतपूर्व प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी; यू० जी० सी० प्रोफेसर, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

रा० कु० — रामकुमार, एम० एस-सी०, पी० एच डी०, प्रोफेसर गणित तथा अध्यक्ष, अनुप्रयुक्त गणित विभाग, मोतीलाल नेहरू इंजीनियरिंग कालेज, इलाहाबाद।

रा० चं० पा० — रामचंद्र पांडेय, एम० ए०, पी० एच-डी०, व्याकरणाचार्य, बौद्ध दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

रा० चं० सि० — रामचंद्र सिन्हा, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जिओलोजी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

रा० दा० ति० — रामदास तिवारी, एम० एस-सी०, डी० फिल०, असिस्टेंट प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

रा० द्वि० — (स्व०) रामाज्ञा द्विवेदी, लेबर कालोनी, ऐशबाग, लखनऊ।

रा० ना० — राजेंद्र नागर, एम० ए०, पी० एच-डी०, रीडर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० पां० या रा० ब० पां० — रामबली पांडेय, एम० ए०, डी० ए० वी० कालेज, वाराणसी।

रा० प्र० त्रि० — रामप्रताप त्रिपाठी, सहायक मंत्री, हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद।

रा० प्र० सिं० — राजेंद्र प्रसाद सिंह, एम० ए०, प्रोफेसर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

रा० फे० त्रि० — रामफेर त्रिपाठी, एम० ए०, रिसर्च स्कालर (यू० जी० सी०), हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० कु० मि० — राजेंद्र कुमार मिश्र, मनोविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

रा० मि० — राम प्रताप मिश्र, ३।१००६, रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली—२२।

रा० श्या० अ० — राधेश्याम अंबष्ट, एम० एस सी०, पी० एच डी०, एफ० बी० एस०, प्राध्यापक वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय,—५।

रा० स० ख० — रामसहाय खरे, एम० ए०, अध्यापक, रामकृष्ण मंदिर हाई स्कूल, सिद्धिगिरिबाग, वाराणसी।

रा०स०ना० श्री० — राय सत्येंद्रनाथ श्रीवास्तव, मनोविज्ञान विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

रा० स्व० या रा० — रामस्वरूप, एम० ए०, बी० टी०, सी० के० ६५।३६२ ब०, बड़ी पियरी, वाराणसी।

ल० वि० गु० या ल० श० वि० गु० — लक्ष्मीशंकर विश्वनाथ गुरु, एम० ए०, ए० एम० एस; रीडर, पी० जी० आई० एम० कालेज ऑव मेडिकल सायंसेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

ल० शं० व्या० — लक्ष्मी शंकर व्यास, एम० ए०, सहायक संपादक, 'आज' दैनिक, वाराणसी।

ल० श० शु० — लक्ष्मीशंकर शुक्ल, एम० ए०, प्राध्यापक, काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ल० सा० वा० — लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम० ए०, डी० फिल०, डी० लिट्०, रीडर, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

ला० त्रि० प्र० — लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी', नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

ला० ब० पा० या ला० ब० पां० — लालबहादुर पांडेय, शास्त्री, एम० ए० एल०, भूतपूर्व परसनल आफिसर, इंडस्ट्रियल इस्टेट मैन्यू० असोसियेशन, वाराणसी एवं भूतपूर्व जनरल मैनेजर, हेम इलेक्ट्रिक कं०, सराय गोवर्धन, वाराणसी।

ला० रा० शु० — लालजी राम शुक्ल, एम० ए०, डी० ६१।२१, डी, सिद्धगिरिबाग, वाराणसी।

ले० रा० सिं० — लेखराज सिंह, एम० ए०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, भूगोल विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

वाई०आर० मे या व० रा० मे० — यशवंत राय मेहता, एम० एस-सी०, पी० एच-डी० (यू० एस० ए०), ऐसोसियेट आई० ए० आर० आई०, इकॉनॉमिक बोटैनिस्ट, कानपुर, उत्तर प्रदेश।

वा० उ० — वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०, डी० फिल०, प्राचीन इतिहास तथा पुरातत्व विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

वि० ना० पां० — विश्वंभरनाथ, पांडेय, १४२, साउथ मलाका इलाहाबाद।

वि० त्रि० वा — विश्वनाथ त्रिपाठी, साहित्याचार्य, सहायक संपादक,
वि० ना० त्रि० — शब्दकोश विभाग, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

वि० पा० सि० — विजयपाल सिंह, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० प्र० गु० — विश्वंभर प्रसाद गुप्त, ए० एम० आई० ई०, कार्यपालक इंजीनियर, सी० पी० डब्ल्यू०, डो, ७६, लूकरगंज, इलाहाबाद।

वि० भा० शु० — विद्याभास्कर शुक्ल, पी० एच-डी०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट पोस्ट ग्रेजुएट कालेज ऑव सायंस, रायपुर।

वि० मो० श० — विनयमोहन शर्मा, एम० ए०, पी० एच-डी०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

वि० शु० पा० — विशुद्धानंद पाठक, एम० ए०, पी० एच-डी०,
सा० वि० पा० — प्राध्यापक, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० श० झा० — विनोदशंकर झा, एम० एस-सी०, प्राध्यापक जंतु विज्ञान विभाग, रांची विश्वविद्यालय, रांची, बिहार।

वि० श्री० न० — डा० वि० एस० नरवणे, एम० ए०, डी० लिट०, सहायक प्रोफेसर, दर्शन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

वि० सा० दु० — विद्यासागर दुबे, एम० एस-सी०, पी० एच डी० (लंदन), भूतपूर्व प्रोफेसर, जिग्रोलॉजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, कंसल्टिंग, जिग्रोलॉजिस्ट एंड माइंस ओनर, वसुधरा, रवींद्रपुरी, वाराणसी।

वि० ह० — वियोगी हरि, अध्यक्ष, अ० भा० हरिजन सेवक संघ, एफ १३।२, माडल टाउन, नई दिल्ली।

श० गु० बा० — शची रानी गुर्टू, एम० ए०, फैज बाजार,
श० रा० गु० — दरियागंज, दिल्ली।

शां० ला० का० — शांतिलाल कायस्थ, रीडर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शां० प्रि० द्वि० — शांतिप्रिय द्विवेदी, लोलार्क कुंड, वाराणसी।

शि० गो० मि० — शिवगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, पी० एच-डी०, प्राध्यापक रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

शि० ना० ख० — शिवनाथ खन्ना, एम० बी० बी० एस०, डी० पी-एच०, आयुर्वेदरत्न, लेक्चरर, सोशल एंड प्रिवेंटिव मेडिसिन विभाग, कालेज ऑव मेडिकल साइंसेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शि० प्र० — शिवनाथ प्रसाद, डी० ए० वी० कालेज, वाराणसी।

शि० मो० व० — शिवमोहन वर्मा, एम० एस सी०, पी० एच डी०, प्राध्यापक, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

शि० श० — शिवानंद शर्मा, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, सेंट एंड्रूज कालेज, गोरखपुर।

शी० प्र० सिं० — शीतला प्रसाद सिंह, एम० एस सी०, पी० एच-डी०, प्राध्यापक प्राणिविज्ञान, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

शु० ते० — शुभदा तेलंग, एम० ए०, प्रिंसिपल वसंत कालेज फार वीमेन, राजघाट, वाराणसी।

शु० प्र० मि० — शुद्धोदन प्रसाद मिश्र, एम० एस-सी०, प्राध्यापक, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

श्र० कु० ति० — श्रवण कुमार तिवारी, स्पेक्ट्रोस्कोपी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

श्री० चं० पां० — श्रीशचंद्र पांडेय, अहरौरा, मिर्जापुर।

श्री० ना० सिं० — श्रीनारायण सिंह, एम० ए०, शोधछात्र, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

स० — सलामतुल्ला, प्रिंसिपल, कामर्स कालेज, जामिया मिलिया इस्लामिया, जामियानगर, नई दिल्ली।

स० प्र० या०,
सत्य० प्र० — सत्यप्रकाश, डी० एस-सी०, एफ० ए०, एस० सी०, रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

स० व० — सत्येंद्र वर्मा, पी० एच-डी०, (लंदन), डिप्टी सुपरिटेंडेंट, डिपार्टमेंट ऑव प्लैनिंग एंड डेवलपमेंट फर्टिलाइजर कारपोरेशन ऑव इंडिया, सिंदरी, धनबाद।

स० वि० — (स्व०) सत्यदेव विद्यालंकार, लेखक व पत्रकार, नई दिल्ली।

सा० जा० — सावित्री जायसवाल, एम० एस-सी०, प्राध्यापक, विज्ञान वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५।

सी० गु० वा
सी० रा० गु० — सीयाराम गुप्त, बी० एस-सी०, डिप्टी सुपरिटेंडेंट ऑव पुलिस, अंगुलि चिह्न तथा वैज्ञानिक शाखा, सी० आई० डी०, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

सु० सिं० — सुरेश सिंह कुंअर, एम० एस० सी०, कालाकाकर प्रतापगढ़, उ० प्र०।

सु० चं० श० — सुरेश चंद्र शर्मा, एम० ए०, एल० एल० बी०, पी० एच-डी० अध्यक्ष, भूगोल विभाग, एम० एल० के० डिग्री कालेज, बलरामपुर (गोंडा) उ० प्र०।

सै० अ० अ० रि० सैयद अतहर अब्बास रिजवी, एम० ए०, पी० एच-डी०, छतरीवाली कोठी, ५, फैलानगर, अलीगढ़ ।

स्व० मो० शा० स्वरूप चंद्र मोहनलाल शाह, एम० ए०, पी० एच-डी०, डी० लिट० (लंदन), एफ० एन० आई०, एफ० ए० एस० सी० प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, गणित विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़ ।

स्व० ल० भू० (श्रीमती) स्वर्णलता भूषण, इनवरन–२, शिमला ।

ह० चं० गु० हरिश्चंद्र गुप्त, एम० एस सी०, पी० एच डी०, (आगरा, मैनचेस्टर) रीडर, गणितीय सांख्यिकी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

ह० बा० हरदेव बाहरी, एम० ए०, एम० ओ० एल०, शास्त्री, पी० एच-डी०, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।

ह० बा० मा० हरिबाबू माहेश्वरी, एम० बी० बी० एस०, प्राध्यापक, पैथालोजी विभाग, लेडी हार्डिंग मेडिकल कालेज, नई दिल्ली ।

ह० शं० श्री० डा० हरिशंकर श्रीवास्तव, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर ।

ही० ला० गु० हीरा लाल गुप्त, एम० ए०, डी० फिल०, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०) ।

हृ० ना० मि० हृदयनारायण मिश्र, दर्शन विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर ।

संकेताक्षर

अं०	अंग्रेजी
अ०	अक्षांश; अथर्ववेद; अध्याय
अ० कां०	अरण्यकांड (रामायण)
अथर्व०	अथर्ववेद
अधि०	अधिकरण
अनु०	अनुवादक, अनुशासनपर्व,
अयो०	अयोध्याकांड (रामायण)
आं० प्र०	आंध्र प्रदेश
आ० घ०, या आपे० घ०	आपेक्षिक घनत्व
आ० श्रौ० सू०	आपस्तंब श्रौतसूत्र
आई० ए० एस०	इंडियन ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस
आई० सी० एस०	इंडियन सिविल सर्विस
आदि०; आ० प०	आदिपर्व (महाभारत)
आय०	आयतन
आर्क० स० रि०	रिपोर्ट ऑव दि आर्केयालॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया
आश्व०	आश्वलायन
इंट्रो०	इंट्रोडक्शन
ई०	ईसवी
ई० पू०	ईसा पूर्व
उ०	उत्तर
उ० प्र०	उत्तर प्रदेश
उत्तर०	उत्तरकांड
उदा०	उदाहरण
उद्यो०; उद्योग०	उद्योगपर्व (महाभारत)
ऋ०	ऋग्वेद
ए० आई० आर०	आल इंडिया रिपोर्टर
ए० इं०; एपि० इं०	एपिग्राफ़िया इंडिका
एक०	एकवचन
ऐं०	ऐंग्स्ट्रॉम
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
क० प०; कर्ण०	कर्णपर्व (महाभारत)
का०	कारिका
काम०	कामंदकीय नीतिसार; कामशास्त्र
काव्या०	काव्यालंकार
कि० ग्राम, या किग्रा०	किलोग्राम
कि० मी०, या किमी०	किलोमीटर
कु० सं०	कुमारसंभव
क्र० सं०	क्रमसंख्या
क्व०	क्वथनांक
गा०	गाथा
ग्रा०	ग्राम
छांदो०	छांदोग्य उपनिषद्
ज०; ज० सं०	जन्म; जन्म संवत्
जि०	जिला, जिल्द
जे० पी० टी० एस०	जर्नल ऑव दि पालि टेक्स्ट सोसायटी
डॉ०	डॉक्टर
तांड्य ब्रा०	तांड्य ब्राह्मण
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्ति०	तैत्तिरीय
द०	दक्षिण
दी०	दीपवंश
दी० नि०	दीघनिकाय
दे०	देखिए; देशांतर
द्रो० प०, द्रोण०	द्रोणपर्व
ध०	धम्मपद
ना० प्र० प०	नागरीप्रचारिणी पत्रिका
ना० प्र० स०	नागरीप्रचारिणी सभा
नि०	निरुक्त
पं०	पंजाबी; पंडित
प०	पट्टाण; पर्व; पश्चिम; पश्चिमी
पद्म०	पद्मपुराण
पु०	पुराण
पू०	पूर्व
पृ०	पृष्ठ
प्र०	प्रकाशक
प्रक०	प्रकरण
प्रो०	प्रोफेसर
फा०	फारेनहाइट
बा०	बालकांड (रामायण)
वाज० सं०	वाजसनेयी संहिता
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
ब्रह्म० पु०	ब्रह्मपुराण
ब्रा०	ब्राह्मण
भा० ज्यो०	भारतीय ज्योतिष
भाग०	श्रीमद्भागवत
भी० प०	भीष्मपर्व
म० भा०; महा०	महाभारत; महावंश
म० म०	महामहोपाध्याय
म० मी०	महाभारत मीमांसा
मत्स्य०	मत्स्य पुराण
मनु०	मनुस्मृति
महा० प्रा०	महाराष्ट्री प्राकृत
मिता० टी०	मिताक्षरा टीका

मिग्रा०	मिलिग्राम
मिमी०	मिलीमीटर
मी०	मील, मीटर
मे० सा०	मेगासाइकिल
म्यू०	माइक्रॉन
याज्ञ०; याज्ञ० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
र० का० सं०	रचनाकाल संवत्
रघु०	रघुवंश
राज०, रा० त०	राजतरंगिणी
ल०, लग०	लगभग
ला०	लाला
ली०	लीटर
वन०; व० प०	वनपर्व (महाभारत)
वा० रा०	वाल्मीकीय रामायण
वायु०	वायुपुराण
वि०, वि० सं०	विक्रमी संवत्
वि० पु०	विष्णु पुराण
विनय०	विनयपत्रिका
वै० इं०	वैदिक इंडेक्स
श०, शत०, श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
श०	शती
शल्य०	शल्यपर्व
शांति०	शांतिपर्व
शौ० प्रा०	शौरसेनी प्राकृत
श्रीमद्भा०	श्रीमद्भागवत
श्लो०	श्लोक
सं०,	संख्या, संपादक, संवत्, संस्करण, संस्कृत, संहिता
सं० ग्रं०	संदर्भ ग्रंथ
संस्क०	संस्करण
स० ग० स०	सेंटीग्रेड, ग्राम, सेकंड पद्धति
स० प०; सभा०	सभापर्व (महाभारत)
साइकॉ०	साइकॉलोजी
सुंदर०	सुंदरकांड
सें०	सेंटीग्रेड
सेंमी०	सेंटीमीटर
से०	सेकंड
स्कंद	स्कंदपुराण
स्व०	स्वर्गीय
ह०	हनुमानबाहुक, हरिवंशपुराण
हिं०	हिंदी
हिं० वि० को०	हिंदी विश्वकोश
हि०	हिजरी, हिमांक
हिस्टॉ०	हिस्टॉरिकल

प्राक्कथन

हिंदी विश्वकोश का बारहवाँ खंड, जिसे समापन खंड भी कहा जा सकता है, प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष और गौरव का अनुभव हो रहा है। हर्ष इसलिये कि भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय के सहयोग से हम लगभग नौ वर्षों की अल्प अवधि में (सन् १९६० ई० में प्रथम खंड प्रकाशित हुआ था) इतना बड़ा कार्य संभव कर सके तथा गौरव इसलिये कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा स्यात् सर्वप्रथम हिंदी वाङ्मय के ज्ञानभांडार की इस रूप में श्रीवृद्धि करने में माध्यम बनी। यद्यपि विशिष्ट देशी-विदेशी लेखकों ने हमें कृपापूर्वक सहयोग दिया और संपादन कर्म में भी अनुभवी व्यक्तियों ने योगदान दिया तो भी, संभव है, साधनों की कमी तथा कार्य की विशालता देखते हुए कुछ अभाव रह गया हो। इसके लिये सभा अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करती है और पुनर्मुद्रण की स्थिति में यथासंभव यह कमी दूर कर दी जायगी।

इस खंड के साथ संपूर्ण बारह खंडों की विषयसूची भी दी जा रही है और एक परिशिष्ट भाग जोड़ दिया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत खंड में ५४३ (भूमिका भाग के अतिरिक्त) पृष्ठ हैं जिसमें ५८० लेखों के अंतर्गत २०० से अधिक विशिष्ट लेखकों की रचनाएँ दी जा रही हैं। रंगीन चित्रों के अतिरिक्त अनेक रेखाचित्र, मानचित्र तथा चित्र फलक भी दिए जा रहे हैं।

संपादन और प्रकाशन कार्य से संबद्ध व्यक्तियों के तथा विश्वकोश कार्यालय के अधिकारियों और कार्यकर्ताओं के हम आभारी हैं। नागरीप्रचारिणी सभा और केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय के अधिकारियों के हम विशेष रूप से कृतज्ञ हैं जिनके उत्साह और सहयोग से इतना बड़ा काम समापन की स्थिति तक पहुँच सका।

—सुधाकर पांडेय
मंत्री तथा संयोजक
हिंदी विश्वकोश
प्रधान मंत्री, काशी नागरीप्रचारिणी सभा

यह ज्ञानयज्ञ

सुधाकर पांडेय

मंत्री एवं संयोजक

हिंदी विश्वकोश परामर्शदात्री एवं संपादन समिति

हिंदी का प्रथम विश्वकोश सभा द्वारा प्रस्तुत है। आधुनिक रूप में विश्वकोश रचना की प्रथा विदेश से इस देश में आई है और यह शब्द इनसाइक्लोपीडिया, का पर्याय है। वास्तव में इनसाइक्लोपीडिया ग्रीक के इनसाइक्लिग्रास (एन = ए सर्किल तथा पीडिया = एजूकेशन) से बना है। इसका उद्देश्य होता है विश्व में कला और विज्ञान तथा समस्त अन्यान्य ज्ञानों का वर्णानुक्रम से सहज, सुगठित और व्यवस्थित रूप से प्रस्तुतीकरण। एक विषय, एक कवि, लेखक या दार्शनिक को लेकर भी विश्वकोश के निर्माण की ही पद्धति इधर प्रचलित हुई है। प्रारंभ में विश्वकोश की रचना एक या कुछ लेखक मिलकर करते थे किंतु अब अपने अपने विषय के विशेषज्ञ एक ही विश्वकोश में अपने ज्ञान का लाभ पाठक को उठाने का अवसर देते हैं।

विश्वकोशीय रचना पाँचवीं शताब्दी से प्रारंभ होती है और इसके प्रारंभकर्ता का श्रेय अफ्रीका निवासी मार्सिअनस मिनस फेलिक्स कापेला को है। गद्य, पद्य में उसने 'सटीराअ सटीरिक' नामक कृति का प्रणयन किया। उसी युग में और भी कृतियों का निर्माण हुआ। तेरहवीं शताब्दी का इसी प्रकार का ग्रंथ 'बीब्लियोथिकामुंडी' या 'स्पेकुलम मेजस', जो ब्यूवेअस के विन्सेंट की कृति थी, ज्ञान के महान् संग्रह के रूप में समादृत हुई। प्राचीन ग्रीस के इतिहास में भी ऐसे ग्रंथों की रचना हुई थी। स्प्यूसिपस ने वनस्पतियों एवं पशुओं का विश्वकोशी वर्गीकरण था। अरस्तू ने अपने शिष्यों के लिये अपने सारे ज्ञान को अनेक ग्रंथों में संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया। उस प्राचीन युग में प्रणीत मध्ययुग का उच्च आकर ग्रंथ 'नेचुरल हिस्ट्री' रोमनिवासी प्लिनी कृत है। २४९३ अध्यायों में विभक्त ३७ (सैंतीस) खंडों में प्रस्तुत इस ग्रंथ में १०० लेखकों के २००० ग्रंथों से संग्रहीत २०,००० शीर्षकों का समावेश है। यह इतना अधिक लोकप्रिय था कि सन् १५३६ के पूर्व ही इसके ४३ संस्करण प्रकाशित हो चुके थे।

सन् १३६० ई० में फ्रांसीसी भाषा में १९ खंडों में "डि प्रॉप्रिएटैटीबस रेरम" का प्रकाशन हुआ। १४९५ ई० में इसका अंग्रेजी अनुवाद हुआ और सन् १५०० तक इसके १५ संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। इसके प्रणेता थे—बार्थोलोव मिव द ग्लैंविल। प्राचीन समय में रची गई इन कृतियों को विश्वकोश की संज्ञा नहीं प्राप्त हुई। विश्वकोश की संज्ञा का प्रारंभ सन् १५४१ और सन् १५९९ अर्थात् १६ वीं शताब्दी के मध्य से होता है। सन् १५४१ ई० में जाकिअस फार्टिअस रिंजल बर्जिअस एवं हंगरी के काउंट पाल स्कैलिसस द लिका (१५९९) की ऐसी कृतियाँ हैं। इनसाइक्लोपीडिया सेप्टेम टॉमिस डिस्टिंक्टा जोहान हेनरिच आल्स्टेड की कृति सन् १६२० में प्रकाशित हुई। यह अपने सही अर्थों में

विश्वकोश का प्रारंभिक रूप प्रस्तुत करती है। 'ला साइंस यूनिवर्स' दस खंडों में कार्जिन डी मैंगनन, जो फ्रांस के शाही इतिहासकार थे, की कृति है। यह ईश्वरीय प्रकृति से लेकर मनुष्य के पर्यवसान तक का आख्यान प्रस्तुत करती है। सन् १६७४ में लुइस मोरेरी ने एक विश्वकोश की रचना की जो मूलतः इतिहास वंशानुसंक्रमण तथा जीवनचरित्रों से संवलित है। इसके सन् १७५९ तक २० संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। सन् १७१३ की इटीन चाविन की कृति कांटेजिनयन प्रस्तुत हुई जो दर्शन का कोश है। फ्रेंच एकेडमी द्वारा प्रस्तुत फ्रेंच भाषा का महान् शब्दकोश सन् १६६४ में प्रस्तुत हुआ। इसके बाद कोशों, विश्वकोशों आदि की एक प्रबल शृंखला का पश्चिम में सूत्रपात हुआ।

१७ वीं शताब्दी की यह उपलब्धि विश्व की भाषा और साहित्य में महान् गौरवशाली है। १८वीं शती के प्रारंभ में सन् १७०१ में वर्णानुक्रम के अनुसार ४५ खंडों में इटली की भाषा में 'बिब्लिओटेका यूनिवर्सल संक्रोप्रोफाना' के प्रकाशन का निश्चय किया गया जिसके केवल ७ ही खंड प्रकाशित हो सके। १८वीं शती में अंग्रेजी भाषा में प्रथम विश्वकोश का प्रणयन जॉन हॅरिस द्वारा सन् १७०४ में 'ऐन यूनिवर्सल इंग्लिश डिक्शनरी आफ आर्ट्‌स एंड साइंस' के नाम से छपा और १७१० ई० में इसका दूसरा खंड प्रकाशित हुआ जो केवल गणित तथा ज्योतिष से संबंधित था। इन्हीं वर्षों में (१७०४ और १७१० ई०) रेक्टर जोहान हुब्नर के नाम पर दो शब्दकोश प्रकाशित हुए जिसके अनेक संस्करण हुए। सन् १७२८ में इफ्रेम चैंबर्स की इनसाइक्लोपीडिया दो खंडों में ससंदर्भ प्रकाशित हुई। सन् १७४८-४९ में इसका इतालवी में अनुवाद भी हुआ। चैंबर्स द्वारा संकलित सामग्री का संपादन कर एक पूरक ग्रंथ डॉ० जॉन हिल ने १७५३ ई० में प्रकाशित किया। अब्राहम रीज ने सन् १७७८-८८ ई० में इसका संशोधित और परिवर्धित संस्करण प्रकाशित किया। विश्वकोश के क्षेत्र में इसके उपरांत कार्य लाइपज़िग से हुआ। जोहान हेनरिच जेडलर ने सात सुयोग्य संपादकों की सहायता से सन् १७५० तक इसके ६४ खंड, 'जेडलर्स यूनिवर्सल लेक्सिकन' नाम से प्रकाशित किए। सन् १७५१ से १७५४ के मध्य इसके और ४ पूरक खंड मुद्रित हुए।

अंग्रेज विद्वान् जॉन मिल्स ने सॉर्टाफसेलस के सहयोग से १७४५ में चैंबर्स साइक्लोपीडिया के फ्रेंच अनुवाद का कार्य शुरू किया किंतु वह उसे प्रकाशित न करा सके और अनेक विद्वानों द्वारा एक एक कर इसका संपादन हुआ तथा अनेक विकट संघर्षों के उपरांत इसका प्रकाशन हुआ। राजनीतिक तथा साहित्यिक दृष्टि से इसकी क्रांतदर्शी चर्चा हुई किंतु ज्ञान की दृष्टि से यह विसंगतियों और त्रुटियों से पूर्ण था। इसे 'फ्रेंच इनसाइक्लोपीडिया' की संज्ञा दी गई। विश्वविख्यात 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' सन् १७७१ में ३ खंडों में एडिनबर्ग से प्रकाशित हुई और दिनोत्तर इसका विस्तार और प्रस्तार होता गया। अब यह २४ खंडों में उपलब्ध है और यह संसार का महान विश्वकोश माना जाता है तथा दिनोत्तर इसके विस्तार और प्रस्तार का आयोजन होता जा रहा है और अपने क्षेत्र में इसका मान अक्षुण्ण है। अमेरिका में भी इसका सर्वाधिक मान है। सन् १८५८ से ६३ के बीच जार्ज रिप्ले एवं चार्ल्स ऐंडरसन डाना ने न्यू अमेरिकन साइक्लोपीडिया १६ खंडों में प्रकाशित की जिसका दूसरा संस्करण सन् १८७३ से १८७६ के बीच हुआ। 'जान्संस न्यू यूनिवर्सल साइक्लोपीडिया' सन् १८७५-७७ के बीच ४ खंडों में प्रकाशित हुआ। एलविन जे० जोन्सन की इस कृति का १८९३-९५ के बीच आठ खंडों में प्रकाशन हुआ। इनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना का प्रकाशन फ्रांसिस लिबर ने १८२९ ई० में प्रारंभ किया। १८३३ तक १३ और १८३५ में इसका १४वाँ खंड प्रकाशित हुआ। सन् १८५८ में इसका पुनः प्रकाशन हुआ। सन् १९०३-०४ में १६ खंडों में, इनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, के नाम से एक नया विश्वकोश प्रकाशित हुआ। यह पूर्ववर्ती इनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना से भिन्न है। बाद में इसके अनेक परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण निकले। इसकी ख्याति विश्वव्यापी है। संसार के अनेक देशों में इधर विश्वकोश का प्रणयन हुआ है, जैसे रूस, जापान आदि तथा प्रायः सभी स्वतंत्र एवं समुन्नत देश विश्वकोश की रचना में लगे हैं।

भारत में विश्वकोशीय रचना होती रही है। पुराण, शब्द कल्पद्रुम जैसे ग्रंथ इसके प्रमाण हैं आधुनिक ढंग से इस युग में विश्वकोश की परंपरा का शुभारंभ नगेंद्रनाथ वसु ने बँगला में १९११ में किया। यह बँगला में २२ खंडों में प्रकाशित हुआ था। अनेक हिंदी विद्वानों के सहयोग से श्री वसु ने सन् १९१६-३२ के मध्य इसका २५ खंडों में प्रकाशन किया। श्रीधर वेंकटेश केतकर ने २३ खंडों में मराठी विश्वकोश की रचना महाराष्ट्रीय ज्ञानकोशमंडल द्वारा किया जिसका अनुवाद भी श्री केतकर के निर्देशन में गुजराती में हुआ। सन् १९४७ में भारतीय स्वतंत्रता के बाद प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में विश्वकोश की रचना का संकल्प किया गया और तेलगू और तमिल में भी अन्य भाषाओं के साथ विश्वकोशों की रचना आरंभ हुई जिसमें से कुछ के कार्य प्रायः पूरे हो चुके हैं और कुछ प्रगति के पथ पर हैं।

नगेंद्रनाथ वसु का हिंदी विश्वकोश सभा द्वारा प्रकाशित हिंदी शब्दसागर की सामग्री, साथ ही भारतीय इतिहास और दर्शन से परिपूर्ण है किंतु ज्ञान की आधुनिक शाखाओं और विज्ञान के लिये उसमें स्थान का संकोच है, साथ ही उसमें मूल बँगला से अनुवाद का प्राधान्य है, यद्यपि नगेंद्रनाथ वसु ने जो कार्य उस समय किया था उसकी भूरिभूरि प्रशंसा होनी चाहिए। हिंदी का यह विश्वकोश, जो दस वर्षों में प्रकाशित हुआ है, अपनी मौलिकता रखता है।

लगभग एक हजार विश्व भर के विख्यात विद्वानों ने ८००० विषयों पर हजारों रेखाचित्रों; रंगीन चित्रों के साथ सभी विषयों पर अपनी सीमा के भीतर सामग्री प्रस्तुत की है। लेखकों का इतना बड़ा सामूहिक अनुष्ठान इस देश में इसके पूर्व नहीं हुआ था। विज्ञान के लगभग ६० प्रतिशत लेख इसमें हैं। यह जनप्रिय हुआ है। ३००० के बदले इसे ५००० छापना पड़ा और इसके अनेक

खंडों के संस्करण समाप्त हो गए। फिर भी यह भारतवर्ष में सही अर्थों में विश्वकोश के प्रारंभ को ही सूचित करता है। उत्तरोत्तर यदि सहयोग और सहकार मिलता गया तो कुछ वर्षों में ही यह अपने गुणधर्मों के कारण विश्व में इस क्षेत्र में भारत का गौरव स्थापित करने में सहायक होगा। अब हम संक्षेप में हिंदी विश्वकोश की कहानी प्रस्तुत करेंगे।

हिंदी विश्वकोश के समस्त बारह खंड प्रकाशित हो गए। इनसे उन सभी लोगों को प्रसन्नता होगी जो ज्ञान के पिपासु और भारतीय भाषा के प्रेमी हैं। हिंदी विश्वकोश हमारे राष्ट्र का गौरव-ग्रंथ है, जिसमें सहस्राधिक अधिकारी विद्वानों ने योगदान कर इस अनुष्ठान को पूरा कराया है। नागरीप्रचारिणी सभा अपनी स्थापना के समय से ही सर्जनात्मक रूप से हिंदी और देवनागरी की सेवा कर रही है। स्वतंत्रता के उपरांत अपनी हीरक जयंती के अवसर पर राष्ट्ररत्न डॉ० राजेंद्रप्रसाद के नेतृत्व में उसने कुछ महान् संकल्प किए। उन संकल्पों में हिंदी शब्दसागर के अद्यतन संस्करण का प्रकाशन, हिंदी साहित्य का सोलह भागों में बृहत् इतिहास और सौ ग्रंथावलियों के प्रकाशन का आयोजन था। उसी अवसर पर नागरीप्रचारिणी सभा के परम शुभेच्छु स्वर्गीय पं० गोविंद-वल्लभ पंत ने हिंदी में विश्वकोश की, नागरीप्रचारिणी सभा के माध्यम से प्रस्तुत कराने की, परिकल्पना की और इसे मूर्तित करने में योगदान देने का आश्वासन भी दिया। डॉ० अमरनाथ झा, डॉ० संपूर्णानंद, आचार्य नरेंद्रदेव आदि मनीषियों तथा पं० कमलापति त्रिपाठी जैसे कर्मठ हिंदीप्रेमियों ने इस स्वप्न को साकार करने का अनुष्ठान आरंभ किया। इस संदर्भ में नागरीप्रचारिणी सभा ने निम्नांकित उद्देश्य स्थिर किए :—

"कला और विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में ज्ञान और वाङ्मय की सीमाएँ अब अत्यंत विस्तृत हो गई हैं। नए अनुसंधानों एवं वैज्ञानिक चिंतनों ने मानव ज्ञान के क्षेत्र का विस्तार बहुत बढ़ा दिया है। जीवन के विविध अंगों में व्यावहारिक एवं साहसपूर्ण आविष्कारों तथा दूरगामी प्रयोगों द्वारा विचारों और मान्यताओं में असाधारण परिवर्तन हुए हैं। इस महती और वर्धनशील ज्ञान-राशि को देश की शिक्षित तथा जिज्ञासु जनता के सामने राष्ट्रभाषा के माध्यम से संक्षिप्त एवं सुबोध रूप में रखना हमारा पुराना विचार है।"

प्रस्तावित विश्वकोश का यह ध्येय भारत सरकार के संमुख नागरीप्रचारिणी सभा ने प्रस्तुत किया। साथ ही इस विश्वकोश को तीस खंडों में, प्रति खंड एक एक हजार पृष्ठ के, बाईस लाख रुपये के व्यय से दस वर्ष में प्रकाशित करने की योजना भी सरकार के संमुख सभा ने प्रस्तुत की। सभा के इस प्रस्ताव पर केंद्रीय सरकार ने विशेषज्ञों की एक समिति श्री डॉ० हुमायूँ कबीर की अध्यक्षता में गठित की जो उस समय केंद्रीय शिक्षा सचिव तथा भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार थे। उसके अन्य सदस्य थे श्री एम० पी० पीरियास्वामी थूरेन, इंद्र विद्यावाचस्पति, डॉ० डी० एस० कोठारी, प्रो० नीलकंठ शास्त्री, डॉ० संपूर्णानंद, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० राजबली पांडेय और डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा। शिक्षामंत्रालय के अनुसचिव इसके सचिव थे। इस समिति ने ११ फरवरी, सन् १९५५ को अपनी बैठक में विचार विनिमय के उपरांत यह निश्चय किया कि प्रारंभ में लगभग ५०० पृष्ठों के १० खंडों में हिंदी विश्वकोश का ३००० प्रतियों में प्रकाशन किया जाय और यह योजना ५ से ७ वर्षों में पूरी कर ली जाय। साथ ही उसने एक सलाहकार समिति की स्थापना की बात भी की, जिसके निम्नांकित सदस्य हों—

पं० गोविंदवल्लभ पंत (अध्यक्ष, नागरीप्रचारिणी सभा।) अध्यक्ष तथा सभा के मंत्री इसके मंत्री हों एवं प्रधान संपादक संयुक्त मंत्री। इस प्रकार प्रथम सलाहकार समिति में इनके अतिरिक्त निम्नांकित सदस्य थे—

श्री डा० कालूलाल श्रीमाली, प्रो० हुमायूँ कबीर, श्री एम० पी० पीरियास्वामी थूरेन, इंद्र विद्यावाचस्पति, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० डी० एस० कोठारी, प्रो० नीलकंठ शास्त्री, डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० जी० वी० सीतापति, डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा, श्री काजी अब्दुल वदूद, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, प्रो० सत्येन बोस, डॉ० सी० पी० रामस्वामी अय्यर, डॉ० निहालकरण सेठी, श्री काका साहेब कालेलकर, श्री मो० सत्यनारायण, श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी; श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, डॉ० गोपाल त्रिपाठी, श्री यशवंत राव दाते, श्री आर० पी० नायक एवं डॉ० धीरेंद्र वर्मा। इसके लिये ६।। लाख रुपये के अनुदान की बात भी निश्चित की गई। ११ फरवरी, १९५५ को सरकार ने इसे स्वीकार कर लिया और नई दिल्ली में सभा के अध्यक्ष पं० गोविंदवल्लभ पंत के निवासस्थान पर, पं० जवाहरलाल नेहरू की वर्षगाँठ के दिन, इसकी पहली बैठक हुई और लगभग तभी से इसका कार्य आरंभ कर दिया गया। इसमें जिन विषयों के समावेश करने का निश्चय किया गया वे निम्नांकित ग्रंथों के आधार पर संचयित किए गए :—इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, इनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, इनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन ऐंड एथिक्स, दी बुक ऑव नालेज, लेंड्स ऐंड पीपुल्स, हिंदी शब्दसागर, हिंदी विश्वकोश (श्री नगेंद्रनाथ वसु)। मराठी ज्ञानकोश, कोलियर्स इंसाइक्लोपीडिया, चैंबर्स इंसाइक्लोपीडिया, इंसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइंसेज, रिचर्ड्स ट्रॉपिकल इंसाइक्लोपीडिया, दी बुक ऑव पापुलर नालेज, दी वर्ल्ड बुक, दी स्टैंडर्ड डिक्शनरी ऑव फोकलोर, डिक्शनरी ऑव फिलासफी, डिक्शनरी ऑव साइकोलॉजी, डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिटरेचर, इंसाइक्लोपीडिया ऑव यूरोपियन हिस्ट्री, इंसाइक्लोपीडिया ऑव लिटरेचर तथा इंसाइक्लोपीडिया ऑव पेंटिंग इंसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम।

इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा गया कि भारत और एशिया से संबंध रखनेवाले विषयों का विशेष रूप से समावेश किया जाय और इस प्रकार उन अन्यान्य विषयों का भी समावेश इसमें किया गया जो अंग्रेजी इंसाइक्लोपीडिया में नहीं है। भारत के

भौगोलिक स्थानों के वृत्तांत, भारत के प्राचीन, अर्वाचीन, महापुरुष, साहित्यकार, कवि और वैज्ञानिकों की जीवनियाँ इसमें विशेष रूप से संमिलित की गई हैं। भारत कृषिप्रधान देश है, इसलिये कृषि संबंधी विषयों तथा भारत की फसलों आदि का विशेष रूप से वर्णन इस विश्वकोश में करने का निश्चय किया गया। निम्नांकित विषयों पर इसमें लेख रखने का निश्चय किया गया :

विज्ञान अनुभाग में कृषि, प्रायोगिक रसायन और टेक्नोलॉजी, इंजीनियरी उद्योग, चिकित्सा विज्ञान, प्रयुक्त गणित और नक्षत्र-विज्ञान, प्राणिविज्ञान, भौतिकी, भूगोल, ऋतुविज्ञान, फोटोग्राफी, रसायन विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, शुद्ध गणित, सैनिक शास्त्र और खेलकूद। भाषा और साहित्य में अक्कादी, अरबी, असीरी, असमिया, ऑस्ट्रिक, बँगला, बर्मी, चीनी, क्रीट, चेक, मिस्री, अंग्रेजी ग्रीक, गुजराती, हिंदी, ईरानी, इंडोनेशियायी, इटालियन, जापानी, कन्नड़, खत्ती, कोरियन, लैटिन, मंगोलियन, मराठी, मलनी, शेष यूरोपीय भाषायें, उड़िया, पंजाबी, पश्तो, फारसी, पोलिश, रशियन, संस्कृत, सर्बियन, सिंधी, स्पैनिश, तामिल, तेलुगु, तिब्बती, तुर्की और उर्दू भाषा तथा साहित्य का समावेश किया गया। मानवतादि में सौंदर्यशास्त्र, पुरातत्वशास्त्र, स्थापत्य, अर्थशास्त्र, वाणिज्य, शिक्षा, ललितकला, इतिहास, संस्कृति, विधि, नृतत्वशास्त्र, संगीत, राजनीति, मनोविज्ञान, धर्म, दर्शन, भाषा-विज्ञान और समाजशास्त्र के विषयों का चयन किया गया।

संवत २०१३ विक्रमी में सभा ने सभा से बाहर इस कार्य को राजदेवी कटरा, बुलानाला, में पं० गोविंदवल्लभ पंत के नेतृत्व में २८ जनवरी, सन् १९५६ से आरंभ किया। यह कार्य शब्दसूची के निर्माण से प्रारंभ हुआ तथा सांकेतिक सूची के साथ ही साथ ७० हजार शब्दों का चयन किया गया जिसमें से वास्तविक शब्द ३० हजार निकले और इनके हिंदीकरण का कार्य आरंभ हुआ। साथ ही ४ हजार शब्दों का हिंदीकरण किया गया और ६०० लेखकों के नाम परामर्श मंडल ने स्वीकृत किए। संवत् २०१५ में शब्दों के हिंदीकरण की संख्या १० हजार पहुँची। इसी बीच केंद्रीय सरकार का यह निर्देश प्राप्त हुआ कि यह कार्य जल्दी किया जाय और एक खंड का प्रकाशन कर दिया जाय। इस दृष्टि से काम करने पर उस वर्ष ८५० लेख सभा को विविध विद्वानों द्वारा प्राप्त हुए। मार्च, १९५९ से डॉ० धीरेंद्र वर्मा ने प्रधान संपादक का कार्यभार संभाला। सरकार की ओर से तकाजा बढ़ता गया। डॉ० धीरेंद्र वर्मा के पूर्व डॉ० भगवतशरण उपाध्याय मानवतादि के संपादक के रूप में और डॉ० गोरखप्रसाद विज्ञान के संपादक के रूप में कार्य कर रहे थे। संवत् २०१६ विक्रमी में स्वरों से प्रारंभ होनेवाले १४०० लेख सभा को प्राप्त हुए और इनका संपादन भी हुआ। प्रथम खंड की छपाई का भी कार्य आरंभ हुआ और ऐसी संभावना प्रकट की गई कि कार्य के पूरा होने में चार वर्ष का समय और लगेगा। इस वर्ष सफेद कागज तथा मोनोटाइप आदि की छपाई प्रस्तावित व्यय से अधिक होने के कारण यह योजना ६॥ लाख से बढ़ाकर ७ लाख करना सरकार ने स्वीकार कर लिया। संवत् २०१७ में हिंदी विश्वकोश का प्रथम खंड प्रकाशित हुआ और १९ अक्टूबर, १९६० को राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली में राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्रप्रसाद जी को इसे सभा के सभापति पं० गोविंदवल्लभ पंत ने एक विशेष समारोह में समर्पित किया और दूसरे खंड के प्रकाशन का कार्य आरंभ हुआ। इसी बीच पं० गोविंदवल्लभ पंत का सहसा निधन हो गया और डॉ० राजबली पांडेय के स्थान पर डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा सभा के प्रधान मंत्री चुने गए। यह अनुभव भी किया जाने लगा कि इस योजना के समाप्त होने में आठ वर्ष का और समय लगेगा और कुल व्यय ११ लाख ३५ हजार रुपया आएगा। संवत् २०१८ में विश्वकोश के द्वितीय खंड का प्रकाशन संपन्न हुआ। नागरीप्रचारिणी सभा और केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय के बीच इसी बीच यह स्थिर हुआ कि केवल वैज्ञानिक तथा टेक्निकल लेखों में देवनागरी लिपि तथा अंकों के साथ रोमन लिपि तथा अंकों को भी स्थान दिया जाय। ५ मई, सन् १९६१ को विज्ञान विभाग के संपादक डॉ० गोरखप्रसाद का आकस्मिक निधन हुआ और १९ जुलाई, १९५९ को उनके स्थान पर प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा विज्ञान विभाग के संपादक नियुक्त हुए। डॉ० धीरेंद्र वर्मा भी यहाँ से १३ नवंबर, ६१ को अन्यत्र चले गए। नए परामर्शमंडल और संपादक समिति का गठन हुआ जिसमें सदस्यों की संख्या क्रमश: ११ और ७ कर दी गई। व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण छोटी समिति का गठन किया गया ताकि कार्य तेजी से हो सके। परामर्शमंडल और संपादक समिति के सदस्य निम्नांकित लोग हुए—

१—परामर्शमंडल

१—महा० डॉ० संपूर्णानंद, सभापति, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी (अध्यक्ष, पदेन)

२—श्री कृष्णदयाल भार्गव, उपशिक्षासलाहकार, शिक्षामंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली (सदस्य)

३—श्री के० सच्चिदानंदम्, उपवित्तसलाहकार, शिक्षामंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली (सदस्य)

४—श्री पं० कमलापति त्रिपाठी, वाराणसी (सदस्य)

५—डॉ० विश्वनाथप्रसाद, निदेशक, हिंदी निदेशालय, भारत सरकार, दरियागंज, दिल्ली (सदस्य)

६—डॉ० निहालकरण सेठी, सिविल लाइंस, आगरा (सदस्य)

७—डा० दीनदयालु गुप्त, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (सदस्य)

८—श्री शिवपूजन सहाय, साहित्य संमेलन भवन, कदमकुआँ, पटना (सदस्य)

९—श्री देवकीनंदन केडिया; अर्थमंत्री, काशी नागरीप्रचारिणी सभा (सदस्य, पदेन)

१०—डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, प्रधान मंत्री, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, (मंत्री और संयोजक, पदेन)

११—प्रधान संपादक, हिंदी विश्वकोश, (संयुक्त मंत्री, पदेन)

२—संपादक समिति

१—महा० डॉ० संपूर्णानंद, सभापति, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, अध्यक्ष, हिंदी विश्वकोश परामर्शमंडल, (पदेन, अध्यक्ष)

२—श्री कृष्णदयाल भार्गव, उपशिक्षासलाहकार, शिक्षामंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली (सदस्य)

३. श्री के० सच्चिदानंदम्, उपवित्तसलाहकार, शिक्षामंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली (सदस्य)

४—अर्थमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (सदस्य, पदेन)

५—प्रधान संपादक, हिंदी विश्वकोश (सदस्य)

६—संपादक, मानवतादि (सदस्य)

७—संपादक, विज्ञान (सदस्य)

८—डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, प्रधान मंत्री, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, मंत्री और संयोजक, हिंदी विश्वकोश (संयोजक, पदेन)

हिंदी विश्वकोश का द्वितीय खंड इस वर्ष प्रकाशित हुआ और २५ अक्टूबर, सन् १९६२ को डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी प्रधान संपादक नियुक्त हुए। कुछ पुराने अनावश्यक शब्द छाँट दिए गए और नए आवश्यक छूटे हुए शब्दों का संयोजन किया गया। इसका मुद्रण नागरी मुद्रण मे प्रारंभ किया गया और लगभग इसी समय बाहर से विश्वकोश का कार्यालय भी सभाभवन मे आ गया। इसी बीच ४ अप्रैल, ६१ को हिंदी विश्वकोश के विषय में केंद्रीय सरकार और सभा के बीच एक नया समझौता हुआ और ११ व्यक्तियों की परामर्शदात्री समिति बनाने का निश्चय किया गया। ऐसा कार्य की प्रगति को और गति देने को ध्यान मे रखकर किया गया। संवत् २०२० मे चतुर्थ खंड प्रकाशित हुआ। और तब तक विश्वकोश के प्रथम खंड की प्रतियाँ समाप्त हो गईं। संपादन और संयोजन का कार्य पूर्ववत् चलता रहा। संवत् २०२१ मे पंचम खंड प्रकाशित हुआ और डा० रामप्रसाद त्रिपाठी २० सितंबर, १९६४ से छुट्टी पर चले गए तथा मानवतादि के संपादक का भी पद खाली रहा। डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के स्थान पर पं० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' विश्वकोश के मंत्री और संयोजक हुए। संवत् २०२२ मे हिंदी विश्वकोश के दो और खंड प्रकाशित हुए तथा ३ हजार निबंध प्राप्त किए गए। विश्वकोश का कार्यकाल ३१ दिसंबर, सन् १९६७ तक बढ़ा दिया गया और प्रधान संपादक २६ अगस्त, ६५ को अवकाश से आ गए। इसी वर्ष श्री मुकुंदीलाल जी को मानवतादि का संपादक नियुक्त किया गया। संवत् २०२३ तक विश्वकोश के आठवें खंड तक का प्रकाशन हुआ।

संवत् २०२४ में मैं इसका प्रधान मंत्री चुना गया। इसके पूर्व मैं श्री शिवप्रसाद मिश्र के कार्यकाल में परामर्शदात्री तथा संपादन समिति का सदस्य था। इस वर्ष नवाँ खंड प्रकाशित हुआ। और इस योजना को बारह खंडों में विस्तार देने की बात हुई। वर्षांत तक दसवाँ खंड भी तैयार हो गया। संवत् २०२५ में दसवें खंड का विधिवत् उद्घाटन हुआ और ग्यारहवें खंड की छपाई का कार्य पूरा हो गया एवं अनुक्रमणिका का कार्य आरंभ कर दिया गया। दसवें खंड के पूर्व ही प्रधान संपादक अवकाश पर चले गए। ग्यारहवें खंड का उद्घाटन दिल्ली में उपप्रधान मंत्री श्री मोरार जी देसाई ने २१ जून, सन् १९६९ को किया और इसी आर्थिक वर्ष में बारहवाँ खंड भी प्रस्तुत कर दिया गया। ग्यारहवें खंड के प्रकाशन के उपरांत प्रायः सभी संपादक विश्वकोश के कार्य से विलग हो गए क्योंकि स्वीकृत धनराशि मे ही सारा कार्य करना था। विश्वकोश के चौथे खंड से इसकी ५ हजार प्रतियो का प्रकाशन आरंभ हुआ। विश्वकोश की पूरी योजना अब १५,६५,४८१ रुपए की स्वीकार की जा चुकी है और सभा इसकी बिक्री के धन से रु० २,१९,५४२-१३, सरकारी खजाने में जमा कर चुकी है। यद्यपि उपप्रधान मंत्री भारत सरकार ने सार्वजनिक रूप से ११ वें खंड के उद्घाटन के समय यह घोषित किया था कि सभा को बिक्री का धन विश्वकोश के आगामी संस्करण के प्रकाशन के लिये दे दिया जायगा, तथापि अभी तक यह कार्य नही हो पाया है। विश्वकोश में चित्रकार के रूप मे श्री बैजनाथ वर्मा ने और संपादक सहायक के रूप मे निम्नांकित लोगो ने योगदान किया है : श्री भगवानदास वर्मा, श्री अजित नारायण मेहरोत्रा, श्री माधवाचार्य, श्री रमेशचंद्र दुबे, श्री प्रभाकर द्विवेदी, श्री चंद्रचूडमणि त्रिपाठी, डा० श्याम तिवारी ,श्री चारुचंद्र त्रिपाठी, श्री जंगीर सिंह। प्रबंध व्यवस्था श्री बलभद्रप्रसाद मिश्र और श्री सर्वदानंद जी ने तथा अर्थव्यवस्था श्री मंगलाप्रसाद शर्मा एवं प्रूफशोधन की व्यवस्था श्री विभूतिभूषण पाडेय ने देखी।

हिंदी विश्वकोश आरंभ होने के समय से ही सभा के पदाधिकारी होने और उसकी सलाहकार समिति के सदस्य होने के नाते मेरा इससे निकट संबंध रहा है और वस्तुस्थिति यह है कि डा० राजबली पांडेय के उपरात विश्वकोश के कार्य को प्रभावशाली ढंग से मैं देखता रहा हूँ और इसके सभी कार्यकर्ता मित्रो से मेरा प्रगाढ़ स्नेह संबंध है। यह कार्य, जिसकी गति कभी कभी ऐसी भी हो जाती थी कि कार्य पूरा नही हो पाएगा, ऐसी संभावना की जाने लगती थी पर इन सबके संबल से यह पूरा हुआ। दस वर्ष की इस लंबी यात्रा मे कभी कभी कार्य की शिथिलता को गति देने के लिये मुझे कटु भी होना पड़ा है, पर वह कटुता कार्य के लिये थी, इसलिये यदि इतनी लंबी अवधि में कुछ ऐसा हो गया हो जो किसी को प्रिय न लगा हो, तो उसके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और साथ ही विश्वकोश की त्रुटियों के लिये भी।

इसमें जो कुछ भी गौरवशाली है या उपयोगी है, वह स्वर्गीय पं० गोविंदवल्लभ पंत, श्रद्धेय डॉ० संपूर्णानंद और आदरणीय पं० कमलापति त्रिपाठी के प्रभाव का परिणाम तथा इसके संपादकों, लेखकों और कार्यकर्ताओं के श्रम का सुफल है। हम और हिंदी जगत् उसके लिये सदा उनके ऋणी रहेंगे। इस अवसर पर हम उन सबका अभिनंदन करते हैं।

भारत सरकार के शिक्षामंत्री डा० के० एल० श्रीमाली, श्री भक्तदर्शन, प्रो० शेरसिंह, प्रो० हुमायूँ कबीर ने हमें इस कार्य में निरंतर अपना सहयोग प्रदान किया। शिक्षा तथा वित्त मंत्रालय के सभी अधिकारियों ने भी इस कार्य मे हमें अपना हार्दिक सहयोग प्रदान किया, अतः हम इनके प्रति हृदय से ऋणी हैं।

हम इस अवसर पर हिंदी जगत् को विश्वास दिलाते हैं कि हमारा संकल्प यह है कि दिनोत्तर यह विश्वकोश अपने में गुणधर्म का ऐसा विकास करे कि धीरे धीरे हिंदी का यह ज्ञानभांडार विश्व में इस क्षेत्र में अपना अनन्य गौरव स्थापित करे और ज्ञान की गंगा का प्रवाह इसके माध्यम से निरंतर होता रहे। इसके लिये उपलब्ध समस्त साधनों का दिनोत्तर वर्धमान अनुभव के साथ सत्प्रयोग करने का हमारा संकल्प है। भगवान् विश्वनाथ हमारे संकल्प की पूर्ति करें और इसका अनंत काल तक नित नूतन संस्करण होता रहे।

हिंदी विश्वकोश

खंड १२

सवर्गीय यौगिक इन्हें उपसहसंयोजकता-यौगिक (Coordination Compounds) भी कहते हैं। ऐल्फ्रेड वेर्नर ने धातुओं की सामान्य बंधुता को 'प्राथमिक' बंधुता कहा। कुछ धातुओं में प्राथमिक बंधुता के अतिरिक्त एक और बंधुता होती है, जिसे 'द्वितीयक' बंधुता कहते हैं। इस द्वितीयक बंधुता को ही 'उपसहसंयोजकता' का और ऐसे बने यौगिकों को 'उपसहसंयोजकता-यौगिक' का नाम दिया। ऐसे यौगिकों को वेर्नर ने उच्च वर्ग यौगिक कहा है।

धनात्मक आयन, विशेषत: जब वे छोटे और उच्च आवेशित होते हैं, पार्श्ववर्ती ऋणात्मक आयनों अथवा उदासीन अणुओं से, जिनमें 'असाझी' (unshared) इलेक्ट्रॉन रहते हैं, इलेक्ट्रॉन आकर्षित करते हैं। यदि आकर्षण अधिक है, तो धात्विक आयन और अन्य समूहों के बीच इलेक्ट्रॉन साझी हो जाता है। धात्विक आयन को यहाँ 'ग्राही' (acceptor) और अन्य समूह को 'दाता' (donor) कहते हैं। जब प्लैटिनिक क्लोराइड को अमोनिया के साथ उपचारित किया जाता है तब ऐसा ही यौगिक, 'हेक्सामिनिक प्लैटिनिक हेक्सा-क्लोराइड, बनता है, जिसको निम्न प्रकार का सूत्र दिया गया है :

$$PtCl_4 + 6\,:\overset{H}{\underset{H}{N}}:H \longrightarrow \left[Pt\left(:\overset{H}{\underset{H}{N}}:H\right)_6\right]Cl_4$$
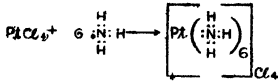
प्लैटिनम का उपसहसंयोजकता-यौगिक

रासायनिक संयोग का बनना ऐसे बने यौगिकों के रंग, विलेयता, और अन्य गुणों की विभिन्नता से जाना जाता है। ऐसे बने प्लैटिनम के यौगिक में न प्लैटिनम के और न क्लोरीन के ही परीक्षक लक्षण पाए जाते हैं। जिन समूहों में असाझी इलेक्ट्रॉन रहते हैं, वे हैं अमोनिया (NH_3), जल (H_2O), कार्बन मोनोऑक्साइड (CO), नाइट्रिक ऑक्साइड (NO), ऐल्किल ऐमिन (RNH_2), डाइऐल्किल ऐमिन (R_2NH), ट्राइऐल्किल ऐमिन (R_3N), ऐल्किल सल्फ़ाइड (RSR), साइऐनाइड (CN), थायोसाइऐनाइड (SCN) आदि।

उपसहसंयोजकता-यौगिकों में दो, या दो से अधिक, किस्म के दाता रह सकते हैं। केंद्र स्थित धात्विक आयनों में दाता समूहों की संख्या प्रत्येक धात्विक आयन के लिये निश्चित रहती है। ऐसी संख्या को उपसहसंयोजकता-संख्या (Coordination Number) कहते हैं। सिजविक (Sidgwick) के अनुसार यह संख्या तत्वों की परमाणुसंख्या पर निर्भर करती है। यह दो से आठ तक हो सकती है। हाइड्रोजन की उपसहसंयोजकता संख्या दो है और भारी धातुओं की आठ। यदि दाता समूह या परमाणु में एक जोड़े से अधिक असाझी इलेक्ट्रॉन विद्यमान हों, तो ऐसे समूह या परमाणु दो धात्विक आयनों से संयुक्त हो सकते हैं। इस रीति से द्विनाभिक संमिश्र (dinuclear complex) बनते हैं। ऐसा ही एक द्विनाभिक संमिश्र डाइऑल ऑक्टैमिन डाइकोबाल्टिक सल्फेट (di-ol octamin dicobaltic sulphate) है :

$$\left[(NH_3)_4Co \begin{matrix} \overset{H}{O} \\ \underset{H}{O} \end{matrix} Co(NH_3)_4\right](SO_4)_2$$
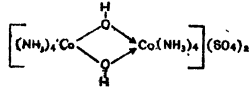
यदि दाता परमाणु एक ही अणु में विद्यमान हैं पर कम से कम एक दूसरे परमाणु से उनमें अलगाव है, तो इस प्रकार के बने वलय को 'कीलेट वलय' (Chelate ring) कहते हैं। कीलेटी करण से यौगिकों का स्थायित्व बहुत बढ़ जाता है। पाँच सदस्य वाले कीलेट वलय सबसे अधिक स्थायी होते हैं। चार या छ: सदस्य वाले कीलेट वलय भी सरलता से बन जाते हैं। यह प्रभाव कार्बनिक ऐमिनो-यौगिकों में स्पष्ट रूप से देखा जाता है। मोनोमेथिल ऐमिन कदाचित् ही उपसहसयोकता-यौगिक बनता है, पर एथिलीन डाइऐमिन बड़ी सरलता से उपसहसंयोजकता-यौगिक बनता है, जो बहुत स्थायी होता है।

सामान्य द्वितीयक ऐमिन कदाचित् ही उपसहसंयोजकता-यौगिक बनता है, पर

डाइएथिलीन ट्राइऐमिन($H_2N\,CH_2\,CH_2\,NH\,CH_2\,CH_2\,NH_2$) बड़ी सरलता से भारी धात्विक आयनों के साथ तीनों नाइट्रोजनों से संयुक्त हो, बहुत स्थायी द्विक् कीलेट वलय बनाता है।

$$M \begin{matrix} :NH_2 \\ :NH \\ :NH_2 \end{matrix} \begin{matrix} > C_2H_4 \\ > C_2H_4 \end{matrix}$$

ऐल्फा-ऐमिनो अम्ल अनेक धातुओं के हाइड्रॉक्साइडों से अभिक्रिया कर बहुत स्थायी यौगिक बनाता है। इनमें अम्ल और ऐमिनो दोनों समूह धातु से संयुक्त होकर, कीलेट वलय बनाते हैं। यदि उप-सहसंयोजकता-संख्या बंधुता से दुगुनी है, तो ऐसे यौगिक अनायनित

(non-ionic) होते हैं और इन्हें 'आंतर लवण' (Inner salt) कहते हैं। ऐसे आंतर लवण कुछ हाइड्रॉक्सी अम्लों और डाइकीटोनों से भी बनते हैं। ऐसे यौगिक जल में अविलेय होते पर, कार्बनिक विलायकों में विलेय होते हैं। ये भाप में वाष्पशील भी होते हैं। कच्चे चमड़े पर क्रोमियम लवणों से चर्मशोधन में कुछ ऐसी ही क्रिया क्रोमियम लवण और चमड़े के पॉलिपेप्टाइडों के बीच होती है। चर्म का शोधन होना ऐसे ही आंतर लवण बनने के कारण समझा जाता है।

समावयवता (Isomerism) — उपसहसंयोजकता-यौगिकों में कई किस्म की समावयवता पाई गई है। इनमें अधिक महत्व की समावयवता निम्नलिखित प्रकार की है :

१. बहुलकीकरण (Polymerisation) समावयवता — इसकी आणविक संरचना में सरलतम संरचना के गुणक होते हैं। हेक्सामिन कोबाल्टिक हेक्सानाइट्रो कोबाल्टेट $[Co(NH_3)_6]\ [Co(NO_2)_6]$ अनायनित ट्राइनाइट्रो ऐमिन कोबाल्ट $[Co(NH_3)_3\ (NO_2)_3]$ का बहुलक है।

२. संरचना (Structural) समावयवता — नाइट्राइट आयन के नाइट्रोजन और ऑक्सीजन दोनों के परमाणुओं में असाझी इलेक्ट्रॉन होते हैं, अतः ये कोबाल्टिक आयन से दो रीतियों से, एक ऑक्सीजन द्वारा और दूसरा नाइट्रोजन द्वारा, संबद्ध हो सकते हैं। इससे दो समावयव

(१) नाइट्रिटो-पेंटामिन कोबाल्टिक क्लोराइड

$[Co(NH_3)_5\ ONO]\ Cl_2$ और

(२) नाइट्रो-पेंटामिन कोबाल्टिक क्लोराइड

$[Co(NH_3)_5\ NO_2]\ Cl_2$

प्राप्त होते हैं।

३. उपसहसंयोजकता (Coordination) समावयवता — इसमें धनात्मक और ऋणात्मक दोनों आयन होते हैं, पर उनका वितरण विभिन्न प्रकार का होता है, जैसे $[Co(NH_3)_6]\ [Cr(CN)_6]$ और $[Cr(NH_3)_6]\ [Co(CN)_6]$

४. आयनन (Ionisation) समावयवता — इसमें दोनों के संघटन एक से होते हैं, पर विलयन में ये विभिन्न आयनों में वियोजित होते हैं। कोबाल्टिक ब्रोमोपेंटामिन सल्फेट $[Co(NH_3)_5Br]SO_4$, सल्फेट आयन के और कोबाल्टिक सल्फेटो पेंटामिन ब्रोमाइड, $[Co(HN_3)_5SO_4]Br$, ब्रोमीन आयन की अभिक्रिया देते हैं।

५. हाइड्रेट (Hydrate) समावयवता — यह समावयवता क्रोमिक क्लोराइड के हेक्सा-हाइड्रेट में देखी जाती है। एक समावयव धूसर बैंगनी रंग का और दो हरे रंग के होते हैं। एक से सिल्वर नाइट्रेट विलयन द्वारा क्लोरीन तीनों परमाणु का, दूसरे से केवल दो क्लोरीन परमाणु का और तीसरे से केवल एक क्लोरीन परमाणु का, तत्काल अवक्षेपण होता है। इन तीनों के सूत्र इस प्रकार हैं :

$[Cr(H_2O)_6]Cl_3$; $[Cr(H_2O)_5Cl]Cl_2\ H_2O$ और $[Cr(OH)_4Cl_2]\ Cl, H_2O$।
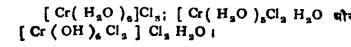
६. त्रिविम समावयवता (Stereo-isomerism) — उपसहसंयोजकता बंध सदिश (directional) होते हैं। इस कारण उपसहसंयोजकता समूह केंद्रस्थित धात्विक आयनों के चारों ओर एक निश्चित स्थिति में स्थित होते हैं। प्लैटिनम आयन की चारों संयोजकताएँ (covalences) एक तल पर होती हैं। अतः इसके यौगिक प्लैटिनम डाइऐमिन डाइक्लोराइड दो रूप में, सिस रूप और ट्रैंस रूप में, प्राप्त हुए हैं :

Cl, NH₃ / Pt / Cl, NH₃   Cl, NH₃ / Pt / H₃N, Cl

सिस रूप   ट्रैंस रूप
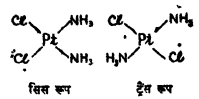
इन दोनों के रंग, विलेयता और रासायनिक व्यवहार में भिन्नता होती है। ऐसा केवल प्लैटिनम के साथ ही नहीं होता, अन्य धातुओं, जैसे पेलैडियम, निकल, कैडमियम, पारद आदि के साथ भी ऐसा देखा जाता है। यदि उपसहसंयोजकता समूह छह हैं और उनमें दो अन्य चार समूहों से भिन्न हैं, तो उनके भी दो रूप, सिस और ट्रैंस हो सकते हैं। डाइक्लोरो-टेट्रामिन कोबाल्टिक क्लोराइड दो रूपों में पाया गया है। एक का रंग बैंगनी और दूसरे का हरा होता है।

प्रकाशिक (optical) समावयवता — जब केंद्रित धात्विक आयन पर उपसहसंयोजक समूह चार, छह या अधिक असममित रूप से व्यवस्थित रहें, तो ऐसी संरचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं जिनमें एक दूसरे का दर्पण प्रतिबिंब हो। यदि धात्विक आयन कीलेट वलय बनाता है, तो ऐसा सरलता से संपन्न होता है। ऐसे यौगिकों में प्रकाशिक समावयवता हो सकती है। कुछ यौगिकों में ऐसी प्रकाशिक सक्रियता निश्चित रूप से पाई गई है।

उपसहसंयोजकता-यौगिक अनेक प्रकार के होते हैं। इनमें से कुछ बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनका उपयोग उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। भारी धातुओं के ऐसे ही संमिश्र साइआनाइड विद्युत् लेपन में काम आते हैं। अनेक ऐसे यौगिक महत्व के वर्णक हैं। प्रशीयन ब्लू, हीमोग्लोबिन, क्लोरोफिल आदि ऐसे ही वर्णक हैं। कुछ यौगिक, विशेषतः अंतराल लवण, धातुओं को पहचानने, पृथक् करने तथा उनकी मात्रा निर्धारित करने आदि में काम आते हैं। [फा० स०]

सवाई माधोपुर १. जिला, भारत के राजस्थान राज्य का जिला है, जिसका क्षेत्रफल ४,०७० वर्ग मील एवं जनसंख्या ६,४३,५७४ (१९६१) है। जिले के पूर्व-उत्तर में अलवर जिला, पूर्व-दक्षिण में मध्य प्रदेश, दक्षिण में कोटा, दक्षिण-पश्चिम में बूँदी, पश्चिम में टोंक तथा पश्चिम-उत्तर में जयपुर जिला है।

२. नगर, स्थिति : २६° ०' उ० अ० तथा ७६° २३' पू० दे०। यह उपर्युक्त जिले का प्राशासनिक नगर है, जो जयपुर नगर से दक्षिण पूर्व में ७६ मील दूर पर स्थित है। नगर में ताँबे और पीतल के बरतन बनाने का उद्योग है और यहाँ से दक्षिण की ओर बरतन जाते हैं। गांडर घास की जड़ से खस का इत्र बनाने का उद्योग भी यहाँ का प्रमुख उद्योग है। नगर की जनसंख्या २०,९५२ (१९६१) है। [भ० ना० मे०]

ससेक्स (Sussex) स्थिति : ५०° ५५' उ० अ०, ०° २०' प० दे० । यह दक्षिण पूर्वी इंग्लैंड की एक समुद्रतटीय काउंटी है। इसका क्षेत्रफल १,४५७ वर्ग मील है। इसके उत्तर में सरे (Surrey) तथा उत्तर पूर्व में केंट (Kent) काउंटियाँ, पश्चिम में हैंपशिर और पूर्व एवं दक्षिण में इंग्लिश चैनल है। ससेक्स दो प्रशासनिक काउंटियों में बँटा हुआ है : पूर्वी ससेक्स तथा पश्चिमी ससेक्स। पूर्वी ससेक्स के लिये ल्युइस (Lewes) में तथा पश्चिमी ससेक्स के लिये चिचेस्टर (Chichester) में काउंटी परिषदें हैं। समुद्रतट के पास की भूमि सबसे अधिक उपजाऊ है। यहाँ पर गेहूँ की खेती होती है। साउथ डाउन में भेड़ें पाली जाती हैं। इसी नाम की यहाँ पर भेड़ों की एक जाति भी होती है। चरागाह अधिक होने के कारण पशुपालन यहाँ का प्रमुख उद्योग है। लोहपत्थर प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। यहाँ पर ऊन, कागज, बारूद तथा ईंटों का उत्पादन होता है। ब्राइटन (Brighton) इंग्लैंड का सबसे बड़ा समुद्रतटवास है। [मं० कु० रा०]

सस्यकर्तित्र (अर्थात् फसल काटने के औजार) देश के विभिन्न भागों में फसलों की कटाई विभिन्न समय में विभिन्न यंत्रों द्वारा की जाती है। फसल की कटाई, पकने के बाद, जितनी जल्दी की जा सके उतना ही अच्छा समझा जाता है, क्योंकि मुख्यतः फसल खेत में खड़ी रहने पर फसल के शत्रुओं से, तथा कभी कभी अधिक पकने पर बालियों से दाने गिर जाने से, बहुत हानि होती है। उत्तर प्रदेश में खरीफ की फसल की कटाई लगभग मध्य अगस्त से लेकर नवंबर के महीने तक चलती रहती है और कहीं कहीं पछेती के धानों की कटाई दिसंबर में भी होती है। इसी प्रकार रबी की फसलों की कटाई प्रदेश के पूर्वी जिलों में मार्च से लेकर पश्चिमी जिलों में अप्रैल के अंत तक चलती रहती है। यह ऐसा समय होता है जब खेत में चूहे भी लग जाते हैं और आँधी के समय ओले गिरने का भी डर रहता है। इसलिये हर किसान यह चाहता है कि जितनी जल्दी उसकी फसल कटकर खलिहान में पहुँच जाय उतना ही अच्छा है।

जैसा ऊपर बताया गया है, विभिन्न फसलों के काटने के लिये विभिन्न यंत्रों का प्रयोग किया जाता है, परंतु यह निश्चित है कि यंत्र की बनावट तथा कटाई का ढंग स्थानीय सुविधा पर अधिकतर निर्भर करता है। यंत्र की बनावट भी फसल के तने की मोटाई अथवा मजबूती पर बहुत सीमा तक निर्भर करती है।

इससे पहले कि यंत्रों का विवरण दिया जाय, यह कह देना आवश्यक होगा कि उत्तर प्रदेश में ऐसी बहुत सी फसलें हैं जिनकी कटाई के लिये कोई यंत्र प्रयुक्त नहीं किया जाता, बल्कि उन्हें हाथ से ही पौधे से चुन लिया जाता है, जैसे मक्का, ज्वार-बाजरा, कपास, मूँग नं० १ तथा बहुत सी सब्जियाँ इत्यादि में।

फसलों की कटाई में प्रयुक्त होनेवाले साधारण यंत्रों का विवरण निम्नलिखित प्रकार है :

गँड़ासा — उत्तर प्रदेश में गन्ना, अरहर, तंबाकू, ज्वार, बाजरा तथा मक्का, जिनके तने मोटे और मजबूत होते हैं, गँड़ासे से काटे जाते हैं। गँड़ासे में १½ फुट लंबा, शीशम या बबूल की लकड़ी का बना हुआ बेंट रहता है, जिसमें काटने के लिये इस्पात का बना हुआ १ फुट लंबा और ४ इंच चौड़ा, कटाई की ओर से तेज धारवाला, फलका लगा रहता है। गँड़ासे से कटाई करने की विशेषता यह है कि कटाई करनेवाला जमीन से लगभग १½ इंच या २ इंच ऊपर तने पर, गँड़ासे को जोर से मारता है, जिसके प्रभाव से तना कटकर गिर जाता है। यह यंत्र बहुत पुराना है और मजबूत तनेवाली फसलों को काटने के लिये अभीतक किसी नए यंत्र ने इसका स्थान नहीं लिया है। इस यंत्र की कीमत लगभग पाँच रुपए है और कार्यक्षमता खेत में उगे हुए पेड़ों के घनत्व और उनके तने की मोटाई एवं मजबूती पर निर्भर है।

२. हँसिया — हँसिया का प्रयोग, पतले तनेवाली फसलों, जैसे गेहूँ, जौ, चना, धान इत्यादि, की कटाई के लिये किया जाता है। इस यंत्र से कटाई करने में, फसल के तनों को बाएँ हाथ से मुट्ठी में पकड़ लेते हैं और दाएँ हाथ से तने के ऊपर हँसिया को रगड़कर अपनी ओर खींचते हैं, जिससे फसल कट जाती है। हँसिया की आकृति अर्धचंद्राकार होती है। कुछ ऐसी हँसियाँ होती हैं जिनमें दाँते बने रहते हैं और कुछ बिना दाँतों की बनी होती हैं। दाँतेदार हँसियों की कार्यक्षमता बिना दाँतों की हँसियों से अधिक होती है। हँसिया इस्पात की बनी होती है, जिसमें लकड़ी की मुठिया लगी होती है। एक हँसिया की कीमत लगभग एक रुपए होती है। यद्यपि इसकी कार्यक्षमता खेत में खड़े हुए पौधों को घनत्व पर निर्भर करती है, परंतु साधारणतया खेतों में एक एकड़ गेहूँ, जौ या धान आदि की कटाई के लिये चार पाँच आदमी पर्याप्त होते हैं।

३. रीपर — गेहूँ, जौ और जई की कटाई के लिये, पश्चिमी देशों में रीपर का प्रयोग किया जाता है। हमारे देश में भी कुछ बड़े आकारवाले फार्मों पर बैलों से चलनेवाले रीपर का प्रयोग होता है। रीपर में लगभग ४ फुट लंबी कटाई की पट्टी (cutter bar) लगी रहती है, जिसमें लगभग २५ से ३० तक काटनेवाले चाकुओं (knife and ledger) का सेट लगा रहता है। जब रीपर आगे को चलता है, तब पहिए घूमते हैं, जिनके प्रभाव से कटाई की पट्टी में गति आ जाती है। इस यंत्र की कीमत लगभग १,५०० से २,००० रु० तक होती है और यह अनुमान लगाया गया है कि यह एक दिन में चार से पाँच एकड़ तक गेहूँ की कटाई आसानी से कर सकता है। इस यंत्र से कटाई और बंधाई का खर्चा ५ रु० प्रति एकड़ आता है, जबकि एक एकड़ गेहूँ की कटाई हँसिया से करने में लगभग १५ रु० खर्च आता है। इस प्रकार यह यंत्र उन फार्मों के लिये तो बहुत ही सुविधाजनक है जहाँ कटाई के मौसम में मजदूरों की बहुत ही कमी अनुभव होती है; परंतु इस यंत्र का लाभ वे छोटे किसान, जिनकी जोत भी कम है और जिनके खेतों का आकार भी छोटा है, नहीं उठा सकते।

इस यंत्र का प्रयोग करने में एक दूसरी असुविधा यह भी है कि खेत की अंतिम सिंचाई के बाद, खेत की मेड़ नम अवस्था में ही तोड़नी पड़ती है। दूसरे यह चार पाँच इंच ऊँचे से फसल की कटाई करता है, इसलिये भूसे की काफी मात्रा खेत में ही रह जाती है। इस भूसे

की कीमत उन देशों के किसानों के लिये जहाँ खेती मशीनों या घोड़ों से की जाती है नहीं के बराबर है; परंतु हमारे देश में, जहाँ बैलों के चारे का साधन भूसा है, इसका काफी मूल्य है। इन उपर्युक्त असुविधाओं के कारण ही, अच्छा कार्यक्षम होते हुए भी, यह यंत्र जनप्रिय नहीं हो सका है।

४. कंबाइन — गेहूँ और जौ की फसल की कटाई करने के लिये अन्य विकसित देशों में तथा भारत में, बड़े विस्तार के फार्मों पर कंबाइन मशीन का प्रयोग किया जाता है। इस मशीन को चलाने के लिये या तो ट्रैक्टर से शक्ति ली जाती है या मशीन में ही इंजन लगा रहता है, जिसकी सहायता से मशीन चलती है। इस मशीन
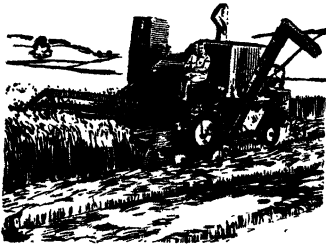
गाहने और फसल काटने की संयुक्त मशीन

यह खेत में घूमकर फसल काटती, गाहती तथा अनाज को साफ करती है। डंठल खेत में खड़ा छूट जाता है।

के चलने से, खेत की फसल कटकर सीधे मशीन में चली जाती है। और अंदर ही अंदर मँड़ाई, ओसाई और छनाई होकर साफ अनाज एक तरफ बोरों में भरता चला जाता है तथा भूसा एक तरफ गिरता चला जाता है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि मँड़ाई केवल अनाज की बालियों की ही होती है, शेष लाक की नहीं। इस प्रकार शेष फसल की लंबी लंबी लाक एक तरफ इकट्ठी हो जाती है। इस मशीन की कीमत लगभग २०,००० रु० से ३०,००० रु० होती है, जिसे मामूली किसान तो क्या बड़े बड़े किसान भी नहीं खरीद सकते। इसकी कार्यक्षमता उच्च कोटि की होते हुए भी भारत के किसानों के लिये, इसकी संस्तुति नहीं की जाती, क्योंकि इसमें भी काफी मात्रा में भूसे की हानि होती है। हमारे देश में उन फसलों की, जैसे आलू, घुंइया प्याज, मूँगफली, शकरकंद आदि, जिनका आर्थिक दृष्टि से उपयोगी भाग भूमि के नीचे रहता है, कटाई के लिये खुरपा एवं कुदाल का प्रयोग किया जाता है। इन्हें खोदने के लिये इस प्रदेश में अभी तक कोई विशेष यंत्र नहीं बना है। अन्य देशों में ऐसी फसलों की खुदाई, पोटेटो डिगर या ग्राउंड-नट डिगर से की जाती है। अमरीका में, जहाँ मक्का और कपास हजारों एकड़ बोई जाती है, मक्का के भुट्टे तथा कपास की कटाई के लिये भी विशेष प्रकार की मशीनों का प्रयोग किया जाता है। हवाई द्वीप में, जहाँ गन्ना मुख्य आर्थिक फसल है, गन्ने की कटाई भी एक विशेष मशीन से की जाती है।

इसमें संदेह नहीं है कि संसार का प्रत्येक किसान यह चाहता है कि फसल पकने के बाद कटाई जितनी जल्दी हो सके, की जाए, परंतु इसको कार्यान्वित करने के लिये ऐसे कटाई यंत्रों की आवश्यकता है जिनसे कटाई के श्रम तथा समय की बचत हो सके। ऐसे यंत्रों की सिफारिश करने से पहले, किसान की भौतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक है और सिफारिश इनकी अनुकूलता के अनुसार होनी चाहिए। यही कारण है कि रीपर, कंबाइन, तथा अन्य कटाई यंत्रों के अति श्रम तथा समय बचानेवाले यंत्र होने के बावजूद, अपने देश के किसानों के लिये, जिनकी जोतों और खेतों के आकार छोटे हैं, जिन्हें आर्थिक तंगी है तथा जिनके पास श्रम का अभाव नहीं है, अधिक कीमतवाले होने के कारण सिफारिश नहीं की जा सकती। आवश्यकता इस बात की है कि कृषियंत्रों के अनुसंधान के आधार पर ऐसे कटाई यंत्र, जो हमारे देश के किसानों की भौतिक एवं आर्थिक परिस्थिति के अनुकूल हों, बनाए जाएँ, जिससे श्रम एवं समय की बचत भी हो। [भ० स० ग०]

सस्यचक्र विभिन्न फसलों को किसी निश्चित क्षेत्र पर, एक निश्चित क्रम से, किसी निश्चित समय में बोने को सस्यचक्र कहते हैं। इसका उद्देश्य पौधों के भोज्य तत्वों का सदुपयोग तथा भूमि की भौतिक, रासायनिक तथा जैविक दशाओं मे संतुलन स्थापित करना है।

सस्यचक्र से निम्नलिखित लाभ होते हैं :

१. पोषक तत्वों का समान व्यय — फसलों की जड़ें गहराई तथा फैलाव में विभिन्न प्रकार की होती हैं, अतः गहरी तथा उथली जड़वाली फसलो के क्रमश: बोने से पोषक तत्वों का व्यय विभिन्न गहराइयों पर समान होता है, जैसे गेहूँ, कपास।

२. पोषक तत्वों का संतुलन — विभिन्न पौधे नाइट्रोजन, फॉस्फोरस, पोटाश तथा अन्य पोषक तत्व भिन्न भिन्न मात्राओं में लेते हैं। सस्यचक्र द्वारा इनका पारस्परिक संतुलन बना रहता है। एक ही फसल निरंतर बोने से अधिक प्रयुक्त होनेवाले पोषक तत्वों की भूमि में न्यूनता हो जाती है।

३. हानिकारक कीटाणु रोग तथा घासपात की रोकथाम — एक फसल, अथवा उसी जाति की अन्य फसलें, लगातार बोने से उनके हानिकारक कीड़े, रोग तथा साथ उगनेवाली घासपात उस खेत में बनी रहती है।

४. श्रम, आय तथा व्यय का संतुलन — एक बार किसी फसल के लिये अच्छी तैयारी करने पर, दूसरी फसल बिना विशेष तैयारी के ली जा सकती है और अधिक खाद चाहनेवाली फसल को पर्याप्त मात्रा में खाद देकर, शेष खाद पर अन्य फसलें लाभ के साथ ली जा सकती हैं, जैसे आलू के पश्चात् तंबाकू, प्याज या कद्दू आदि।

५. भूमि में कार्बनिक पदार्थों की पूर्ति — सिंचाई, गुड़ाई

चाहनेवाली फसलें, जैसे आलू, प्याज इत्यादि बोने से, भूमि में जैव पदार्थों की कमी हो जाती है। इनकी पूर्ति दलहन वर्ग की फसलों तथा हरी खाद के प्रयोग से हो जाती है।

६. अल्पकालीन फसलें बोना — मुख्य फसलों के बीच अल्पकालीन फसलें बोई जा सकती हैं, जैसे मूली, पालक, खीरा, मूँग नंबर १.।

७. भूमि में नाइट्रोजन की पूर्ति — दलहन वर्ग की फसलों को, जैसे लमई, ढैंचा, मूँग इत्यादि, भूमि में तीन या चार वर्ष में एक बार जोत देने से, न केवल कार्बनिक पदार्थ ही मिलते हैं अपितु नाइट्रोजन भी मिलता है, क्योंकि इनकी जड़ की छोटी छोटी गाँठों में नाइट्रोजन स्थापित करनेवाले जीवाणु होते हैं।

८. भूमि की अच्छी भौतिक दशा — झकड़ा जड़वाली तथा अधिक गुड़ाई चाहनेवाली फसलों को सस्यचक्र में संमिलित करने से भूमि की भौतिक दशा अच्छी रहती है।

९. घास पात की सफाई — निराई, गुड़ाई चाहनेवाली फसलों के बोने से घासपात की सफाई स्वयं हो जाती है।

१०. कटाव से बचत — उचित सस्यचक्र से वर्षा के जल से भूमि का कटाव रुक जाता है तथा खाद्य पदार्थ बहने से बच जाते हैं।

११. समय का सदुपयोग — इससे कृषि कार्य उत्तम ढंग से होता है। खेत एवं किसान व्यर्थ खाली नहीं रहते।

१२. भूमि के विषैले पदार्थों से बचाव — फसलें जड़ों से कुछ विषैला पदार्थ भूमि में छोड़ती हैं। एक ही फसल बोने से, भूमि में विषैले पदार्थ अधिक मात्रा में एकत्रित होने के कारण हानि पहुँचाते हैं।

१३. उर्वरा शक्ति की रक्षा — भूमि की उर्वरा शक्ति मितव्ययिता से ठीक रखी जा सकती है।

१४. शेषांश से लाभ — पूर्व फसलों के शेषांश से लाभ उठाया जा सकता है।

१५ अधिक उपज — उपर्युक्त कारणों से फसल की उपज प्राय: अधिक हो जाती है। [दु० शं० ना०]

सहजीवन (Symbiosis) को सहोपकारिता (Mutualism) भी कहते हैं। यह दो प्राणियों में पारस्परिक, लाभजनक, आंतरिक साझेदारी है। यह सहभागिता (partnership) दो पौधों या दो जंतुओं के बीच, या पौधे और जंतु के पारस्परिक संबंध में हो सकती है। यह संभव है कि कुछ सहजीवियों (symbionts) ने अपना जीवन परजीवी (parasite) के रूप में शुरू किया हो और कुछ प्राणी जो अभी परजीवी हैं, वे पहले सहजीवी रहे हों।

सहजीवन का एक अच्छा उदाहरण लाइकेन (lichen) है, जिसमें शैवाल (algae) और कवक (fungus) के बीच पारस्परिक कल्याणकारक सहजीविता होती है। बहुत से कवक बांज (oaks), चीड़ इत्यादि पेड़ों की जड़ों के साथ सहजीवी होकर रहते हैं।

बैसिलस रैडिसिकोला (Bacillus radicicola) और शिंबी (leguminous) पौधों की जड़ों के बीच का अंतरंग संबंध भी सहजीविता का उदाहरण है। ये जीवाणु शिंबी पौधों की जड़ों में पाए जाते हैं, जहाँ वे गुलिकाएँ (tubercles) बनाते हैं और वायुमंडलीय नाइट्रोजन का यौगिकीकरण करते हैं।

सहजीविता का दूसरा रूप हाइड्रा विरिडिस (Hydra viridis) और एक हरे शैवाल का पारस्परिक संबंध है। हाइड्रा (Hydra) ज़ूक्लोरेली (*Zoochlorellae*) शैवाल को आश्रय देता है। हाइड्रा की श्वसनक्रिया में जो कार्बन डाइऑक्साइड बाहर निकलता है, वह ज़ूक्लोरेली के प्रकाश संश्लेषण में प्रयुक्त होता है और ज़ूक्लोरेली द्वारा उच्छ्वसित ऑक्सीजन हाइड्रा की श्वसन क्रिया में काम आती है। ज़ूक्लोरेली द्वारा बनाए गए कार्बनिक यौगिक का भी उपयोग हाइड्रा करता है। कुछ हाइड्रा तो बहुत समय तक, बिना बाहर का भोजन किए, केवल ज़ूक्लोरेली द्वारा बनाए गए कार्बनिक यौगिक के सहारे ही, जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

सहजीविता का एक और अत्यंत रोचक उदाहरण कवोल्यूटा रोज़िओफेंसिस (Convoluta roscoffensis) नामक एक टर्बेलेरिया क्रिमि (Turbellaria) और क्लैमिडोमोनाडेसिई (Chlamydomonadaceae) वर्ग के शैवाल के बीच का पारस्परिक संयोग है। कवोल्यूटा के जीवनचक्र में चार अध्याय होते हैं। अपने जीवन के प्राथमिक भाग में कवोल्यूटा स्वतंत्र रूप से बाहर का भोजन करता है। कुछ दिनों बाद शैवाल से संयोग होता है और फिर इस कृमि का पोषण, इसके शरीर में रहनेवाले शैवाल द्वारा बनाए गए कार्बनिक यौगिक और बाहर के भोजन दोनों से होता है। तीसरी अवस्था में कवोल्यूटा बाहर का भोजन ग्रहण करना बंद कर देता है और अपने पोषण के लिये केवल शैवाल के प्रकाशसंश्लेषण द्वारा बनाए गए कार्बनिक यौगिक पर ही निर्भर रहता है। अंत में कृमि अपने सहजीवी शैवाल को ही पचा लेता है और स्वयं मर जाता है।

बहुत से सहजीवी जीवाणु और अंतरकोशिक यीस्ट (yeast) आहार नली की कोशिकाओं में रहते हैं और पाचनक्रिया में सहायता करते हैं। दीमक की आहारनली में बहुत से इन्फ़्यूसोरिया (Infusoria) होते हैं, जिनका काम काष्ठ का पाचन करना होता है और इनके बिना दीमक जीवित नहीं रह सकती। [प्रे० ना० मे०]

सहदेव पांडवों में सबसे छोटे, माद्री के पुत्र जो ज्योतिष के पंडित थे। यह विद्या इन्होंने द्रोणाचार्य से सीखी थी। पशुपालनशास्त्र में भी ये परम दक्ष थे और अज्ञातवास के समय विराट के यहाँ इन्होंने राज्य के पशुओं की देखरेख का काम किया था। इनकी स्त्री विजया थी जिससे इन्हें सुहोत्र नामक एक पुत्र हुआ था। [रा० द्वि०]

सहरसा बिहार का सबसे नया जिला है, जिसका क्षेत्रफल २,०९३ वर्ग मील तथा जनसंख्या १७,२३,५६६ है। यह जिला भागलपुर के गंगा से उत्तरी भाग तथा अन्य समीपवर्ती जिलों के कुछ भागों को मिलाकर बना है। इसके अंतर्गत सहरसा सदर, सुपौल, मधेपुरा, उपडिवीजन हैं। निर्मली और बीरपुर अन्य प्रमुख स्थान हैं। संपूर्ण जिला कोसी नदी की अनगिनत शाखाओं से, जो उत्तर से दक्षिण, फिर एक साथ कमला नदी में मिलकर पूरब की ओर

बहती हैं, घिरा हुआ है इस प्रकार कोसी की बाढ़ से यह जिला अत्यधिक त्रस्त रहा है। यहाँ की प्रमुख उपज धान तथा जूट है, पर बाढ़ की विभीषका के कारण यहाँ प्राय: दुर्भिक्ष की स्थिति रहती है। कोसी बाँध के बनने तथा उससे निकली नहरों की सुविधा प्राप्त होने के पश्चात् ही, यह जिला संपन्न हो सकेगा। बाढ़ के ही कारण यहाँ यातायात के साधनों की बड़ी कमी है। इस जिले में उत्तर पूर्व रेलवे की दो तीन अलग अलग शाखाएँ ही कुछ सुविधा प्रदान करती हैं। सुपौल तथा निर्मली रेल शाखाएँ उल्लेखनीय हैं। परिवहनीय सड़को का नितात अभाव है।

[ज० सि०]

सहसराम बिहार राज्य के शाहाबाद जिले का एक उपडिवीजन है। इसके अंतर्गत दो प्रकार के धरातल हैं : (१) कैमूर पहाड़ी तथा (२) मैदानी भाग। पहाड़ी भाग दक्षिण में है तथा जगली वस्तुओं एवं चूना पत्थर के लिये विख्यात है। मैदानी भाग में प्रधानत: धान की उपज होती है, पर गेहूँ, चना आदि रबी की फसलें भी महत्वपूर्ण हैं। इसी उपडिवीजन में डालमियानगर पड़ता है, जहाँ सीमेंट, कागज तथा चीनी के कारखानें हैं। सीमेंट का कारखाना बनजारी में भी है। उपडिवीजन के उत्तरी भाग में सोन-नहर-प्रणाली द्वारा सिंचाई की अच्छी व्यवस्था है। इससे होकर पूर्वी रेलवे की ग्रैंडकॉर्ड लाइन गया होकर जाती है। इसके अलावा आरा सहसराम तथा डेहरी रोहतास छोटी रेलवे लाइनें भी हैं। सड़कों में ग्रैंड ट्रंक रोड प्रमुख है, जो सहसराम-डिहरी होती हुई जाती है। सहसराम, डिहरी, डालमियानगर, विक्रमगंज तथा नासरीगंज प्रमुख नगर हैं। सहसराम नगर की जनसंख्या ३७,७८२ (१९६१) तथा डिहरी की जनसंख्या ३८,०९२ (१९६१) है। सहसराम शेरशाह की जन्मभूमि है, जहाँ उसका मकबरा बना हुआ है।

[ज० सि०]

सहस्रपाद या मिलीपीड (Millipede, or thousand legged) जतु आर्थ्रोपोडा (Arthropoda) संघ के मीरियापोडा (Myriapoda) वर्ग मे डिप्लोपोडा (Diplopoda) उपवर्ग के सदस्य होते हैं। इनका शरीर बेलनाकार और स्पष्ट रूप से खंडित (segmented) होता है, परतु अन्य संधिपाद प्राणियो (arthropods) की तरह इनका शरीर विभिन्न क्षेत्रों मे विभाजित नहीं रहता। इनकी विशिष्ट पहचान यह होती है कि प्रथम चार खडो को छोड़कर प्रत्येक खड मे दो जोड़ी पैर होते हैं। इसलिये मिलीपीड (millipedes) को डिप्लोपोडा (Diplopoda, or double legged) भी कहते हैं। एक निश्चित स्पष्ट शीर्ष पर एक जोड़ी शृंगिकाएँ (antennae) और एक जोड़ी चिबुकास्थियाँ (mandibles) होती हैं। शीर्ष पर एक जोड़ा उपांग (appendages) भी होता है, जो एकरूप होकर (fused) एक पत्रक (plate) के समान विन्यास की रचना करते हैं, जिसे नैथोकिलेरियम (Gnanthochilarium) कहते हैं अधिकतर मिलीपीड के शीर्ष के दोनों तरफ ज्ञानेंद्रियाँ होती हैं, जिनका कार्य विदित नहीं है। इनके जीवाश्म (fossil) डिप्लोपोडा डिवोनी कल्प (Devonian period) और सिल्यूरियन कल्प (Silurian period) में मिलते हैं। कार्बनी कल्प (Carboniferous period) में ये अच्छी तरह स्थापित थे।

मिलीपीड का रंग सामान्यत: गहरा भूरा, या गहरा लाल, होता है। क्षुब्ध होने पर ये अपने शरीर को चौरस गेंडुरी (flattened coil) के रूप में मोड़ लेते हैं। इनका वितरण विश्वव्यापी है। ये आलसी और सुस्त प्राणी होते हैं और अधिकतर नम या अंधकारपूर्ण जगहों में, या सड़े गले लट्ठों, पेड़ों के वल्कल (bark) और चट्टानों के अंदर या नीचे छिपे रहते हैं। ये जमीन के अंदर भी पाए जाते हैं। कुछ विशेष कारणों से, जिनकी पूरी जानकारी नहीं है, मिलीपीड बहुधा दिन में भी बड़ी संख्या में एक साथ चलते हैं। इनका भोजन सामान्यत: सड़ा गला वानस्पतिक पदार्थ होता है। कुछ मिलीपीड कृषि की उपज को भी नुकसान पहुँचाते हैं। चूँकि इनके जबड़े कमजोर होते हैं, इसलिये ये केवल सुकुमार ऊतकों, मूलिकाओं (rootlets), या मूलरोमों (root hairs) को ही हानि पहुँचा पाते हैं।

मिलीपीड में लिंग पृथक् होते हैं और निषेचन आंतरिक होता है। इनकी निलय संबंधी आदतें (nesting habits) भी अत्यंत रोचक होती हैं। पॉलिडेस्मस (Polydesmus) वंश में मादा अंडा देने के लिये लकड़ी के टुकडे, या ऐसी ही किसी नम जगह, को चुनती है और अपने विसर्जित मल को गुदा कपाटिका (anal valves) द्वारा डालकर गोल आकृति की दीवार बनाती है। यह प्रक्रिया कुछ दिनों तक चलती रहती है और इस तरह मधुमक्खी के छत्ते (bee-hive) की शक्ल का निलय (nest) बन जाता है और तब मादा इन छत्तो में अंडा रख देती है। अंडा देने के कुछ समय बाद तक भी पालिडेस्मस मादा निलय के चारों तरफ लिपटी रहती है। अंडजउत्पत्ति (hatching) के बाद शावक के शरीर में ६ खंड और ३ जोड़े पैर होते हैं। प्रत्येक निर्मोक (moult) पर गुदाखड (anal somite) के अग्रभाग में खंड जुड़ते हैं। प्रौढ़ मिलीपीड में कम से कम ९ खड होते हैं, परंतु बहुत सी जातियो मे १०० से भी अधिक खड होते हैं।

निर्मोचन(moulting) के समय मिलीपीड का जीवन विशेष रूप से भयपूर्ण रहता है, क्योंकि इस समय ये असामान्य रूप मे रक्षाहीन रहते हैं। इसलिये जब निर्मोचन की प्रक्रिया आसन्न होती है, तब मिलीपीड एकात स्थान पर गुप्त रूप से रहते हैं और कुछ जातियाँ एक विशेष निर्मोचन गृह का निर्माण करती हैं जहाँ वे सुरक्षित रह सकें।

[प्रे० ना० मे०]

सहस्रबाहु नाम विष्णु, कार्तवीर्यार्जुन तथा बाणासुर का है। इन्हें कभी कभी सहस्रभुज भी कहते हैं। इसी नाम का बलिपुत्र बाणराज भी हुआ है जिसका उल्लेख श्रीमद्भागवत में यों आया है—

'बाण: पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मन: ।

सहस्रबाहुर्वाद्येन ताण्डवे तोषयन्मृडम्'—स्कंध १०, अध्याय ६२।

[रा० द्वि०]

सहारनपुर १. जिला, यह भारत के उत्तर प्रदेश राज्य का जिला है, जिसका क्षेत्रफल २,१३२ वर्ग मील तथा जनसंख्या १९,१५,४७८

(१९६१) है। इस जिले के उत्तर में शिवालिक पहाड़ियाँ, पूर्व में गंगा नदी, दक्षिण में मुजफ्फरनगर जिला तथा पश्चिम में यमुना नदी है। यह जिला दोआब का सुदूर उत्तरवर्ती जिला है। यमुना एवं गंगा नदी के अतिरिक्त हिंडान एवं सोलानी जिले की अन्य प्रमुख नदियाँ हैं। जिले की प्रमुख फसलें हैं गेहूँ, जौ तथा गन्ना। भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् जिले का औद्योगिक उत्थान हुआ है। ऋषिकेश में ऐंटिबायोटिक कारखाने की स्थापना हाल में ही हुई है। कपास ओटना, सूती वस्त्र बनाना तथा लकड़ी पर नक्काशी करना, जिले के अन्य उद्योग हैं। रुड़की, सहारनपुर एवं हरिद्वार जिले के प्रमुख नगर हैं। जिले में रुड़की तथा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हैं।

२. नगर, स्थिति : २९° ५७' उ० अ० तथा ७७° ३३' पू० दे०। दिल्ली से लगभग १०० मील उत्तर पूर्व में सहारनपुर जिले का यह प्रशासनिक केंद्र धमोला नदी के दोनों किनारे पर स्थित है। पंवाह नदी भी नगर से होकर गुजरती है। यहाँ उत्तरी रेलवे का वर्कशॉप है तथा प्रसिद्ध रेलवे जंक्शन भी है। यह गेहूँ की प्रमुख मंडी है। यहाँ एक महाविद्यालय है। नगर की जनसंख्या १,८५,२१३ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

सांख्य भारतीय दर्शन के अनेक प्रकारों में से सांख्य भी एक है जो प्राचीन काल में अत्यंत लोकप्रिय तथा प्रथित हुआ था। भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्य दर्शन का अत्यंत ऊँचा स्थान था। देश के उदात्त मस्तिष्क सांख्य की विचारपद्धति से सोचते थे। महाभारतकार ने यहाँ तक कहा है कि 'ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्' (शांति पर्व ३०१। १०९)। वस्तुत: महाभारत में दार्शनिक विचारों की जो पृष्ठभूमि है, उसमें सांख्यशास्त्र का महत्वपूर्ण स्थान है। शांति पर्व के कई स्थलों पर सांख्य दर्शन के विचारों का बड़े काव्यमय और रोचक ढंग से उल्लेख किया गया है। सांख्य दर्शन का प्रभाव गीता में प्रतिपादित दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पर्याप्त रूप से विद्यमान है। वस्तुत: सांख्य दर्शन किसी समय अत्यंत लोकप्रिय हो गया था।" (उदयवीर शास्त्री कृत सांख्यदर्शन का इतिहास, भूमिका)।

इसकी इस लोकप्रियता के और चाहे जो भी कारण रहे हों पर एक तो यह अवश्य रहा प्रतीत होता है कि इस दर्शन ने जीवन में दिखाई पड़नेवाले वैषम्य का समाधान त्रिगुणात्मक प्रकृति को सर्वकारण रूप में प्रतिष्ठा करके बड़े सुंदर ढंग से किया। सांख्याचार्यों के इस प्रकृति-कारण-वाद का महान् गुण यह है कि पृथक् पृथक् धर्मवाले सत्वों, रजस् तथा तमस् तत्वों के आधार पर जगत् के वैषम्य का किया गया समाधान बड़ा न्याय्य, युक्त तथा बुद्धिगम्य प्रतीत होता है।

'सांख्य' नाम की मीमांसा — 'सांख्य' शब्द की निष्पत्ति 'संख्या' शब्द के आगे अण् प्रत्यय जोड़ने से होती है और संख्या शब्द की व्युत्पत्ति सम + चक्षिङ धातु ख्याञ् दर्शन + अङ् प्रत्यय + टाप् है, जिसके अनुसार इसका अर्थ सम्यक् ख्याति, साधु दर्शन अथवा सत्य ज्ञान है। सांख्याचार्यों की यह सम्यक् ख्याति, उनका यह सत्य ज्ञान व्यक्ताव्यक्त रूप द्विविध अचित् तत्व से पुरुष रूप चित् तत्व को पृथक् जान लेने में निहित है। ऊपर ऊपर से प्रपंच में लगा हुआ दिखाई पड़ने पर भी पुरुष वस्तुत: उससे अछूता रहता है। उसमें आसक्त या लिप्त दिखाई पड़ने पर भी वस्तुत: अनासक्त या निर्लिप्त रहता है — सांख्याचार्यों की यह सबसे बड़ी दार्शनिक खोज उन्हीं के शब्दों में सत्त्वपुरुषान्यताख्याति, विवेक ख्याति, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान, आदि नामों से व्यवहृत होती है। इसी विवेक ज्ञान से वे मानव जीवन के परम पुरुषार्थ या लक्ष्य की सिद्धि मानते हैं। इस प्रकार 'संख्या', शब्द सांख्याचार्यों की सबसे बड़ी दार्शनिक खोज का वास्तविक स्वरूप प्रकट करनेवाला संक्षिप्त नाम है जिसके सर्वप्रथम व्याख्याता होने के कारण उनकी विचारधारा अत्यंत प्राचीन काल में 'सांख्य' नाम से अभिहित हुई। गणनार्थक 'संख्या' शब्द से भी 'सांख्य' शब्द की निष्पत्ति मानी जाती है। महाभारत में सांख्य के विषय में आए हुए एक श्लोक में ये दोनों ही प्रकार के भाव प्रकट किए गए हैं। वह इस प्रकार है — 'संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते। तत्त्वानि च चतुर्विंशद् तेन सांख्या: प्रकीर्तिता: (महाभा० १२।३११।४२)। इसका शब्दार्थ यह है कि जो संख्या अर्थात् प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान का उपदेश करते हैं, जो प्रकृति का प्रभाव प्रतिपादन करते हैं तथा जो तत्वों की संख्या चौबीस निर्धारित करते हैं, वे सांख्य कहे जाते हैं। कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि ज्ञानार्थक 'संख्या' शब्द से की जानेवाली सांख्य की व्युत्पत्ति ही मुख्य है, गणनार्थक संख्या शब्द से की जानेवाली गौण। सांख्य में प्रकृति एवं पुरुष के विवेक ज्ञान से ही जीवन के परम लक्ष्य कैवल्य या मोक्ष की सिद्धि मानी गई है, अत: उस ज्ञान की प्राप्ति ही मुख्य है और इस कारण से उसी पर सांख्य का सारा बल है। सांख्य (पुरुष के अतिरिक्त) चौबीस तत्व मानता है, यह तो एक सामान्य तथ्य का कथन मात्र है, अत: गौण है।

उदयवीर शास्त्री ने अपने 'सांख्य दर्शन का इतिहास' नामक ग्रंथ में (पृष्ठ ६) सांख्यशास्त्र के कपिल द्वारा प्रणीत होने में भागवत ३-२५-१ पर श्रीधर स्वामी की व्याख्या को उद्धृत करते हुए इस प्रकार लिखा है — अंतिम श्लोक की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने स्पष्ट लिखा है — तत्वानां संख्याता गणकः सांख्यप्रवर्तक इत्यर्थ.। इससे निश्चित हो जाता है कि यही कपिल सांख्य का प्रवर्तक या प्रणेता है। श्रीधर स्वामी के गणक. शब्द पर शास्त्री जी ने नीचे दिए गए फुटनोट में इस प्रकार लिखा है — मध्य काल के कुछ व्याख्याकारों ने 'सांख्य' पद में 'संख्य' शब्द को गणनापरक समझकर इस प्रकार के व्याख्यान किए हैं। वस्तुत: इसका अर्थ तत्वज्ञान है। परंतु गहराई से विचार करने पर यह बात उतनी सामान्य या गौण नहीं है जितनी आपाततः प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत प्राचीन काल में दार्शनिक विकास की प्रारंभिक अवस्था में जब तत्वों की संख्या निश्चित नहीं हो पाई थी, तब सांख्य ने सर्वप्रथम इस दृश्यमान भौतिक जगत् की सूक्ष्म मीमांसा का प्रयास किया था जिसके फलस्वरूप उसके मूल में वर्तमान तत्वों की संख्या सामान्यत: चौबीस निर्धारित की थी। इनमें भी प्रथम तत्व जिसे उन्होंने 'प्रकृति' या 'प्रधान' नाम दिया, शेष तेईस का मूल सिद्ध किया गया। चित् पुरुष के

सान्निध्य से इसी एक तत्व 'प्रकृति' को क्रमशः तेईस अवांतर तत्वों में परिणत होकर समस्त जड़ जगत् को उत्पन्न करती हुई माना था। इस प्रकार तत्व संख्या के निर्धारण के पीछे सांख्यों की बहुत बड़ी बौद्धिक साधना छिपी हुई प्रतीत होता है। आखिर सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा दीर्घ काल तक बिना चिंतन और विश्लेषण किए तत्वों की संख्या का निर्धारण कैसे संभव हुआ होगा?

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा निश्चय होता है कि सांख्य दर्शन का 'सांख्य' नाम दोनों ही प्रकारों से उसके बुद्धिवादी तर्कप्रधान होने का सूचक है। सांख्यों का अचित् प्रकृति तथा चित् पुरुष, दोनों ही मूलभूत तत्वों को आगम या श्रुतिप्रमाण से सिद्ध मानते हुए भी मुख्यतः अनुमान प्रमाण के आधार पर सिद्ध करना भी इसी बात का परिचायक है। आज कल उपलब्ध सांख्य प्रवचन सूत्र एवं सांख्यकारिका, इन दोनों ही मौलिक सांख्य ग्रंथों को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनमे सांख्य के दोनों ही मौलिक तत्वों — प्रकृति एवं पुरुष की सत्ता हेतुओं के आधार पर अनुमान द्वारा ही सिद्ध की गई है (सां० सू० १।१३०-१३७. १४०-१४४, एवं सांख्यकारिका १५ तथा १७)। पुरुष की अनेकता में भी युक्तियाँ ही दी गई हैं (सां० सू० १।१४६; तथा सांख्यकारिका १८)। सत्कार्यवाद की स्थापना भी तर्कों के ही आधार पर की गई है। (सां० सू० १।११४-१२१, ६।५३; तथा सांख्यकारिका ९)। इस प्रकार सांख्यशास्त्र का श्रवण, जो विवेक ज्ञान का मूलाधार है, तर्कप्रधान है। मनन, अनुकाल तर्कों द्वारा शास्त्रोक्त तथ्यों तथा सिद्धांतों का चिंतन है ही। इस प्रकार जिस संख्या या विवेक ज्ञान के कारण सांख्य दर्शन का 'सांख्य' नाम पड़ा, उसका विशेष संबंध तर्क और बुद्धिवादिता से है। इस बुद्धिवाद के कारण अवांतर काल में सांख्य दर्शन के कुछ सिद्धांत वैदिक संप्रदाय से बहुत कुछ स्वतंत्र रूप से विकसित हुए जिसके कारण बादरायण व्यास तथा शंकराचार्य आदि आचार्यों ने इसका खंडन करते हुए अवैदिक संप्रदाय तक कह डाला। यह संप्रदाय अपने मूल में तो अवैदिक नहीं प्रतीत होता, और अपने परवर्ती (Classical) रूप में भी सर्वथा अवैदिक नहीं है।

प्रसिद्ध भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने भी सांख्य को आगम या श्रुति का सत् तर्कों द्वारा किया जानेवाला मनन ही माना है। उन्होंने अपने सांख्यप्रवचन-सूत्र-भाष्य की अवतरणिका में यही बात इस प्रकार कही है — जो एकोऽद्वितीय.' इत्यादि पुरुष विषयक वेदवचन जीव का सारा अभिमान दूर करके उसे मुक्त कराने के लिये उस पुरुष को सर्व प्रकार के वैधर्म्य — रूपभेद से रहित बताते हैं उन्हीं वेदवचनों के अर्थ के मनन के लिये अपेक्षित सद् युक्तियों का उपदेश करने के लिये सांख्यकर्ता नारायणावतार भगवान् कपिल आविर्भूत हुए थे।

सांख्य दर्शन की वेदमूलकता — विज्ञानभिक्षु के पूर्व वचनों से स्पष्ट है कि वे सांख्यशास्त्र को वेदानुसारी मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि 'एकोऽद्वितीय.' इत्यादि वेदवचनों के अर्थ का ही वह सद् युक्तियों एवं तर्कों द्वारा समर्थन करता है, उसका प्रतिपादन और विवेचन करके उसे बोधगम्य बनाता है। विज्ञानभिक्षु ने वस्तुतः लोक में प्रचलित पूर्व परंपरा का ही अनुसरण करते हुए अपना पूर्वोक्त मत प्रकट किया है। अत्यंत प्राचीन काल से ही महाभारत-गीता, रामायण, स्मृतियों तथा पुराणों में सर्वत्र सांख्य का न केवल उच्च ज्ञान के रूप में उल्लेख भर हुआ है, अपितु उसके सिद्धांतों का यत्र तत्र विस्तृत विवरण भी हुआ है। गीता में भी सांख्य दर्शन के त्रिगुणात्मक सिद्धांत को बड़ी सुंदर रीति से अपनाया गया है। 'त्रिगुणात्मिका प्रकृति नित्य परिणामिनी है। उसके तीनों गुण ही सदा कुछ न कुछ परिणाम उत्पन्न करते रहते हैं, पुरुष अकर्ता है' — सांख्य का यह सिद्धांत गीता के निष्काम कर्मयोग का आवश्यक अंग बन गया है (गीता १३/२७, २९ आदि)। इसी प्रकार अन्यत्र भी सांख्य दर्शन के अनेक सिद्धांत अन्य दर्शनों के सिद्धांतों के पूरक रूप से प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में दृष्टिगोचर होते हैं। इन सब बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह दर्शन अपने मूल में वैदिक ही रहा है, अवैदिक नहीं, क्योंकि यदि सत्य इससे विपरीत होता तो वेदप्राण इस देश में सांख्य के इतने अधिक प्रचार प्रसार के लिये उपयुक्त क्षेत्र न मिलता। इस अनीश्वरवाद, प्रकृति पुरुष द्वैतवाद, (प्रकृति) परिणामवाद आदि तथाकथित वेदविरुद्ध सिद्धांतों के कारण वेदबाह्य कहकर इसका खंडन करनेवाले वेदांत भाष्यकार शंकराचार्य को भी ब्रह्मसूत्र २।१।३ के भाष्य में लिखना ही पड़ा कि 'अध्यात्मविषयक अनेक स्मृतियों के होने पर भी सांख्य योग स्मृतियों के ही निराकरण में प्रयत्न किया गया। क्योंकि ये दोनों लोक में परम पुरुषार्थ के साधन रूप में प्रसिद्ध हैं, शिष्ट महापुरुषों द्वारा गृहीत हैं तथा 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' या (श्वेता० ६।१३) इत्यादि श्रोत लिंगों से युक्त है।' स्वयं भाष्यकार के अपने साक्ष्य से भी स्पष्ट है कि उनके पूर्ववर्ती सूत्रकार के समय में भी अनेक शिष्ट पुरुष सांख्य दर्शन को वैदिक दर्शन मानते थे तथा परम पुरुषार्थ का साधन मानकर उसका अनुसरण करते थे। इन सब तथ्यों के आधार पर सांख्य दर्शन को मूलतः वैदिक ही मानना समीचीन है। हाँ, अपने परवर्ती विकास में यह अवश्य ही कुछ मूलभूत सिद्धांतों में वेदविरुद्ध हो गया है जैसे उत्तरवर्ती सांख्य वैदिक परंपरा के विरुद्ध निरीश्वर है, उसकी प्रकृति स्वतंत्र रूप से स्वतः समस्त विश्व की सृष्टि करती है। परंतु इस दर्शन का मूल प्राचीनतम छांदोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषदों में प्राप्त होता है। इसी से इसकी प्राचीनता सुस्पष्ट है।

सांख्य संप्रदाय — इस दर्शन के दो ही मौलिक ग्रंथ आज उपलब्ध हैं — पहला छह अध्यायों वाला 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' और दूसरा सत्तर कारिकाओंवाला 'सांख्यकारिका'। इन दो के अतिरिक्त एक अत्यंत लघुकाय सूत्रग्रंथ भी है जो 'तत्वसमास' के नाम से प्रसिद्ध है। शेष समस्त सांख्य वाङ्मय इन्हीं तीनों की टीका और उपटीका मात्र हैं। इनमें सांख्यसूत्रों के उपदेष्टा परंपरा से कपिल मुनि माने जाते हैं। कई कारणों से उपलब्ध सांख्य-प्रवचन-सूत्रों को विद्वान् लोग कपिलकृत नहीं मानते। इतनी बात अवश्य ही निश्चित है कि इन सूत्रों को कपिलोपदिष्ट मानने पर भी इसके अनेक स्थलों को स्वयं सूत्रों के ही अंतःसाक्ष्य के बल पर प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा। सांख्यकारिकाएँ ईश्वरकृष्ण

द्वारा रचित हैं, जिनका समय बहुमत से ई० तृतीय शताब्दी का मध्य माना जाता है। वस्तुत: इनका समय इससे पर्याप्त पूर्व का प्रतीत होता है। कपिल के शिष्य आसुरि का कोई ग्रंथ नहीं बताया जाता, परंतु इनके प्रशिष्य आचार्य पंचशिख के नाम से अनेक सूत्रों के व्यासकृत योगभाष्य आदि प्राचीन ग्रंथों में उद्धृत होने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके द्वारा रचित कोई मूलग्रंथ अति प्राचीन काल में प्रसिद्ध था। अनेक विद्वानों के मत से यह प्रसिद्ध ग्रंथ षष्ठितंत्र ही था। उदयवीर शास्त्री के मत से वर्तमान काल में उपलब्ध षडध्यायी सांख्य-प्रवचन-सूत्र ही षष्ठि (साठ) पदार्थों का निरूपण करने के कारण 'षष्ठितंत्र' के नाम से भी ज्ञात था। उनके मत से संभवत: कपिल मुनि के प्रशिष्य पंचशिखाचार्य ने उसपर व्याख्या लिखी थी और वह भी मूलग्रंथ के ही नाम पर षष्ठितंत्र कही जाती थी। कुछ विद्वानों के मत से 'षष्ठितंत्र' प्रसिद्ध सांख्याचार्य वार्षगण्य का लिखा हुआ है। जैगीषव्य, देवल, असित इत्यादि अन्य अनेक प्राचीन सांख्याचार्यों के विषय में आज कुछ विशेष ज्ञान नहीं है।

सांख्य के प्रमुख सिद्धांत — सांख्य दृश्यमान विश्व को प्रकृति-पुरुष-मूलक मानता है। उसकी दृष्टि से केवल चेतन या केवल अचेतन पदार्थ के आधार पर इस चिदचिदात्मक जगत् की संतोषप्रद व्याख्या नहीं की जा सकती। इसीलिये लोकायतिक आदि जड़वादी दर्शनों की भाँति सांख्य न केवल जड़ पदार्थ ही मानता है और न अनेक वेदांत संप्रदायों की भाँति वह केवल चिन्मात्र ब्रह्म या आत्मा को ही जगत् का मूल मानता है। अपितु जीवन या जगत् में प्राप्त होनेवाले जड़ एवं चेतन, दोनों ही रूपों के मूल रूप से जड़ प्रकृति, एवं चिन्मात्र पुरुष इन दो तत्वों की सत्ता मानता है। जड़ प्रकृति सत्व, रजस् एवं तमस्, इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम है। ये गुण 'चल च गुणवृत्तम्' न्याय के अनुसार प्रतिक्षण परिणामी हैं। इस प्रकार सांख्य के अनुसार सारा विश्व त्रिगुणात्मक प्रकृति का वास्तविक परिणाम है, शांकर वेदांत की भाँति भगवन्माया का विवर्त, अर्थात् असत् कार्य अथवा मिथ्याविलास नहीं है। इस प्रकार प्रकृति को पुरुष की ही भाँति अज और नित्य मानने, तथा विश्व को प्रकृति का वास्तविक परिणाम सत् कार्य मानने के कारण सांख्य सच्चे अर्थों में बाह्यार्थवादी या वस्तुवादी दर्शन हैं। किंतु जड़ बाह्यार्थवाद भोग्य होने के कारण किसी चेतन भोक्ता के अभाव में अपार्थक या अर्थशून्य अथवा निष्प्रयोजन है, अत: उसकी सार्थकता के लिये सांख्य चेतन पुरुष या आत्मा को भी मानने के कारण अध्यात्मवादी दर्शन है। मूलत: दो तत्व मानने पर भी सांख्य परिणामिनी प्रकृति के परिणाम स्वरूप तेईस अवांतर तत्व भी मानता है। इसके अनुसार प्रकृति से महत् या बुद्धि, उससे अहंकार, तामस, अहंकार से पंचतन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध) एवं सात्विक अहंकार से ग्यारह इंद्रिय (पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय तथा उभयात्मक मन) और अंत में पंचतन्मात्रों से क्रमश: आकाश, वायु, तेजस्, जल तथा पृथ्वी नामक पंच महाभूत, इस प्रकार तेईस तत्व क्रमश: उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार मुख्यामुख्य भेद से सांख्य दर्शन २५ तत्व मानता है। जैसा पहले संकेत कर चुके हैं, प्राचीनतम सांख्य ईश्वर को २६वाँ तत्व मानता रहा होगा। इसके साक्ष्य महाभारत, भागवत इत्यादि प्राचीन साहित्य में प्राप्त होते हैं। यदि यह अनुमान यथार्थ हो तो सांख्य को मूलत: ईश्वरवादी दर्शन मानना होगा। परंतु परवर्ती सांख्य ईश्वर को कोई स्थान नहीं देता। इसी से परवर्ती साहित्य में वह निरीश्वरवादी दर्शन के रूप में ही उल्लिखित मिलता है।

[आ० प्र० मि०]

सांख्यिकी (Statistics) सभ्यता की गति में अंकों का योगदान बड़ा ही महत्वपूर्ण रहा है और अंकपद्धति के विकास का बहुत बड़ा श्रेय भारत को प्राप्त है। मनुष्य के ज्ञान की प्रत्येक शाखा अंकों की ऋणी है।

सांख्यिकी का विज्ञान भी बहुत कुछ काम अंकों से लेता है, जिन्हें 'आँकड़े' कहते हैं, परंतु इन अंको के कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं।

स्टैटिस्टिक्स शब्द की व्युत्पत्ति का पता लगाते समय इसके नाम में आज तक हुए अनेक क्रांतिकारी परिवर्तनों को जानकर आश्चर्य होता है। प्राचीन काल मे राज्यों के तुलनात्मक वर्णन के लिये स्टैटिस्टिक्स शब्द का प्रयोग होता था, जिसमे अंकों या आँकड़ों का कोई स्थान ही नहीं होता था। स्टैटिस्टिक्स शब्द का मूल लैटिन शब्द स्टेटस (इतालवी भाषा 'स्टेटो', जर्मन 'स्टैटिस्टिक') है, जिसका अर्थ है राजनीतिक राज्य। १८ वीं शती तक इस शब्द का अर्थ किसी राज्य की विशेषताओं का विवरण था। अतएव कुछ प्राचीन लेखकों ने स्टैटिस्टिक्स को राज्यविज्ञान के नाम से निरूपित किया है।

क्रमश: इस शब्द को मात्रात्मक सार्थकता प्राप्त हुई, और दो विभिन्न अर्थों में इसका प्रयोग चलता रहा। एक ओर यह अंकों से निरूपित 'जन्म और मृत्यु आँकड़े' जैसे तथ्यों से और दूसरी ओर संकात्मक आँकड़ों से उपयोगी निष्कर्ष निकालने के विधिनिकाय, अर्थात् विज्ञान से संबंधित था। १९ वीं शती के अंतिम काल से हमें 'उज्वल, सामान्य, मंद' आदि शीर्षकों में बच्चों की सांख्यिकी जैसे विवरण मिलते हैं, जिनसे इस ज्ञानशाखा की परिमाणोन्मुखता (quantitative direction) स्पष्ट होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैज्ञानिक पद्धति की विशिष्ट शाखा के रूप में सांख्यिकी का सिद्धांत अपेक्षाकृत अभिनव उपज है। इसका मूल रूप लाप्लास और गाउस की कृतियों में ढूँढा जा सकता है, लेकिन इसका अध्ययन १९ वीं शती के चौथे चरण में आकर समृद्ध हुआ। गाल्टन और कार्ल पियर्सन के प्रभाव से इस विज्ञान में विलक्षण प्रगति हुई और आगामी तीन दशकों में इस विज्ञान की आधारशिलाएँ सुदृढ़ हो गई। यह कह देना उचित है कि दिन दिन नए नए क्षेत्रों में प्रयुक्त होनेवाले इस विषय की इमारत अभी तेजी से बनने की स्थिति में है। शोधकार्य, वह भी विशेषत: सांख्यिकी के गणितीय सिद्धांत में, ऐसी तेजी से हो रहा है और नए तथ्य ऐसी तीव्र गति से सामने आ रहे हैं कि उन सबकी जानकारी रखना भी कठिन हो रहा है। मानव ज्ञान और क्रिया के विविध क्षेत्रों में इस विषय की प्रयुक्ति दिन दिन बढ़ रही है और बड़ी उपयोगी सिद्ध हो रही है।

बाह्य विश्व की उलझी हुई जटिलताओं से नियमों के परिचालन

का ज्ञान प्राप्त करना विज्ञान के प्रमुख उद्देश्यों में से है, जिससे कुछ मौलिक सिद्धांतों के आधार पर विविध प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या की जा सके। इन नियमों के परिचालन के ज्ञान से हमें 'कारण' और 'प्रभाव' के संबंध में जानकारी होती है। किसी सुनियोजित प्रयोग में हम प्राय: कारणों की जटिल पद्धति के स्थान पर सरल पद्धति की स्थापना कर सकते हैं, जिसमें एक बार में एक ही कारण से परिस्थिति का विचरण कराया जाता है। यह संभवत: आदर्श स्थिति है और बहुत से क्षेत्रों में इस प्रकार का प्रयोग संभव नहीं है। उदाहरण के लिये, प्रेक्षक सामाजिक तथ्यों का प्रयोग नहीं कर सकता और उसे उन परिस्थितियों को, जो उसके वश में नहीं हैं, ज्यों का त्यों लेकर चलना पड़ता है।

सांख्यिकी अनेक कारणों से प्रभावित आँकड़ों से संबंधित है। कारणों के जंजाल से एक के अतिरिक्त बाकी सभी कारणों को छाँटकर सुलझाना प्रयोगों का उद्देश्य है। यह सभी स्थितियों में संभव न होने के कारण विश्लेषण के लिये सांख्यिकी में कारणसमूह के प्रभावाधीन आँकड़ों को स्वीकार किया जाता है और आँकड़ों से ही यह भी जानने की कोशिश की जाती है कि कौन कौन से कारण महत्व के हैं और इनमें से प्रत्येक कारण के परिचालन से प्रेक्षित प्रभाव पर किसका कितना असर पड़ा है। इसी में हमारे ज्ञान की इस शाखा की विलक्षण और विशिष्ट शक्ति है, जिससे इसकी समृद्धि हुई है और यह प्राय: सर्वव्यापक हो गई है।

उदाहरणार्थ, मान लें कि गेहूँ की उपज पर विभिन्न खादों का प्रभाव हमें ज्ञात करना है। इसके लिये यह पर्याप्त नहीं है कि खादों की संख्या के बराबर भूखंड चुनकर, प्रत्येक भूखंड में एक एक खाद के उपचार से फसल उगाई जाय और उपज में जो अंतर हो, उसे खाद के प्रभाव का मापक मान लिया जाय; क्योंकि यह सिद्ध किया जा सकता है कि एक ही खाद के प्रभाव से भिन्न भिन्न भूखंडों में उपज भिन्न होती है। भूखंडों में उपज की भिन्नता के कारण अनेक होते हैं। विभिन्न मात्रा में खाद के प्रभाव का अध्ययन किया जाय, अर्थात् विभिन्न तत्वों, विभिन्न फार्मों और विभिन्न वर्षों में प्रयोग किए जाएँ, तो अध्ययन और भी जटिल हो जाता है। लेकिन 'विचरण का विश्लेषण' (Analysis of Variance) नामक विशिष्ट सांख्यिक विधि के द्वारा, जिसका मुख्य श्रेय आर० ए० फिशर (R. A Fisher) को है, हम समग्र विचरण को खंडित करके, भिन्न भिन्न कारणों से विचरण निकालकर, वैध निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। आजकल कृषि के अतिरिक्त कई दूसरे क्षेत्रों में भी इस प्रविधि का प्रयोग हो रहा है।

व्यष्टि का अध्ययन न करके, समष्टि नाम से अभिहित समूह या समुदाय का अध्ययन करना सांख्यिकी विज्ञान की मौलिक धारणा है। इसकी परिभाषा हम वैज्ञानिक पद्धति की उस शाखा के रूप में कर सकते हैं जो गिनकर या मापकर प्राप्त समष्टिगत गुणों का, जैसे किसी मनुष्यवर्ग की ऊँचाई या भार से, किसी खास थान में निर्मित धागुखंडों की तनाव सामर्थ्य जैसी प्राकृतिक घटनाओं के आँकड़ों से, या संक्षेप में आवृत्ति क्रिया (repetitive operation) से प्राप्त किसी भी प्रयोगात्मक आँकड़े का अध्ययन करती है।

अत: सांख्यिकीविद् का पहला कर्तव्य आँकड़ों का संग्रह करना है। यह वह स्वयं कर सकता है, या अन्य उद्देश्य से एकत्रित दूसरे के आँकड़ों का प्रयोग कर सकता है। पहले प्रकार के आँकड़ों को प्रधान और दूसरे प्रकार के आँकड़ों को गौण कहते हैं। आँकड़ों का प्रयोग कर किसी परिणाम पर पहुँचने के पूर्व, उनकी विश्वसनीयता की जाँच कर लेनी चाहिए।

सांख्यिकीय अध्ययन का दूसरा कदम एकत्रित आँकड़ों का वर्गीकरण और सारणीकरण है। यदि प्रेक्षणों की संख्या अधिक है, तो आँकड़ों का वर्गीकरण अभीष्ट ही नहीं, आवश्यक भी है। संघनन करते समय कुछ मात्रा में सूचनाओं का त्याग करना पड़ता है। किंतु मस्तिष्क बृहद् अंकराशि का अर्थ समझने में असमर्थ होता है, अत: आँकड़ों से निरूपित तथ्य का अधिमूल्यन करने के लिये संघनन आवश्यक है। संघनन के बाद आँकड़ों को बारंबारता-बंटन-सारणी के रूप में निरूपित करते हैं।

इस सारणी से निरूपक संख्याओं को, जो एकल संख्याएँ होती हैं, पहचानना सरल है और माध्य (mean), माध्यमिक (median), बहुलक (mode) आदि से आँकड़ों की केंद्रीय प्रवृत्ति तथा मानक विचलन (standard deviation) द्वारा आँकड़ों के अपकिरण और विचरण आदि गुणों को निरूपित करते हैं।

आँकड़ों को वक्र रेखाचित्रों, चित्रलेखों (pictograms) आदि द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है और इस प्रकार के प्रस्तुतीकरण से प्राय: मस्तिष्क को आँकड़ों की सार्थकता ग्रहण करने में सुविधा होती है।

सांख्यिकीविद् का इसके बाद का काम है आँकड़ों का विश्लेषण करना और अन्य ज्ञात श्रेणियों से उसका संबंध स्थापित करना। इसके बाद आता है आँकड़ों की *व्याख्या, भविष्यवाणी,* अनुमान और अंत में पूर्वानुमान (forecasting)। कुछ सांख्यिकीविद् पूर्वानुमान को सांख्यिकीविद् का कर्तव्य नहीं मानते, लेकिन अधिकांश मानते हैं।

किसी जनसंख्या की समष्टि के अध्ययन में, प्रत्येक सदस्य का अलग अलग अध्ययन, संख्या की विपुलता और श्रम तथा लागत के अपव्यय के कारण, व्यावहारिक नहीं ठहरता। अत: जनसमुदाय के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने के लिये, हम सदस्यों के चयन का, जिन्हें प्रतिदर्श कहते हैं, अध्ययन करते हैं। प्रतिदर्श मूल समष्टि की जानकारी प्रदान करता है। सूचना निरपेक्ष निश्चितता के रूप में हो, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। इसे प्राय: संभाविता के रूप में ही प्रकट करते हैं। सांख्यिकी के इस भाग को *आगणन* (estimation) कहते हैं।

सांख्यिकीविद् को कुछ प्राथमिक कार्यों के लिये, जैसे संचयन, वर्गीकरण, सारणीकरण, लेखाचित्रीय उपस्थापन (presentation) आदि के लिये विशिष्ट प्रशिक्षण के साथ ही प्रारंभिक गणित की भी आवश्यकता होती है और बाद में *आगणन,* अनुमान और पूर्वानुमान के लिये उच्च गणित और संभाविता के सिद्धांत की सहायता लेनी पड़ती है।

साँची (देखें पृष्ठ ११)

स्तूप

साँची

प्रवेशद्वार
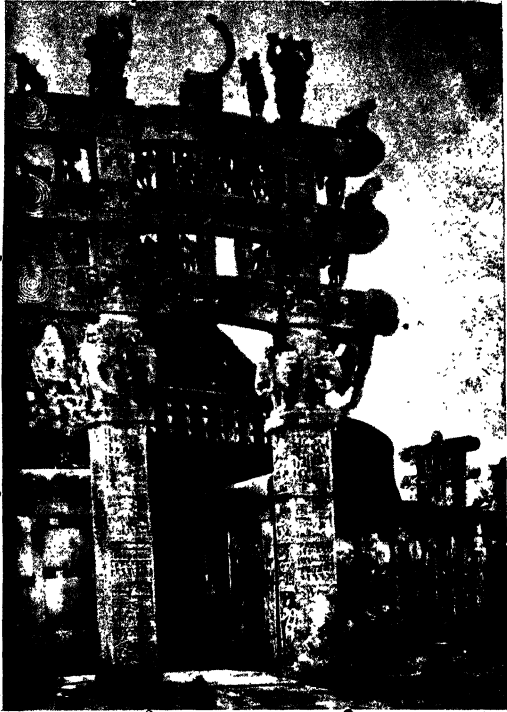
अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान और वाणिज्य के क्षेत्रों में, बेरोजगारी बढ़ रही है या घट रही है, भवनों की कमी है, और यदि है, तो किस सीमा तक, कुपोषण हो रहा है या नहीं, नशाबंदी से अपराधों में कमी हुई है या नहीं, आदि प्रश्नों का समाधान सांख्यिकी के द्वारा होता है।

वनविज्ञान, जीवविज्ञान और कृषि में सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग अब अनिवार्य हो चला है। जीवविज्ञान में एक नई शाखा जीव सांख्यिकी निकली है, जिसके अंतर्गत जीवविज्ञानीय विचरणों का सांख्यिक अध्ययन किया जाता है।

कुछ प्रागैतिहासिक नरखोपड़ियाँ किसी एक मानवविज्ञान के जाति की हैं या दो विभिन्न जातियों की, मानवविज्ञान के इस दुःसाध्य प्रश्न का हल निकालने में कार्ल पियर्सन ने सर्वप्रथम सांख्यिकी का प्रयोग किया था।

मनोविज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिये, मानव मस्तिष्क का अध्ययन करते समय, बुद्धि, विशेष योग्यता और अभिरुचि आदि के संदर्भ में सांख्यिकीय तकनीकी की सहायता ली जाती है।

चिकित्सा के क्षेत्र में सांख्यिकीय आँकड़े और विधियाँ दोनों ही परम उपयोगी हैं। महामारीविज्ञान (epidemiology) और जनस्वास्थ्य में आँकड़ों की आवश्यकता पड़ती है और किसी नई ओषधि या टीके (inoculation) की सफलता का पता लगाने के लिये आयुर्वैज्ञानिक अनुसंधान में सांख्यिकीय विधियों के ज्ञान की आवश्यकता होती है।

ज्योतिष, बीमा और मौसमविज्ञान, सांख्यिकी की लाभप्रद युक्तियो के अन्य क्षेत्र हैं। सांख्यिकी का प्रयोग यदाकदा साहित्य में भी हुआ है। कुछ समय पूर्व तक ऐसी धारणा थी कि भौतिकी, रसायन और इंजीनियरी में सांख्यिकी की कोई आवश्यकता नहीं है। इन यथार्थ विज्ञानों में सांख्यिकीय सिद्धांतों के प्रयोग से सचमुच बहुत बड़ी क्रांति हुई है। सांख्यिकीय गुण नियंत्रण, जो उत्पादन इंजीनियरी के अंतर्गत सांख्यिकीय विधियों का अनुकूलन है, इसी क्रांति की देन है। बाढ़ नियंत्रण, सड़क सुरक्षा, टेलीफोन, यातायात आदि की समस्याओं में सांख्यिकीय प्रणालियों का प्रयोग सफल रहा है।

भविष्य में सांख्यिकी का और भी व्यापक प्रसार संभव है। कुछ विषयों के लिये यह मौलिक महत्व के विचार, और कुछ के लिये अनुसंधान की शक्तिशाली विधियाँ, प्रदान करती है। बिना खंडन की आशंका के कहा जा सकता है कि सांख्यिकी सर्वव्यापी विषय बनता जा रहा है। [प्रा० ना०]

सांगली १. जिला, भारत के महाराष्ट्र राज्य का जिला है। इसके पूर्व एवं दक्षिण में मैसूर राज्य और पूर्व-उत्तर में शोलापुर, उत्तर-पश्चिम में सतारा, पश्चिम में रत्नागिरी तथा पश्चिम-दक्षिण में कोल्हापुर जिले स्थित हैं। इस जिले का क्षेत्रफल ३,२९९ वर्ग मील तथा जनसंख्या १५,३०,७१९ (१९६१) है। सांगली नामक देशी राज्य अब इस जिले में ही विलीन हो गया है। यहाँ की जलवायु दक्कन के समान है और पूर्वी हवाओं के चलने पर वायु बहुत शुष्क हो जाती है। यहाँ की मिट्टी उपजाऊ एवं काली है। जिले में गेहूँ, चना, ज्वार, बाजरा, धान तथा कपास की खेती की जाती है। जिले में सूती मोटे वस्त्रों की बुनाई की जाती है। जिले के एक भाग की सिंचाई कृष्णा नदी द्वारा होती है। सांगली एवं मिरज जिले के प्रमुख नगर हैं।

२. नगर, स्थिति : १६° ५२' उ० अ० तथा ७४° ३६' पू० दे०। यह उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक नगर है और पहले यह सांगली राज्य की राजधानी था। कृष्णा नदी के किनारे वार्न (Varna) के संगम से थोड़ा उत्तर में यह नगर स्थित है। यहाँ की सड़कें चौड़ी हैं और यह व्यापारिक नगर है। नगर की जनसंख्या ७३,८३८ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

साँची स्थिति : २३° २९' उ० अ० तथा ७७° ४५' पू० दे०। यह गाँव भारत के मध्य प्रदेश राज्य के भिलसा जिले में स्थित है। यहाँ प्राचीन स्तूप तथा अन्य भग्नावशेष हैं, जिनके कारण यह स्थान प्रसिद्ध है। सन् १८१८ में जनरल टेलर को पहले पहल इन स्तूपों एवं भग्नावशेषों का पता चला और सन् १८१९ में कैप्टन फेल ने इनका विवरण दिया।

साँची ग्राम बलुआ पत्थर की ३०० फुट ऊँची, समतल चोटीवाली पहाड़ी पर स्थित है। समतल चोटी के मध्य में और पहाड़ी की पश्चिमी ढलान की ओर जानेवाली संकीर्ण पट्टी पर मुख्य अवशेष हैं, जिनमें बृहत् स्तूप, चैत्य तथा कुछ समाधियाँ सम्मिलित हैं। बृहत् स्तूप पहाड़ी के मध्य में स्थित है। यह स्तूप ठोस, गोलीय खंड है और लाल बलुआ पत्थरों का बना हुआ है। आधार पर स्तूप का व्यास ११० फुट है। आधार से बाहर की ओर ढलानवाली, १५ फुट ऊँची पटरी (berm) है, जो स्तूप के चारों ओर ५½ फुट चौड़ा प्रदक्षिणा-पथ बनाती है और इस पटरी के कारण आधार का व्यास १२१ फुट, ६ इंच हो जाता है। स्तूप का शीर्ष समतल है और मूलतः इस समतल पर पत्थर की वेष्टनी तथा प्रचलित कलश था। यह वेष्टनी सन् १८१९ तक थी। जब स्तूप पूर्ण था, तब उसकी ऊँचाई अवश्य ही ७७½ फुट रही होगी। स्तूप के चारों ओर पत्थर की वेष्टनी लगी है, जिसमें चार प्रवेशद्वार हैं और इनपर सजावटी एवं चित्रमय खुदाई है। उत्तर और दक्षिण की ओर एक पत्थर वाले दो स्तंभ थे जिनपर सम्राट् अशोक की राजाज्ञाएँ खुदी हुई थीं। इनमें से एक पूर्वी द्वार पर सन् १८६२ तक था और उसकी लंबाई १५ फुट २ इंच थी। प्रत्येक द्वार के अंदर ध्यानी बुद्ध की लगभग मानवाकार मूर्तियाँ हैं, पर ये अपने मूल स्थान से हट गई हैं।

संपूर्ण स्मारक के प्रमुख आकर्षण, चारों दिशाओं में स्थित, चार प्रवेश द्वार हैं। स्तंभ के तीसरे शहतीर तक इनमें से प्रत्येक की ऊँचाई २८ फुट ५ इंच तथा ऊपर के अलंकरण तक कुल ऊँचाई ३२ फुट ११ इंच है। ये द्वार सफेद बलुआ पत्थर के बने हैं और इन पर बुद्ध संबंधी लोककथाओं एवं जातक कथाओं के दृश्य अंकित हैं। इन दृश्यों में भगवान् बुद्ध को प्रतीकों (चरण चिह्न या बोधि वृक्ष) द्वारा व्यक्त किया गया है। कालांतर के बौद्ध शिल्प में ध्यानावस्थित या उपदेश देते हुए बुद्ध की मूर्तियों का

बाहुल्य है, पर इन द्वारों पर ऐसी मूर्तियों का कोई चिह्न भी नहीं मिलता है।

स्तूप का निर्माणकाल लगभग २५० ई० पू० का माना गया है और संभवतः इसे सम्राट् अशोक ने बनवाया था। द्वारों की नक्काशी से ज्ञात होता है कि ये ईसवी शताब्दी के कुछ पूर्व के हैं। सांची के इतिहास के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है। चीनी यात्री फाह्यान तथा हुएनत्सियांग ने भी अपनी यात्रा के विवरण में इसका कहीं उल्लेख नहीं किया है। महावंश नामक ग्रंथ में केवल एक कहानी दी हुई है। इस कहानी में इस बात का वर्णन है कि जब अशोक उज्जयिनी का शासक नियुक्त किया गया था, तब उसने किस प्रकार वसंतगिरि या चैत्यगिरि नगर के श्रेष्ठी की कन्या से विवाह किया था। पर स्तूप की कहीं चर्चा नहीं है। अब उपर्युक्त वसंतनगर को वेसनगर कहते हैं और इसके भग्नावशेष भिलसा के पास मिले हैं।

सांची के वृहद् स्तूप के समीप संभवतः चौथी शताब्दी का, गुप्तशैली में निर्मित, एक छोटे मंदिर का भग्नावशेष है। इसके समीप चैत्य के सभाभवन का भग्नावशेष है, जो वास्तु की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है क्योंकि अपने ढंग का यही भवन प्राप्त है और शेष प्राप्त चैत्य चट्टानों को काटकर बनाए गए हैं। चैत्य का जो कुछ शेष है, वह है बड़े बड़े स्तंभों की शृंखला और दीवार की नींव, जिससे यह प्रकट होता है कि चैत्य ठोस अर्धवृत्त में समाप्त होता था। वृहद् स्तूप के उत्तर पूर्व में पहले एक छोटा स्तूप था, जो अब ईंटों का ढेर मात्र है और इसके सामने एक प्रवेशद्वार है। वृहद् स्तूप के पूर्व में चबूतरे पर बुद्ध की विशाल प्रतिमाओं से युक्त, अनेक समाधियाँ हैं। पहाड़ी की पश्चिमी ढलान पर एक अन्य छोटा स्तूप है, जिसके चारों ओर बिना प्रवेशद्वार की वेष्टनी है।

सांची में अनेक शवपेटिकाएँ तथा चार सौ से अधिक उत्कीर्ण लेख मिले हैं, जिनमें से अंतिम लेख वेष्टनियों एवं द्वारों पर खुदा हुआ है। इलाहाबाद और सारनाथ में प्राप्त स्तंभों की तरह का स्तंभ यहाँ खुदाई में प्राप्त हुआ है, जिसपर सम्राट् अशोक की राजाज्ञा अंकित है। यह राजाज्ञा मालवा के महामात्र को संबोधित कर लिखी गई है और इसमें स्तूप के चारों ओर के मार्ग के रखरखाव के संबंध में कहा गया है।

द्वार और वेष्टनियों पर अंकित अभिलेख बड़े महत्व के हैं। इनमें से कुछ श्रेणियों (guild) द्वारा, जैसे विदिशा के हाथीदाँत के कारीगरों की श्रेणी, अंकित कराए गए हैं और कुछ सभी वर्गों के व्यक्तियों द्वारा, जैसे श्रेष्ठी, व्यापारी, राजकीय लिपिक एवं अश्वारोही सैनिक, अंकित कराए गए हैं। इन लेखों से स्पष्ट है कि सभी वर्गों के लोगों में बौद्ध धर्म के प्रति दृढ़ आस्था थी। बौद्ध गुहालेखों में जिस प्रकार अन्य धर्मों के अस्तित्व का पता चलता है, वैसा कोई उल्लेख सांची के अभिलेखों में नहीं है, पर अभिलेखों में शैव और वैष्णव नामों की उपस्थिति से यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन समय में इन धर्मों का अस्तित्व था। विभिन्न स्थानों के, जैसे एरान या एरानिका (Eran or Eranika), पुष्कर या पोखरा (Pushkar, or Pokhara), उज्जैन या उज्जयिनी (Ujjain or Ujeni) के, दाताओं से दान प्राप्त हुआ था।

प्रथम या द्वितीय शताब्दी ई० पू० से लेकर ९वीं एवं १० वीं ई० तक के अभिलेख मिले हैं। दक्षिणी द्वार के स्तंभों के ऊपर रखा शहतीर आंध्र के राजा शातकर्णि (Satakarni) द्वारा उपहार के रूप में दिया गया था और इसकी रचनाशैली से लगता है कि यह ई० पू० दूसरी शताब्दी के पूर्वार्ध में बना था। दो अभिलेख ४१२ ई० तथा ४५० ई० (गुप्त काल) के हैं, जिनमें काकनादाबोत (Kakanadabota) विहार को भिक्षारियों को भोजन कराने तथा दीपक जलाने के लिये दिए गए अनुदानों का उल्लेख है। एक अन्य अभिलेख कुषाण राजा, संभवतः कुष्क या वासुदेव, से संबंधित मालूम पड़ता है। इन लेखों में काकनाद (Kakanada) दिया है, पर सांची का नाम कहीं भी नहीं मिलता है।

सन् १८८१-८२ में सांची के वृहद् स्तूप की मरम्मत की गई और गिरे हुए द्वारों को पुनः स्थापित किया गया। इस समय तक यह स्थान उपेक्षित सा रहा। सन् १८८६ में फ्रांस के सम्राट् नेपोलियन तृतीय ने भोपाल का बेगम से सांची के द्वारों में से एक को उपहार के रूप में माँगा था। तत्कालीन भारत सरकार ने द्वार भेजना अस्वीकार कर दिया था, लेकिन इसका प्लास्टर ऑव पैरिस का साँचा बनवाकर पैरिस भेज दिया था। यहाँ के द्वारों के साँचे लंदन के साउथ केंसिंग्टन म्यूजियम, डब्लिन तथा एडिम्बरो में भी हैं।

[अ० ना० मे०]

सांतयाना, जार्ज वस्तुवादी दार्शनिक, जन्म १८६३ में स्पेन में हुआ था। बचपन से ही स्पेन से बाहर रहे और अंग्रेजी को अपनी मुख्य भाषा बनाया।[1] लैटिन, ग्रीक, फ्रेंच, इटैलियन और जर्मन भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान था। इन्हें शिक्षा हार्वर्ड कालेज में मिली। अमरीका में अध्यापनकार्य किया और वृद्धावस्था में हार्वर्ड में प्राध्यापक पद से त्यागपत्र देकर इंग्लैंड में रहने लगे। वहीं १९५२ ई० में इनकी मृत्यु हो गई।

इन्होंने दर्शन पर बहुत लिखा है। कुछ मुख्य रचनाएँ ये हैं—सेंस ऑव ब्यूटी (१८९७), इंटरप्रिटेशन ऑव पोएटरी ऐंड रिलीजन (१९००), लाइफ ऑव रीज़न (१९०५-६ पाँच भागों में) विड्स ऑव डाक्टरीन (१९१३), कैरेक्टर ऐंड ओपीनियन इन दी यू० एस० (१९२०), इगोटिज्म इन जर्मन फिलासफी (१९१५), स्केप्टीसिज्म ऐंड ऐनीमल फेथ (१९२३), रेल्म्ज ऑव बीइंग (१९२७-४०) चार भागों में।

सांतयाना की गणना वस्तुवादी दार्शनिकों में है। इनके अनुसार वस्तुवाद के समर्थन में जैविकीय, मनोवैज्ञानिक और तार्किक प्रमाण दिए जा सकते हैं। उनका उल्लेख विवेचनात्मक वस्तुवाद पर लिखे गए उस लेख में है जो अन्य छह वस्तुवादी दार्शनिकों के लेखों के साथ अमरीका में प्रकाशित हुआ था। सांतयाना ज्ञान-की मीमांसा में द्वैतवादी हैं। ये नववस्तुवादियों की तरह बाह्यसंसार में वस्तुओं की वैसी ही सत्ता नहीं मान लेते जैसी वे दिखाई देती हैं। इनके अनुसार इंद्रियों को जो विषय प्राप्त होते हैं वे रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श ही होते हैं। वे सब सांतयाना के शब्दों में सार (एसेंस) हैं, सत्ता नहीं। सत्ता के प्रश्न पर संदेह हो सकता है किंतु सार, जो प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, संदेह का विषय नहीं है।

जल में पड़ी तिरछी दिखाई देनेवाली लकड़ी के लिये संदेह नहीं किया जा सकता है, संदेह यह हो सकता है कि प्रतीति का संबंध किसी सत्तात्मक लकड़ी से है या नहीं। यदि दिखाई देनेवाली वस्तु की सत्ता से विश्वास हटा लिया जाय और प्रतीत होनेवाले सार से ही संतोष करें और उसका कोई अर्थ लगाने का प्रयत्न न करें तो त्रुटि और भ्रांति से बचा जा सकता है। किंतु पाशविक प्रवृत्ति, जो जीवन के लिये आवश्यक है, ऐसा नहीं करने देती।

इस प्रकार मन का सीधा संबंध संवेद्य विषयों (सेंस डेटा) से है जिनसे ज्ञान संपादित होता है। भौतिक वस्तु की सत्ता मन से स्वतन्त्र है। वे संवेद्य विषयों के माध्यम से जाने जाते हैं। भौतिक वस्तुओं की गणना संवेद्य विषयों से भिन्न है।

'स्केप्टीसिज्म ऐंड ऐनिमल फेथ' में सांतयाना ने 'प्रतिनिधि वस्तुवाद' (रिप्रेजेंटेटिव रियलिज्म) का प्रतिपादन किया है। उसमे सातयाना ने स्पष्ट किया है कि संवेद्य विषय कोई सत्तात्मक वस्तु नहीं है। प्रत्यक्ष और असंदिग्ध ज्ञान के विषय केवल सार हैं। इनकी स्थिति प्लेटो के प्रत्ययों की भाँति है। गणना में वे अनंत हैं और उनका मूल्य तटस्थ है। इनके बिना वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। सातयाना की दृष्टि में वस्तुओं को अंतर्ज्ञान से जानना निरर्थक है। उनका वस्तुवाद प्रतिनिधिवादी होने पर भी ज्ञान में उनकी आस्था कम नहीं है क्योंकि वह ज्ञेय वस्तुओं की सत्ता पहले से ही आवश्यक मानते हैं। वस्तु की सत्ता का ज्ञान सांतयाना को संवेद्य विषयों के द्वारा अनुमान से नहीं होता बल्कि प्राणिविश्वास (ऐनिमल फेथ) से होता है। इस प्रकार ज्ञान एक विश्वास है जो सब प्राणियों में स्वभावतः है।

सांतयाना के दर्शन में मौलिक सिद्धांत ही नहीं वरन् कल्याणकारी जीवन के स्वरूप और कला तथा नैतिकता के मूल्यनिर्धारण की प्रधानता है। वे दार्शनिक होने के साथ कवि और साहित्यालोचक भी हैं। 'इंटरप्रिटेशन ऑव पोयटरी ऐंड रिलीजन' (१९००) ग्रंथ में उन्होंने काव्यालोचन के सिद्धांत निरूपित किए हैं कविता में चार तत्व—शब्दसौंदर्य, मृदु उक्तिचयन, गहन अनुभूति और बौद्धिक परिकल्पना आवश्यक है। उच्च कोटि का काव्य दार्शनिक या धार्मिक भावनाओं से प्लावित होता है। कवि की उदात्त मनोदशा में काव्य और धर्म पर्याय बन जाते हैं। सांतयाना ने स्वयं कई सोनेट लिखे और प्रबंधरचनाएँ की हैं। 'ए हरमिट ऑव कारमेल ऐंड अदर पोएम्स' में उनकी काव्यरचनाएँ संगृहीत हैं।

सांतयाना ने अपने आलोचकों की भी आलोचना की है। उनको सब प्रकार से प्रभावहीन करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि उनकी प्रवृत्ति रचनात्मक से अधिक आलोचनात्मक रही है। [हृ० ना० मि०]

सांदीपनि ऋषि जिनके आश्रम में कृष्ण और सुदामा दोनों पढ़ते थे। ऋषि के पुत्र को पञ्चजन नामक एक राक्षस ने चुरा लिया। यह राक्षस पाताल में रहता था और जब श्रीकृष्ण ने इसे मारकर ऋषिपुत्र की रक्षा की तो राक्षस की हड्डी से पांचजन्य नामक शंख बनवाया जिसका उल्लेख श्रीमद्भगवद्गीता में हुआ है। इन ऋषि का आश्रम उज्जयिनी के पास था। [रा० द्वि०]

सांभर झील स्थिति : २६° ५०' उ० अ० तथा ७५° ३' पू० दे०। भारत के राजस्थान राज्य में जयपुर नगर के समीप स्थित यह लवण जल की झील है। यह झील समुद्रतल से १,२०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। जब यह भरी रहती है तब इसका क्षेत्रफल ९० वर्ग मील रहता है। इसमें तीन नदियाँ आकर गिरती हैं। इस झील से बड़े पैमाने पर नमक का उत्पादन किया जाता है। अनुमान है कि अरावली के शिष्ट और नाइस के गर्तों में भरा हुआ गाद (silt) ही नमक का स्रोत है। गाद में स्थित विलयशील सोडियम यौगिक वर्षा के जल में घुलकर नदियों द्वारा झील में पहुँचता है और जल के वाष्पन के पश्चात् झील में नमक के रूप में रह जाता है। [अ० ना० मे०]

सांसोविनो, आंद्रिया कोंतुच्ची देल मोंते (१४६०-१५२९) फ्लोरेंटाइन मूर्तिकार और भवनशिल्पी। अरेज्जो के समीप मोंटे सांसोविनो में वह पैदा हुआ, इसलिये उसका यही नाम प्रसिद्ध हो गया। कलागुरु पोलाइउला एंटोनियो का वह शिष्य था। पंद्रहवीं शताब्दी की फ्लोरेंस शैली पर सर्वप्रथम उसने टेराकोटा तथा संगमरमर पर मोंटे सांसोविनो और फ्लोरेंस के गिरजाघरों में अनेक धार्मिक और प्राचीन आख्यानों तथा बाइबिल के कथाप्रसंगों का चित्रण किया। 'वर्जिन का राज्यारोहण', 'पियता' और 'अंतिम भोजन' जैसे चित्रांकनों के अतिरिक्त उसने अनेक प्रस्तरमूर्तियों का भी निर्माण किया। १४४० ई० में सम्राट् जान द्वितीय द्वारा उसे पुर्तगाल आने का आमंत्रण मिला। कोयंब्रा के विशाल चर्च में अब भी उसकी बनाई कुछ मूर्तियाँ मिलती हैं।

इन प्रारंभिक चित्रांकनों और मूर्तिशिल्प में दोनातेल्लो का विशेष प्रभाव द्रष्टव्य है, किंतु फ्लोरेंटाइन बैपटिस्ट्री के उत्तरी द्वार पर सेंट जॉन और ईसा की कतिपय प्रतिमाओं में रूढ़िवादी प्राचीन पद्धति भी अपनाई गई है। एक वर्ष तक वह वोल्टेरा में संगमरमर पर कार्य करता रहा और जेनोआ चर्च में वर्जिन और जॉन दि बैप्टिस्ट की मूर्तियों का निर्माण किया। उसने कुछ गिरजाघरों में समाधियाँ और स्मारक भी बनाए जिनमें एस मेरिया देल पोपोलो चर्च की समाधि उसकी सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति है। १५१२ ई० में सेंट एनी के साथ मेडोना और बालक क्राइस्ट की ग्रुप मूर्तियाँ उसने अंकित कीं। १५१३ से १५२८ तक लोरेटो में रहा जहाँ सांताकासा के बहिर्भाग और कक्षस्तंभों पर उभरा हुआ चित्रांकन और प्रस्तर प्रतिमाएँ गढ़ीं। अनेक सहायकों से उसे मदद मिली, फिर भी उसकी अपनी कार्यप्रणाली और कलाटेक्नीक निराली है। सुप्रसिद्ध समकालीन इटालियन मूर्तिकार और भवनशिल्पी जोकोपॉसांसोविनो इसी का शिष्य था। [श० गु०]

सांस्कृतिक मानवशास्त्र मानवशास्त्र अथवा नृतत्व विज्ञान मानव और उसके कार्यों का अध्ययन है। इसके दो प्रमुख अंग हैं। मनुष्य का प्राणिशास्त्रीय अध्ययन, उसका उद्भव एवं विकास, मानव-शरीर-रचना, प्रजननशास्त्र एव प्रजाति इत्यादि शारीरिक मानवशास्त्र के अंतर्गत हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समूहों में रहता है। विश्व के समस्त जीवधारियों मे

केवल वही संस्कृति का निर्माता है। इस विशेषता का मूल कारण है भाषा। भाषा के ही माध्यम से एक पीढ़ी की संचित अनुभूति भविष्य की पीढ़ियों को मिलती है। प्रत्येक पीढ़ी की संस्कृति का विकास होता है। संस्कृति परिसर का वह भाग है जिसका निर्माण मानव स्वयं करता है। ई० बी० टायलर के अनुसार संस्कृति उस समुच्चय का नाम है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नीति, विधि, रीतिरिवाज तथा अन्य ऐसी क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में मानता है।

सांस्कृतिक मानवशास्त्री *उन तरीकों का अध्ययन करता है* जिससे मानव अपनी प्राकृतिक एवं सामाजिक स्थिति का सामना करता है, रस्म रिवाजों को सीखता और उन्हें एक पुश्त से अगली पुश्त को प्रदान करता है। भिन्न भिन्न संस्कृतियों में एक ही साध्य के कई साधन हैं। पारिवारिक संबंधों का संगठन, मछली पकड़ने के फंदे तथा *जगत् के निर्माण के सिद्धांत* प्रत्येक समाज में अलग अलग हैं। फिर भी प्रत्येक समाज में जीवनकार्य-कलाप सुनियोजित है। आंतरिक विकास या बाह्य संपर्क के कारण परंपरा के स्थिर रूप भी बदलते हैं। व्यक्ति एक विशेष समाज में जन्म लेकर उन रस्मरिवाजों को ग्रहण करता है, व्यवहार करता है, और प्रभावित करता है जो उसकी सांस्कृतिक विरासत हैं। सांस्कृतिक मानवशास्त्र के अंतर्गत ऐसे सारे विषय आते हैं।

सांस्कृतिक मानवशास्त्र का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। अन्य विषय *मानव कार्यकलाप के एक भाग का अध्ययन करते हैं*। सामान्यतः मानवशास्त्री ऐसी जातियों का अध्ययन करते हैं जो पाश्चात्य सांस्कृतिक धारा से परे हैं। वे प्रत्येक जाति के रस्मरिवाजों के समूह को एक समष्टि के रूप में अध्ययन करने का प्रयास करते हैं। यदि वे संस्कृति के एक ही पक्ष पर अपने अध्ययन को केंद्रित रखते हैं तो *उनका खास उद्देश्य* उस पक्ष में और संस्कृति के दूसरों पक्षों में संबंधों का विश्लेषण होता है। पूरी संस्कृति पर विचार करने के लिये वे उस समाज के लोगों का तकनीकी ज्ञान, आर्थिक जीवन, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ, धर्म, भाषा, लोकवार्ता एवं कला का अध्ययन करते हैं। वे इन पक्षों का *अलग अलग विवेचन करते हैं* पर साथ साथ यह भी देखते हैं कि ये विभिन्न पक्ष समग्र रूप में किस प्रकार काम करते हैं जिससे उस समाज के सदस्य अपने परिसर से समवस्थित होते हैं। इस रूप में सांस्कृतिक मानवशास्त्री अर्थशास्त्री, राजनीति-विज्ञान-शास्त्री, समाजशास्त्री धर्मों के तुलनात्मक अध्येता, *कला या साहित्य के मर्मज्ञों से भिन्न हैं।*

संस्कृति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। मानवशास्त्र में इसका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में होता है। यह उसका आधारभूत सिद्धांत है। *संस्कृति के गुण निम्नलिखित हैं —*

(१) मानव संस्कृति के साथ जन्म नहीं लेता, पर उसमें संस्कृति ग्रहण करने की क्षमता होती है। वह उसे सीखता है। इस प्रक्रिया को संस्कृतीकरण कहते हैं।

(२) संस्कृति का उद्भव मानव जीवन के प्राणिशास्त्रीय, परिसरीय मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक अंगों से होता है। उसके निरूपण और विकास में इन तत्वों का बहुमूल्य योग होता है।

(३) संस्कृति की संरचना के विशिष्ट भाग हैं। सबसे छोटे भाग को सांस्कृतिक तत्व (Culture Trait) कहते हैं। कई तत्वों को मिलाकर एक तत्वसमूह (Complex) होता है। एक संस्कृति में अनेक सांस्कृतिक तत्वसमूह होते हैं। इसके अतिरिक्त कई संस्कृतियों में एक या अधिक प्रेरक सिद्धांत होते हैं जो उन्हें विशिष्टता प्रदान करते हैं।

(४) संस्कृति अनेक विभागों में विभक्त होती है, जैसे भौतिक संस्कृति (*तकनीकी ज्ञान और अर्थव्यवस्था*), सामाजिक संस्थाएँ (सामाजिक संगठन, शिक्षा, राजनीतिक संगठन) धर्म और विश्वास, कला एवं लोकवार्ता, भाषा इत्यादि।

(५) संस्कृति परिवर्तनशील है। संस्कृति के प्रत्येक अंग में परिवर्तन होता रहता है, किसी में तीव्रता से, किसी में मंद गति से। बाह्य प्रभाव भी बिना सोचे समझे ग्रहण नहीं किए जाते। किसी में विरोध कम होता है, किसी में अधिक।

(६) संस्कृति में विभिन्नताएँ होती हैं जो कभी कभी एक *ही समाज के व्यक्तियों के व्यवहार में* प्रदर्शित होती हैं। जितनी छोटी इकाई होगी उतना ही कम अंतर उसके सदस्यों के आचार विचार में होगा।

(७) संस्कृति के स्वरूप, प्रक्रियाओं और *गठन में एक नियमबद्धता* होती है जिससे उसका वैज्ञानिक विश्लेषण संभव होता है।

(८) संस्कृति के माध्यम से मानव अपने संपूर्ण परिसर से समवस्थित होता है और उसे रचनात्मक अभिव्यक्ति का साधन मिलता है।

सांस्कृतिक मानवशास्त्र वर्तमान काल की संस्कृतियों का ही केवल अध्ययन नहीं करता। मानव विकास के कितने ही गूढ़ रहस्य प्रागितिहास के गर्भ में पड़े हैं। प्रागैतिहासिक पुरातत्ववेत्ता पृथ्वी के नीचे से खुदाई करके प्राचीन संस्कृतियों की छानबीन करते हैं। उसके आधार पर वे मानव विकास का क्रमबद्ध स्वरूप निश्चित करते हैं। खुदाई से भौतिक संस्कृति की बहुत सी चीजें उपलब्ध होती हैं। अनुमान एवं कल्पना की सहायता से उस संस्कृति के सदस्यों के रहनसहन, आचारविचार, सामाजिक संगठन, धार्मिक विश्वास इत्यादि की रूपरेखा तैयार करते हैं। अतएव प्रागितिहास सांस्कृतिक मानवशास्त्र का अभिन्न अंग है।

भाषा के ही माध्यम से संस्कृति का निर्माण हुआ है। सृष्टि *के आरंभ से ही मनुष्य ने अनेक तरह से अपनी इच्छाओं और* आवश्यकताओं को व्यक्त करने का प्रयास किया। पहले तो हावभाव तथा संकेतचिह्नों से काम चला। बाद में उसी ने भाषा का रूप ग्रहण कर लिया। प्रत्येक भाषा में उसके बोलनेवालों की सारी मान्यताएँ, स्पष्ट तथा अस्पष्ट विचार, बौद्धिक और भावनात्मक क्रियाएँ निहित रहती हैं। आदिम समाज के सभी सांस्कृतिक तत्व उसकी भाषा के भंडार में सुरक्षित रहते हैं।

कहावतें, पहेलियाँ, लोककथाएँ, लोकगीत, प्रार्थनामंत्र, इत्यादि में समाज का संस्कार प्रदर्शित होता है। समाज की अंतर्मुखी

कृतियों से परिचय प्राप्त करने के लिये भाषा का ज्ञान आवश्यक है। संबंधसूचक शब्दावली से समाज में पारिवारिक और दूसरे संबंधों का पता चलता है। संस्कृति पर बाह्य प्रभावों के कारण जो परिवर्तन होता है वह भी भाषा में प्रतिबिंबित होता है। नए विचार और नई वस्तुएँ जब व्यवहार में आने लगती हैं तो उनके साथ नए शब्द भी आते हैं। इस प्रकार संस्कृति और भाषा दोनों का समान रूप से विकास होता है। आदि संस्कृतियों में भाषाओं की विविधता तथा उनके स्वरूप की जटिलता में अनुसंधान की असीम सामग्री है। जिस तरह भाषा के स्वरूप का विश्लेषण करने से हम सांस्कृतिक रहस्यों को सुलझा सकते हैं उसी प्रकार संस्कृतियों के संरचनात्मक तत्वों और प्रक्रियाओं के ज्ञान से हमें भाषाशास्त्र की कुछ समस्याओं पर व्यापक प्रकाश मिल सकता है।

सांस्कृतिक मानवशास्त्र के अंतर्गत सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन, धर्म, भाषा, कला इत्यादि का अध्ययन आता है। टाइलर ने संस्कृति के संबोध के सहारे अध्ययन किया पर उनके समकालीन मोरगन ने समाज के प्रसंग में अपना काम किया। दुर्कहीम ने समाजशास्त्रीय परंपरा को पुष्ट किया। इस प्रकार नृतत्व में दोनों परंपराएँ समानांतर धाराओं की तरह चलती आ रही हैं। अमरीकी मानवशास्त्री संस्कृतिपरक विचारधारा से आविर्भूत हैं। अंग्रेज विद्वान् दुर्कहीम की परंपरा के पोषक हैं। अमरीकी विद्वानों के विचार में संस्कृति का संबोध समाज के संबोध से कहीं अधिक व्यापक है। इस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्र उनकी दृष्टि से सांस्कृतिक नृतत्व का एक अंग है। कुछ विद्वान् इस धारणा से सहमत नहीं होंगे। उनके अनुसार सांस्कृतिक और सामाजिक मानवशास्त्र के दृष्टिकोण, विचारधारा और तरीके भिन्न भिन्न हैं।

सामाजिक मानवशास्त्र का क्षेत्र मानव संस्कृति और समाज है। यह संस्थाबद्ध सामाजिक व्यवहारों का अध्ययन करता है, जैसे परिवार, नातेदारी, व्यवस्था, राजनीतिक संगठन, विधि, धार्मिक मत इत्यादि। इस संस्था में परस्पर संबंधों का भी अध्ययन किया जाता है। ऐसा अध्ययन समकालीन समाजों में या ऐतिहासिक समाजों में किया जा सकता है। सामान्यत: सामाजिक मानवशास्त्री आदिम संस्कृतियों में काम करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि आदिम समाज दूसरों से हेय है। आदिम समाज वे हैं जो जनसंख्या, क्षेत्र, बाह्य संपर्क इत्यादि की दृष्टि से छोटे और सरल हों तथा तकनीकी दृष्टि से पिछड़े हुए हों। आदिम जातियों पर विशेष ध्यान देने के कई कारण हैं। कुछ मानवशास्त्री संस्कृति के विकास का पता लगाने के क्रम में आदिम जातियों का अध्ययन करते थे। ऐसा समझा जाता था कि उन समाजों में ऐसी ही संस्थाएँ पाई जाती हैं जो दूसरे समाजों में प्राचीन काल में पाई जाती थीं। कार्यवादी (Functional) विचारधारा के प्रचलन के बाद समग्र रूप में समाज के अध्ययन की आवश्यकता मालूम हुई। इसके लिये आदिम समाज अत्यंत उपयुक्त थे क्योंकि उनमें एकरूपता थी और पूर्ण समष्टि के रूप में उन्हें देखा जा सकता था। फिर अपने छोटे आकार के कारण भिन्न संस्कृतियों का अध्ययन आसान था। उनके विवेचन में निरपेक्षता आसानी से बरती जा सकती थी। आदिम समाजों में सामाजिक बहुरूपता के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। उनपर आधारित जो संबोध बनेंगे वे अधिक दृढ़ और व्यापक होंगे। आदिम समाज शीघ्रता से बदलते जा रहे हैं। लुप्त होने के पूर्व उनका अध्ययन आवश्यक है।

सामाजिक मानवशास्त्र का सबसे प्रधान अंग सामाजिक संगठन है जिसमें उन संस्थाओं का विवेचन होता है जो समाज में पुरुष और स्त्री का स्थान निर्धारित करते हैं और उनके व्यक्तिगत संबंधों को दिशा देते हैं। मोटे तौर पर ऐसी संस्थाएँ दो प्रकार की होती हैं जो रिश्ते से उत्पन्न होती हैं और जो व्यक्तियों के स्वतंत्र संपर्क से उत्पन्न होती हैं। रिश्तेदारी की संस्थाओं में परिवार और गोत्र आते हैं। दूसरे प्रकार की संस्थाओं में संस्थाबद्ध मैत्री, गुप्त समितियाँ, आयुसमूह आते हैं। सामाजिक स्थिति पर आधारित समूह भी इसी के अंतर्गत आते हैं। सामाजिक संगठन कुछ आधारभूत कारकों पर बना होता है, जैसे आयु, यौन भेद, रिश्तेदारी, स्थान, सामाजिक स्थिति, राजनीतिक स्थिति, व्यवसाय, ऐच्छिक समितियाँ, जादूधर्म की प्रक्रियाएँ और टाटमवाद (Totemism)।

न्यूनतम परिश्रम से दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जिन मानव संबंधों और प्रयास का संगठन किया जाता है उसे आर्थिक मानवशास्त्र की संज्ञा दी गई है। भोजन प्राप्त करने और उत्पन्न करने के अनेक तरीके विभिन्न जातियों में प्रचलित हैं। उनके आधार पर चार मुख्य स्तर पाए जाते हैं — संकलन-आखेटक-स्तर, पशुपालन स्तर, कृषि स्तर और शिल्प-उद्योग-स्तर। आदिम समाजों में आर्थिक संबंध सामाजिक परंपराओं में बँधे रहते हैं। उत्पादन के कारकों में भी भेद करना कठिन होता है। आदिम जगत् की अर्थ व्यवस्था में उपहार और व्यापार विनिमय का विशेष महत्व है। उपहारों से व्यक्तिगत तथा सामूहिक संबंध सुदृढ़ बनाए जाते हैं। व्यापार और विनिमय में उत्पादन के वितरण का महत्व अधिक होता है। बहुत से आदिम समाज मुद्राविहीन हैं। अर्थशास्त्रीय माने में बाजार का भी अभाव है। फिर भी उनका आर्थिक संगठन सुचारु रूप से चालू है।

अर्थव्यवस्था भौतिक संस्कृति एवं लोगों की तकनीकी क्षमता पर निर्भर होती है। शिकार, मछली मारने के तरीकों, खेती के तरीकों तथा उद्योग धंधों का अध्ययन भी इसी के अंतर्गत आता है। पहले के मानवशास्त्री इस प्रकार के अध्ययन में अधिक रुचि रखते थे और उनके प्रयासों के फलस्वरूप विदेशों के संग्रहालय आदिम भौतिक संस्कृति की वस्तुओं से भरे पड़े हैं।

अदृश्य एवं अज्ञात शक्तियों को जानने की अभिलाषा मनुष्य को सदा से ही रही है। उनके विषय में भिन्न भिन्न कल्पनाएँ और विश्वास प्रचलित हैं। जब किसी घटना का कोई भी कारण समझ में नहीं आता तो हम उसे दैवी घटना मानकर

संतोष कर लेते हैं। धर्म और जादू इन्हीं अज्ञेय और अज्ञात शक्तियों को अपने पक्ष में प्रभावित करने के लिये बनाए गए हैं। किसी भी समाज के संगठन, उपलब्धियों तथा प्रगति के अध्ययन करते समय धार्मिक पृष्ठभूमि से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। धर्म हममें सुरक्षा की भावना जगाता है। एक धर्म के अनुयायी एकता के दृढ़ सूत्र में बँधे रहते हैं। धर्म की छाप हमें किसी भी समाज के समस्त क्रियाकलापों पर मिलती है। कला, साहित्य, संगीत, नृत्य इत्यादि प्रारंभ में धार्मिक भावना से ही अनुप्राणित थे। उनका अध्ययन भी सांस्कृतिक मानवशास्त्र के अंतर्गत आता है।

संस्कृति के उद्गम एवं विकास के संबंध में मानव शास्त्रियों में घोर मतभेद है। उन्नीसवीं शताब्दी में डार्विन के उद्विकास (Evolution) के सिद्धांत से अनेक अध्येता प्रभावित हुए। सांस्कृतिक क्षेत्र में भी टाइलर, मोरगन इत्यादि विद्वानों ने इसे मान्यता दी। इस सिद्धांत के सहारे मानव संस्कृति के विकास को अच्छी तरह समझा जा सकता था। इसके अनुसार विकास के तीन स्तर निर्धारित किए गए। निम्नतम स्तर जंगलीपन, (Savagery), मध्यस्तर को बर्बरता (Barbarism) और उच्चतम स्तर को सभ्यता की संज्ञा दी गई। संसार के विभिन्न भागों में सांस्कृतिक समानताओं का कारण एक प्रकार से सोचने की प्रवृत्ति तथा समान वातावरण में समान संस्थाओं का निर्माण बताया गया। प्रसारवाद (Diffusionism) के सिद्धांत ने इस मान्यता को ठुकरा दिया। इसके अनुसार संस्कृति का उद्गम कुछ स्थानों पर हुआ और वहीं से वह फैली। प्रसारवाद के कुछ पंडित मिस्र को संस्कृति का उद्गम स्थल मानते थे। प्रसारवादी समझते हैं कि मनुष्य की आविष्कार शक्ति अत्यंत सीमित होती है और ग्रहण शक्ति अपरिमित है। वियना के नृतत्ववेत्ताओं ने इसी आधार पर संसार के प्रमुख संस्कृति वृत्तों (Kultur Kreis) संबंधी मान्यताएँ स्थापित की हैं।

इसमें संदेह नहीं कि आविष्कार और प्रसार द्वारा संस्कृतियों का रूप बदलता है। अन्य संस्कृतियों के तत्व कई कारणों से ग्रहण किए जाते हैं। कुछ तो दबाव के कारण अपनाए जाते हैं, कुछ नवीनता के लिये, कुछ सुविधा के लिये और कुछ लाभ के लिये। कुछ नवीन तत्व प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये अपनाए जाते हैं। बार्नेट ने संस्कृतिपरिवर्तन का नया विवेचन प्रस्तुत किया है। वे उत्प्रेक्षण (Innovation) को संस्कृति-परिवर्तन का आधार मानते हैं। उत्प्रेक्षण मानव की इच्छाओं से उत्पन्न होते हैं। यद्यपि वे संस्कृतिपरिवर्तन के कारण होते हैं, फिर भी वे स्वयं सांस्कृतिक परिस्थितियों और कारकों से अछूते नहीं रहते। उत्प्रेक्षण की सफलता के लिये असंतोष की स्थिति आवश्यक है। [स०]

साइक्लोट्रॉन १९३२ ई० में प्रोफेसर ई० ओ० लारेंस (Prof. E. O. Lawrence) ने बर्कले इंस्टिट्यूट, कैलिफोर्निया, में सर्वप्रथम साइक्लोट्रॉन (Cyclotron) का आविष्कार किया। वर्तमान समय में तत्वांतरण (transmutation) तकनीक के लिये यह सबसे प्रबल उपकरण है। साइक्लोट्रॉन के आविष्कार के लिये प्रोफेसर लारेंस को १९३९ ई० में 'नोबेल पुरस्कार' प्रदान किया गया।

साइक्लोट्रॉन के आविष्कार के पूर्व, आवेशित कणों के त्वरण (acceleration) के लिये काककॉफ्ट वाल्टन की विभवगुणक मशीन, वान डे ग्राफ स्थिरविद्युत् जनित्र, अनुरेख त्वरक आदि उपकरण प्रयुक्त होते थे। परंतु इन सभी उपकरणों के उपयोग में कुछ न कुछ प्रायोगिक कठिनाइयाँ विद्यमान थीं। उदाहरण-स्वरूप, अनुरेख त्वरक के उपयोग में निम्न दो असुविधाएँ थीं: (१) असुविधाजनक लंबाई (जितना ही छोटा कण होगा एवं जितने ही अधिक ऊर्जा के कण प्राप्त करना चाहेंगे, उतनी ही अधिक लंबाई की आवश्यकता होगी) तथा (२) आयनित धारा की अल्प तीव्रता। इस तरह की असुविधाओं को प्रोफेसर लारेंस ने साइक्लोट्रॉन के आविष्कार से दूर कर दिया।

रचना एवं तकनीकी विस्तार — साइक्लोट्रॉन की एक साधारण रचना चित्र १. में दिखाई गई है। इसमें एक चपटी, बेलनाकार, निर्वातित कक्षिका C होती है, जिसके अंदर दो खोखले अर्धवृत्ताकार धातु के बक्स D_1 तथा D_2 रहते हैं। D_1 और D_2 को 'डीज़' (Dees) कहा जाता है, क्योंकि इनका आकार अंग्रेजी के शब्द डी (D) की तरह होता है। D_1 और D_2 के बीच १०,००० वोल्ट एवं उच्च आवृत्ति ($१०^७$ आवृत्ति) के क्रम का प्रत्यावर्ती विभव दिया जाता है। कक्षिका C एक विशाल विद्युच्चुंबक N S के बीच रहती है। विद्युच्चुंबक से प्राप्त लगभग १५,००० गाउस का क्षेत्र 'डीज़' के चपटे फलकों पर लंबत: कार्य करता है। s, जो 'डीज़' के केंद्र में होता है, आयनों का स्रोत है, जहाँ से त्वरण के लिये धनावेशित आयन प्राप्त होते हैं।
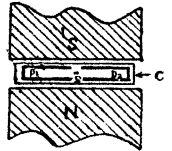
चित्र १.

सिद्धांतत: साइक्लोट्रॉन, सरल होते हुए भी, एक जटिल एवं मँहगा उपकरण है, जिसमें बहुत से नाजुक तकनीकी विस्तारों की आवश्यकता होती है:

(१) साधारणतया एक चपटे बेलनाकार कुछ इंच लंबे एवं ३० इंच या इससे अधिक व्यास के ताम्रतंतु बक्स, को दो भागों में काटकर, 'डीज़' का निर्माण किया जाता है।

(२) कक्षिका C पीतल की बनी होती है। इसके ऊपरी एवं निचले फलक, जो चुंबकीय क्षेत्र को कक्षिका के अंदर अधिक प्रबल करने में सहायक होते हैं, भारी इस्पात के बने होते हैं। कक्षिका के अंदर उच्च निर्वात स्थापित किया जाता है, जिससे आयनों की आपसी टक्कर कम से कम हो और मशीन की क्षमता कम न हो।

(३) शक्तिशाली विद्युच्चुंबक का भार कुछ सौ टन या इससे अधिक ही होता है। इस अधिक भार का कारण लोहे के ध्रुवखंड,

लपेट के लिये प्रयुक्त ताम्र तार आदि हैं। इस तरह साइक्लोट्रॉन भारी होने के साथ साथ महँगा भी हो जाता है।

(४) प्रक्षिप्त (आयन) के त्वरण के लिये उपयुक्त प्रत्यावर्ती विभव (~१०,००० वोल्ट्, $१०^{७}$ आवृत्ति) दोनों 'डीज' के मध्य स्थापित किया जाता है। यह विभव रेडियो तकनीक द्वारा प्राप्त किया जाता है।

(५) त्वरण के लिये धनावेशित आयन, गैस के आयनीकरण द्वारा प्राप्त किए जाते हैं। कक्षिका को निर्वातित करने के उपरांत उसमें आयनित गैस को लगभग $१०^{-४}$ सेंमी० दाब पर भर दिया जाता है जिसके धनावेशित आयन (हाइड्रोजन, ड्यूटेरियम, हीलियम) उपयोग में लाए जाते हैं। अब 'डीज' के ठीक ऊपर रखे हुए गरम फिलामेंट (F) से इलेक्ट्रॉनों की धारा 'डीज' के केंद्र में फेंकी जाती है जिससे गैस का आयनीकरण हो जाता है और धनावेशित आयन ऋणावेशित डी (D) की ओर आकृष्ट हो जाते हैं। तदुपरांत त्वरणक्रिया प्रारंभ हो जाती है।

(६) प्रक्षिप्तों को उनके सामान्य प्रक्षेपपथ से हटाकर टार्गेट पर फेंकने के लिये विक्षेपक इलेक्ट्रोड (deflector electrod) की आवश्यकता होती है। विक्षेप के लिये उच्च वोल्टता (~६०,००० वोल्ट्) इलेक्ट्रोड पर दी जाती है।

क्रिया सिद्धांत — उपकरण का क्रिया सिद्धांत चित्र २. में दिखाया गया है। S पर उत्पन्न धनावेशित आयन उस 'डी' की ओर आकृष्ट होगा जो उस क्षण ऋणावेशित होगा। अब आयन अर्धवृत्ताकार पथ पर चक्कर उस 'डी' को पार कर दोनों 'डीज' के मध्य के रिक्त भाग तक पहुँचेगा। अब यदि
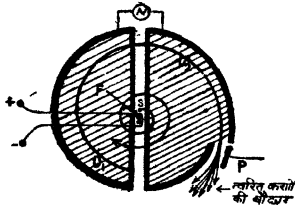
चित्र २.

प्रयुक्त प्रत्यावर्ती विभव की आवृत्ति एवं चुंबकीय क्षेत्र का मान इस तरह चुना जाय कि जब आयन दोनों 'डीज' के बीच रिक्त स्थान में पहुँचे, तब दूसरा डी (जो पहले धनावेशित था) ऋणावेशित हो जाय, अब आयन और अधिक वेग से उस 'डी' की ओर आकृष्ट हो जाएगा। चूंकि आयन का वेग अब और अधिक होगा, अत: वह और भी अधिक व्यास का अर्धवृत्ताकार पथ अपनाएगा। इस तरह जब भी आयन एक 'डी' को पार कर 'डीज' के मध्य के रिक्त भाग में पहुँचेगा, तब उसके सामने का 'डी' उसके लिये सदैव ही ऋणावेशित होगा। इस तरह आयन का वेग और उसकी ऊर्जा भी बढ़ती ही जाएगी। 'डीज' की परिमा पर ऋणावेशित विक्षेपक इलेक्ट्रोड P होता है, जो त्वरित आयनों को तत्पातरक्षा के लिये रखे गए टार्गेट पर फेंकता है।

संसार के कुछ प्रसिद्ध साइक्लोट्रॉन — यद्यपि बहुत सी तकनीकी कठिनाइयों के कारण साइक्लोट्रॉन का निर्माण आसान नहीं है, फिर भी बहुत से साइक्लोट्रॉन इन दिनों अनेक देशों में प्रयुक्त हो रहे हैं। इनमें से अधिकांश अमरीका में ही हैं। इंग्लैंड में कैंब्रिज, बर्मिंघम तथा लिवरपूल की प्रयोगशालाओं में साइक्लोट्रॉन हैं। लगभग एक एक साइक्लोट्रॉन पैरिस, कोपेनहेगेन, स्टॉकहोम, लेनिनग्राड एवं टोकियो में हैं। एक साइक्लोट्रॉन कलकत्ता (भारत) में भी है।

कैलिफोर्निया में बहुत से साइक्लोट्रॉनों के निर्माण की देखभाल प्रोफेसर लारेंस ने की है। लारेंस का पहला साइक्लोट्रॉन (१९३२ ई०) ५,००० वोल्ट्स प्रत्यावर्ती विभव एवं १४,००० गाउस चुंबकीय क्षेत्र द्वारा कार्यान्वित हुआ और १.२ मेव (Mev. अर्थात् Million Electron Volts) के प्रोटॉन दे सका था। लारेंस ने पुन: सन् १९३४-३६ में एक दूसरे साइक्लोट्रॉन का निर्माण किया, जो लगभग १०० टन से भी अधिक भारी था। इस मशीन से ८ मेव के ड्यूट्रॉन तथा १६ मेव के ऐल्फाकण उत्पन्न किए जा सकते थे। दुनियाँ के तमाम साइक्लोट्रॉन लारेंस के इस दूसरे साइक्लोट्रॉन (सन् १९३४-३६) के ही नमूने पर बने हुए हैं।

१९३९ ई० में प्रोफेसर लारेंस एवं उनके सहयोगियों ने और भी बड़े आकार एवं भारवाले साइक्लोट्रॉन का निर्माण किया। इस उपकरण में विद्युत् चुंबक का ही भार लगभग २०० टन था। इस उपकरण से लारेंस ८ मेव के प्रोटॉन, १६ मेव के ड्यूट्रॉन एवं ३८ मेव के ऐल्फा कण प्राप्त करने में सफल हुए।

अन्य प्रबल आयनत्वरक मशीनें — विगत कुछ वर्षों में साइक्लोट्रॉन से भी प्रबल त्वरक मशीनों का निर्माण हुआ है और हो भी रहा है। इन मशीनों से १००–१००० मेव ऊर्जा के कण प्राप्त किए जा सकते हैं। यद्यपि ये मशीनें भी साइक्लोट्रॉन की ही तरह तुल्यकालत्व (synchronism) अथवा अनुनाद (resonance) के मूलभूत सिद्धांत पर ही आधारित हैं, फिर भी इनमें नवीन तकनीक का समावेश है। ये मशीनें भी अंतरिक्ष किरणों द्वारा उत्पन्न काफी शक्तिशाली प्रक्षिप्तों के ही समान ऊर्जा कणों को उत्पन्न कर सकती हैं। इन मशीनों के नाम हैं: सिंक्रोसाइक्लोट्रॉन, बीटाट्रॉन एवं प्रोटॉनसिंक्रोट्रॉन।

सिंक्रो साइक्लोट्रान — १९४६ ई० में प्रोफेसर लारेंस ने इस मशीन का निर्माण किया। इस मशीन द्वारा २०० मेव के ड्यूट्रॉन एवं ४०० मेव के ऐल्फा कण प्राप्त किए जा सकते हैं। मशीनो

(mesons) को प्रयोगशाला में उत्पन्न करने के लिये इस मशीन का उपयोग किया गया है।

बीटाट्रॉन — १९४१ ई० में इस मशीन का निर्माण कर्स्ट (Kerst) ने सर्वप्रथम न्यूयार्क में किया। इस मशीन से १०० मेव के इलेक्ट्रॉन प्राप्त किए जा चुके हैं और ५०० मेव तक के इलेक्ट्रॉन प्राप्त किए जा सकते हैं।

प्रोटॉनसिंक्रोट्रॉन — १९४५ ई० में कैलिफॉर्निया के प्रोफेसर मैकमिलन ने सर्वप्रथम इस मशीन के निर्माण के लिये विचार रखा था। ब्रुकहैवन राष्ट्रीय प्रयोगशाला के वैज्ञानिकों ने एक ऐसा प्रोट्रॉन सिंक्रोट्रॉन (cosmotron) का निर्माण किया है जिससे ३ बेव (Bev. अर्थात् Billion Electron Volts) के प्रोट्रॉन प्राप्त किए जा सकते हैं। कैलिफॉर्निया विश्वविद्यालय में और भी बड़ी मशीन (बीवेट्रॉन) का निर्माण हुआ है जिससे लगभग ७ बेव के प्रोट्रॉन प्राप्त किए जा सकते हैं।

साइक्लोट्रॉन की उपयोगिता — साइक्लोट्रॉन की उपयोगिताएँ इतनी अधिक हैं कि उन सबको यहाँ उद्धृत करना संभव नहीं। फिर भी मुख्य उपयोगिताएँ यहाँ पर दी जा रही हैं। उच्च ऊर्जा के ड्यूट्रॉन, प्रोटॉन, ऐल्फ़ा कण एवं न्यूट्रॉन की प्राप्ति के लिये यह एक प्रबल साधन है। ये ही उच्च ऊर्जा कण नाभिकीय तत्वांतरण क्रिया के लिये उपयोग में लाए जाते हैं। उदाहरण स्वरूप साइक्लोट्रॉन से प्राप्त उच्च ऊर्जा के ड्यूट्रॉन बेरिलियम (${}_4Be^9$) टार्गेट की ओर फेंके जाते हैं जिससे बोरॉन (${}_5B^{10}$) नाभिकों एवं न्यूट्रॉनों का निर्माण होता है और साथ ही ऊर्जा (Q) भी प्राप्त होती है। संपूर्ण प्रक्रिया को निम्न रूप से प्रदर्शित कर सकते हैं :
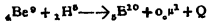
$${}_4Be^9 + {}_1H^2 \longrightarrow {}_5B^{10} + {}_0n^1 + Q$$

यह प्रक्रिया न्यूट्रॉन स्रोत का भी कार्य कर सकती है। बर्कले का साइक्लोट्रॉन यदि उपयोग में लाया जाय, तो बमवर्षक ड्यूट्रॉनो की ऊर्जा १९ मेव होगी। अत: पूरी प्राप्त ऊर्जा २३ मेव (१ मेव रिकॉयल बोरॉन नाभिक एवं लगभग २२ मेव न्यूट्रॉन) हो जाती है।

नाभिकीय तत्वांतरण के अध्ययन के शैक्षिक महत्व के अतिरिक्त यह रेडियो सोडियम, रेडियो फॉस्फ़ोरस, रेडियो आयरन एवं अन्य रेडियोऐक्टिव तत्वों के व्यापारिक निर्माण के लिये उपयोग में लाया गया है। रेडियोऐक्टिव तत्वों की प्राप्ति ने शोधकार्य में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। हर रेडियोऐक्टिव तत्व चिकित्सा, विज्ञान, इंजीनीयरी, टेक्नॉलोजी आदि क्षेत्रों में नए नए अनुसंधानों को जन्म दे रहा है। ये अनुसंधान निश्चय ही 'परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग' के ही अंश हैं। [शु० प्र० मि०]

साइक्लोस्टोमाटा (Cyclostomata) जलीय जंतुओं का एक समूह है जिसमें अधिकांश समुद्री जंतु हैं, पर कुछ नदी और झीलों में भी पाए जाते हैं। इस समूह में निम्न स्तर के जबड़ेहीन मत्स्यरूपी कशेरुकी चक्रमुखी (Cyclostomes) पाए जाते हैं, जिनके साथी सिल्यूरियन या डिवोनी कल्प में लुप्त हो चुके हैं। इनके मुख्य लक्षण ये हैं : शरीर लंबा, पतला और सर्पमीन आकार का होता है, केवल मध्यवर्ती पक्ष (fin) होते हैं और युग्म पक्ष तथा जबड़ा नहीं होता, चर्म पर शल्क भी नहीं होता, मुँह गोलाकार, चूषक और दाँती कूटयुक्त होता है, करोटि (खोपड़ी), कशेरुदंड तथा पक्ष के कंकाल उपास्थि (cartilage) के बने होते हैं, ६ से १४ गिल, फलक ग्रसनी (pharynx) के दोनों ओर पाए जाते हैं, केवल दो ही अर्ध गोलाकार नलियाँ अंत:कर्ण में पाई जाती हैं तथा इनके जीवन में बहुधा एक लार्वा होता है जिसको एमोसीटीज (Ammocoetes) कहते हैं।

चक्रमुखी (cyclostomes) यद्यपि मत्स्यरूपी होने के कारण मत्स्य जाति ही में गिने जाते थे, तथापि ये अब कशेरुकी के निम्न वर्ग में रखे जाते हैं और इनका वर्ग, मत्स्य जलस्थलचर, सरीसृप, पक्षिवर्ग, और स्तनी वर्ग के समान एक विशेष वर्ग है।

चक्रमुखी को कशेरुकी में रखने के निम्नलिखित कई कारण हैं : (क) मेरुरज्जु (spinal chord), जिसका अगला भाग मस्तिष्क बनाता है, खोखली और पृष्ठस्थ होती है, (ख) युग्म नेत्र और अंत:कर्ण होते हैं, (ग) कशेरु दंड बनना आरंभ होता है, जिसका अगला भाग करोटि बन जाता है, (घ) युग्म गिल फलक और खंडीय पेशीदेह होते हैं, (ङ) लाल और श्वेत रुधिर कोशिकाएँ मिलती हैं। परतु चक्रमुखी अन्य कशेरुकी प्राणियों से निम्नलिखित कारणों से भिन्न हैं : (क) इनके सिर का कोई निर्णय नहीं किया जा सकता, (ख) युग्म पक्ष या पक्ष वलय नहीं होते, (ग) जबड़े नहीं होते और कशेरुदंड भी पूरा नहीं बनता है तथा (घ) जनन नली नहीं होती है।

रूसी वैज्ञानिक बर्ग ने १९४० ई० में मत्स्यों का जो नया वर्गीकरण किया है उसे आज सभी मत्स्यविज्ञानी (Ichthyologist) मानते हैं। उन्होंने साइक्लोस्टोमाटा को दो वर्गों में विभाजित किया है : पेट्रोमाइज़ॉनिज़ (Petromyzones) और मिक्सिनाइ (Myxini)। पेट्रोमाइज़ॉनिज़ वर्ग में एक गण पेट्रोमाइज़ॉनि फ़ॉर्मीज (Petrcomyzoni formes) और एक ही कुल पेट्रोमाइज़ॉनटाइडी (Petromyzontidea) है। इसमें दो वंश हैं : (१) पेट्रोमाइज़ॉन (Petromyzon) और (२) मॉरडेशिया (Mordacia)। पहला वंश उत्तरी गोलार्ध में तथा दूसरा वंश दक्षिणी गोलार्ध में मिलता है। समुद्री पेट्रोमाइज़ॉन को पेट्रोमाइज़ॉन मेराइनस (P. marinus) और नदी नाले वाले को पेट्रोमाइज़ॉन फ्लुवियाटिलिस (P. fluviatilis) कहते हैं। मिक्सिनाइ वर्ग में भी एक ही गण मिक्सिनि फ़ार्मीज (Myxini formes) है परंतु इसके तीन कुल (families) हैं : (१) डेलोस्टोमाटाइडी (Bdellostomatidae), जिसमें डेलोस्टोमा (Bdellostoma) वंश है, (२) पैरामिक्सिनाइडी (Paramyxinidae), जिसका उदाहरण पैरामिक्साइन (Paramyxine) वंश है और (३) मिक्सीनॉइडी (Myxinidae) जिसका मिक्साइनी (Myxine) वंश विख्यात है। मिक्सिनाइ के कुछ मुख्य गुण ये हैं : (क) शरीर बामी के आकार का, चर्म शल्कहीन और कंकाल अस्थिहीन होता है, (ख) गिलकंकाल अपूर्ण और कशेरु नहीं होते, मुखगुहा छोटी और एक दाँत वाली होती है, (ग) इनकी आँखें अपविकसित होती हैं, जिनमें न तो चक्षु

देती और न चक्रनाड़ी होती है तथा (च) दोनों अर्धगोलाकार नलियाँ संमिलित हो जाने से एक ही अंतःकर्ण नली दिखाई देती है।

चक्रमुखी बामी के आकार के और एक से लेकर तीन फुट तक लंबे होते हैं। इनका चर्म बहुधा श्लेष्मायुक्त होता है, और मिक्साइनी में अधिक श्लेष्मा के कारण ये बहुत ही रपटीले होते हैं। गोलाकार चूषक मुँह के चारों ओर शृंगी दाँत (hornyteeth) होते हैं और बीचोबीच पिस्टन (piston) सदृश आगे पीछे चलनेवाली जिह्वा होती है। इनमें आमाशय नहीं होता और ग्रसिका (oesaphagus) के दो भाग होते हैं: (१) पृष्ठस्थ आहारनाल और (२) उदरस्थ श्वसननाल। यकृत के साथ पित्त नली नहीं बनती और क्लोम का निर्माण नहीं हुआ है।

श्वसन ७ से लेकर १४ गिलों द्वारा होता है जिनमें गिल दरारों से ही पानी गिल थैली के भीतर भी जाता है और बाहर भी (ऐसा किसी मछली में नहीं होता)।

करोटी (खोपड़ी) की रचना बहुत सी उपास्थियों (cartilages) से होती है, ऐसा अन्यान्य कशेरुकियों में नहीं पाया जाता। गिल समूह को सँभालने के लिये गिलतोरणों द्वारा एक क्लोम कंडी (branchial basket) बन जाता है, जिसके पश्च देश में एक प्याले जैसी हृदयावरणी नामक उपास्थि हृदय को स्थित रखती है। रुधिर नलिकाओं में यकृत केशिकातंक संस्थान तो होता है, परंतु वृक्कीय केशिकातंक संस्थान नहीं होता।

चक्रमुखी को सामान्य युग्म नेत्रों के अतिरिक्त शिवनेत्र जैसा मध्यवर्ती पिनियल नेत्र (pineal eye) भी होता है जो लेंस और दृष्टिपटल (retina) सहित पाया जाता है। इसके अतिरिक्त इनमें पीयूष काय (Pituitary body) भी होता है, जो कशेरुकी प्राणियों के पीयूष काय के सदृश होता है। इनके एमोसीटोज में एंडोस्टाइल (Endostyle) पाया जाता है, जो ऐंफिग्रॉक्सस (Amphioxus) और ऐसिडियन (Ascidian) के एंडोस्टाइल के सदृश होता है। पेट्रोमाइज़ॉनिज की सुषुम्ना नाड़ी में पृष्ठस्थ और उदरस्थ मूल अलग ही रह जाते हैं और अंतःकर्ण में दो ही अर्धगोलाकार नलियाँ होती हैं (जबकि और कशेरुकियों में तीन नलियाँ होती हैं), क्योंकि क्षैतिज (पट्ट) नलिका नहीं होती।

चक्रमुखी समुद्र में ९०० फुट की गहराई तक पाए जाते हैं, जैसे पेट्रोमाइज़ॉन मेराइनस परंतु कुछ अपना जीवन नदी नालों के मीठे जल में ही बिताते हैं, जैसे पेट्रोमाइज़ॉन फ्लुवियाटिलिस। यह उत्तरी और दक्षिणी अमरीका तथा यूरोप और आस्ट्रेलिया में पाया जाता है। भारत के नदी, नालों या समुद्रों में चक्रमुखी नहीं पाए जाते। ये अपने चूषक मुँह से बड़ी मछलियों के शरीर पर चिपक जाते हैं और उनके रुधिर एवं मांस का आहार करते रहते हैं। इनकी छीलने वाली जिह्वा से एक छिद्र बन जाता है जिसमें चक्रमुखी अपना प्रतिस्कंद (anticoagulent) रस डाल देता है। यह रस बड़ी मछली का रुधिर जमने नहीं देता, फलतः रुधिर गिरना बंद नहीं होता और चक्रमुखी के मुँह में सदा जाता रहता है। इसके आक्रमण से बड़ी बड़ी मछलियाँ तक मर जाती हैं। जब चक्रमुखी मछलियों पर स्थापित नहीं होते, तब अपनी शक्ति से समुद्र या नदियों में तैरते रहते हैं और प्रायः जल में डूबे पत्थरों या चट्टानों पर चिपके रहते हैं।

मिक्साइन में ऐसी भी जातियाँ हैं, जो भिन्न भिन्न मछलियों के शरीर के भीतर प्रवेश कर रुधिर और मांस सब खा लेती हैं, केवल अस्थि और चर्म बाकी रह जाता है। ऐसा पूर्ण परजीवी किसी भी कशेरुकी में नहीं पाया जाता। परंतु हाल ही में गहरे समुद्र की एक बामी मछली का पता चला है जिसका नाम साइमेनकेलिज (Simenchelys) रखा गया है। यह मिक्साइन के सदृश बड़ी मछलियों के शरीर में छिद्र बनाकर उनके भीतर परजीवी बन जाती है।

पेट्रोमाइज़ॉन के लिंग पृथक् पृथक् होते हैं। नर और मादा जनन के समय बड़ी मछलियों को वाहिनी बनाकर नदियों में बहुत दूर तक चले जाते हैं। वहाँ नदी नालों के तल पर छोटे छोटे कंकड़ों का घोंसला बनाकर उसमें मादा अंडे देती है। नर तब अपना शुक्र अंडों पर निष्कासित करता है और निषेचन होता है। अंडों से एमोसीटीज लार्वा निकलता है, जो अंग्रेजी अक्षर U की आकृति जैसे केंद्रीय मल में रहता है। यह रुधिर एवं मांस का आहार नहीं कर सकता पर अपनी ग्रसनी (pharynx) से छोटे छोटे जलप्राणियों को ऐंफिग्रॉक्सस या ऐसिडियन की तरह खाता है। समुद्री पेट्रोमाइज़ॉन इन्हीं एमोसीटीज लार्वा से बनता है, क्योंकि जितने भी वयस्क पेट्रोमाइज़ॉन समुद्र से नदी में जनन क्रिया के लिये जाते हैं वे सब वहीं मर जाते हैं, और समुद्र में लौटकर नहीं आते (यह ऐंग्विला ऐंग्विला-ईल मछली के बिलकुल विपरीत है, क्योंकि ईल नदी से समुद्र में जनन के लिये जाती हैं, और लौटकर नदियों में नहीं आतीं, वे वहीं मर जाती हैं)। [शं० मो० दा०]

साइगॉन स्थिति : ११° ०' उ० अ० और १०७° ०' पू० दे०। यह नगर एशिया के दक्षिण पूर्वी भाग में साइगॉन नदी पर स्थित है तथा दक्षिण वियतनाम की राजधानी है। मानसूनी जलवायु के अंतर्गत होने से यहाँ की जलवायु गरम है और वर्षा मानसूनी हवाओं से होती है। साइगॉन मेकांग नदी के उपजाऊ डेल्टा के निकट समुद्र से ४० मील भीतर साइगॉन नदी पर स्थित होने के कारण औद्योगिक एवं व्यापारिक नगर बन गया है। यहाँ ऑक्सीजन, कारबोलिक अम्ल, शराब, सिगरेट, दियासलाई, साबुन, साइकिल, चीनी, आदि का निर्माण होता है। यहाँ से चावल, मछली, कपास, रबर, चमड़ा, गोलमिर्च, खोपरा, गोंद, इमारती लकड़ी आदि का निर्यात होता है। यह रेल द्वारा टोनले सेप और मेकांग नदियों के संगम के ठीक नीचे स्थित नोम पेन्ह नामक प्रसिद्ध नगर से मिला हुआ है। उपर्युक्त सुविधाओं के कारण साइगॉन की जनसंख्या अधिक घनी हो गई है। साइगॉन सुंदर नगर है। सड़कों पर वृक्ष बड़े सुंदर ढंग से लगे हुए हैं। यहाँ की इमारतें, उद्यान, काफे और होटल बड़े आकर्षक हैं। इन कारणों से इसे पूर्वी देशों का पेरिस कहा जाता है। [रा० स० ख०]

साइनस को कोटर, नाल या विवर कहते हैं। शरीर की रचना के अनुसार शरीर का यह वह भाग है, जो वायु या रुधिर से भरा रहता है। वायुकोटर नासागुहा में खुलते हैं। विभिन्न अस्थियों के नाम पर इनके नाम दिए हुए हैं। रक्त से भरे कोटर को नाल या शिरानाल कहते हैं। ये तानिक नाल (sinus of durameter), हृदयस्थित नाल (sinus of heart) इत्यादि हैं, जो स्थानों के अनुसार विभिन्न नामों से अभिहित किए गए हैं। विवर अनेक स्थलों गुदा, महाधमनी, अधिवृक्क, वृक्क आदि पर पाए जाते हैं और स्थलों के अनुसार इनके विभिन्न नाम हैं।

साइनस उस रोग को भी कहते हैं जिसे हम नाड़ीव्रण या नासूर कहते हैं। इस रोग में प्रस्राव या पीप निकलता है, जो जल्दी अच्छा नहीं होता। अनेक दशाओं मे विवर के मध्य में बाह्य पदार्थों या मृत अस्थियों के कारण ऐसा होता है। इस रोग के बड़े बड़े विवर गाल या कपाल की अस्थियों में पाए जाते हैं। छोटे छोटे विवर नाक में होते हैं। इस रोग के कारण, मुख, कपाल या आँखों के पीछे एक निश्चित काल पर प्रति दिन पीड़ा होती है। कभी कभी नाक से प्रस्राव भी गिरते हैं। ऐसे प्रस्रावों के इकट्ठा होने और श्लेष्मिक कला के सूज जाने और प्रस्राव के न निकल सकने के कारण पीड़ा होती है।

दाँत के रोगों के कारण भी कोटर (antrum) आक्रांत हो सकता है। कभी कभी प्रस्राव में दुर्गंध रहती है, विशेषत: उस दशा में जब प्रस्राव आक्रांत कोटर से होकर निकलता है। ऐसे कोटर को बारंबार धोने से रोग से मुक्ति मिल सकती है। रोगमुक्ति के लिये साधारणतया शल्यकर्म की आवश्यकता नहीं पड़ती। अधिक से अधिक कोटर के छेद को बड़ा किया जा सकता है, ताकि उससे वह पूरा धोया जा सके। सर्दी जुकाम को रोकने और नाक की बाधाओं को हटाने, श्लेष्म या दाँत के रोगों का तत्काल उपचार करने से नाड़ीव्रण का आक्रमण रोका जा सकता है। उष्ण और हवा तथा प्रकाश रहित कमरे में रहने से और श्लेष्मा के कारण, नाड़ीव्रण के आक्रमण की संवेदनशीलता बढ सकती है।

[फू० स० व०]

साइनाइ प्रायद्वीप (Sinai Peninsula) स्थिति : २९° ०' उ० अ० तथा ३४° ०' पू० दे०। यह मिस्र का एक त्रिभुजाकार प्रायद्वीप है, जो स्वेज और अकाबा की खाड़ियों के मध्य स्थित है। इसके पूर्व में ट्रांसजार्डन, अरब तथा पैलेस्टाइन स्थित हैं। साइनाइ के भूमध्यसागरीय तट के किनारे किनारे रेत की पट्टी है, जो राफा के निकट सब से कम चौड़ी है। जैसे जैसे यह पश्चिम में स्वेज की ओर बढ़ती है इसकी चौड़ाई बढ़ती गई है। इस पट्टी के दक्षिण में चूना पत्थर की उच्च समभूमि है जिसे जिबेल एल तिह (Jebel el Tih) कहते हैं। इसका तल दक्षिण में ऊँचा होता जाता है और अंतिम ऊँचाई ४,००० फुट तक पहुँच गई है। जिबेल एल तिह शुष्क और गर्म है। इस भाग मे वादी एल आरिश (Wadi el Arish) नामक नदी बहती है, जो वर्ष के अधिकांश दिनों में सूखी रहती है। जिबेल एल तिह के दक्षिण में रेत और कंकड़युक्त क्षेत्र है जिसे डिबेट अर रेमलेह (Dibbet er Ramleh) कहते हैं। यह क्षेत्र उत्तर की उच्च समभूमि को दक्षिण के टार पर्वतों से अलग करता है। टार पर्वत ९,००० फुट ऊँचा है।

बाइबिल के प्राचीन भाग के अनुसार मूसा पर्वत (७,४९०) फुट, कैथरीन पर्वत (८,५५१ फुट) तथा सेरबेल पर्वत (६,७१२ फुट) में से कोई एक साइनाइ या होरेब पर्वत है। साइनाइ प्रायद्वीप का आधुनिक महत्व इसकी युद्ध संबंधी स्थिति तथा मैंगनीज के निक्षेपों के कारण है।

[नं० कु० रा०]

साइपरेसी (Cyperaceae) घास सदृश शाक का कुल है जिसके पौधे एकबीजपत्री तथा दलदली भूमि में उगते हैं। इस कुल के पौधे मुख्यत: बहुवर्षी होते हैं। साइपरेसी कुल के ८५ वंश और लगभग ३,२०० स्पीशीज ज्ञात हैं। ताड़कुल (Palmae) तथा लिलिएसी (Liliaceae) कुल के बीजों के अंकुरण की तरह साइपरेसी कुल के बीजों का अंकुरण होता है। प्रति वर्ष की नवीन शाखा पिछली पर्वसंधि से सलग्न रहती है। प्राय: तना वायव तथा त्रिभुजी होता है और पत्तियाँ तीन पंक्तियों में रहती हैं। सूक्ष्म पुष्प स्पाइकिका (spikelet) में व्यवस्थित रहते हैं। साइपीरस (Cyperus) वंश तथा कैरेक्स या नरइवंश (Carex) के फूल नग्न होते हैं। विरल दशा में ही फूल में छह शल्कवाला परिदलपुंज (perianth) रहता है। परिदलपुंज का प्रतिनिधित्व रोएँ या शूक से होता है। फल मे सामान्यत: तीन और कभी कभी दो पुंकेसर (stamen) होते हैं। स्त्री केसर (pistil) में दो या तीन अंडप होते हैं, जो मिलकर अंडाशय बनाते हैं जिसमें कई वर्तिकाएँ (style) एवं एक बीजांड (ovule) होता है। पुष्प प्राय: एकलिंगी (unisexual) होते हैं और वायु द्वारा परागण होता है। फल में एक बीज होता है तथा इसका छिलका कठोर एवं चर्म सदृश होता है। सपंस (Scirpus), रिंगकॉस्पोरा (Rynchospora), साइपीरस तथा कैरेक्स इस कुल के प्रमुख वंश हैं। कैरेक्स वंश के पौधे चटाई बनाने के काम में आते हैं।

[वि० भा० शु०]

साइप्रस (Cyprus) स्थिति : ३४° ३३' से ३५° ४१' उ० अ० तथा ३२° २०' से ३४° ३५' पू० दे०। भूमध्यसागर में स्थित बड़े द्वीपों में साइप्रस का तीसरा स्थान है। इसका क्षेत्रफल ३,५७२ वर्ग मील है तथा इसकी अधिकतम लंबाई १४१ मील और अधिकतम चौड़ाई ६० मील है।

इस द्वीप का अधिक भाग पहाड़ी है जिसकी ढाल पश्चिम से पूर्व की ओर है। यहाँ का ओलंपस पर्वत प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है। इस पहाड़ का सबसे ऊँचा भाग ६,४०६ फुट ऊँचा है, जो माउंट ट्रोडोस के नाम से विख्यात है। यहाँ की नदियाँ अत्यंत छोटी हैं तथा प्रमुख नदियाँ पेडियास एवं यालिस हैं। ये दोनों नदियाँ समांतर बहती हैं। पश्चिमी ढाल पर अत्यधिक वर्षा होने के कारण कभी कभी इन नदियों में पानी का अभाव हो जाता है, क्योंकि ये नदियाँ पूर्वी ढाल से निकलती हैं, जो वर्षाछाया क्षेत्र है। इन नदियों के मैदान में दलदली भाग अधिक है जिससे वहाँ मलेरिया का प्रकोप रहता है।

यहाँ का अधिकतम ताप २१·५ सें० और न्यूनतम ताप १५° सें० है। अक्टूबर से मार्च तक में २० इंच वर्षा होती है। यहाँ की आबादी में तुर्क एवं यूनानियों की संख्या अधिक है। यहाँ की जनसंख्या ६१,००० (१९६२) है। गेहूँ, जौ, जई, (oat) के अतिरिक्त फलों की खेती यहाँ व्यवस्थित रूप से की जाती है। नारंगी, अंगूर, अनार, तथा जैतून मुख्य फल हैं जिनकी खेती यहाँ होती है।

यहाँ से लोहा, ताँबा, ऐस्बेस्टॉस और जिप्सम का निर्यात होता है। यहाँ कुल १,१०० मील लंबे पक्के राजमार्ग तथा २,१०० मील लंबी कच्ची सड़कें हैं। देश में यातायात का कोई समुचित प्रबंध नहीं है। साइप्रस के तीन प्रमुख बंदरगाह तथा नगर फामागुस्टा, लिमासॉल और लारनाका हैं। निकोसिया का हवाई अड्डा बहुत महत्वपूर्ण है। निकोसिया यहाँ की राजधानी है।

[भू० कां० रा]

साइफ़ोज़ोआ (Scyphozoa) प्राणिजगत् के सीलेंटरेटा (Coelenterata) संघ का एक वर्ग है जिसके अंतर्गत वास्तविक जेलीफ़िश (Jellyfish) आते हैं। ये केवल समुद्र ही में पाए जानेवाले प्राणी हैं। इस वर्ग के जेलीफ़िश तथा अन्य वर्गों के जेलीफ़िशों के शारीरीय लक्षणों में अंतर होता है। साधारणतया ये बड़े तथा हाइड्रोज़ोआ (Hydrozoa) के मेडुसी (medusae) से भारी होते हैं।

इस वर्ग के जेलीफ़िश का जीवनवृत्त जटिल होता है। किसी किसी जेलीफ़िश के अंडे सीधे ही मेडुसा में परिवर्धित हो जाते हैं, परंतु ऑरीलिया (Aurelia) नामक जेलीफ़िश का जीवनवृत्त जटिल होता है। यह विशेष जलीफ़िश ब्रिटेन के समुद्रतटीय जल में पाया जाता है। यह एक पारदर्शी मेडुसा है। यह शरीर के घटाकृति भाग के प्रवाहपूर्ण संकुचन से तैरता है। ऑरीलिया का निषेचित अंडा मेडुसा (medusa) में परिवर्धित न होकर एक स्पष्ट रचनावाले पॉलिप (polyp) में, जिसे साइफ़िस्टोमा (Scyphistoma) कहते हैं, परिवर्धित होता है। यह तुरही के आकार का एक छोटा जीव है जिसमें सीमांत स्पर्शक (marginal tentacles) लगे रहते हैं। बाद में यह अपने अपमुख सिरे (aboral end) से किसी अन्य आधार से जुड़ जाता है।

साइफ़िस्टोमा मूलिकाओं (rootlets) या देहांकुरों को उत्पन्न करता है जिनसे नए पॉलिप मुकुलित (budded) होते हैं। साइफ़िस्टोमा बहुवर्षीय जीव है। इसमें एक निश्चित अवधि के बाद असाधारण परिवर्तन शुरू होता है। यह परिवर्तन भोजन की कमी अथवा अधिकता के कारण हो सकता है। पहली दशा में साइफ़िस्टोमा के ऊपरी हिस्से के ऊतक एक चक्रिका सदृश (disc like) रचना में बदल जाते हैं। बाद में यह संरचना पॉलिप से अलग होकर जल में तैरने लगती है। खाद्य पदार्थ की अधिकता के कारण चक्रिकाओं की संयुक्त श्रेणी बन जाती है। संपूर्ण पॉलिप का स्वरूप अब बदल जाता है। ये चक्रिकाएँ परिवर्धित होने के बाद पॉलिप से अलग होकर पानी में तैरने लगती हैं। वस्तुतः ये मेडुसा होते हैं जिनमें आठ भुजाएँ होती हैं। इन मेडुसाओं को एफ़िरा (Ephyra) कहते हैं। ये प्रौढ़ ऑरीलिया से रचना तथा आकार में सर्वथा भिन्न होते हैं। अपवाद स्वरूप ही कोई कोई चक्रिका मेडुसा के स्थान पर पॉलिप में परिवर्धित होती है।

इस प्रकार का जीवनवृत्त बहुरूपता (polymorphism) का, जिसमें पीढ़ी एकांतरण (alternation of generation) पाया जाता है, एक अच्छा उदाहरण है। स्थायी पॉलिप पीढ़ी का अस्थायी मेडुसा पीढ़ी से नियमित एकांतरण होता है। केवल मेडुसी ही लैंगिक होता है और अंडाणु (ova) तथा शुक्राणु (spermatozoa) उत्पन्न करता है। पॉलिप से मेडुसा बनने का यह तरीका, जो हाइड्रोज़ोआ के मेडुसा परिवर्धन से सर्वथा भिन्न है, साइफ़ोज़ोआ की एक विशिष्टता है।

साइफ़ोज़ोआ तथा हाइड्रोज़ोआ के मेडुसी में मुख्य अंतर यह है कि साइफ़ोज़ोआ के मेडुसी में, वीलम (velam) अनुपस्थित रहता है, आमाशय में आमाशयी तंतु (gastric filaments) उपस्थित रहते हैं तथा आमाशय के भीतरी कोष्ठों से बने आंतरिक जनन अंग पाए जाते हैं जबकि हाइड्रोज़ोआ में ऐसा नहीं होता।

अधिकांश साइफ़ोज़ोआ के स्पीशीज़ समुद्र के ऊपरी स्तर पर पाए जाते हैं। ये जलधारा के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहते हैं। ये शिकार को दंशकोशिकाओं (nematocysts) की सहायता से शक्तिहीन करके पकड़ लेते हैं। दंशकोशिकाएँ स्पर्शकों (tentacles) के बाहरी हिस्से में पाई जाती हैं। इस प्रकार शक्तिहीन किए गए शिकार को स्पर्शक मुँह के पास ले आते हैं, जहाँ वे चूसकर निगल लिए जाते हैं। [न० कु० रा०]

साइबीरिया स्थिति : ६०° ०' उ० अ० तथा १००° ०' पू० दे०। यह आर्कटिक महासागर, बेरिंग तथा ओकॉटस्क सागर, मंगोलिया, सोवियत मध्य एशिया और यूरेल पर्वत से घिरा उत्तरी एशिया में स्थित है। इसका क्षेत्रफल लगभग ५८,५०,००० वर्ग मील है। अधिकतम लंबाई (पूर्व से पश्चिम) लगभग ४,००० मील और अधिकतम चौड़ाई (उत्तर से दक्षिण) लगभग २,००० मील है। समुद्रतल से इस क्षेत्र की अधिकतम ऊँचाई १५,६१२ फुट है। यहाँ की जलवायु ठंढी एवं शुष्क महाद्वीपीय है तथा वर्षा का औसत १० इंच से १५ इंच है। भौगोलिक दृष्टि से साइबीरिया के तीन विभाग किए गए हैं :

(क) यूरेल पर्वत से येनिसे नदी तक पश्चिमी साइबीरिया की निम्न भूमि, (ख) येनिसे नदी से लीना तक मध्य साइबीरिया की पहाड़ी भूमि, और (ग) लीना नदी से बेरिंग तथा ओकॉटस्क सागर तक पूर्वी साइबीरिया की उच्च भूमि।

टुंड्रा, टैगा, मिले जुले वन, स्टेप्स के वन तथा स्टेप्स वाली घासें यहाँ की प्रमुख वनस्पतियाँ हैं। यूरेल, चर्स्की, वर्कोयंस्क एवं सायान प्रमुख पर्वतश्रेणियाँ और ऑब, येनिसे, लीना एवं आमूर प्रमुख नदियाँ हैं। बाइकाल प्रमुख झील है। ऑब, अनदिर तथा प्योजिन प्रमुख खाड़ियाँ और नॉवय ज़्यइमलिया, स्येव्यइरनय ज़्यइमलिया, न्यू साइबीरियन द्वीप तथा सैकलीन प्रमुख द्वीप हैं।

नोवोसिबिर्स्क, चिल्याबिंस्क, क्रुस्नोदस्क, व्लैडिवोस्टॉक, मैग्नीटोगोर्स्क, ओम्स्क आदि प्रमुख नगर हैं।

स्थान स्थान पर गेहूँ, जई, राई, आलू, सनी, सोयाबीन, चुकंदर आदि उपजाने के अतिरिक्त पशुपालन, तथा दूध का कारोबार होता है। सोना, लोहा, ताँबा, सीसा, जस्ता, चाँदी, मैंगनीज, टंग्स्टन, यूरेनियम, प्लैटिनम, कोयला, तेल और जलशक्ति की प्राप्ति के अतिरिक्त यहाँ आटा, चमड़ा, कपड़ों, गाड़ियाँ, हथियारों, रासायनिक पदार्थों, वस्त्र, लोहा, इस्पात, लकड़ी काटने आदि के उद्योग हैं। यहाँ बाइकाल झील के निकट अणुशक्ति का केंद्र भी है।

यहाँ आवश्यकतानुसार यातायात के साधनों का खूब विकास हुआ है। सन् १९१७ में साइबीरिया को मास्को सरकार से अलग रखने के असफल कम्युनिस्ट आंदोलन के बाद सन् १९२२ में संपूर्ण साइबीरिया आर० एस० एफ० एस० आर० का भाग हो गया। आजकल यहाँ की जनसंख्या लगभग २,४०,००,००० है।
[रा० स० ख०]

साउथ कैरोलाइना (South Carolina) संयुक्त राज्य अमरीका के पूर्वी राज्यों में से एक है। इसके उत्तर में उत्तरी कैरोलाइना, पश्चिम-दक्षिण में जार्जिया तथा पूर्व में ऐटलैंटिक महासागर स्थित हैं। राज्य का क्षेत्रफल ३१,०५५ वर्ग मील तथा जनसंख्या २३,८२,५९४ (१९६१) है। यहाँ के संपूर्ण क्षेत्रफल में से लगभग ७८३ वर्ग मील जलीय है। १९५० ई० से १९६० ई० की अवधि में यहाँ की जनसंख्या में १२·५% की वृद्धि हुई है। यहाँ प्रति वर्ग मील जनसंख्या का घनत्व ७८·७ है। यहाँ की जनसंख्या में १५,५१,०२२ (श्वेत), ८,२९,२९१ (नीग्रो), १,०९८ (भारतीय) तथा १४६ एशिया की अन्य जातियाँ संमिलित हैं।

इस राज्य को मुख्यतः तीन प्राकृतिक विभागों में विभक्त किया जा सकता है : (१) उत्तरी पहाड़ी पठारी प्रदेश, (२) मैदानी भाग तथा (३) दलदली एवं जलीय भाग।

साउथ कैरोलाइना कृषि एवं निर्माण उद्योगों के लिये प्रसिद्ध है। उत्तरी पहाड़ी प्रदेश जंगलों से ढँका होने के कारण लकड़ी व्यवसाय के लिये महत्वपूर्ण है। यहाँ के मुख्य खनिज केओलिन मिट्टी तथा इल्मेनाइट हैं। सन् १९५९ में यहाँ कृषि फार्मों की संख्या ७८,१७२ थी जिनका क्षेत्रफल ९१,४८,७४२ एकड़ था। औसत फार्म लगभग ११७ एकड़ के हैं। यहाँ की प्रमुख फसल कपास, धान, तंबाकू तथा मक्का है। जलविद्युत् का विकास सैंटी (Santee) नदी पर बाँध बनाकर किया गया है, जहाँ इस राज्य की संपूर्ण जलविद्युत् का ८५ प्रति शत उत्पन्न किया जाता है।

कोलंबिया (जनसंख्या ९७,४३३) यहाँ की राजधानी है। अन्य प्रमुख नगर ग्रीनवील (जनसंख्या ६६,१८८), चार्लस्टन (जनसंख्या ६५,९२५), स्पार्टनबर्ग (जनसंख्या ४१,३१६) हैं।
[भू० कां० रा०]

साउथ डकोटा (South Dakota) यह संयुक्त राज्य अमरीका का एक राज्य है। इसके उत्तर में उत्तरी डकोटा, पूर्व में मिनिसोटा, तथा आइओवा, दक्षिण में निब्रैसका और पश्चिम में वाइओमिंग (Wyoming) तथा मॉनटैना राज्य स्थित हैं। राज्य का क्षेत्रफल ७७,०४७ वर्ग मील तथा जनसंख्या ६,८०,५१४ (१९६० ई०) है। पीयर (Pierre) यहाँ की राजधानी है।

भौगोलिक दृष्टि से इस राज्य को निम्नलिखित ऊँचाईवाले भागों में बाँटा जा सकता है : (१) १,०००–२,००० मीटर ऊँचाई का क्षेत्र, (२) ५००–१,००० मीटर ऊँचाई का क्षेत्र, (३) २००–२५० मीटर ऊँचाई का क्षेत्र। यहाँ की मुख्य नदियाँ मिसिसिपी और जेम्स हैं। मिसिसिपी की सहायक नदी जेम्स है, जो यैंगटन स्थान पर इससे मिलती है। पश्चिम दिशा से आकर मिसिसिपी में मिलनेवाली नदियों में व्हाईट प्रमुख है।

कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त यहाँ खनिज पदार्थ भी अधिक पाए जाते हैं। इस भाग में फार्म का औसत क्षेत्रफल ८,०४८ एकड़ है तथा १९५९ में प्रत्येक प्रकार के फार्मों की संख्या ५५,७२७ थी जिनका संपूर्ण क्षेत्रफल ४,४८,५१,००० एकड़ था। यहाँ दूध देनेवाली गायों, भेड़ों, तथा सुअरों की संख्या लाखों में है। पहाड़ी एवं पठारी प्रदेश होने के कारण यहाँ मांस और मक्खन का उद्योग विकसित हुआ है।

सर्वप्रथम यहाँ १८७४ ई० में सोने की खान का अन्वेषण हुआ था। संपूर्ण संयुक्त राज्य का ३७% सोना यहाँ के होम्सटेक की खानों से प्राप्त किया जाता है। अन्य खनिज पदार्थों में चाँदी, लोहा, यूरेनियम, फेल्सपार, तथा जिप्सम हैं।

मुख्य नगरों में सूफाल्स (Sioux Falls ६५,४६६), ऐबरडीन (२३,०७३) ह्यूरन (१४,१८०) आदि हैं। [भू० कां० रा०]

साउथ वेस्ट अफ्रीका (South West Africa) इसके उत्तर में अंगोला और जैंबिया, पश्चिम में ऐटलैंटिक महासागर, पूर्व में बेचुआनालैंड तथा दक्षिण में दक्षिणी अफ्रीका स्थित हैं। क्षेत्रफल ३,१७,७२५ वर्ग मील है। न्यूनतम वर्षा के कारण यह प्रदेश शुष्क है और कृषि का विकास नहीं हो पाया है। रेगिस्तान का विस्तार आरेंज नदी के दक्षिण से कुनेन (Kunene) नदी के उत्तर तक है। पूर्वी भाग में चरागाही होती है। मुख्य नदियों में कुनेन, ओकावांगो, जांबसी तथा आरेंज है। इनके अतिरिक्त ऐसी नदियाँ भी हैं जो प्रायः सूखी रहती हैं जिनमें से क्वीसेब, स्वाकोप, उगेल, फीश, नासोब, एनोब तथा एलिफैंट नदियाँ प्रसिद्ध हैं।

१९६० ई० की जनगणना के अनुसार यहाँ ७३,४६ श्वेत, ४,२८,५७५, बांटू (Bantu) जाति तथा अन्य लोग २३,९६३ हैं। इस भाग की आदिम जातियों में ओवांबोस, हेरेरोस, बर्ग डामास, नामास तथा बुशमैन हैं। ओवांबोस मुख्यतः कृषि करते हैं तथा पशु पालते हैं। बर्ग डामास की भाषा नामा है। बुशमैन रेगिस्तानी प्रदेश में निवास करते हैं। यहाँ शिक्षा का विकास नहीं हुआ है। यहाँ केवल ६० सरकारी स्कूल हैं जिनमें विदेशियों को शिक्षा दी जाती है। आदिम जातियों की शिक्षा मिशन द्वारा होती है।

शुष्क प्रदेश होने के कारण पशुपालन लोगों का मुख्य उद्यम है। (१९६१ ई० में) यहाँ गायों की संख्या २१,१७,११२, भेड़ एवं बकरी ४०,९७,६३३, घोड़े ३३,४९१ तथा सुअर १६,७६५ हैं। मक्खन तथा पनीर बहुतायत से होता है। खनिज पदार्थों में हीरा आरेंज नदी के उत्तरी भाग के अलोढ़ उच्च वेदिकाओं (alluvial terraces) में पाया जाता है। अन्य खनिजों में टीन, चाँदी, तथा मैंगनीज मुख्य हैं। यहाँ कुल १,४८६ मील रेल मार्ग है। सड़कों का भी विकास नहीं हो पाया है। साप्ताहिक बसें करासबर्ग (Karasburg) से केपटाउन तक चलती हैं। वालिस की खाड़ी से जहाजों द्वारा आयात-निर्यात किया जाता है। इसकी राजधानी विंडहुक (Windhock) है। [भू० का० रा०]

साउथ सी आइलैंड प्रशांत महासागर को साउथ सी भी कहते हैं। अत: प्रशांत महासागर के द्वीपसमूहों को साउथ सी आइलैंड भी कहते हैं (देखें प्रशांत महासागरीय द्वीपपुंज)।

साउथैंपटन इंग्लैंड के दक्षिणी भाग, हैंपशिर काउंटी में लंदन से ७६ मील दक्षिण-पश्चिम में टेस्ट और ईचिन नदियों के मुहाने पर बसा हुआ है। यह नगर पश्चिमी यूरोप तुल्य जलवायु के प्रदेश में पड़ता है। प्राचीन समय से यह एक प्रसिद्ध बंदरगाह रहा है। आज भी दक्षिण अमरीका, पूर्वी अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और सुदूरपूर्व के देशों को जहाज यहीं से ही जाते हैं। इंग्लैंड के बंदरगाहों में इसका तीसरा स्थान है और मुसाफिरों के यातायात की दृष्टि से पहला स्थान है। यहाँ का प्रमुख उद्योग जहाज निर्माण, जहाज मरम्मत, गोदी का निर्माण आदि है। छोटे छोटे उद्योग भी अनेक हैं जिनमें तेल के परिष्कार का कारखाना नया और महत्व का है। प्राचीन किलेबंदी के अनेक ऐतिहासिक महत्व के खंडहर यहाँ विद्यमान हैं। यहाँ प्रति दिन दो ज्वार भाटे आते हैं। यहाँ की शुष्क गोदी संसार की सर्वाधिक बड़ी गोदी है। निकट में सैनिक शिक्षा शिविर होने से यह अच्छा सामरिक बंदरगाह भी बन गया है। [रा० स० स०]

साऊदी अरब स्थिति : २६° ०' उ० अ० तथा ४४° ०' पू० दे०। यह दक्षिण-पश्चिम एशिया में स्थित अरब प्रायद्वीप का सबसे बड़ा राष्ट्र है। इसके उत्तर में जॉर्डन तथा इराक, उत्तर-पूर्व में कुवैत, पूर्व में फारस की खाड़ी, कॉतॉर (Qatar) एवं ओमन तथा दक्षिण में येमन, अदन एवं मस्कैत आदि हैं। फारस की खाड़ी इसकी पूर्वी सीमा पर ३०० मील की लंबाई में फैली है, जबकि पश्चिमी समुद्री तट जॉर्डन के एल-अकाबा से यमन तक १,१०० मील तक लंबा है। इसका कुल क्षेत्रफल लगभग ६,००,००० वर्ग मील है। लालसागर के किनारे किनारे समुद्री मैदान फैला है तथा उत्तर में हिजाज पर्वत एवं दक्षिण में ऐसीर पहाड़ी फैली हुई है। मध्य का नज्द भाग पठारी है, जो पश्चिम में लगभग ५,००० तथा पूर्व में लगभग २,००० फुट ऊँचा है। लगभग १,५०० फुट ऊँचा एवं ३५ मील चौड़ा देहाना रेगिस्तान नज्द को पूर्वी निम्न प्रदेश से अलग करता है। यहाँ का लगभग एक तिहाई भाग रेगिस्तानी है। रब-ऐल-खाली सबसे बड़ा मरुस्थल है, जो दक्षिणी भाग में स्थित है तथा लगभग २,५०,००० वर्ग मील में फैला है। यहाँ पर दो झीलें भी हैं। पूर्वी भाग में पातालफोड़ कुएँ बहुत बड़ी संख्या में हैं। पश्चिमी भाग के वर्षा के जल के पृथ्वी के नीचे नीचे बहकर पूर्वी भाग में सतह के ऊपर आ जाने से इन कुओं की उत्पत्ति हुई है।

यहाँ की जलवायु गर्म तथा शुष्क है और धूल तथा बालू के तूफान चला करते हैं। रात एवं दिन के ताप में बहुत अंतर रहता है। देश के मध्य भाग में वर्ष के सबसे गर्म समय, मई से सितंबर तक, का ताप ५४° सें० तक पहुँच जाता है। समुद्री तटों मुख्यतया पूर्वी तट पर ताप कुछ कम रहता है, किंतु नमी की मात्रा बढ़ जाती है जिसके कारण बहुत अधिक कोहरा पड़ता है। अक्टूबर से मई तक शाम का ताप १५° से २१° सें० के मध्य रहता है। बारान में औसत वर्षा ४ इंच से ६ इंच तक है, जो मुख्यतया नवंबर से मई के बीच होती है। ऐसीर क्षेत्र में २० इंच तक वर्षा हो जाती है।

मिट्टी में खारापन होने तथा जलवायु के शुष्क होने के कारण यहाँ वनस्पति का अभाव है। इमली, जुनिपर, टैमरिस्क (एक गुल्म विशेष), बबूल तथा खजूर यहाँ के प्रमुख वृक्ष हैं। चौपायों में सबसे प्रमुख ऊँट है, जो यहाँ का सब कुछ है। अन्य जंगली जानवरों में हरिण (Gazzelle), ऑरिक्स (Oryx), जरबोआ (एक प्रकार का रेगिस्तानी खरगोश), भेड़िए, लोमड़ी, जंगली बिल्ली, तेंदुए, बंदर, गीदड़ आदि मिलते हैं।

यहाँ के घुमक्कड़ बद्दू लोगों के कारण सही जनसंख्या प्राप्त नहीं हो पाती है। यहाँ की जनसंख्या में ५०% बद्दू लोग हैं। २५% जनसंख्या नगरों में निवास करती है। यहाँ की सरकार द्वारा, अभी कुछ वर्षों पहले, कराई गई जनगणना के अनुसार यहाँ के नगरों की जनसंख्या इस प्रकार है : रियाद (३,००,०००), मक्का (२,००,०००) जेद्दा (२,५०,०००), मदीना (५०,०००), तैफ (३०,०००), एल दमाम (२०,०००) थी। यहाँ १०,००० से अधिक जनसंख्यावाले २० नगर हैं। यहाँ की प्रमुख भाषा अरबी है। यहाँ का प्रमुख धर्म इस्लाम (सुन्नी) है। इस्लाम धर्म का यह केंद्र है।

कृषि की दृष्टि से तीन स्थान प्रमुख हैं : १. ऐसीर का उच्च प्रदेश तथा इससे संबद्ध हिजाज का उच्च प्रदेश, २. ऐसीर का समुद्रतटीय भाग तथा हेजाज का उत्तरी भाग और ३. नखलिस्तान। खजूर, ज्वार, बाजरा तथा गेहूँ यहाँ की प्रमुख उपज है। शहरी लोगों को छोड़कर अधिकांश लोगों का मुख्य भोजन खजूर है। पूर्वी क्षेत्र में हासा मरूद्यान में धान उगाया जाता है। यहाँ तरबूज और कॉफी भी उगाई जाती है।

पेट्रोलियम यहाँ का सबसे प्रमुख खनिज पदार्थ है। इसके अतिरिक्त चाँदी एवं सोने का भी खनन किया जाता है। लोहे एवं जिप्सम के भंडार का भी पता चला है।

पेट्रोलियम शोधन सबसे प्रमुख उद्योग है। सरकार की आय का सबसे बड़ा साधन खनिज तेल ही है। अन्य हल्के उद्योग बहुत थोड़ी मात्रा में हैं।

साखी साखी संस्कृत साक्षि (साक्षी) का रूपांतर है। संस्कृत साहित्य में आँखों से प्रत्यक्ष देखनेवाले के अर्थ में साक्षी का प्रयोग हुआ है। कालिदास ने कुमारसंभव (५, ६०) में इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। सिद्धों के अपभ्रंश साहित्य में भी प्रत्यक्षदर्शी के रूप में साखी का प्रयोग हुआ है; जैसे 'साखि करब जालधर पाए' (सिद्ध कण्हपा)।

आगे चलकर नाथ परंपरा में गुरुवचन ही साखी कहलाने लगे। इनकी रचना का सिलसिला गुरु गोरखनाथ से ही प्रारंभ हो गया जान पड़ता है, क्योंकि खोज में कभी कभी 'जोगेसर' साखी जैसे पद्यसंग्रह मिल जाते हैं।

आधुनिक देशी भाषाओं में विशेषतः हिंदी निर्गुण संतों में साखियों का व्यापक प्रचार निस्संदेह कबीर द्वारा हुआ। गुरुवचन और संसार के व्यावहारिक ज्ञान को देनेवाली रचनाएँ साखी के नाम से अभिहित होने लगीं। कबीर ने कहा भी है, 'साखी आँखी ज्ञान की'। कबीर के पूर्ववर्ती संत नामदेव की 'साखी' नामक हस्तलिखित प्रति भी मिली है परंतु उसका संकलन उत्तर भारत, संभवतः पंजाब में हुआ होगा, क्योंकि महाराष्ट्र में नामदेव की वाणी पद या अभंग ही कहलाती है, साखी नहीं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार दादूदयाल के शिष्य रज्जब ने अपने गुरु की साखियों को अंगों में विभाजित किया। रज्जब का काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी है — कबीर के लगभग सौ वर्ष बाद। कबीर वचनावली में साखियाँ विभिन्न अंगों में पाई जाती हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कबीर वचनावली का संग्रह रज्जब के पश्चात् हुआ होगा। कबीर ने तो 'मसि कागद छूयो नहीं' अतएव संभावना यही है कि उनके परवर्ती शिष्यों ने अपने गुरु की साखियों — सिखावनों — को विभिन्न अंगों में विभाजित कर दिया होगा।

साखी अपभ्रंश काल के बहुप्रचलित छंद 'दूहा' (दोहा) में लिखी जाती रही है अतः 'दूहा' का पर्याय भी समझी जाती रही है परंतु तुलसीदास के समय तक वह दोहा का पर्याय नहीं रह गई। इसी से तुलसीदास ने उसे दोहरा से पृथक् कहा है—

'साखी', सबदी, दोहरा, कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं अधम कवि, निंदहिं वेद पुरान।।'

तुलसीदास का समय ईसा की सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी है। प्रतीत होता है कि कबीर के समय से अथवा उनसे भी पहले साखी दोहा के अतिरिक्त चौपाई, चौपई, सार, छप्पय, हरिपद आदि छंदों में भी लिखी जाने लगी थी। 'गुरु ग्रंथसाहब' में साखी को सलोकु कहा गया है।

मराठी साहित्य में भी हिंदी के प्रभाव से साकी या साखी का चलन हो गया था। वहाँ भी पहले वह 'दोहरा' छंद में लिखी जाती थी। पर क्रमशः अन्य छंदों में भी प्रयुक्त होने लगी। तुलसीदास के समान मराठा संत स्वामी रामदास ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दासबोध' में उसकी अन्य काव्यप्रकारों से पृथक् गणना की है—

'नाना पदें, नाना श्लोक,
नाना वीर, नाना कड़क,
नाना साख्या, दोहरे अनेक,
नामाभिधान।'

ना० ग० जोशी ने अपनी मराठी छंदोरचना में किसी भी लयबद्ध उक्ति का नाम 'साखी' निरूपित किया है।

सं० ग्रं० — हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य; परशुराम चतुर्वेदी : कबीर साहित्य की परख; तुलसी ग्रंथावली; रामदास : दासबोध (मराठी); ना० ग० जोशी : मराठी छंदोरचना।

[वि० मो० श०]

सागर १. जिला, यह भारत के मध्य प्रदेश राज्य का जिला है जिसका क्षेत्रफल ३,९६१ वर्ग मील एवं जनसंख्या ७,९६,५४७ (१९६१) है। इसके उत्तर में उत्तर प्रदेश का झाँसी जिला, पश्चिम में विदिशा, पश्चिम-दक्षिण में रायसेन, दक्षिण में नरसिंहपुर, पूर्व में दमोह, पूर्व उत्तर में छतरपुर जिले हैं। जिले का अधिकांश दक्कन ट्रैप (trap) से ढँका हुआ है। जिले की विंध्य पहाड़ियाँ विरल जंगलों से ढँकी हैं। जयसिंहनगर एवं राहतगढ़ के समीप के जंगलों में केवल टीक के वृक्ष हैं। जिले के कुछ क्षेत्रों में चंदन के वृक्ष भी मिलते हैं। पहाड़ियों की ढालों पर बाँस के जंगल हैं। साँभर, नीलगाय, सुअर, बारहसिंहा एवं चित्तीदार हरिण मुख्य वन्य पशु हैं। मोर, तीतर, भट्टतीतर आदि पक्षी यहाँ मिलते हैं। जिले की प्रमुख नदियाँ सोनार, बेवस, धसान, बीना एवं बेतवा हैं। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा ४७ इंच है। जिले की जलवायु स्वास्थ्यवर्धक है। चना, ज्वार, कोदो, तिल, गेहूँ और अलसी यहाँ की प्रमुख फसलें हैं।

२. नगर, स्थिति : २३° ५१' उ० अ० तथा ७८° ४५' पू० दे०। यह नगर उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक नगर है, जो बंबई से ६५४ मील पूर्व में स्थित है। नगर का नाम सागर नामक झील पर पड़ा है। नगर इस झील को चारों ओर से घेरे हुए है और समुद्रतल से १,७०० फुट की ऊँचाई पर विंध्य पहाड़ियों के पर्वतस्कंधों पर स्थित है। नगर में कोई कारखाना नहीं है और यहाँ का प्राचीन रजत-स्वर्ण-उद्योग पनप नहीं रहा है। नगर में एक प्राचीन मराठा किला है जिसमें अब पुलिस स्कूल स्थित है। यहाँ सागर विश्वविद्यालय नामक एक विश्वविद्यालय भी है। नगर की जनसंख्या १,०४,६७६ (१९६१) है।

[अ० ना० मे०]

सागरसंगम यह लैटिन भाषा के एस्चुएरियम (aestuarium) शब्द से बना है जिसका तात्पर्य एक ऐसे नदीमुख से है, जहाँ ज्वारतरंगें पहुँच सकें। फलतः इस्चुअरी एक कीप के आकार की खाड़ी भी कही जा सकती है, जो नदीजल तथा सागरीय जल के पारस्परिक संघर्ष की रंगस्थली हो। ऐसी परिस्थितियाँ विशेषरूप से उन तटीय प्रदेशों में उत्पन्न हो जाती हैं, जहाँ तटरेखा निमज्जित हो रही हो अथवा हो चुकी हो। उत्तरी अमरीका के ऐटलैंटिक तट पर ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं, जैसे पेसमक्वॉडि, मैरीमैक, हडसन नदीमुख, डिलावेयर तथा चेसापीक

की खाड़ी आदि। इंग्लैंड में टेम्स तथा सेवर्न के नदीमुख भी रोचक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इनमें वैसे ही नदियाँ प्रविष्ट होती हैं, ज्वारतरंगों तथा सागरीय जल के खारेपन के कारण अपने मलबे को त्याग देती हैं। शक्तिशाली भाटातरंगें मलबे का पुनः सर्जन करती हैं। ऊपरी ब्रिस्टल चैनेल के मटमैले जल में इस क्रिया का स्पष्ट दर्शन होता है। [से० रा० सि०]

सागूदाना (साबूदाना) कुछ हिंदू विशिष्ट अवसरों पर व्रत रखते हैं। उस दिन या तो वे बिल्कुल आहार नहीं करते या केवल फलाहार करते हैं। फलों में अनेक कंदमूल और नाना प्रकार के फल आते हैं। सागूदाना की गणना भी फलाहारों में होती है। सागूदाना यद्यपि स्टार्च का बना होता है, जो अधिकांश अनाजों में पाया जाता है पर इसकी गणना फलाहारों में कैसे हुई, इसका कारण ठीक ठीक समझ में नहीं आता। पंडितों का कहना है कि प्राचीन काल में जब ऋषि मुनि जंगलों में रहते थे, तब जंगल में उगे ताल वृक्षों की मज्जा (pith) से प्राप्त साबूदाना को फलाहार में गिनने लगे।

आज अनेक पेड़ों की मज्जा से साबूदाना तैयार होता है। ये पेड़ सागू ताल कहे जाते हैं। ये अनेक स्थानों पर उपजते हैं। भारत के मद्रास राज्य क सेलम जिले और केरल राज्य में भी ये पेड़ उपजते हैं। ये पेड़ मेट्रोजाइलन सागू और मेट्रोजाइलन रमफिग्राइ (Metroxylon sagu and M. rumphii) हैं। ये दलदली भूमि में उपजते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कई ताल वृक्ष हैं जिनकी मज्जा से साबूदाना प्राप्त हो सकता है। ये पेड़ ३० फुट तक लंबे होते हैं। १५ वर्ष पुराने होने पर उनके स्तंभ की मज्जा में पर्याप्त स्टार्च रहता है। यदि पेड़ को फूलने तथा फलने के लिये छोड़ दिया जाय, तो मज्जे का स्टार्च फल में चला जाता है और स्तंभ खोखला हो जाता है। फल के पकने पर पेड़ सूख जाता है। साबूदाना की प्राप्ति के लिये पुष्पक्रम बनते ही पेड़ को काटकर छोटे छोटे टुकड़ों में काटते हैं और उसके स्तंभ की मज्जा का निष्कर्षण कर लेते हैं। इससे चूर्ण प्राप्त होता है। चूर्ण को पानी से गूँधकर छनने में छान लेते हैं, जिससे स्टार्च के दाने निकल जाते और काष्ठ के रेशे छनने में रह जाते हैं। स्टार्च पात्र के पेंदे में बैठ जाता और एक या दो बार पानी से धोकर उसको खाने में प्रयुक्त करते हैं। स्टार्च को पानी के साथ लेई बनाकर चलनी में दबाकर सरसों के बराबर छोटे छोटे दाने बना लेते हैं। भारत में जो साबूदाना प्राप्त होता है उसे कैसावा (Cassava) या टैपिओका के पेड़ की जड़ से प्राप्त करते हैं। इसके परिपक्व कंदों को बड़े बड़े नाँदों में पानी में डुबाकर दो या तीन दिन रखते हैं। उसे फिर छीलकर चानी (hopper) में रखकर काटने की मशीन में महीन काट लेते हैं। फिर उसे पानी के जोर के फुहारे से प्रक्षुब्ध करते हैं जिससे स्टार्च से रेशे अलग हो जाते हैं। फिर उन्हें नाँदों में रखने से स्टार्च नीचे बैठ जाता है और रेशे ऊपर से निकाल लिए जाते हैं। स्टार्च अब गाढ़ा लेप बनता है जिससे सागूदाने के छोटे छोटे गोलाकार दाने प्राप्त होते हैं। सागूदाना खाने के काम में आता है। यह जल्द पच जाता है, अतः रोगियों के पथ्य के रूप में इसका व्यापक व्यवहार होता है। [सा० जा०]

कैसावा या टैपिओका (Manihoputillisma)

शाखा, पत्तियाँ तथा ज ज जड़ों से प्राप्त मंड या स्टार्च से सागूदाना तैयार किया जाता है।

सागौन या टीकवुड का वानस्पतिक नाम टेक्टोना ग्रैंडिस (Tectona grandis)। यह बहुमूल्य इमारती लकड़ी है। संस्कृत में इसे 'शाक' कहते हैं। लगभग दो सहस्र वर्षों से भारत मे यह ज्ञात है और अधिकता से व्यवहृत होती आ रही है। वर्बीनेसी (Verbenaceae) कुल का यह बृहत्, पर्णपाती वृक्ष है। यह शाखा और शिखर पर ताज ऐसा चारों तरफ फैला हुआ होता है। भारत, बरमा और थाइलैंड का यह देशज है, पर फिलिपाइन द्वीप, जावा और मलाया प्रायद्वीप में भी पाया जाता है। भारत में अरावली पहाड़ में पश्चिम में २४° ५०′ से २५° ३०′ पूर्वी देशांतर अर्थात् झाँसी तक में पाया जाता है। असम और पंजाब में यह सफलता से उगाया गया है। साल में ५० इंच से अधिक वर्षावाले और २५° से ३०° सें० तापवाले स्थानों में यह अच्छा उपजता है। इसके लिये ३००० फुट की ऊंचाई के जंगल अधिक उपयुक्त हैं। सब प्रकार की मिट्टी में यह उपज सकता है पर पानी का निकास रहना अथवा अधोभूमि का सूखा रहना आवश्यक है। गरमी में इसकी पत्तियाँ झड़ जाती हैं। गरम स्थानों में जनवरी में ही पत्तियाँ गिरने लगती हैं पर अधिकांश स्थानों में मार्च तक पत्तियाँ हरी रहती हैं। पत्तियाँ एक से दो फुट लंबी और ६ से

१२ इंच चौड़ी होती है। इसका लच्छेदार फूल सफेद या कुछ नीलापन लिए सफेद होता है। बीज गोलाकार होते हैं और पक जाने पर गिर पड़ते हैं। बीज में तेल रहता है। बीज बहुत धीरे धीरे अँकुरते हैं। पेड़ साधारणतया १०० से १२० फुट ऊँचे और धड़ ३ से ८ फुट व्यास के होते हैं।

धड़ की छाल आधा इंच मोटी, धूसर या भूरे धूसर रंग की होती है। इसका रसकाष्ठ सफेद और अंतःकाष्ठ हरे रंग का होता है। अंतःकाष्ठ की गंध सुहावनी और प्रबल सौरभवाली होती है। गंध बहुत दिनों तक कायम रहती है।

सागौन की लकड़ी बहुत अल्प सिकुड़ती और बहुत मजबूत होती है। इसपर पॉलिश जल्द चढ़ जाती है जिससे यह बहुत आकर्षक हो जाती है। कई सौ वर्ष पुरानी इमारतों में यह ज्यों की त्यों पाई गई है। दो सहस्र वर्षों के पश्चात् भी सागौन की लकड़ी अच्छी अवस्था में पाई गई है। सागौन के अंतःकाष्ठ को दीमक आक्रांत नहीं करतीं यद्यपि रसकाष्ठ को खा जाती हैं।

सागौन उत्कृष्ट कोटि के जहाजों, नावों, डोंगियों इत्यादि, भवनों की खिड़कियों और चौखटों, रेल के डिब्बों और उत्कृष्ट कोटि के फर्नीचर के निर्माण में प्रधानतया प्रयुक्त होता है।

अच्छी भूमि पर दो वर्ष पुराने पौध (sudling), जो ५ से १० फुट ऊँचे होते हैं, लगाए जाते हैं और लगभग ६० वर्षों में यह औसत ६० फुट का हो जाता है और इसके धड़ का व्यास डेढ़ से दो फुट का हो सकता है। बरमा में ८० वर्ष की उम्र के पेड़ का घेरा २ फुट व्यास का हो जाता है, यद्यपि भारत में इतना मोटा होने में २०० वर्ष लग सकते हैं। भारत के ट्रावनकोर, कोचीन, मद्रास, कुर्ग, मैसूर, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के जंगलों के सागौन की उत्कृष्ट लकड़ियाँ अधिकांश बाहर चली जाती हैं। बरमा का सागौन पहले पर्याप्त मात्रा में भारत आता था पर अब वह वहीं से ही बाहर चला जाता है। थाईलैंड की लकड़ी भी पाश्चात्य देशों को चली जाती है।

साझेदारी (Partnership) व्यापार संगठन की साझेदारी पद्धति का जन्म एकाकी व्यापारी की सीमाओं के कारण हुआ। एकाकी व्यापार पद्धति यद्यपि कार्यकुशलता तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए लाभ के पारस्परिक संबंध के दृष्टिकोण से अन्य व्यापार पद्धतियों से श्रेष्ठ मानी जाती है किंतु आजकल के श्रमविभाजन तथा बड़े पैमाने के व्यापार के युग में उसके गुण छोटे पैमाने के व्यापार अथवा उन एकाकी व्यापारियों तक सीमित हैं जिनमें उत्पत्ति के विभिन्न साधनों (जैसे धन, उद्यम तथा कार्यकुशलता आदि) का समावेश उचित मात्रा में हो। भारतीय साझेदारी विधान के अनुसार साझेदारी उन व्यक्तियों का पारस्परिक संबंध है जो सब अथवा सबके लिये कुछ स्थानापन्न के रूप में मिलकर व्यापार करने तथा उसके लाभ को आपस में विभाजित करने के लिये सहमत हो जाते हैं। इस परिभाषा के अनुसार साझेदारी के निम्नलिखित लक्षण हैं : (१) साझेदारी के लिये एक से अधिक व्यक्तियों का होना आवश्यक है किंतु साझियों की संख्या २० तथा बैंकिंग व्यवसाय में १० से अधिक नहीं होनी चाहिए। (२) संबंधित व्यक्तियों का व्यापार करने के लिये सहमत होना आवश्यक है। दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों का किसी संपत्ति से प्राप्त आय का आपस में विभाजन करना साझेदारी नहीं कहलाता, (३) उनमें व्यापारिक लाभ हानि को आपस में बाँटने की सहमति भी आवश्यक है, (४) यह भी आवश्यक है कि व्यापार करने में या तो सब अथवा सबके लिये कुछ भाग लें।

साझेदारी अनुबंध से संबंधित व्यक्तियों को साझेदार तथा साझेदारों को सामूहिक रूप से 'फर्म' कहा जाता है। वैधानिक दृष्टि से साझेदार तथा फर्म एक दूसरे से अलग नहीं माने जाते। इस प्रावधान के कारण प्रत्येक साझी फर्म की ओर से प्रसंविद कर सकता है, फर्म के ऋणों के लिये व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों रूप में अपरिमित उत्तरदायित्व का भागी होता है, तथा उसकी मृत्यु अथवा अन्य किसी वैधानिक अयोग्यता के फलस्वरूप साझा टूट जाता है।

साझेदारी व्यवसाय का मुख्य लाभ अनेक व्यक्तियों के संयुक्तीकरण से होनेवाले विभिन्न लाभों में है। साझेदारी पद्धति के आधार पर वे व्यक्ति भी जो केवल धनी हैं तथा कार्यकुशल नहीं, अथवा कार्यकुशल हैं पर धनी नहीं, व्यापार में भाग ले सकते हैं क्योंकि ऐसी अवस्था में एक साझी दूसरे साझी की कमी को पूरा कर सकता है। अनेक साझियों के साधनों का परस्पर एकीकरण हो जाने के फलस्वरूप व्यापार को बड़े पैमाने पर भी चलाया जाना संभव है।

फर्म के व्यापार में समस्त साझेदारों की सहमति होना आवश्यक है। अतः किसी विषय पर मतभेद होने की अवस्था में प्रबंध कार्यों में बाधा एवं विलंब होने की संभावना बनी रहती है। साझेदार का उत्तरदायित्व एकाकी व्यापारी की भाँति अपरिमित होता है। इस कारण यदि किसी एक साझी के कारण फर्म को हानि होती है, तो वह सबको वहन करनी पड़ती है। कार्यकुशलता तथा लाभप्राप्ति में पारस्परिक संबंध का दूर होना साझेदारी की लोकप्रियता को सीमित रखता है। इसके अतिरिक्त साझेदारी का अस्तित्व भी अनिश्चित रहता है। किसी एक साझेदार की मृत्यु पर अथवा अन्य किसी प्रकार से वैधानिक रूप से अयोग्य हो जाने पर साझेदारी टूट जाती है जो अन्य साझेदारों के लिये असुविधाजनक होता है।

यद्यपि साधनों के दृष्टिकोण से साझेदारी-व्यापार-पद्धति के अनेक लाभ हैं तथापि वर्तमान युग में इसकी लोकप्रियता क्रमशः कम होती जा रही है। इस पद्धति की त्रुटियों के कारण आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योगों की स्थापना परिमित दायित्ववाली संयुक्त पूँजीवाली कंपनियों का प्रादुर्भाव तथा विश्वसनीय साझियों के मिलने में कठिनाई है। [भ० ना० भ०]

सॉडि, फ्रेडरिक (Soddy, Frederick, सन् १८७७), अंग्रेज रसायनज्ञ, का जन्म ससेक्स काउंटी के ईस्टबोर्न नामक नगर में हुआ था। इन्होंने इसी नगर में, वेल्स के युनिवर्सिटी कॉलेज में तथा ऑक्सफर्ड विश्वविद्यालय के मर्टन कॉलेज में अध्ययन किया और क्रमशः ग्लासगो, ऐबर्डीन तथा ऑक्सफर्ड में प्रोफेसर के पद पर रहे।

प्रारंभ में आपने लॉर्ड रदर्फर्ड के साथ विघटनाभिकता (radioactivity) पर अनुसंधान किए। रेडियोऐक्टिव तत्वों संबंधी रासायनिक प्रयोगों से प्रेरित होकर इन्होंने अपना परमाणु विघटन

सिद्धांत तथा रेडियोऐक्टिव परिवर्तनों के लिये आवर्त सारणी में "विस्थापन नियम" प्रतिपादित किया। इन्होंने ही सर्वप्रथम पता लगाया कि ऐसे तत्व भी होते हैं जिनके नाभिकीय द्रव्यमानों में तो अंतर होता है, पर प्राय: सभी रासायनिक गुण एक सदृश होते हैं। इन तत्वों का नाम इन्होंने आइसोटोप (समस्थानिक) रखा।

सन् १९१० में ये रॉयल सोसायटी के सदस्य चुने गए तथा सन् १९२१ में इन्हें नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। इन्होंने कई महत्व-पूर्ण वैज्ञानिक ग्रंथ भी लिखे हैं। [अ० दा० व०]

सातपुड़ा पहाड़ियाँ स्थिति : २१° ४०′ उ० अ० तथा ७५° ०′ पू० दे०। ये भारत के मध्य में लगभग ६०० मील तक फैली हुई पहाड़ियों की शृंखला है, जो अमरकंटक से प्रारंभ होकर पश्चिम की ओर पश्चिमी समुद्री किनारे तक जाती हैं। अमरकंटक से दक्षिण पश्चिम में १०० मील तक शृंखला का बाह्य कटक (ridge) जाता है। पश्चिम की ओर बढ़ती हुई यह शृंखला दो समांतर श्रेणियों में विभक्त होकर, ताप्ती की घाटी को घेरती हुई, असीरगढ़ के प्रसिद्ध पहाड़ी किले तक जाती है। इसके आगे नर्मदा घाटी को ताप्ती घाटी से पृथक् करनेवाली खानदेश की पहाड़ियाँ पश्चिमी घाट तक शृंखला को पूरा करती हैं। सातपुड़ा पहाड़ियों की औसत ऊँचाई २,५०० फुट है, पर अमरकंटक तथा धौरादादर की ऊँचाई ३,५०० फुट है। असीरगढ़ के पूर्व में शृंखला भंग हो जाती है। यहीं पर दर्रा है और दर्रे से जबलपुर से बंबई जानेवाला रेलमार्ग गुजरता है। ये पहाड़ियाँ साधारणतया दक्कन की उत्तरी सीमा समझी जाती हैं। [अ० ना० मे०]

सात्माला श्रेणियाँ महाराष्ट्र और आंध्र राज्यों में फैली हुई हैं। इन्हें अजंता, चांदोर तथा इंध्याद्रि पहाड़ियाँ और सह्याद्रि पर्वत भी कहते हैं।

सात्यकि शिनि का पुत्र जिसको दारुक, युयुधान तथा शैनेय भी कहते हैं। यह कृष्ण का सारथी और नातेदार था। पांडवों की ओर से लड़ा और द्वारका के कृतवर्म को मार डाला जिसके कारण कृत-वर्म के मित्रों ने इसकी हत्या कर डाली। [रा० द्वि०]

सात्वत यह नाम विष्णु, श्रीकृष्ण, बलराम तथा यादवमात्र के लिये प्रयुक्त होता है। कूर्म पुराण में यदुवंश के सत्वत नामक एक राजा का उल्लेख है जो अंशु के पुत्र और सात्वत के पिता थे। सात्वत ने नारद से वैष्णव धर्म का उपदेश ग्रहण किया जिसे सात्वत धर्म भी कहते हैं। यह धर्म वैष्णव संप्रदाय में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। पद्मपुराण के उत्तरखंड में लिखा है कि जो सभी कर्मों को त्यागकर अनन्य चित्त से श्रीकृष्ण, केशव अथवा हरि की उपासना करता है वही सात्वत भक्त है। इस नाम का एक प्राचीन देश भी था। [रा० द्वि०]

सात्विक (गुण) प्रकृति (दे०) के तीन गुणों में एक गुण। यह गुण हलका या लघु और प्रकाश करनेवाला है। प्रकृति से पुरुष का संबंध इसी गुण से होता है। बुद्धिगत सत्व में पुरुष अपना बिंब देखकर अपने को कर्ता मानने लगता है। सत्वगत मलिनता आदि का अपने में आरोप करने लगता है। सत्व की मलिनता या शुद्धता के अनुसार व्यक्ति की बुद्धि मलिन या शुद्ध होती है। अत: योग और सांख्य दर्शनों में सत्व शुद्धि पर जोर दिया गया है। जिन वस्तुओं से बुद्धि निर्मल होती है उन्हें सात्विक कहते हैं — आहार, व्यवहार, विचार आदि पवित्र हों तो सत्व गुण की अभिवृद्धि होती है जिससे बुद्धि निर्मल होती है। अत्यंत निर्मल बुद्धि में पड़े प्रतिबिंब से पुरुष को अपने असली केवल, निरंजन रूप का ज्ञान हो जाता है और वह मुक्त हो जाता है। [रा० चं० पां०]

साध्यवाद (Teleology) इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक कार्य या रचना में कोई उद्देश्य, प्रयोजन या अंतिम कारण निहित रहता है जो उसके संपादनार्थप्रेरणा प्रदान किया करता है। इसके विपरीत यंत्रवाद का सिद्धांत है। इसके अनुसार संसार की प्रत्येक घटना कार्य-कारण-सिद्धांत से घटती है। हर कार्य के पूर्व एक कारण होता है। यह कारण ही कार्य के होने का उत्तरदायी है। इसमें प्रयोजन के लिये कोई स्थान नहीं है। संसार के जड़ पदार्थ ही नहीं चेतन प्राणी भी, यंत्रवाद के अनुसार, कार्य-कारण-नियम से ही हर व्यवहार करते हैं। साध्य-वाद के सिद्धांतानुसार संसार में सर्वत्र एक सप्रयोजन व्यवस्था है। विश्व की प्रत्येक घटना किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये संपादित होती है। चेतन प्राणी तो हर कार्य किसी उद्देश्य से करता ही है, जड़ पदार्थों का संघटन और विघटन भी सप्रयोजन होता है। यंत्र-वादी यदि भूत के माध्यम से वर्तमान और भविष्य की व्याख्या करते हैं, तो साध्यवादी भविष्य के माध्यम से भूत और वर्तमान की व्याख्या करते हैं। यंत्रवाद के अनुसार कोई न कोई कारण हर कार्य को ढकेलकर आगे बढ़ा रहा है। साध्यवाद के अनुसार कोई न कोई प्रयोजन हर कार्य को खींचकर आगे बढ़ा रहा है।

साध्यवाद दो प्रकार का हो सकता है — बाह्य साध्यवाद और अंतर साध्यवाद। बाह्य साध्यवाद के अनुसार कार्य में स्वयं कोई प्रयोजन न होकर उससे बाहर अन्यत्र प्रयोजन रहता है। घड़ी की रचना में प्रयोजन घड़ी में नहीं, वरन् घड़ीसाज में निहित रहता है। इसी प्रकार संसार का रचयिता संसार की रचना अपने प्रयोजन के लिये करता है। संसार और उसके रचयिता में बाह्य संबंध है। ईश्वरवादी इस सिद्धांत के समर्थक हैं। आंतरिक साध्यवाद के अनु-सार संसार की सब क्रियाओं का प्रयोजन संसार में ही निहित है। विश्व जिस चेतन-सत्ता की अभिव्यक्ति है वह संसार में ही व्याप्त है। संसार में व्याप्त चेतना संसार के द्वारा अपना प्रयोजन सिद्ध करती है। हीगेल, ब्रेडले, लोत्जे आदि अंतर साध्यवाद के ही सम-र्थक हैं।

साध्यवाद के समर्थन में अनेक प्रमाण दिए जाते हैं। प्रकृति में सर्वत्र साधन और साध्य का सामंजस्य दिखाई देता है। पृथ्वी के घूमने से दिन, रात और ऋतुपरिवर्तन होते हैं। गर्मी, सर्दी और वर्षा के अनुपात से वनस्पति उत्पन्न होती है। वृक्षों के मोटे तने से आँधी से वृक्ष की रक्षा होती है। पत्तियाँ साँस लेने का काम करती हैं। पशुओं के शरीर उनकी आवश्यकता के अनुसार हैं। इस प्रकार

संसार में सर्वत्र प्रयोजन दिखाई देता है। विश्व में जो क्रमिक विकास होता दिखाई देता है वह किसी प्रयोजन की सूचना देता है। संसार की यंत्रवादी व्याख्या इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकती कि संसार यंत्र के समान क्यों चल रहा है। इसलिये संसार की रचना का प्रयोजन मानना पड़ता है।

साध्यवाद बहुत प्राचीन सिद्धांत है। संभवतः मनुष्य ने जब से दार्शनिक चिंतन करना शुरू किया, इसी सिद्धांत से संसारसृष्टि की व्याख्या करता रहा है। मानवीय व्यवहार सदा सप्रयोजन देखकर संसार की रचना को भी वह सप्रयोजन समझता रहा है। अरस्तू के चार कारणों में 'अंतिम' कारण साध्यवाद को स्वीकार करता है। मध्य काल के अंत में देकार्त आदि ने यंत्रवाद की ओर झुकाव दिखाया किंतु आधुनिक युग में साध्यवादी सिद्धांत का पुन: समर्थन होने लगा। आधुनिक साध्यवाद नवसाध्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रमुख समर्थक हीगेल, ग्रीन, ब्रेडले, बोसांके और रायस आदि हैं। हीगेल के विचार से संसार एक निरपेक्ष चेतन सत्ता की अभिव्यक्ति है। संसार अपने विकासक्रम के द्वारा निरपेक्ष चेतन सत्ता की अनुभूति प्राप्त कर स्वचेतन बनना चाहता है। इसी प्रयोजन से ससार की सब घटनाएँ घट रही हैं।

भारतीय दर्शन में प्राय: सर्वत्र साध्यवाद का समर्थन मिलता है। सांख्य दर्शन में प्रकृति इस उद्देश्य से सृष्टिरचना करती है कि पुरुष उसमें सुख दु:ख का अनुभव करे और अंत में मुक्ति प्राप्त कर ले। जड़ प्रकृति में अंध प्रयोजन निहित होने के कारण डा० दासगुप्त ने इसे अंतर्निहित साध्यवाद (इनहेरेंट टिलियोलाजी) कहा है। योग दर्शन में अंध प्रयोजन असंभावित मानकर ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है। ईश्वर प्रकृति को सृष्टिरचना में नियोजित करता है। इस प्रकार सांख्य अंतर साध्यवाद और योग बाह्य साध्यवाद का समर्थन करता है। न्याय जैसे ईश्वरवादी दर्शन बाह्य साध्यवाद के ही समर्थक हैं।

नीतिशास्त्र में साध्यवाद के अनुसार मूल्य या शुभ ही मानवजीवन का मानक (स्टैंडर्ड) स्वीकार किया जाता है। नैतिक आचरण का उद्देश्य उच्च मूल्यों को प्राप्त करना है। सत्यं, शिवं, सुंदरं हमें उसी प्रकार आकृष्ट करते हैं जैसे कोई सुंदर चित्र अपनी ओर आकृष्ट करता है। कर्तव्य या कानून मनुष्य को ढकेलकर नैतिक आचरण कराते हैं, यह साध्यवाद सिद्धांत के विपरीत है।

ज्ञानमीमांसा के साध्यवादी दृष्टिकोण के अनुसार सत्य की खोज में बुद्धि उद्देश्यों, मूल्यों, रुचियों, प्रवृत्तियों और तात्विक या तार्किक प्रमाणों से संचालित या निर्देशित होती है।

मनोविज्ञान में प्रो० मैकडुगल का हार्मिक स्कूल साध्यवाद का ही परिणाम है। इसके अनुसार मनुष्य के कार्यव्यापार किसी न किसी प्रयोजन से होते हैं, यंत्रवत् नहीं।

प्राणिशास्त्र में वाईटलिज्म का सिद्धांत भी साध्यवादी प्रकृति का है। [हु० ना० मि०]

सान्याल, शचींद्रनाथ जन्म १८९३, वाराणसी में मृत्यु १९४२, गोरखपुर में। क्वींस कालेज (बनारस) में अपने अध्ययनकाल में उन्होंने काशी के प्रथम क्रांतिकारी दल का गठन १९०८ में किया। १९१३ में फ्रेंच बस्ती चंद्रनगर में सुविख्यात क्रांतिकारी रासबिहारी से उनकी मुलाकात हुई। कुछ ही दिनों में काशी केंद्र का चंद्रनगर दल में विलय हो गया और रासबिहारी काशी आकर रहने लगे।

क्रमश: काशी उत्तर भारत में क्रांति का केंद्र बन गई। १९१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ने पर सिक्खों के दल ब्रिटिश शासन समाप्त करने के लिये अमरीका और कनाडा से स्वदेश प्रत्यावर्तन करने लगे। रासबिहारी को वे पंजाब ले जाना चाहते थे। उन्होंने शचींद्र को सिक्खों से संपर्क करने, स्थिति से परिचित होने और प्रारंभिक संगठन करने के लिये लुधियाना भेजा। कई बार लाहौर, लुधियाना आदि होकर शचींद्र काशी लौटे और रासबिहारी लाहौर गए। लाहौर के सिक्ख रेजिमेंटों ने २१ फरवरी, १९१५ को विद्रोह शुरू करने का निश्चय कर लिया। काशी के एक सिक्ख रेजिमेंट ने भी विद्रोह शुरू होने पर साथ देने का वादा किया।

योजना विफल हुई, बहुतों को फाँसी पर चढ़ना पड़ा और चारों ओर धर पकड़ शुरू हो गई। रासबिहारी काशी लौटे। नई योजना बनने लगी। तत्कालीन होम मेंबर सर रेजिनाल्ड क्रेडक की हत्या के आयोजन के लिये शचींद्र को दिल्ली भेजा गया। यह कार्य भी असफल रहा। रासबिहारी को जापान भेजना तय हुआ। १२ मई, १९१५ को गिरजा बाबू और शचींद्र ने उन्हें कलकत्ते के बंदरगाह पर छोड़ा। दो तीन महीने बाद काशी लौटने पर शचींद्र गिरफ्तार कर लिए गए। लाहौर षड्यंत्र मामले की शाखा के रूप में बनारस पूरक षड्यंत्र केस चला और शचींद्र को आजन्म कालेपानी की सजा मिली।

युद्धोपरांत शाही घोषणा के परिणामस्वरूप फरवरी, १९२० में बारींद्र, उपेंद्र आदि के साथ शचींद्र रिहा हुए। १९२१ में नागपुर कांग्रेस में राजबंदियों के प्रति सहानुभूति का एक संदेश भेजा गया। विषय-निर्वाचन-समिति के सदस्य के रूप में शचींद्र ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन करते हुए एक भाषण किया।

क्रांतिकारियों ने गांधी जी को सत्याग्रह आंदोलन के समय एक वर्ष तक अपना कार्य स्थगित रखने का वचन दिया था। चौरी चौरा कांड के बाद सत्याग्रह वापस लिए जाने पर, उन्होंने पुन: क्रांतिकारी संगठन का कार्य शुरू कर दिया। १९२३ के प्रारंभ में रावलपिंडी से लेकर दानापुर तक लगभग २५ केंद्रों की उन्होंने स्थापना कर ली थी। इस दौरान लाहौर में तिलक स्कूल ऑव पॉलिटिक्स के कुछ छात्रों से उनका संपर्क हुआ। इन छात्रों में सरदार भगतसिंह भी थे। भगतसिंह को उन्होंने दल में शामिल कर लिया और उन्हें कानपुर भेजा। इसी समय उन्होंने कलकत्ते में यतींद्र दास को चुन लिया। यह वही यतींद्र हैं, जिन्होंने लाहौर षड्यंत्र केस में भूख हड़ताल से अपने जीवन का बलिदान किया। १९२३ में ही कौंसिल प्रवेश के प्रश्न पर दिल्ली में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। इस अवसर पर शचींद्र ने देशवासियों के नाम एक अपील निकाली, जिसपर कांग्रेस महासमिति के अनेक सदस्यों ने हस्ताक्षर किए। कांग्रेस से अपना ध्येय बदलकर पूर्ण स्वतंत्रता लिए जाने का प्रस्ताव था। इसमें एशियाई राष्ट्रों के संघ के निर्माण का सुझाव

भी दिया गया। अमेरिकन पत्र 'न्यू रिपब्लिक' ने अपील ज्यों की त्यों छाप दी, जिसकी एक प्रति रासबिहारी ने जापान से शचींद्र को भेजी। इस अधिवेशन के अवसर पर ही कुतुबुद्दीन अहमद उनके पास मानवेंद्र राय का एक संदेश ले आए, जिसमें उन्हें कम्युनिस्ट अंतरराष्ट्रीय संघ की तीसरी बैठक में शामिल होने को आमंत्रित किया गया था।

इसके कुछ ही दिनों बाद उन्होंने अपने दल का नामकरण किया 'हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन'। उन्होंने इसका जो संविधान तैयार किया, उसका लक्ष्य था सुसंगठित और सशस्त्र क्रांति द्वारा भारतीय लोकतंत्र संघ की स्थापना। कार्यक्रम में खुले तौर पर काम और गुप्त संगठन दोनों शामिल थे। क्रांतिकारी साहित्य के सृजन पर विशेष बल दिया गया था। समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के बारे में भी इसमें प्रचुर इंगित था। संविधान के शब्दों में 'इस प्रजातंत्र संघ में उन सब व्यवस्थाओं का अंत कर दिया जायगा जिनसे किसी एक मनुष्य द्वारा दूसरे का शोषण हो सकने का अवसर मिल सकता है।' विदेशों में भारतीय क्रांतिकारियों के साथ घनिष्ठ संबंध रखना भी कार्यक्रम का एक अंग था। बेलगाँव कांग्रेस के अधिवेशन में गांधी जी ने क्रांतिकारियों की जो आलोचना की थी, उसके प्रत्युत्तर में शचींद्र ने महात्मा जी को एक पत्र लिखा। गांधी जी ने यंग इंडिया के १२ फरवरी, १९२५ के अंक में इस पत्र को ज्यों का त्यों प्रकाशित कर दिया और साथ ही अपना उत्तर भी।

लगभग इसी समय सूर्यकांत सेन के नेतृत्व में चटगाँव दल का, शचींद्र के प्रयत्न से, हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन से संबंध हो गया। शचींद्र बंगाल आर्डिनेंस के अधीन गिरफ्तार कर लिए गए। उनकी गिरफ्तारी के पहले 'दि रिवोल्यूशनरी' नाम का पर्चा पंजाब से लेकर बर्मा तक बँटा। इस पर्चे के लेखक और प्रकाशक के रूप में बाँकुड़ा में शचींद्र पर मुकदमा चला और राजद्रोह के अपराध मे उन्हें दो वर्ष के कारावास का दंड मिला। कैद की हालत में ही वे काकोरी षड्यंत्र केस में शामिल किए गए और संगठन के प्रमुख नेता के रूप में उन्हें पुन अप्रैल, १९२७ में आजन्म कारावास की सजा दी गई।

१९३७ में संयुक्त प्रदेश में कांग्रेस मंत्रिमंडल की स्थापना के बाद अन्य क्रांतिकारियों के साथ वे रिहा किए गए। रिहा होने पर कुछ दिनों वे कांग्रेस के प्रतिनिधि थे, परंतु बाद को वे फारवर्ड ब्लाक में शामिल हुए। इसी समय काशी में उन्होंने 'अग्रगामी' नाम से एक दैनिक पत्र निकाला। वह स्वयं इस पत्र के संपादक थे। द्वितीय महायुद्ध छिड़ने के कोई साल भर बाद १९४० में उन्हें पुन: नजरबंद कर राजस्थान के देवली शिविर में भेज दिया गया। वहाँ यक्ष्मा रोग से आक्रांत होने पर इलाज के लिये उन्हें रिहा कर दिया गया। परंतु बीमारी बढ़ गई और १९४२ में उनकी मृत्यु हो गई।

क्रांतिकारी आंदोलन को बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करना उनका विशेष कृतित्व था। उनका दृढ़ मत था कि विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांत के बिना कोई आंदोलन सफल नहीं हो सकता। 'विचारविनिमय' नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने अपना दार्शनिक दृष्टिकोण किसी अंश तक प्रस्तुत किया है। 'साहित्य, समाज और धर्म' में भी उनके अपने विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण का और प्रबल धर्मानुराग का भी परिचय मिलता है। [मू० सा०]

साप्पोरो (Sapporo) स्थिति : ४३° ३५' उ० अ० तथा १४१° २१' पू० दे०। जापान के इस नगर की जनसंख्या ५,२३,८३७ (१९६० ई०) है। १८६८ ई० में इस नगर की स्थापना की गई थी। यह ईशीकारी (Ishikari) प्रमेरा तथा यूबारी (Yubari) कोयला क्षेत्र के रेलमार्ग पर स्थित होने के साथ ही ओटारी (Otari) बंदरगाह से भी मिला है। इस नगर के समीप इबीतसू (Ebitsu) नामक स्थान पर जापान का एक प्रमुख कागज का कारखाना भी है। १९१८ ई० में यहाँ राजकीय विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। शीतप्रधान जलवायु के कारण यहाँ ऐसा वनस्पति उद्यान स्थापित किया गया है जिसमें अल्पीय पेड़ पौधों को विशेष स्थान प्रदान किया गया है। यहाँ से ११ मील दक्षिण जोसांकी (Josankei) नामक गरम पानी का सोता है। इस कारण यह पर्यटक स्थल बन गया है। [भू० कां० रा०]

साबरकाँठा जिला भारत के गुजरात राज्य में स्थित है। इस जिले के पूर्व और पूर्व-उत्तर में राजस्थान राज्य है तथा उत्तर में बनासकाँठा, पश्चिम में महेसाणा, पश्चिम-दक्षिण में अहमदाबाद और दक्षिणपूर्व में पंचमहल जिले हैं। इस जिले का क्षेत्रफल २,८४२ वर्ग मील तथा जनसंख्या ९,१८,५८७ (१९६१) है। ब्रिटिश शासनकाल में साबरकाँठा नामक राजनीतिक एजेंसी थी, जिसके अंतर्गत ४६ राज्य ऐसे थे जिन्हें न्याय करने के बहुत कम अधिकार प्राप्त थे और १३ तालुके ऐसे थे जिन्हें न्याय करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। इस जिले का प्रशासनिक केंद्र हिम्मतनगर है, जिसकी जनसंख्या १५,२८७ (१९६१) है। जिले के अधिकांश निवासी भील एवं अन्य आदिवासी हैं। भारत के स्वतंत्र होने के बाद इस जिले में हरना नदी तथा हथमाटी नदी पर बाँध बनाए गए हैं, जिनसे क्रमश: लगभग १०,००० एवं ८२,००० एकड़ भूभाग की सिंचाई की जा रही है।

[अ० ना० मे०]

साबरमती आश्रम भारत के गुजरात राज्य के अहमदाबाद जिले के प्रशासनिक केंद्र अहमदाबाद के समीम साबरमती नदी के किनारे स्थित है। सन् १९१५ में सत्याग्रह आश्रम की स्थापना अहमदाबाद के कोचरब नामक स्थान में महात्मा गांधी द्वारा हुई थी। सन् १९१७ में यह आश्रम साबरमती नदी के किनारे वर्तमान स्थान पर स्थानांतरित हुआ और तब से साबरमती आश्रम कहलाने लगा। आश्रम के वर्तमान स्थान के संबंध में इतिहासकारों का मत है कि पौराणिक दधीचि ऋषि का आश्रम भी यहीं पर था।

आश्रम वृक्षों की शीतल छाया में स्थित है। यहाँ की सादगी एवं शांति देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। आश्रम की एक ओर सेंट्रल जेल और दूसरी ओर दुधेश्वर श्मशान है। आश्रम के प्रारंभ में निवास के लिये कैनवास के खेमे और टीन से छाया हुआ रसोईघर था। सन् १९१७ के अंत में यहाँ के निवासियों की कुल संख्या ४० थी। आश्रम का जीवन गांधी जी के सत्य, अहिंसा आत्मसंयम, विराग एवं समानता के सिद्धांतों पर आधारित महान् प्रयोग

था और यह जीवन उस सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्रांति का, जो महात्मा जी के मस्तिष्क में थी, प्रतीक था।

साबरमती आश्रम सामुदायिक जीवन को, जो भारतीय जनता के जीवन से सादृश्य रखता है, विकसित करने की प्रयोगशाला कहा जा सकता था। इस आश्रम में विभिन्न धर्मावलंबियों में एकता स्थापित करने, चर्खा, खादी एवं ग्रामोद्योग द्वारा जनता की आर्थिक स्थिति सुधारने और अहिंसात्मक असहयोग या सत्याग्रह के द्वारा जनता में स्वतंत्रता की भावना जाग्रत करने के प्रयोग किए गए। आश्रम भारतीय जनता एवं भारतीय नेताओं के लिये प्रेरणास्रोत तथा भारत के स्वतंत्रता संघर्ष से संबंधित कार्यों का केंद्रबिंदु रहा है। कताई एवं बुनाई के साथ साथ चर्खे के भागों का निर्माणकार्य भी धीरे धीरे इस आश्रम में होने लगा।

आश्रम में रहते हुए ही गांधी जी ने अहमदाबाद की मिलों में हुई हड़ताल का सफल संचालन किया। मिल मालिक एवं कर्मचारियों के विवाद को सुलझाने के लिये गांधी जी ने अनशन आरंभ कर दिया था, जिसके प्रभाव से २१ दिनों से चल रही हड़ताल तीन दिनों के अनशन से ही समाप्त हो गई। इस सफलता के पश्चात् गांधी जी ने आश्रम में रहते हुए खेड़ा सत्याग्रह का सूत्रपात किया। रालेट समिति की सिफारिशों का विरोध करने के लिये गांधी जी ने यहीं तत्कालीन राष्ट्रीय नेताओं का एक संमेलन आयोजित किया और सभी उपस्थित लोगों ने सत्याग्रह के प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किए।

साबरमती आश्रम में रहते हुए महात्मा गांधी ने २ मार्च, १९३० ई० को भारत के वाइसराय को एक पत्र लिखकर सूचित किया कि वह नौ दिनों का सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ करने जा रहे हैं। १२ मार्च, १९३० ई० को महात्मा गांधी ने आश्रम के अन्य ७८ व्यक्तियों के साथ नमक कानून भंग करने के लिये ऐतिहासिक दंडी यात्रा की। इसके बाद गांधी जी भारत के स्वतंत्र होने तक यहाँ लौटकर नहीं आए। उपर्युक्त आंदोलन का दमन करने के लिये सरकार ने आंदोलनकारियों की संपत्ति जब्त कर ली। आंदोलनकारियों के प्रति सहानुभूति से प्रेरित होकर, गांधी जी ने सरकार से साबरमती आश्रम ले लेने के लिये कहा पर सरकार ने ऐसा नहीं किया, फिर भी गांधी जी ने आश्रमवासियों को आश्रम छोड़कर गुजरात के खेड़ा जिले के बोरसद के निकट रासग्राम में पैदल जाकर बसने का परामर्श दिया, लेकिन आश्रमवासियों के आश्रम छोड़ देने के पूर्व १ अगस्त, १९३३ ई० को सब गिरफ्तार कर लिए गए। महात्मा गांधी ने इस आश्रम को भंग कर दिया। आश्रम कुछ काल तक जनशून्य पड़ा रहा। बाद में यह निर्णय किया गया कि हरिजनों तथा पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिये शिक्षा एवं शिक्षा संबंधी संस्थाओं को चलाया जाए और इस कार्य के लिये आश्रम को एक न्यास के अधीन कर दिया जाए।

गांधी जी की मृत्यु के पश्चात् उनकी स्मृति को निरंतर सुरक्षित रखने के उद्देश्य से एक राष्ट्रीय स्मारक कोश की स्थापना की गई। साबरमती आश्रम गांधी जी के नेतृत्व के आरंभ काल से ही संबंधित है, अतः गांधी-स्मारक-निधि नामक संगठन ने यह निर्णय किया कि आश्रम के उन भवनों को, जो गांधी जी से संबंधित थे, सुरक्षित रखा जाए। इसलिये १९५१ ई० में साबरमती आश्रम सुरक्षा एवं स्मृति न्यास अस्तित्व में आया। उसी समय से यह न्यास महात्मा गांधी के निवास, हृदयकुंज, उपासनाभूमि नामक प्रार्थनास्थल और मगननिवास की सुरक्षा के लिये कार्य कर रहा है।

हृदयकुंज में गांधी जी एवं कस्तूरबा ने लगभग १२ वर्षों तक निवास किया था। १९ मई, १९६३ ई० को श्री जवाहरलाल ने हृदयकुंज के समीप गांधी स्मृति संग्रहालय का उद्घाटन किया। इस संग्रहालय में गांधी जी के पत्र, फोटोग्राफ और अन्य दस्तावेज रखे गए हैं। यंग इंडिया, नवजीवन तथा हरिजन में प्रकाशित गांधी जी के ४०० लेखों की मूल प्रतियाँ, बचपन से लेकर मृत्यु तक के फोटोग्राफों का बृहत् संग्रह और भारत तथा विदेशों में भ्रमण के समय दिए गए भाषणों के १०० संग्रह यहाँ प्रदर्शित किए गए हैं। संग्रहालय में पुस्तकालय भी है, जिसमें साबरमती आश्रम की ४,००० तथा महादेव देसाई की ३,००० पुस्तकों का संग्रह है। इस संग्रहालय में महात्मा गांधी द्वारा और उनको लिखे गए ३०,००० पत्रों की अनुक्रमणिका है। इन पत्रों में कुछ तो मूल रूप में ही हैं और कुछ के माइक्रोफिल्म सुरक्षित रखे गए हैं।

जब तक साबरमती आश्रम का दर्शन न किया जाए तब तक गुजरात या अहमदाबाद नगर की यात्रा अपूर्ण ही रहती है। अब तक विश्व के अनेक देशों के प्रधानों, राजनीतिज्ञों एवं विशिष्ट व्यक्तियों ने इस आश्रम के दर्शन किए हैं। [प्र० ना० मे०]

साबरमती नदी यह पश्चिमी भारत की नदी है, जो मेवाड़ की पहाड़ियों से निकलकर २०० मील बहने के उपरांत दक्षिण पश्चिम की ओर खंभात की खाड़ी में गिरती है। इसके द्वारा लगभग ९,५०० वर्ग मील क्षेत्र का जलनिकास होता है। इस नदी का नाम साबर और हाथमती नामक नदियों की धाराओं के मिलने के कारण साबरमती पड़ा। अहमदाबाद नगर और इसके आसपास नदी के किनारे कई तीर्थस्थल हैं। इसके द्वारा निक्षेपित गाद में फसलें अच्छी होती हैं। [प्र० ना० मे०]

साबुन वसा अम्लों के जलविलेय लवण हैं। ऐसे वसा अम्लों में ९ से २१ कार्बन परमाणु रह सकते हैं। साधारणतया वसा अम्लों से साबुन नहीं तैयार होता। वसा अम्लों के ग्लिसराइड प्रकृति में तेल और वसा के रूप में पाए जाते हैं। इन ग्लिसराइडों से ही दाहक सोडा के साथ द्विक् अपघटन से संसार का अधिकांश साबुन तैयार होता है। साबुन के निर्माण में उपजात के रूप में ग्लिसरीन प्राप्त होता है जो बड़ा उपयोगी पदार्थ है (देखें ग्लिसरीन)।

उत्कृष्ट कोटि के शुद्ध साबुन बनाने के दो क्रम हैं: एक क्रम में तेल और वसा का जल अपघटन होता है जिससे ग्लिसरीन और वसा अम्ल प्राप्त होते हैं। आसवन से वसा अम्लों का शोधन हो सकता है। दूसरे क्रम में वसा अम्लों को क्षारों से उदासीन करते हैं। कठोर साबुन के लिये सोडा क्षार और मुलायम साबुन के लिये पोटैश क्षार इस्तेमाल करते हैं।

साबुन के कच्चे माल — बड़ी मात्रा में साबुन बनाने में तेल और वसा इस्तेमाल होते हैं। तेलों में महुआ, गरी, मूंगफली, ताड़, ताड़ गुद्दी, बिनौले, तीसी, जैतून तथा सोयाबीन के तेल, और जांतव तैलों तथा वसा में मछली एवं ह्वेल की चरबी और हड्डी के ग्रीज (grease) अधिक महत्व के हैं। इन तेलों और वसा के अतिरिक्त रोजिन भी इस्तेमाल होता है।

अधिकांश साबुन एक तेल से नहीं बनते, यद्यपि कुछ तेल ऐसे हैं जिनसे साबुन बन सकता है। अच्छे साबुन के लिये कई तेलों अथवा तेलों और चरबी को मिलाकर इस्तेमाल करते हैं। भिन्न भिन्न कामों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के साबुन बनते हैं। धुलाई के लिये साबुन सस्ता होना चाहिए। नहानेवाला साबुन महँगा भी रह सकता है। तेलों के वसा अम्लों के 'टाइटर', तेलों के 'आयोडीन मान', साबुनीकरण मान और रंग महत्व के हैं (देखें तेल, वसा और मोम)। टाइटर से साबुन की विलेयता का, आयोडीन मान से तेलों की असंतृप्ति का और साबुनीकरण मान से वसा अम्लों के अणुभार का पता लगता है। कुछ काम के लिये न्यून टाइटर वाला साबुन अच्छा होता है और कुछ के लिये ऊँचे टाइटर वाला। असंतृप्त वसा अम्लों वाला साबुन रखने से साबुन में से पूतिगंध आती है। कम अणुभारवाले अम्लों के साबुन चमड़े पर मुलायम नहीं होते। कुछ प्रमुख तेलों और वसाओं के आँकड़े इस प्रकार हैं :

तेल	टाइटर सें० में	साबुनीकरण मान	आयोडीन मान
नारियल	२२-२५	२५८-२६६	६
ताड़गुद्दी	२०-२५	२५२-२६४	१२
ताड	३५-४५	२०५-६	४३-३
जैतून	१७-२६	२००	८६-६०
मूंगफली	२६-२	२०१-६	६६-१०३
बिनौला	३२-३५	२०२-२०८	१११-११५
तीसी	२६-६	१६७	१७६-२०६
हड्डी ग्रीज	३६-४१	२००	५६-५७
गो-चर्बी	३८-४८	१६८	४१-३

तेल के रंग पर ही साबुन का रंग निर्भर करता है। सफेद साबुन के लिये तेल और रंग की सफाई नितांत आवश्यक है। तेल की सफाई तेल में थोड़ा सोडियम हाइड्रॉक्साइड का विलयन डालकर गरम करने से होती है। तेल के रंग की सफाई तेल को वायु के बुलबुले और भाप पारित कर गरम करने से अथवा सक्रियित सरध्र फुलर मिट्टी के साथ गरम कर छानने से होती है। साबुन में रोजिन भी डाला जाता है। रोजिन के साथ दाहक सोडा के मिलने से रोजिन के अम्ल का सोडियम लवण बनता है। यह साबुन सा ही काम करता है। रोजिन की मात्रा २५ प्रति शत से अधिक नहीं रहनी चाहिए। सामान्य साबुन में यह मात्रा प्राय: ५ प्रति शत रहती है। साबुन के चूर्ण में रोजिन नहीं रहता। रोजिन से साबुन में पूतिगंध नहीं आती। साबुन को मुलायम अथवा जल्द घुलनेवाला और चिपकनेवाला बनाने के लिये उसमें थोड़ा अमोनिया या ट्राइ-एथेनोलैमिन मिला देते हैं। हजामत बनाने में प्रयुक्त होनेवाले साबुन में उपर्युक्त रासायनिक द्रव्यों को अवश्य डालते हैं।

साबुन का निर्माण — साबुन बनाने के लिये तेल या वसा को दाहक सोडा के विलयन के साथ मिलाकर बड़े बड़े कड़ाहों या केतली में उबालते हैं। कड़ाहे भिन्न भिन्न आकार के हो सकते हैं। साधारणतया १० से १५० टन जलधारिता के ऊर्ध्वाधार सिलिंडर मृदु इस्पात के बने होते हैं। ये भापकुंडली से गरम किए जाते हैं। धारिता का केवल तृतीयांश ही तेल या वसा से भरा जाता है।

कड़ाहे में तेल और क्षार विलयन के मिलाने और गरम करने के तरीके भिन्न भिन्न कारखानों में भिन्न भिन्न हो सकते हैं। कहीं कहीं कड़ाहे में तेल रखकर गरम कर उसमें सोडा द्राव डालते हैं। कहीं कहीं एक ओर से तेल ले आते और दूसरी ओर सोडा विलयन ले आकर गरम करते हैं। प्राय: ८ घंटे तक दोनों को जोरों से उबालते हैं। अधिकांश तेल साबुन बन जाता है और ग्लिसरीन उन्मुक्त होता है। अब कड़ाहे में नमक डालकर साबुन का लवणन (salting) कर निथरने को छोड़ देते हैं। साबुन ऊपरी तल पर और जलीय द्राव निचले तल पर अलग अलग हो जाता है। निचले तल के द्राव में ग्लिसरीन रहता है। साबुन के स्तर को पानी से धोकर नमक और ग्लिसरीन को निकाल लेते हैं। साबुन में क्षार का सांद्र विलयन (८ से १२ प्रति शत) डालकर तीन घंटे फिर गरम करते हैं। इससे साबुनीकरण परिपूर्ण हो जाता है। साबुन को फिर पानी से धोकर २ से ३ घंटे उबालकर थिराने के लिये छोड़ देते हैं। ३६ से ७२ घंटे रखकर ऊपर के स्वच्छ चिकने साबुन को निकाल लेते हैं। ऐसे साबुन में प्राय: ३३ प्रति शत पानी रहता है। यदि साबुन का रंग कुछ हल्का करना हो, तो थोड़ा सोडियम हाइड्रो-सल्फाइट डाल देते हैं।

इस प्रकार साबुन तैयार करने में ५ से १० दिन लग सकते हैं। २४ घंटे में साबुन तैयार हो जाय ऐसी विधि भी अब मालूम है। इसमें तेल या वसा को ऊँचे ताप पर जल अपघटित कर वसा अम्ल प्राप्त करते और उसको फिर सोडियम हाइड्रॉक्साइड से उपचारित कर साबुन बनाते हैं। साबुन को जलीय विलयन से पृथक् करने में अपकेंद्रित्र का भी उपयोग हुआ है। आज ठंढी विधि से भी थोड़ा गरम कर सोडा विलयन के साथ उपचारित कर साबुन तैयार होता है। ऐसे तेल में कुछ असाबुनीकृत तेल रह जाता है। तेल का ग्लिसरीन भी साबुन में ही रह जाता है। यह साबुन निकृष्ट कोटि का होता है पर अपेक्षया सस्ता होता है। अर्ध-क्वथन विधि से भी प्राय: ८०° सें० तक गरम करके साबुन तैयार हो सकता है। मुलायम साबुन, विशेषत: हजामत बनाने के साबुन, के लिये यह विधि अच्छी समझी जाती है।

यदि कपड़ा धोनेवाला साबुन बनाना है, तो उसमें थोड़ा सोडियम सिलिकेट डालकर, ठंढा कर, टिकियों में काटकर उसपर मुद्रांकण करते हैं। ऐसे साबुन में ३० प्रति शत पानी रहता है। नहाने के साबुन में १० प्रति शत के लगभग पानी रहता है। पानी कम करने के लिये साबुन को पट्टवाही पर सुरंग किस्म के शोषक में सुखाते हैं।

यदि नहाने का साबुन बनाना है, तो सूखे साबुन को काटकर आवश्यक रंग और सुगंधित द्रव्य मिलाकर पीसते हैं, फिर उसे प्रेस में दबाकर छड़ बनाते और छोटा छोटा काटकर उसको मुद्रांकित करते हैं। पारदर्शक साबुन बनाने में साबुन को ऐल्कोहॉल में घुलाकर तब टिकिया बनाते हैं।

धोने के साबुन में कभी कभी कुछ ऐसे द्रव्य भी डालते हैं जिनसे धोने की क्षमता बढ़ जाती है। इन्हें निर्माणद्रव्य कहते हैं। ऐसे द्रव्य सोडा ऐश, ट्राइ-सोडियम फ़ास्फ़ेट, सोडियम मेटा सिलिकेट, सोडियम परबोरेट, सोडियम परकार्बोनेट, टेट्रा-सोडियम पाइरो-फ़ास्फ़ेट और सोडियम हेक्सा-मेटाफ़ास्फ़ेट हैं। कभी कभी ऐसे साबुन में नीला रंग भी डालते हैं जिससे कपड़ा अधिक सफेद हो जाता है। भिन्न भिन्न वस्त्रों, रूई, रेशम और ऊन के तथा धातुओं के लिये अलग अलग किस्म के साबुन बने हैं। निकृष्ट कोटि के नहाने के साबुन में पूरक भी डाले जाते हैं। पूरकों के रूप में केसीन, मैदा, चीनी और डेक्सट्रिन आदि पदार्थ प्रयुक्त होते हैं।

धुलाई की प्रक्रिया — साबुन से वस्त्रों के धोने पर मैल कैसे निकलती है इसपर अनेक निबंध समय समय पर प्रकाशित हुए हैं। अधिकांश मैल तेल किस्म की होती है। ऐसे तेलवाले वस्त्र को जब साबुन के विलयन में डुबाया जाता है, तब मैल का तेल साबुन के साथ मिलकर छोटी छोटी गुलिकाएँ बन जाता है, जो कचारने से वस्त्र से अलग हो जाती हैं। ऐसा यांत्रिक विधि से हो सकता है अथवा साबुन के विलयन में उपस्थित वायु के छोटे छोटे बुलबुलों के कारण हो सकता है। गुलिकाएँ वस्त्र से अलग हो तल पर तैरने लगती हैं।

साबुन के पानी में घुलाने से तेल और पानी के बीच का अंत:सीमीय तनाव बहुत कम हो जाता है। इससे वस्त्र के रेशे विलयन के घनिष्ट संस्पर्श में आ जाते हैं और मैल के निकलने में सहायता मिलती है। मैले कपड़े को साबुन के विलयन में डुबाने से यह भी संभव है कि रेशे की अभ्यंतर नालियों में विलयन प्रविष्ट कर जाता है जिससे रेशे की कोशिकाओं से वायु निकलती और तेलकणों से बुलबुला बनाती है जिससे तेल के निकलने में सहायता मिलती है।

ठीक ठीक धुलाई के लिये यह आवश्यक है कि वस्त्रों से निकली मैल रेशे पर फिर जम न जाय। साबुन का इमलशन ऐसा होने से रोकता है। अतः इमलशन बनने का गुण बड़े महत्व का है। साबुन में जलविलेय और तेलविलेय दोनों समूह रहते हैं। ये समूह तेल बूँद को चारों ओर घेरे रहते हैं। इनका एक समूह तेल में और दूसरा जल में घुला रहता है। तेलबूँद में चारों ओर साबुन की दशा में केवल ऋणात्मक वैद्युत आवेश रहते हैं जिससे उनका संमिलित होना संभव नहीं होता। [फू० स० व०]

सामंतवाद यह मध्यकालीन युग में इंग्लैंड और यूरोप की प्रथा थी। इन सामंतों की कई श्रेणियाँ थीं जिनके शीर्षस्थान में राजा होता था। उसके नीचे विभिन्न कोटि के सामंत होते थे और सबसे निम्न स्तर में किसान या दास होते थे। यह रक्षक और अधीनस्थ लोगों का संगठन था। राजा समस्त भूमि का स्वामी माना जाता था। सामंतगण राजा के प्रति स्वामिभक्ति बरतते थे, उसकी रक्षा के लिये सेना सुसज्जित करते थे और बदले में राजा से भूमि पाते थे। सामंतगण भूमि के क्रयविक्रय के अधिकारी नहीं थे। प्रारंभिक काल में सामंतवाद ने स्थानीय सुरक्षा, कृषि और न्याय की समुचित व्यवस्था करके समाज की प्रशंसनीय सेवा की। कालांतर में व्यक्तिगत युद्ध एवं व्यक्तिगत स्वार्थ ही सामंतों का उद्देश्य बन गया। साधन-संपन्न नए शहरों के उत्थान, बारूद के आविष्कार, तथा स्थानीय राजभक्ति के स्थान पर राष्ट्रभक्ति के उदय के कारण सामंतशाही का लोप हो गया। [शु० ते०]

साम (Psalm) दे० 'भजनसंहिता' तथा 'बाइबिल।'

सामरिक पर्यवेक्षण या रिकॉनिसेंस (Reconnaissance) युद्ध से पूर्व शत्रु की स्थिति या गति की टोह लगाने को कहते हैं। स्थलाकृति पर्यवेक्षण में छोटी सैनिक टुकड़ी या अन्य सहायता को लेकर कोई अफसर संबंधित क्षेत्र की भूमि या मार्ग की बनावट, प्राकृतिक तथा अन्य बाधाओं इत्यादि की जाँच करता है। युद्धनीतिक (strategical) टोह पहले घुड़सवारों द्वारा कराई जाती थी, पर अब यह कार्य वायुयानों से लिया जाता है।

सामरिक पर्यवेक्षण सभी प्रकार की सेनाओं के लिये आवश्यक होता है, चाहे यह स्वरक्षा के निमित्त पहले ही हो अथवा शत्रु से संपर्क होने पर हो। आजकल घुड़सवारों का मुख्य उपयोग इसी कार्य के लिये होता है। पैदल सेना के साथ इसीलिये घुड़सवारों का भी एक दल रहता है। कभी कभी सब प्रकार की, अर्थात् पैदल, घुड़सवार, तोपखाना आदि संमिलित, एक बड़ी सेना द्वारा पर्यवेक्षण इस विचार से कराया जाता है कि शत्रु की युद्धनीति या चाल का पता लग जाए, चाहे इस कार्य में एक खासी झड़प ही हो जाए। [भ० दा० व०]

सामाजिक अनुसंधान बहुत दिनों तक मनुष्य ने सामाजिक घटनाओं की व्याख्या, पारलौकिक शक्तियों, कोरी कल्पनाओं और तर्कवाक्यों के आकारगत सत्यों के आधार पर की है। सामाजिक अनुसंधान का बीजारोपण वहीं से होता है जहाँ वह अपनी 'व्याख्या' के संबंध में संदेह प्रकट करना प्रारंभ करता है। अनुसंधान की जो विधियाँ प्राकृतिक विज्ञानों में सफल हुई हैं, उन्हीं के प्रयोग द्वारा सामाजिक घटनाओं की 'समझ' उत्पन्न करना, घटनाओं में कारणता स्थापित करना, और वैज्ञानिक तटस्थता बनाए रखना, सामाजिक अनुसंधान के मुख्य लक्षण हैं। ऐसी व्याख्या नहीं प्रस्तुत करनी है जो केवल अनुसंधानकर्ता को संतुष्ट करे, बल्कि ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करनी होती है जो आलोचनात्मक दृष्टिवालों या विरोधियों का संदेह दूर कर सके। इसके लिये निरीक्षण को व्यवस्थित करना, तथ्यसंकलन, और तथ्यनिर्वचन के लिये विशिष्ट उपकरणों का प्रयोग करना, और प्रयोग में आनेवाले प्रत्ययों (Variables) को स्पष्ट करना आवश्यक है। सामाजिक अनुसंधान एक शृंखलाबद्ध प्रक्रिया है जिसके मुख्य चरण हैं —

(१) समस्या के क्षेत्र का चुनाव।

(२) प्रचलित सिद्धांतों और ज्ञान से परिचय।

(३) अनुसंधानों की समस्या को परिभाषित करना और आवश्यकतानुसार प्रकल्पना का निर्माण करना।

(४) आँकड़ा संकलन की उपयुक्त विधियों का चुनाव, आँकड़ों का निर्वचन (अर्थ लगाना) और प्रदर्शन करना।

(५) सामान्यीकरण और निष्कर्ष निकालना।

अनुसंधानप्रक्रिया की पूर्वयोजना शोध प्राकल्प (research design) में तैयार कर ली जाती है।

आँकड़ा संकलन की विधियाँ (Techniques of Data Collection) — अनुसंधान की समस्या के अनुसार आँकड़ा संकलन की विधियों का प्रयोग किया जाता है।

निरीक्षण के अंतर्गत वह सारा ज्ञान आता है जो इंद्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है। प्रशिक्षित निरीक्षक, पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर, तटस्थ द्रष्टा होता है। वह सहभागी और असहभागी (Participant and Nonparticipant) दोनों ही प्रकार के निरीक्षण कर सकता है। नियंत्रित परिस्थिति में निरीक्षण करना परीक्षण होता है। परंतु नियंत्रण की शर्त भौतिकी के परीक्षण के समान कठोर नहीं होती। प्राकृतिक घटनाएँ, जैसे बाढ़, सूखा, भूकंप, राजकीय कानून आदि भी प्रयोगात्मक परिवर्त्य (Experimental Variable) के समान सामाजिक घटनाओं को प्रभावित करते हैं।

व्यक्ति के विचारों, इरादों, विश्वासों, इच्छाओं, आदर्शों, योजनाओं और अतीत के प्रभावों को जानने के लिये प्रश्नावली और साक्षात्कार विधियों का प्रयोग किया जाता है। प्रश्नावली विधि में उत्तरदाता के समक्ष अनुसंधानकर्ता उपस्थित नहीं होता। साक्षात्कार में वह उत्तरदाता के समक्ष रहता है और नियंत्रित (Structured) या अनियंत्रित (Unstructured) रीति से, उत्तरों द्वारा, आँकड़े प्राप्त करता है। व्यक्ति के प्रातीतिक पक्ष का अन्वेषण करने के लिये अभिवृत्ति प्रमापन प्रत्यक्षेपण विधि और समाजमिति (Sociometry) का प्रयोग किया जाता है। व्यक्तिविषय अध्ययनप्रणाली (Case Study Method) आँकड़ा संकलन की वह विधि है जिसके द्वारा किसी भी इकाई (व्यक्ति, समूह, क्षेत्र आदि) का गहन अन्वेषण किया जाता है। सामाजिक अनुसंधान में प्रतिनिधि इकाइयों की प्राप्ति के लिये निदर्शन (Sampling) की विधियाँ, जो रेंडम विधि का ही विभिन्न रूप हैं, लगाई जाती हैं।

मानव व्यवहारों के गुणात्मक पक्ष (Qualitative Aspect) के प्रमापन के प्रति अब आशाजनक दृष्टिकोण अपनाया जाता है।

गुणात्मक आँकड़ों का मापन (Measurement of Qualitative Data)। गुणात्मक पक्ष को मापने की मुख्य रीतियाँ, व्यवस्थित शृंखला संबंध प्रमापन और संकेतकों (Indicators) के आधार पर वर्गीकरण करने से संभव होता है। बोगार्डस (Bogardus) का सामाजिक दूरी मापने में सात बंदुओं का पैमाना, अपनी कुछ त्रुटियों के बावजूद, महत्वपूर्ण पैमाना है। मोरेनो (Moreno) और जेनिंग्ज ने समाजमिति द्वारा किसी समूह में पाए जानेवाले सामाजिक अंत:संबंधों की सज्जाकारी (Configuration) को मापने की विधि बताई है। चैपिन (Chapin) ने सामाजिक स्तर मापने का पैमाना प्रस्तुत किया है। अभिवृत्तियों को मापने के अनेक पैमानों में से थर्सटन (Thurston) तथा लिकर्ट (Likert) के पैमाने प्रसिद्ध हैं।

गणित का प्रयोग (Mathematical Models in Social Research) — 'मानव व्यवहार गणित के सूत्रों में नहीं बाँधा जा सकता' इस मत के अनुसार, प्राकृतिक विज्ञानों के विकास में इतना महत्वपूर्ण योगदान देनेवाला गणित, सामाजिक अनुसंधान में आवश्यक भूमिका नहीं रखता। गणित के पक्ष में मत रखनेवालों का दावा है कि कोई भी गुणात्मक तथ्य ऐसा नहीं है जिसका मात्रात्मक अध्ययन संभव न हो। प्रत्येक व्यक्ति के लिये समान रूप से विश्वसनीय माप का गणित के पदों में व्यक्त करना आवश्यक है। वास्तव में गणित भाषा के समान है जिसके प्रतीकों द्वारा तर्कवाक्यों (Propositions) का निर्माण हो सकता है। समाजशास्त्रीय सिद्धांत के विकास में गणित प्राकल्पों (Mathematical Models) का प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

सामाजिक अनुसंधानों में, सामग्री के संग्रहण में स्पष्टीकरण के लिये, सांख्यकीय विधियों (Statistical Method) का प्रयोग प्रतिनिधित्व या माध्यम वृत्तियों (Average Tendency) को प्रकट करने के लिये किया जाता है। माध्यमिक, माध्य, बहुलांक, सहसंबंध प्रमाप, मापक विचलन, अंतरंग परीक्षा आदि विधियों का प्रयोग किया जाता है। सामग्री का संकेतन (Codification) और वर्गीकरण (क्लासिफिकेशन) करके सारिणीयन (Tabulation) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। सारणीयन के आँकड़ों को स्पष्ट करने के लिये तथा परिवर्त्यों (Variables) का सहसंबंध स्थापित करने के लिये, विभिन्न शीर्षकों, स्तंभों एवं रेखाचित्रों का प्रयोग किया जाता है।

प्रकार (Types of Social Research) — अनुसंधान का वर्गीकरण, उसकी प्रेरणा और उद्देश्य के आधार पर, किया जा सकता है। उपयोगिता और नीतिनिर्माण से रहित, वैज्ञानिक तटस्थता के साथ, किसी प्राक्कल्पना का समर्थन करना बुनियादी अनुसंधान (Fundamental Research) है परंतु उसका व्यावहारिक उपयोग दो तरह से किया जाता है —

(अ) परिचालन अनुसंधान (Operational Research) — प्रशासनिक समस्याओं के संबंध में होनेवाला अनुसंधान है। इसमें गणित और सांख्यकीय विधियों का प्रयोग संभाव्यतासिद्धांत, (Probability Theory) के आधार पर किया जाता है। आँकड़ों का चयन, विश्लेषण, आनुभविकरण, भविष्यवाणी, सिद्धांत, निर्माण आदि इस अनुसंधान की प्रक्रिया होते हैं।

(ब) क्रियात्मक अनुसंधान (Action Research) — किसी समुदाय की विशेषताओं को ध्यान में रखकर, नियोजित प्रयास, जो सामुदायिक जीवन के अनेक पहलुओं को प्रभावित करते हैं और सामाजिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिये किए जाते हैं, इस

अनुसंधान के अंतर्गत आते हैं, जैसे आवास, खेती, सफाई, मनोरंजन से संबंधित कार्यक्रम। समुदाय के सदस्यों का सहयोग, आर्थिक स्थिति. संगठित विरोध आदि विशेषताओं का मूल्यांकन (Factor Analysis) करके कार्यक्रम को सफल बनाने का प्रयत्न किया जाता है। यह अनुसंधान भारत में चलनेवाले नियोजन का एक मुख्य उपकरण है।

पद्धतियाँ (Methodology of Social Research) — सामाजिक अनुसंधान की पद्धति का विकास विभिन्न परस्पर विरोधी धाराओं में हुआ है। मुख्य धारा रही है उन सिद्धांतों की जो सामाजिक विज्ञान या सांस्कृतिक विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान से भिन्न मानते हैं। प्राकृतिक घटनाओं में संबंध यांत्रिक और बाह्य होते हैं, जब कि सामाजिक घटनाओं में संबंध 'मूल्य' और 'उद्देश्य' पर आधारित होते हैं। 'विज्ञान पद्धति की एकता' के समर्थक 'प्राकृतिक तथ्य' और 'सामाजिक तथ्य' में समानता मानते हैं। प्रकृति और समाज पर लागू होनेवाले नियम भी समान होते हैं। इनके अनुसार, मनुष्य के प्रातीतिक पक्ष का अध्ययन केवल बाह्य व्यवहारों के आधार पर ही किया जा सकता है। कारणता की खोज में धार्मिक रहस्यवाद का पुट पाया जाता है। ये केवल 'क्रियाओं' (Operations) को ही महत्व देते हैं। प्रकार्यवादी (Functionalism) पद्धति विकासावयव के विपरीत है। समाज के अवयवों में क्रम और अंतःसंबंध पाया जाता है। शारीरिक संगठन के सादृश्य पर सामाजिक तथ्य, संस्था, समूह, मूल्य आदि की क्रिया से उत्पन्न संस्कृति का अन्वेषण किया जाता है। ऐतिहासिक सामूच्य (Historicism) में घटनाओं को समझने के विपरीत, व्यक्तिवादी पद्धति है (Individualistic Positivism) है जो तत्काल को ही श्रेय देती है, क्योंकि तत्काल में सामूच्य के अंश विद्यमान होते ही हैं। इस प्रवृत्ति को लेकर सांकेतिक अध्ययन (Ideographic Studies) होने लगे हैं। इनके अतिरिक्त परिचालन और क्रियात्मक अनुसंधानों (Operational and Action Researches) की पद्धतियाँ प्रचलित हैं।

[ह० चं० श्री०]

सामाजिक कीट कीटों की संख्या सभी प्राणियों से अधिक है। कीट वर्ग, आर्थ्रोपोडा (Arthropoda) संघ में आता है। अब तक ज्ञात स्पीशीज (Species) की संख्या आठ लाख से भी अधिक है और प्राधिकारिक अनुमानों के अनुसार अगर इनकी सभी जातियों की खोज की जाय, तो उनकी संख्या ६० लाख से भी अधिक होगी। इनमें बहुत सी ऐसी जातियाँ हैं जिनके प्राणियों की संख्या अरबों में है। इससे कीट वर्ग की वृहद् राशि की कल्पना की जा सकती है।

कीटों के अनेक वर्गों में सामाजिक संगठन का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है। ऐसे कीटों के उदाहरण हैं, सामाजिक ततैया, सामाजिक मधुमक्खियाँ एवं चींटियाँ। ये सभी हाइमेनॉप्टेरा (Hymenoptera) गण में आते हैं। दीमक आइसॉप्टेरा (Isoptera) गण में आती है। इन कीटों में सामुदायिक संगठन का विकास सर्वोच्च हुआ है। इन संगठनों में विभिन्न सदस्यों के कार्यों का वर्गीकरण पूरे समुदाय के हित के लिये किया जाता है। सभी सामाजिक कीट बहुरूपी होते हैं, अर्थात् एक स्पीशीज में कई स्पष्ट समूह होते हैं।

प्रत्येक समूह में जनन जातियाँ, (नर, मादा, राजा, रानी, इत्यादि) रचना तथा कार्य की दृष्टि से, बाँझ जातियों (सेवककर्मी, सैनिक आदि) से भिन्न होती हैं। बाँझ जातियों में केवल जनन अंग के अवशेष ही पाए जाते हैं। दीमकों में दोनों प्रकार के लिंगी पाए जाते हैं, परंतु सामाजिक हाइमेनॉप्टेरा की बाँझ जातियों के अंडेनिषेचित अंडों से केवल मादाएँ उत्पन्न होती हैं, जो बाँझ होती हैं। अनिषेचित अंडे के अनिषेकजनन (parthenogenesis) से क्रियात्मक नर विकसित होते हैं।

उपसामाजिक कीट — वास्तविक सामाजिक कीटों की उत्पत्ति उपसामाजिक कीटों से हुई। इनमें लैंगिक एवं पारिवारिक समंजन के साथ साथ प्रौढ़ एवं युवकों के बीच कार्यों का वर्गीकरण भी हुआ। पर एक ही लिंग के प्रौढ़ों के बीच श्रम का विभाजन नहीं हुआ है। इस प्रकार सामाजिक ततैयों की उत्पत्ति संभवत. एकमात्र परभक्षी ततैये से हुई होगी, जो यूमिनीज (Eumenes) एवं वेस्पिडी कुल के ऑडीनीरस (Odynerus) से संबंधित है। ये दोनों ही गड्ढों या अपने बनाए गए छत्तों में अपने लार्वों के लिये भोजन या तो रखते हैं, अथवा उन्हें शक्तिहीन इल्लियाँ खिलाते हैं। सामाजिक मधुमक्खियों का विकास एकल मधुमक्खियों के स्पीसिडी (Specidae) कुल की एकल ततैयों से हुआ। फॉरमिसिडी (Formicidea) कुल में चींटियाँ आती हैं। इस कुल के सभी सदस्य सामाजिक होते हैं।

वास्तविक सामाजिक कीट

चींटियाँ — हाइमेनॉप्टेरा की सभी जातियों में चींटियों का सामाजिक संगठन सर्वोच्च होता है। सभी चींटियाँ विभिन्न अंशों तक सामाजिक होती हैं। (देखें चींटी)।

मधुमक्खियाँ — इनकी दस हजार से अधिक जातियाँ आज जीवित हैं, जिनमें, लगभग १०० जातियाँ ठीक ठीक सामाजिक हैं। मक्खियों में सर्वोच्च सामाजिक जीवन का विकास मधुमक्खियों या घरेलू छत्तेवाली मक्खियों में हुआ है। ये मधुमक्खियाँ एपिस (Apis) वंश की हैं। इनकी केवल चार स्पीशीज हैं : यूरोप की एपिस मेलिफिका (Apis mellifica), उष्ण कटिबंधी पूर्व देश की एपिस डॉरसेटा (Apis dorsata), एपिस इंडिका (A indica) और एपिस फ्लोरिया (A. florea)।

मधुमक्खियाँ भी त्रिरूपी होती हैं और इनके तीनों रूप अधिक स्पष्ट होते हैं। इनको सरलता से विभेदित किया जा सकता है। पुंमधुप (Drone) अपने भुथरे उदर तथा बड़ी बड़ी आँखों के कारण मादा से विभेदित होता है। रानी अपने बड़े उदर से जो बंद पंखों के पीछे तक फैला होता है तथा पैरों पर पराग की छोटी टोकरी से पहचानी जाती है। वह एक दिन में १००० अंडे दे सकती है। श्रमिक बाँझ मादाएँ होती हैं, जिनमें प्रारंभिक अंग और पैरों पर पराग के आनेवाली रचनाएँ (पराग की टोकरी) पाई जाती है। श्रमिक मधुमक्खियाँ कभी कभी अंडे देती हैं, पर वे निषेचित नहीं होतीं और उनमें केवल पुंमधुप ही उत्पन्न होते हैं।

मधुमक्खियों के निवह चिरस्थायी होते हैं और इनमें रानी के साथ साथ श्रमिकों का समूह रहता है। एक जीवित निवह में

श्रमिकों की संख्या ५०,००० से ८०,००० तक रह सकती है। छत्ता श्रमिकों की उदरग्रंथि के स्राव से उत्पन्न मोम का बना होता है। प्रत्येक छत्ता बड़ी संख्या में षट्कोणीय कोष्ठिकाओं का बना होता है। ये कोष्ठिकाएँ आगे पीछे दो श्रेणियों में बनी होती हैं। अनेक छत्ते ऊर्ध्वाधर, समांतर लटके होते हैं ताकि उनके बीच में श्रमिकों के आने जाने के लिये पर्याप्त स्थान रहे। मधुपूर कोष्ठिका से अलग वह स्थान होता है जहाँ मधु संचित होता है। मधुपूर कोष्ठिकाएँ तीन प्रकार की होती हैं—(१) छोटी कोष्ठिका श्रमिकों के लिये, (२) पहले से कुछ बड़ी कोष्ठिका पुमधुपों के लिये और (३) बहुत प्रशस्त कोष्ठिका रानी के लिये। पुंमधुप वाली कोष्ठिकाएँ कम संख्या में और रानी वाली कोष्ठिकाएँ बहुत ही कम संख्या में होती हैं।

मकरंद (nectar) और पराग के अतिरिक्त मधुमक्खियाँ मोम (propolis) नामक एक चिपचिपा पदार्थ भी एकत्र करती हैं, जो जोड़ने के काम आता है। रानी मधुपूर कोष्ठिकाओं (brood cells) में अंडे देती है। निषेचित अंडे श्रमिकों और रानी कोष्ठिकाओं में तथा अनिषेचित अंडे पुंमधुप कोष्ठिकाओं में दिए जाते हैं। अंडे लगभग तीन दिनों में फूटते हैं, श्रमिक लगभग तीन सप्ताह में, पुंमधुप इससे कुछ अधिक दिनों में तथा मादाएँ १६ दिनों में विकसित होती हैं। सभी वद्र लार्वा प्रारंभ में श्रमिकों के लार ग्रंथि को खाते हैं। इसे 'रॉयल जेली' (Royal jelly) कहते हैं, परंतु तीसरे या चौथे दिन के बाद इसे रानी के लार्वों को प्यूपीकरण (pupation) तक खिलाया जाता है, जब कि अन्य सभी को मधु एवं पराग का बना मिश्रण, जिसे 'बी ब्रेड' (Bee bread) कहते हैं, खिलाया जाता है।

मधुमक्खियों में मादा का निर्धारण अन्य सामाजिक कीटों से उनके आहार द्वारा अधिक स्पष्ट होता है। पोला छोड़ने (swarming) के अंत में जब रानी निषेचित हो जाती है, तब श्रमिक मधुमक्खियाँ पुंमधुप को भोजन न देकर, उन्हें छत्ते से निकाल देती हैं और कभी कभी सीधे मार डालती हैं।

सामाजिक मधुमक्खियों में सबसे अधिक आदिम (primitive) बंबिडी (Bombidae) कुल की मधुमक्खी है। दंशरहित मधुमक्खियों के दो वंशों में मेलिपोना (Melipona) अमरीका में ही सीमित हैं, जब कि बड़ा वंश ट्राइगोना (Trygona) संसार के सभी उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में पाया जाता है। मधुमक्खियों में एक असाधारण संचारतंत्र का आविष्कार के० वान फ़िश ने सन् १६५० ई० में किया। एक मैदानी स्काउट (scout) अधिक भोजन के पराबैंगनी (ultraviolet) रंग के क्षेत्र पहचानना सीख सकता है, लेकिन सिंदूरी लाल (scarlet red) रंग के क्षेत्र को नहीं।

सामाजिक ततैया (Social Wasp) — सामाजिक ततैयों की एक हजार जातियाँ हैं। ये सभी वेस्पिडी (Vespidae) कुल में आती हैं। इनका विकास विभिन्न आदिम तथा एकल ततैयों से हुआ है। प्रारंभ में ततैया परभक्षी होती हैं, यद्यपि ये मकरंद, फलों तथा अन्य मीठे पदार्थों को भी खा सकती हैं। छत्ते साधारणतया कागज के, जो चर्वित लकड़ी को लार के साथ मिलाकर बना होता है, बने होते हैं। प्रमुख सामाजिक ततैयों का निवह एक गर्भन योग्य मादा (रानी) से, जो जाड़ा शीतनिष्क्रियता (hibernation) में व्यतीत कर चुकी होती है, प्रारंभ होता है। वसंत में वह कुछ कोष्ठिकाओं का छोटा छत्ता बनाना प्रारंभ करती है।

छत्ते मिट्टी में बने गड्ढों या खोखले पेड़ों पर बनाए जाते हैं, या शाखाओं से लटके रहते हैं। जब श्रमिक अंडों से निकलते हैं, तब छत्ते के विस्तार में सहायता करते हैं, ताकि उसमें अंडे रखे जा सकें। ये छत्ते एक या एक से अधिक छत्रकों (Coombs) के बने होते हैं। साधारणतया कोष्ठिका षट्कोणीय होती है। मधुपूर कोष्ठिकाएँ (brood cells) नीचे की ओर खुलती हैं, जो सामाजिक ततैयों की विशिष्टता है। ग्रीष्म में नर तथा मादा एक दूसरे के संसर्ग में आते हैं। सामान्यतः वर्ष के अंत में संगम होने के बाद पूरा निवह नष्ट हो जाता है। केवल कुछ गर्भवती मादाएँ शीतनिष्क्रियता में चली जाती हैं।

पूर्वीय वंश के स्टेनोगैस्टर (Stenogaster) की कुछ आदिम सामाजिक जातियाँ क्षैतिज स्थित कोष्ठिकाओं द्वारा छोटे छत्तों का निर्माण करती हैं। मादा लार्वों को, जो अत्यंत बंद कोष्ठिका में ही प्यूपा (pupa) बन जाते हैं, उत्तरोत्तर खिलाती पिलाती है। संतति ततैया (daughter wasp) निर्गमन के बाद भी माँ के साथ रहती है।

सुपरिचित सामाजिक ततैयों की शीतोष्ण जातियाँ पोलिस्टीज (Polistes), वेस्पा (Vespa), वेस्पुला (Vespula) और डोलिको वेस्पुला (Dolicoh vespula) हैं।

दीमक — ये अपने सामाजिक जीवन में चींटियों की ओर असाधारण समाभिरूपता प्रदर्शित करती हैं, अतः इन्हें गलती से 'सफेद चींटियाँ', कहते हैं। दीमक की २,००० से अधिक जातियाँ ज्ञात हैं, जो आदिम जाति के कीटों के आइसोप्टेरा (Isoptera) वर्ग की हैं। सभी दीमक सामाजिक होती हैं, यद्यपि उनका सामाजिक संगठन विभिन्न क्रम का, साधारण से जटिल प्रकार तक का, होता है (देखें दीमक)।

अधिकांश सामाजिक कीटों में एक अत्यधिक आकर्षक घटना प्रौढ़ों और युवकों में पोषण के पारस्परिक विनियोग की है, जो सामाजिक पारस्परिक लेन देन को सरल कर देती है। युवा ततैये, चींटियाँ तथा दीमक स्राव उत्पन्न करती हैं, जो उनकी उपचारिकाओं द्वारा उत्सुकता से चाट लिया जाता है और ये उपचारिकाएँ ऐसे एकत्रित भोजन, स्राव तथा कभी कभी उत्सर्ग को बच्चों को खिलाती हैं। भोज्य पदार्थों के विनियोग, स्पर्श, या रासायनिक उद्दीपन द्वारा सामाजिक सरलीकरण को 'ट्रोफोलैक्सिस' (Tropholaxis) कहते हैं और यह समस्त सामाजिक कीटों की विशेषता है। परिचारिकाओं को आकर्षित करने के लिये मधुमक्खियों के लार्वे स्राव उत्पन्न नहीं करते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कीटों में सामाजिक जीवन अपने उच्च शिखर पर होता है, जो अन्यत्र केवल मनुष्यों को छोड़कर कहीं

नहीं पाया जाता है। कीटों ने संसार में सर्वप्रथम पूर्ण विकसित सामाजिक जीवन का उदाहरण प्रस्तुत किया है। [शी॰ प्र॰ सिं॰]

सामाजिक नियंत्रण (Social control) के अंतर्गत व्यापक अर्थ में वे सभी सामाजिक प्रक्रियाएँ और शक्तियाँ आती हैं जिनके द्वारा सामाजिक संरचना को स्थायित्व मिलता है और वह अस्त-व्यस्त होने से बचती है। समाजशास्त्र (sociology) में सामाजिक नियंत्रण के अध्ययन का अभिप्राय यह ज्ञात करने का प्रयत्न करना है कि सामाजिक ढाँचा किस प्रकार बना रहता है और सामाजिक अंत:क्रियाएँ किस प्रकार सुव्यवस्थित रूप में चलती रहती हैं।

सामाजिक नियंत्रण का अध्ययन तात्त्विक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, सामाजिक समस्याओं तथा विघटन को भली भाँति समझने तथा उनका निराकरण करने के लिये भी उपयोगी है, क्योंकि तलाक, अपराध आदि अनेक सामाजिक समस्याओं का प्रमुख कारण सामाजिक नियंत्रण की प्रणालियों एवं शक्तियों की असफलता है। वास्तव में सामाजिक नियमों के उल्लंघन (deviation) को रोकने की प्रक्रिया को ही सामाजिक नियंत्रण कहते हैं अतः सामाजिक व्यवस्था में संतुलन बनाए रखनेवाली शक्तियों और प्रणालियों के अध्ययन का व्यावहारिक महत्व स्पष्ट है। तात्त्विक दृष्टि से सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक संरचना एवं सामाजिक परिवर्तन के साथ, समाजशास्त्र का प्रमुख अंग है।

सामाजिक नियंत्रण की परिभाषा विभिन्न समाजशास्त्रियों ने भिन्न भिन्न प्रकार से की है। इसकी परिधि में कौन कौन सी प्रक्रियाएँ आती हैं, इस संबंध में कई दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टिकोण आत्मनियमन (self regulation) को सामाजिक नियंत्रण से संबद्ध, किंतु उसकी परिधि से बाहर मानता है और दूसरा सामाजिक नियंत्रण के अंतर्गत आत्मनियमन की प्रक्रियाओं को रखने के पक्ष में है। विभिन्न समाजशास्त्रियों की रचनाओं में इन दो दृष्टिकोणों के प्रति झुकाव भिन्न भिन्न मात्रा में पाया जाता है। यद्यपि सामाजिक नियंत्रण के क्षेत्र के संबंध में दृष्टिकोण के इस अंतर की चर्चा स्पष्ट रूप से कम ही हुई है, तथापि यह अंतर महत्वपूर्ण है, और यह बहुत हद तक मानवस्वभाव तथा समाज की प्रकृति के संबंध में विभिन्न दृष्टिकोणों पर आधारित है।

सामाजिक नियंत्रण के संबंध में एक और प्रश्न यह उठाया गया है कि इसकी प्रणालियों को किस हद तक संपूर्ण समुदाय का हितसाधक माना जा सकता है। कुछ विद्वान्, जिनमें मार्क्सवादी विद्वान् भी संमिलित हैं, यह मानते हैं कि सामाजिक नियंत्रण सदा समग्र समुदाय तथा इस समुदाय के सभी व्यक्तियों के हित में हो, यह आवश्यक नहीं है। उनका कहना है कि अनेक व्यवस्थाओं में सामाजिक नियंत्रण की प्रणालियों का प्रमुख कार्य सत्तारूढ़ वर्ग की स्थिति को दृढ़ बनाए रखना होता है। यह आवश्यक नहीं कि इस वर्ग के हित में और पूरे समुदाय के हितों में सामंजस्य हो।

सभी समाजों में सामाजिक नियंत्रण, समाजीकरण (socialization) की प्रक्रियाओं से संबद्ध रहता है। बहुत हद तक सामाजिक नियंत्रण की सफलता समाजीकरण की सफलता पर निर्भर रहती है। समाजीकरण से तात्पर्य उन प्रक्रियाओं से होता है जिनके द्वारा मानव शिशु सामाजिक प्राणी बनता है। नवजात मानव शिशु बहुत ही असहाय होता है। जन्म से न उसे भाषा पर अधिकार मिलता और न संस्कृति पर। उसका व्यक्तित्व भी अत्यंत अविकसित अवस्था में होता है। शैशव काल में समुदाय के अन्य सदस्यों के संपर्क द्वारा ही धीरे धीरे मानव शिशु के व्यक्तित्व का विस्तार एवं परिपाक होता है। स्पष्ट है कि इसमें मुख्य हाथ माता, पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों के संपर्क का रहता है। समाजीकरण के द्वारा ही व्यक्ति अपने समुदाय की संस्कृति तथा उनकी मान्यताओं, मूल्यों और आदर्शों को आत्मसात् करता है, अर्थात् समुदाय में प्रचलित अच्छे बुरे के मानदंड उसके व्यक्तित्व के भाग बन जाते हैं। यही कारण है कि बड़े होने पर वह अपने समुदाय में प्रचलित आदर्शों एवं व्यवहार प्रणालियों का बिना किसी बाहरी दबाव अथवा भय के भी स्वभावत: पालन करता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री टेलकट पार्सन्स ने इस प्रक्रिया-मूल्यों के आंतरीकरण (internatiation of values), को अपने सिद्धांतों में बहुत महत्व दिया है। वस्तुत. मानव व्यक्तित्व के विकास के संबंध में यह दृष्टि फायड तथा अन्य मनोविश्लेषणवादियों की खोजों की देन है। फायड के अनुसार मन के अच्छाई बुराई का निर्णय करनेवाले के पक्ष (super ego) का अस्तित्व जन्म के समय नहीं होता। उसका विकास शैशवकालीन अनुभवों द्वारा जीवन के प्रारंभिक वर्षों में ही होता है।

सामाजिक व्यवस्था के स्थायित्व का एक बड़ा कारण यही है कि प्रत्येक समुदाय अपने सदस्यों के व्यक्तित्व को अनुकूल रूप देता है। उस समुदाय के अच्छे बुरे के मानदंड उनके व्यक्तित्व के अचेतन स्तर के भाग बन जाते हैं। अत: बड़े होने पर तर्कों आदि के प्रहार से भी इन आस्थाओं को भंग नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि किसी भी समुदाय के अधिकतर सदस्य उसके अधिकतर नियमों का पालन स्वाभाविक रूप से करते हैं।

इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण की सफलता का आधार बहुत हद तक सामाजीकरण की प्रक्रियाएँ हैं। समाज एवं संस्कृति अपने सदस्यों के व्यक्तित्व को ही ऐसे गढ़ते हैं कि वह उनके स्थायित्व में बाधक न बने। इसका एक अच्छा प्रमाण हाल ही में किए गए कार्डिनर, लिंटन आदि के शोधकार्य द्वारा मिलता है। इनके दृष्टिकोण को 'व्यक्तित्व संस्कृति' दृष्टिकोण, (personality culture approach) कहते हैं। यह दृष्टिकोण नृतत्वशास्त्र और मनोविज्ञान की सामग्री के समन्वय का परिणाम है। इस क्षेत्र में किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि प्रत्येक संस्कृति में एक विशेष प्रकार के व्यक्तित्व का प्राधान्य होता है। व्यक्तित्व के एक ही प्रकार के आधारभूत गठन (basic prsonality structure) के प्राधान्य के कारण सांस्कृतिक परंपरा की अविरलता बनी रहती है और सामाजिक व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहती है। कार्डिनर और लिंटन के अनुसार प्रत्येक समुदाय में एक ही प्रकार के व्यक्तित्व के आधारभूत गठन पाए जाने का कारण शैशव में लालन पालन के समान ढंग हैं।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि सामाजिक नियंत्रण में परिवार का महत्व सर्वाधिक है। यद्यपि साधारणत: परिवार, राज्य की भाँति सामाजिक नियमों को भंग करनेवालों को दंड देता हुआ दृष्टिगोचर

नहीं होता, तथापि यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि सामाजिक नियंत्रण का सबसे महत्वपूर्ण आधार परिवार ही है। पहली बात तो यही है कि शैशव काल में व्यक्ति का संपर्क मुख्यतः परिवार के सदस्यों से ही होता है। इस प्रकार व्यक्तित्व के निर्माण में तथा उसमें सामाजिक मूल्यों को प्रविष्ट कराने में परिवार का प्रमुख हाथ रहता है। बड़े हो जाने पर भी व्यक्ति का जितना लगाव परिवार से रहता है, उतना किसी अन्य संस्था अथवा समूह से नहीं। सच बात तो यह है कि आज भी विश्व के अधिकतर मनुष्यों का व्यवहार व्यक्तिगत अहम् की अपेक्षा पारिवारिक अहम् (family ego) से अधिक परिचालित होता है। व्यक्ति, सामाजिक नियमों को तोड़ने से स्वयं अपने लिये ही नहीं बल्कि अपने परिवार के अहित के डर से भी विरत होता है। यही कारण है कि जिन बड़े बड़े औद्योगिक नगरों में ऐसे लोगों की संख्या अधिक हो जाती है जो अपने परिवारों से अलग रहते हैं, उनमें सभी प्रकार का सामाजिक विघटन बड़ी मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। साथ ही यह सर्वमान्य है कि परिवारों के टूटने अथवा उनके गठन के शिथिल होने के साथ किशोरापराध आदि अनेक समस्याओं का प्रकोप बढ़ जाता है।

सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधनों में पड़ोस, स्थानीय समुदाय आदि का भी बहुत महत्व है। यह सर्वविदित है कि सामाजिक नियमों का उल्लंघन न करने का कारण बहुत बार पड़ोसियों का भय भी होता है। भारत तथा अन्य कृषक सभ्यताओं में ग्रामीण समुदाय औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रकार से सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में बहुत ही महत्वपूर्ण योग देते थे, किंतु आधुनिक सामाजिक शक्तियों के फलस्वरूप सामाजिक नियंत्रण में पड़ोस आदि स्थानीय सामाजिक संबंधों का महत्व कम होता जा रहा है। आधुनिक नगरों में बहुधा पड़ोसी एक दूसरे को पहचानते भी नहीं, उनमें एकता की भावना का अभाव रहता है तथा एक दूसरे के 'व्यक्तिगत' मामलों में हस्तक्षेप को बुरा समझा जाता है। अत: सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में आधुनिकता के साथ साथ पड़ोस का महत्व कम होता प्रतीत होता है।

शिक्षा संस्थाओं का सामाजिक नियंत्रण में बड़ा महत्व है। शिक्षा संस्थाओं द्वारा विद्यार्थियों के विचारों, भावनाओं एवं व्यवहारों को समाजस्वीकृत साँचों में ढालने का प्रयत्न किया जाता है। यों तो इस संबंध में सभी प्रकार की शैक्षणिक संस्थाओं का अपना महत्व है किंतु प्राथमिक पाठशालाओं का प्रभाव संभवतः सर्वाधिक होता है।

राज्य स्पष्टतः सामाजिक नियंत्रण का अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है। अन्य संस्थाओं की अपेक्षा राज्य की विशेषता यह है कि इसे बल-प्रयोग अथवा हिंसा का अधिकार है। यदि कोई व्यक्ति सामाजिक नियमों के उल्लंघन की ओर इस प्रकार प्रवृत्त होता है कि परिवार तथा सामाजिक नियंत्रण के अन्य अनौपचारिक साधन उसे रोक नहीं सकते, तो राज्य उसे दंडित करके सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में योग देता है। वास्तविक दंड द्वारा राज्य सामाजिक नियमों को भंग होने से जितना बचाता है उससे कहीं अधिक दंड का भय बचाता है। सामाजिक सुव्यवस्था बनाए रखने में राज्य जिन साधनों का प्रयोग करता है वे इतने प्रत्यक्ष होते हैं कि बहुधा राज्य को सामाजिक नियंत्रण के आधार के रूप में आवश्यकता से अधिक महत्व दे दिया जाता है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक काल में सामाजिक नियंत्रण में राज्य का कार्यक्षेत्र एवं महत्व बढ़ता जा रहा है। पहले जिस प्रकार के नियंत्रण के लिये परिवार, पड़ोस, जाति आदि पर्याप्त थे, उसके लिये भी अब राज्य की सहायता आवश्यक हो गई है। बीसवीं शताब्दी में राज्य का कार्यक्षेत्र भी बढ़ता जा रहा है। अट्ठारहवीं—उन्नीसवीं शताब्दी में अधिकतर पाश्चात्य विद्वान् यह मानते थे कि आर्थिक मामलों में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए तथा कोई राज्य उतना ही अच्छा है जितना कम वह शासन करता है। किंतु आज विश्व के अधिकतर देशों में राज्य को जनता के कल्याण तथा सुरक्षा के लिये उत्तरदायी माना जाने लगा है। स्वभावतः इस प्रकार कार्यक्षेत्र बढ़ने के साथ सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में भी राज्य का महत्व बढ़ता जा रहा है।

सामाजिक ढाँचा तभी बना रह सकता है और सामाजिक व्यवस्था तभी सुचारु रूप से चल सकती है, जब मानव व्यवहार का स्वरूप सुनिश्चित बना रहे। यदि सभी लोग मनमाना व्यवहार करने लगें तो किसी प्रकार की सामाजिक सुव्यवस्था असंभव है। अतः प्रत्येक समाज में विभिन्न प्रकार के सामाजिक नियम अथवा संहिताएँ (social codes) पाई जाती हैं। यह अपेक्षा की जाती है कि सभी व्यक्तियों के व्यवहार इन्हीं प्रणालियों में प्रचलित होंगे। सामाजिक संहिताएँ अनेक प्रकार की होती हैं। इनमें कानून, रीति रिवाज, (customs), शिष्टाचार के नियम, फैशन आदि प्रमुख हैं। इन सामाजिक संहिताओं पर आधारित होने के कारण व्यवहार सुनिश्चित रहते हैं तथा एक दूसरे के व्यवहारों अथवा हितों का अवरोध नहीं करते। विभिन्न प्रकार की संहिताओं के पीछे भिन्न भिन्न प्रकार की अनुशास्ति (sanction) रहती है। अर्थात् संहिताओं द्वारा व्यवहार को सीमाबद्ध करने के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के दंड एवं पुरस्कार होते हैं। कानून भंग करने पर शारीरिक अथवा आर्थिक दंड का भय रहता है। रीति रिवाज के उल्लंघन से समुदाय द्वारा निंदा का भय रहता है तथा उनके पालन से सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती है। धार्मिक संहिताओं के पीछे यह विश्वास रहता है कि बुरा काम करने पर दैव के दंड का भाजन बनना पड़ेगा और अच्छा कार्य करने से सुख समृद्धि की वृद्धि होगी। अर्थात् धार्मिक नियमों के पालन से पुण्य तथा स्वर्ग आदि की प्राप्ति की आशा की जाती है और उनके उल्लंघन से पाप तथा नरक में जाने की आशंका की जाती है। शिष्टाचार के नियमों को भंग करने से उपहास तथा निरादर का भय रहता है। इस प्रकार विभिन्न सामाजिक संहिताएँ अनेक प्रकार के मानव व्यवहारों को सुनिश्चित दिशाओं में प्रेरित कर सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में सहायक होती हैं।

सामाजिक नियंत्रण न केवल शारीरिक दंड के भय से होता है और न केवल प्रत्यक्ष उपदेशों द्वारा। सामाजिक सुव्यवस्था बनाए रखने में प्रतीकात्मक कृतियों का भी बहुत बड़ा हाथ है। प्रतीकों की सबसे महत्वपूर्ण व्यवस्था मानवीय भाषा है। शायद भाषा ही मनुष्यों को पशुओं से अलग करनेवाला सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है। भाषा में केवल अभिधा की ही शक्ति नहीं रहती, उसमें लक्षणा और व्यंजना आदि भी पाई जाती है। अतः अपने समुदाय की भाषा सीखने के साथ

साथ मानव शिशु मानवीय आदर्श एवं मूल्य भी अनजाने ही आत्मसात् कर लेता है। भाषा के विभिन्न प्रयोग, उदाहरणतः व्यंग आदि, सामाजिक नियमों के उल्लंघन को रोकने में बहुत सहायक होते हैं। कहावतें सामाजिक नियमों के सूक्ष्म व्यतिरेक को भी पकड़ने और सामने लाने की क्षमता रखती हैं। साथ ही वह उल्लंघन करनेवाले पर चोट कर तुरंत दंड भी देती हैं। इस प्रकार कहावतें भी सामाजिक नियंत्रण का महत्वपूर्ण साधन हैं। साहित्य के अन्य रूप भी सामाजिक नियंत्रण में सहायक होते हैं। नायक, खलनायक और मूर्ख के चरित्रचित्रणों द्वारा ऐसे प्रतिमान उपस्थित होते हैं जो कुछ प्रकार के व्यवहार को प्रश्रय देते हैं तथा कुछ अन्य प्रकार के व्यवहारों से विरत करते हैं। पौराणिक कथाओं (myths) और अनुष्ठानों (rituals) का भी सामाजिक नियंत्रण में महत्वपूर्ण स्थान होता है। पौराणिक कथा अपने शुद्ध रूप में उपदेश नहीं देती। वह ऐसे प्रतीकात्मक प्रतिमान उपस्थित करती है जो व्यक्ति के विचारों एवं व्यवहार को गहराई से प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिये भारत में राम की कथा, इस समाज की सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था, परिवार को शक्ति प्रदान करती है। भारत तथा अन्य कृषक सभ्यताओं में पितृसत्ताक परिवार सामाजिक जीवन की धुरी होता है। इस प्रकार के परिवार के स्थायित्व के लिये पिता की आज्ञा का पालन अत्यंत आवश्यक है। राम के चरित्र में सबसे बड़ी बात यही है कि उन्होंने पिता की आज्ञा का पालन किया, भले ही वह आज्ञा न्यायोचित नहीं थी और उसके कारण उन्हें राज्य छोड़कर वन में जाना पड़ा। इस प्रकार यह कथा परंपरागत भारतीय समाज के आधारभूत नियम को बल प्रदान कर व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने में सहायक होती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि पौराणिक कथाओं के दैवी पात्रों और लौकिक व्यक्तियों के नाम (analog.cal correspondence) में विश्वास के आधार पर प्रत्येक सामाजिक स्तर (status) और कार्यभाग (role) के लिए निश्चित रूढ़ प्रकार (stereotypes) उपस्थित कर दिए जाते हैं।

अनुष्ठान प्रतीकात्मक कृत्य हैं और पौराणिक कथाओं की भाँति यह भी गहराई से मानव विचारों, भावनाओं और व्यवहारों को सुनिश्चित स्वरूप प्रदान कर सामाजिक नियंत्रण में सहायक होते हैं। जीवन के प्रमुख मोड़ों पर होनेवाले संस्कार व्यक्ति के कर्तव्यों और स्थितियों को उसके सामने तथा समुदाय के अन्य सदस्यों के सामने लाकर सामाजिक सुव्यवस्था में सहायक होते हैं। उदाहरण के लिये यज्ञोपवीत होने पर द्विज बालक को समुदाय में निश्चित स्थान दिया जाता है तथा उसे विशेष प्रकार के व्यवहार के लिये प्रेरित किया जाता है। इस प्रकार के संस्कार (rites de passage) अन्य जनजातीय तथा अजनजातीय समाजों में भी पाए जाते हैं। दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया निवासी जनजातीय लोगों के अनुष्ठानों का गहन अध्ययन कर सामाजिक नियंत्रण में अनुष्ठानों के महत्व पर अच्छा प्रकाश डाला है। नृतत्वशास्त्री रेडक्लिफ़ ब्राउन का कहना है कि अनुष्ठान विभिन्न व्यक्तियों और समूहों के पारस्परिक संबंध तथा कार्यभाग को प्रत्यक्ष लाकर सामाजिक एकता बनाए रखने में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ पुनर्जन्म संबंधी अनुष्ठानों में परिवार के सदस्यों तथा समुदाय के अन्य लोगों (भारत में नाई, धोबी आदि) के विशेष प्रकार से संमिलित होने से यह स्पष्ट होता है कि नवजात शिशु का संबंध केवल अपने माँ बाप से ही नहीं है, बल्कि पूरे समुदाय में उसका सुनिश्चित स्थान है।

सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने से संबंधित है, किंतु सामाजिक परिवर्तन से इसका कोई मौलिक विरोध स्वीकार करना आवश्यक नहीं। इसमें संदेह नहीं कि किसी पुरानी सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक नियंत्रण करनेवाली जो विविध संस्थाएँ, समूह, संहिताएँ, प्रतीकात्मक कृतियाँ आदि होती हैं वे बहुधा नई व्यवस्था आने के मार्ग में बाधक होती दिखाई देती हैं। किंतु सुव्यवस्थित सामाजिक परिवर्तन के लिये इन सभी में संतुलन और साथ साथ परिवर्तन होना आवश्यक है। अतः सामाजिक परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में भी सामाजिक नियंत्रण पर ध्यान देना आवश्यक है।

सं० ग्रं० — पाल एच० लैंडिस : सोशल कंट्रोल (१९५६); रिचार्ड टी० लपेर : ए थियरी ऑव सोशल कंट्रोल (१९५४); ई० ए० रॉस : सोशल कंट्रोल (१९०१); फ्रेडरिक ई० लूमले : मींस ऑव सोशल कंट्रोल (१९२५); कलुखान : पर्सनैलिटी इन नेचर, सोसायटी ऐंड कल्चर (१९३३); हैंस गर्थ और सी० राइट मिल्स, कैरेक्टर ऐंड सोशल स्ट्रक्चर (१९५३); टैलकट पार्संस : सोशल सिस्टम (१९५१); राबर्ट के० मर्टन : सोशल थियरी ऐंड सोशल स्ट्रक्चर (१९५०)। [इंद्रदेव]

सामाजिक नियोजन सामाजिक विज्ञानों में सामाजिक नियोजन की अवधारणा (या प्रत्यय concept) बहुत कुछ अस्पष्ट है। सामाजिक नियोजन अवधारणा का प्रयोग सुविधानुसार विभिन्न अर्थों तथा संदर्भों मे किया जाता है। सामान्यतया दो संदर्भों में यह प्रयोग किया जाता है : (१) समाजकल्याण और सामाजिक सुरक्षा के कार्यों से संबंधित नियोजन, तथा (२) आर्थिक, औद्योगिक, राजनीतिक, शैक्षणिक आदि क्षेत्रों के अतिरिक्त समाज के अवशिष्ट क्षेत्रों से संबंधित नियोजन। इनमे भी प्रथम अर्थ में "सामाजिक नियोजन" की अवधारणा का प्रयोग अधिक प्रचलित है। आम तौर पर ऐसी धारणा है कि इस प्रकार के सामाजिक नियोजन तथा अन्य नियोजनों, यथा आर्थिक नियोजन, का कोई विशेष पारस्परिक संबंध नहीं है। उपर्युक्त सीमित अर्थों में सामाजिक नियोजन के प्रत्यय का प्रयोग अतर्कसंगत तथा सर्वथा अनुपयुक्त है। सामाजिक नियोजन का प्रत्यय या अवधारणा कहीं अधिक व्यापक तथा महत्वपूर्ण है।

सामाजिक तथा 'नियोजन' दोनों ही शब्दों की प्रकृति का एक सामान्य विवेचन करने से सामाजिक नियोजन की अवधारणा संबंधी अनिश्चितता या अस्पष्टता कुछ हद तक दूर की जा सकती है। 'सामाजिक' का सामान्य अर्थ समाज से संबंधित स्थितियों से है तथा समाज का सामान्य अर्थ मनुष्यों के विभिन्न पारस्परिक संबंधों की व्यवस्था के रूप में लिया जाता है। समाज की इस व्यवस्था के अंतर्गत समाविष्ट पारस्परिक संबंध विविध प्रकार के होते हैं, यथा, पारिवारिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, संस्तरणीय आदि और इनमें से प्रत्येक प्रकार के संबंधों का क्षेत्र इस भाँति काम करता है कि वह बड़ी समाजव्यवस्था के अंतर्गत स्वत: एक व्यवस्था

या उपव्यवस्था निर्मित कर लेता है। इस प्रकार समाज एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत विभिन्न कोटि के सामाजिक संबंधों द्वारा निर्मित अन्तःसंबंधित उपव्यवस्थाएँ संघटित हैं। इस दृष्टि से सामाजिक शब्द का सामान्य प्रयोग सामाजिक विज्ञानों में समाजव्यवस्था से संबंध रखनेवाली स्थितियों के अर्थ में किया जाता है। राजनीतिक, आर्थिक या किसी अन्य प्रकार के मानवीय संबंध को "सामाजिक" की परिधि के बाहर रखना अतर्क-संगत है। अतः समाज व्यवस्था अथवा उसकी विविध उपव्यवस्थाओं संबंधी सभी स्थितियाँ सामान्यतया सामाजिक हैं।

'नियोजन' शब्द का भी विशिष्ट अर्थ है। नियोजन का स्वरूप कालक्रम की दृष्टि से भविष्योन्मुख तथा मूल्यात्मक दृष्टि से आदर्शोन्मुख होता है। नियोजन के अंतर्गत विद्यमान स्थितियों तथा संभावित परिवर्तनों की प्रकृति, उपयोगिता एवं औचित्य को ध्यान में रखते हुए एक ऐसी सुगठित रूपरेखा निर्मित की जाती है जिसके आधार पर भविष्य के परिवर्तनों को अपेक्षित लक्ष्यों के अनुरूप नियंत्रित, निर्देशित तथा संशोधित किया जा सके। नियोजन की धारणा में अनेक तत्व निहित हैं जिनमें कुछ मुख्य तत्व ये हैं—(१) अपेक्षित तथा इच्छित स्थितियों या लक्ष्यों के संबंध में स्पष्टता। यह निश्चित होना चाहिए कि किन स्थितियों की प्राप्ति अभीष्ट है। यह चुनाव का प्रश्न है। चूँकि अपेक्षित स्थितियों के अनेक विकल्प हो सकते हैं, इस कारण विभिन्न विकल्पों में से निश्चित विकल्प के निर्धारणार्थ चुनाव अनिवार्य हो जाता है। यह चुनाव केवल मूल्यों के आधार पर ही संभव है। (२) विद्यमान स्थितियों तथा अपेक्षित स्थितियों या लक्ष्यों के बीच की दूरी का ज्ञान भी नियोजन का एक प्रमुख तत्व है। इस समय जो स्थितियाँ विद्यमान हैं वे कब और किस सीमा तक इच्छित उद्देश्य तक पहुँचा सकती हैं और कहाँ तक उससे हटाकर दूर ले जा सकती हैं, इसका अधिकतम सही अनुमान लगाना आवश्यक है। सामान्यतया नियोजन की आवश्यकता विद्यमान स्थितियों के रूप और दिशा के प्रति असंतोष से उत्पन्न होती है और यह असंतोष स्वभावतया देश, काल तथा पात्र सापेक्ष है। (३) अपेक्षित स्थितियों या लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये आवश्यक साधन कहाँ तक उपलब्ध हो सकते हैं, इसका ज्ञान भी आवश्यक तत्व है। यदि लक्ष्यों का निर्धारण उपलब्ध साधनों के संदर्भ में नहीं होता तो वे केवल कल्पना के स्तर पर ही रह जाएँगे। अपेक्षित स्थितियों की प्राप्ति कामना मात्र पर निर्भर नहीं है, उनकी प्राप्ति के लिये साधनों का ज्ञान होना आवश्यक है। (४) अपेक्षित स्थितियों या लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में विद्यमान स्थितियों, उपलब्ध साधनों तथा संभावित घटनाओं के संदर्भ में एक कालस्तरित स्पष्ट रूपरेखा तैयार करना नियोजन का महत्वपूर्ण तत्व है। इस रूपरेखा के अनुरूप ही व्यवस्थित तथा निश्चित प्रकार से क्रियाकलापों एवं विचारों को इस तरह संगठित किया जा सकता है कि इच्छित लक्ष्यों की सिद्धि संभव हो।

'सामाजिक' तथा 'नियोजन' इन दोनों शब्दों की सामान्य विवेचना के आधार पर सामाजिक नियोजन के प्रत्यय का अर्थ समझने में सुविधा हो जाती है। कोई भी ऐसा नियोजन जो पूर्ण या आंशिक रूप से समाजव्यवस्था या उसकी उपव्यवस्थाओं में अपेक्षित परिवर्तन लाने के लिये किया जाता है सामाजिक नियोजन है। सामाजिक स्तर पर अपेक्षित संस्थात्मक तथा संबंधात्मक स्थितियों के स्थापनार्थ अथवा उनमें परिवर्तन या संशोधन के लिये विवेकपूर्ण तथा सतर्क, संग्रह दृष्टि से संगठित क्रियाकलापों की सुनिश्चित रूपरेखा सामाजिक नियोजन है। समाज के विभिन्न अंतःसंबंधित क्षेत्रों के परिवर्तनों को व्यवस्थित एवं संतुलित प्रकार से निश्चित दिशा की ओर ढालना सामाजिक नियोजन का विकसित तथा व्यापक रूप है। इस व्यापक सामाजिक नियोजन का कार्यविभाजन आदि संबंधी सुविधाओं की दृष्टि से अनेक विशिष्ट क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है, यथा आर्थिक उपव्यवस्था में इच्छित परिवर्तन लाने के लिये ऐसी विशिष्ट रूपरेखा बनाई जा सकती है जो मुख्यतया आर्थिक होगी और ऐसी योजना को आर्थिक नियोजन की संज्ञा देना उचित होगा। यही बात समाजव्यवस्था की अन्य उपव्यवस्थाओं, यथा राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि के संबंध में भी लागू होती है। सभी प्रकार के ऐसे नियोजन जो समाज-व्यवस्था के किसी भी भाग से संबंधित हैं सामाजिक नियोजन की अवधारणा के व्यापक क्षेत्र के अंतर्गत समाहित हो जाते हैं। चूँकि समाज की आर्थिक उपव्यवस्था का नियोजन आधुनिक युग में अधिक प्रचलित है—संभवतः जिसका कारण आर्थिक उपव्यवस्था का अन्य उपव्यवस्थाओं की अपेक्षा जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होना तथा अधिक नियंत्रणीय होना है—इस कारण एक ऐसी सामान्य धारणा व्याप्त है कि आर्थिक नियोजन कोई ऐसा नियोजन है जो व्यापक सामाजिक नियोजन से पूर्णतया स्वतंत्र है। निःसंदेह प्रत्येक सामाजिक उपव्यवस्था की अपनी विशेषता होती है, उसका अपना विशिष्ट स्थान होता है और इस दृष्टि से अन्य उपव्यवस्थाओं की भाँति आर्थिक उपव्यवस्था भी समाज व्यवस्था के एक विशिष्ट क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य संपन्न करती है, किंतु इससे यह निष्कर्ष निकालना तर्कसंगत न होगा कि उसका अस्तित्व पूर्णतया स्वतंत्र है और आर्थिक नियोजन का सामाजिक नियोजन से कोई संबंध नहीं है। जिस प्रकार समाजव्यवस्था से आर्थिक उपव्यवस्था जैसी उपव्यवस्थाएँ संबंधित हैं उसी प्रकार सामाजिक नियोजन से आर्थिक नियोजन जैसे नियोजन भी संबंधित हैं।

नियोजन का संबंध नियंत्रण तथा निर्देशन से है। समाज के सभी क्षेत्रों में नियंत्रण तथा निर्देशन का अनुशासन समान रूप से लागू नहीं होता। अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण कुछ क्षेत्र अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक नियंत्रण योग्य तथा कुछ कम नियंत्रणीय होते हैं। सामान्यतया प्राविधिक तथा आर्थिक स्तर से संबंधित विषय धार्मिक तथा विचारात्मक स्तर से संबंधित विषयों की अपेक्षा अधिक नियंत्रणीय होते हैं। जो स्तर भौतिक उपयोगिता तथा सभ्यता के उपयोगितावादी तत्वों के जितना निकट होगा और सांस्कृतिक एवं मूल्यात्मक तत्वों के प्रभाव से जितना दूर होगा वह उतना ही नियंत्रण तथा निर्देशन के अनुशासन में आबद्ध हो सकता है। इसी कारण समाजव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में नियोजन अपेक्षाकृत अधिक सरल हो जाता है। संभवतः शुद्ध प्राविधिक या प्रौद्योगिक क्षेत्र को छोड़कर अन्य किसी क्षेत्र में पूर्णतया नियंत्रित तथा निर्देशित नियोजन करना कठिन है। नियोजक को अनेक सीमाओं के अंदर योजना बनानी होती है और ये सीमाएँ संबंधित समाजव्यवस्था के ऐतिहासिक,

सांस्कृतिक संदर्भ द्वारा निर्मित होती है। इसी कारण समाजव्यवस्था या उसकी किसी उपव्यवस्था का नियोजन नवनिर्माण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नवनिर्माण तो किसी चीज का एकदम नए सिरे से, बिना किसी बाधा या सीमा के, इच्छित आधारों पर निर्माण करना है। वास्तव में नियोजन नवनिर्माण की अपेक्षा परिष्करण या पुनर्गठन अधिक है क्योंकि विद्यमान स्थितियों के दायरे में ही नियोजक को अभिलषित परिवर्तनों की रूपरेखा बनानी पड़ती है। वह अपनी कल्पनाशक्ति को मुक्त विचरण के लिये नहीं छोड़ सकता। प्रत्येक समाजव्यवस्था अपनी विशिष्ट ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों के अनुरूप नियोजन के लिये प्रेरणा भी प्रदान करती है और सीमाएँ भी निर्धारित करती है।

समाजव्यवस्था की विभिन्न उपव्यवस्थाओं के परस्पर संबंधित होने के कारण किसी भी एक उपव्यवस्था का नियोजन दूसरी उपव्यवस्थाओं से प्रभावित होता है और स्वतः भी उनको प्रभावित करता है। प्राय. विभिन्न उपव्यवस्थाओं की सीमारेखाएँ स्पष्ट नहीं होतीं और किसी एक उपव्यवस्था के क्षेत्र में नियोजन करनेवाला व्यक्ति अपने को दूसरी उपव्यवस्था के क्षेत्र का अतिक्रमण करता हुआ सा पाता है। उदाहरणार्थ, आर्थिक व्यवस्था के नियोजन के सिलसिले में कभी ऐसे भी प्रश्न उठते जिनका संबंध राजनीतिक वैधानिक उपव्यवस्था से होता है। ऐसी स्थिति में आर्थिक नियोजन के हित में यह अनिवार्य हो जाता है कि अपेक्षित दिशा में प्रगति के लिये राजनीतिक वैधानिक उपव्यवस्था के उन तत्वों को भी नियोजन के अनुरूप ढाला जाय जो आर्थिक उपव्यवस्था से संबंधित हैं। अत: किसी भी उपव्यवस्था का नियोजन केवल संबंधित क्षेत्र के अंदर ही परिसीमित नहीं किया जा सकता। प्रत्येक क्षेत्र में नियोजन जितना ही व्यापक और गहन होता जाता है उतना ही जटिलतर भी होता जाता है। इस जटिलता या समाज के विभिन्न क्षेत्रों की परस्पर संबद्धता को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक नियोजनकाअवधारणा मूलत. समाजशास्त्रीय है। [र० च० ति०]

सामाजिक प्रक्रम प्रक्रम गति का सूचक है। किसी भी वस्तु की आंतरिक बनावट में भिन्नता आना परिवर्तन है। जब एक अवस्था दूसरी अवस्था की ओर सुनिश्चित रूप से अग्रसर होती है तो उस गति को प्रक्रम कहा जाता है। इस अर्थ में जीव की अमीबा से मानव तक आनेवाली गति, भूप्रस्तरण (stratification) की क्रियाएँ तथा तरल पदार्थ का वाष्प में आना प्रक्रम के सूचक हैं। प्रक्रम से ऐसी गति का बोध होता है जो कुछ समय तक निरंतरता लिए रहे। सामान्य जगत् में जड़ और चेतन, पदार्थ और जीव में आनेवाले ऐसे परिवर्तन प्रक्रम के द्योतक हैं। इस प्रकार प्रक्रम शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता है।

प्रक्रम के इस मूल अर्थ क उपयोग सामाजिक जीवन के समझने के लिये किया गया है। सामाजिक शब्द से उस व्यवहार का बोध होता है जो एक से अधिक जीवित प्राणियों के पारस्परिक संबंध को व्यक्त करे, जिसका अर्थ निजी न होकर सामूहिक हो, जिसे किसी समूह द्वारा मान्यता प्राप्त हो और इस रूप में उसकी सार्थकता भी सामूहिक हो। एक समाज में कई प्रकार के समूह हो सकते हैं जो एक या अनेक दिशाओं में मानव व्यवहार को प्रभावित करें। इस अर्थ में सामाजिक प्रक्रम वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था अथवा सामाजिक क्रिया की कोई भी इकाई या समूह अपनी एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर निश्चित रूप से कुछ समय तक अग्रसर होने की गति में हो।

एक दृष्टि से विशिष्ट दिशा में होनेवाले परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था के एक भाग के अंतर्गत देखे जा सकते हैं तथा दूसरी से सामाजिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से। प्रथम प्रकार के परिवर्तन के तीन रूप हैं —

(१) आकार के आधार पर संख्यात्मक रूप से परिभाषित — जनसंख्या की वृद्धि, एक स्थान पर कुछ वस्तुओं का पहले से अधिक संख्या में एकत्र होना, जैसे अनाज की मंडी में बैलगाड़ियों या ग्राहकों का दिन चढ़ने के साथ बढ़ना, इसके उदाहरण हैं। मैकाईवर ने इसके विपरीत दिशा में उदाहरण नहीं दिए हैं, किंतु बाजार का शाम को समाप्त होना, बड़े नगर में दिन के ८ से १० बजे के बीच बसों या रेलों द्वारा बाहरी भाग से भीतरी भागों में कई व्यक्तियों का एकत्र होना तथा सायंकाल में विसर्जित होना ऐसे ही उदाहरण हैं। अकाल तथा महामारी के फैलने से जनहानि भी इसी प्रकार के प्रक्रम के द्योतक हैं।

(२) संरचनात्मक तथा क्रियात्मक दृष्टि से गुण में होनेवाले परिवर्तन — किसी भी सामाजिक इकाई में आंतरिक लक्षणों का प्रादुर्भाव होना या उनका लुप्त होना इस प्रकार के प्रक्रम के द्योतक हैं। जनतंत्र के लक्षणों का लघु रूप से पूर्णता की ओर बढ़ना ऐसा ही प्रक्रम है। एक छोटे कस्बे का नगर के रूप में बढ़ना, प्राथमिक पाठशाला का माध्यमिक तथा उच्च विद्यालय के रूप में संवृद्ध आना, छोटे से पूजास्थल का मंदिर या देवालय की अवस्था प्राप्त करना विकास के उदाहरण हैं। विकास की क्रिया से आशय उन गुणों की अभिवृद्धि से है जो एक अवस्था में लघु रूप से दूसरी अवस्था में वृहत् तथा अधिक गुणसंपन्न स्थिति को प्राप्त हुए हैं। यह वृद्धि केवल संख्या या आकार की नहीं, वरन् आंतरिक गुणों की है। इस भाँति की वृद्धि संरचना में होती है और क्रियाओं में भी। इंग्लैंड में प्रधान मंत्री और संसद् के गुण रूपी वृद्धि (प्रभाव या शक्ति की वृद्धि) में निरंतरता देखी गई है। इस विकास की दो दिशाएँ थीं। राजा की शक्ति का ह्रास तथा संसद् की शक्ति की अभिवृद्धि। इन्हें किसी भी दिशा से देखा जा सकता है। भारत में कांग्रेस का उदय और स्वतंत्रता की प्राप्ति एक ओर तथा ब्रिटिश सरकार का निरंतर शक्तिहीन होना दूसरी ओर इसी रूप से देखा जा सकता है। जब तक सामाजिक विकास में नई आनेवाली गुण संबंधी अवस्था को पहले आनेवाली अवस्था से हेय या श्रेय बताने का प्रयास नहीं किया जाता, तब तक सामाजिक प्रक्रम विकास या ह्रास की स्थिति स्पष्ट करते हैं।

(३) निश्चित मर्यादाओं के आधार पर लक्ष्यों का परिवर्तन — जब एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर जाना सामाजिक रूप से स्वीकृत या श्रेय माना जाय तो उस प्रकार का प्रक्रम उन्नति या प्रगति का रूप लिए होता है और जब सामाजिक मान्यताएँ परिवर्तन द्वारा लाई जानेवाली दिशा को हीन दृष्टि से देखें तो उसे पतन या विक्षोभ होने की प्रक्रिया कहा जायगा।

रूस में साम्यवाद की ओर बढ़ानेवाले कदम प्रगतिशील माने जायँगे, अमरीका में राजकीय सत्ता बढ़ानेवाले कदम पतन की परिभाषा तक पहुँच जायंगे, शूद्र वर्णों के व्यक्तियों का ब्राह्मण वर्णों में खानपान होना समाजवादी कार्यक्रम की मान्यताओं में प्रगति का द्योतक है, और परंपरागत व्यवस्थाओं के अनुसार अधःपतन का लक्षण। कुछ व्यवस्थाएँ एक समय की मान्यताओं के अनुसार श्रेयस्कर हो सकती हैं और दूसरे समय में उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखा जा सकता है। रोम में ग्लेडिएटर की व्यवस्था, या प्राचीन काल में दास प्रथा की अवस्था में होनेवाले परिवर्तनों के आधार पर यही भावनाएं निहित थीं। समाज में विभिन्न वर्ग या समूह होते हैं, उनसे मान्यताएँ निर्धारित होती हैं। एक समूह की मान्यताएं कई बार संपूर्ण समाज के अनुरूप होती हैं। कभी कभी वे विपरीत दिशाओं में भी जाती हैं और उन्हीं के अनुसार विभिन्न सामाजिक परिवर्तनों का मूल्यांकन श्रेय या हेय दिशाओं में किया जा सकता है। जब तक सामाजिक मान्यताएँ स्वयं न बदल जाएँ, वे परिवर्तनों को प्रगति या पतन की परिभाषा लंबे समय तक देती रहती हैं।

दूसरे प्रकार के सामाजिक प्रक्रम अपने से बाहर किंतु किसी सामान्य व्यवस्था के अंग के रूप में संतुलन करने या बढ़ने की दृष्टि से देखे जा सकते हैं। सामाजिक परिवर्तन जब एक संस्था के लक्षणों में आते हैं तो कई बार उस संस्था की संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था या अन्य विभागों से बना हुआ संबंध बदल जाता है। पहले के संतुलन घट बढ़ जाते हैं और किसी भी दिशा में प्रक्रम चालू हो जाते हैं। परिवारों के छोटे होने के साथ संयुक्त परिवार के ह्रास के फलस्वरूप वृद्ध व्यक्तियों का परिवार या ग्राम से संबंध बदलता सा दिखाई पड़ रहा है। सामंतशाही के सुदृढ़ संबंध एकाएक उस युग के प्रमुख व्यक्तियों के लिये एक नई समस्या लेकर आए हैं। इस भाँति के परिवर्तनों को समझने का आधारभूत तत्व समाज के एक अंग की पूर्वावस्था के संतुलन को नई अवस्था की समस्याओं से तुलना करने में है। इस प्रकार के परिवर्तन संतुलन बढ़ाने या घटानेवाले हो सकते हैं। संतुलन एक अंग का अन्य अंगों से देखा जा सकता है।

दो व्यक्ति या समूह जब एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिये स्वीकृत साधनों के उपयोग द्वारा प्रयत्न करते हैं तो यह क्रिया प्रतियोगिता कहलाती है। इसमें लक्ष्यप्राप्ति के साधन समान्य होते हैं। कभी कभी उनकी नियमावली तक प्रकाशित हो जाती है। ओलंपिक खेल तथा खेल की विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताएं इसकी सूचक हैं। परीक्षा के नियमों के अंतर्गत प्रथम स्थान प्राप्त करना दूसरा उदाहरण है। जब नियमों को भंग कर, या उनकी अवहेलना कर लक्ष्यप्राप्ति के लिये विपक्षी को नियमों से परे हानि पहुँचाकर प्रयास किए जायें तो वे संघर्ष कहलाएँगे। राजनीतिक दलों में प्रतियोगिता मूल नियमों को सुदृढ़ बनाती है; उनमें होनेवाले संघर्ष नियमों को ही क्षीण बनाते हैं और इस प्रकार अव्यवस्था फैलाते हैं। कभी कभी छोटे संघर्ष बड़ी एकता का सर्जन करते हैं। बाहरी आक्रमण के समय भीतरी संघटन कई बार एक हो जाते हैं, कभी कभी ऐसी कुव्यवस्था जड़ पकड़ लेती है कि उसे साधारण से परे ढंग से भी नहीं हटाया जा सकता। यह आवश्यक नहीं कि संघर्ष का फल सदा समाज के अहित में हो, किंतु उस प्रक्रम में नियमों के अतिरिक्त होनेवाले अभावात्मक कदम अवश्य उठ जाते हैं।

एक समाज या संस्कृति का दूसरे समाज या संस्कृति से जब मुकाबला होता है तो कई बार एक के तत्व दूसरे में तथा दूसरे के पहले में आने लगते हैं। संस्कृति के तत्वों का इस भाँति का ग्रहण अधिकतर सीमित एवं चुने हुए स्थलों पर ही होता है। नाश्ते में अंग्रेजों से चाय ग्रहण कर ली गई पर मक्खन नहीं; घड़ियों का उपयोग बढ़ा पर समय पर काम करने की आदत उतनी व्यापक नहीं हुई; कुर्सियों पर पलथी मार कर बैठना तथा नौकरी दिलाने में जाति को याद करना इसी प्रकार के परिवर्तन हैं। हर समाज में वस्तुओं के उपयोग के साथ कुछ नियम और प्रतिबंध हैं, कुछ मान्यताएँ तथा विधियाँ हैं, और उनकी कुछ उपादेयता है। एक वस्तु का जो स्थान एक समाज में है, उसका वही स्थान इन सभी बिंदुओं पर दूसरे समाज में हो जाय यह आवश्यक नहीं। भारत में मोटर और टेलीफोन का उपयोग संमानवृद्धि के मापक के रूप में है, जबकि अमरीका में वह केवल सुविधामात्र का; कुछ देशों में परमाणु बम रक्षा का आधार है, कुछ में प्रतिष्ठा का। इस भाँति संस्कृति का प्रसार समाज की आवश्यकताओं, मान्यताओं तथा सामाजिक संरचना द्वारा प्रभावित हो जाता है। इस प्रक्रिया में नई व्यवस्थाओं एवं वस्तुओं के कुछ ही लक्षण ग्रहण किए जाते हैं। इसे अंग्रेजी में एकल्चरेशन कहा गया है। कल्चर (संस्कृति) में जब किसी नई वस्तु का आंशिक समावेश किया जाता है तो उस अंशग्रहण को इस शब्द से व्यक्त किया गया है।

जब किसी संस्कृति के तत्व को पूर्णरूपेण नई संस्कृति में समाविष्ट कर लिया जाय तब उस प्रक्रिया को ऐसिमिलेशन (आत्मीकरण) कहा जाता है। इस शब्द का बोध है कि ग्रहण किए गए लक्षण या वस्तु को इस रूप में संस्कृति का भाग बना लिया है, मानो उसका उद्गम कभी विदेशी रहा ही न हो। आज के रूप में वह संस्कृति का इतना अभिन्न अंग बन गया है कि उसके आगमन का स्रोत देखने की आवश्यकता का भान तक नहीं हो सकता। हिंदी का खड़ी बोली का स्वरूप हिंदी भाषी प्रदेश में आज उतना ही स्वाभाविक है जितना उनके लिये आलू का उपयोग या तंबाकू का प्रचलन। भारत में शक, हूण और सीथियन तत्वों का इतना समावेश हो चुका है कि उनका पृथक् अस्तित्व देखना ही मानो निरर्थक हो गया है। एक भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द इसी रूप में अपना स्थान बना लेते हैं, जैसे 'पंडित' का अंग्रेजी में या 'रेल' 'मोटर' का हिंदी में समावेश हो गया है। बाहरी व्यवस्था से प्राप्त तत्व जब अभिन्न रूप से आंतरिक व्यवस्था का भाग बन जाता है तब उस प्रक्रम को आत्मीकरण कहा जाता है।

एक ही समाज के विभिन्न भाग जब एक दूसरे का समर्थन करते हुए सामाजिक व्यवस्था को अखंड बनाए रखने में योगदान करते रहते हैं तो उस प्रक्रम को इंटेग्रेशन (एकीकरण) कहा जाता

है। इस प्रकार के समाज की ठोस रचना कई बार समाज को बलवान् बनाते हुए नए विचारों से विहीन बना देती है। नित्य नए परिवर्तनों के बीच एकमात्र ठोस व्यवस्था स्वयं में संतुलन खो बैठती है। अतः अपेक्षित है कि जीवित सामाजिक व्यवस्था अपने अंदर उन प्रक्रियाओं को भी प्रोत्साहन दे, जिनसे नई अवस्थाओं के लिये नए संतुलन बन सकें; इस दृष्टि से पूर्ण संगठित समाज स्वयं में कमजोरी लिए होता है। गतिशील समाज में कुछ असंतुलन आवश्यक है किंतु मुख्य बात देखने की यह है कि उसमें नित्य नए संतुलन तथा समस्यासमाधान के प्रक्रम किस स्वास्थ्यप्रद ढंग से चलते हैं। प्रत्येक समाज में सहयोग एवं संघर्ष की प्रक्रियाएँ सदा चलती रहती हैं और उनके बीच व्यवस्था बनाए रखना हर समाज के बने रहने के लिये ऐसी समस्या है जिसके समाधान का प्रयत्न करते रहना आवश्यक है। [ह० को०]

सामाजिक विघटन सामाजिक संगठन का विलोम है। इसलिये 'सामाजिक संघटन क्या है' इसे स्पष्ट करने पर ही सामाजिक विघटन का अर्थ स्पष्ट होगा।

समाज सामाजिक संबंधों का तानाबाना है। सदस्यों के पारस्परिक संबंधों की अभिव्यक्ति सामाजिक समितियों तथा संस्थाओं के माध्यम से होती है और जब सामाजिक समितियाँ तथा संस्थाएँ अपने मान्य उद्देश्यों के अनुरूप कार्य करती हैं तो हम कहते हैं कि समाज संघटित है। सामाजिक संघटन का आधार है समाज के सदस्यों द्वारा सामाजिक उद्देश्यों की समान परिभाषा और उनकी पूर्ति के लिये समान कार्यक्रम पर एकमत होना। किसी समाज में यदि सामाजिक उद्देश्यों और कार्यक्रमों में मतैक्य है तो हम कह सकते हैं कि उक्त समाज पूर्णतः गठित है।

समाज परिवर्तनशील और प्रगतिशील है। परिवर्तन का वेग विभिन्न कालों में विभिन्न रहा है और यदि परिवर्तन न होता तो समाज का वह रूप न होता जो आज हम देखते हैं। मानव व्यवहार, सामाजिक मान्यताएँ, सामाजिक मूल्य और सामाजिक कार्यक्रम, सभी बदल रहे हैं। इसलिये किसी एक समय हम यह नहीं कह सकते कि सामाजिक मूल्यों एवं कार्यक्रमों पर समाज में मतैक्य है। पूर्ण गठित समाज अमूर्त अवधारणा (कांसेप्ट) है जिसे साकार नहीं किया जा सकता। प्रत्येक समाज बदलता रहता है और बदलने से विचारों में भेद होना स्वाभाविक ही है। इसलिये कुछ अंश तक विघटन की प्रवृत्ति बनी ही रहती है। सामाजिक परिवर्तन से सामाजिक संतुलन की स्थिति बिगड़ती है। इस प्रकार सामाजिक विघटन परिवर्तनशील समाज का सामान्य गुण है।

समाज समूहों से बनता है और समूह सदस्यों के मध्य सामाजिक संबंध को कहते हैं। जब सामाजिक संबंध छिन्न भिन्न होते हैं तो समूह टूट जाता है और समूह के टूटने को ही सामाजिक विघटन कहेंगे, वह समूह परिवार हो अथवा पड़ोस, समुदाय हो या राष्ट्र।

प्रत्येक व्यक्ति बहुत से समूहों से संबंधित होता है और किसी एक समय वह सभी समूहों से संघर्षरत हो जाय, यह संभव नहीं है। किसी एक समूह के संदर्भ में कोई व्यक्ति विघटित हो सकता है जबकि अन्य समूहों से उसके व्यावहारिक संबंध बने रह सकते हैं।

समाज को प्रभावित करनेवाले बहुत से तत्व हैं। किसी एक तत्व को सामाजिक विघटन का मूल आधार मान लेना तर्कसंगत नहीं है। सामाजिक विघटन को कई संदर्भों में समझा जा सकता है जैसे परिवार, समुदाय, राष्ट्र, अथवा विश्व। किसी एक तथ्य के आधार पर किसी भी क्षेत्र में सामाजिक विघटन की पूर्ण व्याख्या संभव नहीं। सामाजिक संरचना, सामाजिक मूल्य, सामाजिक अभिवृत्तियाँ, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक निर्णय और सामाजिक संकट सभी सामाजिक विघटन को जन्म देते हैं।

समाज की व्याख्या सामाजिक संरचना और सामाजिक कार्यों (सोशल फंक्शन) के संदर्भ में की जाती है। सामाजिक समूह एवं संस्थाएँ सामाजिक व्यवहार का स्वरूप बनाते हैं और प्रगतिशील समाज में सामाजिक संरचना में निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं। परिवार, विद्यालय, धर्म, विवाह, राज्य, व्यावसायिक प्रतिष्ठान इत्यादि सामाजिक संरचना के अंग हैं। यद्यपि इन संगठनों अथवा संस्थाओं का उदय बहुत समय पहले हुआ, तथापि इनके स्वरूप में सदा परिवर्तन होता रहा है। भारतवर्ष में परिवार जैसी प्राचीन संस्था में विगत २५ वर्षों में मूलभूत परिवर्तन हुए हैं। अंतर्जातीय विवाह, विधवा विवाह, बाल-विवाह-निषेध, स्त्रियों का परिवार में उच्च स्थान, ये सभी इसी शताब्दी की देन हैं। परिवर्तनों के कारण समितियों एवं संस्थाओं के सदस्यों की प्रस्थिति और भूमिका में परिवर्तन होते रहते हैं और सदस्यों के पारस्परिक संबंध इतने परिवर्तनशील हैं कि उनके चिरस्थायी रूप निर्धारित नहीं किए जा सकते। परिणामस्वरूप व्यक्तिगत विचलन उत्पन्न होता है। परिस्थितियों अथवा अज्ञान के वश व्यक्तियों को नई भूमिकाएँ ग्रहण करनी पड़ती हैं। कई बार तो नई भूमिकाएँ समाज को प्रगति की ओर ले जाती हैं, परंतु अधिकांशतः इनसे सामाजिक विघटन की प्रवृत्ति बढ़ती है। इस प्रकार समाज की प्रगति के कारक ही सामाजिक विघटन के कारण बन जाते हैं।

'इलिएट और मेरिल' ने सामाजिक विघटन की व्याख्या में 'सामाजिक परिवर्तन' पर ही अपने विचार आधारित किए हैं। समाज के विभिन्न तत्वों में परिवर्तन की समान गति न होने के कारण समाज में विघटन उत्पन्न होता है। भौतिक संस्कृति की प्रगतिशीलता तथा अभौतिक संस्कृति की आपेक्षिक स्थिरता के कारण पुरानी पीढ़ियों द्वारा निर्मित सामाजिक मापदंडों और निर्धारित आधार व्यवहार को बदलना अति कठिन है। परिणामस्वरूप ऐसी सामाजिक संस्थाएँ जो समाज में स्थिरता लाती हैं, बदलती हुई परिस्थितियों में प्रगति में अवरोध उत्पन्न कर सामाजिक विघटन को जन्म देती हैं। भौतिक संस्कृति में परिवर्तन होने के कारण विचारधाराओं, अभिवृत्तियों और सामूहिक मूल्यों में परिवर्तन होते हैं। कुछ लोग पुराने विचारों और पुराने व्यवहारों को पकड़े रहते हैं और नई भौतिक परिस्थितियों से उत्पन्न आदर्श आगे बढ़ जाते हैं तो ऐसी परिस्थिति के कारण समाज में विघटन उत्पन्न होता है। इसको 'इलिएट और मेरिल' ने 'सांस्कृतिक विलंबन' (कल्चरल लैग) कहा है।

समाज में व्यवहार को नियंत्रित करने के लिये सामाजिक रूढ़ियाँ,

प्रथाएँ और कानून हैं। धर्म की नैतिक अथवा अनैतिक धारणाएँ भी व्यवहार को नियंत्रित करने में साधन हैं। सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन होने के साथ ही पुराने व्यवहार प्रतिमान, असामयिक तथा असंगत हो जाते हैं और नए व्यवहार को नियंत्रित करने के लिये नई रूढ़ियों अथवा परंपराओं का निर्माण उसी गति से नहीं होता। पुराने नियंत्रण तो समाप्त हो जाते हैं परंतु नए नियंत्रण या नई मर्यादाएँ उतनी तेजी से नहीं बन पातीं। इस शून्यता के कारण विचलित व्यवहार को प्रोत्साहन मिलता है और सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है।

प्रत्येक समाज में सामूहिक और व्यक्तिगत सामाजिक उद्देश्य होते हैं जिनकी पूर्ति के लिये व्यक्ति व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से प्रयास करते हैं। व्यक्ति के प्रत्येक व्यवहार के पीछे कोई उद्देश्य रहता है। वह उद्देश्य कोई वस्तु, आदर्श या व्यक्ति हो सकता है। परिणामस्वरूप उस उद्देश्य का एक सामाजिक अर्थ होता है। व्यक्तिगत और सामूहिक व्यवहार की प्रेरणा इन उद्देश्यों से उत्पन्न होती है। सामाजिक उद्देश्यों से एक विशिष्ट प्रकार की अभिवृत्ति का जन्म होता है जो जीने के ढंग और विभिन्न वस्तुओं से एवं विभिन्न परिस्थितियों में अनुभवों के योग से निर्मित होती है। सामाजिक अभिवृत्तियों का उदय अनुभव से होता है। भारतीय बच्चों में जाति और धर्म संबंधी अभिवृत्तियों का विकास भारतीय समाज में उनके जन्म लेने के कारण होता है। व्यक्ति अपने उपसमूह की मान्यताओं और व्यवहार प्रतिमानों को ग्रहण करता है और कई बार उप समूह के आदर्श एवं प्रतिमान वृहत् समाज के विपरीत होते हैं। परिणामतः सामाजिक विचलन ऐसी परिस्थितियों में बढ़ता है और इस प्रकार समाजविरोधी अभिवृत्तियाँ व्यक्ति में समूह के संदर्भ से उत्पन्न होती हैं और इनसे विघटित समाज की अभिव्यक्ति होती है।

यद्यपि सामाजिक विघटन एक निरंतर प्रक्रम है, तथापि सामाजिक संकटों के कारण भी विघटन की अभिव्यक्ति व्यापक रूप में होती है। जब किसी समूह की सामान्य क्रियाओं में विक्षोभ या उग्र अवरोध उत्पन्न होता है जिससे विचार या व्यवहार के प्रचलित प्रतिमानों में परिवर्तन करना आवश्यक होता है और यदि अपेक्षित परिवर्तन के लिये कोई पूर्व आदर्श नहीं होता है तो हम ऐसी स्थिति को संकट की स्थिति कहेंगे। सामान्य व्यक्ति के लिये परिवर्तित परिस्थिति में नए व्यवहार प्रतिमान स्थापित करना और सामंजस्य स्थापित करना कठिन होता है। सामाजिक ढाँचे में इस प्रकार के उग्र अवरोध अधिकांशतः व्यक्तियों के लिये नई स्थिति और नई भूमिकाएँ उत्पन्न करते हैं जो उनके लिये कष्टदायक होती हैं। युद्ध भी एक सामाजिक संकट है और उसके कारण भी सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है।

सामाजिक विघटन समाज का रूप नहीं वरन् मूल रूप से एक प्रक्रम है जिसमें संघर्ष, अत्यधिक स्पर्धा, विग्रह और सामाजिक विभेदीकरण जैसे अन्य प्रक्रम हैं और उसमें मान, रूढ़ियों और संस्थाओं में संघर्ष, समूहों द्वारा एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप तथा उनका हस्तांतरण प्रकट होता है।

सामाजिक विघटन की व्याख्या विभिन्न समाजशास्त्रियों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से की है। धर्मशास्त्रीय सिद्धांत अति प्राचीन है। बीमारी, अपराध, मृत्यु, अकाल, गरीबी, युद्ध सभी अवांछनीय घटनाएँ ईश्वर की इच्छा पर निर्भर हैं और ईश्वरेच्छा से यह विघटनकारी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। यद्यपि यह सिद्धांत आदिम समाज में उत्पन्न हुआ और आज भी आदिम जातियाँ आपत्तिकाल में जादू, टोना और देवपूजन द्वारा ही इन आपत्तियों को दूर करने का प्रयास करती हैं तथापि सभ्य समाज भी पूर्णरूपेण इस मनोवृत्ति से मुक्त नहीं है। आज भी देवता की उपासना, पूजा पाठ द्वारा धनवृद्धि की कामना करना, संतानलाभ हेतु स्त्री पुरुषों द्वारा ओझाओं के पास जाना आदि इसी मनोवृत्ति के प्रतीक हैं।

दूसरे विचारक सामाजिक विघटन को 'नैसर्गिक' मानते हैं। उनके अनुसार मानव इस प्रकार से व्यवहार करता है कि दुःख और यातनाएँ उत्पन्न होती हैं। मनुष्य के स्वभाव में ही अच्छी बुरी दोनों अभिवृत्तियाँ हैं और जिस मनुष्य में जो अभिवृत्ति प्रबल होगी वह वैसा ही व्यवहार करेगा।

तीसरे वर्ग के विचारक सामाजिक विघटन की व्याख्या 'मनोजैवकीय आधार' पर करते हैं। उनसे एक कदम आगे विघटन की 'भौगोलिक व्याख्या' करनेवाले विचारक हैं जो जलवायु, मिट्टी, तापक्रम, वर्षा आदि भौगोलिक कारकों को मनुष्य के व्यावहारिक निर्धारक मानते हैं और अपराध, आत्महत्या, पागलपन इत्यादि को कतिपय विशेष भौगोलिक परिस्थितियों से उत्पन्न मानते हैं।

'सामाजिक समस्या सिद्धांत' समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण सिद्धांत है। इस संप्रदाय के विचारकों के अनुसार सामाजिक समस्याएँ सामाजिक विघटन को जन्म देती हैं और समस्याओं का समाधान करने पर ही सामाजिक प्रगति संभव है। ये विचारक 'सुधारवादी' हैं जिनके अनुसार बेकारी, अपराध, बुढ़ापा सभी सामाजिक समस्याएँ हैं जिनके समाधान के बिना समाज में विशृंखलता और असामंजस्य उत्पन्न हो जायगा।

'सांस्कृतिक सिद्धांत' सैद्धांतिक दृष्टिकोण से सभी अन्य सिद्धांतों से आगे है। विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के असमायोजित होने और अपेक्षित रूप में कार्य न करने से सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है, जैसे परिवार या स्कूल यदि अपने निश्चित कार्य करने में असमर्थ हैं तो उनके कार्य न करने से बाल-अपराध, बाल-दुर्व्यवहार की समस्या उत्पन्न होती है।

सामाजिक समस्या को विघटन का परिणाम माना जाय अथवा कारण, यह कहना कठिन है परंतु इतना स्पष्ट है कि दोनों का एक दूसरे से घनिष्ठ संबंध है। यदि सामाजिक घटना 'वैयक्तिक विघटन' की कोई परिस्थिति है और हम देखते हैं कि इससे कुछ नए मूल्यों का जन्म होता है और अनुभव करते हैं कि इस परिस्थिति में सामूहिक प्रयत्न की आवश्यकता है और इसके परिवर्तमान पक्षों का मापना संभव है तो हम कहेंगे कि उक्त परिस्थिति 'समस्यात्मक' है। दूसरे शब्दों में 'सामाजिक समस्या' वैयक्तिक अथवा सामूहिक विघटन की वह परिस्थिति है जिसमें स्वीकृत मूल्यों और व्यवहार प्रतिमानों का विरोध नए मूल्यों और व्यवहार प्रतिमानों द्वारा उत्पन्न होता है और उस विरोध के निवारण के लिये समूह अथवा व्यक्ति सजग एवं सचेष्ट है और साथ ही मान्य मूल्यों और प्रतिमानों से विचलन का

मापन हो सकता है तथा समस्याओं को जन्म देनेवाले कारकों का नियंत्रण और सुधार भी संभव है। यदि ये दोनों संभावनाएँ नहीं हैं तो परिस्थिति समस्यात्मक नहीं कही जा सकती।

सामाजिक समास्याएँ जीवन के प्रत्येक पक्ष से संबंधित हैं। ग्रामीण जीवन की समस्याएँ; नागरीकरण की समस्याएँ; जनसंख्या के वितरण की समस्याएँ; वैयक्तिक समस्याएँ, जैसे शारीरिक तथा मानसिक रोग; व्यवहार संबंधी समस्याएँ, जैसे अपराध, वेश्यावृत्ति, मद्यात्यय, पारिवारिक समस्याएँ, जैसे पारिवारिक कलह, संबंधविच्छेद, विधवा विवाह, बाल विवाह; निवास की समस्याएँ; रोजगार संबंधी समस्याएँ; और निम्न जीवनस्तर, गरीबी, सामाजिक ह्रास तथा द्वंद्व इत्यादि। इनके निवारण और उन्मूलन के लिये सामाजिक आयोजन और नियंत्रण की आवश्यकता होती है।

भारत में सामाजिक विघटन — १९वीं और २०वीं शताब्दी में समस्त संसार में तेजी से परिवर्तन हुए हैं, परंतु २०वीं शताब्दी की मध्यावधि में भारतवर्ष में जो परिवर्तन हुए हैं संभवत: उसका दूसरा उदाहरण संसार में नहीं है। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद सामाजिक भिन्नताएँ, विलक्षणताएँ, धर्म तथा जातिभेद, रीतिरिवाज का पिछड़ापन इतना सामने आया है कि अनुभव होता है, देश में एक भाषा नहीं, एक विचारपद्धति नहीं, एक उद्देश्य नहीं, एक संस्कृति नहीं। धर्म, जाति, वेशभूषा, भाषा, लोकसंस्कृति इतनी भिन्न हैं कि एक दूसरे के प्रति सहयोग और एकता की भावना अति दुर्लभ है। देश में धर्म, जाति, भाषा, निवासक्षेत्र तथा वेशभूषा के आधार पर एक दूसरे के प्रति घृणा एवं अविश्वास व्यापक हैं। अशिक्षा, अंधविश्वास, बौद्धिक पिछड़ापन और भी द्वेष तथा अविश्वास को बढ़ाते हैं। सामाजिक समस्याएँ जैसे जन्म मृत्यु की उच्च दर, पौष्टिक भोजन का अभाव, अपराध, वेश्यावृत्ति, बीमारी, सामाजिक असुरक्षा इस विघटन को और भी बढ़ाते हैं।

सामाजिक विघटन में सबसे मुख्य कारक जातिव्यवस्था है। जातिव्यवस्था परंपरागत स्थायी समाज में उपयोगी संस्था थी, परंतु आज मनुष्य के विकास में सबसे बड़ी बाधा है। एक जाति का दूसरी जाति के प्रति अविश्वास, एक का दूसरे के प्रति विरोध, घृणा, सभी जातिप्रथा की देन हैं। देश की एक चौथाई जनसंख्या मानवेतर जीवन व्यतीत करती है। समाज में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का निम्न स्थान है। वह पुरुष की संगिनी नहीं वरन् दासी है। परिणामस्वरूप देश की आधी जनसंख्या तिरस्कृत, निस्सहाय और परावलंबी जीवन व्यतीत करती है।

नए समाज में नए अवसरों की प्राप्ति के लिये योग्यता का अधिकतम विकास करने के लिये शिक्षा संस्थाएँ ही एकमात्र साधन हैं। यदि यह कहा जाय कि नए समाज का आधार और हमारे नए आदर्शों की पूर्ति स्कूलों और कालेजों से होगी तो अनुचित नहीं है; परंतु इसमें कोई मूल परिवर्तन समय के अनुसार नहीं हो सका है। बढ़ती हुई जनसंख्या ने विकास के सभी कार्यक्रमों को तथा आयोजन के सभी उपक्रमों को विफल बना दिया है। जिस गति से जनसंख्या बढ़ रही है उस गति से अन्न और अन्य जीविकोपयोगी साधनों का निर्माण नहीं हो सका है।

अशिक्षा, अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, वर्तमान जीवन के प्रति उदासीनता इत्यादि ने परिवार नियोजन के सभी प्रयासों को विफल बना दिया है। बीमारी और पौष्टिक आहार की कमी के कारण जनसंख्या की कार्यक्षमता अत्यल्प है। समाजविरोधी व्यक्तियाँ, तस्कर व्यापारी, अपराधी, जुआरी, शराबी भी बड़ी संख्या में क्रियाशील हैं। देश में पुरानी प्रथाओं जैसे बाल विवाह, दहेज प्रथा, सजातीय विवाह, जेवर का शौक आदि के सिवा अन्य सामाजिक प्रथाएँ हैं जो प्रगति में बाधक हैं।

प्राचीन सामाजिक संस्थाओं में भी परिवर्तन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है। संयुक्त परिवार का नया रूप बन रहा है और संयुक्त परिवार के भग्न होने से बच्चों की देखभाल, अनाथ बच्चों और नि:सहाय स्त्रियों की समस्या तथा बूढ़े लोगों की समस्याएँ बढ़ रही हैं। विवाह की प्राचीन मान्यताओं और दहेज जैसी प्रथाओं से भी विघटन उत्पन्न हो रहा है। भूतपूर्व अपराधी जातियों, आदिम जातियों तथा हरिजनों के समाज में असमायोजन होने से वर्गों और जातियों में संघर्ष दिखाई देता है और इससे प्राचीन जातिप्रथा संबंधी मान्यताएँ छिन्न भिन्न हो रही हैं। समाज के वर्गीकरण तथा सामाजिक स्तर के पुराने आधार तो टूट रहे हैं परंतु नई मान्यताएँ और नए आधार उनका स्थान ग्रहण नहीं कर रहे हैं। पिछड़े वर्गों के उद्धार और सुधार के लिये किए जा रहे प्रयास अपर्याप्त सिद्ध हो रहे हैं।

भारतीय समाज की समस्याओं का विश्लेषण सामाजिक संस्थाओं और समूहों की संरचना तथा कार्य के संबंध में किया जा सकता है। प्राचीन समाज में संरचना और कार्य में पारस्परिक अनुरूपता थी परंतु तीव्र सामाजिक परिवर्तन के आक्रमण से पुरानी संरचना और कार्य का तारतम्य भंग हो गया है जिसके लिये सामाजिक आयोजन, सामाजिक सुधार तथा समाजसेवा के कार्यक्रम चलाए गए हैं।

सं० ग्रं० — न्यू मेयर, एच० मार्टिन : सोशल प्राब्लेम्स ऐंड चेंजिंग सोसाइटी; एलियट, मबेल ए०, एंड सोशल डिसआर्गनाइजेशन; रोजेन क्विस्ट, कार्ल एम० : सोशल प्राब्लेम्स; लेमार्ट, इडविन एम० : सोशल पैथालोजी। [चं० प्र० गो०]

सामाजिक संविदा (Social Contract, The) सामाजिक संविदा कहने से प्राय: दो अर्थों का बोध होता है। प्रथमत: सामाजिक संविदा-विशेष, जिसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में रहनेवाले कुछ व्यक्तियों ने संगठित समाज में प्रविष्ट होने के लिये आपस में संविदा या ठहराव किया, अत: यह राज्य की उत्पत्ति का सिद्धांत है। दूसरे को सरकारी संविदा कह सकते हैं। इस संविदा या ठहराव का राज्य की उत्पत्ति से कोई संबंध नहीं वरन् राज्य के अस्तित्व की पूर्वकल्पना कर यह उन मान्यताओं का विवेचन करता है जिनपर उस राज्य का शासन प्रबंध चले। ऐतिहासिक विकास में संविदा के इन दोनों रूपों का तार्किक क्रम उलट गया है। पहले सरकारी संविदा का ही उल्लेख मिलता है सामाजिक संविदा की चर्चा बाद में ही शुरू हुई। परंतु जब संविदा के आधार पर ही समस्त राजनीतिशास्त्र का विवेचन प्रारंभ हुआ तब इन दोनों प्रकार की संविदाओं का प्रयोग किया जाने लगा — सामाजिक

संविदा का राज्य की उत्पत्ति के लिये तथा सरकारी संविदा का उसकी सरकार को नियमित करने के लिये।

यद्यपि सामाजिक संविदा का सिद्धांत अपने अंकुर रूप में सुकरात के विचारों, सोफिस्ट राजनीतिक दर्शन एवं रोमन विधान में मिलता है तथा मैनेगोल्ड ने इसे जनता के अधिकारों के सिद्धांत से जोड़ा, तथापि इसका प्रथम विस्तृत विवेचन मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन में सरकारी संविदा के रूप में प्राप्त होता है। सरकार के आधार के रूप में संविदा का यह सिद्धांत बन गया। यह विचार न केवल मध्ययुगीन सामंती समाज के स्वभावानुकूल वरन् मध्ययुगीन ईसाई मठाधीशों के पक्ष में भी था क्योंकि यह राजकीय सत्ता की सीमाएँ निर्धारित करने में सहायक था। १६वीं शताब्दी के धार्मिक संघर्ष के युग में भी यह सिद्धांत बहुसंख्यकों के धर्म को आरोपित करनेवाली सरकार के प्रति अल्पसंख्यकों के विरोध के औचित्य का आधार बना। इस रूप में इसने काल्विनवाद तथा रोमनवाद दोनों अल्पसंख्यकों के उद्देश्यों की पूर्ति की। परंतु कालांतर में सरकारी संविदा के स्थान पर सामाजिक संविदा को ही हॉब्स, लॉक और रूसो द्वारा प्रश्रय प्राप्त हुआ। स्पष्टतः सामाजिक संविदा में विश्वास किए बिना सरकारी संविदा की विवेचना नहीं की जा सकती, परंतु सरकारी संविदा पर विश्वास किए बिना सामाजिक संविदा का विवेचन अवश्य संभव है। सामाजिक संविदा द्वारा निर्मित समाज शासक और शासित के बीच अंतर किए बिना, और इसीलिये उनके बीच एक अन्य संविदा की संभावना के बिना भी, स्वायत्तशासित हो सकता है। यह रूसो का सिद्धांत था। दूसरे, सामाजिक संविदा पर निर्मित समाज संरक्षक के रूप में किसी सरकार की नियुक्ति कर सकता है जिससे यद्यपि वह कोई संविदा नहीं करता तथापि संरक्षक के नियमों के उल्लंघन पर उसे च्युत कर सकता है। यह था लॉक का सिद्धांत। अंत में एक बार सामाजिक संविदा पर निर्मित हो जाने पर समाज अपने सभी अधिकार और शक्तियाँ किसी सर्वसत्ताधारी संप्रभु को सौंप सकता है जो समाज से कोई संविदा नहीं करता और इसीलिये किसी सरकारी संविदा की सीमाओं के अंतर्गत नहीं है। यह हॉब्स का सिद्धांत था।

सामाजिक संविदा के सिद्धांत पर आघात यद्यपि हेगेल के समय से ही प्रारंभ हो गया था तथापि डेविड ह्यूम द्वारा इसे सर्वप्रथम सर्वाधिक क्षति पहुँची। ह्यूम के अनुसार सरकार की स्थापना सम्मति पर नहीं, अभ्यास पर होती है, और इस प्रकार राजनीतिक कृतज्ञता का सिद्धांत संविदा के सिद्धांत के बिना भी स्पष्ट किया जा सकता है। बेन्थम ने संविदा के स्थान पर उपयोगिता को राजनीतिक कृतज्ञता का आधार बताया तथा बर्क ने विकासवादी सिद्धांत के आधार पर संविदा की आलोचना की।

सामाजिक संविदा का सिद्धांत न केवल ऐतिहासिकता की दृष्टि से अप्रमाणित है वरन् वैधानिक तथा दार्शनिक दृष्टि से भी दोषपूर्ण है। किसी संविदा के वैध होने के लिये उसे राज्य का संरक्षण एवं अवलंबन प्राप्त होना चाहिए; सामाजिक संविदा के पीछे ऐसी किसी शक्ति का उल्लेख नहीं। इसलिये यह अवैधानिक है। दूसरे, संविदा के नियम संविदा करनेवालों पर ही आरोपित होते हैं, उनकी संतति पर नहीं। सामाजिक संविदा के सिद्धांत का दार्शनिक आधार भी त्रुटिपूर्ण है। यह धारणा कि व्यक्ति और राज्य का संबंध व्यक्ति के आधारित स्वतंत्र संकल्प पर है, सत्य नहीं है। राज्य न तो कृत्रिम सृष्टि है और न इसकी सदस्यता ऐच्छिक है, क्योंकि व्यक्ति इच्छानुसार इसकी सदस्यता न तो प्राप्त कर सकता है और न तो त्याग ही सकता है। दूसरे, यह मानव इतिहास को प्राकृतिक तथा सामाजिक दो अवस्थाओं में विभाजित करता है; ऐसे विभाजन का कोई तार्किक आधार नहीं है; आज की सभ्यता उतनी ही प्राकृतिक समझी जाती है जितनी प्रारंभिक काल की थी। तीसरे, यह सिद्धांत इस बात की पूर्वकल्पना करता है कि प्राकृतिक अवस्था में रहनेवाला मनुष्य संविदा के विचार से अवगत था परंतु सामाजिक अवस्था में न रहनेवाले के लिये सामाजिक उत्तरदायित्व की कल्पना करना संभव नहीं। यदि प्राकृतिक विधान द्वारा शासित कोई प्राकृतिक अवस्था स्वीकार कर ली जाय तो ऐसी स्थिति में राज्य की स्थापना प्रगति की नहीं वरन् परावृत्ति की द्योतक होगी, क्योंकि प्राकृतिक विधान के स्थान पर बल पर आधारित राज्यसत्ता अपनाना प्रतिगमन ही होगा। यदि प्राकृतिक अवस्था ऐसी थी कि वह संविदा का विचार प्रदान कर सके तो यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य तब भी सामान्य हित के प्रति सचेत था; इस दृष्टि से उसे सामाजिक सत्ता तथा वैयक्तिक अधिकार के प्रति भी सचेत होना चाहिए। और तब प्राकृतिक और सामाजिक अवस्थाओं मे कोई अंतर नहीं रह जाता। अंत में, जैसा ग्रीन ने कहा, इस सिद्धांत की प्रमुख त्रुटि इसका अनैतिहासिक होना नहीं वरन् यह है कि इसमें अधिकार की कल्पना उन्हें समाज से असंबद्ध करके की गई है। तार्किक ढंग पर अधिकारों का आधार समाज की संमति है; अधिकार उन्हीं लोगों के बीच संभव है जिनकी प्रवृत्तियाँ एव अभिलाषाएँ बौद्धिक हैं। अतएव प्राकृतिक अधिकार अधिकार न होकर मात्र शक्तियाँ है।

परंतु इन सभी त्रुटियों के होते हुए भी सामाजिक संविदा का सिद्धांत सरकार को स्थायित्व प्रदान करने का एक प्रबल आधार है। यह सिद्धांत इस विचार को प्रतिष्ठापित करता है कि राज्य का आधार बल नहीं संकल्प है क्योंकि सरकार जनसंमति पर आधारित है। इस दृष्टि से यह सिद्धांत जनतंत्र की आधारशिलाओं में से एक है।

सं० ग्रं० — गफ, जे० डब्ल्यू० : दि सोशल कट्रैक्ट, आक्सफोर्ड, १९५७; गायंके, ओ० (अनु० — ई० बार्कर) : नेचुरल ला ऐंड थियरी ऑव सोसाइटी, कैंब्रिज, १९३७; बार्कर, ई० : दि सोशल कंट्रैक्ट, आक्सफोर्ड, १९५८; लॉक, जे० : सेकेंड ट्रिटीज ऑव सिविल गवर्नमेंट, आक्सफोर्ड १९५७; रूसो, जे० जे० (अनु० — टोजर) : दि सोशल कंट्रैक्ट, लदन, १९४८; री०, आर० डब्ल्यू० : दि सोशल कंट्रैक्ट, आक्सफोर्ड, १८९८; : हॉब्स, टी० लेवायथन, आक्सफोर्ड, १९५७. [रा० अ०]

सामाजिक सुरक्षा (सामान्य) 'सामाजिक सुरक्षा' वाक्यांश का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाता है। अमरीकन विश्वकोश में

इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—'संक्षेप में सामाजिक सुरक्षा कुछ उन विशेष सरकारी योजनाओं की ओर संकेत करती है जिनका प्रारंभिक लक्ष्य सभी परिवारों को कम से कम जीवननिर्वाह के साधन और शिक्षा तथा चिकित्सा की व्यवस्था करके दरिद्रता से मुक्ति दिलाना होता है।' इसका संबंध आर्थिक योजनाओं से होता है। मानव जीवन में आर्थिक संकट की घड़ियाँ प्रायः आती हैं। (१) बीमारी के समय आदमी काम करके जीविका उपार्जन में असमर्थ हो जाता है। (२) बेकारी, जब किसी आकस्मिक दुर्घटना या कारण से आदमी स्थायी या अस्थायी रूप से जीविकोपार्जन से वंचित हो जाता है। (३) परिवार मे रोटी कमानेवाले की मृत्यु के कारण आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाता है। (४) बुढ़ापे की असमर्थता भी जीविका के साधन से वंचित कर देती है। इन्हीं विपत्तियों के समय आर्थिक सहायता पहुँचाना सामाजिक सुरक्षा का प्रधान लक्ष्य होता है। साधारणत. समाज के अधिकांश व्यक्तियों के लिये संभव नहीं कि वे इन विपत्तियों से अपनी सुरक्षा की व्यवस्था स्वयं कर सकें। इसलिये आवश्यक है कि इन विपत्तियों से समाज के प्रत्येक सदस्य की सुरक्षा राष्ट्रीय स्तर पर समाज द्वारा की जाय।

प्राचीन काल में आर्थिक जीवन सरल था। जीवन में संकट भी अपेक्षाकृत कम थे। सुव्यवस्थित रूप से सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था के पूर्व भी दरिद्र और निस्सहाय लोगों को किसी न किसी प्रकार की सहायता मिलती रही। परंतु उस समय इस प्रकार की सहायता दानी लोगों तथा लोकहितैषी संस्थाओं द्वारा ही दी जाती थी।

यह अपर्याप्त सिद्ध हुई और यह प्रणाली दोषपूर्ण भी थी तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी श्रेयस्कर नहीं थी। आर्थिक जीवन की सरलता समाप्त हो गई। औद्योगिक क्रांति तथा बड़े पैमाने पर उत्पत्ति ने पूँजीवाद को जन्म दिया जिससे आर्थिक विषमता बढ़ गई। काल और परिस्थिति ने पूँजीवाद के दोषों को स्पष्ट कर दिया। उत्पादन बढ़ा, राष्ट्रीय लाभांश बढ़ा परंतु वितरण प्रणाली के दोषपूर्ण होने के कारण सभी लाभान्वित न हो सके। जन जागृति तथा असंतोष की भावना ने, जिसने अपने आपको श्रम अशांति और आंदोलनों में व्यक्त किया, सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया। परिणामस्वरूप आज प्रायः सभी औद्योगिक दृष्टि से प्रगतिशील देशों मे सामाजिक सुरक्षा की योजना कार्यान्वित की जा रही है। पिछड़े और अविकसित देशों ने भी पूर्ण या आंशिक रूप से इस योजना को अपनी वित्तीय नीति मे महत्वपूर्ण स्थान दिया है। सामाजिक सुरक्षा के विस्तृत क्षेत्र तथा उसके लिये आवश्यक धन की अधिकता से सभी घबड़ाए। परंतु फिर प्रश्न यह था कि क्या इस आवश्यक योजना को टाला जा सकता है। सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था 'सामाजिक बीमा, या सामाजिक सहायता' के रूप मे की जाती है। सामाजिक बीमा का क्षेत्र सामाजिक सहायता के क्षेत्र से अधिक व्यापक है। पूर्ण या आंशिक, स्थायी या अस्थायी, शारीरिक या मानसिक अयोग्यता, बेकारी, वैधव्य, रोटी कमानेवाले की मृत्यु, बुढ़ापा तथा बीमारी आदि संकटों के लिये सुरक्षा सामाजिक बीमा के अंतर्गत की जाती है। अस्पताल, पागलखाने, चिकित्सालय साधारण तौर पर सामाजिक सहायता के अंतर्गत आते हैं।

सामाजिक सुरक्षा के सुव्यवस्थित रूप का प्रारंभ जर्मनी में हुआ। १८८१ ई० में जर्मनी के बादशाह विलियम प्रथम ने सामाजिक बीमा की योजना तैयार करने का आदेश दिया। सन् १८८३ में कानून पास हुआ जिसके अनुसार अनिवार्य बीमारी बीमा की व्यवस्था की गई। इस योजना को बिसमार्क का भी समर्थन प्राप्त हुआ। १८८६ में बीमारी बीमा के क्षेत्र को और व्यापक बनाकर अस्थायी अयोग्यता के लिये भी बीमा की व्यवस्था की गई। आस्ट्रिया और हंगरी ने भी इसका अनुकरण किया।

बीसवीं शताब्दी का प्रारंभ 'सामाजिक सुरक्षा' के इतिहास में विशेष महत्व रखता है। इस काल में संसार के विभिन्न देशों ने बृहत् योजनाओं को कार्यान्वित किया। 'निक्षेपवादी नीति' के दोष स्पष्ट होने लगे थे। सरकार की इस नीति के कारण औद्योगिक श्रमिकों को काफी यातना सहनी पड़ी थी। एतदर्थ इस नीति को त्यागना और श्रमिकों के लिये, आवश्यक सुरक्षा की व्यवस्था सरकारों का लक्ष्य बन गई। 'अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन, (इंटरनेशनल लेबर आर्गनाइजेशन) ने भी सामाजिक सुरक्षा के प्रसार मे योगदान किया। १९१९ से इस संस्था के अधिवेशनों में इस संबंध मे प्रस्ताव पास होते रहे, जिनका समावेश विभिन्न राष्ट्रों ने अपनी नीति मे किया। श्रमिकों को क्षतिपूर्ति, बुढ़ापे को पेंशन, बेकारी, चिकित्सा, तथा मेटरनिटी लाभ के लिये बीमा की व्यवस्था करने की नीति सदस्य देशों ने अपनाई। द्वितीय महायुद्ध से उत्पन्न वातावरण ने इस आंदोलन को बढ़ावा दिया। सभी प्रगतिशील देशों ने 'सामाजिक सुरक्षा' प्रदान करने की आवश्यकता का अनुभव किया। आस्ट्रेलिया, कैनाडा, न्यूजीलैंड, अमरीका, आदि ने बृहत् योजनाओं को कार्य रूप दिया।

सामाजिक सुरक्षा के इतिहास में सर विलियम बेवेरिज का नाम चिरस्मरणीय रहेगा 'सामाजिक सुरक्षा एवं अन्य सामाजिक सेवाओं' के लिये स्थापित अंतर्विभाग समिति के अध्यक्ष के रूप में बेवेरिज ने १९४२ ई० मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इन्होंने सभी ब्रिटिश नागरिकों के लिये "जन्म से मृत्यु तक" सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की सिफारिश की। पार्लिमेंट ने इन सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिये कई अधिनियम पास किए। बेवरिज योजना इंगलैंड ही नहीं बल्कि अन्य देशों मे भी "सामाजिक सुरक्षा" की योजना का आधार बनी रहेगी।

बेवरिज योजना का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। जबकि अन्य प्रगतिशील देशों ने इस दिशा में काफी प्रगति कर ली थी, भारत में 'सुरक्षा' का प्रश्न केवल चिंतन का ही विषय बना रहा। श्रम संबंधी शाही आयोग ने भी इसकी उपेक्षा की। औद्योगिक समाज के दोष भारत में स्पष्ट हुए और इन्होंने अपने आपको श्रम अशांति और श्रम आंदोलनों में व्यक्त किया। साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव और प्रति दिन होनेवाले श्रम संघर्षों की उपेक्षा राष्ट्रीय सरकार न कर सकी। भारत के सामने एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना का लक्ष्य था। श्रमिक वर्ग के हित की दृष्टि से ही नहीं बल्कि सामाजिक

दृष्टिकोण से भी 'सामाजिक सुरक्षा' की व्यवस्था आवश्यक समझी जाने लगी। भारत सरकार ने इस दिशा में कई ठोस और सही कदम उठाए।

इंग्लैंड एक जाग्रत देश है और १५४७ में वहाँ पर सबसे पहला कानून दरिद्रसहायता के संबंध में पास हुआ। उस समय से लेकर १९२१ तक कितने ही कानून इस संबंध में बने। अनिवार्य राज्य बेकारी बीमा का प्रारंभ अंशवादी सिद्धांतों के आधार पर १९११ में हुआ। १९२० में इस योजना के क्षेत्र को व्यापक बनाकर २५० पौ० प्रति वर्ष से कम आय वाले सभी श्रमिकों को इससे लाभ पहुँचाने की व्यवस्था की गई। १९३६ में कृषि उद्योग में लगे हुए श्रमिकों को भी इसके अंतर्गत लाया गया। स्वास्थ्य बीमा योजना भी १९११ में लागू की गई। १९०८ के ऐक्ट के अनुसार बुढ़ापे में पेंशन की व्यवस्था की गई। आश्रितों के लिये पेंशन की व्यवस्था की योजना १९२५ से लागू है। इंगलैंड के १९०६ के श्रमिक क्षतिपूर्ति ऐक्ट के अनुसार क्षतिपूर्ति की व्यवस्था की गई। सामाजिक सुरक्षा की वृहद् योजना का प्रारंभ बेवरिज से होता है। बेवरिज ने पूरी जनसख्या को छह श्रेणियों मे बाँट दिया और इन श्रेणियों को इतना व्यापक रूप दिया कि सभी नागरिक बेवरिज योजना के क्षेत्र के अंतर्गत आगए। त्रिदलीय अनुदान द्वारा कोषनिर्माण की व्यवस्था की गई। बेवरिज-योजना के ही आधार पर ब्रिटिश पालिमेंट ने पाँच महत्वपूर्ण ऐक्ट पास किए हैं। इन कानूनों के द्वारा सभी नागरिक जीवन के प्रमुख संकटों से सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिक संस्थाओं द्वारा सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की जाती है। ऐसी संस्थाएँ इंगलैंड में हजारों की सख्या में हैं, वास्तव में रूस को छोड़कर इंगलैंड ही ऐसा देश है जहाँ की सरकार और सामाजिक संस्थाएँ अपने उत्तरदायित्व के प्रति पूर्ण जागरूक हैं। अमरीका में सबसे पहले सामाजिक सुरक्षा ऐक्ट अमरीकन कांग्रेस ने १९३५ में पास किया, जिसके अनुसार अंशदायी कोष द्वारा सामाजिक बीमा की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त सामाजिक सहायता की भी व्यवस्था है।

[ह० ना० पां०]

सामाजिक सुरक्षा (भारत में) एक सीमित अर्थ में भारत में सामाजिक सुरक्षा का आरंभ श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम (१९२३) तथा विभिन्न मातृत्व हितकारी अधिनियमों से माना जा सकता है जो पहले के प्रांतों में तथा रियासतों में पारित हुए थे। किंतु इन वैधानिक नियमों का विकास मालिकों की देयता (employer's liability) के आधार पर हुआ था, और इस प्रकार वे सामाजिक सुरक्षा के सिद्धांतों से असंगत थे। श्रमिकों को व्यापक सुरक्षा प्रदान करने मे वे विफल रहे। मजदूर की क्षतिपूर्ति का तरीका सिद्धांततः गलत था और वह उन लोगों के लिये हानिकारक था जिनके हितसाधन के लिये उसका निर्माण हुआ था। इस प्रणाली में औद्योगिक और पुनःस्थापन की सेवाओं की कहीं गुंजायश नहीं थी, न है, जबकि क्षतिपूर्ति की किसी योजना का यह एक महत्वपूर्ण अंग होना चाहिए। जो हो, भारत में 'स्वास्थ्य बीमा' को हम सामाजिक सुरक्षा योजना का प्रथम रूप मान सकते हैं।

देश में बीमा योजना का प्रश्न पहले पहल १९२७ में उन अनुबंधों (convention) के संबंध में उठाया गया था जिन्हें अंतरराष्ट्रीय श्रम कान्फ्रेंस ने अपने १०वें अधिवेशन में उद्योग, वाणिज्य, और कृषि में मजदूरों के स्वास्थ्य बीमा के लिये स्वीकार किया था। भारत सरकार जिस परिणाम पर पहुँची थी वह यह था कि यह परंपरा भारतीय मजदूर के एक जगह से दूसरी जगह जानेवाले स्वभाव के कारण ग्राह्य नहीं है। बाद में श्रम के संबंध में स्थापित शाही आयोग (१९३१) ने भी इस बात की पुनः समीक्षा की और बीमारी के बीमे की किसी योजना के लागू करने में कठिनाइयों का अनुभव किया। फिर भी आयोग ने एक संस्था के आधार पर परीक्षा के लिये अंतरिम योजना को तब तक लागू करने की सिफारिश की, जब तक अंतिम और व्यापक योजना की रूपरेखा न बन जाए। इस योजना का मुख्य उद्देश्य नकद लाभ से चिकित्सा को अलग करना था।

यह प्रश्न श्रममंत्रियों की पहली, दूसरी और तीसरी कान्फ्रेंसों में क्रमशः १९४०,१९४१ तथा १९४२ में फिर उठाया गया। श्रममंत्रियों की तीसरी कान्फ्रेंस में सरकार ने परीक्षण के लिये एक योजना का आरंभ किया। यह योजना कान्फ्रेंस में विचार विमर्श के लिये रखी गई थी। अतः यह निश्चय हुआ कि एक विशेषाधिकारी नियुक्त किया जाय और वह प्रांतीय सरकारों से तथा मालिक और मजदूरों का प्रतिनिधित्व करनेवाले सलाहकारों के एक मंडल से सलाह ले। इस प्रकार मार्च, १९४३ में 'भारत में औद्योगिक कर्मचारियों के स्वास्थ्य बीमा' की संपूर्ण योजना के विवरण का कार्यान्वयन करने के लिये प्रो० अडारकर नियुक्त हुए। तदनुसार अडारकर ने उद्योगों के तीन प्रमुख वर्गों, अर्थात् कपड़ा, इंजीनियरिंग और खनिज उद्योगों मे काम करनेवाले मजदूरों के रोगबीमा के विभिन्न पहलुओं के विषय में गंभीर अन्वेषण किए।

प्रो० अडारकर की रोगबीमा योजना का क्षेत्र यद्यपि सीमित था, फिर भी उसने कर्मचारी राज्य बीमा ऐक्ट, १९४८ के लिये मार्ग प्रशस्त किया। इस अधिनियम (ऐक्ट) में अडारकर योजना में उल्लिखित मुख्य सिद्धांत समन्वित हैं यथा, अनिवार्य अंशदान जो बीमाक के हिसाब से संतुलित और व्यवहार में नमनशील हो; तथापि कर्मचारी राज्य बीमा ऐक्ट १९४८ अडारकर योजना द्वारा स्वीकृत दो बुनियादी दृष्टिकोणों से अपर्याप्त है; अर्थात् एक ओर तो ऐक्ट ऐसे किसी न्यायतंत्र की व्यवस्था नहीं करता जो नकद और चिकित्सालाभ संबंधी झगड़ों का निपटारा करे, और दूसरी ओर ऐक्ट औद्योगिक कर्मचारियों की क्षमताशीलता के आयाम का ध्यान नहीं रखता। परिणामतः उसमें वित्तीय दृष्टि से कमी रह जाती है जिससे ऐक्ट के अंतर्गत बीमा किए हुए कुछ कर्मचारियों को ही लाभ मिल पाता है और जो मिलता है, वह भी अपर्याप्त होता है।

हमें अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन से और ब्रिटिश संयुक्त राज्य (U. K.) तथा अमरीका (U. S. A.) में सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में हुए विकास से बहुत अधिक लाभ पहुँचा है, विशेषतः ब्रिटिश संयुक्त राज्य में सामाजिक बीमा तथा संबंधित सेवाओं में (Sccial Insu-

rance and Allied Services in the U. K.) संबंधी बेवरिज रिपोर्ट के प्रकाशन से तथा उन प्रस्तावों से जो अंतर अमरीकी सामाजिक बीमा संहिता (Inter American Social Insurance) के आधार पर स्वीकार किए गए थे।

बेवरिज योजना की परिकल्पना संयुक्त राज्य में दूसरे विश्वयुद्ध के बाद सामाजिक बीमा के वर्तमान नियमों को समाविष्ट कर उन्हें पुनर्गठित करने की थी। इस परिकल्पना की प्रमुख विशिष्टता सामाजिक सुरक्षा की समस्या को समग्र रूप से मान्य ठहराने में है, न कि अंशों में। परिकल्पना समाज के सामने एक आदर्श रखती है जिससे मनुष्य अभाव और पारिवारिक विपत्ति के भय से मुक्त होकर जीवन यापन कर सके।

वर्तमान शताब्दी के आरंभ से औद्योगीकरण में अग्रसर होते हुए भी भारत श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा के स्तर में पिछड़ा हुआ है। समर्थ श्रमिकों को सबसे अधिक जिस महत्वपूर्ण सुरक्षा की आवश्यकता है वह आय के कम हो जाने और बेरोजगारी से बचाव की है।

आजकल औद्योगिक विवाद (संशोधन) ऐक्ट १९५६ को छोड़कर कोई ऐसा विधान नहीं है जो रोजगार बंद हो जाने के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करता हो। औद्योगिक विवाद ऐक्ट (संशोधन) की धारा २५, उपधारा FFF भी मालिकों को किसी व्यवसाय को अल्पकालीन या नियमित और स्थायी निर्धारित करने के मनमाने अधिकार दे देती है।

१९६१ की श्रम कांफ्रेंस में इस असंगति को दूर करने का प्रयत्न किया गया। जनकल्याण की राज्य के संदर्भ में, जिसे स्थापित करने का राष्ट्र का लक्ष्य है और बेरोजगारी के विरुद्ध सुरक्षा के संबंध मे जिसके लिये संवैधानिक नियम हैं, जो प्रगति हुई है वह चिंतनीय है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद ४१ में उल्लिखित है : "काम करने के अधिकार, वृद्धावस्था, रोग, अंगहानि, तथा अभाव की अन्य अनुपयुक्त स्थितियों मे राज्य अपनी आर्थिक क्षमता और विकास की सीमाओं के अंतर्गत प्रभावपूर्ण व्यवस्था करेगा।" पूर्वोल्लिखित निदेशक सिद्धांत मे घोषित आदर्श की प्राप्ति में भारत की आर्थिक उन्नति औद्योगिक रूप से विकसित पश्चिम के देशों द्वारा उपलब्ध अवस्थाओं तक सन्निहित है। परिणामतः, वर्तमान अवस्था में, सामाजिक सुरक्षा की बहुत कुछ सरल तथा ऐसी योजना की आशा करना युक्तिसंगत होगा जो जीवनांककीय और वित्तीय दृष्टि से उन देशों के बराबर हो जो आर्थिक विकास की उन अवस्थाओं से ही गुजर रहे हों जिनके लिये भारत प्रयत्नशील है।

अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन के तत्वावधान में सामाजिक सुरक्षा के व्यय के ह्रास (१९४९-१९५७) के अध्ययन में सामाजिक सुरक्षा की विभिन्न योजनाओं के कुल आय व्यय को सदस्य राज्यों की राष्ट्रीय आय से परस्पर संबंधित किया गया। हमारे समक्ष जो मौजूदा उद्देश्य है उसके लिये हमें चीन से तुलना करनी चाहिए, क्योंकि भारत और कम्युनिस्ट चीन दोनों की अर्थव्यवस्थाएँ उन्नति की ओर प्रयत्नशील हैं और दोनों राष्ट्रीय योजनाओं के अधीन कार्य कर रहे हैं। १९५६-५७ में भारत में सामाजिक सुरक्षा के कुल आय व्यय राष्ट्रीय आय के १.२ और १.० प्रति शत हैं, विवेचित वर्ष में चीन की राष्ट्रीय आय के क्रमिक अंक ०.९ और ०.८ हैं। भारत और चीन के बीच सामाजिक सुरक्षा का तुलनात्मक वित्तीय मूल्यांकन एक शुभ लक्षण है; किंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि भारत की तुलना में चीन की अर्थव्यवस्था विभिन्न ह्रासोन्मुख परिस्थिति में कार्य कर रही है और उस निधि से जो लोकसहायता की योजनाओं के अंतर्गत लोककार्य के लिये निर्धारित है—जो कि अर्थव्यवस्था में मुख्यतः रोजगारी शक्ति उत्पन्न करने में लगाई जाती है। संभवतः वे सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र मे नहीं आते।

भारत में प्रवर्तित सामाजिक सुरक्षा के कार्यों के स्तर और सीमा से संतोष की कम ही गुंजायश है, क्योंकि इस क्षेत्र में अभी बहुत कुछ करने को है, विशेष रूप से रोजगार बीमा की प्रभावशाली योजनाओं को प्रचलित करने के लिये।

इस प्रकार भारत में योजना बनानेवालों के आगे बेरोजगारी एक स्थायी चुनौती है, क्योंकि कर्मचारियों और समाज के दृष्टिकोण से बेरोजगारी की लागत पर विचार करने से सही हालत प्रकट नहीं होती। निस्संदेह हानि के रूप में बेरोजगारी मालिकों के लिये उतना चिंता का विषय नहीं है जितना मजदूरों और सारे समाज के लिये है। जनशक्ति की बर्बादी के रूप में बेरोजगारी और अर्थव्यवस्था का शिथिल विकास साथ साथ चलते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि देश में पंचवर्षीय योजनाओं के लागू होने के समय से चिंतनीय रूप से बढ़ती हुई बेरोजगारी की बुराई को दूर करने के लिये उपयुक्त उपाय किए जायँ।

दूसरी पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ में बेरोजगार लोगों की संख्या ५३ लाख कूती गई थी; दूसरी योजना के अंत तक यह ९० लाख स्थिर की गई। कहा जाता है, तीसरी योजना में इस भार में कोई महत्वपूर्ण वृद्धि नहीं होगी, किंतु तीसरी योजना में संभावित रोजगार के साधनों के अनुसार १ करोड़ ४० लाख अतिरिक्त लोगों को रोजगार दिया जायगा, जबकि नमूने के तौर पर किए गए सर्वेक्षण (National sample survey) के अनुमान के अनुसार रोजगार चाहनेवालों में नए लोगों की संख्या एक करोड़ सत्तर लाख होगी। इस प्रकार तीस लाख बेरोजगार रह ही जाएँगे। परिणामतः तीसरी योजना के अंत में बेरोजगारी का कुल भार एक करोड़ बीस लाख तक होने की संभावना है। भारत में सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम (Workmen's compensation Act) तथा मातृत्व संबंधी विभिन्न अधिनियम (maternity Act) अंशतः किए गए विधान थे। इस दिशा में पहला ठोस कदम सन् १९४८ में कर्मचारी राज्य बीमा ऐक्ट बनाकर उठाया गया, जिसके अनुसार बीमारी, प्रसव और काम करते हुए चोट लगना, इन तीन जोखिमों से औद्योगिक कर्मचारियों की रक्षा की व्यवस्था की गई। किंतु जैसा कि ऐक्ट आजकल है, वह व्यापकता में सीमित है और उसे विभिन्न दिशाओं में बहुत विस्तृत करने की आवश्यकता है, जैसे प्रशासन का विकेंद्रीकरण, ऐक्ट से संलग्न सामाजिक सुरक्षा से संबंधित विभिन्न कार्यकारी योजनाओं का एकीकरण और कर्मचारियों को दिए जानेवाले

नकद और चिकित्सकीय लाभ की अपर्याप्तता। जो हो, कर्मचारियों का राज्य बीमा ऐक्ट भारत में आरंभ किया एक साहसिक कार्य माना जाता है। यह ऐक्ट कर्मचारियों को, सामान्य जोखिम से बचाव कर, लाभ पहुंचाता है, जो अभी तक दक्षिण पूर्वी एशिया के अन्य देशों में इस स्तर पर नहीं हुआ है। अलग अलग देशों में राष्ट्रीय आय के स्तर के संबंध में निर्देशित, विभिन्न आर्थिक व्यवस्थाओं, औद्योगीकरण की अवस्था, प्रशासकीय कर्मचारियों की सुलभता आदि के कारण सामाजिक सुरक्षा के प्रतिरूप में समानता, विस्तार और स्तर को बनाए रखना कठिन है। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों में सामाजिक ढांचों में, अर्थव्यवस्थाओं में और राजनीतिक संस्थाओं में वैभिन्य होने के कारण आवश्यक सामाजिक सुरक्षा की प्रकृति तथा मात्रा में अंतर हो जाता है। परिणामतः सामाजिक सुरक्षा की विशिष्ट योजनाओं को जो तत्संबंधी महत्व दिया जाता है वह देश देश में अलग अलग होता है। किंतु अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा निर्धारित सामाजिक सुरक्षा के प्रतिमान सामाजिक बीमा के मानदंड की व्यवस्था करते हैं, जिन्हें सदस्य देश पूरा करने का प्रयत्न करते हैं।

इस समय राज्य कर्मचारी बीमा ऐक्ट प्राय: देश भर में लागू है। इस योजना के अंतर्गत राज्य कर्मचारी बीमा कार्पोरेशन के द्वारा १९५९–६० में लगभग १७ लाख औद्योगिक कार्यकर्ताओं और लगभग ५ लाख परिवारिक इकाइयों ने लाभ उठाया। यह अनुमान किया जाता है कि तीसरी योजना के अंत तक इस ऐक्ट के अंतर्गत ३० लाख कर्मचारियों को लाभ सुलभ होगा और यह उन केंद्रों में लागू कर दिया जायगा जहां पांच सौ या उससे अधिक कर्मचारी काम करते हैं। इसके अतिरिक्त, राज्य कर्मचारी बीमा योजना के अंतर्गत भी कर्मचारी क्षतिपूर्ति ऐक्ट के अधीन लगा दिए जाते हैं। फिर भी, इसके उन औद्योगिक कर्मचारियों पर ही लागू होने के कारण जो स्थायी कारखानों में काम करते हैं, यह ऐक्ट बहुत सीमित है, और उन सब कर्मचारियों पर लागू होता है जो ४०० रु० प्रति मास से अधिक पारिश्रमिक नही पाते। स्पष्टतः इस ऐक्ट का क्षेत्र सारे देश की श्रमिक जनसंख्या के एक अंश का ही प्रतिनिधित्व करता है। दूसरी बात, यद्यपि बीमा किए कर्मचारी के परिवार को चिकित्सा के लाभ के विस्तार के विषय में विचार किया जा रहा है और सरकार उस ओर पूरा ध्यान दे रही है, तथापि, उसकी प्राप्ति के ढंग और अवधि में सुधार होने में समय लग सकता है। तीसरी बात, सामाजिक सुरक्षा से संबंधित अन्य विधानों के एकीकरण और समरूप करने की बहुत अधिक आवश्यकता है। ये विधान हैं, मातृत्व हितकारी विभिन्न ऐक्ट, कर्मचारियों का प्राविडेंट फंड ऐक्ट १९५२, औद्योगिक कर्मचारी (स्थायी आदेश) ऐक्ट १९४६ और विवाद (संशोधन) ऐक्ट १९५३, (धारा २५), साथ में कर्मचारी राज्य बीमा ऐक्ट। यह इसलिये आवश्यक है कि एक सरल सर्वोपयोगी सामाजिक सुरक्षा योजना की व्यवस्था हो सके, जिससे वर्तमान प्रशासकीय व्यय कम होने की और कर्मचारियों के लिये एक सुसंगत संस्थागत व्यवस्था सुलभ होने की संभावना है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि एकरूप सामाजिक सुरक्षा योजना की संभाव्यता बुनियादी तौर पर सुलभ साधनों की सीमा पर निर्भर करती है; किंतु उसके कार्यान्वयन के लिये साधन खोजना ही चाहिए। पिछली एक दशाब्दी मे औद्योगिक उत्पादन में अच्छी खासी वृद्धि हुई है। इसलिये उन मजदूरों को, जो अधिक उत्पादन के स्तर के लिये उत्तरदायी हैं, जोखिम से रक्षा के उपयुक्त साधनों के रूप में न्याय्य भाग मिलना चाहिए। ये जोखिम हैं: अपाहिज हो जाना, रोजगार छूट जाना, बीमारी और बुढ़ापा। कर्मचारी राज्य बीमा ऐक्ट १९४८ के अंतर्गत चिकित्सा संबंधी व्यवस्था का विस्तार होना चाहिए विशेषतः उन बीमार कर्मचारियों की चिकित्सा के संबंध में परिवर्तन होना चाहिए जो चिकित्सालयों से घर दवा ले जाते हैं। 'तालिका' (Panel) प्रणाली में कर्मचारियों को बड़ी असुविधा होती है, क्योंकि यह प्राय: देखा गया है कि समय पर सहायता नहीं मिलती। हर प्रकार से विचार करने पर यह आवश्यक है कि 'सेवा प्रणाली' (Service System) को प्रोत्साहन दिया जाय और जहां संभव हो 'तालिका प्रणाली' समाप्त कर दी जाय।

यहां वृद्धावस्था के लिये व्यवस्था के संबंध में कुछ कहना आवश्यक है। कर्मचारी के लिये वृद्धावस्था निरंतर चिंता का विषय बनी रहती है, जब तक वह अपने को इस बात के लिये सुरक्षित न समझ ले कि वह काम में लगे रहने पर जिस प्रकार रहता था उसी स्थिति में अपना जीवन कायम रख सकेगा। सेवानिवृत्त कर देने की योजना में मुख्यतः पेंशन, प्राविडेंट फंड तथा सेवापारितोषिक (gratuity) या अनुग्रहधन की व्यवस्था है। सेवानिवृत्ति अनुदानों का स्वरूप और उनका मान (Scale) कर्मचारी की सेवा-अवधि और सेवानिवृत्ति होने के समय के पारिश्रमिक स्तर के अनुसार होता है।

आजकल भारत में औद्योगिक कर्मचारियों के लिये कर्मचारी प्राविडेंट फंड ऐक्ट १९५२ के अंतर्गत प्राविडेंट फंड स्वीकार किया जाता है। अपनी प्रारंभिक अवस्था में यह अधिनियम इन छह प्रमुख उद्योगों पर लागू किया गया था बशर्ते इनमें ५० या अधिक कार्यकर्ता हों—कपड़ा, लोहा और इस्पात, सीमेंट, इंजीनियरिंग, कागज और सिगरेट। १९६१ में ऐक्ट का विस्तार ५८ उद्योगों तक हो गया योजना के अंतर्गत कर्मचारियों की संख्या की सीमा भी कम करके ५० से २० कर दी गई। अनेक उद्योगों में अनुग्रहधन की विभिन्न योजनाएं विद्यमान हैं—इसी से सेवापारितोषिक की राशि में समानता लाने के लिये एक विधेयक बनाया गया है। यह विभिन्न उद्योगों में संलग्न, समान ढंग के काम करनेवाले कर्मचारियों को ग्रेचुइटी निश्चित करने की रीति में वर्तमान असमानता दूर कर देगा।

सामान्यतः श्रम संघटनों द्वारा प्राविडेंट फंड ऐक्ट १९५२ के अंतर्गत प्राविडेंट फंड के अनुदान की वर्तमान दर ६¼ प्रतिशत का इस बिना पर विरोध किया जाता है कि निर्वाह खर्च के लगातार बढ़ते रहने के कारण वह अपर्याप्त है। प्राविडेंट फंड ऐक्ट १९५२ के अंतर्गत अंशदान बढ़ाने के अतिरिक्त केंद्रीय श्रम संगठन ने यह मांग भी की है कि तीनों लाभ अर्थात् रोग, प्राविडेंट फंड और

अनुग्रह धन की व्यवस्था के लिये एक विस्तृत योजना बनाई जाय। १९५७ में सामाजिक सुरक्षा के लिये एक अध्ययन मंडल स्थापित हुआ था और उसने सामाजिक सुरक्षा के वर्तमान नियमों में पुनः संशोधन करने तथा सामाजिक सुरक्षा की व्यापक योजना के लिये सिफारिशें पेश कीं। मंडल ने प्राविडेंट फंड की मालिक और कर्मचारी दोनों की रकम ६¼ प्रतिशत से ८⅓ प्रतिशत बढ़ाने की संस्तुति भी की है। इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने इस मत का समर्थन किया है; किंतु मालिक लोग उद्योगों की सीमित क्षमता के आधार पर इस वृद्धि का विरोध कर रहे हैं। सरकार ने सिद्धांत रूप से इस दर को बढ़ाना स्वीकार कर लिया है। किंतु, सरकार ने मालिकों द्वारा उठाई आपत्ति की उपयुक्तता की परीक्षा और मूल्यांकन करने के लिये एक टेक्निकल कमेटी स्थापित कर दी है। अध्ययन मंडल ने मौजूदा प्राविडेंट फंड को पेंशन-सह-ग्रेचुइटी योजना में परिवर्तित करने का परामर्श दिया है जिससे कर्मचारी राज्य बीमा योजना और प्राविडेंट फंड योजना के अंतर्गत देय अंश की दर बढ़ जायगी। श्रम संगठन इस बात पर अधिक जोर दे रहे हैं कि इस प्रकार की संमिलित योजना चालू करने के पूर्व यह अधिक उपयुक्त होगा कि कर्मचारी राज्य बीमा योजना के अंतर्गत चिकित्सा के लाभ बीमा किए कर्मचारियों के परिवारों को भी दिए जायें।

इस प्रकार भारत में सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्थाओं का प्रारंभ आशाजनक कहा जा सकता है, किंतु भावी प्रगति निश्चय ही इस बात पर निर्भर करती है कि सामाजिक न्याय की उपलब्धि के प्रति अभिमुख सामाजिक नीति को सामाजिक सुरक्षा का सजीव तत्व मान कर उसे प्राथमिकता दी जाय। किंतु, यदि आर्थिक विकास की वर्तमान प्रवृत्ति तथा सामाजिक निदेशन भावी आर्थिक व्यवस्था के किसी प्रकार पूर्वसूचक हैं तो इसकी न्यायत: प्रत्याशा की जा सकती है कि रोग अथवा वृद्धावस्था के विरुद्ध सभी उद्योगों के कर्मचारियों को चौथी योजना के अंत, अर्थात् १९७१ तक, सुरक्षा प्रशासित कर दी जायगी, चाहे वह मौसमी या नियमित किसी भी प्रकार का उद्योग क्यों न हो। खेती में लगे मजदूरों के लिये रोग बीमा का लागू किया जाना निकट भविष्य में संदेहात्मक लगता है, विशेषतः उन श्रमिकों के लिये जिनके पास कोई भूमि नहीं है। आय की सुरक्षा की व्यवस्था का देश के सामाजिक और आर्थिक विकास की किसी भी योजना में प्रमुख स्थान है। किसी भी विस्तृत सामाजिक बीमा योजना के लागू करने में प्रतिबंधक तत्व सामान्यतः 'उद्योग की क्षमता' माना जाता है। प्रथमतः सामाजिक सुरक्षा योजना के लेखकीय और हिसाबी पक्षों की त्रिदलीय स्थायी बोर्ड द्वारा समीक्षा होनी चाहिए। यह बोर्ड मजदूरों, मालिकों और सरकार के हितों का प्रतिनिधित्व करेंगे, विशेषतः राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय स्तर पर बनी उत्पादन परिषदों के सहयोग से।

विस्तृत सामाजिक सुरक्षा योजनाओं की वित्तीय क्षमता के मामलों में कुशल परामर्श राष्ट्रीय उत्पादन कौंसिल, नई दिल्ली से लेना चाहिए। सामाजिक सुरक्षा के मामलों में वित्तीय तथा लेखकीय विवरणों की जाँच राष्ट्रीय उत्पादन कौंसिल के पाँच निदेशालयों द्वारा होनी चाहिए। यह निदेशालय महत्वपूर्ण केंद्रों, बंबई, मद्रास, कलकत्ता, बँगलौर और कानपुर में स्थापित किए गए हैं, राष्ट्रीय उत्पादन काउंसिल द्वारा अनुमोदित तथा क्षेत्रीय निदेशालय द्वारा परीक्षित और मूल्यांकित जो प्रस्तावित योजनाएँ हों उनका संपादन और कार्यान्वयन मौजूदा तैंतालीस स्थानीय उत्पादक काउंसिलों के माध्यम से होना चाहिए जो देश में उद्योग के स्थान और विभाजन के अनुरूप स्थापित की गई हैं।

गठित बोर्डों को चाहिए कि वे समय समय पर व्यापक सामाजिक सुरक्षा योजना के विभिन्न कार्यक्षेत्रों में हुई प्रगति की जाँच करें। यह जाँच सामाजिक सुरक्षा अध्ययन मंडल (१९५८) की सिफारिशों के अनुसार उन परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए होगी जो किसी उपयोग या संस्थान विशेष में विद्यमान हों। जब तक सामाजिक सुरक्षा की व्यापक योजना तैयार नहीं हो जाती तब तक सामाजिक सुरक्षा करनेवाले परंपरागत साधनों, अर्थात् संमिलित या विस्तृत परिवार, ग्राम पंचायतों (समितियों) और हाल के सहकारी संगठनों और सामुदायिक खंडों को उन शारीरिक रूप से अक्षम, वृद्ध लोगों और बच्चों की सहायता का मुख्य स्रोत बना रहना चाहिए जो आर्थिक दृष्टि से प्रभावग्रस्त हों। इसके अतिरिक्त स्थानीय निकायों को सामाजिक सहायता करनेवाली योजनाओं को, किसी न किसी रूप में, सक्रिय सहयोग देना चाहिए और समाज के उस अंग को आर्थिक सहायता देने की दृष्टि से सहायता कोष की स्थापना में संमिलित प्रयत्न करना चाहिए जो पारस्परिक सहायता के बिना व्यक्तिगत रूप से आर्थिक अड़चनों का सामना करने में असमर्थ हैं।

[डी० पी० गु० तथा जे० एस० स०]

सामार द्वीप (Samar Island) सामार द्वीप फिलीपाइन समूह में स्थित है। क्षेत्रफल ५३०९ वर्गमील तथा जनसंख्या ५,४६,३०६ है। इसका समुद्री तट असमान एवं कटा है। यहाँ की नदियाँ छोटी तथा तीव्रगामिनी हैं। यहाँ का जलवायु स्वास्थ्यप्रद है किंतु प्रशांत महासागर के तूफानों के संमुख पड़ने के कारण जलवायु भिन्न हो जाता है। प्रत्येक भाग में कृषि नहीं होती। चरागाही एवं लकड़ी का व्यवसाय किया जाता है। चावल, नारियल एवं अबाका (abaca) उत्पन्न होता है। हरमानी (Hermani) नामक स्थान पर लोहे की खानें पाई जाती हैं। यहाँ के मुख्य निवासी विसायन (Visayans), बीकोज (Bikoes) तथा टागालोस (Tagalos) हैं। मुख्य नगर काटावालोगन, बासेय, काटबालोग, ग्वीनान, तथा बोरोन्गान हैं।

सर्वप्रथम सन् १५२१ में स्पेन निवासियों ने इसकी खोज की। सन् १९२० में यहाँ स्वशासन स्थापित हुआ। सन् १९४२ में यह जापान के अधीन था तथा सन् १९४४ में पुनः अमरीका के अधीन हो गया।

[मु० का० रा०]

सामीप्य सिद्धांत (Cypress doctrine) धार्मिक न्यास (trust) की एक विशेषता यह है कि यदि वसीयत (will) करनेवाले ने अपने विल में दान के निमित्त पूर्ण एवं निश्चित इच्छा प्रकट की है, अथवा विल में कथित विवरणों से न्यायालय इस

निष्कर्ष पर पहुँचता है कि विल करनेवाले (testator) ने दानार्थ अपनी संपत्ति दी है, तो न्यायालय दान को व्यर्थ नहीं होने देगा। देखिए, मिल्स बनाम फार्मर (१८१५), १ मर, ५५, ६५ अर्थात् विल में दानार्थ दी गई संपत्ति को न्यायालय दान के निमित्त ही यथासंभव खर्च होने का आदेश देगा। यदि विल में कथित दान के लक्ष्य का अस्तित्व भी कभी नहीं रहा हो, तथापि न्यायालय एक दातव्य योजना तैयार कराकर विल करनेवाले की इच्छा की पूर्ति होने देगा। देखिए, रि नॉक्स (१९३७) ७, चांसरी १०१।

किंतु सामीप्य सिद्धांत के लागू होने के लिये दान का लक्ष्य निर्विवाद होना आवश्यक है। धन की कोई राशि दान या देशभक्ति के लक्ष्य में लगाने पर, दान व्यर्थ हो जायगा क्योंकि, इससे दान के निमित्त दाता की एकांत भावना प्रगट नहीं होती। देशभक्ति दान की परिभाषा से बाहर है। ऐसी स्थिति में दान के निमित्त निर्दिष्ट राशि संपदा (estate) के अवशेष में आ जायगी एवं विल के अनुसार 'अवशेष' (residue) के उत्तराधिकारी इस राशि के भोक्ता होंगे। किंतु यदि कोई राशि दान या परोपकार के लिये दी गई हो, तो दान व्यर्थ नहीं होगा, क्योंकि दान और परोपकार के लक्ष्य में विषमता नहीं मानी जाती है। यदि विल करनेवाला (testator) दातव्य तथा अदातव्य (uncharitable) लक्ष्यों के बीच संपत्ति का विभाजन न कर सका हो तो न्यायालय उक्त रकम को दोनों लक्ष्यों के बीच समान भाग में बाँट देगा।

'सामीप्य सिद्धांत' की उत्पत्ति कब और किस तरह हुई, अनिश्चित है। किंतु न्यायाधीश लार्ड एल्डन ने मागरिज बनाम थैकवेल (१८०२) ७० वेज, ६६ में कहा था कि एक समय था, जब इंग्लैंड में प्रत्येक व्यक्ति के इस्टेट के अवशेष का एक अंश दानार्थ व्यय होता था एवं संपत्ति का उत्तराधिकारी व्यक्ति नैतिक दृष्टि से ऐसा करना अपना कर्तव्य समझता था, क्योंकि ऐसा समझा जाता था कि विल करनेवालों में दान की भावना रहती है। जब कानून द्वारा संपत्ति का विभाजन अनिवार्य हो गया तो ऐसा सोचना असंभव नहीं कि दानार्थ संपत्ति में भी वही सिद्धांत लागू हुआ हो।

'सामीप्य सिद्धांत' को लागू करने में दो प्रतिबंध उल्लेखनीय हैं—(१) दाता की इच्छा का उल्लंघन उसी स्थिति में हो जब विल करनेवाले की इच्छा का अक्षरशः पालन करना असंभव हो जाय। किंतु 'असंभव' शब्द की विवृति (interpretation) उदार भाव से की जाती है तथा (२) जब इस सिद्धांत के लागू करने से अवांछनीय फल निकले, तभी इसपर अंकुश लगाया जाय। देखिए, रि डोमीनियन स्टूडेंट्स हाल ट्रस्ट (१९४७) चांसरी १८३. जिसमें किसी विल करनेवाले ने अपनी संपत्ति का एक अंश इस उद्देश्य से दान में दिया कि इंग्लैंड के किसी छात्रावास में, जहाँ ब्रिटिश उपनिवेश के विद्यार्थी आकर रहते थे, वर्णविभेद न रहे। दाता की इच्छा का अक्षरशः पालन करने से छात्रों में पारस्परिक तनाव ही बढ़ता अतः न्यायालय ने कहा कि दाता का मुख्य उद्देश्य भिन्न भिन्न वर्णों के विद्यार्थियों में सद्भावना बढ़ाना है और इसी के निमित्त दातव्य राशि का व्यय हुआ।

यदि विल करनेवाले ने दान के लक्ष्य का संकेत किया है तथापि लक्ष्य का कार्यान्वयन होना असंभव या अव्यावहारिक है, या भविष्य में ऐसी योजना चालू नहीं रखी जा सकती तो न्यायालय विल के लक्ष्य से यथासंभव मिलते जुलते किसी अन्य लक्ष्य के निमित्त उक्त राशि व्यय करने का आदेश देगा। देखिए, एटॉर्नी जनरल बनाम दी आयरन मांगर्स कं० (१८४०) १०, सी–एल० ऐंड एफ०, ९०८।

विल में दी हुई राशि लक्ष्य के निमित्त पूर्व से ही अधिक है या पीछे आवश्यकता से अधिक हो जाती है तो आवश्यकता से अधिक राशि के प्रयोग में 'सामीप्य सिद्धांत' लागू होगा। देखिए, रि राबर्ट्सन (१९३०) २ चांसरी. ७१।

दान का उद्देश्य दिखलाने के लिये क्या आवश्यक है, इस प्रसंग में कोई नियम रखना असंभव है। न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों से उदार एवं अनुदार दोनों विवृत्तियाँ (interpretation) परिलक्षित होती हैं। निर्दिष्ट दान यदि अन्यान्य दान के साथ मिश्रित हो, जो स्वतः पूर्ण एवं असंदिग्ध हो, तो दान की भावना स्पष्ट हो जाती है। देखिए, री नॉक्स (१९३७) चांसरी १०१। किंतु यदि विल करनेवाले के मन में कोई विशेष दातव्य लक्ष्य रहा हो और उस लक्ष्य की पूर्ति संभव न हो तो दान व्यर्थ हो जायगा तथा दान की राशि दाता के पास लौट जायगी और यदि विल के द्वारा दान दिया गया हो तो वह राशि संपत्ति के अवशेष में जा मिलेगी। देखिए, रि ह्वाइट्स ट्रस्ट (१८८६), ३३ चांसरी ४४९।

यदि विल करनेवाले ने किसी विशेष लक्ष्य के निमित्त दान दिया है एवं उसकी मृत्यु के पूर्व ही वह लक्ष्य लुप्त हो चुका है, तो न्यायालय के लिये उस लक्ष्य के निमित्त दातव्य भावना की विवृति करना कठिन हो जायगा। न्यायालय ने यदि दातव्य भावना नहीं पाई तो दान के लिये लक्षित संपत्ति अवशेष में मिल जाएगी। इसी प्रकार यदि दान किसी व्यक्ति विशेष के लिये दिया गया हो एवं वह व्यक्ति विल करनेवाले से पहले ही मर चुका हो तो उक्त दान समाप्त हो जाएगा। दातव्य लक्ष्य यदि कोई संस्था हो और वह विल करनेवाले की मृत्यु के समय वर्तमान हो, किंतु पीछे लुप्त हो जाय, तो संपत्ति सरकार की हो जाएगी और सरकार इसके निमित्त 'सामीप्य सिद्धांत' लागू करेगी। देखिए, रि स्लेविन (१८९१) २ चांसरी, २३६।

सं० ग्रं०—स्नेल : प्रिंसिपुल्स ऑव एक्विटी, २३वाँ संस्करण, १९४७; जॉर्ज डब्ल्यू०, कीटन : दि लॉ ऑव ट्रस्ट्स चतुर्थ संस्करण १९४७; मेटलैंड : एक्विटी, १९३६। [न० कु०]

सामुएल बाइबिल के दो सामुएल नामक ऐतिहासिक ग्रंथों का प्रधान पात्र। वह एलकाना और अन्ना का पुत्र था। लगभग ११०० ई० पू० यहूदियों के इतिहास में न्यायाधीशों का शासन समाप्त हो रहा था। और फिर राजाओं का काल प्रारंभ हुआ। उस संधिकाल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति सामुएल ही था। नबी, न्यायाधीश, पुरोहित एवं आध्यात्मिक नेता के रूप में सामुएल का वर्णन किया गया है।

सं० ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी ऑव दि बाइबिल, न्यूयार्क, १९६३। [आ० बे०]

सामूहिक चर्चवाद (कांग्रिगेशनैलिज्म)। ईसाई समुदायों के संगठन की यह प्रणाली इंग्लैंड में बनी। ऐंग्लिकन राजधर्म के विरोध में रॉबर्ट ब्राउन के नेतृत्व में इसका प्रवर्तन १६वीं शती में हुआ था। इस प्रणाली के अनुसार स्थानीय चर्च (कांग्रिगेशन) सरकार से, बिशप से तथा किसी भी सामान्य संगठन से पूर्णरूपेण स्वतंत्र हैं; वे ईसा को ही अपना अध्यक्ष मानते हैं और पादरियों तथा साधारण विश्वासियों में कोई अंतर स्वीकार नहीं करते। इंग्लैंड में इसका पर्याप्त विकास हुआ किंतु मेथोडिज्म के कारण उनकी सदस्यता बहुत कम गई है। आजकल वहाँ लगभग चार लाख सामूहिक चर्चवादी हैं। अमरीका में इस संप्रदाय का प्रारंभ पिलग्रिम फादर्स (pilgrim fathers) द्वारा हुआ, वे कुछ समय तक हॉलैंड में रहकर बाद में न्यू इंग्लैंड में बस गए थे। इंग्लैंड की अपेक्षा सामूहिक चर्चवाद को अमरीका में अधिक सफलता मिली। यहाँ उसकी सदस्यता लगभग १३ लाख है। सन् १९५७ ई० में कांग्रिगेशनैलिस्ट चर्च एक अन्य ईसाई चर्च (एवैंजेलिकल ऐंड रिफार्म्ड चर्च) के साथ एक हो गए और उस नए संगठन का नाम 'युनाइटेड चर्च ऑव क्राइस्ट' रखा गया जिसकी सदस्यता लगभग बीस लाख है। [का० बु०]

साम्यवाद दे० 'समाजवाद'।

साम्यवादी (तृतीय) इंटरनेशनल (दे० समाजवादी इंटरनेशनल) यह मुख्यत: कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के नाम से विख्यात है। इसकी स्थापना सन् १९१९ में हुई थी। यह विश्व की समस्त साम्यवादी पार्टियों का संगठन था। पहले दो इंटरनेशनल संमेलनों से यह अंतरराष्ट्रीय सांगठनिक ढाँचे और कार्यक्रम का अंतर लेकर स्थापित हुआ था। तृतीय इंटरनेशनल का मुख्य उद्देश्य विश्व पैमाने पर घटनेवाली घटनाओं को विश्वक्रांति के विकास में सहायक बनाना था। इसमें संसदीय पद्धति मात्र से ही राजनीतिक विकास को स्वीकार नहीं किया गया था। इसके अतिरिक्त विशेष परिस्थितियों में समाजवादी तत्वों से सहयोग का भी निश्चय किया गया।

साम्यवादी इंटरनेशनल सोवियत संघ और विभिन्न देशों की साम्यवादी पार्टियों के बीच समन्वय का कार्य करता आ रहा है। इसका मुख्य लक्ष्य सर्वहारा क्रांति के लिये प्रथम रक्षापंक्ति का निर्माण करना रहा है।

१९६० में मास्को में विश्व की ८१ साम्यवादी पार्टियों का संमेलन हुआ था। इस संमेलन में युद्ध और शांति, नव स्वतंत्र देशों की सहायता के प्रश्नों तथा विश्व की विभिन्न साम्यवादी पार्टियों के बीच उत्पन्न विवादों के समाधान हेतु निर्णय किए गए थे।

[पु० वा०]

साम्राज्यकीय वरीयता उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब यूरोपीय देशों में औद्योगिक प्रगति हुई तब उन देशों का बना हुआ सामान एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों में आने लगा। इससे इंग्लैंड के विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और अब कई देशों में उसे कड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। ऐसी परिस्थिति में इंग्लैंड को अपने विदेशी व्यापार की रक्षा के लिये कई ढंग अपनाने पड़े। जो देश उसके अधीन थे उनमें प्रतिस्पर्धा रोकने के लिये जो नीति अपनाई गई उसे साम्राज्यकीय वरीयता कहते हैं। इस नीति के द्वारा इंग्लैंड ने अपने अधीन देशों के आयात निर्यात व्यापार के लिये एक संगठन बनाया जिसमें प्रत्येक सदस्य देश अन्य सदस्य देशों से उनके आयात किए हुए माल पर असदस्य देशों की अपेक्षा या तो आयात कर की मात्रा कम लगाएगा या आयात कर में छूट देगा। यथासंभव सभी सदस्य देश आसपास में ही आयात निर्यात करेंगे।

इंग्लैंड के अधीन सभी देश साम्राज्यकीय वरीयता के सदस्य बना लिए गए और इस प्रकार इंग्लैंड ने यूरोप के अन्य देशों के बने माल की इन देशों में प्रतिस्पर्धा समाप्त सी कर दी। परंतु इन अधीन देशों के व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा क्योंकि उनके कच्चे माल के निर्यात का क्षेत्र बहुत सीमित हो गया और अब पहले की अपेक्षा सस्ते दाम में उन्हें कच्चा माल निर्यात करना पड़ता था। इंग्लैंड को इस नीति से बहुत लाभ हुआ, क्योंकि अब उसे अपने तैयार किए हुए सामान को बेचने के लिये बाजार ढूँढने की आवश्यकता नहीं थी और साथ ही सदस्य देशों से इसमें प्रतिस्पर्धा की संभावना भी नहीं थी।

भारत के १९२१ के वित्त कमीशन की रिपोर्ट ने भारत का इस संगठन का सदस्य होना हानिकारक बतलाया था। किंतु फिर भी साम्राज्य के प्रति स्वामिभक्ति रखने के लिये उसे सदस्य बने रहने का सुझाव दिया था। इस कमीशन ने यह आवश्यक बतलाया कि साम्राज्य की वरीयता से संरक्षणप्राप्त उद्योगों को हानि न हो और आयात निर्यात का लेखाजोखा देश के अनुकूल होना चाहिए। इन सुझावों का भारतीय औद्योगिक नीति पर बहुत प्रभाव पड़ा और १९३२ ई० में ओटावा पैक्ट के नाम से आयात निर्यात संबंधी एक महत्वपूर्ण समझौता हुआ। फिर भी देश की आर्थिक अवस्था न सुधर पाई।

भारतवासियों ने साम्राज्यकीय वरीयता का बहुत विरोध किया था क्योंकि यहाँ के कच्चे माल की सभी यूरोपीय देशों में माँग थी और यदि वह स्वतंत्र रूप से बेचा जाता तो उसे अधिक लाभ होता। साथ ही यूरोपीय देशों के तैयार किए हुए सामान इंग्लैंड की अपेक्षा अधिक अच्छे और सस्ते पड़ते। इस प्रकार साम्राज्यकीय वरीयता से भारत को बहुत हानि उठानी पड़ी और औद्योगिक प्रगति उचित मात्रा में न हो सकी। धीरे धीरे इस वरीयता का अधिक विरोध होने पर भारत सरकार ने इसकी कई शर्तें रद कर दीं और भारत का व्यापार अन्य देशों से भी होने लगा। [भ० वि० मि०]

सायण वेदों के सर्वमान्य भाष्यकर्ता थे। सायण ने अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया है, परंतु इनकी कीर्ति का मेरुदंड वेदभाष्य ही है। इन्होंने अपनी रचनाओं में अपने चरित् के विषय में आवश्यक तथ्यों का निर्देश किया है। ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम था मायण और माता का श्रीमती। इनका गोत्र भारद्वाज था। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अनुयायी श्रोत्रिय थे। इनके अग्रज विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक महाराज हरिहर के मुख्य मंत्री तथा आध्यात्मिक गुरु थे। उनका नाम था—माधवाचार्य जो अपने जीवन के अंतिम समय में शृंगेरीपीठ के विद्यारण्य स्वामी के नाम से अभिषिक्त हुए थे। सायण के अनुज का नाम था भोगनाथ जो संगमनरेश के नर्मसचिव तथा कमनीय कवि थे। सायण ने अपने

'अलंकार सुधानिधि' नामक ग्रंथ में अपने तीन पुत्रों का नामोल्लेख किया है जिनमें कंपण संगीतशास्त्र में प्रवीण थे, मायण गद्यपद्य-रचना में विचक्षण कवि थे तथा सिंगण वेद की क्रमजटा आदि पाठों के मर्मज्ञ वैदिक थे।

माधवाचार्य — सायण का जीवन अग्रज माधव के द्वारा इतना प्रभावित था तथा उनके साथ घुलमिल गया था कि पंडितों को भी इन दोनों के पृथक् व्यक्तित्व में पर्याप्त संदेह है। इसका निराकरण प्रथमतः आवश्यक है। माधवाचार्य १४वीं शती में भारतीय विद्वज्जनों के शिखामणि थे। वे वेद, धर्मशास्त्र तथा मीमांसा के प्रकांड पंडित ही न थे, प्रत्युत वेदों के उद्धारक तथा वैदिक धर्म के प्रचारक के रूप में उनकी ख्याति आज भी धूमिल नहीं हुई है। उन्हीं के आध्यात्मिक उपदेश तथा राजनीतिक प्रेरणा का सुपरिणाम है कि महाराज हरिहर राय ने अपने भ्राता बुक्कराय के साथ दक्षिण भारत में आदर्श हिंदू राज्य के रूप से 'विजयनगर साम्राज्य' की स्थापना की। माधवाचार्य का इस प्रकार इस साम्राज्य की स्थापना में पूर्ण सहयोग था अतः वे राज्यकार्य के सुचारु संचालन के लिये प्रधान मंत्री के पद पर भी प्रतिष्ठित हुए। यह उन्हीं की प्रेरणा-शक्ति थी कि इन दोनों सहोदर भूपालों ने वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान को अपने साम्राज्यस्थापन का चरम लक्ष्य बनाया और इस शुभ कार्य में वे सर्वथा सफल हुए। फलतः हम माधवाचार्य को १४वीं शती में दक्षिण भारत में जायमान वैदिक पुनर्जाग्रति का अग्रदूत मान सकते हैं। मीमांसा तथा धर्मशास्त्र के प्रचुर प्रसार के निमित्त माधव ने अनेक मौलिक ग्रंथों का प्रणयन किया — (१) पराशरमाधव (पराशर स्मृति की व्याख्या), (२) व्यवहार-माधव, (३) कालमाधव (तीनों ही धर्मशास्त्र से संबद्ध), (४) जीवन्मुक्तिविवेक (वेदांत), (५) पंचदशी (वेदांत) (६) जैमिनीय न्यायमाला विस्तर (पूर्वमीमांसा), (७) शंकर दिग्विजय (आदि शंकराचार्य का लोकप्रख्यात जीवनचरित्)। अंतिम ग्रंथ की रचना के विषय में आलोचक संदेहशील भले हों, परंतु पूर्वनिबद्ध छहों ग्रंथ माधवाचार्य की असंदिग्ध रचनाएँ हैं। अनेक वर्षों तक मंत्री का अधिकार संपन्न कर और साम्राज्य को अभीष्टसिद्धि की ओर अग्रसर कर माधवाचार्य ने संन्यास ले लिया और शृंगेरी के माननीय पीठ पर आसीन हुए। इनका इस आश्रम का नाम था — विद्यारण्य। इस समय भी इन्होंने पीठ को गतिशील बनाया तथा 'पंचदशी' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया जो अद्वैत वेदांत के तत्वों के परिज्ञान के लिये नितांत लोकप्रिय ग्रंथ है। विजयनगर सम्राट् की सभा में अमात्य माधव माधवाचार्य से नितांत पृथक् व्यक्ति थे जिन्होंने 'सूतसंहिता' के ऊपर 'तात्पर्यदीपिका' नामक व्याख्या लिखी है। सायण को वेदों के भाष्य लिखने का आदेश तथा प्रेरणा देने का श्रेय इन्हीं माधवाचार्य को है।

सायण के गुरु — सायण के तीन गुरुओं का परिचय उनके ग्रंथों में मिलता है — (१) विद्यातीर्थ 'रुद्रप्रश्नभाष्य' के रचयिता तथा परमात्मतीर्थ के शिष्य थे जिनका निर्देश सायण के ग्रंथों में महेश्वर के अवतार रूप में किया गया है। (२) भारतीतीर्थ शृंगेरी पीठ के शंकराचार्य थे। (३) श्रीकंठ जिनके गुरु होने का उल्लेख सायण ने अपने कांची के शासनपत्र में तथा भोगनाथ ने अपने 'महागणपतिस्तव' में स्पष्ट रूप से किया है।

सायण के आश्रयदाता — वेदभाष्यों तथा इतर ग्रंथों के अनुशीलन से सायण के आश्रयदाताओं के नाम का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। सायण शासनकार्य में भी दक्ष थे तथा संग्राम के मैदान में सेनानायक के कार्य में भी वे कम निपुण न थे। विजयनगर के इन चार राजन्यों के साथ सायण का संबंध था—कंपण, संगम (द्वितीय), बुक्क (प्रथम) तथा हरिहर (द्वितीय)। इनमें से कंपण संगम प्रथम के द्वितीय पुत्र थे। और हरिहर प्रथम के अनुज थे जिन्होंने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की थी। कंपण विजयनगर के पूर्वी प्रदेश पर राज्य करते थे। संगम द्वितीय कंपण के आत्मज थे तथा सायण के प्रधान शिष्य थे। बाल्यकाल से ही ये सायण के शिक्षण तथा देखरेख में थे। सायण ने उनके अधीनस्थ प्रांत का बड़ी योग्यता से शासन किया। तदनंतर वे महाराज बुक्कराय (१३५० ई०—१३७९ ई०) के मंत्रिपद पर आसीन हुए और उनके पुत्र तथा उत्तराधिकारी हरिहर द्वितीय (१३७९ ई०—१३९९ ई०) के शासनकाल में भी उसी अमात्यपद पर प्रतिष्ठित रहे। सायण की मृत्यु सं० १४४४ (१३८७ ई०) में मानी जाती है। इस प्रकार ये वि० सं० १४२१—१४३७ (१३६४ ई०—१३७८ ई०) तक लगभग १६ वर्षों तक बुक्क महाराज के प्रधान मंत्री थे और वि० सं० १४३८—१४४४ वि० (१३७९ ई०—१३८७ ई०) तक लगभग आठ वर्षों तक हरिहर द्वितीय के प्रधान अमात्य थे। प्रतीत होता है कि लगभग पच्चीस वर्षों में सायणाचार्य ने वेदों के भाष्य प्रणीत किए (वि० सं० १४२०—वि० सं० १४४४)। इस प्रकार सायण का आविर्भाव १५वीं शती विक्रमी के प्रथमार्ध में संपन्न हुआ।

सायण के ग्रंथ — सायणाचार्य वेदभाष्यकार की ख्याति से मंडित हैं। परंतु वेदभाष्यों के अतिरिक्त भी उनके प्रणीत ग्रंथों की सत्ता है जिनमें अनेक अभी तक अप्रकाशित ही पड़े हुए हैं। इन ग्रंथों के नाम हैं —

(१) सुभाषित सुधानिधि — नीतिवाक्यों का सरस संकलन। कंपण भूपाल के समय की रचना होने से यह उनका आद्य ग्रंथ प्रतीत होता है।

(२) प्रायश्चित्त सुधानिधि — 'कर्मविपाक' नाम से भी प्रख्यात यह ग्रंथ धर्मशास्त्र के प्रायश्चित्त विषय का विवरण प्रस्तुत करता है।

(३) अलंकार सुधानिधि — अलंकार का प्रतिपादक यह ग्रंथ दस उन्मेषों में विभक्त था। इस ग्रंथ के प्रायः समग्र उदाहरण सायण के जीवनचरित् से संबंध रखते हैं। अभी तक केवल तीन उन्मेष प्राप्त हैं।

(४) पुरुषार्थ सुधानिधि — धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष रूपी चारों पुरुषार्थों के प्रतिपादक पौराणिक श्लोकों का यह विशद संकलन बुक्क महाराज के निदेश से लिखा गया था।

(५) आयुर्वेद सुधानिधि — आयुर्वेद विषयक इस ग्रंथ का निर्देश ऊपर निर्दिष्ट सं० ३ वाले ग्रंथ में किया गया है।

(६) यज्ञतंत्र सुधानिधि — यज्ञानुष्ठान विषय पर यह ग्रंथ हरिहर द्वितीय के शासनकाल की रचना है।

(७) धातुवृत्ति — पाणिनीय धातुओं की यह विशद तथा विस्तृत वृत्ति अपनी विद्वत्ता तथा प्रामाणिकता के कारण वैयाकरणों में विशेष रूप से प्रख्यात है। यह 'माधवीया धातुवृत्ति' के नाम से प्रसिद्ध होने पर भी सायण की ही निःसंदिग्ध रचना है—इसका परिचय ग्रंथ के उपोद्घात से ही स्पष्टतः मिलता है।

(८) वेदभाष्य—यह एक ग्रंथ न होकर अनेक ग्रंथों का द्योतक है। सायण ने वेद की चारों संहिताओं, कतिपय ब्राह्मणों तथा कतिपय आरण्यकों के ऊपर अपने युगांतरकारी भाष्य का प्रणयन किया। इन्होंने पाँच संहिताओं तथा १३ ब्राह्मण आरण्यकों के ऊपर अपने भाष्यों का निर्माण किया जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(क) संहिता पंचक का भाष्य

(१) तैत्तिरीय संहिता (कृष्णयजुर्वेद की) (२) ऋक्, (३) साम, (४) काण्व (शुक्लयजुर्वेदीय) तथा (५) अथर्व—इन वैदिक संहिताओं का भाष्य सायण की महत्वपूर्ण रचना है।

(ख) ब्राह्मणों का भाष्य

(१) तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा (२) तैत्तिरीय आरण्यक, (३) ऐतरेय ब्राह्मण तथा (४) ऐतरेय आरण्यक। सामवेदीय आठो ब्राह्मणों का भाष्य—(५) तांड्य, (६) षड्विंश, (७) सामविधान, (८) आर्षेय, (९) देवताध्याय, (१०) उपनिषद् ब्राह्मण, (११) संहितोपनिषद् (१२) वंश ब्राह्मण, (१३) शतपथ ब्राह्मण (शुक्लयजुर्वेदीय)। सायणाचार्य स्वयं कृष्णयजुर्वेद के अंतर्गत तैत्तिरीय शाखा के अध्येता ब्राह्मण थे। फलतः प्रथमतः उन्होंने अपनी तैत्तिरीय संहिता और तत्संबद्ध ब्राह्मण आरण्यक का भाष्य लिखा, अनंतर उन्होंने ऋग्वेद का भाष्य बनाया। संहिताभाष्यों में अथर्ववेद का भाष्य अंतिम है, जिस प्रकार ब्राह्मणभाष्यों में शतपथभाष्य सबसे अंतिम है। इन दोनों भाष्यों का प्रणयन सायण ने अपने जीवन के संध्याकाल में हरिहर द्वितीय के शासनकाल में संपन्न किया।

सायण ने अपने भाष्यों को 'माधवीय वेदार्थप्रकाश' के नाम से अभिहित किया है। इन भाष्यों के नाम के साथ 'माधवीय' विशेषण को देखकर अनेक आलोचक इन्हें सायण की निःसंदिग्ध रचना मानने से पराङ्मुख होते हैं, परंतु इस संदेह के लिये कोई स्थान नहीं है। सायण के अग्रज माधव विजयनगर के राजाओं के प्रेरणादायक उपदेष्टा थे। उन्हीं के उपदेश से महाराज हरिहर तथा बुक्कराय वैदिक धर्म के पुनरुद्धार के महनीय कार्य को अग्रसर करने में तत्पर हुए। इन महीपतियों ने माधव को ही वेदों के भाष्य लिखने का भार सौंपा था, परंतु शासन के विषम कार्य में संलग्न होने के कारण उन्होंने इस महनीय भार को अपने अनुज सायण के ही कंधों पर रखा। सायण ने ऋग्वेद भाष्य के उपोद्घात में इस बात का उल्लेख किया है। फलतः इन भाष्यों के निर्माण में माधव के ही प्रेरक तथा आदेशक होने के कारण इनका उन्हीं के नाम से संबद्ध होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह तो सायण की ओर से अपने अग्रज के प्रति भूयसी श्रद्धा की द्योतक घटना है। इसीलिये धातुवृत्ति भी, 'माधवीया' कहलाने पर भी, सायण की ही निःसंदिग्ध रचना है जिसका उल्लेख उन्होंने ग्रंथ के उपोद्घात में स्पष्टतः किया है—

> तेन मायणपुत्रेण सायणेन मनीषिणा।
> आख्यया माधवीयेयं धातुवृत्तिर्विरच्यते॥

वेदभाष्यों के एककर्तृत्व होने में कतिपय आलोचक संदेह करते हैं। संवत् १४४३ वि० (सन् १३८६ ई०) के मैसुर शिलालेख से पता चलता है कि वैदिक मार्ग प्रतिष्ठापक महाराजाधिराज हरिहर ने विद्यारण्य श्रीपाद स्वामी के समक्ष चतुर्वेद-भाष्य-प्रवर्तक नारायण वाजपेययाजी, नरहरि सोमयाजी तथा पंढरि दीक्षित नामक तीन ब्राह्मणों को अग्रहार देकर संमानित किया। इस शिलालेख का समय तथा विषय दोनों महत्वपूर्ण हैं। इसमें उपलब्ध 'चतुर्वेद-भाष्य-प्रवर्तक' शब्द इस तथ्य का द्योतक है कि इन तीन ब्राह्मणों ने वेदभाष्यों के निर्माण में विशेष कार्य किया था। प्रतीत होता है, इन पंडितों ने सायण को वेदभाष्यों के प्रणयन में साहाय्य दिया था और इसीलिये विद्यारण्य स्वामी (अर्थात् सायण के अग्रज माधवाचार्य) के समक्ष उनका सत्कार करना उक्त अनुमान की पुष्टि करता है। इतने विपुलकाय भाष्यों का प्रणयन एक व्यक्ति के द्वारा संभव नहीं है। फलतः सायण इस विद्वन्मंडली के नेता रूप में प्रतिष्ठित थे और उस काल के महनीय विद्वानों के सहयोग से ही यह कार्य संपन्न हुआ था।

वेदभाष्यों का महत्व — सायण से पहले भी वेद की व्याख्याएँ की गई थीं। कुछ उपलब्ध भी हैं। परंतु समस्त वेद की ग्रंथराशि का इतना सुचिंतित भाष्य इत पूर्व प्रणीत नहीं हुआ था। सायण का यह वेदभाष्य अवश्य ही याज्ञिक विधिविधानों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है, परंतु इसका यह मतलब नहीं कि उन्होंने वेद के आध्यात्मिक अर्थ की ओर संकेत न किया हो। वैदिक मंत्रों का अर्थ तो सर्वप्रथम ब्राह्मण ग्रंथों में किया गया था और इसी के आधार पर निघंटु में शब्दों के अर्थ का और निरुक्त में उन अर्थों के विशदीकरण का कार्य संपन्न हुआ था। निरुक्त में इने गिने मंत्रों का ही तात्पर्य उन्मीलित है। इतने विशाल वैदिक वाङ्मय के अर्थ तथा तात्पर्य के प्रकटीकरण के निमित्त सायण को ही श्रेय है। वेद के विषम दुर्ग के रहस्य खोलने के लिये सायण भाष्य सचमुच चाभी का काम करता है। आज वेदार्थमीमांसा की नई पद्धतियों का जन्म भले हो गया हो, परंतु वेद की अर्थमीमांसा में पंडितों का प्रवेश सायण के ही प्रयत्नों का फल है। आज का वेदार्थ परिशीली आलोचक आचार्य सायण का विशेष रूप से ऋणी है। वेदार्थमीमांसा के इतिहास में सायण का नाम सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है।

[ब० उ०]

सायनाइड विधि का आविष्कार १८८७ ई० में हुआ था। इससे कम सोनेवाले खनिजों से सोना निकालने में बड़ी सहायता मिली है। इससे पहले पारदन (amalgamation) विधि से खनिजों से केवल ६० प्रतिशत के लगभग सोना निकाला जा सकता था। पारदन विधि से सोना के अधिकांश सूक्ष्म कण निकल नहीं पाते थे। सायनाइड विधि के आविष्कारक मैक्आर्थर (J. S. Mac Arthur) और फॉरेस्ट (R. W. &. W. Forrest) थे। आविष्कार के समय इस विधि का उपहास किया जाता था क्योंकि इसका अभिकर्मक सायनाइड घातक विष और तब सरलता से प्राप्य

नहीं था। पर शीघ्र ही इस विधि का उपयोग १८८६ ई० में न्यूजीलैंड में, १८६० ई० में दक्षिण अफ्रीका में हुआ और १८९५ ई० तक तो यह विधि सामान्य रूप से व्यवहार में आने लगी।

इस विधि में सोने के चूर्णित खनिज को पोटैशियम या सोडियम सायनाइड के तनु विलयन से उपचारित करते हैं, जिससे सोना और चाँदी तो घुलकर खनिज से पृथक् हो जाते हैं और स्वच्छ विलयन को जस्ते के छीलन (shavings) या चूर्ण के साथ उपचार से सोने और चाँदी जस्ते के छीलन या चूर्ण के तल पर काले अवपंक (slime) के रूप में अवक्षिप्त हो जाते हैं। इनमें कुछ जस्ता भी घुला रहता है। काले अवपंक को पिघलाकर सोने और चाँदी को छड़ के रूप में प्राप्त करते हैं। यहाँ जो रासायनिक अभिक्रियाएँ होती हैं वे जटिल हैं। यहाँ सोना पोटैशियम सायनाइड में घुलकर स्वर्ण और पोटैशियम का युग्म सायनाइड बनता है। इस क्रिया में वायु के ऑक्सीजन का भी हाथ रहता है, जैसा निम्नलिखित समीकरण से स्पष्ट हो जाता है। वायु के अभाव में अभिक्रिया रुक जाती है। $4Au + 8KCN + O_2 + 2H_2O = 4KAu(CN)_2 + 4KOH$। आधुनिक काल में सोने के खनिज को जल के स्थान में पोटैशियम सायनाइड के तनु विलयन के साथ ही दलते हैं। दलने के लिये स्टैंप बैटरियों का उपयोग होता है। बैटरियों में खनिज आधे इंच व्यास के टुकड़ों में तोड़कर तब पेषणी में पीसे जाते हैं। पीसे जाने के बाद कोन क्लैसिफायर (cone classifier)
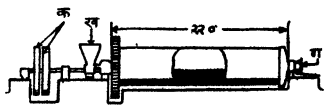
में वर्गीकृत कर अवपंक के रूप में प्राप्त करते हैं। अवपंक को अब प्रक्षोभक पचुक (pachuka) टंकी में ले जाते हैं जिसमें पेंदे से वायु दबाव से प्रविष्ट कराया जाता है और वह अवपंक को उठाकर ऊपर ले जाता है। इस प्रकार वातन और मिश्रण साथ साथ चलता है और सोना घुल जाता है। अब विलयन को छलनी में छानकर अलग कर लेते हैं। पुरानी विधि में सोने के सायनाइड के विलयन को निथारकर पृथक् करते थे। निथार में शीघ्रता लाने के लिये टंकी में चूना डालते थे। इस विधि की विशेषता यह है कि सायनाइड के बहुत तनु विलयन का केवल ०·२७ प्रतिशत (एक टन खनिज के लिये लगभग ०·२७ पाउंड) पोटैशियम सायनाइड का उपयोग होता है। इससे प्रति टन खनिज के उपचार में पचीस से तीस पैसा खर्च होता है। इससे समस्त खनिज का ८०% सोना निकल आता है। कुछ स्थानों में पारदन और सायनाइड दोनों विधियाँ काम में आती हैं। इस प्रकार चाँदी के खनिजों से भी चाँदी पृथक् की जाती है। पर इस दशा में विलयन कुछ अधिक प्रबल (सायनाइड का ०·१% से ०·५%) उपयुक्त होता है। सायनाइड विधि से संसार के सोने और चाँदी के उत्पादन में बहुत वृद्धि हुई है।

[वै० ना० प्र०]

सायनिक अम्ल तथा सायनेट (Cyanic acid and cyanate) [OHCN] सायनिक अम्ल को वोलर (Wohler) ने सन् १८२४ में ज्ञात किया था। इसके निर्माण की सबसे सरल विधि इसके बहुलकीकृत रूप सायन्यूरिक अम्ल (cyanuric acid) को कार्बन डाइऑक्साइड की उपस्थिति में आसवन करके तथा इससे प्राप्त वाष्पों को हिमकारी मिश्रण (freezing mixture) में संघनित करके इकट्ठा करने की है। यह बहुत ही तीव्र वाष्पशील द्रव पदार्थ है जो ०° सें० से नीचे ही स्थायी रहता है तथा इसकी अम्लीय अभिक्रिया काफी तीव्र होती है। इसमें ऐसीटिक अम्ल की सी गंध होती है। ०° सें० पर यह बहुलकीकृत होकर सायन्यूरिक अम्ल $(CNOH)_3$ तथा सायमीलाइड (cyanelide) $(CNOH)_n$ बनाता है। हाइड्रोसायनिक अम्ल या मरक्यूरिक सायनाइड पर क्लोरीन की अभिक्रिया से सायनोजन क्लोराइड (CN Cl) बनता है जो वाष्पशील विषैला द्रव है और जहरीली गैस के रूप में प्रयुक्त होता है।

सायनिक अम्ल के लवणों को सायनेट कहते हैं। इनमें पोटैशियम तथा अमोनियम सायनेट ($KCNO$ and NH_4CNO) प्रमुख हैं।

सायनिक अम्ल के दो चलावयवीय (tautomeric) रूप होते हैं।

$$HO - C \equiv N \rightleftharpoons O = C = NH$$

(सामान्य सायनेट) (आइसोसायनेट)

सामान्य रूप का ऐस्टर नहीं मिलता परंतु आइसोसायनेट के ऐस्टर ऐल्किल हैलाइड पर सिलवर सायनेट की अभिक्रिया से प्राप्त होते हैं।

$$R - X + Ag\,N = C = O \rightarrow R - N = C = O$$

ऐल्किल आइसोसायनेट
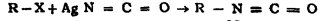
इनमें एथिल आइसोसायनेट (C_2H_5NCO) प्रमुख है और बड़े काम का है। [रा० दा० ति०]

सायनेमाइड (H_2NCN) एक रंगहीन, क्रिस्टलीय, प्रस्वेद्य ठोस है। इसका गलनांक ४३° – ४४° सें० है। इसकी विलेयता जल, ऐल्कोहॉल या ईथर में अधिक किंतु कार्बन डाइसल्फ़ाइड, बेंजीन या क्लोरोफार्म में नाममात्र की है। सांद्र अम्ल के साथ यह लवण बनाता है जिनका जल-अपघटन होता है; हाइड्रोजन सल्फाइड के साथ थायोयूरिया तथा अमोनिया के साथ ग्वानिडीन (guanidine) बनाता है। अमोनिया, सायनोजन (cyanogen) क्लोराइड या ब्रोमाइड की अभिक्रिया से सायनेमाइड की प्राप्ति सरलता से होती है: $ClCN + 2NH_3 = H_2NCN + NH_4Cl$. मरक्यूरिक ऑक्साइड (mercuric oxide) द्वारा थायोयूरिया का अगंधीकरण (desulphurisaion) करके भी इसको तैयार करते हैं। सायनेमाइड को व्यावसायिक मात्रा में तैयार करने के लिये कैल्सियम सायनेमाइड को जल के साथ भली भाँति हिलाकर तथा सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा उदासीन बनाकर छान लेते हैं; फिर इस छने हुए विलयन का शून्य में वाष्पीकरण करते हैं। क्षारीय यौगिकों की उपस्थिति में सायनेमाइड का जलीय विलयन बहुलकीकरण द्वारा एक द्वितय (dimer, dicyanamide) डाइसायनेमाइड, NC. C.NH (: NH). NH_2

बनाता है। डाइसायनेमाइड या सायनेमाइड को निष्क्रिय वायुमंडल में १९०°-१९५° सें० तक गरम करने से त्रितय, मेलामाइन (melamine), $H_2N.C=N.C(NH_2)=N.C(NH_2)=N$ मिलता है; अमोनिया के साथ गरम करने से इसकी प्राप्ति अधिक होती है तथा यह अधिक शुद्ध भी होता है।

सायनेमाइड का हाइड्रोजन परमाणु धातु से विस्थापित होता है। जलीय अथवा ऐल्कोहॉलीय विलयन में क्षारीय धातु हाइड्रोक्साइड या कैल्सियम हाइड्रोक्साइड सायनेमाइड के हाइड्रोजन का एक परमाणु विस्थापित करता है: $NaOH + H_2NCN = NaNHCN + H_2O$। हाइड्रोजन का दूसरा परमाणु क्षारीय धातु या कैल्सियम से सीधे विस्थापित नहीं होता: सोडियम सायनाइड को कैस्नर (Kastner) विधि से तैयार करने में डाइसोडियम सायनेमाइड एक माध्यमिक यौगिक के रूप में मिलता है। कैल्सियम कार्बाइड (CaC_2) को नाइट्रोजन के साथ १०००° सें० के लगभग गरम करने से कैल्सियम सायनेमाइड मिलता है; दूसरी धातुओं के कार्बाइड भी ऊँचे ताप पर नाइट्रोजन के साथ गरम करने से तत्संबंधी सायनेमाइड बनाते हैं। कुछ धातुओं के सायनाइड गरम करने से तत्संबंधी सायनेमाइड तथा कार्बन में विघटित होते हैं। कैल्सियम, मैग्नीसियम, सीस तथा लोहे के सायनाइड में इस प्रकार का विघटन केवल गरम करने से होता है। किंतु जिंक, कैडमियम, कोबाल्ट, निकल तथा लिथियम के सायनाइड में ताप के अतिरिक्त उत्प्रेरक की भी आवश्यकता पड़ती है।

कैल्सियम सायनेमाइड अधिक मात्रा में कैल्सियम कार्बाइड और नाइट्रोजन की अभिक्रिया से तैयार की जाती है। ऐडोल्फ फ्रैंक (Adolf Frank) तथा निकोडम कैरो (Nikodem Caro) ने सन् १८९५ के लगभग ज्ञात किया कि व्यावसायिक कैल्सियम कार्बाइड (शत प्रतिशत शुद्ध नहीं) ८०० सें० से अधिक ताप पर नाइट्रोजन के साथ बड़ी सुगमता से अभिक्रिया करता है: $CaC_2 + N_2 = CaNCN + C + 69,200$ कैलोरी। कैल्सियम कार्बाइड को अभीष्ट ताप पर गरम करके उसके ऊपर नाइट्रोजन को प्रवाहित करते हैं; नाइट्रोजन कैल्सियम कार्बाइड के साथ अभिक्रिया करता है; इस अभिक्रिया में अधिक ऊष्मा उत्पन्न होती है जिससे कैल्सियम कार्बाइड का ताप और अधिक हो जाता है। अतः नाइट्रोजन तब तक क्रिया करता रहता है जब तक सबका सब कैल्सियम कार्बाइड समाप्त नहीं हो जाता। प्रयोगों द्वारा ज्ञात किया गया कि ताप बढ़ाने से इस क्रिया की गति बढ़ती है किंतु १२००° सें० से अधिक ताप पर कैल्सियम सायनेमाइड का विघटन होने लगता है। अतः इस क्रिया के लिये उपयुक्त ताप ११००°—११३०° सें० है। कैल्सियम क्लोराइड या कैल्सियम क्लोराइड तथा कैल्सियम फ्लोराइड का मिश्रण इस क्रिया के लिये उत्प्रेरक हैं; नाइट्रोजन कम से कम ९९.७% शुद्ध होना चाहिए तथा कैल्सियम कार्बाइड का चूर्ण निष्क्रिय वायुमंडल में बनाना चाहिए।

कैल्सियम सायनेमाइड को व्यावसायिक मात्रा में तैयार करने की विधि को असंतत विधि (Discontinuous process) कहते हैं। आजकल इस विधि में ४ से १० टन की धारितावाली भट्टियाँ उपयोग में लाई जाती हैं। भट्टियाँ इस्पात लोहे की होती हैं, इनका भीतरी भाग अगलनीय मिट्टी तथा तापसह ईंटों से अग्नि के प्रभाव से मुक्त रहता है। एक वृहद् कागज बेलन भट्टी की खोह में कैल्सियम कार्बाइड के लिये रखा रहता है। फ्लोरस्पार (fluorspar) की अल्प मात्रा कैल्सियम कार्बाइड के साथ मिलाई रहती है। फ्लोरस्पार उत्प्रेरक तथा अभिक्रिया को नियंत्रित करने का कार्य करता है। भट्ठी का मुँह एक ताप अवरोधक ढक्कन से ढक दिया जाता है। गरम करने का विद्युत् का एक 'इलक्ट्रोड' ढक्कन के मध्य छिद्र द्वारा कैल्सियम कार्बाइड तक रहता है तथा दूसरा भट्ठी के तल में। भट्ठी के तल और पार्श्व के छिद्रों द्वारा नाइट्रोजन प्रवाहित करते हैं। रासायनिक क्रिया का प्रारंभ भट्ठी के भीतरी भाग को १०००°—११००° सें० तक गरम करके करते हैं, तत्पश्चात् जब तक सबका सब कैल्सियम कार्बाइड नाइट्रोजन से क्रिया नहीं कर लेता, यह क्रिया स्वयं होती रहती है। इसमें लगभग २४ से ४० घंटे का समय लगता है। क्रिया समाप्त हो जाने पर कैल्सियम सायनेमाइड को भट्ठी से निकालकर निष्क्रिय वायुमंडल में इकट्ठा करते हैं।

कैल्सियम सायनेमाइड को व्यावसायिक मात्रा में तैयार करने की दूसरी विधि को संतत विधि (continuous Process) कहते हैं। इस विधि में कैल्सियम कार्बाइड को १० प्रतिशत कैल्सियम क्लोराइड के साथ मिलाकर लोहे के छिद्रयुक्त बड़े बड़े बर्तनों में भरते हैं, फिर इन बर्तनों को एक नाइट्रोजन गैस से भरी हुई सुरंग में घुमाते हैं। सुरंग का एक भाग बाहर से गरम किया जाता है; यहीं पर क्रिया होती है। इससे अगले भाग में नियंत्रित वायुशीतक का प्रबंध रहता है, यह क्रिया के लिये उपयुक्त ताप बनाए रखता है। सुरंग का अंतिम भाग शीत कक्ष का कार्य करता है।

ऊपर की विधियों से प्राप्त किया हुआ कैल्सियम सायनेमाइड गहरा भूरे रंग का चूर्ण होता है। इसका यह रंग कार्बन के कारण होता है। चीनी मिट्टी की नली में ७५०°—८५०° सें० पर २ घंटे तक तप्त किए हुए कैल्सियम कार्बोनेट के ऊपर हाइड्रोसायनाइड वाष्प प्रवाहित करने से ९९% शुद्ध कैल्सियम सायनेमाइड मिलता है; तप्त कैल्सियम कार्बोनेट के ऊपर आयतन के अनुसार १० भाग अमोनिया और २ भाग कार्बन मोनोक्साइड प्रवाहित करने से ९२% शुद्ध कैल्सियम सायनेमाइड मिलता है। ११०°—११५° सें० और ६ वायुमंडल दबाव पर कैल्सियम साइनेमाइड जलवाष्प द्वारा अमोनिया और कैल्सियम कार्बोनेट में विघटित होता है: $CaNCN + 3H_2O = CaCO_3 + 2NH_3 + 18000$ कैलोरी।

साधारणतः कैलसियम सायनेमाइड का उपयोग उत्तम उर्वरक के रूप में होता है। इसका नाइट्रोजन मिट्टी में अमोनिया बनाता है और इस रूप में यह निक्षालन (leaching) के लिये अवरोधक का कार्य करता है। इससे विलेय कैल्सियम मिलता है जो पौधों के लिये पुष्टिकारक होता है तथा मिट्टी की अम्लता को ठीक रखता है। मिट्टी की नमी से इसका जल-अपघटन होता है। इससे सायनेमाइड बनता है जो पौधों के लिये हानिकारक है किंतु यह शीघ्र ही अमोनिया में बदल जाता है। बीज या पौधों को इससे हानि न हो, अतः इसको बीज बोने के पहले मिट्टी में काफी नीचे रखते हैं जिसमें अंकुर के जड़

के स्पर्श में आने के पहले ही इसकी सब रासायनिक क्रियाएँ पूर्ण हो जाती हैं। घास पात आदि को नष्ट करने के लिये १०० पाउंड प्रति एकड़ के हिसाब से कैल्सियम साइनेमाइड का चूर्ण छिड़कते हैं। इसमें कम लागत लगती है।

उद्योग में भी कच्चे माल के रूप में इसका विशेष महत्व है। इससे कैल्सियम सायनाइड पर्याप्त मात्रा में तैयार की जाती है। डाइ-साइनोडायमाइड (dicyanodiamide), मेलामाइन (melamine) तथा ग्वानिडीन (guanidine) यौगिक भी इससे तैयार किए जाते हैं। मेलामाइन से मेलामाइन प्लास्टिक तैयार किया जाता है जो कई बातों में दूसरे प्लास्टिकों से अच्छा होता है। [वि० ना० प्र०]

सार प्रदेश (Saar Region) जर्मनी का एक भाग है। १९वीं शताब्दी तक यह लोरेन का एक भाग था। १९१९ ई० में जर्मनी के विभाजन के समय इसको १५ वर्षों के लिये फ्रांस को उसकी उत्तरी खदानों की क्षतिपूर्ति स्वरूप दिया गया। सन् १९३५ की १३ जनवरी के जनमत के अनुसार यह क्षेत्र जर्मनी के अधिकार में पुन: आ गया। द्वितीय महायुद्ध काल में इस प्रदेश को अत्यधिक क्षति पहुँची। तत्पश्चात् यह फिर फ्रांस के अधीन हो गया। २७ अक्टूबर, १९५६ ई० की फ्रांस—जर्मनी-संधि के अनुसार १ जनवरी, १९५७ ई० को सार पुन: जर्मनी के अधीन चला गया।

इस प्रदेश का क्षेत्रफल २,५६७ वर्ग किमी० है। जनसंख्या १०,८३,००० (१९६१) थी। यहाँ की जातियों में ७३·४% कैथोलिक तथा २५·३% प्रोटेस्टेंट हैं। सारब्रुकेन यहाँ की राजधानी है। जनसंख्या का घनत्व ४,५५१ प्रति वर्ग किमी० है।

संपूर्ण क्षेत्रफल के लगभग ५०% भाग में कृषि की जाती है तथा ३२% भाग जंगलों से ढका है। मुख्य फसलों में जई, जौ, गेहूँ, राई तथा चुकंदर हैं।

कृषि के अतिरिक्त यहाँ खनिज एवं उद्योगों का भी विकास हुआ है। खानों से पर्याप्त कोयला निकलता तथा लोहा और इस्पात का निर्माण होता है। यहाँ के मुख्य नगरों में सारब्रुकेन, न्यू किरचन (New Kirchen), डडवाइलर (Dudweiler) तथा सूल्जबाच (Sulzbach) हैं। [मु० कां० रा०]

सारडिनिआ (Sardinia) द्वीप (क्षेत्रफल २५०८८ वर्ग किमी०) भूमध्य सागर में कोर्सिका से साढ़े सात मील दक्षिण स्थित है। राजनीतिक स्तर पर यह इटली से संबंधित है। इसका भूगर्भिक निर्माण प्राचीन चट्टानों से हुआ है। यह पहाड़ी तथा पठारी द्वीप है। साधारणत: यहाँ के पहाड़ों की ऊँचाई १,३०० फुट है। पूर्वी भाग में ग्रेनाइट चट्टानें पाई जाती हैं। उत्तर पूर्वी भाग की मुख्य चोटी मोंट लिबारा (४,११३ फुट) है तथा उत्तर पश्चिम भाग में मुरा ज्वालामुखी है, जिसकी सबसे ऊँची चोटी मोंट फेरू (३,४४८ फुट) है। कांपिडानो का मैदान दक्षिण में कागिलयारी से पश्चिम में ओरिस्टानो तक ६९ किमी० तक फैला हुआ है।

मुख्य नदियों में तिर्सो १५२ किमी० लंबी है जो मध्य द्वीपीय भाग से होकर ओरिस्टानो की खाड़ी में गिरती है। फ्लोमीनास ६५ मील लंबी है और सँकरी घाटी में बहती हुई असीनारा की खाड़ी में गिरती है। कभी कभी वर्षा की कमी के कारण ये नदियाँ सूख भी जाती हैं।

यहाँ की जलवायु भूमध्यसागरीय है। ग्रीष्म ऋतु में वर्षा नहीं होती। यहाँ उत्तरी पश्चिमी मैस्ट्राल तथा गर्म और नम सिरोको हवाएँ चला करती हैं। जनवरी एवं जुलाई का औसत ताप २४° सें० और ८०° सें० होता है। पहाड़ों पर लगभग १०१ सेंमी० किंतु कमपेडियानो के उत्तर में केवल ५५·६३·५ सेंमी० वार्षिक वर्षा होती है। जंगल तथा झाड़ियाँ पतझड़ प्रकार के हैं।

यहाँ की जनसंख्या १२,७६,०२१ (१९६१) थी जो १९३६ की जनगणना से लगभग २३% अधिक है। जनसंख्या का घनत्व ३५३ व्यक्ति प्रति वर्ग किमी० है। निर्धनता के कारण यहाँ बच्चों की मृत्यु तथा क्षय रोग की अधिकता है।

कृषि अविकसित है। १९५२ ई० के प्राप्त आँकड़ों के अनुसार ४८% भूमि पर जंगल एवं चरागाह, २७% कृषि एवं ३.५% पर बाग इत्यादि थे। मुख्य फसलों में गेहूँ, जौ, जई, अंगूर, मक्का, सेम, जैतून आदि हैं। १९५० ई० में इटली द्वारा सारडिनिआ के आर्थिक विकास के लिये बहुत बड़ी रकम प्रदान की गई थी जिसका उपयोग जलनिकास, कृषि तथा भूमिसुधार, चरागाह, सड़क निर्माण और पर्यटन विकास में हुआ।

यहाँ खनिज उद्योग का विकास नहीं हो पाया है। जस्ता का अधिक उत्पादन होता है। अन्य खनिजों में ताँबा, सीसा, लोहा, मैंगनीज, निकल, कोबाल्ट, वंग (Tin), ऐंटीमनी प्रमुख हैं। कोयला का उत्पादन कम होता है। [मु० कां० रा०]

सारणिक (Determinant) एक विशिष्ट प्रकार का बीजीय व्यंजक (वस्तुत: बहुपद) जिसमें प्रयुक्त की गई राशियों अथवा अवयवों की संख्या (पूर्ण) वर्ग रहती है। इन राशियों को प्राय: एक वर्गाकार विन्यास में लिखकर उसके अगल बगल दो ऊर्ध्वाधर सीधी रेखाएँ खींच दी जाती है, उदाहरणात:

$$\begin{vmatrix} \text{क} & \text{ख} \\ \text{ग} & \text{घ} \end{vmatrix} = \text{कघ} - \text{खग}, \quad \begin{vmatrix} \text{क}_१ & \text{क}_२ & \text{क}_३ \\ \text{ख}_१ & \text{ख}_२ & \text{ख}_३ \\ \text{ग}_१ & \text{ग}_२ & \text{ग}_३ \end{vmatrix} = \text{क}_१\text{ख}_२\text{ग}_३ - \text{क}_१\text{ख}_३\text{ग}_२ + \text{क}_२\text{ख}_३\text{ग}_१ - \text{क}_२\text{ख}_१\text{ग}_३ + \text{क}_३\text{ख}_१\text{ग}_२ - \text{क}_३\text{ख}_२\text{ग}_१$$

मे अवयवोंवाले सारणिक को नवें क्रम का सारणिक कहते हैं। [प्रथम क्रम के सारणिक का प्रयोग कदाचित् ही होता हो, वस्तुत: |क| का अर्थ 'राशि क का मापांक' होता है।] नवें क्रम के सारणिक का विस्तार, अर्थात् उससे निरूपित बहुपद, म अवयवों के उन सब गुणनफलों को आगे लिखे नियम के अनुसार +१ या −१ से गुणा करके जोड़ने से प्राप्त होता है जो प्रत्येक पंक्ति से और प्रत्येक स्तंभ से एक एक अवयव लेने से बनते हैं। सारणिक के विस्तार के उस पद को मुख्य पद कहते हैं जिसके सभी अवयव सारणिक के उस विकर्ण पर स्थित हैं जो पहली पंक्ति और पहले स्तंभ के उभयनिष्ठ अवयव से होकर जाता है। मुख्य पद को दो ऊर्ध्वाधर रेखाओं के बीच में

लिखकर भी सारणिक को व्यक्त करने की प्रथा है, इस प्रकार उपर्युक्त क्रम ३ का सारणिक । $\text{क}_1\ \text{ख}_2\ \text{ग}_3$ । से व्यक्त किया जा सकता है ।

चिह्न का नियम — माना, विपारत्व, गुणनफल में $\text{स}_\text{प}$ उस स्तंभ की संख्या है जिससे पवीं पंक्ति का अवयव लिया गया है । अब अनुक्रम $\text{स}_1, \text{स}_2, \ldots, \text{स}_\text{न}$ में प्रत्येक पद $\text{स}_\text{प}$ के लिये उन पदों की संख्या $\text{स}_\text{प}$ लिखो जो $\text{स}_\text{प}$ की बाईं ओर हैं और $\text{स}_\text{प}$ से बड़ी हैं । यदि $\text{स}_1 + \text{स}_2 + \cdots + \text{स}_\text{न} - \text{न}$ सम है तो गुणनफल के पूर्व ऋण चिह्न लेना होगा अन्यथा धन ।

सारणिक के रूपांतरण — विस्तार करके अथवा थोड़े से विचार से निम्न नियमों की सत्यता प्रमाणित की जा सकती है :

(१) स्तंभ-पंक्ति-परिवर्तन — सभी स्तंभों को पंक्तियों में इस प्रकार परिवर्तित करने से कि नवां स्तंभ बदलकर नवीं पंक्ति बन जाय, सारणिक का मान नहीं बदलता । विलोमतः पंक्तियों को स्तंभों में पूर्वोक्त नियम के अनुसार बदलने से भी सारणिक के मान में कोई परिवर्तन नहीं होता । इस नियम से स्पष्ट है कि जो नियम पंक्तियों के लिये लागू है वैसा ही नियम स्तंभों के लिये भी लागू होगा, इसलिये आगे के नियम केवल पंक्तियों के लिये ही दिए जाएँगे ।

(२) सारणिक का किसी राशि से गुणा करना — सारणिक के किसी एक स्तंभ के सभी अवयवों को राशि क से गुणा करने का परिणाम सारणिक के मान को क से गुणा करना है ।

(३) किसी स्तंभ का दो स्तंभों में खंडन — शब्दों की अपेक्षा इस नियम को तीसरे क्रम के सारणिक से उद्धृत करना अधिक सुगम है :

$$\begin{vmatrix} \text{प}_1+\text{फ}_1 & \text{क}_2 & \text{क}_3 \\ \text{ब}_1+\text{भ}_1 & \text{ख}_2 & \text{ख}_3 \\ \text{म}_1+\text{य}_1 & \text{ग}_2 & \text{ग}_3 \end{vmatrix} = \begin{vmatrix} \text{प}_1 & \text{क}_2 & \text{क}_3 \\ \text{ब}_1 & \text{ख}_2 & \text{ख}_3 \\ \text{म}_1 & \text{ग}_2 & \text{ग}_3 \end{vmatrix} + \begin{vmatrix} \text{फ}_1 & \text{क}_2 & \text{क}_3 \\ \text{भ}_1 & \text{ख}_2 & \text{ख}_3 \\ \text{य}_1 & \text{ग}_2 & \text{ग}_3 \end{vmatrix}$$

(४) दो स्तंभों का (परस्पर) विनिमय — सारणिक के किन्हीं दो स्तंभों को आपस में बदलने से सारणिक का मान पूर्व मान का —१ गुना हो जाता है ।

(५) सारणिक का शून्यमान — यदि किसी सारणिक के एक स्तंभ के अवयव किसी अन्य स्तंभ के अवयवों से क्रमानुसार एक ही अनुपात में हों तो सारणिक का मान शून्य होता है ।

दो सारणिकों का गुणनफल — एक ही क्रम के दो सारणिकों का गुणनफल उसी क्रम का सारणिक होता है जिसकी प वीं पंक्ति और स वें स्तंभ का उभयनिष्ठ अवयव उन सब गुणनफलों का योग है जो दिए हुए सारणिकों में से प्रथम की प वीं पंक्ति के अवयवों को क्रमानुसार दूसरे सारणिक के स वें स्तंभ के अवयवों को गुणा करने से प्राप्त होते हैं ।

सारणिक के किन्हीं प पंक्तियों और प स्तंभों में जो उभयनिष्ठ अवयवों से क्रम प का जो सारणिक बनता है उसे मूल सारणिक का प वें क्रम का उपसारणिक (जो वस्तुतः क्रम म प का एक सारणिक है) कहते हैं, और शेष म-प पंक्तियों और म-प स्तंभों के उभयनिष्ठ अवयवों से बने सारणिक को इस उपसारणिक का पूरक उपसारणिक । सारणिक सिद्धांत में उपसारणिकों की बड़ी महत्ता है ।

प्रथम घात के समीकरणों का हल — मान लो कि तीन प्रथम घात के समीकरण :

$$\text{क}_1\text{य} + \text{क}_2\text{र} + \text{क}_3\text{ल} = \text{क}_4$$
$$\text{ख}_1\text{य} + \text{ख}_2\text{र} + \text{ख}_3\text{ल} = \text{ख}_4$$
$$\text{ग}_1\text{य} + \text{ग}_2\text{र} + \text{ग}_3\text{ल} = \text{ग}_4$$

दिए हुए हैं जिनमें पादांकित राशियाँ $\text{क}_1, \text{क}_2, \ldots \text{ग}_4$ ज्ञात हैं और य, र, ल, अज्ञात हैं जिनके मान ज्ञात करना अभीष्ट है; तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि

$$\text{य} = \Delta_1/\Delta,\ \text{र} = \Delta_2/\Delta,\ \text{ल} = \Delta_3/\Delta$$

जहाँ Δ क्रम ३ का पूर्वोक्त सारणिक है और $\Delta_1, \Delta_2, \Delta_3$ क्रमानुसार Δ में पहले, दूसरे, तीसरे स्तंभों के उस स्तंभ के विनिमय से बनते हैं जिसके अवयव ज्ञात राशियाँ $\text{क}_4, \text{ख}_4, \text{ग}_4$ हैं ।

सारणिक व्यूह सिद्धांत की आत्मा है; इसके प्रयोग से समीकरण समूहों का वर्गीकरण किया जा सकता है कि अमुक समूह का हल संभव होगा या नहीं और हल यदि संभव है तो कितने हल हो सकते हैं । उच्च बीजगणित का एक प्रमुख और मौलिक महत्ता का अंग सारणिक है; और प्रायः गणित की प्रत्येक शाखा में इसका प्रयोग होता है ।

ऐतिहासिक — सारणिकों का आविष्कारक जी० डब्ल्यू० लाइबनिजको माना जाता है; उसने १६९३ में दिला ओपिता को लिखे एक पत्र में इसकी रचना के नियम का उल्लेख किया था । अधिक पूर्व नहीं तो १६८३ में जापानी गणितज्ञ सेकी कोवा ने लगभग ऐसा ही नियम खोज लिया था । लाइबनिज की इस खोज का अधिक प्रभाव नहीं हुआ; जी० क्रेमर ने १७५० में सारणिकों की पुनः खोज की और अपनी गवेषणा को प्रकाशित भी किया । सारणिकों की वर्तमान् संकेतनपद्धति का आविष्कार ए० केली ने १८४१ ई० में किया था । अनंतक्रम के सारणिकों का प्रयोग जी० डब्ल्यू० हिल ने किया है (एक्टा मैथ० खंड ८) ।

सं० ग्रं० — (ऐतिहासिक) टी० म्योर : दि थ्योरी ऑव डिटरमिनेंट्स इन दि हिस्टॉरिकल ऑर्डर ऑव डेवलपमेंट, खंड १ – ४ (१९०६-२०); डी० ई० स्मिथ और वाई० मिकामी : ए हिस्ट्री ऑव जापानीज मैथेमेटिक्स (१९१४) ।

(विषयप्रतिपादन) एम० बोकेर : इंट्रोडक्शन टु हायर एलजबरा (१९०७); सी०ई० कुलिस : मेट्रिसेज ऐंड डिटरमिनोइड्स (१९२५); ए० डे्सडेन : सॉलिड ऐनेलिटिकल ज्यामेट्री ऐंड डिटरमिनेंट्स (१९२६); एल० जी० वेल्ड : थ्योरी ऑव डिटरमिनेंट्स, ए० सी० एरकिन : डिटरमिनेंट्स ऐंड मेट्रिसेज । [ह० चं० गु०]

सारन बिहार राज्य का एक जिला है । इसका क्षेत्रफल ११०० किमी० है । जनसंख्या ३५, ८४, ९१८ (१९६१) है । सारन जिला गंगा, घाघरा तथा गंडक नदियों के बीच त्रिभुजाकार फैला है । यह समतल मैदान है जो दक्षिण-पूरब दिशा में बहनेवाली नदियों द्वारा कई भागों में बँटा है । दाह, गंडकी, घनाई, घाघरी आदि

छोटी छोटी नदियाँ हैं जो गंडक की पुरानी शाखाएँ हैं। धमुआ खराही, तथा कतसा भी ऐसी ही नदियाँ हैं। धान के अलावा रबी की फसलें भी यहाँ उपजती हैं। यहाँ सूखे का प्रभाव अधिक पड़ता है अतः इस जिले में खाद्यान्न पर्याप्त मात्रा में नहीं पैदा होता। छपरा, रेवेलगंज, सिवान, महाराजगंज, मीरगंज, दीघवारा, सोनपुर तथा मैरव मुख्य नगर तथा बाजार हैं। जिले का मुख्यालय छपरा में है (देखें छपरा)। [ब० सिं०]

सार्जेंट, जान सिंगर (१८५६-१९२१) ऐंग्लो अमरीकी चित्रकार। फ्लोरेंस में उत्पन्न हुआ, किंतु उसकी बाल्यावस्था के खेलने खाने के दिन अधिकतर कलानगरी रोम में बीते। उसकी माँ स्वयं जलरंगों की अच्छी कलाकार थी, उसने अपने पुत्र की कलात्मक अभिरुचियों को पहचाना और अन्य शिक्षा के साथ कला की ओर भी प्रेरित किया। बचपन से ही चित्रकौशल की सूक्ष्मताओं, हर मुद्रा, भावभंगिमा, मोड़तोड़, अनुपात और संयोजन को ज्यों का त्यों उतारने का उसका गंभीर प्रयास दीख पड़ा, बल्कि १८७३ में उसकी इसी मौलिक प्रतिभा के कारण फ्लोरेंस की कला एकेडेमी द्वारा उसके एक चित्र पर पुरस्कार भी प्रदान किया गया। अठारह वर्ष की आयु में उसे पेरिस में दाखिला मिल गया। न सिर्फ अपने आकर्षक व्यक्तित्व, गंभीर एवं शांत स्वभाव, वरन् इस अपरिपक्वावस्था में भी ऐसी सच्ची लगन, कार्यतत्परता और अनवरत कलासाधना में जुटे रहने की उसकी अनथीव गुणग्राहक प्रवृत्तियों ने सबको मुग्ध कर लिया। वेलास्केथ और फ्रांज हाल्स के तमाम वैज्ञानिक मतों एवं टेकनीकों को उसने प्रयत्न से आत्मसात् कर लिया। एक स्थल पर उसने स्वयं स्वीकार किया है—'मैं उतना प्रतिभावान् नहीं हूँ जितना परिश्रमी। परिश्रम से ही अपनी कला को साध पाया हूँ।'

उसने केंसिंगटन में अपना स्टूडियो स्थापित किया, किंतु १८८५ में वह ३३, टाइट स्ट्रीट, चेल्सिया जा बसा। दोनों स्टूडियो को अंत में अपना एक निजी मकान खरीदकर उसने संयुक्त कर दिया जहाँ वह मृत्युपर्यंत कलासाधना में जुटा रहा। मैडेम गाथिग्रो के पोर्ट्रेट चित्र पर अचानक बड़ा हंगामा मचा, पर पोर्ट्रेट पेंटर के रूप में इसके बाद उसकी अधिकाधिक माँग हुई। कितने ही राजकुमार राजकुमारियों, कवि कलाकारों, अभिनेता अभिनेत्रियों, नृत्यकार संगीतज्ञों, राजनीतिज्ञों कूटनीतिज्ञों, ड्यूक डचेस, काउंट काउंटेस, लार्ड लेडीज, अमीर उमरावों, संभ्रांत एवं अभिजात वर्ग के व्यक्तियों के पोर्ट्रेट चित्र उसने बनाए जिससे उसकी ख्याति चरम सीमा पर पहुँच गई। जलरंगों में उसके ८० चित्र मिलते हैं जिनमें विस्मयकारी कला सौंदर्य और हल्के ढंग की रंगयोजना है।

जीवन के अंतिम ३० वर्षों तक वह ऐतिहासिक धर्मप्रसंगों के चित्रण में व्यस्त रहा। बोस्टन पब्लिक लाइब्रेरी के बड़े हाल में, जो 'सार्जेंट हाल' के नाम से मशहूर है, उसकी इस रंगमयी सज्जा की कौतूहलभरी झाँकी प्रस्तुत है।

सार्वजनिक संस्थान (पब्लिक कार्पोरेशन्स) सार्वजनिक संस्थान विधायक निर्मित संस्था है जो सामाजिक, वाणिज्यीय, आर्थिक या विकास संबंधी कार्यों को राज्य के लिये अथवा उसकी ओर से चलाती है। इसका अपना कोष है और व्यवस्था के आंतरिक मामलों में यह अंशतः स्वायत्त होती है।

इस प्रकार के संस्थान के लिये विभिन्न नाम प्रयुक्त हुए हैं, यथा—गवर्नमेंट कारपोरेशन, स्टेच्युटरी कारपोरेशन, क्वासी गवर्नमेंटल बाडीज् इत्यादि। किंतु सार्वजनिक संस्थान ही अब सामान्यतः प्रयुक्त होता है।

इंग्लैंड में राज्य द्वारा टकसाल और डाक व्यवस्था पर नियंत्रण हो जाने पर भी काफी समय तक सार्वजनिक संस्थान का विचार न पनप सका। बाद में सीमित शक्तियों के साथ स्थापित राज्य के स्वायत्तशासन विभागों द्वारा पुलिस, शिक्षा, प्रकाशव्यवस्था इत्यादि के कार्यों ने उस विचार को विकसित किया। निर्धन लोगों की सहायता के लिये पुअर लाज् पारित हुए। इसके लिये नियुक्त आयुक्तों को स्थानीय प्रशासन में राजकीय नियंत्रण से स्वतंत्र रहकर कार्य करने के अधिकार मिले। किंतु राष्ट्रीयकृत उद्योगों और उपयोगिता सेवाओं के लिये सार्वजनिक नियंत्रण १९४५ से ही संभव हो सका।

स्थानीय संस्थाओं के अतिरिक्त भारत में स्वायत्त संस्थानों का उदय १८७९ में स्थापित 'द ट्रस्टीज ऑव द पोर्ट ऑव बांबे' से हुआ। बाद में ऐसी ही संविधिक संस्थाएँ कलकत्ता और मद्रास के बंदरगाहों पर बनीं।

सन् १९३५ में भारत-सरकार-अधिनियम द्वारा रेलवे नियंत्रण सार्वजनिक संस्थान को सौंपने की योजना बनी। इस संस्थान को 'फेडरल रेलवे अथारिटी' कहा गया, किंतु अधिनियम के पूर्णतः लागू न होने से यह योजना क्रियान्वित न हुई।

संभव है, भारत में सार्वजनिक संस्थानों की स्थापना ब्रिटेन ने स्वायत्त सत्ता की माँग को पूरा करने और केंद्रीयकृत सरकार चलाने के दोषारोपण को दूर करने के लिये की हो।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद कई ऐसे संस्थानों की स्थापना कहवा, कपास, लाख, नारियल आदि के कृषिविकास, वस्तुनिर्माण और विक्रय के उद्देश्य से केंद्रीय अधिनियम के अंतर्गत हुई।

कार्यों और उद्देश्यों की भिन्नता के कारण सार्वजनिक संस्थानों का विधिवत् वर्गीकरण नहीं हो सका है। फ्रीडमेन के वर्गीकरण को उप्रेसिंह ने संवर्धित करने की चेष्टा की, किंतु सुविधा की दृष्टि से निम्नांकित वर्गीकरण दिया जा रहा है :

१—बैंकिंग संस्थान (यथा—रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक)

२—वाणिज्य संस्थान (यथा—एल० आई० सी०, एअर इंडिया इंटरनेशनल)

३—वस्तुविकास संस्थान (यथा—टी बोर्ड, सिल्क बोर्ड)

४—बहुद्देशीय विकास संस्थान (यथा — दामोदर वैली कोरपोरेशन, फरीदाबाद डेवलपमेंट कारपोरेशन)

५—समाजसेवा संस्थान (यथा—एंप्लाइज् स्टेट इंश्योरेंस कारपोरेशन, हज कमेटी)

६—वित्तीय सहायता संस्थान (यथा—इंडस्ट्रियल फाइनेंशियल कारपोरेशन, यू० जी० सी०)

राष्ट्रीकरण से उत्पन्न व्यवस्था और शासन की समस्याओं को

सार्वजनिक संस्थानों द्वारा सुविधापूर्वक शुरू किया जा सकता है। ये सार्वजनिक सेवाओं को राजनीतिक ऊहापोहों से मुक्त रखते हैं। सामाजिक और वाणिज्य संबंधी सेवाओं के वांछित कार्य और साहस को अवरुद्ध करनेवाली नौकरशाही परंपरा भी इसके लचीले और स्वायत्त होने के कारण नहीं पनप पाती। मुख्यत: इसके निम्न लाभ हैं—

१—राजकीय विभागों के कार्याधिक्य को कम करते हैं, नए विभागों की स्थापना भी आवश्यक नहीं रहती।

२—इनमें एक ही कार्य करने के लिये समस्त शक्ति केंद्रित रहती है।

३—संस्थान द्वारा एक ही कार्य के सभी पक्षों का समान शासन होता है जो वैसे विभिन्न मंत्रणालयों के क्षेत्र में आते हैं।

४—दैनंदिन शासन में स्वतंत्र होने के कारण विशेषज्ञों के ज्ञान का उपयोग आसानी से किया जा सकता है। प्रत्येक निर्णय के लिये सरकार की आज्ञा की आवश्यकता नहीं होती, इससे कार्य शीघ्र हो जाते हैं।

सार्वजनिक संस्थानों का चेयरमैन या अध्यक्ष राज्य द्वारा निर्वाचित होता है। सिल्क बोर्ड तथा एंप्लाइज् स्टेट इंश्योरेंस कारपोरेशन में केंद्रीय सरकार के मंत्री ही अध्यक्ष हैं। इस संदर्भ में कांग्रेस के संसदीय दल द्वारा नियुक्त एक उपसमिति ने यह सुझाव दिया कि संस्थानों में मंत्री अथवा संसद का सदस्य अध्यक्ष न बनाया जाय। इसी प्रकार सचिवों या अन्य अधिकारियों को भी ये पद न दिए जायँ। संस्थान के अध्यक्ष पद के लिये ऐसे व्यक्ति नियुक्त किए जायँ जो पूरा समय उसी को दे सकें। उस समिति ने यह भी सुझाया कि संस्थानसेवा का निर्माण किया जाय जिसके सदस्य राष्ट्रपति के इच्छानुकूल ही पदासीन रहें।

संस्थानों की पूँजी या तो सरकार द्वारा, या शेयर बेचने से, या एक्साइज कर, शुल्क इत्यादि से प्राप्त होती है। ये संस्थान ऋण भी ले सकते हैं। वाणिज्य संस्थान वाणिज्य सिद्धांतों पर चलते हैं। वे अपने लाभांश घोषित करते हैं अथवा आरक्षित कोष संचित करते हैं।

संस्थानों और मंत्री के बीच के संबंध भी महत्वपूर्ण होते हैं। यद्यपि दैनंदिन कार्यों में मंत्री का कोई उत्तरदायित्व नहीं होता, फिर भी मूँदड़ा के मामले से लगता है कि गंभीर स्थिति में मंत्री वैधानिक रूप से दैनंदिन कार्यों के लिये भी उत्तरदायी होता है। वेड का सुझाव तो यह है कि संस्थानों को कार्यकारिणी का ही एक अंग मान लेना चाहिए। मंत्री ही संस्थान के अध्यक्ष और अन्य सदस्यों की नियुक्ति करता है। वह उन्हें कार्यमुक्त भी कर सकता है। संस्थान को विघटित करने की शक्तियाँ भी मंत्री में निहित रहती हैं। संस्थान की नीति और राज्य की नीति में समवस्था स्थापित करने के लिये मंत्री आवश्यक निर्देश देता है।

संसद में संस्थानों के संबंध में प्रश्न उठाए जा सकते हैं। उनके वार्षिक विवरण, प्रतिवेदन पर बहस हो सकती है। कुछ संस्थानों को अपना बजट भी संसद में प्रस्तुत करना पड़ता है। संसद की एस्टिमेट्स और पब्लिक एकाउंट्स कमेटियाँ भी संस्थानों पर नियंत्रण रखती हैं, किंतु उनकी अपनी सीमाओं के कारण आजकल संस्थान कार्यों के लिये एक भिन्न संसदीय समिति बनाने का प्रस्ताव भी विचाराधीन है।

सं० ग्रं० — फ्रीडमेन, डब्ल्यू० डब्ल्यू० १९५४ : द पब्लिक कारपोरेशन, स्टीवेन्स ऐंड सन्स लंदन; सिंह, राम उग्रे १९५७ : पब्लिक कारपोरेशन इन इंडिया, द इंडियन लॉ जरनल में; वॉ० १, नं० १, लखनऊ। [रा० कु०]

साल या साखू (Sal) एक वृंदवृत्ति एवं अर्धपर्णपाती वृक्ष है जो हिमालय की तलहटी से लेकर ३,०००—४,००० फुट की ऊँचाई तक और उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार तथा असम के जंगलों में उगता है। इस वृक्ष का मुख्य लक्षण है अपने आपको विभिन्न प्राकृतिक वासकारकों के अनुकूल बना लेना, जैसे ९ सेंमी० से लेकर ५०८ सेंमी० वार्षिक वर्षावाले स्थानों से लेकर अत्यंत उष्ण तथा ठंढे स्थानों तक में यह आसानी से उगता है। भारत, बर्मा तथा श्रीलंका देश में इसकी कुल मिलाकर ९ जातियाँ हैं जिनमें शोरिया रोबस्टा (Shorea robusta Gaertn. f.) मुख्य है।

इस वृक्ष से निकाला हुआ रेज़िन कुछ अम्लीय होता है और धूप तथा औषधि के रूप में प्रयोग होता है। तरुण वृक्षों की छाल से प्राप्त लाल और काले रंग का पदार्थ रंजक के काम आता है। बीज, जो वर्षा के प्रारंभ काल के पकते हैं, विशेषकर अकाल के समय अनेक जगहों पर भोजन में काम आते हैं।

इस वृक्ष की उपयोगिता मुख्यत: इसकी लकड़ी में है जो अपनी मजबूती तथा प्रत्यास्थता के लिये प्रख्यात है। सभी जातियों की लकड़ी लगभग एक ही भाँति की होती है। इसका प्रयोग धरन, दरवाजे, खिड़की के पल्ले, गाड़ी और छोटी छोटी नाव बनाने में होता है। केवल रेलवे लाइन के स्लीपर बनाने में ही कई लाख घन फुट लकड़ी काम में आती है। लकड़ी भारी होने के कारण नदियों द्वारा बहाई नहीं जा सकती। मलाया में इस लकड़ी से जहाज बनाए जाते हैं। [वृ० बि० श०]

सॉलोमन द्वीप इस द्वीपसमूह में १० बड़े एवं ४ छोटे द्वीप संमिलित हैं जिनका विस्तार ५° से १२° ३' द० अ० और १५५° ३०' से १६९° ४५' पू० दे० तक है। इनका कुल क्षेत्रफल २९४४० वर्गकिमी० तथा जनसंख्या १,६४,६१६ (१९६०) है। इन द्वीपों में नारियल, शकरकंद, अनन्नास, केला और कुछ कोको उत्पन्न होता है। लेकिन नारियल का गोला या गरी ही केवल आर्थिक उत्पाद है। अब प्रयोगात्मक रूप में धान की खेती हो रही है। आयात की मुख्य वस्तुएँ धान, बिस्कुट, मांस, आटा, चीनी, चाय, दूध, खनिज तेल, तंबाकू, साबुन एवं सूती वस्त्र हैं। यहाँ से गरी, लकड़ी, सुपारी और ट्रोकस घोंघे (Trochus shell) का निर्यात मुख्यत: इंग्लैंड और आस्ट्रेलिया को होता है।

इस द्वीपसमूह में ग्वाडल कैनाल, मलैटा, सानक्रिस्टाबल, न्यू जार्जिया, साबेल, पायसेउल, शार्टलैंड, मोनो या ट्रिजरी, वेला लेवेला, गैनोंग्गा, गिजो, रेंडोवा, रसेल, फ्लोरिडा एवं रैनील मुख्य द्वीप हैं। इनमें से अधिकांश पहाड़ी तथा जंगलों से ढके हुए हैं।

ग्वाडल कैनाल सबसे बड़ा द्वीप (६४०० वर्ग किमी० है तथा मलैटा सबसे अधिक जनसंख्यावाला (४६,०००) द्वीप है। होनियारा में पश्चिम प्रशांत महासागरीय द्वीपों के उच्चायुक्त का प्रधान कार्यालय है। होनियारा की वार्षिक वर्षा ९०" है लेकिन कहीं कहीं ३००" तक वर्षा होती है। मलेरिया, विषम ज्वर यहाँ का प्रधान रोग है। शिक्षा गिरजाघरों द्वारा दी जाती है। सोलमन द्वीप में केवल एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय (बालकों के लिये) तथा अध्यापकों के लिये एक प्रशिक्षण महाविद्यालय (कुकुम में) है। [रा० प्र० सि०]

सावरकर, विनायक दामोदर (१८८३-१९६६) क्रांतिकारी सेनानी के रूप में स्वातंत्र्यवीर सावरकर का आधुनिक भारतीय इतिहास में विशेष स्थान है। नासिक के समीप भगूर ग्राम में एक संपन्न परिवार में जन्म होने पर भी बालक सावरकर का जीवन माता पिता की असामयिक मृत्यु से, असीम कष्टों की छाया में आरंभ हुआ। पूना में हुए चाफेकर बंधुओं के बलिदान से प्रेरित होकर उन्होंने १४-१५ वर्ष की उम्र में कुलदेवी के संमुख देश की स्वतंत्रता के लिये आमरण संघर्षरत रहने की भीषण प्रतिज्ञा की। मौजी और घुमक्कड़ तरुणों को संघटित करके विद्यार्थी जीवन में ही 'राष्ट्रभक्त समूह' और मित्र-मेला, नामक गुप्त और प्रगट संस्थाओं की नासिक में क्रम से स्थापना करनेवाले वे ही थे। पूना के विद्यार्थी जीवन में विदेशी वस्त्रों की भव्य होली जलाकर लोकमान्य तिलक के स्वदेशी आंदोलन को उग्रता प्रदान करनेवाले और औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग का पर्दाफाश करके देश को संपूर्ण स्वतंत्रता का मंत्र देनेवाले वे ही प्रथम देशभक्त थे। अत्यल्प काल में महाराष्ट्रीय तरुणों में स्वतंत्रता की अग्नि को प्रज्वलित करके सावरकर जी ने १९०४ में सहस्रों की उपस्थिति में 'मित्र मेला' नामक संस्था को 'अभिनव भारत' की संज्ञा प्रदान की। तरुणों को तलवार और संगीनों से युक्त होने का आदेश देकर उन्होंने शत्रु के प्राणों की आहुतियों से स्वातंत्र्य यज्ञ को भड़काए रखने का आवाहन किया। उनके सबल क्रांति के संदेश और मंत्र ने मद्रास और बंगाल तक क्रांति की ज्वाला भड़का दी। क्रांति संघटनों की धूम मच गई। दिव्य ध्येय और प्रतिज्ञा का प्रथम चरण पूर्ण हुआ। तरुण सावरकर ने क्रांतियुद्ध का विस्तार करने के लिये इंग्लैंड गमन का ऐतिहासिक निर्णय किया।

बी० ए० पास होते ही १९०६ में पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा की शिवाजी विद्यार्थी वृत्ति प्राप्त कर वे बैरिस्टरी पढ़ने के लिये इंग्लैंड गए। पं० वर्मा के लंदन स्थित 'भारत भवन' में उनका निवास था। अपने ध्येय की सिद्धि के लिये उन्होंने सावधानी से कार्य आरंभ किया। अल्पकाल में ही 'भारत भवन' भारतीय क्रांति का केंद्र बन गया। लंदन में 'अभिनव भारत' की एक शाखा की स्थापना करके उन्होंने भारतीय क्रांतियुद्ध को अंतरराष्ट्रीयता प्रदान की। उनकी प्रेरणा से हेमचंद्र दास और सेनापति बापट ने रूसी क्रांतिकारियों की सहायता से बम विद्या सीखकर भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध में बम युग का तेजस्वी अध्याय जोड़ा। अत्यंत युक्ति से लंदन से पिस्तौलों के पार्सल भेजकर उन्होंने भारतीय क्रांतिवीरों को शस्त्रों की आपूर्ति की। क्रांति की आग फैलाने के लिये 'सत्तावन का स्वातंत्र्य समर' और 'मैझिनी' नामक दो ग्रंथों की उन्होंने रचना की। प्रकाशन के पूर्व ही दो देशों द्वारा जब्त होने पर भी उसका प्रकाशन कराकर उन्होंने अंग्रेज शासन को मात दी। इस ग्रंथ से उनकी तेजस्वी अलौकिक बुद्धि, तीक्ष्ण संशोधक वृत्ति, विद्वत्ता एवं काव्यप्रतिभा का परिचय मिलता है। काव्यमय वर्णनों, अलौकिक बलिदानों की उत्तेजक कथाओं, श्रेष्ठतम ध्येयवाद के स्वातंत्र्य सूक्तों से अलंकृत यह ग्रंथ भारतीय क्रांति के वेद या गीता की प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ। राष्ट्र की अस्मिता को जागृत करके असंख्य भारतीयों को राष्ट्रभक्ति की दिव्य प्रेरणा देनेवाले इस ग्रंथ का स्व० भगत सिंह नित्य पाठ करते थे। नेताजी सुभाष बोस ने तो इसे आजाद हिंद सेना में पाठ्यग्रंथ के रूप में ही स्वीकार किया था।

विद्यार्थी सावरकर के क्रांतिकारी कार्यों से अंग्रेजी साम्राज्य दहल गया। लंदन में कर्झन वायली को मदनलाल धींगरा ने और नासिक में कान्हेरे ने जैक्सन को, गोलियों का निशाना बनाया। दमनचक्र में सैकड़ों क्रांतिकारी वीर पिस गए। ज्येष्ठ बंधु बाबाराव सावरकर को अंदमान भेजा गया। लंदन में साम्राज्य की छाती पर बैठकर अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सूत्रों को हिलानेवाले तरुण सावरकर को फँसाने के लिये भी प्रबंध पूरा कर लिया गया। अस्वस्थ होने पर भी वे पेरिस से लौटते ही लंदन स्टेशन पर पकड़े गए। मुकदमा चलाने के लिये उन्हें भारत भेजा गया। मार्ग में मार्सेलिस के निकट अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण होते ही वे विकल हो गए। स्वातंत्र्य लक्ष्मी का स्मरण कर जहाज के पोर्ट होल से फ्रांस के अथाह सागर में छलाँग लगाकर, गोलियों की बौछार में तैरकर उन्होंने फ्रांस की भूमि पर पदन्यास किया। पर लोभी फ्रेंच पुलिस ने उन्हें अंग्रेज अधिकारियों को सौंप दिया। भारतीय न्यायालय ने उन्हें दो भिन्न आरोपों के अंतर्गत दो आजन्म कारावासों का अपूर्व दंड दिया।

पचास वर्षों का कारावास भोगने के लिये उन्हें १९११ में अंदमान भेजा गया। बंदी पाल के मुख से कारावास की भीषणता का क्रूर वर्णन सुनकर वे पूछ बैठे 'अंग्रेजों का शासन भी रहेगा पचास वर्षों तक?' सावरकर जी की अचूक भविष्यवाणी सत्य साबित हुई। बंदियों को संघटित करके अधिकारियों के अन्याय को, तथा अधिकारियों के प्रोत्साहन से होनेवाले धर्मपरिवर्तन को उन्होंने रोका। काल कोठरी में भी उनकी प्रतिभा फूली फली। टूटी कील या नाखून से कोठरी की दीवार पर उन्होंने सहस्रों पंक्तियों की सुंदर काव्यरचना की। उन्हें स्वयं कंठस्थ करके, एक मुक्त होनेवाले सहबंदी को कंठस्थ कराकर उन्होंने कारागार के बाहर भेजा। सरस्वती की ऐसी अनुपम आराधना किसी अन्य व्यक्ति ने स्यात् ही की हो। १९२४ में उन्हें कुछ शर्तों के साथ मुक्त करके रत्नागिरी में स्थानबद्ध किया गया। १९३७ में वे पूर्णतया मुक्त हुए।

अखिल भारतीय हिंदू महासभा के वे लगातार छह बार अध्यक्ष चुने गए। उनके काल में हिंदू सभा एक महत्वपूर्ण अखिल भारतीय संस्था के रूप में अवतीर्ण हुई। २२ जून, १९४० के दिन नेताजी बोस ने उनसे ऐतिहासिक भेंट की। उनसे प्रेरणा लेकर विदेश में नेताजी ने हिंद सेना का संघटन किया। सावरकर जी के सैनिकीकरण आंदोलन के कारण ही हिंद सेना को प्रशिक्षित सैनिकों की पूर्ति होती थी। स्वयं नेताजी ने अपने एक आकाशवाणी से दिए भाषण में उनके प्रति धन्यवाद और आभार प्रगट करते हुए इसे स्वीकार किया।

स्वतंत्रता के उद्‌गाता और क्रांतिकारी सेनानी के रूप में वीर सावरकर का ऐतिहासिक महत्व है। साथ ही राष्ट्र के मंत्रद्रष्टा के रूप में भी उनका महत्व उससे कम नहीं। 'हिंदू को राष्ट्र मानकर हिंदुत्व ही राष्ट्रीयता है' इस सिद्धांत को उन्होंने प्रस्थापित किया। एकहुवाद की नींव पर उन्होंने समाजसुधार का अमूल्य कार्य किया। स्वतंत्र राष्ट्र के लिये भाषा के महत्व को समझकर सर्वप्रथम सावरकर जी ने ही भाषा और लिपिशुद्धि के आंदोलन का श्रीगणेश किया। समय समय पर राष्ट्र को भावी संकटों से आगाह करके उन्होंने पहले ही उन संकटों को टालने के लिये उपयोगी संदेश दिए।

देशभक्ति सावरकर जी के जीवन का स्थायी भाव था। देशभक्ति नामक दसवें रस के जनक वीर सावरकर ही थे। उनका जीवन शौर्य, साहस, धैर्य और सहनशीलता का प्रतीक है। अपने महान् ध्येय की सिद्धि के लिये मानव दुःख, कष्ट, यातनाओं, उपेक्षाओं और अपमान का हलाहल कहाँ तक पचा सकता है, इसका उदाहरण सावरकर जी का पवित्र जीवन है। समर्थ गुरु रामदास ने शारदा को वीर पुरुषों की भार्या कहा है। इसका प्रमाण सावरकर जी हैं जिन्होंने आजीवन कष्ट और यातनाएँ झेलते हुए भी लगभग ८-१० हजार पृष्ठों के अमर साहित्य का सर्जन किया। साहित्य के सभी क्षेत्रों में उनकी प्रतिभा ने चमत्कार दिखाया। उसमें प्रगल्भता, अलौकिकता और विद्युत् सी चपलता है। सावरकर वक्ता भी बेजोड़ थे, लाखों श्रोताओं के जनसमूह को अपने पीछे खींच ले आने की अद्‌भुत शक्ति उनमें थी।

आजन्म शौर्य और साहस से मृत्यु को दूर रखनेवाले सावरकर ने अंत में मृत्यु को भी मात कर दिया। ८० दिनों तक उपवास करके उन्होंने मृत्यु का आलिंगन किया। [म० गो० प०]

सावित्री और सत्यवान की कथाएँ पुराणों और महाभारत में मिलती हैं। वह मद्रदेश के राजा अश्वपति की पुत्री थी तथा शाल्व देश के भूतपूर्व राजा द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान से स्वयंवर ढंग से ब्याही थी। अपने पति के अल्पायुष्य और सास ससुर की अंधावस्था को जानते हुए भी उसने उनकी खूब सेवाएँ कीं। सत्यवान के दीर्घायुष्य के लिये प्रार्थना करना उसने अपना नित्यकर्म बना लिया। एक दिन सत्यवान वन में लकड़ी काटने गया। वहाँ उसे सिरदर्द हुआ और सावित्री की गोद में ही उसकी मृत्यु हो गई। यमराज ने आकर उसका प्राण ले जाने का उपक्रम किया पर सावित्री उसका साथ छोड़ने को तैयार न हुई और पीछे पीछे चली। उस पतिव्रता को लौट जाने के लिये बार बार समझाते हुए यमराज ने अनेक वर दिए, जिनसे अंधे सास ससुर को दृष्टियाँ मिल गईं, उनका राज्य उन्हें मिल गया, उसके सौ सहोदर भाई हुए तथा उसे सौ औरस पुत्रों को पैदा करने का वचन मिला। अंतिम वर देने और सावित्री की मधुर, पातिव्रतपूर्ण तथा बुद्धिमत्तापूर्ण प्रार्थनाओं को सुनकर सत्यवान का प्राण छोड़ देने को यमराज विवश हो गए। सत्यवान जी उठा और सावित्री भारत की पतिव्रता स्त्रियों में सर्वप्रथम गिनी जाने लगी।

सावित्री शंकर की स्त्री उमा अथवा पार्वती का भी नाम है। कश्यप की स्त्री का भी नाम सावित्री था।

सं० ग्रं०—मत्स्यपुराण, अध्याय २०७ से २१३; ब्रह्मवैवर्त पुराण, अध्याय २३ और आगे; महाभारत का सत्यवान सावित्री उपाख्यान, वनपर्व, अध्याय २९२ और आगे। [वि० मु० पा०]

साहारा मरुस्थल संसार का सबसे बड़ा मरुस्थल है जो अफ्रीका महाद्वीप के उत्तरी भाग में स्थित है। इस प्रदेश में वर्षा बहुत कम होती है। यहाँ कई सूखी नदियाँ हैं जिन्हें 'वाडिया' कहते हैं। इनमें पानी केवल वर्षा के समय ही कुछ दिनों तक रहता है अन्यथा ये सूखी रहती हैं। यहाँ की जलवायु बहुत विषम है। दिन में अत्यधिक गरमी होती है और रात में काफी जाड़ा पड़ता है।

इस प्रदेश का अधिकतर भाग रेतीला है। यहाँ वर्षा न होने के कारण वनस्पतियों का प्राय: अभाव है। कहीं कहीं कुछ बबूल, कीकर तथा कँटीली झाड़ियाँ मिल जाती हैं। इनकी जड़ें काफी लंबी और गहराई तक होती हैं तथा पत्तियाँ कँटीदार और खाल मोटी होती है ताकि नमी का अभाव न हो। जहाँ पानी की थोड़ी सुविधा होती है वहाँ मरूद्यान पाए जाते हैं जिनके निकट खजूर होते हैं और गेहूँ, जौ, बाजरा तथा मक्के की खेती होती है। इन्हीं मरूद्यानों के निकट कुछ लोग रहते हैं जो भेड़, बकरी तथा ऊँट पालते हैं। घास समाप्त होने पर ये अपने जानवरों के साथ अन्य चरागाहों की खोज में घूमते फिरते हैं ये यायावर या बद्दू बंजारे कहलाते हैं। ये झगड़ालू भी होते हैं।

साहारा मरुस्थल मे यातायात की बड़ी कठिनाई है। यहाँ के मरूद्यान तथा ऊँटों ने यात्रा को बहुत कुछ संभव और सुलभ बनाया है। मरूद्यानों से होते हुए कारवाँ मार्ग जाते हैं। आजकल पश्चिमी एवं उत्तरी साहारा के कई स्थानों में खनिजों के प्राप्त हो जाने से उनके केंद्रों तक मोटर लारियाँ, ऊँट और रेलें तीनों ही जाती हैं। यहाँ के रहनेवाले कारवाँ के व्यापारियों को खजूर, चटाइयाँ, कंबल तथा चमड़े के थैले, पेटी आदि देकर बदले में चीनी, कपड़ा आदि कई लाभदायक वस्तुएँ प्राप्त करते हैं। [रा० स० ख०]

साहित्य अकादेमी अथवा 'नेशनल अकादेमी ऑव लेटर्स' का विधिवत् उद्‌घाटन भारत सरकार द्वारा १२ मार्च, १९५४ को हुआ था। भारत सरकार के जिस प्रस्ताव में अकादेमी का विधान निरूपित किया गया था, उसमें अकादेमी की परिभाषा यह दी गई थी — 'भारतीय साहित्य के विकास के लिये कार्य करनेवाली एक राष्ट्रीय संस्था, जिसका उद्देश्य होगा ऊँचे साहित्यिक प्रतिमान कायम करना, विविध भारतीय भाषाओं में होनेवाले साहित्यिक कार्यों को अग्रसर करना और उनमें मेल पैदा करना तथा उनके माध्यम से देश की सांस्कृतिक एकता का उन्नयन करना।' यद्यपि यह संस्था सरकार द्वारा स्थापित की गई है, फिर भी इसका कार्य स्वायत्त रूप से चलता है।

अकादेमी की चरम सत्ता ७० सदस्यों की एक परिषद् (जनरल काउंसिल) में न्यस्त है, जिसका गठन इस प्रकार से होता है : अध्यक्ष, वित्तीय सलाहकार, भारत सरकार द्वारा मनोनीत पाँच व्यक्ति, पंद्रह राज्यों के पंद्रह प्रतिनिधि, साहित्य अकादेमी द्वारा मान्यताप्राप्त सोलह भाषाओं के सोलह प्रतिनिधि, भारत के विश्व-

हरिनारायण आप्टे (देखे पृष्ठ २९९)

टामस हार्डी (देखे पृष्ठ ३१५)

विनायक दामोदर सावरकर (देखें पृष्ठ ६१)

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' (देखें पृष्ठ ८१२)

हिमालय—प्रकृति का क्रीड़ास्थल

(देखें पृष्ठ ३७१)

विद्यालयों के बीच प्रतिनिधि, परिषद् द्वारा चुने हुए साहित्य क्षेत्र में विख्यात आठ व्यक्ति एवं संगीत नाटक अकादेमी और ललित कला अकादेमी के दो दो प्रतिनिधि। इसके प्रथम अध्यक्ष थे जवाहरलाल नेहरू और उपाध्यक्ष डा० जाकिर हुसेन।

साहित्य अकादेमी की सामान्य नीति और उसके कार्यक्रम के मूलभूत सिद्धांत परिषद् द्वारा निर्धारित होते हैं और उन्हें कार्यकारी मंडल के प्रत्यक्ष निरीक्षण में क्रियान्वित किया जाता है। प्रत्येक भाषा के लिये एक परामर्शमंडल है, जिसमें प्रसिद्ध लेखक और विद्वान् होते हैं, जिसके परामर्श पर तत्संबंधी भाषा का विशिष्ट कार्यक्रम नियोजित और कार्यान्वित होता है। इनके अतिरिक्त कतिपय विशिष्ट योजनाओं के लिये विशेष संपादकमंडल और परामर्शमंडल भी हैं।

परिषद् का कार्यक्रम ५ वर्ष का होता है। वर्तमान परिषद् का निर्वाचन १९६३ में हुआ था और उसका प्रथम अधिवेशन मार्च, १९६३ में। अकादेमी के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, कार्यकारीमंडल के सदस्यों एवं अधीनस्थ समितियों का निर्वाचन परिषद् द्वारा होता है।

भारत के संविधान में परिगणित चौदह प्रमुख भाषाओं के अतिरिक्त साहित्य अकादेमी ने अंग्रेजी और सिंधी भाषाओं को भी न्यूनाधिक रूप में अपना कार्यक्रम क्रियान्वित करने के लिये मान्यता दी है। इन भाषाओं के लिये पृथक् परामर्शमंडल भी गठित किए गए हैं।

साहित्य अकादेमी का मुख्य कार्यक्रम अनेक भाषाओं के देश भारत की विशिष्ट परिस्थिति से उत्पन्न चुनौती का सामना करने की दिशा में है, कि यद्यपि विभिन्न भाषाओं में रचा जाने पर भी भारतीय साहित्य एक है, फिर भी एक ही देश में एक भाषा के लेखक और पाठक अपने ही देश की पड़ोसी भाषा की गतिविधि के संबंध में प्राय: अनजान रहते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि भाषा और लिपि की दीवारों को लाँघकर भारतीय लेखक एक दूसरे से अधिकाधिक परिचित हों, और इस देश की साहित्यिक विरासत की विविधता और अनेकरूपता का रस अधिकाधिक ग्रहण कर सकें।

अकादेमी के कार्यक्रम में इस चुनौती का उत्तर दो तरह से दिया गया है। एक तो सभी भारतीय भाषाओं में जो साहित्यिक कार्य चल रहा है उनके विषय में जानकारी देनेवाली सामग्री प्रकाशित की जा रही है, उदाहरणार्थ 'भारतीय साहित्य की राष्ट्रीय ग्रंथसूची,' 'भारतीय साहित्यकार परिचय', 'विभिन्न भाषाओं के साहित्य के इतिहास', अकादेमी की पत्रिका 'इंडियन लिटरेचर' इत्यादि, और दूसरे प्रत्येक भाषा से चुने हुए प्राचीन और नवीन श्रेष्ठ ग्रंथों का अनुवाद अन्य भाषाओं में कराया जाता है, जिससे हिंदी, बंगला, तमिल आदि प्रमुख भारतीय भाषाओं के उत्तम लेखकों को देश की सभी प्रमुख भाषाओं में पाठक प्राप्त हों।

साथ ही प्रमुख विदेशी श्रेष्ठ ग्रंथों का सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में अनुवाद करने का भी कार्यक्रम है, जिससे विश्व के महान् साहित्यिक ग्रंथ अंग्रेजी जाननेवाली अल्पसंख्यक जनता को ही नहीं, वरन् सभी भारतीय पाठकों को सुलभ हों। साहित्य अकादेमी यूनस्को के 'ईस्ट वेस्ट मेजर प्रोजेक्ट' नामक कार्यक्रम की पूर्ति में भी सहयोग देती है और विदेशों की साहित्य एवं सांस्कृतिक संस्थाओं से साहित्यिक सूचनाओं और साहित्यिक सामग्री का आदान प्रदान भी करती है।

अकादेमी के महत्वपूर्ण प्रकाशनों में 'भारतीय साहित्य ग्रंथसूची' (बीसवीं शती), 'भारतीय साहित्यकार परिचय', 'आज का भारतीय साहित्य', समसामयिक भारतीय कहानियों के प्रतिनिधि संकलन, भारतीय कविता, कालिदास की कृतियों का प्रामाणिक संस्करण, संस्कृत साहित्य के संकलन, बँगला, उड़िया, मलयलम, असमिया, तेलुगु आदि भाषाओं के साहित्येतिहास; असमिया, काश्मीरी, मलयलम, पंजाबी, तमिल, तेलुगु, उर्दू के काव्यसंग्रह; असमिया, पंजाबी आदि लोकगीतों के संग्रह; भक्तिकाव्य के संकलन इत्यादि हैं। अप्रैल, १९६४ तक अकादेमी के ३१५ प्रकाशन सब भाषाओं में हो चुके थे जिनमें से ४३ हिंदी में हैं।

हिंदी संबंधी कार्य के लिये परामर्शदात्री समिति के सदस्य हैं (१९६४ में): सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त (अब स्व०) सुमित्रानंदन पंत, डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', डा० रामकुमार वर्मा, रामधारीसिंह 'दिनकर', बालकृष्ण राव, डा० हरिवंश राय बच्चन, डा० नगेंद्र, डा० शिवमंगलसिंह 'सुमन' तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (संयोजक)। [प्रा॰]

साहित्यदर्पण (संस्कृत साहित्य) मंमट के काव्यप्रकाश के अनंतर अपनी प्रमुखता से यह प्रथित है। काव्य के श्रव्य एवं दृश्य दोनों प्रभेदों के संबंध में सुपुष्ट विचारों की विस्तृत अभिव्यक्ति इस ग्रंथ की विशेषता है। काव्यप्रकाश की तरह इसका विभाजन १० परिच्छेदों में है और प्राय: उसी क्रम से विषयविवेचन भी है। इसकी अपनी विशेषता है छठे परिच्छेद में जिसमें नाट्यशास्त्र से संबद्ध सभी विषयों का क्रमबद्ध रूप से समावेश कर दिया गया है। साहित्यदर्पण का यह सबसे सरल एवं विस्तृत परिच्छेद है। काव्यप्रकाश तथा संस्कृत साहित्य के प्रमुख लक्षण ग्रंथों में नाट्य संबंधी अंश नहीं मिलते। साथ ही नायक-नायिका-भेद आदि के संबंध में भी उनमें विचार नहीं मिलते। साहित्यदर्पण के तीसरे परिच्छेद में रसनिरूपण के साथ साथ नायक-नायिका-भेद पर भी विचार किया गया है। यह भी इस ग्रंथ की अपनी विशेषता है। ग्रंथ की लेखनशैली अतीव सरल एवं सुबोध है। पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का युक्तिपूर्ण खंडनादि होते हुए भी काव्यप्रकाश की तरह जटिलता इसमें नहीं मिलती।

दृश्यकाव्य का विवेचन इसमें नाट्यशास्त्र और धनिक के दशरूपक के आधार पर है। रस, ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का विवेचन अधिकांशत: ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के आधार पर किया गया है तथा अलंकार प्रकरण विशेषत: राजानक रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व' पर आधृत है। संभवत: इसीलिये इन आचार्यों का मतखंडन करते हुए भी ग्रंथकार उन्हें अपना उपजीव्य मानता है तथा उनके प्रति आदर व्यक्त करता है— 'इत्यलमुपजीव्यमानानां मान्यानां व्याख्यातेषु कटाक्षनिक्षेपेण' और 'महतां संस्तव एवंगौरवाय' आदि।

साहित्यदर्पण में काव्य का लक्षण भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से स्वतंत्र रूप में किया गया मिलता है। साहित्यदर्पण से पूर्ववर्ती ग्रंथों में

कथित काव्यलक्षण क्रमशः विस्तृत होते गए हैं और चंद्रालोक तक आते आते उनका विस्तार अत्यधिक हो गया है, जो इस क्रम से द्रष्टव्य है — 'संक्षेपात् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना, पदावली काव्यम्' (अग्निपुराण); 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' (दंडी) 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' (रुद्रट); 'काव्य शब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते' (वामन); 'शब्दार्थशरीरम् तावत् काव्यम्' (आनंदवर्धन); 'निर्दोषं गुणवत् काव्यं अलंकारैरलंकृतम् रसान्वितम्' (भोजराज); 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' (मंमट) 'गुणालंकाररीतिरससहितौ दोषरहितौ शब्दार्थौ काव्यम्' (वाग्भट); और 'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता, सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यशब्दभाक्' (जयदेव)। इस प्रकार क्रमशः विस्तृत होते काव्यलक्षण के रूप को साहित्यदर्पणकार ने 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' जैसे छोटे रूप में बाँध दिया है। केशव मिश्र के अलंकारशेखर से व्यक्त होता है कि साहित्यदर्पण का यह काव्यलक्षण आचार्य शौद्धोदनि के 'काव्यं रसादिमद् वाक्यम् श्रुतं सुखविशेषकृत्' का परिमार्जित एवं संक्षिप्त रूप है।

ग्रंथदर्शन — साहित्यदर्पण १० परिच्छेदों में विभक्त है : प्रथम परिच्छेद में काव्यप्रयोजन, लक्षण आदि प्रस्तुत करते हुए ग्रंथकार ने मंमट के काव्यलक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' का बड़े संरंभ के साथ खंडन किया है और स्वरचित लक्षण 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' को ही शुद्धतम काव्यलक्षण प्रतिपादित किया है। पूर्वमतखंडन एवं स्वमतस्थापन की यह पुरानी परंपरा है। द्वितीय परिच्छेद में वाच्य और पद का लक्षण कहने के बाद अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शब्दशक्तियों का विवेचन किया गया है। तृतीय परिच्छेद में रसनिष्पत्ति का बड़ा ही सुंदर विवेचन है और रसनिरूपण के साथ साथ इसी परिच्छेद में नायक-नायिका-भेद पर भी विचार किया गया है। चतुर्थ परिच्छेद में काव्य के भेद ध्वनिकाव्य और गुणीभूतव्यंग्यकाव्य आदि का विवेचन है। पंचम परिच्छेद में ध्वनिसिद्धांत के विरोधी सभी मतो का तर्कपूर्ण खंडन और ध्वनिसिद्धांत का समर्थन प्रौढ़ता के साथ निरूपित है। छठे परिच्छेद मे नाट्यशास्त्र से संबद्ध विषयों का प्रतिपादन है। यह परिच्छेद सबसे बड़ा है और इसमें लगभग ३०० कारिकाएँ हैं, जबकि संपूर्ण ग्रंथ की कारिकासंख्या ७६० है। इससे नाट्यसंबंधी विवेचन का अनुमान किया जा सकता है। सप्तम परिच्छेद में दोषनिरूपण, अष्टम परिच्छेद में तीन गुणों का विवेचन और नवम परिच्छेद में वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली आदि रीतियों पर विचार किया गया है। दशम परिच्छेद में अलंकारों का सोदाहरण निरूपण है जिनमें १२ शब्दालंकार, ७० अर्थालंकार और ७ रसवत् आदि कुल ८९ अलंकार परिगणित हैं।

साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ ने अपने संबंध में ग्रंथ की पुष्पिका में जो विवरण दिया है उसके आधार पर इनके पिता का नाम चंद्रशेखर और पितामह का नाम नारायणदास था। विश्वनाथ की उपाधि महापात्र थी। इन्होंने काव्यप्रकाश की टीका की है जिसका नाम 'काव्यप्रकाशदर्पण' है। ये कलिंग के रहनेवाले थे। साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद की पुष्पिका में इन्होंने अपने को 'सांधिविग्रहिक', 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजंग' कहा है पर किसी राजा या राज्य का नामोल्लेख नहीं किया है। साहित्यदर्पण के चतुर्थ परिच्छेद में अलाउद्दीन खिलजी का उल्लेख पाए जाने से ग्रंथकार का समय अलाउद्दीन के बाद या समान संभावित है। जंबू की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची [स्टीन] में साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख मिलता है, जिसका लेखनकाल १३८४ ई० है, अतः साहित्यदर्पण के रचयिता का समय १४वीं शताब्दी ठहरता है।

साहित्यदर्पण के अतिरिक्त विश्वनाथ द्वारा काव्यप्रकाश की टीका का उल्लेख पहले आ चुका है। इनके अतिकाव्य विश्वनाथ ने अनेक काव्यों की भी रचना की है जिनका पता साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाशदर्पण से लगता है। 'राघव विलास' संस्कृत महाकाव्य, 'कुवलयाश्वचरित्' प्राकृत भाषाबद्ध काव्य, 'नरसिंहविजय' संस्कृत काव्य; 'प्रभावतीपरिणय' और 'चंद्रकला' नाटिका तथा 'प्रशस्ति-रत्नावली' जो सोलह भाषाओं में रचित करंभक है, का उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है और उनके उदाहरण भी आवश्यकतानुसार दिए हैं जिनसे साहित्यदर्पणकार की बहुभाषाविज्ञता और प्रगल्भ पांडित्य की अभिव्यक्ति होती है। [वि० ना० मि०]

साहूकारी का सरल अर्थ वे कार्य हैं जो साहूकार करते हैं। साहूकार का प्रधान कार्य ऐसे व्यक्तियों को रुपया उधार देना है जिनको उत्पादक या अनुत्पादक कार्यों के लिये रुपयों की बड़ी आवश्यकता रहती है। यद्यपि साहूकारों का प्रधान कार्य रुपए उधार देना है तथापि कुछ साहूकार इस कार्य के साथ हुंडी भुनाना, दूसरों का रुपया सूद पर जमा करना, निज का व्यवसाय करना आदि कार्य भी करते हैं।

साहूकारी की प्रथा बहुत प्राचीन है और संसार के सभी देशों में फैली हुई है। भारत में साहूकारी के अस्तित्व के प्रमाण हजारों वर्ष पूर्व से ही मिलते हैं किंतु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह प्रथा कब से उत्पन्न हुई। वेद, पुराण एवं बौद्ध साहित्य के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भारत में साहूकारी ईसा से २००० वर्ष पूर्व विद्यमान थी। ऋग्वेद में कर्ज के लिये ऋण शब्द मिलता है। कर्ज अदा करनेवाले को ऋणी कहा जाता था।

जातक ग्रंथों से हमें यह ज्ञात होता है कि ईसा के पूर्व पाँचवीं एवं छठी शताब्दी में 'सेठ' लोग रुपया उधार देते थे। सूद की दर कर्जदार की जाति या वर्ण के अनुसार निश्चित होती थी। शूद्रों से ब्याज अधिक लिया जाता था किंतु ब्राह्मणों से कम। साहूकारी को उस समय श्रेष्ठ व्यापार समझा जाता था। बाद में वैश्य लोग साहूकारी का कार्य करने लगे। आज भी अधिकांश बनिए या व्यापारी अपने व्यापार के साथ ही साहूकारी का कार्य भी करते हैं।

प्राचीन काल में साहूकारों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। वे गरीबों को ही नहीं अपितु राजा महाराजाओं तक को भी आवश्यकता पड़ने पर उधार दिया करते थे। वे समाज में आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। उन्हें श्रेष्ठपुरुष अथवा महाजन के नाम से संबोधित किया जाता था। साहूकारों ने ग्रामों के आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण कार्य
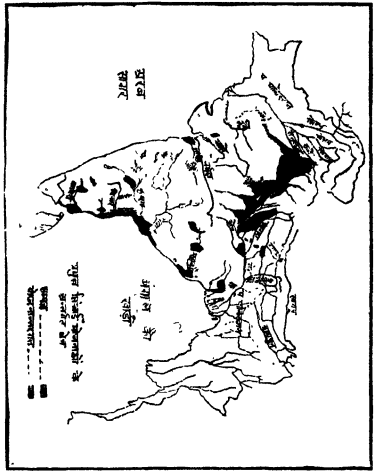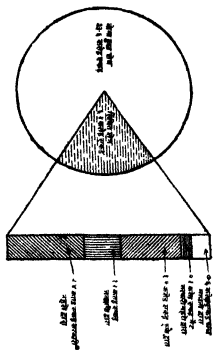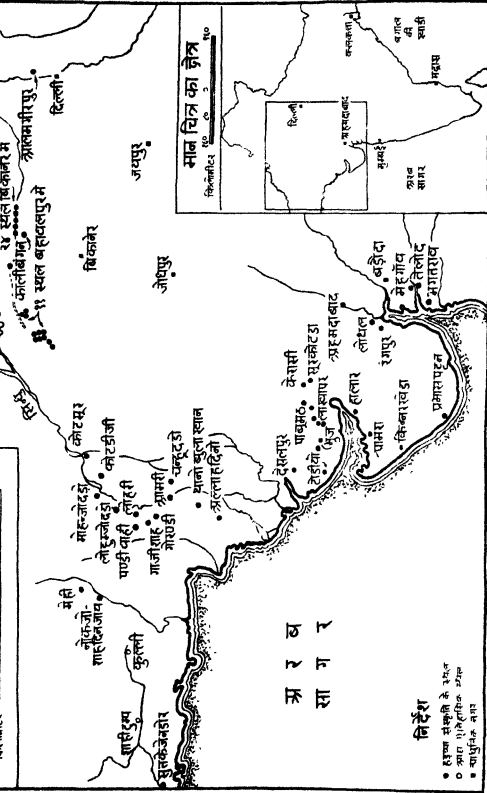
देखिए—सिंचाई; पृ० सं० ६५

देखिए—सिंधु घाटी की संस्कृति; पृ० सं० ७१
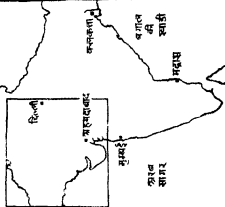
किया है। कृषि की उन्नति में उन्होंने काफी योग दिया है। वे किसान की सुखवृद्धि में ही अपना हित समझते थे। आज भी साहूकार छोटे छोटे व्यापारियों, श्रमिकों, शिल्पकारों, कृषकों तथा अन्य व्यवसायियों को उत्पादन कार्य के लिये रुपया उधार देते हैं। आवश्यकता पड़ने पर लेनदार को सोने चाँदी के जेवर गिरवी रखकर भी रुपया उधार लेना पड़ जाता है। कृषकों को भी कभी कभी अपनी भावी फसल जमानत के तौर पर गिरवी रखनी पड़ती है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, साहूकार हुंडी भुनाने का कार्य भी करते हैं। हुंडियों से देश को आतरिक व्यापार में बड़ी सहायता मिलती है।

कृषि के अतिरिक्त साहूकार कुटीर उद्योग धंधो को भी सहायता पहुँचाते हैं। वे कारीगरो को कच्चे माल से सहायता करते हैं और माल तैयार होने पर उनसे खरीद भी लेते हैं। इससे कारीगरो को अपना माल बेचने में कठिनाई नही होती। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहूकारी से ग्रामीण आर्थिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं होती बल्कि छोटे छोटे व्यापार को भी बड़ी मदद मिलती है।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त साहूकारी प्रथा में कुछ दोष भी हैं। साहूकार किसानो को रुपया तो बड़ी आसानी से दे देते हैं किंतु ब्याज की दर आर्थिक दृष्टि से बड़ी ऊँची वसूल करते हैं। गरीब किसानों का इससे बड़ा शोषण होता है। इसके अतिरिक्त साहूकार कर्जदारों से बेईमानी करने मे भी नही चूकते। बहुधा अशिक्षित व्यक्तियो से साहूकार खाली कागज पर अँगूठे का निशान लगवा लेते हैं और बाद में उसमें मनचाही रकम भरकर मनचाहा सूद वसूल करते हैं। वे लोगो को अत्यधिक कर्ज के भार मे लादकर उन्हें अपना गुलाम बना लेते है और उनसे अनेक प्रकार की बेगार भी लेते हैं। अपने स्वार्थ के लिये साहूकार, विशेष कर पठान साहूकार, बड़ी ज्यादती करते हैं। उनके शिकार अधिकतर शहरो के मजदूर तथा हरिजन होते हैं। वे उन्हे एक आने दो आने फी रुपया प्रति माह सूद पर ऋण देते हैं। उनका लोगो पर इतना आतक रहता है कि जैसे भी बने वे उनका रुपया चुकाते रहते हैं।

साहूकारी के दुर्गुणो को दूर करने के लिये निम्न उपाय प्रयोग में लाना आवश्यक है। सर्वप्रथम साहूकारों के कार्यों पर सरकार द्वारा नियत्रण रखना आवश्यक है। साहूकारो को उनके कार्य के लिये प्रमाणपत्र लेना अनिवार्य कर देना चाहिए। कुछ राज्यों की सरकारों ने इस प्रकार के नियम बनाए भी हैं। इसके अतिरिक्त सूद की उचित दर सरकार द्वारा निश्चित कर देनी चाहिए। साथ ही साहूकारों का आधुनिक बैंक से सबध स्थापित कर देना चाहिए जिससे साहूकार बैंक से आर्थिक सहायता ले सकें।

कुछ व्यक्तियो का विचार है कि साहूकारी प्रथा खत्म कर देनी चाहिए, किंतु यह अनुचित है। ग्रामीणो की उन्नति मे साहूकारों का बड़ा महत्व है और बैंकों से भी अधिक साहूकारो से किसानों को सरलता से सहायता मिल जाती है। साहूकारी प्रथा का भारत में आज भी बहुत महत्व है।

सं० ग्रं० — डॉक्टर लक्ष्मीचंद्र : इंडिजिनस बैंकिंग इन इंडिया; गिलबर्ट : द हिस्ट्री, प्रिंसिपल्स ऐंड प्रैक्टिस ऑव बैंकिंग; शिराज : इंडियन फिनेन्स ऐंड बैंकिंग। [द० दु०]

सिंक्लेयर, सर जान (Sinclair, Sir john (Bart) (सन् १७५४-१८३५) स्कॉटलैंड के लेखक, जिन्होंने वित्त तथा कृषि पर पुस्तकें लिखी। जन्म थसरो कैसेल (Thusro Castle) में हुआ था। एडिनबरा, ग्लासगो तथा आक्सफोर्ड में शिक्षा ग्रहण की। सन् १७८० से १८११ तक पार्लियामेंट के सदस्य रहे।

इन्होंने एडिनबरा में अँगरेजी ऊन को सुधारने के लिये एक समिति स्थापित की। ये बोर्ड ऑव ऐग्रिकल्चर (कृषिपरिषद्) के निर्माण में सहायक हुए और उसके प्रथम सभापति भी बने। इन्होंने वित्तविशेषज्ञ एवं अर्थशास्त्री के रूप में प्रचुर ख्याति अर्जित की। वैज्ञानिक कृषि के लिये इनकी सेवाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने कृषि परिषद् द्वारा संग्रह की जानेवाली रिपोर्टों के २१ भागों तथा "स्कॉटलैंड की व्यापक रिपोर्ट" का निरीक्षण किया। सन् १८१६ ई० में इन संगृहीत रिपोर्टों के आधार पर इन्होंने "कृषि विधान," (Code of Agriculture) तैयार किया। ये यूरोप की अधिकांश कृषिसमितियों के सदस्य तथा रॉयल सोसायटी ऑव लंदन एव एडिनबरा के सम्मानित सदस्य (फेलो) थे। [शि० गो० मि०]

सिंचाई शब्द प्रायः भूसिंचन के लिये प्रयोग में आता है। कृषि के लिये जहाँ भूमि, बीज और परिश्रम की अनिवार्यता रहती है, वहाँ पौधों के विकास में जल अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य करता है। बीज से अंकुर फूटने से लेकर उससे फल फूल निकलने तक की समस्त क्रिया में जल व्यापक रूप मे चाहिए; यदि जल पर्याप्त मात्रा मे न हो तो उपज कम होती है।

सामान्यत: कृषि योग्य भूमि पर गिरा हुआ जल भूमि द्वारा सोख लिया जाता है और उसमें वह कुछ समय तक समाया रहता है। पौधा अपनी जड़ों के द्वारा इस जल का भूमि मे तरल तत्व प्राप्त करने के लिये उपयोग करता है। इस प्रकार सिंचाई का उद्देश्य पौधों के जड क्षेत्र में जल तथा नमी बनाए रखना है।

मुख्यत. सिंचाई के तीन साधन हैं। प्रथम वे जिनमें नदी के बहते पानी में रोक लगाकर, वहाँ से नहरों द्वारा जल भूसिंचन के लिये लाया जाता है। दूसरे वे जहाँ जल को बाँधकर जलाशयो मे एकत्र किया जाता है और फिर उन जलाशयो से नहरें निकालकर भूमि को सींचा जाता है। तीसरे ढग मे जल को पपों अथवा अन्य साधनों द्वारा नदी या नालों से उठाकर उसे नहरो के माध्यम से खेतो तक पहुँचाया जाता है।

इनके अतिरिक्त भूगर्भ मे सचित जल को भी, कूपों मे लाया जाता है। यह तरीका अन्य सभी ढगो से अधिक विस्तृत क्षेत्रो मे फैला हुआ है क्योंकि इसमे सिंचाई क्षेत्र के आसपास ही कूप या नलकूप लगाकर जल प्राप्त करने की सुविधा रहती है।

भारत जैसे कृषिप्रधान देशों में सिंचाई का प्रचलन बहुत पुराना है। इसमे छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की सिंचाई योजनाएँ भूसिंचन के लिये लागू की जाती रही हैं। इनमे से कई तो कई शताब्दियों पूर्व बनाई गई थी। इनमें कावेरी का 'बड़ा एनीकट' उल्लेखनीय है।

यह लगभग एक हजार वर्ष पूर्व बनाया गया था। किंतु सिंचाई के क्षेत्र में भारत ने वास्तविक प्रगति तो गत शताब्दी में ही की। तभी उत्तर प्रदेश में गंगा की बड़ी नहरों, पंजाब में सरहिंद और व्यास की विशाल नहरों के साथ अन्य प्रदेश में भी बहुत सी अच्छी नहरों का निर्माण किया गया। बड़े बड़े तालाबों का निर्माण तो सहस्रों वर्षों से हमारे देश मे विशेषकर दक्षिण भारत में होता रहा है। ऐसे छोटे बड़े बाँधों और सरोवरों की बड़ी संख्या पठारी क्षेत्रों में विशेष रूप से विद्यमान है।

सन १९४७ से स्वतंत्रता के पश्चात् तो सिंचाई पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई कार्यों को उच्च प्राथमिकता दी गई है। पंचवर्षीय योजनाएँ शुरू होने से पूर्व समस्त साधनों से केवल ५·१४ करोड़ एकड़ भूमि पर सिंचाई होती थी जिसमें २·९१ करोड एकड़ लघु सिंचाई कार्यों से और २·२३ करोड़ एकड भूमि को बड़े सिंचाई कार्यों द्वारा सींचा जाता था। पंचवर्षीय योजनाओं मे लगातार सिंचनक्षेत्र बढता ही गया। अनुमान है. पाँचवी पंचवर्षीय योजना के अंत तक अर्थात् १९७५-७६ ई० के अंत में बड़े तथा मध्यवर्गीय सिंचाई कार्यों द्वारा ११·१ करोड़ एकड एवं छोटे सिंचाई कार्यों द्वारा ७·५ करोड़ एकड भूमि के लिये सिंचाई की व्यवस्था हो जाएगी।

क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत सिंचाई के मामले में संसार के राष्ट्रों में अग्रणी है। चीन को छोड़कर संसार के बहुत से देशों में सिंचित क्षेत्र भारत की तुलना मे बहुत कम हैं।

सिंचाई (Irrigation) तथा निकास (Drainage) के अंतरराष्ट्रीय आयोग द्वारा १९६३ ई० प्रकाशित आँकड़ों से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

देश	सिंचित क्षेत्रफल (करोड़ एकड़)
भारत	६·३४
संयुक्त राज्य अमरीका	३·७७
सोवियत यूनियन	३·०४
पाकिस्तान	२·६६
ईराक	०·९१
इंडोनेशिया	०·९०
जापान	०·७८
संयुक्त अरब गणराज्य	०·६७
मेक्सिको	०·६७
इटली	०·६६
सूडान	०·६२
फ्रांस	०·६१
स्पेन	०·४५
चिली	०·३४
पीरू	०·३०
आर्जेंटीना	०·२७
थाइलैंड	०·२६

बाकी अन्य देशों में दो लाख एकड़ से भी कम भूमि पर सिंचाई की व्यवस्था है।

बड़े सिंचाई कार्य अधिक विस्तृत क्षेत्रों में सिंचाई की व्यवस्था करने की क्षमता रखते हैं और उनसे जल की काफी मात्रा भी प्राप्त हो जाती है, लेकिन उन्हें हर जगह लागू नहीं किया जा सकता। ऐसे कार्यों के लिये बहुधा प्राकृतिक साधन भी छोटे पड़ जाते हैं। कई बार आर्थिक साधनों की अनुपलब्धता के कारण भी उन्हें अपनाया नहीं जा पाता, ऐसी अवस्था मे छोटे सिंचाई कार्यों से काम चलाया जाता है। अतएव ऐसे क्षेत्रो मे जहाँ किन्हीं भी कारणों मे बड़ी सिंचाई योजनाएँ हाथ में लेना संभव न हो, वहाँ छोटी योजनाएँ बनाना अनिवार्य हो जाता है।

छोटे सिंचाई कार्यों के अंतर्गत कच्चे या पक्के कूप, नलकूप, छोटे पप और छोटे छोटे जलाशय आते हैं। इन कार्यों को संपन्न करने में समय कम लगता है। इनकी एक विशेषता यह भी है कि इनके द्वारा जहाँ भी जल उपलब्ध हो वहीं सिंचाई की जा सकती है। हमारे देश मे कूपों पर ढेकुली लगाकर काफी पुराने समय से सिंचाई की जाती रही है, लेकिन इस तरह बहुत ही छोटे खेतों को ही सींचा जा सकता है। बीच के दर्जे के किसान आम तौर पर रहट, मोट या चरस लगाकर सिंचाई करते हैं। जिन स्थानों में काफी हवा चलती है, वहाँ हवाई चक्कियों से भी सिंचाई की जाती है। इस तरह की हवाई चक्कियाँ खास तौर पर बबई, सौराष्ट्र और धारवाड़ के क्षेत्रों में लगाई जाती हैं।

इसके अतिरिक्त छोटे जलाशयों में वर्षा का पानी जमा करके उसे साल भर सिंचाई के काम मे लाने का भी प्रचलन है। लेकिन जब कभी वर्षा कम हो जाती है, तब उनका लाभ भी घट जाता है। नलकूप इस बात में विशेषता रखते है। वे वर्षा की मात्रा पर सर्वथा निर्भर नहीं होते और उनसे जल भी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो जाता है। सिंचाई कार्य चाहे बड़े हो अथवा छोटे, उनका आर्थिक समीक्षण करना अति आवश्यक रहता है। कोई भी सिंचाई कार्य तभी सफल हो सकता है, जब उसपर लगाई गई पूंजी पर राज्यकोष को यथानुकूल आय हो सके। अतएव किसी भी सिंचाई कार्य से प्राप्य जल द्वारा इतनी उपज बढ़ाई जानी चाहिए कि सिंचाई पर लगी पूँजी मे यथामात्रा आय हो सके और राज्यकोष को घाटा न उठाना पड़े।

इस दृष्टि से जल के समुचित उपयोग पर ध्यान देने की बड़ी आवश्यकता है। जल के दुरुपयोग को रोकने के लिये कृषि विभाग तथा सिंचाई विभाग आपस में सहयोग करके ऋतु और फसल के आवश्यकतानुसार जल प्रयोग करने की आदत का विकास करा सकते हैं।

आवश्यकता से अधिक मात्रा में पानी देने से कई बार लाभ के स्थान पर हानि हो जाती है। कभी कभी तो ऐसी भूमि इतनी जलमग्न हो जाती है कि वह कृषि के योग्य नहीं रह जाती। खेत को दिए गए जल का काफी बड़ा भाग रिसकर भूगर्भ में चला जाता है। अधिक जल के भूगर्भ में समाते रहने से भूगर्भ में संचित जल का तल ऊपर उठ जाता है जिसके कारण सींची हुई भूमि में खारापन बढ़ जाता है और उसकी उर्वरक शक्ति घट जाती है।

भूगर्भ के जल तल के ऊपर उठने से भूमि की उर्वरक शक्ति कम होने को 'सेम' लगना कहते हैं। इस रोग के लक्षण प्रकट होने पर खेतों में पानी की मात्रा तुरंत कम कर देनी चाहिए। इसके साथ ही ऐ प्रबंध किए जाने चाहिए जिनसे भूगर्भ के जल का स्तर फिर से नीचे गिर जाय। इसके लिये नलकूप बहुत लाभकारी रहते हैं। नलकूप भूगर्भ के जल को खींचकर भूमि पर सिंचाई के काम में तो लाते ही हैं, उनकी मदद से भूगर्भ का जलस्तर भी उचित स्थान पर स्थिर किया जा सकता है। सेम से बचाव के लिये सिंचाई के साथ साथ जलनिकासों की ओर भी पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। जलनिकास नालियां की गहराई और चौड़ाई इतनी रखी जाए कि उनमें होकर उस क्षेत्र का समस्त वर्षा का जल बह सके। इन नालियों की ढाल भी ठीक रहनी चाहिए ताकि उनमे जल रुके नही और बिना किसी रुकावट के किसी बड़ी नदी अथवा नाले आदि मे जा गिरे।

सिंचाई के लिये जल जुटाने में काफी धन एवं शक्ति लगती है। अतः जल की प्रत्येक बूँद कीमती होती है और उसकी हर प्रकार से रक्षा करना आवश्यक होता है।

जल की हानि के कारणो में पहला तो जल का सूर्य की गर्मी से भाप बनकर उड जाना है। इस हानि को कम किया जा सकता है। यदि सिंचाई के लिये जल ले जानेवाली नहरों की चौड़ाई घटा दी जाए और उनकी गहराई को कुछ अधिक कर दिया जाए, तो जल की यह हानि काफी कम हो जाती है क्योंकि उस अवस्था में सूर्य की किरणें जल के अपेक्षाकृत कम क्षेत्रफल पर पड़ती हैं।

जल की हानि का एक बड़ा दूसरा कारण जल का भूमि में रिस जाना है। यह हानि विशेष रूप से रेतीली और पथरीली भूमियों में अधिक होती है। इसकी रोकथाम के लिये नहरें पक्की बनाई जाती है। खेतो तक जानेवाली गूलो मे भी जल के रिसाव को कम करने के उद्देश्य से उनपर पलस्तर करने का चलन हो गया है।

उपलब्ध जलराशि के किफायती उपयोग के लिये कुछ नए तरीके भी ढूँढ गए हैं। इनमें फुहार रीति (sprinkle method) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस रीति में जल पाइपो में बहता हुआ घूमनेवाली सँकरे मुँह की टोंटियों से फुहार के रूप में बाहर निकलता है। फुहार रीति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें पौधों का विकास अच्छी तरह होता है। इसके अतिरिक्त इस रीति मे जल की बरबादी बिलकुल नही होती। न तो पानी के भाप बनकर उड़ जाने का डर रहता है और न ही नहरो आदि के द्वारा उसके भूमि में रिस जाने की संभावना रहती है। इस रीति का एक अन्य लाभ यह भी है कि इसमें द्रव रूप में कीटाणुनाशक ओषधियो को जल में मिलाकर फसलों को कीटाणुओं आदि से भी बचाया जा सकता है।

पश्चिमी देशों में तो यह रीति बहुत सफल हुई है। भारत में यह रीति कुछ अधिक खर्चीली होने के कारण अधिक प्रचलित नहीं हो पाई है। फिर भी कुछ स्थानों पर इसे सफलतापूर्वक अजमाया गया है। देहरादून के कुछ पहाड़ी क्षेत्रों में यह रीति ऊँचे पहाड़ी खेतों और गहरी घाटियों में अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

देश की अर्थव्यवस्था में 'सिंचित कृषि' का महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में हमारे देश की अर्थव्यवस्था का आधार ही कृषि है। अतः सिंचित भूखडों का इस प्रकार संचालन होना चाहिए कि उनके द्वारा उत्पादन अधिकतम हो सके। उत्पादन बढ़ाने के लिये वैज्ञानिक, आर्थिक, शासकीय, परिवहनीय एवं सामाजिक आदि जितने भी पहलू सामने आएँ, उनके ऊपर पूरा पूरा ध्यान दिया जाना आवश्यक हो जाता है।

इन तमाम बातों की समुचित व्यवस्था 'विस्तार सेवा' द्वारा हो सकती है और इस सेवा का संबंध प्रशासन एवं विश्वविद्यालयों से होना आवश्यक है। कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिये सिंचाई का सुचारु रूप से प्रबंध तथा प्रयोग आवश्यक है। सिंचाई के द्वारा कृषि उत्पादन को स्थिरता प्रदान की जा सकती है और उसके ऊपर आधारित उत्पादन पर समुचित रूप से कृषि योजनाओं को कार्यान्वित किया जा सकता है। अतएव सिंचाई का विषय हमारे जैसे कृषिप्रधान देशों के लिये बड़ा महत्वपूर्ण है। [बा० ना०]

सिंद (Sind) मध्यप्रदेश की नदी। इसकी लंबाई २५० मील है। मध्यप्रदेश में यह उत्तर पूर्व दिशा में बहती है और जगमानपुर के पास उत्तर प्रदेश में प्रविष्ट होती है और यहाँ से १० मील उत्तर में यह यमुना नदी से मिल जाती है। यह विदिशा जिले के नैनवास ग्राम में स्थित ताल से निकलती है जो समुद्रतल से १,७८० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। पार्वती, नन एव माहुर इसकी प्रमुख सहायक नदियाँ हैं। इस नदी में वर्षपर्यंत जल रहता है। वर्षा ऋतु में इसमे भयंकर बाढ़ आती है। चट्टानी किनारो के कारण यह नदी सिंचाई के उपयुक्त नहीं है। [अ० ना० मे०]

सिंदरी बिहार राज्य के धनबाद जिले में, धनबाद से १५ मील दक्षिण दामोदर नदी के तटपर झरिया कोयला क्षेत्र के निकट स्थित एक नगर है। इस नगर की प्रसिद्धि उर्वरक कारखाने के कारण है जिसमें अमोनियम सल्फेट और यूरिया का प्रतिदिन हजारों टन उर्वरक का निर्माण होता है। इस कारखाने मे १९५१ ई० से उर्वरक का उत्पादन हो रहा है। जिसमे ८ हजार से अधिक व्यक्ति, प्राविधिक और अप्राविधिक, प्रतिदिन काम करते हैं। इनके निवास के लिये भिन्न भिन्न किस्म के लगभग पाँच हजार क्वार्टर बने हुए हैं जिनके निर्माण में पाँच करोड़ से अधिक रुपया लगा है। कारखाने के लिये आवश्यक कोयला निकटवर्ती कोयला खानों से, पानी दामोदर नदी से और जिप्सम प्रदेश के बाहर से आता है। कच्चा माल लाने और तैयार माल बाहर भेजने के लिये मालगाडियाँ चलती हैं पर मुसाफिरों के लिये कोई मुसाफिर गाड़ी नही चलती। श्रमिको के लिये १०० शय्याओं का एक सुसज्जित अस्पताल बना है, उनकी देखभाल के लिये 'कल्याण केंद्र' खुला है। बालकों की शिक्षा के लिये अनेक पाठशालाएँ और विद्यालय खुले हुए हैं। कारखाने के पास एक सुंदर आधुनिक नगर बस गया है। नगर का प्राकृतिक दृश्य बड़ा मनोरम है। चारों ओर बड़े बड़े पेड़ लगाए गए हैं। सध्या को चारों तरफ बड़ी चहल पहल दिखलाई देती है।

सिंदरी में बिहार सरकार द्वारा स्थापित एक इंजीनियरिंग और टेक्नोलॉजी कालेज बिहार इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नोलॉजी

है जिसमें उच्चतम स्तर की इंजीनियरी, टेक्नोलॉजी, खनन और धातुकर्म की शिक्षा प्रदान की जाती है। यहाँ बिहार सरकार द्वारा स्थापित फास्फेट का एक कारखाना भी है। राष्ट्रीय कोयला-विकास निगम ने कोयले के अनुसंधान के लिये अनुसंधानशाला भी खोल रखी है, जिसमें कोयले का परीक्षण और कोयले पर अनुसंधान होता है। नगर की जनसंख्या ४१,३४६ (१९६१ ई०) है।

सिंध स्थिति : २८° २६' से २३° ३५' उ० अ० तथा ६५° ३० से ७१° १०' पू० दे०। यह क्षेत्र पश्चिमी पाकिस्तान में सिंध नदी की घाटी में स्थित है जो शुष्क तथा वर्षाहीन है। यहाँ की उपज तथा जनसंख्या सिंध नदी के कारण है। इस नदी में सक्खर स्थान पर एक बाँध बनाया गया है, जहाँ से दोनों किनारों पर सिंचाई के लिये नहरें निकाली गई हैं। अतः यहाँ गेहूँ, जौ, कपास, दलहन, धान, तिलहन और ईख की अच्छी फसलें होती हैं। शेष भाग में कहीं कहीं बाजरा और ज्वार होता है, नहीं तो सर्वत्र निम्न कोटि की घास या कँटीली झाड़ियाँ ही होती हैं, जहाँ लोग ऊँट तथा भेड़ बकरियाँ चराते हैं। कराँची, हैदराबाद, लरकाना, सक्खर, दादू और नवाबशाह मुख्य नगर हैं। जलवायु यहाँ विषम है। कराची उत्कृष्ट कोटि का बंदरगाह और अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डा है कुछ काल तक यह पाकिस्तान की राजधानी था। [रा० स० ख०]

सिंध (Indus) नदी या नद उत्तरी भारत की तीन बड़ी नदियों में से एक है। इसका उद्गम बृहद् हिमालय में मानसरोवर से ६२·५ मील उत्तर में सेंगेखबब (Senggekhabab) के स्रोतों में है। अपने उद्गम से निकलकर तिब्बती पठार की चौड़ी घाटी में से होकर, कश्मीर की सीमा को पारकर, दक्षिण पश्चिम में पाकिस्तान के रेगिस्तान और सिंचित भूभाग में बहती हुई, कराँची के दक्षिण मे अरब सागर में गिरती है। इसकी पूरी लंबाई लगभग २,००० मील है। बलतिस्तान (Baltistan) मे खाइताशो (Khaitassho) ग्राम के समीप यह जास्कार श्रेणी को पार करती हुई १०,००० फुट से अधिक गहरे महाखड्ड में, जो ससार के बड़े खड्डों मे से एक है, बहती है। जहाँ यह गिलगिट नदी से मिलती है, वहाँ पर यह वक्र बनाती हुई दक्षिण पश्चिम की ओर झुक जाती है। अटक में यह मैदान में पहुँचकर काबुल नदी से मिलता है। सिंध नदी पहले अपने वर्तमान मुहाने से ७० मील पूर्व मे स्थित कच्छ के रन में विलीन हो जाती थी, पर रन के भर जाने से नदी का मुहाना अब पश्चिम की ओर खिसक गया है।

झेलम, चिनाब, रावी, व्यास एवं सतलुज सिंध नदी की प्रमुख सहायक नदियाँ हैं। इनके अतिरिक्त गिलगिट, काबुल, स्वात, कुर्रम, टोची, गोमल, संगर आदि अन्य सहायक नदियाँ हैं। मार्च मे हिम के पिघलने के कारण इसमे अचानक भयंकर बाढ़ आ जाती है। बरसात में मानसून के कारण जल का स्तर ऊँचा रहता है। पर सितंबर में जलस्तर नीचा हो जाता है और जाड़े भर नीचा ही रहता है। सतलुज एवं सिंध के संगम के पास सिंध का जल बड़े पैमाने पर सिंचाई के लिये प्रयुक्त होता है। सन् १९३२ में सक्खर में सिंध नदी पर लॉयड बाँध बना है जिसके द्वारा ५० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की जाती है। जहाँ भी सिंध नदी का जल सिंचाई के लिये उपलब्ध है, वहाँ गेहूँ की खेती का स्थान प्रमुख है और इसके अतिरिक्त कपास एवं अन्य अनाजों की भी खेती होती है तथा ढोरों के लिये चरागाह हैं। हैदराबाद (सिंध) के आगे नदी ३,००० वर्ग मील का डेल्टा बनाती है। गाद और नदी के मार्ग परिवर्तन करने के कारण नदी मे नौसंचालन खतरनाक है। [अ० ना० मे०]

सिंधी भाषा सिंध प्रदेश की आधुनिक भारतीय आर्यभाषा जिसका संबंध पैशाची [दे०] नाम की प्राकृत और व्राचड [दे०] नाम की अपभ्रंश से जोड़ा जाता है। इन दोनों नामों से विदित होता है कि सिंधी के मूल मे अनार्य तत्व पहले से विद्यमान थे, भले ही वे आर्य प्रभावों के कारण गौण हो गए हों। सिंधी के पश्चिम मे बलोची, उत्तर मे लहँदी, पूर्व मे मारवाड़ी और दक्षिण में गुजराती का क्षेत्र है। यह बात उल्लेखनीय है कि इस्लामी शासनकाल मे सिंध और मुलतान (लहँदीभाषी) एक प्रांत रहा है, और १८४३ से १९३६ ई० तक सिंध बंबई प्रांत का एक भाग होने के नाते गुजराती के विशेष संपर्क में रहा है।

सिंध के तीन भौगोलिक भाग माने जाते हैं—१. सिरो (शिरोभाग), २. विचोलो (बीच का) और ३. लाड़ (सं० लाट प्रदेश, नीचे का)। सिरो की बोली सिराइकी कहलाती है जो उत्तरी सिंध मे खैरपुर, दादू, लाड़काणा और जेकबाबाद के जिलों में बोली जाती है। यहाँ बलोच और जाट जातियों की अधिकता है, इसलिये इसको बरोचिकी और जतिकी भी कहा जाता है। दक्षिण मे हैदराबाद और कराची जिलों की बोली लाड़ी है और इन दोनों के बीच मे विचोली का क्षेत्र है जो मीरपुर खास और उसके आसपास फैला हुआ है। विचोली सिंध की सामान्य और साहित्यिक भाषा है। सिंध के बाहर पूर्वी सीमा के आसपास थड़ेली, दक्षिणी सीमा पर कच्छी, और पश्चिमी सीमा पर लासी नाम की संमिश्रित बोलियाँ हैं। थड़ेली (थर = थल = मरुभूमि) जिला नवाबशाह और जोधपुर की सीमा तक व्याप्त है जिसमें मारवाड़ी और सिंधी का संमिश्रण है। कच्छी (कच्छ, काठियावाड़ में) गुजराती और सिंधी का एवं लासी (लासबेला, बलोचिस्तान के दक्षिण मे) बलोची और सिंधी का संमिश्रित रूप है। इन तीनों सीमावर्ती बोलियों मे प्रधान तत्व सिंधी ही का है। भारत के विभाजन के बाद इन बोलियों के क्षेत्रों मे सिंधियों के बस जाने के कारण सिंधी का प्राधान्य और बढ़ गया है। सिंधी भाषा का क्षेत्र ६५ हजार वर्ग मील और बोलनेवालों की संख्या ६५ लाख से कुछ ऊपर है।

सिंधी के सब शब्द स्वरांत होते हैं। इसकी ध्वनियों में ग, ज, ड, द और ब अतिरिक्त और विशिष्ट ध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में सवर्ण ध्वनियों के साथ ही स्वरतंत्र को नीचा करके काकल को बंद कर देना होता है जिससे द्वित्व का सा प्रभाव मिलता है। ये भेदक स्वनग्राम हैं। संस्कृत के त वर्ग+र के साथ मूर्धन्य ध्वनि आ गई है, जैसे पुट्र या पुटु (√पुत्र), मंड्र (√मंत्र), निंड (√निद्रा), डोह (√द्रोह)। संस्कृत का संयुक्त व्यंजन और प्राकृत का द्वित्व रूप सिंधी मे समान हो गया है किंतु उससे पहले का ह्रस्व स्वर दीर्घ नहीं होता जैसे बधु

(हिं० भात), जिभ (जिह्वा), खट (खट्वा, हिं० खाट), सुठो (√सुष्ठु)। प्राय: ऐसी स्थिति में दीर्घ स्वर भी ह्रस्व हो जाता है, जैसे डिघो (√दीर्घ), खिसी (√क्षीर्ष), तिको (√तीक्ष्ण)। जैसे म० दत्त: और सुप्त से दतो, सुतो बनते हैं, ऐसे ही सादृश्य के नियम के अनुसार कृत: से कीतो, पीत. से पीतो आदि रूप बन गए हैं यद्यपि मध्यग — त — का लोप हो चुका था। पश्चिमी भारतीय आर्यभाषाओं की तरह सिंधी ने भी महाप्राणत्व को सयत करने की प्रवृत्ति है जैसे साढा (√सार्ध, हिं० साढे), कानो (हिं० खाना), कुलण (हिं० खुलना), पुचा (स० पृच्छा)।

सज्ञाओं का वितरण इस प्रकार से पाया जाता है — अकारात सज्ञाएँ सदा स्त्रीलिंग होती हैं, जैसे खट (खाट), तार, जिभ (जीभ), बाँह, सूँह (शोभा); ओकारात सज्ञाएँ सदा पुल्लिंग होती हैं, जैसे घोडो, कुतो, महिनो (महीना), उपतो, ढूँहो (धूम); –आ,– इ और –ई में अत होनेवाली सज्ञाएँ बहुधा स्त्रीलिंग हैं, जैसे हवा, गरोला (खोज), मखि, राति, दिलि (दिल), दरी (खिड़की), घोड़ी, बिल्ली —अपवाद रूप से सेठि (सेठ), मिसिरि (मिसर), पखी, हाथी, साँइ और संस्कृत के शब्द राजा, दाता आदि पुंल्लिग हैं; –उ,–ऊ में अंत होनेवाले संज्ञापद प्राय. पुंलिंग हैं, जैसे किताबु, घरु, मुँहु, माण्हू (मनुष्य), रहाकू (रहनेवाला) — अपवाद हैं विजु (√विद्युत्), खडु (खाड), आबरू, गऊ। पुंलिंग से स्त्रीलिंग बनाने के लिये –इ,–ई, –णि और –आणी प्रत्यय लगाते हैं — कुकुरि (मुर्गी), छोकरि; भिर्की (चिड़िया), वकिरी, कुत्ती; धोबिणि, शीहणि, नोकिरियाणी, हाथ्याणी। लिंग दो ही है—स्त्रीलिंग और पुंलिंग। वचन भी दो ही हैं—एकवचन और बहुवचन। स्त्रीलिंग शब्दों का बहुवचन ऊँकारात होता है, जैसे जालूँ (स्त्रियाँ), खटूँ (चारपाइयाँ), दवाऊँ (दवाएँ) अख्यूँ (आँखें)। पुंलिंग के बहुरूप में वैविध्य है। ओकारांत शब्द आकारात हो जाते हैं—घोड़ो से घोडा, कपड़ो से कपडा आदि, उकारात शब्द अकारात हो जाते हैं — घरु से घर, वणु (वृक्ष) से वण, इकारात शब्दों में — ऊँ बढाया जाता है, जैसे मेड़्यूँ। ईकारात और ऊकारात शब्द वैसे ही बने रहते हैं।

संज्ञाओं के कारकीय रूप परसर्गों के योग से बनते हैं—कर्ता— •, कर्म—के, खे; करण—साँ, सप्रदान—के, खे, लाइ, अपादान— काँ, खाँ, ताँ (पर से), माँ (में से); संबंध—पु० एकव० जो, बहुव० जा, स्त्रीलिंग एकव० जी. बहुव० जूँ, अधिकरण—में, ते(पर)। कुछ पद अपादान और अधिकरण कारक मे विभक्त्यत मिलते हैं—गोठूँ (गाँव से), घरूँ (घर से), घरि (घर मे), पटि (जमीन पर), वेलि (समय पर)। बहुव० में संज्ञा के तिर्यक् रूप –उनि प्रत्यय (तुलना कीजिए हिंदी–ओं) से बनता है—छोकयुँनि, दवाउनि, राजाउनि, इत्यादि।

सर्वनामों की सूची मात्र से इनकी प्रकृति को जाना जा सकेगा— १. माँ, आऊँ (मैं), असी (हम); तिर्यक् क्रमश: मूँ तथा असाँ; २ तूँ; तव्हीं, अव्हीं (तुम); तिर्यक् रूप तो, तव्हाँ; ३. पुं० हू अथवा ऊ (वह, वे), तिर्यक् रूप हुन, हुननि; स्त्री० हुम, हु, तिर्यक् रूप उहो, उहे; पुं० ही अथवा हीअ (यह, ये), तिर्यक् रूप हिन, हिननि; स्त्री० इहो, इहे, तिर्यक् रूप इन्हे। इहो (यही), उहो (वही), बहुव० इहे, उहे; जो, जे (हिं० जो); छा, कुजाड़ो (क्या); केरु, कहिड़ो (कौन); को (कोई); की, कुझु (कुछ); पाण (आप, खुद)। विशेषणों में ओकारांत शब्द विशेष्य के लिंग, कारक के तिर्यक् रूप, और वचन के अनुरूप बदलते हैं, जैसे सुठो छोकरो, सुठा छोकरा, सुठी छोकरी, सुठ्युनि छोकयुँनि खे। शेष विशेषण अविकारी रहते हैं। सख्यावाची विशेषणों मे अधिकतर को हिंदीभाषी सहज मे पहचान सकते हैं। ब (दो), टे (तीन), डाह (दस), अरिदह (१८), वीह (२०), टीह (३०), पंजाह (५०), साढा डाह (१०॥), वीणो (दूना), टीणो (तिगुना), सजो (सारा), समूंो (समूचा) आदि कुछ शब्द निराले जान पड़ते हैं।

सज्ञार्थक क्रिया — णुकारांत होती है—हलणु (चलना), बधणु (बाँधना), टपणु (फाँदना) घुमणु, खाइणु, करणु, अचणु (आना,) वञणु (जाना), विहणु (बैठना) इत्यादि। कर्मवाच्य प्रायः धातु में-इज- या -ईज (प्राकृत √अज्ज) जोड़कर बनता है, जैसे मारिजे (मारा जाता है), पिटिजनु (पीटा जाना); अथवा हिंदी की तरह वञणु (जाना) के साथ सयुक्त क्रिया बनाकर प्रयुक्त होता है, जैसे मारयो वञे थो (मारा जाता है)। प्रेरणार्थक क्रिया की दो स्थितियाँ हैं—लिखाइणु (लिखना), लिखराइणु (लिखवाना); कमाइणु (कमाना), कमाराइणु (कमवाना), कृदतों मे वर्तमानकालिक— हुलंदो (हिलता), भजदो (टूटता)— और भूतकालिक—बच्युलु (बचा), मार्युलु (मारा)—लिंग और वचन के अनुसार विकारी होते हैं। वर्तमानकालिक कृदत भविष्यन् काल के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। हिंदी की तरह कृदतों में सहायक क्रिया (वर्तमान आहे, था; भूत हो, भविष्यत् हुंदो आदि) के योग से अनेक क्रियारूप सिद्ध होते हैं। पूर्वकालिक कृदत धातु में-इ या -ई लगाकर बनाया जाता है, जैसे खाई (खाकर), लिखी (लिखकर), विधिलिङ् और आज्ञार्थक क्रिया के रूप सस्कृत प्राकृत से विकसित हुए हैं—माँ हलाँ (मैं चलूँ), असी हलूँ (हम चले), तूँ हलीं (तू चले), तूँ हल (तू चल), तव्हो हलो (तुम चलो); हू हले, हू हलीन। इनमे भी सहायक क्रिया जोडकर रूप बनते है। हिंदी की तरह सिंधी में भी संयुक्त क्रियाएँ पवणु (पड़ना), रहणु (रहना), वठणु (लेना), विझणु (डालना), छदणु (छोड़ना), सघणु (सकना) आदि के योग से बनती हैं।

सिंधी की एक बहुत बड़ी विशेषता है उसके सार्वनामिक प्रत्यय जो सज्ञा और क्रिया के साथ सयुक्त किए जाते हैं, जैसे पुट्रऊँ (हमारा लड़का), भाुसि (उसका भाई), भाउरनि (उनके भाई); चयुमि (मैंने कहा), हुजेई (तुझे हो), मारियाई (उसने उसको मारा), मारियाईमि (उसने मुझको मारा)। सिंधी अव्यय सख्या मे बहुत अधिक हैं। सिंधी के शब्दभंडार में अरबी-फारसी-तत्व अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा अधिक हैं। सिंधी और हिंदी की वाक्यरचना, पदक्रम और अन्वय में कोई विशेष अतर नहीं है।

सिंधीलिपि — एक शताब्दी से कुछ पूर्व तक सिंधी मे चार लिपियाँ प्रचलित थी। हिंदू पुरुष देवनागरी का, हिंदू स्त्रियाँ प्राय: गुरुमुखी का, व्यापारी लोग (हिंदू मुसलमान दोनों) 'हटवाणिको' का (जिसे सिंधी लिपि भी कहते है), और मुसलमान तथा सरकारी कर्मचारी अरबी फारसी लिपि का प्रयोग करते थे। सन् १८५३ ई० में

ईस्ट इंडिया कंपनी के निर्णयानुसार लिपि का स्थिरीकरण करने के लिये सिंध के कमिश्नर मिस्टर एलिस की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने अरबी फारसी-उर्दू लिपियों के आधार पर 'अरबी सिंधी' लिपि की स्थापना की। सिंधी ध्वनियों के लिये सवर्ण अक्षरों में अतिरिक्त बिंदु लगाकर नए अक्षर जोड़ लिए गए। अब यह लिपि सभी वर्गों द्वारा व्यवहृत होती है। इधर भारत के सिंधी लोग नागरी लिपि को सफलतापूर्वक अपना रहे हैं; किंतु यहाँ भी व्यापक रूप से 'अरबी-सिंधी' ही चलती है। इसके ५१ अक्षर हैं जिनमें अधिकतर का रूप आदि, मध्य और अंत में भिन्न भिन्न होता है। स्वरों की मात्राएँ अनिवार्य न होने के कारण एक ही शब्द के कई उच्चारण हो जाते हैं।

सिंधी साहित्य — सिंधी साहित्य का प्रारंभ काव्य से होता है। अंग्रेजी राज्यकाल से पहले यही उस साहित्य का एकमात्र रूप रहा है और आज भी इसकी सत्ता का प्राधान्य है। सिंधी कविता मुख्यत: सूफी फकीरों की कविता है जिसका सबसे बड़ा गुण यह है कि वह सांप्रदायिकता से मुक्त है—किसी प्रकार का कट्टरपन उसमें नहीं है। कोई कोई कवि तो अपने को 'गोपी' और परमात्मा को 'कृष्ण' कहकर अपनी भावाभिव्यक्ति करते हैं। वे ईश्वर को पिता और मनुष्यमात्र को अपना भाई मानते हैं। उनका ध्येय है परमात्मा में लीनता, किरण की सूर्य की ओर वापस यात्रा अथवा बिंदु और सिंधु की एकाकारिता जिससे मैं, तू और वह का भेद नहीं रहता। पहले दोहे और सलोक लिखे जाते रहे, ब्रिटिश राज्य से कसीदों, गजलों, मसनवियों और रुबाइयों की प्रधानता होने लगी। इससे पहले थोड़ी सी लौकिक कविताएँ कसीदे और मर्सिए के रूप में प्राप्त थीं। पिछले सौ वर्षों से काव्य में सांप्रदायिकता और संकीर्णता बढ़ती गई—हिंदू मुसलिम विचारधाराओं को समन्वित करने की बात नहीं रही। साहित्यिक भाईचारा नहीं रहा। अब तो सिंध पाकिस्तान का एक भाग हो गया है।

सिंधी के कुछ पुराने दोहे अरबी फारसी इतिहासग्रंथों में मिल जाते हैं, किंतु सिंधी की प्रथम कृति 'दोदे चनेसर' (रचनाकाल १३१२ ई०) मानी जाती है। उपलब्ध वीर प्रबंध काव्य खंडित और अपूर्ण अवस्था में है। दोदा और चनेसर दो भाई थे जिनमें सूमगर के सिंहासन के लिये युद्ध हो गया। इस युद्ध मे सिंध के सब कबीले और सरदार सम्मिलित हुए। तत्कालीन सिंधियों के रीति-रिवाज, कबायली संगठन और अन्य आर्थिक तथा सामाजिक स्थितियों का इस किस्से से परिचय मिल जाता है। छंद दोहा है। १४वीं शती के अंत में शेख हमाद बिन रशीदुद्दीन जमाली और शेख इसहाक आहनगर नाम के दो सूफी कवियों के कुछ फुटकर पद्य मिलते हैं। १५वीं शती के अंत में मामुई (ठठ के निकट एक संस्थान) के सूफी दरवेशों के सात पद्य उपलब्ध होते हैं जिनमें सिंध पर आनेवाली विपत्ति की भविष्यवाणी की गई है। १६वीं शती के दोहाकारों में मखदूम अहमद भट्टी, काजी काजन (मृत्यु १५५१ ई०), मखदूम नूह हालाकंडी और शाह अब्दुल करीम (१५३८-१६२३ ई०) के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सब सूफी फकीर थे अहमद के मुक्तकों में लौकिक प्रेम की तीव्रता है। काजन प्रेमोन्मत्त कवि थे। इनका कहना है कि प्रिय के दर्शन के बिना गुणगण (पवित्रता, सौंदर्य और विद्वत्ता आदि) सब व्यर्थ हैं। बाह्य गुण हमें नरक में खींच ले जा सकते हैं, किंतु प्रेम में एक दिव्य शक्ति है। इनके दोहों की भाषा अधिक परिष्कृत और प्रांजल है। नूह के दोहों में विरह की गहराई और कल्पना की ऊँचाई है। शाह करीम के ९४ दोहे प्राप्त हैं। इनमें प्रेमसाधना, तपश्चर्या और आत्मसमर्पण पर बल दिया गया है— 'मात्र इच्छा और कामना से प्रेम की प्राप्ति नहीं हो जाती और न ही प्रार्थनाएँ काम देती हैं जब तक कि काली रातों को जाग जागकर आँखों से खून की नदियाँ न बहाई जाएँ।' १७वीं शताब्दी के एक सूफी कवि उस्मान एहसानी का 'वतननामा' (१६४६ ई०) उपलब्ध है। आप इस जगत् को अपना देश नहीं मानते — यह तो रैन बसेरा है। अपना देश वही है जहाँ से हम आए हैं और जहाँ चले जाना है। इस जगत् के अस्थायी घरौंदे से जी न लगा। उठ, यात्रा की तैयारी कर, तुझे इस पड़ाव में नहीं पड़े रहना है।

१८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध सिंधी साहित्य का स्वर्णयुग कहलाता है। इस समय शाह इनायत, शाह लतीफ, मखदूम मुहम्मद जमान, मखदूम अब्दुल हसन, पीर मुहम्मद बका आदि बड़े बड़े कवि हुए हैं। ये सब के सब सूफी थे। इन लोगों ने सिंधी काव्य मे नए छंदों, नई विधाओं और गंभीर दार्शनिक विचारों का प्रवर्तन किया। सिंधी मसनवियों और काफियों के रूप में तसव्वुफ का भारतीकरण यहीं से आरंभ होता है। शाह इनायत ने 'उम्र मारुई', 'मोमल मेंधर', 'लीला चनेसर' तथा 'जाम तमाची और नूरी' नाम के किस्सों के अतिरिक्त मुक्तक दोहे और 'सुर' लिखे। इनका प्रकृतिवर्णन विशद और कलापूर्ण है और इनके उपमान मौलिक और अनूठे हैं। शाह लतीफ (१६८९-१७५२ ई०) सिंधी के सबसे बड़े और लोकप्रिय कवि माने गए हैं। इन्होंने नए विचार, नए विषय, नई कल्पनाएँ और नई शैलियाँ देकर सिंधी भाषा और साहित्य को समुन्नत किया। इनका 'रिसालो' सिंधी की मूल्यवान् निधि है। इसमें प्रबंधात्मक कथाएँ भी हैं, मुक्तक कविताएँ भी; इतिवृत्तात्मक और वर्णनात्मक छंद भी हैं और भावपूर्ण गीत भी; प्रेम की कोमलकांत अभिव्यक्ति भी है और युद्ध का यथातथ्य चित्रण भी; हिंदू वेदांत भी है, इस्लामी तसव्वुफ भी। इसमें प्रभुभक्ति के साथ देशभक्ति भी है। कवि को प्रकृति के सुंदर असुंदर सभी पक्षों से प्यार है; साथ ही वे मानव से गहरी सहानुभूति रखते हैं। कहानियों का रूप लौकिक है, किंतु अर्थ मे आध्यात्मिक अभिव्यंजना है। वे प्रमुखत: रहस्यवादी कवि हैं। खाजा मुहम्मद जमान बड़े विद्वान् कवि थे। उनके ८४ दोहे प्राप्त हैं जिनमे अपने 'सज्जन' के प्रति अनन्य भक्ति और आत्मविस्मृति के भाव प्रगट हुए हैं। मियाँ अबुल हसन के काव्य में इस्लामी सिद्धांतों की व्याख्या हुई है। बका के विरहगीत प्रभावपूर्ण, काव्यात्मक और रससिक्त हैं। उत्तरार्ध के कवियों में शाह इनायत के शिष्य रोहल फकीर (मृत्यु सन् १७८२) प्रसिद्ध हैं। इनके चार बेटे भी कवि थे।

टालपुरी शीया नवाबों के राज्यकाल (सन् १७८३ से १८४३) में सिंधी साहित्य ने एक नया मोड़ लिया। पिछले युग में प्रेमकथाओं का खंड रूप प्रस्तुत हुआ था, अब पूरी दास्तानें लिखी जाने लगीं।

सिंधुघाटी की संस्कृति (देखें पृष्ठ ७१)

आभूषण

नर्तकी

आभूषण

नग्न पुरुषप्रतिमा

सिंधुघाटी की संस्कृति (देखें पृष्ठ ७१)

मातृदेवी की प्रतिमा (विशिष्ट शिरोभूषा)

पहिएवाली गाड़ी

मिट्टी का पात्र

सिंधुघाटी की संस्कृति (देखें पृष्ठ ७१)

सड़क

शिव पार्वती के प्रतीक लिंग और योनि

सिंधुघाटी की संस्कृति (देखें पृष्ठ ७१)

मुद्राएँ

मुहरें

मातृदेवी की मृण्मूर्तियाँ

शवागार
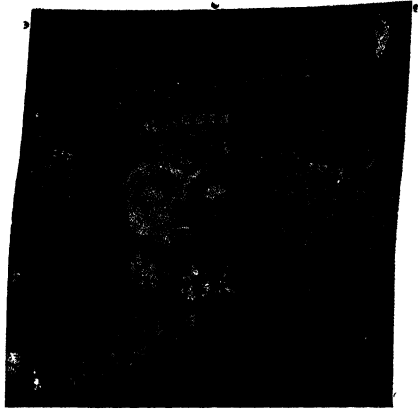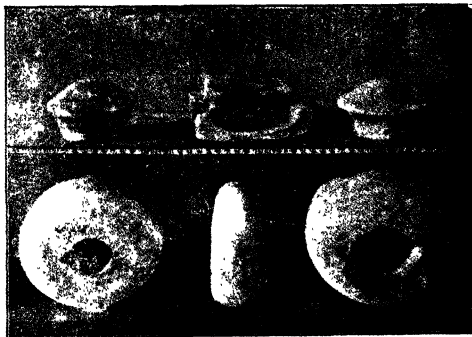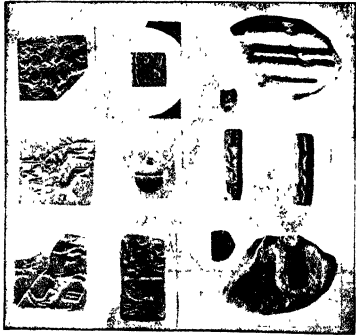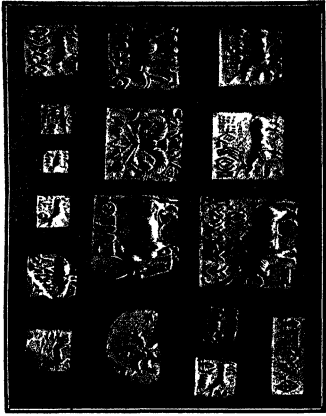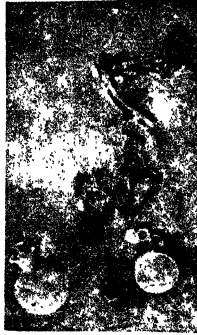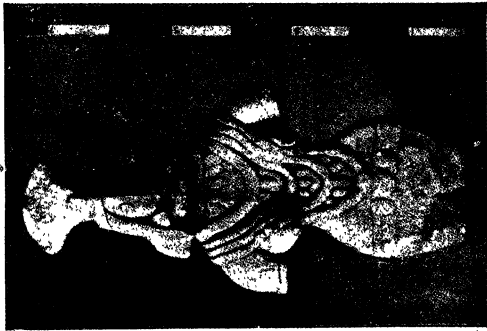
सिंधुघाटी की संस्कृति (देखे पृष्ठ ७१)

मातृदेवी की प्रतिमा

पुरोहित

सिंधुघाटी की संस्कृति (देखें पृष्ठ ७१)
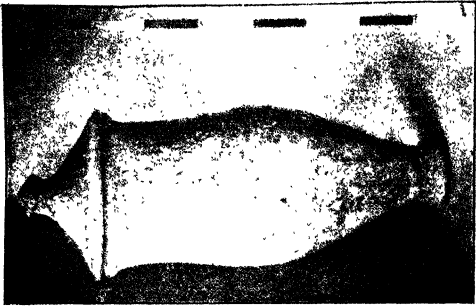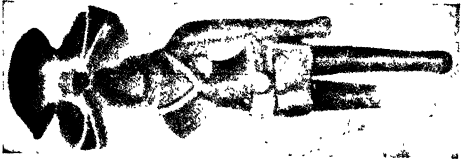
सिंधुघाटी की संस्कृति (देखें पृष्ठ ७१)

शिरोवस्त्र तथा आभूषणयुक्त

नग्न पुरुष मृण्मूर्तियाँ

चाँदी का कलश

शौचालय

भवन के अंदर कूप

शिवाजी भोंसले (देखें पृष्ठ ४१६)

महाराज रणजीत सिंह (देखें पृष्ठ ४२५)

शाहंशाह हुमायूँ (देखें पृष्ठ ३८१)

शेरशाह सूरी (देखें पृष्ठ १६३)

वारेन हेस्टिंग्ज़ (देखें पृष्ठ ३१५)
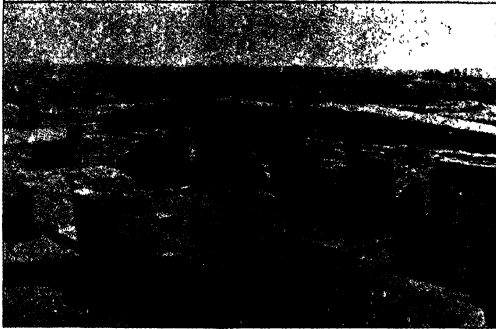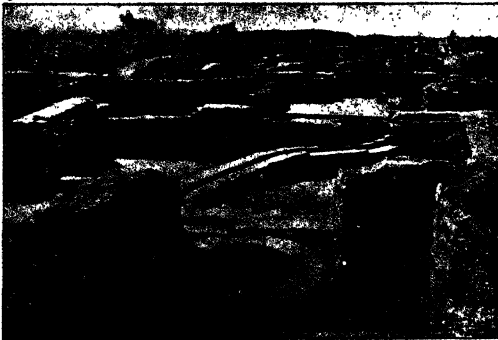
दोहा का प्राधान्य कम हुआ, काफियाँ, कसीदे और मर्सिए अधिक संख्या में लिखे जाने लगे। गजलों का प्रारंभ हुआ। गद्य का रूप भी स्पष्ट होने लगा। इस युग के सबसे प्रसिद्ध कवि सचल उपनाम 'सरमस्त' (१७३९–१८२६) थे जिन्हें सूफी संतों में बड़े आदर के साथ स्मरण किया जाता है। उनकी सी मधुर गीतियाँ और रसीली काफियाँ बहुत कम कवियों ने लिखी हैं। वे प्रेमी भक्त के लिये बाह्याचार और लोकाचार ही को नहीं, ज्ञान और कर्मकांड को भी व्यर्थ समझते हैं। हफीज का 'मोमल राना' और हाजी अब्दुल्लाह का 'लैला मजनूँ' उल्लेखनीय किस्से हैं। साबित अली शाह के मर्सिए आज भी मुहर्रम के दिनों में गाए जाते हैं। हिंदू कवियों में दीवान दलपत राय (मृत्यु सन् १८४१), और सामी (१७४३–१८५०) जिनका पूरा नाम भाई चैन राय था, वेदांती कवि थे। इस युग के अन्य कवियों में साहबडना, अली गोहर, आरिफ, करम उल्लाह, फतह मुहम्मद और नबी बख्श के नाम उल्लेखनीय हैं।

अंग्रेजी राज्यकाल (१८४३ से १९४७ ई०) में सिंधी में काव्य तो बहुत लिखा गया है, किंतु उसका स्तर ऊँचा नहीं है। सिंधी जनता से उसका संबंध विच्छिन्न सा हो गया है और वह उर्दू फारसी कल्पनाओं, आख्यानों, भावों, विधाओं, रूपों और उपमानों को सिंधी वेश में लाने में प्रवृत्त हो गया। काव्य में स्वच्छंदता तो है और विषयों की विविधता भी, किंतु मौलिकता बहुत कम है। इसपर पश्चिमी प्रभाव भी पड़ा है। इधर जो सिंधी में काव्यरचना देश के बँटवारे के बाद भारत में हुई है उसपर हिंदी और बंगला का प्रभाव भी स्पष्ट है। पुराने ढंग की कविता करनेवालों में सूफी कवि कादर बख्श बेदिल (१८१४-१८७३ ई०) ने किस्से और काफी, वाई, बैत और सुर आदि मुक्तक लिखे, और हमल फकीर लगारी (१८१५-१८७९ ई०) ने सिराइकी और विचोली में प्रेममार्गी काव्य की रचना की। लगारी का हीर राँझे का किस्सा बहुत प्रसिद्ध है। ये पंजाब के रहनेवाले थे, खैरपुर में आकर बस गए थे। इन्होंने दोहे भी लिखे। शाह लतीफ के बाद इनका स्थान निश्चित किया जाता है। सैयद महमूद शाह की काफियाँ भी पुरानी शैली की हैं। उर्दू-फारसी-ढंग पर लिखनेवालों में अनेक नाम मिलते हैं। खलीफा गुल मोहम्मद (मृत्यु १८५६) ने फारसी छंदों और आदर्शों को अपनाया और सिंधी में लैला मजनूँ, यूसुफ जुलैखा, शीरीं फरहाद की कथाएँ लिखीं। नूर मोहम्मद और मोहम्मद हाशिम ने 'हिजो' (निंदात्मक कविताएँ) लिखी और कलीच बेग और अबदुल हुसैन ने कसीदे (प्रशस्तियाँ) लिखे। कलीच बेग (मृत्यु १९२९) ने उमरखय्याम का अनुवाद सिंधी पद्य में किया। नवाब मीर हसन अली खाँ (१८२४–१९०९) ने फिरदौसी के 'शाहनामा' की नकल पर 'शाहनामा सिंध' की रचना की। उन्होंने गजलें, सलाम और कसीदे भी लिखे। इनके अतिरिक्त सांगी, खाकी (लीलाराम सिंह), बेकस (बेदिल के पुत्र), जीवत सिंह और मुराद के नाम उल्लेखनीय हैं। पश्चिमी साहित्य से प्रभावित होकर लिखनेवालों में डेवनदास, दयाराम, गिदूमल, नारायण श्याम, मघाराम मलकाणी तथा टी० एल० वसवाणी उल्लेखनीय हैं। मौलिक ढंग से कविता करनेवालों में कुछ नाम गिनाए जा सकते हैं। शम्सुद्दीन बुलबुल का सिंधी काव्य में वही स्थान है जो उर्दू में अकबर इलाहाबादी का। नई सभ्यता पर इनके व्यंग्य भी सुधारात्मक वृत्ति से लिखे गए हैं। इन्होंने गजलें भी लिखीं। करुण रस गुलाम शाह की कविता में भरा पड़ा है। इन्हें 'आँसुओं का बादशाह' कहा जाता है। हैदरबख्श जतोई की कविता में देशभक्ति ओतप्रोत है। सिंधु नदी के प्रति उनकी कविता बहुत प्रसिद्ध हुई है। खेलराज अजीज प्रकृति के चित्रकार हैं। मास्टर किशनचंद बेवस (मृत्यु १९४७) अत्यंत स्वाभाविक भाषा में लिखते रहे हैं। उनके दो कवितासंग्रह—शीरीं शीर और गंगाजूं लहरूं—प्रकाशित हैं। इनके शिष्यों में हरि दिलगीर ('कौड' के लेखक), हूंदराज दुखायल ('संगीत, फूल' के कवि), राम पंजवाणी तथा गोविंद भटिया आज प्रगतिशील कवियों में गिने जाते हैं। जीवित कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध शेख अय्याज हैं जिनके गीत 'बागी' नाम के संग्रह में प्रकाशित हुए हैं।

सन् १९०२ के पहले का कोई नाटक उपलब्ध नहीं है। तब से शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद अथवा रामायण और महाभारत की किन्हीं घटनाओं के आधार पर लिखे गए नाटक मिलने लगते हैं। शाह (लतीफ) की कविता के आधार पर लालचंद अमरडिनूमल का लिखा हुआ 'उमर मारुई' सबसे पहला सफल नाटक माना जाता है। कवि कलीच बेग का 'खुरशीद' नाटक (१८७०) पठनीय है। उसाणी का 'बदनसीब थरी' एक प्रहसन है। लीलाराम सिंह के नाटक अपनी भाषा और शिल्पशैली की दृष्टि से बहुत सुंदर हैं। दयाराम गिदूमल का 'सच्च सहेल्यू' और राम पंजवाणी का 'मूमल राणो' अभिनेय नाटक हैं। वर्तमान समय में सबसे प्रसिद्ध नाटककार मंघाराम मलकाणी हैं जिन्होंने कई सामाजिक नाटक और एकांकी लिखे हैं। आप निबंधकार और कवि भी हैं।

अधिकतर गद्य साहित्य अनुवाद रूप में प्राप्त है। मौलिक लेखकों में मिर्जा कलीच बेग और कौडोमल चंदनमल (मृत्यु १९१६) गद्य के प्रवर्तकों में गिने जाते हैं। मिर्जा ने लगभग २०० पुस्तकें लिखी हैं। उनका 'जीनत' (१८९०) सिंधी का पहला मौलिक उपन्यास है जिसमें सिंधी जीवन का यथातथ्य चित्रण मिलता है। प्रीतमदास कृत 'अजीब भेंट', आसानंद कृत 'शायर', भोजराजकृत 'दादा श्याम' (आत्मकथा की शैली में), और नारायण भंभाणी का 'विधवा' उल्लेखनीय हैं। परमानंद मेवाराम अपनी रसीली और यथार्थवादी कहानियों, निर्मलदास फतहचंद और जेठमल परसराम प्रगतिवादी कहानियों तथा भेरूमल मेहरचंद जासूसी कहानियों के कारण विख्यात हैं। वर्तमान समय में सुंदरी उत्तमचंदानी और आनंद गोलवाणी अच्छे कहानीलेखक माने जाते हैं। परमानंद मेवाराम निबंधकार भी हैं। लुत्फउल्लाह कुरैशी, लालचंद अमरडिनूमल, नारायणदास मलकाणी, केवलराम सलामतराय अडवाणी और परसराम की गिनती सिंधी के आधुनिक शैलीकारों में की जाती है।

सं० ग्रं० — सीपूर, एल० डब्ल्यू० : ए ग्रामर आव सिंधी लैंग्वेज, कराची, १८८४; ट्रंप, डॉ० अर्नेस्ट : ग्रामर आव सिंधी लैंग्वेज, लंदन ऐंड लाइपजिग, १८७२। [ह० बा०]

सिंधु घाटी की संस्कृति भारतीय अनुसंधान में सन् १९२०-२२ का एक विशेष महत्व है। इसी समय भारत पाकिस्तान उपमहाद्वीप के उत्तर पश्चिमी भाग में कांस्ययुग की एक महान् संस्कृति के

अवशेषों की उपलब्धि हुई, जिसे सिंधु घाटी की संस्कृति के नाम से जाना जाता है। इस संस्कृति के विशद स्थल सिंधु के लरकाना जिला स्थित मोहेंजोदड़ो तथा पंजाब के मोंटगुमरी जिला स्थित हड़प्पा में पाए गए। इनके अतिरिक्त, मकरान में, अरब सागर के तट पर सुतकेनजेनडोर और सोक्ताकोह, बलूचिस्तान में डाबरकोट, नोकजो-शाहदिनजाय तथा समस्त सिंधु की घाटी में इस संस्कृति के अनेकानेक स्थल मिले हैं, जिनमें चन्हूदड़ो, लाहुमजोदड़ो आमरी, पंडोवाही, अलीमुराद, मार्जीशाह आदि उल्लेखनीय हैं, तत्कालीन अनुसंधान की दृष्टि से यह संस्कृति सिंधु घाटी ही में सीमित थी। परंतु जब सन् १९४७ में देश का विभाजन हुआ तो उस समय इस संस्कृति के सभी स्थल पाकिस्तान के अंतर्गत आ गए, तत्पश्चात् भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं के सतत प्रयास, अन्वेषण और उत्खनन के परिणामस्वरूप यह सिद्ध हो गया कि इस संस्कृति का क्षेत्र न केवल सिंधु-घाटी तक ही सीमित था वरन् पूर्व में उत्तर प्रदेश की गंगा-यमुना-घाटी में जिला मेरठ स्थित आलमगीरपुर तक, उत्तर में शिवालिक पहाड़ियों के नीचे जिला अंबाला में स्थित रूपड़ तथा दक्षिण में नर्मदा ताप्ती के बीच के क्षेत्र में बहनेवाली किम नदी के किनारे स्थित भगतराव पर्यंत था। इसके विस्तारक्षेत्र में उत्तर पश्चिमी राजस्थान में घग्गर (*प्राचीन सरस्वती*) का क्षेत्र तथा समस्त कच्छ और सौराष्ट्र सम्मिलित थे। इस संस्कृति का क्षेत्र अब २,१७,५५७ वर्ग किलोमीटर ज्ञात होता है, कतिपय विद्वानों का मत है कि इतना विस्तृत क्षेत्र हो जाने के नाते इसको संकुचित रूप से सिंधु संस्कृति न कहकर 'हड़प्पा संस्कृति' कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इस संस्कृति के सभी सांस्कृतिक उपकरण हड़प्पा में ही सर्वप्रथम उपलब्ध हुए। कदाचित् हड़प्पा संस्कृति को आद्य-इतिहास-युग की एक महान् सभ्यता कहना अनुपयुक्त न होगा क्योंकि भारत पाक उपमहाद्वीप में इसका विस्तार मिस्र की नील घाटी की सभ्यता अथवा ईराक की दजला-फरात-घाटी की समकालीन सभ्यता के क्षेत्र से कहीं अधिक विशाल था।

ईसा पूर्व तृतीय सहस्राब्द में हड़प्पा संस्कृति सिंधु घाटी में संपूर्ण रूप से परिपक्व एवं विकसित उपलब्ध होती है। परंतु इसकी उत्पत्ति एवं शैशव का ज्ञान अभी तक पूर्ण रूप से नहीं हो पाया है। पुरातत्ववेत्ता इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिये अनवरत प्रयत्नशील हैं। कुल्ली तथा नाल सभ्यता के कुछ उपकरण, मोहेंजोदड़ो के उत्खनन में कुछ गहरी परतों से मिले, क्वेटा आदि मृत्पात्र (क्वेटा वेट वेयर), हड़प्पा में कोट प्रकार पूर्व के कुछ मृत्पात्र जिनमें लाल रंग के ऊपर चौड़ी काली पट्टी बनी है जिनका साम्य पैरियानो घुंडाई के मृत्पात्रों से होता है, कोटडीजी (सिंध) से प्राक् हड़प्पा युग की परतों के मिट्टी के पात्र तथा राजस्थान में गंगानगर में कालीबंगन के हड़प्पा पूर्व के अवशेषों से प्राप्त मिट्टी के पात्र तथा तत्साम्य के सोठी से प्राप्त मृत्पात्र, इस संस्कृति के कतिपय सांस्कृतिक उपकरणों के उद्गम एवं उत्पत्ति की ओर अवश्य संकेत करते हैं परंतु निश्चित रूप से सर्वांगरूपेण इस महान् संस्कृति की उत्पत्ति के विषय में अभी अधिक अन्वेषण और उत्खनन की आवश्यकता है।

हड़प्पा सभ्यता की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। जहाँ कहीं भी इस संस्कृति के अवशेष मिले हैं वहाँ कुछ आधारभूत सांस्कृतिक उपकरणों का अधिक या कम मात्रा में सामंजस्य है जिससे इस सभ्यता की सार्वभौम प्रकृति का पता चलता है परंतु कतिपय क्षेत्र-रूपांतर भी पाया गया है जिससे ज्ञात होता है कि सिंधु संस्कृति रूढ़िगत होते हुए भी जब अन्य प्रदेशों में फैली तो इसमें उन क्षेत्रों के सांस्कृतिक उपकरणों का समावेश हो गया जिससे इसके गतिशील होने का परिचय मिलता है, हड़प्पा संस्कृति के आधारभूत सांस्कृतिक उपकरण निम्न हैं —

१. मुद्राएँ और मुद्राछापें, जिनमें पशुओं की आकृति और चित्र-संकेत-लिपि है,
२. बिल्लौर (चर्ट) के लंबे फाल (ब्लेड), पत्थर के तौल।
३. मिट्टी के लाल रंग के पात्र जिनमें काले रंग से नैसर्गिक एवं ज्यामितिक चित्र बने हैं। इनके मुख्य मिट्टी के बर्तनों के प्रकार में डिश-ऑन-स्टेंड, गोबलेट, बीकर, परफोरेटेड जार है।
४. ताम्र और काँसे का प्रयोग।
५. विशद नगर नियोजन, कोट प्रकार तथा प्रमाप परिमाण की ईंटें।
६. पकी मिट्टी के खिलौने, मृच्छकटिकों के चोरवटें तथा मातृ-देवी का प्रतिमाएँ।
७. पकी मिट्टी के तिकोने केक।
८. इंद्रगोप (कारनेलियन) के लंबे मनके, फेंस, स्टीऐटाइट के मनके।
९. धान्यागार।
१०. गेहूँ और कपास का प्रयोग।
११. मृतकों को गाड़ने की विशेष प्रथा तथा श्मशान भूमियाँ।

अब प्रश्न उठता है कि इस सभ्यता का विशद विस्तार क्यों हुआ? यह संस्कृति सिंधु घाटी में ही सीमित न रहकर पूर्व में और दक्षिण पश्चिम की ओर क्यों फैली? कदाचित् इसका कारण आर्थिक, प्राकृतिक एवं आक्रमण हो सकते हैं परंतु अभी स्थिति स्पष्ट नहीं है। किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस संस्कृति का विस्तार मुख्यत दो दिशाओं में हुआ, एक तो हड़प्पा की ओर से उत्तर, पूर्व, दक्षिण में स्थल और नदियों के मार्ग से और दूसरा मोहेंजोदड़ो की तरफ से समुद्री मार्ग द्वारा कच्छ और सौराष्ट्र की ओर। हाल में उत्तरी कच्छ में हड़प्पा संस्कृति के अनेक अवशेषों के उपलब्ध हो जाने से इस संस्कृति के लोगों के सिंध से कच्छ की ओर स्थल देशांतर-गमन की संभावना पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ा है।

इस संस्कृति के कुछ मुख्य केंद्र ये हैं — सिंध में मोहेंजोदड़ो, पंजाब में हड़प्पा और रूपड़, कच्छ में देसलपुर और सुरकोटडा, सौराष्ट्र में लोथल, रोजडी तथा प्रभासपट्टन, राजस्थान में कालीबंगन और उत्तर प्रदेश में आलमगीरपुर। इनमें भी मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा, कालीबंगन और लोथल विशेष वर्णनीय हैं। प्रथम तीन तो प्रादेशिक राजधानियाँ सी लगती हैं और लोथल एक बहुत बड़ा व्यापारकेंद्र लगता है।

१. मोहंजोदड़ो — सिंध के लरकाना जिले में स्थित मोहंजोदड़ो का अर्थ 'मृतकों का स्थान' होता है। इस विशाल टीले की उपलब्धि और उत्खनन का कार्य आर. डी. बनर्जी ने १९२१-२२ में करवाया। इसके बाद मार्शल के निर्देशन में दीक्षित, वत्स, हारग्रीव्स तथा मैके आदि ने किया। उत्खनन के फलस्वरूप मोहंजोदड़ो में कृत्रिम पहाड़ी के ऊपर लगभग १५·२४ मीटर की ऊँचाई पर एक प्राकारवेष्ठित दुर्ग मिला है जिसके दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिम में पक्की ईंटों और लकड़ी के बने बुर्जों के ध्वंसावशेष हैं। इस दुर्ग के भीतर सबसे महत्वपूर्ण वास्तु चतुर्दिक् बरामदों से घिरा हुआ एक स्नानकुंड मिला है जिसकी माप ११·८८×६·०१×२·४३ मीटर है। इस कुंड की बाहरी दीवार पर गिरिपुष्पक की एक इंच मोटी पलस्तर लगी मिली। इसके पश्चिम में एक धान्यागार या भांडागार मिला है जिसके निर्माण में सुदृढ़ लकड़ी के लट्ठों का प्रयोग किया गया है और वायु प्रवेश करने के हेतु मार्ग बने हैं। इसके दक्षिण में माल उतारने चढ़ाने के लिये एक पक्की ईंट का चबूतरा भी मिला है।

इसके अतिरिक्त व्हीलर के मतानुसार एक सभामंडप, विद्यालय तथा लंबे भवन (७०·१०×२३·७७ मीटर) के भी अवशेष प्राप्त हुए हैं जो कदाचित् धर्माध्यक्ष या उच्च अधिकारी का हो। दुर्ग के नीचे सिंधु नदी की ओर, जो अब इस स्थान से दो मील दूर पूर्व हटकर बहती है, मोहंजोदड़ो का विशाल नगर बसा हुआ था जिसके ध्वंसावशेष बताते हैं कि यह विभिन्न खंडों में विभाजित था जिसमें से ६ खंडों का पता चला है। सड़कें सीधी, उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम दिशाओं को जाती हुई एक दूसरे को समकोण पर काटती थी। कहीं कहीं सड़कें १०·०५८ मीटर चौड़ी भी मिली हैं।

मकानों से नालियाँ आकर सड़क के किनारे बहनेवाली बंद नाली में मिल जाती थी. और नालियों के बीच में सोक पिट की व्यवस्था थी। मकान बड़े और छोटे मिले हैं। छोटे मकानों में आँगन के चारो ओर ४ या ६ कमरे होते थे। ऊपर दुमंजिले या छत पर जाने के लिये सीढ़ी होती थी और प्रत्येक मकान में स्नानगृह (बाथ रूम) होता था जिसका पानी जाने के लिये ढँकी हुई नाली का प्रबंध था। किसी भी मंदिर के अवशेष नहीं मिले हैं तथापि एक चपटे भवन को कुछ लोगों ने मंदिर समझा है। इतनी सुव्यवस्थित नगर-निर्माण-कला की तुलना उस समय के सभ्य संसार के अन्य भागों से नहीं की जा सकती।

मोहंजोदड़ो के उत्खनन में जो अनर्घ कोष मिला है उसमें मुद्रा, मुद्रा छापें, पत्थर के तौल, बिल्लौर के फाल, ताँबे और काँसे के शस्त्रोपकरण और बर्तन, मनुष्यों एवं जानवरों की मिट्टी की मूर्तियाँ, मातृदेवी की प्रतिमाएँ, सोने, चाँदी के मनके, कंगन, गलहार, अनेक चित्रित मृद्भांड, हाथीदाँत, फेयंस और शंख की वस्तुएँ हैं। इसके अतिरिक्त उत्कृष्ट शिल्प में 'कांस्य की नर्तकी' और 'दाढ़ीवाला मनुष्य' महत्वपूर्ण हैं। अनेकानेक पत्थर के लिंग और योनियाँ मिली हैं, जो प्रकृति और पुरुष की पूजा के द्योतक हो सकते हैं। मोहंजोदड़ो से प्राप्त 'शिव पशुपति' मुद्रा मार्शल के मतानुसार शिव की उपासना का द्योतक है। ये लोग कपास से रूई बनाकर सूती कपड़ा पहनते थे और गेहूँ इनका खाद्यान्न था।

२. हड़प्पा — इस सभ्यता का दूसरा बड़ा स्थल पंजाब के मोंटगुमरी जिला स्थित हड़प्पा था जो किसी समय रावी नदी के किनारे पर था। इस स्थान को मेसन और बर्न ने १९वीं सदी के पहले चरण में पहली बार देखा था। बाद को कनिंघम ने खुदाई भी कराई थी। १९२० से ४६ तक भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने यहाँ पर उत्खनन कराया। हड़प्पा को रेल के ठेकेदारों ने बड़ी क्षति पहुँचाई है और यहाँ की ईंटें ले जाकर १६० किलो मीटर लंबी पटरी पर डाला गया जिससे यहाँ के अवशेषों को बहुत क्षति पहुँची है और कुछ ही वास्तुखंड मिल पाए हैं। परंतु जो कुछ भी प्राप्त हुआ है वह अत्यंत महत्वपूर्ण है।

मोहंजोदड़ो की तरह हड़प्पा में भी एक प्राकारवेष्ठित दुर्ग और उसके सामने नगर के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस दुर्ग का आकार लगभग समानांतर चतुर्भुज का है। इस दुर्ग का प्राकार जिसकी ऊँचाई लगभग १५·२४ मीटर निकली, तीन भिन्न भिन्न समयों में बनाया गया दृष्टिगत होता है। दुर्गप्राकार के बाहर कच्ची मिट्टी की ईंटों के बाह्य भाग में पक्की ईंटें भी लगा दी गई हैं। प्राकार में स्थान स्थान पर बुर्ज और वृत्ताकार प्रवेशद्वार थे हड़प्पा में एक धान्यागार भी मिला है। प्राकारवेष्ठित दुर्ग से नदी तक के बीच श्रमजीवियों के निवासस्थान और अनाज कूटने के लिये वृत्ताकार चबूतरे बने मिले हैं, जिनके समीप ही ६–६ की दो पंक्तियों में निर्मित धान्यागार के अवशेष मिले हैं जिसके बीच में ७·०१ मीटर चौड़ा रास्ता था। इस धान्यागार का क्षेत्र ८३६·१३ वर्ग मीटर है। नदी द्वारा अनाज लाकर इस भंडार में सुरक्षित रखा जाता होगा।

१९४६ की खुदाई में व्हीलर को हड़प्पा में एक बड़ा श्मशान मिला जिससे शवोत्सर्ग के बारे में ज्ञान होता है। शवों को कब्र बनाकर उत्तर पश्चिम दिशा में रखकर गाड़ा जाता था। कभी ईंटों से पक्की कब्र बनाई जाती थी। मृतक के उपयोग के लिये आभूषण, पात्रादि भी रख दिए जाते थे। एक शव को लकड़ी के संदूक में रखकर गाड़ने का साक्ष्य भी है। कदाचित् यह किसी विदेशी का शव हो।

यहाँ की खुदाई में जो अनर्घ वस्तुकोष मिला है, उसमें डेढ़ हजार के लगभग पत्थर, मिट्टी, फेयंस इत्यादि की मुद्राएँ, मिट्टी के खिलौने, चाँदी, पत्थर आदि के मनके, नाना प्रकार के मिट्टी के बरतन, (जिनमें बहुत से चित्रित भी हैं.) हाथीदाँत और शंख की वस्तुएँ हैं। सांस्कृतिक उपकरणों में हड़प्पा और मोहंजोदड़ो का भारी साम्य है।

सुमेर में पाई गई अनेकानेक सैंधव मुद्राओं से इस संस्कृति का तत्कालीन पश्चिमी एशिया की संस्कृतियों से व्यापारिक संबंध ज्ञात होता है। क्रेमर के मतानुसार सुमेरिया के साहित्य में 'बाढ़ कथा' में जो दिलमन का वर्णन आता है उससे सिंधु घाटी का अधिक साम्य प्रतीत होता है।

इस शांतिप्रिय एवं व्यापारिक संस्कृति का अंत एकाएक कैसे हुआ? कैसे इतनी बड़ी जनसंख्या का लोप हो गया? क्या यह अनायास ही अवरुद्ध हो गई? इसका उत्तरदायित्व या तो नदियों की बाढ़ों का हो सकता है या आक्रमणकारियों के दुर्दांत आक्रमणों का। डेल्स ने बतलाया है कि सहसा ई०पू० द्वितीय सहस्राब्द के लगभग मध्य में इस भाग में अरब सागर का तट ऊँचा हो गया। इसके अतिरिक्त अधिकाधिक बाढ़ों से लाई गई मिट्टी से सिंधु का मुहाना अवरुद्ध हो गया। नदी का जलस्तर भी बढ़ गया और धरती की क्षारता भी अधिक हो गई जिसके कारण इस संस्कृति का सिंध में अंत हो गया। हड़प्पा में श्मशान 'ह' की खुदाई से जिस शवोत्सर्ग प्रथा और कुंभकला का ज्ञान हुआ है उससे पता चलता है कि ये एक नई सभ्यता के लोग अवश्य थे जो हड़प्पा में आए परंतु वाल्स के मतानुसार यह श्मशान हड़प्पा संस्कृति के अवशेषों के ऊपर १·५२ मी०—१·८२ मीटर मलबे के एकत्रित होने के पश्चात् बना हुआ पाया गया। अतः श्मशान 'ह' की सभ्यता का हड़प्पा संस्कृति के काफी बाद में उस स्थान में आगमन मानना चाहिए, श्मशान 'ह' की कुंभकला और उसमें चित्रित परलोकवाद को लेकर या इन्हें आर्यों से संबंधित करके 'पुरंदर' को पूजनेवाले आर्यों द्वारा हड़प्पा संस्कृति का अंत मानना युक्तिसंगत नहीं लगता है।

पूर्वी पंजाब में सतलज की सहायक सिरसा तथा अन्य नदियों के किनारों में हड़प्पा संस्कृति के अवशेष चिक्कुम या ढेर माजरा, बाड़ा, कोटलठालापुर, चमकौर, डांगमरहनवाला, राजा सीकाक, डांगरी और माधोपुर, कोटला निहंग नामक स्थानों में प्राप्त हुए। शर्मा को रूपड़ नामक स्थान पर हड़प्पा संस्कृति के विशेष उल्लेखनीय अवशेष उपलब्ध हुए हैं। यहाँ हड़प्पा संस्कृति के लगभग सभी सांस्कृतिक उपकरण उपलब्ध होते हैं और एक तत्कालीन श्मशान भी मिला है। रूपड़ में हड़प्पा संस्कृति की ऊपर की परतों में कुछ सांस्कृतिक उपकरण, जैसे पकाई मिट्टी के केक तथा सैंधव सोवलेट कम मात्रा में मिलते हैं जिससे कुछ ह्रास का आभास अवश्य होता है। बाड़ा की स्थिति कुछ भिन्न ज्ञात होती है। हाल में देशपांडे को मुदयाला कालान और काट्ठ पालन में हड़प्पा संस्कृति के अवशेष मिले हैं। इनका बाड़ा और रूपड़ से संबंध रोचक हो सकता है।

उत्तर प्रदेश के मेरठ जिला स्थित हिंडन के किनारे आलमगीरपुर नामक स्थान पर शर्मा को जो हड़प्पा संस्कृति के अल्प अवशेष प्राप्त हुए हैं उनसे पता चलता है कि हड़प्पा संस्कृति के लोग इस भाग तक अवश्य पहुँचे, परंतु यहाँ नगर निर्माण एवं श्मशान का कोई अवशेष प्राप्त नहीं हुआ है। केवल हड़प्पा संस्कृति के मृत्पात्र तथा चित्र संकेत-लिपि के कुछ उदाहरण पात्रों में तथा पक्की मिट्टी के तिकोने केक, मनके आदि मिलते हैं। हो सकता है, यहाँ पहुँचते पहुँचते हड़प्पा सभ्यता के कतिपय सांस्कृतिक उपकरण ही रह गए हों। जो कुछ भी हो, आलमगीरपुर इस संस्कृति की निःसंदेह पूर्वी सीमा अवश्य बतलाता है। देशपांडे को सहारनपुर की नकुर तहसील स्थित चिलकानी और बड़गाँव में हड़प्पा संस्कृति के अवनतिकाल के अवशेष मिले हैं तथा उसी जिले में अंबाखेड़ी में इस संस्कृति के कुछ ह्रासोन्मुख अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। इन अवशेषों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि गंगा-यमुना-घाटी तक हड़प्पा संस्कृति का विस्तार था, कालक्रम में भले ही यह अंतिम चरण में हो।

३. कालीबंगन — १९५२-५३ में घोष को राजस्थान में भारत पाक सीमा से लेकर हनुमानगढ़ पर्यंत प्राचीन सरस्वती और दृषद्वती नदियों के किनारे हड़प्पा संस्कृति के २५ स्थल प्राप्त हुए जिनमें गंगानगर स्थित कालीबंगन के दो टीले उल्लेखनीय हैं। इन टीलों का उत्खनन लाल और थापड़ ने सन् १९६१ से सतत रूप से प्रारंभ किया और उत्खनन कार्य अभी भी चल रहा है।

इन दोनों टीलों में पूर्व का टीला पश्चिमी टीले की अपेक्षा अधिक बड़ा है। इन पाँच वर्षों की खुदाई के परिणामस्वरूप पश्चिमी टीले में प्राकारावेष्ठित दुर्ग मिला है जिसके प्राकार को कच्ची ईंटों से बनाया गया। इसका विशद भाग दक्षिण की तरफ उपलब्ध होता है। इस दुर्ग के अंदर मिट्टी और कच्ची मिट्टी की ईंटों के कई चबूतरे हैं और अलग अलग समय की पक्की ईंटों की नालियाँ बनी हैं। प्राकार के उत्तर पश्चिम में एक बुर्ज के अवशेष का आभास होता है। दक्षिण की तरफ इस प्राकार में एक द्वार (२·९५ मीटर चौड़ाई) के भग्नावशेष भी दृष्टिगत हुए हैं। यद्यपि यह पक्की ईंटों का बना था, तथापि ईंट के चोरों ने इसे काफी क्षति पहुँचाई है। इसमें दुर्ग के ऊपर चढ़ने के हेतु सीढ़ियाँ बनी रही होंगी जैसा अवशेषों से आभास होता है। एक स्थान पर एक लकीर में राख से भरी कुछ अग्निवेदियाँ मिली हैं। कदाचित् इनका कुछ धार्मिक अर्थ हो ऐसा संभव हो सकता है। प्राकार, दुर्ग और चबूतरों की स्थिति का ठीक ज्ञान अधिक उत्खनन होने के पश्चात् ही होगा।

दूसरे पूर्वी टीले की खुदाई के फलस्वरूप आदर्श सिंधु सभ्यता की शतरंज की बिसात के नमूने का नगर मिला है जो प्राकारवेष्ठित है और जिसमें सड़कें और गलियाँ एक दूसरे से समकोण में मिलती हैं, जिनके दोनों तरफ मकान बने हैं। यहाँ पर सड़कें पहले सादी मिट्टी की होती थीं परंतु कालांतर में उनके ऊपर पकाई मिट्टी के केक डालकर पाट दिया जाता था। सड़कों मे नालियाँ अभी तक प्राप्त नहीं हुई हैं। एक मकान में से अलग अलग समय की दो तीन नालियाँ निकलती हुई सड़क की तरफ डाली गई हैं। मकानों के सामने कच्ची मिट्टी का फर्श बना हुआ दिखाई देता है। सड़कों में मकानों के सामने आयताकार स्थान है। हो सकता है, यह बिकाऊ सामान रखने के लिये हो या पशुओं को चारा खिलाने या पानी पिलाने के लिये हो। मकानों की छतें बेंत में मिट्टी का गारा लगाकर बनाई जाती थीं।

यहीं पर एक हड़प्पाकालीन श्मशान भी उपलब्ध हुआ है जिसकी अभी तक १४ समाधियाँ खोली गईं, जिनमें से ५ कब्रों में अस्थियुक्त कंकाल मृत्पात्रों समेत पाए गए। इनमें से एक में हड़प्पा शवोत्सर्ग प्रथा के बिल्कुल विपरीत कंकाल झुका, हाथ पाँव मोड़े, पेट के बल, अधोमुख, दक्षिण शीर्ष पाया गया और जो कब्र के उत्तरी भाग में सात मृत्पात्रों के साथ समाविष्ट था और दक्षिण भाग करीब करीब खाली था। एक दूसरी जो आयताकार कब्र निकली है (५ × २ मी)

जिसमें चारों तरफ कच्ची मिट्टी की ईंटें लगाई गई थीं और अंदर की तरफ मिट्टी का पलस्तर लगा था, उसमें ७० मृत्भांड मिले, जिनमें १७ उत्तर की तरफ थे और बाकी मध्य में थे। मृतक का शरीर इनके ऊपर पड़ा था। इसके अतिरिक्त इसमें तीन और भी कंकाल मिले हैं जो कालक्रम से बाद को डाले गए हैं। सभी का सिर उत्तर की ओर रखा गया था। चार पाँच और समाधियाँ मिली हैं, जिनमें सिर्फ मृत्पात्र मिले हैं और अस्थियाँ प्राप्त नहीं हुई हैं। एक और प्रकार की कब्र मिली है, जो चपटी या आयताकार है और उत्तर-दक्षिणवर्ती है, जिसमें केवल मृत्पात्र रखे गए हैं। कालीबंगन की हड़प्पा शवोत्सर्ग क्रिया में कुछ अंतर था गया, सामाजिक दृष्टिकोण से इसका क्या अर्थ था, अभी कहना कठिन है।

अनर्घ वस्तुकोष में मुद्राएँ, मुद्राछापें, मनके और मिट्टी के खिलौने, बैल की प्रतिमाएँ, मृच्छकटिकों के चौखटे, तिकोने केक, बिल्लौर के फाल, ताँबे के हथियार, मछली मारने के काँटे तथा हड़प्पा शैली के चित्रित मृत्पात्र मिले हैं। यहाँ पर हड़प्पा संस्कृति की आदर्शभूत कोई भी 'मातृदेवी' की प्रतिमा अभी तक नहीं प्राप्त हुई है। लाल के मतानुसार कालीबंगन में हड़प्पा चित्र-संकेत-लिपि जो एक मृत्पात्र खंड में लिखित उपलब्ध है, इसकी साक्षी है। यह लिपि दाहिने से बाएँ को लिखी जाती थी। हड़प्पा संकेत-चित्र-लिपि के अनुसंधान में यह एक महत्वपूर्ण चरण है। लाल ने लिखा है कि कदाचित् यह संस्कृति की तीसरी प्रादेशिक राजधानी हो।

४. लोथल — राव को अहमदाबाद के धोलका तालुका में, सरगवाला ग्राम में, लोथल नामक टीले की उपलब्धि हुई जिसके उत्खनन के परिणामस्वरूप पता चला है कि हड़प्पा संस्कृति के लोगों ने यहाँ पर आकर भोगाऊ और साबरमती की बाढ़ से बचने के हेतु बड़ी बड़ी कच्ची मिट्टी की ईंटों के चबूतरे बनाए जिनके ऊपर फिर मकान बने मिले हैं। इस मिट्टी की कच्ची ईंट के चबूतरे (जो १.६५८ से ४.५७२ मीटर ऊँचा था) के ऊपर ऊँचे स्थान पर पक्की ईंट के मकान बनाए गए जो कदाचित् धनिकों या वहाँ के प्रमुख के हेतु थे। निचले भाग में सामान्य नागरिक मकानों में रहते थे जो १३.७१६ मीटर ऊँचे चबूतरे के ऊपर बने हैं। सारा नगर कई खंडों में विभक्त था। चार मुख्य मार्ग मिले हैं जिनमें से दो एक दूसरे को समकोण में काटते हैं। मकान सीधी लकीर में सड़कों के दोनों ओर बनाए गए हैं। प्रत्येक मकान में एक स्नानगृह मिला है जिसकी नाली बड़ी नाली से मिलती थी। ऊपर के भाग में एक पक्की ईंट का कुआँ भी मिलता है।

नगर के निचले भाग में ताम्रकार, मनके बनानेवालों और शंख की चूड़ियाँ बनानेवालों की दुकानें थीं। मनके बनाने की भट्ठी, तथा मनके बनाने के स्थान आदि मिले हैं। यहाँ पर एक नावघाट भी मिला है जिससे यहाँ काफी चहल पहल रहती होगी, यह नावघाट २१८ मीटर लंबा और ३७ मीटर चौड़ा था और ७ मीटर लंबी एक नहर से निकटवर्ती बहनेवाली भोगाव नदी से जुड़ा था, जो खंभात की खाड़ी में गिरती है और जिसमें ज्वार भाटे के समय नावें आ जा सकती थीं। लोथल से प्राप्त 'बेहराइन प्रकार की मुद्रा' से ज्ञात होता है कि नि:संदेह ३०००-२००० ईसा पूर्व पश्चिमी एशिया से व्यापारिक संबंध था और छोटी नावों में कपास और अन्य वस्तुएँ फारस की खाड़ी से होते हुए पश्चिमी एशिया में जाती थीं। पश्चिमी एशिया में भी सिंधु संस्कृति की अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। लोथल से उपलब्ध मिस्र की ममी के सदृश एक पकाई मिट्टी का खिलौना तथा एक दाढ़ीवाले की आकृति के मनुष्य के खिलौने का सिर, पश्चिमी एशिया से व्यापारिक संबंधों की ओर अधिक ध्यान आकर्षित करते हैं।

लोथल में एक धान्यागार भी मिला है जिसमें बारह घनाकार इष्टकाएँ (ब्लाक) हैं और जो एक चबूतरे के ऊपर बनी हैं जिसका क्षेत्र ४१·१४८ × ४४·१९६ मीटर है। उसके बाहर एक और चबूतरा भी है। यहाँ पर ७० मुद्राएँ और मुद्राछापें राख के साथ मिली हैं। इन मुद्राओं में बेंत और कपड़े आदि के निशान मिले हैं। इस वास्तु को विद्वानों ने धान्यागार या भट्ठा कहा है।

लोथल की खुदाई से पता चलता है कि यहाँ पर मृतकों को उत्तर दक्षिण में रखकर गाड़ा जाता था। एक कब्र में चारों तरफ ईंट लगाई हुई पाई गई। इसके अतिरिक्त कुछ कब्रों में दो कंकाल भी मिले हैं जैसा अन्यत्र हड़प्पा संस्कृति में नहीं पाया गया है। यह एक क्षेत्र रूपांतर प्रतीत होता है।

यहाँ मातृदेवी की प्रतिमा नहीं मिली है, तथापि कुछ नारी-मूर्तियाँ मिली हैं। खिलौने, मृच्छकटिकों के चौखटे, मनके, मुद्राएँ, मुद्राछापें, ताँबे के खिलौने और हथियार, बिल्लौर के फाल, सोने के गहने तथा छोटे छोटे मनके मिले हैं। हाथीदाँत के बने ज्यामिति के उपकरण भी प्राप्त हुए हैं। यहाँ पर हड़प्पा संस्कृति के मिट्टी के पात्र बहुतायत से मिले हैं। परंतु लाल और काले रंग के पात्र जिनमें सफेद चित्र बने हैं, उपलब्ध होते हैं। यह कुंभकला भी क्षेत्ररूपांतर की प्रतीक है। लोथल में भी ऐसा लगता है कि १९०० ई० पू० में बाढ़ आ गई और इस हड़प्पा संस्कृति के वाणिज्यकेंद्र को काफी क्षति पहुँची, फिर भी लोग रहते रहे परंतु इसकी अवनति होती गई, जैसा लोथल 'ब' से प्राप्त अवशेषों से ज्ञात होता है।

वर्तमान गुजरात में हड़प्पा संस्कृति का क्रमिक संक्रमण या परिवर्तन रंगपुर की खुदाई के अवशेषों से प्राप्त होता है। हड़प्पा संस्कृति प्रकार के मिट्टी के बर्तन धीरे धीरे नए मिट्टी के बर्तनों को स्थान देने लगते हैं। रंगपुर दो 'अ' में हड़प्पा के अवशेष मिलते हैं। इसके पश्चात् संक्रमण का युग दो 'ब' में मिलता है। यह लोथल 'ब' के समकक्ष है। रंगपुर दो 'स' में छोटे फाल, चमकीली लाल मिट्टी के बर्तन आ जाते हैं और हड़प्पा के बर्तनों का लोप हो जाता है तथा रंगपुर तीन में सभ्यता बिल्कुल बदल जाती है। बीच में दो मध्यवर्ती काल होने से रंगपुर तीन के निवासी हड़प्पा के ही अवशिष्ट ज्ञात होते हैं। रोजड़ी और प्रभासपट्टन में भी इस प्रकार का क्रम मिलता है। गुजरात में हड़प्पा संस्कृति में धीरे धीरे परिवर्तन और अवनति होती गई।

सुंदरराजन के द्वारा करवाए गए कच्छ में देसलपुर के उत्खनन से ज्ञात होता है कि देसलपुर एक 'अ' में हड़प्पा संस्कृति के पत्थर के

प्राकारवेष्ठित अवशेष हैं परंतु 'एक 'ब' में कुछ परिवर्तन आ जाता है और छोटे फालों तथा पीलापन लिए सफेद मिट्टी के बर्तन आ जाते हैं। देसलपुर 'दो' में एक नई सभ्यता का उद्गम होता है। देसलपुर के अतिरिक्त उत्तरी कक्ष में अभी हाल में जे० पी० जोशी को सुरकोटडा, पाबू मठ, कोटडा, कोटडा भडली, लाखापर, परिवाडा वेलर, खारी का खाडा और फैरासी नामक स्थानों में हड़प्पा संस्कृति के अवशेष मिले हैं। इन सब टीलों में खदिर क्षेत्र में स्थित कोटडी का टीला बहुत बड़ा है। यहाँ पर प्राकारवेष्ठित दुर्ग और नगर दोनों का होना संभव है। लाखापार, कोटडा और पाबू मठ काफी बड़े टीले हैं। सिंध के पास होने के कारण हड़प्पा संस्कृति के अवशेषों का उत्तरी कच्छ में प्राप्त होना इस संस्कृति की विस्तारयोजना में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इन टीलों का उत्खनन इस क्षेत्र की तत्कालीन स्थिति पर अधिक प्रकाश डालेगा।

इस महान् संस्कृति के लोग किस प्रजाति के थे ? मोहंजोदड़ो, हड़प्पा तथा लोथल से प्राप्त कंकालों की कापालिक वेशना के आधार पर नृतत्ववेत्ताओं ने सिंध, पंजाब और गुजरात के आधुनिक लोगों से ही इनका साम्य बताया है। फिर भी स्थिति स्पष्ट नहीं है। इस दिशा में अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है।

अब यह देखना है कि इस संस्कृति का जीवनकाल क्या रहा होगा ? ह्वीलर ने पश्चिमी ऐशिया में प्राप्त सैंधव मुद्राओं के आधार पर इसका काल २५०० ई० पू० से १५०० ई० पू० तक निर्धारित किया है। परंतु अग्रवाल के मतानुसार कार्बन १४ की तिथियों के आधार पर इस संस्कृति का जीवनकाल २३०० ई० पू० से १७५० ई० पू० तक ही निर्दिष्ट होता है।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, इस संस्कृति का अंत कुछ क्षेत्रों में बाढ़ों से और अन्य में संक्रमण एवं परिवर्तन से हुआ। जो कुछ भी हो, भारतीय संस्कृति के निर्माण में इस संस्कृति का योगदान रहा तथा इसकी छाप बहुत ही महत्वपूर्ण दृष्टिगत होती है। नियोजित नगर निर्माणकला, प्राकारवेष्ठित दुर्ग, नाप तौल तथा ज्यामिति के उपकरण, नावघाटों का निर्माण, कपास और गेहूँ का उत्पादन, अतिरिक्त अर्थव्यवस्था, श्रमिक कल्याण, शिवशक्ति की उपासना, नृत्य और उत्कृष्ट शिल्प की देन, शांति तथा वाणिज्य का अमर संदेश सर्वदा के लिये भारतीय संस्कृति के अंग बन गए। [ज० जो०]

सं० ग्रं० — अग्रवाल, डी० पी० : हड़प्पन क्रोनोलोजी : ए रीए-ग्जामिनेशन ऑफ दी एवीडेंस, स्टडीज इन प्रीहिस्ट्री रोबर्ट ब्रूस फुट मेमोरियल वोल्यूम (कलकत्ता, १९६४); घोष, ए० : द इंडस सिविलिजेशन, इट्स ओरिजिंस, ऑथर्स इक्सटेंट ऐंड क्रोनोलोजी, इंडियन प्रीहिस्ट्री (पूना, १९६४); घोष : इंडियन आर्कियोलाजी ए रीव्यू, सन् १९५३ से १९६५ तक; मार्शल, सर जे० : मोहंजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलिजेशन, भाग १,२ (१९३७); मैके, ई० जे० एच० फरदर एक्सकेवेशन ऐट मोहंजोदड़ो, भाग १,२ (१९३७-३८);

लाल, बी० बी० : स्वाधीनता के बाद खोज और खुदाई, पुरातत्व विशेषांक, 'संस्कृति', पृ० १४ से १७; वत्स, एम० एस० : एक्सकेवेशन ऐट हड़प्पा भाग १, २ (दिल्ली १९४०); ह्वीलर, आर० ई० एम० अर्ली इंडिया ऐंड पाकिस्तान (लंदन, १९५९)।

सिंपसन, जेम्स यंग, सर (Simpson, Games Young, Sir, सन् १८११-१८७०) का जन्म लिनलिथगो प्रदेश (स्काटलैंड) के बाथगेट नामक ग्राम में हुआ था। इनका परिवार गरीब था, फिर भी चेष्टा कर इन्हें एडिनबरा विश्वविद्यालय में भरती कराया गया। यहाँ इन्होंने आयुर्विज्ञान का अध्ययन किया और २१ वर्ष की आयु में डाक्टरी की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। 'शोथ से मृत्यु' शीर्षक इनके शोधप्रबंध से प्रसन्न होकर रोगविज्ञान के प्रोफेसर, डाक्टर जान टामसन ने इनको अपना सहायक नियुक्त किया।

सन् १८३७ में डाक्टर टामसन के स्थान पर एक वर्ष के लिये इन्होंने काम किया। इस प्रकार प्राप्त रोगविज्ञान के अनुभव से इनके विशेष विषय, प्रसूतिविद्या, के अध्ययन में इन्हें बहुत सहायता मिली। सन् १८३९ में विवाह होने के पश्चात्, ये एडिनबरा विश्वविद्यालय में प्रसूतिविद्या के प्रोफेसर नियुक्त हुए। दूसरों की पीड़ा और क्लेश से डाक्टर सिंपसन बचपन में ही मर्माहत हुए थे। डाक्टर हो जाने पर अपने रोगियों, विशेषकर प्रसूता स्त्रियों को वेदना से बचाने के उपायों की खोज में वे लगे। सन् १८४६ में यह ज्ञात हुआ कि मॉर्टन नामक अमरीकन दंतचिकित्सक ने दाँत निकालते समय वेदना से बचाने के लिये संवेदनाहारी, ईथर, का प्रयोग सफलता से किया।

डा० सिंपसन ने भी प्रसुति के समय ईथर के प्रयोग का निश्चय किया, किंतु इसमें उन्हे अनेक डाक्टरों और विशेषकर पादरियो के विरोध का सामना करना पड़ा। पादरी प्रसूति में संवेदनाहरी के प्रयोग को ईश्वरीय क्रिया में हस्तक्षेप मानते थे। जब डाक्टर सिंपसन ने दिखाया कि बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने भी आदम की पसली की हड्डी निकालते समय संवेदनाहरी का प्रयोग किया था, तब, यह विरोध शांत हो गया।

अनुभव से सिंपसन ने पाया कि ईथर का प्रयोग संतोषदायक नहीं था। उसके स्थान पर वे अन्य उपयुक्त द्रव्य की खोज में लगे। अपने दो डाक्टर मित्रों के साथ प्रत्येक संध्या को वे अनेक पदार्थों के वाष्पों में साँस लेकर उनकी जाँच करने लगे। दीर्घ काल तक उन्हे सफलता नहीं मिली। एक दिन डाक्टर सिंपसन को क्लोरोफॉर्म नामक पदार्थ की जाँच करने की बात सूझी। तीनों मित्रों ने गिलासों में इस द्रव को उलटकर सूँघना आरंभ किया। थोड़ी ही देर में तीनों मूर्छित हो गिर पड़े। इस प्रयोग से निश्चित हो गया कि संज्ञाहरण के लिये क्लोरोफार्म उपयुक्त द्रव्य है। डाक्टर सिंपसन ने इसे प्रसूति के समय काम में लाना प्रारंभ किया। महारानी विक्टोरिया ने भी अपने बच्चों को जन्म देते समय इसके प्रयोग की स्वीकृति दी। शीघ्र ही सब प्रकार की शल्य चिकित्साओं में क्लोरोफार्म का प्रयोग किया जाने लगा। अनेक देशों ने डाक्टर सिंपसन को मनुष्य जाति की उपकारी इस खोज के लिये संमानित किया। पेरिस की आयुर्विज्ञान अकादमी ने अपने नियमों की अवहेलना कर इन्हें अपना सहकारी सदस्य मनोनीत किया तथा सन् १८५६ में मनुष्य जाति को महान् लाभ पहुँचाने के लिये मांथ्यों (Monthyon) पुरस्कार दिया। यूरोप और अमरीका की प्रायः प्रत्येक आयुर्वैज्ञानिक सोसायटी ने इन्हें अपना सदस्य चुना।

डा० सिंपसन ने स्त्री-रोग-विज्ञान (Gynaecology) में भी

महत्व की खोज और उन्नति की। इनकी चेष्टाओं से स्त्रियों की परिचर्या के लिये अनेक अस्पताल खोले गए। धात्रीविद्या में भी इन्होंने यथार्थता और सुव्यवस्था स्थापित की। दोनों विद्याओं से संबंधित इनके लेख महत्व के हैं। इन्होंने शल्य चिकित्सा में धमनियों को बाँधने की एक नई विधि का सूत्रपात किया। सन् १८६६ में इन्हें 'सर' की उपाधि मिली, किंतु इसी वर्ष पुत्र और पुत्री की असामयिक मृत्यु से इन्हें ऐसा धक्का लगा कि इनका स्वास्थ्य नष्ट हो गया और ये अधिक दिन जीवित न रह सके। [भ० दा० व०]

सिंफनी (यूरोपीय वृंदगान की विशिष्ट शैली) यह शब्द यूनानी भाषा का है जिसका अर्थ है 'सहवादन'। १६वीं शती में गेय नाटक (ऑपरा) के बीच में जो वृंदवादन के भाग होते थे उन्हें सिंफनी कहते थे। इसका विकसित रूप इतना सुंदर हो गया कि वह गेय नाटक (आपरा) के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त होने लगा। अत: यह अब वृंदगान (आरकेस्ट्रा) की एक स्वतंत्र शैली है।

इसमें प्राय: चार गतियाँ होती हैं। पहली गति द्रुत लय में होती है जिसमें एक या दो से लेकर चार वाद्यों तक का प्रयोग होता है।

दूसरी गति की लय पहले की अपेक्षा विलंबित होती है। तीसरी गति की लय नृत्य के ढंग की होती है जिसे पहले मिन्यूट (minuet) कहते थे और जिसने अंत में स्करस्सो (Scherzo) का रूप धारण कर लिया। इसकी लय तीन तीन मात्रा की होती है। चौथी गति की लय पहली के समान द्रुत होती है किंतु पहली की अपेक्षा कुछ अधिक हलकी होती है। चारों गतियाँ मिलकर एक समग्र या समष्टि संगीत का आनंद देती हैं जिससे श्रोता आत्मविभोर हो उठता है। हेडन, मोत्सार्ट, बीटोवन, शूबर्ट, ब्राह्म्स इत्यादि सिंफनी शैली के प्रसिद्ध कलाकार हुए हैं।

सं० ग्रं० — 'ग्रोव' डिक्शनरी ऑव म्यूज़िक'। [ज० दे० सिं०]

सिंह (Lion) पैंथरा लिओ (Panthera Leo) फैलिडी कुल (Fam. Felidae) का प्रसिद्ध मांसभक्षी स्तनपोषी जीव। जंगल का वास्तविक राजा। बाघ के समान खूँखार और पराक्रमी जीव। चेहरा कुत्ते की तरह लंबोतरा। नर के कंधे पर बड़े बड़े बाल जिसके सिरे काले। दुम के सिरे पर काले बालों का गुच्छा। औसत लंबाई दस फुट। मादा कुछ छोटी। रंग पिलछौंह, भूरा या बादामी। बहुत बलवान और फुर्तीले। दहाड़ या गरज तेज।

ये हमारे देश में केवल काठियावाड़ में थोड़ी संख्या में लेकिन अफ्रीका के जंगलों में काफी हैं। पश्चिमी एशिया, ग्रीस और मेसोपटामिया में भी पाए जाते हैं। घने जंगलों की अपेक्षा खुले पहाड़ी स्थान और ऊँची घास तथा नरकुल के जंगल ये अधिक पसंद करते हैं।

इनका मुख्य भोजन गाय, बैल, हिरण और सुअर आदि हैं। कुछ नरभक्षी भी होते हैं। मादा कुछ छोटी और केसर से रहित होती है। यह प्राय: दो तीन बच्चे जनती है जिन्हें शिकार खेलना सिखाती है। यह अपने बच्चों को बहुत प्यार करती है और बहुत दबाव पड़ने पर ही छोड़ती है। [सु० सिं०]

सिंहभूम *जिला स्थिति : २१° ५८' से २२° ५४' उ० अ० तथा ८५° ०' से ८६° ५४' पू० दे०।* बिहार के दक्षिण पूर्व में एक जिला है, जो बंगाल तथा उड़ीसा की सीमा से लगा हुआ है। इसका क्षेत्रफल ५,१९१ वर्ग मील तथा जनसंख्या २०,४९,९११ (१९६१) है। यह जिला छोटा नागपुर के पठार के दक्षिण-पूर्वी छोर पर है। इसका पश्चिमी भाग बहुत पहाड़ी है जिसकी ऊँचाई सारंडापीर में ३,५०० फुट है। पूर्वी तथा मध्यभाग अपेक्षाकृत समतल तथा खुले हुए हैं। स्वर्णरेखा, खरकई तथा संजई मुख्य नदियाँ हैं। इस जिले में धान की खेती होती है। वस्तुत: यह जिला खनिज के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है। प्रमुख खनिज लोहा तथा ताँबा है पर इनके अतिरिक्त यहाँ और अनेक खनिज जैसे क्रोमाइट, मैंगनीज, ऐपाटाइट और सोना भी मिलते हैं। जमशेदपुर में लोहा इस्पात तथा तत्संबंधित कारखाने हैं और मऊभाडर में ताँबे का कारखाना है। इसके अतिरिक्त काड्रा में काँच की चादर बनाने का कारखाना तथा चक्रधरपुर मे रेलवे वर्कशाप है। जमशेदपुर, चक्रधरपुर एवं चाईबासा प्रमुख नगर हैं। चाईबासा जिले का प्रशासनिक नगर है। जिले की जनसंख्या मे अधिकांश आदिवासी हैं जिनमें हो और संथाली अधिक हैं। [ज० सिं०]

सिंहल भाषा और साहित्य अनेक भारतीय भाषाओं की लिपियों की तरह सिंहल भाषा की लिपि भी ब्राह्मी लिपि का ही परिवर्तित विकसित रूप है, और जिस प्रकार उर्दू की वर्णमाला के अतिरिक्त देवनागरी सभी भारतीय भाषाओं की वर्णमाला है, उसी प्रकार देवनागरी ही सिंहल भाषा की भी वर्णमाला है।

सिंहल भाषा को दो रूप मान्य हैं—(१) शुद्ध सिंहल तथा (२) मिश्रित सिंहल।

शुद्ध सिंहल को केवल बत्तीस अक्षर मान्य रहे हैं—

अ, आ, अय, अैय, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ क ग ज ट ड ण त द न प ब म य र ल व स ह ळ अं।

सिंहल के प्राचीनतम व्याकरण सिदत् संग्रा' का मत है कि अय, तथा अैय (D ८ तथा D ६) अ, तथा आ की ही मात्रावृद्धि वाली मात्राएँ हैं।

वर्तमान मिश्रित सिंहल ने अपनी वर्णमाला को न केवल पाली वर्णमाला के अक्षरों से समृद्ध कर लिया है, बल्कि संस्कृत वर्णमाला में भी जो और जितने अक्षर अधिक थे, उन सब को भी अपना लिया है। इस प्रकार वर्तमान मिश्रित सिंहल में अक्षरों की संख्या चौवन है। अट्ठारह अक्षर 'स्वर' तथा शेष छत्तीस अक्षर व्यंजन माने जाते हैं।

दो अक्षर — पूर्व तथा पर—जब मिलकर एकरूप होते हैं, तो यह प्रक्रिया 'संधि' कहलाती है। शुद्ध सिंहल में संधियों के केवल दस प्रकार माने गए हैं। किंतु आधुनिक सिंहल में संस्कृत शब्दों की संधि अथवा संधिच्छेद संस्कृत व्याकरणों के नियमों के ही अनुसार किया जाता है।

'एकाक्षर' अथवा 'अनेकाक्षरों' के समूह पदों को भी संस्कृत की

ही तरह चार भागों में विभक्त किया जाता है—नामन, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात।

सिंहल में हिंदी की ही तरह दो वचन होते हैं—'एकवचन' तथा 'बहुवचन'। संस्कृत की तरह एक अतिरिक्त 'द्विवचन' नहीं होता। इस 'एकवचन' तथा 'बहुवचन' के भेद को संख्याभेद कहते हैं।

जिस प्रकार 'वचन' को लेकर 'हिंदी' और 'सिंहल' का साम्य है उसी प्रकार हम कह सकते हैं कि 'लिंग' के विषय में भी हिंदी और सुदूर सिंहल समानधर्मा हैं। पुरुष तीन ही हैं—प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष तथा उत्तम पुरुष। तीनों पुरुषों में व्यवहृत होनेवाले सर्वनामों के आठ कारक हैं, जिनकी अपनी अपनी विभक्तियाँ हैं। 'कर्म' के बाद प्राय: 'करण' कारक की गिनती होती है, किंतु सिंहल के आठ कारकों में 'कर्म' तथा 'करण' के बीच में 'कर्तृ' कारक की गिनती की जाती है। 'संबोधन' कारक न होने से 'कर्तृ' कारक के बावजूद कारकों की गिनती आठ ही रहती है।

वाक्य का मुख्यांश 'क्रिया' को ही मानते हैं, क्योंकि 'क्रिया' के अभाव में कोई भी कथन बनता ही नहीं। यों सिंहल व्याकरण अधिकांश बातों में संस्कृत की अनुकृति मात्र है। तो भी उसमें न तो संस्कृत की तरह 'परस्मैपद' तथा 'आत्मनेपद' होते हैं और न लट् लोट् आदि दस लकार। सिंहल में क्रियाओं के ये आठ प्रकार माने गए हैं—(१) कर्ता कारक क्रिया (२) कर्म कारक क्रिया, (३) प्रयोज्य क्रिया, (४) विधि क्रिया (५) आशीर्वाद क्रिया, (६) असंभाव्य क्रिया, (७) पूर्व क्रिया, तथा (८) मिश्र क्रिया।

सिंहल भाषा बोलने चालने के समय हमारी भोजपुरी आदि बोलियों की तरह प्रत्ययों की दृष्टि से बहुत ही आसान है, किंतु लिखने पढ़ने में उतनी ही दुरूह। बोलने चालने में यनवा (या गमने) क्रियापद से ही जाता हूँ, जाते हैं, जाता है, जाते हो, (वह) जाता है, जाते हैं इत्यादि ही नहीं, जायगा, जायँगे आदि सभी क्रिया-स्वरूपों का काम चल जाता है।

लिंगभेद हिंदी के विद्यार्थियों के लिये टेढ़ी खीर माना जाता है। सिंहल भाषा इस दृष्टि से बड़ी सरल है। यहाँ 'अच्छा' शब्द के समानार्थी 'हॉंद' शब्द का प्रयोग आप 'लड़का' तथा 'लड़की' दोनों के लिये कर सकते हैं।

प्रत्येक भाषा के मुहावरे उसके अपने होते हैं। दूसरी भाषाओं में उनके ठीक ठीक पर्याय खोजना बेकार है। तो भी अनुभव साम्य के कारण दो भिन्न जातियों द्वारा बोली जानेवाली दो भिन्न भाषाओं में एक जैसी मिलती जुलती कहावतें उपलब्ध हो जाती हैं। सिंहल तथा हिंदी के कुछ मुहावरों तथा कहावतों में पर्याप्त एकरूपता है।

प्राय: ऐसा नहीं होता कि किसी देश का जो नाम हो, वही उस देश में बसनेवाली जाति का भी हो, और वही नाम उस जाति द्वारा व्यवहृत होनेवाली भाषा का भी हो। सिंहल द्वीप की यह विशेषता है कि उसमें बसनेवाली जाति भी 'सिंहल' कहलाती चली आई है और उस जाति द्वारा व्यवहृत होनेवाली भाषा भी 'सिंहल'।

उत्तर भारत की एक से अधिक भाषाओं से मिलती जुलती सिंहल भाषा का विकास उन शिलालेखों की भाषा से हुआ है जो ई० पू० दूसरी तीसरी शताब्दी के बाद से लगातार उपलब्ध हैं।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के दो सौ वर्ष बाद जब अशोकपुत्र महेंद्र सिंहल द्वीप पहुँचे, तो 'महावंश' के अनुसार उन्होंने सिंहल द्वीप के लोगों को 'द्वीप भाषा' में ही उपदेश दिया था। महामति महेंद्र अपने साथ 'बुद्धवचन' की जो परंपरा लाए थे, वह मौखिक ही थी। वह परंपरा या तो बुद्ध के समय की 'मागधी' रही होगी, या उनके दो सौ वर्ष बाद की कोई ऐसी 'प्राकृत' जिसे महेंद्र स्थविर स्वयं बोलते रहे होंगे। सिंहल इतिहास की मान्यता है कि महेंद्र स्थविर अपने साथ न केवल त्रिपिटक की परंपरा लाए थे, बल्कि उनके साथ उसके भाष्यों अथवा उसकी अट्ठकथाओं की परंपरा भी। इन अट्ठकथाओं का बाद में सिंहल अनुवाद हुआ। वर्तमान पालि अट्ठकथाएँ मूल पालि अट्ठकथाओं के सिंहल अनुवादों के पुन: पालि में किए गए अनुवाद हैं।

जहाँ तक संस्कृत वाङ्मय की बात है, उसके मूल पुरुषों के रूप में भारतीय वैदिक ऋषि मुनियों का उल्लेख किया जा सकता है। सिंहल साहित्य का मूल पुरुष किसे माना जाय? या तो भारत के 'लाट' प्रदेश (गुजरात) से ही सिंहल में पदार्पण करनेवाले विजय-कुमार और उनके साथियों को या फिर महेंद्र महास्थविर और उनके साथियों को।

सिंहल के इतिहास का ही नहीं सिंहल साहित्य का भी स्वर्णयुग माना जाता है 'अनुराधपुर काल'। सातवीं शती से लेकर ग्यारहवीं शती तक के इस दीर्घ काल' की कोई भी साहित्यिक रचना अब हमें प्राप्य नहीं। इसलिये उस समय की भाषा के स्वरूप को समझने के लिये या तो कुछ शिलालेख सहायक हैं या परवर्ती ग्रंथों में उद्धृत कुछ वाक्यखंड, जो पुरानी अट्ठकथाओं के उद्धरण माने जाते हैं।

सिंहल द्वीप का शिलालेखों का इतिहास देवानांप्रिय तिष्य (तृतीय शताब्दी ई० पू०) के समय से ही प्रारंभ होता है। लेकिन अभी तक जितने भी शिलालेख मिले हैं, उनमें से प्राचीनतम शिलालेख राजा वट्टगामणी (ई० प्रथम शताब्दी) के समय के ही हैं। आठवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी के बीच के समय के जो शिलालेख सिंहल में मिले हैं, वे ही सिंहल गद्य साहित्य के प्राचीनतम नमूने हैं।

अनुराधपुर काल की सबसे अधिक महत्वपूर्ण साहित्यिक रचना तो है सी गिरि के गीत। सिंहल शिलालिपियों के बाद यदि किसी दूसरे साहित्य को सिंहल का प्राचीनतम साहित्य माना जा सकता है तो वे ये सी गिरि के गीत ही हैं।

सी गिरि के गीतों के बाद जिस प्राचीनतम काव्य को वास्तव में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, वह है सिंहल का 'सिय बस लकर' नाम का साहित्यालोचक काव्य। यह दंडी के काव्यादर्श का अनुवाद या छाया-नुवाद होने पर भी वैसा प्रतीत नहीं होता।

पाँचवें काश्यप नरेश का राज्यकाल ई० ९०८ से ९१८ तक रहा। उन्होंने पालि धम्मपद अट्ठकथा का आश्रय लेकर 'धम्मपिय अटुवा गैट पदय' की रचना की। यह धम्मपद अट्ठकथा का शब्दार्थ, भावार्थ, विस्तरार्थ सब कुछ है।

पोलन्नरुव काल के प्रारंभ में संस्कृत साहित्य की जानकारी बड़े गौरव की बात समझी जाती थी। राजाओं के अमात्यों के पुत्र यदि इतनी संस्कृत सीख लेते थे कि वे श्लोकों की रचना कर सकें, तो कभी कभी राजा प्रसन्न होकर बस इतनी सी बात पर ही उन्हें बहुत सा धन दे डालते थे।

सिंहल भाषा संस्कृत भाषा से कितनी अधिक प्रभावित हो रही थी, इसका स्पष्ट उदाहरण है—महाबोधि वंश ग्रंथिपाद : सारा का सारा नामकरण शुद्ध संस्कृत है। पोलन्नरुव काल के अंतिम भाग में अथवा दंबदेणि काल के प्रारंभ में 'कर्मविभाग' नाम के एक गद्यग्रंथ की रचना हुई। क्या तो साहित्यिक दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से जो तीन चार अत्यंत जनप्रिय ग्रंथ रचे गए, उनमें एक है 'बुतसरण' अथवा 'बुद्धशरण'।

'दंबदेणि कालय' की एक विशिष्ट रचना है सिदत् संगरा। यह सिंहल भाषा का प्राचीनतम प्राप्य व्याकरण है। जिस प्रकार अमावतुर, बुतसरण तथा रत्नावलि ने सिंहल गद्य साहित्य को समृद्ध किया है, उसी प्रकार सिंहल उम्मग जातक ने भी सिंहल गद्य साहित्य को बहुत ऊँचे उठाया है। लेकिन सिंहल गद्यसाहित्य का विशालतम ग्रंथ तो सिंहल 'जातक पोत' को ही माना जायगा। यह पालि जातक अट्ठकथा का ही सिंहल भावानुवाद है।

लगभग पचास वर्षों का 'कुरुणे-गल-काल एक प्रकार से 'दंबदेणि कालय' का ही विस्तार मात्र है। किंतु कुछ विशिष्ट रचनाओं के कारण उसका भी स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। कुरुणे-गल-कालय के बाद आता है 'गमपोल कालय'। इस काल में कुरुणे-गल-कालय की अपेक्षा कुछ अधिक ही साहित्य सेवा हुई। 'निकाय-संग्रह' जैसी महत्वपूर्ण कृति की रचना इसी काल में हुई।

'गमपोल कालय' के बाद है 'कोट्टे कालय'। आज सिंहल कविता की जो विशिष्ट स्थिति है, वह बहुत करके 'कोट्टे कालय' में ही हुए विकास का परिणाम है।

जिसने भी कभी सिंहल भाषा के साहित्य का कुछ भी परिचय प्राप्त किया वह लो वैड संग्रा (लोकार्थ संग्रह) से अपरिचित न रहा होगा। अत्यंत छोटी कृति होने पर भी इसका घर घर प्रचार है। न जाने कितने लोगों को यह कृति कंठाग्र है।

श्री० राहुल महास्थविर द्वारा रचित काव्य शेखर तथा उन्हीं के शिष्य वैत्तेवे द्वारा रचित गुत्तिल काव्य 'कोट्टे कालय' की दो विशिष्ट रचनाएँ हैं।

'कोट्टे कालय' के बाद आता है 'सीतावक कालय' तथा सीतावक कालय के बाद आता है 'सेनकड कालय'। इस अंतिम काल की विशेषता है तमिल ग्रंथों के सिंहल अनुवाद होना।

यदि हम 'महनुवर कालय' के पूर्व भाग अर्थात् 'सेनकड कालय' की साहित्यिक प्रवृत्ति का अनुशीलन करें तो हम देखेंगे कि इससे पहले इतने भिन्न भिन्न तरह के विषय कभी काव्यगत नहीं हुए।

अट्ठारहवीं शताब्दी के पूर्व भाग से आरंभ होनेवाला समय ही श्री लंका के इतिहास का 'वर्तमान युग' है। इस नूतन युग के सरलता से दो हिस्से किए जा सकते हैं—पहला हिस्सा ई० १७०१ से ई० १८१५ तक, दूसरा हिस्सा ई० १८१५ से आगे।

'महनुवर कालय' में धर्मशास्त्र संबंधी साहित्य ने जितनी भी उन्नति की उसका सारा श्रेय एक ही महान् विभूति को दिया जा सकता है। उस विभूति का नाम था संघराज शरणंकार। उन्होंने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये चतुर्मुख प्रयास किए।

'कोलंबु कालय' में जिन साहित्यिक प्रवृत्तियों की प्रधानता रही, उनमें से कुछ हैं पुरानी पुस्तकों के नए संस्करण, सिंहल टीकाएँ, अंग्रेजी तथा अन्य भाषा की पुस्तकों के अनुवाद और आलोचना-प्रत्यालोचना-संबंधी साहित्य। नई विधाओं में नाट्य ग्रंथों तथा उपन्यासों की प्रधानता है।

जबसे इधर सिंहल भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, तब से शास्त्रीय पुस्तकों के लिये उपयोगी होने की दृष्टि से कई 'पारिभाषिक शब्दकोश' तैयार किए गए हैं।

इधर सिंहल साहित्य में हिंदी से अनूदित कुछ ग्रंथ भी आए हैं, वैसे ही जैसे हिंदी में भी सिंहल साहित्य के कुछ ग्रंथ। [आ० कौ०]

सिंहली संस्कृति ऐसा विश्वास किया जाता है कि राजकुमार विजय और उसके ७०० अनुयायी ई० पू० ५४३ में श्रीलंका में जहाज से उतरे थे। ये लोग 'सिंहल' कहलाते थे, क्योंकि पहले पहल 'सिंहल' की उपाधि धारण करनेवाले राजा सिंहबाहु से इनका निकट संबंध था। (सिंह को मारने के कारण यह राजा 'सिंहल' कहलाया)। विजय ही श्रीलंका का पहला राजा था और उसने जिस राज्य की स्थापना की वह करीब २३५८ वर्ष तक कायम रहा। बीच में एकाध बार चोल या पाड्य के राजा ने इसपर अधिकार कर लिया किंतु देर सबेर सिंहलियों ने उन्हें देश से निकाल बाहर किया।

सिंहलियों को धान की खेती और सिंचाई, दोनों का ज्ञान था। उनका मुख्य भोजन चावल था, जिसका उत्पादन ही वहाँ के आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचे का निश्चयकारी सिद्धांत था। इसके सिवा कुछ अन्य अनाज तथा दालों की भी खेती की जाती थी। इन अनाजों से बना भोजन उनका मुख्य आहार था। राजाओं तथा रईसों का भोजन, उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार, अधिक मूल्य का और उत्तम किस्म का होता था। समय बीतने पर, विशेषकर यूरोपीयों के आने के बाद, भोजन के संबंध में भारी परिवर्तन हो गया। अलसी, सरसों तथा गरी इत्यादि से तेल निकाला जाने लगा तथा ईख, रुई, हलदी, अदरक, काली मिर्च, मसाले तथा फलों के वृक्ष भी बड़ी संख्या में उगाए जाने लगे। खेती के साथ साथ पशुपालन भी किया जाने लगा और पाँच दौग्ध पदार्थों का नियमित प्रयोग किया जाने लगा। तालाब बनाने में सिंहली दक्ष थे और उनके बनाए कितने ही तालाब आज भी विद्यमान हैं। वे नहरें भी बनाते थे और उन्होंने एक बड़े भूभाग पर सिंचाई की व्यवस्था कर रखी थी।

अपने पूर्वजों के दाय के रूप में सिंहली लोग अनेक भारतीय रीति रिवाजों और संस्थाओं की स्मृति अपने साथ लेते आए होंगे और उनके सिवा समाज संबंधी भारतीय विचारधारा तथा वर्गों की

ऊँच नीच भावना भी उनके साथ चली आई होगी। कलिंग, मगध, बंगाल आदि के आर्यों से संपर्क रहने के कारण उन्हीं के समानांतर सिंहली संस्कृति के भी विकास का मार्ग प्रशस्त हो गया। इस संस्कृति का मूलाधार जातिभेद था जो समय बीतने पर अत्यंत जटिल हो गया था। बौद्ध भिक्षुओं में जाति संबंधी नियमों तथा बंधनों का प्रचलन नहीं रह गया था। जातिभेद के आधार पर बौद्ध संघ का विभाजन अपेक्षाकृत हाल की घटना है। पिता ही परिवार का अधिपति और स्वामी होता था और माता के प्रति सर्वाधिक संमान प्रदर्शित किया जाता था। महावंश में राजा अग्गबोधि अष्टम (८०१-८१२ ई०) की अनन्य मातृभक्ति का उल्लेख है। प्राचीन सिंहलियों में आज की ही तरह एक-स्त्री-विवाह की प्रथा थी। हाँ, राजाओं के अवश्य अनेक रानियाँ तथा रखेलियाँ होती थीं किंतु उनमें से केवल दो को ही राजमहिषी का पद प्राप्त होता था। नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णवेध आदि संस्कार उस समय भी प्रचलित थे जैसे आज हैं। सिंहलियों में प्राय: बौद्ध भिक्षुओं तथा ऊँचे वर्ग के लोगों के मृत शरीरों को जलाने की प्रथा थी किंतु अन्य मृतकों के शव जमीन में गाड़ दिए जाते थे।

विशिष्ट समारोहों के समय कुछ नरेश कीमती पोशाक के अतिरिक्त ६४ अलंकार धारण करते थे। रानियाँ तथा राजा की अन्य पत्नियाँ सोने के कीमती आभूषण पहनती थीं जिनमें हीरा, मोती आदि जड़े होते थे। गरीब स्त्रियाँ काँच की चूड़ियाँ तथा अँगूठियाँ पहनती थीं। आधुनिक समय में बहुत से सिंहलियों ने यूरोपीय वेशभूषा ग्रहण कर ली है। वहाँ के राजाओं तथा प्रजावर्गों को जलक्रीडा, नृत्य, गायन, शिकार आदि विविध खेलों तथा कलाओं में अच्छा, आनंद आता था। युद्ध मे संगीत का महत्व बना रहता था। पाँच तरह के वाद्य यंत्रों, ढोलों, भेरियों, शंखों, बीनों, बाँसुरियों आदि का उनमें प्राचीन काल से प्रचलन था। स्त्रियाँ एक तरह की ढोलक बजाती थीं जिसे 'रबान' कहते थे। सिंहलियों में कठपुतलियों का नाच और नाट्यों का अभिनय होता था जिनके लिये मंच बनाए जाते थे। इनमें से कुछ आज भी विद्यमान हैं। 'असाळ्ही' पर्व के समय बहुत लंबा जुलूस निकलता था जिसमें बड़ी संख्या में हाथी भी सजाए जाते थे। आज भी ऐसा होता है। ग्रहों तथा भूत प्रेतों की बाधा दूर करने के लिये 'बलिपूजा' तथा अन्य कृत्य किए जाते थे, जैसा इस समय भी होता है।

सिंहली कला भारतीय कला से विशेष रूप से प्रभावित थी। वहाँ चित्रकार, मिस्त्री, राज, बढ़ई, लोहार, कुंभकार, दरजी, जुलाहे, हाथीदाँत का काम करनेवाले तथा अन्य कलाविद् होते थे। अभ्रक आदि की परतदार चट्टानों से लबे, सुडौल टुकड़े तराश लेने की कला में प्राचीन सिंहली बड़े दक्ष होते थे। लोह प्रासाद के अवशेष जो १६०० प्रस्तर स्तंभों पर बना था, इस तथ्य का उज्वल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। विजय और उसके अनुयायियों को पढ़ने और लिखने की कला का ज्ञान न था। महावंश में उस पत्र की चर्चा है जो विजय ने पांडुनरेश को भेजा था और उसकी भी जो उसने अपने (उसके ?) भाई सुमित्त को प्रेषित किया था। ब्राह्मी लिपि में लिखे गए बहुत से शिलालेख सिंहल द्वीप में प्राप्त हुए हैं जिनमें सबसे प्राचीन ई० पू० तीसरी शती के थे। इससे स्पष्ट है कि जनता की एक बड़ी संख्या उन्हें पढ़ और समझ सकती थी। शिष्य को गुरु के पास ले जाने की (उपनयन की) प्रथा भी उस समय प्रचलित थी। बारहवीं शती ई० में देहातों में भ्रमणशील अध्यापक रहते थे जो बालकों को लिखना पढ़ना सिखलाते थे। लड़कियों को शिक्षा वृद्ध जनों द्वारा दी जाती थी। राजकुमारों की शिक्षा में विशेष सावधानी बरती जाती थी, इस शिक्षा में खेलकूद की तथा शस्त्रास्त्रों की भी शिक्षा शामिल थी। खास तौर से ये विषय पढ़ाए जाते थे — सिंहली, पाली, संस्कृत, तमिल, तथा अन्य भाषाएँ, चिकित्सा विज्ञान, ज्योतिष, पशुचिकित्सा इत्यादि। लिखने पढ़ने की क्रिया का आरंभ 'त्रिपिटक' की और सिंहली में प्राप्त उसकी टीकाओं की प्रतिलिपि करने से होता था। सिंहल के दो ऐतिहासिक ग्रंथों — दीपवंश तथा महावंश — का निर्माण चौथी तथा पाँचवीं शती ईसवी में हुआ था। बाद में त्रिपिटक की पालि टीकाओं तथा विविध विषयों की अन्य पुस्तकों को लिपिबद्ध किया गया। कुछ बहुमूल्य ग्रंथ अनधिकारिक शासक माघ द्वारा १३वीं शताब्दी में, कुछ नरेश राजसिंघे प्रथम द्वारा १६वीं शती में तथा अन्य कई डचों द्वारा १८वीं शती में नष्ट कर दिए गए।

महावंश में बहुसंख्यक चिकित्सालयों का उल्लेख होने से साबित होता है कि प्राचीन काल में सिंहल में उच्च संस्कृति विद्यमान थी। ईसा के पूर्व की चौथी शताब्दी में भी गर्भिणी स्त्रियों के लिये प्रसवशालाएँ तथा रोगियों की चिकित्सा के लिये अस्पताल मौजूद थे। राजा बुद्धदास ने (४थी शती ई०) सिंहलवासियों के लिये प्रत्येक गाँव में चिकित्साभवन स्थापित किए थे और उनमें चिकित्सकों की नियुक्ति की थी। वह स्वयं कुशल चिकित्सक था और उसने चिकित्सा-संबंधी एक पुस्तक भी लिखी थी। अपंगों तथा नेत्रहीनों के लिये उसने आश्रय स्थान बनवाए थे। पुरातन काल में तथा उसके बाद भी सिंहली चिकित्सा विज्ञान का भारतीय चिकित्सा विज्ञान से निकट संबंध रहा है।

सिंहली राजाओं के समय भारत की तरह वहाँ भी अनियंत्रित राजतंत्र प्रचलित था। राजा ही राज्य का सर्वोच्च सत्ताधारी था। आध्यात्मिक विषयों में वह बौद्ध भिक्षुओं से सलाह लिया करता था। राजपरिवार से संबंधित मामलों पर विचार होते समय ब्राह्मणों को भी मत प्रकट करने का अवसर दिया जाता था। युद्ध के समय चतुरंगिणी सेना (हाथी, घोड़े, रथ तथा पदाति) का प्रयोग किया जाता था। लड़ाई में धनुष बाण, तलवार, भाला, गदा, त्रिशूल, बरछी, तोमर, गुलेल आदि अस्त्रशस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। कभी कभी जासूसों से भी काम लिया जाता था। कराधान द्वारा जो आमदनी होती थी, उसी से राजा का निजी खर्च, दरबार का खर्च और शासन का खर्च चलता था। अपराधियों को अपराध की गुरुता के अनुसार दंड दिया जाता था।

जो सिंहलवासी पहले पहल श्रीलंका में आकर बसे थे, वे अपने पूर्व निवास उत्तरपश्चिमी भारत से हिंदू धर्म का लोकप्रिय प्रकार लेते आए थे। बाद में कलिंग तथा बंगाल से आनेवाले ब्राह्मणों ने

वहाँ वैष्णव तथा शैव धर्मों का प्रचार किया। बौद्ध धर्म का प्रचार तीसरी सदी में थेरा महेंद्र ने किया। राजा द्वारा राजधर्म के रूप में स्वीकृत हो जाने पर वह वहाँ का मुख्य धर्म बन गया। बुद्ध का भिक्षापात्र तथा कुछ अन्य अवशेष उसी शताब्दी में भारत से लाए गए और कुछ स्तूपों का निर्माण किया गया। बुद्ध गया में स्थित महान् बोधिवृक्ष की एक शाखा भी उसी वर्ष थेरी संघमित्त द्वारा लाई गई जो आज भी अच्छी दशा में है। कहते हैं, यह संसार का सबसे पुराना ऐतिहासिक वृक्ष है। बुद्ध का दाँत तथा बाल का अवशेष क्रमशः चौथी तथा पाँचवीं शताब्दी में सिंहल लाए गए। सिंहलियों में इनका बड़ा आदर और सम्मान है। बौद्ध धर्म ने, जो समूचे राष्ट्र में व्याप्त है, वहाँ वालों पर अथाह मानवतापूर्ण प्रभाव डाला है। पुर्तगालियों, डचों तथा अंग्रेजों के आगमन ने सिंहली रीति रिवाजों, धर्म, शिक्षा तथा पोशाक में बहुत परिवर्तन कर दिया है। [आर० से०]

सिउड़ी (Suri) स्थिति : २३° ५४' उ० अ० तथा ८७° ३२' पू० दे०। यह पश्चिम बंगाल में बीरभूम जिले का प्रशासनिक केंद्र तथा प्रमुख नगर है और मोर नदी से १ मील दक्षिण एक कंकड़ की पहाड़ी पर स्थित है। इसकी जनसंख्या २२,८४१ (१९६१) है। यहाँ तेल पेरने, दरी बुनने तथा निवार बनाने के उद्योग हैं। हर वर्ष जनवरी-फरवरी में यहाँ पशुप्रदर्शनी होती है जिसमें पुरस्कार दिए जाते हैं। पालकी तथा फर्नीचर भी यहाँ बनते हैं और निकटवर्ती गाँवों में सूती एवं रेशमी वस्त्र बुनने का काम होता है। [ज० सिं०]

सिएटल स्थिति : ४७° ३६' उ० अ० तथा १२२° २०' प० दे०। यह संयुक्त राज्य अमरीका के वाशिंगटन राज्य का प्रसिद्ध नगर, प्रमुख औद्योगिक एवं व्यापारिक केंद्र तथा प्रशांत महासागर तट का (तट से १२५ मील दूर) सबसे बड़ा बंदरगाह है। यह सैनफ्रांसिस्को से ६०० मील उत्तर में सात पहाड़ियों पर बसा हुआ नगर है। इन पहाड़ियों की ऊँचाई समुद्रतल से ५१४ फुट है। सिएटल के पश्चिम में ओलिंपिक पर्वत है। सिएटल के पूर्व में २६ मील लंबी अलवण जल की वाशिंगटन झील है। झील तथा एलाइट खाड़ी एक दूसरे से यूनियन झील (Lake Union), बैलार्ड लाक्स (Ballord Locks) तथा एक जहाजी नहर द्वारा जुड़ी हुई हैं।

सिएटल का क्षेत्रफल लगभग ७१ वर्ग मील है। यहाँ पर वाशिंगटन तथा सिएटल विश्वविद्यालय हैं। यहाँ एक केंद्रीय पुस्तकालय भी है जिसकी दस शाखाएँ हैं। यहाँ की जलवायु साधारण है तथा स्वास्थ्य एवं उद्योग धंधे के उपयुक्त है। यहाँ पर प्रति वर्ष औसत वर्षा ३३·४४ इंच होती है। यहाँ साल भर वर्षा होती है पर अक्टूबर से मार्च तक अधिक होती है। परिवहन व्यवस्था निजी कंपनियों के अधीन है।

संयुक्त राज्य अमरीका का यह बंदरगाह पूर्वी देशों के लिये सबसे निकट होने के कारण आयात निर्यात का प्रमुख केंद्र है। यहाँ के प्रमुख उद्योग पोत, कागज, लोहा तथा इस्पात, वायुयान, उर्वरक, विस्फोटक एवं दवा आदि के निर्माण हैं। [नं० कु० रा०]

सिएरा लियोन स्थिति : ९° ०' उ० अ० तथा १२° ०' प० दे०। यह देश पश्चिमी अफ्रीका में स्थित है। यहाँ का दक्षिणी और पश्चिमी भाग चपटा तथा नीचा है और उत्तरी तथा पूर्वी भाग ऊँचा तथा टूटा-फूटा है। यहाँ कहीं कहीं की जलवायु अस्वास्थ्यकर है। समुद्री किनारे के भाग रहने लायक हैं। यहाँ धान की उपज अधिक होती है जो यहाँ के निवासियों का मुख्य भोजन है। अन्य भोज्य सामग्री में मक्का, बाजरा, मूँगफली तथा नारियल हैं। नारियल का तेल और उसकी बनी वस्तुएँ, कोला, अदरख, कोको, कहवा तथा मिर्चें यहाँ से निर्यात किए जाते हैं। यहाँ पर लोहा, हीरा, सोना, प्लैटिनम आदि खनिज पदार्थ मिलते हैं पर अभी इनका व्यापारिक लाभ बहुत कम उठाया गया है। कपड़ा बुनना और चटाई बनाना आदि यहाँ के कुटीर उद्योग हैं। [रा० स० ख०]

सिकंदर शाह लोदी दिल्ली राज्य के एक भाग पर शासन करनेवाले बहलोल लोदी का द्वितीय पुत्र था। इसका वास्तविक नाम निजाम खाँ था। बहलोल की मृत्यु पर १७ जुलाई, १४८९ को यह 'सुल्तान सिकंदर शाह' की उपाधि धारण करके सिंहासनारूढ़ हुआ। यह लोदी वंश का सबसे योग्य शासक था। विद्वानों का आदर करने के साथ साथ निर्धनों के प्रति सहानुभूति रखता था। स्वयं बड़ा पराक्रमी, कर्तव्यनिष्ठ तथा साहसी व्यक्ति था। उसने फारसी में कुछ कविताएँ लिखी हैं। इसके शासन में बड़े निष्पक्ष रूप से न्याय किया जाता था। प्रजा की शिकायतों को सिकंदर शाह स्वयं सुनता था। साधारण आवश्यकता की वस्तुएँ बड़ी सस्ती थीं और राज्य भर में शांति तथा समृद्धि विराजती थी।

शाह ने अपने राज्य को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया। उद्दंड प्रांतीय नवाबों को दंडित करके उसने अशांति दूर की तथा जागीरदारों के आय व्यय का निरीक्षण किया। उसने बिहार तथा तिरहुत को अपने अधीन कर लिया तथा बंगाल तक जा पहुँचा। ग्वालियर, इटावा, धोलपुर तथा बयाना पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिये उसने एक नया नगर बसाया जो वर्तमान आगरा है। आगरा में ही २१ नवंबर, १५१७ को उसकी मृत्यु हो गई।

[मि० चं० पां०]

सिकर्ट, वाल्टर रिचर्ड (१८६०-१९४२) ब्रिटिश चित्रकार। म्यूनिख में पैदा हुआ। कला की ओर परंपरागत रुचि, क्योंकि पिता और प्रपितामह दोनों ही नक्शानवीस थे। जे० एम० ह्विसलर का वह शिष्य था, उसी की भाँति उसने भी छायाभास पद्धति अख्तियार की। धूमिल, सौम्य और सहज रंगों से उसने विभिन्न आकृतियों के सूक्ष्म हावभाव और अनुभूतियों का चित्रण किया। जब वह पेरिस गया तब एडगर देगाज से मिला था। फलतः उसकी कला से वह अत्यधिक प्रभावित हुआ। उस कलापद्धति का अनुसरण कर उसने दृश्यांकन का एक नवीन ढंग विकसित

किया जो इंग्लैंड में अत्यंत लोकप्रिय हुआ। उसके चित्रों में अनेक स्थलों पर हास्य व्यंग का भी पुट है।

१८८५ से १९०५ के बीच वह अनेक फ्रेंच लेखकों एवं कलाकारों से मिला। उसके सहयोग से नए चित्रकारों का एक वर्ग नव्य वादों के साथ आगे आया। कला की साधना के साथ साथ उसने अपने लेखों द्वारा कला के सिद्धांतों का भी प्रतिपादन किया। [श० रा० गु०]

सिक्किम स्थिति : २७° १' से २८° ६' उ० अ० और ८८° ३१' पू० दे०। अधिकतम लंबाई ७३ मील और अधिकतम चौड़ाई ५५ मील, क्षेत्रफल २,७४५ वर्ग मील। इसके उत्तर में तिब्बत, पूर्व में भूटान पश्चिम में नेपाल और दक्षिण में भारत गणतंत्र है। इसकी राजधानी गंगटोक है। सिक्किम का ३० प्रतिशत से अधिक भाग जंगलों से घिरा है। यहाँ साल के जंगल हैं। लगभग ४००० किस्म के फलने फूलनेवाले पौधे तथा छोटी झाड़ियाँ हैं। यहाँ की मुख्य उपज धान, ज्वार, बाजरा और मक्का है। संतरा और सेब बहुत होते हैं। बड़ी इलायची भी होती है। पशुओं में बर्फीला चीता, भालू, कस्तूरी मृग और बारहसिंगे पाए जाते हैं।

१९५० ई० की संधि के अनुसार सिक्किम भारत द्वारा संरक्षित है। इसकी सुरक्षा, विदेशी मामले, डाकतार, सीमा की सड़कों तथा अन्य महत्वपूर्ण सड़कों आदि के विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व भारत सरकार का है। सिक्किम के अंदरूनी मामले में भारत दखल नहीं देता। सिक्किम की आबादी १,६५,००० है जिसमें नेपाली ८५ प्रतिशत, लेप्चा १३ प्रतिशत और तिब्बती या अन्य लोग २ प्रतिशत हैं। यहाँ की स्त्रियों को बड़ी स्वतंत्रता है। अधिकांश स्त्रियाँ, विशेषतः लेप्चा या तिब्बती एक लंबा सा लबादा, जिसे 'बक्कू' कहते हैं, पहनती हैं। यह कमर में कसकर बँधी रहती है। स्त्रियाँ सिर पर टोपी भी पहनती हैं। अब कोट, पतलून, सलवार, कमीज और साड़ी का भी प्रचलन हो गया है। यहाँ के निवासी बौद्ध धर्मावलंबी हैं पर अधिकांश नेपाली हनुमान जी की पूजा भी करते हैं। शिक्षा में सिक्किम पिछड़ा हुआ है। इसके आर्थिक विकास के लिये भारत ने पर्याप्त धन दिया है। शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग धंधे, पशुपालन, खेती बारी आदि का पर्याप्त विकास हो रहा है। अनेक लोअर प्राइमरी, अपर प्राइमरी, मिडिल और हाई स्कूल खुल गए हैं। स्कूलों में नेपाली और तिब्बती भाषाएँ अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाती हैं। हिंदी पढ़ाने का भी प्रबंध हुआ है।

तिब्बत के लिये दो दर्रे नाथु ला (१४,४१२ फुट) और जेलेप ला (१३,२५४ फुट) हैं। इन्हीं दर्रों द्वारा पहले तिब्बत से लाखों का व्यापार होता था। यहाँ कई पर्वतशिखर हैं जिनमें कंचनजंघा (ऊँचाई २८,१४० फुट), सिनियोल्चु (२२,६२० फुट), किनचिन जाऊ (२२,१०० फुट), चोमियोमो (२२,३८५ फुट) प्रमुख हैं। कंचनजंघा उनका पवित्र शिखर है जिसका वे लोग पूजोत्सव मनाते हैं। यहाँ वर्षा अधिक (औसत १३७ इंच) होती है। यहाँ कई छोटी छोटी नदियाँ लाचिन, लाचुंग और तिस्ता हैं जो उत्तर से बहती हुई दक्षिण में संकरी हो गई हैं।

इतिहास — १३वीं शती में लेप्चा लोग बरमा और असम से आकर सिक्किम में बस गए। कुछ दिनों के बाद वे लोग वहाँ के राजा बन बैठे। तिब्बत से आए कुछ लोग लेप्चाओं को हराकर वहाँ के शासक १६४१ ई० में बन बैठे और इन्होंने बौद्ध लामा धर्म को स्थापित किया। १८ वीं शती तक सिक्किम तिब्बत के अधीन था। १७८० ई० में भूटान ने सिक्किम पर आक्रमण किया था। १८१६ ई० में अंग्रेजों ने सिक्किम के साथ संबंध स्थापित किया। १८४९ ई० में आर्किबॉल्ड कैंपेल, दार्जिलिंग के सुपरिंटेंडेंट और सर जोसेफ हूकर को कैद कर लिया। इसके फलस्वरूप अंग्रेजों ने १८६१ ई० में एक संधि सिक्किम पर बलात् थोपकर उसे ब्रिटिश सत्ता का संरक्षित राज्य बना लिया। १८९० ई० में एक दूसरी संधि हुई जिसके द्वारा सिक्किम ने अंग्रेजों का संरक्षण स्वीकार कर लिया। भारत को स्वतंत्रता मिलने पर १९४७ ई० में भारत के अधीन सिक्किम आ गया और १९५० ई० के दिसंबर में संधि हुई जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है। १९५३ ई० में शासन के लिये एक परिषद् (काउंसिल) बनी जिसके ५ सदस्य चुने हुए तथा ३ सदस्य नामजद होते हैं। नामजद सदस्यों में से दो की सहायता से महाराजा राज्य का शासन चलाते हैं। राज्य में शांति बनाए रखने और कानून पालन के लिये न्यायालय है।

सिक्ख युद्ध वास्तव में, अपरोक्ष रूप से, आंग्ल सिक्ख संघर्ष का बीजारोपण तभी हो गया जब सतलज पर अंगरेजी सीमांत रेखा के निर्धारण के साथ पूर्वी सिक्ख रियासतों पर अंगरेजी अभिभावकत्व की स्थापना हुई। सिक्ख राजधानी, लाहौर, के निकट फिरोजपुर का अंगरेजी छावनी में परिवर्तित होना (१८३८) भी सिक्खों के लिये भावी आशंका का कारण बना। गवर्नर जनरल एलनबरा और उसके उत्तराधिकारी हार्डिंज अनुगामी नीति के समर्थक थे। २३ अक्टूबर, १८४५ को हार्डिंज ने एलेनबरा को लिखा था कि पंजाब या तो सिक्खों का होगा, या अंगरेजों का; तथा, विलंब केवल इसलिये था कि अभी तक युद्ध का कारण अप्राप्त था। वह कारण भी उपलब्ध हो गया जब प्रबल किंतु अनियंत्रित सिक्ख सेना, अंगरेजों के उत्तेजनात्मक कार्यों से उद्वेलित हो, तथा पारस्परिक वैमनस्य और षड्यंत्रों से अव्यवस्थित लाहौर दरबार के स्वार्थलोलुप प्रमुख अधिकारियों द्वारा भड़काए जाने पर, संघर्ष के लिये उद्यत हो गई। सिक्ख सेना के सतलज पार करते ही (१३ दिसंबर, १८४५) हार्डिंज ने युद्ध की घोषणा कर दी।

प्रथम सिक्ख युद्ध का प्रथम रण (१८ दिसंबर, १८४५) मुदकी में हुआ। प्रधान मंत्री लालसिंह के रणक्षेत्र से पलायन के कारण सिक्ख सेना की पराजय निश्चित हो गई। दूसरा मोर्चा (२१ दिसंबर) फिरोजशहर में हुआ। अंगरेजी सेना की भारी क्षति के बावजूद, रात में लालसिंह, तथा प्रातः प्रधान सेनापति तेजासिंह के पलायन के कारण सिक्ख सेना पुनः पराजित हुई। तीसरा मोर्चा (२१ जनवरी, १८४६) बद्दोवाल में हुआ। रणजोधसिंह तथा अजीतसिंह के नायकत्व में सिक्ख सेना ने हैरी स्मिथ को पराजित किया; यद्यपि ब्रिगेडियर क्यूरेटन द्वारा सामयिक सहायता पहुँचने के कारण अंगरेजी सेना की परिस्थिति कुछ सँभल गई। चौथा मोर्चा (२८

जनवरी) अलीवाल में हुआ, जहाँ अंग्रेजों का सिक्खों से अव्यवस्थित संघर्ष (Skirmish) हुआ। अंतिम रण (१० फरवरी) सोब्राओं में हुआ। तीन घंटे की गोलाबारी के बाद, प्रधान अंगरेजी सेनापति लार्ड गफ ने सतलज के बाएँ तट पर स्थित सुदृढ़ सिक्ख मोर्चे पर आक्रमण कर दिया। प्रथमत: गुलाबसिंह ने सिक्ख सेना को रसद पहुँचाने में जानें बूझकर ढील दी। दूसरे, लालसिंह ने युद्ध में सामयिक सहायता प्रदान नहीं की। तीसरे, प्रधान सेनापति तेजासिंह ने युद्ध के चरम बिंदु पर पहुँचने के समय मैदान ही नहीं छोड़ा, बल्कि सिक्ख सेना की पीठ की ओर स्थित नाव के पुल को भी तोड़ दिया। चतुर्दिक् घिरकर भी सिक्ख सिपाहियों ने अंतिम मोर्चे तक युद्ध किया, किंतु, अंतत:, उन्हें आत्मसमर्पण करना पड़ा।

२० फरवरी, १८४६, को विजयी अंगरेज सेना लाहौर पहुँची। लाहौर (९ मार्च) तथा भैरोवाल (१६, दिसंबर) की संधियों के अनुसार पंजाब पर अंगरेजी प्रभुत्व की स्थापना हो गई। लारेंस को ब्रिटिश रेजिडेंट नियुक्त कर विस्तृत प्रशासकीय अधिकार सौंप दिए गए। अल्पवयस्क महाराजा दिलीपसिंह की माता तथा अभिभावक रानी जिंदाँ को पेंशन बाँध दी गई। अब पंजाब का अधिकृत होना शेष रहा जो डलहौजी द्वारा संपन्न हुआ।

मुल्तान के गवर्नर मूलराज ने, उत्तराधिकार दंड माँगे जाने पर त्यागपत्र दे दिया। परिस्थिति सँभालने, लाहौर दरबार द्वारा खानसिंह के साथ दो अंगरेज अधिकारी भेजे गए, जिनकी हत्या हो गई। तदनंतर मूलराज ने विद्रोह कर दिया। यह विद्रोह द्वितीय सिक्ख युद्ध का एक आधार बना। राजमाता रानी जिंदाँ को सिक्खों को उत्तेजित करने के संदेह पर शेखूपुरा में बंदी बना दिया था। अब, विद्रोह में सहयोग देने के अभियोग पर उसे पंजाब से निष्कासित कर दिया गया। इससे सिक्खों में तीव्र असंतोष फैलना अनिवार्य था। अंतत:, कैप्टन ऐबट की साजिशों के फलस्वरूप, महाराजा के भावी श्वसुर, वयोवृद्ध छतरसिंह अटारीवाला ने भी बगावत कर दी। शेरसिंह ने भी अपने विद्रोही पिता का साथ दिया। यही विद्रोह सिक्ख युद्ध में परिवर्तित हो गया।

प्रथम संग्राम (१३ जनवरी, १८४९) चिलियाँवाला में हुआ। इस युद्ध में अंगरेजों की सर्वाधिक क्षति हुई। संघर्ष इतना तीव्र था कि दोनों पक्षों ने अपने विजयी होने का दावा किया। द्वितीय मोर्चा (२१ फरवरी) गुजरात में हुआ। सिक्ख पूर्णतया पराजित हुए, तथा १२ मार्च को यह कहकर कि आज रणजीतसिंह मर गए, सिक्ख सिपाहियों ने आत्मसमर्पण कर दिया। २९ मार्च को पंजाब अंगरेजी साम्राज्य का अंग घोषित हो गया।

सं० ग्रं०—कनिंघम : हिस्ट्री ऑव द सिक्ख्स, एडिटेड बाई गैरेट; मेक्ग्रेगर : हिस्ट्री ऑव सिक्ख्स; गफ़ ऐंड इन्स : सिक्ख्स ऐंड द सिक्ख वार्स; डा० गंडासिंह : ब्रिटिश ऑक्यूपेशन ऑव् द पंजाब; डा० हरीराम गुप्त : हिस्ट्री ऑव द सिक्ख्स; अनिलचंद्र बनर्जी : ऐंग्लो सिक्ख रिलेशंस; कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, खंड ५।

पंजाबी में — डा० गंडासिंह : सिक्ख इतिहास, अंग्रेजाँ तें सिखाँ दी लड़ाई (संपादित), पंजाब उत्ते अंग्रेजाँ दा कब्जा। [रा० ना०]

सिगनल, (संकेतक) (Signals) रेलवे संकेतक प्रणाली का व्यवहार रेलगाड़ी के चालकों को रेलपथ की आगे की दशा की सूचना देने के लिये किया जाता है। सिगनल प्रणाली ही आज गाड़ियों के सुरक्षित तथा तीव्र गतिसंचालन की कुंजी है। रेलवे सिगनल साधारणत: रेलपथ पर लगे हुए उन स्थावर संकेतकों को कहते हैं जिनसे रेल चालक को रेलपथ के अगले खंड की दशा का ज्ञान हो सके।

ऐतिहासिक प्रगति — प्रारंभ में ऐसे सिगनलों की व्यवस्था नहीं थी तथा डार्लिंगटन से स्टॉकटन जानेवाली पहली रेलगाड़ी के आगे कुछ घुड़सवार संत्री रास्ता साफ करने के लिये चले थे। उनके बाद इस काम को निश्चित दूरियों पर संत्रियों को खड़ा करके किया जाने लगा। समय की प्रगति के साथ इन संत्रियों के स्थान पर स्थावर सिगनल लगाए जाने लगे। संसार का पहला सिगनल इंग्लैंड के हाड्‌सपूल स्टेशन के स्टेशन मास्टर की मेज पर मोमबत्ती लगाकर बनाया गया था। इसके बाद ही तश्तरी जैसे गोल सिगनल चालू हुए। अमेरिका में सन् १८३२ में जब वाष्पचालित इंजनों द्वारा गाड़ियों का परिवहन प्रचलित किया गया, तब न्यूकैसिल तथा फ्रेंच टाउन के बीच १७ मील की दूरी में गेंदनुमा सिगनलों की प्रणाली प्रयोग में लाई गई। इस प्रणाली में तीन तीन मील पर लगभग ३० फुट ऊँचे खंभे लगाए गए। जैसे ही एक गाड़ी एक ओर से चलाई जाती, वहाँ का झंडी वाला एक सफेद गेंद खंभे की पूरी ऊँचाई पर चढ़ा देता। अगले खंभे के पास का झंडीवाला इस गेंद को अपनी दूरबीन द्वारा देखकर इसी प्रकार की एक सफेद गेंद अपने खंभे पर चोटी से कुछ नीचे तक चढ़ा देता। हर अगले खंभेवाला इसी प्रकार पिछले खंभे को देखकर अपनी अपनी गेंद चढ़ा देता। इस प्रकार कुछ ही मिनटों में दूसरी ओर के स्टेशन को गाड़ी के चलने का पता चल जाता और वे सतर्क हो जाते। यदि गाड़ी अपने समय पर नहीं चल पाती, तो सफेद गेंद के स्थान पर काली गेंद चढ़ा दी जाती। इस प्रकार तार द्वारा सूचना देने का आविष्कार होने से पहले यह प्रणाली गाड़ी चलाने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई।

पर उस समय सिगनल का काँटे और पारपथ में कोई अंत:पाशन (Interlocking) नहीं होता था और काँटे पारपथ की प्रतिकूल दशा में होते हुए भी संकेतक 'अनुकूल' अवस्था में किया जा सकता था। इस कारण पूरी सुरक्षा नहीं होती थी तथा किसी भी मानवीय त्रुटि के कारण दुर्घटना की संभावना हो जाती थी। इसको दूर करने के लिये संकेतक तथा काँटे पारपथ (क्रासिंग) का अंत:पाशन किया गया जिससे यदि काँटे क्रासिंग प्रतिकूल हों तो संकेतक को 'अनुकूल' नहीं किया जा सकता था। प्रारंभ में यह अंत:पाशन यांत्रिक होता था। पर विज्ञान की प्रगति तथा रिले (Relay) के आविष्कार से अब विद्युत् अंत:पाशन होता है।

यांत्रिक अंत:पाशन का प्रयोग इंग्लैंड में सर्वप्रथम ब्रिकेलयर-आर्म जंक्शन पर सन् १८४३ में हुआ था। अमेरिका में इसका प्रयोग सन् १८७४ में प्रारंभ हुआ तथा भारत में सन् १८९२ में।

सन् १८७१ में ट्रैक सरकिट का आविष्कार हो जाने से स्वचालित सिगनल प्रणाली का प्रयोग भी संभव हो गया। इसकी सहायता से गाड़ियों के आने जाने के साथ ही अपने आप बिना किसी बाह्य सहा-

वता के विद्युत् द्वारा संकेतक अगले खंड की दशा के अनुसार अनुकूल 'सतर्कता' अथवा 'संकट' अवस्था में पहुंच जाते हैं।

ट्रैक सरकिट तथा रिले की सहायता से यातायात नियंत्रण के लिये संकेतक व्यवस्था की प्रगति आशातीत हुई है। अब तो एक दूरवर्ती केंद्रीय स्थान से यातायात का सुगमतापूर्वक संचालन किया जा सकता है। ऐसे संचालन को केंद्रीकृत यातायात नियंत्रण (centralised traffic control) कहते हैं।

भारत की संकेतक प्रणाली, आरंभ के संकेतक — भारत में जिस समय रेल परिवहन प्रारंभ हुआ उस समय घूमनेवाले तश्तरीनुमा या अलग अलग रंग के शीशों की हाथ-रोशनीवाले संकेतक प्रयोग में लाए गए। तश्तरीनुमा गोल संकेतक यदि लाइन से समकोण बनाता तो आगे 'संकट' का सूचक होता और यदि लाइन के समांतर होता, तो इस बात का द्योतक होता कि आगे रास्ता 'अनुकूल' है और गाड़ी जा सकती है।

उसके बाद स्टेशनों पर एक ही खंभे पर दोनों दिशा के लिये संकेतक लगाए गए। इनमें हर दिशा के लिये एक अलग ऊपर नीचे गिरनेवाला भुजा संकेतक होता था और स्टेशन मास्टर जिस ओर की गाड़ी को आने की आज्ञा देना चाहता था उसी ओर के संकेतक को गिरा देता था। ऐसे संकेतकों का तो २५ साल पहले तक भी कुछ मार्गों में व्यवहार होता रहा है।

सिस्ट और मोर्स प्रणाली — सन् १८९२ तक भारत में कोई व्यवस्थित सिगनल प्रणाली नहीं थी। इस साल नार्थ-वेस्टर्न रेलवे पर श्री डी० एच० सिस्टन ने क्रासिंग स्टेशनों पर एक विशेष यंत्र लगाकर सिगनलों का तथा कांटे क्रासिंग के अंतःपाशन की व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण कार्य किया। इस यंत्र की सहायता से इस बात का आश्वासन हो जाता था कि यदि संकेतक 'अनुकूल' है तो कांटे क्रासिंग अवश्य ही अनुकूल होंगे और इसलिये गाड़ी की गति धीमी करने की आवश्यकता नहीं है जो बिना इस प्रणाली के अत्यावश्यक थी। सन् १८९४ में श्री ए० मोर्स के सहयोग से अपने यंत्र में आवश्यक संशोधन करके सिस्ट और मोर्स प्रणाली को प्रचलित किया। यद्यपि ये यंत्र और अच्छी प्रणालियों के प्रचलन में आ जाने के कारण असामयिक हो गए हैं, फिर भी ये अभी अनेक भारतीय रेलों पर चालू हैं। इस प्रणाली के कारण ही सिस्ट और मोर्स को भारत की सिगनल प्रणाली का 'जनक' कहा जाता है।

हेपर ट्रांसमिटर: — सन् १९०४ तक सिगनल तथा कांटे क्रासिंग के अंतःपाशन की चाभी स्टेशन मास्टर के पास वाहक द्वारा भेजी जाती थी जिसे देखकर वह संकेतक को 'अनुकूल' कर देता था, पर इससे चाभी ले जाने और लाने में व्यर्थ समय नष्ट होता था और यातायात की गति में रुकावट पड़ती थी। इसको दूर करने के लिये मेजर वालेस हेपर ने (जिनको बाद में 'सर' की उपाधि भी मिली), जो नार्थ वेस्टर्न रेलवे के सिगनल इंजीनियर थे और आगे चलकर जी० आई० पी० रेलवे के जनरल मैनेजर भी बने, बिजली द्वारा इस चाभी को स्टेशन मास्टर के पास पहुँचाने का प्रबंध किया। ऐसी चाभियों को 'हेपर की ट्रांसमिटर' (Heppers key transmitter) कहते हैं और इस अविष्कार से यातायात की गति को बड़ी सहायता मिली।

केबिन अंतःपाशन (Cabin Interlocking) — केबिन अंतःपाशन का आविष्कार जान सैक्सबी ने किया था और आरंभ में इसका प्रयोग ब्रिटिश रेलों में हुआ था। बीसवीं शताब्दी के शुरू में भारतीय रेलों में भी इसका प्रचलन शुरू हुआ। इसकी कुछ योजनाएँ तो मेसर्स सैक्सबी और फार्मर (इंडिया) फर्म ने सन् १८९३ में ही तैयार कर ली थीं पर इसको गाड़ियों की चाल तथा यातायात बढ़ने पर, उसे सुरक्षित रखने के लिये अंतःपाशन की आवश्यकता प्रतीत होने पर ही अपनाया गया। सबसे पहले जी० आई० पी० रेलवे पर बंबई और देहली के मार्ग में ही केबिन अंतःपाशन का बहुत बड़े पैमाने पर प्रयोग हुआ। यह अवस्था सन् १९१२ में पूरी होकर चालू की गई। इसी प्रकार बाद में अन्य रेलों के मुख्य मार्गों पर भी इन्हें चालू किया गया।

दोहरे तार की संकेतक प्रणाली

यांत्रिक संकेत प्रणाली में दोहरे तार के संकेतकों का प्रमुख स्थान हो गया है। इसमें केबिन से कांटे, पाशदंडों (Lock-Bars) परिचायकों (Detectors) तथा संकेतकों के परिचालन के लिये दो तारों का प्रयोग किया जाता है।

यह प्रणाली अब भारतीय रेलों पर विस्तृत रूप से प्रचलित हो गई है तथा दूसरी यांत्रिक संकेत प्रणालियों से (जिनमें सामान्य रूप से प्रचलित प्रणाली में इकहरे तार द्वारा संकेतका प्रचालन, तथा छड़ों द्वारा पारपथों का संचालन करके दोनों का एक ढाँचे में अंतःपाशन किया जाता है) अधिक उत्तम मानी जाती है।

दोहरे तार की संकेतक प्रणाली में सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि इसके द्वारा अधिक लंबी नपी हुई चाल प्राप्त की जा सकती है और इस कारण अधिक दूरी तक बिना कठिनाई के संकेतकों पर नियंत्रण किया जा सकता है। छड़ों द्वारा ५०० गज की जगह इस प्रणाली द्वारा कांटे क्रासिंगों का ८०० गज तक दक्षता से संचालन किया जा सकता है तथा संकेतक तो १५०० गज की दूरी तक कार्य कर सकता है। इस प्रणाली में संकेतकों के 'संकट' स्थिति में वापस लाने के लिये प्रतिभार (Counter-weight) जैसे अविश्वसनीय तरीके को अपनाने की भी आवश्यकता नहीं रहती है और संकेतक को पूर्व दशा में लाने के लिये लिवर को सक्रिय रूप में खींचना होता है। इस कारण दोहरे तार की संकेतक प्रणाली में अनधिकृत संचालन असंभव हो जाता है। साथ ही स्वचालित प्रतिपूरकों (automatic compensators) के प्रयोग द्वारा संकेतकों की चाल में ताप परिवर्तन का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इस प्रणाली का उपयोग आर्थिक दृष्टि से भी लाभदायक है क्योंकि इसमें आसानी से १००० गज लंबी या इससे अधिक तक की लूप लाइन के स्टेशनों का केंद्रीय केबिन से ही संचालन किया जा सकता है जिसके कारण एक केबिन तथा उसके संचालन के व्यय की बचत हो जाती है।

लिवर ढाँचा (Lever Frame) — दोहरी तार प्रणाली के

लिये लिवर ढाँचा दो १०" × ३" की चैनलों को जोड़कर उसके बीच में लिवर लगाकर बनाया जाता है। ये चैनलें केबिन की शहतीरों में बोल्ट द्वारा जुड़ी रहती हैं। लिवर एक ढोल के आकार का होता है जिसमें उपयुक्त माप का एक हैंडिल लगा रहता है जिसके द्वारा ढोल को १८०° तक घुमाया जा सकता है और इस प्रकार इच्छित निदिष्ट मात्रा में घुमाने से संकेतक की दशा बदली जा सकती है। हर लिवर अलग अलग जुड़ा होने के कारण उनमें से किसी को भी आसानी से बदला जा सकता है।

संकेत चालक यंत्र (Signal Mechanism) — संकेत यंत्र का प्रयोग सकेतक के संचालन के लिये किया जाता है। इसके द्वारा संकेतक को ०°, ४५° या ९०° कोण पर किसी भी दशा मे लाया जा सकता है। इनका परिकल्पन इस प्रकार होता है कि इसमें संकेतक के किसी और कोण या दशा में रह सकने की सभावना नही रहती तथा तार टूटने की दशा में संकेतक फौरन 'संकट' सूचक दशा में पहुँच जाता है।

काँटा चालक यंत्र (Point Mechanism) — काँटे की चाल के लिये एक दाँतेदार छड़ यंत्रचक्र के साथ फँसा रहता है। यह छड़ काँटे को चाल देता है तथा पाशन छड़ को भी चलाता है जिसके कारण काँटा अपने स्थान पर पहुँचने के साथ ही पाशित हो जाता है। साथ ही ऐसा प्रबंध भी होता है कि तार के टूट जाने पर काँटा अपने स्थान पर ही स्थित रहता है और उसमें कोई गति नही की जा सकती।

परिचायक (Detector) — दोहरे तार की संकेत प्रणाली में एक और अत्यंत उपयोगी साधन जो काम में लाया जाता है 'परिचायक' है। इसका कार्य पारपथ के काँटे के ठीक जगह पर पहुँचने की जाँच करना है। परिवहन सुरक्षा में इस जाँच का महत्वपूर्ण स्थान है। इस जाँच के साथ ही परिचायक तार टूट जाने पर काँटे को अपने स्थान पर जकड़ भी देता है। परिचायक काँटे के पास ही लगाया हुआ एक चक्र होता है जो संकेत प्रणाली के तारो के साथ जुड़ा रहता है और उनकी चाल के साथ ही घूमता है। इस पहिए के बाहरी हिस्से में खाँचे कटे हुए होते हैं जो काँटों की चाल के साथ चलनेवाली लोहे की रोकों में अटक जाते हैं। इस प्रकार यदि काँटा 'प्रतिकूल' दशा में है, तो संकेतक का 'अनुकूल' दिशा में किया जा सकना असमव हो जाता है।

स्वचालित सिगनल प्रणाली (Automatic Slock Bignalling) — बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में रेल लाइन को बिजली द्वारा सिगनल से संबंधित करने की प्रथा ट्रैक सरकिटिंग, (Track circuiting) निकली और क्रमशः भारत के बड़े बड़े स्टेशनों पर चालू की गई। ट्रैक सरकिटिंग से बिजली द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि आगे की राह पर कोई गाड़ी या किसी और किस्म की कोई रुकावट तो नहीं है।

ट्रैक सरकिटिंग के द्वारा स्वचालित सिगनल प्रणाली भी संभव हो सकी है। इससे दोहरी लाइनों पर एक के पीछे एक गाड़ियों को कुछ मिनटों के अंतर पर चलाना संभव हो गया है। जैसे ही गाड़ी किसी खंड में पदार्पण करती है, उस खंड के प्रारंभवाला संकेतक 'संकट' दशा का प्रदर्शन करने लगता है तथा उससे पहले खंड के प्रारंभ का संकेतक 'सतर्कता' सूचना देता है। जैसे ही गाड़ी खंड से बाहर निकल जाती है, संकेतक फिर अपने आप 'अनुकूल' दशा मे आ जाता है। इस प्रकार गाड़ी के चालक को पता रहता है कि अगले खंडों मे कोई गाड़ी या रुकावट तो नहीं है। यदि होती है तो वह सतर्कता से काम लेता है और गाड़ी रोक देता है।

कलकत्ता, बंबई तथा मद्रास के पास जहाँ यातायात बहुत बढ़ गया है, स्वचालित संकेतक प्रणाली कार्य मे लाई जा रही है।

संकेतकों के प्रकार

यातायात के लिये प्रयोग किए जानेवाले संकेतक मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं:

(१) सीमाफोर (Semaphore) भुजा संकेतक
(२) रंगीन प्रकाश (Colour light) संकेतक
(३) प्रकाश स्थिति (Position light) संकेतक
(४) रंगीन प्रकाश (Colour position light) संकेतक
(५) चालक कोष्ठ संकेतक (Cab signal)

सीमाफोर — खंभे पर भुजा की दशा से विभिन्न संकेत देनेवाले संकेतक को सीमाफोर संकेतक कहते हैं।

भुजा की चाल नीचे की ओर निचले वृत्त पाद (lower quadrant) या ऊपर की ओर ऊपरी वृत्त पाद (Upper quadrant) हो सकती है। नीचे की ओर चालवाले संकेतक दो ही दशाओं के द्योतक होते हैं। भुजा की अनुप्रस्थ दशा 'संकट' सूचक होती है तथा ४५° का कोण बनाती हुई दशा 'सुरक्षा' सूचक होती है।

इसके विपरीत ऊपरी चालवाले संकेतक तीन दशाओं के द्योतक होते हैं। इनमे भी भुजा की अनुप्रस्थ दशा संकट सूचक होती है। दूसरी दशा मे भुजा ऊपर की ओर ४५° का कोण बनाती है। यह 'सतर्कता' सूचक होती है। तीसरी दशा में भुजा एकदम ऊपर को सीधी हो जाती है और 'अनुकूल' होती है जिससे यह पता चलता है कि रास्ता एकदम साफ है तथा चालक पूरे वेग से जा सकता है। ऊपरी चाल मे तीन दशाओं की सूचना हो सकने के कारण चालक को 'संकट' से पहले रोक सकने के लिये पर्याप्त समय मिल जाता है और इसलिये यदि संकेतक की भुजा सुरक्षा दशा में है, तो वह बिना हिचक पूरी गति पर चल सकता है।

भुजा संकेतक रात्रि के समय कार्य में नही लाए जा सकते। इस कारण रात्रि में उनके स्थान पर रंगीन रोशनी द्वारा संकेत किया जाता है। 'संकट' की सूचना के लिये लाल रोशनी का संकेत होता है। 'सतर्कता के लिये पीली तथा अनुकूल पथ के लिये हरी रोशनी का प्रयोग करते हैं।

(२) रंगीन रोशनी संकेतक — विद्युत् तथा लेंसों (Lens) की सहायता से संकेतक की रोशनी इतनी तेज कर दी जाती है कि रोशनी द्वारा दिन में भी रंगीन प्रकाश द्वारा संकेत दिए जा सकें। इस प्रकार आधुनिक संकेतक दिन रात में एक ही तरह का संकेत देते हैं तथा बहुत दूर से दिखाई दे सकते हैं।

(३) प्रकाश स्थिति संकेतक (Position light Signal) :— इस प्रकार के संकेतक बहुत कम स्थानों में प्रयुक्त होते हैं। इनमें दो या अधिक प्रकाशों की स्थिति द्वारा संकेत दिया जाता है तथा पीले रंग की बत्ती काम में लाई जाती है।

(४) रंगीन प्रकाश स्थिति — अमरीका में एक रेल प्रशासन पर इसका प्रयोग होता है। लाल बत्तियाँ अनुप्रस्थ दशा में संकट की सूचना देती हैं। ४५° कोण पर पीली बत्तियाँ सतर्कता सूचक होती हैं तथा सीधी खड़ी अवस्था में हरी बत्ती 'अनुकूल' की द्योतक होती है।

(५) कोष्ठ संकेतक — चालक के सामने कोष्ठ में स्थित संकेतक को कोष्ठ संकेतक कहते हैं और अगले खंड की अवस्था के अनुसार कोष्ठ में लगातार संकेत मिलता रहता है। यह कोष्ठ संकेत ट्रैक सरकिट के अविष्कार द्वारा ही संभव हो पाया है तथा इसकी सहायता से चालक को बराबर यह पता रहता है कि कितनी दूर तक आगे लाइन साफ है और इस प्रकार वह उसी के अनुसार अपनी गाड़ी की गति पर नियंत्रण रख सकता है।

अंत:पाशन — रेलवे परिभाषा में अंत:पाशन का अर्थ सिगनल तथा काँटे और पारपथों की चाल पर इस प्रकार नियंत्रण करना होता है कि वे एक दूसरे के प्रतिकूल कार्य न कर सकें। ऐतिहासिक प्रगति का वर्णन करते हुए बताया जा चुका है कि प्रारंभ में अंत:-पाशन यांत्रिक होता था पर विज्ञान की प्रगति के साथ अंत:पाशन में भी विद्युत् तथा रिले द्वारा अत्यधिक प्रगति हुई तथा अब कहीं कहीं अंत:पाशन की ऐसी व्यवस्था हो गई है कि एक राह स्थापित करके उसके संकेतक अनुकूल होते ही अन्य संकेतक तथा काँटे पारपथ अपने आप इस प्रकार फंस जाते हैं कि काँटेवाले की गलती से भी किसी विरोधाभासी संचालन को संभावना नहीं रह जाती।

मुख्यत: दो प्रकार के अंत:पाशन होते हैं — (१) यांत्रिक अंत:-पाशन तथा (२) विद्युत् अंत:पाशन। यांत्रिक अंत:पाशन में लिवर की चाल से ही अन्य लिवरों के खाँचों में इस प्रकार यांत्रिक फंसाव कर दिया जाता है कि विरोधाभासी लिवरों की चाल रुक जाती है। विद्युत् अंत:पाशन में लिवरों की चाल से विद्युत्प्रवाह में इस प्रकार की रुकावट पैदा कर दी जाती है कि विरोधाभासी लिवर न चल सके। विद्युत् अंत:पाशन की प्रगति में निम्नलिखित प्रणालियाँ उल्लेखनीय हैं तथा विभिन्न स्थानों पर कार्य में लाई जा रही हैं।

(१) अंत:पाशन तथा ब्लाक प्रणाली (Lock and block System) —

इस प्रणाली में संकेतक इस प्रकार ब्लाक यंत्र से अंत:पाशित रहता है कि जब तक गाडी ब्लाक खंड को पार करके उसके बाहर नहीं हो जाती, दूसरी गाड़ी के लिये लाइन क्लीयर नहीं दिया जा सकता तथा संबंधित संकेतक भी 'अनुकूल' नहीं किया जा सकता।
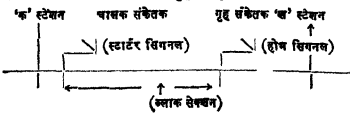
जब 'क' स्टेशन से 'ख' स्टेशन को गाड़ी भेजनी होती है तो 'क' स्टेशन 'ख' स्टेशन से ब्लाक यंत्र पर आज्ञा माँगता है और उसकी सहायता से लाइन क्लीयर प्राप्त करता है। ब्लाक तथा ब्लाक प्रणाली में लाइन क्लीयर प्राप्त करने के बाद ही 'क' स्टेशन अपना चालक संकेतक 'अनुकूल' कर सकता है और गाड़ी के ब्लाक खंड में पदार्पण करते ही संकेतक 'संकट' दशा में आ जाता है और नया लाइन क्लीयर तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक गाड़ी ब्लाक खंड को पार न कर ले और होम सिगनल 'संकट' दशा में न आ जाय। इससे एक ही ब्लाक खंड में एक ही समय में दो गाड़ियों की संभावना तब तक नहीं रहती जब तक गाड़ी का चालक संकेतक को अमान्य करके गलती से ही अपनी गाड़ी न ले जाए।

(२) विद्युद्यांत्रिक अंत:पाशन (Elactro-mechanical Interlocking) विद्युत्शक्ति संचालित संकेतकों के प्रयोग के बाद ही विद्युद्यांत्रिक अंत:पाशन का उपयोग प्रारंभ हुआ। इसका यंत्र यांत्रिक अंत:पाशन के यंत्र की ही भाँति होता है जिसके ऊपर विद्युत् नियंत्रक अथवा लिवर लगे होते हैं जो कि एक लिवर की चाल के बाद दूसरे विरोधाभासी यंत्रों की चाल रोक देते हैं। काँटे पारपथों तथा पाशों का यांत्रिक लिवरों द्वारा पाइप तथा लौहदंड की सहायता से परिचालन किया जाता है। विद्युत् संकेतकों का नियंत्रण बिजली के लिवर की सहायता से करते हैं।

(३) विद्युत् वायुदाबी अंत:पाशन (Electro-pneumatic Interlocking) इस प्रकार के अंत:पाशन के काँटों के संचालन का कार्य दाबित वायु द्वारा किया जाता है तथा दाबित वायु के सिलिंडरों के वाल्व इ० का नियंत्रण विद्युत् द्वारा होता है। इसके लिये १२ वोल्ट की बिजली इस्तेमाल होती है। काँटों के संचालन के लिये ७५ पाउंड प्रति वर्ग इंच के दबाव की वायु प्रयोग में लाई जाती है। इस प्रकार के यंत्र का प्रयोग ऐसे स्थानों में होता है जहाँ काँटों का संचालन शीघ्रता से करना होता है।

(४) विद्युत् अंत:पाशन (Electric Interlocking) इस प्रकार के अंत:पाशन में काँटों की चाल तथा संकेतकों का सब कार्य विद्युत् से किया जाता है। काँटों के संचालन के लिये बिजली के मोटर लगाए जाते हैं। इस यंत्र का संचालन अधिकतर ११० वोल्ट दिष्ट धारा द्वारा होता है पर कहीं कहीं ११६ वोल्ट प्रत्यावर्ती धारा भी काम में लाते हैं।

इस अंत:पाशन में काँटा जब तक अपनी पूरी चाल प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक संकेतक अनुकूल दशा नहीं दिखा सकता और इस तरह काँटे की चाल के बीच में अटकने पर भी गाडी के लाईन से उतर जाने की दुर्घटना असंभव हो जाती है। विद्युत् संचनित्र अंत:पाशता में भी यह व्यवस्था रहती है।

इस प्रकार के अंत:पाशन का प्रयोग दिल्ली के पास सब्जीमंडी स्टेशन पर किया गया है।

विद्युत् अंत:पाशन का व्यवहार ऐसे स्थानों पर नहीं किया जा सकता जहाँ बरसात में बाढ़ आकर विद्युत् मोटरों के डूबने का खतरा रहता हो।

(५) रिले अंत:पाशन — यांत्रिक अंत:पाशन के स्थान पर अब

रिले अंत:पाशन का पर्याप्त प्रयोग होने लगा है। रिले द्वारा विद्युत् सरकिट इस प्रकार नियंत्रित किए जाते हैं कि यदि एक सरकिट कार्य कर रहा है तो दूसरा सरकिट जिसमें विरोधी संकेतक या काँटों की चाल होती है कार्य न कर पाए। रिले के आविष्कार से अंत:पाशन का कार्य काफी सुविधा से होने लगा है और बड़े बड़े स्टेशनों का कार्य थोड़े से स्थान में अल्प जनसंख्या से किया जा सकता है।

(६) पथ रिले अंत:पाशन — रिले अंत:पाशन के बाद नवीनतम प्रगति पथ अंत:पाशन की हुई है। इसके द्वारा संचालक यदि एक पथ किसी गाड़ी के लिये निर्धारित करके स्थापित कर देता है, तो सारे विरोधी पथ, जिनसे किसी और गाड़ी के उस पथ पर आने की संभावना हो, अंत:पाशित हो जाते हैं और स्थापित नहीं किए जा सकते। इस प्रकार के पथ, स्थापित करने में विविध संकेतकों तथा काँटों की चालों के बटनों को दबाना पड़ता है। इसके स्थान पर अब ऐसी व्यवस्था भी होने लगी है कि विविध बटनों के स्थान पर एक पथ के स्थापन के लिये केवल एक बटन दबाते ही सारा पथ स्थापित हो जाता है और उसके संकेत अनुकूल दशा में आ जाते हैं। साथ ही सब विरोधी पथ अंत:पाशित हो जाते हैं जिससे वे स्थापित न हो सकें। किसी भी स्थापित पथ को रद्द भी किया जा सकता है, यदि किसी समय उस पथ के स्थान पर दूसरे पथ को स्थापित करने की आवश्यकता हो। इसके लिये हर पथ के लिये रद्द करनेवाले बटन लगे रहते हैं। एक बटन से पथ स्थापन की व्यवस्था को एकनियंत्रण-स्विच-व्यवस्था कहते हैं तथा इसके द्वारा यातायात बहुत घना होने पर भी अति सुगमता से हो सकता है।

पथ रिले अंत:पाशन तथा एकनियंत्रण-स्विच-व्यवस्थाओं में संचालक के सामने सारे यार्ड का नक्शा रहता है जिसकी लाइनों में बल्बों द्वारा रोशनी हो सकती है। एक पथ के स्थापित होते ही उसमें रोशनी हो जाती है तथा जैसे ही उस पथ पर गाड़ी आ जाती है वहाँ सफेद के स्थान पर लाल रोशनी हो जाती है। गाड़ी के पथ खाली कर देते ही रोशनी बुझ जाती है और दूसरा पथ स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार संचालक तेजी से एक के बाद दूसरा पथ भिन्न दिशाओं से आनेवाली गाड़ियों के लिये स्थापित करता चला जाता है।

भारत में रिले अंत:पाशन तो बहुत से स्थानों पर प्रयोग में लाया जाता रहा है पर मद्रास, बंबई, दिल्ली के कई स्टेशनों पर पथ अंत:पाशन भी प्रयुक्त हो रहा है। बंबई के पास कुर्ला स्टेशन पर जहाँ यातायात का घनत्व बहुत अधिक है, नियंत्रण स्विच व्यवस्था प्रयोग में लाई गई है। इस व्यवस्था के द्वारा कुर्ला में एक ही केबिन से १२५ भिन्न पथ स्थापित किए जा सकते हैं, तथा ५० संकेतकों और ६४ काँटों का संचालन विद्युतीय दाबित वायु अंत:पाशन प्रणाली से होता है। यह सब कार्य जुलाई, १९५९ (जब यह व्यवस्था शुरू की गई) से पहले ६ केबिनों में २७२ लिवरों द्वारा किया जाता था।

(७) केंद्रीकृत परिवहन नियंत्रण प्रणाली (Centralised Traffic Control System)—इस प्रणाली में हर स्टेशन पर मास्टर के रखने की आवश्यकता नहीं होती बल्कि एक केंद्रीय स्थान से ही गाड़ियों का नियंत्रण किया जाता है। सुदूर यंत्रों द्वारा वहीं से बटन दबाकर पारपथों तथा संकेतकों का संचालन किया जाता है। इस प्रणाली को उत्तर पूर्व सीमांतर लाइन के एक भाग पर प्रयोग में लाने की योजना बनाई गई है तथा उसपर कार्य आरंभ हो गया है।

स्वचालित गाड़ी नियंत्रण (automatic train Control) — ऐसी व्यवस्था की जाती है कि यदि चालक किसी गलती के कारण संकेतक को 'संकट' दशा में पार कर जाए तो पहले तो ड्राइवर को सावधान करने के लिये एक घंटी या हूटर बजता है, पर यदि गाड़ी फिर भी न रोकी जाए तो अपने आप ही ब्रेक लगकर गाड़ी रुक जाती है। इस प्रकार ड्राइवर की गफलत, बेहोशी, कोहरे के कारण सिगनल न देख पाने या किसी अन्य कारण 'संकट' सिगनल पर गाड़ी न रोकी जाने पर भी सुरक्षा हो जाती है।

इस व्यवस्था को स्वचालित गाड़ी रोक या स्वचालित गाड़ी सतर्कता व्यवस्था भी कहते हैं। इसका यंत्र दो भागों में होता है। एक भाग तो रेलपथ में लगा होता है तथा संकेतक के साथ जुड़ा रहता है तथा दूसरा भाग इंजन में लगा होता है और संकेतक यदि 'अनुकूल' दशा में है तब रेलपथ का भाग भी अनुकूल ही रहता है और इंजनवाले भाग पर कोई असर नहीं पड़ता। पर यदि संकेतक 'संकट' अथवा प्रतिकूल अवस्था में है, तो रेलपथवाला भाग क्रियात्मक रहता है और इंजनवाले भाग को भी क्रियात्मक कर देता है।

इस व्यवस्था के यंत्र या तो यांत्रिक युक्ति के होते हैं या विद्युत्-चुंबकीय युक्ति के। यांत्रिक युक्ति में इंजनवाला भाग रेल पथ के भाग से टकरा कर अपने स्थान से हट जाता है जिसके घंटी बजने तथा ब्रेक लगने की क्रिया आरंभ हो जाती है। विद्युत्चुंबकीय यंत्रों में इन दोनों भागों के टकराने की आवश्यकता नहीं रहती तथा एक भाग के दूसरे भाग के ऊपर से चले जाते समय ही चुंबकीय प्रभाव से क्रिया शुरू हो जाती है। यांत्रिक युक्ति में आपसी टकराव के कारण इन भागों में टूटने फूटने का काफी खतरा रहता है। अन्य प्रगतिशील देशों में तो यह व्यवस्था काफी काम में लाई जा रही है। पर भारत में अभी तक इस प्रकार की व्यवस्था नहीं बनी है।

सन् १९४४ में एक स्वचालित गाड़ी नियंत्रण समिति बनी थी जिसने जी० आई० पी० रेलवे तथा बी० बी० सी० आई० रेलवे पर इस संबंध में प्रयोग किए तथा इस निष्कर्ष पर पहुँची कि रेलपथ पर लगाए हुए सामानों की पूरी सुरक्षा नहीं हो सकती है और उसके चोरी हो जाने से यह व्यवस्था असफल हो जाती है। इसकी सफलता के लिये यह आवश्यक है कि किसी समय भी धोखा न हो। अभी उपयुक्त समय नहीं आया है कि भारत में इसका प्रयोग हो सके। अब या तो इस बात की समुचित व्यवस्था हो जाएगी कि रेलपथ पर लगे हुए यंत्रों के साथ कोई छेड़छाड़ न करे या फिर ऐसे यंत्र बनने लगें कि उनके साथ छेड़छाड़ हो ही न सके, तभी इस व्यवस्था का प्रयोग भारत में किया जा सकेगा। [आ० शु०]

सिगरेट सिगार का छोटा रूप है। इसमें महीन कटा हुआ तंबाकू महीन कागज में लपेटा हुआ रहता है। सिगरेट में प्रयुक्त होने-

वाला तंबाकू अभिलाषित होता है। ऐसे तंबाकू को वर्जीनिया तंबाकू कहते हैं। तंबाकू को अभिलाषित करने के लिये पत्ते को पहले पानी में भिगोते हैं। इससे वह नम्य हो जाता है तथा डंठल और मध्य सिरे से सरलता से अलग किया जा सकता है। अब उसे चूर्णक ड्रम में रखकर महीन काटते हैं। ऐसे कटे तंबाकू को गरम करते हैं जिससे कुछ नमी निकल जाती है। कटे तबाकू को कागज में लपेटकर कागज के सिरे को भिगोकर बंद कर देते हैं। कुछ लोग अपना सिगरेट स्वयं तैयार करते हैं पर आज सिगरेट बनाने की मशीनें बन गई हैं। आधुनिक मशीनों में प्रति मिनट १००० से १५०० तक सिगरेट बन सकते हैं। सिगरेट बनाने में जिस कागज का उपयोग होता है वह विशिष्ट प्रकार का कागज इसी काम के लिए बना होता है। सिगरेट बन जाने पर डिब्बों में भरा जाता है। डिब्बों में १० से २० सिगरेट रहते हैं। सिगरेट बनाने का समस्त कार्य आज मशीनों से होता है। सिगरेट का व्यवहार दिन दिन बढ़ रहा है। इसका प्रचार केवल पुरुषों में ही नहीं वरन् महिलाओं में भी बढ़ रहा है। इससे सिगरेट का व्यापार आज बड़ा उन्नत है। अनेक देशों — भारत, इग्लैंड, अमरीका आदि — में इसके अनेक कारखाने हैं। भारत में सिगरेट पर उत्पादन शुल्क लगता है। बाहर से आए सिगरेट पर आयातकर लगता है। भारत को इससे पर्याप्त धनराशि प्राप्त होती है। सिगरेट के बढ़े हुए उपयोग को देखकर शरीर पर इसके प्रभाव के अध्ययन के लिये डाक्टरों ने अनेक समितियाँ बनाईं और उसके फलस्वरूप सिगरेट के व्यवहार के संबंध में निम्नलिखित बातें मालूम हुईं —

१. सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है।

२. सिगरेट के धुएँ से वायु दूषित हो जाती है। कुछ लोगों का मत है कि ऐसी दूषित वायु के सेवन से कैंसर हो सकता है।

३. सिगरेट पीने से पुरुष और महिलाओं दोनों में फेफड़े का कैंसर हो सकता है।

४. जीर्ण श्वासनली शोथ (Chronic Bronchitis) के होने का एक महत्वपूर्ण कारण सिगरेट पीना है।

५. सिगरेट पीने से फेफड़े का कार्य सुचारु रूप से नहीं होता, कार्यशीलता में ह्रास हो सकता है। सिगरेट पीनेवालों में साँस फूलने की शिकायत हो सकती है।

६. सिगरेट पीनेवाली महिलाओं के बच्चे जन्म के समय कम भार के होते हैं।

७. पुरुषों में कंठ के कैंसर होने का एक प्रमुख कारण सिगरेट-पीना है।

८. सिगरेट पीनेवाले व्यक्तियों की हृदय रोग से मृत्यु ७० प्रतिशत से अधिक होती है।

९. हृद्वाहिक रोग, जिनमें अतिरुधिर तनाव, हृदयरोग और सामान्य धमनीकाठिन्य रोग भी सम्मिलित है, में सिगरेट पीने का विशेष योग पाया गया है। [फू० स० व०]

सिगार (Cigar) क्यूबा के सिकाडा (Cicada) शब्द से बना समझा जाता है। क्यूबा के आदिवासी तंबाकू के चूरे को तंबाकू के पत्ते से ही ढँककर उसको जलाकर धूमपान करते थे। लगभग १७६२ ई० में क्यूबा से अमरीका के अन्य राज्यों में इसका प्रचलन फैला और वहाँ से १९ वीं शताब्दी (लगभग १८१० ई०) में यूरोप आया। सिगार में तंबाकू का चूरा तंबाकू के पत्ते में ही लपेटा रहता है जब कि सिगरेट में तंबाकू का चूरा कागज में लपेटा रहता है। क्यूबा में सिगार हाथों से बनता था। आज भी उत्कृष्ट कोटि का क्यूबा सिगार हाथों से ही बनता है। अमरीका के अन्य राज्यों में भी सिगार हाथों से बनता है। सस्ते होने की दृष्टि से सिगार मशीनों में बनने लगे हैं। पहली मशीन १९१९ ई० में बनी थी। इस मशीन में अब बहुत अधिक सुधार हुआ है। ऐसी मशीनों में प्रति घंटा हजारों की संख्या में सिगार बन सकते हैं। कुछ मशीनें ऐसी है जिनमें चार श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है। साधारणतया ये महिलाएँ होती हैं। एक तबाकू के चूरे को हॉपर (Hopper) में डालती है। दूसरी लपेटन (Wrapper) काटती है। तीसरी लपेटन में चूरा भरती, लपेटती और काटती है और चौथी सिगार पर छाप लगाती या सेलोफेन कागज में लपेटकर उसपर छाप लगाती है। सिगार कई रंग के होते हैं। कुछ 'क्लैरो' (हल्के पीले), कुछ कोलोरैडो (भूरे), कुछ कोलोरैडो मेडूरो (गाढ़े भूरे) कुछ मेडूरो (गाढ़े भूरे) और कुछ ओसक्यूरो (प्रायः कृष्ण) रंग के होते हैं। पहले गाढ़े रंगवाले सिगार पसंद किए जाते थे, पर अब हल्के रंगवाले पसंद किए जाते है। आजकल क्लेरो सिगार अधिक पसंद किए जाते हैं। सिगार के धुएँ में सौरभ होना पसंद किया जाता है। सौरभ उत्पन्न करने के अनेक प्रयास हुए हैं। कुछ सिगार एक से आकार के लबे होते है। कुछ बीच में मोटे और दोनों किनारे पर पतले होते हैं। कई आकार और विस्तार के सिगार बने हैं और बाजारों में बिकते हैं। तबाकू का प्रत्येक भाग सिगार के कारखाने में किसी न किसी काम में आ जाता है। तबाकू की धूल भी कृमिनाशक ओषधियों के निर्माण में प्रयुक्त होती है। भारत में सिगार का प्रचलन अधिक नहीं है। पाश्चात्य देशों में भी उसके उत्पादन के आँकड़ों से पता लगता है कि उसका प्रचलन कम हो रहा है।

[फू० स० व०]

सिजविक, हेनरी (१८३८-१९००) प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक। ३१ मई को यार्कशायर में जन्म। प्रथम महत्वपूर्ण पद के रूप में उन्हें ट्रिनिटी विश्वविद्यालय की फेलोशिप मिली। बाद में उन्हें वहीं क्लासिकी साहित्य का प्राध्यापक नियुक्त किया गया। १८७४ में उनकी पहली महत्वपूर्ण कृति 'नैतिकता की पद्धति' शीर्षक प्रकाशित हुई। १८८३ में दुबारा उन्हें नीतिदर्शन विषय का नाइटब्रिज प्राध्यापक नियुक्त किया गया इसके उपरांत अपनी विशिष्ट दार्शनिक मान्यताओं की प्रस्थापना के लिये उन्होंने 'सोसाइटी फार साइकिकल रिसर्च' की स्थापना की। मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के अध्ययन में उन्हें गहरी रुचि थी। ईसाइयत को मानवकल्याण का साधन मानते हुए भी धार्मिक दृष्टि से उन्होंने उसका समर्थन नहीं किया। समाजशास्त्रीय विचारों में वे स्टुअर्ट मिल और बेंथम की तरह उपयोगितावादी थे। [मु० रा०]

सिजिस्मंड (१३६८-१४३७) पवित्र रोमन सम्राट् और हंगरी तथा बोहेमिया का बादशाह सिजिस्मंड चार्ल्स चतुर्थ का पुत्र था।

उसका जन्म १५ फरवरी, १३६८ को हुआ। सन् १३७८ में अपने पिता की मृत्यु के बाद वह ब्रैंडेनबर्ग का मारग्रेव बना। गृहयुद्ध के उपरांत १३८७ में सिजिस्मंड हंगरी का राजा बन गया। बादशाह बनने के बाद उसने तुर्कों के विरुद्ध क्रिश्चीय सेनाओं का नेतृत्व किया लेकिन १३९६ में निकोपोलिस नामक स्थान पर पराजित हुआ। १४१० में रूपर्ट तृतीय के उत्तराधिकारी के रूप में वह जर्मनी का बादशाह चुना गया। १४१९ में वेन्सेस्लास (Wenceslaus) की मृत्यु के बाद वह बोहेमिया का राजा बना। पवित्र रोमन सम्राट् के रूप में उसका राज्याभिषेक ३१ मई, १४३३ को रोम में हुआ। ९ दिसंबर, १४३७ को उसकी मृत्यु हुई। [स० वि०]

सिजिस्मंड तृतीय (१५६६-१६३२) सिजिस्मंड तृतीय जॉन तृतीय का पुत्र और पोलैंड तथा स्वीडन का बादशाह था। २७ दिसंबर, १५८७ को वह राजगद्दी पर बैठा। उसे अपनी जनता की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त करने में सफलता मिली। उसकी अंतरराष्ट्रीय नीति बहुत निश्चित और सुलझी हुई थी। उसके शासन के प्रथम २३ वर्ष प्रधान मंत्री जमोयस्की (Yamoyski) के साथ प्रतिद्वंद्विता में ही व्यतीत हुए। १५९२ में उसकी शादी ऑस्ट्रिया की आर्कडचेस ऐन (Archduchess Anne) से हुई। वह ३० सितंबर, १५९३ को स्टॉकहोम पहुँचा और १९ फरवरी, १५९४ को वहाँ उसका राज्याभिषेक हुआ। १४ जुलाई, १५९४ को वह स्वीडन का शासन चार्ल्स और वहाँ की सीनेट के हाथ में छोड़कर पोलैंड लौट आया। चार वर्ष बाद जुलाई, १५९८ में अपने चाचा से उसे अपने राज्याधिकार की सुरक्षा के लिये लड़ना पड़ा और २५ सितंबर को उसकी पराजय हुई। इसके बाद उसे स्वीडन देखने का कभी अवसर नहीं मिला, फिर भी अपने राज्याधिकार को छोड़ने से उसने इनकार कर दिया। उसकी इस जिद के कारण बहुत दिनों तक पोलैंड और स्वीडन में युद्ध होता रहा। ६६ वर्ष की आयु में अचानक ही उसकी मृत्यु हो गई। [स० वि०]

सिटेसिया (Cetacea, तिमिगण) स्तनपायी समुदाय का एक जलीय गण है, जिसके अंतर्गत ह्वेल (Whales), सूँस (Porpoises) और डॉलफिन (Dolphins) आदि जंतु आते हैं। वैसे ह्वेल एक सामान्य शब्द है जो इस गण के किसी भी सदस्य के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। सामान्य व्यक्ति इन जंतुओं को मछली समझते हैं। परंतु इनके बाह्याकार को छोड़कर, जो इन्हें जलीय जीवन के कारण प्राप्त है, इनमें कोई भी गुण मछलियों से न केवल नहीं मिलते वरन् पूर्णतया भिन्न होते हैं। ये जंतु स्थल पर रहनेवाले पूर्वजों के वंशज हैं तथा सच्चे स्तनपायी के सभी गुणों से युक्त हैं, उदाहरणार्थ नियततापी (Warm blooded), बालों की उपस्थिति यद्यपि अवशेष रूप में, हृदय तथा रक्तसंचारण स्तनी समान, बच्चों को स्तनपान कराना, जरायुजता (Viviparity) आदि।

तिमिगण के गुणों को ३ वर्गों में विभक्त किया जा सकता है: (१) नवीन गुण (२) परिवर्तित गुण तथा (३) लुप्त गुण।

१. नवीन गुण — वे गुण जो जलीय जीवन के लिये इन्हें नवीन रूप से प्राप्त हुए हैं तथा अन्य किसी स्तनी में नहीं पाए जाते। ऐसे गुण के उदाहरण हैं: त्वचा के नीचे पाए जानेवाले वसातंतु की मोटी तह, ब्लबर (Blubber), केशिकाओं का केशिकाजाल (Rete mirabile), नासिकापथ का घाटीढापन (Epiglottis) से मिल जाना, शृंगीय (Horny) अंग बैलीन (Baleen, तिम्यस्थि) अधिकांगुलिपर्वता (Hyperphalangy) आदि।

२. परिवर्तित गुण — उपस्थित गुण जो नए वातावरण के अनुकूल होने के हेतु अब पूर्वदशा से कुछ परिवर्तित हो गए हैं, जैसे अग्रपाद (Fore limb) का प्लावी (Swimming) अंग या 'डाँड़' में परिवर्तित तथा बाहु के कलाई अस्थियों से ऊपरी भाग का शरीर के भीतर हो जाना, पश्चपाद (Hind limbs) का अत्यंत छोटा या लुप्त हो जाना, मध्यपट (Diaphragm) का अत्यंत तिरछा (Oblique) हो जाना, अंस मेखला (Shoulder girdle) में स्कैपुला (Scapula) नामक अस्थि का (पंखा समान) विभिन्न रूप धारण कर लेना, यकृत (Liver) तथा फेफड़ों (Lungs) का पालिकाहीन (Non lobulated) रहना और आमाशय का कोष्ठकों में विभक्त होना आदि।

३. लुप्त गुण — वे गुण जिनका पहले (पूर्वजों में) उपयोग था परंतु अब अनावश्यक होने के कारण या तो छोटे हो गए या लुप्त हो गए हैं, जैसे बाल जो अब केवल अवशेष रूप में ही रह गए हैं, नाखून तथा बाह्य कान (Pinna), घ्राणेंद्रिय, पुच्छपाद, पसलियों में गुलिकों (Tubercle) का भाग, कशेरुकाओं (Vertebrae) के संधियोजक (Articulatory) भाग आदि।

माप (Size) — तिमिगण लंबाई में २½ फुट (सूँस-Porpoise) से लेकर ११० फु० (ब्लू ह्वेल-Blue whale) तक तथा भार में १५० टन तक हो सकते हैं। इतने बड़े जंतु विकास के इतिहास में इस पृथ्वी पर कभी भी नहीं हुए थे।

प्रकृति (Habit) — सभी तिमिगण मांसाहारी होते हैं। जिनमें हंता ह्वेल (Killer whale) तथा अल्पहंता ह्वेल (Lesser killer whale, Psendorca) नियततापी जंतुओं जैसे सील (Seal), पेंगुइन (Penguin) तथा अन्य तिमिगणों तक का शिकार करते हैं। दंतरहित तिमि, मछलियों, वल्कमय जलचर (Crustacea) तथा कपालपाद मोलस्क (Cephalopod molluscs) पर निर्भर करते हैं, बैलीन ह्वेल (whales) जो दंतरहित होते हैं, तालू से लटकती एक शृंगीय (Horny) तिमि, छननी अथवा बैलीन (Baleen) द्वारा सूक्ष्म जीवों, जैसे प्लवक (Plankton), टेरोपॉड मोलस्क (Pteropod molluscs) को वल्कमय जलचरों आदि से एकत्रित करते हैं।

कुछ तिमिगण हजारों की संख्या में जलवायु उत्थान (Shoals) पर रहते हैं तथा कुछ अकेले या दुकेले रहना पसंद करते हैं। साधारणतया ये डरपोक होते हैं, परंतु खतरा पड़ने पर ये भयंकर आक्रमणकारी भी बन जाते हैं। १८१९ ई० में एसेक्स (Essex) नामक जहाज एक ह्वेल से टकरा जाने से चूने (Leak) लगा था।

आवास (Habitance) — तिमिगण सभी परिचित समुद्रों में पाए जाते हैं। कुछ सार्वभौमी (Cosmopolitan) हैं तथा कुछ एक निश्चित दायरे के बाहर नहीं जाते। अधिकांश में वे समुद्री होते हैं

जो बहुधा नदियों में पहुंच जाते हैं। परंतु कुछ, जैसे डोल्फिन, सर्वथा खारे पानी में ही रहते हैं।

बाह्य आकृति (External features) — तिमिगणों की आकृति बेलनाकार, बीच में चौड़ी तथा छोरों (ends) की ओर क्रमश: पतली होती जाती है। ऐसे आकार द्वारा तैरते समय पानी के प्रतिरोध में कमी होती है। तिमिगण के शरीर को सिर, धड़ तथा पूंछ में विभक्त किया जा सकता है। सिर अपेक्षाकृत बड़ा होता है। अन्य स्तनियों (Mammals) की भाँति भोजन को चबानेवाले दाँत मुँह मे अनुपस्थित होते हैं जिससे भोजन चबाकर नहीं वरन् निगलकर करते हैं। नासारंध्र (Nostrils) सिर के ऊपरी भाग पर पीछे हटकर स्थित होते हैं। इनकी संख्या दो (बेलीन ह्वेल) या एक (सूँस और स्पर्म तिमि में) हो सकती है। आंतरिक कपाटों द्वारा ये खुलते या बंद होते हैं। इन रंध्रों से एक फुहार (Spout) निकलती है जो इन जंतुओं की एक विशेषता है।

धड़ शरीर का सबसे बड़ा और चौड़ा भाग होता है। धड़ के पृष्ठ पर पंख (Fin) तथा प्रतिपृष्ठ पर आगे, दाहिनी और बाईं ओर बाँह में परिवर्तित अग्रपाद होते हैं। पंख मछलियों के विपरीत अस्थिरहित होता है तथा मुख्यतः वसा (Fat) या संयोजी ऊतक (Connective tissue) का बना होता है। धड़ और पूँछ के संधिस्थान (जंक्शन) पर मलद्वार (anus) होता है और उसके पीछे ही जननेंद्रिय छिद्र। मादा में इस छिद्र के दोनों ओर एक खाँच (groove) में स्तन होते हैं। नर में जननेंद्रियाँ पूर्णतया आकुंचनशील (retractile) होती हैं जिसके फलस्वरूप तैरते समय वे पानी में कोई प्रतिरोध नहीं करतीं।

धड़ के पतले होने और छोर पर एकाएक चौड़े होकर दो पर्णाभ (Flukes) में विभक्त होने से पूँछ बनती है। ये पर्णाभ क्षैतिज (Horizontal) तथा अस्थिरहित होते हैं जिसके विपरीत मछलियों में ये उर्ध्वाधर (Vertical) तथा अस्थिसहित होते हैं।

त्वचा — त्वचा चिकनी, चमकदार और बालरहित होती है। बाल अवशेष रूप में कुछ विशेष स्थानों पर जैसे निचले होठ तथा नासारंध्र के आस पास होते हैं। तिमिगण नियततापी (warm-blooded) जंतु हैं। शरीर के ताप को उच्च बनाए रखने के लिये उनके त्वचा के ठीक नीचे तिमिवसा (Blubber) नामक एक विशिष्ट तंतु पाया जाता है। त्वचा का रंग साधारणतया ऊपर स्याह (Dark) और नीचे की ओर सफेद होता है परंतु बहुतों के रंग विभिन्न रह सकते हैं।

शृंगास्थि (Baleen) — यह दंतरहित तिमिगणों में पाया जानेवाला एक विशेष अंग है जो मुखगुहा में तालू के दोनों किनारों पर अस्तरीय त्वचा के बढ़ने तथा शृंगीय होने से बनता है। इसकी उपस्थिति के कारण इन तिमिगणों को शृंगास्थि तिमि कहते हैं। प्रत्येक शृंगास्थि लगभग त्रिभुजाकार होती है और अपने आधार द्वारा तालू से जुड़ी रहती है। इसकी स्वतंत्र भुजाएँ लगभग ३००-४०० पतले तथा शृंगीय पट्टियों में विभक्त हो जाती हैं। ये पट्टियाँ भुजा के मध्य भाग में लंबी और दोनों छोरों की ओर क्रमशः छोटी होती जाती हैं। यह छननी का कार्य करती है। प्लवक (Plankton) के समुदाय को देखकर शृंगास्थि मुँह फाड़ देता है और पानी के साथ असंख्य प्लवकों को अपने मुखगुहा में भर लेता है। पानी को तो फिर बाहर निकाल देता पर प्लवक शृंगास्थि से छनकर मुखगुहा में ही रह जाते हैं जिन्हें वह निगल जाता है। लगभग २ टन तक भोजन शृंगास्थि तिमि के पेट में पाया गया है।

तिमिवसा (Blubber) — तिमि की त्वचा के नीचे एक पुष्ट तंतुमय संयोजी ऊतक की मोटी तह होती है जिसमें तेल की मात्रा अत्यधिक होती है। यह तह शरीर के प्रत्येक भाग में फैली रहती है। स्पर्म ह्वेल में यह पर्त १४ इंच तक तथा ग्रीन लैंड ह्वेल में २० इंच तक मोटी हो सकती है। एक ७० टन के ह्वेल के शरीर में ३० टन तक तिमिवसा रह सकती है जिससे २२ टन तक तेल प्राप्त हो सकता है। डॉलफिन में तिमिवसा की परत पतली होती है। तिमिवसा का प्रमुख कार्य शरीर का ताप बनाए रखना है। तिमिगण स्थलीय स्तनी के वंशज है। तिमिवसा का दूसरा कार्य तिमिगणों का गरम समुद्रों में अत्यधिक गरमी से बचाव करना भी है।

श्वसन (Respiration) — तिमिगणों को समय समय पर पानी के ऊपर आकर साँस लेना पड़ता है। पानी के भीतर डूबे रहने की अवधि उनकी आयु तथा माप पर निर्भर करती है। यह ५ मिनट से ४५ मिनट या इससे अधिक भी हो सकती है। पानी के भीतर नासारंध्र कपाट द्वारा बंद रहता है परंतु पानी के ऊपर आते ही वह खुल जाता है और एक विशेष ध्वनि के साथ तिमि अपने फेफड़ों की अशुद्ध वायु को उच्छ्वसित (expire) कर देता है। ऐसा करने पर रंध्र (या रंध्रों) से एक मोटी फुहार (Spout) ऊपर उठती दिखाई पड़ती है जो उच्छ्वास में मिश्रित नमी के कणों के संघनित (condense) होने से बनती है। उच्छ्वसन के तुरत बाद ही निःश्वसन की क्रिया होती है जिसमें बहुत ही कम समय लगता है। तिमिगण के श्वसन संस्थान की विशेषता यह है कि उनकी श्वास नली (wind pipe) अन्य सभी स्तनियो की भाँति मुखगुहा में न खुलकर नासारंध्र से जा मिलती है जिसके कारण हवा सीधे फेफड़ो मे पहुँचती है। अन्य स्तनी नाक तथा मुखगुहा दोनों से ही श्वसन की क्रिया कर सकते हैं परंतु तिमिगण में. केवल नाक द्वारा ही यह क्रिया हो पाती है। यह गुण (adaptability) जलीय अनुकूलनशीलता है। दूसरी अनुकूलनशीलता उनकी वक्षीय गुहा (thoracic cavity) की फैलाव शक्ति है। इस शक्ति के द्वारा फेफड़ों को छाती की गुहा के भीतर अधिक से अधिक फूलने और फैलने के लिये स्थान प्राप्त होता है तथा वे अधिक से अधिक भाग में हवा को अपने भीतर रख सकते हैं। अन्य स्तनियों के प्रतिकूल उनके फेफड़े साधारण थैलीनुमा होते हैं जिससे अधिक हवा रख सकने में सहायता मिलती है। इन अनुकूलनशीलताओं के अतिरिक्त तिमिगणों में कुछ और भी विशेष गुण हैं जो जलीय जीवन के लिये उन्हें पूर्णतः उपयुक्त बनाते हैं।

ज्ञानेंद्रियाँ — तिमिगण में घ्राणेंद्रियाँ बहुत ही अल्प विकसित होती है। संभवतः उनमें सूँघने की शक्ति होती ही नहीं। फिर भी नासापथ (nasal passage) महत्वपूर्ण होता है। तिमिगण की आँखें शरीर की माप के अनुपात में छोटी होती हैं, फिर भी बड़े तिमि की आँखें बैल की आँखों की चौगुनी होती हैं। हवा के मुकाबले पानी में

देखने के लिये उनकी आँखें अधिक उपयुक्त होती हैं तथा जल दबाव और पानी के थपेड़ों को सहन करने की उनमें अद्भुत क्षमता होती है। तिमिगण में कर्णपल्लव (pinna) नहीं होते तथा कर्णछिद्र बहुत ही संकुचित होते हैं। बैलीन शृंगास्थियों में कर्णपथ मोम के एक लबे टुकड़े से बंद रहता है पर पानी में तनिक भी शांतिभंग होने अथवा ध्वनि होने को वे तुरंत सुन लेते हैं। पानी में उत्पन्न स्वरलहरियाँ अस्थियों द्वारा ही सीधे मस्तिष्क को पहुँचती हैं।

तिमिगण की अस्थियों की विशेषताएँ — तिमिगण का सारा शरीर जलीय जीवन के अनुकूल होता है अतएव उनकी अस्थियों में कुछ परिवर्तन और कुछ नवीन गुण उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

खोपड़ी (Skull) — अन्य समुद्री जंतुओं की भाँति खोपड़ी में कपाल (cranurin) का भाग छोटा एवं उच्चतर तथा कुछ में गोलाकार होता है। जबड़े लंबे होकर तंतु या चोंच (rostrum or beak) बनते हैं। कपाल के छोटे होने का एक कारण यह भी है कि तिमिगण के पूर्वजों की खोपड़ी की हड्डियाँ एक दूसरे से सटी न होकर कुछ एक के ऊपर एक (telescoping or overlapping) चढ़ी हुई थीं, यही दशा आधुनिक तिमिगण में आंशिक रूप में थी फलस्वरुप जब पानी ने पीछे और मेरुदंड ने आगे की ओर अस्थियों पर दबाव डाला, तो उनका एक दूसरे पर कुछ अंश तक चढ़ जाना स्वाभाविक हो गया।

कशेरुक दंड (Vertebral Column) — कशेरुक दंड की कशेरुकाओं मे संधि (articulation) केवल कशेरुक काय (Centrum) द्वारा ही होती है जब कि अन्य स्तनियों में यह संधि कुछ अन्य प्रवर्धों (Processes) द्वारा भी होती है। ये प्रवर्ध तिमिगण मे छोटे होने के कारण आपसी संपर्क नहीं स्थापित कर पाते। तिमिगण की गर्दन अत्यंत छोटी तथा अस्पष्ट होती है। ऐसा उसकी कशेरुकाओं के बहुत छोटी होने के कारण होता है। फिर भी सभी स्तनियों की भाँति गर्दन के कशेरुकों की संख्या ७ ही होती है। कुछ तिमिगण में ये सातों हड्डियाँ अस्थिभूत (ossify) होकर एक हो जाती हैं।

पाद अस्थियाँ (Limb bones) — तिमिगण में पुष्ठपाद पूर्णतया अनुपस्थित होते हैं जिसके कारण उनसे संबंधित मेखला (girdle) या तो अनुपस्थित होती है या इतनी छोटी कि मास मे दबी, कशेरुकदंड से अलग छोटी हड्डी ही रह जाती है। अन्य स्तनियों में पुष्ठपाद पर पड़नेवाले शरीर के बोझ को सँभालने के लिये मेखला से संबंधित कशेरुक अस्थिभूत होकर एक सयुक्त हड्डी त्रिकास्थि (Sacrum) बनाते हैं परंतु यह त्रिकास्थि तिमिगण मे मेखला के छोटी होने के कारण नहीं बनता क्योंकि उनमें शरीर का बोझ पादों (Limbs) पर न पड़कर पानी पर पड़ता है। इस सत्य के कारण अग्रपाद भी तैरने का कार्य गौण रूप से (Secondarily) करने में सफल हो जाते हैं। तैरने के लिये उनका रूप डाँड़ (Paddle) जैसा हो जाता तथा उनकी अस्थियों में कुछ विशेष परिवर्तन हो जाते हैं, जैसे स्कंधास्थि में स्कैपुला पंखे के समान फैल जाता है, अस्थिसंधियाँ अचल हो जाती हैं, कलाई के पीछे की अस्थि शरीर के भीतर हो जाती है, अग्रपाद (fore arms) की ह्यूमरस (Humerus) नामक हड्डी छोटी और पुष्ट हो जाती है, कलाई तथा हाथ की सभी अस्थियाँ चपटी हो जाती हैं जिससे 'डाँड़' के चौड़े होने में सहायता मिलती है, कुछ उँगलियों की अंगुलास्थि (Phalanges) की संख्या सामान्य से अधिक हो जाती है आदि।

दाँत—तिमिगण के दाँत विभिन्न जातियो में विभिन्न अंश और ढंग से विकसित होते हैं। सूँस में वे दोनों जबड़ों पर उपस्थित तथा क्रियात्मक (functional) होते हैं। स्पर्म तिमि में केवल निचले जबड़े में ही पूरे दाँत होते हैं ऊपरी जबड़े में वे अवशेष रूप में ही रह जाते हैं। नर नरह्वेल (Monodon) के दाँत केवल एक रदन (शूकदंत या Tusk) द्वारा ही स्थानापन्न होते हैं तथा शृंगास्थि तिमि में क्रियात्मक दाँत कदाचित् अनुपस्थित होते हैं यद्यपि भ्रूण में थोड़े समय के लिये छोटे रूप में दिखाई पड़ते हैं। दाँतों के स्थान पर उनमें शृंगास्थि उपस्थित होती है।

तिमि के वाणिज्य उत्पाद — तिमिगण से निम्नलिखित उपयोगी वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं — (१) शृंगास्थि : तिमि के शरीर में बहुमूल्य अंग शृंगस्थि है। ग्रीनलैंड के तिमि के शृंगास्थि का मूल्य विशेष रूप से अधिक होता है। किसी समय एक टन शृंगास्थि लगभग दो हजार पाउंड में बिकता था।

(२) तेल — तिमि के शरीर से बड़ी मात्रा में तेल प्राप्त होता है। यह मालिश, शक्तिवर्धक औषध (Tonic) और अन्य अनेक कामों में आता है।

(३) मांस — किसी समय सूँस का मास एक विशिष्ट वस्तु समझा जाता था। रोमन कैथोलिक देशों में केवल तिमि मांस ही उपवास के दिन भी वर्जित नहीं था।

(४) दाँत — नरह्वेल तिमि (narwhale) का रदन तथा स्पर्म तिमि के दाँतों से दाँत प्राप्त किया जाता है जिसका गजदंत जैसा प्रयोग हो सकता है।

(५) चमड़ा — तिमि के त्वचा से चमड़ा प्राप्त होता है जिससे अनेक सामान बन सकते हैं।

शिकार किए जानेवाले तिमि — निम्नलिखित ६ प्रकार के तिमियों का शिकार किया जाता है :

(१) यूबलीना ग्लेशियालिस (Eubalaena glacialis) — अटलांटिक महासागर में पाए जानेवाले इस तिमि का उद्योग १२ वीं—१३ वीं शताब्दी में शिखर पर था।

(२) बलीना मिसटिसिटस (Balaena mysticetus) — ग्रीनलैंड में पाए जानेवाले इस तिमि द्वारा ध्रुवीय मत्स्य व्यवसाय (Arctic fishery) का प्रारंभ हुआ।

(३) फाइसेटर कैटोडॉन (Physeter Catodon) — यह स्पर्म तिमि है। इसका उद्योग १६ वीं शताब्दी में शुरू हुआ।

(४) यूबलीना ऑस्ट्रेलिस (Eubalaena australis) फाइसेटर के शिकारी इसे भी भारी संख्या में पकड़ते थे।

(५) रैकियानेक्टिस ग्लॉकस (Rhachianectes glaucus) — यह प्रशांत महासागर के पैसिफिक ग्रे ह्वेल के नाम से प्रसिद्ध है तथा १६ वीं शताब्दी में कैलीफोर्निया के समुद्री तट पर बड़ी संख्या में पकड़ा जाता था।
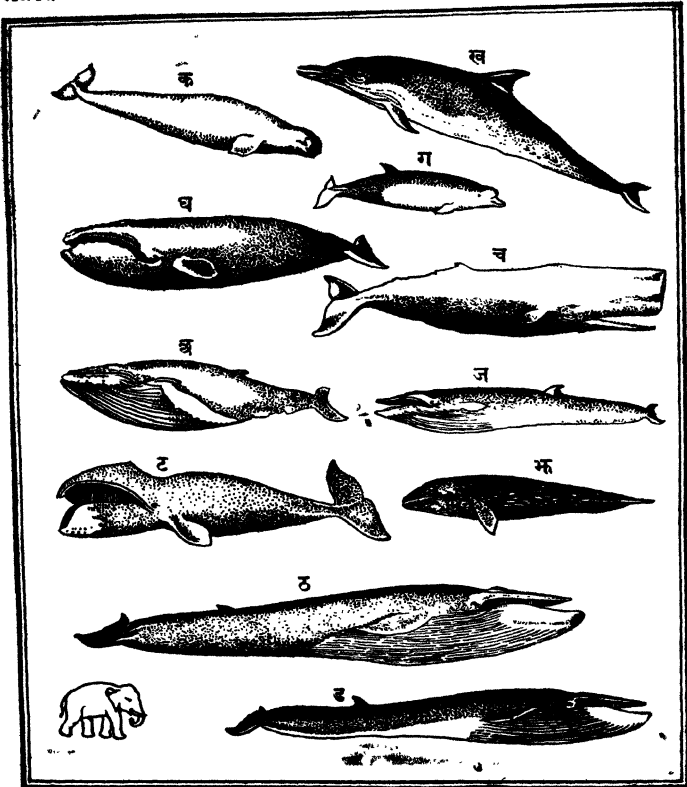
विविध जातियों के ह्वेल — क. श्वेत (White) ह्वेल, ख. डॉलफिन, ग. फूली हुई नाकवाली (Bottle-nosed) ह्वेल, घ. ऐटलैंटिकीय राइट (Right) ह्वेल, च. स्पर्म (Sperm) ह्वेल, छ. कुबड़ी (Humpbacked) ह्वेल, ज. से (Sei) ह्वेल, झ. प्रशांत महासागरीय धूसर (Grey) ह्वेल, ट. ग्रीनलैंड ह्वेल, ठ नील (Blue) ह्वेल, तथा ड. फिन (Fin) ह्वेल। ह्वेलों के आकार के सही ज्ञान के लिये ११ फुट ऊँचे हाथी का चित्र उसी अनुपात में दिया गया है जिसमें ह्वेलों के चित्र।

(६) सिबैल्डस मसक्यूलस (Sibbaldus musculus) — ब्लू ह्वेल।

(७) बलीनॉप्टेरा फाइसेटस (Balaenoptera physatus) — फिन ह्वेल,

(८) बलीनॉप्टेरा बोरियैलिस (Balaenoptera borealis)

(९) मिगैप्टेरा नोड्यूसा (Megaptera nodusa)

किसी समय अंतिम चार जातियों द्वारा ही आधुनिक तिमि उद्योग का प्रारंभ हुआ था।

जाति इतिहास (Phylogeny) — तिमिगण का पूर्वजी इतिहास अनिश्चित सा है। अतएव यह बताना कठिन है कि किन स्तनी समुदाय (mammalian group) से उनका प्रादुर्भाव हुआ। अलब्रेक (Albrecht) के अनुसार एक आद्य (Primitive) स्तनी समूह, जिसे वे 'प्रोममेलिया' (Promammalia) कहते हैं, के गुण निम्नलिखित हैं :— (१) उनके निचले जबड़े की दोनों भुजाओं (rami) के बीच की अपूर्ण संधि, (२) सबे साधारण थैलीनुमा फेफड़े, (३) मुष्क ग्रंथियों (testes) का शरीर के भीतर होना, (४) कुछ (जैसे बेलीनॉपटेरा Balaenoptera) में उपरिकोणीय (Sapra angular) अस्थि की भिन्न (Separate) उपस्थिति आदि फिर भी केवल इन्हीं गुणों द्वारा ही तिमिगण को आधुनिक स्तनी यूथीरिया (Eutheria) से भिन्न नहीं किया जा सकता। क्योंकि इनकी संख्या कम है और वे बहुत अधिक महत्व के नहीं हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो तिमिगण को 'यूथीरिया' के 'अंगुलेटा' (ungulata) अर्थात् खुरदार जंतुओं से और कुछ ऐडेंटेटा (Edentata) अर्थात चींटेखोर जंतुओं से संबंधित करते हैं। ऐडेंटेटा तथा तिमिगण कुछ विशेष गुणों में समान हैं जैसे (१) दोनों में कठोर बहिष्कंकाल (Exoskeleton) की उपस्थिति, यद्यपि तिमिगण में यह केवल सूँस में और वह भी अवशेष रूप में ही पाया जाता है। (२) कुछ तिमिगण (बेलीनॉपटेरा) की पसली (rib) और उरोस्थि (Sternum) की दोहरी संधि, (३) दोनों में गर्दन का कुछ कशेरुकों में संयोजन (union), (४) दोनों में खोपड़ी की पक्षाभ (Pterygoid) नामक अस्थि का तालू बनाने में भाग लेना (५) सूँस में कई ऐडेंटेटा की भाँति महाशिराना (Vena cava) के यकृत के समीप पहुँचने पर बजाय बड़े होने के छोटा हो जाना आदि।

वर्गीकरण — तिमिगण तीन उपगणों में विभक्त किए जा सकते हैं — (१) आर्कियोसेटी (Archaeoceti), (२) ओडोंटोसेटी (Odontoceti) तथा (३) मिस्टैकोसेटी (Mystacoceti)।

(१) आर्कियोसेटी—ये अब केवल फॉसिल रूप में ही पाए जाते हैं। इसके अंतर्गत केवल एक जाति ज्यूग्लोडॉन (Zeuglodon) आती है जो अत्यंत आद्य गुणोंवाले जंतु थे। उनमें दाँत उपस्थित थे, खोपड़ी असममित थी, अग्र पसलियाँ द्विभुजी थीं, ग्रैविक कशेरुक पूर्ण विकसित तथा असंयुक्त और बाहरी नासारंध्र कपाटरहित थे।

(२) ओडोंटोसेटी — ये दंतयुक्त वर्तमान तिमि हैं जिनमें बाहरी नासारंध्र एक होता है। इनमें भी कुछ आद्य गुण उपस्थित हैं जो निम्न हैं — मुक्त और बड़े ग्रैविक कशेरुकों को अग्र पसलियों का द्विभुजी होना, अपेक्षाकृत अपरिवर्तित अग्रपाद जिनकी उँगलियों या अंगुलास्थियों की संख्या में वृद्धि न होना आदि। यह उपगण ३ वंशों में विभक्त किया जाता है :

(क) फाइसेटराइडी (Physeteridae)—इसके अंतर्गत उष्ण कटिबंधीय स्पर्मतिमि (Physeter) आते हैं जो लंबाई में ८२ फु० तक हो सकते हैं। इनका विशाल सिर शरीर के लंबाई का लगभग एक तिहाई होता है परंतु खोपड़ी अपेक्षाकृत छोटी होने के कारण उसके (खोपड़ी के) और सिर की दीवाल के बीच एक स्थान उत्पन्न हो जाता है। यह स्थान 'स्पर्मासिटी' (Spermaceti) नामक एक द्रववसा (Liquid fat) से भरा होता है। इस वसा का प्रथम उल्लेख सलर्नो (Salerno) ने सन् ११०० में अपने 'फार्मेकोपिया' (Pharmacopia) में किया था जिसे बाद में अलबर्टस मैगनस (Albertus Magnus) तथा अन्य वैज्ञानिकों ने तिमि के शुक्रकीट अथवा 'स्पर्म' (Sperm) से परिभ्रमित किया। इसीलिये इन तिमिगणों का स्पर्म ह्वेल नाम पड़ा। बाद में हटर (Hunter) और कैंपर (Camper) नामक व्यक्तियों ने बताया कि स्पर्मसिटी तेल की तरह का ही एक द्रव वसा पदार्थ है जो इन तिमिगणों के सिर में पाया जाता है। स्पर्म तिमि में पाई जानेवाली दूसरी बहुमूल्य वस्तु ऐंबरग्रिस (Ambergris) है जो उनके पाचन नलिका (alimentary canal) से प्राप्त होती है। यह पदार्थ ग्रीज़ (Grease) की भाँति चिकना और मुलायम होता है परंतु बाहर आने पर कुछ समय बाद सख्त हो जाता है। ऐंबरग्रिस का मुख्य उपयोग इत्रकशी (Perfumery) में किया जाता है। प्राचीन काल में इसका प्रयोग औषधियों में भी किया जाता था। पिग्मी स्पर्म तिमि (Cogia) उपर्युक्त उपगण का दूसरा उदाहरण है।

(ख) जिफ़िआइडी (Ziphiidae) — इसके अंतर्गत आनेवाले तिमियों के तुंड आगे बढ़े हुए होते हैं अतएव उन्हें चोंचवाले (Beaked) तिमि भी कहते हैं। इनकी लंबाई ३० फु० से अधिक नहीं होती तथा सामान्य रूप से ये नहीं मिलते। ये दक्षिणी समुद्रों में पाए जाते हैं। उदाहरण—जीफियस (Ziphius) हाइपरूडॉन (Hyperoodon), मीज़ोप्लोडॉन (mesoplodon) आदि।

(ग) डेलफिनाइडी (Delphinidae) — ये बहुसंख्यक तिमि छोटे तथा औसत लबाई के होते हैं। दाँत दोनों ही जबड़ों पर अधिक संख्या में होते हैं। इस उपगण के मुख्य उदाहरण सूँस डालफिन तथा नार ह्वेल हैं। सूँस हिंद महासागर, बंगाल की खाड़ी, इरावदी नदी तथा संसार के अन्य भागों में पाए जाते हैं। डॉलफिन भी अन्य देशों के अतिरिक्त भारत की गंगा, सिंध, ब्रह्मपुत्र आदि नदियों में पाए जाते हैं। ये ७-८ फुट लंबे तथा जल के सभी जंतुओं में सबसे अधिक समझदार जंतु होते हैं। सिखाने पर कुछ भी सरलता से सीख लेते हैं और बहुधा प्राणि उद्यानों (Zoos) में तरह तरह के खेल दिखाकर दर्शकों को प्रसन्न करते हैं। नार ह्वेल तिमि १५ फुट तक लंबे होते हैं। इनके सभी दाँत छोटे होते हैं परंतु नर में एक दाँत लंबा होकर रदन (Tusk) बनाता है। रदन के अनुमानित प्रयोग निम्न हैं — अपनी मादा को प्राप्त करने के लिये अन्य नरों पर इसके द्वारा आक्रमण करना, बर्फ तोड़कर भोजन प्राप्त करना, शिकार का भेदन करना आदि।

(३) मिस्टैकोसेटी—यह सबसे विकसित तथा विशाल तिमियों का समूह है। माप में अन्य तिमियों में केवल स्पर्म तिमि फाइसेटर (Physeter) ही इनका मुकाबला कर सकते हैं। इनके विकसित गुण इस प्रकार हैं—दाँतों की अनुपस्थिति तथा उनके स्थान पर शृंगास्थि होना, खोपड़ी का सममित तथा पसलियों का एकभुजी होना। इस उपगण को दो वंशों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) बलीनॉप्टराइडी (Balaenopteridae)—इस वंश के उदाहरण हैं विशाल रोरकुअल (Rorqual) या ब्लू ह्वेल (Balaenoptera) जो ९७ फुट और उससे भी अधिक लंबे होते हैं तथा कभी अकेले और बहुधा ५० तक के झुंड में रहते हैं। हंप बैक या कूबड़ तिमि (Megaptera) जिससे पृष्ठ मीन पंख (fin) के स्थान पर कूबड़ सा निकला होता है।

इसकी लंबाई ५०—६० फुट तक होती है। ग्रे ह्वेल (Rhachianectes) मुख्यत: प्रशांत महासागर में पाया जाता है इनमें पृष्ठ पंख अनुपस्थित होता है तथा ये लड़ाकू प्रकृति के होते हैं।

(ख) बलीनाइडी (Balaenidae) — इन्हें वास्तविक तिमि (Right whales) के नाम से संबोधित करते हैं क्योंकि ये अपनी शृंगास्थि की लंबाई तथा तेल की मात्रा और गुण के कारण शिकार के लिये उचित माने जाते थे। इसके अंतर्गत ग्रीनलैंड में पाई जानेवाली बलीना (Balaena) तथा न्यूज़ीलैंड, दक्षिणी आस्ट्रेलिया तथा अन्यत्र पाई जानेवाली नियोबलीना (Neobelaena) आते हैं।

सं० ग्रं० — टी० जे० पार्कर ऐंड डब्ल्यू० ए० हास्वेल : ए टेक्स्टबुक ऑव जुग्रालोजी; एफ० बेड्डार्ड : कैंब्रिज नेचुरल हिस्टरी, खंड १० मैमेलिया; आर० एस० लल : आर्गेनिक इवोल्यूशन।

[कृ० प्र० श्री०]

सिट्रिक अम्ल नीबू, संतरे और अनेक खट्टे फलों में सिट्रिक अम्ल और इसके लवण पाए जाते हैं। जांतव पदार्थों में भी बड़ी अल्प मात्रा में यह पाया जाता है। नीबू के रस से यह तैयार होता है। नीबू के रस में ६ से ७ प्रतिशत तक सिट्रिक अम्ल रहता है। नीबू के रस को चूने के दूध से उपचारित करने से कैल्सियम सिट्रेट का अवक्षेप प्राप्त होता है। अवक्षेप को हल्के सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ उपचारित करने से सिट्रिक अम्ल उन्मुक्त होता है। विलयन के उद्वाष्पन से अम्ल के क्रिस्टल प्राप्त होते हैं जिनमें जल का एक अणु रहता है। शर्करा के किण्वन से भी सिट्रिक अम्ल प्राप्त होता है। रसायनशाला में सिट्रिक अम्ल का संश्लेषण भी हुआ है।

सिट्रिक अम्ल बड़े बड़े समचतुर्भुजीय प्रिज्म का क्रिस्टल बनाता है। यह जल और ऐल्कोहॉल में घुल जाता है पर ईथर में बहुत कम घुलता है। क्रिस्टल में क्रिस्टलन जल रहता है। गरम करने से १३०° सें० पर यह अजल हो जाता है और तब १५३° सें० पर पिघलता है। इससे ऊँचे ताप पर यह विघटित होना शुरू करता है। सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल से सावधानी से तपाने पर भी विघटित होता है। यह त्रिक्षारक अम्ल है और तीन श्रेणियों का लवण बनाता है। कुछ लवण जल में विलेय, कुछ अल्पविलेय और कुछ अविलेय होते हैं। सिट्रिक अम्ल का उपयोग रंगबंधक के रूप में, रंगसाजी में, लेमोनेड तथा पेयों के बनाने मे और खाद्यों में होता है। इसका अणुसूत्र $C_6H_8O_7$ और संरचना सूत्र यह है :

$$HOOC—CH_2C\,(O—H)\,CH_2—COOH$$
$$|$$
$$COOH$$
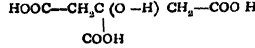
यह वस्तुत: २—हाइड्रोक्सि—प्रोपेन १:२:३—ट्राइकार्बोक्सिलिक अम्ल है।

[स० व०]

सिडनी १. स्थिति : ३३° ५२′ द० अं० और १५१° १२′ पू० दे०, ऑस्ट्रेलिया के न्यू साउथ वेल्स प्रांत की राजधानी, उसका सबसे प्राचीन और सबसे आधुनिक बड़ा नगर है तथा उसके दक्षिणी पूर्वी तट पर बसा हुआ संसार के सर्वश्रेष्ठ सुरक्षित बंदरगाहों में एक है। बंदरगाह २२ वर्ग मील में फैला हुआ है। इसकी तटरेखा १८० मील लंबी है। बड़ा से बड़ा जहाज इस बंदरगाह में ठहर सकता है। सब देशों से हजारों की संख्या में जहाज प्रति वर्ष यहाँ आते जाते रहते हैं। गर्मी का औसत ताप २१° सें० और जाड़े का औसत ताप १३° सें० रहता है। औसत वर्षा ४७ इंच होती है।

व्यापार का यह बड़े महत्व का केंद्र है। इसी बंदरगाह द्वारा देश का आयात निर्यात होता है। यहाँ अनेक उद्योग धंधे भी स्थापित हैं। लोहे और इस्पात के कारखाने हैं जिनमें रेल की पटरियाँ, गर्डर, तार, चादरें आदि अनेक आवश्यक वस्तुएँ बनाई जाती हैं। यहाँ की व्यापार की वस्तुओं में वस्त्र, ऊन, रसायनक, गेहूँ, धातु के बने सामान, खाद्य सामग्री, दूध, पनीर, काँच और पोर्सेलिन तथा चमड़े के सामान आदि हैं। १८५० ई० में सिडनी विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। यहाँ अनेक तकनीकी विद्यालय, जनता ग्रंथागार और अनेक कला गैलरियाँ हैं।

२. कैनाडा के नोवा स्कोशिया (Nova Scotia) का नगर है। कैनाडा के नगरों में इसका दूसरा स्थान है। केप ब्रेटन (Cape Breton) द्वीप के उत्तर तट पर यह स्थित है। अनेक रेल लाइनों का यहाँ अंत होता है। यहाँ इस्पात के सामान बड़ी मात्रा मे बनते हैं। जहाजों से इसका संबंध अनेक महत्व के ऐटलांटिक बंदरगाहों से है।

[रा० स० ख०]

सिद्धांत सिद्धि का अंत है। यह वह धारणा है जिसे सिद्ध करने के लिये, जो कुछ हमें करना था वह हो चुका है, और अब स्थिर मत अपनाने का समय आ गया है। धर्म, विज्ञान, दर्शन, नीति, राजनीति सभी सिद्धांत की अपेक्षा करते हैं।

धर्म के संबंध में हम समझते हैं कि बुद्धि अब आगे जा नहीं सकती; शंका का स्थान विश्वास को लेना चाहिए। विज्ञान में समझते हैं कि जो खोज हो चुकी है, वह वर्तमान स्थिति में पर्याप्त है। इसे आगे चलाने की आवश्यकता नहीं। प्रतिज्ञा की अवस्था को हम पीछे छोड़ आए हैं, और सिद्ध नियम के आविष्कार की संभावना दिखाई नहीं देती। दर्शन का काम समस्त अनुभव को गठित करना है; दार्शनिक सिद्धांत समग्र का समाधान है। अनुभव से परे, इसका आधार कोई सत्ता है या नहीं? यदि है, तो वह चेतन है या अचेतन, एक है या अनेक? ऐसे प्रश्न दार्शनिक विवेचन के विषय हैं।

विज्ञान और दर्शन में ज्ञान प्रधान है, इनका प्रयोजन सत्ता के स्वरूप का जानना है। नीति और राजनीति में कर्म प्रधान है। इनका लक्ष्य शुभ या भद्र का उत्पन्न करना है। इन दोनों में सिद्धांत ऐसी मान्यता है जिसे व्यवहार का आधार बनाना चाहिए।

धर्म के संबंध में तीन प्रमुख मान्यताएँ हैं —

ईश्वर का अस्तित्व, स्वाधीनता, अमरत्व। कांट के अनुसार बुद्धि का काम प्रकटनों की दुनियाँ में सीमित है, यह इन मान्यताओं को सिद्ध नहीं कर सकती, न ही इनका खंडन कर सकती है। कृत्य-बुद्धि इनकी माँग करती है; इन्हें नीति में निहित समझकर स्वीकार करना चाहिए।

विज्ञान का काम 'क्या', 'कैसे', 'क्यों' — इन तीन प्रश्नों का उत्तर देना है। तीसरे प्रश्न का उत्तर तथ्यों का अनुसंधान है और यह बदलता रहता है। दर्शन अनुभव का समाधान है। अनुभव का स्रोत क्या है? अनुभववाद के अनुसार सारा ज्ञान बाहर से प्राप्त होता है, बुद्धिवाद के अनुसार यह अंदर से निकलता है, आलोचन-वाद के अनुसार ज्ञानसामग्री प्राप्त होती है, इसकी आकृति मन की देन है।

नीति में प्रमुख प्रश्न निःश्रेयस का स्वरूप है। नैतिक विवाद बहुत कुछ भोग के संबंध में है। भोगवादी सुख की अनुभूति को जीवन का लक्ष्य समझते हैं; दूसरी ओर कठ उपनिषद् के अनुसार श्रेय और प्रेय दो सर्वथा भिन्न वस्तुएँ हैं।

राजनीति राष्ट्र की सामूहिक नीति है। नीति और राजनीति दोनों का लक्ष्य मानव का कल्याण है; नीति बताती है कि इसके लिये सामूहिक यत्न को क्या रूप धारण करना चाहिए। एक विचार के अनुसार मानव जाति का इतिहास स्वाधीनता संग्राम की कथा है, और राष्ट्र का लक्ष्य यही होना चाहिए कि व्यक्ति को जितनी स्वाधीनता दी जा सके, दी जाय। यह प्रजातंत्र का मत है। इसके विपरीत एक दूसरे विचार के अनुसार सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी खराबी व्यक्तियों में स्थिति का अन्तर है; इस भेद को समाप्त करना राष्ट्र का लक्ष्य है। कठिनाई यह है कि स्वाधीनता और बराबरी दोनों एक साथ नहीं चलती। संसार का वर्तमान खिंचाव इन दोनों का संग्राम ही है। [दी० च०]

सिद्धांत और सैद्धांतिक धर्ममीमांसा सिद्धांत विश्वास पर आधारित धारणा है। किसी धार्मिक संप्रदाय के द्वारा स्वीकृत विश्वासों का क्रमबद्ध संग्रह उस संप्रदाय की धर्ममीमांसा है। धर्म-मीमांसा में विज्ञान और दर्शन के दृष्टिकोण की सार्वभौमता नहीं होती, इसकी पद्धति भी उनकी पद्धति से भिन्न होती है। विज्ञान प्रत्यक्ष पर आधारित है, दर्शन में बुद्धि की प्रमुखता है, और धर्म-मीमांसा में, आप्त वचन की प्रधानता स्वीकृत होती है। जब तक विश्वास का अधिकार प्रश्नरहित था, धर्ममीमांसकों को इस बात की चिंता न थी कि उनके मंतव्य विज्ञान के आविष्कारों और दर्शन के निष्कर्षों के अनुकूल हैं या नहीं। परंतु अब स्थिति बदल गई है, और धर्ममीमांसा को विज्ञान तथा दर्शन के मेल में रहना होता है।

धर्ममीमांसा किसी धार्मिक संप्रदाय के स्वीकृत सिद्धांतों का संग्रह है। इस प्रकार की सामग्री का स्रोत कहाँ है? इन सिद्धांतों का सर्वोपरि स्रोत तो ऐसी पुस्तक है, जिसे उस संप्रदाय में ईश्वरीय ज्ञान समझा जाता है। इससे उतरकर उन विशेष पुरुषों का स्थान है जिन्हें ईश्वर की ओर से धर्म के संबंध में निर्भ्रांत ज्ञान प्राप्त हुआ है। रोमन कैथोलिक चर्च में पोप को ऐसा पद प्राप्त है। विवाद के विषयों पर आचार्यों की परिषदों के निश्चय भी प्रामाणिक सिद्धांत समझे जाते हैं।

धर्ममीमांसा के विचारविषयों में ईश्वर की सत्ता और स्वरूप प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त जगत् और जीवात्मा के स्वरूप पर भी विचार होता है। ईश्वर के संबंध में प्रमुख प्रश्न यह है कि वह जगत् में अंतरात्मा के रूप में विद्यमान है, या इससे परे, ऊपर भी है। जगत् के विषय में पूछा जाता है कि यह ईश्वर का उत्पादन है, उसका उद्गार है, या निर्माण मात्र है। उत्पादनवाद, उद्गारवाद और निर्माणवाद की जाँच की जाती है। जीवात्मा के संबंध में, स्वाधीनता और मोक्षसाधन चिरकाल से विवाद के विषय बने रहे हैं। संत आगस्तिन ने पूर्वनिर्धारणवाद का समर्थन किया और कहा कि कोई मनुष्य अपने कर्मों से दोषमुक्त नहीं हो सकता, दोषमुक्ति ईश्वरीय करुणा पर निर्भर है। इसके विपरीत भारत की विचारधारा में जीवात्मा स्वतंत्र है, और मनुष्य का भाग्य उसके कर्मों से निर्णीत होता है। [दी० च०]

सिनकोना झाड़ी अथवा ऊँचे वृक्ष के रूप में उपजता है। यह रूबियेसी (Rubiaceae) कुल की वनस्पति है। इसकी कुल ३८ जातियाँ हैं। मुख्यतः दक्षिणी अमरीका में ऐंडीज़्पर्वत, पेरू तथा बोलीविया के ५,००० फुट अथवा इससे भी ऊँचे स्थानों में इनके जंगल पाए जाते हैं। पेरू के वाइसराय काउंट सिंकन की पत्नी द्वारा यह पौधा सन् १६३९ ई० में प्रथम बार यूरोप लाया गया और उन्हीं के नाम पर इसका नाम पड़ा। सिनकोना भारत में पहले पहल १८६० ई० में सर क्लीमेंट मारखम द्वारा बाहर से लाकर नीलगिरि पर्वत पर लगाया गया। सन् १८६४ में इसे उत्तरी बंगाल के पहाड़ों पर बोया गया। आजकल इसकी तीन जातियाँ सिनकोना आफीसिनेलिज् (C. Officinalis), सिनकोना कैलसाया (C. Calsaya) और सिनकोना सक्सीरूब्रा (C. Succirubra) पर्याप्त मात्रा में उपजाई जाती हैं। इसकी छाल से कुनैन नामक ओषधि प्राप्त की जाती है जो मलेरिया ज्वर की अचूक दवा है।

[रा० श्या० अ०]

सिनसिनैटी (Cincinnati) स्थिति : ३९° ८' उ० अ० तथा ८४° ३०' प० दे०। यह संयुक्त राज्य अमरीका के ओहायो (Ohio) राज्य का एक प्रमुख व्यापारिक नगर है जो ओहायो नदी के उत्तरी किनारे पर, कोलंबस नगर से ११६ मील दक्षिण पश्चिम में स्थित है। इसका क्षेत्रफल ७३ वर्ग मील है। यहाँ की जनसंख्या ६,६३,५३८ (१९६०) है।

सिनसिनैटी नगर ओहायो नदी से क्रमशः ६५ फुट तथा १५० फुट ऊँचे दो पठारों और ४०० से ५०० फुट तक ऊँची पहाड़ियों

पर स्थित है। अधिकांश आवासीय मकान इन्हीं पहाड़ियों पर स्थित हैं। नगर में २० प्राथमिक तथा आठ उच्चतर माध्यमिक विद्यालय हैं। सिनसिनैटी विश्वविद्यालय संयुक्त राज्य अमरीका का नगर द्वारा संचालित प्रथम विश्वविद्यालय है। इसके अतिरिक्त उच्च शिक्षा के लिये अनेक संस्थाएँ हैं।

नगर में एक सार्वजनिक पुस्तकालय तथा अनेक संग्रहालय हैं जिनमें से टैफ्ट संग्रहालय (Taft museum) उल्लेखनीय है। यहाँ की दर्शनीय इमारतें एवं स्थल कैरयू (Carew) टावर, सिनसिनैटी विश्वविद्यालय की वेधशाला तथा फाउंटेन स्क्वायर हैं। नगर में ३०० से भी अधिक औद्योगिक कारखाने हैं जिनमें साबुन, मशीनों के पुर्जे, धुलाई मशीनें, छपाई के लिये स्याही, जूते, रेडियो तथा काँच के विभिन्न सामान बनते हैं। [न० कु० रा०]

सिनिक एक यूनानी दर्शन संप्रदाय, जो समाज के प्रति उपेक्षा तथा व्यक्तिगत जीवन के प्रति निषेधात्मक दृष्टि के लिये प्रसिद्ध है। इस संप्रदाय का संस्थापक एंतिस्थिनीज (४४५–३६५ ई० पू०) था। पहले वह सोफिस्त था। बाद में सुकरात के स्वतंत्र विचारों, परहितचिंतन तथा आत्मत्याग से प्रभावित होकर, वह उसे अपना गुरु मानने लगा। यूनान के जनतंत्र ने सुकरात को जब प्राणदंड (३९९ ई० पू०) दे दिया, तो एंतिस्थिनीज को व्यक्ति पर समाज की प्रभुता के औचित्य पर, फिर से विचार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। समाज को वह इतना अधिकार देने के लिये तैयार न था कि सुकरात के समान आत्मत्यागी व्यक्ति को प्राणदंड दे सके।

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये, उसने 'प्रकृति की ओर चलो' का नारा लगाया। उस प्राकृतिक जीवन की ओर संकेत किया, जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने आप का स्वामी था। कोई किसी का दास न था। उस जीवन को अपनाने के लिये, धन, दौलत, संमान आदि से विरक्त होने की आवश्यकता थी। एंतिस्थिनीज ने इसे सहर्ष स्वीकार किया। किंतु, इस प्रकार के जीवन का समर्थन करने में वह शिक्षा, संस्कार, अभिवृद्धि आदि के अर्थों को लुप्त नहीं होने देना चाहता था। इसलिये, उसने मानवीय जीवन की अभिवृद्धि की नैतिक व्याख्या की।

वह सुकरात से प्रभावित था। सुकरात ने ज्ञान और नैतिक आचरण में कारण-कार्य-संबंध स्थापित किया था। इस सुकरातीय आदर्श को दुहराते हुए, एंतिस्थिनीज ने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन में बुद्धि की अभिव्यक्ति होती है, आँख मूँदकर बँधी हुई लकीरों पर चलते रहने में नहीं। बुद्धिमान व्यक्ति समाज के अधिकांश व्यक्तियों द्वारा स्वीकृत अयुक्त मूल्यांकन को समय समय पर ठीक करता रहता है।

अपने विचारों के समर्थन के निमित्त एंतिस्थिनीज ने सैद्धांतिक पीठिका भी तैयार की थी। अफलातून ने 'सामान्य' की निरपेक्ष सत्ता का समर्थन किया था और व्यक्ति के सत्य को 'सामान्य' का भाग बताया था। एंतिस्थिनीज ने अफलातून की इस तत्वविद्या का विरोध किया। उसने यह दिखाया कि 'सामान्य' की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। अनेक व्यक्तियों में व्याप्त होने से किसी तत्व को 'सामान्य' माना जाता है। व्यक्तियों से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं। इस प्रकार, अफलातून के सामान्यतावाद (यूनीवर्सलिज्म) के विरुद्ध एंतिस्थिनीज ने 'नामवाद' (नामिनलिज्म) की स्थापना की। यहाँ तक कि उसने 'गुणकथन पर निर्भर परिभाषा' का खंडन किया। वह प्रत्येक वस्तु को विशिष्ट वस्तु अथवा व्यक्ति मानता था। व्यक्ति ही निर्णयवाक्यों के उद्देश्य बनते हैं। परिभाषा भी एक प्रकार का निर्णयवाक्य है। किंतु, सामान्य गुण किसी विशिष्ट वस्तु का विधेय नहीं हो सकता। इस सैद्धांतिक पीठिका पर, एंतिस्थिनीज ने एक व्यक्तिवादी दर्शन का प्रारंभ किया जिसके अनुसार बुद्धिमान (= नैतिक) व्यक्ति समाज का सदस्य नहीं, आलोचक हो सकता है।

एंतिस्थिनीज के विचारों को आगे बढ़ाने का श्रेय उसके शिष्य डिप्रोजिनिस को दिया जाता है। वह कहता था, 'मैं समाज की कुरीतियों पर भौंकनेवाला कुत्ता हूँ; मेरा काम प्रचलित मूल्यों के उचित मान निर्धारित करना है।' इन्हीं दोनों के साथ सिनिक संप्रदाय का अंत नहीं हुआ। उनकी परंपरा यूनानी दर्शन के अंत तक चलती रही।

सिनिक समाजविरोधी न थे। उनके विचार से समाज को उचित मार्ग पर चलाने के लिये कुछ सचेत तथा निष्पक्ष समीक्षकों की आवश्यकता थी, जो स्वीकृत मूल्यों में समय समय पर संशोधन करते रहें। किंतु, ऐसे समीक्षकों के लिये, वे बौद्धिक विकास एवं नैतिक आचरण के साथ, निस्पृहता तथा समाज से अलगाव की आवश्यकता समझते थे। अपना कार्य उचित रूप से कर सकने के लिये, सिनिक दार्शनिकों ने विशेष प्रकार का रहन सहन अपनाया था।

वे अच्छे घरों की, स्वादिष्ट भोजन और सुखद वस्त्रों की आवश्यकता नहीं समझते थे। कहा जाता है, डिप्रोजिनिस ने किसी पुरानी नाँद में अपना जीवन व्यतीत किया। वही उसका घर था। सुकरात के लिये कहा जाता है कि उसने कभी जूते नहीं पहने; सर्दी, गर्मी आदि के अनुसार अपने वस्त्रों में परिवर्तन नहीं किया। किंतु वह एथेंस नगर में घूम घूमकर, गलत काम करनेवालों की आलोचना किया करता था। इस काम में व्यस्त रहने से वह कभी अपने पैत्रिक व्यवसाय में रुचि न ले सका। सिनिकों ने सुकरात के जीवन से शिक्षा प्राप्त की थी। वे समझते थे कि अपनी समस्याओं का निराकरण करके ही समाज की चौकसी की जा सकती है।

सिनिकों का उद्देश्य समाज का हित करना था; किंतु, जिस रूप में वे अपना दृष्टिकोण व्यक्त करते थे, उससे वे घोर व्यक्तिवादी तथा समाज के निंदक प्रतीत होते थे।

सिनिक आदर्शों का संप्रदाय के रूप में समुचित निर्वाह अधिक समय तक संभव न था। अंतिम सिनिक परिस्थितियों के अनुसार जीवनयापन में सिनिक आदर्शों की पूर्ति मानने लगे थे। उत्तराधिकारियों के लिये प्रारंभिक उपदेष्टाओं की भाँति विरक्त एवं आत्मत्यागी होना संभव न था। इसीलिये, कालांतर में सिनिक का सामान्य अर्थ समाज की उपेक्षा करनेवाला व्यक्ति रह गया। किंतु मानवीय चिंतन से सिनिक तत्व का सर्वथा अभाव न हो सका। समय समय पर, ऐसे समाज के हितचिंतक होते रहे हैं, जो समाज की भ्रांतियों से क्षुब्ध होकर, एक अलगाव का भाव व्यक्त करते रहे हैं और ऐसी टीका टिप्पणियाँ करते रहे हैं, जिनसे उचित मार्ग का संकेत प्राप्त हो। स्वर्गीय बर्नार्ड शा को बीसवीं सदी का बहुत बड़ा

सिनिक कहा जा सकता है। उनके साहित्य में व्याप्त सामाजिक आलोचना, प्रायः उपेक्षा की सतह तक पहुँच जाती है किंतु, उस उपेक्षावृत्ति में अंतर्हित सामाजिक हितकामना बिना खोजे हुए हम 'सिनिक' के अर्थ तक नहीं पहुँच सकते।

सं० ग्रं० — एडवर्ड केयर्ड : द एवोल्यूशन ऑव थियॉलोजी इन द ग्रीक फिलॉसॉफर्स, भाग २, भाषण १७; एडुअर्ड ज़ेलर : आउटलाइन हिस्ट्री ऑव ग्रीक फिलॉसॉफी। [वि० श०]

सिनिक पंथ यूनान में एंटिस्थिनीज़ द्वारा प्रस्थापित एक दार्शनिक पंथ। एंटिस्थिनीज़ का जन्म ई० पू० ४४४ में हुआ और मृत्यु ई० पू० ३६८ में। वह एथेंस का निवासी था तथा सुकरात के प्रमुख साथियों में उसकी गणना की जाती थी। 'सिनिक' पंथियों ने आगे चलकर यह दावा किया कि सुकरात के जीवनदर्शन का यथार्थ प्रतिबिंब एंटिस्थिनीज़ के आचारशास्त्र में ही मिलता है न कि प्लेटोवाद में। 'सिनिक' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कदाचित् इस शब्द का संबंध 'सिनोसार्गस' नामक स्थान से है जहाँ एंटिस्थिनीज़ ने अपना आश्रम बनाया था।

सिनिकवाद का दृष्टिकोण सुखवादविरोधी है। उसके अनुसार वास्तविक संतोष 'सुख' से पूर्णतया भिन्न है। संतोष का आधार सदाचार है जो सात्विक जीवन से ही संभव है। सात्विकता लाभ करने के लिये यह आवश्यक है कि बाह्य परिस्थितियों तथा घटनाओं के दबाव से व्यक्तिमात्र को मुक्ति मिले। इस प्रकार की मुक्ति के साधन हैं संयम और आत्मनियंत्रण।

इच्छाओं और शारीरिक आवश्यकताओं को न्यूनतम सीमा तक घटा देना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। चूँकि सभ्यता का विकास इस आदर्श के विपरीत जाता है, इसलिये 'सिनिक' पंथ ने भौतिक साधनों की उन्नति का, और अप्रत्यक्ष रूप से भौतिक विज्ञानों का विरोध किया।

इस विचारधारा का विकृत रूप डायोजिनीस के अतिव्यक्तिवाद में मिलता है। नगर में रहकर नागरिक बंधनों से पूर्णतया मुक्त रहने की कल्पना अंततः समाजविरोधी बन जाती है। 'संयम' की परिणति 'दमन' में होकर 'सिनिकवाद' का जीवनदर्शन आगे चलकर बिल्कुल ही एकांगी हो गया।

फिर भी 'सिनिक' पंथियों के उपदेशों में विशुद्ध आदर्शवाद के बीज अवश्य थे। एंटिस्थिनीज़ ने कहा, 'सिक्कों' से 'शुभ' को नहीं खरीदा जा सकता। परंतु गरीब आदमी भी आध्यात्मिक दृष्टि से धनी हो सकता है। 'स्टोइक्' दार्शनिकों ने एंटिस्थिनीज़ के प्रति आदर व्यक्त किया है और चूँकि 'स्टोइकवाद' का मध्ययुगीन नैतिक मूल्यों पर गहरा प्रभाव पड़ा इसलिये 'सिनिक' पंथ ने भी अप्रत्यक्ष रूप से महत्वपूर्ण कार्य किया। इस पंथ की बड़ी सफलता यह थी कि एक ऐसे युग में जब सुखवाद की स्वार्थपरता से सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों को आघात पहुँच रहा था, उसने आंतरिक संतोष की महत्ता पर ज़ोर दिया।

सं० ग्रं० — डेविडसन : द स्टोइक् क्रीड। [वि० श्री० न०]

सिन्या पाल (१८६३-१९३५) फ्रेंच चित्रकार। पहले भवनशिल्प की ओर रुचि, किंतु बाद में चित्रकला की प्रवृत्ति जगी। सुप्रसिद्ध फ्रेंच कलाकार विंसेंट वैनगाफ, पाल सेज़ाँ, पाल गागँ और क्लाद मोने की कलाप्रणालियों का अनुसरण करने के कारण उसके दृश्यचित्रणों पर प्रभाववाद हावी हो गया, किंतु परवर्ती जीवन में जार्ज सुरेत से जब उसकी भेंट हुई तो वह प्रभाववाद से नव्य प्रभाववाद की ओर आकृष्ट हुआ। कतिपय आलोचकों ने उसकी कला को ज्यामितिक और ऊबभरी शिथिल एकस्वरता लिए माना, किंतु उसके कुछ प्रशंसकों ने बिंदुमयी शुद्ध टेक्नीक को रंगों से सर्वथा पृथक् दीखनेवाली एक नए ढंग की चमक और स्फूर्त ताज़गी बतलाया। उसके जलरंगों के चित्रण में अपेक्षाकृत सहजता और उन्मुक्त गरिमा है। खेत खलिहानों के दृश्य, समुद्री दृश्य और फ्रांस प्रदेश के दृश्यों तथा अपने कतिपय सज्जापूर्ण पैनल के कारण सामयिक प्रदर्शनियों में उसको ख्याति मिली। सुरेत जैसे कलाकार के साथ समूचे यूरोप का भ्रमण कर उसने कला का व्यापक ज्ञान अर्जित किया। [श० रा० गु०]

सिन्हा, लॉर्ड सत्येंद्रप्रसन्न सिन्हा बंगाल के ऐडवोकेट जनरल थे। वह पहले भारतीय थे जिन्होंने वाइसरॉय की काउंसिल में कानून सदस्य के रूप में प्रवेश करने का संमान प्राप्त किया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् श्री सिन्हा को 'लॉर्ड' की उपाधि दी गई तथा वह 'अंडर सेक्रेटरी ऑव स्टेट फॉर इंडिया' के पद पर नियुक्त कर दिए गए। सन् १९२० में लॉर्ड सिन्हा बिहार तथा उड़ीसा के गवर्नर नियुक्त हुए।

[मि० चं० पां०]

सिपाही विद्रोह (१८५७) आधुनिक भारत के इतिहास में सन् १८५७ का सिपाही विद्रोह सबसे बड़ा विप्लव था। वेलोर और बैरकपुर के सिपाही विद्रोहों से इसके आधार और क्षेत्र अधिक व्यापक थे। इसमें बंगाल की सेना के देशी सिपाहियों ने महत्वपूर्ण भाग लिया था। उनमें अधिकांश अवध तथा उत्तर पश्चिम प्रांत के निवासी थे। वे प्रायः उच्च जाति के सनातनी थे। उत्तर भारत में जहाँ कहीं उनकी पल्टनें थी सभी जगह विद्रोह हुए अथवा उसके लक्षण दिखाई पड़े। बंबई प्रेसिडेंसी में मराठा सेना ने केवल छुटपुट विद्रोह किए जिनका विस्तार अधिक न था। मद्रास की सेना शांत रही।

सिपाही विद्रोह के प्रमुख कारण थे देशी सेना में असंतोष तथा देश में ब्रिटिश नीति तथा शासन के प्रति अविश्वास। ब्रिटिश और भारतीय सैनिकों के वेतन, भत्ते, अवकाश, उन्नति के अवसर, रहने की व्यवस्था और सुविधाओं में बहुत विषमता थी। समुद्र पार करने तथा विदेशों में जाने से उन्हें धर्म तथा जाति से बहिष्कृत होने का भय था। इन बातों से उत्पन्न असंतोष का प्रदर्शन बर्मा के प्रथम युद्ध के समय से प्रायः होता रहा। लार्ड हार्डिंज और डलहौजी के शासन काल में ही बार बार सिपाहियों ने विद्रोह किया। देशी सेना में अनुशासन दिनोंदिन बिगड़ता गया। अवध की स्वतंत्रता के अपहरण से सिपाहियों में क्षोभ बढ़ा। जनरल सर्विस एनलिस्टमेंट ऐक्ट, एनफील्ड राइफल में चर्बी लगे कारतूसों के प्रयोग, सेना के पश्चिमीकरण तथा ईसाई धर्मप्रचार को उन्होंने संदेह की दृष्टि से देखा। उसी

समय बहुत सी अंग्रेजी पल्टनें तथा पुराने योग्य अफसर क्रीमिया, फारस या चीन भेज दिए गए। नए अफसरों में सहानुभूति का अभाव था। ऐसे उपयुक्त अवसर पर अनेक असंतुष्ट असैनिक नेताओं तथा उनके अनुयाइयों ने अपने ब्रिटिश विरोधी गुप्त प्रचार द्वारा सिपाहियों को उनकी सैनिक शक्ति का आभास कराकर उनके असंतोष को उभाड़ दिया। उनके मस्तिष्क में यह बात जम गई कि कंपनी का साम्राज्य हमारे सहयोग से ही बना और टिका है। फिर भी सेना में हमारा स्थान निम्न है। गाय और सूअर की चर्बी लगे कारतूसों को दाँत से काटकर राइफल में लगाने तथा हड्डी मिले आटे के प्रयोग से हमारा धर्म नष्ट हो जायगा। कंपनी का राज्य केवल सौ वर्ष चलेगा। भारत में ब्रिटिश सेना कम है। कंपनी की अधीनता दूर करने का अब उत्तम अवसर है। इस प्रचार ने बंगाल की देशी सेना के असंतोष में चिनगारी लगा दी। फलत: १८५७ का विद्रोह बंगाल की देशी सेना द्वारा प्रारंभ किया गया। महाराष्ट्र में उच्च वर्ग के मराठा सिपाहियों में इसी प्रकार का प्रचार हुआ। मद्रास की सेना में भाषा की कठिनाइयों के कारण कोई प्रचार न हो सका।

विद्रोह के कारण केवल सेना संबंधी ही न थे, और न यह केवल सैनिक विद्रोह ही था। इसके प्रारंभ होने के पूर्व अंग्रेजों की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक नीतियों से सारे देश में असंतोष फैल चुका था। १७५७ से अंग्रेजों की साम्राज्य-विस्तार-नीति, डलहौजी के साम्राज्य-संयोजन-कार्य, अनुचित तरीकों से देशी राज्यों की स्वतंत्रता का अपहरण, अधिकारच्युत राजकुलों, उनके अनुचरों एवं आश्रितों में बढ़ती हुई बेकारी, सहानुभूतिशून्य शासनव्यवस्था, असंतोषजनक न्यायव्यवस्था, उच्च पद भारतीयों को न मिलने तथा जमींदारियों, ताल्लुकेदारियों, नाममात्र के राजाओं की पेंशनों तथा पदवियों के छिनने से देश में राजनीतिक असंतोष था। उद्योग धंधों के ह्रास, दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था, कृषि की अवनति, बड़े व्यापार पर अंग्रेजों के एकाधिकार, बढ़ती हुई गरीबी और बेकारी तथा अकालों के कारण देश की आर्थिक स्थिति दु सह बन गई थी। सभी संभव साधनों द्वारा ईसाई धर्मप्रचार तथा भारतीय धर्मों की आलोचना, भारतीय शिक्षण संस्थाओं के पतन तथा नई संस्थाओं द्वारा पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति के प्रसार, रिलिजस डिसेबिलिटीज़ ऐक्ट तथा हिंदू विधवा पुनर्विवाह, कानून द्वारा सामाजिक मामलों में सरकारी हस्तक्षेप, जेलों में सार्वजनिक रसोई व्यवस्था, अंग्रेजी स्कूलों, अस्पतालों, जेलों तथा रेलगाड़ियो में छुआछूत का विचार न होने से तथा दत्तक पुत्रों के अधिकारों की अवहेलना से सरकार के उद्देश्यों के प्रति संदेह उत्पन्न हो गया। वर्षों से चले आए इस असंतोष का आभास अंग्रेजों के विरुद्ध हुए बुंदेला, मोपला, संताल आदि अनेक विद्रोहों से होता है। पर इनका क्षेत्र सीमित था। १८५७ का विद्रोह व्यापक था।

विद्रोह का नेतृत्व 'असंतुष्ट असैनिक सामंतों ने किया। उन्होंने अपनी खोई हुई सत्ता को वापस लेने के लिये असंतुष्ट सिपाहियों का प्रयोग किया। इसलिये यह विद्रोह अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र आंदोलन था जिसके प्रति प्रारंभ में सभी असंतुष्ट लोग सहानुभूति रखते थे पर बाद में लुटेरों द्वारा आतिशंक होने के कारण उन्हें अश्रद्धा पैदा हो गई। अवध में यह विद्रोह राष्ट्रीय प्रतीत हुआ। विद्रोह के कुछ समय पूर्व अनेक लोगों की गतिविधियाँ संदेहजनक दिखाई पड़ीं। अजीमुल्ला खाँ, मौलवी अहमदउल्ला तथा नाना साहब ने कुछ महत्वपूर्ण स्थानों का भ्रमण किया तथा चपातियाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजी गईं। तत्कालीन परिस्थितियों से अनुमान होता है कि विद्रोह के पूर्व अंग्रेजो के विरुद्ध गुप्त रीति से षड्यंत्र चल रहे थे।

सैनिक विद्रोह के प्रथम लक्षण बरहामपुर और बैरकपुर की छावनियों में फरवरी-मार्च, १८५७ मे दिखाई पड़े। वहाँ सिपाहियों ने नए कारतूसों का प्रयोग करने से इनकार कर दिया। बैरकपुर में मंगल पांडे ने अपने अंग्रेज अफसर की हत्या कर दी। इसके लिये उसे फाँसी दी गई। विद्रोह का वास्तविक प्रारंभ १० मई को मेरठ की छावनी में हुआ। वहाँ विद्रोही सिपाहियो ने अपने अफसरों का वध कर डाला, जेल से बंदियों को मुक्त किया और दूसरे दिन दिल्ली में अंग्रेजों को मारकर नाममात्र के शासक बहादुरशाह को वास्तविक सम्राट् घोषित किया। सम्राट् ने हिंदुओं का सहयोग पाने के लिये गाय की कुर्बानी बंद करा दी और देश को स्वतंत्र बनाने के उद्देश्य से राजपूतों को आमंत्रित किया तथा उनके परामर्श से शासन करने का वचन दिया। पर वे तटस्थ रहे। यहीं से विद्रोह का असली रूप दिखाई पड़ता है। जून के अंत तक विद्रोह उन सभी छावनियों में फैल गया जहाँ ब्रिटिश सेना न थी।

विद्रोह का मुख्य क्षेत्र नर्मदा नदी से नेपाल की तराई तक तथा पश्चिमी बिहार से दिल्ली तक था। इस क्षेत्र मे बड़े छोटे सैकड़ों केंद्र थे जिनमें स्थानीय नेता थे, जैसे दिल्ली मे सम्राट् बहादुरशाह, रुहेलखंड में बरेली के खान बहादुर खाँ, कानपुर में नाना साहब और उनके सहयोगी, झाँसी में रानी लक्ष्मी, लखनऊ मे बेगम हजरत महल और उसका पुत्र बिरजिसकद्र, फैजाबाद में मौलवी अहमदउल्ला, फर्रुखाबाद में नवाब तफज्जुल हुसेन, मैनपुरी के राजा तेजसिंह, रामनगर के राजा गुरुबख्श, अवध के अनेक भागों के ताल्लुकेदार, बिहार तथा पूर्वी उत्तर-पश्चिम प्रांत में कुँवरसिंह, इलाहाबाद में लियाकतअली, मंदसौर में शाहजादा फिरोजशाह, कालपी और ग्वालियर में ताँत्या तोपे और रावसाहब, सागर और नर्मदा के प्रदेश में शाहगढ़ के बखतबली, बानपुर के मर्दनसिंह, गोंड राजा शंकरशाह, कोटा मे मेहराब खाँ, इंदौर में सआदत खाँ, राहतगढ़ में अमापानी के नवाब और अन्य स्थानों में सैकड़ो अन्य हिंदू तथा मुसलमान नेता। सैकड़ो स्थानों से अल्प काल के लिये ब्रिटिश सत्ता हटा दी गई। नाना साहब कानपुर में पेशवा घोषित किए गए। बिरजिसकद्र अवध का नवाब घोषित हुआ और फीरोजशाह मंदसौर में बादशाह बन बैठा। सिपाहियों का विद्रोह और भी अधिक व्यापक था। यह ढाका से पेशावर तक और बरेली से सतारा तक फैला था।

विद्रोह को फैलने से रोकने के लिये सैनिक कानून लागू किया गया तथा प्रेस पर प्रतिबंध लगा दिए गए। खजानों और शस्त्रागारों की रक्षा का भार देशी सिपाहियों से ले लिया गया और उनकी गतिविधियों पर नजर रखी गई। फिर भी केवल मद्रास को छोड़कर सभी प्रेसिडेंसियों में सैनिक विद्रोह हुए। पंजाब में अनेक स्थानों पर देशी पल्टनों ने विद्रोही भावना दिखाई, पर सिक्खों और अफगानों के सहयोग से अंग्रेजों ने उन्हें निःशस्त्र कर दिया। बंबई प्रेसिडेंसी में

सतारा, कोल्हापुर, नरगुंड तथा सावंतवाड़ी में सिपाही विद्रोह हुए। वे तुरत दबा दिए गए। बंगाल और बिहार में अनेक आदमियों में सिपाहियों ने विद्रोह किया, पर प्रभावशाली जमींदारों की वफादारी के कारण उन्हें जन सहयोग न मिल सका।

विद्रोहों को दबाने के लिये साधन जुटाए गए। स्वामिभक्त रजवाड़ों से सैनिक सहायता माँगी गई। विदेशों को भेजी गई सेना लौटा ली गई। इंग्लैंड से चुने हुए सैनिक बुलाए गए। मद्रास और बंबई से सेनाएँ माँगी गईं। कूटनीति द्वारा हिंदू तथा मुसलमानों को पृथक् करने के प्रयत्न किए गए। युद्ध प्रिय गोरखा, सिक्ख और डोगरा जातियों को मित्र बना लिया गया। दिल्ली पर आक्रमण करने तथा ब्रिटिश प्रतिष्ठा के पुन:स्थापन के लिये पंजाब में सेना तैयार की गई। अंत में कई घमासान युद्धों के पश्चात् निकल्सन, विल्सन, बेयर्ड स्मिथ, चेंबरलेन आदि ने २० सितंबर को दिल्ली पर फिर से अधिकार कर लिया। नगर में भयंकर लूटमार हुई। हजारों निर्दोष व्यक्ति संगीनों से मार डाले गए। मुगल शाहजादों को हॉडसन ने निर्दयतापूर्वक मौत के घाट उतार दिया। बहादुरशाह को बंदी बनाकर रंगून भेज दिया गया। इस सफलता से अंग्रेजों में आत्मविश्वास बढ़ा तथा विद्रोहियों के हौसले कुंठित हुए।

विलियम टेलर और विंसेंट आयर ने बिहार के विद्रोहों को दबा दिया। नील के नेतृत्व में मद्रास की सेना ने बनारस तथा इलाहाबाद के विद्रोहियों को निर्दयतापूर्वक दबाया। इसका बदला विद्रोहियों ने कानपुर के हत्याकांड से लिया। जार्ज लारेंस ने बड़ी सतर्कता से राजपूताने में शांति स्थापित की। सर ह्यू रोज के नेतृत्व में सेंट्रल इंडिया फील्ड फोर्स ने मध्य भारत, मध्य प्रदेश तथा बुंदेलखंड के विद्रोहों को दबाया। कानपुर में नील और कालिन कैंपबेल ने भीषण नरसंहार द्वारा विद्रोह समाप्त किया। गोरखों की सहायता से अवध और रुहेलखंड पर ब्रिटिश सत्ता की पुन: स्थापना हुई। तात्या तोपे, रावसाहब तथा रानी लक्ष्मी बाई ने ग्वालियर में डटकर अंग्रेजों से मोर्चा लिया जिसमें रानी मारी गईं। तात्या तोपे, रावसाहब तथा फीरोजशाह लगभग एक वर्ष तक भारत की आधी अंग्रेजी सेना को परेशानी में डाले रहे। अंत में तात्या तोपे और रावसाहब आतिथ्यकारियों के विश्वासघात द्वारा पकड़े गए और उन्हें फाँसी दी गई। फीरोजशाह भारत छोड़कर पश्चिमी एशिया के देशों में घूमता फिरा। मक्का में उसकी मृत्यु हो गई। बहुत से मुस्लिम विद्रोहियों ने भागकर तुर्की में शरण ली। कई हजार विद्रोही नेपाल के जंगलों में चले गए। लगभग २००० को पकड़कर नेपाल की सरकार ने अंग्रेजों को दे दिया। उनमें से खानबहादुर खाँ तथा ज्वालाप्रसाद को फाँसी दी गई। नाना साहब, बेगम हजरत महल, बिरजिसकद्र तथा कुछ अन्य विद्रोही नेता नेपाल में ही रहे पर उनका पता न चला। बूढ़े कुँवरसिंह ने अद्‌भुत वीरता दिखाई, पर उनका देहांत हो गया। अहमदउल्ला धोखा देकर मार डाले गए। अजीमुल्ला खाँ, बालाशाह तथा हजारों विद्रोहियों की मृत्यु तराई के जंगलों में हो गई। बहुत से छोटे मोटे विद्रोही राजाओं और जमादारों ने सुरक्षा की घोषणा सुनकर आत्मसमर्पण कर दिया। उन्हें बंदी बना लिया गया। जेल कैदियों से भर गए। हजारों को पेड़ों से लटकाकर फाँसी दे दी गई।

विद्रोह की असफलता के अनेक कारण थे, यथा सिपाहियों में राष्ट्रीय चेतना, उद्देश्य की एकता तथा संगठित योजना का अभाव; उनके सीमित सैनिक एवं आर्थिक साधन; उनमें योग्य नेतृत्वहीनता, उनकी भूलें, असावधानियाँ, अदूरदर्शिता तथा अराजकता दूर करने की असमर्थता; तथा विद्रोह का देशव्यापी क्षेत्र न होना। अंग्रेजों के असीमित साधन, कुशल नेतृत्व, सफल कूटनीति, चरित्र, तार, डाक और प्रेस पर नियंत्रण तथा देशी राज्यों और प्रभावशाली लोगों के सहयोग आदि विद्रोह के दबाने में उनके सहायक बने।

विद्रोह के परिणामस्वरूप ईस्ट इंडिया कंपनी का अंत कर दिया गया। भारत का शासन इंग्लैंड की महारानी के नाम से होने लगा। उसने भारतीयों का हृदय जीतने के लिये नई नीति की घोषणा की। विद्रोह से भारत में जन और धन की भीषण हानि हुई। परिणामत: प्रजा पर करों का बोझ बढ़ गया। भविष्य में विद्रोहों की संभावना को नष्ट करने के लिये शासन में आवश्यक परिवर्तन किए गए जिससे भारतीयों और अंग्रेजों के बीच सदा के लिये खाई बन गई और कुछ समय बाद ही विद्रोह की राख से भारत में राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई। [ही० ला० गु०]

सिमडेगा बिहार राज्य के राँची जिले का सबसे दक्षिणी उपमंडल है। इसकी जनसंख्या ३,१४,४३७ (१९६१) है तथा इस उपमंडल का धरातल अत्यंत ही ऊबड़ खाबड़ पठार है। इससे होकर सांख नदी बहती है। इसके पूर्वी ओर पर दक्षिणी कोयल नदी बहती है। यहाँ जंगलों की प्रधानता है। खेती के लायक भूमि कम है। जहाँ खेती संभव है वहाँ धान की फसल होती है। यह बड़ा ही पिछड़ा इलाका है। यहाँ आवागमन के साधनों का नितांत अभाव है। केवल एक पक्की सड़क उत्तर में लोहरदगा तथा राँची और दक्षिण में लरकेला तक जाती है। हाल ही में राँची बोंडामुंडा रेलमार्ग का निर्माण हुआ है। सिमडेगा प्रमुख नगर तथा केंद्र है जिसकी जनसंख्या १०,३९६ है। [ज० सिं०]

सिमॉन्सेन, जॉन लायनेल (Simonsen, John Lionel, सन् १८८४-१९५७) का जन्म मैंचेस्टर के लेवेनशुल्म नामक कस्बे में हुआ था। सन् १९०१ से आपने मैंचेस्टर विश्वविद्यालय में अध्ययन प्रारंभ किया तथा सन् १९०९ में डॉक्टर ऑव सायंस की उपाधि प्राप्त की। इस विश्वविद्यालय के आप रसायन शास्त्र में प्रथम शूंक (Schunck) रिसर्च फेलो थे।

सन् १९१० में आप मद्रास के प्रेसीडेंसी कॉलेज में रसायन शास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए। यहाँ आपने अपना बहुत समय अनुसंधान कार्य में लगाया। प्रथम विश्वयुद्ध के समय ये इंडियन म्युनिशन बोर्ड के रासायनिक सलाहकार थे तथा सन् १९१९ से १९२५ तक देहरादून के फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टिट्यूट तथा कॉलेज के प्रधान रसायनज्ञ रहे। सन् १९२५ में आप बैंगलुरु के इंडियन इन्स्टिट्यूट ऑव सायंस में जैव रसायन के प्रोफेसर नियुक्त हुए। देहरादून में भारतीय वाष्पशील तेलों का जो अध्ययन आपने आरंभ किया था, उसे जारी रखा। सन् १९२८ में वे इंग्लैंड वापस गए और सन् १९३० में वेल्स विश्वविद्यालय में रसायन शास्त्र के प्रोफेसर का पद सँभाला। कई अन्य महत्वपूर्ण पदों पर रहने के पश्चात् आप सन् १९४५ में कृषि

अनुसंधान परिषद् के सदस्य तथा सन् १९४७ में एफ० ए० ओ० की विशेषज्ञ कमिटी में यूनाइटेड किंगडम के प्रतिनिधि निर्वाचित हुए।

टर्पीनों पर आपने अन्य लोगों के सहयोग से पाँच खंडों में एक विशाल ग्रंथ लिखा है, जो इस विषय का प्रामाणिक ग्रंथ समझा जाता है। लंदन की केमिकल सोसायटी के आप अवैतनिक मंत्री सन् १९४५ से १९४९ तक, और सन् १९५२ से १९५४ तक रॉयल सोसायटी की परिषद् में सेवारत रहे। सन् १९३२ में आप रॉयल सोसायटी के फेलो निर्वाचित हुए थे तथा सन् १९५० में सोसायटी ने आपको डेवी पदक प्रदान किया। बर्मिंघम और मलाया के विश्वविद्यालयों ने डी० एस-सी० की तथा सेंट ऐंड्रूज विश्वविद्यालय ने एल-एल० डी० की संमानसूचक उपाधियाँ आपको प्रदान कीं। सन् १९२१ में आपको कैसर-ए-हिंद का रजत पदक मिला था। आप सन् १९२८ की इंडियन सायंस कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे। [स० दा० व०]

सियारामशरण गुप्त राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के अनुज थे। चिरगाँव (झाँसी) में बाल्यावस्था बीतने के कारण बुंदेलखंड की वीरता और प्रकृतिसुषमा के प्रति आपका प्रेम स्वभावगत था। घर के वैष्णव संस्कारों और गांधीवाद से गुप्त जी का व्यक्तित्व विकसित हुआ। गुप्त जी स्वयंशिक्षित कवि थे। मैथिलीशरण गुप्त की काव्य कला और उनका युगबोध सियारामशरण ने यथावत् अपनाया था अतः उनके सभी काव्य द्विवेदीयुगीन अभिधावादी कलारूप पर ही आधारित हैं। दोनों गुप्तबंधुओं ने हिंदी के नवीन आंदोलन छायावाद से प्रभावित होकर भी अपना इतिवृत्तात्मक अभिधावादी काव्यरूप सुरक्षित रखा है। विचार की दृष्टि से भी सियारामशरण जी ज्येष्ठबंधु के सदृश गांधीवाद की परदुःखकातरता, राष्ट्रप्रेम, विश्वप्रेम, विश्वशांति, हृदयपरिवर्तनवाद, सत्य और अहिंसा से आजीवन प्रभावित रहे। उनके काव्य वस्तुतः गांधीवादी निष्ठा के साक्षात्कारक पद्यबद्ध प्रयत्न हैं।

गुप्त जी के मौर्यविजय (१९१४ ई०), अनाथ (१९१७), दूर्वादल (१९१५-२४), विषाद (१९२५), आर्द्रा (१९२७), आत्मोत्सर्ग (१९३१), मृण्मयी (१९३६) बापू (१९३७), उन्मुक्त (१९४०), दैनिकी (१९४२), नकुल (१९४६), नोआखाली (१९४६), गीतासंवाद (१९४८) आदि काव्यों में मौर्यविजय और नकुल आख्यानात्मक हैं। शेष में भी कथा का सूत्र किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ता है। मानवप्रेम के कारण कवि का निजी दुःख सामाजिक दुःख के साथ एकाकार होता हुआ वर्णित हुआ है। विषाद में कवि के अपने विधुर जीवन और आर्द्रा में अपनी पुत्री रमा की मृत्यु से उत्पन्न वेदना के वर्णन में जो भावोद्‌गार प्रकट किए हैं, वे बच्चन के प्रियावियोग और निराला जी की 'सरोजस्मृति' के समान कलापूर्ण न होकर भी कम मार्मिक नहीं हैं। इसी प्रकार अपने हृदय की सचाई के कारण गुप्त जी द्वारा वर्णित जनता की दरिद्रता, कुरीतियों के विरुद्ध आक्रोश, विश्वशांति जैसे विषयों पर उनकी रचनाएँ किसी भी प्रगतिवादी कवि को पाठ पढ़ा सकती हैं। हिंदी में शुद्ध सात्विक भावोद्‌गारों के लिये गुप्त जी की रचनाएँ स्मरणीय रहेंगी। उनमें जीवन के शृंगार और उग्र पक्षों का चित्रण नहीं हो सका किंतु जीवन के प्रति करुणा का भाव जिस सहज और प्रत्यक्ष विधि पर गुप्त जी में व्यक्त हुआ है उससे उनका हिंदी काव्य में एक विशिष्ट स्थान बन गया है। हिंदी की गांधीवादी राष्ट्रीय धारा के वह प्रतिनिधि कवि हैं।

काव्यरूपों की दृष्टि से उन्मुक्त नृत्यनाट्य के अतिरिक्त उन्होंने पुण्यपर्व नाटक (१९३२), झूठा सच निबंधसंग्रह (१९३७), गोद, आकांक्षा और नारी उपन्यास तथा लघुकथाओं (मानुषी) की भी रचना की थी। उनके गद्यसाहित्य में भी उनका मानवप्रेम ही व्यक्त हुआ है। कथा साहित्य की शिल्पविधि में नवीनता न होने पर भी नारी और दलित वर्ग के प्रति उनका दयाभाव देखते ही बनता है। समाज की समस्त असंगतियों के प्रति इस वैष्णव कवि ने कहीं समझौता नहीं किया किंतु उनका समाधान सर्वत्र गांधी जी की तरह उन्होंने वर्गसंघर्ष के आधार पर न करके हृदयपरिवर्तन द्वारा ही किया है. अतः 'गोद' में शोभाराम मिथ्या-कलंक की चिंता न कर उपेक्षित किशोरी को अपना लेता है; 'अंतिम आकांक्षा' में रामलाल अपने मालिक के लिये सर्वस्व त्याग करता है और 'नारी' में जमुना अकेले ही विपत्तिपथ पर अडिग भाव से चलती रहती है। गुप्त जी की मानुषी, कष्ट का प्रतिदान, चुक्खू प्रेत का पलायन, रामलीला आदि कथाओं मे पीड़ित के प्रति संवेदना जगाने का प्रयत्न ही अधिक मिलता है। जाति वर्ण, दल वर्ग से परे शुद्ध मानवतावाद ही उनका कथ्य है। वस्तुतः अनेक काव्य भी पद्यबद्ध कथाएँ ही हैं और गद्य और पद्य में एक ही उक्त मंतव्य व्यक्त हुआ है। गुप्त जी के पद्य मे नाटकीयता तथा कौशल का अभाव होने पर भी सातों जैसी निश्छलता और संकुलता का अप्रयोग उनके साहित्य को आधुनिक साहित्य के तुमुल कोलाहल में शांत, स्थिर, सात्विक घृतदीप का गौरव देता है जो हृदय की पशुता के अंधकार को दूर करने के लिये अपनी ज्योति में आत्ममग्न एवं निष्कंप भाव से स्थित है।

सियालकोट १. जिला, पाकिस्तान के लाहौर डिवीजन में रावी और चिनाब के दोआब के अधःपर्वतीय भाग में आयताकार रूप में स्थित है। इसका क्षेत्रफल १,५७६ वर्ग मील है। जिले का उत्तरी भाग अत्यधिक उपजाऊ और दक्षिणी भाग उत्तरी भाग की अपेक्षा कम उपजाऊ है। दक्षिणी भाग की सिंचाई अब ऊपरी चिनाब नहर से की जाती है। जिले की औसत उर्वरता संपूर्ण पंजाब की औसत उर्वरता की अपेक्षा अधिक है। जिले की जलवायु स्वास्थ्यकर है। पंजाब के सामान्य ताप की अपेक्षा इस जिले का ताप कम रहता है। जिले में पहाड़ियों के समीप वार्षिक वर्षा ३५ इंच तथा इन पहाड़ियों से दूर के भागों में वार्षिक वर्षा २२ इंच होती है। गेहूँ, जौ, मक्का, मोटे अनाज (ज्वार, बाजरा, मड़ुवा आदि) तथा गन्ना यहाँ की प्रमुख फसलें हैं।

२. नगर, स्थिति : ३२° ३०' उ० अ० तथा ७४° ३२' पू० दे०। यह नगर सैनिक छावनी एवं उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक केंद्र है। नगर उत्तरी पश्चिमी रेलमार्ग पर लाहौर से ६७ मील उत्तर पूर्व में स्थित है। यह नगर अनेक व्यवसायों एवं उद्योगों का केंद्र है। यहाँ औजार, जूते, कागज, कपास एवं वस्त्र बनाने के उद्योग हैं। नगर में १०वीं शताब्दी के एक किले के भग्नावशेष हैं जो एक टीले पर खड़े हैं।

इतिहासकारों का अनुमान है कि यह टीला किले से अधिक प्राचीन है। कुछ इतिहासकारों ने नगर की पहचान प्राचीन शाकल नगर से की है। नगर की जनसंख्या १, ६४, ३४६ (१९६०) है।

[भ० ना० मे०]

सिरका या चुक (Vinegar, विनिगर) किसी भी शर्करायुक्त विलयन के मदिराकरण के अनंतर ऐसीटिक किण्वन (acetic fermentation) से सिरका प्राप्त होता है। इसका मूल भाग ऐसीटिक अम्ल का तनु विलयन है पर साथ ही यह जिन पदार्थों से बनाया जाता है उनके लवण तथा अन्य तत्व भी उसमें रहते हैं। विशेष प्रकार का सिरका उसके नाम से जाना जाता है, जैसे मदिरा सिरका (Wine Vinegar), मॉल्ट सिरका (Malt Vinegar) अंगूर का सिरका, सेब का सिरका (Cider Vinegar), जामुन का सिरका और कृत्रिम सिरका इत्यादि।

इसकी उत्पत्ति बहुत प्राचीन है। आयुर्वेद के ग्रंथों में सिरके का उल्लेख औषधि के रूप में है। बाइबिल में भी इसका उल्लेख मिलता है। १६वीं शताब्दी में फ्रांस में मदिरा सिरका अपने देश के उपभोग के अतिरिक्त निर्यात करने के लिये बनाया जाता था।

सिरके के बनने में शर्करा ही आधार है क्योंकि शर्करा ही पहले ऐंजाइमों से किण्वित होकर मदिरा बनती है और बाद में उपयुक्त जीवाणुओं से ऐसीटिक अम्ल में किण्वित होती है। अंगूर, सेब, संतरे, अनन्नास, जामुन तथा अन्य फलों के रस, जिनमें शर्करा पर्याप्त है, सिरका बनाने के लिये बहुत उपयुक्त हैं क्योंकि उनमें जीवाणुओं के लिये पोषण पदार्थ पर्याप्त मात्रा में होते हैं। फलशर्करा और द्राक्षशर्करा का ऐसीटिक अम्ल में रासायनिक परिवर्तन निम्नलिखित सूत्रों से अंकित किया जा सकता है :

$$१. \quad C_6H_{12}O_6 \xrightarrow{\text{यीस्ट (Yeast)}} २C_2H_5OH + CO_2$$

(फलशर्करा या द्राक्षशर्करा) (ऐल्कोहॉल)

$$२. \quad CH_3CH_2OH + O_2 \xrightarrow{\text{ऐसीटोबैक्टर}} CH_3COOH + H_2O$$
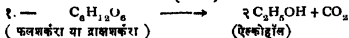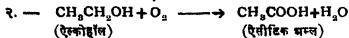
(ऐल्कोहॉल) (ऐसीटिक अम्ल)

ये दोनों ही क्रियाएँ जीवाणुओं (Bacteria) के द्वारा होती हैं। यीस्ट किण्वन में ऐल्कोहॉल की उत्पत्ति किण्वित शर्करा की प्रतिशत की आधी होती है और सिद्धांततः ऐसीटिक अम्ल की प्राप्ति ऐल्कोहॉल से ज्यादा होनी चाहिए, क्योंकि दूसरी क्रिया में ऑक्सीजन का संयोग होता है, लेकिन प्रयोग में इसकी प्राप्ति उतनी ही होती है क्योंकि कुछ ऐल्कोहॉल जीवाणुओं के द्वारा तथा कुछ वाष्पन द्वारा नष्ट हो जाते हैं।

बनाने की विधि — सिरका बनाने की विधियों में दो विधियाँ काफी प्रचलित हैं :

(१) **मंद गति विधि** — इस विधि के अनुसार किण्वनशील पदार्थ को जिसमें ५ से १० प्रतिशत ऐल्कोहॉल होता है, पीपों या कड़ाहों में रख दिया जाता है। ये बर्तन तीन चौथाई तक भरे जाते हैं ताकि हवा के संपर्क के लिये काफी स्थान रहे। इसमें थोड़ा सा सिरका जिसमें ऐसीटिक अम्लीय जीवाणु होते हैं डाल दिया जाता है और किण्वन क्रिया धीरे धीरे प्रारंभ हो जाती है। इस विधि के अनुसार किण्वन धीरे धीरे होता है और इसके पूरा होने में ३ से ६ माह तक लग जाते हैं। ताप ३०° से ३५° इसके लिये उपयुक्त है।

(२) **तीव्र गति विधि** — यह औद्योगिक विधि है और इसका प्रयोग अधिक मात्रा में सिरका बनाने के लिये किया जाता है। बड़े बड़े लकड़ी के पीपों को लकड़ी के बुरादे, झामक (Pumice), कोक (Coke) या अन्य उपयुक्त पदार्थों से भर देते हैं ताकि जीवाणुओं को आलंबन और हवा के संपर्क की सुविधा प्राप्त रहे। इनके ऊपर ऐसीटिक और ऐल्कोहॉलीय जीवाणुओं को धीरे धीरे टपकाते हैं और फिर जिस रस से सिरका बनाना है उसे ऊपर से गिराते हैं। रस के धीरे धीरे टपकने पर हवा पीपे में ऊपर की ओर उठती है और अम्ल तेजी से बनने लगता है। क्रिया तब तक कार्यान्वित की जाती है जब तक निश्चित अम्ल का सिरका नहीं प्राप्त हो जाता।

माल्ट सिरका (Malt Vinegar) — माल्टीकृत अनाज (malted grains, प्रायः जौ) से मद्यशाला (Distillery) की भाँति वाश (Wash) प्राप्त किया जाता है। फिर ऐसीटिक बैक्टीरिया के किण्वन से सिरका प्राप्त होता है। मदिरा सिरका (Wine Vinegar) उपर्युक्त दोनों विधियों से सुगमता से प्राप्त होता है।

सेब का सिरका (Cider Vinegar) — साधारण प्रयोग के लिये तीखा सिरका सेब या नासपाती के छिलके से बनाया जाता है। इन छिलकों को पानी के साथ किसी भी पत्थर के मर्तबान में रख देते हैं और उसमें कुछ सिरका या खट्टी मदिरा डालकर गर्म स्थान में रख देते हैं और दो तीन हफ्ते में सिरका तैयार हो जाता है।

काष्ठ सिरका (Wood Vinegar) — काष्ठ के भंजन आसवन से ऐसीटिक अम्ल की प्राप्ति होती है। यह तनु ऐसीटिक अम्ल (३ से ५%) है और इसको कैरेमेल (Caramel) से रंजित कर देते हैं। कभी कभी एथिल ऐसीटेट से सुगंधित भी किया जाता है।

कृत्रिम सिरका (Synthetic Vinegar) — सिरके की विशेष आवश्यकता पर कृत्रिम ऐसीटिक अम्ल के तनु विलयन को कैरेमेल से रंजित करके प्रयोग में लाया जाता है।

मानक तथा विश्लेषण (Standard and Analysis) — अधिकांश सिरकों का मानक यह है कि न्यूनतम ऐसीटिक अम्ल ४% होना चाहिए।

कुछ सिरकों का विश्लेषण भी निम्नलिखित है —

	सेब का सिरका	मदिरा सिरका	माल्ट सिरका
विशिष्ट गुरुत्व	१·०१३ से १·०१४	१·०१३ से १·०२१	१·०१५ से १·०२५
ऐसीटिक अम्ल%	४·८४	६·५५	४·२३
कुल ठोस %	२·४६	१·६१	२·७०
राख%	०·३४	०·३२	०·३४
शर्करा%	०·३५	०·४६	—

सं० ग्रं० — सी० ए० मिचेल : विनिगर, इट्स मैनुफैक्चर ऐंड एक्जामिनेशन (१९२७), सि० ग्रिफिन ऐंड को० लंदन; सी० एच० कैंबेल : कैंबेल्स बुक, पृष्ठ ५६२–६४१। [शि० मो० व०]

सिरमौर भारत के केंद्रशासित राज्य हिमाचल प्रदेश का दक्षिणी जिला है, जिसकी जनसंख्या १,६७,५५१ (१९६१) तथा क्षेत्रफल २८३६'१३ वर्ग किमी है। जिले में कुल ६६५ ग्राम तथा २ नगर हैं। पछाद, रेनका, नाहन और पाँटा चार तहसीलें हैं। जिले का मुख्यालय नाहन नगर में है जो सिरमौर का प्रमुख नगर है। नाहन की प्रमुखता एवं महत्व के कारण पहले जिले को 'नाहन' भी कहा जाता था। नाहन अंबाला से ३३ मील उत्तर पूर्व स्थित है। जिले की सीमा उत्तर प्रदेश और पंजाब राज्यों से मिली है। शिमला और मसूरी के मध्य, हिमालय की निम्न श्रेणियों में, यह जिला स्थित है। उत्तरी सीमा पर स्थित 'चोर' चोटी की ऊँचाई समुद्रतल से लगभग १२,००० फुट है। ब्रिटिश शासनकाल में यह देशी राज्य था।

[कां० ना० का०]

सिरिल फ्रांसिस हेय्रर (लूथरन सोसायटी) सिरिल फ्रांसिस हेय्रर का जन्म २८ फरवरी, १८०० को अमरीका के बोस्टन नगर में हुआ था। वहाँ के विश्वविद्यालय से उन्होंने एम० ए० की परीक्षा पास की। इसके बाद उन्होंने न्यूयार्क विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० तथा डी० डी० की डिग्रियाँ प्राप्त कीं।

सी० एफ० हेय्रर साधारणतः फादर हेय्रर के नाम से पुकारे जाते थे। वे अमरीका में ही प्रचार करते और होम मिशन का काम चलाते थे। बाद में वे जनरल सोसायटी की ओर से विदेश के लिये मिश्नरी नियुक्त किए गए परंतु उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया क्योंकि वे लूथरन सोसायटी की ओर से ही मिश्नरी होकर जाना चाहते थे। उसके बाद वे अमरीका बोर्ड में काम करने लगे और अंत में पेनसिलवेनिया प्रांत के उपदेशकों की मिश्नरी सोसायटी के मातहत मिश्नरी नियुक्ति स्वीकार की।

फादर हेय्रर बोस्टन शहर से १४ अक्टूबर, १८४१ को रवाना हुए और छह माह की यात्रा के बाद सिलोन पहुँचे। वहाँ से पालम-कोटा नामक स्थान में पहुँचे। वहाँ पर मिशन का काम पहले से चालू हो चुका था। इसलिये उन्होंने वहाँ अपनी आवश्यकता नहीं समझी और दक्षिण भारत के तेलुगु प्रदेश की ओर बढ़े। वे नेल्लोर नामक स्थान में गए। वहाँ भी मिशन का काम प्रारंभ हो चुका था सो वे उत्तर की ओर आगे बढ़े। नेल्लोर से उनके साथ ह्वान हुएन नामक मिश्नरी भी साथ गए। वहाँ से सौ मील दूर स्थित ओन्गोले पहुँचकर उन्होंने देखा कि वह मिशन स्टेशन के लिये बहुत उपयुक्त स्थान है, परंतु वे वहाँ न ठहरकर और आगे बढ़ गए। पचास मील उत्तर की ओर और आगे जाने पर वे गुंटूर नामक स्थान में पहुँचे।

गुंटूर में सर हेनरी स्टोक्स नामक अंगरेज जिला मजिस्ट्रेट रहते थे जो ऐंग्लीकन मंडली के सदस्य थे। वे अपनी मंडली से बहुत समय से विनय कर रहे थे कि वह गुंटूर में मिश्नरी का काम आरंभ करे परंतु मंडली ने कोई ध्यान नहीं दिया। फादर हेय्रर से मिलकर वे अत्यंत प्रसन्न हुए और समझा कि परमेश्वर ने ही उनकी प्रार्थना के उत्तर में इस मिश्नरी को भेजा है। उन्होंने फादर हेय्रर का हार्दिक स्वागत किया और उन्हें एक मकान देकर उनसे विनती की कि वे अपना मिशन आरंभ करें।

गुंटूर से पचास मील की दूरी पर मसुलीपट्टम नामक एक स्थान है जहाँ मिशन स्टेशन खोला जा चुका था और पादरी राबर्ट नोब्ल वहाँ काम करते थे। यह स्टेशन कुछ समय पहले ही खोला गया था इसलिये सर हेनरी स्टोक्स की विनय स्वीकार करने के पहले फादर हेय्रर ने पादरी नोब्ल से परामर्श करना उचित समझा। उन्होंने नोब्ल से मिलकर यह निश्चय कर लिया कि उनका मिशन गुंटूर में स्टेशन नहीं खोल रहा है। नोब्ल साहब ने फादर हेय्रर से कहा कि उनका आगमन मानों परमेश्वर की प्रेरणा और अगुवाई से ही हुआ है, क्योंकि वे इस क्षेत्र के लिये निरंतर प्रार्थना कर रहे थे। उनका आगमन मानों उनके ही प्रार्थनाओं का उत्तर है।

इन सब साक्षियों और प्रमाणों से फादर हेय्रर को भी ऐसा मालूम हुआ कि परमेश्वर ने ही उनको इस क्षेत्र के लिये बुलाया है और अगुवाई की है। इसलिये उन्होंने वहाँ मिश्नरी का काम करना आरंभ कर दिया। उन्होंने ३१ जुलाई, १८४२ को यह निश्चय किया। पहली आराधना की सभा स्टोक्स साहब के मकान में हुई जिसमें फादर हेय्रर (लूथरन मिश्नरी), सर स्टोक्स (ऐंग्लीकन), बैपटिस्ट मिश्नरी जो उनके साथ आए थे, और लंदन सोसायटी के कुछ मिश्नरी, जो विशाखपटनम जाने के लिये रास्ते में वहाँ रुक गए थे, शामिल थे। इस प्रकार गुंटूर में लूथरन मिशन का काम प्रारंभ हुआ और कुछ समय बाद बहुत ही प्रख्यात क्षेत्र हो गया।

१० दिसंबर, १८६६ को डाक्टर हेय्रर स्वदेश लौटे। वे जर्मनी से होकर जा रहे थे। जिस समय वे जर्मनी में थे उस समय उन्होंने सुना कि लूथरन मिशन अपना काम चर्च मिशन सोसायटी को सौंप रही है। यह उन्हें पसंद नहीं था। इसलिये वे इसका विरोध करने अमरीका गए। उन्हीं दिनों पेंसिलवेनिया के उपदेशकों की बैठक हो रही थी। डाक्टर हेय्रर अपने साथ दो व्यक्ति ले गए थे जो भारत में मिश्नरी के काम के लिये तैयार थे। १८६९ में वे भारत आए और मिश्नरी सोसायटी को मिशन स्टेशनों को सौंपने की तैयारी करने लगे और यह पूरी हो जाने पर दो नए मिश्नरी आए जो पहले से सेवा के लिये तैयार थे। उस समय गुंटूर में ६८० सदस्य थे और १९२ उम्मेदवार शिक्षकों को मिलाकर ३४ देशी कर्मचारी थे।

१ दिसंबर, १८६९ से डाक्टर हेय्रर राजमुंद्री में मिश्नरी का काम करने लगे जहाँ उपयुक्त एच० सी० स्मिट और जे० सी० एफ० बेकर नए मिश्नरी उनसे मिले। बेकर साहब पाँच छह महीना पीछे आए थे परंतु इसी बीच में स्मिट साहब की मृत्यु हो गई थी। २६ नवंबर, १८७१ को डाक्टर हेय्रर अमरीका लौट गए।

डाक्टर हेय्रर की मृत्यु १५ मार्च, १८८० को बोस्टन नगर में हुई। वे लूथरन सोसायटी से बड़ा प्रेम रखते थे और इसी सोसायटी का काम करना पसंद करते थे। वे लूथरन सोसायटी के कर्मठ सदस्य थे। उनका नाम लूथरन सोसायटी के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा हुआ है। वे प्रत्येक मनुष्य को अपना मित्र समझते थे और हर जाति के महान् पुरुषों का आदर करते थे। [मि० च०]

सिरेनेइका (Cyrenaica) लीबिया के पूर्वी भाग में स्थित एक प्रदेश है जिसका क्षेत्रफल ३,३०,२५९ वर्ग मील एवं अनुमानित जनसंख्या लगभग ३ लाख है। भूमध्यसागर तट पर स्थित इस प्रदेश के

पूर्व में मिस्र, पश्चिम में ट्रिपोलीटैनिया एवं दक्षिण में चाड गणतंत्र हैं। इसमें कूफा मरुद्यान भी सम्मिलित है। तटीय भाग की जलवायु भूमध्यसागरीय है। गर्मी की ऋतु उष्ण एवं शुष्क होती है। भीतरी भागों में वर्षा की मात्रा कम होती है तथा तट से ८० मील की दूरी पर मरुस्थलीय दशाएँ पाई जाती हैं। तटीय क्षेत्र में बेनगाजी और डेरना के बीच में तथा गेबल-एल-अख्दार (Gebel-el-Akhdar) पठार में जनसंख्या केंद्रित है जहाँ वार्षिक वर्षा १६" के आसपास हो जाती है। जौ, गेहूँ, जैतून, एवं अंगूर मुख्य कृषि उपज हैं। कूफा एवं जिमाबो नामक मरुद्यानों से खजूर की प्रचुर मात्रा में प्राप्ति होती है। खानाबदोश पशुचारियों ने भेड़, बकरे और ऊँट पर्याप्त मात्रा में पाल रखे हैं। यहाँ से भेड़, बकरा, पशु, ऊन, चमड़ा, मछली तथा स्पंज का निर्यात मुख्यतः ग्रीस और मिस्र को होता है।

उपजाऊ भूमि का अधिकांश भाग चरागाह के लिये ही उपयुक्त है। विकसित सिंचाई के साधनों द्वारा तरकारी की उपज की जा सकती है। फिर भी पशुपालन एवं बागवानी खेती प्रधान उद्योग रहेंगे। यहाँ २,७२,००० एकड़ में प्राकृतिक वन हैं। खनिज तेल भी पाया जाता है। सन् १९५७ में इस प्रदेश में २,३६,४३,७६८ किलोवाट घंटा विद्युत् उत्पन्न की गई। मुख्य नगर तोब्रुक, डेरना, सिरएन, बार्स और बेनगाजी हैं जो तटीय सड़कमार्ग द्वारा एक दूसरे से संबद्ध हैं। १०० मील लंबा रेलमार्ग है। वायुमार्ग द्वारा ट्रिपोली, काहिरा, रोम, माल्टा, ट्यूनिस, नैरोबी, एथेंस और लंदन यहाँ की राजधानी बेनगाजी से संबद्ध हैं। [रा० प्र० सिं०]

सिरोही १. जिला, यह भारत के राजस्थान राज्य का जिला है जिसका क्षेत्रफल १,९७९ वर्गमील एवं जनसंख्या ३,५२,३०३ (१९६१) है। पहले यह देशी राज्य था, पर अब जिला है। पहाड़ियों एवं चट्टानी श्रेणियों द्वारा यह जिला खंडित कर दिया गया है। उत्तर पूर्व से दक्षिण पूर्व की ओर अरावली श्रेणी जिले में फैली हुई है। दक्षिणी एवं दक्षिणी पूर्वी भाग पहाड़ी है। पश्चिम में बनास जिले की एकमात्र नदी है। जिले का बृहत् भाग जंगलों से ढंका हुआ है। बाघ, भालू, चीता एवं वन्य पशु इन जंगलों में पर्याप्त संख्या में हैं। जिले में अनेक प्राचीन भग्नावशेष हैं। आबू पर औसत वार्षिक वर्षा ६४ इंच होती है जब कि एरिनपुरा में १२-१३ इंच होती है। यहाँ की प्रमुख फसलें मक्का, बाजरा, मूँग, तिल, जौ, गेहूँ, चना और सरसों हैं। यहाँ के जंगलों में शिरीष, आम, बाँस, बड़, पीपल, गूलर, कचनार, फालूदा, सेमल और ढाक हैं। जिले का प्रमुख उद्योग तलवार, भाला, छुरा एवं चाकुओं के फल बनाना है। सिरोही की तलवार राजपूतों में उतनी ही लोकप्रिय थी जितनी पारसियों एवं तुर्कियों में दमिश्क की तलवार।

२. नगर, स्थिति : २४° ५३' उ० अ० तथा ७२° ५३' पू० दे०। यह नगर आबू रोड स्टेशन से २८ मील उत्तर में स्थित है। नगर की जनसंख्या १४,४५१ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

सिलहट १. जिला, पूर्वी पाकिस्तान का जिला है जिसका क्षेत्रफल ४,३२१ वर्ग मील है। यह जिला सुर्मा नदी की निचली घाटी में स्थित है। जिले का अधिकांश भाग समतल है। नदियों और अपवाह तंत्र का जाल संपूर्ण जिले में फैला हुआ है। यह सघन कृषिक्षेत्र है। यहाँ औसत वार्षिक वर्षा १५६ इंच है जिसमें से १०० इंच वर्षा जून और अक्टूबर में होती है। धान, अलसी, सरसों एवं गन्ना प्रमुख फसलें हैं। नाव निर्माण, अलवण जलवाले घोंघें से बटन बनाने, चटाई एवं सुगंध बनाने के उद्योग यहाँ हैं। जिले की जनसंख्या ३०,५१,३६७ (१९५१) है।

२. नगर, स्थिति : २४° ५३' उ० अ० एवं ९१° ५२' पू० दे०। यह उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक केंद्र है जो सुर्मा नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। शिलांग से कछार जानेवाली सड़क इस नगर से होकर गुजरती है। यहाँ की मुख्य संस्थाएँ मुरारीचंद महाविद्यालय, संस्कृत महाविद्यालय तथा कुष्ठ आश्रम हैं। [अ० ना० मे०]

सिलाई मशीन सिलाई की प्रथम मशीन ए० वाईसेन्थाल ने १७५५ ई० में बनाई थी। इसकी सुई के मध्य में एक छेद था तथा दोनों सिरे नुकीले थे। १७९० ई० में थामस सेंट ने दूसरी मशीन का आविष्कार किया। इसमें मोची के सूए की भाँति एक सुआ कपड़े में छेद करता, धागा भरी चरखी धागे को छेद के ऊपर ले आती और एक काँटेदार सूई इस धागे का फंदा बना नीचे ले जाती जो नीचे एक हुक में फँस जाता था। कपड़ा आगे सरकता और इसी भाँति का दूसरा फंदा नीचे जाकर पहले में फँस जाता। हुक पहिले फंदे को छोड़ दूसरे फंदे को पकड़ लेता है। इस प्रकार चेन की तरह की सिलाई नीचे होती जाती है। यदि सेंट को उस समय नोक में छेद का विचार आ जाता तो कदाचित् उसी समय आधुनिक मशीन का आविष्कार हो गया होता।

सिलाई मशीन का वास्तविक आविष्कार एक निर्धन दर्जी सेंट एंटनी निवासी बार्थेलेमी थिमानियर ने किया जिसका पेटेंट सन् १८३० ई० में फ्रांस में हुआ। पहले यह मशीन लकड़ी से बनाई गई। कुछ दिन पश्चात् ही कुछ लोगों ने इस संस्थान को तोड़ फोड़ डाला जहाँ यह मशीन बनती थी और आविष्कारक कठिनाई से जान बचा सका। सन् १८४५ ई० में उसने उससे बढ़िया मशीन का दूसरा पेटेंट करा लिया और सन् १८४८ में इंग्लैंड और संयुक्त राज्य अमरीका से भी पेटेंट ले लिया। अब मशीन लोहे की हो चुकी थी।

वस्तुतः छेदवाली नोक, दुहरा धागा और दुहरी बखिया का विचार प्रथम बार १८३२-३४ ई० में एक अमरीकी वाल्टर हंट (Walter Hunt) को आया था। उसने एक घूमनेवाले हैंडिल के साथ एक गोल, छेदीली नोक की सूई लगाई थी जो कपड़े में छेद कर नीचे जाती और उस फंदे मे से एक छोटी सी धागा भरी चर्खी निकल जाती, वह फंदा नीचे फँस जाता और सूई ऊपर आ जाती। इस प्रकार दुहरे धागे की दुहरी बखिया का आविष्कार हुआ। जब हंट को अपनी सफलता मे पूरा विश्वास हो गया तो १८५३ ई० में पेटेंट के लिये उन्होंने आवेदनपत्र दिया परंतु उनको पेटेंट न मिल सका क्योंकि यह छेदीली नोकवाला पेटेंट इंग्लैंड में 'न्यूटन ऐंड आर्कीबाल्ड' ने सन् १८४१ मे दस्ताने सीने के लिये पहले ही करा लिया था। उसी समय ऐलायस होव ने भी सन् १८४६ तक अपनी मशीन बनाकर पेटेंट करा लिया। उसकी मशीन में १२ वर्ष पहले आविष्कृत हंट की दोनों

बातें, छेदीली नोक तथा दुहरा धागा, वर्तमान थीं। कुछ समय पश्चात् विलियम थामस ने २५० पाउंड में उससे पेटेंट खरीद उसे अपने यहाँ नियुक्त कर लिया, पर वह अपने कार्य में सर्वथा असफल रहा और अत्यंत निर्धन अवस्था में अमरीका लौट आया। इधर अमरीका में सिलाई मशीन बहुत प्रचलित हो गई थी और इसाक मेरिट सिंगर ने सन् १८५१ ई० में होवे की मशीन का पेटेंट करा लिया था।

सन् १८४६ ई० में एलान बी० विल्सन ने स्वतंत्र रूप से दूसरा आविष्कार किया। उसने एक घूमनेवाले हुक तथा घूमनेवाली बाबिन का आविष्कार किया जो ह्वीलर और विलसन मशीन का मुख्य आधार है। सन् १८५० ई० मे विल्सन ने इसे पेटेंट कराया। इसमें कपड़ा सरकानेवाला चार गति का यत्र, जो प्रत्येक सीवन के बाद कपड़ा सरका देता था, मुख्य था। उसी समय ग्रोवर ने दुहरे शृंखला सीवन (Chain strip) की मशीन का आविष्कार किया जो 'ग्रोवर ऐंड बेकर' मशीन का मुख्य सिद्धांत है। १८५६ ई० में एक किसान गिब्स ने शृंखला सीवन की मशीन बनाई जिसका बाद मे विलकाक्स ने सुधार किया और जो 'गिब्स विलकाक्स' के नाम से प्रख्यात हुई। अब तो इसका बहुत कुछ सुधार हो चुका है।

भारत में भी पिछली शताब्दी के अंत तक मशीन आ गई थी। इसमें दो मुख्य थीं, अमरीका की सिंगर तथा इंग्लैड की 'पफ'। स्वतंत्रता के बाद भारत में भी मशीनें बनने लगीं जिनमें उषा प्रमुख तथा बहुत उन्नत है। सिंगर के आधार पर मेरिट भी भारत में ही बनती है।

मशीन की सिलाई में तीन प्रकार के सीवन प्रयोग में आते हैं — (१) इकहरा शृंखलासीवन, (२) दुहरा शृंखलासीवन, (३) दुहरी बखिया। प्रथम मे एक धागे का प्रयोग होता है और अन्य में दो धागे ऊपर और नीचे साथ साथ चलते हैं।

दो हजार से अधिक प्रकार की मशीनें भिन्न भिन्न कार्यों के लिये प्रयुक्त होती हैं जैसे कपड़ा, चमड़ा, हैट इत्यादि सीने की। अब तो बटन टाँकने, काज बनाने, कसीदा करने, सब प्रकार की मशीनें अलग अलग बनने लगी हैं। अब मशीन बिजली द्वारा भी चलाई जाती है। [स्व० ल० मू०]

सिलिकन (Silicon) आवर्त सारणी के चतुर्थ समूह का दूसरा अधातु तत्व है। इसके तीन स्थायी समस्थानिक, जिनके परमाणुभार क्रमशः २८,२६ और ३० हैं, प्राप्त हैं। यह स्वतंत्र अवस्था में नहीं मिलता।

सिलिकन डाई आक्साइड अथवा सिलिका को वैज्ञानिक प्राचीन काल से तत्व मानते आए हैं। सर्वप्रथम फ्रांसीसी वैज्ञानिक लेवाजिये ने यह बताया कि यह तत्व न होकर आक्साइड यौगिक है। १८२३ ई० में स्वीडन के रसायनज्ञ बर्जीलियस ने इस तत्व के पोटैशियम सिलिको फ्लोराइड ($K_2 Si F_6$) का पोटैशियम धातु द्वारा अपचयन कर प्राप्त किया। १८५४ में फ्रांसीसी वैज्ञानिक सात क्लेर देविल (Sainte Claire Deville) ने इसे विशुद्ध अवस्था में तैयार किया।

उपस्थिति — भूपर्पटी का चौथाई भाग सिलिकन है। यह ऑक्सीजन के बाद सबसे अधिक मात्रा में पाया जानेवाला तत्व है और संयुक्त अवस्था में प्राय: सभी स्थानों में पाया जाता है। ऑक्सीजन से संयुक्त केवल सिलिकन डाईआक्साइड ($Si O_2$) है। रेत अथवा सिलिकेट्स के रूप में पत्थरों, मिट्टी तथा खनिज पदार्थों में सिलिकन सर्वदा उपस्थित है। अनेक पौधों तथा पशुशरीर में भी यह मिलता है।

निर्माण — विद्युत् भट्ठी में कार्बन द्वारा सिलिकन के डाईआक्साइड को अपचयन कराकर सिलिकन प्राप्त किया जाता है। ऐल्यूमिनियम, पोटैशियम या जिंक की सिलिकन क्लोराइड ($Si Cl_4$) पर क्रिया द्वारा भी सिलिकन तत्व बनाया गया है। रक्त तप्त टैंटेलम पर सिलिकन क्लोराइड के विघटन द्वारा विशुद्ध अवस्था में सिलिकन प्राप्त होता है।

गुणधर्म — विशुद्ध सिलिकन मिलना कठिन है। अन्य तत्वों की सूक्ष्म मात्रा द्वारा इसके गुणों में बहुत अंतर आ जाता है, जिस कारण विभिन्न विधियों से प्राप्त सिलिकन के गुण भिन्न भिन्न ही मिलते हैं। विशुद्ध सिलिकन के कुछ स्थिरांक जैसे संकेत (Si) परमाणु संख्या १४, परमाणुभार २८.०८६, गलनांक १४१०° सें०, क्वथनांक २६८०° सें०, घनत्व २.३३ ग्राम प्रति घ० सेंमी० परमाणु व्यास १.३२ एंगस्ट्राम, विशिष्ट ताप ०.१६२ कैलोरी और वर्तनांक ४.२४ हैं। सिलिकन क्रिस्टलीय और अक्रिस्टलीय दोनों अवस्थाओं मे मिलता है। क्रिस्टल सिलिकन में धातु की सी चमक और विद्युत् चालकता होती है। यह काँच से भी कठोर है।

सिलिकन जल या साधारण अम्लों से प्रभावित नहीं होता। केवल हाइड्रोफ्लोरिक अम्ल की क्रिया द्वारा फ्लोरोसिलिसिक अम्ल ($H_2 Si F_6$) बनाता है। उबलते क्षार के विलयन की अभिक्रिया द्वारा सिलिकेट बनता है। फ्लोरीन तथा क्लोरीन गैस सिलिकन से शीघ्र क्रिया कर क्रमशः सिलिकन फ्लोराइड ($Si F_4$) और सिलिकन क्लोराइड ($Si Cl_4$) बनाते हैं। उच्च ताप पर ऑक्सीजन, जलवाष्प तथा अनेक धातुएँ सिलिकन से अभिक्रिया करती हैं।

सिलिकन चतुर्थ समूह का तत्व होने के कारण कार्बन से अनेक गुणों में मिलता जुलता है। सिलिकन परमाणु के बाहरी कक्ष में चार इलेक्ट्रॉन हैं। ये इलेक्ट्रान अन्य तत्वो के इलेक्ट्रानों से मिलकर चार सहसंयोजक बंध बनाते हैं। इन बंधो में कार्बन से अधिक आयनिक गुण वर्तमान हैं। फिर भी इसके सहसंयोजक गुण प्रधान होते हैं। कभी कभी चार संयोजकता से अधिक के यौगिक भी मिलते हैं।

यौगिक — सिलिकन के यौगिकों में बहुलकीकरण (polymerization) की विशेष प्रवृत्ति रहती है। यह जल के साथ शीघ्र जल अपघटित हो सिलिकन डाई ऑक्साइड ($Si O_2$) या अन्य सिलिकेट में परिणत हो जाते हैं। रेत अथवा सिलिका अत्यंत सामान्य यौगिक है। यह क्रिस्टलीय तथा अक्रिस्टलीय दोनों दशाओं में मिलता है। क्रिस्टलीय सिलिका को क्वार्ट्ज कहते हैं जो रंगहीन पारदर्शी गुण का है। सूक्ष्म मात्रा में अशुद्धियों की उपस्थिति से यह विभिन्न रत्न बनाता है जैसे नीलमणि, सूर्यकांतमणि, सुलेमानी पत्थर आदि।

सिलिकन के हैलोजनों से प्राप्त सिलिकन फ्लोराइड (SiF_4) गैस है, सिलिकन क्लोराइड ($SiCl_4$, क्वथनांक ५७° सें०) तथा ब्रोमाइड ($SiBr_4$, क्वथनांक १५३° सें०) द्रव है और सिलिकन आयोडाइड (SiI_4) ठोस है जिसका गलनांक १२१° सें०, तथा क्वथनांक २९०° सें० है।

सिलिकन डाईग्राक्साइड तथा कार्बन के मिश्रण को विद्युत् भट्ठी में गर्म करने से सिलिकन कार्बाइड (SiC) बनता है जो अत्यंत कठोर पदार्थ है (सं०-सिलिकन कार्बाइड)।

कार्बनिक यौगिकों मे सिलिकन परमाणु प्रविष्ट करने पर बने पदार्थों को सिलिकोन कहते हैं।

इनके असाधारण गुणों के फलस्वरूप अनेक उपयोग हैं। सिलिकोन की ग्रीज न सूखनेवाली होती है और उच्च निर्वात (Vacuum) में काम आती है। कुछ ऐसे तैल पदार्थ भी बने हैं जिनकी किसी सतह पर परत चढाने पर उसकी रक्षा हो सकती है। आजकल अनेक ऐतिहासिक इमारतों के बचाव के लिये उनकी सफाई करने के पश्चात् सिलिकोन का लेप लगाया जाता है।

पृथ्वी की चट्टानें सिलिकेट पदार्थों से बनी हैं। अनेक स्थानों पर विशुद्ध क्वार्ट्ज भी मिलता है परंतु अन्य धातुओं के सिलिकेट ही प्रायः मिलते हैं। कुछ सिलिकेट कृत्रिम विधियों द्वारा भी बनाए गए हैं।

सोडियम या पोटैशियम के जल विलयन को सांद्र करने से काँच सा पदार्थ मिलता है जिसे जलकाँच (water glass) कहते हैं। वास्तव में साधारण काँच को भी मिश्रित सिलिकेटों का सांद्र विलयन समझना चाहिए। सिलिकेटों की संरचना पर बहुत अनुसंधान हुआ है और इसी के आधार पर सिलिकेट समूहों का विभाजन भी हुआ है। कुछ सिलिकेटों की बनावट तीनों आयामों (dimensions) के जाल की सी होती है। कुछ की बनावट मुख्य तथा दो आयामों की होती है। यह चादर की सी बनावट के सिलिकेट हैं, जैसे अभ्रक (mica) आदि। कुछ लंबी शृंखला के या गोलाकार बनावट के सिलिकेट भी होते हैं। कुछ सिलिकेट छोटे परमाणु के भी होते हैं जिनकी बनावट चतुष्फलकीय (tetrahedral) रूप की होती है।

उपयोग — सिलिकन का उपयोग मिश्रधातु बनाने में होता है। सिलिकन मिश्रित लोह रासायनिक रूप से प्रतिरोधी होता है। विद्युत् उद्योग में भी ऐसी मिश्रधातु का उपयोग हुआ है। सिलिकोन पदार्थों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। सिलिकेट पदार्थ चीनी मिट्टी के उद्योग, भट्ठियाँ बनाने में और काँच उद्योग में काम आते हैं। इनके अतिरिक्त धातुकर्म में सिलिका का उपयोग अशुद्धियों को हटाने के लिये किया जाता है। [र० च० क०]

सिलिकन कार्बाइड (Silicon Carbide, SiC) अथवा कार्बोरंडम (Carborundum) सिलिकन तथा कार्बन का यौगिक है। इसकी खोज सन् १८९१ में एडवर्ड ऐचिसन (Edward Acheson) ने की थी। चीनी मिट्टी तथा कोयले के मिश्रण को कार्बन इलैक्ट्रोड की भट्ठी में गरम करने पर कुछ चमकीले बहुकोण क्रिस्टल मिले।

ऐचेसन ने इसे कार्बन तथा ऐल्युमिनियम का नया यौगिक समझा और इसका नाम कार्बोरंडम प्रस्तावित किया। उसी काल में फ्रांसीसी वैज्ञानिक हेनरी मोयसाँ (Henri Moisson) ने क्वार्ट्ज तथा कार्बन की अभिक्रिया द्वारा इसे तैयार किया था। कठोरता के कारण इसकी अपघर्षक (Abrasive) उपयोगिता शीघ्र ही बढ़ गई। आजकल इसका उत्पादन बड़ी मात्रा में हो रहा है।

सिलिकन कार्बाइड के क्रिस्टल षट्भुजीय प्रणाली (Hexagonal system) के अंतर्गत आते हैं। ये १ सेमी बड़े और ½ सेमी की मोटाई तक के बनाए गए हैं। विशुद्ध सिलिकन कार्बाइड के क्रिस्टल चमकदार तथा हल्का हरा रंग लिए रहते हैं जिनका अपवर्तनांक (refractive index) २.६५ है। सूक्ष्म मात्रा की अशुद्धियों से इनका रंग नीला या काला हो जाता है। १०० सेमी के लगभग इनपर हल्की सिलिका (SiO_2) की परत जम जाती है।

सिलिकन कार्बाइड का उत्पादन विशुद्ध रेत (SiO_2) तथा उत्तम कोयले के संमिश्रण द्वारा विद्युत् भट्ठी में होता है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा कनाडा में नियागरा जलप्रपात के समीप इसके उत्पादन केंद्र हैं क्योंकि यहाँ पर विद्युत् प्रचुर मात्रा में तथा सस्ती मिलती है। नार्वे तथा चेकोस्लोवाकिया में भी यह औद्योगिक पैमानों में बनाया जाता है। इसकी भट्ठी लगभग २० से ५० फुट लंबी, १० से २० फुट चौड़ी तथा १० फुट गहरी होती है जिसमें १० और ६ के अनुपात में रेत और कोयले का मिश्रण रखते हैं। साथ में लकड़ी का बुरादा मिला देने से रंध्रता आ जाती है। इस मिश्रण के बीच में कोयले के मोटे चूरे की नाली बनाते हैं जिसके दोनों सिरों पर कार्बन इलेक्ट्रोड रहते हैं। आरंभ में ५०० वोल्ट का विद्युत् विभव प्रयुक्त करने पर लगभग २५००° सें० का उच्च ताप उत्पन्न होता है। क्रिया के प्रारंभ होने पर, धीरे धीरे विभव को कम करते जाते हैं जिससे ताप सामान्य रहे। इस काल में नियंत्रण अति आवश्यक है। भट्ठी के मध्य में सिलिकन कार्बाइड समुचित मात्रा में बन जाने पर क्रिया रोक दी जाती है। इस क्रिया में विशाल मात्रा में कार्बन मोनोग्राक्साइड (CO) का उत्पादन होता है।

सिलिकन कार्बाइड की कठोरता, विद्युत् चालकता तथा उच्च ताप पर स्थिरता के कारण इसका प्रयोग रेगमाल पेषण चक्की (grinding wheel) और उच्च ताप में प्रयुक्त ईंटों आदि के बनाने में हुआ है।

सिलिकन कार्बाइड की विद्युत् चालकता उच्च ताप पर बढ़ती है जिससे उच्च ताप पर यह उत्तम चालक है। [र० च० क०]

सिलिका (Silica, SiO_2), खनिज सिलिकन और ऑक्सीजन के योग से बना है। यह निम्नलिखित खनिजों के रूप में मिलता है :

१. क्रिस्टलीय : जैसे क्वार्ट्ज २. गुप्त क्रिस्टलीय : जैसे चाल्सीडानी, ऐगेट और फ्लिंट ३. अक्रिस्टली, जैसे ओपल। क्वार्ट्ज षट्भुजीय प्रणाली का क्रिस्टल बनता है। साधारणतः यह रंगहीन होता है पर अपद्रव्यों के विद्यमान होने पर यह भिन्न भिन्न रंगों में मिलता है। इसकी चमक काँचाभ तथा टूट शंखाभ होती है। यह काँच को खुरच सकता है, इसकी कठोरता ७ है। इसका आपेक्षिक घनत्व २.६५ है।

सिलिका वर्ग के अन्य खनिजों के गुण भी क्वार्ट्ज से मिलते जुलते हैं। पर नीचे दिए हुए गुणों की सहायता से इन खनिजों को सरलता से पहचाना जा सकता है। चाल्सीडानी को छूने पर मोम का सा अनुभव होता है, ऐगेट में भिन्न भिन्न रंगों की धारियाँ पड़ी रहती हैं, फ्लिंट खनिज को तोड़ने पर बहुत पैने किनारे उपलब्ध होते हैं। ओपल की कठोरता अपेक्षाकृत कम होती है—५.५ से ६.५ तक, तथा आपेक्षिक घनत्व भी १.६ से २.३ तक होता है। ओपल के गुणों की यह भिन्नता इस खनिज के योग में विद्यमान जल के कारण है। इस खनिज में जल की मात्रा अधिक से अधिक १० प्रतिशत तक हो सकती है।

सिलिका का उपयोग भिन्न भिन्न रूपों में होता है। बालू में विद्यमान छोटे छोटे कण काँच तथा धात्विक उद्योगों, विशेषतः भट्ठियों के निर्माण में काम आते हैं। सिरेमिक सामानों के निर्माण में सिलिका काम आता है। तापरोधी ईंटें इससे बनती हैं। तापपरिवर्तन को यह सरलता से पूरक के रूप में सहन कर लेता है। यह खनिज, रंग तथा कागज उद्योग में काम आता है। शुद्ध, रंगहीन क्वार्ट्ज क्रिस्टल से प्रकाशयंत्र तथा रासायनिक उपकरण बनाए जाते हैं। सिलिका से बनी बालू शिलाएँ मकान बनाने के पत्थरों के रूप में प्रयोग की जाती हैं।

इसके खनिज आग्नेय, जलज तथा रूपांतरित तीनों प्रकार की शिलाओं में मिलते हैं पर इनके आर्थिक निक्षेप पैगमेटाइट शिलाओं में, नसों तथा धारियों में और बालू में मिलते हैं।

मध्यप्रदेश के जबलपुर में शुद्ध बालू मिलता है। गया के राजगिरि पहाड़ियों, मुंगेर की खरकपुर पहाड़ियों, पटना के बिहारशरीफ, उड़ीसा के संबलपुर तथा बागरा के कुछ भाग में तापरोधी कार्यों के लिये उत्कृष्ट कोटि का स्फटिकाश्म (Quartzetes) प्राप्त होता है।

[म० ना० मे०]

सिलिकोन (Silicone) नौटिंघम निवासी एफ० एस० किपिंग (F. S. Kipping) ने सिलिकन से बने कुछ संश्लिष्ट यौगिकों का नाम 'सिलिकोन' दिया था। यह नाम कीटोन के आधार पर दिया गया था। कीटोन की भाँति सिलिकन एक ओर ऑक्सीजन से और दूसरी ओर कार्बनिक समूहों से संबद्ध था पर कीटोन के साथ साथ समानता केवल रचनात्मक सूत्र तक ही सीमित थी। वास्तविक संरचना में कीटोन और सिलिकोन एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। सिलिकोन बहुत भारी अणुभारवाले यौगिक हैं। कार्बनिक समूहों के कारण इनमें नम्यता, प्रत्यास्थता या तरलता आदि गुण भी आ जाते हैं और विभिन्न नमूनों के इन गुणों में बहुत अंतर पाया जाता है।

इनके तैयार करने में ग्रिनयार्ड अभिक्रिया द्वारा सिलिकन क्लोराइड से कार्बोसिलिकन क्लोराइड प्राप्त होता है। आसवन से इन्हें पृथक् करते हैं। सिलिका तत्व के कार्बनिक क्लोराइड के उपचार से भी कार्बोसिलिकन क्लोराइड प्राप्त हो सकते हैं। इन्हीं यौगिकों से सिलिकोन प्राप्त होता है। सिलिकोन तेल रूप में प्राप्त हो सकता है। इनकी भौतिक अवस्था उनके रासायनिक संघटन और अणु के औसत विस्तार पर निर्भर करती है।

सिलिकोन रासायनिक दृष्टि से निष्क्रिय होते हैं। तनु अम्ल और अधिकांश अभिकर्मकों का इनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इनके बहुलक प्रबल क्षार और हाइड्रोफ्लोरिक अम्ल से ही आक्रांत होते हैं और उनकी संरचना नष्ट हो जाती है। सिलिकोन तेलों पर ताप के परिवर्तन से बहुत कम प्रभाव पड़ता है। अतः ये अति शीत और अति ऊष्मा में भी प्रयुक्त हो सकते हैं। ये ऑक्सीकृत नहीं होते। इनसे विद्युत् क्षति अत्यल्प होती है। अतः परावैद्युत् माध्यम (dielectric medium) के लिये अधिक उपयुक्त हैं। संघनन पर नियंत्रण रखने से तेल, रेजिन या रबर प्राप्त हो सकते हैं। रैखिक बहुलक के संघनन से अभीष्ट श्यानता के तेल प्राप्त हो सकते हैं। एकप्रतिस्थापित या द्विप्रतिस्थापित सिलिकन क्लोराइड के विलायक में घुलाकर जल अपघटन से रेजिन प्राप्त हो सकता है। यहाँ जल से सिलिकन क्लोराइड का क्लोरीन हाइड्रॉक्सिल से विस्थापित होकर अंतस्संघनन होता है जिससे रेजिन बहुलक बनता है। विलायक में घुला रहने पर यह वार्निश के काम आ सकता है। किसी तल पर इसका लेप चढ़ाने से विलायक उड़ जाता और आवरण रह जाता है। आवरण का अभिसाधन उत्प्रेरण या अभिसाधकों से गरम किया जाता है। अभिसाधन से प्राप्त उत्पाद अपेक्षाकृत अविलेय और अगलनीय होता है। इसका लेप संरक्षक और पृथग्न्यासक होने के साथ साथ २००° सें० तक ताप सहन कर सकता है।

सिलिकोन रबर बनाने में ऊँचे अणुभारवाले पोलिडाइमेथिल सिलोक्सेन को कार्बनिक पैरॉक्साइड के साथ गरम करते हैं। ऐसा उत्पाद प्रत्यास्थ एवं लचीला होता है। इसे पीसा जा सकता और साँचे में ढाला तथा दबाया जा सकता है। इसका रबर के ऐसा अभिसाधन और वल्कनीकरण भी हो सकता है। इसके ऊष्मा प्रतिरोधक गास्केट (gasket) और नम्य पृथग्न्यस्त सामान बन सकते हैं।

[स० व०]

सिलीनियम संकेत S_e, परमाणुभार ७८.६६, परमाणुसंख्या ३४, इसके ६ स्थायी समस्थानिक और दो रेडियो ऐक्टिव समस्थानिक ज्ञात हैं। इसका आविष्कार बरजीलियस ने १८१७ ई० में किया था। भूमंडल पर व्यापक रूप से यह पाया जाता है पर बड़ी ही अल्प मात्रा में। यह स्वतंत्र नहीं मिलता। सामान्यतः गंधक, विशेषतः जापानी गंधक के साथ यह असंयुक्त अवस्था में और अनेक खनिजों में भारी धातुओं के सिलीनाइड के रूप में पाया जाता है। सिलीनियमयुक्त खनिजों से सिलीनियम उपोत्पाद के रूप में प्राप्त होता है।

सिलीनियम के कई अपरूप होते हैं। यह काँच रूप में, एकनत (monoclinic) क्रिस्टलीय रूप में और षट्कोणीय (hexagonal) क्रिस्टलीय रूप में स्थायी होता है। काँचरूपीय सिलीनियम से रक्त अक्रिस्टली सिलीनियम, एकनत सिलीनियम से नारंगी से रक्त वर्ण तक का सिलीनियम तथा धूसर वर्ण का धात्विक सिलीनियम प्राप्त हुआ है। इन विभिन्न रूपों की विलेयता कार्बन डाइसल्फाइड में भिन्न भिन्न होती है। अक्रिस्टली सिलीनियम (आ० घ० ४.८), गलनांक २२०° सें०, एकनत सिलीनियम (आ० घ० ४.४७) गलनांक २००° सें० पर पिघलते हैं, सिलीनियम ६६०° सें० पर वाष्पीभूत होता है।

उत्पादन — ताँबे के परिष्कार में जो अवपंक (Slime) प्राप्त होता है अथवा धातुओं के सल्फाइडों के भर्जन से जो चिमनी धूल प्राप्त होती है उसी में सिलीनियम रहता है और उसी से प्राप्त होता है। अवपंक को क्षार और सोडियम नाइट्रेट के साथ गलाने से या नाइट्रिक अम्ल से आक्सीकृत करने, चिमनी धूल को भी नाइट्रिक अम्ल से आक्सीकृत करने, जल से निष्कर्ष निकालने और निष्कर्ष को हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और सल्फर डाइ ऑक्साइड से उपचारित करने से सिलीनियम उन्मुक्त होकर प्राप्त होता है, सिलीनियम वाष्पशील होता है। वायु में गरम करने से नीली ज्वाला के साथ जलकर सिलीनियम डाइ ऑक्साइड बनता है।

सिलीनियम की सबसे अधिक मात्रा काँच के निर्माण में प्रयुक्त होती है। काँच के रंग को दूर करने में यह मैंगनीज का स्थान लेता है। लोहे की उपस्थिति से काँच का हरा रंग इससे दूर हो जाता है। सिलीनियम की अधिक मात्रा से काँच का रंग स्वच्छ रक्तवर्ण का होता है जिसका प्रयोग सिगनल लैंपों में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। विशेष प्रकार के रबरों के निर्माण में गंधक के स्थान पर सिलीनियम का उपयोग लाभकारी सिद्ध हुआ है।

प्रकाश के प्रभाव से सिलीनियम का वैद्युत् प्रतिरोध बदल जाता है। बाद में देखा गया कि सामान्य विद्युत्परिपथ में सिलीनियम धातु के रहने और उसे प्रकाश में रखने से विद्युद्धारा उत्पन्न होती है। इस गुण के कारण इसका उपयोग प्रकाशविद्युत् सेल में हुआ है। सेल में पीछे ताँबा, ऐल्युमिनियम और पीतल आदि रहते हैं, उसके ऊपर सिलीनियम धातु का एक पतला आवरण चढ़ा होता है और वह फिर सोने के पारभासक स्तर से ढँका रहता है, सोने का तल पारदर्शक फिल्टर से सुरक्षित रहता है। ऐसा प्रकाशविद्युत् सेल मोटरों, प्रकाश-विद्युत् वर्णमापियों और अन्य उपकरणों में, जिनसे प्रकाश मापा जाता है, प्रयुक्त होता है।

सिलीनियम से इनेमल काचिका (glazes) और वर्णक बने हैं। कैडमियम सल्फो-सिलीनाइड सुंदर लाल रंग का वर्णक है और काचिका के रूप में प्रयुक्त होता है। अल्प मात्रा में सिलीनियम से अनेक मिश्र धातुएँ बनी हैं। स्टेनलेस स्टील और ताँबे की मिश्र धातुओं में अल्प सिलिनियम डालने से उसकी मशीन पर अच्छा काम होता है। उत्प्रेरक के रूप में भी सिलीनियम और उसके यौगिकों का व्यवहार होता है। फेरस सिलीनाइट पेट्रोलियम के भंजन में काम आता है। सिलीनियम कवक और कीटनाशक भी होता है। यह मनुष्यों और जंतुओं पर विषैला प्रभाव डालता है। सिलीनियम वाली मिट्टी में उगे पौधे विषाक्त सिद्ध हुए हैं। ऐसे चारे के खाने से घोड़ों की पूँछ और सिर के बाल झड़ जाते हैं और उनके खुर की अस्वाभाविक वृद्धि हो जाती है। मनुष्य के फेफड़े, यकृत, वृक्क या प्लीहा में यह जमा होता है। इससे त्वचाशोथ भी हो सकता है तथा घातक परिणाम भी हो सकते हैं। इसके विषैले प्रभाव का आर्सेनिक से दमन होता है।

यौगिक बनने में सिलीनियम गंधक और टेल्यूरियम से समानता रखता है। यह ऑक्साइड, फ्लोराइड, क्लोराइड, ब्रोमाइड, ऑक्सीक्लोराइड, सिलीनिक अम्ल और उनके लवण तथा अनेक ऐलिफैटिक और ऐरोमैटिक कार्बनिक यौगिक बनाते हैं।

[फू० स० व०]

सिलीमैनाइट (Sillimanite) खनिज संसार में अनेक स्थानों पर मिलता है किंतु कुछ ही स्थानों पर आर्थिक दृष्टि से इसका खनन लाभदायक है। आर्थिक दृष्टि से उपयोगी सिलीमैनाइट के निक्षेप केवल भारत में ही विद्यमान हैं। भारत में सिलीमैनाइट सोना पहाड़, जो असम की खासी पहाड़ियों में है, तथा सीधी जिले में पिपरा नामक स्थान पर प्राप्त होता है। कुछ निक्षेप केरल प्रदेश में बालूतट रेत के रूप में भी मिलते हैं। अभी तक सोना पहाड़ और पिपरा के निक्षेपों पर ही खनन कार्य किया गया है।

सोना पहाड़ — असम की खासी पहाड़ियों में, सोना पहाड़ के निक्षेप स्थित हैं। सिलीमैनाइट अधिकांशतः कोरंडम (Corundum) के साहचर्य में प्राप्त होता है। यह सिलीमैनाइट उत्तम प्रकार का है एवं इसमें रयूटाइल (Reutile), बायोटाइट (Biotite) तथा लौह अयस्क अत्यंत अल्प मात्रा में मिले होते हैं। यह मुख्यतः विशाल गंडाश्मों (Boulders), जिनका व्यास दस फुट तक तथा भार ४० टन तक हो सकता है, के रूप में मिलता है।

पिपरा — मध्य प्रदेश के सीधी जिले में पिपरा नामक स्थान पर सिलीमैनाइट निक्षेप प्राप्त हुए हैं। इसके साहचर्य में भी कोरंडम प्राप्त होता है। यह निक्षेप पिपरा ग्राम से आधा मील की दूरी पर स्थित हैं। पिपरा सिलीमैनाइट का वर्ण भूरा होता है तथा यह असम के सिलीमैनाइट की अपेक्षा अधिक कठोर है। यहाँ पर बड़े बड़े गंडाश्म, जो अनेक आकार में मिलते हैं, साधारण मिट्टी में खचित पृथ्वी तल पर पड़े रहते हैं। अभी तक खनन केवल इन्हीं विशाल गंडाश्मों के संकलन तक ही सीमित है।

भंडार — डाक्टर डून (Dr. Dunn) के अनुसार पिपरा में सिलीमैनाइट की अनुमानित मात्रा लगभग एक लाख टन है किंतु निक्षेपों के अनियमित होने के कारण ठीक ठीक अनुमान लगाना कठिन है एवं संभावना है कि वास्तविक मात्रा इससे कहीं अधिक है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसा सिलीमैनाइट भी उपलब्ध है जिसमें कुछ अपद्रव्य हैं तथा इन अपद्रव्यों को उपयुक्त साधनों से दूर कर उपयोग में लाया जा सकता है। इसी प्रकार खासी पहाड़ियों में सिलीमैनाइट की अनुमानित मात्रा ढाई लाख टन के लगभग है।

उपयोग — तापरोधक सामग्री (Refractory) के अतिरिक्त इसका उपयोग अन्य कार्यों में भी होता है। अधिकांशतः सिलीमैनाइट विदेशों को निर्यात किया जाता है एवं केवल कुछ ही अंश में भारत के स्थानीय उद्योगों में इसकी खपत होती है।

सन् १९५७ में सिलीमैनाइट का उत्पादन लगभग साढ़े सात हजार टन हुआ था जिसका मूल्य ४,४४,००० रुपए के लगभग था।

[वि० सा० दु०]

सिल्यूरियन प्रणाली (Silurian System) सिल्यूरियन प्रणाली का नामकरण मरचीसन (Murchison) ने सन् १८३५ में इंग्लैंड के वेल्स प्रांत के आदिवासियों के नाम के आधार पर किया और इसका स्थान पुराजीव कल्प आर्डोविशियन (Ordovician) और

डेवोनियम (Devoniam) काल के बीच में रखा। शनैः शनैः संसार के अन्य भागों से भी ऐसे स्तर मिले और इस प्रकार सिल्यूरियन प्रणाली पुराजीवकल्प के एक युग के रूप में स्तर-शैल-विद्या में आ गई।

विस्तार — इस युग के शैल इंग्लैंड के अतिरिक्त यूरोप के अन्य देशों में जैसे स्कैंडेनेविया, बाल्टिक प्रदेश, फिनलैंड, पोलैंड, बोहेमिया, जर्मनी, फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन, सारडिनिया आदि में भी मिलते हैं। अफ्रीका के मोरक्को, एटलस पर्वत और सहारा प्रदेशों में भी सिल्यूरियन शैलसमूह मिलते हैं। एशिया में इस युग के चूना-पत्थर के शैल साइबेरिया, चीन, यूनान, टांगकिंग और हिमालय प्रदेश में मिलते हैं। इस प्रणाली के स्तर दक्षिण पूर्वी आस्ट्रेलिया के न्यू साउथ वेल्स, टसमानिया, और विक्टोरिया प्रदेशों में पाए जाते हैं। उत्तरी अमरीका में इस युग के शैलसमूह नियाग्रा, अपलेचियन, वरजिनिया और टेनेसी घाटी में मिलते हैं। सिल्यूरियन शैलसमूह न्यूयार्क और पेन्सिलवेनिया में भी सिल्यूरियन शैल पाए जाते हैं।

भारतवर्ष में इस प्रणाली के शैलस्तर हिमालय प्रदेश के स्पिटी, कुमायूँ एवं कश्मीर प्रदेश में मिलते हैं। स्पिटी में इस काल के स्तरों में प्रवालयुक्त चूनाशिला, जबशिला और रेतयुक्त चूनाशिला हैं जिनमें ट्राइलोबाइट (Trilobite), ब्रेकियोपोड (Brachiopoda) और ग्रैप्टोलाइट (Graptolite) वर्ग के जीवाश्म (Fossils) बहुतायत से मिलते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह विदित होता है कि इस युग में जल का अनुपात स्थल से कम था। जल के दो भाग थे एक तो उत्तर में विषुवत् रेखा से उत्तरी ध्रुव तक और दूसरा दक्षिण में ४०° अक्षांश से दक्षिणी ध्रुव तक।

सिल्यूरियन युग के शैल समूहों का वर्गीकरण और काल प्रकरण समतुल्यता : (Classification and correlation of Silurian Rocks).

इंग्लैंड	अमरीका (U. S. A.)	भारत (स्पिटी)
लडलो सिरीज (Ludlow Series)	———	बलुआ चूना शिला
वेनलाक सिरीज (Wenlock Series)	लाकपोर्ट वर्ग क्लिटन वर्ग	प्रवालयुक्त चूना शिला
वेलेंसियन सिरीज (Valentian Series)	मेडिना वर्ग	चूना शिला
लैंडोवरी (Llandovery)		

सिल्यूरियन युग के जीवजंतु और वनस्पति — इस युग के फासिलों में क्राइनायड्स तथा ग्रैप्टोलाइट वर्ग के जीवों का बाहुल्य था। अपृष्ठवंशी अन्य जीवों में ब्रेकियोपोड्स ट्राइलोबाइट्स एवं कोरल मुख्य थे। स्तनी वर्ग के जंतुओं में मत्स्य वर्ग के जीव प्रमुख थे। इस युग की वनस्पति में ऐसे पौधों के जीवाश्म मिलते हैं जो उस समय की स्थल वनस्पति पर प्रकाश डालते हैं। [रा० चं० सि०]

सिल्वेस्टर, जेम्स जोसेफ (Sylvester, James, Joseph, १८१४ ई०—१८९७ ई०) अंग्रेज गणितज्ञ का जन्म ३ सितंबर, १८१४ ई० को लंदन के एक यहूदी परिवार में हुआ। १८३१ ई० में इन्होंने सेंट जॉन्स कालेज, कैंब्रिज में प्रवेश किया और १८३७ ई० में वहाँ के द्वितीय रैंगलर हुए, परंतु यहूदी होने के कारण इन्हें यह उपाधि प्रदान नहीं की गई। सन् १८३८ ई० से १८४० ई० तक वर्तमान यूनिवर्सिटी कालेज, लंदन में ये प्राकृतिक दर्शन के प्रोफेसर रहे और १८४१ ई० में वर्जीनिया विश्वविद्यालय में गणित के प्रोफेसर हो गए। तदुपरांत ये रॉयल मिलिटरी ऐकैडमी, वूलविच (१८५५ ई०-१८७० ई०) तथा जॉन्स हॉपकिंस युनिवर्सिटी (१८७६ ई०-१८८३ ई०) में गणित के प्रोफेसर रहे। १८७८ ई० में ये अमरीकन जर्नल ऑव मैथेमैटिक्स के प्रथम संपादक हुए और १८८४ ई० में ऑक्सफोर्ड में ज्यामिति के सेवीलियन प्रोफेसर। इन्होंने निश्चरों, अपवर्त्य बीजगणित, संभाव्यता और समीकरणों एवं संख्याओं के सिद्धांत पर अनेक महत्वपूर्ण अनुसंधान किए। ऑक्सफोर्ड आने के पश्चात् इन्होंने उन व्युत्क्रमत्व (reciprocants) अथवा अवकल गुणकों के फलनों, जिनके रूप चलराशि के कुछ एक घातीय रूपांतरों से अपरिवर्तित रहते हैं एवं सहयोगी (concomitants) के सिद्धांतों पर अन्वेषण किए। कभी कभी मनोविनोद के लिये, ये काव्यरचना भी किया करते थे और साहित्य क्षेत्र में लाज ऑव वर्स (Laws of verse) इनकी एक अद्भुत पुस्तिका है। १५ मार्च, १८९७ ई० को पक्षाघात के कारण लंदन में इनकी मृत्यु हो गई। [रा० कु०]

सिवनी (Seoni) १. जिला, यह मध्य प्रदेश का एक जनपद है। इसका क्षेत्रफल ५१६० वर्ग किमी० एवं जनसंख्या ६,२३, ७४१ (१९६१) है। उत्तर में जबलपुर एवं नरसिंहपुर, पश्चिम में छिंदवाड़ा, पूर्व में बालाघाट एवं मंडला और दक्षिण में महाराष्ट्र राज्य के नागपुर एवं भंडारा जिले हैं। उत्तर एवं उत्तर पश्चिमी सीमा पर सतपुड़ा पर्वतश्रेणी है जिसपर घने जंगल हैं। ये पहाड़ियाँ जिले को जबलपुर एवं नरसिंहपुर से पृथक् करती हैं। उसके दक्षिण में लखनादोन पठार है, जो दूसरी पहाड़ी एवं जंगल की पट्टी में समाप्त होता है। पूर्व और पश्चिम के अतिरिक्त लखनादोन पठार जंगलों से घिरा हुआ है। इस पठार के मध्य में पूर्व से पश्चिम की ओर शेर नदी बहती है जो नरसिंहपुर में नर्मदा से मिल जाती है। दक्षिण पश्चिम में उपजाऊ काली मिट्टी का क्षेत्र है जिसे वेल और वानगंगा नदियाँ लखनादोन पठार से पृथक् करती हैं। जिले में बहनेवाली प्रमुख नदियाँ वानगंगा, शेर एवं पेंच हैं। सिवनी और लखनादोन पठारों की ऊँचाई लगभग २००० फुट है। जिले की पश्चिमी सीमा पर स्थित मनोरी चोटी की ऊँचाई समुद्रतल से २,७४९ फुट और सिवनी नगर के समीप स्थित करिश्मा पहाड़ की ऊँचाई समुद्रतल से २,३७६ फुट है। जंगलों में बाँस की बहुतायत है, इसके अतिरिक्त टीक, आम, इमली तेंदू और महुआ के वृक्ष भी पर्याप्त हैं। यहाँ के जंगलों में हिरन एवं शश, जल पक्षी भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा १३५ सेमी० है। धान, कोदो और गेहूँ जिले की प्रमुख फसलें हैं। अलसी, तिल, चना, मसूर, ज्वार एवं कपास अन्य फसलें हैं। लौह खनिज, कोयला, खड़िया मिट्टी और पोखराज एवं जमुनिया रत्न यहाँ मिलते हैं।

२. नगर, स्थिति : २२° ५०' उ० अ० तथा ७९° ३३' पू० दे०।

यह नगर जिले का प्रशासनिक केंद्र है और जबलपुर से ८६ मील दूर है। यहाँ हथकरघा उद्योग है। नगर में दर्शनीय अलंकृत बलसागर ताल है, जो नगर से २½ मील दूर स्थित बुलेरिया ताल से नलों द्वारा भरा रखा जाता है। नगर की जनसंख्या ३०,२७३ (१९६१) है।

[म० ना० मे०]

सिसिली (Sicily) भूमध्यसागर का सबसे बड़ा द्वीप है जो इटली प्रायद्वीप से मेसीना जलडमरूमध्य, जिसकी चौड़ाई कहीं कहीं दो मील से भी कम है, के द्वारा अलग होता है। ट्यूनीसिया से ९० मील चौड़े सिसली जलडमरूमध्य द्वारा अलग है तथा सार्डीनिया से इसकी दूरी २७२ किमी० है। इसकी आकृति त्रिभुजाकार है, उत्तर में कुमारी बोको (Boco) से कुमारी पेलोरो तक लंबाई २८० किमी०, पूर्वी किनारा १९९ किमी० और दक्षिणी पश्चिमी किनारा २७२ किमी० लंबा है। तट की कुल लंबाई १०८८ किमी० है और क्षेत्रफल ९८३० वर्ग मील है परंतु आस पास के अन्य द्वीपों को मिलाकर क्षेत्रफल ९९२५ वर्गमील है।

धरातल — धरातल पठारी है जिसकी ऊँचाई उत्तर में ३००० फुट से ६००० फुट है। उत्तर में समुद्र के किनारे ऊँचाई एकदम कम हो जाती है परंतु दक्षिण तथा दक्षिण पश्चिम में ढाल क्रमिक है।

एटना ज्वालामुखी (१०,९५८ फुट) यहाँ के धरातल का एक मुख्य अंग है। इसमें लावा और राख की परतें पाई जाती हैं। ४००० फुट की ऊँचाई तक का भूभाग अत्यंत उपजाऊ तथा घना बसा है। ढालों पर अंगूर की बेलें और सिटरस, उत्तर व पश्चिम ढालों पर जैतून और अन्नादि पैदा होते हैं। ४००० फुट — ६००० फुट के बीच मध्य जंगल है जिसमें ओक, चेस्टनट, बर्च आदि के वृक्ष, ६००० फुट — ९००० फुट के मध्य कँटीली झाड़ियाँ और ९००० फुट के ऊपर केवल लावा और राख पाए जाते हैं। एटना के उत्तर में पेलोरिटनी (Pelontani), नेब्रोड़ी तथा मडोनी पर्वतों की शृंखला है। निम्न मोंटी ह्री पहाड़ी, जो गर्मी से दक्षिण पूर्व दिशा में फैली है, सिसली जलडमरूमध्य और आयोनियन सागर के मध्य जलविभाजक रेखा का कार्य करती है। पश्चिम में समुद्रतट तक फैली हुई पहाड़ियों के मध्य तटीय मैदान हैं।

जलवायु — भूमध्यसागरीय है, तापमान ऊँचे रहते हैं। जाड़ों में तट का तापक्रम १०° सें० और अंदर के क्षेत्रों का ४·५ सें० से अधिक रहता है। गर्मियों में तटवर्ती भागों का औसत ताप २४° से २६° सें० तथा अधिकतम ३८° सें० तक पहुँच जाता है। वर्षा जाड़ों में, जिसकी मात्रा उत्तर, दक्षिण तथा मध्य में ७२·५ सेमी० से कम और सुदूर दक्षिण में ४३ सेमी से भी कम है। सिरोको वायु का अस्वास्थ्यप्रद एवं हानिकारक प्रभाव भी पड़ता है।

प्राकृतिक वनस्पति — प्राकृतिक वनस्पति अब अधिकांशतः नष्ट हो चुकी है। केवल पहाड़ों की ढालों पर द्वीप के ३½ प्रतिशत भाग में जंगल हैं जिसमें बीच, बर्च, ओक और चेस्टनेट के वृक्ष पाए जाते हैं।

कृषि तथा मत्स्य व्यवसाय — सिसली में लगभग ७७% क्षेत्र में खेती होती है परंतु अपर्याप्त जलपूर्ति, कृषि के प्राचीन ढंग आदि के कारण प्रति एकड़ पैदावार कम है। खेती गहरी और विस्तृत दोनों ढंग से होती है। तटवर्ती क्षेत्रों में गहरी खेती होती है जिसमें फलों के वृक्षों के बाग, अंगूर की बेलों, तरकारियों तथा अनाज के खेत पाए जाते हैं। यहाँ की मुख्य उपजें नीबू, नासपाती, खट्टे रस के फल, अखरोट, अंगूर, बीन, जैतून के आदि फल, टमाटर और आलू आदि तरकारियाँ उत्पन्न होती हैं। खेत छोटे छोटे हैं।

अंतर्देशीय भाग में विस्तृत खेती होती है जहाँ की मुख्य उपज गेहूँ है, इसके अतिरिक्त सेम, कपास आदि का भी उत्पादन होता है।

यहाँ गाय, बैल, गधा, भेड़, बकरियाँ होती हैं। चरागाह कम हैं और चारे की कमी रहती है जिसका अधिकांशतः निर्यात होता है।

उद्योग — मछली, फल और तरकारियों को डिब्बों में बंद करने के उद्योग का विकास सन् १९४५ के पश्चात् हुआ। इस समय कृषि उद्योग अधिक विकसित है। फलों का रस तथा उनका तत्व निकालने, खट्टे फलों से अम्ल बनाने, शराब बनाने, जैतून का तेल निकालने और आटा पीसने का कार्य होता है। नमक समुद्र तथा पर्वतों से निकाला जाता है। इसके अतिरिक्त जहाज और सीमेंट बनाने का भी कार्य होता है।

यातायात के साधन — पालेरमो (Palermo) मसीना और कटनिया (Catania) सिसली के मुख्य बंदरगाह हैं जो रेलमार्ग द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। एक रेलमार्ग उत्तरी तट पर पलेरमो से मसीना तक, दूसरा पूर्वी तट पर मसीना से कटनिया और सिराक्यूज (Syracuse) तथा तीसरा अंदर की तथा कटनिया से एना (Enna) होता हुआ पलेरमो को जाता है। इसके अतिरिक्त सड़कें भी इन नगरों को संबद्ध करती हैं। इन नगरों का इटली से संबंध स्टीमर और पुलों के द्वारा है।

जनसंख्या और नगर — जनसंख्या ४४,६२,२२० (१९५१)। जनसंख्या का वितरण असमान है। तटीय भाग और एटना के आसपास घनत्व ४०० से २,६०० व्यक्ति प्रति वर्ग मील तथा अंदर के भागों में विशेष कम है। पलेरमो, कटनिया, मसीना और ट्रेपनी (Trapni) आदि बड़े नगर यहीं हैं। अधिकतर लोग इन्हीं नगरों में रहते हैं। आंतरिक और दक्षिणी भाग में अधिकांशतः लोग ५,००० से लेकर ५०,००० तक की जनसंख्यावाले नगरों में रहते हैं।

सिसली के निवासियों की औसत ऊँचाई ५' २" है। उनकी आँखें और बाल काले होते हैं। इनकी भाषा इटली से भिन्न है। लोग अंधविश्वासी तथा गरीब हैं, अतिथि का स्वागत एवं आदर करते हैं।

पलेरमो, कटनिया और मसीना में विश्वविद्यालय हैं। चर्च कई नगरों में हैं। द्वीप में ९ प्रांत हैं। पलेरमो इसकी राजधानी है।

[सु० च० श०]

सिहोर (Sehore) १. जिला, यह मध्यप्रदेश में स्थित है जिसका क्षेत्रफल ३,६०० वर्गमील एवं जनसंख्या ७,५४,६८४ (१९६१) है। इसके उत्तर पूर्व में विदिशा, उत्तर में गुना, उत्तर पश्चिम में राजगढ़, पश्चिम में शाजापुर, पश्चिम दक्षिण में देवास, दक्षिण पूर्व में होशंगाबाद एवं पूर्व में रायसेन जिले हैं।

२. नगर, स्थिति : २३° १२' उ० अ० तथा ७७° ५' पू० दे०। यह नगर उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक नगर है। ब्रिटिश शासनकाल में यह सैनिक छावनी था। नगर सिवान और लोटिया नदियों के संगम पर समुद्रतल से १,७५० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। इसकी जनसंख्या १८,४८६ (१९६१) है।

३. नगर, स्थिति : २१° ४३' उ० अ० तथा ७२° पू० दे०। यह नगर गुजरात राज्य के भावनगर जिले में भावनगर नगर से १३ मील पश्चिम में स्थित है। नगर का नाम सिंहपुर से बिगड़कर सिहोर हो गया है। यह सुँघनी, चूना, ताँबे और पीतल उद्योग के लिये प्रसिद्ध है। नगर की जनसंख्या १५,२६३ (१९६१) है।

[श्र० ना० मे०]

सीकर १. जिला, यह भारत के राजस्थान राज्य में स्थित है। इसका क्षेत्रफल ७७२४ किमी एवं जनसंख्या ८,२०,२८६ (१९६१) है। इसके उत्तर में कुंकुनू, उत्तर पश्चिम में चुरू, पश्चिम दक्षिण में नागौर तथा दक्षिण पूर्व एवं पूर्व में जयपुर नामक जिले हैं।

२. नगर, स्थिति : २७° ३७' उ० अ० तथा ७५° ८' पू० दे०। यह नगर जयपुर से १०४ किमी उत्तर पश्चिम में स्थित है तथा चहारदीवारी से घिरा हुआ है। जयपुर राज्य के शेखावटी निजामात में सीकर सरदार का प्रशासनिक केंद्र भी रह चुका है और अब सीकर जिले का प्रशासनिक केंद्र है। नगर में रावराजा का महल है। सात मील दक्षिण पूर्व में लगभग नौ सौ वर्ष प्राचीन हर्षनाथ के मंदिर का भग्नावशेष २,९९८ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। नगर की जनसंख्या ५०,६३६ (१९६१) है। [श्र० ना० मे०]

सीकियांग नदी युनान की पूर्वी पहाड़ियों से निकलकर पूर्व दिशा की ओर बहती हुई दक्षिणी चीन सागर में जाकर गिरती है। सीकियांग नदी के बेसिन के उत्तरी भाग में स्थित पर्वतमालाओं से अधिकतर इसकी सहायक नदियाँ आकर इससे मिलती हैं। सीकियांग नदी यातायात की दृष्टि से बड़ी उपयोगी है। छोटी छोटी नावें इस नदी से होकर युनान के पठार तक पहुँच जाती हैं। वुचाओ तक तो बड़े बड़े जहाज भी सुगमतापूर्वक पहुँच जाते है। इस नदी का किनारा अत्यंत उपजाऊ होने के कारण यहाँ पर धान के अतिरिक्त कपास, तंबाकू, दलहन, मसाले, फल, और चाय इत्यादि की खेती होती है। अतः अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का निर्यात इसी नदी के द्वारा होता है। सीकियांग नदी के क्षेत्र में जनसंख्या बहुत घनी है।

[र० स० ख०]

सीज़र इतिहासप्रसिद्ध रोमन सैनिक एवं नीतिज्ञ गोयस जूलियस सीज़र (१०१–४४ ई० पू०) से लेकर सम्राट् हेड्रियन (१३८ ई०) तक के सभी रोमन सम्राटों की उपाधि रही। गायस जूलियस सीजर १०२ तथा १०० ई० पू० के मध्य में प्राचीन रोमन अभिजात कुल में उत्पन्न हुआ था। वह वीनस देवी का वंशज होने का दावा करता था। अपनी युवावस्था में उसको उन भीषण संघर्षों में भाग लेना पड़ा जो सेनेट विरोधी दल तथा अनुदार दल के बीच हुए। इस गृहयुद्ध (८१ ई० पू०) में अनुदार दल की विजय हुई जिसके परिणामस्वरूप सीजर देशनिष्कासन से बाल बाल बच गया। इसके पश्चात् कई वर्षों तक वह अधिकांशतः विदेशों में ही रहा और पश्चिमी एशिया माइनर में उत्तम सैनिक सेवाओं द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त की। ७४ ई० पू० में वह इटली वापस आ गया ताकि सेनेट सदस्यों के अल्पतंत्र (Senatorial oligarchy) के विरुद्ध आंदोलन में भाग ले सके। उसको विभिन्न पदों पर कार्य करना पड़ा। जनत्योहारों के आयुक्त के रूप में प्रचुर धन व्यय करके उसने नगर के जनसाधारण में लोकप्रियता प्राप्त कर ली। ६१ ई० पू० में दक्षिणी स्पेन के गवर्नर के रूप मे सीजर ने प्रथम सैनिक पद सुशोभित किया परतु उसने शीघ्र ही इससे त्यागपत्र दे दिया ताकि पांपे (Pompey) के अपनी विजयी सेना सहित लौटने पर रोम में उत्पन्न राजनीतिक स्थिति में भाग ले सके। सीजर ने क्रेसस (Crassus) तथा पांपे में राजनीतिक गठबंधन करा दिया और उससे मिलकर प्रथम शासक वर्ग (first triumvirate) तैयार किया। इन तीनों ने मुख्य प्रशासकीय समस्याओं का समाधान अपने हाथ में लिया जिनको नियमित 'सीनेटोरियल' शासन सुलझाने में असमर्थ था। इस प्रकार सीजर कौंसल निर्वाचित हुआ और अपने पदाधिकारों का उपयोग करते हुए अपनी संयुक्त योजनाओं को कार्यान्वित करने लगा। स्वयं अपने लिये उसने सेना संचालन का उच्च पद प्राप्त कर लिया जो रोमन राजनीति में भीषण शक्ति का कार्य कर सकता था। वह सिसएलपाइन गॉल (Cisalpine gaul) का गवर्नर नियुक्त किया गया। बाद में ट्रांसएलपाइन गाल (Transalpine gaul) भी उसकी कमान में दे दिया गया। गॉल में सीजर के अभियानों (५८–५० ई० अ० पू०) का परिणाम यह हुआ कि संपूर्ण फ्रांस तथा राइन (Rhine) नदी तक के निचले प्रदेश, जो बल तथा संस्कृति के स्रोत के विचार से इटली से कम महत्वपूर्ण नहीं थे, रोमन साम्राज्य के आधिपत्य में आ गए। जर्मनी तथा बेलजियम के बहुत से कबीलों पर उसने कई विजय प्राप्त की और 'गॉल के रक्षक' का कार्यभार ग्रहण किया। अपने प्रांत की सीमा के पार के दूरस्थ स्थान भी उसकी कमान में आ गए। ५५ ई० पू० में उसने इंग्लैंड के दक्षिण पूर्व में पर्यवेक्षण के लिये अभियान किया। दूसरे वर्ष उसने यह अभियान और भी बड़े स्तर पर संचालित किया जिसके फलस्वरूप वह टेम्स नदी के बहाव की ओर के प्रदेशों तक में घुस गया और अधिकांश कबीलों के सरदारों ने औपचारिक रूप से उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। यद्यपि वह भली प्रकार समझ गया था कि रोमन गॉल की सुरक्षा के लिये ब्रिटेन पर स्थायी अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है, तथापि गॉल में विषम स्थिति उत्पन्न हो जाने के कारण वह ऐसा करने में असमर्थ रहा। गॉल के लोगों ने अपने विजेता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था किंतु ५० ई० पू० में ही सीजर गॉल में पूर्ण रूप से शांति स्थापित कर सका।

स्वयं सीजर के लिये गॉल के अभियानों में विगत वर्षों में दोहरा लाभ हुआ—उसने अपनी सेना भी तैयार कर ली और अपनी शक्ति का भी अनुमान लगा लिया। इसी बीच में रोम की राजनीतिक स्थिति विषमतर हो गई थी। रोमन उपनिवेशों को तीन बड़े कमानों में विभाजित किया जाता था जिनके अधिकारी नाममात्र की केंद्रीय सत्ता

के वास्तविक नियंत्रण से परे थे। पांपे को स्पेन के दो प्रांतों का गवर्नर नियुक्त किया गया, क्रैसस को पूर्वी सीमांत प्रांत सीरिया का गवर्नर बनाया गया। गॉल सीज़र की ही कमान में रखा गया। पांपे ने अपने प्रांत स्पेन की कमान का संचालन अपने प्रतिनिधियों द्वारा किया और स्वयं रोम के निकट रहा ताकि केंद्र की राजनीतिक स्थितियों पर दृष्टि रखे। क्रैसस पारथिया के राज्य पर आक्रमण करते समय युद्ध में मारा गया। पांपे तथा सीज़र में एकच्छत्र सत्ता हथियाने के लिये तनाव तथा स्पर्धा के कारण युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई। पांपे सीज़र से खिंचने लगा और 'सिनेटोरियल अल्पतंत्र दल' से समझौता करने की सोचने लगा। सेनेट ने आदेश दिया कि सीज़र द्वितीय कौंसल के रूप में निर्वाचित होने से पूर्व, जिसका उसको पहले आश्वासन दिया जा चुका था, अपनी गॉल की कमान से त्यागपत्र दे। किंतु पांपे, जिसे ५२ ई० पूर्व में अवैधानिक रूप से तृतीय कौंसल का पद प्रदान कर दिया गया था, अपने स्पेन के प्रांतों तथा सेनाओं को अपने अधिकार में ही रखे रहा। फलत: सीज़र ने खिन्न होकर गृहयुद्ध छेड़ दिया और यह दावा किया कि वह यह कदम अपने अधिकारों, संमान और रोमन लोगों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये उठा रहा है। उसके विरोधियों का नेतृत्व पांपे कर रहा था।

पांपे तथा रोमन सरकार के पास इटली में बहुत थोड़े से ही अनुभवी सैनिक थे इसलिये उन्होंने रोम खाली कर दिया और सीज़र ने राजधानी पर बिना किसी विरोध के अधिकार जमा लिया। सीज़र ने शासनसत्ता पूर्ण रूप से अपने हाथ में ले ली परंतु पांपे से उसे अब भी खतरा था। सीज़र ने पर्वतों को पार करके थेसाली (Thessaly) में प्रवेश किया और ४८ ई० पू० की ग्रीष्म ऋतु में फारसेलीस (Pharsalees) के निकट पांपे को बुरी तरह परास्त किया। पांपे मिस्र भाग गया जहाँ पहुँचते ही उसका वध कर दिया गया।

सीज़र जब एक छोटी सी सेना लेकर उसका पीछा कर रहा था उसी समय एक नई समस्या में उलझ गया। मिस्र के सम्राट् टौलेमी दसवें की मृत्यु के बाद उसकी संतानों में राज्य के लिये झगड़ा चल रहा था। सीज़र ने उसकी सबसे ज्येष्ठ संतान क्लिओपैट्रा (Cleopatra) का उसके भाई के विरुद्ध पक्ष लेने का निर्णय किया। परंतु मिस्र की सेना ने उसपर आक्रमण किया और ४८-४७ ई० पू० के शीत काल में सिकंदरिया के राजप्रासाद में उसे (सीज़र को) घेर लिया। एशिया तथा सीरिया में भरती किए गए सैनिकों की सहायता से सीज़र वहाँ से निकल भागा और फिर क्लिओपैट्रा को राज्यासीन किया (क्लिओपैट्रा ने उससे एक पुत्र को भी थोड़े समय बाद जन्म दिया)। सीज़र ने तत्पश्चात् ट्यूनीसिया में पांपे की सेनाओं को पराजित किया। ४५ ई० पू० के शरद्काल में वह रोम लौट आया ताकि अपनी विजयों पर खुशियाँ मनाए और गणतंत्र के भावी प्रशासन के लिये योजनाएँ पूरी करे।

यद्यपि सेनेट की बैठक रोम में होती रही होगी तथापि राजसत्ता का वास्तविक केंद्र सीज़र के मुख्यावास पर ही था। कई बार उसे तानाशाह की उपाधि भी दी जा चुकी थी, जो एक अस्थायी सत्ता होती थी और किसी विषम परिस्थिति का सामना करने के लिये होती थी। अब उसने इस उपाधि को आजीवन धारण कर लेने का निश्चय किया, जिसका अर्थ वास्तव में यही था कि वह राज्य के समस्त अधिकारियों तथा संस्थाओं पर सर्वाधिकार रखे और उनका राजा कहलाए।

तानाशाह का रूप धारण करना ही सीज़र की मृत्यु का कारण हुआ। एकच्छत्र राज्य की घोषणा का अर्थ गणतंत्र का अंत था और गणतंत्र के अंत होने का अर्थ था रिपब्लिकन संभ्रांत समुदाय के आधिपत्य का अंत। इसीलिये उन लोगों ने षड्यंत्र रचना प्रारंभ कर दिया। षड्यन्त्रकारियों का नेता मार्कस ब्रूटस बना जो अपनी नि:स्वार्थ देशभक्ति के लिये प्रसिद्ध था। परंतु इसके अनुयायी अधिकांशत: व्यक्तिगत ईर्ष्या तथा द्वेष से प्रेरित थे। १५ मार्च, ४४ ई० पू० को जब सीनेट की बैठक चल रही थी तब ये लोग सीज़र पर टूट पड़े और उसका वध कर दिया। इस मास का यह दिन उसके लिये अशुभ होगा, इसकी चेतावनी उसे दे दी गई थी।

सं० ग्रं० — फाउलर, डब्ल्यू० वार्ड : जूलियस सीज़र; होम्स, टी० राइस : सीज़र्स कांक्वेस्ट ऑव गाल्स; दि रोमन रिपब्लिक ऐंड फाउंडर ऑव दि एम्पायर; बूखन, जे. : जूलियस सीज़र; कैंब्रिज एंशेंट हिस्ट्री। [सं० प्र० प्र० रि०]

सीज़ियम (Caesium) अल्कली समूह का धातु है। इसका संकेत, सी॰ C_s, परमाणुसंख्या ५५, परमाणुभार १३२·८१ है। इसका आविष्कार बुनसेन द्वारा १८३० ई० में हुआ था। इसके वर्णपट में उन्होंने दो चमकीली नीली रेखाएँ देखी थीं। ग्रीक शब्द सीज़ियम का अर्थ है आसमानी नीला, इसी से इसका नाम सीज़ियम रखा गया। इसका प्रमुख खनिज पोलुसाइट (Pollucite) है। यह ऐल्यूमिनियम और सीज़ियम का सिलिकेट है। इसमें सीज़ियम आक्साइड ३१ से ३७ प्रतिशत रहता है। पोलुसाइट पर हाइड्रोक्लोरिक या नाइट्रिक अम्ल की क्रिया से सीज़ियम घुल जाता है। विलयन में ऐंटीमनी क्लोराइड के डालने से अविलेय युग्म क्लोराइड के अवक्षेप प्राप्त होते हैं। अन्य अनेक खनिजों जैसे लेपिडोलाइट (Lepidolite), ल्यूसाइट (Leucite), पेटाटाइट (Petatite), ट्राइफिलिन (Triphylline) और कार्नेलाइट (Carnellite) में भी सीज़ियम पाया गया है। खनिजों से सीज़ियम का पृथक्करण कठिन और व्ययसाध्य है। लेपिडोलाइट से लिथियम निकाल लेने पर रुबीडियम और सीज़ियम बच जाते हैं। उनको युग्म प्लाटिनिक क्लोराइड बनाकर उसके प्रभाजक क्रिस्टलन से वे पृथक् किए जाते हैं। सीज़ियम क्लोराइड को कैल्सियम धातु के साथ आसवन से सीज़ियम धातु प्राप्त होती है। धातु चाँदी सी सफेद होती है, वायु में जलती है और पानी से जल्द आक्रांत होती है। धातु २६°—२७° सें० पर पिघलती और ६९०° सें० पर उबलती है। इसका विशिष्ट गुरुत्व १५° सें० पर १.८८ है। इसके हाइड्राक्साइड, क्लोराइड, ब्रोमाइड, आयोडाइड और पोटैसियम लवणों के सदृश होते हैं। इसके सल्फेट, नाइट्रेट, कार्बोनेट और ऐलम भी प्राप्त हुए हैं। यह एकसंयोजक लवण बनाता है। इसके संकीर्ण लवण ($C_s I_3$, $C_s Cl_2 I$ आदि) भी बनते हैं। इसके वर्णपट में दो चमकीली नीली रेखाओं से इसकी पहचान सरलता से

होती है। नीली रेखाओं के अतिरिक्त तीन हरी, दो पीली और दो नारंगी रंग की रेखाएँ भी पाई जाती हैं। रेडियो नली या वाल्व एवं प्रकाशविद्युत् सेलों के निर्माण में इसका महत्वपूर्ण उपयोग है। [स०व०]

सीटो (साउथ ईस्ट एशिया ट्रीटी आर्गेनाइजेशन) फिलिपीन की राजधानी मनीला में सितंबर, १९५४ ई० में ८ देशों ने एक सैनिक समझौता किया जिसे सीटो (दक्षिण पूर्व एशिया संधि संगठन) की संज्ञा दी गई। प्रारंभिक वर्षों में समाचारपत्रों की भाषा में इसे 'मनीला समझौता' भी कहा गया, किंतु बाद में सीटो ने अधिक प्रचलन पाया और अब वह उसी नाम से जाना जाता है। इस समझौते में जो देश शामिल हुए उनके नाम हैं—फ्रांस, न्यूजीलैंड, पाकिस्तान, फिलिपीन, थाईलैंड (स्याम), ब्रिटेन और अमरीका। इस समझौते की पृष्ठभूमि में इससे पूर्व जेनेवा में हुआ ९ राष्ट्रों का वह संमेलन था जिसके फलस्वरूप औपचारिक रूप से हिंदचीन-युद्ध का अंत हुआ था। जेनेवा समझौता, दियां बियां फू में हुई फ्रांस की पराजय के कारण पश्चिमी राष्ट्रों पर लादा गया समझौता था इसलिये उन देशों के युद्धविशेषज्ञों ने यह नया समझौता कम्युनिस्टों का मुकाबला करने के लिये किया। इस समझौते के मुख्य समर्थक तत्कालीन अमरीकी परराष्ट्र सचिव जान फास्टर डलेस थे। उनका कहना था कि 'यदि संपूर्ण दक्षिण पूर्व एशिया को बचाया जा सके तो उसे बचाया जाय और ऐसा संभव न हो तो उसके कुछ महत्वपूर्ण भागों की रक्षा अवश्य की जाय।' श्री डलेस को आस्ट्रेलिया के प्रतिनिधि श्री रिचर्ड केसी का समर्थन प्राप्त हुआ। ब्रिटेन की ओर से विंस्टन चर्चिल साम्यवाद के खिलाफ एक एशियाई समझौते के विचार को पहले ही स्वीकार कर चुके थे। परिणामस्वरूप वाशिंगटन में मनीला समझौते का मसौदा तैयार करने के लिये एक दल नियुक्त किया गया। उस दल ने समझौते की जो रूपरेखा तैयार की, आमतौर से उसी की पुष्टि की गई। इसका प्रधान कार्यालय बैंकाक में है। कार्यालय सदस्य देशों की सहायता से चलता है। यद्यपि सीटो का अस्तित्व आज तक कायम है तथापि सदस्यों में मतभेद के कारण आज तक यह अपने लक्ष्य की न तो पूर्ति कर सका है और न परीक्षा की घड़ियों में खरा उतरा है। [च० शे० मि०]

सीढ़ी या सोपान किसी भवन के भिन्न भिन्न ऊपरी तलों पर पहुँचने के लिये श्रेणीबद्ध पैड़ियाँ होती हैं। लकड़ी, बाँस आदि की सुवाह्य सीढ़ियाँ आवश्यकतानुसार कहीं भी लगाई जा सकती हैं। इनमें प्रायः ढाल में रखी हुई दो बल्लियाँ या बाँस होते हैं, जो सुविधाजनक अंतर पर डंडों द्वारा जुड़े रहते हैं। डंडों पर ही पैर रखकर ऊपर चढ़ते हैं। सहारे के लिये हाथ से भी डंडा ही पकड़ा जाता है किंतु यदि ये स्थायी होती हैं तो कभी कभी इनमें एक ओर या दोनों ओर हाथ पट्टी भी लगा दी जाती है।

आवास गृह में यदि ऊपरी तल में कुछ कमरे नितांत एकांतिक हो तो सोपान कक्ष मुख्य प्रवेश के निकट, किंतु गोपनीयता के लिये कुछ आड़ में, होना चाहिए। सार्वजनिक भवन में इनकी स्थिति प्रवेश द्वार से दिखाई देनी चाहिए। सोपान कक्ष यथासंभव भवन के बीच में रखने से प्रत्येक तलपर मुख्य कक्षों के द्वार इसके समीप रहते हैं। स्थान की बचत के लिये, संवातन और निर्माण की सरलता के लिये सोपान प्रायः किसी दीवार के साथ लगा दिए जाते हैं। सोपान कक्ष भली भाँति प्रकाशित और सुसंवातित होना चाहिए।

सोपानों के प्रकार — सोपान लकड़ी, पत्थर, कंकरीट (सादी अथवा प्रबलित), सामान्य इस्पात, अथवा ढले लोहे के घुमावदार या सीधे बने होते हैं। स्थानीय आवश्यकता, निर्माण सामग्री तथा कारीगरी की कुशलता के अनुसार ये भिन्न होते हैं। सबसे सरल सीधी सीढ़ी में सभी पैड़ियाँ एक ही दिशा में जाती हैं। इसमें केवल एक ही पंक्ति या विशेष स्थितियों में दो पंक्तियाँ होती हैं। यह लंबे सँकरे सोपान कक्ष के लिये उपयुक्त होती हैं। यदि अगली पंक्ति पिछली पंक्ति की उलटी दिशा में उठती हो, और ऊपरी पंक्ति की पैड़ियों के बाहरी सिरे निचली पंक्ति की पैड़ियों के बाहरी सिरों के ठीक ऊपर हों तो वह लहरिया सोपान होगा। कूपक सीढ़ी वह है जिसमें पीछेवाली तथा आगेवाली सोपान पंक्तियों के बीच एक चौकोर कूप या खुला स्थान होता है। इस सोपान कक्ष की चौड़ाई सोपान की चौड़ाई के दूने तथा कूप की चौड़ाई के योग के बराबर होगी। यह सोपान का अत्यंत सुविधाजनक रूप है। निरंतर सोपान वह है जिसमें पिछली और अगली पंक्तियों के बीच कूप में मोड़ दे दिया जाता है, और मोड़ में घुमावदार पैड़ियाँ होती हैं जो वक्रता के केंद्र से अपसृत होती हैं। गोल सोपान प्रायः पत्थर, प्रबलित सीमेंट कंक्रीट, अथवा लोहे के होते हैं और वृत्ताकार सोपानकक्ष में बनाए जाते हैं। सभी पैड़ियाँ घुमावदार होती हैं, जो केंद्र में स्थित किसी खंभे पर आलंबित हो सकती हैं, या बीच में एक गोल कूप हो सकता है। यदि सभी पैड़ियाँ केंद्रीय खंभे से अपसृत होती हैं तो वह कुंडल सोपान या सर्पिल सोपान कहलाता है। लोहे के और कभी कभी प्र० सी० कं० के भी कुंडल सोपान आवश्यकतानुसार कक्ष के भीतर नहीं भी घिरे हो सकते। ये बहुत कम स्थान घेरते हैं, अतः पिछले प्रवेशद्वार के लिये बहुत उपयुक्त होते हैं।

सोपानों की आयोजना एवं अभिकल्पन — उपलब्ध स्थान और तलों के बीच की ऊँचाई मालूम करने के बाद यह निश्चित करना चाहिए कि सोपान का प्रकार क्या होगा और द्वारों, मोखों गलियारों तथा खिड़कियों की स्थिति का ध्यान रखते हुए प्रथम तथा अंतिम अड्डे किन स्थानों के आस पास रखे जा सकते हैं। अड्डे की सुविधाजनक ऊँचाई ५" से ८" तक समझी जाती है। तलों के बीच की ऊँचाई में अड्डे की ऊँचाई का भाग देने से अड्डों की संख्या निकलेगी। पदतल गिनती में अड्डों से एक कम होंगे। ये चौड़ाई में ९" से १३" तक होने चाहिए। चाल प्रायः निम्नलिखित किसी नियम के अनुसार निश्चित की जाती है :

१ — चाल × अड्डा (दोनों इंचों में) = ६६

२ — २ × अड्डा + चाल (दोनों इंचों में) = २४

३ — १२" चाल और ५" उठान को मानक मानकर चाल में प्रति इंच कमी के लिये उठान में ½" जोड़ दें।

आवास गृहों में १०" × ६½" और सार्वजनिक भवनों में ११" × ६" अथवा १२" × ५½" प्रचलित माप हैं। वास्तविक माप परिस्थितियों

पर निर्भर है, किंतु यह महत्वपूर्ण है कि एक बार जो उठान एवं चाल नियत हो जाय, वह सारे सोपान में नहीं तो कम से कम एक सोपान पंक्ति में अपरिवर्तित रखी जाय।

सोपान की चौड़ाई २' ९" से कम न होनी चाहिए और ऊपर कम से कम ७' का सिर बचाव देना चाहिए। एक पंक्ति में १२ पैड़ियों से अधिक न होनी चाहिए। १५ से अधिक होने पर चढ़ने में थकान आती है और उतरने में कुछ कठिनाई होती है। किसी पंक्ति में तीन से कम पैड़ियाँ भी नहीं होनी चाहिए। घुमावदार पैड़ियाँ न हों तो अच्छा किंतु यदि अनिवार्य ही हो तो पंक्ति में नीचे की ओर रखनी चाहिए। चौकियों की चौड़ाई सोपान की चौड़ाई से कम नहीं होनी चाहिए।

तकनीकी पद — 'पदतल' पैड़ी का क्षैतिज भाग है और 'खड़ा' उसका उदग्र भाग। 'उठान' दो क्रमिक पैड़ियों के ऊपरी पृष्ठों के बीच का उदग्र अंतर है और चाल दो क्रमिक खड़ों के मुखों के बीच का क्षैतिज अंतर। 'सादा पैड़ी' तलचित्र में आयताकार होती है, और 'घुमावदार पैड़ी' सोपान की दिशा बदलने के लिये बनाई जाती है, तथा तलचित्र में प्रायः तिकोनी होती है। कई घुमावदार पैड़ियों के बीचवाली पैड़ी जिसकी आकृति पतंग जैसी होती है, 'पतंगी पैड़ी' कहलाती है। किसी पंक्ति की निम्नतम पैड़ी कभी कभी बाहरी सिरे पर कुंडल कर दी जाती है, यह 'कुंडल पैड़ी' कहलाती है। 'चौकी' पैड़ियों की किसी श्रेणी के ऊपर का चपटा मंच है। यदि यह सोपानकक्ष के आर पार हो तो 'पूरी चौकी' और यदि आधे में ही हो तो 'आधी चौकी' कहलाती है। दो चौकियों के मध्य पैड़ियों की एक श्रेणी सोपानपंक्ति कही जाती है। पदतल की बाहर निकली हुई कोर, जो प्राय: गोल होती है, 'नोक' कहलाती है और नोकों को मिलानेवाली सोपान की ढाल के समांतर कल्पित रेखा 'ढाल रेखा' होती है। सोपानपंक्ति और चौकी के अथवा एक सोपानपंक्ति और दूसरी के संगम पर बना हुआ खंभा 'थंबा' कहलाता है। पैड़ियों के बाहरी सिरे पर गिरने से बचने के लिये ढाई तीन फुट ऊंची ठोस या झिझरदार रोक 'रेलिंग' कहलाती है और उसके ऊपर हाथ रखने के लिये लकड़ी, लोहे, पत्थर या रेलिंग के पदार्थ की ही बनी हुई चिकनी पट्टी 'हाथपट्टी' कहलाती है। आज कल ऊँचे गगनचुंबी भवनों में सीढ़ी के स्थान पर लिफ्ट लगा रहता है।

विविध प्रकार की सीढ़ियाँ

[वि० प्र० गु०]

सीता प्राचीन मिथिला के राजा जनक (सीरध्वज) की कन्या जो दाशरथि श्रीराम की सहधर्मिणी थीं। 'सीता' का शाब्दिक अर्थ 'हल के फाल से खींची हुई रेखा' है। कहते हैं, मिथिला या विदेह राज्य में एक बार घोर अकाल पड़ा और ज्योतिर्विदों ने यह मत प्रकट किया कि यदि राजा स्वयं हल चलाना स्वीकार करें तो प्रभूत वर्षा होने की संभावना है। वाल्मीकि के मतानुसार यज्ञभूमि तैयार करने के लिये राजा जब हल चला रहे थे तब पृथ्वी के विदीर्ण होने पर एक छोटी सी कन्या उसमें से निकली जिसे जनक ने पुत्री रूप में ग्रहण किया। हल चलाने से बनी हुई रेखा से उत्पन्न होने के कारण कन्या का नाम सीता रखा गया।

जनक के पास परशुराम का दिया हुआ एक शिव धनुष था जो वजन में बहुत भारी था। सीता ने एक दिन उसे अनायास ही उठा

लिया और हटाकर दूसरे स्थान पर रख दिया। जनक को इसपर बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने घोषणा की कि जो राजा इस धनुष को तोड़ देगा उसी के साथ सीता का विवाह कर दिया जायगा। स्वयंवर में बड़े बड़े प्रतापी और बली राजा उपस्थित हुए किंतु कोई भी धनुष को उठा तक न सका। इस सभा में उपस्थित होकर राम ने शिव धनुष को भंग कर दिया और 'त्रिभुवन जय समेत' सीता का वरण किया।

वनवास — पिता की आज्ञा से राम जब वनवास के लिये जाने लगे तब उन्होंने सीता को अयोध्या में ही रहने के लिये बहुत समझाया पर वे न मानीं। उनका तर्क था 'जिय बिन देह, नदी बिन वारी। तैसिय नाथ पुरुष बिन नारी', 'चंद्र को त्याग कर चंद्रिका कैसे रह सकती है, इसलिये मुझे यहाँ न छोड़िए, साथ में ले चलिए।' सीता ने यह भी कहा कि 'जब दिन भर की यात्रा के बाद आप थक जाएँगे, तब मैं सम धरती पर पेड़ के कोमल पत्ते बिछाकर रात्रि भर आप के चरण दाबकर सारी थकावट दूर कर दूँगी। सुकुमारता के तर्क को उलटे राम पर ही डालते हुए उन्होंने कहा 'मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहिं उचित तप मो कहँ भोगू।' इस व्यंग्योक्ति का उत्तर राम न दे सके और उन्होंने सीता को साथ में चलने की अनुमति दे दी।

अयोध्या और मिथिला का सारा वैभव तथा सुख सुविधाएँ छोड़कर वे पति के साथ जंगल जंगल भटकती रहीं और उन्होंने अपनी सेवापरायणता से राम को वन्य जीवन के कष्टों की अनुभूति न होने दी। पंचवटी में निवास करते समय रावण द्वारा प्रेषित कपट-मृग का पीछा करते हुए राम जब दूर निकल गए और सीता के आग्रह करने पर लक्ष्मण भी जब उनकी सहायता के लिये चल पड़े, तब मौका पाकर रावण ने सीता का अपहरण किया और उन्हे लंका ले जाकर अशोक वाटिका में राक्षसियों के पहरे में रख दिया। सीता के वियोग से राम अत्यंत व्याकुल हो उठे और उन्हे ढूँढते हुए किष्किंधा जा पहुँचे, जहाँ सुग्रीव की सहायता से उन्होंने वानरों की एक बड़ी सेना इकट्ठी की और दैत्यराज रावण पर चढ़ाई कर दी।

रावण के मारे जाने पर सीता जब राम के पास लौट आईं तो लोकापवाद के भय से उन्होंने सीता की अग्निपरीक्षा लेनी चाही। सीता इसके लिये तुरंत तैयार हो गईं और वे इस परीक्षा में पूर्णतः उत्तीर्ण हुईं। राम का राज्याभिषेक होने के बाद कुछ वर्ष ही वे सुखपूर्वक बिता पाई थीं कि लोकचर्चा से राजकुल के कलंकित होने की आशंका देखकर राम ने उनके परित्याग का निश्चय किया। राम के आदेश से लक्ष्मण उन्हें वाल्मीकि-आश्रम के निकट छोड़ आए। ऋषि ने उन्हें संरक्षण प्रदान किया और वहीं लव और कुश नाम के दो उज्वल पुत्रों को सीता ने जन्म दिया।

राम ने छाती पर वज्र रखकर राजा के कठोर कर्तव्य का पालन तो किया किंतु इस घटना ने उनके जीवन को अत्यंत दु:खपूर्ण तथा नीरस बना दिया। निदान लव और कुश के बड़े होने पर जब वाल्मीकि ऋषि ने सीता की पवित्रता और निर्दोषता की दुहाई देते हुए राम से उन्हें पुन: अंगीकार करने का आग्रह किया तो लोक-लांछन के परिमार्जन का विश्वास हो जाने पर राम ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया किंतु सीता अपमान और मिथ्यापवाद के इस दूसरे प्रसंग से इतनी मर्माहत हो चुकी थीं कि उन्होंने लव और कुश को पिता का सामीप्य प्राप्त होने पर इस नश्वर शरीर को त्याग देने का निश्चय किया। उन्होंने पृथ्वी माता से प्रार्थना की :

> मनसा कर्मणा वाचा यदि रामं समर्चये।
> तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥

'यदि मन से, कर्म से और वाणी से मैंने राम के सिवा अन्य किसी पुरुष का चिंतन न किया हो तो पृथ्वी माता तुम फटकर मुझे स्थान दो।' सीता के जीवन का यह अंत देखकर सहसा यही कहना पड़ता है — अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी। [मु०]

सीतापुर १. जिला, यह भारत के उत्तरप्रदेश राज्य का जिला है जिसका क्षेत्रफल ५,७५० वर्ग किमी एवं जनसंख्या १६,०८,०५७ (१९६१) है। उत्तर मे खीरी, पश्चिम एवं पश्चिम दक्षिण में हरदोई, दक्षिण मे लखनऊ, दक्षिण पूर्व में बाराबंकी और पूर्व एवं उत्तर पूर्व में बहराइच जिले हैं। जिले का पूर्वी भाग नीचा एवं आर्द्र क्षेत्र है जिसका अधिकांश भाग वर्षाकाल में पानी में डूबा रहता है पर जिले का शेष भाग ऊँचा है। निचले क्षेत्र की नदियों का मार्ग परिवर्तनशील है पर ऊँचे क्षेत्र की नदियों का मार्ग अधिक स्थायी है। गोमती और घाघरा या कौड़िया नदियाँ, जो क्रमश: पश्चिमी एवं पूर्वी सीमाएँ बनाती हैं, नौगम्य हैं। ऊँचे क्षेत्र का जल-निकास मुख्यत: कथना एवं सरायान नदियो द्वारा होता है जो गोमती की सहायक नदियाँ हैं। निचले भूभाग के मध्य से शारदा नदी की एक शाखा चौका बहती है। शारदा की दूसरी शाखा दहावर जिले के उत्तरी पूर्वी कोनों को खीरी जिले से अलग करती है। शीशम, तुन, आम, कटहल और एक प्रकार की झरबेरी यहाँ की प्रमुख वनस्पतियाँ हैं तथा शीशम एवं तुन इमारती लकड़ी के प्रमुख वृक्ष हैं। अंजीर, अकेशा, एवं बाँस की कई जातियाँ यहाँ होती हैं। यहाँ की नदियो में मगर, सूँस तथा पर्याप्त परिमाण मे मछलियाँ मिलती हैं भेड़िया, बनबिलाव, गीदड़, लोमड़ी, नीलगाय एवं बारहसिंगा यहाँ के वन्य प्राणी हैं। यहाँ की वार्षिक वर्षा ९६५ मिमी० है। जिले की बलुआ मिट्टी में बाजरा और जौ तथा उपजाऊ चिकनी मिट्टी में गन्ना, गेहूँ और मक्का उगाए जाते हैं। चौका नदी के पश्चिमी भूभाग मे धान की खेती की जाती है। कंकड या कैल्सियमी चूना पत्थर एकमात्र खनिज है जो खंड के रूप में मिलता है।

२. नगर, स्थिति . २७°३४' उ० अ० तथा ८०°४०' पू० दे०। यह नगर उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक केंद्र है जो लखनऊ एवं शाहजहाँपुर मार्ग के मध्य में सरायान नदी के किनारे पर स्थित है। नगर में भारतप्रसिद्ध नेत्र अस्पताल है, यहाँ की जनसंख्या ५३,८८४ (१९६१) है। नगर में प्लाइउड निर्माण का एक कारखाना भी है। [अ० ना० मे०]

इतिहास — सीतापुर के विषय में अनुश्रुति यह है कि राम और सीता ने अपनी वनयात्रा के समय यहाँ प्रवास किया था। आगे चलकर राजा विक्रमादित्य ने इस स्थान पर एक नगर बसाया जो सीता के नाम पर बसा (इंपीरियल गजेटियर ऑव इंडिया)।

कुषाण काल की संख्या में प्रायः संपूर्ण जिला भारशिव काल की इमारतों और गुप्त तथा गुप्तप्रभावित मूर्तियों तथा इमारतों से भरा हुआ था। मनवाँ, हरगाँव, बड़ा गाँव, नसीराबाद आदि पुरातात्विक महत्व के स्थान हैं। नैमिष और मिसरिख पवित्र तीर्थस्थल हैं।

प्रारंभिक मुस्लिम काल के लक्षण केवल भग्न हिंदू मंदिरों और मूर्तियों के रूप में ही उपलब्ध हैं। इस युग के ऐतिहासिक प्रमाण शेरशाह द्वारा निर्मित कुओं और सड़कों के रूप में दिखाई देते हैं। उस युग की मुख्य घटनाओं में से एक तो खैराबाद के निकट हुमायूँ और शेरशाह के बीच और दूसरी सुहेलदेव और सैयद सालार के बीच बिसवाँ और तंबौर के युद्ध हैं। सीतापुर के निकट स्थित खैराबाद मूलतः प्राचीन हिंदू तीर्थ मानसक्षेत्र था। मुस्लिम काल में खैराबाद बाड़ी, बिसवाँ इत्यादि इस जिले के प्रमुख नगर थे। ब्रिटिश काल (१८५६) में खैराबाद छोड़कर जिले का केंद्र सीतापुर नगर में बनाया गया। सीतापुर का तरीनपुर मोहल्ला प्राचीन स्थान है।

सीतापुर का प्रथम उल्लेख राजा टोडरमल के बंदोबस्त में छितियापुर के नाम से आता है। बहुत दिन तक इसे छीतापुर कहा जाता रहा, जो गाँवों में अब भी प्रचलित है। १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में सीतापुर का प्रमुख हाथ था। बाड़ी के निकट सर होपग्रांट तथा फैजाबाद के मौलवी के बीच निर्णयात्मक युद्ध हुआ था।

सीतापुर गुड़, गल्ला, दरी की बड़ी मंडी है। यहाँ एक बहुत बड़ा आँख का अस्पताल, सैनिक छावनी तथा उत्तर एवं पूर्वोत्तर रेलवे के जंकशन हैं, प्लाईवुड और तीन बड़े शक्कर के मिल हैं।

यहाँ के साहित्यकारों में 'सुदामाचरित्र' के रचयिता नरोत्तमदास (बाड़ी), सेवराज, द्विजराज, ब्रजराज, कृष्णबिहारी मिश्र, ब्रजकिशोर मिश्र (गंधोली), अनूप शर्मा (नवीनगर), तथा द्विज बलदेव (बलदेवनगर) उल्लेखनीय हैं। हिंदी सभा यहाँ की प्रमुख साहित्यिक संस्था है। [रा० पा०]

सीतामढ़ी बिहार के मुजफ्फरपुर जिले का सबसे उत्तरी प्रखंड है जो नेपाल से सटा हुआ है। इसकी जनसंख्या १३,८७,१८६ (१९६१) है। यहाँ बागमती तथा कमला नदियों की कई सहायक नदियों का जाल बिछा है। धान तथा ईख यहाँ की मुख्य उपज है। नदियों का बाहुल्य होने से यहाँ यातायात के साधन पूर्णतः विकसित नहीं हैं। उत्तरी पूर्वी रेलवे की सबसे उत्तरी लाइन इससे होकर जाती है जो दरभंगा तथा रक्सौल से संबंध स्थापित करती है। मुजफ्फरपुर—सीतामढ़ी प्रमुख सड़क है। सीतामढ़ी प्रमुख नगर तथा व्यावसायिक केंद्र है। नगर की जनसंख्या १७,७४१ है। चैत की रामनवमी के अवसर पर एक बड़ा मेला यहाँ लगता है जिसे डुमरखह का मेला कहते हैं। इस मेले में बहुत बड़ी संख्या में गाय और बैल बिकते हैं। [ज० सि०]

सीधी जिला, यह भारत के मध्यप्रदेश में स्थित है जिसका क्षेत्रफल ८,४०० वर्ग किमी एवं जनसंख्या ५,८०,१२१ (१९६१) है। इसके उत्तर में रीवाँ, पश्चिम एवं पश्चिम दक्षिण में शहडोल, दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व में सरगुजा जिले एवं पूर्व तथा पूर्व उत्तर में उत्तर प्रदेश राज्य का मिर्जापुर जिला है। यहाँ का प्रशासनिक केंद्र सीधी नामक नगर में है जिसकी जनसंख्या ५,०२१ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

सीमा (limit) यह एक महत्वपूर्ण गणितीय विचारधारा है जिसका अभ्युदय अनेक ऐतिहासिक अवस्थाओं को पार करके हो सका। प्राचीन काल में निःशेषण प्रणाली का वही स्थान था जो आजकल सीमा प्रणाली ने ग्रहण कर लिया है। उक्त प्रणाली इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है: यदि किसी परिमाण में से आधी से अधिक मात्रा निकाल ली जाए तो अंत में अवशिष्ट परिमाण किसी पूर्वनिर्दिष्ट राशि से कम हो जायगा। इस सिद्धांत को यूक्लिड ने अपनी 'एलीमेंट्स' नामक रचना में बहुधा क्षेत्रफल और आयतन ज्ञात करने के लिये प्रयुक्त किया है।

'सीमा' की धारणा चलन कलन और चलराशि कलन में अत्यंत महत्वपूर्ण है, वास्तव में यह उच्चतर गणितशास्त्र का आधार सीमा ही है। जॉन वालिस (१६१६-१७०३), ऑगस्टिन कोशी (१७८९-१८५७) आदि गणितज्ञों ने इस विचारधारा को विकसित किया है।

यदि कोई निश्चित वास्तविक संख्या x_n (सं० 'संख्या') प्रत्येक धनात्मक पूर्णांक 1, 2, 3,... से संबद्ध हो तो संख्याएँ एक अनुक्रम बनाती हैं। यदि $n \geqslant १$ के लिये $x_n \leqslant x_{n+1}$ हो तो यह अनुक्रम एकस्वन वृद्धिमय कहा जाता है और यदि $x_n > x_{n+1}$ हो तो वह एकस्वन ह्रासमय कहा जाता है। n के अनंत की ओर अग्रसर होने पर अनुक्रम $\{x_n\}$ एक सीमा l की ओर अग्रसर होता हुआ कहा जाएगा यदि किसी अविहित लघु राशि $\in$ के लिये ऐसी संख्या $n_0(\in)$ का अस्तित्व हो कि $n > n_0(\in)$ होने पर। $x_n - l| < \in$ हो, अर्थात् समस्त $n > n_0(\in)$ के लिये $l - e < x_n < l + \in$ हो। इसी प्रकार एक कुलक के सीमाबिंदु की व्याख्या की जा सकती है। वास्तविक संख्याओं अथवा किसी सरल रेखा पर अवस्थित किसी भी भाँति व्यक्त तत्संबंधी बिंदुओं की व्यवस्था उन संख्याओं अथवा बिंदुओं का पुंज अथवा कुलक कहा जाता है। अनुक्रम एक अगणनशील कुलक होता है, अर्थात् एक ऐसा कुलक जिसके सदस्य धनात्मक पूर्णांकों के साथ एकैकी संवादिता रखते हैं। यदि एक कुलक E अनंत संख्यक बिंदुओं (जो E के तत्व कहे जाते हैं) से बना हो तो बिंदु α E का सीमाबिंदु कहा जाएगा यदि, $\in > ०$ चाहे कितना भी लघु हो, कुलक E का α के अतिरिक्त एक ऐसा बिंदु अस्तित्वमय हो जिसकी α से दूरी $\in$ कम हो। एक कुलक या अनुक्रम में एक या अधिक सीमाबिंदु हो सकते हैं। यदि एक अनुक्रम $\{x_n\}$ में केवल एक सीमाबिंदु l हो तो n के अनंत की ओर अग्रसर होने पर $\{x_n\}$ सीमा l की ओर अग्रसर होगा, अर्थात् वह अनुक्रम सीमा l की ओर संसृत होगा और हम $\lim_{n \to \infty} x_n = l$ लिखेंगे। वीर्स्ट्रास ने सिद्ध किया है कि प्रत्येक परिमित अनंत कुलक में कम से कम एक सीमाबिंदु होता है।

एकस्वन वृद्धिमय अनुक्रम, जो उपरिबद्ध हो, संसृत होता है। इसी प्रकार एकस्वन ह्रासमय अनुक्रम, जो अधोबद्ध हो, संसृत होता है। किसी अनुक्रम $\{a_n\}$ की संसृति के लिये आवश्यक एवं पर्याप्त प्रतिबंध

यह है कि प्रत्येक अविहित लघु $\epsilon > 0$ के लिये एक ऐसा पूर्णांक $n_0(\epsilon)$ अस्तित्वमय होगा कि समस्त $n \geqslant n_0(\epsilon)$ के लिये $|a_{n+p} - a_n| < \epsilon$ हो जिसमें $p = 1, 2, 3, \ldots$ है। यदि $\lim_{n\to\infty} a_n = a$, $\lim_{n\to\infty} b_n = b$ हो तो $\lim_{n\to\infty}(a_n \pm b_n) = a \pm b$, $\lim_{n\to\infty} a_n b_n = ab$ और $b \neq 0$ के लिये $\lim_{n\to\infty} a_n/b_n = a/b$ होगा।

यदि $f(x)$ x का एक फलन हो तो x के a की ओर अग्रसर होने पर $f(x)$ सीमा l की ओर अग्रसर होता कहा जाता है जब कि अविहित लघु $\epsilon > 0$ के लिये एक ऐसा $\delta = \delta(\epsilon)$ अस्तित्वमय हो कि $|x - a| \leqslant \delta$ होने पर ही $|f(x) - l| < \Sigma$ हो।

सीमा या सीमाबिंदु की उपरिलिखित परिभाषाएँ दूरी की धारणा पर निर्भर हैं। हम किसी बिंदु α के Σ – पड़ोस की व्याख्या $|x - \alpha| < \epsilon$ जैसे संबंध की तुष्टि करनेवाले बिंदुओं x से करते हैं। बिंदु α किसी कुलक E का सीमाबिंदु तभी होता है जब कि α के प्रत्येक ϵ – पड़ोस में α के अतिरिक्त E का एक अन्य बिंदु भी हो। अब दूरी की धारणा से मुक्त सीमाबिंदु की व्याख्या की जायगी। माना कि A कोई कुलक है; $\{U\}$ A के उपकुलकों की ऐसी व्यवस्था है कि A का प्रत्येक बिंदु उस व्यवस्था के कम से कम एक उपकुलक में अवस्थित है और निम्नलिखित अनुबंधों की तुष्टि होती है: (१) मोघकुलक और स्वयं A $\{U\}$ में हो (२) $\{U\}$ के दो सदस्यों का छेदन $\{U\}$ में स्थित हो; और (३) $\{U\}$ के सदस्यों की कितनी भी संख्या $\{U\}$ में हो। उपकुलकों की ऐसी कोई व्यवस्था $\{U\}$ A का स्थानत्व (Topology) और स्थानत्व $\{U\}$ संयुक्त कुलक A का स्थानावकाश (Topological space) T कहा जाता है। A के तत्व T के बिंदु, व्यवस्था $[U]$ के सदस्य T के खुले कुलक और A के उपकुलक T के उपकुलक कहलाते हैं। बिंदु $x \in T$ किसी उपकुलक $E \subset T$ का सीमाबिंदु कहा जाएगा यदि प्रत्येक खुले कुलक में जो x को धारण करता है x के अतिरिक्त E का एक अन्य बिंदु भी हो। यदि हम समस्त वास्तविक संख्याओं के कुलक को A द्वारा और खुले अंतरालों को $\{U\}$ द्वारा निरूपित करें तो A एक स्थानावकाश हो जाएगा और हमें कुलक के सीमाबिंदु की पूर्वव्याख्या प्राप्त हो जायगी।

सं० ग्रं० — बर्ट्रेंड रसल : इंट्रोडक्शन टु मैथमेटिकल फिलोसफी (१६१६); जी० एच० हार्डी, प्योर मैथमैटिक्स (१६३५); ई० डब्ल्यू० हॉबसन : दि थ्योरी ऑव फंक्शंस ऑव ए रियल वैरिएबिल (प्रथम खंड, १६२७); हॉल एवं स्पेंसर, ऐलीमेंटरी टॉपोलोजी (१६५५)। [स्व० मो० शा०]

सीमुक अथवा सीमुख पुराणों के अनुसार आंध्र सीमुख सुशर्मन् के अन्य भृत्यों की सहायता से काण्वायनों का नाश कर पृथ्वी पर राज्य करेगा। पुराणों द्वारा दी गई आंध्र वंशावली के शासकों तथा उनके राज्यकाल को जोड़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सीमुक काण्वों के अंत (ई० पू० ४५) से लगभग दो शताब्दी पहले हुआ होगा और इसका मौर्य साम्राज्य के अंत में हाथ रहा होगा। पुराणों के अनुसार इसने २३ वर्ष राज्य किया। जैन स्रोतों के अनुसार उसने जैन तथा बौद्ध मंदिरों का निर्माण किया, किंतु अपने राज्यकाल के अंतिम समय अपनी निर्दयता के कारण उसका वध कर दिया गया।

सं० ग्रं० — पार्जीटर : डाइनेस्टीज़ ऑव दी कलि एज; शास्त्री, के० ए० : वी कांप्रीहेंसिव हिस्ट्री ऑव इंडिया; मजूमदार, आर० सी० : दी एज ऑव इंपीरियल यूनिटी। [बै० पु०]

सीमेंट, पोर्टलैंड (Portland Cement) के आविष्कार से पहले तक जोड़ने के काम में लाए जानेवाले पदार्थ साधारण चूना और बुझा चूना थे। पोर्टलैंड सीमेंट का आविष्कार एक अंग्रेज राज जोसेफ एस्पडिन (Joseph Aspdin) ने १८२४ ई० में किया। कठोर हो जाने के गुण तथा इंग्लैंड के पोर्टलैंड स्थान में पाई जानेवाली एक शिला के नाम पर इसका नाम 'पोर्टलैंड' सीमेंट पड़ा।

सीमेंट की विभिन्न किस्में उपलब्ध हैं। साधारण निर्माण कार्य में आम तौर पर पोर्टलैंड सीमेंट ही प्रयुक्त होता है।

पोर्टलैंड सीमेंट का निर्माण चूनापत्थर और जिप्सम के मिश्रण को एक निश्चित अनुपात में मिलाकर १४००° सें० ताप पर, जिस ताप पर प्रारंभिक गलन होता है, गरम करने से होता है। ऐसे प्राप्त अवशिष्ट राख (Clinker) को ठंढा कर, फिर पीसकर महीन चूर्ण बनाया जाता है जिसका ६०% भाग चलनी संख्या १७० (एक इंच में १७० छिद्र होते हैं) से छन जाता है। इन तीन कच्चे घटकों के अनुपात को समायोजित करने और अल्प मात्रा में अन्य रसायनकों के मिला देने से सीमेंट की विभिन्न किस्में प्राप्त की जा सकती हैं।

पोर्टलैंड सीमेंट के बड़े पैमाने पर निर्माण में जिन खनिजों का प्रयोग होता है उनमें सिलिका (SiO_2, २०—२५%), ऐल्युमिना (Al_2O_3, ४—८%), आइरन ऑक्साइड (Fe_2O_3, २—४%) चूना (६०—६५%), मैग्नीशिया (MgO, १—३%) हैं। इन्हें जलाने पर उनके बीच रासायनिक संयोजन होता है। सीमेंट के मुख्य घटक हैं, ट्राई कैल्सियम सिलिकेट ($3CaO.SiO_2$), डाइ कैल्सियम सिलिकेट ($2CaO_2.SiO_2$) तथा ट्राई कैल्सियम ऐल्युमिनेट ($3CaO\ Al_2O_3$), इसके अतिरिक्त पीसने के पूर्व इसमें लगभग ३% जिप्सम ($CaSO_4 \cdot 2H_2O$) मिलाने से सीमेंट की उत्कृष्टता बढ़ जाती है। इससे सीमेंट के जमने के समय पर नियंत्रण रखा जा सकता है।

सीमेंट में पानी मिलाने से सीमेंट जमता और कठोर होता है। इसका कारण उसके उपर्युक्त घटकों का जलयोजन और जल अपघटन है। प्रारंभिक जमाव ऐल्युमिनेट के कारण तथा इसके बाद की प्रारंभिक मजबूती प्रधानतया ट्राइ सिलिकेट के कारण होती है। डाइसिलिकेट की क्रिया सबसे मंद होती है। इसे मजबूती प्रदान करने में १४ से २८ दिन या इससे अधिक लग जाते हैं।

सीमेंट की किस्में

१. जल्द कठोर होनेवाला सीमेंट — बड़ा जल्द मजबूत हो जाता है यद्यपि इसका प्रारंभिक और अंतिम जमाव का समय सामान्य सीमेंट से कुछ अधिक होता है। इसमें ट्राइकैल्सियम सिलिकेट अधिक होता है और यह अधिक महीन पीसा जाता है। ऊष्मा का

उत्पादन तथा जमने और कठोरीकरण के समय में अधिक संकुचन के कारण इसका उपयोग बड़े पैमाने पर कंक्रीट में नहीं होता है।

२. निम्न ऊष्मा सीमेंट (Low heat Cement) — ट्राइ कैल्सियम ऐल्युमिनेट ऊष्मा विकास का प्रमुख कारण है। अतः सीमेंट में इसकी मात्रा न्यूनतम, केवल ५% ही, रखी जाती है। इस प्रकार का सीमेंट प्रारंभिक अवस्थाओं में कम मजबूत होता है। पर इसकी अंतिम मजबूती में कोई अंतर नहीं होता है।

३. उच्च ऐल्युमिना सीमेंट (High Alumina Cement) — जल्द मजबूत होने तथा रासायनिक प्रभावों के विरुद्ध दृढ़ रहने के लिये इसका उपयोग होता है, जैसे बहते हुए पानी अथवा समुद्री जल में। इसका बड़े पैमाने पर निर्माण ऐल्युमिनी (Aluminous) तथा कैल्सियमी पदार्थों के उपयुक्त अनुपात में मिश्रण को गलाने तथा बाद में उत्पाद को महीन पीसकर किया जाता है।

४. प्रसारी सीमेंट (Expanding Cement) — ऐसा सीमेंट जमाव के समय फैलता है। इसकी थोड़ी मात्रा का प्रयोग अन्य किस्म के सीमेंट में मिलाकर द्रवधारक संरचनाओं के निर्माण में किया जाता है ताकि संकुंचन और ऊष्मा के कारण कंक्रीट मे उत्पन्न होनेवाली दरारों को रोका जा सके।

५. सफेद और रंगीन सीमेंट — सीमेंट का धूसर रंग अपद्रव्य रूप मे आइरन आक्साइड (Fe_2O_3) के कारण होता है। यदि पोर्टलैंड सीमेट मे आइरन आक्साइड न हो तो सीमेंट का रंग सफेद होगा। आइरन आक्साइड के निकालने की लागत, जो प्राकृतिक पदार्थों का सामान्यतः अंग होता है, सफेद सीमेंट की कीमत को बढ़ा देती है।

सफेद सीमेंट को पीसते समय लगभग दस प्रतिशत वर्णक मिला देने से रंगीन सीमेंट तैयार होता है। धूसर सीमेंट में भूरा तथा लाल रंग सफलता से डाला जा सकता है।

सीमेंट की अन्य मुख्य किस्मे हैं, वायुमिश्रित या वायु चढ़ित सीमेट (air entrained cement), सल्फेट निरोधक सीमेंट तथा जलाभेद्य सीमेंट।

सामान्य सीमेंट के गुण — सीमेंट का घन संपीडन में बनाया जाता है। उस घन को परीक्षण मशीन में रखकर तब तक दबाया या संपीडित किया जाता है जब तक वह टूट न जाय। इससे सीमेंट की मजबूती का पता चलता है। तनन सामर्थ्य के निर्धारण के लिये मानक ईंट, जिसके कम से कम एक वर्ग इंच, को तोड़ा जाता है। पोर्टलैंड सीमेंट के तनन तथा संपीडन सामर्थ्य निम्नलिखित प्रकार है।

दिन	साधारण पोर्टलैंड सीमेंट का सामर्थ्य	
	संपीडन सामर्थ्य	तनन सामर्थ्य
३ दिनों के बाद	१,६००	३००
७ दिनों के बाद	२,५००	३७५

भारत में चूना पत्थर की अधिकता के कारण सीमेंट उद्योग का भविष्य बहुत उज्वल है। [ज० कृ०]

सीयक हर्ष मालवे में परमार राज्य की स्थापना उपेंद्र ने की थी। इसी के वंश में वैरिसिंह द्वितीय नाम का राजा हुआ जिसने प्रतिहारों से स्वतंत्र होकर धारा में अपने राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया। सफल न होने पर संभवत. उसने राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय की अधीनता स्वीकार की। सीयक हर्ष वैरिसिंह का पुत्र था। सन् ९४९ के हरसोले के शिलालेख से प्रतीत होता है कि सीयक ने भी अपने राज्य के प्रारंभ में राष्ट्रकूटों का प्रभुत्व स्वीकार किया था। किंतु उसकी पदवी केवल महामांडलिक चूड़ामणि ही नहीं महाराजाधिराजपति भी थी, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि उस समय भी सीयक हर्ष पर्याप्त प्रभावशाली था। उसने योगराज को परास्त किया। यह योगराज संभवतः महेंद्रपाल प्रतिहार के सामंत अवतिवर्मा द्वितीय (योग) का पौत्र था। योग की तरह योगराज भी यदि प्रतिहारों का सामंत रहा हो तो इसकी पराजय से राष्ट्रकूट और परमार दोनों ही प्रसन्न हुए होंगे। इसके कुछ बाद सीयक ने हूणों को भी बुरी तरह से हराया। संभवतः इन्हीं हूणों से सीयक के पुत्रों को भी युद्ध करना पड़ा हो। नवसाहसांकचरित में सीयक की रुद्रपाटी के राजा पर किसी विजय का भी उल्लेख है, किंतु रुद्रपाटी की भौगोलिक स्थिति अनिश्चित है। शायद कृष्ण तृतीय ने सीयक हर्ष की इस बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का प्रयत्न किया हो। किंतु इस प्रयत्न की सफलता संदिग्ध है। उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति ही कुछ ऐसी थी कि कोई भी साहसी और मेधावी व्यक्ति इस समय सफल हो सकता था। प्रतिहारों मे अब वह शक्ति नहीं थी कि वे अपने विरोधियों और सामंतों की बढ़ती हुई शक्ति को रोक सकें। शायद कृष्ण तृतीय के उत्तरी भारत के मामलों में हस्तक्षेप करने से प्रतिहारों की कमजोरी और बढ़ी हो और इससे सीयक हर्ष को लाभ ही हुआ हो।

सन् ९६७ में राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई खोट्टिग गद्दी पर बैठा। उचित अवसर देखकर सीयक ने राष्ट्रकूटों पर आक्रमण कर दिया, और उन्हें खलिघट्ट की लड़ाई में हराकर राष्ट्रकूट राजधानी मान्यखेट को बुरी तरह लूटा। सन् ९७४ के लगभग सीयक की मृत्यु होने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र मुंज गद्दी पर बैठा। राजा भोज इसका पौत्र था।

सं० ग्रं० — नवसाहसांकचरित; उदयपुर प्रशस्ति; गांगुली, डी० सी० : परमार राज ऑव मालवा; गौ० ही० ओझा : राजपूताने का इतिहास, जिल्द पहली। [द० श०]

सीरियम (Cerium), संकेत—सी, (Ce) परमाणुसंख्या ५८, परमाणुभार, १४०·१३। यह विरल मृदा (Rare Earths) तत्वों का एक प्रमुख सदस्य है, तथा इसके क्लोराइड को सोडियम अथवा मैगनीशियम के साथ गरम करके अथवा शुद्ध क्लोराइड को पोटैशियम और सोडियम क्लोराइड के साथ मिलाकर विद्युत् अपघटन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

सीरियम लोहे जैसा दीख पड़ता है। यह विद्युत् का कुचालक है। यह विशेष कठोर धातु नहीं है और सरलता से इसके पत्तर बनाए जा सकते हैं।

सीरियम पर गरम जल के प्रभाव से हाइड्रोजन निकलता है। शुद्ध धातु पर २६०° सें० ताप पर हाइड्रोजन प्रवाहित करने से सीरियम ट्राइहाइड्राइड और सीरियम डाईहाइड्राइड ($Ce\ H_3 + Ce\ H_2$) का मिश्रण प्राप्त होता है। २१०° सें० पर क्लोरीन बड़ी तीव्रता से क्रिया कर प्रबल सीरियम ट्राइक्लोराइड ($C_e\ Cl_3$) बनता है। तनु अथवा सांद्र हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से जलीय सीरियम क्लोराइड आसानी से बनता है। यह सल्फर, सिलीनियम तथा टेल्यूरियम से मिलकर धातु के सल्फाइड, सेलीनाइड तथा टेल्यूराइड बनाता है। तनु सल्फ्यूरिक अम्ल का इसपर प्रभाव पड़ता है, परंतु सांद्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। नाइट्रिक अम्ल सीरियम आक्साइड ($Ce\ O_2$) को अवक्षिप्त कर देता है। यह धातु नाइट्रोजन, फास्फोरस, आर्सेनिक एंटीमनी और कार्बन के साथ अति तप्त करने पर क्रमश: नाइट्राइड फॉसफाइड, आर्सीनाइड तथा कार्बाइड बनती है।

यह कई धातुओं के साथ मिलकर मिश्रधातुएँ बनाती है। मैग्नीशियम, जस्ता और ऐलुमिनियम के साथ अनेक मिश्र धातुएँ बनी हैं।

सीरीयम की दो संयोजकताएँ ३ तथा ४ हैं। इसके दो आक्साइड ($Ce\ O_3$ और $Ce\ O_2$), दो हाइड्राक्साइड $Ce\ (OH)_3$ और $Ce\ (OH)_4$ फ्लोराइड $Ca\ f_3$ क्लोराइड ($Ce\ Cl_4$) सल्फाइड ($C_2\ S_3$) सल्फेट, कार्बोनेट, नाइट्रेट, फास्फेट आदि लवण बनते हैं।

यह धातु कई द्विलवण बनाती है, जैसे $M(NO_3)_2$, $Ce(No_3)_4\ 8H_2O$ (जहाँ $M = Mg,\ Zn,\ Ni,\ Co$ या Mn)।

उपयोग — (१) गैस मैंटलों में थोरियम के साथ इसकी भी अल्प मात्रा काम में आती है। (२) सीरियम की मिश्रधातुएँ गैस लाइटर और सिगरेट लाइटर इत्यादि बनाने के काम आती हैं। (३) मैगनीशियम तथा सीरियम की मिश्रधातुएँ, फ्लेशलाइट पाउडर बनाने के उपयोग में आती हैं। (४) कुछ मिश्रधातुएँ विद्युत् इलेक्ट्रोड बनाने के काम आती हैं। (५) चश्मे के काँच बनाने में। (६) कपड़ा रँगने, चर्मकारी तथा फोटोग्राफी में यह काम आता है। [स० प्र०]

सीरिया स्थिति : लगभग ३२°३०' से ३७°१५' उ० अ० तथा ३५° १०' से ४२° ३०' पू० दे० के मध्य दक्षिणी पश्चिमी एशिया में एक स्वतंत्र अरब देश है जिसके उत्तर में टर्की, पश्चिम में लेबनान तथा भूमध्य सागर, दक्षिण मे जॉर्डन तथा इज़राइल के भाग और पूर्व में इराक है। फ़रात यहाँ की मुख्य नदी है जो यहाँ मैदानों तथा मरुस्थल से होकर दक्षिण और दक्षिण पूर्व की ओर बहती है। ऑरंटे, जॉर्डन तथा यारमुक यहाँ की अन्य नदियाँ हैं।

सीरिया के मुख्य भौगोलिक विभागों में (क) उत्तरी सीरिया के ढालू मैदान जिसे फ़रात के पूर्व फ़ज़ीरा कहते हैं, (ख) फ़रात के दक्षिण तथा पश्चिम सीरिया का मरुस्थल, (ग) हॉरन का मैदान जिसमें ड्रूज का पर्वत सम्मिलित है तथा (घ) एंटी लेबनान पर्वत जो सीरिया और लेबनान के मध्य सीमा का एक भाग है, संमिलित हैं।

भूमध्यसागरीय प्रदेश के अंतर्गत सीरिया के आंतरिक मैदानों और मरुस्थली भागों में जलवायु विषम तथा समुद्रतटीय प्रदेश में सम है। वर्षा जाड़ों में होती है। जिसमे मरुस्थली भाग का औसत १० सेमी से कम और तटीय मैदानों में १०१ सेमी से अधिक है। जाड़ों में पर्वतों पर बर्फ गिरती है। गरमियों में गरम मरुस्थली वायु चलती है जो कभी कभी सीरिया के मरुस्थलों को पार कर तटीय भागों मे पहुँच जाती है।

यहाँ के स्थायी निवासी विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं। अधिकांश निवासी अरब हैं। कुर्द, आरमीनियाई और थोड़े यहूदी जैसे लोग अन्य वर्गों के हैं। यहाँ की जनसंख्या लगभग ३७,२२,००० तथा घनत्व लगभग ३१ व्यक्ति प्रति वर्ग किमी है।

सीरिया कृषिप्रधान देश है जहाँ दो तिहाई से अधिक लोग किसान या भेड़िहारे हैं। कुछ बड़े जमींदार कृषि के आधुनिक यंत्रों का प्रयोग करने लगे हैं किंतु अधिकतर पुरानी विधियाँ ही प्रचलित हैं।

यहाँ पशुपालन के अतिरिक्त गेहूँ, जौ, चुकंदर, दलहन, तंबाकू, जैतून, कपास, फल, ऊन और साग-भाजियाँ पैदा की जाती हैं। भेड़ों से ऊन तथा मलबरी के वृक्षों पर रेशम प्राप्त किए जाते हैं। यहाँ नमक, लिगनाइट, भवननिर्माणवाले पत्थर, ऐस्फाल्ट, खड़िया मिट्टी और कुछ लौह खनिज मिलते हैं।

प्रचलित उद्योगों मे वस्त्र, साबुन, सीमेंट, खाद्य तेल तथा परिरक्षित फलों के अतिरिक्त घरेलू धंधों मे चमड़े के सामान, किमखाब और जरदोजी, धातु तथा लकड़ियों की पच्चीकारी के कार्य किए जाते है। खुले बाजारों में चाँदी, पीतल, ताँबे, चमड़े आदि के काम होते हैं।

यहाँ का व्यापार लेबनान के बंदरगाह बेरूत से होता है। यहाँ से कपास, वस्त्र, पशु तथा भोजन सामग्री का निर्यात और लकड़ी, खजूर, रसीले फल, किरोसीन, चावल, चीनी, कपड़े, मशीनें, छोटी कारें, खनिज एवं धातुओं का आयात होता है। सीरिया का अधिकाश व्यापार अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, लेबनान और निकटवर्ती पूर्वी देशों से होता है।

यहाँ ६४०० किमी से अधिक लंबी सड़कों के विकास के अतिरिक्त लेबनान, टर्की और जॉर्डन तक रेलें व मरुस्थलो मे कारवाँ मार्ग जाते हैं। दमिश्क के निकट प्रमुख अतरराष्ट्रीय एवं स्थानीय हवाई अड्डा है। मरुस्थल से होकर तेल की तीन पाइप लाइनें गई हैं।

प्रमुख नगरों में यहाँ की राजधानी और खजूर के वृक्षों तथा प्राचीन मरुस्थलीय कारवाँ का केंद्र दमिश्क, अलेप्पो, दायर-इ ज़ार, हामा, होम्ज और लकाकिया आदि हैं। [रा० स० ख०]

सील जल मे रहनेवाले स्तनीवर्ग के फोसिडी (Phocidae) कुल के नियततापी प्राणी हैं। इनके पूर्वज जमीन पर पाए जाते थे। समुद्र में सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये इनके पैर झिल्लीयुक्त हो गए हैं। पानी हवा की अपेक्षा अधिक ऊष्मा अवशोषित करता है इसलिये सील की बाह्य त्वचा के नीचे तेलयुक्त वसा से भरा स्पंजी ऊतक (spongy tissue) पाया जाता है। यह ऊतक देहऊष्मा (body heat) को बाहर जाने से रोकता है।

सील को अपने गोलाकार और धारा रेखांकित (streamlined) शरीर के कारण पानी मे तैरने में सुविधा होती है। कुछ सील थोड़ी

दूरी अत्यंत शीघ्रता से पार कर लेते हैं। ये पानी के अंदर आठ या दस मिनट तक रह सकते हैं। इनके पिछले झिल्लीयुक्त पैर पीछे की ओर मुड़े रहते हैं, जिससे उनको पानी के अंदर तैरने में सहायता मिलती है। ये पैर आगे की ओर न मुड़ सकने के कारण पानी के बाहर चलने में भी सहायक होते हैं।

सील की किस्में — सील की दो स्पष्ट किस्में होती हैं, वास्तविक सील (true seal) तथा कर्ण सील (eared seal)। वास्तविक सील के बाह्य कर्ण नहीं होते हैं। इनके कान के स्थान पर केवल छिद्र होते हैं। इनके झिल्लीयुक्त पैर मछलियों की पूँछ की तरह प्रयुक्त होते हैं। पानी के बाहर सील अपनी तुंद पेशियों (belly muscles) की सहायता से चलता है।

कर्ण सील में, जैसे जलसिंह (sea lion) तथा समूर सील (fur seal), स्पष्ट किंतु छोटे बाह्य कान होते हैं। इनके पिछले झिल्ली युक्त पैर अपेक्षाकृत लंबे होते हैं। कर्ण सील जमीन पर तेजी से चल सकते हैं। पानी में ये अपने शक्तिशाली अगले पैरों की सहायता से तैरते हैं।

वास्तविक सील, कर्ण सील की तुलना में समुद्री जीवन के लिये विशेष रूप से अनुकूलित होते हैं। वास्तविक सील अनिश्चित काल तक पानी के अंदर रह सकते हैं। इनके बच्चे, जिन्हें पिल्ला (pup) कहते हैं, कभी कभी पानी ही में पैदा होते हैं।

कर्ण सील के बच्चे अनिवार्य रूप से भूमि पर ही पैदा होते हैं, क्योंकि इनके पिल्ले पैदा होने के तुरंत बाद तैर नहीं सकते। वास्तविक सील शांत प्रकृति के होते हैं। इसके विपरीत कर्ण सील जब चट्टानी तटों पर अत्यधिक संख्या में एकत्रित होते हैं तब अत्यधिक शोर करते हैं। नर भूँकते तथा चीखते हैं। मादा तथा बच्चे गुर्राते तथा मिमियाते हैं।

सभी सीलों का सामान्य बाह्य रूप एक ही तरह का होता है परंतु उनका विस्तार भिन्न भिन्न होता है, जैसे हारबर सील (harbour seal) छह फुट लंबा और १०० पाउंड तथा एलिफेंट सील (elephant seal) १६ फुट लंबा तथा २·५ टन भारी होता है। सीलों का सामान्य रंग धूसर तथा भूरा होता है। केवल एक या दो प्रकार के ही सील गरम उपोष्ण (subtropical) सागरों में पाए जाते हैं। अधिकांश सील शीतोष्ण तथा ध्रुवी सागर (polar sea) में ही पाए जाते हैं।

समूर सील (Fur seal) — यह जलसिंह से छोटा होता है। इन दोनों में मुख्य अंतर यह है कि फर सील के बड़े रोमों के नीचे समूर (fur) पाया जाता है। इनके कीमती समूर के कारण इनका अध्ययन तथा शिकार इनकी खोज के बाद से ही होने लगा था। ये चट्टानी तटों पर मारे जाते हैं जहाँ ये गरमियों में बच्चे देने आते हैं।

वसंत ऋतु के अंत में नर सील चट्टानी तटों पर समूह में एकत्रित होकर अपने अपने पसंद का स्थान चुन लेते हैं। मादाएँ नरों के बाद आती हैं। कुछ सक्रिय नरों के निवासस्थान में ६० से ७० मादाएँ रहती हैं। नर पूरी प्रजनन ऋतु तक चट्टानी तटों पर रहता है और कई महीनों तक कुछ नहीं खाता। नर तथा मादा सील बराबर-बराबर संख्या में पैदा होते हैं। एक नर कई मादाओं के साथ मैथुन करता है। आठ वर्ष के पहले नर तथा तीन वर्ष के पहले मादा प्रजनन योग्य नहीं होतीं।

सील के उपयोग — आज भी एस्किमों अपने भोजन तथा अन्य उपयोगी वस्तुओं के लिये सील का शिकार करते हैं। सील से वे मांस तथा भोजन पकाने और प्रकाश आदि के लिये तेल प्राप्त करते हैं। सील के चर्म से कपड़े तथा तंबू (tent) बनाए जाते हैं।

आर्थिक दृष्टि से सील का शिकार उनसे चमड़े तथा तेल प्राप्त करने के लिये किया जाता है। एलिफेंट सील का शिकार केवल तेल प्राप्त करने के लिये किया जाता है। अधिकांश सील में एक बार में केवल कुछ रोम ही झड़ते हैं परंतु एलिफेंट सील की पूरी बाह्य त्वचा एक बार में ही झड़ जाती है। ऐसे समय सील समुद्र के लवणित जल में प्रवेश नहीं करता है, क्योंकि उसके त्वचा में लवणित जल से जलन पैदा होती है। जलसिंह कर्ण सील में सबसे बड़े होते हैं। इसके चर्म से जूते, कपड़े तथा दैनिक उपयोग की वस्तुएँ बनाई जाती हैं। इनकी आँत की बाहरी त्वचा से बरसाती कोट बनाया जाता है। [न० कु० रा०]

सीवान यह बिहार राज्य के सारन जिले का एक प्रमंडल है। इसकी जनसंख्या १२,११,५६२ (१९६१) है। इसका धरातल समतल मैदानी है। झरनी, दाहा तथा गंडकी, ये तीन नदियाँ इस प्रमंडल से होकर बहती हैं यह उपजाऊ क्षेत्र है। जहाँ भदई, अगहनी तथा रबी की फसलें प्रमुख हैं। ईख की भी पर्याप्त खेती होती है। आबादी बड़ी घनी है। यातायात के साधन पर्याप्त हैं। पूर्वोत्तर रेलवे की मुख्य शाखा यहाँ से गुजरती है। इसके अतिरिक्त यहाँ सड़कों का जाल बिछा है। सीवान तथा महाराजगंज दो प्रमुख नगर हैं जिनकी जनसंख्या क्रमश. २७,४०१ तथा १०,८०५ है। सीवान नगर दाहा नदी के किनारे बसा है। यहाँ सभी ओर से सड़कें तथा रेलमार्ग आकर मिलते हैं। यह छपरा, गोरखपुर तथा गोपालगंज से रेलमार्ग द्वारा संबद्ध है। [ज० सि०]

सीसा अयस्क (Lead) राजपूताना गजेटियर के अनुसार राजस्थान के झाबर क्षेत्र म सन् १३८२-९७ मे ही सीसा तथा चाँदी की खानों का अन्वेषण हो चुका था किंतु प्रथम बार राज्य द्वारा इस क्षेत्र का विधिवत् पूर्वेक्षण सन् १८७२ मे किया गया। कुछ सूत्रों से यह भी ज्ञात हुआ है कि अजमेर के समीप तारागढ़ पहाड़ियों में सीसे के निक्षेपों में अनेक वर्षों तक कार्य होता रहा है और सन् १८५७ के पूर्व जब इन खानो से उत्पादन बंद हुआ, यहाँ का उत्पादन १४,००० मन प्रति वर्ष तक पहुँच गया था। भारतीय भूतात्विक समीक्षा के अभिलेखों के अनुसार भारत मे गैलेना (PbS) की प्राप्ति अनेक भागों जैसे बिहार, उड़ीसा, हिमाचल प्रदेश एवं तमिलनाडु आदि से भी हो सकती है किंतु अभी तक विस्तृत पूर्वेक्षण कार्य पूर्ण नहीं हुआ है जिससे सीसा आदि के अयस्कों के गुप्त भंडारों का पता लग सके। अक्टूबर, १९४५ में झाबर क्षेत्र के लिये पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति, राजस्थान सरकार ने मेसर्स मेटल कॉर्पोरेशन

ऑव इंडिया लि० को दिया। इस कंपनी ने तभी से मोचिया मोगरा पहाड़ियों में विस्तृत खनन कार्य प्रारंभ कर दिया है। समीप के अन्य क्षेत्रों में भी पूर्वेक्षण किया जा रहा है। सन् १९५५-५६ तक यह कंपनी एक करोड़ से अधिक रुपए खनन एवं धातु शोधन कार्यों में लगा चुकी है। पूँजीगत माल (Capital goods), यातायात तथा अन्य साधनों की उपलब्धि में अनेक कठिनाइयाँ होते हुए भी इन खानों तथा प्रगलन संयंत्रों (Smelting Plants) का पर्याप्त विकास हुआ है। भारत में इस समय सीसा, जस्ता तथा चाँदी के पूर्वेक्षण, खनन, तथा प्रसाधन (Dressing) आदि के कार्य राजस्थान के ज़ावर क्षेत्र में ही केंद्रित हैं।

सीसा और जस्ता — खनिज प्रायः साथ साथ ही पाए जाते हैं। और बहुधा इनके साथ अल्प मात्रा में चाँदी भी प्राप्त होती है।

ज़ावर खानें — ये खानें अरावली पर्वतमाला के अंतर्गत २२° २१' उ० अ० तथा ७२° ४३' पू० दे० पर स्थित हैं। मोचिया मोगरा पहाड़ी खनन कार्य का मुख्य भाग है जो उदयपुर नगर के ठीक दक्षिण में २७ मील की दूरी पर स्थित है। पहाड़ियों की ऊँचाई घाटी तल से लगभग ४००'—५००' तक है। पेषण (Milling) कार्य के लिये जलवितरण का प्रश्न अभी तक मुख्य समस्या थी किंतु अब अवमृदा बाँध (Subsoil dam) तथा अंतःस्रावी कूपों Percolating wells) ने, जिनका निर्माण तीरी नदी नितल (Bed) पर किया गया है, इस समस्या का भी सफल समाधान कर दिया है।

ज़ावर क्षेत्र की भूतात्विक समीक्षा — विशाल क्षेत्रों में खनिजायन (Mineralization) प्राप्य है जिसमें मुख्यतः दो खनिज, ज़िंक ब्लेंड (Zinc Blende) तथा गैलेना, मिलते हैं। यह खनिज रेतमय (Siliceous) डोलोमाइट (Dolomite) में प्राप्त होते हैं। निक्षेप मुख्यतः विदर पूरण (Fissure Filling) प्रकार के हैं तथा शिलाओं के साहचर्य में फायलाइट्स (Phyllites) पाए जाते हैं। मोचिया मोगरा पहाड़ी दो मील से भी अधिक लंबाई में पूर्व पश्चिम दिशा में फैली हुई है। इसकी चौड़ाई पूर्वी किनारे पर 1½ मील से कुछ कम तथा पश्चिम में एक मील के लगभग है। मुख्य अयस्क काय (Ore body), जहाँ खनन कार्य हो रहा है, संरचना में एक कर्तन कटिबंध (Shear Zone) द्वारा प्रतिबंधित है तथा इसका विस्तार पूर्णतः पूर्व पश्चिम में है। कर्तन कटिबंध की चौड़ाई अनेक स्थानों पर भिन्न भिन्न है। प्रधान अयस्क काय सघन (Compact) है तथा ऊपरी कटिबंध में अधिक समृद्ध किंतु नीचे की ओर चौड़ी तथा कम संकेंद्रित है। अधिक पूर्व की ओर अयस्क मुख्यतः समृद्ध गोंहों (Pockets) में प्राप्त होता है। अयस्क कार्यों का उद्भव मध्यतापीय (Mesothermal) है। अयस्क खनिज, प्रतिस्थापित पट्टिकाओं, स्तरित कटिबंधों (Sheeted Zones) तथा बिखरे हुए (Disseminated) एवं व्यासृत (dispersed) सिरों के रूप में पाए जाते हैं। स्थूल दानावाला (Coarse Grained) गैलेना की विशाल गोहें सीसा समृद्ध क्षेत्र में प्राप्त होती हैं। मुख्य अयस्क खनिजों, गैलेना और स्फेलेराइट (Sphalerite) के साहचर्य में पायराइट भी अनेक स्थानों में मिलता है। स्फेलेराइट यद्यपि कुछ स्थानों पर अत्यंत संकेंद्रित है तथापि अधिकतर नियमित रूप से वितरित है। गैलेना बड़ी या छोटी गोहों में ही प्राप्य होता है। चाँदी मुख्यतः गैलेना के साथ ही ठोस विलयनों में मिलती है तथा उच्च संस्तरों (Horizons) में यह कभी कभी प्राकृत रूप (Native form) में पाट (Crack) तथा विदरों (Fissures) में पूरण (Filling) के रूप में पाई जाती है। अयस्क भंडारों, जिनकी गणना सन् १९५४ में की गई है तथा जिनमें सीसा और जस्ता दोनों ही सम्मिलित हैं, का अनुमान २५ लाख टन के लगभग है। मिश्रण में जस्ता ४·५% तथा सीसा २·३% है।

भावी योजनाएँ — ५०० टन प्रति दिन का खनन कार्यक्रम जून, १९५७ ई० से प्रारंभ हो चुका है। पेषण क्षमता (Milling Capacity) भी १९५६ ई० के प्रारंभ में ही ५०० टन प्रति दिन पहुँच चुकी है। सभी कार्यों में गति लाने के लिये आधुनिक यंत्रों का प्रयोग किया जा रहा है। विद्युत् द्वारा उत्स्फोटन (Blasting) भी अभी प्रायोगिक अवस्था में ही है। एडिट्स (Adits) के चलन (driving) द्वारा पूर्वेक्षण भी ज़ावरमाला पहाड़ी पर प्रारंभ हो चुका है। ८००—१००० फुट तक अयस्क के खनन के लिये गभीर-हीरक-व्यधन कार्य भी सन् १९५६ के नवंबर मास से मोचिया मोगरा तथा अन्य समीप के स्थानों में विकास पर है।

सीसे का शोधन झरिया के कोयला क्षेत्र स्थित टुंडू नामक स्थान पर किया जाता है जिससे लगभग २५,०० टन सीसा धातु प्राप्त होती है। यह देश की आवश्यकता से बहुत कम है और प्रति वर्ष लगभग ८,००० टन सीसा आयात करना पड़ता है। [वि० सा० दु०]

सीसा (Lead) धातु, संकेत, सो, Pb (लैटिन शब्द प्लंबम, Plumbum से) परमाणुसंख्या ८२, परमाणुभार २०७·२१, घनत्व ११·३६, गलनांक ३,२७·४° सें०, क्वथनांक १६२०° सें०। इसके चार स्थायी समस्थानिक, द्रव्यमान २०४, २०६, २०७ और २०८ और चार रेडियो ऐक्टिव समस्थानिक, द्रव्यमान २०९, २१०, २११ और २१४ ज्ञात हैं। आवर्तसारणी के चतुर्थ समूह के 'ख' वर्ग का यह अंतिम सदस्य है। इस समूह के तत्वों में यह सबसे अधिक भारी और धात्विक गुणवाला है इसकी संरचना में पुच्छद (shell) और एक बाह्य छद (shell) है। बाह्य छद में इलेक्ट्रान होते हैं जिनमें दो को यह बड़ी सरलता से छोड़ देता है। इस कारण इसके द्विसंयोजक लवण अधिक स्थायी होते हैं। चतुस्संयोजक लवण कम स्थायी होते हैं और उनकी संख्या भी कम है।

इतिहास : उपस्थिति — सीसा बहुत प्राचीन काल से ज्ञात है। इसका उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। इसका उपयोग भी ईसा के पूर्व से होता आ रहा है। मिस्रवासी इसे जानते थे और लुक फेरने में प्रयुक्त करते थे। स्पेन का सीसा निक्षेप २००० ई० पू० से ज्ञात था। यूनान में भी ५०० ई० पू० से इसका उत्पादन होता था। जर्मनी के राइन नदी और हार्ट्‌स पर्वत के आसपास ७०० से १००० ई० के बीच यह खानों से निकाला जाता था। आज सीसा का सर्वाधिक उत्पादन संयुक्त राज्य अमरीका के मिसिसिपी में होता है। अमरीका के बाद आस्ट्रेलिया (ब्रोकेन हिल जिला), मेक्सिको, कैनाडा,

जर्मनी, स्पेन, बेलजियम, बर्मा, इटली और फ्रांस आदि देशों में यह पाया जाता है। साधारणतया यह सोना, चाँदी, ताँबे और जस्ते आदि के साथ मिला रहता है।

खनिज — स्वतंत्र अवस्था में यह नहीं पाया जाता। भूपटल पर इसकी मात्रा १ प्रतिशत से कम ही पाई गई है। इसका प्रमुख खनिज गैलिना (PbS) है जिसमें सीसा अधिकतम ८६.६% रहता है। इसके अन्य खनिजों में सेरुसाइट (Cerussite, लेडकार्बोनेट) ऐंग्लीसाइट (Anglesite, लेड सल्फेट), क्रोकाइसाइट (Crocoisite, लेडक्रोमेट), मैसीकॉट (Massicot, लेड आक्साइड) कोटुनाइट (Cotunnite, लेड क्लोराइड), वुल्फेनाइट (Wulfenite, लेड मोलिबडेट), पाइरोमारफाइट (Pyromorphite, लेड फास्फो क्लोराइड), बेरिसिलाइट (Barysilite. लेड सिलिकेट) और स्टोलज़ाइट (Stolzite, लेड टंगस्टेट) है।

सीसा धातु की प्राप्ति — सीसा खनिजों में कुछ कचरे और कुछ धातुएँ जैसे ताँबा, जस्ता, चाँदी और सोना आदि प्रायः सदा ही मिले रहते हैं। कुछ अपद्रव्य तो उत्प्लावन विधि से और कुछ पीसने से निकल जाते हैं। ऐसे अंशतः शुद्ध खनिजों को प्रद्रावण भ्राष्ट्र में भर्जित करते हैं। जो भ्राष्ट्र प्रयुक्त होते हैं वे साधारणतया तीन प्रकार की चुल्ली या स्कॉच तलभ्राष्ट्र (Hearth furnace), वात भ्राष्ट्र (Blast furnace) अथवा परावर्तन भ्राष्ट्र (Reverberatory furnace) होते हैं। भ्राष्ट्र का चुनाव खनिज की प्रकृति पर निर्भर करता है। उच्च कोटि के खनिज के लिये, जिसकी पिसाई महीन हुई है और जिसमें अन्य धातुएँ प्रायः नहीं हैं, स्कॉच भ्राष्ट्र तथा निम्न कोटि के खनिजों के लिये वातभ्राष्ट्र उपयुक्त होता है। रद्दी माल और अन्य उपोत्पाद के लिये ही परावर्तक भ्राष्ट्र काम में आता है। भ्राष्ट्र में मार्जन के बाद ऐसी धातु प्राप्त होती है जिसमें अन्य धातुएँ जैसे ऐंटिमनी, आर्सेनिक, ताँबा, चाँदी और सोना आदि मिली रहती हैं। परिष्कार उपचार से अन्य धातुएं निकाली जाती हैं। अब सिल में ढालकर धातु बाजारों में बिकती है।

रासायनिक गुण — शुद्ध सीसा चाँदी सा सफेद होता है पर वायु में खुला रहने से मलिन हो जाता है। सीसा कोमल, भारी और द्रुत गलनीय होता है। ३००° से० से ऊपर यह नम्य हो जाता है और तब विभिन्न आकारों में परिणत किया जा सकता है। यह घातवर्ध्य है पर इसमें तनाव क्षमता का अभाव होता है। यह तन्य नहीं है। आक्सीकरण से इसके तल पर एक आवरण चढ़ जाता है जिसके कारण वायु का फिर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सामान्य ताप पर यह जल में घुलता नहीं पर आक्सीजनवाले जल में घुलकर हाइड्राक्साइड बनाता है। अतः पेय जल के नल के लिये यह उपयुक्त नहीं है, तनु नाइट्रिक अम्ल और उष्ण सल्फ्यूरिक अम्ल से यह आक्रांत होता है। ठंडे सलफ्यूरिक अम्ल और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की कोई क्रिया नहीं होती। मुख या नाक से शरीर में प्रविष्ट होकर यह इकट्ठा होता जाता है। पर्याप्त मात्रा में इकट्ठे होने पर 'सीसाविष' के लक्षण प्रकट होते हैं। प्रति घनफुट वायु में यदि

०.००६ मिग्रा सीसा है तो ढाई वर्ष के बाद सीसाविष के लक्षण प्रकट होते हैं।

सीसा के यौगिक — सीसा के अनेक यौगिक बनते हैं जिनमें औद्योगिक दृष्टि से कुछ बड़े महत्व के हैं।

आक्साइड — सीसे के पाँच आक्साइड बनते हैं जिनमें लिथार्ज (PbO), लेडपेराक्साइड (PbO_2) और रक्तसिंदूर (Red lead, Pb_3O_4) अधिक महत्व के हैं। लिथार्ज पीला या पांडु रंग का गंधहीन चूर्ण होता है जिसका उपयोग रबर, पेंट, काँच, ग्लेज़ और इनेमल के निर्माण में होता है। विद्युत् बैटरियों के लिये इसके पट्ट भी बनते हैं। कृमिनाशक ओषधियों और पेट्रोल की सफाई में सीसा लगता है। पिघली सीसा धातु को परावर्तक भ्राष्ट्र में ऊँचे ताप पर वायु द्वारा आक्सीकरण करने से लिथार्ज प्राप्त होता है।

रक्तसिंदूर चमकीला लाल रंग का भारी चूर्ण होता है। इसका सर्वाधिक उपयोग वर्णक के रूप में होता है। इसके लेप से लोहे और इस्पात के तलों का संरक्षण होता और उसपर मोरचा नहीं लगता है। संचय बैटरी के पट्ट में भी यह काम आता है। काँच और ग्लेज़ का निर्माण भी इससे होता है। रक्तसिंदूर का निर्माण परावर्तक भ्राष्ट्र में ऑक्सीजन के साथ ४५०°—४८०° से० के बीच सीसा के तपाने से होता है। ५००° से० से ऊपर ताप पर यह लिथार्ज में बदल जाता है। इसे पीस और छानकर पेंट में प्रयुक्त करते हैं। लेड पेराक्साइड का उपयोग दियासलाई और रंजकों के निर्माण में होता है। यह प्रबल आक्सीकारक होता है। सीसा के शेष दो आक्साइड, लेड सबआक्साइड (Pb_2O) और लेड सेस्क्विक-ऑक्साइड (Pb_2O_3) व्यापार की दृष्टि से महत्व के नहीं हैं।

लेड ऐसीटेट — लिथार्ज को ऐसीटिक अम्ल में घुलाकर गरम कर विलयन को संतृप्त बनाकर ठंडा करने से लेड ऐसीटेट के क्रिस्टल प्राप्त होते हैं। क्रिस्टल को $Pb(C_2H_3O_2)_2 3H_2O$ सीसाशर्करा भी कहते हैं। वायु में खुला रखने से क्रिस्टल प्रस्फुटित होते हैं। जल और ग्लिसरीन में यह अल्प घुल जाता है। यह स्तंभ (astringent) होता है पर विषाक्त होने के कारण इसका सेवन नहीं कराया जाता। यह पशुचिकित्सा, कपड़े की रँगाई, छींट की छपाई, रेशम को भारी बनाने और सीसा के अन्य यौगिकों के प्राप्त करने में व्यवहृत होता है। इसका एक क्षारक रूप भी होता है जो जल में जल्द घुलता नहीं, कार्बनिक पदार्थों की सफाई और विश्लेषण में यह रसायनशाला में काम आता है।

लेड कार्बोनेट — सीसा के अनेक कार्बोनेट होते हैं पर सबसे अधिक महत्व का कार्बोनेट जलयोजित क्षारक कार्बोनेट है जो सफेदा के नाम से वर्णक में बहुत बड़ी मात्रा में प्रयुक्त होता है। इसमें तलाच्छादन की क्षमता इसी प्रकार के अन्य वर्णकों से बहुत अधिक है पर टाइटेनियम आक्साइड से कम। अब सफेदा का स्थान टाइटेनियम आक्साइड ले रहा है। सफेदा में दोष यह है कि यह वायु के हाइड्रोजन सल्फाइड से लेड सल्फाइड बनने के कारण काला हो जाता है। टाइटेनियम आक्साइड में दोष यह है कि यह महँगा पड़ता है

और अभी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है। सफेदा का उपयोग पेंट के अतिरिक्त पुट्टी (Putty) सीमेंट और लेड कार्बोनेट कागज के निर्माण में भी होता है।

लेड सल्फेट — सीसा के किसी विलेय लवण के विलयन में सलफ्यूरिक अम्ल अथवा विलेय सल्फेट का विलयन डालने से अविलेय सीसा सल्फेट का अवक्षेप प्राप्त होता है। सीसा के क्षारक सल्फेट भी होते हैं। सल्फेट का निर्माण बड़ी मात्रा में भ्राष्ट्र के ऑक्सीकारक वायुमंडल में गलनांक तक गरम करने से होता है। यह सफेद चूर्ण होता है। वर्णक के अतिरिक्त इसका उपयोग संचय बैटरियों, लिथो छपाई और वस्त्रों का भार बढ़ाने में होता है।

लेड सल्फाइड — यह काला अविलेय चूर्ण होता है। इसी का प्राकृतिक रूप गैलिना है। मिट्टी के बरतनों या पोर्सिलेन पर लुक फेरने में यह काम आता है। इसके काले अवक्षेप से विलयन में सीसालवण की उपस्थिति जानी जाती है।

लेड क्रोमेट — सीसा के विलेय लवणों पर पोटैशियम या सोडियम बाइक्रोमेट के विलयन की क्रिया से लेड क्रोमेट (क्रोमपीत) और क्षारक सीसा क्रोमेट (क्रोम नारंगी) का अवक्षेप प्राप्त होता है। इनके उपयोग पेंट में होते हैं। लेड क्रोमेट को प्रशियन ब्लू के साथ मिलाने से क्रोम हरा वर्णक प्राप्त होता है। लेड सल्फेट के मिलने से लेड क्रोमेट का रंग हल्का पीला हो जाता है।

लेड नाइट्रेट — सीसा को तनु नाइट्रिक अम्ल में घुलाने से सीसा नाइट्रेट प्राप्त होता है। यह सफेद क्रिस्टलीय होता है और जल में जल्द घुल जाता है। यह स्तंभक होता है पर विषैला होने के कारण बाह्य रूप में ही व्यवहृत होता है। दियासलाई बनाने, कपड़े की रँगाई, छींट की छपाई और नक्काशी बनाने में यह काम आता है।

लेड आर्सेनाइट—सीसा अनेक आर्सेनाइट बनाता है जिनमें सीसा हाइड्आर्सेनाइट ($Pb H As O_4$) सबसे अधिक महत्व का है। कृमिनाशक ओषधियों में यह काम आता है, विशेष रूप से पेड़ में लगे कीड़े इसी से मारे जाते हैं। लिथार्ज पर आर्सेनिक अम्ल और अम्प नाइट्रिक अम्ल की क्रिया से यह बनता है। क्रिया संपन्न हो जाने पर उत्पाद को छानते, धोते और सुखाते हैं।

सीसा के अन्य लवणों में लेड बोरेट [$Pb (BO_2)_2 H_2O$] पेंट और वार्निश में शोषक के रूप में और काँच, ग्लेज़, चीनी बर्तन पोर्सिलेन इत्यादि पर लेप चढ़ाने में काम आता है। सीसा क्लोराइड ($PbCl_2$) मरहम बनाने और क्रोमपीत बनाने में काम आता है। सीसा टेट्राएथिल $Pb (C_2 H_5)_4$ बहुत विषैला पदार्थ है पर इसका उपयोग आजकल बहुत बड़ी मात्रा में पेट्रोल या गैसोलिन में प्रत्याघाती (anti knock) के रूप में होता है। विषैला होने के कारण इसके व्यवहार में सावधानी बरतने की आवश्यकता पड़ती है।

सीसा के उपयोग—सीसा बहुत बड़ी मात्रा में खपता है। यह धातु मिश्रधातु के रूप में और यौगिकों के रूप में व्यवहृत होता है। सीसा की चादरें, सिंक, कुंड, सल्फ्यूरिक अम्ल निर्माण के सीसकक्ष और कैल्सियम फास्फेट उर्वरक निर्माण के पात्रों आदि में अस्तर देने में काम आती हैं। संक्षारक द्रवों और अवशिष्ट पदार्थों के परिवहन में इसके नल इस्तेमाल होते हैं। टेलीफोन केबल के ढकने में, भू-गर्भस्थित वाहक नलियों के निर्माण में, गोलों (shots), गुलिकाओं, गोलियों (bullets), संचायक बैटरियों, बैटरी के पट्टों और पत्तियों के निर्माण में यह काम आता है। एक्सरे और रेडियो ऐक्टिव किरणों से बचाव के लिये इसकी चादरें काम आती हैं क्योंकि इन किरणों को सीसा अवशोषित कर लेता है। इसकी अनेक महत्व की मिश्र धातुएँ बनती हैं। अल्प ताँबे की उपस्थिति से संक्षारण प्रतिरोध, कड़ापन और तनाव सामर्थ्य बढ़ जाता है। ऐंटीमनी की उपस्थिति से भी कठोरता, कड़ापन, और तनाव सामर्थ्य बढ़ जाता है। अल्प टेल्यूरियम के रहने से संक्षारण प्रतिरोध, विशेषतः ऊँचे ताप पर, बहुत बढ़ जाता है। इसकी मिश्र धातुएँ सोल्डर (टाँके का मसाला), बेयरिंग धातुएँ, टाइप, लिनोटाइप धातुएँ, प्यूटर (Pewter), ब्रिटानिया धातु, द्रावक धातु, ऐंटीमनी सीसा और निम्न ताप द्रवणांक धातुएँ अधिक महत्व की हैं। इसकी मिश्रधातु पाईप बनाने में काम आती है।

इसके लवणों में सबसे अधिक मात्रा में सफेदा प्रयुक्त होता है। लिथार्ज, सीस पेराक्साइड, सीस ऐसीटेट, सीस आर्सेनाइट, सीस क्रोमेट, सीस सल्फेट, सीस नाइट्रेट, सीस टेट्राएथिल इत्यादि इसके अन्य लवण हैं जो विभिन्न कामों में पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त होते हैं।

[स० व०]

सुंदरगढ़ जिला, भारत के उड़ीसा राज्य में स्थित है। इसके उत्तर में बिहार राज्य, पश्चिम में मध्यप्रदेश राज्य, दक्षिण में संबलपुर, पूर्व में क्योंझरगढ़ तथा पूर्वोत्तर में मयूरभंज जिले हैं। इसका क्षेत्रफल लगभग ६,६०० वर्ग किमी एवं जनसंख्या ७,५८,६१७ (१९६१) है। सुंदरगढ़ एवं राउरकेला जिले के प्रमुख नगर हैं। सुंदरगढ़ जिले का प्रशासनिक नगर है।

[अ० ना० मे०]

सुंदरदास ये निर्गुण भक्त कवियों में सबसे अधिक शास्त्रनिष्णात और सुशिक्षित संत कवि थे जिनका जन्म जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी द्यौसा में रहनेवाले खंडेलवाल वैश्य परिवार में चैत्र शुक्ल ६, सं० १६५३ वि० को हुआ था। माता का नाम सती और पिता का नाम परमानंद था। ६ वर्ष की अवस्था में ये प्रसिद्ध संत दादू के शिष्य बने और उन्हीं के साथ रहने भी लगे। दादू इनके अद्भुत रूप को देखकर इन्हें 'सुंदर' कहने लगे थे। चूँकि सुंदर नाम के इनके एक और गुरुभाई थे इसलिये ये छोटे सुंदर नाम से प्रख्यात थे। जब सं० १६६० में दादू की मृत्यु हो गई तब ये नराना से जगजीवन के साथ अपने जन्मस्थान द्यौसा चले आए। फिर सं० १६६३ वि० में रज्जब और जगजीवन के साथ काशी गए जहाँ वेदांत, साहित्य और व्याकरण आदि विषयों का १८ वर्षों तक गंभीर अनुशीलन परिशीलन करते रहे। तदनंतर इन्होंने फतेहपुर (शेखावटी) में १२ वर्ष योगाभ्यास में बिताया। इसी बीच वहाँ के स्थानीय नवाब अलिफ खाँ से, जो सुकवि भी थे, इनका मैत्रीभाव स्थापित हुआ। ये पर्यटनशील भी खूब थे। राजस्थान, पंजाब, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, गुजरात, मालवा और बदरीनाथ आदि नाना स्थानों

का भ्रमण करते रहे। हिंदी के अतिरिक्त इन्हें संस्कृत, पंजाबी, गुजराती, मारवाड़ी और फारसी आदि भाषाओं की भी अच्छी जानकारी थी। सर्वथा स्त्रीचर्चा से दूर रहकर ये आजीवन बालब्रह्मचारी रहे। इनका स्वर्गवास कार्तिक शुक्ल ८, सं० १७४६ वि० को साँगानेर नामक स्थान में हुआ।

छोटी बड़ी सभी कृतियों को मिलाकर सुंदरदास की कुल ४२ रचनाएँ कही गई हैं जिनमें प्रमुख हैं 'ज्ञानसमुद्र', 'सुंदरविलास', 'सर्वांगयोगप्रदीपिका', 'पंचेंद्रियचरित्र', 'सुखसमाधि', 'अद्भुत उपदेश', 'स्वप्नप्रबोध', 'वेदविचार', 'उक्त अनूप', ज्ञानझूलना' 'पंचप्रभाव' आदि।

सुंदरदास ने अपनी अनेक रचनाओं के माध्यम से भारतीय तत्वज्ञान के प्रायः सभी रूपों का अच्छा दिग्दर्शन कराया। इनकी दृष्टि में अन्य सामान्य संतों की भाँति ही सिद्धांत ज्ञान की अपेक्षा अनुभव ज्ञान का महत्व अधिक था। ये योग और अद्वैत वेदांत के पूर्ण समर्थक थे। ये काव्यरीतियों से भली भाँति परिचित रससिद्ध कवि थे। इस अर्थ में ये अन्य निर्गुणी संतों से सर्वथा भिन्न ठहरते हैं। काव्यगरिमा के विचार से इनका 'सुंदरविलास' बड़ा ललित और रोचक ग्रंथ है। इन्होंने रीतिकवियों की पद्धति पर चित्रकाव्य की भी सृष्टि की है जिससे इनकी कविता पर रीतिकाव्य का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। परिमार्जित और सालंकार ब्रजभाषा में इन्होंने भक्तियोग, दर्शन, ज्ञान, नीति और उपदेश आदि विषयों का पांडित्यपूर्ण प्रतिपादन किया है। शास्त्रज्ञानसंपन्न और काव्यकलानिपुण कवि के रूप में सुंदरदास का हिंदी संत-काव्य-धारा के कवियों में विशिष्ट स्थान है। [रा० फे० मि०]

सुंदर बन सुंदर बन पश्चिमी बंगाल तथा पूर्वी पाकिस्तान में एक विशाल जंगली तथा दलदली क्षेत्र है। इसका विस्तार बंगाल की खाड़ी के तट पर हुगली नदी के मुहाने से मेघना के मुहाने तक १७० मील तथा उत्तर दक्षिण ६६ किमी से १२८ किमी तक है। यह २१° ३१' से २२° ३८' उ० अ० तक तथा ८८° ५' से ९०° २८' पू० दे० तक लगभग १६७०६ वर्ग किमी क्षेत्र में विस्तृत है। इसका नाम इस जंगल में मिलनेवाले 'सुंदरी' वृक्षों के आधार पर पड़ा है। इसके अतिरिक्त गोरान, गेवा, बैन तथा कुंडाल नामक वृक्ष मिलते हैं। संपूर्ण क्षेत्र उत्तर दक्षिण बहनेवाली हुगली, माल्टा, रायमंगल, मालंचा हरिणघारा, मेघना तथा इसकी अनेक शाखाओं से घिरा हुआ है। नदियों में ज्वार आने से यह क्षेत्र पूर्णतः दलदलों तथा बीच बीच में ऊँची जमीन से भरा हुआ है। यहाँ जंगली जानवर अधिक मिलते हैं। बाघ, दरियाई घोड़े, भैंसे, सुअर, हरिण, मगर, गेहुअन सर्प तथा अन्य भयानक जंतु मिलते हैं। अभी तक सुंदरबन अपनी प्राकृतिक अवस्था में है तथा यहाँ विकास का कोई प्रयास नहीं हुआ है।

[ज० सिं०]

सुंदरलाल होरा (सन् १८९६-१९५५) भारतीय प्राणिविज्ञानी का जन्म पश्चिमी पंजाब (अब पाकिस्तान) के हाफिजाबाद नामक कस्बे में हुआ था। पंजाब विश्वविद्यालय की एम० एस-सी० परीक्षा में आपने प्रथम स्थान प्राप्त किया तथा आपको मैकलैगन पदक और अन्य संमान प्राप्त हुए। सन् १९१९ में आप भारत के जूलॉजिकल सर्वे विभाग में नियुक्त हुए। सन् १९२२ में पंजाब विश्वविद्यालय और सन् १९२८ में एडिनबरा विश्वविद्यालय से आपने डी० एस-सी० की उपाधियाँ प्राप्त कीं।

आपके जैविक तथा मत्स्य विज्ञान संबंधी अनुसंधान बहुत महत्वपूर्ण थे और इनके लिये आपको भारतीय तथा विदेशी वैज्ञानिक संस्थाओं से संमानित उपाधियाँ तथा पदक प्राप्त हुए। आपके लगभग ४०० मौलिक लेख भारतीय तथा विदेशी वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। प्राणिविज्ञान के लगभग सभी पक्षों पर आपने लेख लिखे हैं। प्राचीन भारत में मत्स्य तथा मत्स्यपालन विज्ञान संबंधी आपके अनुसंधान विशेष महत्व के थे। आपने भारत के जूलॉजिकल सर्वे विभाग को मत्स्य संबंधी अनुसंधान कार्य का केंद्र बना दिया।

आप एडिनबरा की 'रॉयल सोसायटी', लंदन की 'जूलॉजिकल सोसायटी,' लंदन के 'इंस्टिट्यूट ऑव बायलॉजी', तथा अमरीका की 'सोसायटी ऑव इक्थियोलॉजिस्ट्स ऐंड हर्पेटोलॉजिस्ट्स' के सदस्य थे। आप 'एशियाटिक सोसायटी' के वरिष्ठ सदस्य निर्वाचित हुए। इस संस्था ने आपको 'जयगोविंद विधि' पदक प्रदान किया तथा कई वर्ष तक आप इस संस्था के उपाध्यक्ष रहे। भारत के 'नेशनल इंस्टिट्यूट ऑव सायंस' के आप संस्थापक सदस्य तथा सन् १९५१ और १९५२ में उसके अध्यक्ष रहे। ये भारत की 'नेशनल जिऑग्रैफिकल सोसायटी' के सदस्य तथा उसके जवाहरलाल पदक के प्राप्तकर्ता, 'भारतीय जूलॉजिकल सोसायटी' के सदस्य तथा इसके सर दोराबजी ताता पदक के प्रापक थे। 'बॉम्बे नैचुरल हिस्ट्री सोसायटी' के भी आप सदस्य निर्वाचित हुए। इन वैज्ञानिक संस्थाओं के अलावा आप अनेक अन्य वैज्ञानिक और समुद्र विज्ञान तथा मत्स्य विज्ञान से संबंधित संस्थाओं के संमानित सदस्य थे।

आप 'इंडियन सायंस कांग्रेस' के प्राणिविज्ञान अनुभाग के सन् १९३० में तथा सायंस कांग्रेस के सन् १९५४ में अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे। इस संस्था द्वारा प्रकाशित 'भारतीय क्षेत्र विज्ञानों की रूपरेखा' (An Outline of Field Sciences in India) के आप संपादक भी थे। [भ० दा० व०]

सुकथंकर, विष्णु सीताराम (१८८७-१९४३) प्रारंभिक शिक्षा मराठा हाईस्कूल तथा सेंट जेवियर कालेज (बंबई) मे प्राप्त करने के बाद ये कैंब्रिज चले गए, जहाँ इन्होंने गणित में एम० ए० किया। तत्पश्चात् इनका रुझान भाषाविज्ञान एवं संस्कृत साहित्य के अध्ययन की ओर हो गया और ये बर्लिन जा पहुँचे। वहाँ इन्हें प्रोफेसर लुडर्स के अधीन भाषाविज्ञान की विधाओं में अच्छा प्रशिक्षण प्राप्त हुआ। इनके शोध प्रबंध का शीर्षक था 'डाई ग्रैमेटिक शाकटायनाज'। इसमें इन्होंने शाकटायनकृत व्याकरण के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का सटीक विवेचन किया। भारत लौट आने के बाद इनकी नियुक्ति पुरातत्वीय पर्यवेक्षण विभाग में सहायक अधीक्षक के पद पर हो गई। यहाँ इन्होंने कितने ही पूर्वमध्यकालीन शिलालेखों

का उद्‌वाचन और स्पष्टीकरण किया तथा उसे 'एपिग्रैफिया इंडिका' में प्रकाशित कराया। इसके सिवा इन्होंने सातवाहन राजवंश के इतिहास पर कई महत्वपूर्ण लेख लिखे और महाकवि भास आदि का सम्यक् विवेचन किया।

श्री सुकथंकर की प्रतिभा का पूर्ण विकसित रूप उस समय प्रकट हुआ जब सन् १९२५ में इन्होंने भांडारकर प्राच्य अनुसंधानशाला में 'महाभारत मीमांसा' के प्रधान संपादक के रूप में काम करना प्रारंभ किया। इन्होंने बड़े धैर्य और बड़े परिश्रम के साथ कार्य करते हुए अद्‌भुत समीक्षात्मक विदग्धता का परिचय दिया और मूल पाठ-संबंधी विवेचन की ऐसी विधाएँ प्रस्तुत कीं जिनका प्रयोग उस महाकाव्य के संपादन में कारगर रूप से किया जा सकता था। इनका शुरू में ही यह विश्वास हो गया था कि शास्त्रीय भाषाविज्ञान के जो सिद्धांत यूरोप में निश्चित हो चुके हैं, वे उनके लक्ष्य के लिये पूर्णतः उपयोगी नहीं हो सकते। इनका उद्देश्य इस ग्रंथ के उस प्राचीन मूल पाठ का निर्धारण करना था, जो उपलब्ध विभिन्न पांडुलिपियों के पाठभेदों का उदारतापूर्वक किंतु सावधानी से प्रयोग करने पर उचित जान पड़े। महाभारत मीमांसा (१९३३) के उपोद्‌घात में इन्होंने इस संबंध में अपने विचार बड़ी योग्यता से प्रस्तुत किए हैं। इस ग्रंथ के लिये दो पर्वों — आदि पर्व तथा आरण्यक पर्व — का संपादन उन्होंने स्वयं किया था।

बंबई विश्वविद्यालय के तत्वावधान मे श्री सुकथंकर महाभारत पर चार व्याख्यान देनेवाले थे किंतु तीसरे व्याख्यान के ठीक पहले उनका देहावसान हो गया। ये व्याख्यान इनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित किए गए। वास्तव में इनके निधन के दो वर्ष के भीतर ही इनकी सभी रचनाएँ दो जिल्दों में प्रकाशित कर दी गईं। ये अमरीकी प्राच्य संस्था के संमानित सदस्य थे तथा प्राग के भी प्राच्य संस्थान के सदस्य थे। [आर० एन० दां०]

सुकरात (४६९-३९९ ई० पू०) से पहले यूनानी दर्शन यूनानियों का विवेचन था, यूनान का दर्शन नहीं था। सुकरात के साथ वह यूनान का दर्शन बना, और एथेंज को दार्शनिक विवेचन की राजधानी बनने का गौरव प्राप्त हुआ। सुकरात का विशेष महत्व यह है कि उसके विचारों ने प्लेटो और अरस्तू की महान् कृतियों के लिये मार्ग साफ किया। इन तीनों विचारकों ने पश्चिम की संस्कृति पर ऐसी छाप लगा दी जो शताब्दियाँ बीतने पर भी तनिक मंद नहीं हुई। स्वयं सुकरात का विवेचन सोफिस्ट विचारों की प्रतिक्रिया था। इस विवाद ने पश्चिमी दर्शन को एक नए मार्ग पर डाल दिया।

पूर्व के विचारकों के लिये दार्शनिक विवेचन का प्रमुख विषय सृष्टिरचना था। सोफिस्टों और सुकरात ने मनुष्य को इस विवेचन में केंद्रीय विषय बना दिया। सोफिस्ट मत प्रोटैगोरस के एक कथन में समाविष्ट है —

मनुष्य सभी वस्तुओं की माप है, ऐसी कसौटी है जो निर्णय करती है कि किसी वस्तु का अस्तित्व है या नहीं।

कौन मनुष्य? मानवजाति, बुद्धिमान् वर्ग, या व्यक्ति? प्रोटोगोरस ने यह गौरव का पद व्यक्ति को दिया। मेरे लिये वह सत्य है, जो मुझे सत्य प्रतीत होता है, मेरे साथी के लिये वह सत्य है जो उसे सत्य प्रतीत होता है। इसी प्रकार की स्थिति शुभ और अशुभ की है। जो कुछ किसी मनुष्य को सुखद प्रतीत होता है, वह उसके लिये शुभ है। सुकरात ने कहा कि इस विचार के अनुसार तो सत्य और शुभ का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। उसने विशेष के मुकाबले में सामान्य का महत्व बताया, आत्मपरकता के मुकाबले में वस्तुपरकता को प्रथम पद दिया। सुकरात ने विचार को दर्शन का मूल आधार बनाया, उसने यूनान को विचार करना सिखाया। सत्य ज्ञान इंद्रियों के प्रयोग से प्राप्त नहीं होता, वह सामान्य प्रत्ययों पर आधारित है।

नीति के संबंध में उसने सदाचार और ज्ञान को एक वस्तु बताया। इसका अर्थ यह था कि कोई कर्म शुभ नहीं होता, जब तक उसके करनेवाले को उसके शुभ होने का ज्ञान न हो, यह भी कि ऐसा ज्ञान होने पर व्यक्ति के लिये यह संभव ही नहीं होता कि वह शुभ कार्य न करे। बुरा कर्म सदा अज्ञान का फल होता है। राजनीति में इस नियम को लागू करने का अर्थ यह था कि बुद्धिमान् मनुष्यों को ही शासन करने का अधिकार है। धर्म के क्षेत्र मे भी बुद्धि का उचित भाग है; कोई धारणा केवल इसलिये मान्य नहीं हो जाती कि वह जनसाधारण में मानी जाती है या मानी जाती रही है।

सुकरात ने कोई लिखित रचना अपने पीछे नहीं छोड़ी। उसकी सारी शिक्षा मौखिक होती थी। युवकों का उसपर अनुराग था। नागरिकों में बहुत से लोग उसे एक उत्पात समझते थे। ७० वर्ष की उम्र में उसके ऊपर निम्न आरोपों के आधार पर मुकदमा चला—

१—वह जातीय देवताओं को नहीं मानता।

२—उसने नए देवता प्रस्तुत कर दिए हैं।

३—वह युवकों के आचार को भ्रष्ट करता है।

सुकरात ने अपनी वकालत आप की। यूनान में वकीलों की प्रथा नहीं थी। ५०० से अधिक नागरिक न्यायाधीश थे। बहुमत ने उसे दोषी ठहराया और मृत्यु का दंड दिया। जीवन का अंतिम दिन उसने आत्मा के अमरत्व की व्याख्या में व्यतीत किया। सुननेवाले रोते थे पर सुकरात का मन पूर्णतः शांत था। जीवन का यह अंतिम दिन उसके सारे जीवन का नमूना था। ऐसे शानदार जीवन और ऐसी शानदार मृत्यु के उदाहरण इतिहास में बहुत कम मिलते हैं।

सुकरात की शिक्षा की बाबत हमें तीन समकालीन लेखकों की रचनाओं से पता लगता है—प्लेटो के संवाद सुकरात का आदर्शीकरण हैं; जीनोफन ने उसकी प्रशंसा की है, परंतु वह उसके दार्शनिक विचारों को समझता नहीं था; अरिस्टोफेनीज ने उसे हँसी मजाक का विषय बनाने का यत्न किया है। पीछे अरस्तू ने जो कुछ कहा, उसका विशेष ऐतिहासिक महत्व समझा जाता है। [दी० चं०]

सुकेशी १. धनाध्यक्ष कुबेर की सभा की एक अप्सरा। अलकापुरी की अप्सराओं में इसका विशेष स्थान था। इसने महर्षि अष्टावक्र के स्वागत समारोह में कुबेर के सभाभवन में नृत्य किया था (म० भा० सभा० १९-४५)।

२. श्रीकृष्ण की प्रेयसी जो गांधारराज की कन्या थीं। इन्हें श्रीकृष्ण ने द्वारका में ठहराया था। [चं० भा० पां०]

सुगंध का ज्ञान मानव को बहुत प्राचीन काल से है। संसार के सभी प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है। उस समय इसका घनिष्ट संबंध अंगरागों से था जैसा आज भी है। धार्मिक कृत्यों में किसी न किसी रूप में इसका व्यवहार बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है। मिस्रवासी सुगंध का उपयोग तीन उद्देश्यों से करते थे, एक देवताओं पर चढ़ाने के लिये, दूसरे व्यक्तिगत व्यवहार के लिये और तीसरे शवों को सुरक्षित रखने के लिये। अनेक पादपों के पुष्पों, पत्तों, छालों, काष्ठों, जड़ों, कंदों, फलों, बीजों, गोंदों तथा रेजिनों में सुगंध होती है। सुगंध या तो गंध तेल के रूप में या अनेक ग्लाइकोसाइडों के रूप में रहती है। वैज्ञानिकों ने इनका विस्तृत अध्ययन किया है, उनकी प्रकृति का ठीक ठीक पता लगाया है और प्रयोगशाला में उन्हें प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है। प्राय: सभी प्राकृतिक सुगंधों की नकलें कर ली गई हैं और कुछ ऐसी भी सुगंधें तैयार हुई हैं जो प्रकृति में नहीं पाई जातीं। अनुसंधान से पता लगा है कि ये सुगंध अम्ल, ऐल्कोहल, ऐस्टर, ऐल्डीहाइड, कीटोन, ईथर टरपीन और नाइट्रो आदि वर्ग के विशिष्ट कार्बनिक यौगिक होते हैं। आजकल जो सुगंधें बाजारों में प्राप्त होती हैं वे तीन प्रकार की होती हैं। एक प्राकृतिक, दूसरी अर्धप्राकृतिक या अर्धसंश्लिष्ट और तीसरी संश्लिष्ट। प्राकृतिक सुगंधों में वनस्पतियों से प्राप्त गंध तेलों के अतिरिक्त कुछ, जैसे ऐंबरग्रीस (ह्वेल मछली से), कस्तूरी (कस्तूरी मृग के कूपों से), मर्जारी कस्तूरी (मार्जार से) आदि जतुओं से भी प्राप्त होती हैं।

पादपों से सुगंध प्राप्त करने की साधारणतया चार रीतियाँ काम में आती हैं: १ — वाष्प द्वारा आसवन से, २ — विलायकों द्वारा निष्कर्षण से, ३ — निचोड़ और ४ — एक विशिष्ट विधि से जिसे आनफलराज (Enflurage) कहते हैं। अंतिम विधि से ही भारत मे नाना प्रकार के अतर तैयार होते हैं। गुलाब, बेला, जूही, चमेली, नारंगी, लवेंडर, कंदिल और वायोलेट आदि फूलो से, नारगी और नीबू के छिलकों, सौंफ, धनियाँ, जीरा, मंगरैल, आजवाइन के बीजो से, खस और ओरिस (orris) की जड़ो से, चदन के काठ से, दालचीनी एवं तेजपात वृक्ष के छालों से, सिट्रोनेला, पामरोजा, जिरेनियम आदि घासों से (इन्हीं विधियों से) गंध तेल प्राप्त होते हैं। विलायक के रूप में पेट्रोलियम, ईथर, एल्कोहल, बेंजीन का साधारणतया व्यवहार होता है। अर्धसंश्लिष्ट सुगंधों में वैनिलिन, अल्फा-बीटा तथा मेथिल आयोनोन हैं। संश्लिष्ट सुगंधों मे बेंजोइक एवं फेनिलऐसीटिक सदृश अम्ल, लिनेलूल टरमिनियोल सदृश ऐल्डीहाइड, ऐमिल सैलिसीलेट, बेंजील ऐसीटेट सदृश ऐस्टर, डाइफेनिल आक्साइड सदृश ईथर, आयोनोन कपूर सदृश कीटोन और ९ : ४ : ६ : डाइनाइट्री टर्शियरी ब्यूटिल टोल्विन तथा नाइट्रोबेंजीन सदृश नाइट्रो यौगिक हैं।

व्यवहार में आनेवाले सुगंध के तीन अंग होते हैं, एक गंध तेल, दूसरे स्थिरीकारक और तीसरे तनुकारक। गंध तेल तीव्र गंधवाले और कीमती होते हैं। ये जल्द उड़ भी जाते हैं। इनको जल्द उड़ने से बचाने के लिये स्थिरीकारकों का व्यवहार होता है। तनुकारकों से गंध की तीव्रता कम होकर अधिक आकर्षक भी हो जाती है और इसकी कीमत में बहुत कमी हो जाती है। स्थिरीकारकों का उद्देश्य की गंध को उड़ने से बचाने के अतिरिक्त कीमत का कम करना भी होता है। कुछ स्थिरीकारक गंधवाले भी होते हैं। सुगंध में साधारणतया गंध तेल और स्थिरीकारक १० प्रतिशत और शेष ९० प्रतिशत तनुकारक रहते हैं।

स्थिरीकारकों के रूप में अनेक पदार्थों का व्यवहार होता है। इनमें कस्तूरी, कृत्रिम कस्तूरी, मस्क अंब्रेट, मस्क कीटोन, मस्क टोल्विन, मस्का जाइलीन, ऐंबरग्रीस, ओलियोरेजिन, रेज़िन तेल, चंदन तेल, गोंद के आसुत उत्पाद, द्रव ऐंबरा लैबडेनम तेल, पिपरानल, कुमेरिन, बेंजाइल सिनमेट, मेथाइल सिनिमेट, बेंजाइल आइसोयूजेनोल, बेंजोफीनोन, वैनिलिन, एथिलसिनेमेट, हाइड्राक्सी सिट्रोनेलोल, बेंजील सैलिसिलेट इत्यादि हैं। तनुकारकों में ऐथिल ऐल्कोहल, बेंजाइल ऐल्कोहल, एमिल बेंजोएट, बेंजाइल बेंजोएट, डाइएथिल थैलेट, डाइमेथाइल थैलेट और कुछ ग्लाइकोल रहते हैं।

कुछ सुगंध जल के रूप में भी व्यापक रूप से व्यवहृत होते हैं। ऐसे जलों में गुलाब के जल, केवड़े के जल, यू॰डी॰ कोलन, और लवेंडर जल इत्यादि हैं। इनमें कुछ तो, जैसे गुलाबजल, सीधे फूलों से प्राप्त होते हैं और कुछ संश्लिष्ट सुगंधों से प्राप्त किए जाते हैं।

कुछ सुगंध केवल गंध के लिये इस्तेमाल होते हैं। कुछ साबुन, केशतेल, अंगराग सदृश पदार्थों को सुगंधित बनाने में प्रचुरता से प्रयुक्त होते हैं। कुछ सुगंध जैसे नीबू के और नारंगी के छिलके के तेल, स्वाद के लिये, कुछ सुगंध जैसे वैनिलिन, ऐंजेलिका तेल तथा धनियाँ तेल गंध और स्वाद दोनों के लिये प्रयुक्त होते हैं। मलाई के बरफ बनाने में वैनिलिन का विशेष स्थान है। पिपरमेंट का तेल स्वाद के साथ साथ ओषधियों में भी प्रयुक्त होता है, अनेक गंध तेल आज ओषधियों के काम आते हैं, पहले जहाँ उनके निष्कर्ष का ही व्यवहार होता था। कुछ सुगंध जीवाणुनाशक और कीटनिष्कासक भी होते हैं तथा वे मच्छर, दंश और मक्खी सदृश कीटों को भगाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। धूप, गुग्गुल, कपूर और लोबान सदृश सुगंधों का धर्मकृत्यों में विशेष स्थान है। (देखें, तेल वाष्पशील)।

[ल॰ श॰ शु॰]

सुग्रीव बालि का छोटा भाई और वानरों का राजा। बालि के भय से यह किष्किंधा में रहता था और हनुमान का परम मित्र था। इसे सूर्य का पुत्र और इसीलिये रविनंदन कहते हैं। कहते हैं, सुग्रीव को अपना रूप परिवर्तन करने की शक्ति प्राप्त थी। सुग्रीव की स्त्री का नाम रूमा था और बालि के मरने पर उसकी पत्नी तारा भी सुग्रीव की रखेल हो गई थी। [रा॰ द्वि॰]

सुजान सिंह बुंदेला, राजा राजा पहाड़ सिंह बुंदेला का पुत्र। पिता के जीवनकाल में मुगल सम्राट् शाहजहाँ का सेवक हो गया। पिता की मृत्यु के पश्चात् इसको दो हजारी २००० सवार मंसबदार बनाया गया। औरंगजेब के सिंहासनारूढ होने पर यह शाहशुजा के विरुद्ध युद्ध में नियुक्त हुआ। मुअज्जम खाँ के साथ कूचबिहार के जमींदार को दंड देने के लिये भेजा गया। आसाम पर कई आक्रमण

करके इसने कुछ शौर्य दिखाया। मिर्जा राजा जयसिंह के साथ जाकर पुरंदर दुर्ग को इसने जीता। प्रसादस्वरूप इसका मंसब बढ़ाकर तीन हजारी तीन हजार सवार का कर दिया गया। इसके बाद आदिलशाहियों के विरुद्ध युद्ध में वीरता दिखाई और चाँदा (बरार के निकट) प्रांत पर अधिकार करने के लिये भेजा गया। १६६८ ई० के लगभग इसकी मृत्यु हुई।

सुजुकी देइसेत्सु (१८७०—१९६६) जापान के बौद्ध साहित्य एवं दर्शन के विश्वविख्यात विद्वान्। आपने बौद्ध धर्म में प्रचलित 'ध्यान संप्रदाय' को नवीन रूप प्रदान किया है। जापान में यह संप्रदाय 'ज़ेन' सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। वैसे तो जापान में ज़ेन संप्रदाय की स्थापना 'ऐई साई' (११४१-१२१५) ने की, जो कर्मकांड आदि को हेय समझकर ध्यान एवं आत्मसंयम को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे—किंतु जापानी दार्शनिक डा० सुजुकी ने ज़ेन संप्रदाय की इस मौलिक विचारधारा को और भी परिमार्जित कर आगे बढ़ाया। वे मानते थे कि दर्शन और धर्म का लौकिक उद्देश्य भी है।

डॉ० सुजुकी का जन्म कनज़ावा (जापान) में हुआ। प्रारंभिक अध्ययन के बाद आप सन् १८९२ में तोक्यो विश्वविद्यालय से स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण कर उच्च अध्ययन के लिये १८९७ में अमरीका गए। वहाँ आपने अध्ययन के साथ साथ बौद्धधर्म एवं उदार चीनी दर्शन ताओवाद (Taoism) के अनेक ग्रंथों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। सन् १९०९ में जापान लौटने पर सुजुकी पीअर विश्वविद्यालय (गाकाशुईन) में अंग्रेजी भाषा के अध्यापक नियुक्त हुए। इसी के साथ वे तोक्यो विश्वविद्यालय में भी अध्यापन-कार्य करते रहे। सन् १९२१ के पश्चात् आप ओतानी विश्वविद्यालय, क्योतो (जापान) में बौद्ध-दर्शन-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त किए गए।

सन् १९३६ में डा० सुजुकी प्राध्यापक की हैसियत से अमरीका और ब्रिटेन गए और उन्होंने जापानी संस्कृति एवं ज़ेन दर्शन पर विद्वत्तापूर्ण भाषण दिए। इसके फलस्वरूप आपको जापान सरकार की ओर से 'आँर्डर ऑव कल्चर' का संमान प्रदान किया गया।

बौद्ध साहित्य के क्षेत्र में डॉ० सुजुकी को और भी संमान प्राप्त हुआ, जब उन्होंने ज़ेन बौद्ध धर्म पर ३० संस्करणों की एक ग्रंथ-माला लिखी। इसी के बाद आपने एक अन्य पुस्तक 'ज़ेन और जापान की संस्कृति' जापानी भाषा मे प्रकाशित की। इसका अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन और पुर्तगाली भाषा मे किया गया। इस प्रकार डॉ० सुजुकी की इस अनुपम कृति को अंतरराष्ट्रीय संमान प्राप्त हुआ। [नि० शा०]

सुत्त पिटक त्रिपिटक का पहला पिटक है। इस पिटक के पाँच भाग हैं जो निकाय कहलाते हैं। निकाय का अर्थ है समूह। इन पाँच भागों में छोटे बड़े सुत्त संगृहीत हैं। इसीलिये वे निकाय कहलाते हैं। निकाय के लिये 'संगीति' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। आरंभ में, जब कि त्रिपिटक लिपिबद्ध नहीं था, भिक्षु एक साथ सुत्तों का पारायण करते थे। तदनुसार उनके पाँच संग्रह संगीति कहलाने लगे। बाद में निकाय शब्द का अधिक प्रचलन हुआ और संगीति शब्द का बहुत कम।

कई सुत्तों का एक वग्ग होता है। एक ही सुत्त के कई भाणवार भी होते हैं। ८००० अक्षरों का भाणवार होता है। तदनुसार एक एक निकाय की अक्षरसंख्या का भी निर्धारण हो सकता है। उदाहरण के लिये दीघनिकाय के ३४ सुत्त हैं और भाणवार ६४। इस प्रकार सारे दीघनिकाय में ५१२००० अक्षर हैं।

सुत्तों में भगवान् तथा सारिपुत्र मौद्‌गल्यायन, आनंद जैसे उनके कतिपय शिष्यों के उपदेश संगृहीत हैं। शिष्यों के उपदेश भी भगवान् द्वारा अनुमोदित हैं।

प्रत्येक सुत्त की एक भूमिका है, जिसका बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। उसमें इन बातों का उल्लेख है कि कब, किस स्थान पर, किस व्यक्ति या किन व्यक्तियों को वह उपदेश दिया गया था और श्रोताओं पर उसका क्या प्रभाव पड़ा।

अधिकतर सुत्त गद्य में हैं, कुछ पद्य में और कुछ गद्य पद्य दोनों में। एक ही उपदेश कई सुत्तों में आया है — कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार में। उनमे पुनरुक्तियों की बहुलता है। उनके संक्षिप्तीकरण के लिये 'पेय्याल' का प्रयोग किया गया है। कुछ परिप्रश्नात्मक हैं। उनमें कहीं कहीं आख्यानों और ऐतिहासिक घटनाओं का भी प्रयोग किया गया है। सुत्तपिटक उपमाओं का भी बहुत बड़ा भंडार है। कभी कभी भगवान् उपमाओं के सहारे भी उपदेश देते थे। श्रोताओं में राजा से लेकर रंक तक, भोले भाले किसान से लेकर महान् दार्शनिक तक थे। उन सबके अनुरूप ये उपमाएँ जीवन के अनेक क्षेत्रों से ली गई हैं।

बुद्ध जीवनी, धर्म, दर्शन, इतिहास आदि सभी दृष्टियों से सुत्त-पिटक त्रिपिटक का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। बुद्धगया के बोधिद्रुम के नीचे बुद्धत्व की प्राप्ति से लेकर कुशीनगर में महापरिनिर्वाण तक ४५ वर्ष भगवान् बुद्ध ने जो लोकसेवा की, उसका विवरण सुत्त-पिटक में मिलता है। मध्यमंडल में किन किन महाजनपदों में उन्होंने चारिका की, लोगों से कैसे मिले जुले, उनकी छोटी छोटी समस्याओं से लेकर बड़ी बड़ी समस्याओं तक के समाधान में उन्होंने कैसे पथ-प्रदर्शन किया, अपने संदेश के प्रचार में उन्हें किन किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा — इन सब बातों का वर्णन हमें सुत्तपिटक में मिलता है। भगवान् बुद्ध के जीवनसंबंधी ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन ही नहीं; अपितु उनके महान् शिष्यों की जीवन झाँकियाँ भी इसमें मिलती हैं।

सुत्तपिटक का सबसे बड़ा महत्व भगवान् द्वारा उपदिष्ट साधना पद्धति मे है। वह शील, समाधि और प्रज्ञा रूपी तीन शिक्षाओं में निहित है। श्रोताओं में बुद्धि, नैतिक और आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से अनेक स्तरों के लोग थे। उन सभी के अनुरूप अनेक प्रकार से उन्होंने आर्य मार्ग का उपदेश दिया था, जिसमें पंचशील से लेकर दस पारमिताएँ तक शामिल हैं। मुख्य धर्म पर्याय इस प्रकार हैं — चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग, सात बोध्यांग, चार सम्यक् प्रधान, पाँच इंद्रिय, प्रतीत्य समुत्पाद, स्कंध आयतन धातु रूपी संस्कृत धर्म

सुधाकर द्विवेदी
(देखिए—पृ० सं० १२७-१२६)

'हरिऔध', अयोध्यासिंह उपाध्याय

(देखिए—पृ० सं० २९३–२९४)

और अनित्य दुःख-अनात्म-रूपी संस्कृत लक्षण। इनमें भी सैंतीस बोधिपाक्षीय धर्म ही भगवान् के उपदेशों का सार है। इसका संकेत उन्होंने महापरिनिर्वाण सुत्त में किया है। यदि हम भगवान् के महत्वपूर्ण उपदेशों की दृष्टि से सुत्तों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो हमें उनमें घुमा फिराकर ये ही धर्मपर्याय मिलेंगे। अंतर इतना ही है कि कहीं ये संक्षेप में हैं और कहीं विस्तार में हैं। उदाहरणार्थ संयुत्त निकाय के प्रारंभिक सुत्तों में चार सत्यों का उल्लेख मात्र मिलता है, धम्मचक्कपवत्तन सुत्त में इनका विस्तृत विवरण मिलता है, और महासतिपट्ठान में इनकी विशद व्याख्या भी मिलती है।

सुत्तों की मुख्य विषयवस्तु तथागत का धर्म और दर्शन ही है। लेकिन प्रकारांतर से और विषयों पर भी प्रकाश पड़ता है। जटिल, परिव्राजक, आजीवक, और निगंठ जैसे जो अन्य श्रमण और ब्राह्मण संप्रदाय उस समय प्रचलित थे, उनके मतवादों का भी वर्णन सुत्तों में आया है। वे संख्या में ६२ बताए गए हैं। यज्ञ और जातिवाद पर भी कई सुत्त हैं।

देश मगध, कोशल, वज्जि जैसे कई राज्यों में विभाजित था। उनमें कहीं राजसत्तात्मक शासन था तो कहीं गणतंत्रात्मक राज्य। उनका आपस का संबंध कैसा था, शासन प्रशासन कार्य कैसे होते थे — इन बातों का भी उल्लेख कहीं कहीं मिलता है। साधारण लोगों की अवस्था, उनकी रहन सहन, आचार विचार, भोजन छादन, उद्योग धंधा, शिक्षा दीक्षा, कला कौशल, ज्ञान विज्ञान, मनोरंजन, खेल कूद आदि बातों का भी वर्णन आया है। ग्राम, निगम, राजधानी, जनपद, नदी, पर्वत, वन, तड़ाग, मार्ग, ऋतु आदि भौगोलिक बातों की भी चर्चा कम नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुत्तपिटक का महत्व न केवल धर्म और दर्शन की दृष्टि से है, अपितु बुद्धकालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक और भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से भी है। इन सुत्तों में उपलब्ध सामग्री का अध्ययन करके विद्वानों ने निबंध लिखकर अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला है।

सुत्तपिटक के पाँच निकाय इस प्रकार हैं: दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुत्त निकाय, अंगुत्तर निकाय और खुद्दक निकाय। सर्वास्तिवादियों के सूत्रपिटक में भी पाँच निकाय रहे हैं, जो आगम कहलाते थे। उनके मूल ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। सभी ग्रंथों का चीनी अनुवाद और कुछ का तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है। उनके नाम इस प्रकार हैं: दीर्घागम, मध्यमागम, संयुक्तागम, एकोत्तरागम और क्षुद्रकागम। मुख्य बातों पर निकायों और आगामों में समानता है। इस विषय पर विद्वानों ने प्रकाश डाला है। [भ०]

सुदर्शन कुल फूलों का एक कुल सुदर्शन कुल (ऐमेरिलिडेसी) है। इस कुल में बहुत सी (एक हजार से कुछ ऊपर ही) जातियाँ हैं और इस कुल के पुष्प लिली से बहुत मिलते जुलते हैं। सुदर्शन कुल के पुष्प उष्ण तथा उपोष्ण देशों में पाए जाते हैं। अधिकांश में कंद होता है। कई में लिली के समान पुष्प फूलते हैं। इस कुल के कुछ पौधों के (जैसे ऐमारिलिस बेलाडोना और बूफेन डिस्टिका के) कंद अत्यंत विषैले होते हैं। इस कुल में पीला डैफोडिल और श्वेत स्नोड्राप इंग्लैंड में बहुत प्रसिद्ध हैं। सुदर्शन कुल की कुछ जातियाँ भारत में भी होती हैं; इनका वर्णन नीचे दिया जाता है:

जेफीर पुष्प — वनस्पति; सुदर्शन कुल, प्रजाति जेफीरैंथस। प्याज की तरह सफेदी शाक; ४-५ पतली २० सेमी तक की पत्तियाँ एक निवापाकार पुष्प २५ ३० सेमी के निवृंत पर खिलता है। ऐसे ३-४ निवृंत एक कंद से निकलते हैं।

इसकी कतिपय जातियाँ, जिनमें गुलाबी पुष्पवाला रोज़िया, श्वेत पुष्पवाला कैंडाइडा और पीत पुष्पीय फ्लावा प्रधान हैं, भारत में उगाई जाती हैं और आस पास के घास के मैदानों में वितरित होकर जंगली हो जाती हैं।

अमरीका के उष्ण भागों में (बोलीविया से टेक्सास और मेक्सिको तक) ३० जातियाँ, और एक जाति पश्चिमी अफ्रीका में भी, देखी हैं। वहाँ से संसार के सभी भागों के उद्यानों में यह फूल उगाया गया है।

जेफीरैंथस फ्लावा वर्षा के प्रारंभ में उगता है। पीले फूल २-३ सप्ताह तक निकलते हैं और अगस्त में फलों से २५-३० काले चिपटे बीज झड़ते हैं। सितंबर तक प्ररोह सूख जाता है और भूमि में कंद सुषुप्तावस्था में पड़ा रहता है। उद्यानों में विशेष ध्यान रखकर फूल अक्टूबर तक निकाला जा सकता है। [रा० मि०]

सुदामा कृष्ण के बाल्यकाल के सखा जो उनके साथ सांदीपनि ऋषि के आश्रम में पढ़ते थे। ये ब्राह्मण थे और इनकी दरिद्रता तथा कृष्ण से प्राप्त सहायता, सहानुभूति आदि की कथा साहित्य का महत्वपूर्ण अंग हो गई है। कृष्ण-सुदामा-मैत्री संसार की आदर्श मैत्रियों में से है। [रा० द्वि०]

सुधाकर द्विवेदी महामहोपाध्याय प० सुधाकर द्विवेदी अपने समय के गणित और ज्योतिष के उद्भट विद्वान् थे। इनका जन्म वाराणसी के खजुरी मुहल्ले में अनुमानतः २६ मार्च, सन् १८६० (सोमवार संवत् १९१२ विक्रमीय चैत्र शुक्ल चतुर्थी) को हुआ। इनके पिता का नाम कृपालुदत्त द्विवेदी और माता का नाम लाची था।

आठ वर्ष की आयु में, इनके यज्ञोपवीत के दो मास पूर्व, एक शुभ मुहूर्त (फाल्गुन शुक्ल पंचमी) में इनका अक्षरारंभ कराया गया। प्रारंभ से ही इनमें अद्वितीय प्रतिभा देखी गई। बड़े थोड़े समय में (अर्थात् फाल्गुन शुक्ल दशमी तक) इन्हें हिंदी मात्राओं का पूर्ण ज्ञान हो गया। जब इनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ तो ये भली भाँति हिंदी लिखने पढ़ने लगे थे। संस्कृत का अध्ययन प्रारंभ करने पर ये 'अमरकोश' के लगभग पचास से भी अधिक श्लोक एक दिन में याद कर लेते थे। इन्होंने वाराणसी संस्कृत कालेज के पं० दुर्गादत्त से व्याकरण और पं० देवकृष्ण से गणित एवं ज्योतिष का अध्ययन किया। गणित और ज्योतिष में इनकी अद्भुत प्रतिभा से महामहोपाध्याय बापूदेव शास्त्री बड़े प्रभावित हुए। कई अवसरों पर बापूदेव जी ने इन्हें विभिन्न पुरस्कारों से अलंकृत किया। श्री ग्रीफिथ को उन्होंने एक अवसर पर लिखा, 'श्री सुधाकर शास्त्री गणिते बृहस्पतिसमः।'

सुधाकर जी ने गणित का गहन अध्ययन किया और भिन्न भिन्न ग्रंथों पर अपना 'शोध' प्रस्तुत किया। गणित के पाश्चात्य ग्रंथों का भी अध्ययन इन्होंने अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाओं को पढ़कर किया। बापूदेव जी ने अपने 'सिद्धांत शिरोमणि' ग्रंथ की टिप्पणी में पाश्चात्य विद्वान् डलहोस के सिद्धांत का अनुवाद किया था। द्विवेदी जी ने उक्त सिद्धांत की अशुद्धि बतलाते हुए बापूदेव जी से उसपर पुनर्विचार के लिये अनुरोध किया। इस प्रकार लगभग बाईस वर्ष की ही आयु में सुधाकर जी प्रकांड विद्वान् हो गए और उनके निवासस्थान खजुरी में भारत के कोने कोने से विद्यार्थी पढ़ने आने लगे।

सन् १८८३ में द्विवेदी जी सरस्वतीभवन के पुस्तकालयाध्यक्ष हुए। विश्व के हस्तलिखित पुस्तकालयों में इसका विशिष्ट स्थान है। १६ फरवरी, १८८७ को महारानी विक्टोरिया की जुबिली के अवसर पर इन्हे 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से विभूषित किया गया।

द्विवेदी जी ने 'ग्रीनिच' (Greenwich) में प्रकाशित होनेवाले 'नाटिकल ऑल्मैनक' (Nautical Almanac) में अशुद्धि निकाली। 'नाटिकल ऑल्मैनक' के संपादकों एवं प्रकाशकों ने इनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की और इनकी भूरि भूरि प्रशंसा की। इस घटना से इनका प्रभाव देश विदेश में बहुत बढ़ गया। तत्कालीन राजकीय संस्कृत कालेज (काशी) के प्रिंसिपल डा० वेनिस के विरोध करने पर भी गवर्नर ने इन्हें गणित और ज्योतिष विभाग का प्रधानाध्यापक नियुक्त किया।

सुधाकर जी गणित के प्रश्नों और सिद्धांतों पर बराबर मनन किया करते थे। बग्गी पर नगर मे घूमते हुए भी वे कागज पेंसिल लेकर गणित के किसी जटिल प्रश्न को हल करने में लगे रहते। द्विवेदी जी की गणित और ज्योतिष संबंधी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) वास्तव विचित्र प्रश्नानि, (२) वास्तव चंद्रशृंगोन्नति, (३) दीर्घवृत्तलक्षणम्, (४) भ्रमरेखानिरूपणम्, (५) ग्रहणेच्छादक निर्णयः, (६) यंत्रराज, (७) प्रतिभाबोधकः, (८) धराभ्रमे प्राचीननवीनयोर्विचारः, (९) पिंडप्रभाकर, (१०) वलयबाण निर्णयः, (११) वृत्तांतर्गत सप्तदश भुजरचना, (१२) गणकतरंगिणी (१३) दिङ्मीमांसा, (१४) द्युचर चार, (१५) फ्रेंच भाषा से संस्कृत में बनाई चंद्रसारणी तथा भौमादि ग्रहों की सारणी (सात खंडों में), (१६) १·१००००० की लघुरिक्थ की सारणी तथा एक एक कला की ज्यादा सारणी, (१७) समीकरण मीमांसा (Theory of Equations) दो भागो में, (१८) गणित कौमुदी, (१९) वराहमिहिरकृत पंचसिद्धांतिका, (२०) कमलाकर भट्ट विरचित सिद्धांत तत्व विवेक, (२१) लल्लाचार्यकृत शिष्यधिवृद्धिदतंत्रम्, (२२) करण कुतूहलः वासनाविभूषण सहित, (२३) भास्करीय लीलावती, टिप्पणीसहिता, (२४) भास्करीय बीजगणितं टिप्पणीसहितम्, (२५) बृहत्संहिता भट्टोत्पल टीका सहिता, (२६) ब्रह्मस्फुट सिद्धांतः स्वकृततिलका (भाष्य) सहितः, (२७) ग्रहलाघवः स्वकृत टीकासहितः, (२८) याजुष ज्योतिषं सोमाकर भाष्यसहितम्, (२९) श्रीधराचार्यकृत स्वकृत टीका सहिताच त्रिशतिका, (३०) करणप्रकाशः सुधाकरकृत सुधावर्षिणी सहितः, (३१) सूर्यसिद्धांतः सुधाकरकृत सुधावर्षिणी सहितः, (३२) सूर्यसिद्धांतस्य एका बृहत्सारणी तिथिनक्षत्रयोगकरणानां घटिज्ञापिका आदि।

हिंदी में रचित गणित एवं ज्योतिष संबंधी प्रमुख ग्रंथ ये हैं—

(१) चलन कलन (Differential Calculus), (२) चलराशिकलन (Integral Calculus), (३) ग्रहण करण, (४) गणित का इतिहास, (५) पंचांगविचार, (६) पंचांगप्रपंच तथा काशी की समय समय पर की अनेक शास्त्रीय व्यवस्था, (७) वर्गचक्र में अंक भरने की रीति, (८) गतिविद्या, (९) त्रिशतिका—श्रीपति भट्ट का पाटीगणित (संपादित) आदि।

द्विवेदी जी उच्च कोटि के साहित्यिक एवं कवि भी थे। हिंदी और संस्कृत में उनकी साहित्य संबंधी कई रचनाएँ हैं। हिंदी की जितनी सेवा उन्होंने की उतनी किसी गणित, ज्योतिष और संस्कृत के विद्वान् ने नहीं की। द्विवेदी जी और भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र में बड़ी मित्रता थी। दोनों हिंदी के अनन्य भक्त थे और हिंदी का उत्थान चाहते थे। द्विवेदी जी आशु रचना में भी पटु थे। काशीस्थित राजघाट के पुल का निर्माण देखने के पश्चात् ही उन्होंने भारतेंदु बाबू को यह दोहा सुनाया—

राजघाट पर बनत पुल, जहँ कुलीन को ढेर।
आज गए कल देखिके, आजहि लौटे फेर॥

भारतेंदु बाबू इस दोहे से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने द्विवेदी जी को जो दो बीड़ा पान घर खाने को दिया उसमें दो स्वर्ण मुद्राएँ रख दीं।

द्विवेदी जी ने मलिक मुहम्मद जायसी के महाकाव्य 'पद्मावत' के पच्चीस खंडों की टीका ग्रियर्सन के साथ की। यह ग्रंथ उस समय तक दुरूह माना जाता था, किंतु इस टीका से उसकी सुंदरता में चार चाँद लग गए। 'पद्मावत' की 'सुधाकरचंद्रिका टीका' की भूमिका में द्विवेदी जी ने लिखा है :—

लखि जननी की गोद बीच, मोद करत रघुराज।
होत मनोरथ सुफल सब, धनि रघुकुल सिरताज॥
जनकराज-तनया-सहित, रतन सिंहासन आज,
राजत कोशलराज लखि, सुफल करहु सब काज॥
का दुसाधु का साधु जन, का बिमान संमान।
लखहु सुधाकर चंद्रिका, करत प्रकाश समान॥
मलिक मुहंमद मतिलता, कविता कनक बितान।
जोरि जोरि सुबरन बरन, धरत सुधाकर सान॥

द्विवेदी जी राम के अनन्य भक्त थे और उनकी कविताएँ प्रायः रामभक्ति से ओतप्रोत होती थी। अपनी सभी पुस्तकों के प्रारंभ में उन्होंने राम की स्तुति की है।

द्विवेदी जी व्यंगात्मक (Satirical) कविताएँ भी यदाकदा लिखते थे। अंग्रेजियत से उन्हें बड़ी अरुचि थी और भारत की गिरी दशा पर बड़ा क्लेश था। राजा शिवप्रसाद गुप्त सितारे हिंद की

हिंदी के प्रति अनुदार नीति और अंग्रेजीपन का अंधानुकरण न तो द्विवेदी जी को पसंद था और न भारतेंदु बाबू को ही।

द्विवेदी जी के समय में भारत में उर्दू, फारसी एवं अरबी का बोलबाला था। हिंदी भाषा का न तो कोई निश्चित स्वरूप बन सका था, और न उसे उचित स्थान प्राप्त था। हिंदी और नागरी लिपि को संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर-प्रदेश) के न्यायालयों में स्थान दिलाने के लिये नागरीप्रचारिणी सभा ने जो आंदोलन चलाया उसमें द्विवेदी जी का सक्रिय योगदान था। इस संबंध में संयुक्त प्रांत के तत्कालीन अस्थायी राज्यपाल सर जेम्स लाटूश से (१ जुलाई, सन् १८९८ को) काशी में द्विवेदी जी के साथ नागरीप्रचारिणी सभा के अन्य पाँच सदस्य मिले थे। द्विवेदी जी ने एक उर्दू लिपिक के साथ प्रतियोगिता में स्वयं भाग लेकर और निर्धारित समय से दो मिनट पूर्व ही लेख सुंदर और स्पष्ट नागरी लिपि में लिखकर यह सिद्ध कर दिया कि नागरी लिपि शीघ्रता से लिखी जा सकती है। इस प्रकार हिंदी और नागरी लिपि को भी न्यायालयों में स्थान मिला।

द्विवेदी जी का मत था कि हिंदी को ऐसा रूप दिया जाय कि वह स्वत: व्यापक रूप में जनसाधारण के प्रयोग की भाषा बन जाय और कोई वर्ग यह न समझे कि हिंदी उसपर थोपी जा रही है। उन्होंने पंडिताऊ हिंदी का विरोध किया और उनके प्रभाव से मुहावरेदार सरल हिंदी का प्रयोग पंडितों के भी समाज में होने लगा। उन्होंने अपनी 'रामकहानी' के द्वारा अपील की कि हिंदी उसी प्रकार लिखी जाय जैसे उसे लोग घरों में बोलते हैं। जो विदेशी शब्द हिंदी में अपना एक रूप लेकर प्रचलित हो गए थे, उन्हें बदलने के पक्ष मे वे न थे।

वे नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला के संपादक और बाद में सभा के उपसभापति और सभापति भी रहे। वे कुछ इने गिने व्यक्तियों मे से एक थे जिन्होंने वैज्ञानिक विषयों पर हिंदी में सोचने और लिखने का प्रशंसनीय कार्य पिछली शताब्दी में ही बड़ी सफलता से किया।

भाषा एवं साहित्य संबंधी उनकी रचनाएँ ये हैं—

(१) भाषाबोधक प्रथम भाग, (२) भाषाबोधक द्वितीय भाग, (३) हिंदी भाषा का व्याकरण (पूर्वार्ध), (४) तुलसी सुधाकर (तुलसी सतसई पर कुंडलियाँ), (५) महाराजा मानसिंह की रुद्रसिंहकृत रामायण का संपादन, (६) जायसी की 'पद्मावत' की टीका (ग्रियर्सन के साथ), (७) माधव पंचक, (८) राधाकृष्ण रासलीला, (९) तुलसीदास की विनयपत्रिका संस्कृतानुवाद, (१०) तुलसीकृत रामायण बालकांड संस्कृतानुवाद, (११) रानी केतकी की कहानी (संपादन), (१२) रामचरितमानस पत्रिका संपादन, (१३) रामकहानी, (१४) भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की जन्मपत्री, आदि।

द्विवेदी जी आधुनिक विचारधारा के उदार व्यक्ति थे। काशी के पंडितों में उस समय जो संकीर्णता व्याप्त थी उसका लेश मात्र भी उनमें न था। उन्होंने सिद्ध किया कि विदेशयात्रा से कोई धर्महानि नहीं। ३० अगस्त, सन् १९१० को काशी की एक विराट् सभा का सभापतित्व करते हुए उन्होंने ओजस्वी स्वर में अपील की कि विलायत गमन के कारण जिन्हें जातिच्युत किया गया है उन्हें पुन: जाति में ले लेना चाहिए। अस्पृश्यता, नीच, ऊँच एवं जातिगत भेदभाव से इन्हें बड़ी अरुचि थी। इनका निधन एक साधारण बीमारी से २८ नवंबर, १९१० ई० मार्गशीर्ष कृष्ण द्वादशी सोमवार सं० १९६७ को हुआ। [गु० दु०]

सुधारांदोलन इंग्लैंड में संसदीय निर्वाचन संबंधी सुधारों के लिये होनेवाले आंदोलन के तीन विभिन्न प्रेरणास्रोत थे : प्रथम, यह भावना कि निर्वाचन के लिये मतदान नागरिक का ऐसा अधिकार है जिसके बिना नागरिक स्वतंत्र नहीं माना जा सकता; द्वितीय, १८वीं शताब्दी के अंत में होनेवाली आर्थिक क्रांति जिसने इंग्लैंड के सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन ला दिया था; तृतीय, तत्कालीन निर्वाचन व्यवस्था की नित्य बढ़ती हुई अनियमितता। औद्योगिक क्रांति के प्रतिफलों ने जनतंत्र की भावना प्रसारित कर सुधार के लिये जनसहयोग की मात्रा में यथेष्ट वृद्धि कर दी थी। निर्वाचन संबंधी व्यवस्था में १५वीं शताब्दी से कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। हाउस ऑव कॉमंस के सदस्यों के निर्वाचन में अब भी काउंटी में मताधिकार केवल उन व्यक्तियों को प्राप्त था जिनके पास ४० शिलिंग वार्षिक मूल्य की भूमि थी। जनसंख्या की दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व में अद्भुत असमानता प्रचलित थी। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप बरमिंघम तथा मैनचेस्टर जैसे बहुत से नए नगरों का निर्माण हो गया था, परंतु उन्हें कोई प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त था। इतना ही नहीं, बरों में भूमिपति या तो अपने स्वामित्व द्वारा वहाँ का निर्वाचन नियंत्रित करते थे या फिर मतदाताओं को धन देकर आवश्यक मत क्रय कर लेते थे। फलतः सदन की लगभग आधी सदस्यता केवल व्यक्तिगत स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करती थी।

संसदीय सुधार संबंधी इस आंदोलन का प्रथम महत्वपूर्ण चरण सन् १७८० ई० में 'सोसाइटी फ़ॉर कांस्टिट्यूशनल इनफ़ारमेशन,' (Society for Constitutional Information) की स्थापना द्वारा प्रारंभ हुआ। इसके संरक्षक एवं प्रमुख नेता कार्टराइट (Cartwright) तथा हॉर्नटुक (Horntooke) थे। इसने वार्षिक संसद, सार्वभौम मताधिकार, सम निर्वाचन क्षेत्र, संसदसदस्यों के लिये संपत्ति की योग्यता का उन्मूलन, सदस्यों के वेतन, तथा गुप्त परिपत्र द्वारा मतदान की व्यवस्था की माँग की। इन माँगों को विधेयक के रूप मे ड्यूक ऑव रिचमंड (Duke of Richmond) ने सन् १७८० ई० में सदन में प्रस्तावित किया, परंतु वह विधेयक स्वीकृत न हो सका। सन् १७९२ ई० में 'द फ्रेंड्स ऑव द पीपुल' नामक दूसरी संस्था की स्थापना भी इसी उद्देश्य से हुई और ग्रे (Grey), बरडेट (Burdett) आदि नेताओं ने सदन से तत्संबंधी प्रस्ताव स्वीकृत कराने के कई प्रयत्न किए। परंतु फ्रांस की क्रांति तथा नैपोलियन के युद्धों के कारण राष्ट्र का ध्यान अंतरराष्ट्रीय समस्याओं की ओर अधिक था। सन् १८१५ से सन् १८३० तक यदा कदा संसदीय सुधार का प्रश्न सदन के संमुख आता रहा। सन् १८३० ई० मे सरकार से टोरी दल का आधिपत्य समाप्त होने

पर, लार्ड ग्रे के नेतृत्व में संगठित नई ह्विग सरकार ने संसदीय सुधार का बीड़ा उठाया। फलतः सन् १८३२ में संसदीय सुधार विषयक विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत हो विधान के रूप में घोषित हुआ। इस विधान के तीन भाग थे : प्रतिनिधि भेजने के अधिकार के हरण से संबंधित, प्रतिनिधि भेजने के अधिकार से संबंधित, तथा मताधिकार के लिये आवश्यक योग्यताओं के प्रसार से संबंधित। पहले भाग के अंतर्गत एक बरो जो अपना एक सदस्य तथा ५५ छोटे छोटे बरो जो अपने दो सदस्य सदन भेजते थे, इस अधिकार से वंचित किए गए। इस प्रकार सदन के १४३ स्थान रिक्त हुए जिन्हें नए बरों में वितरित किया गया। ऐसे २२ बरो में जिन्हें अभी तक कोई प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त था, प्रत्येक को दो सदस्य प्राप्त हुए तथा अन्य २१ बरों में प्रत्येक को एक सदस्य मिला। इंग्लिश काउंटियों, स्कॉटलैंड, तथा आयरलैंड को क्रमशः ६५,८ तथा ५ अधिक सदस्य प्राप्त हुए। इस प्रकार सदन की समग्र सदस्य-संख्या अपरिवर्तित रही। मताधिकार के लिये आवश्यक योग्यताओं को इस प्रकार प्रसारित किया गया कि लगभग ४,५५,००० व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त हुआ।

परंतु यह आंदोलन श्रमिक वर्ग को संतुष्ट करने में पूर्ण रूप से असफल रहा। वस्तुतः इसका प्रभाव श्रमिक वर्ग की पृष्ठभूमि में छोड़, मध्य वर्ग को राजनीतिक दृष्टि से सर्वोपरि बनाने मे प्रतिफलित हुआ। श्रमिक वर्ग का असंतोष सन् १८३१-३८ के चार्टिस्ट आंदोलन (The Chartist movement) के रूप में व्यक्त हुआ। कालांतर में सन् १८३२, १८६७, १८८४, १८८५, १९१८, १९२८ तथा १९४८ ई० में निर्मित विधानों द्वारा हाउस ऑव कॉमंस पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया; राजनीतिक सत्ता बहुतों पर केंद्रीभूत हुई और कुलीनतन्त्र के स्थान पर जनतंत्रात्मक सिद्धांत को प्रश्रय मिला।

सं० ग्रं० — एडम्स, जी० बी० : कॉन्स्टिट्यूशनल हिस्टरी ऑव इंग्लैंड, लंदन, १९५१; ऐन्सन, डब्ल्यू० आर० : द ला ऐंड कस्टम ऑव द कॉन्स्टिट्यूशन, लंदन १९०९; कियर, डी० एल० : द कॉन्स्टिट्यूशनल हिस्टरी ऑव माडर्न ब्रिटेन, लंदन, १९५३; वीच, जी० एस० : दि जेनेसिस ऑव पार्लमेंटरी रिफॉर्म, लंदन, १९१२.

[रा० प्र०]

सुनीति (Equity) लौकिक अर्थ में 'सुनीति' को सहज न्याय (Natural Justice) का पर्याय मानते हैं पर ऐसा सोचना भ्रमात्मक होगा कि प्राकृतिक न्याय के अंतर्गत आनेवाले सभी विषयों पर न्यायालय अपना निर्णय देगा। दया, करुणा आदि अनेक मानवोचित गुण प्राकृतिक न्याय की सीमा के अंदर हैं, पर न्यायालय किसी को दया का आचरण दिखलाने को बाध्य नहीं कर सकता। न्यायाधीश बक्ले ने रि टेलीस्क्रिप्टर सिंडीकेट लि० (१९०३) २ चांसरी, १७४ द्रष्टव्य पृ० १९५–९६ में कहा था ; 'This court is not a court of conscience' अर्थात् 'सुनीति' से संबंधित मामलों की जाँच करनेवाले इस न्यायालय को हम अंतःकरण का न्यायालय नहीं कह सकते। उसी प्रसंग में उन्होंने कहा कि कानून से विहित उन अधिकारों को ही यह न्यायालय कार्यान्वित करेगा, जिनके लिये देश का साधारण कानून पर्याप्त नहीं है। अतः 'सुनीति' प्राकृतिक न्याय का वह अंश है, जो न्यायालयों द्वारा कार्यान्वित होने योग्य रहने पर भी ऐतिहासिक कारणों से कॉमन लॉ के न्यायालयों द्वारा कार्यान्वित न होने के कारण 'चांसरी' न्यायालय द्वारा लागू किया जाता था। अन्यथा तथ्य की दृष्टि से 'सुनीति' एवं 'कॉमन लॉ' में कोई अंतर नहीं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि — प्राचीन काल में नैतिकता एवं कानून परस्पर मिले हुए थे एवं 'धर्म' के व्यापक अर्थ में संनिहित थे। हिंदू धर्म के चार स्रोत माने गए हैं — वेद, स्मृति, सदाचार एवं सुनीति। सुनीति के सिद्धांत 'न्याय' में अंतर्निहित रहे हैं। स्मृति के वचन एवं सदाचार की विशद विवृति के बावजूद न्याय के सभी प्रश्नों का निर्णय देने के लिये मान्य नियमों एवं कानून की कल्पनाओं (Fiction) का आश्रय लिया जाता रहा है तथा इनपर सुनीति की छाप स्पष्ट है। स्मृतिकारों ने स्वीकार कर लिया था कि सनातन धर्म स्वभावतः व्यापक नहीं हो सकता। अतः 'न्याय' के सिद्धांतों को विभिन्न परिस्थितियों में कार्यान्वित करना ही होगा। याज्ञवल्क्य का कथन है कि कानून के नियमों के परस्पर एक दूसरे से विषम होने पर न्याय अर्थात् प्राकृतिक सुनीति एवं युक्ति की उनपर मान्यता होगी। बृहस्पति के अनुसार केवल धर्मशास्त्र का ही आश्रय लेकर निर्णय देना उचित नहीं होगा, क्योंकि युक्तिहीन विचार से धर्म की हानि ही होती है। नारद ने भी युक्ति की महत्ता मानी है। कानून एवं न्याय के बीच शाश्वत द्वंद्व के प्रसंग में स्मृतिकारों ने युक्ति एवं सुनीति को मान्यता दी है।

भारत में अंग्रेजी शासन स्थापित होने पर इस देश के न्यायालयों के निर्णय अंतिम अपील के रूप मे प्रिवी काउंसिल के अधिकार-क्षेत्र में आने लगे। अतः इंग्लैंड मे विकसित सुनीति का प्रभाव हिंदू-विधान पर परिलक्षित होने लगा। प्रिवी काउंसिल ने कॅन्चुवा वी गिरिमालप्पा [१९२४] ५१ इ० ए०, ३६८ मे यह निर्णय किया कि यदि कोई किसी की हत्या कर दे तो वह व्यक्ति मृतक की संपत्ति का अधिकारी नहीं होगा। सार्वजनिक नीति पर आधारित उक्त नियम हिंदुओं के मामले में न्याय एवं सुनीति की दृष्टि से लागू किया गया।

संसार के भिन्न भिन्न देशों में जहाँ पिछली कई शताब्दियों में अंग्रेजी शासन रहा है, उनके न्यायालयों के निर्णय पर अंग्रेजी सुनीति का प्रभाव स्पष्ट है। अतः इंग्लैंड में सुनीति के ऐतिहासिक विकास पर कुछ शब्द आवश्यक हैं। मध्ययुग में इंग्लैंड के राजा का सचिवालय 'चांसरी' कहलाता था एवं उसका अधिकारी 'चांसलर' के नाम से विख्यात था। देश में मामलों का निर्णय करने के निमित्त न्यायालयों के रहने के बावजूद न्याय की अंतिम थाती (Reserve of justice) राजा में ही आश्रित थी। अतः चांसरी में बहुधा ऐसा आवेदन आने लगा कि आवेदक दरिद्र, वृद्ध और रुग्ण है, किंतु उसका विपक्षी धनी एवं शक्तिशाली है। इसलिये उसे आशंका है कि विपक्षी जूरी को घूस देगा; अपनी प्रभुता से उन्हें भय दिखलाएगा; अथवा चालाकी से उसने कुछ ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी है कि देश का साधारण न्यायालय उसे न्याय नहीं दे सकेगा। ऐसा आवेदन प्रायः करुण शब्दों में भगवान् और धर्म की दुहाई

लेकर लिखा जाता था। चांसलर राजा के नाम आदेश (Writ) निकालकर विपक्षी को अपने समक्ष उपस्थित कराने लगे। उसे शपथ लेकर आवेदक की फरियाद का उत्तर देना पड़ता था। सन् १४७४ ई० से चांसलर स्वतंत्र रूप से निर्णय देने लगे एवं चांसरी न्यायालय में सुनीति का विकास यहीं से आरंभ हुआ। चांसरी की लोकप्रियता बढ़ने लगी। इसका मुख्य कारण यह था कि चांसलर ऐसे मामलों का निराकरण करने लगे, जिनके लिये साधारण न्यायालय में कोई विधान नहीं था। दृष्टांत के लिये न्यास (Trust) को ले सकते हैं। क्रमशः छल (Fraud), दुर्घटना (Accident), दस्तावेज गुम होने के प्रसंग में तथा विश्वासघात (Breach of Confidence) भी उसके अधिकारक्षेत्र में आ गए। सतरहवीं शताब्दी के आरंभ में चांसरी एवं कॉमन लॉ के न्यायालयों के बीच अपने अपने अधिकार-क्षेत्र का प्रश्न लेकर विवाद उपस्थित हुआ; पर अंततः इस बात को मान्यता दी गई कि चांसरी न्यायालय का निर्णय सर्वोपरि होगा। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि चांसरी न्यायालय ने कॉमन लॉ के न्यायालयों पर प्रत्यक्ष शासन नहीं किया। उसने केवल सफल वादी को वारण किया कि वह अनैतिक निर्णय को कार्यान्वित न करे। उक्त दोनों प्रकार के न्यायालयों के विकास के साथ साथ चांसलर के अधिकार भी सीमित होते गए। सुनीति के सिद्धांत स्थिर हुए, जिनपर कॉमन लॉ की परिधि से बाहर के अधिकार आधारित थे और जिनके लिये निदान (Remedy) अपेक्षित था। सन् १८७३-७५ ई० के अभ्यंतर निर्मित कानून के द्वारा 'सुनीति' एवं कॉमन लॉ की दो विभिन्न पद्धतियाँ एक हो गईं। इसका परिणाम यह हुआ कि कॉमन लॉ के न्यायालय व्यादेश (Injunction) जारी करने लगे एवं चांसरी न्यायालय संविदा (Contract) के स्खलन (Breach) के कारण क्षतिपूर्ति कराने लगा, जैसा पूर्व में संभव नहीं था। अर्थात् अब देश के किसी भी न्यायालय में कॉमन लॉ एवं सुनीति दोनों के निदान एक साथ प्राप्त होने लगे। सन् १८७५ ई० के बाद यदि किसी मामले में सुनीति एवं कॉमन लॉ के नियमों में किसी एक ही विषय को लेकर विषमता उपस्थित हो तो सुनीति के नियम की मान्यता होगी। किंतु यह स्मरणीय है कि सुनीति का यह उद्देश्य नहीं था कि वह देश के साधारण कानून को नष्ट करे, वरन् उसकी कमी की पूर्ति करना ही इसका लक्ष्य था। उदाहरणार्थ, न्यास (Trust), व्यादेश (Injunction), संविदा की पूर्ति (Specific performance), एवं मृत व्यक्ति के इस्टेट का प्रबंध सुनीति के ही अवदान हैं। इन विषयों के लिये कॉमन लॉ के न्यायालय में कोई निदान नहीं था।

सुनीति के सिद्धांत

(१) सुनीति प्रत्येक हरकत या अपकार (wrong) के लिये त्राण देती है।

यह नियम सुनीति का आधार है। इसका आशय यह है कि यदि कोई हरकत ऐसी है, जिसके लिये नैतिक दृष्टि से न्यायालय को त्राण देना चाहिए, तो न्यायालय त्राण अवश्य देगा। चांसरी न्यायालय का आरंभ इसी आधार पर हुआ। न्यास का कानून इस प्रसंग में एक उपयुक्त दृष्टांत है।

(२) सुनीति कॉमन लॉ का अनुसरण करती है। इसका अर्थ यह है कि सुनीति देश के साधारण कानून द्वारा प्रदत्त किसी व्यक्ति के अधिकारों में तभी हस्तक्षेप करेगी, जब उस व्यक्ति के लिये ऐसे अधिकारों से लाभ उठाना अनैतिक होगा, क्योंकि सुनीति अंतःकरण पर आधारित है। दृष्टांत—किसी व्यक्ति को कॉमन लॉ के अनुसार फी सिंपुल (Fee simple) एक इस्टेट है एवं वह बिना वसीयत किए मर जाता है। उसके पुत्र और कन्याएँ हैं। सबसे ज्येष्ठ पुत्र इस्टेट का उत्तराधिकारी हो जाता है यद्यपि ऐसा होना अन्यान्य संततियों के हित में अनुचित है तथापि सुनीति इस स्थिति में हस्तक्षेप नहीं करेगी। पर यदि ज्येष्ठ पुत्र ने अपने पिता से कहा कि आप वसीयत न करें, मैं संपत्ति को सब भाइयों और बहनों में बाँट दूँगा और उसके आश्वासन पर पिता ने संपत्ति की वसीयत नहीं की और ज्येष्ठ पुत्र ने अपनी प्रतिज्ञा न रखकर पूरे इस्टेट को आत्मसात् कर लिया तो इस स्थिति में सुनीति उसे अपने वचन का पालन करने को बाध्य करेगी, चूँकि ज्येष्ठ पुत्र के लिये पूरी संपत्ति का उपयोग करना अंतःकरण के प्रतिकूल होगा।

(३) जहाँ सुनीति समान है, कॉमन लॉ की व्यापकता होती है।

(४) जहाँ सुनीति समान है, क्रम में जो पहले है, उसकी मान्यता होती है।

दि सैमुएल एलेन ऐंड संस लि० (१९०७) १ चांसरी ५७५ में एक कंपनी ने किराया-खरीद (Hire-purchase) की शर्त पर मशीन खरीदी। यह तय हुआ कि अंतिम किस्त अदाकर देने तक मशीन का स्वत्वाधिकारी इसका विक्रेता रहेगा एवं उसे अधिकार रहेगा कि वह किस्त टूटने पर मशीन को उठाकर ले जाय। कंपनी के व्यवसायवाले मकान में मशीन लगा दी गई, अतः मशीन का कॉमन लॉ द्वारा प्रदत्त स्वत्वाधिकार कंपनी का हुआ। पीछे कंपनी ने उक्त मकान गिरवी में एक ऐसे व्यक्ति को दिया, जिसे मशीन से संबंधित 'किराया-खरीद' की कोई सूचना नहीं थी। एक मामला हुआ जिसमें न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि मशीन हटाकर ले जाने का अधिकार भूमि में साम्यिक स्वत्वाधिकार (equitable interest) था। चूँकि क्रम में इसकी सृष्टि पहले हुई, अतः मकान के गिरवीदार के अधिकार की अपेक्षा इसकी प्राथमिकता है।

(५) जिसे सुनीति चाहिए, उसे सुनीतिपूर्ण कर्तव्य करना ही है।

यदि कोई व्यक्ति इस विश्वास में कि अमुक जमीन उसकी है, उसपर मकान बनाता है एवं जमीन का वास्तविक स्वत्वाधिकारी मकान बनते देखकर भी वास्तविक स्थिति से दूसरे व्यक्ति को अवगत नहीं कराता तो मकान बन जाने पर बिना इसकी यथोचित कीमत दिए जमीन का वास्तविक मालिक मकान प्राप्त नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति ने सच्चे विश्वास से मकान बनाया, उसका उस संपत्ति पर मकान संबंधी खर्च के लिये पूर्वाधिकार (Lien) रहेगा।

(६) जो सुनीति से सहायता चाहता है, उसका निजी आचरण भी निर्मल होना चाहिए।

एक नाबालिग ने ट्रस्टी को ठगने के अभिप्राय से यह कहकर कि वह वयस्क हो चुका है, उससे रुपए ले लिए। वह रकम वयस्क

होने पर ही उसे मिलती। वयस्क होने पर उसने फिर ट्रस्टी से उक्त रकम की माँग की। यद्यपि नाबालिग की रसीद पक्की नहीं मानी जाती, फिर भी न्यायालय ने कहा कि ट्रस्टी दुबारा उक्त रकम देने को जिमेवार नहीं है।

(७) विलंब सुनीति का घातक है। अथवा सुनीति क्रियाशील को सहायता देती है, अकर्मण्य को नहीं।

जहाँ दावा बहुत पुराना हो चुका है एवं कोई पक्ष अपने स्वत्व को पुन. हासिल करने के लिये प्रस्तुत नहीं हुआ है तथा उसने विपक्षी के अनधिकार को अपनी अकर्मण्यता के कारण स्वीकार कर लिया है, ऐसी स्थिति में सुनीति कोई सहायता नहीं करेगी। किंतु कानून द्वारा निर्धारित मामला चलाने की अवधि को मान्यता देगी। पर यदि वादी की गफलत के कारण वह साक्ष्य, जिसके द्वारा प्रतिवादी मामले का जवाब देता, नष्ट हो चुका है तो विलंब घातक होगा। विषय की अज्ञानता, कानूनी दृष्टि से असमर्थता, स्वेच्छा का अभाव इत्यादि 'विलंब' के जवाब हैं।

(८) समता ही सुनीति है।

यदि संपत्ति का विभाजन इस प्रकार किया गया हो कि क को एक भाग, ख को पाँच भाग और ग को छह भाग मिले हों, पर ग अपना भाग न ले सके, ऐसी स्थिति में एक्रूएर क्लाज् (Accruer Clause) के अनुसार ग के भाग समान रूप से क और ख को प्राप्त होंगे। अर्थात् प्रत्येक को तीन तीन अतिरिक्त भाग मिलेंगे एवं मौलिक विभाजन की असमानता की अकल्पना लागू नहीं होगी, क्योंकि समता ही सुनीति है।

(९) सुनीति तथ्य को ग्रहण करती है, बाहरी रूप को नहीं।

यह सिद्धांत रेहन (Mortgage), शास्ति (Penalty), जब्ती (Forfeiture) एवं अनुनय के शब्दों पर आधारित न्यास के मूल में है। जब यह प्रश्न उठता है कि कोई संपत्ति रेहन में दी गई है या इस विकल्प के साथ बेच दी गई है कि बिक्री करनेवाला इसे पुनः खरीद सकता है, तो ऐसी स्थिति में सुनीति यह देखती है कि मूल्य बिक्री की दृष्टि से पर्याप्त है या नहीं। तथाकथित खरीददार का संपत्ति पर कब्जा हुआ या नहीं। इसी प्रकार किसी संविदा में ऐसी शर्त रहे कि इसकी पूर्ति नहीं होने पर दोषी पक्ष को पूरी शास्ति देनी होगी तो सुनीति यह देखती है कि शास्ति की रकम संविदा की पूर्ति कराने के निमित्त रखी गई थी या यह क्षतिपूर्ति की रकम है।

(१०) जो होना उचित है, उसे सुनीति हुआ ही मानती है।

यदि वादी ने किसी मौलिक संविदा में अपना भाग इस विश्वास में पूरा कर दिया है कि प्रतिवादी भी अपना भाग पूरा करेगा, ऐसी स्थिति में न्यायालय बहुधा ऐसा आदेश देता है कि प्रतिवादी भी अपना भाग पूरा करे चूँकि प्रतिवादी का ऐसा न करना अन्यायपूर्ण होगा। इसी प्रकार यह सिद्धांत संपरिवर्तन (Conversion) के मूल में भी परिलक्षित होता है।

(११) सुनीति दायित्व पूर्ण करने की इच्छा को मान्यता देती है। यदि किसी व्यक्ति पर कोई दायित्व है और वह कोई काम करता है, जो उस दायित्व के प्रसंग में ग्रहण किया जा सकता हो तो सुनीति उस काम को उक्त दायित्व की पूर्ति में ही मानेगी। यह सिद्धांत निष्पादन (Performance), पूर्ति (Satisfaction) तथा विलंडन (Ademption) का आधार है।

(१२) सुनीति का क्षेत्राधिकार प्रतिवादी की उपस्थिति पर निर्भर है।

इस सिद्धांत की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। आरंभ में चांसरी न्यायालय प्रतिवादी की संपत्ति में हस्तक्षेप नहीं करता था। केवल उसे न्यायोचित कार्य करने को आदेश देता था। यदि प्रतिवादी आदेश का पालन नहीं करता तो न्यायालय उसे अवमान के लिये दंडित करता था। उसकी संपत्ति भी जप्त कर ली जाती थी। अब भी सुनीति का मूल क्षेत्राधिकार वादी की उपस्थिति पर निर्भर है। यदि मामले की संपत्ति न्यायालय के क्षेत्रधिकार से बाहर भी हो, किंतु प्रतिवादी क्षेत्राधिकार में है या उसपर क्षेत्राधिकार से बाहर भी मामले के निमित्त संमन जारी कराया जा सकता है एवं वादी के मामले में नैतिक अधिकार है तो न्यायालय प्रतिवादी के विरुद्ध मामला अवश्य चलाएगा। किंतु यदि भूमि में टाइटिल का प्रश्न है तथा भूमि न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर है तो न्यायालय उस विषय का निर्णय नहीं करेगा।

सं० ग्रं०—स्टोरी . इक्विटी जुरिसप्रुडेंस (१८९२); होल्ड्सवर्थ : हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लॉ, खंड १,१९०५; मेटलैंड : इक्विटी (१९३६); स्नेल : प्रिंसिपल्स ऑव इक्विटी, १९४७। [न० कु०]

सुन्नत (Circumcision) का अर्थ शिश्नाग्रच्छद के अनावश्यक भाग को काटकर अलग कर देना है। यह कृत्य मुसलमानों, यहूदियों तथा अन्य कई जातियों मे धार्मिक संस्कार के रूप में किया जाता है और इसे खतना (देखें, खतना ,खंड ३, पृष्ठ ३२१) कहा जाता है। सुन्नत छोटा सा शल्यकर्म है। इसमें शिश्नमुंड को अग्रत्वचा को काटकर निकाल देते हैं, जिससे मुंड के परे उसका आकुंचन (retraction) स्वच्छंदता से होता है। इस शल्यकर्म का मुख्य उद्देश्य शिश्नमुंड की समुचित सफाई रखना है जिसके फलस्वरूप त्वचा के नीचे एकत्र शिश्नमल (Smegma) साफ हो सके तथा मूत्र निकलने में किसी प्रकार की बाधा न उत्पन्न हो। बच्चों में सुन्नत शिश्नमल के एकत्र होने से बचाव के लिये ही की जाती है। वयस्कों में सुन्नत का मुख्य उद्देश्य शिश्नाग्रशोथ (blanctis) तथा रतिज व्रण (Venereal sore) की चिकित्सा करना है।

खतना के कारण हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमानों में शिश्न का कैंसर कम होता है। [प्रि० कु० चौ०]

सुपीरियर झील यह उत्तरी अमरीका की ही नहीं बल्कि संसार की सबसे बड़ी अलवण जल की झील है। यह सर्वाधिक गहरी, समुद्रतल से सर्वाधिक ऊँची और अमरीका की पाँच बड़ी झीलों के सुदूर उत्तर पश्चिम में स्थित है। सुपीरियर झील कैनाडा तथा संयुक्त राज्य अमरीका की अंतरराष्ट्रीय सीमा के दोनों ओर बहती है। कैनाडा का ओंटारिओ राज्य इसके उत्तर पूर्व में है।

झील के दक्षिण में विसकौंसिन (Wisconsin) तथा मिशिगैन (Michigan) स्थित हैं।

सुपीरियर झील की सर्वाधिक लंबाई पूर्व से पश्चिम तक ५६० किमी. सर्वाधिक चौड़ाई २५६ किमी तथा संपूर्ण क्षेत्रफल ८१४५६ वर्ग किमी है और सर्वाधिक गहराई ३९६ मी है।

सुपीरियर झील की तलहटी पथरीली है। लगभग २०० नदियों का पानी झील में गिरता है। इन नदियों में सबसे बड़ी सेंट लुईस है। इसका मुँह झील के पश्चिमी सिरे पर है। इस झील में बहुत से द्वीप हैं जिनमें सबसे बड़ा द्वीप आइल राएल है।

सुपीरियर झील साल भर खुली रहती है। अधिक गहराई के कारण इसका पानी जमता नहीं है। केवल सीमावर्ती क्षेत्रों और खाड़ियों का पानी जम जाता है। पोताश्रयों के पास की जमी हुई बर्फ के गलने के कारण मध्य अप्रैल से पहली दिसंबर तक नौपरिवहन प्रतिबंधित रहता है। झील के चारों ओर की भूमि में ताँबा, निकल तथा अन्य धातुओं के अयस्क पाए जाते हैं। सुपीरियर झील के बंदरगाहों में, सुपीरियर तथा ऐशलैंड (वाशिंगटन के) तथा फोर्ट विलियम एवं आर्थर (कनाडा के) प्रमुख हैं। [नं० कु० रा०]

सुब्बाराव, यल्ला प्रगडा (सन् १८९६-१९४८) इस मौन तपस्वी के बारे में लोग अधिक नहीं जानते। अमेरीका ने उसे 'चमत्कारी पुरुष' कहा है। इस मौन भारतीय प्रतिभा का जन्म मद्रास में एक क्लार्क के घर हुआ। सन् १९१८ में सुब्बाराव के भाई बहुत बीमार थे, उन्हें संग्रहणी हो गई थी। चिकित्सक असहाय थे, उनके पास दवा न थी। बाईस वर्षों के सुब्बाराव ने भाई को असहाय मरते देखा और वहीं शपथ ली कि मैं मानवता को इस हत्यारी स्प्रू से त्राण दिलाऊँगा।

उन्होंने मद्रास मेडिकल कालेज में प्रवेश लिया। चिकित्सा की शिक्षा प्राप्त कर, वह इग्लैंड गए। वहाँ डाक्टर रिचार्ड स्ट्रांग को सुब्बाराव ने अपनी जिज्ञासा से इतना प्रभावित किया कि उन्हें अमरीका आने का निमंत्रण मिला। स्ट्रांग ने लिखा है, 'प्रश्नों की ऐसी बौछार कि उत्तर देना संभव न था, भाग्य में ऐसा विश्वास, ऐसी प्रबल जिज्ञासा मैंने कभी नहीं देखी — उनका उत्साह पागलपन की सीमा पर था।'

जेब में ७० रुपए लिए सुब्बाराव ने अमरीका की भूमि पर पैर रखा। यहाँ उन्होंने छोटे मोटे कार्य किए — पर लक्ष्य की ओर बढ़ते चले। हॉवर्ड और रॉकफेलर छात्रवृत्तियों ने उनकी सहायता की। सन् १९२५ से अगले तेईस वर्षों में उन्होंने रक्त में फास्फोरस की मात्रा निर्णय करने का 'रंग मापक' तरीका निकाला, मांसपेशियों की आकुंचनक्रिया पर नया प्रकाश डाला। इनके वैज्ञानिक लेखों ने पशुओं और जीवाणुओं के पोषण पर बहुमूल्य तथ्य प्रस्तुत किए, तथा इन्होंने पैलाग्रा की ओषधि निकोटिनिक अम्ल (विटामिन बी का अंश) की पहचान, पृथक्करण और तैयारी में योग दिया। १९४० में सुब्बाराव को साइनामाइड कंपनी की लेडरली अनुसंधानशाला में सहकारी डाइरेक्टर का पद प्राप्त हुआ और दो वर्ष बाद वे प्रधान निदेशक हो गए। इनके अंतर्गत ३०० वैज्ञानिक कार्य करते थे। यहाँ इन्होंने अपनी शपथ पूरी की और 'स्प्रू' की अमोघ ओषधि 'फौलिक एसिड' का आविष्कार किया। इनके नेतृत्व में 'टेरापटेरीन', 'सल्फामेथाजोन', 'आरोमायसीन' सी चमत्कारी ओषधियों का आविष्कार हुआ। इनकी शोध ने कैंसर पर नया प्रकाश डाला तथा लीवर के रासायनिक तत्व पृथक् किए। श्लीपद रोग की अमोघ ओषधि 'हेट्राजान' का आविष्कार भी इनके दल ने ही किया। सीरम-अल्बुमेन का उत्पादन, टिटनस तथा गैस गैंग्रीन के टाक्सायड उत्पादन के नए संशोधित तरीके और लेडरली द्वारा पेनिसिलीन उत्पादन को संभव करने का श्रेय ख्याति से दूर भागनेवाली इसी प्रतिभा को है।

डा० सुब्बाराव ने अपना जीवन मानवता के लिये अर्पित कर दिया था। वे प्रतिदिन औसत १८ घंटे कार्य करते थे। वह व्यक्तिगत श्रेय के विरुद्ध थे और तकनीकी युग में अन्वेषकों की टोली को श्रेय देते थे। वे उदारहृदय थे और गुप्त रूप से दीन दुखियों की सहायता करते थे। कड़े परिश्रम ने संसार से केवल ५२ वर्ष की अल्पायु में वह प्रतिभा छीन ली।

लेडरली प्रयोगशाला ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा है — 'जो ओषधियाँ अभी बरसों तक अज्ञात रहतीं उनकी खोज में जीवन अर्पित कर उन्होंने जिस नाम को छिपाना चाहा, वह इन ओषधियों द्वारा हजारों की रक्षा कर प्रकाशमान होता जा रहा है।'

लेडरली अनुसंधानशाला ने अपने पुस्तकालय को 'सुब्बाराव मेमोरियल' बनाया है और बबई के पास बुलसार में स्थापित लेडरली प्रयोगशाला उन्हीं को अर्पित है। [आ० शं० मे०]

सुभद्रा कृष्ण की बहिन जो वसुदेव की कन्या और अर्जुन की पत्नी थीं। इनके बड़े भाई बलराम इनका ब्याह दुर्योधन से करना चाहते थे पर कृष्ण के प्रोत्साहन से अर्जुन इन्हें द्वारका से भगा लाए। इनके पुत्र अभिमन्यु महाभारत के प्रसिद्ध योद्धा हैं। पुरी में जगन्नाथ की यात्रा में बलराम तथा सुभद्रा दोनों की मूर्तियाँ भगवान् के साथ साथ ही रहती हैं। [रा० द्वि०]

सुमंत्र महाराज दशरथ के मंत्रियों में से एक, जिन्होंने कैकयी को फटकारा था। इन्होंने ही राम को लौटाने का प्रयास किया था। किंतु उन्हें ही राम ने समझा बुझाकर लौटा दिया। सुमंत्र ने लौटकर महाराज दशरथ को राम का संदेश दिया कि अब वे बिना चौदह वर्ष वन में रहे लौट नहीं सकते। कौसल्या को इन्होंने सांत्वना प्रदान की। [चं० भा० पां०]

सुमति १. पुराणों में सुमति नामक अनेक व्यक्तियों के नाम आते हैं।

(क) ये भरत के पुत्र थे जिन्हें ऋषभ के धर्म का अनुगमन करने के कारण उस धर्मावलंबियों ने देवत्व प्रदान किया था। इनकी रानी वृद्धसेना थी, तथा पुत्र देवता था (भा० ग० ५. ७. ३)।

(ख) पुराणप्रसिद्ध राजा सगर की पत्नी थी जिन्होंने महर्षि और्व की कृपा से साठ सहस्र पुत्रों को जन्म दिया था। [चं० भा० पां०]

सुमात्रा स्थिति : ०° ४०' उ० अ० तथा १००° २०' पू० दे० । यह इंडोनेशिया गणतंत्र के पाँच बड़े द्वीपों में से एक है तथा मलाया द्वीपसमूह का सुदूर पश्चिमी द्वीप है। इसे उत्तर पूर्व में मलैका जलसंधि मलाया से तथा दक्षिण पूर्व में सुंडा जलसंधि जावा से पृथक् करती है। द्वीप का पश्चिमी किनारा हिंद महासागर की ओर है। यह संसार के बड़े द्वीपों में छठा है। इस द्वीप का क्षेत्रफल ४,११,४४० वर्ग किमी तथा जनसंख्या १,५७,३६,००० (१९६१) है। द्वीप की अधिकतम लंबाई १६९६ किमी तथा अधिकतम चौड़ाई ३९६ किमी है।

इस द्वीप में दक्षिण पश्चिम की ओर समांतर पर्वतमालाओं की श्रेणी है। सामूहिक रूप से इन पर्वतमालाओं का नाम बारिसान (Barisan) है और इनमें १२ सक्रिय तथा ७८ निष्क्रिय ज्वालामुखी हैं। सर्वोच्च चोटी केरिंचि (Kerintji) है जिसकी ऊँचाई ३,७८२ मी है। पूर्वी तट दलदली निम्नभूमि है जिसमें से होकर कांपार (Kampar), इंद्रागिरि तथा मिशि (Meosia) नदियाँ बहती हैं और यह भूभाग घने जंगलों से आच्छादित है। इन जंगलों से टीक की लकड़ी, बाँस, रबर और मूल्यवान गोंद प्राप्त होता है। इन जंगलों में रबर के वृक्ष लगाए गए हैं जिसके कारण यह द्वीप विश्व के प्रमुख रबर उत्पादकों में से एक हो गया है। दक्षिणी पूर्वी और उत्तरी पूर्वी छोरों को छोड़कर शेष द्वीप की मृदा कृषि के लिये उपयुक्त नहीं है।

सुमात्रा की जलवायु उष्ण एवं आर्द्र है। अधिकांश वर्षा उन क्षेत्रों में होती है जहाँ नियमित मानसून बारिसान पर्वतों द्वारा रोक लिए जाते हैं। टोबा झील क्षेत्र में १५२ सेमी से कम वर्षा होती है। अन्य क्षेत्र में ५०८ सेमी से अधिक वर्षा होती है। निम्न भूमि के मैदानों में ताप २१° से ३१° सें० तक रहता है।

धान यहाँ की प्रमुख फसल है। कॉफी, कालीमिर्च, तंबाकू, चाय, कपास, खजूर, अमरीकी घीकुँवार (Sisal), सुपारी, मूँगफली, सिनकोना, नारियल और रबर आदि की खेती निर्यात के लिये की जाती है। इस द्वीप के उष्ण कटिबंधी जंगलों में बाघ, हाथी, जंगली सुअर, दो सींगवाले राइनोसिरस, हरिण, कपि एवं बंदर मिलते हैं। इस द्वीप पर सर्वत्र चमकीले पक्षति (Plumage) वाले पक्षी मिलते हैं। यहाँ अनेक प्रकार के विषैले साँप जिनमें नाग एवं पिट वाइपर (Pit viper) भी हैं तथा भीमाकार अजगर पाए जाते हैं।

इस द्वीप में सीसा, रजत, गंधक एवं कोयले के निक्षेप हैं। पूर्वी तट का दलदली निम्नभूमि क्षेत्र पेट्रोलियम में धनी है : पालमबंग क्षेत्र में कोयला एवं लिग्नाइट मिलते हैं। पेट्रोलियम पूर्वी मैदान में अचीन से पलेमबांग तक के क्षेत्र में मिलता है। बेनकूलेन के समीप सोने एवं रजत का खनन होता है।

मछली मारना यहाँ का प्रमुख व्यवसाय है। द्वीप का पूर्वी भाग इस कार्य के लिये विशेष उपयोगी है। यहाँ के अधिकांश उद्योग कृषि से संबंधित हैं। पादांग के समीप सीमेंट का बहुत बड़ा कारखाना है।

द्वीप के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाने के लिये सड़कें हैं। यहाँ लगभग १,२२७ मील लंबा रेलमार्ग भी है। मेडान और पलेमबांग नगरों में हवाई अड्डे हैं। ब्लावान (Belawan), पलेमबांग, एमाहैवन (Emmahaven), सुसु (Soesoe) तथा सबांग प्रमुख बंदरगाह हैं। पलेमबांग सुमात्रा का प्रमुख नगर है। [प्र० ना० मे०]

सुमित्रा महाराज दशरथ की मँझली पत्नी जिनके गर्भ से लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न हुए थे। इसलिये लक्ष्मण जी को सौमित्र, सुमित्रानंदन आदि कहा जाता है। पुत्रेष्टियज्ञ से प्राप्त चरु का आधा भाग दशरथ ने कौशल्या को और आधा कैकेयी को दिया था। बाद में कौशल्या तथा कैकेयी ने अपने अपने भागों में से आधा आधा सुमित्रा को दे दिया। इसी से सुमित्रा जी के दो पुत्र हुए, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न।

[रा० द्वि०]

सुरंग अंतर्भौम क्षैतिज मार्ग, जो ऊपरी चट्टान या मिट्टी हटाए बिना ही बनाया जाय, सुरंग कहलाता है। कोई चट्टान या मूलक तोड़ने के उद्देश्य से विस्फोटक पदार्थ भरने के लिये कोई छेद बनाना भी सुरंग लगाना कहलाता है। प्राचीन काल में सुरंग से मुख्यतया तात्पर्य किसी भी ऐसे छेद या मार्ग से होता था जो जमीन के नीचे हो, चाहे वह किसी भी प्रकार बनाया गया हो, जैसे कोई नाली खोदकर उसमें किसी प्रकार की पाट या छत लगाकर ऊपरी मिट्टी से भर देने से सुरंग बन जाया करती थी। किंतु बाद में इनके लिये जलसेतु (यदि वह पानी ले जाने के लिये है), तलमार्ग या छादित पथ नाम अधिक उपयुक्त समझे जाने लगे। इनके निर्माण की क्रिया को सुरंग लगाना नहीं, बल्कि सामान्य खुदाई और भराई ही कहते हैं।

बाद में चौड़ी करके सुरंग बड़ी करने के उद्देश्य से प्रारंभ में छोटी सुरंग लगाना अग्रचालन कहलाता है। खानों में छोटी सुरंगें गैलरियाँ, दीर्घाएँ या प्रवेशिकाएँ कहलाती हैं। ऊपर से नीचे सुरंगों तक जाने का मार्ग, यदि यह ऊर्ध्वाधर है तो कूपक, और यदि तिरछा है तो ढाल या ढालू कूपक कहलाता है।

प्राकृतिक बनी हुई सुरंगें भी बहुत देखी जाती हैं। बहुधा दरारों से पानी नीचे जाता है, जिसमें चट्टान का अंश भी घुलता है। इस प्रकार प्राकृतिक कूपक और सुरंगें बन जाती हैं। अनेक नदियाँ इसी प्रकार अंतर्भौम बहती हैं। अनेक जीव भूमि में बिल बनाकर रहते हैं, जो छोटे मोटे पैमाने पर सुरंगें ही हैं।

प्रकृति में इस प्रकार सुरंगों के प्रचुर उदाहरण देखकर निस्संदेह यह कल्पना की जा सकती है कि मनुष्य भी सुरंगें खोदने की दिशा में अति प्राचीन काल से ही अग्रसर हुआ होगा—सर्वप्रथम शायद निवासों और मकबरों के लिये, फिर खनिज पदार्थ निकालने के उद्देश्य से और अंततः जलप्रणालियों, नालियों आदि सभ्यता की अन्य आवश्यकताओं के लिये। भारत में अति प्राचीन गुफामंदिरों के रूप में मानव द्वारा विशाल पैमाने पर सुरंगें लगाने के उदाहरण प्रचुर परिमाण में मिलते हैं। इनमें से कुछ गुफाओं के मुख्यद्वारों की उत्कृष्ट वास्तुकला आधुनिक सुरंगों के मुख्यद्वारों के आकल्पन में शिल्पियों का मार्गदर्शन करने की क्षमता रखती है। अजंता, एलोरा

और एलीफैंटा की गुफाएँ सारे संसार के वास्तुकला विचारकों का ध्यान आकर्षित कर चुकी हैं।

मध्यपूर्व में निमरोद के दक्षिणी पूर्वी महल की डाटदार नाली साधारण भूमि के भीतर सुरंग लगाने का प्राचीन उदाहरण है। ईंट की डाट लगी ४·५ मी और ३·६ मी एक सुरंग फरात नदी के नीचे मिली है। अलजीरिया में, स्विट्जरलैंड में और जहाँ कहीं भी रोमन लोग गए थे, सड़कों, नालियों और जलप्रणालियों के लिये बनी हुई सुरंगों के अवशेष मिलते हैं।

बारूद का आविष्कार होने से पहले सुरंगें बनाने की प्राचीन विधियों में कोई महत्वपूर्ण प्रगति नहीं हुई थी। १७वीं शती के उत्कीर्ण चित्रों में सुरंग बनाने की जो विधियाँ प्रदर्शित हैं, उनमें केवल कुदाली, छेनी, हथौड़ी का प्रयोग और अग्रचालन के लिये नरम चट्टान तोडने के उद्देश्य से लकड़ियों की आग जलाना ही दिखाया गया है। संवातन के लिये आगे की ओर कपड़े हिलाकर हवा करने और कूपकों के मुख पर तिरछे तख्ते रखने का उल्लेख भी मिलता है। रेलों के आगमन से पहले सुरंगें प्राय. नहरों के लिये ही बनाई जाती थीं और इनमें से कुछ तो बहुत प्राचीन हैं। रेलों के आने पर सुरंगों की आवश्यकता आम हो गई। संसार भर में शायद ५,००० से भी अधिक सुरगें रेलों के लिये ही खोदी गई हैं। अधिकांश पर्वतीय रेलमार्ग सुरंगों में ही होकर जाता है। मेक्सिको रेलवे में १०५ किमी लंबे रेलपथ में २१ सुरगें, और दक्षिणी प्रशांत रेलवे में ३२ किमी की लंबाई में ही ११ सुरंगें हैं, जिनमें एक सर्पिल सुरंग भी है। संसार की सबसे लंबी लगातार सुरंग न्यूयार्क में १९१७-२४ ई० में कैट्सकिल जलसेतु के विस्तार के लिये बनाई गई थी। यह डेलावेर सुरंग २८८ किमी लंबी है। कालका शिमला रेलपथ पर साठ मील लंबाई में कई छोटी सुरगें हैं, जिनमें सबसे बड़ी की लंबाई ११३७ मी है।

विश्व की अन्य महत्वपूर्ण सुरंगें माउंट सेनिस १४ किमी (१८५७-७१ ई०), सेंट गोथार्ड १५ किमी (१८७२-८१ ई०), ल्यूट्शबर्ग (१९०६-११ ई०), यूरोप के आल्प्स पर्वत में कनाट (१९१३-१६ ई०) कनाडा के रोगर्स दर्रे में मोफट १० किमी (१९२३-२८ ई०) एवं न्यूकैस्केड (१९२५-२८ ई०) संयुक्त राष्ट्र अमरीका के पर्वतों में हैं। सुरंगनिर्माण का बहुत महत्वपूर्ण काम जापान में हुआ है। वहाँ सन् १९१८-३० में अटामी और मिशीमा के बीच टाना सुरंग खोदी गई, जो दो पर्वतों और एक घाटी के नीचे से होकर जाती है। इसकी अधिकतम गहराई ३९५ मी और घाटी के नीचे १८२ मी है। भारत में सड़क के लिये बनाई गई सुरंग जम्मू—श्रीनगर सड़क पर बनिहाल दर्रे पर है, जिसकी लंबाई २७१० मी है। यह समुद्रतल से २१८४ मी० ऊपर है तथा दुहरी है, जिससे ऊपर और नीचे जानेवाली गाड़ियाँ अलग अलग सुरग से जा सकें।

सुरंगनिर्माण की आधुनिक विधियों में ढले लोहे की रोकों का और संपीडित वायु का प्रयोग बहुप्रचलित है। लंदन में रेलों के लिये लगभग १४४ किमी सुरगें बनी हैं, जिनमें सन् १८६० से ही ढोल जैसी रोकें और ढले लोहे की ही दीवारें लगती रही हैं। पेरिस में भी लगभग ९६ किमी लंबी सुरंगें हैं, किंतु वहाँ केवल ऊपरी आधे भाग में ढले लोहे की रोकें लगी हैं, जिनके निचे चिनाई की दीवारें हैं। प्रायः ऊपरी भाग पहले काट लिया जाता है और वहाँ रोकें लगाकर बाद में नीचे की ओर दीवारें बना दी जाती हैं।

जहाँ पानी के नीचे से होकर सुरंगें ले जानी होती हैं, वहाँ पहले से तैयार किए हुए बड़े बड़े नल रखकर उन्हें गला दिया जाता है। अपेक्षित गहराई पर पहुँच जाने पर वे परस्पर जोड़ दिए जाते हैं। सुरंग केसन भी जलतल में नीचे ही बनाए जाते हैं। संपीडित वायु के प्रयोग द्वारा पानी दूर रखा जाता है, और वायुमंडल से तीन चार गुने अधिक दबाव में आदमी काम करते हैं। वे बाहर खुली जगह से भीतर दबाव में जाते हुए और वहाँ से बाहर आते हुए पाश कक्षों में से गुजरते हैं। एक और विधि है, जिसमें जलसिक्त भूमि में ठंडक पहुँचाकर पानी जमा दिया जाता है, और फिर उसे चट्टान की भाँति काट काटकर निकाल दिया जाता है। यह विधि कूपक गलाने के लिये अच्छी है और अनेक स्थानों में सफलतापूर्वक प्रयुक्त हुई है, किंतु सुरंगों के लिये नहीं आजमाई गई।

जहाँ सुरंग के ऊपर चट्टान का परिमाण बहुत अधिक हो, जैसे किसी पहाड़ के आर पार काटने में, तो शायद यही उचित अथवा अनिवार्य हो कि केवल दोनों सिरों में ही काम आरंभ किया जाय, और बीच में कहीं भी कूपक गलाकर वहाँ से काम न चलाया जा सके। वास्तव में समस्या के समाधान के लिये मुख्य रूप से यह देखना अपेक्षित है कि चट्टान काटने और उसे निकाल बाहर करने के लिये क्या उचित होगा। विस्तृत अनुभव और आधुनिक यांत्रिक युक्तियाँ, जैसे संपीडित वायु द्वारा चालित बर्मा और मलबा हटाने और लादने की मशीनें आदि, काम जल्दी और किफायत से करने में सहायक होती हैं।

सुरंगों में संवातन की समस्या अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। इसे दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। निर्माण के समय काम करने वाले व्यक्तियों के लिये तो अस्थायी प्रबंध किया जा सकता है, किंतु यदि सुरंग रेल या सड़क आदि के लिये है, तो उसके अंदर उपयुक्त संवातन के लिये स्थायी व्यवस्था होनी आवश्यक है। इसका सरलतम उपाय तो यह है कि पूरी सुरंग की चौड़ाई के बराबर चौड़े और ६-६ मी लंबे खंड लगभग १५०-१५० मी अंतर से खुले छोड़ दिए जायें, जहाँ से सूर्य का प्रकाश और खुली हवा भीतर पहुँच सके। किंतु बहुत लंबी और गहरी सुरंगो में यह संभव नहीं होता, उनमें यांत्रिक साधनों का सहारा लेना आवश्यक होता है। कभी कभी अपेक्षाकृत छोटी सुरंगों में भी कृत्रिम संवातन व्यवस्था आवश्यक होती है। यदि सुरंग ढालू है, तो धुआँ और गैसें ढाल के ऊपर की ओर चलेंगी। सुरंग में कोई इंजन तेजी से चल रहा हो तो उसकी गति के साथ भी धुआँ भीतर ही खिंचता चला जाएगा। इसलिये जगह जगह पर संवाती कूपक बनाने पड़ते हैं। बिजली के मोटरों की अपेक्षा भाप के इंजन चलते हों, तो संवातन की अधिक आवश्यकता होती है।

प्राकृतिक संवातन का आधार संवाती कूपक के भीतर की हवा के और धरातल पर बाहर की हवा के तापमान का अंतर है। शीत ऋतु में कूपक में हवा ऊपर की ओर चढ़ती है और गर्मी में नीचे की

और उतरती है। बसंत और शरद ऋतुओं में कूपक के भीतर और बाहर तापमान का अंतर नही के बराबर होता है, इसलिये संवातन नहीं हो पाता।

यांत्रिक संवातन का सिद्धांत यह है कि यथासंभव सुरंग के बीचोबीच से किसी कूपक द्वारा, जिसके मुँह पर पंखा लगा होता है, गंदी हवा निकलती रहे। मरसी नदी के नीचे से जानेवाली सुरंग में यह संभव न था, क्योंकि ऊपर पानी भरा था। इसलिये एक संवाती सुरंग ऊपर से बनाई गई, जो नदी के दोनों किनारों पर खुलती है और बीच में मुख्य सुरंग से उसके निम्नतम भाग में मिलती है।

संवातन की गति क्या हो, अर्थात् कितनी हवा सुरंग के भीतर जानी चाहिए, इसका अनुमान लगाने के लिये यह पता लगाया जाता है कि सुरंग में से गुजरने में इंजन को कितना समय लगेगा और उतने समय में कितना कोयला जलेगा। प्रति पौंड कोयले में से २६ घन फुट विषैली गैसें निकलती हैं और हवा में ०.२ प्रतिशत कार्बनडाइआक्साइड रह सकती है, इस आधार पर प्रति मिनट कितनी हवा सुरंग में पहुँचाई जानी चाहिए, इसका परिकलन किया जाता है।

[वि० प्र० गु०]

सुरंग और उसके प्रत्युपाय नौसेना युद्ध का चरम उद्देश्य समुद्री संचार पर निर्विवाद नियंत्रण प्राप्त करना होता है। इसमें सुरंगें, सुरंगयुद्ध और उसके प्रत्युपायों का मुख्य हाथ है। इस दिशा में उन्नत तकनीकी एवं वैज्ञानिक विधियों के कारण सुरंगें नौसेना संघर्ष का एक आकर्षक अंग बन गई हैं।

सुरंग के मुख्य दो प्रकार हैं —

(क) उत्प्लावी (तैरती) सुरंगें — ऐसी सुरंगें समुद्रतट से कुछ दूरी पर और जल की ऊपरी सतह से कुछ नीचे तैरती रहती हैं। ये समुद्रतल में स्थित एक निमज्जक से संलग्न रहती हैं।

(ख) समुद्रतलीय सुरंगें — ऐसी सुरंगें समुद्रतल में स्थित रहती हैं।

उत्प्लावी तथा समुद्रतलीय सुरंगों का विशेष विवरण इस प्रकार है—

(क) उत्प्लावी सुरंग की संनिकट मापें : विस्फोटक का भार २२७ किग्रा, केस सहित विस्फोटक भरी हुई सुरंग का भार ५७० किग्रा, उत्प्लावकता १६० किग्रा, सुरंग की पूरी ऊँचाई १.५ मी तथा पट्टी का व्यास १ मी।

(ख) समुद्रतलीय सुरंग की संनिकट मापें : बेलनाकार सुरंग का विवरण—लंबाई २.२ मी, व्यास ०.४ मी तथा विस्फोटक २७४.४ किग्रा।

पैराशूट युक्त सुरंग का विवरण—पूरे सुरंग का भार ५५६ किग्रा, तथा पैराशूट का भार १० किग्रा।

फायर करने की विधियाँ — उत्प्लावी सुरंगें अधिकांशत. संस्पर्श द्वारा फायर की जाती हैं, अर्थात् विस्फोट के लिये किसी जहाज या पनडुब्बी से इनपर प्रहार करना अत्यावश्यक होता है। कुछ उत्प्लावी सुरंगें, असंस्पर्श सुरंगें होती हैं।

सभी समुद्रतलीय सुरंगें असंस्पर्श या प्रभावी सुरंगें होती हैं। इनका फायर, बिना प्रहार किए सुरंगों पर जहाज या पनडुब्बी के प्रभाव से, होता है। प्रभाव चुंबकीय, ध्वनिक या दबाववाला हो सकता है। चुंबकीय सुरंगों का फायर जहाज के चुंबकीय क्षेत्र के प्रभाव के कारण होता है। ध्वनिक सुरंगों का फायर जहाज के नोदकों द्वारा उत्पन्न शोर गुल से होता है। दबाववाले सुरंगों का फायर पानी में चलते हुए जहाज से उत्पन्न दबाव की तरंगों से होता है। कुछ सुरंगों का फायर दो प्रभावों, जैसे 'चुंबकीय एवं ध्वनिक' या 'दबाव एवं चुंबकीय', से होता है। इन्हें 'संयुक्त संयोजन' (Combination Assemblies) कहते हैं और सुरंग के फायर करने के लिये दोनों प्रभावों की एक साथ उपस्थिति आवश्यक होती है। ऐसी सुरंगों का हटाना कठिन होता है।

सुरंगों के उपयोग — सुरंगों का उपयोग आक्रमण एवं रक्षा दोनों के लिये किया जा सकता है। रक्षा के लिये उपयोग किए जाने पर ये बंदरगाह और तट की रक्षा करती हैं। ये तटीय जहाजों को शत्रु के आक्रमण से बचाती हैं। यदि सुरंग को आक्रमण के लिये प्रयुक्त करना है तो शत्रुतट से दूर बंदरगाह के प्रवेशमार्ग या अभ्यासक्षेत्र में सुरंगें बिछाई जाती हैं। इस प्रकार नाकेबंदी से सुरक्षा कर सकते हैं या शत्रु के जहाजों को डुबा सकते हैं। समुद्रतलीय सुरंगें साधारणतया आक्रमणक्षेत्र के लिये ही होती हैं। सुरंग तोड़नेवालों के कार्य को अधिक दुष्कर बनाने के लिये विभिन्न प्रकार की सुरंगें एक ही क्षेत्र में रखी जाती हैं ताकि सुरंग हटाने के लिये एक से अधिक विधियों का प्रयोग करना पड़े। सुरंगों के फायर में अवरोध उत्पन्न करके शत्रु के सुरंग तोड़ने की समस्या को जटिल बनाया जाता है।

सुरंग बिछानेवाले उपकरण — शत्रु के समुद्रतट से दूर समुद्रतलीय सुरंगें साधारणत. वायुयान द्वारा बिछाई जाती हैं। पनडुब्बी तथा तीव्रगामी गश्ती नौकाओं का भी प्रयोग किया जाता है। नौसेना में सुरंग बिछानेवाले विशेष पोत होते हैं जिनका एकमात्र कार्य ही सुरंग बिछाना होता है। ये बहुत बड़े और तीव्रगामी होते हैं। रक्षात्मक क्षेत्र में सुरंगें बिछाने के लिये किसी भी तैरनेवाली वस्तु का उपयोग किया जा सकता है या उसको सुरंगें बिछानेवाले उपकरण में परिणत किया जा सकता है।

सुरंग के प्रत्युपाय — अपने क्षेत्र के पत्तनों, बंदरगाहों तथा तटों से दूर बिछाई गई सुरंगों से बचाव की अनेक विधियाँ प्रयुक्त होती हैं। उथले जल जैसे बंदरगाह, गोदी तथा आंतरिक जलमार्ग में बिछाई गई सुरंगों को हटाने के लिये हटानेवाले गोताखोरों को प्रशिक्षित किया जाता है। वायुयान और हेलिकॉप्टर भी कुछ मदद करते हैं, लेकिन हटाने और सफाई का कार्य मुख्यत: सुरंग तोड़नेवाले पोतों द्वारा, जिन्हें 'सुरंग तोड़क' (Mine sweeper) कहते हैं, ही होता है।

सुरंगों का संसूचन — सुरंगों का पता लगाना सरल कार्य नहीं है। यह कार्य पहले सैनिक करते थे, लेकिन आजकल कुछ ऐसी युक्तियाँ बनी हैं जिनसे सुरंग की उपस्थिति का ज्ञान हो जाता है। इनमें से एक विधि को 'चुंबकीय संसूचक' कहते हैं। ऐसे एक उपकरण मे

'ईयर फोन' (Ear phone) लगा रहता है, जिससे सुरंग के ऊपर चलते हुए सिपाही के कानों में गुंजन सुनाई देता है। इन्हें 'विद्युत् चुंबकीय संसूचक' कहते हैं। ऐसी ध्वनि उन्हीं सुरंगों से आती है जो धातु की बनी होती हैं। अब अधातुओं की भी सुरंगें बनने लगी हैं। सुरंगों के तोड़ने का एक तरीका यह भी था कि सुरंगोंवाले क्षेत्र में विस्फोट उत्पन्न किया जाए, जिससे सुरंगें विस्फोटित होकर नष्ट हो जाएँ। इसे 'प्रत्युपायी सुरंग लगाना' (Counter mining) कहते हैं।

सुरंग तोड़क — एक विशिष्ट प्रकार के पोत होते हैं। इन पोतों में लगभग ६०० फुट लंबे तार के रस्से (Cable) लगे रहते हैं। ये रस्से पोत के एक किनारे से जुड़े रहते हैं। इन्हें 'तोड़न गियर' (Sweeping gear) कहते हैं। जल उत्प्लावक की, जिसे 'पैरावेन' (Paravane) कहते हैं, सहायता से ये रस्से जहाज से दूर रखे जाते हैं। पैरावेन डूबकर पेंदे में न चला जाय इसके लिये उनमें वायु का उत्प्लावक लगा रहता है।

तोड़न गियर सुरंगों को उनके निमज्जक से जोड़नेवाले तारों को पकड़ लेते हैं तथा उनमें लगे दाँतों की सहायता से काट देते हैं। इन तारों के कट जाने से सुरंग पानी पर तैरने लगती है और इसे राइफल फायर द्वारा नष्ट कर देते हैं।

प्रभावनाशक पोत — ये जहाज चुंबकीय या ध्वनिक सुरंगों को हटाने के लिये विशेष रूप से बनाए जाते हैं। चुंबकीय सुरंगतोड़क पोत के पिछले हिस्से से एक तार का रस्सा जुड़ा रहता है। पूरा पोत चुंबकीय गुण रहित होता है। इन रस्सों में विद्युद्धारा प्रवाहित कर चुंबकीय गुण उत्पन्न किया जाता है। इस कारण चुंबकीय सुरंगें जहाज के आगे निकल जाने के बाद विस्फोटित होकर नष्ट हो जाती हैं।

ध्वनिक सुरंग तोड़क पोत में डेरिक (Derrick) से एक ध्वनिक चप्पू (Acoustic sweep) लगा रहता है, जो उच्च तीव्रतावाली ध्वनि उत्पन्न करता है। इस कारण जहाज के उस स्थान पर पहुँचने से पूर्व ही सुरंग विस्फोटित होकर नष्ट हो जाती है। [मं०]

सुरत १. जिला, यह भारत के गुजरात राज्य का जिला है, जिसका क्षेत्रफल १२४३१ वर्ग किमी एवं जनसंख्या २४, ५१, ६२४(१९६१) है। इसके उत्तर में भरुच जिला, पश्चिम में अरबसागर तथा दक्षिण एवं पूर्व में महाराष्ट्र राज्य है। जिले की भूमि जलोढ़ मिट्टी से बनी है। ताप्ती एवं किम नदियों के अतिरिक्त कोई दूसरी बड़ी नदी जिले में नहीं है। यहाँ आम, इमली, केला, पीपल और अन्य वृक्ष मिलते हैं। बाघ, चीता, भालू, जंगली सुअर, भेड़िया, लकड़बग्घा, चित्तीदार हरिण और बारहसिंघा यहाँ के अन्य पशु हैं। यहाँ की मुख्य फसल कपास, धान, दलहन एवं मोटा अनाज (ज्वार, मक्का, बाजरा आदि) हैं। बलसाड़ एवं सुरत प्रमुख व्यापारिक केंद्र हैं। जिले में ६५ सेमी से २०० सेमी तक वर्षा होती है।

२. नगर, स्थिति — २१° १२' उ० अ० तथा ७२° ५०' पू० दे०। यह उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक नगर है और ताप्ती नदी के बाएँ किनारे पर नदी के मुहाने से २२ किमी दूर एवं बंबई से २६० किमी मील उत्तर में रेलमार्ग पर स्थित है। नगर में तंग गलियाँ एवं सुंदर भवन हैं। यह नगर व्यापार एवं निर्माण का केंद्र है। यहाँ सूती वस्त्र की मिलें और कपास को ओटने और उसे गाँठ में बाँधने के कारखाने हैं। धान कूटने के कारखाने तथा कागज, बर्फ एवं साबुन उद्योग हैं। महीन सूती एवं रेशमी वस्त्र यहाँ बुने जाते हैं। रेशमी किमखाब, सोने एवं चाँदी का तार, कालीन एवं दरी और चंदन उद्योग भी नगर में हैं। नगर का औसत ताप ६८° सें० एवं वर्षा १०० सेमी० है। मुगलकाल में यह प्रमुख बंदरगाह था। यहाँ की जनसंख्या २,८८,०२६ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

सुरथ (क) त्रिगर्त देश का राजा। यह महाभारत के युद्ध में जयद्रथ का अनुगामी था। द्रौपदीहरण के समय इसका नकुल के साथ युद्ध हुआ था और उन्हीं के द्वारा यह मार डाला गया।

(ख) एक प्राचीन नरेश जो यम की सभा में रहकर उन्हीं की उपासना किया करता था। [चं० भा० पां०]

सुरसा नागों की माता जिसके संबंध में तुलसीदास ने रामचरितमानस में लिखा है —

'सुरसा नाम अहिन की माता'

जब हनुमान लंका जा रहे थे तो इसने अपना मुँह फैलाकर इन्हें निगलना चाहा था, पर वे बड़े होते गए और अंत में जब सुरसा का मुँह कई योजन चौड़ा हो गया तो हनुमान छोटे बनकर उसके एक कान में से बाहर निकल आए। [रा० द्वि०]

सुरा (मदिरा, दारू, शराब, वाइन तथा स्पिरिट) सुरा का उपयोग इतना प्राचीन है कि यह पता लगाना संभव नहीं है कि सुरा को किसने और कब सर्वप्रथम तैयार किया और कौन उपयोग में लाया। मिस्र और भारत के प्राचीन निवासी इसके निर्माण और उपयोग से पूरे परिचित थे।

अनेक कवियों ने जैसे होमर, प्लिनी, शेक्सपियर, उमरखैयाम आदि ने सुरा का वर्णन किया है और कुछ ने उसकी प्रशंसा में कविताएँ भी लिखी हैं। संसार के प्राचीनतम ग्रंथ वेदों में सोमरस का उल्लेख मिलता है। संभवतः यह कोई किण्वित द्रव ही था, जिसका व्यवहार वैदिक काल में व्यापक रूप से होता था। भारत के प्राचीन आयुर्वेद ग्रंथ, चरकसंहिता और सुश्रुत में अनेक आसवों और उनके उपयोगों का सविस्तर वर्णन मिलता है। उनकी प्राप्ति की विधियों का भी उल्लेख है।

आज नाना प्रकार की सुराएँ तैयार होती हैं और उनका उपयोग व्यापक रूप से हो रहा है। इनके नाम भी अनेक हैं। कुछ तो जिस क्षेत्र में वे तैयार होती थीं या होती हैं, उनके नाम से जानी जाती हैं और कुछ जिन पदार्थों से तैयार होती हैं उनके नामों से जानी जाती हैं। सुरा प्रधानतया तीन प्रकार की होती है। कुछ को पेय सुरा (beverage), कुछ को बुदबुद सुरा (sparkling wine) और

कुछ को प्रबलित सुरा (fortified wine) कहते हैं। सुरा के सत को ऐल्कोहल कहते हैं। पेय सुरा में ऐल्कोहल की मात्रा कम रहती है, बुदबुद सुरा में उससे कुछ अधिक और प्रबलित सुरा में ऊपर से ऐल्कोहल डालकर उसे प्रबलित बनाया जाता है। सामान्य सुरा पेय सुरा होती है। इसमें ऐल्कोहल की मात्रा ४ से २० प्रतिशत तक रह सकती है। सामान्य किण्वन से ऐल्कोहल की मात्रा १२ प्रतिशत से अधिक नहीं हो पाती, क्योंकि इससे अधिक होने से किण्वन की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है तथा उसमें उपस्थित सक्रिय अभिकर्मक अधिक कार्य करने में सक्षम नहीं होते।

सुरा का रंग काला, लाल, गुलाबी, धूसर, हरा, सुनहरा या निरंग जल सदृश हो सकता है। स्वाद और सुवास में सुराएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। कुछ सुराएँ मीठी, कुछ शुष्क और कुछ तीक्ष्ण स्वाद वाली होती हैं। सुरा को मीठी बनाने के लिये कभी कभी ऊपर से शर्करा या शर्बत भी डाला जाता है। कुछ सुराओं में हाप (hop) का फूल डालकर उसको एक विशिष्ट स्वाद का बनाया जाता है। कुछ सुराओं में जड़ी बूटियाँ भी डाली जाती हैं, जिससे उनमें औषधीय गुण भी आ जाता है। बुदबुद सुरा में कार्बन डाइआक्साइड सदृश गैसें रहती हैं, जो सुरा में बँधी रहती हैं और ज्योंही बोतल खुलती है, उससे निकलती हैं, जिससे गैसों के बुदबुद निकलने लगते हैं। ऐसी सुरा में शैंपेन सर्वोत्कृष्ट समझी जाती है। प्रबलित सुरा में किण्वन पूरा होने के पहले ही ब्रैंडी डाल दी जाती है, जिससे और किण्वन रुक जाता है और अंगूर की शर्करा कुछ अकिण्वित रह जाती है। ऐसी सुरा पोर्ट और शेरी हैं। जब सुरा किण्वित रूप में ही, ज्यों की त्यों प्रयुक्त होती है, तब उसे सामान्य सुरा या वाइन कहते हैं। यदि उसे आसवन द्वारा आसुत कर इकट्ठा करते हैं, तो उसे सुरासव या स्पिरिट कहते हैं। इससे ऐल्कोहल की मात्रा अपेक्षतया अधिक हो जाती है। सुरासव में ऐल्कोहल के अतिरिक्त कुछ वाष्पशील पदार्थ जैसे एस्टर, ऐल्डीहाइड आदि रहते हैं, जिनसे सुरा में विशिष्ट प्रकार की बास और स्वाद आ जाते हैं। कुछ विशिष्ट सुराएँ ये हैं — बियर (beer), स्टाउट (stout), पोर्टर (porter), लागर (lager), पोर्ट (port), ब्रैंडी (brandy), शेरी (sherry), रम (rum), जिन (gin), क्लारेट (claret), शैंपेन (champagne), मडीरा (madeira), ह्विस्की (whisky), आदि।

बियर — सुरा बहुत प्राचीन काल से ज्ञात है। संभवतः यही सबसे पुरानी सुरा है, जिसका उल्लेख ईसा से कम से कम चार हजार वर्ष पूर्व से मिलता है। मिस्र और चीन के प्राचीन ग्रंथों में भी इसका उल्लेख आया है। यह माल्टीकृत अनाजों से बनती है। अनाजों में जौ, जई, गेहूँ, मक्का और चावल का प्रयोग आजकल होता है, पर अधिकांश बियर माल्टीकृत जौ से ही तैयार होती है। मधु और सेब से भी बियर बन सकती है। सबसे अधिक प्रयुक्त होनेवाली सुरा आज भी बियर ही है। इसकी कई किस्में हैं, जिनमें बियर, एल (ale), स्टाउट (stout), लागर (lager), और पोर्टर (porter) प्रमुख हैं। आज यूरोप और अमरीका के प्रायः सभी देशों में यह तैयार होती है। बियर में लगभग दो से छह प्रतिशत ऐल्कोहल रहता है। इसमें दस भागों में नौ भाग तो जल का ही रहता है, शेष के १०० ग्राम में कार्बोहाइड्रेट ४·४ ग्राम, प्रोटीन ०·६ ग्राम, कैल्सियम ४ मिलिग्राम, फास्फोरस २६ मिलिग्राम और राख ०·२ ग्राम रहती है।

किण्वन दो किस्म का हो सकता है। तली किण्वन या शीर्ष किण्वन। तली किण्वन में किण्वन के बाद यीस्ट पेंदे में बैठ जाता है। शीर्ष किण्वन में किण्वन के बाद यीस्ट शिखर पर झाग के रूप में इकट्ठा हो जाता है। अधिकांश बियर तली किण्वन से तैयार होता है। एल, स्टाउट और पोर्टर बियर शीर्ष किण्वन से तैयार होते हैं। मद्यकरण के समय ही उसमें हॉप डाला जाता है। तली किण्वन में किण्वन का ताप ४७ डिग्री से ५५ डिग्री फा० रहता है और उसको १,१ या इससे अधिक मास तक जीर्णन के लिये १ डिग्री सें० से २ डिग्री सें० ताप पर रख दिया जाता है। शीर्ष किण्वन में किण्वन का ताप ५८ डिग्री से ७५ डिग्री फा० रहता है और जीर्णन के लिये मद्य ४० डिग्री से ४५ डिग्री फा० तक पर छोड़ दिया जाता है। जीर्णन से बियर परिपक्व हो जाता है तथा परिपक्व होने पर वह स्वच्छ हो जाता है। उसमें मृदुता आ जाती है और वह कार्बन डाइआक्साइड से आविष्ट हो जाता है। इससे तैयार बियर के स्वाद में विशिष्टता आ जाती है।

बियर का रंग हलका पीला होता है। उसमें हॉप का स्वाद होता है। शीर्ष किण्वन से प्राप्त बियर को एल कहते हैं। पहले इसमें हॉप नहीं डाला जाता था। मान्य बियर में इससे कुछ अधिक ऐल्कोहल होता है। अतः अधिक पीने से यह मादक होता है। यह हल्के रंग का होता है तथा इसका स्वाद तीक्ष्ण। पोर्टर में लगभग ४ प्रतिशत ऐल्कोहल रहता है और चीनी भी रहती है। इससे पर्याप्त झाग निकलता है। स्टाउट बियर धुँधले रंग का होता है। इसमें माल्ट और हॉप का प्रबल स्वाद रहता है।

पोर्ट सुरा — यह मीठी और सामान्यतः गहरे लाल रंग की, पर कभी कभी पिंगल (Tawny) या सफेद भी होती है। इसकी अनेक किस्में हैं जो अंगूर की किस्मों, उत्पादन की विधि, बोतल में रखने की विधि और जीर्णनकाल पर निर्भर करती है। यह पहले पहल पुर्तगाल में बनी थी, पर आजकल प्रायः सभी यूरोपीय और अमरीकी देशों में बनती है। पिंगल पोर्ट का जीर्णन अधिक समय में होता है। पेंदे में बैठे तलछट को बार बार निकाल देने से इसका लाल रंग कुछ हलका हो जाता है। कम रंगीन, अंगूर से बनी पोर्ट सुरा भी हल्के रंग की होती है।

शेरी सुरा — यह भूख बढ़ानेवाली मीठी सुरा है, जिसका रंग हल्के से गाढ़े ऐंबर रंग का होता है। इसमें एक विशिष्ट प्रकार की मधुर गंध होती है। इसे फलवास सुरा भी कहते हैं। यह पोर्ट से कम मीठी होती है। शुष्क शेरी में २·५%, मध्य शेरी में ४% और सुनहरी शेरी में ७% तक द्राक्षशर्करा रहती है। मद्यकरण के समय कुछ मद्यकरण हो जाने पर ब्रैंडी डालकर अधिक मद्यकरण को रोक देते हैं। शेरी के रंग और स्वाद में जीर्णन पहले धूप में और बाद में छाया में संपन्न होता है। बहुधा नई सुरा में कुछ पुरानी सुरा मिलाकर इसके गुणों में एकरूपता लाते हैं। इसके लिये एक विशिष्ट पद्धति, जिसे सोलेरा (solera) पद्धति कहते हैं, अपनाई जाती है।

रम — ईख के रस या खोवा के किण्वन से और उत्पाद के आसवन से रम प्राप्त होता है। इसमें ऐल्कोहल की मात्रा, आयतन के अनुसार, ४३ से ७९ प्रतिशत तक रह सकती है। रम में एक विशिष्ट स्वाद होता है। कुछ लोग इसका कारण ऐस्टर का होना और कुछ लोग एक तेल रम आयल का होना बतलाते हैं। भिन्न भिन्न रमों में एस्टर की किस्म और मात्रा भिन्न भिन्न होती है। अनेक देशों में रम तैयार होता है और निर्माण के स्थान के नाम से पुकारा जाता है, जैसे जमाइका रम, डेमरारा रम आदि। कुछ रमों में फल, जैसे अनानास, डालकर विशिष्ट प्रकार के फल की गंध वाला रम तैयार करते हैं।

जिन — जुनिपर बेरी (Juniper berry) से सुवासित करने के कारण संभवतः इस सुरा का नाम जिन पड़ा। यह सुरा मक्का (७५%), माल्ट (१०%) और राई (एक प्रकार का गेहूँ सा अनाज (१०%) के किण्वन से यह तैयार होती है। अनाजों के स्वाद को बदलने के लिये जुनिपर बेरी के स्थान पर या साथ साथ धनियाँ, इलायची और नारंगी के छिलके आदि आजकल प्रयुक्त होते हैं। अमरीका में ८५% मक्का, १२%माल्ट और ३% राई के किण्वन तथा उसके उत्पादन के आसवन से जिन प्राप्त होता है। शर्बत डालने से मीठा जिन प्राप्त हो सकता है। विभिन्न देशों में प्रस्तुत जिन एक से नहीं होते। उनमें निर्माणविधि की विभिन्नता से स्वाद और वास में भिन्नता आ जाती है।

क्लैरेट — यह मानिक सदृश लाल रंग की सुरा है, जो सर्वोत्कृष्ट से लेकर सामान्य कोटि तक के अंगूरों से बनती है। खाने की मेज पर अन्य सुराओं की तुलना में यह सबसे अधिक प्रयुक्त होती है। इसका जीर्णन भी कई वर्षों तक रखकर किया जाता है। पर सर्वोत्कृष्ट कोटि का क्लैरेट अधिक जीर्ण नहीं होता। कुछ क्लैरेट में दस वर्षों तक जीर्णन से अच्छा स्वाद आता है। स्वाद में बीस वर्ष या इससे अधिक वर्षों तक सुधार होता रहता है। क्लैरेट कई प्रकार के होते हैं और इनकी जाति अंगूर के किस्म और तैयार करने की विधियों पर निर्भर करती है। अमरीका, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका तथा सभी यूरोपीय देशों मे क्लैरेट बनता है। सुगंधित अंगूर से बना क्लैरेट सर्वोत्कृष्ट कोटि का होता है।

शैंपेन — फ्रांस के शैंपेन नामक स्थान के नाम पर इस सुरा का नाम पड़ा है। यह सुनहरे या गुलाब के रंग की होती है। बोतल के खोलने के समय गैसों के निकलने से यह बुदबुदाती है अतः इसे बुदबुद सुरा भी कहते हैं। यह भी अंगूर से तैयार होती है। सम्मिश्रण मे भिन्न भिन्न स्वाद और सुवास के शैंपेन तैयार होते हैं। जीर्णित सुरा में कुछ शक्कर या शर्बत भी मिला दिया जाता है: इस शर्करा के किण्वन से जो कार्बन डाइआक्साइड बनता है उसे निकलने नहीं दिया जाता, वरन् सुरा में ही स्थिरीकृत कर लिया जाता है। यही गैस बोतल के खोलने पर बुलबुले देती है, जिससे इसका नाम बुदबुद शैंपेन पड़ा। इसे ऐसी बोतल में रखते हैं, जो १०१ पाउंड का दबाव सह सके और उसके मोटे काग इस्पात के शिकंजे से जकड़े होते हैं। किण्वन के समय कुछ तलछट भी बैठता है जिसे निकाल लेते हैं। सस्ते शैंपेन में बाहर से कार्बन डाइऑक्साइड डालकर उसे बुदबुद किस्म का बनाते हैं। शैंपेन मिष्ट, अर्धमिष्ट या अमिष्ट भी होता है।

मडीरा सुरा — मडीरा पोर्तुगाल के अधीन एक द्वीप है, जहाँ सुरा का उत्पादन बहुत दिनों से होता आ रहा है। पुर्तगालियों ने वहाँ अंगूर की खेती शुरू की और उससे वे शराब बनाने लगे। पहले वहाँ की शराब क्षेत्रीय उपयोग में ही आती थी, पर पीछे वह अनेक देशों में, जिनमें भारत भी है, बनने लगी है। यह अनेक प्रकार की होती है तथा अंगूर की किस्म और निर्माणविधि पर इसकी जाति निर्भर करती है। कुछ मडीरा बड़े गाढ़े रंग की होती है। उसके आसवन से ब्रैंडी भी तैयार होती है, जो अन्य सुराओं को प्रबलित करने में काम आती है। अंगूर के चुनाव, संमिश्रण और जीर्णन से उत्कृष्ट कोटि की मडीरा प्राप्त हो सकती है। पेय सुराओं में इसका स्थान प्रथम कोटि का है।

ब्रैंडी — (देखें ब्रैंडी)।

ह्विस्की — ह्विस्की का शाब्दिक अर्थ जीवन का जल है। यह ऐसा सुरासव या स्पिरिट है, जिसमें ऐल्कोहल की मात्रा सबसे अधिक रहती है। यह अनाजों से बनाई जाती है। गेहूँ से बनी ह्विस्की को गेहूँ ह्विस्की, जौ से बनी ह्विस्की को जौ ह्विस्की, चावल से बनी ह्विस्की को चावल ह्विस्की कहते हैं और इसी प्रकार राई ह्विस्की, मक्का ह्विस्की या माइड ह्विस्की भी होती है। यह निर्माण के स्थलों के नाम से भी जानी जाती है, जैसे स्कॉच ह्विस्की, आयरिश ह्विस्की, कैनेडियन ह्विस्की, अमरीकन ह्विस्की इत्यादि।

इसके निर्माण में तीन क्रम होते हैं। पहले क्रम में दले हुए अनाज (मैश, mash) को गरम पानी में मिला और चलाकर इससे वर्ट (wort, शर्कराओं का तनु विलयन) तैयार होता है। दूसरे क्रम में वर्ट का किण्वन होता है और उससे वह द्रव जिसे वाश (wash) कहते हैं, बनता है। तीसरे क्रम में वाश के आसवन से ऐल्कोहल आसुत होता है। पहले क्रम में दले हुए अनाज को भिगोकर उष्ण रखते हैं तथा उसमें माल्ट (यव्य) डाला जाता है। इससे अनाजों के स्टार्च का किण्वन होकर शर्करा बनती है। दूसरे क्रम मे शर्करा में यीस्ट डालकर किण्वन किया जाता है, जिससे शर्करा ऐल्कोहल में परिणत हो जाती है। इस प्रकार वाश बनता है और तीसरे क्रम मे वाश का आसवन होता है। आसुत में ऐल्कोहल की मात्रा ८०% या १६० डिग्री प्रूफ रहती है। इस अमिश्रित ह्विस्की को स्ट्रेट ह्विस्की (Straight whisky) कहते हैं। संमिश्रित ह्विस्की (Blended whisky) २०% अमिश्रित ह्विस्की होती है और शेष मे ऐल्कोहल और जल मिला रहता है। बांडेड ह्विसकी (Bonded whisky) में ५०% या १०० डिग्री प्रूफ ऐल्कोहल रहता है। ऐसी ह्विस्की का जीर्णनकाल कम से कम ४ वर्ष का होता है। ह्विस्की का जीर्णन ओक के बैरेल (बांज की लकड़ी से बने पीपों) में, जिनके अंदर का भाग आग से झुलसाया रहता है, संपन्न होता है।

ताजी ह्विस्की रंगहीन तथा स्वाद और वास में अरुचिकर होती है। इसमें अनुकूल स्वाद और गंध लाने के लिये इसे सुनियंत्रित रूप से परिपक्व किया जाता है। इस क्रिया को ही जीर्णन कहते हैं। जीर्णन से अनुकूल स्वाद और गंध के साथ साथ लकड़ी के पात्र से कुछ टैनिक अम्ल और वर्णक मिल जाता है, जिससे स्वाद और सुवास में विशिष्टता आ जाती है तथा रंग लाली लिए हुए भूरा हो जाता है। [अ० सि०]

सुरेंद्रनगर, जिला, भारत के गुजरात राज्य में स्थित है। इसके उत्तर में महेसाणा जिला, उत्तर पश्चिम में कच्छ का रन, पश्चिम एवं पश्चिम दक्षिण में राजकोट जिला, दक्षिण में भावनगर जिला, दक्षिण पूर्व तथा पूर्व उत्तर में अहमदाबाद जिला है। इस जिले का क्षेत्रफल १०,२४० वर्ग किमी एवं जनसंख्या ९,६३,२०६ (१९६१) है। सुरेंद्रनगर जिले का प्रशासनिक केंद्र है।

सुर्मा भारत के असम राज्य और पाकिस्तान के पूर्वी बंगाल की नदी है। मणिपुर की उत्तरी पर्वतमाला से यह नदी निकलती है। इस नदी का उद्गम जप्वो (Japvo) के दक्षिणी पर्वतस्कंधों के मध्य में है। यहाँ से निकलने के बाद यह मणिपुर की पहाड़ियों से होकर बहती है। मणिपुर एवं कछार में इस नदी का नाम बराक है। कछार जिले में बदरपुर से कुछ आगे यह दो शाखाओं में बँट जाती है — उत्तरी शाखा और दक्षिणी शाखा। उत्तरी शाखा सुर्मा कहलाती है और पूर्वी बंगाल के सिलहट जिले से होकर बहती है। दक्षिणी शाखा कुसियारा कहलाती है और यह पुनः बिबियाना या कालनी एवं बराक नामक शाखाओं में विभाजित हो जाती है। ये दोनों शाखाएँ आगे चलकर उत्तरी शाखा से मिल जाती हैं। पूर्वी बंगाल के मैमनसिंह जिले के भैरवबाजार नामक स्थान पर सुर्मा नदी ब्रह्मपुत्र की पुरानी शाखा से मिलती है। उद्गमस्थल से लेकर इस संगमस्थल तक सुर्मा नदी की कुल लंबाई लगभग ८९६ किमी है। अब यह इस संगमस्थल से लेकर नारायणगंज एवं चाँदपुर के मध्य तक, जहाँ सुर्मा एवं ब्रह्मपुत्र का संयुक्त जल गंगा से मिलता है, मेघना कहलाती है। [अ० ना० मे०]

सुलेमान (९६१-९२२ ई० पू०)। यहूदियों का राजा दाऊद और बेथसाबे का पुत्र। अपनी माता, याजक सादोक तथा नबी नाथन के संमिलित प्रयास से सुलेमान अपने अग्रज अदोन्या का अधिकार अस्वीकार कराने में समर्थ हुए और वह स्वयं राजा बन गए।

सुलेमान ने यरुसलेम का विश्वविख्यात मंदिर तथा बहुत से महल और दुर्ग बनवाए। उन्होंने व्यापार को भी प्रोत्साहन दिया। अपने अंतरराष्ट्रीय संबंधों को सुदृढ़ बना लेने के उद्देश्य से उन्होंने फराऊन की पुत्री के अतिरिक्त और बहुत सी विदेशी राजकुमारियों के साथ विवाह किया। वह कुशल प्रशासक थे। उन्होंने यरुसलेम के मंदिर को देश के धार्मिक जीवन का केंद्र बनाया और अनेक अन्य बातों में भी केंद्रीकरण को बढ़ावा दिया।

अपने निर्माण कार्यों के कारण उन्होंने प्रजा पर करों का अनुचित भार डाल दिया था जिससे उनकी मृत्यु के बाद विद्रोह हुआ और उनके राज्य के दो टुकड़े हो गए — (१) उत्तर में इसराएल अथवा समारिया जो जेरोबोआम के शासन में आ गया और जिसमें दस वंश संमिलित हुए, (२) दक्षिण में यूदा अथवा यरुसलेम, जिसमें दो वंश संमिलित थे और जो रोबोआम के शासन में आ गया।

परवर्ती पीढ़ियों ने सुलेमान को आदर्श के रूप में देखकर उनको यहूदियों का सबसे प्रतापी राजा मान लिया है किंतु वास्तविकता यह है कि अत्यधिक केंद्रीकरण तथा करभार के कारण उनका राज्यकाल विफलता में समाप्त हुआ। उनके द्वारा निर्मित भवन ही उनकी ख्याति के एकमात्र आधार थे। वह अपनी बुद्धिमानी के लिये प्रसिद्ध हुए और इस कारण नीति, उपदेशक, श्रेष्ठगीत, प्रज्ञा जैसे बाइबिल के अनेक परवर्ती प्रामाणिक ग्रंथों का श्रेय उनको दिया जाता था। कुछ अन्य अप्रामाणिक ग्रंथ भी उनके नाम पर प्रचलित हैं।

सं० ग्रं० — एनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी ऑव बाइबिल, न्यूयार्क, १९६३। [आ० बे०]

सुलेमान, डॉक्टर सर शाह मुहम्मद (सन् १८८६-१९४१) प्रसिद्ध वकील, न्यायाधीश तथा भारतीय वैज्ञानिक का जन्म जौनपुर (उ० प्र०) के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। वकालत इस परिवार का वंशगत पेशा थी। लगभग २५० वर्ष पूर्व रचित, फारसी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक ग्रंथ, शम्सेबजीघा, के लेखक, मुल्ला मुहम्मद, जिनका विद्वत्ता के लिये बादशाह शाहजहाँ के दरबार में बड़ा संमान था, इनके पूर्वजों में से थे। समरकंद में तैमूरलंग के पौत्र, उलुगबेग, ने खगोल के अध्ययन के लिये उस समय की सर्वोत्तम वेधशाला बनवाई थी। इसे देखकर तत्सदृश वेधशाला भारत में भी बनवाने के लिये शाहजहाँ ने इन्हें समरकंद भेजा था।

शाह मुहम्मद सुलेमान ने जौनपुर के स्कूल में प्रारंभिक शिक्षा पाने के बाद इलाहाबाद में उच्च शिक्षा प्राप्त की। आपने स्कूल और कॉलेज की सब परीक्षाएँ संमान सहित प्रथम श्रेणी में पास की। बी० एस-सी० परीक्षा में विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम आने के कारण आपको इंग्लैंड में अध्ययन करने के लिये छात्रवृत्ति भी मिली। इलाहाबाद में आपने डॉक्टर गणेशप्रसाद तथा इंग्लैंड में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जे० जे० टॉमसन के अधीन अध्ययन किया। इन दो विद्वानों के संपर्क से गणित और विज्ञान में आपकी अभिरुचि स्थायी हो गई। सन् १९१० में डब्लिन युनिवर्सिटी से एल-एल० डी० की उपाधि प्राप्त कर आप भारत लौट आए। जौनपुर में एक वर्ष काम करने के बाद आपने इलाहाबाद हाइकोर्ट में बैरिस्टरी प्रारंभ की, जिसमें इन्हें अद्भुत सफलता मिली। सन् १९२० में ये हाइकोर्ट के स्थानापन्न जज तथा लगभग ९ वर्ष बाद स्थानापन्न प्रधान न्यायाधीश नियुक्त हुए। इसके तीन वर्ष बाद आप इस पद पर स्थायी हो गए तथा सन् १९३७ में नवसंगठित संघ अदालत (Federal Court) के जज नियुक्त किए गए।

विधि के क्षेत्र में आपने जिस असाधारण योग्यता का परिचय दिया तथा ब्रिटिश शासन में न्यायाधीश के पद पर रहकर जिस निर्भीकता से काम किया उसकी प्रशंसा मुक्त कंठ से की जाती है। मेरठ षड्यंत्र के मामले का फैसला करने में मजिस्ट्रेट की अदालत को दो वर्ष तथा सेशन जज को चार वर्ष लगे थे, किंतु आपने आठ दिन में ही अपना फैसला सुना दिया और कुछ को निर्दोष बताकर छोड़ दिया। हाइकोर्ट और फेडरल कोर्ट में दिए गए आपके फैसलों की प्रशंसा भारत तथा इंग्लैंड के विधिपंडितों द्वारा की गई है। अपने कार्यकाल में न्यायालय के अधिकारों की रक्षा के लिये सरकार का विरोध करने में भी आपने हिचक न की।

कानून के क्षेत्र में अधिकाधिक व्यस्त रहते और उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए भी डॉक्टर सुलेमान ने गणित और विज्ञान से अपना संबंध नहीं तोड़ा, वरन् अपनी स्वतंत्र और मौलिक गवेषणाओं के कारण स्वदेश और विदेशों में प्रसिद्धि प्राप्त की। आइंस्टाइन द्वारा प्रतिपादित महत्वपूर्ण, क्रांतिकारी, अति जटिल आपेक्षिकता सिद्धांत का आपने विस्तृत अध्ययन किया। इस संबंध में अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिये आपने 'सायंस ऐंड कल्चर' नामक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्रिका में एक लेखमाला लिखी थी। डॉक्टर सुलेमान ने प्रकाश की गति के लिये एक समीकरण स्थापित किया, जो आइंस्टाइन के समीकरण से भिन्न था। इसे इन्होंने प्रकाशित कर दिया। सूर्य के निकट से होकर आनेवाले प्रकाश के पथ में विचलन का सर सुलेमान की गणना से प्राप्त मान आइंस्टाइन की गणना से प्राप्त मान से अधिक सही पाया गया। सूर्यप्रकाश के स्पेक्ट्रम में कुछ तत्वों की रेखाएँ प्रयोगशाला में उत्पादित इन्हीं तत्वों की रेखाओं के स्थान से कुछ हटी हुई पाई जाती हैं। आइंस्टाइन के मतानुसार यह हटाव सूर्य के सभी भागों से आनेवाले प्रकाश में समान रूप से पाया जाना चाहिए, पर वास्तविकता इसके प्रतिकूल थी। डॉक्टर सुलेमान ने अपनी गणना से इसका भी समाधान किया।

सन् १९४१ में 'नैशनल एकेडमी ऑव सायंसेज' के दिल्ली में हुए वार्षिक अधिवेशन के आप सभापति मनोनीत हुए थे। इस समय आपने गणित पर आधारित प्रकाश की प्रकृति के संबंध में जो विचार व्यक्त किए थे, उनसे वैज्ञानिक प्रभावित हुए थे। 'इंडियन सायंस न्यूज़ ऐसोसिएशन' के आप प्रमुख सदस्य तथा 'करेंट सायंस' और 'सायंस ऐंड कल्चर' नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्रिकाओं के संपादकीय बोर्ड के सदस्य भी थे।

शिक्षा के क्षेत्र में भी आपने महत्वपूर्ण योगदान दिया। आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कोर्ट तथा एक्जिक्यूटिव काउंसिल के सदस्य निर्वाचित हुए और अलीगढ़ विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर नियुक्त किए गए थे। आपके उद्योगों से अलीगढ़ विश्वविद्यालय ने बहुत उन्नति की। विश्वविद्यालय की उच्च परीक्षाओं में आपने उर्दू को स्थान दिलाया। प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार में सक्रिय भाग लेने के कारण आप अखिल भारतीय प्रौढ़ शिक्षा समेलन के सभापति चुने गए।

डॉक्टर सुलेमान की रहन सहन बड़ी सादी थी। इनके संपर्क में जो कोई भी आता था, उनके विचारों और विद्वत्ता से प्रभावित तो होता ही था, उनकी नम्रता, मिलनसारी और सौजन्य का भी कायल हो जाता था। [श्री ना० सिं०]

सुलोचना मेघनाद की पतिपरायणा, साध्वी स्त्री जिसके विलाप का रामायण में विशद वर्णन है। कहा जाता है, यह स्वयं शेषनाग की कन्या थी। इसी नाम की पत्नी विक्रम के पुत्र माधव की भी थी जिसे आदर्श भार्या कहा जाता है। [रा० द्वि०]

सुल्तान (बहुवचन सलातीन salatin) विजेता, नरेश, संप्रभु, रानी, पूर्ण सत्ता तथा निरंकुश शक्ति इसके शाब्दिक अर्थ हैं। 'शक्ति' या 'बल' के अर्थ में यह कुरान में प्रयुक्त भी हुआ है। क्षेत्रविशेष के शक्तिशाली शासक एवं स्वतंत्र संप्रभु के अर्थ में सुल्तान की उपाधि धारण करनेवाला प्रथम व्यक्ति था महमूद गजनवी।

सं० ग्रं०—टी० डब्ल्यू० आर्नाल्ड : कैलीफेट, लंदन १९२४; अल उत्बी : किताबुल यामिनी, अनुवादक जे० रेनाल्ड्स, लंदन १८५८। [मु० या०]

सुल्तानपुर १. जिला, यह भारत के उत्तरप्रदेश राज्य का जिला है जिसका क्षेत्रफल ४३८४ वर्ग किमी एवं जनसंख्या १४,१२,९८४ (१९६१) है। इसके उत्तर में बाराबंकी एवं फैजाबाद, पूर्व में जौनपुर, दक्षिण में जौनपुर एवं प्रतापगढ़ और पश्चिम में रायबरेली एवं बाराबंकी जिले हैं। यहाँ की मुख्य नदी गोमती है जो जिले में उत्तरी पश्चिमी कोने से प्रवेश करती है और जिले के मध्य से बहती हुई दक्षिण पूर्व की ओर जाती है। यहाँ पर अनेक छिछली झीलें हैं, पर किसी का विस्तार पर्याप्त नहीं है और न उनका कोई महत्व ही है। जिले का अधिकांश भूभाग समतल है। धान यहाँ की सबसे महत्वपूर्ण फसल है। इसके अतिरिक्त चना, गेहूँ, जौ, मटर, मसूर एवं गन्ना अन्य फसलें हैं। जिले में आम, जामुन और महुआ के वृक्ष पर्याप्त संख्या में हैं। भेड़िया, गीदड़, नीलगाय एवं जंगली सुअर जिले में मिलनेवाले वन्य पशु हैं। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा ४३ इंच है। यहाँ की भूमि जलोढ़ मिट्टी से बनी है।

२. नगर, स्थिति : २६° १५' उ० अ० तथा ८२° ५' पू० दे०। यह नगर उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक केंद्र है, गोमती नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है और अनाज व्यवसाय का केंद्र है। यहाँ की जनसंख्या २६,०८१ (१९६१) है।

सुवर्णरेखा भारत के बिहार राज्य की नदी है, जो राँची नगर से १६ किमी० दक्षिण पश्चिम से निकलती है और उत्तर पूर्व की ओर बहती हुई मुख्य पठार को छोड़कर प्रपात के रूप में गिरती है। इस प्रपात को हुंडुघाघ (hundrughagh) कहते हैं। प्रपात के रूप में गिरने के बाद नदी का बहाव पूर्व की ओर हो जाता है और मानभूम जिले के तीन संगमबिंदुओं के आगे यह दक्षिणपूर्व की ओर मुड़कर सिंहभूम में बहती हुई उत्तर पश्चिम से मिदनापुर जिले में प्रविष्ट होती है। इस जिले के पश्चिमी भूभाग के जंगलों में बहती हुई बालेश्वर जिले में पहुँचती है। यह पूर्व पश्चिम की ओर टेढ़ी-मेढ़ी बहती हुई बालेश्वर नामक स्थान पर बंगाल की खाड़ी में गिरती है। इस नदी की कुल लंबाई ४७४ किमी० है और लगभग २८९२८ वर्ग किमी० का जलनिकास इसके द्वारा होता है। इसकी प्रमुख सहायक नदियाँ काँची एवं करकरी हैं। भारत का प्रसिद्ध एवं पहला लोहे तथा इस्पात का कारखाना इसके किनारे स्थापित हुआ। कारखाने के संस्थापक जमशेद जी टाटा के नाम पर बसा यहाँ का नगर जमशेदपुर या टाटानगर कहा जाता है। अपने मुहाने से ऊपर की ओर यह १६ मील तक देशी नावों के लिये नौगम्य है।

[अ० ना० मे०]

सुविधाधिकार शब्द फ्रेंच अथवा नॉर्मन उद्भव का प्रतीत होता है। सुविधाधिकार संभवतः उतना ही प्राचीन है जितना संपत्ति का

अधिकार है। इसकी पहली परिभाषा Termes de Laley नामक पुस्तक में दी गई है।

हिंदू और मुस्लिम दोनों कानूनों की पुस्तकों में सुविधाधिकारों की चर्चा मिलती है परंतु ब्रिटिश भारत के न्यायालय इनको लागू नहीं करते थे हालांकि ऐसे व्यक्तिगत कानूनों को वे लागू कर सकते थे जो न्याय, साम्य और स्वच्छ अंतःकरण के विरुद्ध नहीं थे या जो रूढ़ि अथवा प्रथा का रूप धारण कर चुके थे। भारत की भिन्न स्थिति देखते हुए अंग्रेजी कानून के नियमों को भी यहाँ लागू नहीं किया जा सकता था। इसलिये भारत में, शुरू शुरू में ही, इस विषय पर संहिताकृत कानून की आवश्यकता अनुभव की गई। सन् १८८२ में भारतीय सुविधाधिकार कानून पास किया गया। यह कानून मुख्यत: ह्विटले स्टोक्स के मसौदे पर आधारित था। आरंभ में यह कानून केवल मद्रास, कुर्ग और मध्यप्रांत (अब मध्यप्रदेश) ही में लागू किया गया परंतु समय समय पर इसे अन्य क्षेत्रों में लागू किया जाता रहा। सुविधाधिकार विधेयक पास होने से पूर्व सुविधाधिकार संबंधी कानून इंडियन लिमिटेशन ऐक्ट १८७७, में शामिल था।

भारतीय सुविधाधिकार विधेयक में सुविधाधिकार की यह परिभाषा दी गई है : 'वह अधिकार जो किसी भूमि के स्वामी अथवा अधिभोक्ता को उस भूमि के लाभकारी उपयोग के लिये किसी ऐसी भूमि में अथवा ऐसी भूमि पर या उसके संबंध में दिया गया है जो उसकी नहीं है — कुछ करने का अधिकार अथवा करते रहने का अधिकार, या कुछ करने से रोकने का अधिकार अथवा रोके रहने का अधिकार।'

जिस भूमि के लाभकारी उपयोग के लिये यह अधिकार दिया जाता है उसे सुविधाधिकारी भूमि कहते हैं — उस भूमि के स्वामी अथवा अधिभोक्ता को सुविधाधिकारी स्वामी कहते हैं। जिस भूमि पर यह दायित्व लागू होता है उसे सुविधाभारित भूमि और उसके स्वामी अथवा अधिभोक्ता को सुविधाभारित स्वामी कहते हैं। 'क' नामक एक मकान मालिक को 'ख' की भूमि पर जाकर वहाँ से अपने इस्तेमाल के लिये एक सोते से पानी लेने का अधिकार है — यह सुविधाधिकार कहलाएगा।

सुविधाधिकार सकारात्मक हो सकता है अथवा नकारात्मक — यह निरंतर हो सकता है अथवा सविराम। सुविधाभारित भूमि पर कुछ करने का अधिकार अथवा करते रहने का अधिकार सकारात्मक सुविधाधिकार है — इसपर कुछ करने से रोकने का अधिकार अथवा रोके रहने का अधिकार नकारात्मक सुविधाधिकार है। निरंतर सुविधाधिकार वह है जिसका उपभोग अथवा निरंतर उपभोग मनुष्य द्वारा कुछ किए बिना ही होता रहता है जैसे रोशनी पाने का अधिकार। सविराम सुविधाधिकार वह है जिसके उपयोग के लिये मनुष्य का सक्रिय सहयोग अनिवार्य है, जैसे गुजरने के लिये रास्ते का उपयोग।

सुविधाधिकार प्रत्यक्ष हो सकता है अथवा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष सुविधाधिकार वह है जिसमें इसके अस्तित्व का कोई दिखाई देनेवाला स्थायी चिह्न हो। अगर ऐसा कोई दिखाई देनेवाला चिह्न नहीं है, तो सुविधाधिकार अप्रत्यक्ष होगा।

सुविधाधिकार स्थायी हो सकता है अथवा नियतकालिक अथवा नियतकालिक बाधायुक्त। सुविधाधिकार केवल विशेष स्थान अथवा विशेष समय के लिये या किसी विशेष उद्देश्य के लिये भी हो सकता है।

सुविधाधिकार की प्राप्ति अभिव्यक्त अथवा ध्वनित अनुदान से हो सकती है या लंबे अर्से तक इसके उपयोग से हो सकती है; चिरभोग से हो सकती है अथवा इसके रूढ़ि बन जाने से हो सकती है। जहाँ सुविधाधिकार आवश्यक हो, वहाँ कानून ध्वनित सुविधाधिकार स्वीकार करता है, जैसे एक इमारत की अदला बदली या विभाजन के फलस्वरूप अगर इसे दो या दो से अधिक अलग हिस्सों में विभाजित किया जाए और इन हिस्सों में से कोई एक इस स्थिति में हो कि उसे जब तक अन्य हिस्सों पर कोई विशेषाधिकार नहीं दे दिया जाता, तब तक उसका सदुपयोग नहीं हो सकता, तो इस विशेषाधिकार चिरभोग को कानून स्वीकार करेगा और इसे ध्वनित विशेषाधिकार कहेंगे। चिरभोग द्वारा विशेषाधिकार की स्वीकृति के लिये यह अनिवार्य है कि पिछले बीस वर्ष से बगैर किसी बाधा के इस अधिकार का उपयोग किया गया हो। सुविधाधिकारी और सुविधाभारित के बीच हुए समझौते के फलस्वरूप अगर किसी अधिकार का उपभोग किया गया है तो उससे चिरभोग सुविधाधिकार की प्राप्ति नहीं होती। ऐसी बाधा से जिसे सुविधाधिकारी ने एक वर्ष तक मौन स्वीकृति न दी हो या ऐसी बाधा से जिसे सुविधाधिकारी और सुविधाभारित के बीच हुए समझौते में स्वीकार किया गया हो, उपभोग की निरंतरता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और इस तरह चिरभोग द्वारा सुविधाधिकार की प्राप्ति में कोई रुकावट नहीं पड़ती।

रूढ़ि द्वारा सुविधाधिकार की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि रूढ़ि प्राचीन, एकरूप और युक्तिसंगत हो। उसका निरंतर शांतिपूर्वक और खुलेआम उपभोग होता रहा हो।

रूढ़िसंबंधी सुविधाधिकारों अथवा अभिव्यक्त अनुदान से उत्पन्न सुविधाधिकारों को छोड़कर बाकी सुविधाधिकारों और सुविधाभारित स्वामियों के लिये भारतीय सुविधाधिकार विधेयक में कुछ सामान्य कर्तव्य और अधिकार निर्धारित किए गए हैं, जैसे सुविधाधिकारी को अपने अधिकार का उपभोग उस ढंग से करना चाहिए जो सुविधाभारित स्वामियों के लिये कम से कम दुर्भर हो; सुविधाधिकार के उपभोग के कर्म के फलस्वरूप अगर सुविधाभारित संपत्ति इत्यादि को कोई क्षति पहुँचती है, तो जहाँ तक संभव हो सुविधाधिकारी को उसकी पूर्ति करनी चाहिए।

विधेयक के अंतर्गत सुविधाधिकारी स्वामी से यह अधिकार छीन लिया गया है कि वह सुविधाधिकारी के रास्ते में डाली गई अनुचित बाधाओं का स्वयं शमन कर दे।

सुविधाधिकार की समाप्ति, निर्मुक्ति अथवा अभ्यर्पण अथवा नियत अवधि की समाप्ति पर हो सकती है। इसके अतिरिक्त इससे संलग्न समाप्ति अवस्था के उत्पन्न हो जाने पर भी इसकी समाप्ति हो सकती है। आवश्यकतासंबंधी सुविधाधिकार की समाप्ति उस आवश्यकता की समाप्ति पर हो सकती है जिसके लिये यह सुविधाधिकार दिया गया था।

सुविधाधिकारी संपत्ति के लाभकारी उपयोग के लिये ही सुविधाधिकार दिया जाता है, इसलिये सुविधाधारित स्वामी को इसे चालू रखने की माँग करने का अधिकार नहीं है।

अंग्रेजी कानून में परस्वभोग वर्ग में अधिकारों को स्वीकार किया गया है। भारतीय कानून में ऐसा नहीं है।

परस्वभोग अधिकार वे हैं जो पड़ोसी भूमि के लाभों में भाग लेने से संबद्ध हैं, जैसे चरागाह के अधिकार या शिकार अथवा मछली पकड़ने का अधिकार।

सुब्ल्येरा, पियर (१६९९-१७४९) फ्रेंच चित्रकार; जन्म उसेस में हुआ। अपने पिता और अंतोनी रिवाल्ज के पास कला की शिक्षा ग्रहण करते रहे। सन् १७२४ में पैरिस आकर दो साल में ही अपना कौशल दिखाया और सन् १७२६ में 'पीत सर्प' शीर्षक कलाकृति पर फ्रेंच अकादमी की ओर से पुरस्कार पाया। वहाँ से रोम जाकर सन् १७३९ में मारिया फेलिस तिवाल्दी नामक युवती चित्रकार से, जो लघुचित्र बनाने में ख्यातिप्राप्त थी, विवाह कर लिया। सुंदर रचना, रंगविन्यास की श्रेष्ठता और कोमल प्रभाव इनके चित्रों की विशेषताएँ रही। रोम में और फ्रांस की लोवरी मे इनके चित्र रखे हैं। [भा० स०]

सुश्रुत संहिता का संबंध सुश्रुत से है। सुश्रुत संहिता में सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र कहा है। विश्वामित्र से कौन से विश्वामित्र अभिप्रेत हैं, यह स्पष्ट नहीं। सुश्रुत ने काशीपति दिवोदास से शल्यतंत्र का उपदेश प्राप्त किया था। काशीपति दिवोदास का समय ईसा पूर्व की दूसरी या तीसरी शती संभावित है, (आ० बृ० इ० पु० १८३-१८८)। सुश्रुत के सहपाठी औपधेनव, वैतरणी आदि अनेक छात्र थे। सुश्रुत का नाम नावनीतक में भी आता है। अष्टांगसंग्रह में सुश्रुत का जो मत उद्धृत किया गया है; वह मत सुश्रुतसंहिता में नहीं मिलता; इससे अनुमान होता है कि सुश्रुतसंहिता के सिवाय दूसरी भी कोई संहिता सुश्रुत के नाम से प्रसिद्ध थी।

सुश्रुत के नाम पर आयुर्वेद भी प्रसिद्ध है। यह सुश्रुत राजर्षि शालिहोत्र के पुत्र कहे जाते हैं (शालिहोत्रेण गर्गेण सुश्रुतेन च भाषितम् — सिद्धोपदेशसंग्रह)। सुश्रुत के उत्तरतंत्र को दूसरे का बनाया मानकर कुछ लोग प्रथम भाग को सुश्रुत के नाम से कहते हैं; जो विचारणीय है। वास्तव में सुश्रुत संहिता एक ही व्यक्ति की रचना है। [अ० दे० वि०]

सुसमाचार मुक्ति की खुशखबरी के लिये बाइबिल में जिस यूनानी शब्द का प्रयोग हुआ है, उसका विकृत रूप 'इंजील' है; इसी का शाब्दिक अनुवाद हिंदी में 'सुसमाचार' और अंग्रेजी में गास्पेल (Good spell) है। सुसमाचार का सामान्य अर्थ है ईसा मसीह द्वारा मुक्तिविधान की खुशखबरी (दे० ईसा मसीह)। बाइबिल के उत्तरार्ध में ईसा की जीवनी तथा शिक्षा का चार भिन्न लेखकों द्वारा वर्णन किया गया है; इन चार ग्रंथों को भी सुसमाचार कहते हैं; इनका पूरा शीर्षक इस प्रकार है — संत मत्ती (अथवा मार्क, लूक, योहन के अनुसार येसु ख्रीस्त का सुसमाचार (दे० बाइबिल)। इन चारों को छोड़कर चर्च ने कभी किसी अन्य ग्रंथ को सुसमाचार रूप में नहीं ग्रहण किया है। संत योहन ने १०० ई० के लगभग अपने सुसमाचार की रचना की थी; शेष सुसमाचारलेखकों ने ५५ ई० और ६५ ई० के बीच लिखा था। मत्ती और योहन ईसा के पट्ट शिष्य थे; मार्क संत पीटर और संत पाल के शिष्य थे और लूक संत पाल की यात्राओं में उनके साथी थे।

ऐतिहासिकता — ईसा की मृत्यु (३० ई०) के बाद २०-३० वर्षों तक सुसमाचार मौखिक रूप में प्रचलित रहा; उसे लिपिबद्ध करने की आवश्यकता तब प्रतीत हुई जब ईसाई धर्म फिलिस्तीन के बाहर फैलने लगा और ईसा की जीवनी के प्रत्यक्षदर्शियों की मृत्यु होने लगी। ईसा के शिष्यों ने अपने गुरु के जीवन की घटनाओं पर चिंतन किया था और उनसे कुछ निष्कर्ष निकाले थे जो सुसमाचार की प्रारंभिक मौखिक परंपरा में संमिलित किए गए थे, फिर भी उस मौखिक परंपरा में उन घटनाओं का सच्चा रूप प्रस्तुत हुआ था क्योंकि प्रत्यक्षदर्शी तथा ईसा के शिष्य जीवित थे और सुसमाचार की सच्चाई पर नियंत्रण रखते थे। इस प्रकार सुसमाचारों के वर्तमान रूप में तीन सोपान परिलक्षित हैं अर्थात् ईसा का जीवनकाल, मौखिक परंपरा की अवधि और सुसमाचारों को लिपिबद्ध करने का समय।

प्रथम तीन सुसमाचार : मत्ती, मार्क और लूक के सुसमाचारों की पर्याप्त सामग्री तीनों में समान रूप में मिलती है, उदाहरणार्थ मार्क की बहुत सामग्री मत्ती और लूक में भी विद्यमान है। शैली, शब्दावली, बहुत सी घटनाओं के क्रम आदि बातों की दृष्टि से भी तीनों रचनाओं में सादृश्य है। दूसरी ओर उन तीनों रचनाओं में पर्याप्त भिन्नता भी पाई जाती है। कुछ बातें केवल एक सुसमाचार में विद्यमान हैं। अन्य बातें एक ही प्रकार से, एक ही स्थान में अथवा एक ही संदर्भ में नहीं प्रस्तुत की गई हैं। और जो बातें बहुत कुछ एक ही ढंग से दी गई हैं उनमें शब्दों के क्रम और चयन में अंतर आ गया है। विद्वानों ने उस सादृश्य एवं भिन्नता के अनेक कारण बताए हैं — (१) तीनों सुसमाचार एक ही सामान्य मौखिक परंपरा के आधार पर लिपिबद्ध किए गए हैं; (२) तीनों लिखित रूप में एक दूसरे पर आधारित हैं; (३) तीनों की रचना भिन्न मौखिक और लिखित सामग्री के आधार पर हुई थी। इन कारणों के समन्वय से ही इस समस्या का पूरा समाधान संभव है।

प्राचीन काल से सुसमाचारों को एक ही कथासूत्र में ग्रथित करने का प्रयास किया गया है; हिंदी में इसका एक उदाहरण है — मुक्तिदाता, काथलिक प्रेस, राँची (चतुर्थ संस्करण, १९६३)।

संत मत्ती का सुसमाचार — यह लगभग ५० ई० में इब्रानी बोलचाल की अरामेयिक भाषा में लिखा गया था; इसका यूनानी अनुवाद लगभग ६५ ई० में तैयार हुआ। मूल अरामेयिक अप्राप्य है। ईसा बाइबिल में प्रतिज्ञात मसीह और ईश्वर के अवतार हैं, यह बात यहूदियों के लिये स्पष्ट कर देना संत मत्ती का मुख्य उद्देश्य है। संत मत्ती ने घटनाओं के कालक्रम पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया है। इस सुसमाचार की

भूमिका में ईसा का शैशव वर्णित है, इसके बाद उनकी जीवनी पाँच प्रकरणों में विभाजित है। प्रत्येक प्रकरण के अंत में ईसा का एक विस्तृत प्रवचन उद्धृत है। लोकप्रसिद्ध पर्वतप्रवचन (सरमन ऑन दि माउंट) इनमें से प्रथम है (अध्याय ५-७)। अंतिम प्रवचन येरुसलेम के भावी विनाश तथा संसार के अंत से संबंध रखता है। (अध्याय २४-२५)। उपसंहार में ईसा का दुःखभोग और पुनरुत्थान वर्णित है (अध्याय २६-२८)।

संत मार्क का सुसमाचार — संत मार्क रोम में संत पीटर के दुभाषिया थे। वहीं उन्होंने लगभग ६४ ई० में संत पीटर के प्रवचनों के आधार पर अपरिष्कृत यूनानी भाषा में अपना सुसमाचार लिखा था। ईसा के विषय में प्राचीनतम तथा सरलतम शिक्षा इस सुसमाचार में लिपिबद्ध की गई है। घटनाएँ कालक्रमानुसार दी गई हैं— प्रारंभ में योहन बपतिस्ता का कार्यकलाप वर्णित है (दे० योहन बपतिस्ता), अनंतर गलीलिया (अध्याय २-६) और इसके बाद यहूदिया तथा येरुसलेम (अ० १०-१३) में ईसा के प्रवचनों और चमत्कारों का विवरण है; अंतिम अध्यायों (१४-१६) का विषय है ईसा का दुःखभोग और पुनरुत्थान। संत मार्क गैर यहूदी ईसाइयों को समझाना चाहते हैं कि ईसा के प्रवचन और चमत्कार यह सिद्ध करते हैं कि वह ईश्वर भी हैं और मनुष्य भी।

संत लूक का सुसमाचार — अधिक संभव है, गैर यहूदी संत लूक अंतिओक के निवासी थे। उन्होंने रोम अथवा यूनान में ७० ई० से पहले सुपरिष्कृत यूनानी भाषा में अपने सुसमाचार की रचना की थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने पट्ट शिष्यों का कार्यकलाप (ऐक्ट्स ऑव दि एपोसल्स) नामक बैबिल के नवविधान का पंचम ग्रंथ भी लिखा है। वह विशेष रूप से पापियों के प्रति ईसा की दयालुता और दीन-हीन लोगों के प्रति उनकी सहानुभूति का चित्रण करते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि ईसा ने समस्त मानव जाति के लिये मुक्ति के उपाय प्रस्तुत किए हैं। ईसा के शैशव (अध्याय १-२) तथा योहन बपतिस्ता के उपदेशों की चर्चा (अ०३) करने के बाद संत लूक ने अपने सुसमाचार में कालक्रम की अपेक्षा प्रतिपाद्य विषय पर अधिक ध्यान दिया है। ईसा के प्रवचनों तथा चमत्कारों का वर्णन करते हुए उन्होंने इसका बराबर उल्लेख किया है कि ईसा गलीलियो से राजधानी येरुसलेम की ओर बढ़ते जाते हैं, वहाँ पहुँचकर वह क्रूस पर मरकर तीन दिनों के बाद पुनर्जीवित हो जाते हैं। संत मार्क की प्रायः समस्त सामग्री इस सुसमाचार में भी विद्यमान है; दो अंशों की सामग्री और किसी सुसमाचार में नहीं मिलती। (दे० अध्याय ६,२०-८,३ और ६,५१-१८,१४)।

संत योहन का सुसमाचार — ईसा के पट्ट शिष्य योहन ने अपने दीर्घ जीवन के अंत में १०० ई० के आस पास संभवतः एफसस में अपने सुसमाचार की रचना की थी, इसके पहले उन्होंने तीन पत्र और प्रकाशना ग्रंथ भी लिखा था—ये चार रचनाएँ भी बाइबिल के नवविधान में संमिलित हैं। सन् १६३५ ई० में संत योहन के सुसमाचार की खंडित हस्तलिपियाँ मिल गई हैं जिनका लिपिकाल १५० ई० के कुछ पूर्व है।

अन्य सुसमाचारों के ३०-४० वर्ष बाद इस ग्रंथ की रचना हुई थी। उन तीन रचनाओं में छूटी हुई सामग्री का संकलन करना संत योहन का उद्देश्य नहीं है। वह ईसा की जीवनी के विषय में अपनी व्याख्या करते हैं और उनके प्रवचनों तथा कार्यों का गूढ़ एवं आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट करते हैं। वह ईसा के ऐसे चमत्कारों का भी उल्लेख करते हैं जो अन्य सुसमाचारों में नहीं मिलते। ईसा की कई येरुसलेम यात्राओं का वर्णन करते हैं और भूगोल एवं कालक्रम विषयक कई नए तथ्यों का भी उद्घाटन करते हैं। वह बहुधा ईसा के प्रवचन अपने ही शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है—ईसा ईश्वर का शब्द है (दे० त्रित्व); वह ईसा संसार के अंधकार में आकर उसकी ज्योति बन गए हैं। जो इस ज्योति को ग्रहण करने से इनकार करते हैं वे अंधकार में रहकर मुक्ति के भागी नहीं हो पाएँगे।

सं० ग्रं० — एनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी ऑव दि बाइबिल, न्यूयार्क १९६३। [का० बे०]

सुहागा एक क्रिस्टलीय ठोस पदार्थ है जो अनेक निक्षेपों विशेषतः तिब्बत, कैलिफोर्निया, पेरू, कनाडा, अर्जेंटिना, चिली, टर्की, इटली और रूस में साधारणतया टिंकल (Tincal) ($Na_2B_4O_7$ $10H_2O$) के रूप में पाया जाता है। इसके खनिज रेसोराइट (Rasorite) ($Na_2B_4O_7, 4H_2O$) और कोलेमैनाइट (Colemanite, $Ca_2B_6O_{11}$ $5H_2O$) भी पाए जाते हैं।

सुहागे के सामान्य क्रिस्टलीय रूप का सूत्र ($Na_2B_4O_7$ $10H_2O$) है जो सामान्य ताप पर सुहागे के विलयन के क्रिस्टलन से क्रिस्टल के रूप में प्राप्त होता है। ६०° सें० से ऊपर गरम करने से यह अष्टफलकीय पेंटाहाइड्रेट (octahedral pentahydrate) (जौहरी के सुहागे) में परिणत हो जाता है। इसका जलीय विलयन क्षारीय होता है। हाइड्रोजन पेरॉक्साइड के उपचार से यह 'परबोरेट' सो बो औ३ ४ हा२ औ ($NaBO_3 \cdot 4H_2O$) बनता है जिसका उपयोग विरंजक या ऑक्सीकारक के रूप में होता है। गरम करने से इसका कुछ जल निकल जाता है जिससे यह स्वच्छ काँच सा पदार्थ बन जाता है। पिघला हुआ सुहागा धातुओं के अनेक ऑक्साइडों से मिलकर बोरन काँच बनाता है जिसके विशिष्ट रंग होते हैं। इनका उपयोग रसायन विश्लेषण में होता है।

सुहागा का उपयोग धातुकर्म में ऑक्साइड धातु मलों के निकालने, धातुओं पर टाँका देने या संधान में, धातुओं के पहचानने, पानी के मृदु बनाने और रंगीन चमकीले ग्लेज़ तैयार करने में होता है। काँच और लोहे के पात्रों पर इसका इनेमल भी चढ़ाया जाता है। इससे महत्व का, ओषधियों में उपयुक्त होनेवाला कीटाणुनाशक बोरिक अम्ल प्राप्त होता है। उर्वरक के रूप में भी सुहागे का उपयोग अब होने लगा है यद्यपि अधिक मात्रा में इसका उपयोग कुछ फसलों के लिये विषैला भी हो सकता है। [फू० स० व०]

सूअर (Pig) आर्टियोडेक्टिला गण (Order Artiodactyla) के सुइडी कुल (family Suidae) जीव, के जिनमें संसार के सभी जंगली और पालतू सूअर संमिलित हैं, इसके अंतर्गत आते हैं। इन खुरवाले प्राणियों की खाल बहुत मोटी होती है और इनके शरीर

पर जो थोड़े बहुत बाल रहते हैं वे बहुत कड़े होते हैं। इनका थूथन आगे की ओर चपटा रहता है जिसके भीतर मुलायम हड्डी का एक चक्र सा रहता है जो थूथन को कड़ा बनाए रखता है। इसी थूथन के सहारे ये जमीन खोद डालते हैं और भारी भारी पत्थरों को आसानी से उलट देते हैं।

सूअरों के कुकुरदंत उनकी आत्मरक्षा के हथियार हैं। ये इतने मजबूत और तेज होते हैं कि उनसे ये घोड़ों तक का पेट फाड़ डालते हैं। ऊपर के कुकुरदंत तो बाहर निकलकर ऊपर की ओर घूमे रहते हैं लेकिन नीचे के बड़े और सीधे रहते हैं। जब ये अपने जबड़ों को बंद करते हैं तो ये दोनों आपस में रगड़ खाकर हमेशा तेज और नुकीले बने रहते हैं।

सूअरों के खुर चार हिस्सों में बँटे होते हैं जिनमें से आगे के दोनों खुर बड़े और पीछे के छोटे होते हैं। पीछे के दोनों खुर टाँगों के पीछे की ओर लटके भर रहते हैं और उनसे इन्हें चलने में किसी प्रकार की मदद नहीं मिलती।

इन जीवों की घ्राणशक्ति बहुत तेज होती है जिनकी सहायता से ये पृथ्वी के भीतर की स्वादिष्ट जड़ों आदि का पता लगा लेते हैं।

इनका मुख्य भोजन कंद मूल, गन्ना और अनाज है लेकिन इनके अलावा ये कीड़े मकोड़े और छोटे सरीसृपों को भी खा लेते हैं। कुछ पालतू सूअर विष्ठा भी खाते हैं।

सूअर पूर्वी और पश्चिमी गोलार्ध के शीतोष्ण और उष्ण देशों के निवासी हैं जो दो उपकुलों सुइना उपकुल (sub family suinae) और पिकैरिनी उपकुल (sub family peccarinae) में विभक्त हैं।

सुइनी उपकुल — इस उपकुल में यूरोप, एशिया और अफ्रीका के जंगली, सूअर आते हैं जिनमे यूरोप का प्रसिद्ध जंगली सूअर 'सुस स्क्रोफा' (sus scrofa) विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि इसी से हमारी अधिकाश पालतू जातियाँ निकली हैं।

यह पहले इंग्लैंड में काफी संख्या मे पाए जाते थे लेकिन अब इन्हें यूरोप के जंगलों में ही देखा जा सकता है। इनका रंग घुमैला-भूरा या कलछौंह सिलेटी होता है। सिर लंबोतरा, गरदन छोटी और शरीर गठीला होता है। ये करीब ४½ फुट लंबे और तीन फुट ऊँचे जानवर हैं जो अपने साहस और बहादुरी के लिये प्रसिद्ध हैं। नर के नोकीले और तेज कुकुरदंत ऊपरी होंठ के ऊपर बड़े रहते हैं जिनसे ये आत्मरक्षा के समय बहुत भयंकर हमला करते हैं।

इन्हीं का निकट संबंधी दूसरा जंगली सूअर 'सुस क्रिस्टेटस' (sus cristatus) है जो भारत के जंगलों में पाया जाता है। यह इतना बहादुर होता है कि कभी कभी युद्ध होने पर शेर तक का पेट फाड़ डालता है। यह भी कलछौंह सिलेटी रंग का जीव है जो ४½ फुट लंबा और ३ फुट ऊँचा होता है।

ये दोनों सीधे सादे जीव हैं जो छेड़े जाने पर या घायल होने पर ही आक्रमण करते हैं। नर प्राय: अकेले रहते हैं और मादाएँ और बच्चे झुंड बनाकर इधर उधर फिरा करते हैं। इन्हें कीचड़ में लोटना बहुत पसंद है और इनका गिरोह दिन में अक्सर गन्ने आदि के घने खेतों में आराम करता रहता है। मादा साल में दो बार ४-६ बच्चे जनती है जिनके भूरे शरीर पर गाढ़ी धारियाँ पड़ी रहती हैं।

इन दोनों प्रसिद्ध जंगली सूअरों के अलावा इनकी और भी कई जंगली जातियाँ एशिया, जापान और सिलीबीज (Celebese) में पाई जाती हैं जिनमें सुमात्रा और बोर्नियो का बियर्डेड वाइल्ड बोअर, Bearded wild boar (sus barbatus) किसी से कम उल्लेखनीय नहीं है। इसका सिर बड़ा और कान छोटे होते हैं।

दूसरा सब से छोटा जंगली सूअर, Pigmy wild Hog (Parculasalvania) जो नैपाल के जंगलों में पाया जाता है, केवल एक फुट ऊँचा होता है।

अफ्रीका के जंगलों के तीन जंगली सूअर बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें पहला बुश पिग, Bush Pig (Polamochoerus porcus) कहलाता है। यह दो फुट ऊँचा कलछौंह रंग का सूअर है जिसकी कई उप जातियाँ पाई जाती हैं।

दूसरा जंगली सूअर फारेस्ट हाग, Forest Hog (Hylochoerus meinertzhageni) कहलाता है। यह बुश पिग से ज्यादा काला और पौने तीन फुट ऊँचा सूअर है जो मध्य अफ्रीका के जंगलों में अकेले या जोड़े में ही रहना पसंद करता है।

अफ्रीका का तीसरा जंगली सूअर वार्ट हाग, Wart Hog (Phacochoerus Aethiopicus) कहलाता है जो सबसे भद्दा और बदसूरत सूअर है। इसका थूथन काफी चौड़ा और दाँत काफी लंबे होते हैं। यह दो ढाई फुट ऊँचा सूअर है जिसका रंग कलछौंह होता है।

पिकैरिनी उपकुल (Sub family Peccarinae) इस उपकुल में अमरीका के जंगली सूअर जो पिकैरी कहलाते हैं, रखे गए हैं। ये छोटे कद के सूअर हैं जो लगभग डेढ़ फीट ऊँचे होते हैं और जिनके ऊपर के कुकुरदंत अन्य सूअरों की भाँति ऊपर की ओर न उठे रहकर नीचे की ओर झुके रहते हैं। इनकी पीठ पर एक गंधग्रंथि रहती है जिससे ये एक प्रकार की गंध फैलाते चलते हैं।

इनमें कालर्ड पिकैरी. Collared peccary (Pecari Tajacu) सब से प्रसिद्ध है जो कलछौंह सिलेटी रंग का जीव है और जिसके कंधे पर सफेद धारियाँ पड़ी रहती हैं।

सूअर जंगली जातियों से कब पालतू किए गए यह अभी तक एक रहस्य ही बना हुआ है लेकिन चीन के लोगो का विश्वास है कि ईसा से २६०० वर्ष पूर्व चीन में पहले पहल सूअर पालतू बनाए गए। उनसे पहले तो मेहतरो का काम लिया जाता था लेकिन जब यह पता चला कि इनका मांस बहुत स्वादिष्ट होता है तो वे मांस के लिये पाले जाने लगे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि सूअरों की पालतू जातियाँ यूरोप के जंगली सूअर सस्क्रोफ (Suss scrofa) और भारत के जंगली सूअर सस क्रिस्टेटस (sus cristatus) से एशिया में निकालीं गई। उसके बाद चीन के सूअर और यूरोप के सूअर से वे जातियाँ निकलीं जो इस समय सारे यूरोप और अमरीका में फैली हुई हैं।

सूअर काफी बच्चे जननेवाले जीव हैं। जंगली सूअरियाँ एक

बार में जहाँ ४-६ बच्चे देती हैं वहीं पालतू सूअरों की मादा ४ से १० तक बच्चे जनती हैं।

ये बेलनाकार शरीरवाले भारी जीव हैं जिनकी खाल मोटी और दुम छोटी होती है। प्रौढ़ होने पर इनके दाँतों की संख्या ४४ तक पहुँच जाती है।

ये बहुत हठी और बेवकूफ जानवर हैं, जिनमें जंगलों में रहनेवाले तो फुरतीले जरूर होते हैं, लेकिन पालतू अपने चरबीले शरीर के कारण काहिल और सुस्त होते हैं।

संसार में सबसे अधिक सूअर चीन में हैं; उसके बाद अमरीका का नंबर आता है। इन दोनों देशों के सूअरों की संख्या संसार भर के सूअरों के आधे के लगभग पहुँच जाती है।

पालतू सूअर संसार के प्रायः सभी देशों में फैले हुए हैं और भिन्न भिन्न देशों में इनकी अलग अलग जातियाँ पाई जाती हैं। यहाँ उनमें से केवल १३ जातियों का संक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है जो बहुत प्रसिद्ध हैं।

१. बर्कशायर (Berkshire) — इस जाति के सूअर काले रंग के होते हैं जिनका चेहरा, पैर और दुम का सिरा सफेद रहता है। यह जाति इंग्लैंड में बनाई गई है। जहाँ से यह अमरीका में फैली। इनका मांस बहुत स्वादिष्ट होता है।

२. चेस्टर ह्वाइट (Chester white) — इस जाति के सूअरों का रंग सफेद होता है और खाल गुलाबी रहती है। यह जाति अमरीका के चेस्टर काउन्टी में बनाई गई और केवल अमरीका में ही फैली है।

३. ड्यूराक (Duroc) — यह जाति भी अमरीका से ही निकली है। इस जाति के सूअर लाल रंग के होते हैं जो काफी भारी और जल्द बढ़ जानेवाले जीव हैं।

४. हैंपशायर (Hampshire) — यह जाति इंग्लैंड में निकाली गई है लेकिन अब यह अमरीका में भी काफी फैल गई है। इस जाति के सूअर काले होते हैं जिनके शरीर के चारो ओर एक सफेद पट्टी पड़ी रहती है। यह बहुत जल्द बढ़ते और चरबीले हो जाते हैं।

५. हियरफोर्ड (Hereford) — यह जाति भी अमरीका में निकाली गई है। ये लाल रंग के सूअर हैं जिनका सिर, कान, दुम का सिरा और शरीर का निचला हिस्सा सफेद रहता है। ये कद में अन्य सूअरों की अपेक्षा छोटे होते हैं और जल्द ही प्रौढ़ हो जाते हैं।

६. लैंडरेस (Landrace) — इस जाति के सूअर डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन, जर्मनी और नीदरलैंड में फैले हुए हैं। ये सफेद रंग के सूअर हैं जिनका शरीर लंबा और चिकना रहता है।

७. लार्ज ब्लैक (Large Black) — इस जाति के सूअर काले होते हैं जिनके कान बड़े और आँखों के ऊपर तक झुके रहते हैं। यह जाति इंग्लैंड में निकाली गई और ये वहीं ज्यादातर दिखाई पड़ते हैं।

८. मैंगालिट्सा (Mangalitza) — यह जाति बाल्कन स्टेट में निकाली गई है और इस जाति के सूअर हंगरी, रूमानियाँ और यूगोस्लाविया आदि देशों में फैले हुए हैं। ये या तो धुर सफेद होते हैं या इनके शरीर का ऊपरी भाग भूरापन लिए काला और नीचे का सफेद रहता है। इनको प्रौढ़ होने में लगभग दो वर्ष लग जाते हैं और इनकी मादा कम बच्चे जनती है।

९. पोलैंड चाइना (Poland China) — यह जाति अमरीका के ओहायो (Ohio) प्रदेश की बट्लर और वारेन (Butler and Warren) काउंटी में निकाली गई है। ड्यूराक जाति की तरह यह सूअर भी अमरीका में काफी संख्या में फैले हुए हैं। ये काले रंग के सूअर हैं जिनकी टाँगें, चेहरा और दुम का सिरा सफेद रहता है। ये भारी कद के सूअर हैं जिनका वजन १२-१३ मन तक पहुँच जाता है। इनकी छोटी, मझोली और बड़ी तीन जातियाँ पाई जाती हैं।

१०. स्पाटेड पोलैंड चाइना (Spotted Poland China) — यह जाति भी अमरीका में निकाली गई है और इस जाति के सूअर पोलैंड चाइना के अनुरूप ही होते हैं। अंतर सिर्फ यही रहता है कि इन सूअरों का शरीर सफेद चित्तियों से भरा रहता है।

११. टैम वर्थ (Tam Worth) — यह जाति इंगलैंड में निकाली गई जो शायद इस देश की सबसे पुरानी जाति है। इस जाति के सूअरों का रंग लाल रहता है। इसका सिर पतला और लंबोतरा, थूथन लंबे और कान खड़े और आगे की ओर झुके रहते हैं। इस जाति के सूअर इंग्लैंड के अलावा कैनाडा और यूनाइटेड स्टेट्स में फैले हुए हैं।

१२. वैसेक्स सैडल बैक (Wessex Saddle Back) — यह जाति भी इंग्लैंड में निकाली गई है। इस जाति के सूअरों का रंग काला होता है और उनकी पीठ का कुछ भाग और अगली टाँगें सफेद रहती हैं। ये अमरीका के हैंपशायर सूअरों से बहुत कुछ मिलते जुलते और मझोले कद के होते हैं।

१३. यार्कशायर (Yorkshire) — यह प्रसिद्ध जाति वैसे तो इंग्लैंड में निकाली गई है लेकिन इस जाति के सूअर सारे यूरोप, कैनाडा और यूनाइटेड स्टेट्स में फैल गए हैं। ये सफेद रंग के बहुत प्रसिद्ध सूअर हैं जिनकी मादा काफी बच्चे जनती है। इनका मांस बहुत स्वादिष्ट होता है। [सु० सिं०]

सूक्ष्म ऊतक विज्ञान (Histology) के अंतर्गत हम जतुओं एवं पौधों के ऊतकों की सामान्य एवं रासायनिक रचना तथा उनके कार्य का अध्ययन करते हैं। इस अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य यह ज्ञात करना है कि विभिन्न प्रकार के ऊतक किस प्रकार आणविक (molecular), बृहद् आणविक (macromolecular), संपूर्ण कोशिका एवं अतराकोशिकी (intercellular) वस्तुओं तथा अंगों में संगठित (organized) हैं।

जंतुओं के शरीर के चार प्रकार के ऊतक, कोशिका तथा अंतराकोशिकी जिन वस्तुओं द्वारा बनी होती हैं, वे क्रमशः निम्नलिखित हैं —

(१) उपकला ऊतक (Epithetial tissue) — उपकला ऊतक की रचना एक पतली झिल्ली के रूप में होती है, जो विभिन्न

संरचनाओं के बाहरी सतह पर आवरण के रूप में तथा उनकी गुहाओं एवं नलियों में भीतरी स्तर के रूप में वर्तमान रहती है। इसके अतिरिक्त 'ग्रंथि कोशिका' (Glandular cells) के रूप में यह ग्रंथियों की रचना में भी भाग लेता है। इसकी उत्पत्ति बाह्य त्वचा (Ectoderm) या अंतस्त्वचा (Endoderm) से होती हैं तथा साधारणतः इसकी कोशिकाएँ एक ही पंक्ति में स्थित रहती हैं। ऐसी एकस्तरीय उपकला को 'सरल उपकला' (Simple epithelium) कहते हैं। परंतु कभी कभी इसकी कोशिकाएँ अनेक पंक्तियों में बद्ध रहती हैं, जिन्हें 'स्तरित उपकला' (Stratified epithelium) कहते हैं।

अन्य ऊतकों की अपेक्षा उपकला में कोशिकाओं की संख्या अधिक होती है। ये अति सघन रूप में अंतराकोशिका द्रव्य द्वारा जुड़े रहते हैं। उपकला झिल्ली द्वारा अपने नीचे की संरचनाओं एवं ऊतकों से संबद्ध रहती है। उपकला में रक्तवाहिनियाँ नहीं होतीं, इसलिये इसका पोषक तत्व लसीका (Lymph) द्वारा ही प्राप्त होता है।

उपकला ऊतक मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं —

(क) सरल उपकला।

(ख) स्तरित उपकला।

(ग) अस्थायी (Transitory) उपकला।

सरल उपकला के मुख्य प्रकार हैं — शल्की उपकला, स्तंभाकार उपकला, ग्रंथीय उपकला, पक्ष्माभिकामय उपकला, संवेदी उपकला, वर्णक उपकला एवं भ्रूणीय उपकला।

(२) संयोजी ऊतक (Connective tissue) — संयोजी ऊतक में अंतरकोशिकीय द्रव्य अधिक होते हैं। इस ऊतक का मुख्य कार्य अन्य ऊतकों को सहारा देना तथा उन्हें आपस में संयुक्त करना है। उपास्थि, अस्थि तथा रुधिर सभी इसी प्रकार के ऊतक हैं। रुधिर को तरल संयोजी ऊतक कहते हैं।

(३) पेशी ऊतक (Muscular tissue) — शरीर के मांसल भाग पेशी ऊतक द्वारा बने होते हैं। इसमें अनेक लंबी तंतु के समान कोशिकाएँ संबद्ध रहती हैं। ये कोशिकाएँ संकुचनशील होती हैं, जो तंतुओं को फैलने और सिकुड़ने की क्षमता प्रदान करती हैं। इसके तीन प्रकार होते हैं —

(क) अरेखित पेशी (Unstriped muscle) — इसे अनैच्छिक पेशी भी कहते हैं, क्योंकि इसकी क्रिया जंतु की इच्छा पर निर्भर नहीं होती। आहारनाल, रक्तवाहिनियों, फेफड़ों, पित्ताशय आदि की दीवारों में इस प्रकार के पेशी ऊतक मिलते हैं। इनकी कोशिकाएँ सरल, लंबी, तर्क्वाकार एवं अरेखित होती हैं।

(ख) रेखित (Striped) पेशी — शरीर की अधिकांश पेशियाँ रेखित होती हैं। इनकी क्रिया जंतु की इच्छाशक्ति पर निर्भर करती है। रेखित पेशी के प्रत्येक तंतु की रचना लंबी तथा बेलनाकार कोशिकाओं द्वारा होती है। इनमें शाखाएँ नहीं होतीं तथा केंद्रकों की संख्या अधिक होती है। रेखित पेशी में एकांतर रूप में गहरे एवं हल्के रंग की अनेक अनुप्रस्थ पट्टियाँ स्थित रहती हैं।

(ग) हृत्पेशी (Cordiac muscle) — हृदय के पेशीतंतु में रेखित एवं अरेखित दोनों प्रकार के तंतुओं के गुण वर्तमान होते हैं। इनमें अनुप्रस्थ पट्टियाँ तो होती हैं पर ये अरेखित पेशियों के सदृश शाखामय एवं एक ही केंद्रकवाली होती हैं। इनकी क्रिया अरेखित पेशियों के समान ही होती है।

तंत्रिका ऊतक (Nervous tissue) — इस प्रकार के ऊतक तंत्रिकातंत्र (Nervous system) के विभिन्न अंगों की रचना करते हैं। संवेदनशीलता के लिये इस ऊतक की रचना में तंत्रिका कोशिकाएँ (Nerve cells) तथा तंत्रिका तंतु दोनों ही भाग लेते हैं। तंत्रिका कोशिकाएँ प्रायः अनियमित आकार की होती हैं, तथा इनके मध्य में बड़ा सा केंद्रक (Nucleus) होता है। प्रत्येक तंत्रिका कोशिका से बाहर की ओर सूक्ष्म प्रवर्ध निकलते हैं, जो जीवद्रव्य (Protoplasm) के बने होते हैं।

शरीर के विभिन्न अंगों के निर्माण के लिये ये ऊतक विभिन्न प्रकार से संयुक्त होकर उन्हें अखंडता प्रदान करते हैं। अतः विभिन्न अंगों की सूक्ष्म रचना एवं उनकी क्रियाओं के अध्ययन से किसी जंतु की आंतरिक रचना का विस्तृत ज्ञान हो जाता है।

सूक्ष्म ऊतक विज्ञान के अंतर्गत हस्त लेंसों (Hand lens) की सहायता से देखी जा सकनेवाली सूक्ष्म रचनाओं से लेकर एलेक्ट्रोन माइक्रोस्कोप (Electron Microscope) की दृश्य सीमा से बाहर की संरचनाओं के भी अध्ययन किए जाते हैं। इस कार्य के लिये अनेक प्रकार के यंत्र प्रयुक्त किए जाते हैं जैसे — एक्स-रे यूनिट्स (X-ray units), "एब्सोर्पशन माइक्रोस्कोप" (Absorption-microscope), "एलेक्ट्रोन माइक्रोस्कोप" (Electron microscope), "पोलराइजेशन माइक्रोस्कोप" (Polarization microscope), "डार्क फील्ड माइक्रोस्कोप" (Dark field microscope) "अल्ट्रावायलेट माइक्रोस्कोप" (Ultra violet microscope), विजिबुल लाइट माइक्रोस्कोप (Visible light microscope), "फेज कंट्रास्ट माइक्रोस्कोप" (Phase contrast microscope), "इंटरफेरेंस माइक्रोस्कोप" (Interference microscope) तथा "डिसेक्टिंग माइक्रोस्कोप" (Disecting microscope) आदि।

प्राचीन काल में सूक्ष्म ऊतक विज्ञानवेत्ता अभिनव (Fresh) वस्तुओं की परीक्षा के लिये उन्हें सूचीवेधन (Teased) कर या हाथों द्वारा ही तराशकर, खुरचकर या उसे फैलाकर (Smear) यथासंभव पतला बना डालते थे, जिससे उन्हें पारगत प्रकाश (Transmitted light) द्वारा सूक्ष्मदर्शी से देखा जा सके। तत्पश्चात् "माइक्रोटोम" (Microtome) का आविष्कार हुआ, जिसकी सहायता से पतले से पतले खंड, १ "म्यू" (1μ) की मोटाई की (१ म्यू = $\frac{१}{१०००}$ मिमी) काटे जा सकते हैं। अब तो १ "म्यू" से भी अधिक पतले खंड काटे जा सकते हैं।

जिस समय "माइक्रोटोम" का प्रयोग प्रारंभ हुआ, लगभग उसी समय ऊतकों के "परिरक्षण" (preservation) एवं आकार प्रतिधारण (To retain structure) के लिये कई प्रकार के स्थायीकर (Fixative) रसायनकों का भी आविष्कार हुआ। परंतु इन

रसायनकों के प्रयोग है, जो परिरक्षित वस्तुओं के प्रतिरक्षण, प्रतिधारण या अभिरंजन (Staining) करने के प्रयोग में लाए जाते थे, ऊतकों की रचना में कई प्रकार के अंतर आने लगे। फलस्वरूप पुन: अभिनव वस्तुओं का अध्ययन सर्वथा नियंत्रित अवस्था में आरंभ हुआ तथा ऊतक विज्ञान के अंतर्गत कई नवीन प्रयोग हुए, उदाहरणार्थ — "टिश्यू कल्चर" (Tissue culture), "माइक्रोमैनीपुलेशन" (Micro-manipulation), "माइक्रो सिनेमेटोग्राफी" (Micro-cinematography), अंतर जीवनावश्यक अभिरंजन (Intervital staining) तथा अधिजीवनावश्यक अभिरंजन (Supervital staining)। (Intervital = जीवित कोशिकाओं का; supervital = उत्तरजीवी कोशिकाओं का),

इसके अतिरिक्त, हत्वारक्षण (To preserve after killing) के लिये जमाने (Freezing) एवं शुष्कन (Drying) की क्रियाएँ भी प्रयोग मे लाइ गई। इस क्रिया में वस्तु को, किसी द्रव्य पदार्थ में जो-१५०° सें या उससे भी कम ताप तक ठढा किया गया हो, डालकर बहुत शीघ्रता से जमा दिया जाता है, तत्पश्चात् उसे निर्वात (Vacuum) में — ३०° सें० या उससे कम ताप पर शोषित किया जाता है और पुन: पैराफिन मोम में अंतःसरण (infilterate) किया जाता है।

सूक्ष्म ऊतक विज्ञान के अध्ययन के बृहद् क्षेत्र हैं — (१) आकारकीय वर्णन (Marphological description), (२) परिवर्धन संबंधी अध्ययन (Developmental studies), (३) ऊतकीय एवं कोशकीय कायिकी (Histo and cyto physiology), (४) ऊतकीय एवं कोशकीय रसायन (Histo and cyto chemistry) तथा अव.सूक्ष्मदर्शी रचनाएँ (Submicroscopic structure) एवं ऊतकीय शरीर क्रियात्मक कोशकीय कायिकी के अंतर्गत आकारकीय (Morphological and physiological) एवं कार्यशीलता मे सामंजस्य का अध्ययन किया जाता है। इसी प्रकार ऊतकीय एवं कोशकीय रसायन के अंतर्गत आकारकीय रचनाओं की रासायनिक सरचना का ज्ञान प्राप्त करते हैं। अतिसूक्ष्मदर्शी रचनाओं का अध्ययन ऐसी संरचनाओं का वर्णन करता है जो साधारण प्रकाश द्वारा प्रकाशित सूक्ष्मदर्शी की दृश्य सीमा से परे हैं { ०·२ म्यू (μ) के लगभग }।

[वि० शं० श्वा०]

सूक्ष्मदर्शिकी (Microscopy) सूक्ष्मदर्शिकी भौतिकी का एक अभिन्न अंग है। आज सूक्ष्मदर्शी का उपयोग कायचिकित्सा (Medicine), जीवविज्ञान (Biology), शैलविज्ञान (Petrology), मापविज्ञान (Metrology), क्रिस्टलविज्ञान (Crystallography) एव धातुओं और प्लास्टिक की तलाकृति के अध्ययन में व्यापक रूप से हो रहा है। आज सूक्ष्मदर्शी का उपयोग वस्तुओं को देखने के लिये ही नहीं होता वरन् द्रव्यों के कणों के मापने, गणना करने और तौलने के लिये भी इसका उपयोग हो रहा है।

मनुष्य की प्रवृत्ति सदा ही अधिक से अधिक जानने और देखने की रही है, इसी से वह प्रकृति के रहस्यो को अधिक से अधिक सुलझाना चाहता है। हमारी इंद्रियों की कार्य करने की क्षमता सीमित है और यही हाल हमारी आँख का भी है। इसकी भी अपनी एक सीमा है। बहुत दूर की जो वस्तु खाली आँख से दिखाई नहीं पड़ती वह दूरदर्शी से देखी जा सकती है या बहुत निकट की वस्तु का विस्तृत विवरण सूक्ष्मदर्शी से अधिक स्पष्ट देखा जा सकता है। यहाँ सूक्ष्मदर्शी के क्षेत्र में १८६५ ई० से अब तक जो प्रगति हुई है उसी का उल्लेख किया जा रहा है :

एकल उत्तल लेंस, जिसे साधारणत. आवर्धन लेंस कहते हैं, सरलतम सूक्ष्मदर्शी कहा जा सकता है। इसे जेबी सूक्ष्मदर्शी भी कहते हैं। सरल सूक्ष्मदर्शी एक निश्चित दूरी पर स्थित दो उत्तल लेंस के संयोजन से बना होता है। पदार्थ की तरफ लगे लेंस को अभिदृश्यक (objective) लेंस, और आँख के पास लगे लेंस को अभिनेत्र लेस (eye-lens) कहते हैं। ऐसे सूक्ष्मदर्शी का दृष्टिक्षेत्र (field of view) सीमित होता है। इसमे सुधार की आवश्यकता है। अभिनेत्र लेंस में एक लेस जोड़ने से क्षेत्र बढ़ जाता है और गोलीय एवं वर्णीय वर्णविपथन (Chromatic aberration) से उत्पन्न दोष कम हो जाते हैं। ऐसे सूक्ष्मदर्शी को संयुक्त सूक्ष्मदर्शी या प्रकाश सूक्ष्मदर्शी या परंपरागत प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शी कहते हैं।

यद्यपि प्रकाश के परावर्तन, अपवर्तन और रेखीय संचरण के नियम ग्रीक दार्शनिकों को ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व से ही ज्ञात थे पर आपतन (incidence) कोण और अपवर्तन कोण के ज्या के नियम का आविष्कार सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक नहीं हुआ था। हालैंड के स्नेल और फ्रांस के देकार्त (Descartes, १५५१—१६५० ई०) ने अलग अलग इसका आविष्कार किया। १००० ई० के लगभग अरब ज्योतिर्विद अल्हैज़ैन ने परावर्तन और अपवर्तन के नियमों को सूत्रबद्ध किया पर ये ज्या में नहीं थे, वरन् नत दूरी में थे। ऐसा कहा जाता है कि उसके पास एक बड़ा लेंस था। सूक्ष्मदर्शी का सूत्रपात यहीं से होता है। सूक्ष्मदर्शी निर्माण का श्रेय एक वनस्पतिज्ञ जेकारियोस जोन्सिड्स (१६००) को है। हाइगेंज (Higens) के अनुसार आविष्कार का श्रेय कॉर्नीलियस ड्रेबल (१६०८ ई०) को है।

ऐबे (Abbe) के समय तक सूक्ष्मदर्शी की परिस्थिति ऐसी ही रही। १८७० ई० में ऐबे ने सूक्ष्मदर्शिकी की सुदृढ नींव डाली। उन्होंने सुप्रसिद्ध तैलनिमज्जन तकनीकी निकाली। इससे सर्वोत्कृष्ट वैषम्य (Contrast) और आवर्धन प्राप्त हुआ। पर जहाँ तक परासूक्ष्मकणों (ultramicroscopic particles) के अध्ययन का संबंध था, वैज्ञानिक अभी भी अपने को असहाय अनुभव कर रहे थे। १८७३ ई० में ऐबे ने अनुभव किया कि सूक्ष्मदर्शी को चाहे कितनी ही पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न किया जाय किसी पदार्थ मे उसके कणों की सूक्ष्मता को एक सीमा तक ही देखा जा सकता है। केवल आँखों से परमाणु या अणु को देखना असभव है क्योंकि हमारे नेत्रों द्वारा सूक्ष्म वस्तुओं को देखने की एक सीमा है। यह सीमा उपकरण की अपूर्णता के कारण ही नहीं परंतु प्रकाश तरगों (रंग) की प्रकृति के कारण भी है जिनके प्रति हमारी आँख सावेदनशील है। यदि हमें अणुओं को देखना है तो हमारे जैविकीविदों को एक ऐसे नए किस्म के नेत्रों

का विकास करना होगा जो उन तरंगों को ग्रहण करें जो हमारे वर्तमान साधारण नेत्रों, या दृष्टितंत्रिका को सुग्राह्य होनेवाली तरंगों की अपेक्षा हजारों गुना छोटी हैं।

वास्तव में किसी वस्तु में स्थित दो निकटवर्ती बिंदुओं को कभी भी अलग पहचाना नहीं जा सकता है यदि उस प्रकाश का तरंगदैर्घ्य जिसमें उन बिंदुओं का अवलोकन किया जाता है उन बिंदुओं के बीच की दूरी के दुगने से अधिक न हो। इस प्रकार से यह उनके बिलगाव को सीमित कर देता है। इसे विभेदन (resolution) की सीमा कहते हैं। गणित में इसे निम्नलिखित संबंध द्वारा व्यक्त किया जाता है।

$$\text{विभेदन या पृथक्करण की सीमा} = \frac{\lambda/2}{N.A.}$$

जहाँ N. A. संख्यात्मक द्वारक है और N. A. $= \mu \sin\theta$। यहाँ μ वस्तुदूरी (object space) का अपवर्तनांक है। θ वह कोण है जो रिम किरण (rim-ray) प्रकाशिक अक्ष के साथ बनाती है। इस प्रकार दृष्टिविकिरण का विचार करने से अल्पतम विभेदन दूरी ३००० A° (3×10^{-5} सेमी) के लगभग होती है। सबसे छोटी पराबैंगनी और अवरक्त किरणों के लिये यह सीमा क्रमश: १५०० A° और ३८५० A° के लगभग होगी जहाँ १ A° = १०$^{-८}$ सेमी०।

गत चालीस वर्षों में सूक्ष्मदर्शिकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। आइए हम अपने को ४० वर्ष पूर्व के सूक्ष्मदर्शिकीविद् के रूप में सोचें और उन सुधारों पर विचार करें जो हम उस समय करना चाहते थे। साधारणत. हम अपनी आशाओं को चार बातों पर केंद्रित करते हैं :

(१) उच्चतर आवर्धन प्राप्त करना,
(२) अधिकतम विभेदनक्षमता प्राप्त करना,
(३) अधिक क्रियात्मक दूरी प्राप्त करना तथा
(४) उत्तम वैषम्य या पर्याप्त दृश्यता प्राप्त करना।

अब हम विचार करेंगे कि गत चालीस वर्षों के विकास से इन महत्वपूर्ण आवश्यकताओं की कितनी पूर्ति हुई। उपर्युक्त सुधार या कठिनाइयों का वस्तु की प्रकृति (अपारदर्शी या पारदर्शी), प्रदीप्ति के प्रकार (विकिरण) और फोटोग्राफी तकनीकी (फिल्म या प्लेट और प्रस्फुटक के प्रकार के संदर्भ में विचार करना उचित होगा। उपर्युक्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विभिन्न प्रकार के सूक्ष्मदर्शी अभिकल्पित किए गए जिनमे छोटे से छोटे तरंगदैर्घ्य के विकिरण का प्रयोग किया गया। हम देख चुके हैं कि लघुतम तरंगदैर्घ्य विकिरण का अर्थ है उच्चतर विभेदन क्षमता।

रंटजेन (Roentgen) ने सन् १८९५ में एक्स किरण का आविष्कार किया। परंतु सन् १९१२ तक एक्स किरण (X-ray) की तरंगप्रकृति का कोई पता नहीं था जब तक वान लाउए (Von Laue) ने उसे सिद्ध नहीं किया। अब यह आशा हुई कि एक्स-रे सूक्ष्मदर्शी बनाया जा सकता है। अत: उस समय यह विचार त्याग दिया गया।

कुछ वर्षों बाद १९२१ ई० में द ब्रॉग्ली (De Broglie) ने इलेक्ट्रॉन की तरंगप्रकृति को निश्चित किया और न्यूयार्क में १९२७ ई० में डेविसन (Davission) और जर्मर (Germer) ने तथा ऐबर्डीन में जी० पी० टामसन (G. P. Thomson) ने १९२८ ई० में उसकी पुष्टि की। इलेक्ट्रॉन के किरणपुंज भी उपयुक्त विद्युत् या चुंबकीय क्षेत्र द्वारा मोड़े जा सकते हैं। ऐसे सूक्ष्मदर्शी जिन्हें सफलतापूर्वक उपयोग में लाया जा सकता था १९४७ ई० में नोल (Knovl), रस्क (Rusk) और बूश (जर्मनी) ने प्रस्तुत किए। इस विकिरण का तरंगदैर्घ्य निम्नलिखित संबंध द्वारा व्यक्त किया जाता है।

$$\lambda = \frac{h}{m\,\upsilon} = \frac{१२\cdot२४ \times १०^{-८}}{\sqrt{V}} \text{ सेमी}$$

यहाँ h प्लैंक का नियतांक है, m इलेक्ट्रॉन का द्रव्यमान और υ वेग है। वेग वोल्टता का फलन है, जो इलेक्ट्रॉन किरणपुंज को त्वरित करने के लिये प्रयुक्त होता है। इस सूक्ष्मदर्शी से १० A° तक विभेदन संभव था और इसकी आवर्धन क्षमता बहुत अधिक थी। इसके द्वारा $१\cdot६ \times १०^{-८}$ मिमी विस्तार की वस्तुएँ देखी जा सकती हैं। निस्संदेह यह बड़ी ठोस प्रगति है और इसके साथ साथ अनेक नए आविष्कार जुड़े हुए हैं। आज इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शिकी की अपनी अनेक तकनीकियाँ हैं।

उच्च ऊर्जा इलेक्ट्रॉन की भाँति लघुतरंगदैर्घ्य के साथ साथ एक्स किरणों में वेधनक्षमता बहुत अधिक होती है और वे कम शीघ्रता से अवशोषित भी होती हैं। अत: छोटी अपारदर्शी वस्तुओं की आंतरिक संरचना ज्ञात करने में एक्स किरणें प्रयुक्त की जा सकती हैं। एरेनबेर्ग (Ehrenberg) ने १९४७ ई० में पहला एक्स किरण या छायासूक्ष्मदर्शी निकाला और १९४८ ई० में किंक पैट्रिक (Kink Patrick) और बेयज (Baez) ने उसका सुधार किया। इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी की तरह यहाँ निर्वात की आवश्यकता नहीं होती। अच्छे प्रतिबिंब के लिये केवल सूक्ष्म छिद्र (Pin hole) की आवश्यकता होती है। इसका अर्थ है कि इससे कम विकिरण प्रवेश करता है और इसीलिये उद्भासन बहुत बड़ा होता है। पीछे चित्र का बड़ा विस्तार करना पड़ता है जिसके लिये बहुत सूक्ष्म कणों का पायस आवश्यक होता है।

परावर्ती सूक्ष्मदर्शी — अब हम सामान्य रूप प्रकाशसूक्ष्मदर्शिकी की ओर देखें। इसके पूर्व कि हम उस दिशा में हुई प्रगति पर विचार विमर्श करें, हमें उन आकांक्षाओं पर ध्यान रखना होगा जो ४० वर्ष पूर्व सूक्ष्मदर्शिकीविदों की थी। एकमात्र उपकरण से सब आवश्यकताओं की साथ ही पूर्ति संभव न थी। विभेदनक्षमता में वृद्धि संख्यात्मक द्वारक (N.A.) के मान से सीमित हो जाती है जिसका मान १·५ से अधिक नहीं हो सकता। प्रणाली की आवर्धनक्षमता की वृद्धि की भी एक सीमा होती है। यह प्रयुक्त लेंसों की फोकस दूरियों का फलन (Function) है। आवर्धन फोकस दूरी का प्रतिलोम फलन है, अत: फोकस दूरी की कमी से आवर्धन बढ़ जाता है। पर साथ ही क्रियात्मक दूरी नष्ट हो जाती है।

ऐसे ही विचारों के कारण लेंस के स्थान में दर्पणों के उपयोग से परावर्ती सूक्ष्मदर्शी का निर्माण बर्च ने ब्रिस्टल में १९४७ ई० में किया। सिद्धांतत: पराबैंगनी किरण तक विकिरण का उपयोग यहाँ संभव हो सका। इसका सांख्यिक द्वारक (N.A.) कम होता

है पर अवर्णता (achromatism) और अधिक क्रियात्मक दूरी का इसमें लाभ होता है।

चूँकि क्वार्ट्ज २०००A° तक विकिरण का अवशोषण नहीं करता इसलिये उस सूक्ष्मदर्शी से जिसमें क्वार्ट्ज लेंसों का उपयोग होता है, कम से कम विभेदन दूरी १,०००A° (१०⁻⁵m) प्राप्त होगी अतः इस प्रकार के विन्यास के साथ पराबैंगनी विकिरण के उपयोग से 'पराबैंगनी सूक्ष्मदर्शी' का निर्माण होता है।

यदि सामान्य प्रकाशसूक्ष्मदर्शी का उपयोग छोटी वस्तुओं द्वारा बिखरे विकिरण को एकत्र करने के लिये होता है तो इस प्रकार की व्यवस्था को परासूक्ष्मदर्शी (ultramicroscope) कहते हैं।

(१) आपतित प्रकाश को वस्तु तक सीधे पहुँचने से रोक दिया जाता है। यह बिखरित या विवर्तित (Scattered or diffracted) प्रकाश द्वारा निर्मित प्रतिबिंब निमज्जित नहीं करता। इसे धुँधला पृष्ठाधार प्रदीप्ति कहते हैं।

(२) इस सूक्ष्मदर्शी से परासूक्ष्मदर्शी कणों के व्यास को आसानी से नापा जा सकता है।

(३) वस्तु के स्थान का अनुमान बिखरित विकिरण (किरण-पुंज) की चमक पर निर्भर करता है।

(४) यदि प्रकाशस्रोत की चमक वैसी ही हो जैसी सूर्य के तल पर होती है तो साधारण अणु भी देखे जा सकते हैं।

कला वैषम्य सूक्ष्मदर्शी में प्रकाशव्यवस्था प्रो० जेनिक (१९४२ ई०, जर्मनी) ने सूक्ष्मदर्शी में कला वैषम्य प्रदीप्ति का उपयोग किया। इस तकनीकी को कला वैषम्य सूक्ष्मदर्शिकी (Phase Contrast Microscopy) कहते थे। यह रंगहीन विशेषतः पारदर्शक पदार्थों की संरचना दिखाने की विधि है। विभिन्न संरचनाओं के कारण उनमें कलाभंग देखा जाता है, जैसे मेढक के यकृत में। वैषम्य को सुधारने के लिये जैविकीविद रंजकों की सहायता लेते हैं। प्रायः वैषम्य वर्ण फिल्टर से ऐसा किया जाता है। ध्रुवित प्रकाश से कुछ ही किस्म के क्रिस्टलों का विश्लेषण किया जा सकता है पर कलावैषम्य से सब प्रकार के क्रिस्टलों का अध्ययन किया जा सकता है। इस तकनीकी में अभिरंजक के रूप में कृत्रिम वर्णों का उपयोग नहीं होता। अभिरंजन में दोष यह बताया जाता है कि यद्यपि अभिरंजक जीवों या कोशिकाओं को नष्ट नहीं करता है, तथापि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह जीवों या कोशिकाओं को बिल्कुल प्रभावित नहीं करता। कला-वैषम्य-विधि का लाभ यह है कि प्रदीप्ति जो प्रत्येक सूक्ष्मदर्शी में आवश्यक है, जीव को देखने के लिये और कुछ करना नहीं पड़ता।

कला वैषम्य सूक्ष्मदर्शी में सूक्ष्मदर्शी सामान्य किस्म का ही रहता है। इसमें केवल यह नवीनता रहती है कि एक नवीन प्रकाशमय युक्ति जोड़ दी जाती है। प (P) एक काँच का प्लेट है जिसमें एक वलयाकार खाँचा (groove) है। प्लेट पर कैल्सियम फ्लुओराइड का पारदर्शक लेप चढ़ा रहता है। लेप की मोटाई एक सी रहती है। निर्वात में वाष्पन द्वारा लेप चढ़ाया जाता है। लेप की मोटाई ठीक इतनी रहती है कि खाँचा और प्लेट के अन्य भाग द्वारा पारित प्रकाश के बीच के समय का अंतर कंपन का चतुर्थांश (कला के ९०° परिवर्तन) रहे। द (D) पर्दा है जिसमें एक वलयाकार काट (Cut) होती है जिससे अभिदृश्यक मे उतना प्रकाश पारित होता है जितना कलापट्ट के खाँचे में भरेगा। वस्तु द्वारा बिखरित और विवर्तित प्रकाश खाँचे द्वारा पारित नहीं होता और यह प्रकाश जब प्रतिबिंब पर पहुँचता है, तब वह स्रोत से सीधे पहुँचे प्रकाश से मिला हुआ नहीं होता है और व्यतिकरण चित्र (Interference Pattern) बनता है। अभिनेत्रक में यही प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है। वस्तु के विभिन्न अंग अपवर्तनांक के अनुसार प्रकाश में विभिन्न कलांतर प्रदर्शित करते हैं अतः अभिनेत्र में दिखाई पड़नेवाला प्रतिबिंब वस्तु का अपवर्तनांक चित्र होता है।

चित्र प्रकाश और इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी की तुलना — यह सूक्ष्मदर्शी १९५२ ई० तक प्रयोग के लिये उपलब्ध हो गया। १९५२ ई० में इस उपलब्धि के लिये प्रो० जेनिक (Zerniack) को नोबेल पुरस्कार मिला। डाइसन (Dyson) ने १९५१ ई० में इस समस्या को भिन्न रूप से सुलझाया जिसके फलस्वरूप उन्होंने व्यतिकरण सूक्ष्मदर्शी का निर्माण किया जिसमें परंपरागत कलावैषम्य सूक्ष्मदर्शी से कुछ श्रेष्ठता थी। इसमें वस्तु को काँच के दो अर्धरजतित पट्टों के मध्य में दबा दिया जाता है और उसे एक विशेष दर्पण प्रणाली से इस प्रकार देखा जाता है कि कुछ प्रकाश अभिनेत्रक में बिना वस्तु से पारित हुए सीधा चला जाय और शेष प्रकाश वस्तु से होकर जाय। इस प्रकार उत्पन्न व्यतिकरण फिंज वस्तु की अपवर्तनांक संरचना को व्यक्त कर देता है।

वस्तुतः दो प्रकार की यह प्रदीप्ति धुँधली पृष्ठभूमि और कला-वैषम्य मानव के लिये एक बड़ा महत्व का साधन है। धुँधली पृष्ठभूमि प्रदीप्ति अत्यंत सूक्ष्म कणों को देखने में उपयोगी सिद्ध हुई है और कला वैषम्य प्रदीप्ति से प्रकाशीय घनत्व में न्यूनतम परिवर्तन जानने की तकनीकी की संभावना बढ़ गई है जिससे प्रतिबिंब की व्याख्या बड़ी आसानी से की जा सकती है।

हम देखते हैं कि चालीस वर्ष पूर्व के सूक्ष्मदर्शीविदों की अनेक आकांक्षाएँ पूरी हो गई हैं। इसका यहीं अंत नहीं है क्योंकि किसी शोध का अंत नहीं होता और यही बात सूक्ष्मदर्शिकी के लिये भी है और आवर्धन क्षमता के विभेदन क्षमता की ऊपर दी गई सीमा की वृद्धि के प्रयास अब भी हो रहे हैं। नए किस्म के काँच और प्लास्टिक के उपयोग से सूक्ष्मदर्शिकी की तकनीकी में और भी प्रगति होना अनिवार्य है।

इन सब सूक्ष्मदर्शियों से, जिनका वर्णन किया गया है, केवल विस्तार में ही विभेदन प्राप्त किया जा सकता है। सूक्ष्मदर्शिकी की और शाखा है जो बड़ी शानदार और रोचक है। यह प्रकाश विभेदन सूक्ष्मदर्शिकी है (टोबोनस्की, १९४८)। इसके द्वारा गहराई में भी विभेदन मालूम किया जा सकता है। यह गहराई में विभेदन करने में उत्कृष्ट सिद्ध हुआ है। यह प्रकाशीय और व्यतिकरण-मापीय तकनीकी है जिसे प्रकाश कट (Light cut), प्रकाश प्रोफाइल (Light profile), बहुविध किरण पुंज (Multiple

Beam) फिजो (Fizeau) फ्रिंज (Fringes) और समान वर्णिक कोटि के फ्रिंज के नाम से जाना जाता है। इन पृष्ठीय छाप बीम की सुग्राह्य विधियों में आणविक परिमाण तक सरलतापूर्वक विभेदन किया जा सकता है।

इन सूक्ष्मदर्शिकियों की कार्यकुशलता कभी भी संभव न होती यदि पृष्ठ पर धात्विक फिल्म को जमा कर अधिक परावर्तित बनाने की युक्ति न विकसित की गई होती। [आ० ए० ग०]

सूक्ष्मदर्शी (Microscope) सूक्ष्मदर्शी एक प्रकाशीय व्यवस्था (Optical System) है जिसके द्वारा सूक्ष्म आकार की वस्तुओं के विस्तारित और आवर्धित प्रतिबिंब प्राप्त किए जाते हैं। कुछ वर्ष हुए एक नवीन प्रकार के सूक्ष्मदर्शी का निर्माण हुआ जिसमें प्रकाश किरणावलि के स्थान पर इलेक्ट्रान किरणावलि का उपयोग किया जाता है। इस सूक्ष्मदर्शी को इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी (Electron Microscope) कहते हैं। साधारण बोलचाल में सूक्ष्मदर्शी को खुर्दबीन भी कहते हैं।

सूक्ष्मदर्शी का आविष्कार हालैंड निवासी जोनीडेस (Joannides) ने किया था। सूक्ष्मदर्शी ने मनुष्य को सूक्ष्म विश्व में प्रवेश करने की अभूतपूर्व क्षमता दी है। सैद्धांतिक अन्वेषणों में उपयोगी होने के अलावा सूक्ष्मदर्शी व्यावहारिक उपयोग की दृष्टि से भी विशेष महत्व रखता है। प्राणिविज्ञान (Biology), कीटाणुविज्ञान (Bactereology) और चिकित्साविज्ञान के विकास में सूक्ष्मदर्शी का महत्वपूर्ण योग है। कारखानों में भी रेशों इत्यादि की परीक्षा में सूक्ष्मदर्शी का उपयोग होता है। सूक्ष्मदर्शी चार प्रकार के होते हैं —

१—सरल सूक्ष्मदर्शी (simple microscope) अथवा आवर्धक।
२—यौगिक सूक्ष्मदर्शी (compound microscope)
३—अति सूक्ष्मदर्शी (ultramicroscope)
४—इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी (electron microscope)

सरल सूक्ष्मदर्शी — यह एक एकाकी उत्तल लेंस होता है अथवा इसमें ऐसी लेंस व्यवस्था होती है जो एकाकी उत्तल लेंस की तरह आचरण करती है। इसको आवर्धक भी कहा जाता है।

सरल सूक्ष्मदर्शी द्वारा आवर्धित प्रतिबिंब निर्माण प्रदर्शित करता है। जिस वस्तु का आवर्धित प्रतिबिंब प्राप्त करना होता है उसे आवर्धक लेंस के फोकस के निकट किंतु लेंस की ओर हटाकर रखा जाता है।

सरल सूक्ष्मदर्शी द्वारा प्राप्त आवर्धन M निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त किया जाता है।

$$M = \frac{10}{f} + 1$$

अंक १० स्पष्ट दृष्टि की न्यूनतम दूरी (least distance of distinct vision) को इंचों में व्यक्त करता है तथा f इंचों में आवर्धक लेंस का फ़ोकस अंतर है।

गोलीय विपथन (Spherical aberration), वर्ण विपथन (Chromatic aberration), अबिंदुकता (Astigmatism), विकृति (Distortion) और वक्रता (Curvature) प्राय: प्रतिबिंबों के दोष होते हैं जो उनकी विशुद्धता में कमी लाते हैं। अच्छे आवर्धक में उक्त दोष न्यूनतम मात्रा में होने चाहिएँ। कुछ अच्छे आवर्धकों के नाम नीचे दिए जाते हैं;

१. काडिंगटन आवर्धक (Coddington magnifier) — यह उभयोत्तल (double convex) लेंस होता है। इसकी पर्याप्त मोटाई होती है, जिसके मध्य में एक खाँच (Groove) होती है। इस आवर्धक द्वारा निर्मित प्रतिबिंब अबिंदुकता और वर्णविपथन से दोषमुक्त होता है।

२. हेस्टिंग्स का त्रिक लेंस (Hasting's triplet) — इसमें तीन घटक (Component) लेंस होते हैं। दो फ्लिंट लेंसों के मध्य में एक युगलोत्तल लेंस सीमेंट किया हुआ होता है। यह आवर्धक वर्णविपथन, अबिंदुकता और वक्रता के दोष से रहित होता है।

यौगिक सूक्ष्मदर्शी — यौगिक सूक्ष्मदर्शी की प्रकाशकीय व्यवस्था के निम्न प्रधान अंग हैं :

१. अभिदृश्य लेंस या अभिदृश्य लेंस व्यवस्था।

२. उपनेत्र (Eyepiece)।

यौगिक सूक्ष्मदर्शी दो प्रकार के होते हैं, (१) एकाकी अभिदृश्य सूक्ष्मदर्शी (Single objective microscope), (२) द्वि अभिदृश्य सूक्ष्मदर्शी (Double objective microscope)। द्वितीय प्रकार का सूक्ष्मदर्शी दो एकाकी सूक्ष्मदर्शियों का युग्म होता है।

सूक्ष्मदर्शी अभिदृश्य — अच्छे सूक्ष्मदर्शी अभिदृश्य (Objective) का साधारणतया गोलीय विपथन और वर्णविपथन के दोष से रहित होना आवश्यक है। प्रथम दोष प्रतिबिंब की स्फुटता में कमी करता है; दूसरा दोष प्रतिबिंब को रंगीन बना देता है। गोलीय विपथन दूर करने के लिये एक दीर्घ अपवर्तक अवतल लेंस और एक लघु अपवर्तक उत्तललेंस का युग्म बनाया जाता है। वर्णविपथन हटाने के लिये एक दीर्घ वर्णविक्षेपण (High Dispersion) के अवतल लेंस को लघु वर्णविक्षेपण (Low Dispersion) के उत्तल लेंस के साथ मिलाया जाता है। दीर्घ अपवर्तनांक (High Refractive Index) के लेंसों का वर्णविक्षेपण अधिक और लघु अपवर्तनांक के लेंसों का वर्ण विक्षेपण कम होता है। इस प्रकार एक ही लेंस व्यवस्था को वर्ण विपथन और गोलीय विपथन के दोषों से रहित बनाया जा सकता है। कभी कभी अधिक अवर्णकता और अगोलीयता प्राप्त करने के लिये सूक्ष्मदर्शी अभिदृश्यक को १० लेंसों तक की व्यवस्था के रूप में बनाया जाता है। इस प्रकार की एक अभिदृश्यक व्यवस्था को अंग्रेजी में अति अवर्णी अभिदृश्यक (Apochromatic objective) कहते हैं। श्रेष्ठ प्रकार के सूक्ष्मदर्शी अभिदृश्यक तैल निमज्जन (Oil immersion) किस्म के होते हैं। इस प्रकार के अभिदृश्यक काफी अंश तक विपथन और अन्य दोषों से रहित होते हैं।

सूक्ष्मदर्शी का उपनेत्र (Eyepiece) — उपनेत्र का मुख्य काम अभिदृश्यक द्वारा निर्मित वास्तविक प्रतिबिंब का आवर्धन करना होता है। एक साधारण उपनेत्र दो लेंसों का युग्म होता है; पहला लेंस

क्षेत्रलेंस (fieldlens) और दूसरा लेंस अभिनेत्र लेंस कहलाता है। क्षेत्रलेंस का काम होता है अभिदृश्यक से आनेवाली किरणशलाका (Pencil of rays) को, उसकी अभिबिंदुकता अथवा अपबिंदुकता को कायम रखते हुए, उपनेत्र अक्ष (Eyepiece Axis) की ओर झुकाना। अभिनेत्रलेंस क्षेत्र लेंस से कुछ दूरी पर स्थित होता है और इसका काम क्षेत्रलेंस से आनेवाली किरणों को समांतर या लगभग समांतर बनाना होता है, जिससे सूक्ष्मदर्शी में बननेवाला अंतिम प्रतिबिंब नेत्रों पर जोर डाले बिना देखा जा सके। साधारणतया सूक्ष्मदर्शियों में हाइगंस उपनेत्र (Huygens Eyepiece) का उपयोग होता है; किंतु जहाँ प्रेक्ष्य वस्तु का माप संबंधी विवरण प्राप्त करने की जरूरत होती है वहाँ रैम्सडन उपनेत्र (Ramsden's Eyepiece) काम में लाया जाता है।

प्रकाश संघारित्र (Condenser) — सूक्ष्मदर्शी से देखे जानेवाली वस्तुएँ सूक्ष्म आकार की होती हैं और उनपर पड़नेवाली सूर्य या लैंप की रोशनी काफी नहीं होती। वस्तु की प्रदीप्ति बढ़ाने के लिये उसके नीचे एक और लेंस व्यवस्था लगाई जाती है। इसका काम पदार्थ पर रोशनी संग्रह करना होता है। इस लेंस व्यवस्था को संघारित्र कहते हैं। यह संघारित्र दो प्रकार के होते हैं, (१) दीप्त क्षेत्र संघारित्र (Bright field condenser), (२) अदीप्त क्षेत्र संघारित्र (Dark field condenser)। प्रथम प्रकार के संघारित्र सूक्ष्मदर्शी में बननेवाले अंतिम प्रतिबिंब को दीप्त पृष्ठभूमि में दिखाते हैं। दूसरे प्रकार के संघारित्र प्रतिबिंब को चमकीली बनाकर उसे अदीप्त पृष्ठभूमि में दिखाते है। जीवविज्ञान संबंधी अध्ययन और गवेषणाओं में प्रयुक्त सूक्ष्मदर्शियों में प्रायः अदीप्त क्षेत्र संघारित्र का उपयोग होता है।

सूक्ष्मदर्शी की आवर्धन क्षमता (Magnifying power) और विभेदन क्षमता (Resolving power) — एक अच्छे सूक्ष्मदर्शी का उद्देश्य सूक्ष्म वस्तु के आकार का आवर्धन करके उसके अवयवों को अलग अलग करके दिखाना होता है। आवर्धन का परिमाण सूक्ष्मदर्शी की आवर्धनक्षमता पर निर्भर करता है जब कि उसके अवयवों को अलग अलग करने का संबंध सूक्ष्मदर्शी के अभिदृश्यक की विभेदनक्षमता पर निर्भर करता है।

सूक्ष्मदर्शी की आवर्धनक्षमता 'M' निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त की जाती है :

$$M = \frac{LD}{Ff}$$

L = सूक्ष्मदर्शी नलिका की लंबाई, D = स्पष्ट दृष्टि की न्यूनतम दूरी। F और f क्रमश अभिदृश्यक और उपनेत्र के फोकस अंतर हैं। अच्छे यौगिक सूक्ष्मदर्शी में बने हुए प्रतिबिंब का आकार प्रेक्ष्य वस्तु के आकार से ६००—१००० गुना बड़ा होता है। श्रेष्ठ सूक्ष्मदर्शियो का आवर्धन २५०० —३००० तक होता है। सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता वस्तु के प्रतिबिंब में अलग अलग दिखाई देनेवाले दो अवयवों की न्यूनतम दूरी के रूप में मापी जाती है। यदि यह दूरी S हो तो आबे (Abbe) के अनुसार

$$S = \frac{0{\cdot}5\lambda}{\mu \sin\theta}$$

λ = सूक्ष्मदर्शी में प्रवेश करनेवाले प्रकाश का हवा में औसत तरंगदैर्घ्य। μ = वस्तु दूरी का अपवर्तनांक।

θ उसका अपवर्तनांक तथा अभिदृश्यक के अक्ष और उसमें प्रवेश करनेवाली किरणों के बीच का महत्तम कोण

$\mu \sin\theta$ को सूक्ष्मदर्शी के अभिदृश्यक का आंकिक द्वारक (Numerical Aperture) कहते हैं।

तुल्यता सिद्धांत (Equivalence Theory) के अनुसार स्वतःदीप्त (self luminous) और परप्रदीप्त पदार्थों का आचरण सूक्ष्मदर्शी में प्रतिबिंब निर्माण की दृष्टि से एक सा होता है। इसके अनुसार,

$$S = \frac{0{\cdot}61\lambda}{\mu \sin\theta}$$

S की मात्रा जितनी कम होती है विभेदनक्षमता उतनी ही अधिक मानी जाती है।

अतिसूक्ष्मदर्शी (Ultramicroscope) — कभी कभी जिन अत्यंत सूक्ष्म वस्तुओं के रूप और आकार का निरीक्षण करना असंभव होता है उनके अस्तित्व का पता लगाना ही उपयोगी होता है। यदि कोई प्रदीप्त कण, चाहे वह कितना ही छोटा हो, प्रचुर मात्रा में सूक्ष्मदर्शी की ओर प्रकाश का प्रकीर्णन (Scattering) करता हो तो एक चमकीले बिंदु के रूप में उसका प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है। हैनरी सीडेंटाफ तथा रिचर्ड जिगमंडी (Henry Siedentopf and Richard Zsigmondy) ने सन् १९०५ में उपर्युक्त तथ्य लेकर एक व्यवस्था निर्माण की जिसमें एक आर्कलैंप (Arclamp) द्वारा प्रेक्ष्य कण पर सूक्ष्मदर्शी के अक्ष से समकोण की दिशा मे प्रकाश डाला जाता है। कण द्वारा परावर्तित (Reflected) और विवर्तित (diffracted) प्रकाश सूक्ष्मदर्शी में प्रवेश करता है और एक चमकीले बिंदु के रूप में उसका प्रतिबिंब बन जाता है। इस व्यवस्था द्वारा ·०००००००८ सेंमी व्यास तक के पदार्थ दिखाई पड जाते हैं। इस सारी व्यवस्था को अतिसूक्ष्मदर्शी (Ultra microscope) कहते हैं।

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी (Electron microscope) — यह अत्यंत सूक्ष्मपदार्थों के आवर्धित प्रतिबिंब निर्मित करने की इलेक्ट्रानीय (Electronic) व्यवस्था है। इसमें प्रकाशकिरणो के स्थान में इलेक्ट्रान किरणों का उपयोग होता है। इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी का मूल आधार दे-ब्रोगली (de-Broglie) का द्रव्यतरंगों (Matter waves) का आविष्कार है। दे-ब्रोगली के अनुसार इलेक्ट्रान तथा अन्य सूक्ष्म द्रव्यकण तरंगों के समान आचरण करते हैं। इस तरंग की लंबाई,

$$\lambda = \frac{h}{mv}$$

जहाँ h प्लांक (Planck) का नियतांक है और mv इलेक्ट्रान या द्रव्यकण का संवेग (momentum) है।

सन् १९२६ में बुश (Busch) ने बतलाया कि अक्षीय संमिति (Axial symmetry) युक्त विद्युत् और चुंबकीय क्षेत्र (Electric and magnetic fields) इलेक्ट्रान किरणों के लिये लेंस का काम करते हैं। उक्त तथ्यो को लेकर सन् १९३२ में इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के निर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ। सन् १९४०-४५ में इलेक्ट्रान

सूक्ष्मदर्शी विश्वसनीय रूप से सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीटाणुओं और अणु-कणों के अध्ययन का साधन बन गया। इस सूक्ष्मदर्शी द्वारा प्राप्त आवर्धन १०⁵ के लगभग तक हो सकता है। इसकी विभेदकता इलेक्ट्रान के तरंगदैर्घ्य पर निर्भर करती है। अभी कुछ दिन हुए, एक हीलियम आयन सूक्ष्मदर्शी का भी निर्माण हुआ है। हीलियम आयन की तरंगें इलेक्ट्रान की तरंगों से बहुत छोटी होती हैं। इस नए सूक्ष्मदर्शी की आवर्धन एवं विभेदन क्षमता इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी से अधिक है। [व० ला० जै०]

सूक्ष्ममापी (Micrometer) वह युक्ति है जिसका उपयोग सूक्ष्म-कोण एवं विस्तार मापने के लिये इंजीनियरों, खगोलज्ञों एवं यांत्रिक विज्ञानियों द्वारा किया जाता है। यांत्रिकी में सूक्ष्ममापी कैलिपर या गेज (gauge) के रूप में रहता है और इससे एक इंच के $१०^{-४}$ तक की यथार्थ माप ज्ञात कर सकते हैं। प्राय: यह युक्ति सूक्ष्म कोणीय दूरियों को मापने के लिये दूरदर्शी में तथा सूक्ष्म विस्तार मापने के लिये सूक्ष्मदर्शी में लगी रहती है। यार्कशायर के विलियम गैसकायन (William Gascoigne) ने १६३९ ई० में सूक्ष्ममापी का आविष्कार किया। गैसकायन ने फोकस तल में दो संकेतक (pointer) इस तरह रखे की उनके किनारे एक दूसरे के समांतर रहें। एक पेंच की सहायता से संकेतक पेंच के समांतर विपरीत दिशाओं में गति कर सकते थे। पेंच के एक सिरे पर सूचक (index) लगा था, जो १४ भाग में बँटे डायल के परिक्रमण के अंश का पाठ्यांक दे सकता था। ओजूत (Auzout) और पीकार (Picard) द्वारा १६०० ई० में सूक्ष्ममापी में सुधार किए गए। इन लोगों ने संकेतक के स्थान पर रजत तार या रेशम का धागा प्रयुक्त किया। इनमें से एक स्थिर और दूसरा पेंच की सहायता से गतिशील रहता था। अधिक शुद्ध माप प्राप्त करने के लिये १७७५ ई० में फोंटाना (Fontana) ने उपर्युक्त तार या धागे के स्थान पर मकड़ी का जाल (Spider web) प्रयुक्त करने का सुझाव दिया। सन् १८०० में ट्रूटन (Troughton) ने उपर्युक्त सुझाव को व्यवहृत किया।

प्रारंभिक सूक्ष्ममापी दूरियों के मापन में व्यवहृत होते थे। स्थितिकोण (position angle) और दूरियों को मापने के लिये सूक्ष्ममापी का घूर्णन इस प्रकार हो कि तारों की संक्रमणदिशा किसी स्थितिकोण में हो, इसके लिये विलियम हर्शेल (William Herschel) ने सर्वप्रथम १७७९ ई० में एक युक्ति का आविष्कार किया। उद्दिगंशक आरोपण (altazimuth mounting) के कारण सूक्ष्ममापी का उपयोग सरल हो गया जब से विषुवतीय प्रकार का आरोपण (equatorial type of mounting) सामान्य हो गया है, तब से सूक्ष्ममापी का उपयोग सुविधापूर्ण हो गया है।

फाइलर सूक्ष्ममापी — युग्म तारों (double stars) के मापन में प्रयुक्त होनेवाले आधुनिक फाइलर सूक्ष्ममापी (Filar micrometer) में दो पेंच रहते हैं और दो संकेतकों के स्थान पर समांतर तार या मकड़ी का जाला रहता है। एक पेंच, सूक्ष्ममापी के संपूर्ण बक्स को जिसमें दोनों तार रहते हैं, चलाता है, जबकि संमुख पेंच एक तार को दूसरे के सापेक्ष चलाता है। तारों (wires) के संपात का पाठ्यांक प्राप्त किया जाता है। जब सूक्ष्ममापी के संपूर्ण बक्स को चलाकर स्थिर तार को एक तारे पर लगाते हैं, तब दूसरा तारा सर्पी तार से द्विभाजित होता है। दूसरे पेंच से संलग्न सूक्ष्ममापी का पाठ्यांक दूरी जानने के लिये पर्याप्त होता है। आजकल अधिकांश मापन फोटोग्राफी से होता है और अब फाइलर सूक्ष्ममापी का उपयोग स्थितिकोणों तथा अंतरालों के मापने में ही हो रहा है।

चल तार सूक्ष्ममापी (travelling wire micrometer) — यह तथा याम्योत्तर वृत्त (transit circle) की युक्ति परिमाण समीकरण (magnitude equation) तथा अन्य क्रमबद्ध अशुद्धियों को दूर करने में अत्यंत सफल सिद्ध हुई है। सामान्यत: मूल प्रेक्षण में अब इस युक्ति का उपयोग हो रहा है। इस युक्ति को प्रयुक्त करने में प्रेक्षक गतिमान तारे के बिंब को सूक्ष्म तार या जाले से संतत द्विभाजित करने के लिये पेंच को सतत घुमाया करता है। पेंच के घूमने से तार और नेत्रिका (eyepiece) घूमते हैं, अत: दृष्टिक्षेत्र (field of view) के केंद्र में द्विभाजित तारा प्रकट रूप से अचल रहता है। जब गतिमान फ्रेम (frame) निश्चित स्थिति में पहुँचता है, तब वैद्युत संपर्क होते हैं और जब तार और इस प्रकार तारा स्थितियों की श्रेणी में पहुँचता है तब का समय समयलेखी (chronograph) पर स्वयं अंकित हो जाता है।

वैज्ञानिक उपकरणों की अंशांकित मापनी का यथार्थ पाठ्यांक प्राप्त करने के लिये एक ही आधारभूत सिद्धांत पर बने अनेक प्रकार के सूक्ष्ममापी आजकल व्यवहृत हो रहे हैं। [अ० ना० मे०]

सूखा रोग (Ricket) शरीर में विटामिन डी की कमी के कारण होता है। विटामिन डी भोजन द्वारा और त्वचा पर सूर्य की बैंगनी किरणों के प्रभाव से शरीर को प्राप्त होता है। इसकी कमी से कैल्सियम और फास्फोरस को आँतों से सोखने में तथा उसके पश्चात् शरीर में चयापचय क्रिया का असंतुलन होकर इन अवयवों की शरीर में कमी हो जाती है। विटामिन डी की कमी जन्म से तीन वर्ष के वृद्धिकाल में विशेष रूप से पाई जाती है। शिशुरोगी, जो चल फिर नहीं पाता, प्राय: बेचैन रहता है। सिर पर, विशेषत: सोते समय अधिक पसीना आता है, बार बार खाँसी और दस्त हो जाते हैं, इससे पोषणजन्य अरक्तता हो जाती है। खोपड़ी का अग्रभाग उभड़ा लगता है तथा उसका अस्थिशून्य स्थान भरता नहीं है। यही रोग का मुख्य चिह्न है। छाती पर पसली संधि का स्थान चौड़ा और मोटा हो जाता है। पेट बढ़ जाता है, लंबी अस्थियों के सिरे मोटे हो जाते हैं तथा कांड खोखले होने के कारण कमान की भाँति मुड़ जाते हैं। पेशियों में दुर्बलता आ जाती है, इससे बच्चा ठीक से चल नहीं पाता। यदि रुधिर में कैल्सियम की मात्रा अधिक कम हो जाए तो शिशु को आक्षेप (convulsions) भी आने लगते हैं। रोग का निश्चित निदान रक्त की परीक्षा कर निर्धारित किया जाता है।

रोग की रोकथाम के लिये सूर्य की रोशनी, भोजन में विटामिन

डी और कैल्सियम का ध्यान रखना चाहिए। जिन बच्चों को माँ का दूध उपलब्ध नहीं होता उनके खाने में विटामिन डी ४०० से ७०० मात्रक प्रति दिन अलग से देना चाहिए। उपचार के लिये विटामिन डी २५०० मात्रक प्रति दिन कैल्सियम और कृत्रिम पराबैंगनी किरणों का व्यवहार आवश्यक चिकित्सा में है। अस्थियाँ अधिकतर रोग दूर होने तक स्वयं ठीक हो जाती हैं अन्यथा उनकी चिकित्सा विशेषज्ञ द्वारा करानी चाहिए। [हृ० बा० मा०]

सूखी धुलाई (Dry Cleaning) सामान्य धुलाई पानी, साबुन और सोडे से की जाती है। भारत में धोबी सज्जी मिट्टी का व्यवहार करते हैं, जिसका सक्रिय अवयव सोडियम कार्बोनेट होता है। सूती वस्त्रों के लिये यह धुलाई ठीक है पर ऊनी, रेशमी, रेयन और इसी प्रकार के अन्य वस्त्रों के लिये यह ठीक नहीं है। ऐसी धुलाई से वस्त्रों के रेशे कमजोर हो जाते हैं और यदि कपड़ा रंगीन है तो रंग भी फीका पड़ जाता है। ऐसे वस्त्रों को धुलाई सूखी रीति से की जाती है। केवल वस्त्र ही सूखी रीति से नहीं धोए जाते वरन् घरेलू सजावट के साज सामान भी सूखी धुलाई से धोए जाते हैं। सूखी धुलाई की कला अब बहुत उन्नति कर गई है। इससे धुलाई जल्दी तथा अच्छी होती है और वस्त्रों के रेशे और रंगों की कोई क्षति नहीं होती।

शुष्क धुलाई में कार्बनिक विलायकों का उपयोग होता है। पहले पेट्रोलियम विलायक (नैफ्था, पेट्रोल, स्टोडार्ड इत्यादि) प्रयुक्त होते थे। पर इनमें आग लगने की संभावना रहती थी, क्योंकि ये सब बड़े ज्वलनशील होते हैं। इनके स्थान पर अब अदाह्य विलायकों, कार्बन टेट्राक्लोराइड, ट्राइक्लोरोएथेन, परक्लोरोएथिलीन और अन्य हैलोजनीकृत हाइड्रोकार्बनों का उपयोग होता है। ये पदार्थ बहुत वाष्पशील होते हैं। इससे वस्त्र जल्द सूख जाते हैं। इनकी कोई गंध अवशेष नहीं रह जाती। रेशे और रंगों को कोई क्षति नहीं पहुँचती और न ऐसे धुले कपड़ों में सिकुड़न ही होती है। वस्त्र भी देखने में चमकीले और छूने में कोमल मालूम पड़ते हैं।

विलायकों की क्रिया से तेल, चर्बी, मोम, ग्रीज और अलकतरा आदि घुलकर निकल जाते हैं। धूल, मिट्टी, राख, पाउडर, कोयले आदि के कण रेशों से ढीले पड़कर विलायकों के कारण बहकर और निकलकर अलग हो जाते हैं। अच्छे परिणाम के लिये वस्त्रों को भली भाँति धोने के पश्चात् विलायकों को पूर्णतया निकाल लेना चाहिए। वस्त्रों की अंतिम सफाई इसी पर निर्भर करती है। विलायकों को निथारकर या छानकर या आसुत कर, मल से मुक्त करके बारंबार प्रयुक्त करते हैं। साधारणतया वस्त्रों में प्रायः ०·८ प्रतिशत मल रहता है।

शुष्क धुलाई मशीनों में संपन्न होती है। एक पात्र में वस्त्रों को रखकर उसपर विलायक डालकर, ऊँचे दाबवाली भाप से गरम करते हैं और फिर पात्र में से विलायक को बहाकर बाहर निकाल लेते हैं। कभी कभी वस्त्रों पर ऐसे दाग पड़े रहते हैं जो कार्बनिक विलायकों में घुलते नहीं। ऐसे दागों के लिये विशेष उपचार, कभी कभी पानी से धोने, रसायनकों के व्यवहार से, भाप की क्रिया द्वारा अथवा स्पैचुला से रगड़कर मिटाने की आवश्यकता पड़ती है। अच्छा अनुभवी मार्जक (क्लीनर) ऐसे दागों के शीघ्र पहचानने में दक्ष होता है और तदनुसार उपचार करता है। धुलाई मशीन के अतिरिक्त धुलाई के अन्य उपकरणों की भी आवश्यकता पड़ती है। इनमें चिह्न लगाने की मशीन, भभके, पंप, प्रेस, मेज, लोहा करने की मशीनें, दस्ताने, रैक, टंबलर, धौंकनी, शोषित्र, शोषणकक्ष और सिलाई मशीन इत्यादि महत्व के हैं।

शुष्क धुलाई का प्रचार भारत में अब दिनों दिन बढ़ रहा है। पाश्चात्य देशों में तो अनेक संस्थाएँ हैं जहाँ धुलाई के संबंध में प्रशिक्षण दिया जाता है और अनेक दिशाओं में अन्वेषण कराया जाता है। [स० व०]

सूचकाक्षर (Abbreviation) बोलने तथा लिखने में सुविधा और समय तथा श्रम की बचत करने के उद्देश्य से कभी कभी किसी बड़े अथवा क्लिष्ट शब्द के स्थान पर उस शब्द के किसी ऐसे सरल, सुबोध एवं संक्षिप्त रूप का प्रयोग किया जाता है जिससे श्रोताओं और पाठकों को पूरे शब्द (या मूल शब्द) का बोध सरलता से हो जाए। शब्दों के ऐसे संक्षिप्त रूप को सूचकाक्षर (यानी ऐब्रिविएशन, Abbreviation) कहते हैं।

बड़े अथवा क्लिष्ट शब्दों को संक्षिप्त या सरल बनाने की इस क्रिया में प्रायः मूल शब्द के प्रथम दो, तीन या अधिक अक्षर, और यदि मूल शब्द (नाम) कई शब्दों के मेल से बना हो तो उन शब्दों के प्रथम अक्षर लेकर उन्हें अलग अलग अक्षरों या एक स्वतंत्र शब्द के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इस प्रकार बनाए गए सूचकाक्षरों का प्रयोग कभी कभी इतना अधिक होने लगता है कि मूल शब्द का प्रयोग प्रायः बिलकुल ही बंद हो जाता है और सूचकाक्षर लिखित भाषा का अंग बनकर उस मूल शब्द का रूप ले लेता है। इसका एक सरल उदाहरण 'यूनेस्को' है जो वस्तुतः 'यूनाइटेड नेशंस एज्युकेशनल, साइंटिफिक ऐंड कल्चरल आर्गेनिज़ेशन' इस लंबे नाम में प्रयुक्त पाँच मुख्य शब्दों के प्रथम अक्षरों के मेल से बना है। इसी प्रकार अंग्रेजी में एक बहुप्रचलित शब्द 'मिस्टर' (Mister) है, जिसे शायद ही कभी पूरे रूप में लिखा जाता हो। जब कभी किसी भी प्रसंग में उक्त शब्द लिखना होता है तो पूरा शब्द न लिखकर केवल उसके सूचकाक्षर Mr. से ही काम चला लिया जाता है। इसी शब्द का स्त्रीलिंग रूप 'मिसेज' या 'मिस्ट्रेस' भी कभी अपने पूरे रूप में न लिखा जाकर केवल सूचकाक्षर Mrs. के रूप में ही लिखा जाता है।

प्राणिमात्र का स्वभाव है कि वह कठिन एवं अधिक समयवाले कार्य की अपेक्षा सरल और कम समय वाले कार्य को अधिक पसंद करता है। सूचकाक्षर भी मनुष्य की इसी सहज स्वाभाविक प्रकृति की देन कहे जा सकते हैं। विद्वानों तथा भाषाविशेषज्ञों का मत है कि सूचकाक्षरों की प्रथा आदि काल से चली आ रही है। सूचकाक्षरों के प्राचीन उदाहरण प्राचीन काल के सिक्कों और शिलालेखों में आसानी से देखे जा सकते हैं जबकि सिक्कों तथा शिलालेखों पर स्थान की कमी तथा शिलालेखों पर लिखने के श्रम को बचाने के लिये भी शब्दों के संक्षिप्त रूपों या सूचकाक्षरों का प्रयोग किया जाता था। आधुनिक काल में भी विविध देशों के सिक्कों पर सूचकाक्षर देखे जाते हैं।

प्राचीन लेखशास्त्र (Palaeography) में भी सूचकाक्षरों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। प्राचीन लेखशास्त्र में शब्दों को संक्षिप्त रूप में लिखने या मूल शब्दों के स्थान पर सूचकाक्षरों का प्रयोग करने के दो मुख्य कारण बतलाए जाते हैं—(१) एक ही प्रसंग (या लेख) में अनेक बार प्रयुक्त होनेवाले बड़े या क्लिष्ट शब्द या शब्दों को पूरे रूप में बार बार लिखने का श्रम बचाने की इच्छा। ऐसी स्थिति में मूल शब्द या शब्दों के स्थान पर सूचकाक्षरों का प्रयोग तभी किया जाता था जब उनका अर्थ उसी प्रकार आसानी से समझ में आ जाए जिस प्रकार मूल शब्द लिखे जाने पर, (२) लिखने का स्थान बचाने की इच्छा अर्थात् सीमित स्थान में अधिक से अधिक लिखने की इच्छा।

यदि कोई लेखक किसी वैज्ञानिक या प्राविधिक विषय की पुस्तक या लेख में किसी क्लिष्ट या बड़े शब्द के लिये किसी सरल सूचकाक्षर का प्रयोग करता है तो प्रायः देखा जाता है कि उसके द्वारा प्रयुक्त सूचकाक्षर उसी विषयक्षेत्र से संबंधित अन्य लेखक तथा विद्वान् भी शीघ्र ही अपना लेते हैं। कानूनी दस्तावेजों, सार्वजनिक और निजी कागजों तथा दिन प्रतिदिन के उपयोग मे आनेवाले अन्य अनेक प्रकार के कागजों में भी प्रायः देखा जाता है कि बार बार प्रयोग में आनेवाले बड़े तथा क्लिष्ट शब्दों के सूचकाक्षर प्रचलन मे आ जाते हैं। ये सूचकाक्षर पहले तो किसी व्यक्तिविशेष द्वारा केवल अपने निजी उपयोग के लिये ही निर्मित किए जाते हैं, पर बाद में इन्हें सुविधाजनक जानकर धीरे धीरे अन्य लोग भी इनका प्रयोग करने लगते हैं।

सूचकाक्षरों का सरलतम रूप वह है जिसमें किसी शब्द के लिये एक (प्रायः प्रथम) अक्षर या अधिक से अधिक दो या तीन अक्षरों का प्रयोग होता है। प्राचीन यूनान के सिक्कों में शहरों के पूरे नाम के स्थान पर उनके नाम के केवल प्रथम दो या तीन अक्षर ही मिलते हैं। इसी प्रकार प्राचीन शिलालेखों मे शहरो के नाम के साथ साथ कुछ अन्य बड़े और क्लिष्ट शब्दों के सूचकाक्षर भी मिलते हैं। प्राचीन रोम में सरकारी ओहदे, पदवी या उपाधियों का आशय केवल उनके प्रथमाक्षर से ही समझ लिया जाता था।

सूचकाक्षर जब कुछ समय तक निरंतर प्रयोग में आते रहते हैं तब कुछ काल के बाद वे लिखित भाषा के ही अंग बन जाते हैं। प्राचीन यूनानी साहित्य में ऐसे अनेक सूचकाक्षर मिलते हैं जो आधुनिक यूनानी भाषा में भी ठीक उसी रूप और अर्थ में प्रचलित हैं जिस रूप और अर्थ में वे आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व प्रचलित थे। वर्तमान काल में भी हम दैनिक जीवन की बोलचाल की तथा लिखित भाषा में ऐसे बहुत से सूचकाक्षरों का प्रयोग करते हैं जो अब भाषा के ही अंग बन चुके हैं और जिनका पूरा रूप बहुत ही कम लोगों को ज्ञात है। इस प्रकार के सूचकाक्षर शायद ही कभी मूल शब्द के रूप में लिखे या बोले जाते हैं। नाटो, सीटो, सेंटो, गेस्टापो, सी० आई० डी०, वी० पी० (पी०) आदि कुछ ऐसे ही सूचकाक्षर हैं।

प्राचीन मिस्र से संबंधित जो सामग्री प्राप्य है तथा जो काहिरा के म्यूजियम तथा ब्रिटिश म्यूजियम, (लंदन) में सुरक्षित है, उसे देखने से पता चलता है कि प्राचीन यूनानी और लैटिन भाषाओं में भी सूचकाक्षरों का प्रयोग होता था। प्राचीन यूनानी भाषा में सूचकाक्षर बनाने की विधि बहुत सरल थी। या तो मूल शब्द का प्रथम अक्षर लिखकर उसके आगे दो आड़ी लकीरें खींचकर सूचकाक्षर बनाए जाते थे या मूल शब्द के जितने अंश को छोड़ना होता था उसका प्रथम अक्षर मूल शब्द के प्रारंभिक अंश से कुछ ऊपर लिखकर सूचकाक्षर का बोध कराया जाता था। कभी कभी इस प्रकार दो अक्षर भी प्रारंभिक अंश से कुछ ऊपर लिखे जाते थे।

अरस्तू लिखित एथेंस के संविधान संबंधी जो हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्य हैं तथा जो पहली शताब्दी (१०० ई०) के लिपिकों द्वारा लिखे माने जाते हैं, उनमें भी सूचकाक्षरों का प्रयोग मिलता है। इन ग्रंथों में कारकचिह्न (preposition) तथा कुछ अन्य शब्दों के सूचकाक्षर निर्माण की एक नियमित विधि देखने को मिलती है।

ब्रिटिश म्यूजियम (लंदन) में 'इलियड' की छठी शताब्दी की जो प्रतियाँ सुरक्षित हैं, उनमें भी सूचकाक्षरों का प्रयोग मिलता है। इन प्रतियों में जिन शब्दों के लिये सूचकाक्षरों का प्रयोग किया गया है, उनके प्रथम अक्षर के आगे अंग्रेजी के S के समान चिह्न बना हुआ है जिससे यह पता चलता है कि ये शब्द संक्षिप्त रूप में लिखे गए हैं। बाइबिल में भी संतों के नामों के लिये प्रायः सूचकाक्षरों का प्रयोग किया गया है।

लैटिन भाषा में सूचकाक्षर के रूप मे बड़े शब्दों के प्रथम अक्षर लिखने की प्रथा बहुतायत से मिलती है। इस विधि से प्राय. संज्ञा (व्यक्तिवाचक शब्द), नाम, पदवी, उपाधि, तथा उच्च प्रतिष्ठित लेखकों (classic writers) की कृतियो आनेवाले सामान्य शब्दों को भी संक्षिप्त किया गया है। इस प्रथा के अनुसार मूल शब्द (या नाम) का प्रथम अक्षर लिखने के बाद उसके आगे एक बिंदु रखकर सूचकाक्षर का बोध कराया जाता था। लेकिन इस विधि का प्रयोग केवल एक निश्चित सीमा तक ही किया जा सकता है क्योंकि एक ही अक्षर से प्रारंभ होनेवाले अनेक शब्द होते हैं। सूचकाक्षर ऐसा होना चाहिए कि उससे किसी निश्चित प्रसंग मे किसी निश्चित शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी शब्द का भ्रम न हो। शायद इसी कारण लैटिन भाषा में सूचकाक्षरों के लिये मूल शब्द के प्रथम अक्षर के साथ साथ उसके आगे कुछ विशेष संकेतचिह्नों का प्रयोग भी मिलता है।

मुद्रणकला का आविष्कार होने के पूर्व लेखनकार्य में सूचकाक्षरों का प्रयोग अधिक होने लगा था। यहाँ तक कि कभी कभी एक ही वाक्य में ४-५ सूचकाक्षरों का प्रयोग भी एक ही साथ होता था जिससे अक्सर बड़ा भ्रम हो जाता था।

आधुनिक युग में सूचकाक्षरों के प्रयोग में जिस गति से वृद्धि हुई है उसे देखते हुए यह युग अन्य बातों के साथ ही साथ सूचकाक्षरों का युग भी कहा जा सकता है। सूचकाक्षरों की संख्या इतनी अधिक हो गई है कि अंग्रेजी भाषा में इनके कई छोटे बड़े संग्रह तक प्रकाशित हो चुके हैं।

जैसा पहले बतलाया जा चुका है, अधिकांश सूचकाक्षर किसी खास उद्देश्य या क्षेत्र के लिये ही निर्मित किए जाते हैं। जब वह खास उद्देश्य पूरा हो चुकता है या उस क्षेत्र का कार्य समाप्त हो जाता है तो वे सूचकाक्षर भी क्रमशः लुप्त होते जाते हैं। अंततः एक समय

ऐसा भी आता है जब उनका अस्तित्व भी नहीं रह जाता। गत महायुद्ध काल में यूरोप तथा अमरीका के अनेक सरकारी विभागों तथा सैनिक कार्यों के लिये विविध सूचकाक्षरों का प्रयोग किया जाने लगा था। युद्धकाल के बाद जब ये सरकारी कार्यालय और विभाग अनावश्यक हो जाने के कारण बंद कर दिए गए या उन विभागों का कार्य समाप्त हो गया तो उनके लिये प्रयुक्त किए जानेवाले सूचकाक्षरों की भी कोई उपयोगिता नहीं रह गई। फलत: उस समय के अधिकांश सूचकाक्षर आज अज्ञात हो गए हैं।

अंग्रेजी भाषा में सूचकाक्षरों का प्रयोग १४ वीं सदी से ही होने लगा था। १४ वीं सदी में प्रचलित प्रसिद्ध सूचकाक्षर के उदाहरण के रूप में हम 'कैम' (Cajm) शब्द को ले सकते हैं जो कार्मेलाइट्स (Carmelites), आगस्टिनियन्स (Augustinians), जेकोबियन्स (Jacobins) और माइनारिटीज (Minorities) के लिये प्रयोग किया जाता था, तथा जो इन्हीं शब्दों के प्रथम अक्षरों को मिलाकर बना है। १७ वीं सदी में इंग्लैंड के इतिहास में 'केबाल' (Cabal) नामक पार्लियमेंट प्रसिद्ध है। यह नाम उस समय की सरकार के पाँच मंत्रियों क्लिफोर्ड (Clifford), आर्लिंगटन (Arlington), बकिंघम (Buckingham), ऐशली (Ashley) और लाडरडेल (Lauderdale) के प्रथम अक्षरों को मिलाकर बनाया गया था। १९३० के बाद अमरीका में इस प्रकार के नाम (सूचकाक्षर) बनाने की प्रथा तेजी से फैली। इसका परिणाम यह हुआ कि ज्ञानविज्ञान के प्राय: सभी आधुनिक विषयों में तो सूचकाक्षर प्रचलित हो ही गए, अमरीकी सरकार के प्राय: प्रत्येक कार्यालय, विभाग, उपविभाग तक के लिये सूचकाक्षरों का प्रयोग किया जाने लगा। और तो और, अब तक यह प्रथा इतनी अधिक फैल चुकी है कि अमरीका की प्राय: प्रत्येक छोटी बड़ी कंपनी, विश्वविद्यालय, कालेज, संस्था, प्रतिष्ठान आदि पूरे नाम की अपेक्षा सूचकाक्षर के नाम से ही अधिक अच्छी तरह ज्ञात है। इस संबंध में यह भी एक मनोरंजक तथ्य ही कहा जाना चाहिए कि जिस देश को आधुनिक युग में सूचकाक्षरों की वृद्धि करने का अधिकांश श्रेय है, उसका नाम भी अंग्रेजी मे पूरा न लिखा जाकर सूचकाक्षर (U. S. A.) के रूप में ही लिखा जाता है। इसी प्रकार उसकी राजधानी न्यूयार्क के लिये भी प्राय: N. Y. ही लिखा जाता है। अमरीका में लोग कालेज ऑव दी सिटी ऑव न्यूयार्क को सी० सी० एन० वाई० (C. C.N.Y.) कहना अधिक सुविधाजनक समझते हैं। भारत मे भी अब शिक्षित समुदाय मे काशी हिंदू विश्वविद्यालय पूरे नाम की अपेक्षा बी० एच० यू० (B H. U.) के नाम से अधिक अच्छी तरह जाना जाता है।

अमरीका और यूरोप के देशों में तो अब यह एक प्रथा सी बन गई है कि किसी भी कपनी, संस्था, एजेंसी आदि प्रतिष्ठान या प्रकाशन आदि का नामकरण करते समय इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि उसके नाम में प्रयुक्त शब्दों के अक्षरों से कोई सरल, सुविधाजनक सूचकाक्षर बनाया जा सके। 'एस्कप' (Ascap = अमरीकन सोसायटी ऑव कंपोजर्स, आथर्स एंड पब्लिशर्स (American Society of Composers, Authors and Publishers), 'लूलोप' (Lulop = लंदन यूनियन लिस्ट ऑव पीरियोडिकल्स (London Union List of Periodicals) आदि इसी प्रकार के सूचकाक्षरों के उदाहरण हैं।

अलग अलग विषयों के सूचकाक्षर भी अलग अलग प्रकार के हैं। पाश्चात्य संगीत को जब लिपिबद्ध करना होता है तो उसके लिये कुछ विशिष्ट सूचकाक्षरों का प्रयोग किया जाता है। चिकित्सा-जगत् में प्रचलित 'टी० बी०' शब्द से तो अब सामान्य जन भी परिचित हैं। यह वास्तव में सूचकाक्षर ही है। गणित शास्त्र में कुछ प्रतीक सूचकाक्षरों का कार्य करते हैं।—,+,÷,=,∴, × आदि प्रतीकों का परिचय पाठकों को देना आवश्यक नहीं जान पड़ता। ये भी एक प्रकार के सूचकाक्षर हो है। खगोलविज्ञान, ज्योतिषशास्त्र, गणितशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, रसायनशास्त्र और संगीतशास्त्र आदि विषयो का कार्य तो बिना सूचकाक्षरों के चल ही नहीं सकता। रसायनशास्त्र में विविध रासायनिक तत्वों के नामों के लिये सूचकाक्षरों का प्रयोग होता है। ये सूचकाक्षर प्राय: मूल अंग्रेजी शब्दों के प्रथम अक्षर ही होते हैं। जब दो तत्वों का नाम एक ही अक्षर से प्रारंभ होता है तो उनके सूचकाक्षरों में प्रथम दो अक्षरों का प्रयोग किया जाता है। कुछ तत्वों के लिये, विशेषकर जो तत्व अति प्राचीन काल से ज्ञात हैं, लैटिन नामों के प्रथम अक्षरो का भी प्रयोग होता है। उदाहरणत: लोहा का सूचकाक्षर Fe है जो वस्तुतः लैटिन के Ferrum शब्द से बना है। ऐसा प्रयोग किस प्रकार होता है, इस संबंध मे विस्तृत जानकारी के लिये किसी अंग्रेजी विश्वकोष में 'केमिस्ट्री' शब्द के अंतर्गत अधिक सूचना मिल सकती है।

वर्तमान काल में सूचकाक्षरों की जो वृद्धि हुई है, उसका बहुत कुछ श्रेय समाचारपत्रों को भी दिया जा सकता है। समाचारपत्रों का एक मुख्य सिद्धांत यह होता है कि कम से कम स्थान में अधिक से अधिक समाचार सारगर्भित रूप में दिए जायें। सूचकाक्षरों की सहायता से ही समाचारपत्र इस उद्देश्य में सफल हो पाते हैं। वर्तमान में बहुत सी राजनीतिक पार्टियों एवं संस्थाओं के नामो के लिये जो अनधिकारिक नाम प्रचलित हो गए हैं, वे वस्तुत: समाचारपत्रों की ही देन हैं। नाटो, सीटो और प्रसोपा जैसे नामों की कल्पना भी कभी इनके संस्थापकों ने न की होगी, पर समाचारपत्रों ने अपनी सुविधा के लिये 'नार्थ अटलांटिक ट्रीटी आर्गेनिजेशन' (उत्तर अतलांतक संधि संघटन) के लिये 'नाटो' और प्रजा-सोशलिस्ट पार्टी के लिये 'प्रसोपा' जैसे सरल और सहजग्राह्य सूचकाक्षरों का प्रयोग करना शुरू कर दिया।

समाचारपत्र राजनीतिक नेताओं के नामों के भी सूचकाक्षर बना लेते हैं। रूस के प्रधान मंत्री श्री निकिता एस० ख्रुश्चेव के लिये केवल 'के' (K) और ब्रिटेन के प्रधान मंत्री श्री हेरोल्ड मैकमिलन के लिये केवल 'मैक' (Mac) लिखकर ही काम चला लिया जाता था। अमरीका के राष्ट्रपति श्री आइजनहावर के लिये हिंदी के पत्र भी केवल आइक शब्द का प्रयोग करने लगे थे।

आधुनिक युग में सूचकाक्षरों की जो अप्रत्याशित वृद्धि हुई है उसे देखते हुए हम उन्हें साधारण भाषा के अंतर्गत प्रयोग की जाने-

वाली प्राविधिक भाषा (Technical Language) कह सकते हैं। गणितशास्त्र तथा रसायनशास्त्र के विषय में, जिनमें प्रयुक्त किए जानेवाले सूचकाक्षर सभी देशों में समान रूप से ज्ञात हैं, यह बात विशेष रूप से कही जा सकती है। इन विषयों के सूचकाक्षर राष्ट्रीयता, धर्म, वर्ण आदि का बंधन तोड़कर हर जगह समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। शैक्षणिक जगत् में डिग्री और पाठ्यक्रम प्रायः सूचकाक्षरों से ही जाने जाते हैं। बी० ए०, एम० ए०, पी-एच० डी० आदि शब्द अब इतने अधिक प्रचलित हो चुके हैं कि इनके मूल शब्द 'बैचलर ऑव आर्ट्स', 'मास्टर ऑव आर्ट्स' तथा 'डाक्टर ऑव फिलासफी' आदि का प्रयोग प्रमाणपत्रों के अतिरिक्त शायद ही कहीं और होता हो। उद्योग, व्यवसाय आदि के क्षेत्र में भी सूचकाक्षरों की एक लंबी सूची प्रयोग में आती है। आधुनिक जीवन में सूचकाक्षरों ने इतना अधिक स्थान बना लिया है कि उनके अर्थ को जानना अब दैनिक जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये आवश्यक समझा जाने लगा है।

सूचकाक्षर बनाने के कोई निश्चित नियम नहीं हैं। किसी एक शब्द या नाम के लिये इतने अधिक सूचकाक्षर बनाए जा सकते हैं कि कभी कभी एक ही शब्द के लिये कई सूचकाक्षर प्रचलित हो जाते हैं। जो हो, वर्तमान में विविध प्रकार के जो सूचकाक्षर प्रचलित हो गए हैं, उनका अध्ययन करने पर हमें सूचकाक्षर बनाने के कुछ नियमों का पता चलता है, जो इस प्रकार है—

(१) सूचकाक्षरों का सरलतम रूप वह है जिसमें किसी नाम में प्रयुक्त किए जानेवाले शब्दों के केवल प्रथमाक्षरों का ही प्रयोग होता है, यथा—यू० एस० ए० (यूनाइटेड स्टेट्स ऑव अमरीका), उ० प्र० (उत्तर प्रदेश), अ० भा० कां० क० (अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी), आई० ए० एस० (इंडियन ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस), प्रे० ट्र० (प्रेस ट्रस्ट), ए० पी० आई० (एसोशिएटेड प्रेस ऑव इंडिया), एच० आर० एच० (हिज या हर रायल हाइनेस) आदि।

(२) मूल शब्द के प्रथम और अंतिम अक्षरों को मिलाकर बनाए गए सूचकाक्षर यथा Dr. (Doctor), Mr. (Mister), Fa (Florida) आदि।

(३) मूल शब्द में प्रयुक्त कुछ अक्षरों को इस क्रम से लिखना कि वे सहज ही मूल शब्द का बोध करा दें। यथा Ltd. (Limited) Bldg. (Building) आदि।

(४) मूल शब्द का इतना प्राथमिक अंश लिखना कि उससे पूरे शब्द का बोध सहज ही हो जाए। यथा अंग्रेजी में Prof. (Professor), Wash. (Washington), तथा हिंदी में कं० (कंपनी), लि० (लिमिटेड), डा० (डाक्टर), पं० (पंडित) आदि।

(५) मूल शब्द या नाम में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों के कुछ ऐसे अंशों को मिलाना कि उनके मेल से एक स्वतंत्र शब्द बन सके—यथा टिस्को (Tata Iron and Steel Company), गेस्टापो (Geheime Staats Polizic), रेडार (Radio detection and ranging system), Benelux (Belgium, Netherlands and Luxemburg), इम्पा (Indian Motion Pictures Producers Association) आदि।

(६) शब्दों को पूरे रूप में न कहकर (या लिखकर) केवल उनके प्रथमाक्षर ही कहना (या लिखना) यथा—ए० सी० (Alternative Current), डी० सी० (Direct Current या Deputy Collector), ए० जी० एम० (Annual General Meeting), एच० पी० (Horse Power), एम० पी० एच० (Mile per hour) आदि।

(७) विविध — इस श्रेणी में हम ऐसे सूचकाक्षरों को रख सकते हैं जो यद्यपि किसी मूल शब्द के अंश हैं, तथापि जो अब स्वयं स्वतंत्र शब्द के रूप में प्रचलित हो चुके हैं। यथा—फ्लू (इन्फ्लुएंजा), फोटो (फोटोग्राफ), आटो (आटोमोबाइल), आदि।

कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों के नामों के भी अब सूचकाक्षर प्रचलित हो गए हैं। अंग्रेजी साहित्य में जार्ज बर्नार्ड शा के लिये जी० बी० एस० और राबर्ट लुई स्टीवेन्सन के लिये आर० एल० एस० का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार राजनीति में भूतपूर्व अमरीकी राष्ट्रपति श्री फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट के लिये एफ० डी० आर० और भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री आइसनहावर के लिये प्रयोग किए जानेवाले 'आइक' सूचकाक्षर से जनसाधारण अच्छी तरह परिचित हैं। नामों को संक्षिप्त करने की प्रथा प्रायः सभी देशों में प्रचलित है। अंग्रेजी में फ्रेडरिक को फ्रेड, विलियम को विल, पैट्रिशिया को पैट, हिंदी में विश्वनाथ को बिस्सू, परमेश्वरी को परमू, चमेली को चंपी आदि कहना भी वास्तव मे सूचकाक्षर का ही प्रयोग करना है, तथापि नामों को इस संक्षिप्त रूप में केवल स्नेह या प्यार के कारण ही कहा जाता है।

कभी कभी यह भी देखा गया है कि एक ही सूचकाक्षर कई शब्दों (नामों) के लिये प्रयुक्त होता है। अतः प्रसंगानुकूल ही उसका अर्थ लगाना चाहिए, अन्यथा कभी कभी अर्थ का अनर्थ हो सकता है। अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध सूचकाक्षर पी० सी० का अर्थ पुलिस कांस्टेबल, प्रिवी कौंसिल, पीस कमीशन, पोस्टकार्ड, पोर्टलैंड सीमेंट, पनामा केनाल, प्राइस करेंट, आदि हो सकता है। समाचारपत्रों के प्रसंग में ए० बी० सी० का अर्थ आडिट ब्यूरो सर्कुलेशन होता है, पर जब किसी राजनीतिक प्रसंग में ए० बी० सी० कहा जाता है तो इसका अर्थ अर्जेंटाइना, ब्राजील और चिली होता है। किसी हिंदी शब्दकोश में सामान्यतः सं० का अर्थ संज्ञा होता है पर किसी समाचारपत्र डायरेक्टरी में इसका अर्थ संपादक होगा।

सं० ग्रं० — कोलियर्स एन्साइक्लोपीडिया, १९५४; टाम्सन : हैंडबुक ऑव ग्रीक ऐंड लैटिन पैलियोग्राफी, केगन पाल, लदन, १८९३; पैट्रिज और क्लार्क : ब्रिटिश ऐंड अमेरिकन इंग्लिशिस १९००, ऐंड्रयू डेकर्स, लदन, १९५१; पैट्रिज : डिक्शनरी आव ऐब्रिविएशंस, ऐलेन ऐंड अनविन, लदन, १९४३; मैथ्यूज : ए डिक्शनरी आव ऐब्रिविएशंस, रूटलेज केगन पाल, लदन, १९४७; स्वार्ट्ज : दि कम्प्लीट डिक्शनरी आव ऐब्रिविएशंस, हैरप, लंदन, १९५७।

उक्त कोशों के अतिरिक्त एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, एन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना, एवरीमैन्स एन्साइक्लोपीडिया आदि विश्वकोशों तथा ज्ञानमंडल द्वारा प्रकाशित 'बृहद् अंग्रेजी हिंदी कोश' में भी सूक्तकारों की लंबी सूचियाँ दी गई हैं। [म० रा० जे०]

सूडान ३° ३०' – २३° २७' उ० अ० और २२°—३७° ५५' पू० दे० के मध्य स्थित उत्तर पूर्व अफ्रीका का एक बृहत् स्वतंत्र राज्य है जिसके उत्तर में मिस्र पूर्व में लाल सागर एवं इथियोपिया राज्य, दक्षिण में केनिया, उगांडा एवं कांगो तथा पश्चिम में मध्य अफ्रीकी गणराज्य, तथा चाड राज्य स्थित हैं। इस राज्य की लबाई उत्तर दक्षिण लगभग २००० किमी तथा चौड़ाई पूर्व पश्चिम १५०० किमी है एवं क्षेत्रफल लगभग १५,१८,००० वर्ग किमी है।

सन् १९५३ ई० में स्वतंत्रता प्राप्त करने के पहले इसे ऐंग्लो इजिप्शियन सूडान कहा जाता था और यह ब्रिटेन एवं मिस्र के सहस्व राज्य (Condominion under British and Egypt) था। एक सार्वभौम राष्ट्र के रूप में सूडान १९५६ ई० में आया और उसी वर्ष राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया। १८२० ई० के पहले सूडान में अनेक छोटे राज्य बने एवं बिगड़े पर कोई भी अपनी छाप न छोड़ सका। ब्रिटिश शासन ही अधिक दिन तक प्रभुसत्ता कायम रख सका।

पूर्ण रूप से उष्ण कटिबंध में स्थित इस राज्य का भूमि आकार प्राय: सम है। प्राचीन चट्टानों एवं स्थलखंडों पर अपक्षरण का प्रभाव प्रत्यक्ष है। नील नदी की घाटी मध्य में उत्तर दक्षिण में फैली हुई है। देश का ५०% से अधिक क्षेत्र ४५७ मी तक ऊँचा है और शेष भाग, थोड़े से मध्य पश्चिमी एवं द० पू० भाग जहाँ ईथियोपिया की उच्च भूमि का फैलाव है, को छोड़कर, ९१५ मी तक ऊँचा है। इस प्रकार भूमि आकार के आधार पर इसके तीन खंड किए जा सकते हैं; १. मध्यवर्ती नदी घाटी २. पूर्वी एवं पश्चिमी पठारी प्रदेश जिसमें लिबिया का मरुस्थली प्रदेश भी सम्मिलित है एवं ३. दक्षिण पूर्वी उच्च भूमि। केनिया पर्वत ३१८७ मी ऊँचा है। इस देश में विश्व का सबसे बड़ा दलदली भाग स्थित है जिसे एल सुड (El Sud) कहते हैं और जो लगभग ७८१२५ वर्ग किमी में फैला हुआ है। नील इस देश की प्रधान नदी है जो भूमि आकार को ही नहीं, यहाँ की आर्थिक एवं सामाजिक दशा को परिवर्तित करने में भी सहायक है। यह नदी दक्षिणी सीमा पर निमूल के निकट इस देश में प्रवेश करती है और ३४३५ किमी का लंबा मार्ग तय करके हाल्फा के निकट मिस्र में प्रवेश करती है। इसकी प्रमुख सहायक नदियाँ बहरेलगजेल (Bahrel-Gazel), नीली नील (Blue Nile) एवं अटबारा है। बहरेलगजेल विषुवतीय प्रदेश की अपेक्षाकृत निम्न भूमि से निकलकर पूर्व की ओर प्रवाहित होती हुई नील में एल सुड के दलदली क्षेत्र में टोंगा के निकट गिरती है। अन्य दो नदियाँ एबिसीनिया के पठार से निकलकर उत्तर एवं उत्तर पश्चिम दिशा में प्रवाहित होकर क्रमश: एल डैमर एवं खारतूम के समीप श्वेत नील में गिरती हैं। प्राय: सभी नदियों में वर्ष भर पर्याप्त मात्रा में जल उपलब्ध रहता है। मुख्य नील का निकास विषुवतीय जंगलों में स्थित झीलों से हुआ है अत: इसमें सबसे अधिक मात्रा में जल उपलब्ध है।

यद्यपि संपूर्ण देश उष्ण कटिबंध में ही स्थित है तथापि विस्तार एवं धरातल ने जलवायु में अधिक वैषम्य ला दिया है। उत्तरी भाग में जहाँ बालू की आँधियाँ चलती हैं वहीं दक्षिण में प्रचुर मात्रा में वर्षा होती है। उत्तरी क्षेत्र में वर्षा आकस्मिक एवं यदा कदा ही होती है। मध्य क्षेत्र में इसका औसत १५ सेमी है पर दक्षिण में १०१ सेमी तक पानी बरसता है। वर्षा प्राय. मई से अक्टूबर महीने तक होती है। ग्रीष्म ऋतु का ताप (२७° सें० ३२° सें) प्राय: उत्तर एवं दक्षिण में समान रहता है जब कि शीत ऋतु में इसका वैषम्य बढ़ जाता है। इस ऋतु में उत्तरी क्षेत्र का औसत ताप लगभग १५° सें० रहता है जब कि दक्षिण में २७ से०। अप्रैल एवं अक्टूबर के बीच बालू की भीषण आँधियाँ चला करती हैं जो प्राय: उत्तर पश्चिम क्षेत्र में मिलती हैं। ये आँधियाँ हानिकर नहीं हैं पर कभी कभी हजारों फुट बालू की ऊँची दीवार बना देती हैं। इन तूफानों को स्थानीय भाषा में हबूब कहते हैं।

राज्य के प्रमुख प्राकृतिक साधन नील नदी का जल, जंगल और जंगल से उत्पन्न गोंद, जिससे इत्र, तेल तथा दवाएँ बनती हैं एवं लाल सागर का जल जिससे नमक बनाया जाता है, हैं। इन जंगलों में पाए जानेवाले बबूल के रस से गोंद बनाया जाता है। विश्व की गोंद की माँग की ९०% की पूर्ति यहाँ से की जाती है। विश्वप्रसिद्ध बबूल गोंद (Gum Arabic) यहीं बनता है। इन वृक्षों के लिये कार्डोफन (Cordofan) पठार विशेष प्रसिद्ध है। पशुपालन में लगे हजारों सूडानियों का पूरक व्यवसाय बबूल का रस इकट्ठा करना है। दक्षिणी जंगलों में कठोर लकड़ीवाले वृक्ष महोगनी, इबोनी आदि अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। १९२५ ई० में जलपूर्ति के हेतु ब्लू नील पर १००६ मी लंबे एवं ३७ मी ऊँचे सेनार बाँध (Sennar dam) का निर्माण कार्य पूर्ण हुआ। इससे निर्मित जलाशय ९३ मील लंबा है। राज्य का प्रधान औद्योगिक उत्पादन दैनिक प्रयोग की वस्तुएँ हैं। अतिरिक्त कुछ उत्पादन स्थानीय माँग की पूर्ति के लिये भी होता है जिनमें बीयर, नमक, सीमेंट, परिरक्षित मांस आदि प्रमुख हैं। इनका प्रमुख केंद्र खारतूम है। संभावित खनिजों की सूची में स्वर्ण, ग्रेफाइट, गंधक, क्रोमाइट, लोहा, मैंगनीज एवं ताँबा हैं। वादीहाफा के दक्षिण सोने की खदानें हैं। अब तक इन खनिजों के उत्पादन एवं उपयोग पर ध्यान नहीं दिया गया है।

जीविकोपार्जन के अन्य साधनों के अभाव में बंजारों की प्रमुख जीविका पशुचारण एवं कृषि ही है। उत्तरी सूडान के निवासी मरुस्थली प्रदेश के होने के नाते बंजारों का जीवन व्यतीत करते हैं। इनकी जीविका पशुचारण है पर चारों एवं भोजन की आवश्यकता की पूर्ति के लिये इन्हें यत्र तत्र घूमना पड़ता है। अन्य क्षेत्रों की मुख्य जीविका कृषि ही है। मध्य एवं उत्तरी भाग में वर्षा की कमी के कारण खारतूम के उत्तर एवं मध्य सूडान के कृषकों को जल के लिये कूपों, तालाबों एवं नील नदी के जल पर निर्भर करना पड़ता है। संपूर्ण क्षेत्रफल के २०% भाग पर कृषि होती है और १०% भाग घास के मैदानों के अंतर्गत आते हैं। उत्तर के कृषक अन्न, कपास एवं मटर की खेती करते हैं पर दक्षिणी कृषक बरसाती फसलें जैसे मीठे आलु की कृषि अधिक करते हैं। खारतूम के दक्षिण ब्लू एवं ह्वाइट नील के क्षेत्र में लगभग १,०००,००० एकड़ में लंबे धागेवाली उत्तम कोटि

की कपास पैदा की जाती है। कपास ही राष्ट्र की अधिकतम आय का साधन है।

सूडान के व्यापार मे आयात एवं निर्यात मूल्य में संतुलन नहीं है क्योंकि इसे महँगी वस्तुएँ आयात करनी पड़ती हैं। सस्ते एवं कम सामान निर्यात होते हैं। आयात की वस्तुओं में सूती सामान, चीनी, काफी, चाय, लौहपात्र (hardware) मशीनें, मिट्टी का तेल, गेहूँ, आदि प्रमुख हैं पर निर्यात गोंद, कपास, बिनौले, चमड़े, सींग, हड्डियाँ, पशु एवं मटर का होता है। निर्यात करनेवाले प्रमुख राष्ट्र ग्रेट ब्रिटेन, भारत, मिस्र, ईरान, आस्ट्रेलिया, संयुक्त राज्य अमरीका, पाकिस्तान एवं पश्चिम जर्मनी हैं। १९५७-५८ ई० में ४८,१२४ टन गोंद का यहाँ से निर्यात किया गया।

सूडान राज्य में ९ प्रांत, बहरेलगजेल, ब्लू नील, डार्फर, इक्वेटोरिया, कस्साल, खारतूम, कारडोफन, उत्तरी एवं अपर नील तथा ६९ जनपद हैं। राज्य की जनसंख्या ११,६२८,००० (१९६१) है। सर्वाधिक घने बसे भाग ब्लू नील एवं बहरेलगजेल हैं जहाँ राज्य के लगभग १४% क्षेत्रफल में ३४% जनसंख्या निवास करती है। नगर प्राय नदियों के किनारे पर बसे हैं जहाँ जल की सुविधा है। खारतूम यहाँ का प्रशासनिक केंद्र है जिसकी जनसंख्या १९५५ में ८२७०० थी। अब खारतूम, उत्तरी खारतूम एवं अंडरमन नगर प्राय: एक हो गए हैं और इनकी जनसंख्या १९६१ में ३१२,४६५ थी। अन्य नगर एल ओबीद (७०,१००), पोर्ट सूडान (६०,६००), वादी मेदानी (५७,३००) अतबारा (३६,१००) कस्साल, गेडरीफ आदि हैं। जनसंख्या का ¾ भाग अरबी भाषाभाषी मुसलमान हैं। दक्षिणी भाग में कुछ नीग्रो लोग रहते हैं जिनकी भाषा एवं रहन सहन उत्तर के निवासियों से भिन्न है। अरबी राष्ट्रभाषा है। नगरों में शिक्षण संस्थान हैं। सर्वोच्च शिक्षण संस्थान खारतूम में है। 'यूनिवर्सिटी कालेज ऑव खारतूम' १९५१ में स्थापित एकमात्र विश्वविद्यालय है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक एवं प्रशिक्षण संस्थान भी हैं। राज्य मे यातायात की सुविधा के लिये लगभग २३,००० किमी लंबा राजमार्ग है जो प्राय. सभी प्रमुख स्थानों के मिलाता है। रेलमार्ग (छोटी लाइन) १९६१ के अनुसार ५१६९ किमी था जिनमें खारतूम ब्याला (१३८५ किमी) मुख्य है।

सूडान चार प्राकृतिक विभागों में बाँटा जा सकता है :

१. मरुस्थली प्रदेश — खारतूम के उत्तर का प्राय: संपूर्ण भाग सहारा के लिबिया एवं नुबिया मरुस्थलों से घिरा हुआ है। वनस्पति केवल ओसिस एवं अन्य जलवाले भागो तक सीमित है। नील इसके मध्य से प्रवाहित होती है। शेष भाग उजाड़ है।

२. स्टेपीज क्षेत्र — खारतूम से अल ओबीद तक का छोटी छोटी घासों का क्षेत्र, जिसमें कहीं कहीं झाड़ियाँ भी हैं, इसमें संमिलित है। कार्डोफा के पठार पर ये मैदान ४५७ मी तक की ऊँचाई पर भी मिलते हैं।

३. सवन्ना — उष्ण कटिबंधीय घास के मैदानों का क्षेत्र है जो विषुवती वनों के उत्तर स्थित है। घासें अत्यधिक लंबी होती हैं। (जिराफ, एंटीलोप्स आदि) कुछ जंगली जीव भी इनमें रहते हैं।

४. विषुवत प्रदेश — दक्षिणी सूडान में विषुवत रेखा के समीप अतिवृष्टि का क्षेत्र है। यह उथला बेसिन है जिसमें सफेद नील अपनी सहायक नदियों के साथ वक्र मार्ग में प्रवाहित होती है। ७८१-२५ वर्ग किमी में फैला हुआ दलदली क्षेत्र अल सुड इसी भाग में है। दक्षिणी भाग उत्तरी भाग की अपेक्षा ऊँचा है। घने जंगल यहाँ की विशेषता है। [कै० ना० सिं०]

सूदन सूदन ने अपनी रचना 'सुजानचरित्र' में अपना परिचय देते हुए कहा है 'मथुरापुर सुभ धाम, माथुरकुल उतपत्ति बर। पिता बसंत सुनाम, सूदन जानहु सकल कवि।' इससे स्पष्ट है कि सूदन मथुरावासी माथुर ब्राह्मण थे और उनके पिता का नाम बसंत था। कोई मकरंद कवि सूदन के गुरु कहे जाते हैं जो मथुरा के निवासी थे। कुछ लोग प्रसिद्ध कवि सोमनाथ को उनका गुरु मानते हैं। सूदन की पत्नी का नाम सुंदर देवी था जिनसे उन्हें तीन पुत्र हुए थे। भरतपुर नरेश बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह उपनाम सूरजमल ही इनके आश्रयदाता थे। वहीं के राजपुरोहित धर्मडीराम से सूदन की घनिष्ठ मित्रता थी। अभी कुछ दिनों पूर्व तक उक्त राज्य से कविवंशजों को २५ रु० मासिक वृत्ति बराबर मिल रही थी। कृतित्व से सूदन बहुज्ञ और साहित्यमर्मज्ञ जान पड़ते हैं।

सूदन की एकमात्र वीररसप्रधान कृति 'सुजानचरित्र' है, जिसकी रचना उन्होंने अपने आश्रयदाता सुजानसिंह के प्रीत्यर्थ की थी। इस प्रबंध काव्य में संवत् १८०२ से लेकर संवत् १८१० वि० के बीच सुजानसिंह द्वारा किए गए ऐतिहासिक युद्धों का विशद वर्णन किया गया है। 'सुजानचरित्र' में अध्यायों का नाम 'जंग' दिया गया है। यह ग्रंथ सात जंगों मे समाप्त हुआ है। किन्हीं कारणों से सातवाँ जंग अपूर्ण रह गया है। कवि का उपस्थितिकाल (१८०२-१८१० वि०) ही ग्रंथ-रचना-काल का निश्चय करने में सहायक हो सकता है। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से जो 'सुजानचरित्र' प्रकाशित हुआ है उसमें उसकी दो प्रतियाँ बताई गई हैं — एक हस्तलिखित और दूसरी मुद्रित। इसमें हस्तलिखित प्रति को और भी खंडित कहा गया है। मंगलाचरण के बाद इसमें कवि ने वंदना के रूप में १७५ संस्कृत तथा भाषाकवियों की नामावली दी है। केशव की 'रामचंद्रिका' की भाँति ही इसमे भी लगभग १०० वर्णिक और मात्रिक छंदों का प्रयोग कर छंदवैविध्य लाने को कोशिश की गई है। ब्रजभाषा के अतिरिक्त अन्य अनेक भाषाओं का प्रयोग भी इसमे किया गया है।

कवित्व की दृष्टि से कवि की वर्णन-विस्तार-प्रियता और कढ़ वस्तु-परिगणन-प्रणाली उसकी कविता को नीरस बना देती है। घोड़ों, अस्त्रों और वस्त्रों आदि के बहुज्ञताप्रदर्शनकारी वर्णन पाठकों को उबा देते हैं और सरसता में निश्चित रूप से व्याघात उपस्थित करते हैं। हिंदी में वस्तुओं की इतनी लंबी सूची किसी कवि ने नहीं प्रस्तुत की है। युद्धवर्णन में भीतरी उमंग की अपेक्षा बाह्य तड़क भड़क का ही प्राधान्य है। 'धड़धद्धर धड़धद्धर। भड़भब्भरं भड़भब्भर। तड़तत्तर तड़तत्तरं। कड़कक्करं कड़कक्करं।।' जैसे उदाहरण से स्पष्ट है कि डिंगल के अनुकरण पर काव्य में ओज लाने के लिये कवि ने शब्दनाद पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है जिससे शब्दों के रूप बिगड़ गए हैं और भाषा कृत्रिम हो उठी है। भिन्न भिन्न भाषाओं एवं

बोलियों के प्रयोग रचनासौंदर्य को बढ़ाने के बजाय घटाते ही हैं। अप्रस्तुतयोजना भी उसकी अनाकर्षक है। यद्यपि उसके युद्धवर्णन सुंदर और सफल हुए हैं और वीररस से इतर शृंगारादि रसों पर भी उसका अधिकार है तथापि निष्कर्ष रूप में यही कहना पड़ता है कि 'सुजानचरित्र' का महत्व जितना ऐतिहासिक दृष्टि से है उतना साहित्यिक दृष्टि से नहीं।

सं० ग्रं० — आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, ना० प्र० सभा, वाराणसी; डॉ० उदयनारायण तिवारी : वीर काव्य; डॉ० टीकमसिंह तोमर : हिंदी वीर काव्य।

[रा० के० त्रि०]

सूरजमल (जन्म १७०८ ई०; मृत्यु, १७६३)। भरतपुर के जाट राजा बदनसिंह का दत्तक पुत्र, सूरजमल अपनी योग्यता तथा क्षमता के कारण बदनसिंह द्वारा अपने पुत्र की जगह, राज्य का उत्तराधिकारी निर्णीत हुआ। बदनसिंह के अस्वस्थ होने पर राज्य का संचालन सूरजमल ने ही सँभाला। अपनी सैनिक योग्यता, कुशल शासन, चतुर राजनीतिज्ञता, तथा सबल व्यक्तित्व द्वारा उसने जाट सत्ता का अभूतपूर्व उत्थान किया।

बदनसिंह के जीवनकाल में सूरजमल ने अनेक विजयें प्राप्त कीं, तथा राज्य की अभिवृद्धि की। रोहिलखंड पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष में मुगल सम्राट् ने बदनसिंह को राजा तथा महेंद्र की उपाधियों से, और सूरजमल को कुमारबहादुर तथा राजेंद्र की उपाधियों से विभूषित किया। फिर, कुछ दिनों बाद ही सूरजमल को मथुरा का फौजदार नियुक्त किया। मराठों की विशाल सेना के विरुद्ध कुंभेर के किले का सफल बचाव करने के कारण समस्त भारत में उसकी कीर्ति व्याप्त हो गई। उसकी बढ़ती शक्ति को देख मुगल सम्राट् को भी उससे संधि करनी पड़ी (२६ जुलाई, १७५६)।

बदनसिंह की मृत्यु (७ जून, १७५६) के पश्चात् राज्यारोहण के बाद से सूरजमल को अपने वीर किंतु उद्दंड पुत्र जवाहिरसिंह का विद्रोह दमन करना पड़ा (नवंबर, १७५६)। अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों के दौरान (१७५७-६१) विरोधी दलों का पक्ष ग्रहण करने से अपने को बचाए रखने में सूरजमल ने अद्भुत कूटनीतिज्ञता का परिचय ही नहीं दिया बल्कि अपने राज्य को भी तीव्र संकट से बचा लिया। तत्पश्चात् उसने पुन: अपना राज्यविस्तार प्रारंभ कर दिया। आगरा पर आक्रमण कर (जून, १७६१) उसने अपार धन लूटा। मेवात में फर्रुखनगर पर उसके पुत्र जवाहिरसिंह का अधिकार होने से नजीबखाँ रोहिल्ला से उसका वैमनस्य हो गया। तज्जनित युद्ध में उसपर अचानक आक्रमण के कारण उसका वध हो गया।

सं० ग्रं० — जदुनाथ सरकार : फॉल ऑव द मुगल एंपायर; के० कानूनगो : हिस्टरी ऑव द जाट्स। [रा० ना०]

सूरज (या सूर्य) मुखी (Sunflower) अनेक देशों के बागों में उगाया जाता है। यह कंपोज़िटी (Compositae) कुल के हेलिएंथस (Helianthus) गण का एक सदस्य है। इस गण में लगभग साठ जातियाँ पाई गई हैं जिनमें हेलिएंथस ऐनुअस (Helianthus annuus), हेलिएंथस डिकैपेटेलस (Helianthus decapetalus), हेलिएंथिस मल्टिफ्लोरस (Helianthus multiflorus), हे० ओरगैलिस (H. Orggalis) हे० ऐट्रोरूबेंस (H. atrorubens), हे० गाइजेन्टियस (H. gigenteus) तथा हे० मौलिस (H. molis) प्रमुख हैं।

यह फूल अमरीका का देशज है पर रूस, अमरीका, इंग्लैंड मिस्र, डेनमार्क, स्वीडन और भारत आदि अनेक देशों में आज उगाया जाता है। इसका नाम सूरजमुखी इस कारण पड़ा कि यह सूर्य की ओर झुकता रहता है, हालाँकि प्राय: सभी पेड़ पौधे सूर्य प्रकाश के लिये सूर्य की ओर कुछ न कुछ झुकते हैं। सूरजमुखी का सूर्य की ओर झुकना आँखों से देखा जा सकता है। बागों में उगाए जानेवाले सूरजमुखी की उपर्युक्त प्रथम दो जातियाँ ही हैं। इसके पेड़ १ मी० से ५ मी० तक ऊँचे होते हैं। इनके डंठल बड़े तुनुक होते हैं, हवा के झोंके से टूट जा सकते हैं अत: इनमें टेक लगाने की आवश्यकता पड़ सकती है। इसकी पत्तियाँ ७ सेमी से ३० सेमी लंबी होती हैं। कुछ सूरजमुखी एकवर्षी होते हैं और कुछ बहुवर्षी, कुछ बड़े कद के होते हैं और कुछ छोटे कद के।

इसके पीले फूल बाग के फूलों में सबसे बड़े होते हैं। सिर ७ सेमी से १५ सेमी चौड़े और कर्षण से उगाने पर ३० सेमी या इससे भी चौड़े हो सकते हैं। ये शोभा के लिये बागों में उगाए जाते हैं। अच्छे कर्षण और खाद से भिन्न भिन्न रंग, कांति और आभा के फूल प्राप्त हो सकते हैं। फूल की पंखुड़ियाँ पीले रंग की होती हैं और मध्य में भूरे, पीत या नीललोहित या किसी किसी वर्णसंकर पौधे में काला चक्र रहता है। चक्र में ही चिपटे काले बीज रहते हैं। बीज से उत्कृष्ट कोटि का खाद्य तेल प्राप्त होता है और खली मुर्गों को खिलाई जाती है। सूरजमुखी के पेड़ में रितुआ रोग भी कभी कभी लग जाता है जिससे पत्तियों के पिछले भाग में पीतभूरे रंग के चकत्ते पड़ जाते हैं। इससे रक्षा के लिये गंधक की धूल छिड़की जा सकती है।

सूरजसिंह राठौर, राजा मुगल सम्राट् अकबर की सेवा में १५७० ई० में आया। यह मारवाड़ के राय मालदेव का पौत्र तथा उदयसिंह (मोटा राजा) का पुत्र था। इसकी बहन का विवाह राजकुमार सलीम से हुआ था। सुल्तान मुराद के गुजरात का अध्यक्ष नियुक्त होने पर यह उसके सहायक के रूप में नियुक्त हुआ। सुल्तान दानियाल की नियुक्ति जब दक्षिण प्रदेश में हुई तो यह उसके साथ भेजा गया। १६०० ई० में राजू दखिनी के दमनार्थ दौलतखाँ लोदी के साथ नियुक्त हुआ। दो वर्ष बाद खुदावंदखाँ हब्शी का विद्रोह दबाने के लिये अब्दुर्रहीम खानखानाँ के साथ भेजा गया। १६०८ ई० के लगभग, सम्राट् जहाँगीर के राज्यकाल में इसका मंसब बढ़ाकर चार हजारी चार हजार सवार का कर दिया गया। १६१३ ई० में सुल्तान खुर्रम के साथ दक्षिण गया। १६१५ ई० में इसे पाँच हजारी मंसब मिला। १६१९ ई० में दक्षिण में देहांत हुआ।

सूरण कुल (Family Araceae) पौधों का एक बड़ा कुल है जिसमें लगभग १०० वंश तथा १५०० स्पीशीज संमिलित हैं। ये

विश्व के भाग से लेकर शीतोष्ण क्षेत्रों में पाए जाते हैं। इस कुल के कुछ सदस्य जलीय होते हैं, जैसे पिस्टिया (Pistia) जलगोभी, कुछ पौधों के तने ऊर्ध्व या आरोही होते हैं, जैसे मॉन्स्टेरा (Monstera), तथा कुछ अन्य सदस्यों में भूमिगत कंद अथवा प्रकंद, जैसे अमॉरफोफैलस (Amorphophallus) एवं कॉलोकेसिया (Colocasia) होते हैं। आरोही लताएँ उष्णकटिबंधी वर्षावाले जंगलों में विशेष रूप से पाई जाती हैं।

पौधे अधिकांशत: क्षाकीय होते हैं जिनमें जलीय या दुग्धरस पाया जाता है। मलाया तथा अफ्रीका के उष्ण कटिबंध के कुछ स्पीशीज की पत्तियाँ दीर्घाकार होती हैं और ये स्पीशीज अत्यधिक फूलोंवाले स्पेथ (Spathe) उत्पन्न करते हैं। इस स्पेथों से बड़ी अप्रिय दुर्गंध निकलती है। इन पौधों में परागण मुर्दाखोर मक्खियों (Carrion fly) द्वारा होता है।

फूल छोटे तथा उभयलिंगी (hermaphrodite) या उभय लिंगाश्रयी (Monoecious) होते हैं। फूल स्पाइक (Spike), जिसे स्पेडिक्स (Spadix) कहते हैं, पर लगे रहते हैं। स्पेडिक्स हरे, जैसे एरम (Arum) में, अथवा चमकदार रंग के, जैसे ऐंथूरियम (Anthurium) में, स्पेथ से घिरा होता है।

सर्प पादप, जैसे ऐरिसिमा (Ariscaema) पहाड़ियों पर पाया जाता है, मॉन्स्टेरा डेलिसिओसा (Monstera deliciosa) फलों के लिये महत्वपूर्ण है, अमॉरफोफैलस अर्थात् सूरन (Elephant footyam) तथा एरम 'लार्ड्‌स ऐंड लेडीज' (Lords and Ladies) खाने योग्य प्रकंद उत्पन्न करते हैं। पोथॉस (Pothos) सजावटी आरोही लता है और एन्थूरियम ग्रीन हाउस का गमले में लगाया जानेवाला आकर्षक पौधा है।

[बी० एम० जी०]

सूरत दे० सुरत

सूरति मिश्र का जन्म आगरा में कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम सिंहमणि मिश्र था। ये वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। इनके गुरु का नाम श्री गंगेश था। कविताक्षेत्र में इनका प्रवेश भक्तिविषयक रचनाओं के माध्यम से हुआ। 'श्रीनाथविलास' इनकी प्रथम कृति है जिसमें इन्होंने कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है। श्रीमद्भागवत के आधार पर 'कृष्णचरित्र' के प्रणयन के पश्चात् इन्होंने 'भक्तविनोद' की रचना की। इसमें भक्तों की दिनचर्या वर्णित है। 'भक्तमाल' में इन्होंने वल्लभाचार्य के शिष्यों का प्रशस्तिगान किया। भगवन्नामस्मरण के लिये 'कामधेनु' नामक चमत्कारी रचना के अनंतर 'नखशिख' का निर्माण किया। मर्मज्ञ शास्त्राभ्यासी होने के कारण काव्य के विविध रूपों की ओर इनका झुकाव हुआ। पिंगल, कविशिक्षा, अलंकार, नायिकाभेद एवं रस से संबंधित क्रमश: 'छंदसार', 'कविसिद्धांत', 'अलंकार माला', 'रसरत्न' तथा 'शृंगारसार' लिखा। रसरत्नमाला और रसरत्नाकर नामक रचनाएँ भी इनके नाम से

संबद्ध बताई जाती हैं परंतु 'रसरत्न' के अतिरिक्त इनका पृथक् अस्तित्व नहीं है।

काव्यरचना के पश्चात् मिश्र जी पद्यबद्ध टीका की ओर उन्मुख हुए। सर्वप्रथम केशव की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' की टीकाएँ इन्होंने प्रस्तुत कीं। रसिकप्रिया की इस टीका का नाम 'रसगाहकचंद्रिका' है। यह जहानाबाद के नसरुल्लाह खाँ के आश्रय में संवत् १७९१ में संपन्न हुई थी। खाँ साहब स्वयं कवि थे और रसगाहक उनका उपनाम था। जोधपुर के दीवान अमरसिंह के यहाँ इन्होंने बिहारी सतसई की 'अमरचंद्रिका' टीका सं० १७९४ में पूर्ण की। तदनंतर सं० १८०० में बीकानेर नरेश जोरावर सिंह के आग्रह पर मिश्र जी ने 'जोरावरप्रकाश' प्रस्तुत किया। वस्तुतः यह 'रसगाहक चंद्रिका' का ही परिवर्तित नाम है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के प्रसिद्ध प्रबोधचंद्रोदय नाटक तथा 'वैतालपंचविंशतिका' का भी इन्होंने पद्यमय अनुवाद किया। तत्कालीन कविसमाज में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।

रीतिपरंपरा के समर्थ कवि एवं टीकाकार के रूप में मिश्र जी का महत्वपूर्ण स्थान है।

सं० ग्रं०—खोजविवरण १९०६-०८; शिवसिंह सरोज; मिश्रबंधुविनोद; आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास।

[रा० ब० पां०]

सूरदास हिंदी साहित्य के लोकप्रिय महाकवि हैं, जिन्हें भारतीय जन 'भाषा-साहित्य-सूर्य' की उपाधि से विभूषित कर नित्य नमन करता आ रहा है। आपकी जीवनी पर सत्य रूप से प्रकाश डालनेवाले कितने ही समसामयिक पूर्वापर के 'सांप्रदायिक' अर्थात् 'पुष्टिमार्गीय' तथा इतर 'भक्त-गुण-गायक' ग्रंथ हैं। इनमें प्रमुख हैं — चौरासी वैष्णवन की वार्ता : श्री गोकुलनाथ (सं० १६०८ वि०); वार्ता टीका—'भावप्रकाश' : श्री हरिराय (सं० १६६० वि०); वल्लभदिग्विजय : श्री यदुनाथ (सं० १६५८ वि०); संस्कृत वार्ता मणिमाला : श्रीनाथ भट्ट (सं० अज्ञात); संप्रदायकल्पद्रुम : विट्ठल भट्ट (सं० १७२९ वि०); भावसंग्रह : श्रीद्वारकेश (सं० १७६० वि०); अष्टसखामृत : प्राणनाथ कवि (सं० १७६७ वि०); कीर्तन संग्रह : जमुनादास (सं० अज्ञात); वैष्णव आह्निक पद : श्रीगोपिकालंकार (सं० १८७९ वि०) और इतर ग्रंथ — भक्तमाल : नाभादास (सं० १६६० वि०); भक्तमाल टीका : प्रियादास (सं० १७६९ वि०); भक्तनामावली : ध्रुवदास (सं० १६९८ वि०); भक्तविनोद : कवि मियाँसिंह (सं० अज्ञात); नारायण भट्ट चरितामृत : जानकी भट्ट, (सं० १७२३ वि०); राम रसिकावली : रघुराजसिंह रीवाँ नरेश (सं० १९३३ वि०); मूल गुसाईं चरित : वेणीमाधव दास (सं० अज्ञात)। इनके सिवा अन्य भाषाग्रंथों में आईने अकबरी, मुंतखिब उल् तवारीख, मुंशियात अबुल फ़जल आदि आदि...। इधर नई खोज में प्राप्त सूर जीवनी पर प्रकाश डालनेवाली एक कृतिविशेष 'भक्तविहार' और मिली है, जिसे सं० १८०७ वि० में कवि 'चंददास' ने लिखा है। उसमें अनेक भक्त कवियों के इतिवृत्त के

साथ 'सूरदास जी' के जीवन पर भी एक तरंग — 'सूर सागर : अनुराग' नाम से लिखी है। इन सब संदर्भ ग्रंथों के आधार पर कहा जाता है कि श्रीसूरदास जी का जन्म वैशाख शुक्ला पंचमी या दशमी, सं० १५३५ वि० को दिल्ली के पास 'सीही' ग्राम में पं० रामदास सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ हुआ। वे जन्मांध थे (श्री हरिराय कृत वार्ता टीका भावप्रकाश के अनुसार सिलपट्ट अंधे, बरोनियों से रहित पलक जुड़े हुए) बाद में आप पुराणप्रसिद्ध गोघाट, रेणुकाक्षेत्र (रुनुक्ता), आगरा के पास आकर रहने लगे। यहीं आप सं० १५६५ वि० में श्रीवल्लभाचार्य जी (सं० १५३५ वि०) की शरण यह कहने पर हुए — "सूर है कैं काहे घिघियात हो" और तभी भगवल्लीला संबंधी प्रथम यह पद गाया — "ब्रज भयो मैहेर कैं पूत, जब यै बात सूनी।" तदुपरि आप श्रीवल्लभाचार्य जी के साथ गोघाट से गोवर्धन आ गए और "श्रीनाथजी" — गोवर्धननाथ जी की कीर्तन सेवा करते हुए चंद्रसरोवर, परासोली गाँव में, जो गोवर्धन से निकट है, रहने लगे। सं० १६४० वि० में आपका निधन —"श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी (सं० १५७२ वि०), कुंभनदास (सं० १५२५ वि०), गोविंदस्वामी (सं० १५६२ वि० के पास), चतुर्भुजदास (सं० १५८७ वि० के पास) अष्टछाप के कवि और प्रसिद्ध गायक रामदास (सं० अज्ञात) के संमुख—"खंजन नैन रूप रस माते" पद को गाते गाते हुआ। इस संप्रदाय-ग्रथ-अनुमोदित प्रामाणिककल्प आपके चारु चरित्र के अपवाद में कुछ दूर की कौड़ी लानेवाले मनमौजी सूर जीवनी लेखकों ने आपको 'जाट, भाट और ढाँढ़ी' भी बताया है, जो सत्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

पुष्टिसंप्रदाय में सूर-जीवन-संबंधी कुछ जनश्रुतियाँ भी बड़ी मधुर हैं। तदनुसार आप देह रूप में 'उद्धव अवतार', भगवल्लीला रूप में 'सुबल वा कृष्णसखा' और नित्यरसपूरित निकुंजलीला में 'चंपकलता' सखी थे। पदरचनाओं में प्रयुक्त आपके छापों (नामों) 'सूर, सूरदास, सूरज, सूरजदास और सूरस्याम' के प्रति भी एक वार्ताविशेष कही सुनी जाती है, जिसके अनुसार आपको 'सूर' नाम से श्रीवल्लभाचार्य जी पुकारा करते थे तथा कहते थे — "जैसे सूर (वीर पुरुष) होइ सो रन (रण) में पाँव पाछो नाहीं देइ (और) सब सों आगें चलै। तैसें ई सूरदास की भक्ति (में) दिन दिन बढ़ती दसा भई, तासों आचार्य जी सूरदास को 'सूर' (वीर) कहते, तातें आपने या छाप के पद किए। गो० विट्ठलनाथ जी सूरदास को 'सूरदास' ही कहते, कारण आप (सूरदास) में ते 'दास भाव' कभू गयो नाँही, नित नित बढ़तो भयो और ज्यों ज्यों लीला को अनुभव अधिक भयो त्यों त्यों सूरदास जी को दीनता अधिक भई। सो सूरदास जी को कबहू अहंकार मद भयो नाँहीं, ताते आप—श्री गो० विट्ठलनाथ जो 'सूरदास' कहि बोलते। श्री स्वामिनी जी (श्री कृष्णप्रिये) आपकों 'सूरज' और 'सूरजदास' कहि पुकारते, कारन सूरदास जी ने 'श्रीस्वामिनी जी' के सात हजार पद किये, तामें सूरदास जी ने आपके अलौकिक भाव बरनन किए, तातें श्री कृष्णप्रिये ब्रजाधीश्वरी सूरदास को कहते 'जो ए सूरज (सूर्य) हैं, जैसे सूरज सों जगत में प्रकास होइ, सो या प्रकार इन नें (हमारे) सरूप को प्रकाश कियो, सो आपने सूरदास के 'सूरज' और 'सूरजदास' नाम धरे। आपकी पदप्रयुक्त 'सूर स्याम' छाप के प्रति कहा जाता है—'सूरदास जी ने भगवल्लीला के सवा लाख पद रचिबे को प्रन कियो हो, सो सरीर छोड़ते समैं वो प्रन पूरो होत न देखि कें आपको क्लेश भयो, तब स्वयं वा लीलाविहारी नें प्रतच्छ ह्वै कें सूरदास सों कही कि 'मैं' उन्हें पूरो करौंगो, तुम चिंता मत करो, सो ठाकुर जी ने 'सूरस्याम' नाम सों पचीस हजार पदन की रचना करी सोऊ सूरदास जी के कहाए, तातें आपको 'सूरस्याम' नाम हू कह्यो सुन्यौ गयो है।' संप्रदाय में सूरदास जी के संबंध में एक और भी किंवदंती कही जाती है; उसके अनुसार आपके 'सेव्यनिधि' (पूजा की मूर्ति) 'श्याममनोहर जी' थे, जो आजकल चाँपासेनी, जोधपुर (राजस्थान) में विराज रहे हैं। यही नहीं, वहाँ आपके समय की पूर्ण 'सूरसागर' की प्रति भी विराजी हुई कही सुनी जाती है।

हिंदी साहित्य के इतिहासग्रंथों, खोजविवरणों एवं पी० एच्० डी० तथा डी० लिट् के लिये लिखे गए निबंधग्रंथों और कुछ इतर ग्रंथों में श्री सूरदासरचित निम्नलिखित ग्रंथ माने गए हैं — 'गोवर्धन लीला (छोटी बड़ी), दशमस्कंध भागवत : टीका, दानलीला, दीनता आश्रय के पद, नामलीला, पदसंग्रह, प्रानप्यारी (श्याम सगाई), बाँसुरी लीला, बारहमासा वा मासी, बाललीला के पद, ब्याहुलो, भगवच्चरण-चिह्न-वर्णन, भागवत, मानलीला, मान सारंग, राधा-नख-सिख, राधा-रस-केलि-कौतुक, रामजन्म के पद, रामायण, रामलीला के पद, वैराग्यसत्तक, सूर छत्तीसी, सूर पच्चीसी, सूर बहोत्तरी, सूरसागर, सार, सूर साठी—इत्यादि। इन सब कृतियों में 'सूरसागर' प्रधान और सर्वमान्य है। इतर ग्रंथ, उनके विशाल सागर—'सवालच्छ पदबंद' — की ही लोल लहरियाँ हैं, पृथक् ग्रंथ नहीं। नई खोज में श्री सूरदास जी के कुछ स्वतंत्र ग्रंथ भी हमें मिले हैं, यथा : 'गोपालगारी, चीरहरण लीला, रुक्मिणीमंगल, सुदामा-चरित्र, सूर गीता, सूर सहस्रनामावली, सेवाफल'—आदि। हो सकता है—'गोपालगारी' से लेकर 'सुदामाचरित्र' तक के ग्रंथ भी आपके सागर के ही रत्न हैं; कारण, सूर के सागर का अभी तक पूर्ण अनुसंधान नहीं हुआ है। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ने सूरसागर के प्रति उल्लेखनीय कार्य किया है, किंतु उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता। सागर की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ अब तक उसे उपलब्ध नहीं हो सकी थीं। सूरगीतादि आपके स्वतंत्र ग्रंथ हैं, और संप्रदाय की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। कुछ आपके सिर मढ़ी जानेवाली भी ग्रंथरूपेण कृतियाँ हैं। उनके नाम हैं — 'एकादशी महात्म्य, नलदमन (नलदमयंती—काव्य), रामजन्म, साहित्यलहरी, सूरसारावली, और हरिवंशपुराण। अस्तु, ये सब कृतियाँ भाव, भाषा और उनके अहर्निश 'कृष्ण-लीला-गान' में व्यस्त भक्तजीवन के विपरीत हैं, जिससे ये रचनाएँ आपकी जान नहीं पड़ती, फिर भी आपके नाम की 'स्वर्णांकित' छाप के साथ चल रही हैं।

श्रीसूर का काव्यकाल सं० १५५० वि० से सं० १६४० वि० तक कहा जा सकता है। इस नब्बे (९०) वर्षों के दीर्घ, पर सुनिश्चित समय में श्री गोवर्धननाथ जी के सान्निध्य में बैठकर श्रीसूर

की वाणी ने भगवल्लीला का जो यशोद्घाटन विस्तार के साथ किया, वह अवर्णनीय है, अकथनीय है। साहित्यशास्त्रोक्त वे सभी मान्य गुण — रस, ध्वनि, अलंकार — के सच्चे आगार हैं। सच तो यह है कि इस हिंदी भाषा के मुकुटमणि कवि ने जिस विषय को भी छू लिया, वही साहित्य का उज्वल चमकता रत्न बन गया। अब से इति तक के सभी सूर-ग्रंथ-लेखकों ने आपकी रचनाओं के नाना-भाँति से गुण गाए हैं।

स० ग्रं० — खोजविवरण : काशी नागरीप्रचारिणी सभा, १९०१ ई० से १९४० ई० तक। हिंदी साहित्य का इतिहास : डा० जार्ज ग्रियर्सन। शिवसिंह : सरोज। मिश्रबंधुविनोद। हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य प० रामचंद्र शुक्ल। हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा। सूर : एक अध्ययन : शिखरचंद्र जैन। सूर साहित्य : पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी। सूरदास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल; महाकवि सूरदास : डॉ० नंददुलारे वाजपेयी; सूरदास : नलिनीमोहन साग्याल; सूरदास : एक अध्ययन : रामरत्न भटनागर एम० ए०। सूरसाहित्य की भूमिका : रामरत्न भटनागर एम० ए०। सूरनिर्णय : द्वारिका पारीख। सूर-समीक्षा : नरोत्तम स्वामी एम० ए०। सूर की झाँकी : डॉ० सत्येंद्र। अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय : डॉ० दीनदयाल गुप्त। सूरदास का धार्मिक काव्य : डॉ० जनार्दन मिश्र। सूरदास — जीवनी और कृतियों का अध्ययन : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा। सूरसौरभ : डॉ० मुंशीराम शर्मा। सूरदास और उनका साहित्य : डॉ० हरवंशलाल शर्मा। सूरदास : अध्ययनसामग्री : जवाहरलाल चतुर्वेदी, त्रिलोकी नाथ आदि।

[ज० श०]

सूरदास मदनमोहन ब्राह्मण थे तथा इनका नाम सूरध्वज था। यह भक्त सुकवि, संगीतज्ञ तथा साधुसेवी महात्मा थे। नामानुकूल सूरदास छाप था पर प्रसिद्ध सूरदास से विभिन्नता प्रगट करने के लिये अपने इष्टदेव मदनमोहन जी का नाम उसमें जोड़ दिया। अकबर के शासनकाल में यह संडीला के अधीन थे पर वहाँ की आय एक बार साधुओं के भंडारे में व्यय कर देने से यह भागे और वृंदावन में आ बसे। श्री सनातन गोस्वामी के प्रतिष्ठापित श्री मदनमोहन जी के पुराने मंदिर में रहने लगे, जहाँ अभी तक इनकी समाधि वर्तमान है। इनके पदों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनका समय सं० १५७० से सं० १६४० के बीच में था।

[ब्र० र० दा०]

सूर राजवंश (१५४०–१५५५ ई०) का संस्थापक शेरशाह अफगानों की सूर जाति का था। वह 'रोह' (अफगानों का मूल स्थान) की एक छोटी और प्रभावग्रस्त जाति थी। शेरशाह का दादा इब्राहीम सूर १५४२ ई० में भारत आया और हिम्मतखाँ सूर तथा जमालखाँ की सेनाओं में सेवाएँ कीं। हसन सूर जो फ़रीद (बाद में शेरशाह के नाम से प्रसिद्ध हुआ) का पिता था, जमाल खाँ की सेवा में ५०० सवार और सहसराम के इक्ता का पद प्राप्त करने में सफल हो गया। शेरशाह अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् उसके इक्ता का उत्तराधिकारी हुआ, और वह उसपर लोदी साम्राज्य के पतन (१५२६ ई०) तक बना रहा। इसके पश्चात् उसने धीरे धीरे उन्नति की। दक्षिण बिहार में लोहानी शासन का अंत कर उसने अपनी शक्ति सुदृढ़ कर ली। वह बंगाल जीतने में सफल हो गया और १५४० ई० में उसने मुगलों को भी भारत से खदेड़ दिया। उसके सत्तारूढ़ होने के साथ साथ अफगान साम्राज्य चतुर्दिक् फैला। उसने प्रथम अफ़गान (लोदी) साम्राज्य में बंगाल, मालवा, पश्चिमी राजपूताना, मुल्तान और उत्तरी सिंध जोड़कर उसका विस्तार दुगुने से भी अधिक कर दिया।

शेरशाह का दूसरा पुत्र जलाल खाँ उसका उत्तराधिकारी हुआ। वह १५४५ ई० में इस्लामशाह की उपाधि के साथ शासनारूढ़ हुआ। इस्लामशाह ने ९ वर्षों (१५४५–१५५४ ई०) तक राज्य किया। उसे अपने शासनकाल में सदैव शेरशाह युगीन सामंतों के विद्रोहों को दबाने में व्यस्त रहना पड़ा। उसने राजकीय मामलों में अपने पिता की सारी नीतियों का पालन किया तथा आवश्यकतानुसार संशोधन और सुधार के कार्य भी किए। इस्लामशाह का अल्पवयस्क पुत्र फीरोज़ उसका उत्तराधिकारी हुआ, किंतु मुबारिज़ खाँ ने, जो शेरशाह के छोटे भाई निजाम खाँ का बेटा था, उसकी हत्या कर दी।

मुबारिज़ खाँ सुलतान आदिल शाह की उपाधि के साथ गद्दी पर बैठा। फीरोज़ की हत्या से शेरशाह और इस्लामशाह के सामंत उत्तेजित हो गए और उन्होंने मुबारिज़ खाँ के विरुद्ध हथियार उठा लिए। बाहरी विलायतों के सभी शक्तिशाली मुक्ताओं ने अपने को स्वाधीन घोषित कर दिया और प्रभुत्व के लिये परस्पर लड़ने लगे। यही बढ़ती हुई अराजकता अफगान साम्राज्य के पतन और मुगल-शासन की पुनः स्थापना का कारण बनी।

सूर साम्राज्य की यह विशेषता थी कि उसके अल्पकालिक जीवन में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण प्रगति हुई। यद्यपि शेरशाह और इस्लामशाह की असामयिक मृत्यु हुई, तथापि उनके द्वारा पुनर्व्यवस्थित प्रशासकीय संस्थाएँ मुगलों और अंग्रेजों के काल में भी जारी रहीं।

शेरशाह ने प्रशासनिक सुधारों और व्यवस्थाओं को अलाउद्दीन खल्जी की नीतियों के आधार पर गठित किया किंतु उसने कार्याधिकारियों के प्रति खल्जी के निर्दयतापूर्ण व्यवहार की अपेक्षा अपनी नीतियों में मानवीय व्यवहार को स्थान दिया। प्राय: सभी नगरों में सामंतों की गतिविधियाँ बादशाह को सूचित करने के लिये गुप्तचर नियुक्त किए गए थे। अपराधों के मामलों में यदि वास्तविक अपराधी पकड़े नहीं जाते थे तो उस क्षेत्र के प्रशासनिक अधिकारी उत्तरादायी ठहराए जाते थे।

शेरशाह ने तीन दरें निश्चित की थीं, जिनमें राज्य की सारी पैदावार का एक तिहाई राजकोष में लिया जाता था। ये दरें जमीन

की उर्वरा शक्ति के अनुसार बाँटी जाती थीं। भूमि की भिन्न भिन्न उर्वरता के अनुसार 'अच्छी', 'बुरी' और 'मध्यश्रेणी' की उपज को प्रति बीघे जोड़कर, उसका एक तिहाई भाग राजस्व के रूप में वसूल किया जाता था, राजस्व भाग बाजार भाव के अनुसार रकम में वसूल किया जाता था, जिससे राजस्व कर्मचारियों तथा किसानों को बहुत सुविधा हो जाती थी। इस्लामशाह की मृत्यु तक यह पद्धति चलती रही।

कृषकों को जंगल आदि काटकर खेती योग्य भूमि बनाने के लिये आर्थिक सहायता भी दी जाती थी। उपलब्ध प्रमाणों से यह ज्ञात हुआ है कि शेरशाह की मालवा पर विजय के पश्चात् नर्मदा की घाटी में किसानों को बसाकर घाटी को कृषि के लिये प्रयोग किया गया था। शेरशाह ने उन किसानों को अग्रिम ऋण दिया और तीन वर्षों के लिये मालगुजारी माफ कर दी थी। सड़कों और उनके किनारे किनारे सरायों के व्यापक निर्माण द्वारा भी देश के आर्थिक विकास को जीवन प्रदान किया गया।

सैन्यसंगठन में भी आवश्यक सुधार और परिवर्तन किए गए। पहले सामंत लोग किराए के घोड़ों और असैनिक व्यक्तियों को भी सैनिक प्रदर्शन के समय हाजिर कर देते थे। इस जालसाजी को दूर करने के लिये घोड़ों पर दाग देने और सवारों की विवरणात्मक नामावली तैयार करने की पद्धति चालू की गई।

सं० ग्रं०—अब्बास सरवानी : तारीख-ए-शेरशाही; अब्दुल्ला : तारीख-ए-दाऊदी; अबुल फजल : अकबरनामा तथा आईन-ए-अकबरी; बदायूँनी : मुंतखबुल् तवारीख; निजामउद्दीन : तबकात-ए-अकबरी; रामप्रसाद त्रिपाठी : सम ऑस्पेक्ट्स ऑव मुस्लिम ऐड्मिनिस्ट्रेशन; कानूनगो : शेरशाह ऐंड हिज टाइम्स; इक्तिदार हुसेन सिद्दीकी : अफ़गान डेस्पॉटिज्म इन इंडिया (नई दिल्ली, १९६९); मोरलैंड : एग्रेरियन सिस्टम ऑव मुस्लिम इंडिया। [इ० हु० सि०]

सूरसागर ब्रजभाषा में महाकवि सूरदास द्वारा रचे गए कीर्तनों — पदों का एक सुंदर संकलन जो शब्दार्थ की दृष्टि से उपयुक्त और आदरणीय है।

पुरा हस्तलिखित रूप में 'सूरसागर' के दो रूप मिलते हैं —'संग्रहात्मक और संस्कृत भागवत अनुसार 'द्वादश स्कंधात्मक'। संग्रहात्मक 'सूरसागर' के भी दो रूप देखने में आते हैं। पहला, आपके—गोघाट (आगरा) पर श्रीवल्लभाचार्य के शिष्य होने पर प्रथम प्रथम रचे गए भगवल्लीलात्मक पद — 'ब्रज भयौ मेहैर कें पूत, जब यै बात सुनी' से प्रारंभ होता है, दूसरा — 'मथुरा-जन्म-लीला' से...।' कहा जाता है, हिंदी साहित्येतिहास ग्रंथों से ओझल 'सूरसागर' के उत्पत्तिविकास का एक अलग इतिहास है, जो अब तक प्रकाश में नहीं आया है और श्रीसूर के समकालीन भक्त इतिहास रचयिताओं — 'श्री गोकुलनाथ जी, श्रीहरिराय जी (सं० – १६४७ वि०), और श्री नाभादास जी (सं०—१६४२ वि०) प्रभृति ने जिसका विशेष रूप से उल्लेख किया है। अतः इन पूर्वापर के अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों से जाना जाता है कि श्रीसूर ने — 'सहस्रावधि पद किए, लक्षावधि पद रचे, कोई ग्रंथ नहीं रचा। बाद में यह अनंत-सूर-पदावली सागर कहलाई। वस्तुतः श्रीसूर, जैसा इन ऊपर लिखे संदर्भग्रंथों से जाना जाता है, भगवल्लीला के भाव भरे उन्मुक्त गायक थे, सो नित्य नई नई पदरचना कर, अपने प्रभु 'गोवर्धननाथ जी' के संमुख गाया करते थे। रचना करनेवाले थे, सो नित्य सबेरे से संध्या तक गाए जानेवाले रागों में ललित रसों का रंग भरकर अपनी वाणी की तूलिका से चित्रित कर अपने को धन्य किया करते थे। अस्तु, न उनमें अपनी उन्मुक्त कृतियों को संग्रह करने का भाव था, और न कोई क्रम देने की उमंग। उनका कार्य तो अपने प्रभु की नाना गुनन भरली गुणावली गाना, उसके अमृतोपम रस में निमग्न हो झूमना तथा — 'एतेचांश कलापुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' (भाग० – १।३।२८) को नंदालय में बाल से पौगंड अवस्था तक लीलाओं में तदात्मभाव से विभोर होना था, वहाँ अपनी समस्त मुक्तक रचनाओं को एकत्र कर क्रमबद्ध करने का समय और स्थान कहाँ था ? कहा जाता है, श्री सूरदास 'एकदम अंधे थे,' तब अपनी जब तब की समस्त रचनाओं को कैसे एकत्र करते ? फिर भी सूरदास द्वारा नित्य रचे और गाए जानेवाले पदों का लेखन और संकलन अवश्य होता रहा होगा। अन्यथा वे मौखिक रूप से रचित और गाए गए पद लुप्त हो गए होते। संभवतः सूर के समकालीन शिष्य या मित्र — यदि सूर सचमुच अंधे थे तो — उन पदों को लिखते और संकलित करते रहे होंगे। अब तक उनके संग्रहात्मक या द्वादश स्कंधात्मक बनने का कोई इतिहास पूर्णतः ज्ञात नहीं है। 'गीत-संगीत-सागरः (गो० रघुनाथ जी नामरत्नाख्य) श्री विट्ठलनाथ जी गोस्वामी, (सं० १५७२ वि०) के समय श्रीमद्वल्लभाचार्य सेवित कई' निधियाँ (मूर्तियाँ), आपके वंशजों द्वारा, ब्रज से बाहर चली गई थीं। यतः संप्रदाय के अनुसार 'कीर्तनों के बिना सेवा नहीं, और सेवा, बिना कीर्तनों के नहीं अतः जहाँ जहाँ ये निधियाँ गईं, वहाँ वहाँ 'कंठ' वा 'ग्रंथ' रूप में अष्टछाप के कवियों की कृतियाँ भी गईं और वहाँ इनके संकलित रूप में — 'नित्य कीर्तन' और 'वर्षोत्सव' नाम पड़े, ऐसा भी कहा जाता है।

सूर के सागर का 'संग्रहात्मक' रूप श्रीसूर के संमुख ही संकलित हो चुका था। उसकी सं० १६३० वि० की लिखी प्रति ब्रज में मिलती है। बाद के अनेक लिखित संग्रहरूप भी उसके मिलते हैं। मुद्रित रूप इसका कहीं पुराना है। पहले यह मथुरा (सं० १८४० ई०) से, बाद में आगरा (सं० — १८६७ ई० तीसरी बार), जयपुर (राजस्थान सं० १८६५ ई०), दिल्ली (सं० १८६० ई०) और कलकत्ता से सं० १८९८ ई० में लीथो प्रेसों से छपकर प्रकाशित हो चुका था। कृष्णानंद व्यासदेव संकलित 'रागकल्पद्रुम' भी इस समय का संग्रहात्मक सूरसागर का एक विकृत रूप है, जो संगीत के रंगों में बँटा हुआ है। ब्रजभाषा के रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि "द्विजदेव"—अर्थात् महाराज मानसिंह, अयोध्या नरेश (सं० ११०७ वि०) ने इसे सं० ११२० वि० में संपादित कर लखनऊ के

नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित किया था। ये सभी संग्रहात्मक रूप सूरसागर, भगवान् श्रीकृष्ण की जन्मलीला गायन रूप गोकुल नंदालय में मनाए गए 'नंदमहोत्सव' से प्रारंभ होकर उनकी समस्त ब्रजलीला मथुरा आगमन, उद्धव-गोपी-संवाद, श्री राम, नरसिंह तथा वामन जयंतियाँ एवं पहले — श्री वल्लभाचार्य जी की शिष्यता से पूर्व रचे गए 'दीनता आश्रय' के पदों के बाद समाप्त हुए हैं। सूर पदों के इस प्रकार संकलन की प्रवृत्ति उनके सागर के संग्रहात्मक रूप पर ही समाप्त नहीं, वह विविध रूपों में आगे बढ़ी, जिससे उनकी पद कृति के नाना संकलित रूप हस्तलिखित तथा मुद्रित देखने में आते हैं, जो इस प्रकार हैं — दीनता आश्रय के पद, दृष्टिकूट पद, जिसे आज 'साहित्यलहरी' कहा जाता है। रामायण, बाललीला के पद, विनयपत्रिका, वैराग्यसतक, सूरछत्तीसी, सूरबत्तीसी, सूरबहोत्तरी, सूर भ्रमरगीत, सूर-साठी, सूरदास नयन, मुरलीमाधुरी आदि आदि, किंतु ये सभी संग्रह आपके संग्रहात्मक 'सागर कल्पतरु' के ही मधुर फल हैं।

श्री सूर के सागर का रूप श्री व्यासप्रणीत और शुक-मुख-निसृत "श्रीमद् भागवत (संस्कृत) अनुसार "द्वादश स्कंधात्मक" भी बना। वह कब बना, कुछ कहा नहीं जा सकता। हिंदी के साहित्येतिहास ग्रंथ इस विषय में चुप हैं। इस द्वादश स्कंधात्मक "सूर सागर" की सबसे प्राचीन प्रति सं० १७५७ वि० की मिलती है।

इसके बाद की कई हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। उनके आधार पर कहा जा सकता है कि सूर समुचित सागर का यह "श्रीमद्भागवत अनुसार द्वादश स्कंधात्मक रूप" अठारहवीं शती के पहले नहीं बन पाया था। उसका पूर्वकथित "संग्रहात्मक" रूप इस समय तक काफी प्रसार पा चुका था। साथ ही इस (संग्रहात्मक) रूप की सुंदरता, सरसता और भाषा की शुद्धता एवं मनोहरता में भी कोई विशेष अंतर नहीं हो पाया था। वह सूर के समय जैसी विविध रागमयी थी वैसी ही सुंदर बनी रही, किंतु इसके इस द्वादश स्कंधात्मक रूपों में वह बात समुचित रूप से नहीं रह सकी। ज्यों ज्यों हस्तलिखित रूपों में वह आगे बढ़ती गई त्यों त्यों सूर की मंजुल भाषा से दूर हटती गई। फिर भी जिस किसी व्यक्ति ने अपना अस्तित्व खोकर और 'हरि, हरि, हरि हरि सुमरन करो" जैसे असुंदर भावहीन कथात्मक पदों की रचना कर तथा श्री सूर के श्रीमद्वल्लभाचार्य की चरणशरण में आने से पहले रचे गए "दीनता आश्रय" के पदविशेषों को भागवत अनुसार प्रथम स्कंध तक ही नहीं, दशम स्कंध उत्तरार्ध, एकादश और द्वादश स्कंधों को संजोया, वह आदरणीय है। इस द्वादशस्कंधात्मक सूरसागर की "रूपरेखा" इस प्रकार है :

प्रथम स्कंध — भक्ति की सरस व्याख्या, भागवतनिर्माण का प्रयोजन, शुक उत्पत्ति, व्यास अवतार, संक्षिप्त महाभारत कथा, सूत-शौनक-संवाद, भीष्मप्रतिज्ञा, भीष्म-देह-त्याग, कृष्ण-द्वारिका-गमन, युधिष्ठिरवैराग्य, पांडवों का हिमालयगमन, परीक्षितजन्म, ऋषिशाप, कलियुग को दंड इत्यादि।

द्वितीय स्कंध — सृष्टि उत्पत्ति, विराट् पुरुष का वर्णन, चौबीस अवतारों की कथा, ब्रह्मा उत्पत्ति, भागवत चार श्लोक महिमा। साथ ही इस स्कंध के प्रारंभ में भक्ति और सत्संग की महिमा, भक्तिसाधन, आत्मज्ञान, भगवान् की विराट् रूप में आरती का भी यत्किंचित् उल्लेख है।

तृतीय स्कंध — उद्धव-विदुर-संवाद, विदुर को मैत्रेय द्वारा बताए गए ज्ञान की प्राप्ति, सप्तर्षि और चार मनुष्यों की उत्पत्ति, देवासुर जन्म, वाराह-अवतार-वर्णन, कर्दम-देवहूति-विवाह, कपिल मुनि अवतार, देवहूति का कपिल मुनि से भक्ति संबंधी प्रश्न, भक्तिमहिमा, देवहूति-हरि-पद-प्राप्ति।

चतुर्थ स्कंध — यज्ञपुरुष अवतार, पार्वतीविवाह, ध्रुवकथा, पृथु अवतार, पुरंजन आख्यान।

पंचम स्कंध — ऋषभदेव अवतार, जड़भरत कथा, रहूगण संवाद।

षष्ठ स्कंध — अजामिल उद्धार, बृहस्पति-अवतार-कथन, वृत्रासुरवध, इंद्र का सिंहासन से च्युत होना, गुरुमहिमा, गुरुकृपा से इंद्र को पुनः सिंहासनप्राप्ति।

सप्तम स्कंध — नृसिंह-अवतार-वर्णन।

अष्टम स्कंध — गजेंद्रमोक्ष, कूर्मावतार, समुद्रमंथन, विष्णु भगवान् का मोहिनी-रूप-धारण, वामन तथा मत्स्य अवतारों का वर्णन।

नवम स्कंध — पुरुरवा-उर्वशी-आख्यान, च्यवन ऋषि कथा, हलधरविवाह, राजा अंबरीष और सौभरि ऋषि का उपाख्यान, गंगा आगमन, परशुराम और श्री राम का अवतार, अहल्योद्धार।

दशम स्कंध — (पूर्वार्ध) : भगवान् कृष्ण का जन्म, मथुरा से गोकुल पधारना, पूतनावध, शकटासुर तथा तृणावर्त वध, नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णछेदन, घुटुरुन चलाना, बालवेशशोभा, चंद्रप्रस्ताव, कलेऊ, मृत्तिकाभक्षण, माखन-चोरी, गोदोहन, वत्सासुर, बकासुर, अघासुरों के वध, ब्रह्मा द्वारा गो-वत्स-हरण, राधा-प्रथम-मिलन, राधा-नंदघर-आगमन, कृष्ण का राधा के घर जाना, गोचारण, धेनुक-वध, कालियदमन, दावानलपान, प्रलंबासुरवध, मुरली-चीर-हरण, पनघट रोकना, गोवर्धन पूजा, दानलीला, नेत्रवर्णन, रासलीला, राधा-कृष्ण-विवाह, मान, राधा गुरुमान, हिंडोला-लीला, वृषभासुर, केशी, भौमासुर वध, अक्रूर आगमन, कृष्ण का मथुरा जाना, कुब्जा मिलन, धोबी संहार, शल, तोषल, मुष्टिक और चाणूर का वध, धनुषभंग, कुवलयापीड़ (हाथी) वध, कंसवध, राजा उग्रसेन को राजगद्दी पर बैठाना, वसुदेव देवकी की कारागार से मुक्ति, यज्ञोपवीत, कुब्जाघर गमन, आदि आदि।

दशम स्कंध (उत्तरार्ध) — जरासंध युद्ध, द्वारकानिर्माण,

कालियदमन दहन, मुचुकुंद उद्धार, द्वारकाप्रवेश, रुक्मिणी-विवाह, प्रद्युम्नविवाह, अनिरुद्धविवाह, राजा नृग उद्धार, बलराम जी का पुनः ब्रजगमन, सांबविवाह, कृष्ण-हस्तिनापुर-गमन, जरासंध और शिशुपाल का वध, शाल्व का द्वारका पर आक्रमण, शाल्ववध, दंतवक्र का वध, बल्वलवध, सुदामाचरित्र, कुरुक्षेत्र आगमन, कृष्ण का श्रीनंद, यशोदा तथा गोपियों से मिलना, वेद और नारद स्तुतियाँ, अर्जुन-सुभद्रा-विवाह, भस्मासुरवध, भृगु-परीक्षा, इत्यादि.. ।

एकादश स्कंध — श्रीकृष्ण का उद्धव को बदरिकाश्रम भेजना, नारायण तथा हंसावतार कथन ।

द्वादश स्कंध — 'बौद्धावतार, कल्कि-अवतार-कथन, राजा परीक्षित तथा जन्मेजय कथा, भगवत् अवतारों का वर्णन आदि ।

इस प्रकार यत्र तत्र बिखरे इस श्रीमद्भागवत अनुसार द्वादश-स्कंधात्मक रूप में भी, श्री सूर का विशिष्ट वाङ्मय 'हरि, हरि, हरि, हरि सुमरँन करौ' जैसे अनेक अनगढ़ काँच मणियों के साथ रगड़ खा खाकर मटमैला होकर भी कवित्व की प्रभा के साथ कोमलता, कमनीयता, कला, एवं कृष्णस्तुभगवान् स्वयं की सगुणात्मक भक्ति, उसकी भव्यता, विलक्षणता, उनके विलास, व्यंग्य और विदग्धता आदि चमक चमककर आपके कृतित्वरूप सागर को, नित्य नए रूप में दर्शनीय और वंदनीय बना रहे हैं । [ज० च०]

सूरी संचारण (Suri-transmission) अपने नवीनतम रूप में सूरी संचारण डीजल रेल कर्षण इकाइयों में शक्ति के संचारण के लिये सरल किंतु अत्यंत सक्षम विधि है। इसमें केवल दो चक्रपथों का उपयोग किया जाता है। एक परिवर्तक योजक (Converter-Coupling) का ब्रोकहाउस प्रकार (Brockhouse Type) और दूसरा द्रव यांत्रिक योजक (Fluid Mechanical Coupling) । वास्तविक सेवा की विशेष आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तक योजक की व्यवस्था की जा सकती है, जिससे यान की गति शून्य से ६०-७० प्रतिशत मार्गगति तक रह सके। द्रव यांत्रिक योजक उस गति से आगे १०० प्रतिशत यान गति के लिये उपयोग में लाया जाता है ।

ब्रोकहाउस परिवर्तक योजक और द्रव यांत्रिक योजक पर प्रतिलोम नियमन (Reverse Governing) से डीजल इंजन के लक्षणों के ऊपर उचित प्रभाव डाल सकने के कारण सूरीसंचारण रेल कर्षण में सर्वत्र उपयोग के लिये अत्यंत संतोषजनक विधि है और उच्च अश्वशक्ति के यानों, उदाहरणार्थ ४०० से २००० अश्वशक्ति तक के लिये विशेष हितकारी है ।

परिवर्तक योजक से द्रव यांत्रिक योजक में चक्रपथ परिवर्तन, डीजल इंजन के पूरे भार और शक्ति की अवस्था में, यान के कर्षण कार्य (Tractive Effort) के किसी भी चरण में, किसी धक्के और रुकावट के बिना हो जाता है ।

सूरी संचारण की क्षमता अत्यंत अधिक है ।

इस महत्वपूर्ण आविष्कार का नामकरण, जो रेलों के ईंधन व्यय में बहुत बचत करेगा, उसके आविष्कारक भारतीय रेलों के यांत्रिक इंजीनियर श्री म० म० सूरी के नाम पर हुआ है ।

[म० म० सू०]

सूर्य खगोल कार्यों में मनुष्य का सबसे अधिक संबंध सूर्य से है। यदि उन लोककथाओं का परीक्षण किया जाय जो आधुनिक वैज्ञानिक युग के प्रारंभ होने के पहले पृथ्वी के विविध भागों में बसनेवाली जातियों में प्रचलित थी तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि वे लोग यह पूर्णतया जानते थे कि सूर्य के बिना उनका जीवन असंभव है। इसी भावना से प्रेरित होकर उनमें से अनेक जातियों ने सूर्य की आराधना आरंभ की। उदाहरणतः वेदों में सूर्य के संबंध में जो मंत्र हैं उनसे यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्य यह भली भाँति जानते थे कि सूर्य प्रकाश और ऊष्मा का प्रभव है तथा उसी के कारण रात, दिन और ऋतुएँ होती हैं। एक सूर्योदय से अगले सूर्योदय की अवधि को उन्होंने दिवस का नाम दिया। उन्हें यह भी विदित था कि लगभग ३६५ दिवसों की अवधि में सूर्य कुछ विशेष नक्षत्रमंडलों में भ्रमण करता हुआ पुनः अपने पूर्व स्थान पर आ जाता है। इस अवधि को वे वर्ष कहते थे जो प्रचलित शब्दावली के अनुसार सायन वर्ष (Tropical Solar year) कहलाएगा। उन्होंने वर्ष को ३०-३० दिवसवाले १२ मासों में विभक्त किया। इस विचार से कि प्रत्येक ऋतु सदैव निश्चित मासों में ही पड़े, वे वर्ष में आवश्यकतानुसार अधिक मास जोड़ देते थे ।

मनुष्य के जीवन का सूर्य के साथ इतना घनिष्ट संबंध होते हुए भी प्राचीन लोग उपकरणों के अभाव के कारण विशेष वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त न कर सके। सूर्य संबंधी सबसे पहला महत्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य ईसा से लगभग ७४७ वर्ष पूर्व प्राचीन बेबीलोन निवासियों को विदित था। वे यह जानते थे कि प्रत्येक सूर्यग्रहण से १८ वर्ष और ११⅓ दिवसों की अवधि के पश्चात् ग्रहण के लक्षणों की आवृत्ति होती है। इस अवधि को वे सारोस कहते थे और आज भी यह इसी नाम से प्रसिद्ध है। परंतु सूर्य के भौतिक लक्षणों के वैज्ञानिक अध्ययन का प्रारंभ तो सन् १६११ से ही मानना चाहिए जब गेलीलियो ने प्रथम बार सौरबिंब के अवलोकन में दूरदर्शी (Telescope) का उपयोग किया। दूरदर्शी की सहायता से उन्होंने बिंब पर कुछ कलंक देखें जो नियमित रूप से पश्चिम की ओर परिवहन कर रहे थे। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि सूर्य, पृथ्वी की भाँति, अपने अक्ष पर परिभ्रमण करता है जिसका आवर्तकाल एक चंद्रमास के लगभग है। आगामी कुछ वर्षों में सूर्यकलंकों और सूर्य के परिभ्रमण के आवर्तनकाल का चाक्षुष अध्ययन होता रहा। ज्योतिष के अध्ययन में दूसरा महत्वपूर्ण वर्ष १८१४ है जब फ्राउनहोफर (Fraunhofer) ने सूर्य के अध्ययन में स्पेक्ट्रमदर्शी (spectroscope) का प्रथम बार प्रयोग किया। परंतु उस उपकरण का पूरा पूरा लाभ तो तभी उठाया जा सका जब फोटोग्राफी में इतनी प्रगति हो गई कि खगोल कार्यों के स्पेक्ट्रमपट्ट के स्थायी चित्र लिए जा सकें। इन चित्रों की सहायता से विविध कार्यों के स्पेक्ट्रमपट्टों का तुल-

त्मक अध्ययन संभव हो सका। सन् १८९१ में हेल और डेसलेंड्रेस ने एक स्पेक्ट्रमी-सूर्यचित्री (Spectroheilography) का आविष्कार किया जिससे इस अध्ययन को महान् प्रगति दी। कुछ वर्षों से एकवर्ण सूर्यचित्री को चलचित्रक (Movie Camera) के साथ जोड़कर सूर्य पर होनेवाली अनेक घटनाओं के चलचित्र बनाए जा रहे हैं। इन चलचित्रों ने इस अनुसंधान को एक नवीन रूप प्रदान किया है। परंतु इन चित्रों का वास्तविक महत्व तो क्वांटम-सिद्धांत और साहा के आयनन सूत्र की सहायता से ही जाना जा सका। सन् १९३० से अब तक अनेक यंत्रों का आविष्कार हो चुका है जिनमें ल्यो द्वारा निर्मित परिमंडलचित्रक (Coronograph) का मुख्य स्थान है। इन यंत्रों ने अनेक नवीन तथ्यों को प्रगट किया। दूसरी ओर सैद्धांतिक अध्ययन में द्रवगतिकी (Hydrodynamics) तथा विद्युद्गतिकी (Electrodynamics) का उपयोग होने लगा जिससे अनेक भौतिक घटनाओं को समझने में समुचित सहायता मिली है।

मंदाकिनी में सूर्य की स्थिति : सूर्य मंदाकिनी का एक साधारण सदस्य है। वह मंदाकिनी के केंद्र से लगभग तीस हजार प्रकाशवर्षों (प्रकाशवर्ष उस दूरी को कहते हैं जिसको प्रकाश एक वर्ष में पार करता है) के अंतर पर उस स्थान पर स्थित है जहाँ पर उसके और भागों की तुलना में तारों का घनत्व बहुत कम है।

सूर्य का काय—साधारण चाक्षुष अवलोकन पर सूर्य एक गोलकाय जैसा दिखाई देता है जिसका पृष्ठ पूर्ण रूप से विकारहीन है। सूर्य का यह दृश्य प्रकाशमंडल (Photosphere) कहलाता है। प्रकाशमंडल का व्यास ८६४००० मील अथवा १४×१०^{१०} सेंमी है और लगभग पृथ्वी के व्यास का १०९ गुना है। इसका पुंज $२\cdot२४ \times १०^{२७}$ टन अथवा २×१०^{३३} ग्राम है जो पृथ्वी के पुंज का लगभग ३ लाख गुना है। इसका माध्य घनत्व १·४२ है। सूर्य से हमारी पृथ्वी की माध्य दूरी १४९६९९००० किमी है और प्रकाश सूर्य से पृथ्वी तक आने में लगभग ८$\frac{१}{२}$ मिनट लेता है। प्रकाशमंडल का प्रत्येक वर्ग इंच $३\cdot७८ \times १०^{२३}$ अर्ग प्रति क्षण की ऊर्जा से विकिरण करता है और मंडल की प्रभाचंडता १०,००,००० कैंडिल-शक्ति के तुल्य है।

सूर्य वामन श्रेणी का एक तारा है और अधिकांश तारों की भाँति सूर्यकाय दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है : (१) आंतरिक भाग, जो प्रकाशमंडल द्वारा सीमित है, और (२) वर्णमंडल। इस वर्णमंडल की गहराई प्रकाशमंडल के अर्धव्यास के २० गुने के लगभग है और इसका संपूर्ण पुंज सूर्य-पुंज का $१०^{१४}$ भाग है जो लगभग हमारे वायुमंडल के संपूर्ण पुंज के २० वें भाग के बराबर है। इतना कम पुंज होने पर भी सूर्य के वर्णमंडल में अनेक आश्चर्यजनक भौतिक घटनाएँ घटती हैं जिनका उल्लेख आगे चलकर किया जाएगा।

आधुनिक मत के अनुसार सूर्य का आंतरिक भाग तीन मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है : (१) केंद्रीय आंतरक, जिसमें परमाण्वीय अभिक्रियाओं द्वारा ऊर्जा उत्पन्न होती है जो आंतरक के पृष्ठ तक मुख्यतः संवाहन (Convection) की विधि से पहुँचती है, (२) आंतरक को घेरे हुए गोलीय वलय, जिसमें ऊर्जा का परिवहन विकिरण की विधि से होता है और (३) आंतरिक भाग का शेष भाग जिसमें ऊर्जा के परिवहन की विधि पुनः संवाहन है।

सूर्य की आंतरिक संरचना—सूर्य की आंतरिक संरचना के विषय में निम्नलिखित तथ्य ज्ञात हुए हैं। इसका केंद्रीय ताप लगभग $२५\cdot७ \times १०^{६}$ अंश परम और केंद्रीय घनत्व ११० ग्राम प्रति घन सेमी है। इसकी ९८ प्रतिशत ऊर्जा केंद्रीय भाग में उत्पन्न होती है जिसका अर्धव्यास उसके संपूर्ण अर्धव्यास का आठवाँ भाग है। यह ऊर्जा परमाण्वीय अभिक्रियाओं द्वारा उत्पन्न होती है। आधुनिक मत के अनुसार अधिनिम्नांकित दो क्रियाएँ सूर्य ऊर्जा की प्रभव मानी जाती है : (१) कार्बन-नाइट्रोजन-चक्र और (२) प्रोटान-प्रोटान-प्रतिक्रिया। इन दोनों प्रतिक्रियाओं का शुद्ध फल यह होता है कि हाइड्रोजन परमाणु हीलियम परमाणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं तथा कुछ पदार्थमात्रा, आइन्स्टाइन द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत के अनुसार, ऊर्जा का रूप ले लेती है। प्रथम अभिक्रिया में कार्बननाइट्रोजन के परमाणु नष्ट नहीं होते, वे तो अभिक्रिया में उत्प्रेरक (Catalyst) के रूप में भाग लेते हैं।

यदि ऊर्जा का प्रभव कार्बन-नाइट्रोजन-चक्र मानें और आंतरक में कार्बन नाइट्रोजन की मात्रा उतनी ही लें जितनी वर्णमंडल में उपस्थित है तो आंतरक में हाइड्रोजन लगभग ६० प्रतिशत, हीलियम ३६ प्रतिशत और अन्य तत्व ४ प्रतिशत होने चाहिए। परतु सूर्य के केंद्रीय तापमान पर ये दोनों अभिक्रियाएँ संभव हैं और यदि ऊर्जाप्रभव इन दोनों अभिक्रियाओं को मानें, तो हाइड्रोजन और हीलियम की मात्रा क्रमशः लगभग ८२ प्रतिशत और १७ प्रतिशत होनी चाहिए।

प्रकाशमंडल की आकृति—प्रकाशमंडल की चकाचौंध के कारण सूर्य के पृष्ठ और वर्णमंडल के लक्षणों का अध्ययन नहीं किया जा सकता, परतु पूर्ण सूर्य ग्रहण के समय जब चद्रमा सूर्यबिंब को ढक लेता है, वर्णमंडल का अवलोकन किया जा सकता है। इस विधि से तो प्रति वर्ष कुछ ही मिनटों तक वर्णमंडल का अवलोकन किया जा सकता है, वह भी यदि मौसम अनुकूल हो। परतु आजकल दूरदर्शी में अपारदर्शी वस्तु का बिंब लगाकर प्रकाश-मंडल के प्रतिबिंब को ढक लिया जाता है और इस प्रकार कृत्रिम रूप से पूर्ण सूर्यग्रहण की परिस्थिति उत्पन्न कर ली जाती है। फलतः दिन में किसी भी समय वर्णमंडल के किसी भी भाग का फोटोग्राफ लिया जा सकता है। तुलनात्मक अध्ययन के लिये कुछ वेधशालाओं मे प्रति दिन निश्चित अंतर से वर्णमंडल के फोटोग्राफ लिए जाते हैं। हेल के एक वर्ण-सूर्यचित्री ने यह संभव कर दिया कि वर्णमंडल के प्रतिबिंब की संकीर्ण पट्टियों के फोटोग्राफ एक के बाद एक करके निश्चित वर्ण के प्रकाश में एक ही फोटोग्राफ पट्ट पर लिए जा सकते है और इस प्रकार संपूर्ण प्रतिबिंब का फोटोग्राफ लिया जा सकता है। सूर्यपृष्ठ के

हाइड्रोजन तथा कैल्सियम परमाणुओं द्वारा विकिरण किए गए प्रकाश में लिए गए फोटोग्राफ ने उन घटनाओं को प्रकट किया है जिनका कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता था। इन प्रकाशों में लिए गए फोटोग्राफ एक दूसरे से भिन्न लक्षण प्रकट करते हैं। हाइड्रोजन परमाणुओं के प्रकाश में लिए गए फोटोग्राफ यह बताते हैं कि वहाँ के परमाणु किस भौतिक अवस्था में हैं तथा कैल्सियम के प्रकाश में लिए गए फोटोग्राफ यह बताते हैं कि द्वियनित कैल्सियम परमाणु किस भौतिक अवस्था में हैं।

आयनित कैल्सियम के प्रकाश में लिए गए फोटोग्राफों का प्रमुख लक्षण यह है कि वे कलंकों के समीप के अथवा विक्षोभ में आए हुए प्रकाशमंडल के भागों में कैल्सियम गैस के बड़े बड़े दीप्तिमान मेघ प्रगट करते हैं। इसके विरुद्ध हाइड्रोजन के प्रकाश में लिए गए फोटोग्राफ प्रकाशमंडल पर घटनेवाली सूक्ष्मतर घटनाओं को भी अधिक विस्तार से प्रगट करते हैं। इन फोटोग्राफों की पृष्ठभूमि में चमकते काले दाने होते हैं जिनपर चमकते एवं काले पतले तंतु (filament) प्रगट होते हैं और कलंक की परिधि के निकट के भाग तंतुओं से बने हुए दिखलाई देते हैं। कैल्सियम और हाइड्रोजन के फोटोग्राफों में इतना अंतर भिन्न भिन्न भागों के रासायनिक संघटन के अंतर के कारण नहीं हो सकता क्योंकि सूर्य का वर्णमंडल इतना प्रक्षुब्ध (turbulent) होता है कि ऐसे अंतर अधिक समय तक विद्यमान नहीं रह सकते। वास्तव में यह अंतर इन तत्वों के रासायनिक लक्षणों की भिन्नता के कारण उत्पन्न होता है। अधिकांश कैल्सियम परमाणु सरलता से फोटोग्राफ के लिये अभीष्ट प्रकाश का विकिरण करने में समर्थ होते हैं। इसके विरुद्ध लगभग दस लाख हाइड्रोजन परमाणुओं में केवल एक ही परमाणु को अभीष्ट वर्ण का प्रकाश विकिरण करने को उद्दीप्त किया जा सकता है। अतः हाइड्रोजन परमाणु उद्दीपन की दशा मे अल्प से अल्प परिवर्तनों से भी प्रभावित हो जाता है। हाइड्रोजन का दीप्त मेघ यह प्रगट करता है कि वह भाग अत्यंत उष्ण है। इसी प्रकार काला मेघ भी यह प्रगट करता है कि उस भाग में ताप इतना है कि हाइड्रोजन परमाणु उद्दीपन की अवस्था में हैं क्योंकि सामान्य परमाणु विकिरण के लिये लगभग पारदर्शी हैं। अभी तक यह न जाना जा सका कि क्यों कुछ मेघ दीप्त होते हैं और कुछ काले। कदाचित् दीप्त मेघों के भागों का पदार्थ काले मेघों के भागों के पदार्थ की अपेक्षा अधिक उष्ण, सघन एवं विस्तृत है। दीप्त धब्बे स्पष्टतः प्रतुंगकों से संबद्ध हैं जिनका वर्णन आगे किया जाएगा। काले मेघों को कैल्सियम के प्रकाश में देखें अथवा हाइड्रोजन के प्रकाश मे, वे भी रचना में साधारणतः पत्र जैसे होते हैं, परंतु कभी कभी लंबे काले सर्प के आकार में भी दृष्टिगत होते हैं। ये लंबे काले मेघ भी सहस्रों धागों के बुने हुए होते हैं और कुछ दिनों तक विद्यमान रहते हैं। अंत में भयंकर विस्फोट के साथ अदृश्य हो जाते हैं। ये काले मेघ भी प्रतुंगक ही हैं जो प्रकाशमंडल की दीप्त पृष्ठभूमि में काले दिखलाई देते हैं। वे कैल्सियम के प्रकाश की अपेक्षा हाइड्रोजन के प्रकाश में अधिक विशिष्ट दिखलाई देते हैं।

कणिकायन (Granulations) — कैल्सियम अथवा हाइड्रोजन के प्रकाश में लिए गए फोटोग्राफों में पकाए हुए भात के समान दिखाई देनेवाले विकारों को कणिकायन कहते हैं। यह कणिकायन विकार प्रकाशमंडल की अपेक्षा कुछ अधिक दीप्त होते हैं और इनके व्यास ७२०-२०८० किमी तक होते हैं। कीनन के मतानुसार प्रतिक्षण संपूर्ण सूर्य-बिंब पर २५ लाख से अधिक कण विद्यमान होते हैं। अभी तक यह पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सका है कि ये कण क्यों उत्पन्न होते हैं और इनके भौतिक लक्षण क्या हैं। कुछ ज्योतिषियों का मत है कि ये कण प्रकाशमंडलीय पदार्थ में विद्यमान तरंगों के शिखर हैं जिनका ताप निकट के पदार्थ की अपेक्षा अधिक है।

सूर्यकलंक (Sunspot) कुछ कलंक अकेले प्रगट होते हैं, परंतु अधिकांश कलंक दो या दो से अधिक के समूहों में प्रगट होते हैं। प्रत्येक कलंक को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : केंद्रीय कृष्ण भाग तथा उसके आसपास का श्यामल (Blackish) भाग। कलंक अनेक परिमाण के होते हैं। सबसे छोटे कलंक का परिमाण जो अब तक देखा गया है कुछ सौ किमी के लगभग होता है और ऐसे ही छोटे कलंकों की संख्या सबसे अधिक होती है। इस कथन का अर्थ यह नहीं कि सूर्यबिंब पर इनसे छोटे परिमाण के कलक नहीं हैं अथवा नहीं हो सकते हैं। यदि इनसे छोटी माप के कलंक हों, तो भी उनका अवलोकन संभव नही क्योंकि एक विशेष परिमाण से छोटे कलंक दूरदर्शी की सहायता से भी नहीं देखे जा सकते। बड़े बड़े अकेले कलंकों की माप ३२,००० किमी० से भी अधिक हो सकती है और कलंकयुग्म की माप १९,००,००० किमी से भी अधिक हो सकती है। यही नहीं, कलंकों के द्वारा उत्पन्न किए हुए विक्षोभ तो उनके आस पास बड़े विस्तृत भाग में फैल जाते हैं। सबसे बड़ा सूर्यकलंक सन् १९४७ में दृष्टिगत हुआ था जो सूर्यबिंब के लगभग १ प्रतिशत क्षेत्र मे फैला था।

कलंक स्थायी रूप से विद्यमान नहीं रहते। वे उत्पन्न होते हैं और कुछ समय के पश्चात् विलीन हो जाते हैं। उनका जीवनकाल उनकी माप के अनुपात में होता है, अर्थात् छोटे कलंक अल्पजीवी होते हैं और वे कुछ घंटों से अधिक विद्यमान नहीं रहते। इसके विपरीत बड़े कलकों का जीवनकाल कई सप्ताह तक का होता है।

ऐसा देखा गया है कि कलंक, प्रकाशमंडल के विशेष भागों में ही प्रगट होते हैं। (पृथ्वी की भाँति प्रकाशमंडल पर भी विषुवत् वृत्त की कल्पना की गई है) विषुवत्वृत्त के दोनों ओर लगभग ४ अंश तक के प्रदेश में अत्यंत कम कलंक देखे गए हैं। इन प्रदेशों से आगे लगभग ४० अक्षांतर तक प्रसारित भाग में कलंक अधिकता से उत्पन्न होते हैं। ४० अक्षांतर से आगे कलकों की संख्या कम होती जाती है, यहाँ तक कि ध्रुवों पर आज तक कोई कलक नही देखा गया है।

जर्मन ज्योतिषी श्वाबे ने १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में लगभग २० वर्ष तक कलकों का अवलोकन किया। वे प्रति दिन सूर्यबिंब पर दृष्टित होनेवाले कलकों की संख्या गिन लेते थे और इस प्रकार तिथि के विचार से उन्होंने बृहत् सारणी तैयार की जिसके आधार पर वे यह बता सके कि कलंकों की संख्या में नियमित रूप से परिवर्तन होता है। कुछ दिनों और कभी कभी कुछ सप्ताहों तक सूर्यबिंब पर भी कलंक दृष्टिगत नहीं होता। इस काल को कलंक अविष्पष्ट

(Spot minimum) कहते हैं। फिर धीरे धीरे प्रति दिन कलंकों की संख्या बढ़ने लगती है, यहाँ तक कि कुछ समय के पश्चात् ऐसा काल आता है जिसमें कोई भी दिन ऐसा नहीं होता जब अनेक कलंक तथा कलंकसमूह दृष्टिगत न हों। इस काल को कलंक महत्तम (Spot maximum) कहते हैं। कलंक महत्तम के पश्चात् कलंकों की संख्या धीरे धीरे घटने लगती है और फिर कलंक न्यूनतम आ जाता है। एक कलंक न्यूनतम से अगले कलंक न्यूनतम तक माध्य रूप से ११ वर्ष लगते हैं। इस अवधि को कलंकचक्र कहते हैं। कुछ कलंकचक्रों में इस माध्य अवधि से ४-५ वर्ष अधिक अथवा न्यून हो सकते हैं।

कलंकों की आंतरिक गति — ऐवरशेड ने सन् १९०९ में कलंकों के स्पेक्ट्रम पट्ट में डाप्लर प्रभाव पाया जिसके अध्ययन ने यह प्रगट किया कि गैस कलंककेंद्र से परिधि की ओर त्रिज्या की दिशा में वहन करती है। इस गति में प्रवेग का परिमाण केंद्र पर शून्य होता है और ज्यों ज्यों कलंक के कृष्ण भाग की परिधि की ओर किसी भी त्रिज्या की दिशा में जायँ, परिमाण में वृद्धि होती जाती है, यहाँ तक कि परिधि पर वह दो किमी प्रति सेकंड हो जाता है। श्यामल भाग में प्रवेग परिमाण घटने लगता है और अंत में श्यामल भाग की परिधि पर वह शून्य उर्जा प्राप्त कर लेता है। सन् १९१३ में सेंट जोन के अधिक विस्तृत अध्ययन ने प्रगट किया कि कलंकों के निम्न स्तरों में गैस कलंक के अक्ष से बाहर की ओर वहन करती है तथा ऊपरी स्तरों में अक्ष की ओर। आगे चलकर अबेट्टी (१९३२) ने यह ज्ञात किया कि कुछ कलंकों में कृष्ण भाग की परिधि पर प्रवेग ६ किमी प्रति सेकंड तक हो जाता है और इस अरीयगति के अतिरिक्त गैस १ किमी प्रति क्षण के लगभग प्रवेग से अक्ष का परिभ्रमण भी करती है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि गैस अक्ष के समीप निम्न स्तरों से ऊपर उठती है तथा परिधि के समीप निम्न स्तरों की ओर अवतरण करती है और साथ ही साथ वह कलंक के अक्ष का परिभ्रमण भी करती है। अत: गैस की गति के विचार से कलंक को एक प्रकार का भ्रमर कह सकते हैं।

कलंकों का चुंबकत्व क्षेत्र — कलंकों के अधिकांश चुंबकीय लक्षणों का अध्ययन सन् १९०८ और १९२४ के बीच में माउंट विलसन की वेधशाला में हेल एवं निकोलसन (१९३८) द्वारा किया गया था इस अध्ययन के आधार पर निम्नलिखित तथ्य ज्ञात किए गए हैं : (१) ऐसा कोई भी अवलोकित कलंक नहीं जिसमें चुंबकत्व क्षेत्र विद्यमान न हो। (२) कलंककेंद्र पर बलरेखाएँ लगभग उदग्र होती हैं और परिधि के निकट वे उदग्र के साथ लगभग २५ अंश का कोण बनाती हैं। (३) चुंबकीय क्षेत्र का परिमाण कलंक के क्षेत्रफल पर निर्भर होता है। सबसे छोटे कलंकों में क्षेत्रपरिमाण लगभग १०० गाउस और बड़े बड़े कलंकों में ४००० गाउस तक पाया जाता है। (४) क्षेत्रपरिमाण केंद्र से परिधि की ओर घटता जाता है। (५) चुंबकत्व के विचार से कलंक तीन वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं : (क) एकध्रुवीय, (ख) द्विध्रुवीय और (ग) बहुध्रुवीय। एकध्रुवीय कलंक के संपूर्ण विस्तार में एक ही प्रकार की ध्रुवता रहती है। द्विध्रुवीय कलंक एक प्रकार की कलंकशृंखला है जिसके पूर्ववर्ती तथा अनुवर्ती भागों की ध्रुवता एक दूसरे से विपरीत होती है। 'ग' वर्ग के कलंकसमूह में दोनों प्रकार की ध्रुवता इस अनियमित रूप से प्रगट होती है कि वह 'ख' वर्ग में नहीं रखा जा सकता। (६) अवलोकित कलंकों में से अधिकांश द्विध्रुवीय होते हैं, जैसा निम्न सारणी से प्रगट होगा. जो हेल और निकोलसन के अध्ययन के आधार पर बनाई गई है :

प्रेक्षित कलंकों की संख्या

वर्ष	एकध्रुवीय	द्विध्रुवीय	बहुध्रुवीय	अन्य
१९१७	४४	५३	१	१७
१९१८	४७	५१	१	१६
१९१९	४६	५१	२	१८
१९२०	४७	५०	२	१६
१९२१	४७	५१	२	२५
१९२२	४६	५०	५	२६
१९२३	३६	६४	०	२१
१९२४	४०	५९	१	१८

वास्तव में द्विध्रुवीय कलंकों की संख्या सारणी में दी गई संख्या से अधिक होती है क्योंकि अधिकांश एकध्रुवीय कलंक पुराने द्विध्रुवीय कलंक हैं जिनके पूर्ववर्ती भाग नष्ट हो गए हैं।

ध्रुवता नियम — सन् १९१३ में हेल और उनके सहयोगियों ने ज्ञात किया कि नवीन कलंकचक्र में प्रत्येक गोलार्ध में कलंकों की ध्रुवता का क्रम गतिचक्र के क्रम के विपरीत होता है। इस प्रकार एक संपूर्ण चक्र में दो अनुगामी कलंकचक्रों का समावेश होना चाहिए और उसकी अवधि लगभग २२-२३ वर्ष होनी चाहिए।

आठ कलंकों के स्पेक्ट्रम पट्ट का अध्ययन यह प्रगट करता है कि उसमें अणुओं की रेखाएं उपस्थित होती हैं। धातुओं के अनायनित परमाणुओं की रेखाएँ गहरी हो जाती हैं और वे रेखाएँ, जिनकी उत्पत्ति के लिये अधिक उद्दीपन की आवश्यकता होती है, क्षीण हो जाती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कलंक का ताप प्रकाशमंडल के ताप से लगभग २००० अंश कम होता है।

काउलिंग ने सन् १९४६ में पहली बार क्षेत्र के उद्विकास का अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि कलंक के प्रगट होने के साथ ही साथ चुंबकीय क्षेत्र भी प्रगट होता है और उसका परिमाण पहले शीघ्रता से और फिर कलंक के जीवनकाल के अधिकांश भाग में अचल रहकर अंत में शीघ्रता से विलीन हो जाता है। उनका मत है कि चुंबकीय क्षेत्र कलंकों के प्रगट होने के पहले भी निम्न स्तरों में विद्यमान रहता है और कलंक के प्रगट होने के साथ ही साथ वह किसी न किसी प्रकार कलंक के ऊपरी तल तक आ जाता है।

कर्णिका (Flocculus) — सूर्यकलंक प्रचंड क्रियाओं का घटनास्थल है। कभी कभी तो ऐसा देखा गया है कि कलंक प्रगट

होने के पूर्व उस स्थान की भौतिक अवस्था में कुछ ही मिनटों में अत्यंत गंभीर परिवर्तन हो जाता है। इसी प्रकार कलंक के विलीन होने के पश्चात् कई दिनों और कभी कभी तो कई सप्ताहों तक उस स्थान पर दीप्तिमान नाड़ियाँ (Viens) सी बनी रहती हैं जो उर्णिकाएँ कहलाती हैं। ये उर्णिकाएँ अनेक अनियमित खंडों और बल खाई हुई तंतुओं की बनी हुई होती हैं जो प्रकाशमंडल से लगभग १५ प्रतिशत अधिक दीप्त होती हैं। उर्णिकाएँ सूर्यकलंक के दृष्टिगोचर होने के पश्चात् भी कुछ समय तक बनी रहती हैं। प्रचलित मतों के अनुसार उर्णिकाएँ प्रकाशमंडलीय गैस हैं जो कलंक में होनेवाली भीषण क्रियाओं द्वारा आस पास के समतल से ऊपर उठा दी गई हैं। क्योंकि यह गैस अधिक ताप के प्रदेश से आती है, कुछ समय तक आसपास की गैस से अधिक उष्ण रहती है फलतः अधिक दीप्तिमान होती है। इस प्रकार उर्णिकाओं को सूर्य के पृष्ठ पर उठी हुई अस्थायी पर्वतश्रेणियाँ कह सकते हैं जिनकी ऊँचाई ८ किमी से कुछ सौ किमी तक होती है।

सूर्य का अक्षीय परिभ्रमण — यदि कुछ दिनों तक भिन्न भिन्न अक्षांतरों में स्थित कलंकों की गति का प्रेक्षण करें तो देखेंगे कि वे सूर्यबिंब पर पूर्व से पश्चिम की ओर इस प्रकार वहन करते हुए प्रतीत होते हैं जैसे वे एक दूसरे से दृढ़तापूर्वक बँधे हुए हों। नवीन कलंक पूर्वीय अंग पर प्रगट होते हैं और सूर्यबिंब पर वहन करते हुए पश्चिमी अंग पर अदृश्य हो जाते हैं। वे एक अंग से दूसरे अंग तक जाने में लगभग एक पक्ष लेते हैं। कलंकों की इस सामूहिक गति से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि सूर्य भी अपने अक्ष पर, पूर्व से पश्चिम की ओर, पृथ्वी की भाँति परिभ्रमण करता है। परिभ्रमण अक्ष के लंबरूप, सूर्य के केंद्र में होकर जानेवाला, समतल प्रकाशमंडल का एक दीर्घवृत्त में छेदन करता है। यही दीर्घवृत्त विषुवत्‌वृत्त है। परिभ्रमण का नाक्षत्रिक आवर्तकाल लगभग २५ दिन है। सूर्य दृढ़काय के सदृश परिभ्रमण नहीं करता, भिन्न भिन्न अक्षांतरों में परिभ्रमण की गति भिन्न होती है। विषुवत्‌वृत्तीय क्षेत्रों की गति ध्रुवीय क्षेत्रों की गति से अधिक होती है। प्रथम क्षेत्र के परिभ्रमण का नाक्षत्रिक आवर्तकाल लगभग २४½ दिन तथा द्वितीय क्षेत्र का नाक्षत्रिक आवर्तकाल लगभग ३४ दिन है। यहाँ यह लिखना आवश्यक है कि ध्रुवीय क्षेत्रों के आवर्तकाल का निश्चय कलंकों की गति से नहीं किया जा सकता क्योंकि उस भाग में वे प्रगट नहीं होते। अतः उसका निश्चय स्पेक्ट्रम में गति से उत्पन्न होनेवाले प्रभाव के आधार पर, जिसे डाप्लर प्रभाव कहते हैं, किया जाता है। न्यूटन और नन (१९५१) ने सन् १८७८ से १९४४ तक के सूर्यकलंकों के अध्ययन के आधार पर कोणिक प्रवेग उ और अक्षांतर फ में निम्नांकित संबंध दिया है। उ = १४·३८°—२.७७ ज्या²फ।

सूर्य का गैस मंडल — सूर्य का गैस मंडल तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है: (१) प्रतिवर्ती स्तर (Reversing layer), (२) वर्णमंडल (Chromosphere) और (३) सौर किरीट (Corona)। इनका वर्णन यथास्थान किया जाएगा।

सूर्य का स्पेक्ट्रम पट्ट

सूर्य का विपाकी ताप — तारामौतिकी के प्रकरण में वर्णित साधनों के आधार पर सूर्य का विपाकी ताप लगभग ६००० अंश परम पर स्थिर किया गया है।

सौर स्थिरांक — सौर स्थिरांक ऊर्जा की वह मात्रा है जिसका पृथ्वीतल पर सूर्यकिरणों के लंबरूप स्थित १ वर्ग सेमी क्षेत्रफल के फलक पर संपूर्ण तरंग आयामों का विकिरण प्रति मिनट निपात करता है। इसको निश्चित करने का सर्वप्रथम प्रयास लैंगले ने सन् १८९३ में स्वरचित बोलोमीटर की सहायता से किया। उसने इसका मान २·५४ कैलोरी प्रति मिनट स्थिर किया। तत्पश्चात् अनेक बार उत्तरोत्तर अधिकाधिक शोधित यंत्रों द्वारा इस स्थिरांक को निश्चित करने के प्रयास किए गए। पृथ्वी के वायुमंडल के प्रचूषण के लिये प्रेक्षित सामग्री को शुद्ध करने के लिये उसमें कितनी मात्रा का संशोधन करना चाहिए, इस विषय में बड़ा मतभेद है, परंतु ऐलन द्वारा सन् १९५० के संशोधन के अनुसार इसका मान १·९७ कैलोरी प्रति मिनट है। वायुमंडल के प्रचूषण का निराकरण करने के उद्देश्य से आजकल राकेटों की सहायता ली जाती है। इनमें रखे गए यंत्र पृथ्वी तल से १०० किमी की ऊँचाई पर जाकर आवश्यक प्रेक्षणसामग्री एकत्र करते हैं। इस विधि ने स्थिरांक की माप लगभग २·०० कैलोरी प्रति मिनट निश्चित की है।

सूर्य के गैसमंडल का रासायनिक संघटन — यदि सूर्य को घेरे हुए गैसमंडल न होता तो स्पेक्ट्रम पट्ट संतानी होता और उसमें फॉउनहोफर रेखाएँ अनुपस्थित होतीं। परंतु सूर्य के स्पेक्ट्रम पट्ट में ये रेखाएँ बड़ी संख्या में प्रगट होती हैं। इनके अध्ययन से यह

सूर्य के गैसमंडल में तत्वों की उपस्थिति

तत्व	आयतन प्रतिशत	भार (मिग्रा प्रति वर्ग सेमी)
हाइड्रोजन	८१·७६०	१५००
हीलियम	१८·१७०	१०००
कार्बन	०·००३०००	०·५
नाइट्रोजन	०·०१००००	२·०
ऑक्सीजन	०·०३००००	१०·०
सोडियम	·०००३००	०·१
मैग्नीशियम	·०२००००	१०·०
ऐलूमिनियम	·०००२००	०·१
सिलिकन	·००३०००	३·०
गंधक	·००३०००	१·०
पोटैशियम	·००००१०	०·००३
कैल्सियम	·०००३००	०·२०
टाइटेनियम	·००००03	०·००३
वेनेडियम	·००००0१	०·००१
क्रोमियम	·००००0६	०·००५
मैंगनीज	·००००१०	०·०१
लोह	·०००८००	०·६०
कोबाल्ट	·००००0४	०·००४
निकल	·०००२००	०·२०
ताँबा	·००००0२	०·००२
जस्ता	·००००३०	०·०३

ज्ञात किया गया है कि गैसमंडल में कौन कौन से तत्व उपस्थित हैं। अब तक वहाँ २१ तत्व पहचाने जा चुके हैं जो उपर्युक्त सारणी में दिए गए हैं। प्रत्येक तत्व के संमुख उसकी मात्रा भी तुलना के लिये दी गई है जो यह प्रगट करती है कि वह तत्व किस मात्रा में उपस्थित है। इस सारणी के तृतीय स्तंभ में प्रकाशमंडल के एक वर्ग सेमी क्षेत्रफल पर उदग्र दिशा में खड़े किए गए गैस के स्तंभ में विद्यमान तत्वों की मात्रा दी गई है।

पृथ्वी के तल में भी ये तत्व विद्यमान हैं। कैल्सियम, लोह, टाइटेनियम और निकल जैसे भारी धातुओं की उपस्थिति सूर्य के गैसमंडल और भूपर्पटी (earthcrust) में लगभग एक सा ही है, परंतु हाइड्रोजन, हीलियम, नाइट्रोजन आदि हलके तत्वों की उपस्थिति सूर्य के गैसमंडल में भूपर्पटी की अपेक्षा बहुत अधिक है।

सूर्य का साधारण चुंबकत्व क्षेत्र — स्पेक्ट्रम रेखाओं में विद्यमान ज़ेमान प्रभाव (Zeeman effect) के अध्ययन के आधार पर हेल (१९१३) ने बताया कि सूर्य एक चुंबकीय गोला है जिसके ध्रुवों पर चुंबकत्व क्षेत्र का उदग्र परिमाण लगभग ५० गाउस है। हेल, सीयरस, वान मानन और ऐलरमेन के सन् १९१८ तक के विस्तृत अध्ययन ने प्रगट किया कि हेल द्वारा निश्चित परिमाण वास्तविक परिमाण की अपेक्षा बहुत अधिक है और ध्रुव पर उसका परिमाण लगभग २५ गाउस होना चाहिए। कुछ वर्षों तक सूर्य के चुंबकीय क्षेत्र का परिमाण निश्चित नहीं हो सका। सन् १९४८ में बेबकाक ने अपने माउंट विलसन की वेधशाला में किए गए वर्षों के अध्ययन के आधार पर बतलाया कि सूर्य के चुंबकीय क्षेत्र का परिमाण शून्य से ६० गाउस तक कुछ भी हो सकता है। उनका मत है कि सूर्य का चुंबकीय क्षेत्र परिवर्तनशील हो सकता है। [प्र० ला० म०]

सूर्यमल्ल वंशभास्कर के रचयिता कविराजा सूर्यमल्ल चारणों की मिश्रण शाखा से संबद्ध थे। बूँदी के प्रतिष्ठित परिवार के अंतर्गत संवत् १८७२ में इनका जन्म हुआ था। बूँदी के तत्कालीन महाराज विष्णुसिंह ने इनके पिता कविवर चंडीदान को एक गाँव, लाखपसाव तथा कविराजा की उपाधि प्रदान कर संमानित किया था। सूर्यमल्ल बचपन से ही प्रतिभासंपन्न थे। अध्ययन में विशेष रुचि होने के कारण संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पिंगल, डिंगल आदि कई भाषाओं में इन्हें दक्षता प्राप्त हो गई। कवित्वशक्ति की विलक्षणता के कारण अल्पकाल में ही इनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। महाराज बूँदी के अतिरिक्त राजस्थान और मालवे के अन्य राजाओं ने भी इनका यथेष्ट संमान किया। अपने जीवन में ऐश्वर्य तथा विलासिता को प्रश्रय देनेवाले इस कवि की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि काव्य पर इसका प्रभाव नहीं पड़ सका है। इनकी शृंगारपरक रचनाएँ भी संयमित एवं मर्यादित हैं। दोला, सुरजा, विजया, यशा, पुष्पा और गोविंदा नाम की इनकी ६ पत्नियाँ थीं। संतानहीन होने के कारण मुरारीदान को गोद लेकर अपना उत्तराधिकारी बनाया था। संवत् १९२० में इनका निधन हो गया।

बूँदी नरेश रामसिंह के आदेशानुसार संवत् १८९७ में इन्होंने 'वंशभास्कर' की रचना की थी। इस ग्रंथ में मुख्यतः बूँदी राज्य का इतिहास वर्णित है किंतु यथाप्रसंग अन्य राजस्थानी रियासतों की भी चर्चा की गई है। युद्धवर्णन में जैसी सजीवता इस ग्रंथ में है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। राजस्थानी साहित्य में बहुचर्चित इस ग्रंथ की टीका कविवर बारहठ कृष्णसिंह ने की है। वंशभास्कर के कतिपय स्थल क्लिष्टता के कारण बोधगम्य नहीं हैं, फिर भी यह एक अनूठा काव्यग्रंथ है। इनकी 'वीरसतसई' भी कवित्व तथा राजपूती शौर्य की दृष्टि से उत्कृष्ट रचना है। महाकवि सूर्यमल्ल वस्तुतः राष्ट्रीय विचारधारा तथा भारतीय संस्कृति के उद्बोधक कवि थे।

कृतियाँ — वंशभास्कर, बलवंत विलास, छंदोमयूख, वीरसतसई तथा फुटकर छंद।

सं० ग्रं०—आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी; कविराजा मुरारिदान : जसवंत भूषण; महताबचंद्र खारैड़ : रघुनाथ रूपक गीताँ रो; नाथूसिंह महियारिया : वीरसतसई; डॉ० मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५ अंक ३। [रा० ब० पां०]

सूर्यानुवर्त (Heliotrope) बोरैगिनेसीई (Boraginaceae) कुल का छोटा क्षुप है। इस क्षुप की पत्तियाँ एवं पुष्प सूर्य की गति का अनुगमन करती हैं। इसकी पत्तियाँ छोटी तथा वलियुक्त और शिरायुक्त होती हैं। पुष्प अल्पकुंडलित गुच्छ में लाइलेक (lilac) नील रंग के होते हैं जिनसे वनिल्ला (Vanilla) की वास आती है। इसके २२० स्पीशीज ज्ञात हैं जिनमें से कुछ के पुष्प सफेद तथा कुछ के नील-लोहित रंग के होते हैं। गमले में तथा क्यारियों में लगाने के लिये इस क्षुप का अधिक उपयोग किया जाता है। [भ० ना० मे०]

सेंट बेव (Sainte Beuve), (१८०४-१८६९) उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रांस में साहित्यालोचन की ओर अधिक झुकाव देखा जाता था और ऐसे साहित्यकारों में सेंट बेव की ख्याति सबसे अधिक थी। २२ वर्ष की उम्र में विक्टर ह्यूगो से उनकी मित्रता हो गई। उन्होंने कवि के रूप में साहित्यिक जीवन का आरंभ किया और 'जोसेफ डीलाम का जीवन, कविताएँ तथा विचार' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया। इसमें उनकी प्रेमकथा के साथ उनके शोकगीतों का संग्रह है। उनकी कविताओं की दूसरी पुस्तक 'कनसोलेशंस' (सांत्वना) है। कवि के रूप में वे जनता में अधिक समादृत नहीं हुए। १८४० से १८६९ में मृत्यु होने तक उन्होंने साहित्यालोचन की कई पुस्तकें लिखीं—'पोर्ट रायल', 'शातोब्रियाँ (Chatsaubriad) और उनके 'साहित्यिक साथी', कई व्यक्तिचित्र तथा 'मंडे टाक्स' (सोमवार की बातें)।

किसी साहित्यिक रचना के संबंध में वस्तुगत और सर्वांगीण छानबीन उनकी आलोचना का लक्ष्य होता था। लेखक के व्यक्तित्व का अध्ययन उनका अभीष्ट होता और इस दृष्टि से वे उसकी शिक्षा, संस्कृति, जीवन तथा सामाजिक पृष्ठभूमि के चित्रण का प्रयत्न करते थे। अज्ञात प्रतिभा के परिज्ञान की देन उन्हें प्राप्त थी और वे भावुकतावादी रचनाकारों के कट्टर समर्थक थे। बाद में उनका झुकाव परिनिष्ठित साहित्य की ओर हो गया और उन्होंने मोलियर

तथा लॉं फॉंटेन पर निबंध लिखे। शैली की सुंदरता और उत्कृष्टता ने उनकी रचनाओं की मनोरंजकता बढ़ा दी है। [फ्रा० भ०]

सेंट लारेंस (नदी) यह उत्तरी अमरीका की एक प्रसिद्ध नदी है जो ओंटैरियो झील के उत्तरी पूर्वी सिरे से निकलकर ७४४ मील उत्तर पूर्व बहती हुई सेंट लारेंस की खाड़ी में गिरती है। मांट्रियल तक इस नदी में बड़े बड़े जलयान आ जाते हैं। क्यूबेक के ज्वारभाटीय क्षेत्र के बाद इसकी चौड़ाई अधिक होने लगती है तथा मुहाने तक जाकर ९० मील हो जाती है। इसकी मुख्य सहायक नदियाँ रिचेलिऊ, सेंट फ्रांसिस, ओटावा, सेंट मारिस एवं सागेने हैं। ओगडेंसबर्ग, किंग्स्टन, ब्राकविल, कार्नवाल, मांट्रियल, सोरेल, ट्रायज रिवियरेस और क्यूबेक नामक नगर इसके किनारे पर स्थित हैं। सेंट लारेंस की घाटी में लकड़ी एवं कागज के बहुत से कारखाने हैं। इससे पर्याप्त जलविद्युत् शक्ति प्राप्त की जाती है।

सेंट लारेंस (खाड़ी) — यह कैनाडा से पूर्व अध महासागर में स्थित सेंट लारेंस नदी के मुहाने पर स्थित है; इसका क्षेत्रफल १,००,००० वर्ग मील है। यह उत्तर में क्यूबेक, पश्चिम में गास्पे प्रायद्वीप तथा न्यू ब्रंजविक, दक्षिण में नोवास्कोशिया तथा पूर्व में न्यूफाउंडलैंड द्वारा घिरी हुई है। यह खाड़ी ५०० मील लंबी तथा २५० मील चौड़ी है। इसमें कई द्वीप स्थित हैं जिनमें एंटीकोस्ती, प्रिंस एडवर्ड एवं मैग्डालेन उल्लेखनीय हैं। यह मत्स्याखेट का महत्वपूर्ण स्थल है। मध्य अप्रैल से लेकर दिसंबर के प्रारंभ तक जलयान यहाँ आ जा सकते हैं। इसके बाद के महीनों में यह खाड़ी हिमाच्छादित रहती है। [रा० प्र० सि०]

सेंट लुइस १. स्थिति : ३८° ३७' उ० अ० एवं ९०° १५' प० दे०। यह मिसौरी राज्य का सबसे बड़ा एवं संयुक्त राज्य अमरीका का आठवाँ बड़ा नगर है, जो मिसीसिपी नदी के किनारे शिकागो के २८५ मील दक्षिण पश्चिम में स्थित गमनागमन का महत्वपूर्ण केंद्र है। यहाँ जलमार्गों, वायुमार्गों, सड़कों एवं रेलमार्गों का जाल बिछा हुआ है। यह महत्वपूर्ण व्यापारिक, वित्तीय एवं औद्योगिक केंद्र है। संसार का सबसे बड़ा समूर का बाजार होने के साथ साथ पशु, अनाज, ऊन एवं लकड़ी का भी प्रसिद्ध बाजार है। शराब, दवा, जूता, यंत्र, वायुयान, मोटर, रेलगाड़ी, स्टोव एवं लौह इस्पात के कारखाने यहाँ हैं। यहाँ तेल, रबर, तंबाकू एवं लकड़ी की वस्तुओं का निर्माण भी होता है। मांस को डब्बों में बंद करना महत्वपूर्ण उद्योग है। यहाँ सेंट लुइस एवं वाशिंगटन नामक दो विश्वविद्यालय एवं दो सेमिनरी हैं। यह स्वतंत्र नगर है जो किसी भी काउंटी में नहीं है।

सेंट लुइस बंदरगाह से कोयला, तेल, गंधक, अनाज, चीनी, तथा कागज, रसायनक एवं मोटरगाड़ियों का आदान प्रदान होता है। सेंट लुइस के दर्शनीय स्थलों में आरकेस्ट्रा, कलासंग्रहालय, ईड्स पुल, फारेस्ट पार्क, जेफरसन मेमोरियल भवन, प्राणिक एवं वानस्पतिक उद्यान, म्यूनिसिपल एवं अलो प्लाजा, जेफरसन एक्सपैंशन मेमोरियल एवं राक हाउस हैं। धर्माध्यक्ष का आवास यहाँ है। प्राचीन कैथेड्रल सबसे पुराना गिरजाघर है। यहाँ नोसेना, वायुसेना तथा म्यूनिसिपैलिटी के हवाई अड्डे हैं।

सेंट लुइस की जनसंख्या ७,५०,०२६ (१९६०) है।

२. मिसौरी राज्य में एक काउंटी है। क्षेत्रफल ६२८१ वर्गमील एवं जनसंख्या २०६,०६२ (१९५०) है। सेंट लारेंस एवं लिटिल फार्क नदियाँ मुख्य हैं। यहाँ वर्मिलियन एवं मेसाबी लौह पर्वत श्रेणियाँ हैं। खनन उद्योग के अतिरिक्त पशुपालन एवं तरकारी, विशेषकर आलू का उत्पादन होता है। राजकीय वन एवं सुपीरियर राष्ट्रीय वन उत्तरी भाग में है। डलुथ इसकी राजधानी है।

३. मिसौरी राज्य में ही एक दूसरी काउंटी है। क्षेत्रफल ४९७ वर्ग मील, जनसंख्या ४०६,३४९ (१९५०) है। क्लेटन यहाँ की राजधानी है। मिसौरी एवं मेरमिक नदियों से यह घिरी हुई है। मक्का, गेहूँ एवं आलू मुख्य कृषि उपज है। बागाती उपज, पशुपालन एवं लकड़ी की वस्तुओं का निर्माण होता है। [रा० प्र० सि०]

सेंट साइमन, हेनरी (१७६०-१८२५) फ्रांस का समाज दार्शनिक जिसे आधुनिक समाजवाद का जन्मदाता माना जाता है। अपनी बहुमुखी प्रतिभा तथा मौलिक चिंतन की क्षमता के कारण वह समाजदर्शन में उद्योगवाद एवं वैज्ञानिक यथार्थवाद जैसी पुष्ट चिंतनधाराओं का प्रवर्तक बना। उसकी मृत्यु के बाद उसके शिष्यों ने, जिनमें बाजार्ड तथा एनफैंटीन प्रमुख हैं, उसके विचारों का व्यवस्थित ढंग से प्रचार किया तथा सेंट साइमनवादी पंथ की स्थापना की। ऑगस्टिन थियरी तथा ऑगस्ट कोम्टे जैसे विचारक अनेक वर्षों तक उसके सेक्रेटरी रहे।

पेरिस के एक कुलीन परिवार में जन्म लेकर, परिवार की परंपराओं के अनुकूल सेंट साइमन (सॉं सिमों) ने अपनी आजीविका सैनिक के रूप में प्रारंभ की, परंतु शांति के दिनों में सैनिक जीवन की एकरसता से ऊबकर उसने कर्नल पद से त्यागपत्र दे दिया। फ्रांसीसी राज्यक्रांति के अवसर पर गिरजाघरों की जब्त की गई संपत्ति को खरीदकर मालामाल हुआ, परंतु ज्ञानार्जन संबंधी कामों में उसने खुले हाथ धन व्यय किया और १८०५ में वह निर्धन हो गया। १८२३ में निराश सेंट साइमन ने आत्महत्या की चेष्टा की परंतु बच गया। दो वर्ष बाद जब उसकी मृत्यु हुई, वह अपने शिष्यों से घिरा नई पुस्तकें लिखने की योजना बना रहा था। उसकी सभी मुख्य रचनाएँ १८०३ तथा १८२५ के बीच प्रस्तुत की गईं।

सेंट साइमन के सामने मुख्य प्रश्न फ्रांसीसी क्रांति से उत्पन्न व्यक्तिवादी अराजकता से पीड़ित यूरोपीय देशों को एक नई सामाजिक व्यवस्था की कल्पना प्रदान करना था। उद्योग एवं विज्ञान में ही उसे मानव का भविष्य दिखाई दिया, अतः नई धार्मिक चेतना से युक्त ऐसे राज्यतंत्र की रूपरेखा उसने प्रस्तुत की जिसमें राज्यशक्ति सैनिकों या सामंतों के हाथ में न रहकर प्रविधिज्ञों, वैज्ञानिकों तथा बैंकरों के हाथ में रहे और वे सामाजिक संपत्ति के ट्रस्टी के रूप में सामाजिक व्यवस्था की देखभाल करें। उद्योग एवं उत्पादन को सामाजिक प्रगति का आधार मानकर उसने 'सभी काम करें'

का नारा दिया तथा संपत्ति के उत्तराधिकार के नियम को अनैतिक घोषित किया। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की भाँति उसने भी आर्थिक स्वार्थ को सर्वोपरि घोषित किया, परंतु उसके अनुसार इस स्वार्थ की पूर्ति तभी हो सकती है जब विशेषज्ञों के नियंत्रण में उत्पादन का उचित नियोजन हो। अतः उसने अहस्तक्षेप नीति (The Laissez faire) का समर्थन नहीं किया। सामान्य रूप से वह राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के लिये संसदीय प्रणाली का समर्थक था। चिंतन के क्षेत्र में भी वह विशेष विज्ञानों को एक वैज्ञानिक यथार्थवादी दर्शन के अंतर्गत व्यवस्थित करना चाहता था। सामाजिक चिंतन को वैज्ञानिक यथार्थवादी रूप देने के यत्न में उसने समाज-शरीर-विज्ञान की रचना की, जिसे उचित ही आधुनिक समाजविज्ञान का पूर्वगामी कहा जाता है।

सं० ग्रं० — ए० दुरखीम : सोशलिज्म ऐंड सेंट साइमन।

सेंट हेलेंज यह इंग्लैंड की लंकाशिर काउंटी में लिवरपूल के १२ मील उत्तर पूर्व मे स्थित संसदीय एवं नगरपालिका काउंटी है। क्षेत्रफल १२·४ वर्गमील है। १७ वीं शताब्दी में कोयले की खदानों की प्राप्ति से इसके आधुनिक रूप का विकास प्रारंभ हुआ और बाद में १७७३ ई० में काँच के कारखाने के कारण इसकी प्रसिद्धि और बढ़ गई। यह संसार के काँच निर्माण के औद्योगिक केंद्रों में से एक है। यहाँ १९५१ ई० में २०००० व्यक्ति इस उद्योग में लगे हुए थे। लोह एवं पीतल की ढलाई तथा साबुन, वस्त्र, मिट्टी के बर्तन एवं पेटेंट दवाओं का निर्माण अन्य महत्वपूर्ण उद्योग हैं। पार नामक स्थान में एक व्यापारिक संस्थान (estate) है। सेंट मेरी गिरजाघर तथा गैंबुल संस्थान दर्शनीय स्थल हैं। गैंबुल संस्थान में एक तकनीकी विद्यालय तथा एक पुस्तकालय है।

सेंट हेलेंज की जनसंख्या १,०८,३४८ (१९६१) है।

[रा० प्र० सिं०]

सेंटो (केंद्रीय समझौता संघटन) २४ फरवरी, १९५५ को इराक की राजधानी बगदाद में तुर्की, ईरान, इराक और पाकिस्तान को मिलाकर एक समझौता किया गया जिसको 'बगदाद पैक्ट' की संज्ञा दी गई। अमरीका भी अप्रैल, १९५६ में इसमें शामिल हो गया। जुलाई, १९५८ में इराक में क्रांति हो गई और वह इस समझौते से निकल गया। २१ अगस्त, १९५९ में इस करार का नाम 'बगदाद पैक्ट' से बदलकर 'सेंटो (केंद्रीय समझौता संघटन) हो गया। इसका केंद्रीय कार्यालय भी बगदाद से अंकारा में स्थानांतरित किया गया। इराक के डाक्टर ए० ए० खलात बेरी को इस संघटन का मुख्य सचिव बनाया गया। इस संघटन के बन जाने से इस्लामी राष्ट्रों का गुट बनाने और इसलाम के प्रचार का लक्ष्य पूरा समझा जाने लगा। अप्रैल, १९६० में पाकिस्तान के प्रयास से इस संघटन की संयुक्त कमान भी स्थापित कर दी गई। इसके साथ ही इस संघटन के एशियाई सदस्यों को अनुसंधान करने का भी प्रस्ताव था। १९६३ में सदस्य देशों द्वारा संयुक्त सैनिक अभ्यास भी किया गया। इसकी एक बैठक वाशिंगटन में अप्रैल, १९६४ में हुई थी। इस समझौते का प्रमुख उद्देश्य मध्यपूर्व के देशों में साम्राज्यवादी हितों की रक्षा करना भी निर्धारित किया गया था। इसीलिये इस्लामी राष्ट्र होते हुए भी इन देशों ने १९६६ में स्वेज नहर के मामले में संयुक्त अरब गणराज्य (इस्लामी राष्ट्र) का विरोध करके अंग्रेजों का समर्थन किया। राष्ट्रीय स्वार्थों के कारण इस्लामी संघटन के लक्ष्य में दरार पड़ गई। इराक १९५८ में ही अलग हो गया था। इधर अरबों ने भी अपना नया संघटन बनाया और मतभेदों के बावजूद एक शक्तिशाली अरब लीग की स्थापना की गई जिससे 'सेंटो' का भविष्य खटाई में पड़ गया। [च० मि०]

सेंसर व्यवस्था जनता की स्वेच्छा से आपत्तिजनक वस्तुओं के देखने, सुनने और पढ़ने से रोकने के प्रयत्नों को सेंसर व्यवस्था कहते हैं। अधिकांशतः यह समाचारपत्रों, भाषण, छपे हुऐ साहित्य, नाटक और चलचित्र, जो सरकार द्वारा जनता के चरित्र के लिये हानिकारक समझे जाते हैं, पर लगाई जाती है।

राजनीतिक सेंसर व्यवस्था — यह अक्सर तानाशाही में लगाई जाती है। गणतंत्र देशों में इसका कोई स्थान नहीं है। राजनीतिक सेंसर व्यवस्था का ध्येय जनता द्वारा सरकार की किसी भी प्रकार की आलोचना को रोकना है। रूस में साम्यवादी सरकार द्वारा कड़ी सेंसर व्यवस्था लगाई गई है।

प्रेस सेंसर व्यवस्था — भूतकाल में छपे हुए साहित्य को सेंसर करने का तरीका प्रायः सभी देशों में समान ही रहा है, परतु उसकी कठोरता देश काल के अनुसार भिन्न भिन्न रही है। महायुद्ध के समय जर्मनी में प्रत्येक पुस्तक बड़ी सावधानी से सेंसर की जाती थी और कोई आपत्तिजनक बात होने पर लेखकों को बड़ा कड़ा दड भी मिलता था। तानाशाही देशों में प्रेस सेंसर व्यवस्था आरभ से ही बड़े कड़े प्रकार की रही है। कोई भी संपादक अपना पत्र बिना पूर्वनिरीक्षण के नहीं छपवा सकता था। नियम का उल्लघन करने का अर्थ पत्र को बद करना और सपादक को भारी दड भोगना था।

ब्रिटेन में प्रेस सेंसर व्यवस्था से संपादकों में भारी असतोष फैल गया क्योंकि कोई भी आपत्तिजनक बात छाप देने पर उनको दड मिलने लगा। इसलिये बाद मे सरकार ने एक प्रेस ब्यूरो खोला जो समय समय पर सपादकों को आवश्यक निर्देश दिया करता था जिससे वह कोई भी अपत्तिजनक विषय न छाप सकें परन्तु यह सस्था उनको दड से बचाने की जिम्मेवार नहीं थी।

प्रेस सेंसर व्यवस्था सरकार द्वारा सीमित रूप में ही लगाई जाती है और यह प्रत्येक देश की सभ्यता तथा रीति रिवाजों पर निर्भर है। सरकार कोई भी अश्लील पुस्तक जनता के समक्ष उपस्थित करने से मना कर सकती है; क्योंकि देश की नैतिक उन्नति छपे हुए साहित्य पर ही निर्भर होती है।

युद्धकालीन सेंसर व्यवस्था — युद्धकाल में देश की सुरक्षा के लिये डाक, तार, समाचारपत्र तथा आकाशवाणी द्वारा भेजे गए संदेशों की सेंसर व्यवस्था आवश्यक है क्योंकि शत्रु का गुप्तचर विभाग इन साधनों द्वारा देश की निर्बलताओं तथा दूसरे गुप्त विषयों पर सूचना पाने का प्रयास करता रहता है।

शांतिकाल में डाक और तार की सेंसर व्यवस्था असाधारण

सी बात है, परंतु युद्धकाल में डाक और तार की सेंसर व्यवस्था आवश्यक है क्योंकि कई बार कई देशद्रोही शत्रु के गुप्तचरों के साथ अपने देश की निर्बलताओं तथा दूसरे कई गुप्त विषयों पर पत्र व्यवहार करते पकड़े गए हैं।

युद्धकाल में सब सैनिक पत्र सेंसर किए जाते हैं और इस कार्य की पूर्ति के लिये विशेष अधिकारी नियुक्त किए जाते हैं जो इन पत्रों में से कोई भी आपत्तिजनक सूचना, जो शत्रु को किसी भी प्रकार लाभदायक हो सकती हो, काट सकते हैं अथवा पूरा पत्र ही नष्ट कर सकते हैं।

कई बार इन पत्रों में शत्रु को कई गुप्त संकेतों द्वारा सूचना दी जाती है जैसे साईफर कोड, नकली स्याही अथवा अन्य कई साधनों द्वारा। ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी में तो ऐसे पत्रों के लिये पोस्टल सेंसर व्यवस्था की भिन्न भिन्न शाखाएँ खोली गई और परिणाम तथा शत्रु के सूचना पाने के कई साधन बंद हो गए। ब्रिटेन में शत्रु को सूचना भेजने के और भी कई साधन अपनाए गए थे जैसे पत्र तटस्थ देशों के नाम भेजे जाते थे परंतु वास्तव में वे शत्रु के लिये ही होते थे। अतः वहाँ पर तटस्थ देशों से आने जानेवाली सारी डाक सेंसर की जाने लगी। शत्रु देश से आनेवाला छपा हुआ साहित्य भी प्रायः झूठा प्रचार करने के लिये भेजा जाता था इसलिये उसको तो वितरण करने से पूर्व ही नष्ट कर दिया जाता था।

युद्धकाल में अमरीका का पोस्टमास्टर जनरल ही कोई भी साहित्य डाक द्वारा भेजने से मना कर सकता था।

युद्धकाल में तारों की सेंसर व्यवस्था विशेषतया शत्रु देश के साथ व्यापारिक संबंधों को छिन्न भिन्न करने के लिये की जाती थी और बहुत बार ये व्यापारिक तार अपने देश की स्थल तथा जल सेना की स्थिति की सूचना लिए होते थे। इसलिये तार भी सेंसर किए जाने लगे।

चलचित्रों की सेंसर व्यवस्था — चलचित्रों का सेंसर करने के लिये सरकार एक बोर्ड बनाती है जो भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न नामों से जाना जाता है। कोई भी फिल्म सेंसर बोर्ड से प्रमाणपत्र लिए बिना जनता के समक्ष उपस्थित नहीं की जा सकती। यह बोर्ड किसी भी चलचित्र को जनता के समक्ष उपस्थित करने से रोक सकता है अथवा उसमें से कुछ दृश्य या शब्द काट सकता है या किसी फिल्म को केवल वयस्कों के लिये दिखाने की अनुमति दे सकता है।

चलचित्रों की सेंसर व्यवस्था विशेषतः जनता की नैतिक भावनाओं पर निर्भर है। जनता का कोई भी शक्तिशाली समूह सरकार पर दबाव डालकर किसी भी अश्लील चित्र को जनता के समक्ष दिखलाने से रोक सकता है। [दे० रा० क०]

सेआरा यह ब्राजील के उत्तर पूर्व में समुद्रतट के किनारे स्थित राज्य है जिसका क्षेत्रफल १४८,०१६ वर्ग किमी एवं जनसंख्या ३३,३७,८५६ (१९६०) है। इसके सँकरे एवं बालुकामय तटीय मैदान के दक्षिण में अर्धशुष्क पठार है जिसे सर्टाओ कहते हैं। यह १०००' तक ऊँचा है। जैगुआराइब (Jaguaribe) नदी इस राज्य की मुख्य नदी है। यहाँ सिंचाई द्वारा कपास, गन्ना और कहवा की खेती की जाती है। खनिजों में केवल नमक एवं रयूटाइल (Rutile) उल्लेखनीय है। पठारी भाग में पशुपालन होता है। यहाँ से खाल, मोम, तीसी का तेल, बीन, तरकारी एवं रबर का निर्यात होता है। यहाँ की राजधानी फोर्टालेजा (जनसंख्या ५१४,८१८; १९६०) को सेआरा भी कहते हैं। कामोसिम यहाँ का मुख्य बंदरगाह है। फोर्टालेजा एवं कामोसिम से रेलमार्ग आंतरिक भागों में गए हुए हैं। सड़कों एवं नौगमनीय नदियों का अभाव है। सोबराल एवं अराकाती अन्य महत्वपूर्ण नगर हैं। सेआरा में व्यापक सिंचाई की योजनाएँ बनी हैं एवं कुछ निर्माणाधीन भी हैं। मत्स्योद्योग का विकास हो रहा है। कुछ ही समय पूर्व ताँबा एवं यूरेनियम के निक्षेपों का पता चला है। सूखा के कारण शुष्क मौसम में बहुत बड़ी संख्या में लोग दूसरे भागों में चले जाते रहे हैं। ब्राजील से दासता का उन्मूलन करनेवाले राज्यों में सेआरा भी एक था। यह हस्तशिल्प उद्योगों के लिये विख्यात है। [रा० प्र० सिं०]

सेऊल स्थिति ३७° ३४' : उ० अ० एवं १२७° पू० दे०। दक्षिणी कोरिया गणतंत्र की राजधानी हान नदी के किनारे पूसान के २०० मील उत्तर पश्चिम में स्थित है। यह एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक एवं औद्योगिक केंद्र है। पूखान पर्वतों के पादप्रदेश में स्थित इस नगर का दृश्य बहुत ही मनोहर है। प्राचीन नगर ऊँची दीवारों से घिरा हुआ था। इसका आधुनिकीकरण २०वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में किया गया। उत्तर पश्चिम में स्थित किंपो इसका हवाई अड्डा है जो चेमुल्पो नामक बंदरगाह से रेलमार्ग द्वारा संबद्ध है। उद्योगधंधों में रेल, वस्त्र, चर्म एवं शराब उद्योग उल्लेखनीय हैं। सेऊल महत्वपूर्ण शिक्षा केंद्र है जहाँ सेऊल विश्वविद्यालय, कंफ्यूशियन (Confusion) संस्थान तथा महिला, चिकित्सा विज्ञान एवं क्रिश्चियन महाविद्यालय हैं। यहाँ रोमन कैथोलिक कैथेड्रल भी है। सेऊल में तीन सुंदर राजप्रासाद हैं जिनमें यी राजवंश द्वारा १४ वीं शताब्दी में निर्मित प्रासाद बहुत ही भव्य है। १४६८ ई० में निर्मित एक कांस्य का ढला विशाल घंटा (Bronze Bell cast) नगर के मध्य में है। अवशिष्ट दीवारों के द्वार वास्तुकला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। सेऊल १३९३ ई० में कोरिया की राजधानी बना। १९१०-१९४५ ई० तक यह जापानी गवर्नर जनरल का आवास रहा तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह संयुक्त राज्य की फौजी कार्रवाई (operation zone) का प्रधान कार्यालय था। १९४८ ई० में यह कोरिया गणतंत्र (दक्षिणी कोरिया) की राजधानी बना।

सेऊल की जनसंख्या ३३,७६,०३० (१९६३) है।

[रा० प्र० सिं०]

सेक्सटैंट (Sextant) सबसे सरल और सुगठित यंत्र है जो प्रेक्षक की किसी भी स्थिति पर किन्हीं दो बिंदुओं द्वारा बना कोण पर्याप्त यथार्थता से नापने में काम आता है। इसका आविष्कार सन् १७३० में जान हैडले (John Hadley) और टॉमस गोडफ्रे (Thomas Godfrey) नामक वैज्ञानिकों ने अलग अलग स्वतंत्र रूप से किया था। तब से इतनी अवधि गुजरने पर भी यह यंत्र

प्रचलित ही नहीं है वरन् बड़े चाव से प्रयोग में आता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इसमें अन्य कोणमापी यंत्रों से अधिक सुविधा-जनक विशेषताएँ उपलब्ध हैं। पहली विशेषता यह है कि अन्य कोण-मापी यंत्रों की भाँति इसे प्रेक्षण के समय एकदम स्थिर रखना या किसी निश्चित अवस्था में रखना अनिवार्य नहीं है। दूसरी विशेषता यह है कि प्रेक्षक स्थिति और उसपर कोण बनानेवाले बिंदु चाहे ऊर्ध्वाधर या तिर्यक् समतल में हों, इस यंत्र से उस समतल में बने वास्तविक कोण की मात्रा नाप सकते हैं। इन विशेषताओं के कारण सेक्सटैंट नाविक को उसकी यात्रा की दिशा का ज्ञान कराने के लिये आज भी बड़ा उपयोगी यंत्र है।

यंत्र के प्रकार — दो प्रकार के सेक्सटैंट प्रयोग में आते हैं। एक, बाक्स सेक्सटैंट और दूसरा खगोलीय या नाविक सेक्सटैंट। दोनों की बनावट में कोई सैद्धांतिक भिन्नता नहीं है। इनकी बनावट का सिद्धांत यह है कि यदि किसी समतल में प्रकाश की कोई किरण आमने सामने मुँह किए खड़े समतल दर्पणों से एक के बाद दूसरे पर परावर्तित (Reflecced) होने के बाद देखी जाय तो देखी गई किरण और मूल किरण के बीच बना कोण परावर्तक दर्पणों के बीच पार-स्परिक कोण से दूना होगा। सेक्सटैंट से १२०° तक का कोण एक बार में ही नापा जा सकता है। इससे बड़ा कोण होने पर दो या अधिक से अधिक तीन भाग करके नापना होगा।

बनावट — बाक्स सेक्सटैंट एक छोटी, लगभग ८ सेंमी व्यास और चार सेंमी ऊँचाई की डिबिया सा होता है। ऊपर का ढक्कन खोल देने पर ऊपर कुछ पेंच और एक वर्नियर वाली हुई भुजा दिखाई देगी जो अंशों पर उसके छोटे भागों में विभाजित चाप पर चल सकती है। दस्ते की भाँति एक पेंच भुजा से जुड़ा होता है। डिबिया के भीतर धँसी पेंच की पिंडी से एक समतल दर्पण लगा रहता है। इसे निर्देशदर्पण कहते हैं। पेंच घुमाने से दर्पण और साथ ही अंकित चाप पर भुजा में लगा वर्नियर चलता है। इससे दर्पण की कोणीय गति ज्ञात हो जाती है।

इस निर्देशदर्पण के सामने ही एक दूसरा दर्पण रहता है जिसका नीचे का आधा भाग पारदर्शी और ऊपर का परावर्तक होता है। जिन दो बिंदुओं के बीच कोण नापना होता है उनमें से एक को बक्स में लगी दूरबीन या बने छेद से क्षितिज दर्पण के पारदर्शी भाग से देखते हैं और दूसरे बिंदु का प्रतिबिंब निर्देशदर्पण से एक परावर्तन के बाद क्षितिज दर्पण में दिखाई देता है। इस समय पेंच से निर्देशदर्पण ऐसे घुमाते हैं कि क्षितिजदर्पण के पारदर्शी भाग से देखे बिंदु की किरण प्रतिबिंब की किरण पर सन्निपाती हो जाय। इस समय दोनों दर्पणों के बीच बना कोण प्रेक्षक की स्थिति पर दोनों बिंदुओं द्वारा निर्मित कोण का आधा होगा। दर्पणों के बीच का कोण वर्नियर सूचक के सामने अंकित चाप पर पढ़ा जा सकता है जिससे बिंदुओं के बीच का कोण ज्ञात हो सके। वर्नियरसूचक पर ही सही पाठ्यांक (reading) लेने के लिये एक आवर्धक लेंस लगा रहता है।

मगर चाप पर अंशांकन इस प्रकार किया जाता है कि बिंदुओं द्वारा निर्मित कोण सीधा पढ़ा जा सके। यहाँ सुविधा प्रदान करने के लिये निर्देशदर्पण की गति की दूनी राशियाँ लिखी जाती हैं। जैसे १०° के सामने २०°, २०° के सामने ४०°, इसी प्रकार अंतिम अंशांकन ६०° के सामने १२०° लिखते हैं। इससे पढ़ी गई राशि कोण की मात्रा होगी। कोण एक मिनट तक सही पढ़ सकते हैं।

नाविक सेक्सटैंट — यह धातु का ६०° का वृत्तखंड होता है जिसका चाप अंकित होता है। वक्र के केंद्र से एक भुजा चाप पर फैली होती है। इस भुजा के सिरे पर वर्नियर (क्लैंप) और एक स्पर्शी पेंच लगे रहते हैं। इसी भुजा पर ऊपर निर्देशदर्पण लगा रहता है। केंद्र पर भुजा घूम सकती है और उसके साथ निर्देशदर्पण और अंकित चाप पर वर्नियर भी। चाप को थामे एक अर्धव्यास पर निर्देशदर्पण के सामने आधा पारदर्शी और आधा परावर्तक क्षितिज काँच दृढ़ता से लगा होता है जिससे होकर देखने के लिये सामने दूरबीन होती है। स्पष्ट है कि इसकी बनावट बाक्स सेक्सटैंट के समान ही है और प्रेक्षण का ढंग भी। सूर्य के प्रेक्षण के लिये रंगीन काँच रहता है। ६०° के चाप पर अंश और उसके छोटे विभाजन यंत्र के आकार के अनुसार २०' या १०' तक बने होते हैं। वर्नियर से २०" या १०" तक पढ़ने की सुविधा रहती है।

सेक्सटैंट से ही पाठ्यांक प्राप्त करने के लिये निम्न ज्यामितीय संबंध होना चाहिए और न होने पर समायोजन करके ये संबंध स्थापित कर लिए जाते हैं :

(१) सूचकांक और क्षितिज काँच चाप के समतल पर लंब हों,

(२) जब वर्नियर सूचकांक शून्य पर हो तो निर्देशक और क्षितिजदर्पण समांतर हों, तथा

(३) दृष्टिरेखा चाप के समतल के समांतर हो।

[मु० ना० दू०]

सेगांतीनी, जिओवान्नी (१८५८—१८६६) इटालियन चित्र-कार। चार वर्ष की उम्र में ही माता की मृत्यु। पिता भी अबोध बालक जिओवान्नी को अपने किन्हीं संबंधियों के पास छोड़कर मिलान चला गया। उसका बचपन अधिकतर गरीब किसानों, गड़रियों और खेतिहर मजदूरों के साथ बीता। पर प्रकृति की खुली गोद में उन्मुक्त विचरण करने से उसका मन निस्सीम सौंदर्य से ओतप्रोत हो गया। एल्प्स उसके जीवन का सच्चा प्रेरणास्रोत बना। १८८३ में 'एव मेरिया' नामक उसके एक चित्र पर एमस्टरडम प्रदर्शनी में उसे एक स्वर्णपदक प्रदान किया गया। तत्पश्चात् पेरिस में 'ड्रिंकिंग ट्रफ' और ट्यूरिन में 'प्लोइंग इन द इंगडाइन' नामक चित्रकृतियों पर भी उसे स्वर्णपदक प्राप्त हुए। ऋतुपरिवर्तन और प्राकृतिक दृश्यों की सहज सुषमा के साथ साथ लगता है जैसे उसकी तूलिका की नोंक पर हर पर्वत पठार की पग-डंडी, खेत और खलिहान सजीव हो उठे हैं। हरी भरी धरती ने उसकी प्राणात्मा का स्पर्श किया है और धूपछाँही वातावरण ने जीवंत रंगों को अधिक व्यंजक बनाया है। प्रतीकात्मक विषयों, जैसे 'मध्याह्न की सजा' और 'अस्वाभाविक माताएँ' आदि के चित्रण में भी उसका अथक प्रयत्न प्रशंसनीय है। स्विटज़रलैंड के मालोजा नगर में उसकी मृत्यु हुई, जहाँ के कलासंग्रहालय में आज भी उसकी कुछ अधूरी कलाकृतियाँ मौजूद हैं। [श० रा० गु०]

सेनडाई स्थिति : ३८°२१′ उ० अ० एवं १४१° पू० दे०। जापान में उत्तरी हांशू द्वीप के मियागी परफेक्चर में ईशीनोमाकी खाड़ी के उत्तरी भाग में टोकियो के १६० मील उत्तर पूर्व स्थित प्रमुख औद्योगिक केंद्र है जहाँ रेशम एवं रेशमी वस्त्र, लाक्षारंजित पात्र, मिट्टी के बर्तन, सेक एवं शराब का निर्माण होता है। लकड़ी से संबंधित उद्योग धंधे भी होते हैं। सेनडाई शैक्षणिक केंद्र भी है जहाँ टोहोकू विश्वविद्यालय एवं 'इंडस्ट्रियल आर्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट' हैं। यह नगर १७ वीं शताब्दी के शक्तिशाली सामंत दाते मसामुने (Date Masamune) का गढ़ रहा है। सेनडाई का क्षेत्रफल २६ वर्ग मील है तथा इसकी जनसंख्या ४,२५,२५० (१९६०) है।

[रा० प्र० सिं०]

सेन (Seine) फ्रांस में एक नदी है जो लंग्रेस पठार से १५४५' की ऊँचाई से निकलकर साधारणतया उत्तर पश्चिम में बहती है। शैंपेन, बार-सुर-सेन और ट्रायज नगरों के बाद यह अधिक घुमावदार मार्ग से होकर बहती हुई इले डी फ्रांस (Ile de France), वेक्जिन एवं नारमंडी क्षेत्र के मेलन, कारबील, पेरिस, मैंटीज, वेरनान तथा रूपेन नगरों से होती हुई इंगलिश चैनेल की एक ६ मील चौड़ी ज्वारनदमुख (इस्चुयरी) में गिर जाती है। सेन नदी की कुल लंबाई ४८२ मील है। आबे, मार्ने, ओइसे, याने, लोइंग एवं यूरे इसकी सहायक नदियाँ हैं। संपूर्ण पेरिस बेसिन इसके प्रवाहक्षेत्र में आता है। यह फ्रांस की सबसे अधिक नाव्य नदी है। इसमें रूपेन तक बड़े बड़े जलयान आ जाते हैं। पेरिस, रूपेन एवं ली हार्वे नामक प्रसिद्ध नगर इसके किनारे स्थित हैं। इनके द्वारा ही फ्रांस के अधिकांश आंतरिक एवं विदेशी व्यापार का आदान प्रदान होता है। सेन नदी एक नहर प्रणाली द्वारा शेल्ड्ज, म्यूज, राइन, रोन एवं ल्वायर नदियों से मिली हुई है।

[रा० प्र० सिं०]

सेन राजवंश सेन एक राजवंश का नाम था, जिसने १२ वीं शताब्दी के मध्य से बंगाल पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस वंश के राजा, जो अपने को कर्णाट क्षत्रिय, ब्रह्म क्षत्रिय और क्षत्रिय मानते हैं, अपनी उत्पत्ति पौराणिक नायकों से मानते हैं, जो दक्षिणापथ या दक्षिण के शासक माने जाते हैं। ९ वीं, १० वीं और ११ वीं शताब्दी में मैसूर राज्य के धारवाड़ जिले में कुछ जैन उपदेशक रहते थे, जो सेन वंश से संबंधित थे। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि बंगाल के सेनों का इन जैन उपदेशकों के परिवार से कोई संबंध था। फिर भी इस बात पर विश्वास करने के लिये समुचित प्रमाण हैं कि बंगाल के सेनों का मूल वासस्थान दक्षिण था। देवपाल के समय से पाल सम्राटों ने विदेशी साहसी वीरों को अधिकारी पदों पर नियुक्त किया। उनमें से कुछ कर्णाट देश से संबंध रखते थे। कालांतर में ये अधिकारी, जो दक्षिण से आए थे, शासक बन गए और स्वयं को राजपुत्र कहने लगे। राजपुत्रों के इस परिवार में बंगाल के सेन राजवंश का प्रथम शासक सामंतसेन उत्पन्न हुआ था।

सामंतसेन ने दक्षिण के एक शासक, संभवत: द्रविड़ देश के राजेंद्रचोल, को परास्त कर अपनी प्रतिष्ठा में वृद्धि की। सामंतसेन का पौत्र विजयसेन ही अपने परिवार की प्रतिष्ठा को स्थापित करनेवाला था। उसने बंग के वर्मन शासन का अंत किया, विक्रमपुर में अपनी राजधानी स्थापित की, पालवंश के मदनपाल को अपदस्थ किया और गौड़ पर अधिकार कर लिया, नान्यदेव को हराकर मिथिला पर अधिकार किया, गहड़वालों के विरुद्ध गंगा के मार्ग से जलसेना द्वारा आक्रमण किया, आसाम पर आक्रमण किया, उड़ीसा पर धावा बोला और कलिंग के शासक अनंतवर्मन चोड़गंग के पुत्र राघव को परास्त किया। उसने वारेंद्री में एक प्रद्युम्नेश्वर शिव का मंदिर बनवाया। विजयसेन का पुत्र एवं उत्तराधिकारी वल्लाल सेन विद्वान् तथा समाजसुधारक था। वल्लालसेन के बेटे और उत्तराधिकारी लक्ष्मणसेन ने काशी के गहड़वाल और आसाम पर सफल आक्रमण किए, किंतु सन् १२०२ के लगभग इसे पश्चिम और उत्तर बंगाल मुहम्मद खलजी को समर्पित करने पड़े। कुछ वर्ष तक यह बंग में राज्य करता रहा। इसके उत्तराधिकारियों ने वहाँ १३ वीं शताब्दी के मध्य तक राज्य किया, तत्पश्चात् देववंश ने देश पर सार्वभौम अधिकार कर लिया। सेन सम्राट् विद्या के प्रतिपोषक थे।

सं० ग्रं०—आर० सी० मजुमदार : 'हिस्टरी ऑव बेंगॉल' (बंगाल का इतिहास)। [बी० चं० गां०]

सेना सेना संबंधी उपलब्ध प्राचीनतम अभिलेखों में, ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व, प्राचीन मिस्र देश में योद्धावर्ग के लोगों के उल्लेख प्राप्त हुए हैं। ये लोग पैदल या रथों पर चढ़कर लड़ते थे। धनुष, बाण, भाले आदि आयुधों का प्रयोग करते थे। तत्कालीन मिस्री न्यायविधि में, इन लोगों के प्रतिपालन की भी व्यवस्था थी। प्राचीन असीरिया और बेबीलोन नामक देशों में भी इसी प्रकार की सेनाएँ थीं, परंतु इन सेनाओं में अश्वारोही भी संमिलित थे जिनके कारण ये सेनाएँ मिस्र सेना की अपेक्षा अधिक सुचल और गतिमान थीं। प्राचीन फारस देश की सेना का संगठन अस्थिरवासी जंगली जातियों को सुगठित कर किया गया था। इसमें मुख्यत: अश्वारोही ही होते थे। अतएव अधिक सुचलता के कारण यह सेना सुविस्तृत क्षेत्र में युद्ध करने में भी सफल सिद्ध होती थी। फारस साम्राज्य की एक विशाल स्थायी सेना थी जो साम्राज्य के अधीन दूरस्थ सभी प्रांतों और राज्यों की सुरक्षा के लिये समर्थ थी। इसी सेना में दुर्गरक्षक तथा नगररक्षक सैनिकों की गढ़सेना (garrison troops) भी थी।

यूनानी सेनाएँ — यूनानी नगरराज्यों में प्रत्येक देशवासी के लिये लगभग दो वर्ष पर्यंत सैनिक सेवा अनिवार्य थी। यूनानवासियों के उत्कट देशप्रेम तथा उनकी असाधारण व्यायाम अभिरुचि के कारण यूनानी सेनाएँ भी अत्यंत सुदृढ़ एवं मल्लप्रयोग में सुदक्ष होती थीं, और घोर युद्ध में भी पंक्तिबद्ध कवायद करते हुए आगे बढ़ती थीं। यूनानी सैनिक प्राय: नगर तथा पर्वत के वासी थे, जो अश्वों का प्रयोग न कर, पैदल ही युद्ध करते थे। सामरिक व्यूहरचना फ्लैनेक्स रूप में होती थी। फ्लैनेक्स में घनाकार वर्ग में स्थित भालाधारी सैनिक होते थे। फ्लैनेक्स सेना प्रत्येक प्रहार को रोकने में सर्वथा समर्थ थी और समतल भूमि पर अप्रतिहत आगे बढ़ सकती थी। परंतु इस सेना में जहाँ एक ओर सुचलता का अभाव था वहाँ दूसरी ओर यह असम भूमि पर सैनिक कार्यवाही में भी असमर्थ थी। कुछ समय

पश्चात् पैलीपोनेसिया और सिरैक्यूज के लंबे युद्धों के कारण यूनान में वृत्तिक सेनाओं की भी नियुक्ति करनी पड़ी। ये सेनाएँ अधिक विपुल रूप से लड़ सकती थीं तथा फ्लैंक्स सेना के १८ फुट लंबे सरीसा नामक भालों के स्थान पर लघु क्षेपणास्त्रों (light missiles) का प्रयोग करती थीं। इफिक्रेट के इन पैलटास सैनिकों ने, ईसवी पूर्व सन् ३९१ में स्पार्टा नगर राज्य के सैनिकों (होपलिट) की एक कोर पर विजय प्राप्त कर समस्त यूनान में खलबली मचा दी थी। इतिहासविदित सेनानायक इपैमिनोंडस ने होपलिट सैनिकों की स्थिरता और पैलटास सैनिकों की सुचलता के मिश्रित बल बूते पर ही अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की। मिश्रित सेना की यह विधि सिकंदर की सर्वविजयिनी सेना में, जिसमें हल्की और भारी अश्वसेना भी संमिलित थी, और विकसित हुई। सिकंदरी सेना में, यूनानी फ्लैंक्स स्थित होपलिट सेना सरीसा से सुसज्जित हो, सेना के मध्य-भाग में स्थित होती थी। उसके चारों ओर पैलटास सैनिक अथवा धनुर्धारी अश्वसेना तैनात की जाती थी। मैसीडोन-गार्ड-सैनिक भारी अश्वसेना (heavy cavalry) का कार्य करते थे। वृत्तिक सैनिक बल्लम आदि हथियारों से सुसज्जित हो पार्श्व भाग में स्थित होकर हल्के रिसाले (light cavalry) के रूप में युद्ध करते थे। भारी रिसाले का प्रयोग शत्रु की क्लांत परंतु युद्ध में डटी सेनाओं को अंतिम आघात पहुँचाने के उद्देश्य से किया जाता था। हल्के रिसाले का उपयोग पराजित सेना का पीछा करने तथा उसमें भगदड़ मचाने के निमित्त किया जाता था।

मौर्यकालीन भारतीय सेना — वैदिक काल में भारतीय सेना में पत्ती और रथ दो ही अंग थे। उत्तरवैदिक काल में अश्वसेना और हस्तिसेना का भी प्रयोग किया जाने लगा। जातक ग्रंथों में चतुरंग-बल अथवा चतुरंग चमू का अनेक स्थलों पर वर्णन पाया जाता है।

चंद्रगुप्त की राज्यसभा में स्थित यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के वर्णनानुसार मौर्य सेना में छह लाख पदाति, तीस हजार अश्वारोही तथा नौ हजार हाथी थे। युद्धभूमि में सम्राट् स्वयं सेना का नेतृत्व करते थे। चंद्रगुप्त मौर्य की सेना में सम्राट् की मौल सेना, मित्रसेना और वृत्तिक सेना के सिपाही होते थे। श्रेणी सेनाओं (guilds) तथा जंगली जातियों द्वारा निर्मित सेनाओं का सहायक सेना तथा अनियमित सेना (irregular force) के रूप में प्रयोग किया जाता था। ये सेनाएँ, सैनिक दृष्टि से, केवल प्रतिरक्षा के लिये उपयोगी थीं। गज, अश्व और पदाति ही सेना के प्रधान अंग थे, यद्यपि रथों और समर इंजनों का भी प्रयोग किया जाता था। सैन्यविद्या विशेष उन्नत थी। समूची सेना अग्रदल (vanguard), पृष्ठदल (rearguard), पार्श्व-रक्षीदल (flankguard) और रिजर्व सेना (reserve force) आदि आदि भागों में विभक्त थी। प्रत्येक दल के सुनिश्चित कार्य थे। दुर्गनिर्माण और दुर्गसंक्रमण मौर्यकालीन समुन्नत भारतीय कलाएँ थीं। इस काल में भी भारत देश युद्ध संबंधी नियमों में समकालीन संसार में अतुल्य था। अन्य व्यक्ति के साथ युद्धरत शत्रु के विरुद्ध आक्रमण, घायल सैनिक की हत्या, निहत्थों पर वार और आत्मसमर्पित शत्रु पर आक्रमण आदि आदि अन्यायपूर्ण व्यवहार सर्वथा वर्जित थे। भारतीय सेना द्वारा प्रतिपालित, न्याययुद्ध के इन नियमों के कारण, सैन्य संस्कृति के विकास में, भारतीय सेनाओं का विशिष्ट स्थान है।

हनीबाल की सेना — एक अन्य सुप्रसिद्ध प्राचीन सेना कार्थेज देश की थी। हनीबाल के नेतृत्व में, इस सेना की वीर गाथाओं से आज भी विश्व चकित हो उठता है। यूनान और रोम की प्राचीन सेनाओं से सर्वथा भिन्न. इस सेना में स्वदेशाभिमान के स्थान पर संघभाव (espirit de corps) कूट कूटकर भरा गया था। फ्लैनेक्स के स्थान पर पदाति सेना पंक्तिबद्ध विशाल गण (battalion) बनाकर लड़ती थी, जो फ्लैनेक्स के ही समान दुर्भेद्य होने के अतिरिक्त चारों ओर घूम फिरकर भी सैनिक कार्यवाही कर सकती थी। इसमें हल्की और भारी दोनों प्रकार की अश्वसेना भी थी। हनीबाल की सेना में कुछ भाग गजसेना का भी था जिसने फ्रांस और इटली के मध्य बर्फीले ऐल्प्स पर्वतों को लाँघकर सबको आश्चर्यचकित कर दिया। परतु अन्य वृत्तिक सेनाओं की भाँति यह सेना भी दीर्घकालीन युद्धों के लिये अनुपयुक्त थी। युद्धजनित जनक्षति की पूर्ति के लिये इसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और अततोगत्वा, हनीबाल की अलौकिक क्षमता के बावजूद इसे रोम गणराज्य की सेना के आगे सिर झुकाना पड़ा।

रोम गणराज्य की सेनाएँ — रोम गणराज्य की सेना में केवल धनीमानी रोम नागरिक ही होते थे, जो अवैतनिक कार्य तो करते ही थे, साथ ही कवच आदि भी सुलभ करते थे। अधिक धनी लोग अश्वारूढ़ हो सेना में संमिलित होते थे। पदाति सेना में मध्यवर्गीय नागरिक ही होते थे। निर्धन जनता साधारण अस्त्रों से युक्त हो हल्की सेना का कार्य करती अथवा सैनिक सेवा से बिल्कुल पृथक् रहती। रोम-सैनिक-दल, लीजन, में छह हजार व्यक्ति होते थे जो तीस मैनिपल्स में बँटे होते थे। इस प्रकार एक मैनिपल में दो सौ सैनिक होते थे। इनके अतिरिक्त तीन सौ अश्वारोही और बारह सौ साधारण पदाति सेना के विलाइट्स सैनिक भी होते थे। तलवार तथा लघुक्षेपण (light throwing) भाले इस सेना के प्रधान अस्त्र थे। यदि रोम के स्वाभिमानी सैनिक इतने घोर कट्टर न होते और रोम मैनिपल्स में सैनिक चाल की सुगमता न होती तो रोम सेनाएँ, अपने इन हल्के हथियारों से, अपेक्षाकृत विवृत्त समर में, फ्लैनेक्स के बहुसंख्यक आक्रमणों का कदापि सामना नहीं कर सकती थीं। परंतु पैतृक नेतृत्व का अभाव रोम सेना की महानतम दुर्बलता थी। एक कौंसल (सेनानायक) दो द्विगुण लीजनों का नेतृत्व करता था। रोम नागरिक, जो स्वयं भी योद्धा थे, कौंसल का निर्वाचन करते। जब अनेक लीजन समवेत हो युद्ध करते, जैसा 'कैनी' के युद्ध में हुआ, तब प्रत्येक कौंसल क्रमशः एक एक दिन संयुक्त सेना का नेतृत्व करता और इस भाँति कोई एकाकी सक्रिय योजना (single plan of operation) वस्तुतः असंभव थी।

रोम साम्राज्य की सेना — धन वैभव की अभिवृद्धि के परिणामस्वरूप रोम संस्कृति में दुर्बलता के कीटाणु भी प्रवेश करने लगे और शनैः शनैः उच्चवर्गीय धनी रोम नागरिकों ने सैनिक सेवा से संन्यास ग्रहण करना प्रारंभ कर दिया। जब मैरियस ने सैनिक-सेवा-नियमों

में धन संपत्ति की अनिवार्यता को हटा दिया तब रोम सेना में मुख्यत: निम्नवर्गीय निर्धन रोम नागरिक तथा विदेशी ही रह गए। यद्यपि लीजन और मैनिपल्स अपने संशोधित रूप में अब भी विद्यमान थे तथापि परिवर्तित रोमभावना रोम सेना में स्पष्ट प्रतिबिंबित हो रही थी। इस सेना में केवल संघभाव ही रह गया था अन्यथा स्वदेशाभिमान का सर्वथा अभाव था। प्रत्येक लीजन का संख्यांकन कर उसका एक स्थायी अस्तित्व स्थापित कर दिया गया। सैनिकों को अब अपने अपने लीजन का गर्व था। सैनिक, इस विशाल साम्राज्य की दूरस्थ सीमाओं पर चिरकाल तक अपनी कर्तव्यपरायणता से गर्वित हो, अपना अस्तित्व भी सामान्य नागरिकों से पृथक् ही समझने लग गए थे। इन भावनाओं तथा सेना की व्यावसायिक वृत्ति के फलस्वरूप प्रेटोरियन गार्ड के प्रख्यात सैनिकों का उदय हुआ जो सत्ता और वेतन के लिये षड्यंत्र रचने लगे तथा सम्राटों की हत्या तक कर डाली। इन परिस्थितियों का अवश्यंभावी परिणाम यह हुआ कि उत्तर दिशा से उग्र असभ्य जातियों का प्रभाव बढ़ने लगा, ऐड्रियानोपल की पराजय (३७८ ई०) हुई और रोम सेना की प्राचीन कीर्ति, विदेशी बाहुल्य के कारण, व्यंगचित्र मात्र रह गई। रोम परंपरा अब बिजेंटाइन (Byzantine) राज्य ही में जीवित रह गई थी।

बिजेंटा की सेना — प्रारंभ में पूर्वी साम्राज्य की, अस्थिरवासी जातियों के आक्रमण से, गोथ देश के धनुर्धारी अश्वारोहियों तथा विदेशी फियोडेराटी सैनिकों की सहायता से, सुरक्षा की गई। परंतु सम्राट् जस्टिनियन के पश्चात् फियोडेराटी का लोप हो गया और छह सौ ईसवी के आस पास एक सजातीय (homogeneous) तथा सुसंयोजित सेना का प्रादुर्भाव हुआ। आरंभ में सीमाप्रांतों ने सेना प्रदान की तथा राज्य के मध्य भाग में स्थित नागरिकों ने सैनिक सेवा के बदले में सैनिक कर (Scutage) देना स्वीकार किया। कालांतर में प्रादेशिक (territorial) सेनापद्धति का भी नियमन किया गया। समस्त राज्य सैनिक प्रदेशों तथा थेंस में विभक्त था। प्रत्येक सैनिक प्रदेश को निजी प्रादेशिक सेना के लिये सैनिक स्वयं सुलभ करने पड़ते थे तथा पाँच हजार प्रशिक्षित सैनिक सामान्य सेना के लिये सदा तत्पर रखने पड़ते थे। प्रत्येक थेंस को निजी इंजीनियर, संभरण, और चिकित्स्य कोर का भी प्रबंध करना पड़ता था। बेली सेरयस सरीखे नायकों के प्रयत्न से वैज्ञानिक आधार पर प्रशिक्षित सेना की भी उत्पत्ति हुई। अनेक शताब्दियों तक बिजेंटा की सेना अविकल बनी रही, परंतु कालचक्र में फँसकर इसका भी अंत हो गया। अन्य देशों की भाँति यहाँ भी, सर्वप्रथम तो वृत्तिपरक सैनिक वर्ग, जो पारस्परिक भी था, उभड़ पड़ा, और पीछे से मैनजिकर्ट की पराजय के कारण सेना में विदेशी बाहुल्य और बढ़ जाने के कारण, अति संघातक प्रायटोरियन (Praetorian) भावनाओं का उदय होने लगा। इन कारणों से सन् १२०४ ईसवी में बिजेंटा की सेनाओं ने शत्रु की उपस्थिति में ही विद्रोह कर दिया। राज्य द्वारा इन विद्रोहों का अवरोध सन् १४५३ तक निरंतर चलता रहा। अंत में कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार हो जाने पर बिजेंटा साम्राज्य विलुप्त हो गया।

मंगोल सेना — मंगोल सेना मध्ययुग की सर्वाधिक शक्तिशाली सेना थी, जिसने १३ वीं शताब्दी में प्रशांत महासागर से लेकर एड्रियाटिक सागर पर्यंत विशाल क्षेत्र पर विजय प्राप्त की। इस सेना का सर्जन इतिहासविदित महान् विजेता चंगेज खाँ के हाथों हुआ। कठोर और परिश्रमी अस्थिरवासी जातियों पर आधारित संपूर्ण मंगोल सेना में प्राय: हलकी अश्व सेना ही के सिपाही थे। अतएव इस सेना में युद्धनीतिक सुचलता (Strategic mobility) का अद्वितीय गुण विद्यमान था। सैनिक सेवा के अतिरिक्त आपत्काल में घोड़े भक्ष्य पदार्थों का भी कार्य देते थे। मंगोल सैनिकों की संख्या दो लाख से भी अधिक थी। ये सैनिक भूमि की उपज पर ही निर्वाह करते तथा संभरण साधनों से अपनी गतिविधि को अवरुद्ध नहीं होने देते थे। धनुष और बाण इन्हें अति प्रिय थे। हस्ताहस्ति युद्ध (Close fighting) के अवसर पर लघु कवच तथा भाला का प्रयोग करते। दुर्ग की दीवारों को भेदन के उद्देश्य से बैलिस्टा तथा अन्य पर्यवरोध यन्त्रों (Siege engines) का प्रयोग करते। अपनी विशेष सुचलता तथा अश्वसेना द्वारा अन्वालोपी प्रहार (Enveloping charge) के समरतंत्रों (tactics) का विकास किया। किसी चौड़े मोर्चे की ओर अग्रसर होने के लिये कई 'कोर' परस्पर असंबद्ध होकर चलती थी; द्रुतगामी संदेशवाहकों द्वारा इनमें परस्पर संपर्क स्थापित किया जाता था; तत्पश्चात् युद्ध समय में सकल सेना सहसा केंद्रित हो जाती थी। किसी दुर्गविशेष पर अधिकार करने के लिये सेना का कुछ भाग घेरा डालने के लिये पीछे रह जाता था, शेष सेना शीघ्रता से आगे बढ़ती रहती, और इस भाँति घिरी गढ़सेना को बाह्य सहायता की आशा नष्ट हो जाती थी।

यूरोप की सामंतीय सेनाएँ — अंधकार युग में जहाँ अन्य राजनीतिक क्षेत्रों में धुंध छा गया था वहाँ सेनासंस्थान का भी ह्रास हुआ। लोंबर्ड, विसिगोथ, फ्रांस और इंग्लैंड की सभी शक्तिशाली सेनाएँ प्राचीन अस्थिरवासी जातियों पर आधारित थीं। शार्लमैगने (Charlemagne) द्वारा सामंतीय सेनाओं का समारंभ होने पर भी, धन और शक्ति सम्राट् और सामंतों में वितरित होने के कारण एक विशाल तथा केंद्रशासित सेना की स्थिति सर्वथा असंभव हो गई थी। सामंतीय सेनाएँ रणप्रशिक्षण से अनभिज्ञ थीं। साथ ही उनकी सेनाएँ वर्ष भर में केवल एक मास से तीन मास पर्यंत ही सुलभ हो सकती थीं। एक कवचधारी राजरणक (knight) सामंतीय सेनाओं के हथियारों द्वारा सर्वथा अभेद्य था। अतएव बहुसंख्यक सेनाओं के स्थान पर, जो रणक्षेत्र में प्राय: निष्प्रभ सिद्ध होती थी, राजरणक शूरवीरों की संख्या तथा विशिष्टता पर अधिक बल दिया जाने लगा। सामंतीय सेनाओं की इन परिमितताओं के कारण एक नई सेना के सर्जन की आवश्यकता हुई। इस नवीन सेना में बल्लम तथा धनुष-बाण-धारी (pikemen and crossbowmen) वृत्तिक सैनिकों की बहुसंख्या में नियुक्ति की गई। यह क्रम उस समय तक चलता रहा जब तक अंग्रेजी सेना के लंबे धनुष, स्विस सेना के हल्बर्ड {'हल्बर्ड' बल्लम तथा परशु (battleaxe) को मिलाकर बनाया जाता था। इसमें एक अंकुशाकार काँटा भी लगा होता था, जिसमें राजरणक को फँसाकर घोड़े से नीचे खींच लिया जाता था} नामक अस्त्रों से सामंतीय सेनाओं का प्रभुत्व सर्वथा नष्ट नहीं हो गया। इसी समय बारूद के प्रयोग तथा व्यापारी वर्ग के अभ्युत्थान ने भी भूपालों की शक्ति बढ़ाने में और योग दिया। सम्राटों ने इतनी

के कांडेटेरी आदि अति निपुण भृत्य सैनिकों को अपनी अपनी सेनाओं में नियुक्त कर लिया। ये सेनाएँ स्वभावतः जनसंहार से बची रहतीं, जिसके कारण युद्ध प्रायः और भी रक्तपातहीन निष्परिणाम युद्धाभिनयन (monouvres) तक ही सीमित थे।

भारत में मुगल सेना — भारतीय मुगल सेना १६वीं-१७वीं शताब्दी में संसार की सर्वश्रेष्ठ सेनाओं में से थी। वंशानुगत हिंदू और मुसलमान योद्धाओं की एक सेना ने शक्तिशाली मुगल साम्राज्य की स्थापना कर दो सौ वर्षों तक इसकी सुरक्षा की। अश्वसेना इसका उत्तम अंग थी जो युद्धनिर्णायक घड़ियों में समरविजय के उद्देश्य से प्रचंड पार्श्वपक्षीय आक्रमण के लिये चढ़ जाती थी। मुगल लोग तोप ढालने की कला में अति प्रवीण थे। संग्रामस्थल में तोपें युद्धरेखा के मध्य स्थित कर दी जाती थीं। इन्हें शत्रु से सुरक्षित रखने के लिये तोपों के आगे शृंखलाबद्ध गाड़ियाँ खड़ी कर दी जाती थीं। परंतु तोपखाना युद्धभूमि में स्थिर रहकर ही संकार्य कर सकता था और सेना को भी कवायद आदि का कोई अभ्यास नहीं था। आंशिक सेना बादशाह की निजी होती थी, जिसको शाही खजाने से वेतन दिया जाता था, शेष सेना मनसबदार सामंतों और प्रादेशिक शासनाध्यक्षों की ही होती थी। सैन्य संभरण का प्रबंध भी अलौकिक ही था क्योंकि प्रत्येक शिविर में नागरिक सुविधाओं का पूरा बाजार लगता था। धान्यव्यापारी, पशुनिए, जौहरी, शस्त्रकार, पंडित, मौलवी और वेश्या आदि ये सभी सैनिक शिविर का अनुगमन करते और इस प्रकार शिविर स्वतः एक चलता फिरता नगर प्रतीत होता। यह निस्संदेह एक बड़ी रुकावट थी, जिसके कारण ही उत्तरकालीन मुगल सेनाएँ, चपल मराठों और ईस्ट इंडिया कंपनी के सुप्रशिक्षित ब्रिटिश सिपाहियों के मुकाबले अति मंद गति के कारण अनुपयोगी सिद्ध हुईं।

१८वीं शताब्दी में सेना — नैपोलियन से पूर्व यूरोप में सामान्यतः छोटी तथा स्थायी सेनाएँ होती थीं। राजा स्वयं सेना को वेतन देते तथा अन्य आवश्यकताओं की भी पूर्ति करते थे। सर्वसत्ताधारी शासक के लिये शत्रुदमन के निमित्त एक आज्ञापालक सेना नितांत आवश्यक थी। सर्वसाधारण लोग राजकार्यों से प्रायः पृथक् रहते, अतएव सैनाकार्यों में भी उनका कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। यह प्रथा जनता की अभिरुचि के अनुकूल भी थी क्योंकि सर्वसाधारण के हृदयों में तीसवर्षीय लंबे युद्ध के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न हो गई थी। अतएव तत्कालीन यूरोप के एक आदर्श राज्य फ्रांस ने अपनी स्थायी वृत्तिक सेनाओं के लिये पृथक् पृथक् छावनियाँ बनवाईं जहाँ सैनिकों और नागरिकों के मध्य संबंध स्थापित नहीं किए जा सकते थे। सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कोष्ठागार भी स्थापित किए गए।

सैनिकों को कवायद का खूब अभ्यास था। वे सैनिक अधिनायक के प्रत्यक्ष नेतृत्व में युद्ध करते थे। अश्वसेना रेजिमेंट तथा स्क्वाड्रन (Squadrons) में संयोजित थी। अश्व सैनिक तलवार और पिस्तौल से सुसज्जित होते थे। पदाति सैनिक तीन गंभीर पंक्तियों में खड़े किए जाते थे, जो मसृणछिद्र नालिकाओं (Smoothbore muskets) तथा संगीन (Bayonets) का प्रयोग करते। साधारण स्थापन (normal establishment) से भिन्न तोपखाना अभी भी सेना का विशेष अंग था। व्यूहरचना रेखापंक्ति (linear order) में की जाती थी, जिसमें पदाति सेना मध्यभाग में, अश्वसेना पार्श्वभाग तथा अग्रभाग में स्थित होती थी। व्यूहरचना में सेना वाम एवं दक्षिण पक्ष में विभक्त की जाती थी। प्रत्येक पक्ष में पदाति तथा अश्वारोही सैनिक होते थे। पक्षनायक (wing commander) पक्ष का नेतृत्व करता था। गण (Battalion) तथा रेजिमेंट ही सेना के प्रधानतम भाग थे, ब्रिगेड (Brigade) अथवा डिवीजन (Division) में सेना उपविभाजित नहीं थी। प्रत्याघृत सेना की भी कोई विधि नहीं थी। इस कारण आवश्यकता के समय नायकों को विशेष पुनर्बलन (heavy reinforcement) की कोई आशा नहीं होती थी। केवल एक प्रधान पराजय ही समस्त युद्धपराजय के लिये पर्याप्त थी। इस भय से घमासान युद्ध (pitched battle) तथा भीषण जनसंहार का परिहार किया जाता था। सेनाधिनायक भी प्रायः अभिजातीय सामंतगण (nobles) ही होते थे, जिनमें परस्पर बंधुत्व की भावना होती थी। इस कारण से भी युद्धीय भीषणता न्यूनतर हो गई थी। भूपाल भी युद्ध को अपने राजकीय हितों की सुरक्षा के लिये कौशलक्रीड़ा मात्र ही समझते थे, जिस कारण युद्ध में कतिपय व्यक्ति ही घायल होते, परंतु यूरोप में शक्तिसंतुलन के विनाश अथवा किसी भी राष्ट्रसत्ता के लोप हो जाने का लेशमात्र भी भय नहीं था। सिपाही राजा के प्रिय खिलौनों के समान थे, जिनका रक्तरंजित युद्ध में विनाश महान् क्षति समझा जाता था। इन परिस्थितियों में चार युद्ध के अभाव से युद्ध का अर्थ केवल सेना मार्च अथवा प्रतिमार्च (counter march) कोष्ठागारों तथा दुर्गों का अपहरण अथवा निवारण ही समझा जाता था। योधननीति केवल योधनकोण (war angles) तथा आधाररेखा (base line) का विषय बन गई थी।

प्रशा के फैड्रिक महान् तथा अमरीका उपनिवेशों के आवेशपूर्ण युद्धों में भावी युद्धों के चिह्न भी दृष्टिगोचर होने लगे थे। फैड्रिक ने अश्व तोपखाना (horse artillery) का प्रयोग किया जो शीघ्र ही कार्यान्वित की जा सकती थी। अटलांटिक के पार और भी क्रांतिकारी आविष्कार हो रहे थे। अमरीका अधिवासियों (settlers) में यद्यपि, कवायद तथा भड़कीली पोशाकों की कमी थी तथापि वे अनुभवी प्रणालिकाधारी थे, तथा राष्ट्रीय उत्साह के साथ युद्ध करते थे। काष्ठखंडों, वृक्षों तथा खाइयों के पीछे से विकृत रूप से लड़ते थे तथा अपनी प्रणालिकाओं द्वारा ठसाठस जनसमूह में फँसती हुई ब्रिटिश सैनिकों की मालाबद्ध पंक्तियों का सिर कुचल डालते थे। तोपखाना शक्ति के इस बढ़ते हुए प्रभाव और युद्ध की बढ़ती हुई क्रूरता को यूरोप की सेनाओं और भूपालों ने सदा ही अवहेलना की। परंतु नैपोलियन के अभ्युदय के साथ साथ एक नई सेना का भी अभ्युदय हुआ जिसने समस्त संसार पर अपनी अमिट छाप छोड़ दी।

१९वीं शताब्दी की सेनाएँ — फ्रांस की महान् क्रांति ने १८वीं शताब्दी की सेनाओं से मूलतः भिन्न एक नई सेना का सृजन किया। तीन लाख विदेशी सैनिकों से आक्रांत फ्रांस ने अनिवार्य

सैनिक भर्ती (conscription) का आश्रय लिया और कुछ ही महीनों में दस लाख से भी अधिक सैनिकों की एक महान् सेना खड़ी कर दी। कवायद आदि से अनभिज्ञ, ये सैनिक देशप्रेम से ओतप्रोत हो, रसद एवं रणसामग्री की असुविधा तथा नायकों के सूक्ष्म निरीक्षण के अभाव में भी विद्युत रूप से शत्रु से डटकर लड़ते थे। यह नई सेना निस्संदेह एक शस्त्र-हस्त-राष्ट्र (nation-in-arms) थी। फ्रांस की क्रांतिकारी सेनाएँ १२० पद प्रति क्षण की अपूर्व गति से प्रयाण कर सकतीं, ग्रामों और किसानों से रसद प्राप्त करतीं तथा असम भूमि पर सहर्ष आगे बढ़तीं। तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ वृत्तिक सेनाओं का फ्रांसीसी सेनाओं ने तख्ता पलट दिखाया। फ्रांसीसी सेनाओं के बहुसंख्यक होने के कारण कोर (corps) और डिविजन स्वतःपूर्ण सैनिक विभाग करने पड़े। प्रत्येक डिविजन में तोपखानों और इंजिनियरों (engineers) के निजी दल भी होते थे।

अनंत युद्धों तथा भारी जनसंहारजन्य अवश्यंभावी नैतिक ह्रास के अतिरिक्त नैपोलियन की सेना में एक महाघातक त्रुटि भी थी। सुविशाल क्षेत्र पर विस्तृत असंख्य डिवीजनों की गति को समन्वित (coordinate) करने के लिये सुप्रशिक्षित सर्वबलाधिकरण अधिकारियों का (जो पीछे से General Staff Officers कहलाने लगे) होना नितांत आवश्यक था। परंतु नैपोलियन ने इस ओर कभी ध्यान नहीं दिया। वह स्वयं तो अपनी बहुमुखी अलौकिक क्षमता के सहारे विशाल सेना का कुशलतापूर्वक संचालन कर सकता था, परंतु उसके सुविख्यात मार्शल (महाधिपति, Marshals) अनेक युद्धनिर्णायक अवसरों पर असफल रहे। इन महाधिपतियों के सहायतार्थ सर्वबलाधिकरण अधिकारियों का भी अभाव था तथा उनमें नैपोलियन सदृश अलौकिक प्रतिभा तथा कार्यक्षमता भी नहीं थी।

सर्वबलाधिकरण अधिकारी का उदय — नैपोलियन के पश्चात् अधिकतर राज्यों ने पुन: वृत्तिक सेनाओं की रीति अपनाई। ब्रिटेन ने अपने साम्राज्य का और अधिक विस्तार करने के उद्देश्य से एक छोटी ब्रिटिश सेना तथा बड़ी बड़ी औपनिवेशिक सेनाओं का सहारा लिया। यूरोप पर अपना प्रभाव ब्रिटेन ने अपनी महाशक्तिशाली नौसेना पर ही आधारित रखा। फ्रांस में अनिवार्य भर्ती नाममात्र ही को शेष रह गई थी। वास्तव में नागरिकों को अनिवार्य सैन्य सेवा से मुक्ति दे रिक्त स्थानों की वृत्तिक सेनाओं द्वारा पूर्ति करने की आज्ञा दे दी गई थी। इसी आधार पर संयोजित आस्ट्रिया की सेना १८ वीं सदी के मध्य में यूरोप भर में सर्वश्रेष्ठ सेना थी। परंतु प्रशा ने शनै: शनै: एक नई शैली का विकास किया। जेना के पराजय के उपरांत प्रशा की सैनिक संख्या पर कठोर प्रतिबंध लगा दिए गए थे, अतएव प्रशावासियों ने 'क्रंपट' विधि का सहारा लिया। अखिल देशव्यापी आधार पर 'क्रंपट' विधि के अनुसार सैनिकों को अल्पकालिक गहन प्रशिक्षण दिया जाता था। स्थायी सेना के साथ कुछ समय सैनिक कार्य करने के पश्चात् इन प्रशिक्षितों को प्रत्यावृत बना दिया जाता और अन्य सैनिकों के प्रशिक्षण का कार्य आरंभ कर दिया जाता था। इस भाँति स्थायी सेना छोटी होते हुए भी एक बहुसंख्यक प्रशिक्षित रिजर्व सेना तैयार हो गई।

प्रशा ने विशेष प्रशिक्षित सेनाधिनायकों के सृजन में भी प्रगति की। ये सेनाधिनायक नवीन युद्धकला के प्रवर्तक बने। ये सेनाओं के अत्यंत: जटिल गमनागमन की और सैनिक सामग्री और रसद वितरण की अनुसूची तैयार करते तथा प्रमुख युद्ध सैनिक निर्णयों (major strategical decisions) की विस्तृत योजना बनाते थे। एकल संक्रियासिद्धांत (single operational doctrine) से अभिमत, विशेषबलाधिकरण अधिकारी विचार विनिमय के बिना भी एक समान कार्य करते। इस प्रकार विशाल सेनाओं को सेनापति के एक सामान्य आदेश पर पूर्ण निपुणतापूर्वक एवं सुनिश्चित प्रकार से क्रियान्वित किया जा सकता था। ज्यों ज्यों युद्ध अधिकाधिक जटिल और विशालकाय होते गए त्यों त्यों सर्वबलाधिकरण अधिकारियों का महत्व भी बढ़ता गया। इस पद्धति का प्राय: प्रत्येक सेना में समारंभ किया गया। सर्वबलाधिकरण अधिकारियों के लिये असाधारण योग्यता की सर्वाधिक आवश्यकता थी। सन् १९१४ के प्रथम विश्वयुद्ध में फ्रांस और रूस दोनों देशों के एक एक हजार सर्वबलाधिकरण अधिकारियों के मुकाबले जर्मनी के केवल दो सौ पचास सर्वबलाधिकरण अधिकारी कहीं बढ़ चढ़कर सिद्ध हुए।

१९वीं शताब्दी का अंत — १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रशा और फ्रांस और अमरीका में दो गृहयुद्ध हुए। सेना संघटन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। अमरीका गृहयुद्धों की यूरोप के शक्तिशाली देशों ने केवल एक असभ्य भिड़ंत समझकर अवहेलना की, दूसरी ओर फ्रांस और जर्मनी के मध्य हुए युद्ध की ओर विशेष ध्यान दिया गया। जर्मनी की नवीन सेनाओं के हाथों फ्रांस की वृत्तिक सेनाओं के पराजित हो जाने पर जर्मन सेनाओं के अनुकरण की दिशा में भी एक उत्साहपूर्ण प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई।

नई प्रणाली के अनुसार अनिवार्य सैनिक सेवा अखिल देशव्यापी दायित्व घोषित की गई। किसी भी व्यक्ति को (स्वास्थिक अयोग्यता के अतिरिक्त) इससे छूट नहीं थी, न स्थानापन्नता का प्रश्न उठता था। यदि किसी वर्ष अनिवार्य सैन्यभर्ती आवश्यकता से अधिक हो जाती तो अधिक सेना रिजर्व दल में भेज दी जाती और शेष समुदाय सामान्यत: तीन वर्ष की अल्पावधि तक सेना में कार्य करने के पश्चात् लगभग छह वर्ष के लिये क्रियाशील रिजर्व में भेज दिया जाता, तत्पश्चात् इसे गढ़सेना अथवा द्वितीय श्रेणी की रिजर्व सेना में रहकर लगभग पाँच छह वर्ष पर्यंत कार्य करना पड़ता। इन रिजर्व सेनाओं में कार्य करने के बाद इन व्यक्तियों को लैंडस्टूम नामक गृहरक्षी दल (home guard force) में भेज दिया जाता। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को बीस वर्ष की आयु से पैंतालीस वर्ष की आयु तक अनिवार्य रूप से सैनिक कार्य करना पड़ता। इस भाँति असंख्य सैनिक समुदाय तथा इसे शत्रु मोर्चों पर पहुँचाने के लिये रेलगाड़ियों के प्राप्य हो जाने पर इन सैनिकों को लामबंदी (mobilise) कर युद्धभूमि की ओर भेजना प्राथमिक महत्ता का कार्य हो गया। उच्च प्रशिक्षित सर्वबलाधिकरण अधिकारी लामबंदी (mobilisation) की विस्तृत योजना बनाते, क्योंकि शत्रुसीमा पर सेना पहुँचने में एक दिन का विलंब भी महाविनाश का हेतु बन सकता था। अतएव लामबंदी योजना को क्रियान्वित करने के बाद कोई भी बाधा सह्य नहीं

थी। इसका तथ्य जुलाई, १९१४ ई० में प्रमाणित हो गया जब युद्धग्रस्त कोई भी देश कूटनीतिक वार्ता के उद्देश्य से सैनिक धावन को रोकने का साहस नहीं कर सका। वास्तव में लामबंदी का आदेश ही युद्धारंभ की घोषणा था।

दीर्घानुभवी, वृत्तिक तथा स्वयंसेवक सेनानियों को अल्पकालिक अनिवार्य सैनिक-सेवा-दल का अधिकारी नियुक्त कर दिया जाता था। सैनिक सेवा के विशेष अभियोग्य तथा आजीवन सैनिक सेवा के इच्छुक व्यक्तियों को अराज्याविष्ट अधिकारी (noncosmmisioned officers) अथवा अधिकारी बनाया जाता। वार्षिक अनिवार्य नव-सैनिकों को यथासंभव प्रशिक्षित करना इनका प्रधान कार्य था। सर्वश्रेष्ठ अफसर सर्वबलाधिकरण अधिकारी चुने जाते, जिन्हें घोर विशेषोपयुक्त प्रशिक्षण दिया जाता। अधिकारियों को कठोर और नीरस जीवन व्यतीत करना पड़ता। वे वेतन भी साधारण ही प्राप्त करते, परंतु समाज में विशेष संमान की दृष्टि से देखे जाते थे।

जब यूरोपीय और जापानी सेनाओं ने उपर्युक्त जर्मन पद्धति को अपनाया, ब्रिटेन और अमरीका ने छोटी स्वयंसेवक सेनाओं की पद्धति को ही जारी रखा। परंतु इन दोनों देशों में नौसेना ही विशेष त्राण (Shield) प्रदान करती थी।

औद्योगिक (technological) विकास तथा दुष्परिणाम—फ्रांस की महाक्रांति से उत्पन्न परिवर्तनों के पश्चात् यूरोप की औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप सैनिक संगठन सिद्धांतों में भी उतने ही महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

निस्संदेह शस्त्रास्त्रोन्नति प्रत्येक युग में सैनिक विकास कार्य का निरंतर एक प्रधान अंग रही है। 'सरीसा' सदृश अथवा हस्ताहस्ति युद्धोपयोगी शस्त्रों के स्थान पर 'पिलम' सदृश अदूरगामी लघु क्षेपण अस्त्रों का विकास हुआ। समरकौशल तथा अति सीमित सुचलता से संपन्न कवचधारी राजरक्षक उन लंबे धनुर्धों के संमुख, जिन्होंने सन् ११८४ में चार इंच मोटे ठोस वृक्षों को भी छेद दिया था, नहीं टिक सका। चंगेज खाँ ने धनुर्धारी अश्वारोही सेना में सुचलता एवं शक्ति का संयोग कर एक अपराजेय सेना का सृजन किया। चीन में बारूद के आविष्कार तथा समस्त यूरोप में उसके प्रचलन से धनुर्धारियों की महत्ता क्रमशः क्षीण होने लगी और प्रणालिकाधारी तथा ग्रेनेडियर्स की महत्ता बढ़ने लगी। फील्ड तोपों (field guns) की संख्या में भी वृद्धि कर दी गई। सन् १७०४ में ब्लेनहियम युद्ध में मार्लबरो ने एक तोपखाना प्रति ६०० व्यक्ति की दर से इनका प्रयोग किया, परंतु सन् १८१२ में बोरोडिनो युद्ध में नेपोलियन की सेना में एक तोपखाना प्रति ८४० व्यक्ति की दर से, क्षेत्र तोपखाना, उपलब्ध था।

नेपोलियन के पश्चात् औद्योगिक उन्नति को द्रुत प्रोत्साहन मिला। १९ वीं शताब्दी के मध्य तक प्रमुख सेनाओं ने मसृण-छिद्र-मस्केट (Smooth bore muskets) का त्याग कर अधिक दूरगामी नालमुख भरण (muzzle loading) राइफल को अपनाया। अमरीकी गृहयुद्ध में क्षेपभरण मैगजिन राइफल (breech loading magzine rifle) का प्रयोग किया गया। इसी अवसर पर एक ऐसे यंत्रतोप (Galling machinegun) का भी निर्माण हुआ जिसमें दस नालें थीं तथा एक मिनट में २५० से ३०० तक प्रहार कर सकती थी। सन् १८७० में प्रशा के सैनिकों ने क्षेप भरण तोप (breech loading needle gun) तथा क्षेप भरण राइफल तोप (breech loading field gun) का उपयोग किया, जब कि फ्रांसीसी सैनिकों को श्रेष्ठतर राइफल 'चैसोपाट' तथा अत्युत्तम यंत्रतोप 'मिट्रैल्यूज' प्राप्य थीं। सन् १९०४–५ में रूस और जापान के मध्य हुए युद्ध में, ३२०० गज की दूरी तक मार कर सकनेवाली राइफल तथा ६००० गज की दूरी तक मार कर सकनेवाली क्षेपराइफलें प्रकट हुईं। 'हाचकिस' और 'मैक्सिम' सदृश यंत्रतोप राइफलों ने बहुसंख्यक पदाति स्कंधों के युग का अंत कर दिया।

तोपखाना शक्ति की विपुल उन्नति के साथ साथ जनसंख्या में भी शीघ्रता से वृद्धि होने के कारण सेना का आकार भी बढ़ गया। परिमाणतः सैनिक आवश्यकता के संभरण तथा गोलाबारूद (ammunition) की माँग में भी पर्याप्त वृद्धि हुई, जिसकी पूर्ति केवल रेलगाड़ियों द्वारा ही संभव थी। सामने से आक्रमण करना अब आत्मघातक बन चुका था, इसलिये युद्धक्षेत्रीय सीमाएँ भी अधिकाधिक फैलती चली गईं। ऐसी परिस्थिति में सेनापति को अपने अधीनस्थ नायकों से संपर्क स्थापित करने के लिये दो नवीन आविष्कारों, मोटरकार तथा टेलीग्राम, पद्धति पर निर्भर होना पड़ता था। साथ ही उसे विशाल सेना को व्यवस्थित कर मोर्चों पर भेजने तथा उनके संभरण की योजनाएँ बनाने के लिये विशेषज्ञ कर्मचारी अधिकारियों (expert staff officers) की भी आवश्यकता हुई।

इस प्रकार १९ वीं शताब्दी के अंत तक एक नवीन सेना का विकास हुआ। इसका नियंत्रण संगठन (control organization) पर्याप्त जटिल था। योजना तथा संक्रिया के लिये एक सर्वबलाधिकरण (General staff) था, संभरण, वासस्थान आदि का प्रभारी एक महाभक्तयाचिक (Quarter master general) था। अब, पदाति और तोपयोधन सेनाओं के अतिरिक्त संभरण, भैषज्य, आदि अन्य अनेक सैनिक सेवाओं का सृजन किया गया। क्षेत्र दृढ़ीकरण (field fortification), सुरंग (mines), संकेत (signals) और सड़क निर्माण आदि कार्यों के लिये एक सर्वथा नवीन इंजीनियर सैनिक सेवा का भी सृजन किया गया। इन सेनाओं तथा अन्य प्राविधिक सेनाओं की महत्ता और अनुपात भी दिनोत्तर जटिल उपकरणों के प्रयोग के कारण प्रति दिन बढ़ रहे थे। रेलगाड़ियाँ ही पहले युद्ध का मुख्य साधन थीं परंतु अब मोटर गाड़ियाँ और वायुयान भी शीघ्र अपरिहार्य बन गए। वास्तव में युद्ध अब दिन प्रतिदिन औद्योगिक शक्ति पर ही आश्रित होता जा रहा था।

दो विश्वयुद्ध

सन् १९१४ की सेना—वर्तमान शताब्दी के आरंभ में सेनाएँ, यद्यपि श्रेष्ठतर शस्त्रों से सुसज्जित थीं, तथापि सैन्य संगठन अधिकतर १९वीं शताब्दी के ढाँचे पर ही आधारित था। आधारभूत प्रत्येक पदाति दल लगभग एक हजार व्यक्तियों का एक बटैलियन

(battalion) होता था; प्रत्येक बटैलियन में चार गण (Company) और प्रत्येक गण में तीन या चार पलटन। यूरोपीय सेनाओं में तीन गणों को मिलाकर एक रेजिमेंट (Regiment) बनाया जाता, दो रेजिमेंट मिलकर एक पदाति ब्रिगेड (Brigade) और दो ब्रिगेड मिलकर एक पदाति डिवीजन (Division)। आधारभूत अश्वदल रेजीमेंट होता था, जिसमें तीन से छह तक स्क्वाड्रन (squadron) होते थे। प्रत्येक स्क्वाड्रन में चार अश्ववृंद होते थे, दो अश्व रेजिमेंट (ब्रिटिश सेना में तीन) मिलाकर एक अश्व ब्रिगेड और दो अथवा तीन अश्व ब्रिगेड मिलाकर एक अश्व डिविजन। बैटरी (Battery) आधारभूत तोपखाना था, जिसमें सामान्यतः छह तोपें होती थीं जो दो तोप प्रति अनुभाग के हिसाब से अनुभागों में विभक्त कर दी जाती थीं। छह से नौ तक समूहों के मिलने से एक तोपखाना रेजिमेंट बनता था।

अश्व अथवा पदाति डिवीजन सबसे छोटा सैन्य संगठन था, जिसमें सभी अस्त्रास्त्र उपलब्ध थे और जो स्वतंत्र रूप से संक्रिया कर सकता था। उदाहरणार्थ, पाँच हजार व्यक्तियों के एक अश्व डिवीजन में अश्व तोपखाना के कुछ समूह, एक हलका पदाति गण और इंजीनियरों की एक टुकड़ी भी संमिलित होती थी। एक पदाति डिवीजन में सत्तरह हजार से बीस हजार तक सैनिक, २४ से २७ तक तोपें और गेह (reconnaissance) आदि कार्यों के लिये कई अश्वारोही दल होते थे। परंतु इन सब दलों का ठीक ठीक आकार प्रत्येक सेना में भिन्न भिन्न था।

एक लाख से भी अधिक सैनिकों की विशाल सेनाओं के डिवीजनों को 'कोर' (corps) में संगठित करना आवश्यक होता था। एक कोर में सामान्यतः चालीस हजार व्यक्ति होते थे। युद्ध के समय में कभी कभी कोर युद्धनीतिक योजनानुसार सेनावर्गों (army groups) में वर्गित कर दिया जाता था।

प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१८) — इस युद्ध में जर्मनी एक तरफ से और ब्रिटेन फ्रांस आदि देश दूसरी तरफ से लड़े थे।

सेना संगठन में डिवीजन आदि की आधारभूत रूपरेखा तो विद्यमान रही, परंतु विभिन्न सेना के अंगों की महत्ता और अनुपात में अनेक परिवर्तन हुए। पदाति सेना को प्रायः तोपखाना, वायुसेना, टैंक आदि विशेष युद्धसाधनों के सहारे ही कार्य करना पड़ता था। टैंकों के प्रचलन के कारण अश्वसेना किसी भी बड़े युद्ध के लिये क्रमशः गौण समझी जाने लगी और सन् १९१८ के पश्चात् तो उसका कोई महत्व ही नहीं रह गया। उपयोगिता की दृष्टि से तोपखाना बल अधिक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण समझा जाने लगा। प्रति एक हजार पदाति सैनिकों के साथ सामान्यतः दस तोपें होती थीं। रासायनिक युद्ध प्रचार, उद्धार (salvage), छद्मावरण (camouflage) तथा, ऋतु विज्ञान आदि कार्यों के लिये नए नए दल बनाए गए। ब्रिटिश सेना में तो टैंकों का एक पृथक् कोर (corps) ही संस्थापित कर दिया गया, और थल तथा जलसेना से सर्वथा स्वतंत्र वायुसेना का तीसरा ही सैनिक बल भी स्थापित किया गया। यदि ऐसी प्रगतिशील चेष्टाएँ निरंतर जारी रहतीं तो, निस्संदेह द्वितीय महायुद्ध में ब्रिटेन को अनेक सुविधाएँ रहतीं।

दो विश्वयुद्धों का मध्यकाल — पर प्रथम विश्वयुद्धजनित प्रगति की यह प्रवृत्ति चालू न रह सकी। ब्रिटेन और अमरीका ने छोटी वृत्तिक सेनाओं की रीति पुनः अपनाई, फ्रांस ने मितव्ययिता की दृष्टि से अपनी सेना घटा दी। जर्मनी को वर्साई की संधि के अनुसार केवल एक लाख सैनिक ही रखने का अधिकार था, प्रत्यावृत सेना की भी अनुमति नहीं थी। अतएव जर्मनी को अत्युच्च सैनिक प्रशिक्षण तथा अधिकाधिक सेना अधिकारियों की संख्या से ही संतोष करना पड़ा, ताकि आवश्यकता के समय तेजी सैन्यविकास किया जा सके। जर्मन नवयुवकों के आधारिक सैनिक प्रशिक्षण के लिये स्थान स्थान पर उपसैनिक युवक क्लब (paramilitary youth clubs) तथा व्यायाम समितियाँ खोल दी गईं।

हिटलर के सत्तारूढ़ हो जाने पर जर्मनी में जब तेजी से पुनः-शस्त्रीकरण हुआ तो फ्रांस और ब्रिटेन ने भी ऐसा ही किया। इटली, जापान और रूस की तो पहले ही बड़ी बड़ी सेनाएँ थीं। इथियोपिया, मंचूरिया, चीन और स्पेन के लघु युद्धों में नए उपकरणों के परीक्षण किए गए। प्राविधिक विज्ञान द्वारा युद्धशस्त्रों में भी अभिवृद्धि हुई। मध्यम श्रेणी के टैंक भी, जो प्रथम युद्ध में केवल पाँच टन भार के थे, अब पच्चीस टन के हो गए थे। वे अधिक भारी तोपें लाद सकते थे तथा दृढ़तर कवचों से सुरक्षित थे। वायुयान भी, जो प्रगतिशील राष्ट्रों द्वारा थलयुद्ध के लिये अनिवार्य स्वीकृत किए गए, अब सौ मील प्रति घंटे के स्थान पर तीन सौ मील प्रति घंटे की गति से उड़ सकते थे। हवामार तोप (antiaircraft gun) और टैंकमार तोप (antitank gun) का भी आविष्कार हुआ। रूस ने बहुसंख्या में छाताधारी सैनिक (paratroopers) का सर्वप्रथम प्रचलन किया। फ्रांस ने अपनी जर्मन सीमाओं की सुरक्षा के लिये दुर्भेद्य मेगिनोलाइन (इस सुरक्षा लाइन का नामकरण इसके अधिष्ठाता मैगिनो के नाम पर ही किया गया था।) बनाई, परंतु इस दुर्गीकरण से लाभ उठाने के लिये एक सुचल प्रहारक बल का विकास न कर भारी भूल की। जर्मनी ने शीघ्र ही, सदा की भाँति सुप्रशिक्षित, सुसज्जित तथा विशाल सेना खड़ी कर ली। टैंक और वायुयान समूह (tank plane team) ही इस सेना का मुख्य अस्त्र था। इस सेना की सुविख्यात 'ब्लिट्ज़ क्रीग' नामक रणप्रणाली फुलर और लिडेल हार्ट के प्रशिक्षण पर आधारित थी। ब्रिटिश सेना ने इन युद्ध विचारकों के सिद्धांतों पर कभी ध्यान नहीं दिया। जर्मनी वासियों ने परिवहन तथा संभरण सेनाओं का यंत्रीकरण कर सैनिक संक्रिया में जो द्रुतता कर दिखाई उससे सारा संसार डगमगा उठा।

द्वितीय विश्वयुद्ध — सन् १९३९-४५ के दीर्घकृत लंबे विश्वयुद्ध के कारण 'शस्त्रहस्त राष्ट्र' की भावना चरम सीमा पर पहुँच गई। प्रत्येक युद्धरत देश के अखिल साधन तथा प्रत्येक स्वस्थ पुरुष और स्त्री को युद्ध के लिये सुसज्जित किया गया। अनिवार्य सैनिक भर्ती अखिल देशव्यापी (भारत तथा कुछ अन्य देशों के अतिरिक्त जो गौण रूप में ही युद्धरत थे) घोषित कर दी गई। यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी सशस्त्र सेना में बहुसंख्या में भर्ती की गईं। यह कार्य केवल समग्र जनशक्ति को सुसज्जित करने के लिये ही नहीं अपितु, विभिन्न

सेवाओं के मध्य, मानव साधनों के समुचित विभाजन के उद्देश्य से भी किया गया था। युद्धकार्य में जिस बहुसंख्या में लोग जुटे थे उसका अनुमान इसी से लग सकता है कि अमरीका ने कुल एक करोड़ दस लाख सैनिकों को भर्ती किया जिनमें से पचास लाख सशस्त्र सेना के सिपाही थे। रूस ने एक करोड़ बीस लाख सैनिकों की युद्धक सेना बनाई। समस्त उद्योग, यहाँ तक कि कृषि भी, युद्ध कार्य ही के लिये उपयंत्रित कर दिए गए, जिससे सभी उद्योग भी युद्धलक्ष्य बन गए और सैनिकों तथा नागरिकों के मध्य अंतर प्राय: लुप्त हो गया।

इस नई युद्धविधि में दो या दो से अधिक सैनिक सेवाएँ (services) प्राय: संमिलित होती थीं; क्योंकि दुहरी संक्रिया अनेक होती थी और न थलसेना और न नौसेना, वायुसेना की सहायता के बिना दक्षतापूर्वक कार्य कर सकती थी। रूस और अमरीका जैसी विशाल शक्तियों में स्वतंत्र वायुसेना न थी, परतु विपुल वायुबल अवश्य था। ब्रिटेन और जर्मनी की थल, जल और वायु तीनों सेनाएँ पृथक् पृथक् थीं, परंतु उनमें परस्पर पूर्ण सहयोग बनाए रखने के लिये प्रत्येक संभव कार्य किया जाता था। यह कार्य संयुक्त कमान (joint command) और संयुक्त योजना अधिकारियों द्वारा संपन्न किया जाता था, अर्थात् एक ही युद्धक्षेत्राधिकारी उस क्षेत्र के लिये उपलब्ध जल, थल, और वायुसेना का नेतृत्व करता और उसके सैनिक मुख्यालय में तीनों ही सेवाओं के अधिकारी संमिलित होते थे। सार्वभौम युद्ध के लिये समस्त आदेश जारी करने का एक नया साधन खोज निकाला गया जो संमिलित (combined) मुख्यालय कहलाता था और जिसमें युद्धरत अनेक संयुक्त राष्ट्रों के प्रतिनिधि होते थे।

सेना का आधारभूत संगठन डिवीजन ही रही। परंतु बड़ी बड़ी सेनाएँ प्राय: सैनिक वर्ग भी रखती थी। कुछ रूसी और अमरीकी सैन्य वर्गों की कुल सैनिक सख्या बीस लाख से भी अधिक थी। प्रति डिवीजन सैनिक संख्या बीस हजार से घटाकर ग्यारह हजार से पद्रह हजार तक कर देने पर डिवीजन सुप्रबंध्य बन गई थी। विशिष्ट शस्त्रों तथा उपकरणों की जटिलता तथा सख्या दोनों ही के बढ़ जाने से डिवीजन में योद्धाओं का अनुपात, संभरण सैनिकों तथा प्रविधिज्ञों (technicians) के मुकाबले और अधिक घट गया। इंजीनियरों, संकेत और वैधजिक कर्मचारी वर्ग (personnels) विद्युत् और यांत्रिक इंजीनियरों द्वारा आवंटित कर दिए गए।

इन विशाल सेनाओं के संगठन तथा प्रशिक्षण में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती थीं। व्यक्तित्व परीक्षण का एक वैज्ञानिक ढग ढूँढ़ा गया जिसके अनुसार अधिकारियों को छाँटकर उनके क्षमतानुकूल उन्हें विभिन्न शाखाओं में नियुक्त कर दिया जाता था।

जहाँ एक ओर सैनिक संघटन प्राय: अपरिवर्तित ही रहा वहाँ दूसरी ओर समर-व्यूह-कौशल तथा अस्त्रास्त्रों में विशेष परिवर्तन हुए। प्रत्येक युद्धमंच के लिये विशेषोपयुक्त व्यूहकौशल तथा सैनिक दलों की आवश्यकता पड़ी। मलाया और बर्मा के घने जंगलों में, पदाति सेना को अपने ही बल बूते पर छोटी छोटी टुकड़ियों में विभक्त हो लड़ना पड़ा। 'चिंडिट्स' सैनिकों ने रिपु-रेखा से सैकड़ों मील पीछे वायुयान द्वारा रसद प्राप्त कर सैनिक कार्य किए। उत्तरी अफीका में भी दीर्घगामी मरुदलों (long range desert groups) के सैनिक जीप गाड़ियों पर चढ़कर शत्रुप्रदेशों में सैकड़ों मील तक घुस गए। जर्मन सैनिकों ने द्रुतगामी टैंकों तथा गोतामार बममारी दलों (dive bombers teams) का उपयोग किया जिनकी सहायता से वे शीघ्र ही शत्रु मोर्चों में प्रवेश कर बाद में तुरंत ही सैनिक मार्गों, कोष्ठागारों और रसद मार्गों पर छा जाते। रूसी सैनिकों ने प्राय: पदाति सेना, टैंकों और तोपों के भीषण प्रहारों पर निर्भर रहकर ही विजय प्राप्त की। सन् १९४५ में रूसी सेना में तीस से बत्तीस तोपें प्रति एक हजार पदाति के लिये प्राप्त थीं तथा प्रति मील मोर्चे पर प्राय: तीन सौ से पाँच सौ तोपों द्वारा आक्रमण किया जाता था। बर्लिन युद्ध में नौ सौ पचहत्तर तोपें प्रति मील मोर्चे के हिसाब से प्रयुक्त की गई थीं, तथा संपूर्ण नाजी राजधानी को मटियामेट करने के लिये बाईस हजार तोपों की कुल आवश्यकता पड़ी थी। अमरीकी और ब्रिटिश सेनाओं ने दुहरी संक्रियाओं तथा रणस्थल से दूर शत्रु नगरों पर वायुयानों द्वारा भयानक गोलाबारी की नीति अपनाई जो हिरोशिमा और नागासाकी नगरों में अणुबमों द्वारा महाविनाश कर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई।

आज का सेनायुग—द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सैनिक शक्ति मुख्यत: रूस अमरीका ही में केंद्रित हो गई है। दोनों देशों के सैद्धांतिक मतभेद के कारण यह प्रतिस्पर्धा और भी बढ़ गई है। परिणामत: शीतयुद्ध का युग आरंभ हो गया है और दो विरोधी सैनिक शिविर भी तैनात दिखाई देते हैं।

नाटो सेनाएँ — सन् १९४९ में पश्चिमी यूरोप, कैनेडा और अमरीका की 'स्वतंत्र जनतंत्र' सरकारों के मध्य 'उत्तर अटलांटिक संधि संगठन' या नाटो (North Atlantic Treaty Organisatios or N. A. T. O) नामक एक समझौता किया गया जिसका स्पष्ट उद्देश्य साम्यवादी खतरे के विरुद्ध सैन्य सुरक्षा था।

कोरियाई युद्ध ने पश्चिमी जनतंत्र राज्यों को सैनिक विकास कार्यों के लिये तीव्र प्रेरणा दी। ये चेष्टाएँ सन् १९५३ में कोरिया सघर्ष की समाप्ति के बाद भी चलती रहीं। नाटो सधि के अनुसार मध्य यूरोप में तीस डिवीजन सेना द्वारा प्रतिरक्षा योजना बनाई गई थी, परतु सन् १९५८ के अंत तक केवल सत्रह डिवीजन ही उपलब्ध हो सकी थी। इनमें से पाँच डिवीजन तो अमरीका ने और सात जर्मनी ने भेजी थीं। ब्रिटेन और फ्रांस का योगदान पश्चिमी जर्मनी में स्थित क्रमश: साठ हजार और तीस हजार सैनिकों तक ही सीमित रहा। ये दोनों देश अपने विस्तृत साम्राज्यों में अन्य कई भागों के सुरक्षा दायित्व के भार से और द्वितीय विश्वयुद्धजनित राष्ट्रीय क्षति के कारण साधारण योगदान ही कर सके थे। साम्यवादविरोधी जगत् की अन्य प्रमुख सेनाओं में बाईस डिवीजनों में सगठित चार लाख व्यक्तियों की तुर्की सेना और इटली की सेना भी थी जिसमें से छह डिविजन तो नाटो संधि में प्रदान कर दी गई और अन्य आठ से नौ डिवीजन तक तैयार की जा रही थी। ताईवान स्थित राष्ट्रीय चीन के तेईस डिविजनों में कुल चार लाख तीस हजार व्यक्ति थे।

साम्यवादी सेनाएँ — सन् १९४५ के पश्चात् साम्यवादी देशों में पूर्ण सैनिक वियोजन नहीं किया गया, अपितु जब पश्चिमी देशों ने पुनर्विस्तार आरंभ किया तो इन्होंने सेनाओं में भारी कमी आरंभ कर दी। रूस ने सन् १९५६ में अपनी सशस्त्र सेनाओं में बारह लाख व्यक्तियों की कटौती की घोषणा की, सन् १९५७ में छह लाख चालीस हजार व्यक्तियों की और सन् १९५९ में तीन लाख और व्यक्तियों की। इतने पर भी रूसी साम्यवादी सेना विश्व में सर्वाधिक शक्तिशाली है। सन् १९५८ में केवल पूर्वी जर्मनी में इस सेना की बीस कवचसज्जित (armoured) अथवा यांत्रिक डिवीजन तथा दस तोपखाने अथवा विमानमार डिवीजन थे, चार डिवीजन हंगरी में और एक बड़ी संचार-पथ-सेना (Line of Cammunication Force) पोलैंड में स्थित थी।

रूस के साथ साथ अन्य साम्यवादी देशों ने भी अपनी सेनाएं घटा दीं। पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया, प्रत्येक ने, बीस हजार व्यक्तियों की कटौती की घोषणा की, रूमानिया ने पैंतीस हजार की और बलगेरिया ने तेईस हजार की। परंतु इन कटौतियों के उपरांत भी पोलैंड में सन् १९५८ के अंत तक इक्कीस डिवीजन, चेकोस्लोवाकिया में चौदह, रूमानिया में पंद्रह और बलगेरिया मे बारह डिवीजन सेनाएं थीं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद चीनी सेना भी एक प्रमुख सेना के रूप में प्रकट हुई। सन् १९३७ से चीनवासियों के मध्य पारस्परिक तथा जापान के विरुद्ध अनंत युद्धों के कारण अनुभवी अफसरो तथा सिपाहियों का एक ऐसा समुदाय उत्पन्न हो गया, जिन्होंने द्वितीय महायुद्ध के उत्तरवर्ती वर्षों मे अमरीका से बहुमूल्य उपकरण और हथियार प्राप्त किए तथा भारत में वैज्ञानिक आधार पर सैनिक प्रशिक्षण भी प्राप्त किया। सन् १९४५ तक चीन में लगभग तीस लाख व्यक्तियो की राष्ट्रीय सेना तथा उसके बीस लाख जानपद सैनिक, मिलीशिया (militia) थे। सन् १९४९ में चीनी साम्यवादी प्राय: इन सभी राष्ट्रीय सैनिक दलो पर अपना अधिकार जमाने मे सफल हुए, केवल दशमांश सेना तैवान की ओर बच निकल भागी। कोरियाई युद्ध मे स्वयंसेवकों की साम्यवादी सेना ने अपनी विस्मयकारी दृढ़ता तथा युद्धक्षमता का परिचय दिया। सन् १९५३ तक चीन ने लगभग २० लाख व्यक्तियों की चार क्षेत्रीय सेनाओं (field armies) को बाईस सैनिक कोरों मे संयोजित किया। इसके अतिरिक्त बीस लाख व्यक्तियों की तो सैनिक प्रदेशों (military districts) की सेना और लगभग एक करोड़ बीस लाख स्त्रियों और पुरुषों की जानपद सेना थी। यह विशाल समुदाय पूर्ण प्रशिक्षित होने पर भी युद्धसमय में प्रतिरक्षा कार्य के लिये निस्संदेह उपयोगी सिद्ध हो सकेगा।

सेनाओं का संघटन और उनके उपकरण — द्वितीय विश्वयुद्ध में प्राप्त अनुभवो के कारण नए नए सैनिक दलों तथा विशिष्टोद्देशीय सेनाओं की वृद्धि होने लगी। उदाहरणार्थ — 'कमानडो' तथा दूरसंचार (telecommunication) सेनाओं के नामों का उल्लेख किया जा सकता है। परंतु आधारिक दल डिवीजन तथा गण ही रहे। टैंकों और तोपखाने अनेक डिविजनों के अभिन्न अंग बन गए। डिवीजन संघटन पर बहुविध विवाद तथा विचार हुए। कुछ सेनाओं ने तो त्रिभुजी संघटन पर जोर दिया, जिसके अनुसार एक ब्रिगेड में तीन गण, एक डिवीजन में तीन ब्रिगेड आदि आदि योजनाएँ बनाई गईं। अन्य सेनाओं में से, उदाहरणार्थ अमरीका सेना ने, पाँच उपदलों पर आधारित 'पेंटामिक' संघटन को अपनाया। अधिक वैज्ञानिक प्रशिक्षण प्रणालियों का विकास हुआ, जिनमें चित्रपट, दूरवीक्षण यंत्र (television) और मनोवैज्ञानिक विधियों का उपयोग किया गया। राजतंत्रीय सिद्धांतों में तीव्र विरोध होने के कारण सैनिकों में अपने अपने सिद्धांतों का प्रचार (political indoctrination) अत्यंत महत्वपूर्ण बन गया; यहाँ तक कि प्रजातंत्र राज्यों ने भी नैतिक सुदृढ़ता की दृष्टि से अपनी जनता को इस संघर्ष के उद्देश्यों से भली भाँति परिचित कराना तथा निजी सामाजिक सगठन की श्रेष्ठता सिद्ध करना आवश्यक कार्य समझा। अतएव मनुष्य युद्ध का अब भी एक महत्वपूर्ण अंग है।

तथापि यंत्रों की महत्ता निस्संदेह और भी बढ़ गई है। भारी टैंकों, सुचल रॉकेट फेंकुओं (mobile rocket launchers), तोपों तथा बड़ी बड़ी हाउत्सर (howitzer) के कारण केवल शौर्य युद्धजय के लिये अपर्याप्त हो चुका है। पदाति सेना के शस्त्रों में अब क्षेत्र तोपखाने (field artillery) की प्रहारशक्ति से परिपूर्ण बजूका (bajookas) तथा १०६ मिमी की धक्काहीन (recoilless) राइफल संमिलित हैं। प्रति क्षण सैकड़ों लक्ष्यभेदी, स्वचालित सुविध राइफल, प्लास्टिक के बने देहकवच, विशिष्टाकृत बारूद (shaped charges), वी० टी० फ्यूज (V. T. fuse) और यांत्रिक खच्चरों का भी प्रयोग किया जाता है। आणविक उच्चकोणवाली हाउत्सर (atomic howitzer) तथा 'ऑनेस्ट जान' नाम की आणविक-युद्ध-शीर्षवाली (with atomic warhead) निकटगामी रॉकेट (short range rocket) के समक्ष द्वितीय महायुद्ध की सबसे बड़ी तोप भी खिलौना सी प्रतीत होती है। ये नए शस्त्र रूस और अमरीका दोनों ही देशों को उपलब्ध हैं। इन आणविक शस्त्रों के कारण सेनाओं को युद्धक्षेत्र में विसर्जन (dispersal) तथा सुचलता के गुणों के विकास की आवश्यकता है। पिछले कुछ वर्षों से आणविक शस्त्रों की विपुल तोपखाना शक्ति पर आधारित तथा वायुपरिवहन द्वारा परम सुचल छोटी छोटी परंतु उच्च प्रशिक्षित सेनाओं की आवश्यकता पर विशेष बल दिया जा रहा है। शारीरिक शक्ति का स्थान यांत्रिक शक्ति ने पूर्णत: ग्रहण कर लिया है। सभी सैनिक संक्रिय सर्वसैनिक (inter services) चेष्टाएँ बन गए हैं, तथा आधुनिक सेना केवल त्रिसैनिक सेवा संयोगी युद्धयंत्र का एक खंड मात्र रह गई है।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ — आज के प्रतिरक्षा क्षेत्र में तीव्रतर प्राविधिक प्रगति ही सर्वप्रधान तत्व है। परमाणु बम और हाइड्रोजन बम इसी के चिह्न मात्र हैं। इतिहास में प्रथम बार द्वितीय विश्वयुद्ध के समय विकसित शस्त्रों ने उस युद्ध का निर्णय किया। जो एक हजार आठ सौ साठ प्रकार के शस्त्र सन् १९४५ में अमरीका में बन रहे थे उनमें से केवल तीन सौ पचास शस्त्र सन् १९४० तक आविष्कृत हो समुन्नत हो चुके थे। युद्धोपरांत यह प्राविधिक गति दिन प्रति दिन द्रुततर ही होती जा रही है।

प्राविधिक उन्नति की इस गति का अर्थ यही है कि नए शस्त्र का विकास और परीक्षण कर उसके बहुनिर्माण (mass production) का कार्य आरंभ किया जाता है, तब तक उससे भी श्रेष्ठतर शस्त्र प्रारूप में बनने लगते हैं। इसके साथ ही शस्त्रों के मूल्य में भी बड़ी तेजी से वृद्धि हो रही है। आजकल की एक नई विमानमार तोपदर्शी (gunsight) का मूल्य १६वीं शताब्दी की एक संपूर्ण तोपखाना से भी अधिक हो सकता है। आधुनिक उद्योगों ने अत्यधिक क्षमता तथा अनुकूलनीयता (adaptability) का परिचय दिया है। द्वितीय विश्वयुद्ध में केवल अमरीका ने ही तीन लाख युद्ध विमान, चौबीस लाख ट्रक और इकतालीस अरब गोला बारूद (ammunition) बनाए थे। परंतु समृद्धतम और परमोद्योगी राष्ट्र भी आधुनिक शस्त्रों के निर्माणभार का अनुभव कर रहे हैं और वे सभी शस्त्र पर्याप्त संख्या में रखने में असमर्थ हैं। ब्रिटेन का चार अरब सत्तर करोड़ पाउंड की पूँजी का त्रिवर्षीय पुनश्शस्त्रीकरण कार्यक्रम सन् १९५७ में अधिक दीर्घकालिक कर दिया गया; नाटो देश भी निर्धारित सेनाएँ सुलभ करने में असमर्थ ही रहे, यद्यपि प्रथम आठ वर्ष की अवधि में इन देशों ने ३७१ अरब ६८ करोड़ ५० लाख डालर धनराशि प्रतिरक्षा कार्य पर ही व्यय की। आधुनिक सेनाओं में जो कटौती की गई है उसका भी एक कारण मितव्ययिता मालूम होता है।

अतएव प्रतिरक्षा बजट का सेना के विभिन्न अंगों में बँटवारा (allocation) भी महत्वपूर्ण दायित्व बन गया है। नियत धनराशि में से कितना अंश थल, जल और वायुसेना को दिया जाए और कितना धन प्रतिरक्षा विज्ञान अनुसंधान कार्यों पर व्यय किया जाए, एक ऐसा प्रश्न है जिसका कोई सर्वथा संतोषजनक अथवा सदामान्य उत्तर असंभव है। इस प्रश्नोत्तर के लिये जिस आधार सामग्री की आवश्यकता है, वह हर घड़ी बदलती रहती है और कोई मानुषिक या इलेक्ट्रोनिक बुद्धि (electronic brain) इस समस्या को पूर्णतः नहीं सुलझा सकती। यह भी संदेहात्मक ही है कि प्रतिरक्षा बजट का आवंटन प्रति सैनिक सेवा आधार पर ही हो, क्योंकि प्रगतिशील विचारधारा के अनुसार प्रत्येक युद्धनीति (strategy) के आधार पर "आयुध पद्धति" (weapon system) के आवश्यकतानुसार ही बजट का बँटवारा श्रेयस्कर होगा। उदाहरणार्थ संसार के किसी एक कोने में चल रहे एक सीमित परमाण्विक युद्ध के लिये केवल छोटी छोटी उच्च प्रशिक्षित सेनाएँ तथा स्वतः पूर्ण सुचलताप्रदायी वायुपरिवहन बेड़े ही पर्याप्त होंगे, जबकि किसी पूर्णतः परमाण्विक युद्ध के लिये दूरगामी भीषण बमवर्षकों और राकेटों की आवश्यकता होगी, जो स्थायी स्थल अड्डों या सुचल पनडुब्बियों (submarines) पर से छोड़े जा सकें। इस प्रकार विभिन्न सेवाओं (armed services) की पृथक् पृथक् कार्यक्षमता अपूर्ण ज्ञात होती है और युद्धनीतिक आवश्यकतानुसार तीनों सैनिक सेवाओं को "आयुध विधि" के अनुसार पुनर्विभाजन की आवश्यकता प्रतीत होती है। अन्यथा यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि नए रॉकेट मिसाइल (rocket missiles) थल, जल और वायु इन तीनों में से किस सेवा के अंतर्गत रखे जाएँ।

रूढ़ अथवा पारंपरिक (conventional), सामरिक नाभिकीय (tactical nuclear) और पूर्णनाभिकीय (total nuclear), भावी युद्ध के संभावित प्रकार दिखाई देते हैं। पूर्ण नाभिकीय युद्ध में स्थल सेना के लिये शायद ही कोई स्थान हो, क्योंकि युद्ध निर्णय तो युद्धरत देशों द्वारा दूरगामी परमाण्विक बमवर्षा पर ही आश्रित होगा, और यह कोई नहीं कह सकता कि क्या रेडियोऐक्टिव मलबे (radio-active debris) में से टूटा फूटा स्थलयुद्ध भी प्रस्फुट हो सकेगा।

सामरिक परमाण्विक शस्त्रों पर आधारित युद्ध से संभवतः प्रथम विश्वयुद्ध जैसा ही गत्यवरोध पुनः उत्पन्न हो जाए क्योंकि ये शस्त्र मुख्यतः प्रतिरक्षा कार्य के ही पक्षपाती हैं। छोटी यंत्रीकृत (mechanised) सेनाएँ परमाण्विक तोपखाना अथवा निकटगामी राकेटों द्वारा विपुल तोपखाना शक्ति उत्पन्न करती हैं। ऐसी परिस्थिति में सफल आक्रमण की एकमात्र आशा केवल उत्कृष्ट दलों द्वारा सहसा आक्रमण ही दिखाई देता है। ये दल आनन फानन में शत्रु सेना में घुसकर पूर्णतः घुलमिल जाएँगे और इस प्रकार इनपर परमाण्विक बमों के प्रयोग की संभावना नष्टप्राय हो जाती है अन्यथा इन बमों के प्रयोगकर्ता की निजी सेना भी राख की ढेरी बनकर रह जाएगी। इन युद्धों के लिये अभीष्ट सेनाओं में आधारिक दल, बड़ी डिवीजनों के स्थान पर प्रति सुप्रबंध्य वाहिनी ही को बनाया जा रहा है, और उनकी परिवहन और संभरण आदि आवश्यकताएँ पूर्णतः यंत्रित और सुवाही (streamlined) की जा रही हैं ताकि शत्रुप्रहार से विशेष हानि न हो। अमरीका पश्चिमी जर्मनी की सेनाएँ इस प्रकार की आधुनिक सेनाओं के समुचित उदाहरण हैं, जबकि साम्यवादी सेनाओं की कमी का कारण भी परमाण्विक शस्त्रों पर आधारित युद्ध की संभावना ही ज्ञात होती है।

अपरमाण्विक शस्त्रों पर आधारित पारंपरिक युद्ध अपने मूल उद्देश्यों और "आयुध पद्धति" दोनों में सीमित ही रहता है। संभव है कि यह युद्ध केवल ऐसे औपनिवेशिक अथवा अमहत्वपूर्ण भाग में छिड़े जहाँ कोई भी देश परम विनाशक पूर्ण परमाण्विक युद्ध का खतरा अपने सिर न लेना चाहे। ऐसी दशा में, आक्रमणकारी कोई धूर्त छापामार (guerilla) भी हो सकता है, जिसे केवल कुछ स्टेनगनों, कुछ अग्निस्फोटों तथा स्थानीय जनता की सहानुभूति ही की आवश्यकता हो। छापामार युद्ध वास्तव में, अब भी एक अति सफल प्रविधि है, परंतु यह अनियमित सेना निश्चित अर्थ में सेना का अंग नहीं कही जा सकती, अतएव प्रस्तुत लेख में इसपर कोई विचार नहीं किया गया है।

परिमित पारस्परिक युद्धों में उच्च प्रशिक्षित सैनिकों की ऐसी 'अग्निशामक' सेना की आवश्यकता होगी जो पूर्णतया वायुपरिवहन और वायुसंभरण पर ही आश्रित रह सके और तोपखाना शक्ति उत्पन्न करने के लिये 'बज़ूका', धक्काहीन राइफल (recoilless

rifles), ज्वालाक्षेपण मिसाइल (flame throwers) और निकटगामी क्षेपक ट्रकों के सदृश हल्के अस्त्रों से सुसज्जित हों। बहुत सी सेनाएँ भारी तोपखाना शक्ति और लंबी लंबी संभरण रेखाओं को हटाकर अपनी डिवीजनों का केवल वायुपरिवहन आधार पर ही पुनर्गठन कर रही हैं। इन सेनाओं में हेलीकॉप्टर (helicopters) ने तो ट्रक गाड़ियों का और स्थलाक्रमक वायुयानों (ground attack planes) ने स्वयं तोपों का स्थान ग्रहण कर लिया है। ये सैनिक दल निस्संदेह इतिहासविदित प्राचीन सेनाओं के सच्चे वंशज हैं। और यदि महान् राष्ट्रों ने परमाणविक निरस्त्रीकरण को स्वीकार कर लिया, तो ये सेनाएँ ही सर्वोच्च समझी जाएँगी। [श्री नं० प्र०]

सेनापति ब्रजभाषा काव्य के एक अत्यंत शक्तिमान कवि माने जाते हैं। इनका समय रीतियुग का प्रारंभिक काल है। उनका परिचय देनेवाला स्रोत केवल उनके द्वारा रचित और एकमात्र उपलब्ध ग्रंथ 'कवित्त रत्नाकर' है।

इसके आधार पर इनके पितामह का नाम परशुराम दीक्षित, पिता का नाम गंगाधर दीक्षित और गुरु का नाम हीरामणि दीक्षित था। 'गंगातीर बसति अनूप जिनि पाई है' से इनका अनूपशहर-निवासी होना कुछ लोग स्वीकार करते हैं; परंतु कुछ लोग अनूप का अर्थ अनुपम बस्ती लगाते हैं और तर्क यह देते हैं कि यह नगर राजा अनूपसिंह बड़गूजर से संबंध रखता है जिन्होंने एक चीते को मारकर जहाँगीर की रक्षा की थी और उससे यह स्थान पुरस्कार स्वरूप प्राप्त किया था और इस प्रकार उसने अनूपशहर बसाया। अनूप सिंह की पाँच पीढ़ी बाद उनकी संपत्ति उनके वंशजों मे विभक्त हुई और किन्हीं तारा सिंह को अनूपशहर बँटवारे में मिला। ऐसी दशा मे सेनापति के पिता को अनूपशहर कैसे मिल सकता था। परंतु, यह तर्क विषयसंबद्ध नहीं है। अनूप बस्ती पाने का तात्पर्य उस बस्ती के अधिकार से नहीं, बल्कि अपने निवास के लिये सुंदर भूमि प्राप्त करने से है। ऐसी दशा में अनूपशहर से ऐसा तात्पर्य लेने में कोई असंभवता नही है।

सेनापति के उपर्युक्त परिचय तथा उनके काव्य की प्रवृत्ति देखने से यह स्पष्ट होता है कि वे संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् थे और अपनी विद्वत्ता और भाषाधिकार पर उन्हें गर्व भी था। अतः उनका संबंध किसी संस्कृत-ज्ञान-संपन्न वंश या परिवार से होना चाहिए। अभी हाल में प्रकाशित कविकलानिधि देवर्षि श्रीकृष्ण भट्ट द्वारा लिखित, 'ईश्वरविलास' और 'पद्यमुक्तावली' नामक ग्रंथों में एक तैलंग ब्राह्मण वंश का परिचय मिलता है जो तेलगाना प्रदेश से उत्तर की ओर आकर काशी में बसा। काशी से प्रयाग, प्रयाग से बाधव देश (रीवाँ) और वहाँ से अनूपनगर, भरतपुर, बूँदी और जयपुर स्थानों में जा बसा।

इसी वंश के प्रसिद्ध कवि श्रीकृष्ण भट्ट देवर्षि ने संस्कृत के अतिरिक्त ब्रजभाषा में भी 'अलंकारकलानिधि', 'शृंगार-रस-माधुरी', 'विदग्ध रसमाधुरी', जैसे सुंदर ग्रंथों की रचना की थी। इन ग्रंथों में इनका ब्रजभाषा पर अपूर्व अधिकार प्रकट होता है। ऐसी दशा में ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इसी देवर्षिभट्ट दीक्षितों की अनूपशहर में बसी शाखा से या तो स्वयं सेनापति का या उनके गुरु हीरामणि का संबंध रहा होगा। सेनापति और श्रीकृष्ण भट्ट की शैली को देखने पर भी एक दूसरे पर पड़े प्रभाव की संभावना स्पष्ट होती है।

सेनापति का काव्य विदग्ध काव्य है। इनके द्वारा रचित दो ग्रंथों का उल्लेख मिलता है — एक 'काव्यकल्पद्रुम' और दूसरा 'कवित्त रत्नाकर'। परंतु, 'काव्यकल्पद्रुम' अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। 'कवित्तरत्नाकर' संवत् १७०६ में लिखा गया और यह एक प्रौढ़ काव्य है। यह पाँच तरंगों में विभाजित है। प्रथम तरंग में ९७ कवित्त हैं, द्वितीय में ७४, तृतीय में ६२ और ८ कुंडलिया, चतुर्थ में ७६ और पंचम में ८८ छंद हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर इस ग्रंथ में ४०५ छंद हैं। इसमें अधिकांश लालित्य श्लेषयुक्त छंदों का है परंतु शृंगार, षट्ऋतु वर्णन और रामकथा के छंद अत्युत्कृष्ट हैं। सेनापति का काव्य अपने सुंदर यथातथ्य और मनोरम कल्पनापूर्ण षट्ऋतुवर्णन के लिये प्रसिद्ध है। भाव एवं कल्पनाचमत्कार के साथ साथ वास्तविकता का चित्रण सेनापति की विशेषता है। सबसे प्रधान तत्व सेनापति की भाषाशैली का है जिसमें शब्दावली अत्यंत संयत, भावोपयुक्त, गतिमय एवं अर्थगर्भ है।

सेनापति की भाषाशैली को देखकर ही उनके छंद बिना उनकी छाप के ही पहचाने जा सकते हैं। सेनापति की कविता मे उनकी प्रतिभा फूटी पड़ती है। उनकी विलक्षण सूक्ष्म छंदों में उक्तिवैचित्र्य का रूप धारण कर प्रकट हुई है जिससे वे मन और बुद्धि को एक साथ चमत्कृत करनेवाले बन गए हैं। (उनके छंद एक कुशल सेनापति के दक्ष सैनिकों की भाँति पुकारकर कहते हैं 'हम सेनापति के हैं'।)

सं० ग्रं० — आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी; उमाशंकर शुक्ल : कवित्त रत्नाकर; भगीरथ मिश्र : हिंदी रीतिसाहित्य। [भ० मि०]

सेनेका, लूसिअस आनाइअस (ई० पू० ४ से ई० सन् ६४ तक) महान् दार्शनिक और नाटककार का जन्म कोरडवा स्थान पर हुआ। एक सफल वकील के रूप में अपने जीवन का प्रारंभ कर बाद में वह एक महान् दार्शनिक और साहित्यकार बना।

सन् ४१ में तत्कालीन रोमन सम्राट् क्लाडियस ने उसका देशनिष्कासन कर उसे कार्सिका भेज दिया, लेकिन बाद मे आग्रीपीना ने वापस बुलाकर उसे राजकुमार नीरु का शिक्षक नियुक्त कर दिया। सन् ५४ मे क्लाडियस की मृत्यु के बाद नीरु सम्राट् बना और उसके प्रारंभिक पाँच वर्षों के उदार सफल शासन का श्रेय सेनेका के स्वस्थ निर्देशन को ही है। यद्यपि नीरु के शासनकाल में उसका जीवन संपन्न एवं सुख सुविधाओं से भरा हुआ था, फिर भी उसके राजदरबार मे उसकी स्थिति डावाँडोल बनी हुई थी। इसलिये शासनक्षेत्र से अलग होकर उसने अपना जीवन दार्शनिक चिंतन में लगाया। सन् ६५ में पिसोनियन षड्यंत्र को प्रोत्साहित करने का अभियोग उसपर लगाया गया और उसमें सम्राट् द्वारा अपने विरुद्ध दिए गए निर्णय पर आत्महत्या कर ली।

सेनेका ने अपने जीवन में अनेक महत्वपूर्ण कृतियों का सृजन

किया। इनमें से एक, क्लाडियस की मृत्यु पर व्यंग सात भागों में है। प्रकृतिविज्ञान की व्याख्या पर भी एक ग्रंथ है। ग्रीक पात्रों और पौराणिक कथाओं पर आधारित दुःखांत नाटक और दार्शनिक विषयों पर लिखे गए अनेक निबंध और पत्र प्रसिद्ध हैं। उसके निबंध बहुत उच्च कोटि के हैं और उनकी तुलना बेकन तथा इमरसन के निबंधों से की जाती है। उसके निबंध मानवता और आध्यात्मिक तत्वों से भरे हुए हैं। मानव दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूति प्रकट की गई है, जिसके लिये जगत्पिता परमेश्वर की करुणा की अपेक्षा पर बल दिया गया है, जो प्राणिमात्र को नैतिक एवं उच्च जीवन व्यतीत करने की शक्ति देता है।

यूरोप के जागरणयुग के नाटककारों को सेनेका के ही नाटकों से प्रेरणा मिली है। उसके नाटकों में ताल, लय, सुबोधता एवं भावुकता है। उसने यूरोप के दुःखांत नाटकों को एक नई दिशा दी। इटली, फ्रेंच और अंग्रेजी भाषा के तत्कालीन नाटकों की रचना सेनेका के ही नाट्य शिल्प के विविध पहलुओं पर आधारित है। एलिजाबेथ युग के दु:खांतों पर सेनेका जैसा प्रभाव और किसी साहित्यकार का नहीं पड़ा है।

सेनिगैंबिया पश्चिमी अफ्रीका में स्थित सेनेगल गणतंत्र एवं भूतपूर्व फ्रेंच सूडान के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता था क्योंकि ये देश सेनेगल एवं गैंबिया नदियों द्वारा सिंचित थे। इन्हीं नदियों के संयोग से सेनिगैंबिया बना है। यह १९०२ ई० में फ्रांस द्वारा स्थापित प्रादेशिक अधीन राज्य (territorial dependency) का भाग था जिसे फ्रांस में सेनिगैंबिया एवं नाइजर राज्यक्षेत्र (territories) के नाम से जाना जाता था (देखें सेनगल गणतंत्र) [रा० प्र० सि०]

सेनेगल गणतंत्र १. स्थिति : १२°-१७° उ० अ० एव ११°-१७° प० दे०। क्षेत्रफल (१९७,१६१ वर्ग किमी)। पश्चिमी अफ्रीका में एक गणतंत्र है। इसके पश्चिम में अंध महासागर, उत्तर मे मारिटैनिया और सेनेगल नदी, पूर्व में माली गणतंत्र, दक्षिण में गिनी, पुर्तगीज गिनी और ब्रिटिश गैंबिया हैं। तटीय क्षेत्र में बालू के टीले एवं अवरुद्ध नदमुख (estuaries) हैं। इसके बाद बालू द्वारा निर्मित मैदान तथा सेनेगल नदी के बाढ़ के मैदान पड़ते हैं। दक्षिणी पूर्वी भाग में फूटा जालून पहाड़ियाँ हैं जिनकी सर्वाधिक ऊँचाई १९०० फुट से कुछ ही अधिक है। सेनेगल, सालूम गैंबिया और कासामांस पूर्व से पश्चिम बहनेवाली मुख्य नदियाँ हैं। यहाँ की जलवायु में बहुत ही विभिन्नता पाई जाती है। तटीय क्षेत्र की जलवायु सम है। वर्षा जून से सितंबर तक होती है। उत्तर में वर्षा की मात्रा २०" तथा दक्षिण में कासामांस क्षेत्र में ८०" है। वार्षिक ताप २४°-३८° सें० के बीच में रहता है। मध्य एवं पूर्वी भाग शुष्क हैं। वर्षा की कमी के कारण घास एवं कँटीली झाड़ियों की अधिकता से बाँस, टीक, बबूल और बेर मुख्य हैं। साधारणत: यहाँ की भूमि बलुई है जिनमें मूँगफली, ज्वार, बाजरा, मक्का एवं कुछ धान उत्पन्न किया जाता है। कृषि एवं पशुपालन महत्वपूर्ण उद्योग हैं। सेनेगल टाइटेनियम, एलुमीनियम और गंधक के निक्षेप के लिये प्रसिद्ध है। रसायनक एवं सीमेंट निर्माण अन्य उल्लेखनीय उद्योग हैं।

यहाँ गेहूँ, चावल, चीनी, पेट्रोलियम एवं उसके पदार्थों, वस्त्र एवं यंत्रों का आयात तथा मूँगफली, मूँगफली के तेल, खली (oil cake) और गंधक का निर्यात होता है। अधिकांश व्यापार ब्रिटेन, टोगोलैंड, माली और गिनी से होता है।

सेनेगल की जनसंख्या ३१,००,००० (१९६२) है। इस प्रकार प्रति वर्ग मील जनसंख्या का घनत्व ४० है। डकार (Dakar) यहाँ की राजधानी एवं सर्वप्रमुख औद्योगिक नगर है। रुफिस्क (Rufisque), सेंट लुइस, कामोलाक, थिएज (Thies) जिगुंकार (Ziguinchor), डाईयूरबेल (Diourbel) और लोंगा अन्य प्रसिद्ध नगर हैं। नगरों में २५% लोग निवास करते हैं। राजकाज एवं अध्ययन अध्यापन की भाषा फ्रांसीसी है उच्च शिक्षा की व्यवस्था डकार एवं सेंट लुइस नगरों में है। इन नगरों में ६ आधुनिक महाविद्यालय, तीन तकनीकी एवं तीन प्रशिक्षण महाविद्यालय हैं। डकार में एक विश्वविद्यालय भी है। कामोलाक और थिएज में भी अब अध्ययन की सुविधाएँ उपलब्ध हैं। गमनागमन के साधन अधिक विकसित नहीं हैं। कुल सड़कों की लंबाई ७१०० मील है। रेलमार्गों की लंबाई ६१५ मील है। प्रमुख नगर रेल एवं सड़क मार्गों से संबद्ध हैं। डकार अफ्रीका के बड़े बंदरगाहों में से एक है जहाँ विदेशों के जलयान आते जाते रहते हैं। सेनेगल नदी पर स्थित सेंट लुइस से पोडार तक १४० मील लंबा आंतरिक जलमार्ग है। यह विदेशी जलयानों के लिये बंद रहता है। यह गणतंत्र प्रशासन के लिये १२ क्षेत्रों में विभक्त है। याफ (डकार) के अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डे से विदेशों एवं देश के प्रमुख नगरों के लिये वायुसेवाएँ हैं।

२. सेनेगल नदी, यह पश्चिमी अफ्रीका में एक नदी है जो दक्षिणी पश्चिमी माली से निकलकर उत्तर पश्चिम सेनेगल में से बहती हुई सेंट लुइस के आगे जाकर अंध महासागर में गिर जाती है। यह सेनेगल और मारिटैनिया की सीमा कुछ दूर तक निर्धारित करती है। बैफिंग, बैकाय एवं फालेम इसकी सहायक नदियाँ हैं। केइज (Kayes), बाकेल, केइडी (Kaedi), पोडार और सेंट लुइस नगर इसके किनारे स्थित हैं। यह लगभग २०० मील तक नाव्य है। वर्षा में दो केईज तक (५६५ मील तक) नौगमन होता है। सेनेगल नदी १००० मील लंबी है। [रा० प्र० सि०]

सेफैलोपोडा (Cephalopoda) अपृष्ठवंशी प्राणियों का एक सुसंगठित वर्ग जो केवल समुद्र ही में पाया जाता है। यह वर्ग मोलस्का (mollusca) संघ के अंतर्गत आता है। इस वर्ग के ज्ञात जीवित वंशों की संख्या लगभग १५० है। इस वर्ग के सुपरिचित उदाहरण अष्टभुज (octopus), स्क्विड (squid) तथा कटल फिश (cuttlefish) हैं। सेफैलोपोडा के विलुप्त प्राणियों की संख्या जीवितों की तुलना में अधिक है। इस वर्ग के अनेक प्राणी पुराजीवी (palaeozoic) तथा मध्यजीवी (mesozoic) समय में पाए जाते थे। विलुप्त प्राणियों के उल्लेखनीय उदाहरण ऐमोनाइट (Ammonite) तथा बेलेम्नाइट (Belemnite) हैं।

सेफैलोपोडा की सामान्य रचनाएँ मोलस्का संघ के अन्य प्राणियों के सदृश ही होती हैं। इनका आंतरांग (visceral organs) लंबा

और प्रावार (mantle) से ढका रहता है। कवच (shell) का स्राव (secretion) प्रावार द्वारा होता है। प्रावार और कवच के मध्य के स्थान को प्रावार गुहा (mantle cavity) कहते हैं। इस गुहा में गिल (gills) लटकते रहते हैं। आहार नाल में विशेष प्रकार की रेतन जिह्वा (rasping tongue) या रेडुला (redula) होता है।

सेफैलोपोडा के सिर तथा पैर इतने सन्निकट होते हैं कि मुँह पैरों के मध्य में स्थित होता है। पैरों के मुक्त सिरे कई उपांग (हाथ तथा स्पर्शक) बनाते हैं। अधिकांश जीवित प्राणियों में पक्ष (fins) तथा कवच होते हैं। इन प्राणियों के कवच या तो अल्प विकसित या ह्रसित होते हैं। इस वर्ग के प्राणियों का औसत आकार काफी बड़ा होता है। आर्किट्यूथिस (architeuthis) नामक वंश सबसे बड़ा जीवित अपृष्ठवंशी है। इस वंश के प्रिंसेप्स (princeps) नामक स्पेशीज की कुल लंबाई (स्पर्शक सहित) ५२ फुट है। सेफैलोपोडा, ह्वेल (whale), क्रस्टेशिया (crustacea) तथा कुछ मछलियों द्वारा विशेष रूप से खाए जाते हैं।

बाह्य शरीर एवं सामान्य संगठन — नाटिलॉइड (nautiloids) तथा ऐमोनाइट संभवतः उथले जल में समुद्र के पास रहते थे। रक्षा के लिये इनके शरीर के ऊपर कैल्सियमी कवच होता था। इनकी गति (movement) की चाल (speed) संभवतः नगण्य थी। वर्तमान नाटिलस (nautilus) के जीवन में ये सभी संभावनाएँ पाई जाती हैं। डाइब्रैंकिया (dibranchia) इसके विपरीत तेज तैरनेवाले हैं। इनके बाह्य संगठन के कुछ मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं (१) मोलस्का तथा टेट्राब्रैंकिया (tetrabranchia) के प्राणियों में प्रावार लगभग निष्क्रिय तथा केवल आंतरांग को ढके रहता है परंतु इस उपवर्ग में प्रावार चलन (locomotion) में भी सहायक होता है। प्रावार के संकुचन तथा प्रसार से चलन जलधारा प्रावार गुहा के अंदर आती है और कीप सदृश रचना से बाहर निकल जाती है। तेज गति से पानी बाहर निकलने के कारण प्राणियों में पश्चगति पैदा होती है। (२) नॉटिलस में कीप सदृश रचना दो पेशीय वलनों (muscular folds) की बनी होती है। ये वलन मध्य रेखा में जुड़े रहते हैं। डाइब्रैंकिया में इन वलनों का आपस में पूर्ण मिलन हो जाने के कारण एक नलिका बन जाती है। (३) पंख के आकार के अतिरिक्त गमन उपांग (additional locomotory appendages) प्रावार के एक किनारे से जुड़े होते हैं। ये उपांग बड़े आकार के हो सकते हैं। इनका मुख्य कार्य जल में प्राणी का संतुलन बनाए रखना है। (४) तेज गति के कारण डाइब्रैंकिया के प्राणियों के परिमुखीय (circumoral) उपांग छोटे होते हैं। डेकापोडा (decapoda) में ये उपांग बड़े तथा शृंगी होते हैं। इनकी ऊपरी सतह पर चूषक भी पाए जाते हैं।

आंतरिक शरीर — सभी सेफैलोपोडा में तंत्रिका तंत्र के मुख्य गुच्छिका (gangleon) के ऊपर आंतरिक उपास्थि का आवरण रहता है। डाइब्रैंकिया उपवर्ग में यह आवरण अधिक विकसित होकर करोटि सदृश रचना बनाता है। इसी उपवर्ग में करोटि सदृश रचना के अतिरिक्त पेशियों के कंकाली आधार भी पक्ष, ग्रीवा, गिल तथा हाथ आदि पर होते हैं। ये प्राणियों को अधिक गतिशीलता प्रदान करते हैं।

आंतरिक अंग — सेफैलोपोडा के आहार तंत्र में पेशीय मुखगुहा जिसमें एक जोड़े जबड़े तथा कर्तन जिह्वा, ग्रसिका, लालाग्रंथि (Salivary gland), आमाशय, अंधनाल, यकृत तथा आंत्र होते हैं। कुतरने चर्वण का कार्य शक्तिशाली जबड़ों तथा रेतन जिह्वा के दाँतों द्वारा होता है। रेतन जिह्वा किसी किसी सेफैलोपोडा में नहीं होती। डाइब्रैंकिया के लगभग सभी प्राणियों में गुदा के करीब आंत्र का एक अपवर्ध (diverticulum) होता है, जिसमें एक प्रकार के गाढ़े द्रव जिसे सीपिया (Sepia) या स्याही कहते हैं. स्रवण होता है। प्राणियों द्वारा इसके तेज विसर्जन से जल में गहरी धुँधलाहट उत्पन्न होती है। इससे प्राणी अपने शत्रु से अपना बचाव करता है।

परिसंचरण एवं श्वसन तंत्र — सेफैलोपोडा में ये तंत्र सर्वाधिक विकसित होते हैं। रुधिर प्रवाह विशिष्ट वाहिकाओं द्वारा होता है। डाइब्रैंकिया में परिसंचरण तथा ऑक्सीजनीकरण का विशेष रूप से केंद्रीकरण हो जाता है। इसमें नॉटिलस की तरह चार गिल तथा चार आलिंद (auricles) के स्थान पर दो गिल तथा दो आलिंद ही होते हैं। डाइब्रैंकिया में श्वसन के लिये प्रावार के प्रवाहपूर्ण संकुचन तथा प्रसार से जलधारा गिल के ऊपर से गुजरती है। सेफैलोपोडा के गिल पर (feather) की तरह होते हैं।

वृक्कीय अंग — नाइट्रोजनी उत्सर्ग का उत्सर्जन वृक्क द्वारा होता है। यकृत जो अन्य मोलस्का में पाचन के साथ साथ उत्सर्जन का भी कार्य करता है, इसमें केवल पाचन का ही कार्य करता है। नॉटिलस में वृक्क चार तथा डाइब्रैंकिया में दो होते हैं।

तंत्रिका तंत्र — सेफैलोपोडा का मुख्य गुच्छिकाकेंद्र सिर में स्थित होता है तथा गुच्छिकाएँ बहुत ही सन्निकट होती हैं। केंद्रीय तंत्रिका का इस प्रकार का संघनन पाया जाता है। सेफैलोपोडा की ज्ञानेंद्रियाँ आँखें, राइनोफोर (Rhinophore) या घ्राण अंग, संतुलन पट्टी (तंत्रिका-नियंत्रण-अंग) तथा स्पर्शक रचनाएँ आदि हैं। डाइब्रैंकिया की आँखें जटिल तथा कार्यक्षमता की दृष्टि से पृष्ठवंशियों की आँखों के समान होती हैं।

जनन तंत्र — सेफैलोपोडा में लिंगभेद पाया जाता है। उभयलिंगी प्राणी इस वर्ग में नहीं पाए जाते हैं। लैंगिक द्विरूपता (sexual dimorphism) विकसित होती है। वेलापवर्ती (Pelagic) ऑक्टोपोडा (Octopoda) में नर मादा की तुलना में अत्यधिक छोटा होता है। कटलफिश के नर की पहचान उसके पक्ष की लंबी पूँछ सदृश रचना से की जाती है। लगभग सभी सेफैलोपोडा के नरों में एक या दो जोड़े उपांग 'मैथुन अंग' में परिवर्तित हो जाते हैं। नर जनन तंत्र मादा की अपेक्षा अधिक जटिल होता है। नर शुक्राणुओं को एक नलिका सदृश रचना या शुक्राणुधर (Spermatophore) में स्थानांतरित करता है। ये शुक्राणुधर विशेष कोश में स्थित रहते हैं। ये नलिकाएँ मादा के मुँह के समीप जैसा नाटिलस, सीपिया (sepia), लॉलिगो (loligo) आदि

में होता है अथवा मैथुन अंगों की सहायता से प्रावार गुहा में निक्षेपित कर दी जाती है जैसे अष्टभुज में। अष्टभुज के एक उपांग का मुक्त सिरा साधारण चम्मच सदृश रचना में परिवर्तित होकर मैथुन अंग बनाता है। डेकापोडा (Decapoda) में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन पाए जाते हैं। इन प्राणियों में एक या एक से अधिक उपांग मैथुन अंग में परिवर्तित हो सकते हैं।

रंगपरिवर्तन तथा संदीप्ति — त्वचा के स्थायी रंग के अतिरिक्त डाइब्रैंकिया में संकुचनशील कोशिकाओं का एक त्वचीय तंत्र होता है। इन कोशिकाओं को रंग्यालय (Chromatophore) कहते हैं। इन कोशिकाओं में वर्णक होते हैं। इन कोशिकाओं के प्रसार तथा संकुचन से त्वचा का रंग अस्थायी तौर पर बदल जाता है।

कुछ डेकापोडा में, विशेषकर जो गहरे जल में पाए जाते हैं, प्रकाश अंग (light organ) पाए जाते हैं। ये अंग प्रावार, हाथ तथा सिर के विभिन्न भागों में पाए जाते हैं।

परिवर्धन — सभी सेफैलोपोडा के अंडों में पीतक (Yolk) की असाधारण मात्रा पाई जाने के कारण अन्य मोलस्का के विपरीत इनका खंडीभवन (Segmentation) अपूर्ण तथा अंडे के एक सिरे तक ही सीमित रहता है। भ्रूण का विकास भी इसी सिरे पर होता है। पीतक के एक सिरे से बाह्य त्वचा का निर्माण होता है। बाद में इसी बाह्य त्वचा के नीचे कोशिकाओं की एक चादर (sheet) बनती है। यह चादर बाह्य त्वचा के उस सिरे से बननी आरंभ होती है जिससे बाद में गुदा का निर्माण होता है। इसके बाद बाह्य त्वचा से अंदर की ओर जानेवाला कोशिकाओं से मध्यजनस्तर (mesoderm) का निर्माण होता है। यह उल्लेखनीय है कि मुँह पहले हाथों के आद्यांगों (rudiments) से नहीं घिरा रहता है। हाथ के आद्यांग उद्वर्ध (outgrowth) के रूप में मौलिक भ्रूणीय क्षेत्र के पार्श्व (lateral) तथा पश्च (posterior) सिरे से निकलते हैं। ये आद्यांग मुँह की ओर तब तक बढ़ते रहते हैं जब तक वे मुँह के पास पहुँचकर उसको चारो ओर से घेर नहीं लेते हैं। कीप एक जोड़े उद्वर्ध से बनती है। सेफैलोपोडा में परिवर्धन, जनन स्तर (germlayers) बनने के बाद विभिन्न प्राणियों मे विभिन्न प्रकार का होता है। परिवर्धन के दौरान अन्य मोलस्का की भाँति कोई डिंभक अवस्था (larval stage) नहीं पाई जाती है।

जातिवृत्त तथा विकास — जीवाश्म (fossil) सेफैलोपोडा के कोमल अंगों की रचना का अल्प ज्ञान होने के कारण इस वर्ग के कैंब्रियन कल्प में प्रथम प्रादुर्भाव का दावा मात्र कवचों के अध्ययन पर ही आधारित है। इस प्रकार इस वर्ग का दो उपवर्गों डाइब्रैंकिया तथा टेट्राब्रैंकिया (Tetrabranchia) में विभाजन नॉटिलस के गिल की रचना तथा आंतरांग लक्षणों के विशेषकों पर ही आधारित है। इस विभाजन का आद्य नाटिलॉइड तथा ऐमोनाइड की रचनाओं से बहुत ही अल्प संबंध है। इसी प्रकार ऑक्टोपोडा के विकास का ज्ञान, जिसमें कवच अवशेषी तथा अकैल्सियमी होता है, सत्यापनीय (verifiable) जीवाश्मों की अनुपस्थिति में एक प्रकार का समाधान है।

भूवैज्ञानिक अभिलेखों द्वारा अभिव्यक्त सेफैलोपोडा के विकास का इतिहास जानने के लिये नॉटिलस के कवच का उल्लेख आवश्यक है। अपने सामान्य संगठन के कारण यह सर्वाधिक आद्य जीवित सेफैलोपोडा है। यह कवच कई बंद तथा कुंडलित कोष्ठों में विभक्त रहता है। अंतिम कोष्ठ में प्राणी निवास करता है। कोष्ठों के इस तंत्र में एक मध्य नलिका या साइफन (siphon) पहले कोष्ठ से लेकर अंतिम कोष्ठ तक पाई जाती है। सबसे पहला सेफैलोपोडा कैंब्रियन चट्टानों में पाया गया। ऑरथोसेरैस (Orthoceras) में नाटिलस की तरह कोष्ठोंवाला कवच तथा मध्य साइफन पाया जाता है; हालाँकि यह कवच कुंडलित न होकर सीधा होता था। बाद में नॉटिलस की तरह कुंडलित कवच भी पाया गया। सिल्यूरियन (Silurion) ऑफिडोसेरैस (Ophidoceras) में कुंडलित कवच पाया गया है। ट्राइऐसिक (Triassic) चट्टानों में वर्तमान नॉटिलस के कवच से मिलते जुलते कवच पाए गए हैं। लेकिन वर्तमान नॉटिलस का कवच तृतीयक समय (Tertiary period) के प्रारंभ तक नहीं पाया गया था।

इस संक्षिप्त रूपरेखा सेफैलोपोडा के विकास की प्रथम अवस्था का संकेत मिल जाता है। यदि हम यह मान लें कि मोलस्का एक सजातीय समूह है, तो यह अनुमान अनुचित न होगा कि आद्य मोलस्का मे, जिनसे सेफैलोपोडा की उत्पत्ति हुई है, साधारण टोपी के सदृश कवच होता था। इनसे किन विशेष कारणों या तरीकों द्वारा सेफैलोपोडा का विकास हुआ, यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है। सर्वप्रथम आद्य टोपी सदृश कवच के सिरे पर चूनेदार निक्षेपों के कारण इसका दीर्घीकरण होना प्रारंभ हुआ। प्रत्येक उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ आंतरांग के पिछले भाग से पट (Septum) का स्रवण होता गया। इस प्रकार नाटिलाइड कवच का निर्माण हुआ। इस प्रकार के लंबे कवच को धक्के आदि द्वारा नुकसान होने का भय था। गैस्ट्रोपोडा (Gastropoda) में इन्हीं नुकसानों से बचने के कवच लिये कुंडलित हो गया। वर्तमान गैस्ट्रोपोडा में कुंडलित कवच ही पाए जाते हैं।

डाइब्रैंकिएटा उपवर्ग के आधुनिक स्क्विड, अष्टभुज तथा कटल-फिश में आंतरिक तथा ह्रसित कवच होता है। इसी आधार पर ये नॉटिलॉइड से विभेदित किए जाते हैं। इसी उपवर्ग मे मात्र स्पाइरूला (Spirula) ही ऐसा प्राणी है जिसमें आंशिक बाह्य कवच होता है। डाइब्रैंकिया के कवच की विशेष स्थिति प्रावार द्वारा कवच की अति वृद्धि तथा कवच के चारों ओर द्वितीयक आच्छद (secondary sheath) के निर्माण के कारण होती है। अंत में इस आच्छाद के अन्य स्वयं कवच से बड़े हो जाते हैं। सक्रिय तरण स्वभाव अपनाने के कारण कवच धीरे धीरे लुप्त होता गया तथा बाह्य रक्षात्मक खोल का स्थान शक्तिशाली प्रावार पेशियों ने ले लिया। इस प्रकार की पेशियों से प्राणियों को तैरने में विशेष सुविधा प्राप्त हुई। साथ ही साथ नए अभिविन्यास (orientation) के कारण प्राणियों के गुरुत्वाकर्षण केंद्र के पुनः समंजन की भी आवश्यकता पड़ी क्योंकि भारी तथा अपूर्ण अंतस्थ कवच क्षैतिज गति में बाधक होते हैं।

जीवित अष्टभुजों में कवच का विशेष न्यूनीकरण हो जाता है।

इनमें कवच एक सूक्ष्म उपास्थिसम शूकिका (cartilagenous stylet) या पंख आधार जिन्हें 'सिरेटा' (cirrata) कहते हैं, के रूप में होता है। ये रचनाएँ कवच का ही अवशेष मानी जाती हैं। यद्यपि विश्वासपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता है कि ये कवच के ही अवशेष हैं। वास्तव में इस समूह के पूर्वज परंपरा (ancestory) की कोई निश्चित जानकारी अभी तक उपलब्ध नहीं है।

वितरण तथा प्राकृतिक इतिहास — सेफैलोपोडा के सभी प्राणी केवल समुद्र ही में पाए जाते हैं। इन प्राणियों के अलवण या खारे जल में पाए जाने का कोई उत्साहजनक प्रमाण नहीं प्राप्त है। यद्यपि कभी कभी ये ज्वारनद मुखों (estuaries) तक आ जाते हैं फिर भी वे कम लवणता को सहन नहीं कर सकते हैं।

जहाँ तक भौगोलिक वितरण का प्रश्न है कुछ वंश तथा जातियाँ सर्वत्र पाई जाती हैं। क्रैंचिआस्कैब्रा (Cranchiascabra) नामक छोटा सा जीव ऐटलैंटिक, हिंद तथा प्रशांत महासागरों में पाया जाता है। सामान्य यूरोपीय ऑक्टोपस वलगेरिस (Octopus vulgaris) तथा ऑक्टोपस मैक्रापस (O macropus) सुदूर पूर्व में भी पाए जाते हैं। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि कुछ वंशों तथा जातियों का वितरण उसी प्रकार का है जैसा अन्य समुद्री जीवों के बड़े वर्गों में होता है। बहुत सी भूमध्यसागरीय जातियाँ दक्षिणी ऐटलैंटिक तथा इंडोपैसेफिक क्षेत्र में पाई जाती हैं।

छोटा तथा भंगुर क्रैंचिआस्कैब्रा प्रौढ़ावस्था में प्लवकों की तरह जीवन व्यतीत करता है अर्थात् यह पानी की धारा के साथ अनियमित रूप से इधर उधर होता रहता है। ऑक्टोपोडा मुख्यतः समुद्रतल पर रेंगते अथवा तल से कुछ ऊपर तैरते रहते हैं। कुछ जातियाँ समुद्रतल पर ही सीमित न होकर मध्य गहराई में भी पाई जाती हैं। यद्यपि आक्टोपोडा के कुल मुख्यतः उथले जल में ही पाए जाते हैं परंतु कुछ नितांत गहरे जल में भी पाए जाते हैं।

जनन ऋतु का इन प्राणियों के वितरण पर विशेष प्रभाव पड़ता है। सामान्य कटल फिश (सीपिया ऑफिसिनेलिस—Sepia officinalis) बसंत तथा गरमी में प्रजनन के लिये उथले तटवर्ती जल में आ जाते हैं। इस प्रकार के प्रवास (migration) अन्य प्राणियों में भी पाए गए हैं।

सेफैलोपोडा की मैथुनविधि विशेष रूप से ज्ञात नहीं हैं। सीपिया, लॉलिगो (Loligo) आदि के संबंध में यह कहा जाता है कि इनके प्रकाश अंग लैंगिक प्रदर्शन का काम करते हैं। लैंगिक द्विरूपता (sexual dimorphism) नियमित रूप से पाई जाती हैं।

अधिकांश सेफैलोपोडा द्वारा अंडे तटवर्ती स्थानों पर दिए जाते हैं। ये अंडे अकेले अथवा गुच्छों में होते हैं। वेलापवर्ती (pelagic) जीवों में अंडे देने की विधि कुछ जीवों को छोड़कर लगभग अज्ञात है।

अधिकांश सेफैलोपोडा मांसाहारी होते हैं तथा मुख्यतः क्रस्टेशिया (crustacea) पर ही जीवित रहते हैं। छोटी मछलियाँ तथा अन्य मोलस्का आदि भी इनके भोजन का एक अंग हैं। डेकापोडा (Decapoda) की कुछ जातियाँ छोटे छोटे कोपेपोडा (copepoda) तथा टेरोपोडा (pteropoda) आदि को भी खाती हैं। सेफैलोपोडा; ह्वेल (whale), शिंशुक (porpoises), डॉलफिन (dolphin) तथा सील आदि द्वारा खाए जाते हैं।

आर्थिक उपयोग — सेफैलोपोडा मनुष्यों के लिये महत्वपूर्ण जीव हैं। मनुष्यों की कुछ जातियों द्वारा ये खाए भी जाते हैं। दुनिया के कुछ भाग में सेफैलोपोडा मछलियों के पकड़ने के लिये चारे के रूप में प्रयुक्त होते हैं। नियमित रूप से इन प्राणियों के खानेवाले लोगों के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है परंतु अधिकांश मांसाहारियों द्वारा ये कभी कभी ही खाए जाते हैं। सेफैलोपोडा से कटल बोन (cuttle bone) नामक एक महत्वपूर्ण वस्तु निकाली जाती थी तथा आदिम जातियों द्वारा कोढ़ तथा हृदय की बीमारियों में प्रयुक्त होती थी।

सेफैलोपोडा का प्रथम अध्ययन अरस्तू द्वारा शुरू किया गया था। उसने इस समूह पर अपना विशेष ध्यान केंद्रित किया था। सेफैलोपोडा के आधुनिक आकृतिविज्ञान (morphology) का अध्ययन कूवियर (Cuvier) के समय से शुरू हुआ। सर्वप्रथम कूवियर ने ही इन प्राणियों के समूह का नाम सेफैलोपोडा रखा।

[न० कु० रा०]

सेम संसार के प्रायः सभी भागों में उगाई जाती है। इसकी अनेक जातियाँ होती हैं और उसी के अनुसार फलियाँ भिन्न भिन्न आकार की लंबी, चिपटी और कुछ टेढ़ी तथा सफेद, हरी, पीली आदि रंगों की होती है। इसकी फलियाँ शाक सब्जी के रूप में खाई जाती हैं, स्वादिष्ट और पुष्टकर होती हैं यद्यपि यह उतनी सुपाच्य नहीं होती। वैद्यक में सेम मधुर, शीतल, भारी, बलकारी, वातकारक, दाहजनक, दीपन तथा पित्त और कफ का नाश करने वाली कही गई हैं। इसके बीज भी शाक के रूप में खाए जाते हैं। इसकी दाल भी होती है। बीज में प्रोटीन की मात्रा पर्याप्त रहती है। उसी कारण इसमें पौष्टिकता आ जाती है।

सेम के पौधे बेल प्रकार के होते हैं। भारत में घरों के निकट इन्हें छानों पर चढ़ाते हैं। खेतों में इनकी बेलें जमीन पर फैलती हैं और फल देती हैं। उत्तर प्रदेश में रेंड़ी के खेत में इसे बोते हैं।

यह मध्यम उपज देनेवाली मिट्टी में उपजती है। इसके बीज एक एक फुट की दूरी पर लगाए जाते हैं। कतारें दो से तीन फुट की दूरी पर लगाई जाती हैं। वर्षा के प्रारंभ से बीज बोया जाता है। जाड़े या बसंत में पौधे फल देते हैं। गरमी में पौधे जीवित रहने पर फलियाँ बहुत कम देते हैं। अतः प्रति बरस बीज बोना चाहिए। यह सूखा सह सकता है। इसकी कई किस्में होती हैं जिनमें फ्रांसिसी या किडनी सेम अधिक महत्व की है। यह दक्षिणी अमरीका का देशज है पर संसार के प्रत्येक भाग में उपजाई जाती है। यह मध्यम उपज वाली मिट्टियों में हो जाती है। प्रति एकड़ ३०-४० पाउंड नाइट्रोजन देना चाहिए। मैदानों में शीतकालीन वामन या झाड़ीवाली जातियाँ उपजती है। इन्हें अक्टूबर या प्रारंभ नवंबर तक डेढ़ से दो फुट कतारों में बोते हैं। बीज ६ इंच से १ फुट की दूरी पर लगाते हैं। कूड़ों में ३ इंच की दूरी पर बोकर पीछे ६ इंच से १ फुट का विरलन कर देते हैं। यह पर्वतों पर अच्छी उपजती है और अंत मार्च से

जून तक बोई जाती है। सिंचाई प्रत्येक पखवारे करनी चाहिए। इसकी अनेक जातियाँ हैं। यह लेगुमिनेसी वंश का पौधा है।

[य० रा० मे०]

सेलम १. जिला :— भारत के तमिलनाडु राज्य का यह एक जिला है। इसका क्षेत्रफल ७,०२८ वर्ग मील एवं जनसंख्या ३८,०४,१०८ (१९६१) है। इसके उत्तर एवं उत्तर पश्चिम में मैसूर राज्य तथा पश्चिम में कोयंबुत्तर, दक्षिण में तिरुच्चिरापल्लि, दक्षिण पूर्व में दक्षिणी आर्काट्ट और पूर्व उत्तर में उत्तरी अर्काट्ट जिले हैं। इसके दक्षिण का भूभाग मैदानी है, शेष भाग पहाड़ी है, लेकिन अनेक श्रेणियों के मध्य में वृहत् समतल भूभाग भी हैं। जिला तीन क्षेत्रों से मिलकर बना है जिन्हें क्रमशः तालघाट, बाड़महाल एवं बालाघाट कहते हैं। तालघाट पूर्वी घाट के नीचे स्थित है, बाड़महाल के अंतर्गत घाट का संपूर्ण संमुख भाग एवं आधार का विस्तृत क्षेत्र आता है और बालाघाट क्षेत्र मैसूर के पठार में स्थित है। जिले का पश्चिमी भाग पहाड़ी है। यहाँ की प्रमुख पर्वत श्रेणियाँ शेवाराय, कलरायन, मेलगिरी, कोलाईमलाई, पचमलाई तथा येलगिरी हैं। यहाँ की प्रमुख फसलें धान, दलहन, तिलहन, आम एवं मोटा अनाज (ज्वार, बाजरा आदि) हैं। शेवाराय पहाड़ियों पर कॉफी उत्पन्न की जाती है। बेहर तालाब प्रणाली द्वारा जिले के अधिकांश भाग में सिंचाई होती है। यहाँ का प्रमुख उद्योग सूती वस्त्र बुनना है। मैग्नेसाइट एवं स्टिएटाइट का खनन यहाँ होता है। लोह एवं इस्पात उद्योग भी यहाँ हैं। अंग्रेजों ने इस जिले को अंशत टीपू सुलतान से १७९२ ई० मे शांति संधि द्वारा और अंशतः १७९९ ई० मे मैसूर विभाजन संधि द्वारा प्राप्त किया था।

२ नगर, स्थिति : ११° ३९' उ० अ० तथा ७८° १०' पू० दे०। यह नगर उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक केंद्र है और तिरुमनिमुत्तर नदी के दोनों किनारों पर मद्रास नगर से २०६ मील दक्षिण पश्चिम में स्थित है। यह हरी भरी घाटी में है जिसके उत्तर मे शेवाराम तथा दक्षिण में जरुगुमलाई पहाड़ियाँ हैं। मेट्टर जलविद्युत् योजना के विकास के कारण सेलम के सूती वस्त्र उद्योग में अत्यधिक उन्नति हुई है। नगर से रेलवे स्टेशन ३ मील की दूरी पर स्थित हैं। नगर की जनसंख्या २,४९,१४५ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

सेलुलॉइड (Celluloid) व्यापार का नाम है। यह नाइट्रो सेलुलोस और कपूर का मिश्रण है पर मिश्रण की तरह यह व्यवहार नहीं करता। यह एक रासायनिक यौगिक की तरह व्यवहार करता है। इसके अवयवों को भौतिक साधनों द्वारा पृथक् करना सरल नहीं है।

सेलुलोस के नाइट्रेटीकरण से कई नाइट्रोसेलुलोस बनते हैं। कुछ उच्चतर होते हैं, कुछ निम्नतर। नाइट्रेटीकरण की विधि वही है जो गन कॉटन तैयार करने में प्रयुक्त होती है। इसके लिये सेलुलोस शुद्ध और उच्च कोटि का होना चाहिए। निम्नतर नाइट्रोसेलुलोस ही कपूर के साथ गरम करने से मिश्रित होकर सेलुलॉइड बनते हैं। इसके निर्माण में १० भाग नाइट्रोसेलुलोस के कपूर के ऐल्कोहली विलयन (४ से ५ भाग कपूर) के साथ और यदि आवश्यकता हो तो कुछ रंजक मिलाकर लोहे के बंद पात्र में प्रायः ६०° से० ताप पर गूँधते हैं, फिर उसे पट्ट पर रखकर सामान्य ताप पर सुखाते हैं।

सेलुलॉइड में कुछ अच्छे गुणों के कारण इसका उपयोग व्यापक रूप से होता है। इसमें लचीलापन, उच्च तन्यबल, चिमड़ापन, उच्च चमक, एकरूपता, सस्तापन, तेल और तनु अम्लों के प्रति प्रतिरोध आदि कुछ अच्छे गुण होते हैं। इसमें रंजक बड़ी सरलता से मिल जाता है। तप्त सेलुलॉइड को सरलता से साँचे में ढाल सकते हैं। ठंडा होने पर यह जमकर कठोर पारदर्शक पिंड बन जाता है। बहुत निम्न ताप पर यह भंगुर होता है और २००° से० से ऊँचे ताप पर विघटित होना शुरू हो जाता है। सेलुलॉइड को सरलतापूर्वक आरी से चीर सकते हैं, बरमा से छेद सकते हैं, खराद पर खराद सकते हैं और उसपर पालिश कर सकते हैं। इसमें दोष यही है कि यह जल्दी आग पकड़ लेता है।

बाजारों में साधारणतया दो प्रकार के सेलुलॉइड मिलते हैं, एक कोमल किस्म का जिसमें ३० से ३२ प्रतिशत और दूसरा कठोर किस्म का जिसमें लगभग २३ प्रतिशत कपूर होता है। यह चादर, छड़, नली आदि के रूप में मिलता है। इसकी चादरें ०·००५ से ०·२५० इंच तक मोटाई की बनी होती हैं। सेलुलॉइड के सैकड़ों खिलौने, पिंगपौंग के गेंद, पियानो की कुंजियाँ, चश्मों के फ्रेम, दाँत के बुरुश, बाइसिकिल के फ्रेम और मूठें, छुरी की मूठें, बटन, फाउंटेन पेन, कंघी इत्यादि अनेक उपयोगी वस्तुएँ बनती हैं। [स० व०]

सेलुलोस वनस्पतिजगत् के पेड़ पौधों की कोशिका दीवारों का सेलुलोस प्रमुख अवयव है। पेड़ पौधों का यह वस्तुतः कंकाल कहा जाता है। इसी के बल पर पेड़ पौधे खड़े रहते हैं। वनस्पतिजगत् के पौधों शैवाल, फर्न, कवक और दंडाणु में भी सेलुलोस रहता है। प्रकृति में पाए जानेवाले कार्बनिक पदार्थों में यह सबसे अधिक मात्रा में और व्यापक रूप से पाया जाता है।

प्रकृति में सेलुलोस शुद्ध रूप में नहीं पाया जाता। उसमें न्यूनाधिक अपद्रव्य मिले रहते हैं। सेलुलोस सबसे अधिक रूई में (प्रायः ९० प्रतिशत) फिर कोनिफेरस काष्ठ में (प्राय. ६० प्रतिशत) और अनाज के पुआलों में (प्राय ४० प्रतिशत) पाया जाता है। अपद्रव्य के रूप में सेलुलोस के साथ लिग्निन, पोलिसैकेराइड, वसा, रेजिन, गोंद, मोम, प्रोटीन, पेक्टीन और कुछ अकार्बनिक पदार्थ मिले रहते हैं।

शुद्ध सेलुलोस सामान्यतः रूई से प्राप्त होता है। प्राप्त करने की विधियाँ सल्फाइट या सल्फेट विधियाँ है जिनका विस्तृत वर्णन अन्यत्र लुगदी के प्रकरण में हुआ है (देखें लुगदी)। प्राकृतिक सेलुलोस से अपद्रव्यों के निकालने के लिये साधारणतया सोडियम हाइड्राक्साइड प्रयुक्त होता है। इस प्रकार प्राप्त लुगदी में ८९-९० प्रतिशत ऐल्फा-सेलुलोस रहता है। सेलुलोस वस्तुत. तीन प्रकार का होता है : ऐल्फा सेलुलोस, बीटा सेलुलोस तथा गामा सेलुलोस। रूई से प्राप्त शुद्ध सेलुलोस में प्राय ९९ प्रतिशत ऐल्फा सेलुलोस रहता है। इसे प्राप्त करने के लिये रूई को १३०° से १८०° सें० पर सोडियम हाइड्राक्साइड के २ से ५ प्रतिशत विलयन से दबाव

में उपचारित करते, फिर विरंजित करते और अंत में धोकर सफाई करते हैं।

सेलुलोस के भौतिक गुण — सेलुलोस सफेद, अक्रिस्टलीय पदार्थ है। एक्स रे अध्ययन से यह कलिल (कोलायडीय, colloidal) सिद्ध होता है, पर रेशे के सेलुलोस में क्रिस्टलीय बनावटें भी दृष्टिगोचर होती हैं। उसमें क्रिस्टलीय क्षेत्र भी पाया जाता है। साधारणतः सेलुलोस रेशों के रूप में पाया जाता है जिनकी लंबाई ०·५ से २०० मिमी और व्यास ०·०१ से ०·०७ मिमी होता है। इसका विशिष्ट घनत्व १·५० से १·५३ होता है तथा विशिष्ट ऊष्मा प्रायः ३·२ और दहन ऊष्मा ४२०० कलारी है। यह ऊष्मा और विद्युत् का कुचालक होता है। इसके रेशे द्रवों को शीघ्रता से अवशोषित करते हैं।

सेलुलोस पर ऊष्मा के प्रभाव का विस्तार से अध्ययन हुआ है। शुष्क ऊष्मा का ८०° से १०० सें० तक यह प्रतिरोधक होता है। कई सप्ताह तक इस ताप पर रखे रहने से ऑक्सीजन के साथ संयुक्त होकर इसके रेशे दुर्बल हो जाते हैं। ऊँचे ताप पर सेलुलोस झुलस जाता है। २७०° सें० पर यह अपघटित होकर गैसें बनाता है और इसके ऊपर ताप पर इसका भंजन होकर अनेक आसवन उत्पाद प्राप्त होते हैं जिनमें बीटा ग्लूकोशन, कार्बन मानॉक्साइड, कार्बन डाइऑक्साइड, जल और अल्प गैसीय हाइड्रोकार्बन रहते हैं। प्रकाश में खुला रखने से रेशों की सामर्थ्य और श्यानता में अंतर देखा जाता है। ऑक्सीजन और कुछ धात्विक उत्प्रेरकों की उपस्थिति में रेशे के ह्रास की गति बढ़ जाती है। बैक्टीरीया, कवक और प्रोटोजोआ से सेलुलोस का किण्वन होकर अंत में कार्बन डाइऑक्साइड और जल बनते हैं।

रासायनिक गुण — सेलुलोस रसायनतः निष्क्रिय और वायुमंडल का प्रतिरोधक होता है। शीतल या ऊष्ण वायु, तनुक्षार, साबुन और मृदु विरंजक आदि का इसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सांद्र दाहक सोडा से रेशे की चमक बढ़कर रेशे का मर्सरीकरण हो जाता है। तनु अम्लों के सामान्य ताप पर सेलुलोस पर धीरे धीरे क्रिया होती है। पर ऊँचे ताप पर वह जल्द आक्रांत हो जाता और हाइड्रोसेलुलोस बनता है।

सेलुलोस के संजात — सेलुलोस के अनेक संजात बनते हैं जिनमें कुछ औद्योगिक दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। सबसे अधिक महत्व के संजात एस्टर हैं। सेलुलोस का नाइट्रोएस्टर जिसे साधारणतया गनकॉटन या नाइट्रोसेलुलोस कहते हैं, बड़े महत्व का एस्टर है। यह सेलुलोस पर नाइट्रिक अम्ल और सलफ्यूरिक अम्ल की मिश्रित क्रिया से बनता है। किस सीमा तक नाइट्रेटीकरण हुआ है यह मिश्रित अम्ल की और अन्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है। जिस नाइट्रोएस्टर में नाइट्रोजन १२·५ से १३·५ प्रतिशत रहता है वह गन कॉटन के नाम से विस्फोटक में प्रयुक्त होता है (देखें गन कॉटन)। इससे कम प्रतिशत नाइट्रोजनवाले नाइट्रोएस्टर सेलुलाइड (देखें सलुलाइड), प्रलाक्षा रस और फिल्म निर्माण आदि में प्रयुक्त होते हैं। सेलुलोस सल्फेट और सेलुलोस फास्फेट भी बने हैं। सेलुलोस ऐसीटेट रेयन, प्लास्टिक और फोटोग्राफिक फिल्मों के निर्माण में प्रयुक्त होता है।

अकार्बनिक अम्लों के कुछ मिश्रित एस्टर विलायक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। सेलुलोस जैंथेट भी विस्कोज रेयन और फिल्म में प्रयुक्त होता है।

सेलुलोस के ईथर भी होते हैं। इसके मेथिल, एथिल और बेंजील के ईथर बने हैं। कुछ ईथर अम्लों और क्षारों के प्रतिरोधक होते हैं। निम्न ताप पर उनकी लचक ऊँची होती है, उनके वैद्युत गुण अच्छे होते हैं और वे अनेक विलायकों में घुल जाते हैं। ये रेजीन आदि सुघट्य कार्यों के अनुकूल पड़ते हैं। एथिल सेलुलोस का उपयोग रंगसंरक्षक लेपों और प्लास्टिकों के निर्माण में व्यापक रूप से आजकल होता है।

सेलुलोस योगशील यौगिक भी, विशेषकर क्षारों के साथ, बनते हैं। ये भौतिक किस्म के पदार्थ हैं या वास्तविक रासायनिक यौगिक हैं, इस संबंध में विशेषज्ञ अभी एकमत नहीं हैं।

उपयोग — सेलुलोस से वस्त्र, कागज, वल्कनीकृत रेशे, प्लास्टिक पूरक, निस्यंदन माध्यम, शल्यकर्म के लिये रूई इत्यादि बनते हैं। इनके संजातों का उपयोग विस्फोटक धूम्रहीन चूर्ण, लैकर, प्लास्टिक रेयन, एक्स-रे फिल्म, माइक्रोफिल्म, कृत्रिम चमड़े, सेलोफेन, चिपचिपा पलस्तर और रंगसंरक्षक कोलायड आदि अनेक उपयोगी पदार्थों के निर्माण में होता है। अनेक पदार्थों, जैसे मुद्रण की स्याही, पेंटों और खाद्यान्नों आदि, की श्यानता बढ़ाने और उनको गाढ़ा करने में भी ये प्रयुक्त होते हैं। [स० व०]

सेलेबीज (Celebes) १° ४५' उ० अ० से ५° ३७' द० अ० एवं ११८° ४६' से १२५° ५' पू० दे०। क्षेत्रफल ७२,९८६ वर्ग मील, जनसंख्या ७०,००,००० (१९६१) है।

हिंदेशिया में सुंडा के ५ बड़े द्वीपों में से एक है। हिंदेशियाई इसे सुलावेसी कहते हैं। इस द्वीप में ३ लंबे प्रायद्वीप हैं जो तोमिनी या गोरोंतलो, टोलो और बोनी की खाड़ियों का निर्माण करते हैं। इस कारण इसकी आकृति बहुत ही विचित्र है। सेलेबीज की लंबाई ८०० मील है लेकिन तटरेखाओं की लंबाई २००० मील है। इसकी औसत चौड़ाई ३६ से १२० मील तक है। वैसे एक स्थान पर तो इसकी चौड़ाई केवल १८ मील है। इस प्रकार इस द्वीप का कोई भी स्थान समुद्र से ७० मील से अधिक दूर नहीं है। गहरे समुद्र में स्थित इस द्वीप के पूर्व में न्यूगिनी, पश्चिम में बोर्नियो, उत्तर में सेलेबीज सागर तथा दक्षिण में फ्लोर्स सागर एवं द्वीप हैं। मकासार जलडमरूमध्य इसे बोर्नियो से पृथक् करता है। तट पर प्रवालीय द्वीप हैं। सेलेबीज का धरातल प्रायः पर्वतीय हैं। इस द्वीप में उत्तर से दक्षिण दो समांतर पर्वतश्रेणियाँ फैली हुई हैं। माउंट रैंतेमेरिओ (११२८६) सर्वोच्च बिंदु है। उत्तर पूर्व एवं दक्षिण के पर्वत ज्वालामुखीय हैं जिनमें से कुछ सक्रिय भी हैं। पर्वतश्रेणियों के बीच में चौड़ी भूभ्रंश घाटियों में कई झीलें हैं। टोनडानो झील ९ मील लंबी तथा ३½ मील चौड़ी है। प्राकृतिक झरनों से युक्त इसका दृश्य बहुत ही मनोहारी है। यह समुद्रतल से २०००

फुट की ऊँचाई पर है। पोसो, मैंटेमा एवं होवूती अन्य मुख्य झीलें हैं। सेलेबीज की नदियाँ बहुत ही छोटी छोटी हैं तथा प्रपात एवं बाढ़ का निर्माण करती हैं। तटीय मैदान नाम मात्र का ही है। सेनेमेजा, पोसो, सादांग और लासोलो मुख्य नदियाँ हैं। यहाँ की जलवायु गर्म है लेकिन समुद्री हवाओं के कारण गर्मी का यह प्रभाव कम हो जाता है। औसत ताप ११°-३०° सें० के बीच में रहता है। न्यूनतम एवं उच्चतम ताप क्रमश: २०° एवं ७०° से० है। पश्चिमी तट पर वर्षा २१ इंच होती है जबकि उत्तरी पूर्वी प्रायद्वीप में १०० इंच होती है। अधिकांश भाग जंगलों से ढका है। पर्वतीय ढालों पर की वनस्पतियों का दृश्य बड़ा ही लुभावना है। ताड़ की विभिन्न जातियों से रस्सियों के लिये रेशे, चीनी के लिये रस, तथा सैगुयेर (Sagueir) नामक पेय पदार्थ की प्राप्ति होती है। बाँस, ब्रेडफ्रूट, टेमिरिंड और नारियल के वृक्षों की बहुलता है। खाद्यान्न में धान और मक्का उल्लेखनीय है। गन्ना, तंबाकू और शाक सब्जी की उपज खूब होती है। तटीय क्षेत्रों में मछलियाँ पकड़ी जाती हैं। मेनाडो में सोना मिलता है। अन्य खनिजों में निकल, लोहा, हीरा, सीस एवं कोयला मुख्य हैं। निर्यात की वस्तुओं में मरी, मक्का, कहवा, रबर, कापाक, जायफल खाल और सींगें तथा लकड़ियाँ हैं। तटीय भागों में अधिक लोग निवास करते हैं। अधिकांश निवासी मलय हैं। सेलेबीज में पाँच जनजातियाँ मुख्य हैं — टोला (Toala), बुगिनीज (Buginese), मकासर (Macassar), मिनाहासीज एवं गोरोंतलीज (Gorontalese)।

सर्वप्रथम १५१२ ई० में पुर्तगाली यहाँ आए और १६२५ ई० में ये मकासर में बसे। १६६० ई० में डचों ने इन्हें निकाल बाहर कर दिया और १६४६ तक इसपर नीदरलैंड्स ईस्ट इंडीज के भाग के रूप में वे शासन करते रहे। १९५० ई० में इंडोनेशिया गणतंत्र के बनने पर यह सुलावेसी नाम का प्रदेश बना। प्रशासकीय दृष्टि से इसे दो प्रांतों, उत्तरी सुलावेसी एवं दक्षिणी सुलावेसी, में बाँटा गया है। इनके प्रशासकीय केंद्र क्रमश: मेनाडो एवं मकासर हैं। मकासर मुख्य बंदरगाह एवं व्यापारिक केंद्र भी है। मेनाडो भी बंदरगाह है। दूसरा महत्वपूर्ण नगर एवं बंदरगाह गोरोंतलो है। [रा० प्र० सिं०]

सेलेंगर (Selangar) क्षेत्रफल ३१६७ वर्ग मील, जनसंख्या १२, ७६, १९८ (१९६४) मलेशिया गणतंत्र में मलय संघ के मध्य में मलक्का जलडमरूमध्य के किनारे स्थित राज्य है। सेलेंगर उत्तर में पेराक, पूर्व में पहांग तथा दक्षिण में नेग्री सेंबिलान राज्यों द्वारा घिरा हुआ है। पूर्वी सीमा पर स्थित पर्वतों में टिन की महत्वपूर्ण खानें हैं लेकिन अधिकांश निचला मैदान सेलेंगर, क्लांग और लंगट नदियों द्वारा प्रवाहित उपजाऊ मैदान है। कोयला भी एक महत्वपूर्ण खनिज है। ऊपरी घाटी एवं उत्तरी पश्चिमी दलदली भाग में रबर एवं धान की उपज होती है तथा तटीय भागों में नारियल, अनन्नास एवं मत्स्योत्पादन उल्लेखनीय हैं। क्वालालंपुर इस राज्य की ही नहीं अपितु मलय संघ तथा संपूर्ण मलेशिया की राजधानी है। पोर्ट स्वेटेनहम प्रधान बंदरगाह है, जहाँ मलय आनेवाले जलयान नियमित रूप से आते रहते हैं। निर्यात की मुख्य वस्तुएँ रबर एवं टिन हैं। सेलेंगर मलय संघ का सबसे घना आबाद राज्य है। चीनी एवं भारतीयों की संख्या कुल जनसंख्या के दो तिहाई से भी अधिक है, शेष मलय हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस राज्य ने पर्याप्त औद्योगिक प्रगति की है। १८७४ ई० में सेलेंगर ब्रिटेन के संरक्षण में आया तथा १८९५ ई० में मलय फेडरेटेड राज्यों में से एक हुआ। यह सन् १९४२ से लेकर (अगस्त) सन् १९४५ तक जापान के अधिकार में रहा। [रा० प्र० सिं०]

सेवक जन्म सं० १८७२ वि०। इनके पूर्वपुरुष देवकीनंदन सरयूपारीण पयासी के मिश्र थे किंतु राजा मझोली की बारात में भाटों की तरह कवित्त पढने और पुरस्कार लेने के कारण जातिच्युत होकर भाट बन गए और असनी के नरहरि कवि की पुत्री से विवाह कर वहीं बस गए। कवि ऋषिनाथ के पुत्र ठाकुर, जिन्होंने सतसई पर 'तिलक' की रचना की है, काशी के रईस बाबू देवकीनंदन के आश्रित थे। सेवक ठाकुर के पौत्र तथा कवि धनीराम के पुत्र थे। इनके भाई शंकर भी अच्छे कवि थे। सेवक ऋषिनाथ के प्रपौत्र और बाबू हरिशंकर जी के आश्रित थे। कभी भी कवि ने उन्हे छोड़कर किसी अन्य आश्रयदाता के यहाँ जाना स्वीकार नहीं किया।

इनका 'वाग्विलास' नामक ग्रंथ, जिसमें नायिकाभेद के साथ ही उतने ही नायकभेद भी किए गए हैं, महत्वपूर्ण है। अन्य ग्रंथ 'दीपा प्रकाश', 'ज्योतिष प्रकाश' और 'बरवै नखशिख' हैं। मिश्रबंधुओं ने इनके षट्ऋतुवर्णन की बड़ी प्रशंसा की है और इनकी गणना तोष कवि की श्रेणी में की है। इनकी मृत्यु सं० १९३८ में काशी में हुई।

सं० ग्रं० — मिश्रबंधु : मिश्रबंधु विनोद, भा० ३; आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास। [रा० फे० त्रि०]

सेवरेस, लूसिग्रस सेप्तीमिग्रस (१४६-२११), रोम के सम्राट् लुसिग्रस का जन्म अफ्रीका के तट पर हेप्टिस मागना स्थान पर ११ अप्रैल, १४६ को हुआ। लुसिग्रस ही वह लौह पुरुष है जो अनेक वर्षों के कठोर गृहयुद्ध के बाद बिखरे रोमन राज्यों को अपने नेतृत्व में संगठित करने में सफल हुआ। उसने रोम में कानून का अध्ययन किया और प्रांत तथा साम्राज्य के उच्च प्रशासकीय पदों पर कार्य किया। उसने सन् १९३ में पनोतिया में सेना का नेतृत्व सँभाला और रोम के तत्कालीन कठपुतली सम्राट् जुलिग्रानस को उखाड़ फेंका।

अपने शासन के प्रारंभिक दिन उसने अपने प्रतिद्वंदियों — पूर्व में नाइजर, पश्चिम में अलबाइनस और १९७ से २०२ तक के युद्ध में पार्थियंस — का सफाया करने में बिताए। इसके बाद उसने अपना ध्यान प्रशासकीय मामलों के सुधार में लगाया। सैनिक इतिहास में सैन्य आधिपत्य की प्रथा उसके शासन से ही शुरू होती है। उसने साम्राज्य में न्यायाधीशों के प्रभुत्व के स्थान पर सैनिक प्रभुत्व की

स्थापना की। इटली में एक केंद्रीय सेना का गठन किया। सैनिक नौकरी की अवस्थाओं तथा उनके वेतन में भी सुधार किए और सैनिकों को उनके इच्छानुसार अपनी पत्नियों को साथ रखने की स्वीकृति दी। गृहशासन के क्षेत्र में उसने सीनेट के महत्व को कम करके उसके सदस्यों के अधिकार एवं कर्तव्यों की नई सीमा निर्धारित की। उसने रोमन साम्राज्य के प्रांतों की स्थिति को बहुत कुछ इटली के समानांतर किया। सब मिलाकर उसका शासन शांति एवं समृद्धि का था।

सन् २०८ में लूसियस स्काटलैंड के पर्वतीय क्षेत्रों में विद्रोह खड़ा करने के लिये ब्रिटेन गया। लेकिन अपने इस प्रयत्न में बहुत हानि उठाने के बाद अंत में वह यार्क लौट आया और वहीं ४ फरवरी, २११ को उसकी मृत्यु हो गई।

सेबिस्तियन, संत संत अंब्रोसियस (सन् ३४०—३९७ ई०) के अनुसार सेबस्तियन मिलान के निवासी थे और सम्राट् डायोक्लीशन (सन् २८४-३०५ ई०) के समय रोम में शहीद हो गए थे। पाँचवीं शताब्दी से उनके विषय में एक दंतकथा प्रचलित है कि जल्लादों ने उन्हें एक खंभे में बाँधकर बाणों से छिन्न कर दिया और उन्हें मृत समझकर चले गए थे। किंतु जब ईसाई उनका दफन करने आए तब उनको जीवित पाया। बाद में सम्राट् ने उन्हें लाठियों से मरवा डाला।

संत सेबस्तियन शताब्दियों तक यूरोप में अत्यंत लोकप्रिय संत रहे। बहुत से कलाकारों ने बाणों से छिन्न संत सेबस्तियन का चित्र बनाया है जिससे कला के इतिहास में उनका विशेष स्थान है। संत सेबस्तियन का पर्व २० जनवरी को पड़ता है। [का० बु०]

सेवासिंह ठीकरीवाला (१८८६ ई० – १९३५ ई०) पंजाब के अकाली दल और रियासती प्रजामंडल के महान् नेता थे। अंबाला-बठिंडा रेलमार्ग पर स्थित बरनाला (जि० संगरूर) से लगभग नौ मील दूर ठीकरीवाल ग्राम में फूलकियाँ रियासत के प्रतिष्ठित रईस श्री देवसिंह के घर उत्पन्न हुए। इनके चार भाई और एक बहन थी। मिडिल पास करते ही ये पटियाला के हजूरी विभाग में नौकर हो गए। सन् १९११ में ये सिंह-सभा-लहर की ओर आकृष्ट हुए। इसका पहला दीवान ठीकरीवाल में हुआ; अमृत प्रचार तथा ग्राम सुधार का कार्य भी प्रारंभ हुआ। सन् १९१२ में गुरुद्वारा ठीकरीवाल का शिलान्यास किया गया। देश विदेश से एकत्र लाखों रुपयों से यह कार्य पाँच वर्ष में पूरा हुआ। वहीं पर पंजाबी भाषा की पढ़ाई भी शुरू हो गई।

२१ फरवरी, १९२१ के ननकाना साहब के शहीदी साके का समाचार सुनकर आप सिख पंथ की सेवा की ओर उन्मुख हो गए। तभी से पटियाला में अकाली जत्था की स्थापना करके शिरोमणि अकाली दल एवं शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी से संबंध जोड़कर गुरुद्वारा सुधार में तल्लीन हो गए। १९२७ ई० के कुठाला शहीदी साके ने आपको रजवाड़ाशाही समाप्त करने और रियासती प्रजामंडल की स्थापना के लिये प्रेरित किया। आप इसके पहले सभापति तो थे ही; लाहौर (सन् १९२९), लुधियाना (सन् १९३०), शिमला (सन् १९३१) के वार्षिक अधिवेशनों के स्वागताध्यक्ष भी रहे। शिमला संमेलन के समय अंग्रेजी सरकार की शिकायत आपने गांधी जी से की थी; उन्हीं दिनों आपकी सारी संपत्ति भी जब्त कर ली गई थी। ऑल इंडिया कांग्रेस के सन् १९२९ के, ऑल इंडिया प्रजामंडल के १९३१ के तथा रियासती प्रजामंडल के सन् १९३२ के अधिवेशनों में भी आप संमिलित हुए। रायकोट (पंजाब) के अछूत-नाशक संमेलन (सन् १९३३) की अध्यक्षता भी आपने की थी। इन्हीं गतिविधियों के कारण आपको कई बार जेल की यात्रा करनी पड़ी; यथा —

(क) सन् १९२३ में शाही किला, लाहौर में अकाली नेताओं के विद्रोह के मुकदमे में ३ वर्ष की नजरबंदी।

(ख) सन् १९२६ में विद्रोही होने के अपराध में पटियाला जेल में ३½ वर्ष की कैद।

(ग) सन् १९३० में विद्रोह के अपराधस्वरूप ५ हजार रुपया दंड और पटियाला जेल में ६ वर्ष की कैद; किंतु चार मास बाद बंधनमुक्त हो गए।

(घ) सन् १९३१ में संगरूर सत्याग्रह के कारण ४ महीने नजरबंद।

(ङ) सन् १९३२ में मालेरकोटला मोर्चे के कारण ३ महीने नजरबंद।

(च) मार्च, १९३३ में पटियाला राज्य की नृशंसता के विरोध-स्वरूप नारे लगाने के कारण दिल्ली में दो दिन की जेल।

(छ) अगस्त, १९३३ में 'पटियाला हिदायतों की खिलाफवर्जी' के मामले में दस हजार रुपया दंड तथा आठ वर्ष का सश्रम कारावास दंड। इसी जेल यात्रा की यातनाएँ सहन करते हुए १९ जनवरी, १९३५ को पटियाला केंद्रीय जेल के घमियार अहाते में निधन।

सन् १९२६ तथा सन् १९३३ की कैद में आपने कई सप्ताह तक अनशन किया था।

जीवन में आपको अनेक धार्मिक, शैक्षणिक एवं राजनीतिक संस्थाओं में प्रतिष्ठित स्थान मिला है। दैनिक 'कौमी दर्द' (अमृतसर), साप्ताहिक 'रियासती दुनिया' (लाहौर) एवं 'देशदर्दी' (अमृतसर) के जन्मदाता भी आप ही थे।

आपकी स्मृति में प्रतिवर्ष १९ जनवरी को ठीकरीवाल में शहीदी मेला लगता है। सन् १९१२ से प्रारंभ किया हुआ गुरु का लंगर निरंतर चल रहा है। स० सेवासिंह गवर्मेंट हाई स्कूल, ठीकरीवाल में है। पटियाला नगर के प्रसिद्ध माल रोड पर (फूल थिएटर के समीप) सिंहसभा के सामने इनकी आदमकद मूर्ति भी लगाई गई है।

सं० ग्रं० — शहीद स० सेवासिंह ठीकरीवाला: जीवनी ते इक झात (प्रकाशन स्थान — लोकसंपर्क विभाग, पंजाब, चंडीगढ़)।

[ग० क०]

सेबास्तिआनो, देल पिओंबो (१४८५ – १५४७) वेनेशियन स्कूल का इटालियन चित्रकार। वेनिस में उत्पन्न हुआ। प्रारंभ में

संगीत की ओर रुझान, पर बाद में चित्रकला की साधना ही उसके जीवन का ध्येय बन गई। पहले जिओवान्नी बेलिनी और बाद में जिओर्जिओन का वह शिष्य हो गया। बेनिस के सान जिओवान्नी चर्च में उसने अनेक महत्वपूर्ण चित्रांकन प्रस्तुत किए, किंतु सियना के धनिक व्यापारी द्वारा जब उसे रोम बुला लिया गया फिर तो माइकेल एंजलो का जबर्दस्त प्रभाव उसपर हावी हो गया। रोम स्थित सॉंतोरियो के पियेत्रो चर्च में 'रेजिंग ऑव लैज़रस' (Raising of Lazarus) उसकी सर्वोत्कृष्ट कृति बन पड़ी जो आजकल लंदन की नेशनल गैलरी में सुरक्षित है।

सेबास्तियानो ने बाद में विरक्त का बाना धारण कर लिया। वह एक धर्मी साधक था, पर स्वभाव से कुछ दंभी, प्रमादी और अपने तईं सीमित। फ्लोरेंटाइन के एक विशाल चित्र 'अंतिम निर्णय' (Last Judgment) पर माइकेल एंजलो से उसका गंभीर मतभेद हो गया। सेबास्तियानो ने पोप को यह चित्र तैलरंगों में बनाने की सलाह दी। किंतु माइकेल एंजलो ने भित्तिचित्र के रूप में इसे बनाने का आग्रह किया और कहा कि तैलचित्रण औरतों और सेबास्तियानो जैसे आलसी साधुओं के लिये ही उपयुक्त है। इसपर परस्पर कटुता आ गई और सेबास्तियानो मरते दम तक उससे नाराज रहा। उसके कुछ पोर्ट्रेट चित्र भी मिलते हैं जिनमें प्रतिपाद्य से गजब की समानता द्रष्टव्य है। [श० रा० गु०]

सेस्केचवान (Seskatchewan) (स्थिति : ४९° ६०° उ० अ० एव १०१°—११०° प० दे०) यह कनाडा का एक प्रांत है जिसका क्षेत्रफल २५१, ७०० वर्ग मील एवं जनसंख्या ९२५,१८१ (१९६१) है। इसके क्षेत्रफल में से स्थलीय भाग का विस्तार २२०,१८२ वर्गमील एवं जलीय भाग का विस्तार ३१५२८ वर्ग मील है।

इस प्रांत की सीमाएँ कृत्रिम हैं। उत्तरी आधा भाग कैंब्रियन-पूर्वकल्प चट्टानों का बना हुआ है। यहाँ जंगल, झील और दलदल की अधिकता है। चर्चिल नदी हडसन की खाड़ी में गिरती है लेकिन उत्तर पूर्व में मैकेंजी नदी का प्रवाहक्षेत्र है। इस प्रांत के दक्षिणी भाग में उत्तरी एवं दक्षिणी सस्केचवान नदियों का क्षेत्र है जिसे प्रेरी का मैदान कहते हैं। दक्षिणी पूर्वी भाग में थोड़ा सा भूभाग सोरिस (Souris) नदी के प्रवाहक्षेत्र में आता है। इस प्रांत की औसत ऊँचाई १२००—१५०० फुट तक है लेकिन रेजिना (Regina) नामक नगर १८९६ फुट की ऊँचाई पर स्थित है।

जलवायु — इस प्रांत के दक्षिणी क्षेत्र में गरमी में अधिक गरमी एवं जाड़े में अधिक ठंडक पड़ती है। दैनिक ताप जाड़े में हिमांक से नीचा रहता है। गरमी का औसत ताप १०° से १३° से० रहता है लेकिन धूप जाड़े और गरमी में बराबर रहती है। इससे जलवायु शुष्क और स्वास्थ्यकर होती है।

यहाँ ३०" से ३५" तक हिमवर्षा होती है जो लगभग ३—५ फुट पानी के बराबर होती है। वर्षा की मात्रा १२" से १५" है। दक्षिणी भाग सूखाग्रस्त है। फार्म पुनर्वास योजना (Rehabilitation Programme) के अंतर्गत १९३५—५० तक लगभग ४३ हजार कृषकों को भूमिसुधार एवं जलसंग्रह के लिये आर्थिक सहायता दी गई।

कृषि — कृषियोग्य भूमि का क्षेत्रफल १,२५,०८० वर्ग मील है जिसमें से लगभग १ लाख वर्ग मील में बड़े बड़े कृषि फार्म हैं। वसंतकालीन गेहूँ की उपज का यह प्रसिद्ध क्षेत्र है जो संपूर्ण कनाडा का ६०% गेहूँ उत्पन्न करता है। राई (एक प्रकार का अनाज) अन्य महत्वपूर्ण उपज है। पशुपालन एवं मुर्गीपालन भी होता है। घास के मैदान बहुत दूर तक विस्तृत हैं। दक्षिण के एक तिहाई भाग में जनसंख्या का घनत्व बहुत ही अधिक है। जंगल आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं हैं। प्रांत के मध्य भाग में स्प्रूस, हेमलॉक, बर्च, पॉपलर और फर मुख्य वृक्ष हैं। कुछ मछलियाँ भी यहाँ पकड़ी जाती हैं। खनिजों में ताँबा, सोना, जिंक, निकल, कोयला, रजत, लोहा, सीसा और प्लेटिनम उल्लेखनीय हैं। जलविद्युत् का उत्पादन भी होता है। कृषि प्रधान उद्योग है। दूसरा स्थान निर्माण उद्योग का है। इसमें तीन समूह मुख्य हैं :—आटा और भोज्य पदार्थों के कारखानें, मांस उद्योग एवं मक्खन और पनीर उद्योग। रेजिना में कच्चे माल का गोदाम, पशुवधशाला, यंत्रनिर्माण और पुर्जों के जोड़ने का काम होता है। निचले भाग में सड़कों एवं रेलमार्गों का जाल बिछा हुआ है। देश के भीतरी भाग में होने के कारण बंदरगाह नहीं हैं।

रेजिना (जनसंख्या ११२,१४१) इस प्रांत की राजधानी है। सस्कैटून (Saskatoon) (१०३,६२३) में विश्वविद्यालय है। मूज जा (Moose Jaw) (३३,२०६) एवं प्रिंस अलबर्ट (२४,१६८) अन्य महत्वपूर्ण नगर हैं।

२—सस्केचवान नदी — कनाडा के अलबर्टा एवं सस्केचवान प्रांतों में बहनेवाली नदी है। इसकी दो बड़ी धाराएं—उत्तरी एवं दक्षिणी सस्केचवान, प्रिंस अलबर्ट के निकट मिलती हैं और तब पूर्व की ओर बहती हुई विनीपेग झील में मिल जाती हैं। उत्तरी सस्केचवान राकी पर्वतमाला में ५२° ७' उ० अ० एवं ११७° ६' पू० दे० से निकलती है और पूर्व की ओर बहती है। इसमें कई प्रसिद्ध सहायक नदियाँ, जैसे क्लियरवाटर, ब्रेजियन और बैटिल मिलती हैं। दक्षिणी सस्केचवान बो एवं बेली नदियों के मिलने से बनती है। पूर्व की ओर इसमें रेड नदी मिलती है और कुछ आगे जाने पर उत्तरी सस्केचवान भी मिल जाती है। यहाँ से लेकर विनीपेग झील में गिरने के स्थान तक संयुक्त धारा की लबाई ३४० मील है। बो नदी के उद्गमस्थान तक सस्केचवान की कुल लबाई १२०५ मील है। इस नदी का नौगमन के लिये बहुत ही कम उपयोग होता है। [रा० प्र० सिं०]

सैक्सन रोमन शासकों के लौट जाने के बाद ब्रिटेन पर जर्मनी आदि देशों के जिन लोगों ने आक्रमण किए वे सैक्सन कहलाए। इनमें ऐंग्ल, सैक्सन तथा जूट्स नामक निम्नवर्गीय जर्मन मूल की जातियाँ थीं जो डेनमार्क, जर्मनी और हालैंड से ४०० ई० में ब्रिटेन आए थे और इन्हें इंग्लैंड पर विजय पाने के लिये सेल्ट लोगों से १५० वर्षों तक युद्ध करना पड़ा था। सेल्ट जाति के लोगों को भागकर वेल्ज के पर्वतों मे शरण लेनी पड़ी जहाँ उनकी भाषा अब भी जीवित है।

सैक्सनों ने इंग्लैंड पर छोटीछोटी टोलियों में आक्रमण किया और अंत में जीते हुए यही छोटे छोटे भाग ही नार्थंब्रिया, मर्शिया तथा वेसेक्स के बड़े राज्य बन गए। सैक्सन देहात के निवासी थे और इसलिये कुछ ही दिनों में रोमन लोगों के बसाए हुए नगरों में उल्लू बोलने लगे तथा उनकी भाषा का भी लोप हो गया और इस प्रकार ऐंग्लो सैक्सन भाषा ने ही आज की अंग्रेजी का रूप धारण किया। ब्रिटेन के देहातों का सामाजिक संगठन भी पुरानी सैक्सन बस्तियों की ही तरह है, विशेषकर सैक्सनों द्वारा प्रचारित 'खुली खेती' का ब्रिटेन में अब भी प्रचलन है जिसके द्वारा प्रत्येक जुता हुआ खेत तीन भागों में विभक्त कर दिया जाता था और हर साल उनमें से एक भाग बिना बोए छोड़ दिया जाता था।

सैक्सन पार्लिमेंट का, जिसे 'वितान' कहते हैं, अध्यक्ष राजा हुआ करता था जो राज्य के सभी महत्वपूर्ण व्यक्तियों को इसके लिये आमंत्रित करता था। यह पार्लिमेंट अगले राजा का चुनाव करती थी तथा कानून बनाती थी। प्रशासन की सरलता के लिये सौ गाँवों का एक भाग बनाया जाता था तथा बाद में और बड़े भाग बनने लगे जिनके नाम के अंत में 'शायर' लगा होता था जिनका अस्तित्व आज भी है। सैक्सनों ने धीरे धीरे ईसाई धर्म अपना लिया, जिसका प्रभाव पुराने गिरजाघरों के निर्माण में दिखाई देता है। ये लोग क्रिसमस के उत्सव पर लकड़ी का लट्ठा जलाते थे। इसी प्रकार ईओस्टर — बसंत की देवी — का त्योहार भी धीरे धीरे ईस्टर में परिणत हो गया।

सैक्सनी (Saxony) यूरोप का किसी काल का शक्तिशाली राज्य जिसने अब पूर्वी जर्मनी के दक्षिणी पूर्वी प्रांत के रूप में अपना अस्तित्व बना रखा है। यह प्रांत ५०° २०' से ५१° १०' उ० अ० एवं १२° से १५° पू० दे० के मध्य स्थित है। इसके दक्षिण पूर्व में चेकोस्लोवाकिया राज्य, पूर्व में नीसा नदी, जो इसे पोलैंड से पृथक् करती है, उत्तर में प्रशा प्रदेश तथा पश्चिम में थूरिंजिया एवं दक्षिण में बवेरिया के प्रांत स्थित हैं। इस प्रांत की अधिकतम लंबाई पूर्व पश्चिम में लगभग १३० मील एवं चौड़ाई उत्तर दक्षिण में लगभग ६३ मील तथा इसका क्षेत्रफल ५७८९ वर्गमील है।

उत्तरी भाग को छोड़कर प्रांत का अधिकांश यूरोप के मध्यवर्ती पर्वतीय क्षेत्रों में स्थित है। ये पर्वत परमोकार्बोनीफेरस युग में निर्मित मोड़दार पर्वतों के अवशेष के रूप में है। दक्षिणी सीमा पर अर्जगेबर्ग (Erzgeberg) की श्रेणी ६० मील लंबी है जिसकी सर्वोच्च चोटी फिटलबर्ग (Fichtelberg) ३९७९ फुट ऊँची है। दक्षिणी एवं दक्षिणी पश्चिमी भाग में इसी की उपश्रेणियाँ फैली हुई हैं जिन्हें मध्य सैक्सनी की श्रेणी एवं ओस्चाज (Oschatz) की श्रेणी कहते हैं। दक्षिणी पूर्वी भाग में २६०० फुट तक ऊँची लुसाटिया पर्वतश्रेणी है। इनके उत्तर पूर्व में एल्ब नदी के दोनों ओर आकर्षक सैक्सन स्विट्सरलैंड स्थित हैं। इस पत्थर के चट्टानी प्रदेश में जल एवं हिमानी क्षरण द्वारा गहरी नदी घाटियों एवं भिन्न भिन्न पर्वतशिखरों का निर्माण हुआ है जिनकी अधिकतम ऊँचाई १८०५ फुट है। लिलिस्टीन, कोनिग्स्टीन एवं बास्टी अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक है। सैक्सनी प्रांत की मुख्य नदी एल्ब है जिसका ७२ मील लंबा मार्ग नाव्य है। इसी की सहायक म्यूल्डे अन्य उल्लेखनीय नदी है। एल्ब रिसेन्सबर्ग पर्वतश्रेणी से निकलकर उत्तरी सागर में गिरती है। अन्य नदियाँ ब्लैक एल्स्टर, ह्वाइट एल्स्टर प्लीजे, और स्प्री आदि हैं जो एल्ब की प्रणाली में ही संमिलित हैं। संपूर्ण क्षेत्र में झीलों का अभाव है। प्रदेश का एकमात्र खनिज स्रोत वोटलैंड के समीप वैड एल्स्टर पर है। जलवायु एल्ब, मूल्डे एवं प्लीजे की घाटियों में सम पर अर्जगेबर्ग की उच्च भूमि में अति विषम है। औसत ताप ५° से० १०° से० तक रहता है। अर्जगेबर्ग क्षेत्र में सर्वाधिक वर्षा २७·५" से ३३·५" तक होती है। पश्चिमोत्तर दिशा में मात्रा क्षीण होती जाती है। लाइपजिग में मात्र १७" रह जाती है।

सैक्सनी के मैदानी भाग की मिट्टी अधिक उपजाऊ है। कृषि की इस क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई है। दक्षिण की ओर पठारी एवं पहाड़ी भागों पर उर्वरता एवं कृषि व्यवसाय भी क्षीण होता जाता है। आधुनिक कृषिपद्धति का प्रादुर्भाव प्राय: १८३४ ई० से माना जा सकता है जब चकबंदी कानून लागू किया गया। कृषि के लिये मिसेन, ग्रिम्मा, वाट्जन, डबेलन एवं पिर्ना के समीपवर्ती क्षेत्र अधिक उपयुक्त हैं। प्रदेश की मुख्य उपज राई एवं ओट है। गेहूँ एवं जौ का कृषिक्षेत्र अपेक्षाकृत कम है। वोग्टलैंड में आलू एवं अर्जेबोबर्ग एवं लुसारिया में सन (flax) की कृषि विशेष प्रसिद्ध है। सन की उपज के कारण ही प्राचीन काल में इस क्षेत्र में लिनेन कपड़ा बुनने का व्यवसाय गृह उद्योग हो गया था। बेरी, चेरीन, अनार की पैदावार, लाइपजिग ड्रेस्डेन एवं कोल्डिज के समीपवर्ती क्षेत्रों में होती है। मिजेन एवं ड्रेस्डेन के निकट एल्ब के तटवर्ती भागों में अंगूर की कृषि धीरे धीरे अपना महत्व खोती जा रही है। छठी शताब्दी से ही प्रचलित पशुचारण अब भी अर्जगेबर्ग एवं वोगटलैंड के चरागाहों पर होता है। १७६५ ई० में ३०० स्पेन की नर भेड़ों द्वारा नस्ल सुधारने के उपरांत यहाँ की भेड़ों एवं ऊन की माँग विश्व में बढ़ गई थी पर अब वह धीरे धीरे क्षीण होती जा रही है। सूअर, हंस, मुर्गे एवं मुर्गियाँ अब खाद्य पदार्थों में प्रयुक्त हो रही है। सैक्सनी में वनसंपत्ति भी प्रचुर मात्रा में है जो वोटलैंड एवं अर्जगेबर्ग में है। इस प्रदेश में चाँदी का उत्पादन १२वीं सदी से ही हो रहा है और अर्जेण्टीफेरस लेड अब भी खनिजों में महत्वपूर्ण है। अन्य खनिजों में टिन, लोहा, कोबाल्ट, कोयला, ताँबा, जस्ता एवं बिस्मथ है। मध्यम कोटि के कोयले का भंडार एवं उत्पादन यहाँ यूरोप के सभी राज्यों से अधिक होता है। खनिज पदार्थों के चार प्रमुख क्षेत्र हैं : (१) — फ्रीबर्ग क्षेत्र जहाँ का प्रमुख खनिज सीस एवं चाँदी है, (२) — अल्टेनबर्ग क्षेत्र, जिसकी विशेषता टिन उत्पादन में है, (३) — स्नीबर्ग, जहाँ कोबाल्ट, निकेल एवं लौह प्रस्तर (Iron stone) निकाला जाता है, एवं (४) — जोहान जार्जेस्टाड क्षेत्र, जहाँ चाँदी एवं लौह प्रस्तर मुख्य हैं। कोयला उत्पादन का मुख्य क्षेत्र ज्विकाऊ एवं ड्रेस्डेन हैं। पीट कोयला अर्जगेबर्ग में मिलता है। यह क्षेत्र कोयले का निर्यात भी करता है। इन खनिजों के अतिरिक्त इमारती पत्थर एवं पोर्सलीन क्ले (चीनी मिट्टी) क्रमश: एल्ब की उच्च भूमि एवं मिजेन के समीप पाए जाते हैं।

इस प्रांत की मध्यवर्ती स्थिति एवं जलविद्युत शक्ति ने क्रमश:

व्यापार एवं उद्योगों को बढ़ाया है। ५०% से अधिक शक्ति जलविद्युत् की है। इसमें म्यूल्डे नदी का अंश सर्वोच्च है। लाइपजिग विश्वमेला एवं प्रशासकों की नीति ने भी व्यापार एवं उद्योग के संसाधनों के उपयोग को बढ़ाया है। वस्त्रोद्योग यहाँ का विशेष प्रसिद्ध उद्योग है। ज्विकाऊ, केमिनिट्ज (कार्ल मार्क्स स्टाड) प्लाकाऊ, मिरेन, होहेन्स्टीन, कामेंज, पुल्सनिट्स, बिस्काफवर्डा में सूत एवं कपड़े की मिलें हैं। केमिनिट्ज में होजियरी, वोटलैंड में मलिन, कामेंज, बिस्काफेन वर्डा एवं ग्रासेनहेन में ऊनी वस्त्रोद्योग, केमिनिट्ज, प्लाकाऊ, मीरेन, रिचेतबाक में अर्ध ऊनी वस्त्रोद्योग एवं लुसाटिया में लिनेन वस्त्रोद्योग प्रसिद्ध है। गोट ल्यूपा एवं लाकविज के मध्यवर्ती पर्वतीय क्षेत्रों की ढालों पर मुख्य व्यवसाय स्ट्रा प्लोटिंग है। लाइपजिग में मोमजामा (Wax cloth) बनाया जाता है। पत्थर एवं मिट्टी के बर्तन केमिनिट्ज, ज्विकाऊ, वाजेन एवं मिजेन में बनते हैं। लाइपजिग एवं समीपवर्ती क्षेत्रों में रासायनिक उद्योग एवं सिगार, डब्लिन, बर्डाऊ एवं लाउनिज में चर्म उद्योग एवं व्यापार तथा लाइपजिग, ड्रेस्डेन, केमिनिट्ज में हैट आदि बनते हैं। पश्चिम जर्मनी में कागज बनाने का उद्योग केमिनिट्ज एवं ड्रेस्डेन में मशीनों का निर्माण कार्य होता है। केमिनिट्ज एक बृहद् लौह इस्पात उद्योग केंद्र है। यहाँ वाष्प इंजिन, जलयान आदि बनाए जाते हैं पर लोहा अन्य क्षेत्रों से ही मँगाना पड़ता है। सैक्सनी के निर्यात व्यापार में ऊन, ऊनी वस्तुएँ, लिनेन के सामान, मशीनें, चीनी मिट्टी के सामान, सिगरेट, फ़लालेन, पर्दे, लेस, घड़ियाँ और खिलौने का विशेष हाथ है।

आज सैक्सनी प्रांत, जो जर्मन डिमाक्रेटिक रिपब्लिक में है, का क्षेत्रफल १७,७०१ वर्ग किमी एवं जनसंख्या ५४,८५,३४६ (३१ दिसंबर, १९६२) है। जनसंख्या का घनत्व लगभग ३१० व्यक्ति वर्ग किमी है। इसमें तीन जनपद (उपखंड) संमिलित हैं : (१) लिपजिक जिसकी जनसंख्या १५,१३,८१६ एवं क्षेत्रफल ४९६२ वर्ग किमी है, (२) ड्रेस्डेन, जिसका क्षेत्रफल ६७३८ किमी एवं जनसंख्या १,८,७६,७६७ है एवं (३) कार्लमक्स स्टाड (केमिनिट्ज) जिसका क्षेत्रफल ६००१ वर्ग किमी एवं जनसंख्या २,०,९४,७६३ है। यही इस क्षेत्र का सबसे घना बसा हुआ क्षेत्र है जिसकी जनसंख्या का घनत्व ३४९ व्यक्ति प्रति वर्ग मील है। पूर्वी बर्लिन को छोड़कर, लाइपजिग पूरे गणतंत्र का सबसे बड़ा नगर है। इस प्रकार प्रांत के दूसरे नगरों में भी जनसंख्या में ह्रास दिखाई पड़ता है।

११ वीं शताब्दी में सैक्सनी पूर्व में एल्ब से पश्चिमें राइन नदी तक फैला हुआ था। धीरे धीरे केवल पूर्वी भाग ही रह गया। यहाँ के प्रशासकों द्वारा स्थापित चार विश्वविद्यालयों लाइपजिग, जेना, विट्टेनबर्ग एवं अर्फर्ट में से केवल प्रथम ही अब इस प्रांत में रह गया है। सैक्सनी में औद्योगिक शिक्षण संस्थानों की अधिकता है। इसमें टेक्सटाइल उद्योग, माइनिंग प्रशिक्षण केंद्र एवं वनविद्यालय विशेष प्रसिद्ध हैं। [कै० ना० सिं०]

सैक्सनी अनहाल्ट वर्तमान जर्मनी के डिमाक्रेटिक गणतंत्र का एक प्रांत है जिसमें प्राचीन सैक्सनी राज्य का उत्तरी भाग संमिलित है। यह १८१५ ई० में प्रशा को दे दिया गया था। इसमें वर्तमान मैगडेबर्ग एवं हेल जनपद (उपखंड) संमिलित हैं जिनका क्षेत्रफल ९८६० वर्गमील है। इसके पूर्व में ब्रांडेनबर्ग प्रांत में पश्चिम में पश्चिमी जर्मनी, दक्षिण में थूरिंजिया एवं सैक्सनी स्थित हैं। इसका अधिकतर भाग जर्मनी के उत्तरी मैदान के अंतर्गत है जिसकी मिट्टी अत्यधिक उपजाऊ है। हार्ज एवं थूरिंजिया की उच्च भूमि कुछ दक्षिणी पश्चिमी भाग में पड़ती है। प्रांत का ९/१० भाग एल्ब नदी की घाटी में एवं शेष वीजर की घाटी में स्थित है। इस उपजाऊ क्षेत्र की प्रधान उपज गेहूँ एवं चुकंदर है। यहाँ हमें एक विषमता दृष्टिगोचर होती है क्योंकि सर्वोत्तम कृषिक्षेत्र हार्ज पर्वत की तलेटी में एवं चरागाह नदियों की घाटियों में स्थित हैं। उत्तर में अलमार्ट का बलुआ मैदान कृषि के योग्य कम है। गेहूँ एवं राई का यहाँ से निर्यात भी होता है। चुकंदर की कृषि हार्ज के उत्तर स्थित क्षेत्रों में होती है। अन्य उपज फ्लैक्स (सन), फल, तिलहन आदि हैं। प्रांत की वनसंपदा प्रायः कम है। कुछ उच्च कोटि के जंगल हार्ज क्षेत्र में हैं। पशुपालन नदी घाटियों तक ही सीमित है जिनमें बकरियों की संख्या अधिक होती है। पोटास एवं लिग्नाइट यहाँ की प्रधान खनिज संपत्ति है। पोटास एवं राक साल्ट स्टासफर्ट कोनेबेक एवं हेल के समीप निकाले जाते हैं। लिग्नाइट के क्षेत्र ओस्का स्लेवेन से विजेन फेल तक फैले हुए हैं। ल्यूना प्रखंड के लिग्नाइट का उपयोग जलविद्युत, गैसोलिन एवं अन्य संबंधित वस्तुओं में किया जाता है। चीनी मिलों के अतिरिक्त, कपड़ा, लोहे, इस्पात, चमड़ा आदि के उद्योग भी महत्वपूर्ण हैं, रासायनिक उद्योग स्टासफर्ट में हैं। एल्ब का जलमार्ग व्यापार में अधिक सहायक है। इसकी जनसंख्या १९६२ ई० में लगभग ३३,००,००० थी। प्रधान नगर हेल (२७८०४९) एवं मेगडेबर्ग (२,६५,५१२) हैं।

[कै० ना० सिं०]

सैन फ्रांसिस्को (San Francisco) संयुक्त राज्य अमरीका के कैलिफोर्निया राज्य का नगर है जो ३७°४७' उ० अ० तथा १२२°१०' प० दे० पर स्थित है। इसकी जलवायु भूमध्यसागरीय है। जाड़ा मृदुल होता है और गरमी असह्य नहीं होती। वर्षा २२' के लगभग दिसंबर और मार्च के बीच होती है। नगर के पश्चिम ओर प्रशांत महासागर और पूरब में सैन फ्रांसिस्को की खाड़ी है। लगभग तीन मील लंबे और एक मील चौड़े 'गोल्डेन गेट' नामक मुहाने से, उत्तर से सैनफ्रांसिस्को में प्रवेश होता है। यहाँ ४५० वर्गमील का सुरक्षित जल प्राप्त होता है जिसमें बड़े से बड़े जहाज आ जा सकते हैं। अतः यह बहुत ही सुरक्षित बंदरगाह बन गया है और यहाँ बहुत बड़ी संख्या में व्यापारिक जहाज आते जाते हैं। खाड़ी में सैन फ्रांसिस्को के समान तीन छोटे छोटे द्वीप गोट आइलैंड, अल्काट्राज और ऐंजेल आइलैंड हैं। सैन फ्रांसिस्को बड़ा घना बसा हुआ नगर है और ३० राष्ट्रों के निवासी यहाँ बसे हुए हैं। सैन फ्रांसिस्को लगभग ९३ वर्ग मील में फैला हुआ है जिसमें लगभग ४३ वर्ग मील जमीन है। यहाँ लगभग २०० पब्लिक स्कूल, अनेक कालेज और सैन फ्रांसिस्को विश्वविद्यालय है। यहाँ अनेक जनता ग्रंथागार और पार्क हैं। सब धर्मों के लोग यहाँ रहते हैं। यहाँ का प्रमुख उद्योग छपाई और

प्रकाशन है। मांस, मछलियाँ, फल, शाक सब्जी, तेल, खनिज, अनाज आदि बाहर भेजे जाते हैं तथा वस्त्र, जूते और फर्नीचरों का निर्माण होता है। यह अन्य नगरों से रेल, बसों और वायुयानों से संबद्ध है।

सैनिक अभिचिह्न रणक्षेत्र में परस्पर युद्धरत विरोधी दलों में प्रतीति अथवा पहचान कराना ही सैनिक अभिचिह्नों की प्रधान उपादेयता है। अभिज्ञानात्मक चिह्नों का प्रयोग केवल आधुनिक युग की ही सैनिक विशेषता नहीं है। मानव मात्र के इतिहास में प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेदसंहिता में ध्वज, अंक, केतु, बृहत्केतु, और सहस्रकेतु आदि शब्दों का भिन्न भिन्न कोटि के सैनिक झंडों के अर्थ में उल्लेख किया गया है। सुप्रसिद्ध महाभारत की वीर गाथाओं में भीष्म, द्रोण, अर्जुन, कर्ण, पौराज आदि अनेक सेनानायकों के निजी झंडे के चिह्न वर्णित हैं। रामायण के वर्णनानुसार भरत के झंडे पर कोविदार वृक्ष चिह्नित था। लंकापति रावण के झंडे पर नरकपाल की आकृति थी। कौटिलीय अर्थशास्त्र के प्रमाणानुसार मौर्य सेना में प्रत्येक सेना के प्रत्येक व्यूह की निजी ध्वजा और पताका थी। 'ध्वजा' और 'पताका' प्राचीन भारतीय सेना के इतने आवश्यक अंग थे कि संस्कृत वाङ्मय में 'ध्वजिनी' तथा 'पताकिनी' शब्दों का प्रयोग सेना के पर्यायार्थ में ही किया जाने लगा था।

इसी भाँति भारतेतर प्राचीन संस्कृतियों के सैनिक इतिहास में भी अभिचिह्नों के प्रयोग के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं। लगभग ५०० ई० पू० रचित चीनी युद्धपुस्तक में चीनी झंडों पर अंकित सपक्ष नाग, श्वेत व्याघ्र, रक्तचटक, सूर्य और कूर्म आदि की आकृतियाँ वर्णित हैं। पंच नखरी उड्डीय नाग प्राचीन चीन राज्य का प्रतीक था। हेम पुष्प जापान का प्राचीन राजचिह्न था। मेक्सिको में स्पेन वासियों के बसने के पूर्व वहाँ के सैनिक सरदार चिह्नांकित ढालों तथा झंडों का प्रयोग करते थे। ५०० ई० पू० ऐस्चीलस ने थेब्स के आक्रांताओं की ढालों पर बने प्रतीकों की चर्चा की है। अर्वेंटीनस के वर्म (शील्ड) पर अभिचिह्न बने होने का वर्जिल का वचन प्रमाण है। हेरोडोटस के कथनानुसार किरियन सैनिक ही सर्वप्रथम अपने शिरस्त्राणों पर शिखरचिह्नों (कलँगियों) का प्रदर्शन तथा शील्डों पर चित्ररचना करते थे। प्राचीन एथेन्स वासियों के झंडे पर उल्लू की आकृति बनी होती थी। यह पक्षी नगर की संरक्षिका मिनर्वा देवी का पवित्र पक्षी माना जाता था। स्फिक्स थेब्स के नगरराज्य का मान्य चिह्न था। रोम के सैनिक दल (लीजियन) अपने झंडों में महान् श्रद्धा रखते थे तथा इन्हें चलता फिरता युद्धेश्वर मानते थे। आरंभकालिक रोमन सैनिक झंडों पर महाश्येन, भेड़िया, वराह आदि पशु पक्षियों के लांछन बने होते थे। कालांतर में रोमन झंडों तथा बिल्लों पर महाश्येन लांछन ही अंकित किया जाने लगा था।

इंग्लैंड की सैक्सन और नार्मन जातियों द्वारा प्रयुक्त पताकाओं तथा शील्डों का विस्तृत वर्णन 'ब्यूटेक्स टेपेस्ट्री' में सुरक्षित है। इन सेनाधिकारियों के झंडे विविध आकार के होते थे तथा उनपर नाना जाति के पशु पक्षी, क्रास चिह्न तथा वर्तुलाकार चिह्न होते थे। झंडों के पुच्छल भाग की संख्या भी भिन्न भिन्न होती थी। हेस्टिंग्ज युद्ध में अंग्रेजी सेना के झंडे पर नाग का चिह्न था जो संभवतः चित्रित न होकर काटकर चिपकाई गई आकृति थी। यही निशान पूर्व नार्मन शासकों ने भी अपने झंडे पर प्रदर्शित किया था।

प्राचीन काल में इन अभिचिह्नों के धारण, प्रदर्शन, और प्रवरण आदि के संबंध में कोई नियम नहीं था। अभिचिह्न विशेषज्ञों की धारणा है कि इस विषय पर १२ वीं शताब्दी के द्वितीय चतुर्थांश में यूरोप के क्रूसेड नामक धर्मयुद्धों के पश्चात् ही सर्वप्रथम ध्यान आकृष्ट हुआ और शीघ्र ही सैनिक अभिचिह्न विद्या हेराल्ड्री के अंतर्गत तत्संबंधी नियमों तथा तद्विषयक शब्दावली का निर्माण किया गया। पश्चिम यूरोप में इस कला की अभिवृद्धि का एक अन्य कारण शांतिकालीन चक्रस्पर्धी युद्ध संमेलन भी था। इन खेलों में भाग लेनेवाले प्रतिस्पर्धी निजी अभिचिह्नों का प्रयोग करते थे जो कालांतर में भूतपूर्व सफलताओं के द्योतक होने के कारण गौरव का प्रतीक बनकर वंशानुगत कुलचिह्न बन गए। यही मनोवृत्ति क्रूसेड के धर्मग्रंथों में अपनाए गए अभिचिह्नों के प्रति भी विकसित हुई।

सैनिक अभिचिह्नों के पैतृक बन जाने का एक महान् कारण ११वीं शताब्दी में यूरोप की तत्कालीन सामंती राजव्यवस्था थी जिसके अधीन भूमि अधिकार के बदले में राजगणक वर्ग के बैरन आदि छोटे बड़े सभी सामंत एक निश्चित सेना सहित युद्ध के समय महाराज की सेना में संमिलित होते थे। ये सामंत पृथक् पृथक् निजी अभिचिह्नों का प्रयोग करते थे जो नायकों की अभिव्यक्ति के साथ साथ सामंतो की कोटि के भी परिचायक थे। इन सामंतो ने अपनी राजमुद्राओं पर अपनी पूर्ण कवचित अश्वारोही आकृतियों का प्रदर्शन आरंभ कर दिया। स्वभावतः जो अभिचिह्न वे अपने अधीनस्थ सैनिक दलों में प्रयुक्त करते थे उन्हीं को उन्होंने राजमुद्राओं पर भी अपनाया। वही अभिचिह्न प्रायः असैनिक व्यवहार में आनेवाली राजमुद्राओं में भी व्यवहृत किया गया। सामंत के मृत्यूपरांत उसके पुत्र को भूमि अधिकार प्राप्त होने पर वह भी पूर्वप्रयुक्त राजमुद्रा का ही प्रयोग करता था। इस भाँति सैनिक तथा असैनिक दोनों कारणों से मध्यकालीन सैनिक अभिचिह्न पैतृक बन गए।

१३वीं शताब्दी में कवच के साथ पूर्ण संवृत शिरस्त्राणों का भी प्रचलन हुआ जिसके कारण सेनानायक का पूरा चेहरा प्रच्छन्न हो जाता था। अतएव राजराणकों ने कवच के ऊपर एक लंबा अभिचिह्नांकित चोला (कोट ऑव आर्म्स) पहनना आरंभ कर दिया। उनकी शील्डों पर भी वही अभिचिह्न (शील्ड ऑव आर्म्स) अंकित होता था। ये लंबे चोले नायकों के एक प्रकार के गौरवांक थे जिनका सर्वप्रथम प्रयोग क्रूसेड युद्धों में धातुमय कवचों तथा शिरस्त्राणों को पूर्वी सूर्य की तप्त किरणों से बचाने तथा वर्षाकाल में कवचों को सुरक्षित रखने के लिये हुआ था। इसी समय अश्वकवचों को भी इसी प्रकार गौरवांकों से आच्छादित किया जाने लगा। युद्धभूमि में जो सामंत वंशपरंपरा अथवा भूमि अधिकार के नाते परस्पर संबंधित होते थे वे सामान्यतः एक ही अभिचिह्न को, उसमें साधारण भेदांतर कर, ग्रहण कर लेते थे। इसलिये भेद दर्शाने के लिये भिन्न भिन्न आकृतियों तथा चिह्नों की आवश्यकता पड़ी। कभी कभी एक ही शील्ड पर दो या अधिक गौरवांकों के अंकन द्वारा धारक अपने वैवाहिक संबंधों अथवा अधिकाधिक प्राप्त भूमि अधिकारों की भी अभिव्यक्ति कराते थे।

इस भाँति १३ वीं शताब्दी तक सैनिक अभिचिह्नों का प्रयोग इतना व्यापक हो गया कि इनके अभिज्ञान तथा अर्थ आदि समझाने के लिये विशेष अभिलेखाधिकारी नियुक्त किए गए। ये अधिकारी अभिचिह्न विशेषज्ञ होते थे, अभिचिह्नों का संकलन तथा पंजीकरण करते थे, शांतिकाल में नियतकालिक परिभ्रमण तथा दूत कार्य करते थे। इंग्लैंड के राजगृह में 'किंग ऑव आर्म्स' नामक अधिकारी नियुक्त थे। रिचार्ड द्वितीय ने (१३६७—१४०० ई०) इंग्लैंड में इन अधिकारियों का एक संघ स्थापित किया था। यह संघ 'कालेज ऑव आर्म्स' अथवा 'हेराल्ड्स कालेज' के नाम से आज भी कार्य करता है।

मध्यकालिक शील्डें प्रारंभ में बहुत साधारण होती थीं। प्रायः रंगभेद द्वारा अथवा रंगीन चौड़ी पट्टियों द्वारा अथवा सीधी, आड़ी, घुमावदार, कटावदार आदि आदि सुगम लकीरों द्वारा भिन्नता प्रकट की जाती थी। परंतु यह सरलता अधिक न रह सकी। शील्डों की आवश्यकता बढ़ती गई और शीघ्र ही अनेक प्रकार के दैवी जीवों, मानवीय जीवों, वन्य पशुओं, पालतू पशुओं, पक्षियों, जलचरों, खगोलिक वस्तुओं, वृक्षों, पौधों, पुष्पों और अचेतन पदार्थों आदि के भी चित्रांकन किए जाने लगे। कभी कभी शील्डों के किनारे सफेद अथवा सुनहरी धातु भी अलंकृत की जाती थी। शील्डों के एक अथवा दोनों ओर जीवाकार आधारक भी बना दिए जाते थे जो दैवी, मानुषी, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक कैसे भी हो सकते थे। मध्यकालीन शील्डों की एक अन्य विशेषता उन्हें रोमयुक्त पशुचर्मों से अलंकृत करने की थी। ये पशुचर्म साधारण काले सफेद अथवा नीले सफेद के भेद से लगाए जाते थे। इस अलंकरण का मूल उद्देश्य भी डिजाइनों में भेद प्रकट करना ही था। इन अभिचिह्नों के वरण का कोई निर्धारित नियम नहीं था। चिह्नधारक अपनी शक्ति, गुणों आदि के तुल्य पशु पक्षियों को अथवा जिनके गुणों को अपनाने का वह अभिलाषी होता था, चिह्नित कर लेता था। पूर्वकालिक शील्डों के अध्ययन से पता चलता है कि उनपर बनी आकृतियाँ उनके धारकों के नाम से किंचित् संबंधित थीं।

क्रूसेड के धर्मयुद्धों के परिणामस्वरूप सैनिक झंडे भी क्रमबद्ध हो गए। आकारभेद से तीन प्रकार के झंडे मुख्य थे। पैनन निम्नकोटि का राजराणक का झंडा था। लंबे और तिकोने आकार का यह झंडा बल्लम के शिरोभाग के ठीक नीचे लटकाया जाता था। झंडे पर स्वामी का निजी बिल्ला अंकित होता था। कभी कभी यह झंडा सुनहरी झालर से भी सुशोभित होता था। दूसरे प्रकार के वर्गाकार अथवा दीर्घायत बैनर नामक झंडे का प्रयोग नाइट वर्ग के राजराणकों से उच्च कोटि के नाइट, बैरोनेट, बैरन और राजवंशी आदि ही कर सकते थे। मध्ययुग में इस झंडे का प्रयोग जलपोत की पालों पर भी होता था। नारविच के अर्ल के पोत के वातवस्त्र (पाल) पर आधुनिक चिह्न के प्रमाण हैं। सन् १४१६ में इंग्लैंड, आयरलैंड और एक्यूटेन के पोतनायक तथा हंटिंगडन के अर्ल जोहन हालैंड की सील पर अभिचिह्नसज्जित पोत का चित्रण है। तीसरे प्रकार का झंडा स्टैंडर्ड, अन्य दोनों प्रकारों से बड़े, आकार का था। यह युद्धस्थल में चल झंडों के विपरीत केवल एक ही स्थान पर खड़ा किया जाता था। इन झंडों की लंबाई, चौड़ाई आदि के भी निर्धारित मान थे। ध्वजवाहक का पद भी बड़ा संमानपूर्ण था और उसकी नियुक्ति भी महत्वपूर्ण दायित्व की थी।

इनके अतिरिक्त गाइडन, ग्रानफैलेन, पैनोकल तथा पेंडेंट नामक गौण झंडे भी थे। अश्व नायक के झंडे 'गाइडन' का उड्डीय भाग फाँकदार तथा कोने काटकर गोल बनाए होते थे। ग्रानफैलेन सेनापति के पद की स्थिति का सूचक होने के कारण युद्धभूमि में उसके निकट ही रखा जाता था। यह ध्वजदंड से जुड़ा न होकर कैंचीनुमा लटका होता था। इसका निचला भाग दाँतेदार कटा होता था। मध्यकालीन इटली में इसका अत्यधिक प्रचलन था। पैनोकेल, पैनन से कम लंबा ऐक्वायरों द्वारा धारित झंडे की संज्ञा थी। स्ट्रीमर अथवा पेंडेंट तिकोना लंबा पोतचिह्न था। कभी कभी इसका उड्डीय भाग फाँकदार कटा होता था।

युद्ध के समय सामंतों के अधीन सामान्य सैनिक भी स्वामी के प्रति वफादारी के द्योतक बिल्लों का प्रयोग करते थे। सामूहिक रूप में बिल्लों का प्रयोग १४ वीं तथा १५ वीं शताब्दी की विशेषता है। इंग्लैंड में रिचार्ड द्वितीय की घोषणा (सन् १३८५) के अनुसार प्रत्येक सैनिक के लिये आगे और पीछे दोनों ओर सेंट जार्ज के आर्म्स का चिह्न धारण करना अनिवार्य था। शेक्सपियर के नाटक हेनरी पंचम के चतुर्थ अंक के सप्तम दृश्य के वर्णन से प्रतीत होता है कि अगिन कोर्ट के युद्ध (२५ अक्टूबर, १४१५) में वेल्स सनिकों ने लीक (प्याज के सदृश) के बिल्ले धारण किए थे। इंग्लैंड में १५वीं शताब्दी के राजकुल संबंधी युद्धों में याकंशायरों ने श्वेत गुलाब तथा लेंकास्टर वासियों ने रक्त गुलाब के बिल्लों का प्रयोग किया था जिसके कारण ये युद्ध 'वार ऑव रोजेज' के नाम से ही इतिहासप्रसिद्ध हुए। कभी कभी परस्पर गुँथी हुई डोरियों द्वारा निर्मित अभिचिह्न भी बिल्लों के लिये प्रदर्शित किया जाता था, यद्यपि ऐसे बिल्लो की संख्या थोड़ी ही थी।

अपने सहयोगियों द्वारा प्रयुक्त बिल्ले से भिन्न निजी बिल्ला सेनानायक अपने शिरस्त्राण पर कलँगी रूप में भी प्रदर्शित करते थे। प्रारंभ में शिखरचिह्न शिरस्त्राण पर चित्रित होता था परंतु पीछे से उसे उभरी हुई प्रतिमा का रूप दे दिया गया। कभी कभी पक्षियों के पंखों का बना तुर्रा भी शिखरचिह्न का काम देता था। १६ वीं शताब्दी के पश्चात् शिखरचिह्न समतल पर ही चिह्नित किए जाने लगे।

१६ वीं शताब्दी में नए नए ढंग के कवचों और शिरस्त्राणों का निर्माण होने, १७वीं शताब्दी में आग्नेयास्त्रों के अधिक उपयोगी होने तथा सामंती सेनाओं के स्थान पर स्थायी भृत्य सेनाओं की अधिक उपयोगिता सिद्ध होने के कारण मध्यकालीन सैनिक अभिचिह्नों की उपयोगिता नष्ट होती गई। १६ वीं और १७ वीं शताब्दियों के अभिचिह्नों विशेषज्ञों का प्रधान कार्य अपने अभिलेखों की विवरणपूर्ति तथा नियतकालिक परिभ्रमण द्वारा वंशावलियाँ तैयार करना था। मध्य कालिक अभिचिह्न अब सैनिक न रहकर केवल अतीत के गौरवाभिमान के प्रतीक, भूस्वामियों के घरों तथा पैतृक स्मारकों के सौंदर्य उपकरण मात्र थे। परंतु सैनिक अभिचिह्नों

की आवश्यकता अभी तो पूर्ववत् बनी हुई थी। सैनिक झंडे, बिल्ले, शिखरचिह्न आदि आज भी प्रत्येक देशीय सेना के पृथक् पृथक् होते हैं। थल, जल और वायु तीनों सेनाओं में इनका प्रयोग नितांत आवश्यक है। इन आधुनिक अभिचिह्नों की विशेषताओं का सामान्य विवरण निम्न प्रकार है :

आज समस्त राष्ट्रों की तीनों थल, जल और वायु सेनाएँ तथा निजी देशविशेष के द्योतक पृथक् पृथक् झंडों का प्रयोग करती हैं। आधुनिक थल सेना में 'पदाति' रेजिमेंटों के झंडों की अंतर्राष्ट्रीय संज्ञा 'कलर' है। अश्वसेना के झंडे 'गाइडन' और 'स्टैंडर्ड' दो प्रकार के होते हैं। 'गाइडन' निम्न कोटि का झंडा है। सामान्यतः इन तीनों प्रकार के झंडों को कलर ही कह दिया जाता है। पूर्व वर्णनानुसार मध्यकाल में बैरन के अधीन अनेक कंपनियाँ होती थीं अतएव परवर्ती समय में बैरन का झंडा ही आधुनिक कर्नल का और नाइट का झंडा कंपनी का निशान बन गया। कुछ समय पश्चात् 'कर्नल' आदि का झंडा निषिद्ध कर दिया गया और उसके स्थान पर एक शासक का झंडा और दूसरा रेजिमेंटी झंडा सैन्य दलों को प्रदान किया जाने लगा। प्रजातंत्र राष्ट्रों में राष्ट्रपति का झंडा प्रदान किया जाता है। फ्रांस, जापान आदि अनेक देशों में केवल रेजीमेंटी कलर ही धारण करने का नियम है। समुद्री तथा हवाई रेजीमेंटों और कोर आदि को भी कलर प्रदान किए जाते हैं। 'कलरों' पर रेजीमेंट का चिह्नविशेष (बिल्ला) चित्रित होता है। आदर्श वाक्य भी प्रायः उल्लिखित होता है और उन सभी युद्धों और अभियानों का नामोल्लेख होता है जिनमें उन रेजीमेंटों ने भाग लिया था। 'स्टैंडर्ड' वर्गाकार होता है तथा 'गाइडन' पुच्छल भाग में फाँकदार कटा होता है। कभी कभी ध्वजदंड के शिरोभाग पर भी आकृतिविशेष होती है। इन झंडों के रंग तथा उनपर चिह्नित चिह्न आदि के संबंध में प्रत्येक देश के निजी नियम हैं।

१६ वीं शताब्दी के अंत तक नाविक झंडों का प्रयोग भी इतना विभिमय हो चुका था कि आधुनिक नौध्वजों का नियम भी अधिकांशतः उसी पर आधारित है। गत १५० वर्षों में अधिकतर देशों में नौसेना के अंतर्गत विभिन्न विभागों तथा संस्थानों के परिचायक अनेक झंडों के प्रयोग और प्रदर्शन के नियम बना लिए गए हैं। सूर्योदय के उपरांत ध्वजारोहण तथा सूर्यास्त के पश्चात् ध्वजावरोहण आजकल की अंतराष्ट्रीय नाविक प्रथा है। इसी भाँति वाणिज्य जलयानों को भी इस संबंध में अनेक अंतरराष्ट्रीय नियमों का पालन करना पड़ता है।

एक अन्य प्रकार के झंडे वरिष्ठ सेनाधिकारियों में पदस्थिति के सूचक होते हैं। इन झंडों के प्रयोग और प्रदर्शन का अधिकार तीनों सेनाओं के अधिकारियों को प्राप्त है।

आधुनिक अभिचिह्नों में सैनिक वेशभूषा भी एक आवश्यक चिह्न है जिसे देखकर कोई अशिक्षित भी सरलता से सैनिक तथा असैनिक में भेद कर सकता है। सामंतीय सेनाओं के स्थान पर स्थायी भृत्य सेनाओं का प्रयोग किए जाने पर निश्चित वेशभूषा का भी आयोजन किया गया। इंग्लैंड में जब सर्वप्रथम स्थायी सेनाओं की भर्ती हुई तब प्राचीन भृत्य वेशभूषा (livery) के लाल, नीले रंग ही वेशभूषा के लिये नियत किए। ऐसी ही प्रगति अन्य देशों में भी हुई। परंतु आधुनिक युद्धों में चटकीले, भड़कीले रंगों के स्थान पर मंद रंग की वर्दियाँ अधिक उपयोगी सिद्ध हुई हैं। सर्वप्रथम ब्रिटिश सेनाओं ने भारत की उष्ण जलवायु तथा सीमांत प्रदेश की आतपतप्त चट्टानों के नीचे सुखदायक खाकी रंग की वर्दी का प्रयोग किया। ब्रिटिश सैनिकों ने मिस्र और सूडान के अभियानों में भी इसी रंग की पोशाक पहनी। २० वीं शताब्दी में आश्चर्यकारी आग्नेयास्त्रों के आविष्कार के कारण समस्त देशीय सेनाओं में मंद रंग की वर्दियों को ही प्राथमिकता दी जाती है। आधुनिक थलसेना में खाकी तथा वायुसेना में सामान्यतः खाकी अथवा स्लेटी रंग का प्रचलन है। नौसैनिक युद्ध में जहाज विनाश का मुख्य लक्ष्य होता है, व्यक्ति नहीं, अतएव नौसैनिक गहरे नीले रंग की वर्दी पहनते हैं, परंतु ग्रीष्म ऋतु तथा जलवायु में सफेद वर्दी भी निर्धारित है।

सभी देशों तथा सैन्य दलों की वर्दी समान होने पर विशेष अभिज्ञानात्मक अभिचिह्नों की आवश्यकता अनुभव हुई। इन अभिचिह्नों को 'बैज' अथवा 'बिल्ला' कहते हैं। ये बिल्ले मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं : रेजीमेंटी, पद-कोटि-सूचक तथा विरचना सूचक (formation of signs)। एक अन्य प्रकार के बिल्ले विशिष्ट कार्यसेवाओं में प्रवीणता (skill at arms) प्राप्ति के सूचक होते हैं। रेजीमेंटी बिल्लों में, जो टोपियों अथवा शिरस्त्राणों पर टाँके जाते हैं साधारणतः माला का चिह्न, रेजीमेंट का नाम अथवा संख्या, कोई आकृतिविशेष आदि अभिज्ञानात्मक चिह्न रहते हैं। ये बिल्ले धातु के बने होते हैं। पद-कोटि-सूचक बिल्ले, जो कंधों पर धारण किए जाते हैं, आयुक्त (commissioned) अथवा अनायुक्त (non-comissioned) अधिकारियों के भिन्न भिन्न होते हैं। आयुक्त अधिकारियों की पदस्थिति सामान्यतः खड्ग अथवा अन्य कोई चिह्नविशेष अथवा सितारे, राजचिह्न आदि के संख्याभेद से प्रकट की जाती है। अनायुक्त अधिकारियों की वर्दी की भुजाओं पर संख्याभेद से कपड़े के द्विवेणी चिह्न (chevron) बने होते हैं। आयुक्त नौसेना अधिकारियों की पदकोटि उनके कोट के कफों पर सुनहरे रंग की पट्टियों के संख्याभेद द्वारा दर्शाई जाती है। केवल कमीज आदि पहनने पर कंधों पर ही पदसूचक बिल्ले बटन द्वारा टाँक दिए जाते हैं। कुछ देशों की नौसेना में पट्टियों के साथ साथ नक्षत्रचिह्न, श्येन आकृति आदि चिह्नित कर नौसैनिक ध्वजधारी अधिकारियों (Flag Officer) की पदकोटि सूचित करने की प्रथा है। वायुसेना में प्रायः ऐसे नियमों का पालन किया जाता है।

शौर्य पारितोषिक (gallantry awards) भी आधुनिक वेशभूषा के आवश्यक अंग हैं। अनेक अवसरों पर जब पूरी पोशाक पहनकर सैनिकों को उपस्थित होना पड़ता है तब उनके लिये समस्त विजित पदकों को भी धारण करना अनिवार्य होता है। एक से अधिक पदक प्राप्त होने पर उन्हें निर्धारित प्राथमिकता के क्रमानुसार सज्जित किया जाता है। ये पदक रंग बिरंगी पट्टियों द्वारा वक्षस्थल पर दाएँ अथवा बाएँ लटकाए जाते हैं। रिबनों में वर्णभेद से पदकाभिज्ञान में भी सहायता मिलती है। अतएव दैनिक व्यवहार के सामान्य अवसरों पर पदक के स्थान पर केवल सूक्ष्म रूप रिबन ही

धारण किए जाते हैं। मेडल स्वर्ण, रजत, ताम्र और गनमेटल आदि अनेक धातुओं के बने होते हैं। इनके मुख और पृष्ठ दो भाग होते हैं।

प्रथम महायुद्ध में सैनिक यानों की विरचना अभिज्ञप्तिलेखों के स्थान पर चिह्नों द्वारा सुरक्षा की दृष्टि से अधिक उपयोगी सिद्ध हुई। अतएव तभी से सैनिक यानों को भी अधिक चिह्नित किया जाने लगा। यह अभिचिह्न प्रत्येक विरचना के अधीन यानों पर चिह्नित होता है। सैनिक जलयानों तथा वायुसेना का भी विशेष बैज अथवा बिल्ला होता है जिसे क्रेस्ट (शिखरचिह्न) भी कहते हैं। ये क्रेस्ट वतुंलाकार होते हैं। इनकी पृष्ठभूमि श्वेत अथवा वर्णित कैसी भी हो सकती है। इसपर बनी आकृतियाँ यानों के पूर्व इतिहास, श्लाघनीय कृत्यों अथवा प्रकार्यों से संबंधित होती हैं। क्रेस्ट के नीचे आदर्शवाक्य भी उल्लिखित रहता है। जलसेना में जहाजों के अतिरिक्त तटसंस्थानों, नौसैनिक प्रशिक्षणकेंद्रों आदि को तथा वायुसेना में स्क्वाड्रनों के अतिरिक्त कमांडों, ग्रुपों, स्टेशनों तथा प्रशिक्षण केंद्रों आदि को भी इसी प्रकार के बिल्ले प्रदत्त होते हैं। परंतु उनपर आदर्श वाक्यों का उल्लेख अनिवार्य नहीं है।

सैनिक अभिचिह्नों के इस सामान्य एवं संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि इनकी आवश्यकता सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक रही है। देश काल की परिस्थितियों तथा सैनिक आवश्यकताओं के अनुकूल इनमें समय समय पर संशोधन, परिवर्तन तथा अधिकरण भी अवश्य होते रहते हैं। आधुनिक युग में ज्यों ज्यों सैन्यविज्ञान में वृद्धि हो रही है त्यों त्यों इन अभिचिह्नों की बहुलता भी उत्तरोत्तर बढ़ रही है। आणविक युद्ध की परिस्थिति में सैनिक अभिचिह्नों के स्वरूप में किन किन परिवर्तनों की संभावना हो सकती है, कहना कठिन है परंतु अभिचिह्नों की आवश्यकता किसी न किसी रूप में अवश्य ही विद्यमान रहेगी। [अ० ना० श०]

सैनिक कानून (Military Law) प्रत्येक राष्ट्र या समाज के कुछ ऐसे नियम होते हैं जिनका राष्ट्र या समाज के प्रत्येक व्यक्ति को पालन करना पड़ता है। ऐसे नियमों को दीवानी कानून या केवल कानून कहते हैं। ये कानून राष्ट्र या समाज की स्थापित परंपरा तथा रीतिरिवाज पर आधारित होते हैं या कानून बनानेवाले किसी विधानमंडल द्वारा बनाए गए होते हैं।

ऐसे कानून सब व्यक्तियों पर, चाहे वे सामान्य नागरिक हों या सैनिक, लागू होते हैं। इन कानूनों के अतिरिक्त कुछ ऐसे कानूनों की भी आवश्यकता अनुभव की गई है जिन्हें सैनिक कानून कहते हैं और ये सैनिक अदालतों द्वारा प्रशासित किए जाते हैं। इसके अतर्गत वे अपराध आते हैं जो सैनिकों और सैनिक अधिकारियों द्वारा किए जाते हैं। इस संबंध में दो बातें स्मरण रखने की हैं, पहली बात यह है कि ये कानून उन्हीं अधिकारियों द्वारा पारित होते हैं। कुछ सैनिक कानून अंतरराष्ट्रीय कानून पर भी आधारित होते हैं, जैसे युद्ध-विराम पर सफेद झंडा दिखलाना, रेडक्रास के साथ अथवा युद्ध-बंदी के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए इत्यादि इत्यादि। दूसरी बात यह है कि सेना में (सैनिक या अधिकारी के रूप में) भर्ती होने पर कोई मनुष्य नागरिकता से वंचित नहीं हो जाता। देश के सामान्य कानून उसपर भी समान रूप से लागू होते हैं, जब तक सामान्य कानून से उसकी मुक्ति विशेष रूप या कारणों से न कर दी गई हो। अतः सैनिकों पर सामान्य कानून के साथ साथ सैनिक कानून भी लागू होते हैं, जो सामान्य नागरिकों पर लागू नहीं होते। डिसी (Dicey) का कहना है, सैनिक पर सामान्य नागरिक दायित्व के ऊपर सैनिक दायित्व भी आधारित होता है। अतः उसपर सैनिक कानून के साथ साथ दीवानी कानून भी लागू होता है। पर सैनिक के रूप में उसे कुछ सुविधाएँ प्राप्त हैं। जैसे ऋण के लिये उसकी गिरफ्तारी नहीं हो सकती, अस्त्र शस्त्र रखने की कुछ छूट होती है। दीवानी अधिकारियों द्वारा कुर्की (attachment) नहीं हो सकती इत्यादि। पर साथ ही नागरिकता के उसके कुछ अधिकार छिन जाते हैं, जैसे विधानसभा या नगरपालिका के चुनाव में वह खड़ा नहीं हो सकता और किसी श्रमिक संघ को नहीं बना सकता इत्यादि।

सैनिक कानून का प्रयोजन — सैनिकों के लिये कई कारणों से विशिष्ट कानून की आवश्यकता पड़ी है। इनमें कुछ इस प्रकार हैं — (१) बहुत से ऐसे कार्य हैं जो सामान्य नागरिक द्वारा किए जाने पर अपराध नहीं समझे जाते अथवा बहुत सामान्य अपराध समझे जाते हैं, पर सैनिकों द्वारा किए जाने पर वे गंभीर अपराध होते हैं। ऐसे कार्य हैं, संतरी का चौकी पर सो जाना, छोटों के प्रति क्रूर व्यवहार करना, हथियार लेकर शराब के नशे में होना, विद्रोह करना आदि। ये कुछ सैनिक अपराध हैं। इनका दंड निर्धारित करने के लिये विशिष्ट संहिता की आवश्यकता पड़ती है। (२) दीवानी अदालतों का काम युद्ध संबंधी आवश्यकताओं के लिये बहुधा बड़ा मंद होता है (३) कभी कभी, जब दीवानी अदालत निकट नहीं है तब युद्ध संबंधी अपराधों के लिये संक्षिप्त विचार कर तत्काल दंड देने की आवश्यकता पड़ती है।

परिभाषा — सामान्य नागरिक पर जो कानून लागू होते हैं, सैनिक कानून उनसे भिन्न होते हैं। सैनिक कानून में विशिष्ट संहिताएँ होती हैं जो ऐसे सैनिक अपराधों से निपटने के लिये बनी होती हैं जिनका दीवानी कानून में कोई स्थान नहीं होता, अथवा जिनके अपराधियों का दीवानी अधिकारियों के हाथ में सौंपना वांछनीय नहीं होता। सैनिक अधिकारी ऐसे अपराधों को अविलंब निर्णीत कर सकते हैं अथवा कोर्ट मार्शल (सैनिक अदालत) में विचारार्थ भेज सकते हैं, पर उनकी कार्यविधियाँ सदा ही सेना अधिनियम (Army Act) और उसके अंतर्गत बने नियमों (Rules) के निर्देशन के अनुकूल ही होनी चाहिए। सैनिक कानून सेना संबंधी कुछ प्रशासनिक बातों पर भी विचार करता है पर व्यवहार में सामान्यतः केवल अनुशासनिक काररवाई से ही संबंध रखता है।

कानून का लागू होना — शांतिकाल और युद्धकाल में देश में या देश से बाहर सशस्त्र सैनिकों के सभी सदस्यों पर सभी समय यह कानून लागू होता है। कुछ विशिष्ट अवसरों पर सामान्य नागरिकों के

कुछ वर्गों पर भी इसके कुछ अंश लागू होते हैं। ऐसे नागरिक हैं : सक्रिय सेवा के शिविर अनुचर, युद्ध संवाददाता इत्यादि।

मार्शल ला — मार्शल ला और सैनिक कानून एक नहीं हैं। मार्शल ला का आशय है सामान्य कानून का स्थगन कर देश के अनुशासन (या उसके कुछ अंश) को सैनिक अधिकरण को सौंप देना। इसका नवीन उदाहरण पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूब खाँ द्वारा पाकिस्तान के अनुशासन को यहिया खाँ को सौंपकर मार्शल ला लागू करना। ऐसा ही मार्शल ला पंजाब के राज्यपाल सर माइकेल ओडायर ने सन् १९१९ ई० में अमृतसर में लागू किया था जब जलियाँवाला बाग की नरहत्यावाली घटना हुई थी। मार्शल ला का आशय उस कानून से भी है जो विजयी कमांडर किसी विदेश को अधिकार में करके उस देश या देश के किसी भाग पर लागू करता है।

इतिहास — भारत में सैनिक कानून का इतिहास बहुत प्राचीन है। सेना में अनुशासन रखने के संबंध की सूचनाएं बहुत कम प्राप्य हैं। इस उद्देश्य के लिये हमारे स्मृतिकारों ने कुछ संहिताएँ बनाई थी, इसमें कोई संदेह नहीं है। महाभारत के शांतिपर्व और अर्थशास्त्र, जो ईसा के पूर्व लिखे ग्रंथ हैं, में कुछ ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं जो सैनिक कानून की परिभाषा के अंतर्गत आती हैं। उदाहरणस्वरूप शांतिपर्व में ऐसा नियम दिया हुआ है कि सेना के भगोड़े को मार डाला या जला भी दिया जा सकता है। अर्थशास्त्र में प्रधान सेनापति को ऐसा आदेश है कि युद्ध या शांति में सेना के अनुशासन पर विशेष ध्यान दे। इसी प्रकार 'शुक्रनीति' और 'नीतिप्रकाशिका', जो बहुत पीछे के लिखे ग्रंथ हैं, में सैनिक कानून के कुछ नियम दिए हैं। 'शुक्रनीति' में ऐसा आदेश दिया हुआ है कि हथियारों और वर्दी को बराबर स्वच्छ रखना चाहिए, ताकि उनका उपयोग तत्काल किया जा सके, सैनिकों को शत्रु के जवानों से बंधुत्वभाव नहीं रहने देना चाहिए। अवज्ञा, विश्वासघात, युद्धक्षेत्र से भाग जाने, गुप्त सूचनाओं के भेद खोल देने पर तत्काल जो दंड देना चाहिए उसका उल्लेख 'नीतिप्रकाशिका' में है। पाश्चात्य देशों में ऐसे नियम बहुत बाद में बने। सबसे पहली सैनिक पुस्तिका दूसरी शताब्दी की बनी समझी जाती है जिसके कुछ अंश शाहंशाह जस्टिनियन (Emperor Justinion) द्वारा उनके डाइजेस्ट में दिए हुए हैं। अन्य पाश्चात्य देशों में तो ऐसे नियम और बाद में बने, तब इनका नाम 'सैन्य नियम' (Articles of War) पड़ा था। ऐसे सैन्य नियम इंगलैंड में किंग रिचार्ड द्वितीय द्वारा १४वीं शताब्दी में बनाए गए थे। संयुक्त राज्य अमरीका में १७७५ ई० में सैन्य नियम बने। आधुनिक काल में सभी सुविकसित राज्यों में सैनिक कानून की संहिताएँ बनी हैं। ये अंशतः देश के रस्म रिवाजों पर आधारित है पर अधिकांशतः विधानमंडलों द्वारा अधिनियम (enactments) से बने हैं। भिन्न भिन्न देशों में ये भिन्न भिन्न नामों से जाने जाते हैं। भारत, ग्रेट ब्रिटेन और राष्ट्रमंडल के कुछ अन्य देशों में ये आर्मी ऐक्ट (Army Act), संयुक्त राज्य अमरीका में युनिफार्म कोड ऑव मिलिटरी जस्टिस (Uniform Code of Military Justice), रूस में डिसिप्लिनरी कोड ऑव दि सोवियेट आर्मी (Desciplinary Code of the Soviet Army) कहे जाते हैं। भारत में भी कुछ अन्य देशों की तरह जज, ऐडवोकेट जेनरल सैनिक कानून की एक पुस्तिका (Manual) प्रकाशित करते हैं जिसमें सभी अधिनियम और सैनिक कानून के प्रशासन के प्रक्रम (procedure) दिए रहते हैं। इसी विभाग पर मार्शल ला अदालत की कार्यप्रणाली का दायित्व रहता है।

भारत में आधुनिक सैनिक कानून — ब्रिटेनवालों ने गत लगभग ३०० वर्षों में भारत में स्थित अपनी सेना के नियंत्रण के लिये जो नियम बनाए थे, उन्हीं पर भारत का आधुनिक सैनिक कानून आधारित है। १७वीं शताब्दी के प्रथम अर्धकाल में व्यापार के लिये अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने जो कारखाने स्थापित किए उन कारखानों के संरक्षण और अपने प्रधान अधिकारियों के गौरव के लिये रक्षकों को नियुक्त किया। बाद में इन रक्षकों के संगठन में सुधार हुआ और उसके फलस्वरूप देशी और यूरोपीय सेनाओं का प्रादुर्भाव हुआ। सेनाओं की संख्या क्रमशः बढ़ती गई और अनुशासन स्थापित रखने के लिये समय समय पर कानून बनाने की आवश्यकता पड़ी। ये कानून 'युद्ध के नियम' (Articles of War) कहलाए। भारत में तत्कालीन कंपनी के तीन अलग प्रशासनिक भाग बंबई, मद्रास और कलकत्ता थे जिन्हें 'प्रेसिडेन्सी' कहते थे। प्रत्येक प्रेसिडेंसी की अपनी सेनाएँ थी और १८१३ ई० से उन्हें युद्ध के नियम बनाने के अपने अपने अधिकार थे। अतः तीन अलग अलग संहिताएं बनी जो प्रत्येक प्रेसिडेंसी की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण एक दूसरे से भिन्न थी। १८३३ ई० में ब्रिटिश संसद ने शासपत्रित अधिनियम (Charter Act) बनाया जिसके अनुसार ब्रिटिश भारत में कानून बनाने का अधिकार कलकत्ते के केवल गवर्नर जेनरल इन कौंसिल (Governor General in Council) के हाथ में रहा पर प्रेसिडेंसियों की अपनी अलग अलग सेनाएँ थीं। १८९५ ई० में तीनों प्रेसिडेन्सी सेनाएं मिलकर एक हो गईं और तब भारतीय युद्ध के नियमों में पर्याप्त सुधार करने की आवश्यकता पड़ी। फिर १९११ ई० में एक बिल का मसौदा बना जिसमें तब तक भारतीय सेना संबंधी बने सब कानूनों को मिलकर एक सरल और व्यापक अधिनियम बना। १९११ ई० के मार्च में ये अधिनियम कानून बन गए और उसका नाम 'भारतीय सेना अधिनियम' (Indian Army Act) पड़ा और १९१२ ई० के जनवरी से यह लागू हो गया। इस विषय से संबंधित पहले के सभी अधिनियम निरस्त (repeal) हो गए।

१९१४–१८ ई० के विश्वयुद्ध में सैनिकों के कुछ दंडों को निलंबित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इनका निलंबन इतना उपयोगी सिद्ध हुआ कि युद्ध के बाद १९२० ई० में एक दूसरा अधिनियम, जिसे सेना दंड निलंबन अधिनियम कहते हैं, पारित हुआ। उस समय से लेकर ३० वर्षों तक दोनों अधिनियम और उनके अंतर्गत बने नियम, भारतीय सैनिक कानून की संहिता बने रहे। भारत के स्वतंत्र हो जाने के बाद, कुछ अल्प सुधारों के साथ उन्हीं कानूनों को एक व्यापक अधिनियम में समाविष्ट कर १९५० ई० का सैनिक अधिनियम बनाया गया जो अब भारतीय सेना की सैनिक संहिता है। नौसेना और वायुसेना के अलग अलग अधिनियम हैं। इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट अधिनियम भी हैं जो उन अधिनियमों के अंतर्गत बनी सेनाओं पर लागू होते हैं, जैसे टैरिटोरियल आर्मी

ऐक्ट (प्रदेशिका सेना अधिनियम), राष्ट्रीय कैडेट कोर (National Cadet Corps) इत्यादि।

यद्यपि भारत का आधुनिक सैनिक कानून प्रधानतया ब्रिटिश सैनिक कानून पर आधारित है और भारतीय परिस्थिति के अनुकूल बनाने के लिये उसमें कुछ सुधार किए गए हैं पर दोनों में एक मौलिक अंतर है। ब्रिटेन के सैनिक अधिनियम का प्रति वर्ष संसद द्वारा नवीकरण होता रहता था पर भारत का सैनिक अधिनियम बिना वार्षिक नवीकरण के स्थायी रूप से लागू रहता है। आवश्यकता होने पर समय समय पर उसमें संशोधन होते रहते हैं। ब्रिटेन में भी १९५५ ई० में कानून में संविधानी परिवर्तन हुए जिससे वार्षिक नवीकरण हटा दिया गया।

भारत का आधुनिक सैनिक कानून — जब कोई व्यक्ति सेना में भर्ती होता है, तब उसे एक नामांकनपत्र पर हस्ताक्षर करना होता है, जिसपर सेना में भर्ती होने की शर्तें दी हुई रहती हैं। हस्ताक्षर करने का तात्पर्य यह होता है कि वह उन शर्तों का पालन करने की अपनी स्वीकृति देता है। नामांकन के पश्चात्, उसे परिवीक्षाकाल पूरा करना पड़ता है और तब वह सेवा के लिये योग्य हो जाता है। फिर उसे सैनिक निष्ठा (वफादारी) की शपथ लेनी पड़ती है। इसे 'साक्ष्यांकन' (attestation) कहते हैं। किसी व्यक्ति के नामांकन और साक्ष्यांकन हो जाने पर वह सैनिक का पूरा पद (rank) प्राप्त कर लेता है और तब स्थायी रूप से सैनिक कानून के अधीन आ जाता है, सिवाय उस दशा में जब वह व्यक्ति सेना से हटा दिया गया है अथवा बर्खास्त कर दिया गया है। अधिकारियों अथवा अवर राजादिष्ट अधिकारियों (Junior Commissioned officers) का नामांकन नहीं होता, उनका कमीशन होता है। जिन व्यक्तियों का नामांकन या साक्ष्यांकन नहीं होता पर वे सेना के साथ सक्रिय सेवा में अथवा शिविर में सेना के किसी अंश के साथ या मार्च पर या किसी सीमांत पद (frontier post) पर रहते हैं उनपर भी सैनिक कानून स्थायी रूप से लागू होता है।

सैनिक कानून प्रशासन — सैनिक कानून सामान्यतः मार्शल अदालत द्वारा प्रशासित होता है परंतु कुछ परिस्थितियों में यूनिट के कमान अधिकारी द्वारा भी प्रशासित होता है। सब देशों में छोटे छोटे अपराधों के लिये मार्शल अदालत की शरण न लेकर कमान अधिकारियों द्वारा ही दंड दे दिया जाता है। उदाहरणस्वरूप ब्रिटेन में यदि कोई सैनिक शराब के नशे में पाया जाय तो बिना मार्शल अदालत में गए ही उसके वरिष्ठ अधिकारी उसे अर्थदंड दे सकते हैं। उसी प्रकार भारत में भी छोटे छोटे अपराधों के लिये कमान अधिकारी तत्काल दंड, जैसे लाइन में हाजिर रहना, कैंप में रोक रखना, फटकारना, कुछ निश्चित काल के लिये वेतन रोक रखना, या जब्त कर लेना आदि, दे सकते हैं।

अपराध — सैनिकों द्वारा किए गए अपराध दो प्रकार के, दीवानी या सैनिक, होते हैं। सैनिक अपराधों पर मार्शल अदालतों अथवा सक्रिय सेवा की यूनिटों के कमान अधिकारियों द्वारा विचार किया जाता है। भारत के बाहर अथवा सक्रिय सेवा में लगे सैनिकों के दीवानी अपराधों पर भी मार्शल अदालतों द्वारा विचार किए जाते हैं। शांतिकाल में भी यदि सैनिक ने दीवानी अपराध किया हो तो उसका भी विचार मार्शल अदालत में हो सकता है। भारत में किए गए ऐसे लोगों के प्रति जिनपर सैनिक कानून लागू नहीं होता, असैनिक अपराधों का सैनिक अदालत में विचार नहीं होता। उन्हें विचारार्थ दीवानी अदालत में भेज दिया जाता है। दीवानी अपराधों के लिये भारतीय दंड संहिता (Indian Penal Code) में दी गई सजाएँ लागू होती हैं। दीवानी अपराधों का आशय यहाँ उन अपराधों से है जिनके लिये सैनिक अधिनियम में कोई व्यवस्था नहीं है।

सैनिक अपराध दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं, एक वे जिनमें मृत्यु या इससे कम दंड की व्यवस्था है, दूसरे वे जिनमें मृत्युदंड नहीं दिया जा सकता है। इन अपराधों के कुछ दृष्टांत इस प्रकार हैं : (१) किसी सैनिक को मृत्युदंड दिया जा सकता है, यदि वह गैरिसन या पद से निर्लज्जता से हट जाता है, हथियारों को निर्लज्जता से त्याग देता है, शत्रु के साथ संबंध स्थापित करता है अथवा शत्रु को सूचना प्रदान करता है। अनधिकृत व्यक्ति को संकेत बता देता है या शत्रु को आश्रय या संरक्षण देता है इत्यादि।

निम्नलिखित अपराधों के लिये भी मृत्युदंड दिया जा सकता है, चाहे वह सक्रिय सेवा में रहे अथवा नहीं — विद्रोह (एक व्यक्ति विद्रोह नहीं कर सकता, कम से कम दो व्यक्ति का विद्रोह के लिये होना आवश्यक है), अवज्ञा (insubordination), किसी वरिष्ठ अधिकारी को मारना, वरिष्ठ अधिकारी की आज्ञा का उल्लंघन करना, विद्रोह को जानते हुए वरिष्ठ अधिकारी को तत्काल उसकी सूचना न देना, सेना को छोड़कर भाग जाना और हिरासत में रखे व्यक्ति को बिना अधिकार छोड़ देना इत्यादि। (२) मृत्यु से कम दंड उस व्यक्ति को दिया जाता है जो शांतिकाल में संतरी को मारे, संतरी के मना करने पर भी किसी स्थान में बलात् घुस जाय, झूठे ही संकट की घंटी बजाए, संतरी होने पर अपने अधिकार में रखे पदार्थों को लूटे, अपनी चौकी पर सो जाय, अपने वरिष्ठ अधिकारियों की अवज्ञा करे अथवा उनके प्रति धृष्टता का व्यवहार करे, भगोड़े को आश्रय दे, चोरी का दोषी हो, अपने को चोट पहुँचाए ताकि वह सेवा के अयोग्य हो जाय, क्रूरता (जैसे घोड़े के प्रति) प्रदर्शित करे, नशे मे हो, आकर्षण (Extortion) करे इत्यादि।

कुछ अन्य सैनिक अपराध, जिनमें मृत्युदंड नही दिया जाता, ये हैं — अपने पद के लिये अशोभन रीति से व्यवहार करना, अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ बुरा व्यवहार करना, किसी व्यक्ति की धर्मभावना पर आघात करना, आत्महत्या का प्रयत्न करना, इत्यादि। (अपराधों की पूरी सूची के लिये सैनिक अधिनियम देखें)।

दंड — सैनिक कानून के अंतर्गत जो दंड दिया जा सकता है उनमें कुछ इस प्रकार हैं : मृत्यु, निर्वासन (transportation) कारावास (सामान्य या कठोर), सेना से हटा देना, बर्खास्तगी, अर्थदंड, फटकार इत्यादि क्रूर तथा असामान्य दंड, जैसे कोड़े मारना, सभी सभ्य देशों के सैनिक कानून में वर्जित है, भिन्न भिन्न

सजाएँ एक साथ दी जा सकती हैं, जैसे पद से गिरा देना और अर्थदंड, बर्खास्तगी तथा कारावास, दोनों ही एक ही अपराध के लिये दिए जा सकते हैं। सेना से हटा देना भारत और ब्रिटेन में प्रचलित है पर संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य अनेक देशों में नहीं है। यह केवल अधिकारियों पर लागू होता है। जिसको यह सजा दी जाती है वह सरकार में किसी भी काम के लिये कोई दूसरी नौकरी पाने के लिये अयोग्य होता है। बरखास्तगी सभी कोटि के व्यक्तियों पर लागू होती है। इसमें लांछन अंतर्निहित है। पर बर्खास्त व्यक्ति बर्खास्त करनेवाले अधिकारी की अनुज्ञा से पुन: नियुक्त हो सकता है। कानून में महत्तम सजा, जो दी जा सकती है, दी रहती है पर अदालत उसे महत्तम या उससे कम, जैसा वह उचित समझे, दे सकती है। ब्रिटिश सैनिक कानून में इस नियम के दो अपवाद हैं — १. यदि किसी अधिकारी को अवद्यूरक (Scandalous) आचरण के लिये सजा दी गई है तो उसे सेना से हट जाना अनिवार्य है। २. यदि उसे हत्या के लिये दोषी पाया गया है तो उसे मृत्युदंड अवश्य मिलना चाहिए। इसके लिये कोई दूसरा वैकल्पिक दंड नहीं है। मृत्यु पाए व्यक्ति को फांसी पर लटका दिया जाता है अथवा गोली मार दी जाती है, जैसा अदालत का निर्देश हो।

सैनिक न्यायालय (Court Martial) — भारत में सैनिक न्यायालय चार प्रकार के, ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका में तीन प्रकार के और फ्रांस में केवल एक प्रकार के होते हैं। भारत के न्यायालय हैं : (१) समरी (Summary) सैनिक न्यायालय, (२) समरी सामान्य सैनिक न्यायालय, (३) जिला सैनिक न्यायालय तथा (४) सामान्य सैनिक न्यायालय। किसी व्यक्ति को सैनिक न्यायालय में विचारार्थ आने के पहले उसकी पूरी छानबीन कर ली जाती है।

समरी सैनिक न्यायालय — किसी यूनिट या टुकड़ी का कमान अधिकारी, यदि वह राजादिष्ट अधिकारी है तो, न्यायालय में बैठ सकता है। वह अकेले न्यायालय बनता है पर दो अन्य अधिकारी कार्यक्रम में अवश्य उपस्थित रहते हैं। यह न्यायालय कारावास का दंड, जो एक वर्ष से अधिक न हो और अन्य सजाएँ, मृत्यु या निर्वासन को छोड़कर, दे सकता है। सजा की संपुष्टि की आवश्यकता नहीं पड़ती और तत्काल कार्यान्वित की जा सकती है, सिवाय उस दशा में जब अन्यायपूर्ण या अवैध होने के कारण केंद्रीय सरकार के प्रधान सैनिक स्टाफ द्वारा रद्द न कर दिया जाय।

समरी सामान्य सैनिक न्यायालय — इस न्यायालय में कम से कम तीन अधिकारी रहते हैं। वरिष्ठ अधिकारी अध्यक्ष होता है। यह न्यायालय सेना भारतीय अधिनियम के अंतर्गत आनेवाले किसी भी व्यक्ति का विचार कर सकता है और मृत्यु या इससे छोटा दंड दे सकता है। ऐसा न्यायालय सामान्यत: सक्रिय सेवा परिस्थितियों में, जब सामान्य सैनिक न्यायालय बुलाना व्यवहार्य नहीं होता, बैठता है।

जिला सैनिक न्यायालय — इसमें तीन अधिकारी (पेचीदे मुकदमों में जाँच) रहते हैं और इसका अधिकारक्षेत्र उन सभी व्यक्तियों पर होता है जो सैनिक अधिनियम में आते हैं, अधिकारी, अवर कमीशन अधिकारी या नागरिक अधिकारी इसके अपवाद हैं। यह कारावास, जो दो वर्ष से अधिक न हो, या अन्य छोटी छोटी सजाएँ (अर्थदंड इत्यादि) दे सकता है। मृत्यु या निर्वासन का दंड यह नहीं दे सकता।

सामान्य मार्शल न्यायालय — में कम से कम पाँच (कठिन मुकदमों में सात तक) अधिकारी रहते हैं। इसका अधिकारक्षेत्र उन सभी व्यक्तियों पर होता है जो सैनिक अधिनियम के अंतर्गत आते हैं और अधिनियम में दिए गए दंडों को वह दे सकता है। यह सर्वोच्च मार्शल न्यायालय है। इन सभी न्यायालयों के लिये अधिनियम और नियमों मे विस्तृत अनुदेश और न्यायालय के बुलाने, न्यायालय के बैठाने, सदस्यों की योग्यता, सजा की संपुष्टि या रद्द करने, गवाहों और उनकी पुच्छा, अभियुक्त के बचाव करने के लिये ऐडवोकेटों या वकीलों की नियुक्ति और अन्य संबद्ध कार्यों की सविस्तर क्रियाविधि दी हुई है।

इस संबंध में निम्नलिखित कुछ सामान्य बातों का उल्लेख किया जा रहा है : १. प्रमाण और कानून की व्यवस्था के निर्वचन के संबंध में वे ही नियम लागू होते हैं जो सामान्य दीवानी या फौजदारी अदालतों में लागू होते हैं। २. मार्शल न्यायालय का कोई भी सदस्य अभियुक्त के पद से नीचे के पद का नहीं हो सकता। ३. प्रत्येक सामान्य मार्शल न्यायालय मे एक न्यायाधिवक्ता (Judge Advocate) अवश्य रहना चाहिए जो न्यायालय को सलाह देने के लिये कानूनी असेसर (Assessor) का कार्य करता है और कानून के संबंध में न्यायालय को परामर्श देता है तथा न्यायालय का प्रशासन अधिकारी होता है। न्यायाधिवक्ता महान्यायाधिवक्ता विभाग का सामान्यत: कोई अधिकारी होता है। न्यायाधिवक्ता जिला मार्शल न्यायालय या समरी सामान्य मार्शल न्यायालय में भी उपस्थित रह सकता है।

अधिकारक्षेत्र — सभी व्यक्ति, जो सैनिक अधिनियम के अंतर्गत आते हैं, असैनिक अपराधी के लिये देश के सामान्य दीवानी कानून के अंतर्गत भी आते हैं। यदि वे भारतीय दंडसंहिता के विरुद्ध कोई अपराध करते हैं तो उनपर दंडसंहिता लागू होती है। यदि किसी अभियुक्त को किसी अपराध के लिये मार्शल न्यायालय से सजा मिली है या वह छोड़ दिया जाता है तो दीवानी अदालत उसका विचार कर सकती है, पर दंड देने में दीवानी अदालत सैनिक न्यायालय में दी गई सजा को ध्यान में रख सकती है। यदि किसी अपराध के लिये दीवानी अदालत ने पहले विचार किया है तब फिर उसी अपराध के लिये सैनिक न्यायालय विचार नहीं कर सकता है। यदि कोई अपराध ऐसा है जिसका विचार दीवानी, फौजदारी अदालत या मार्शल अदालत दोनों में हो सकता है तो सैनिक अधिकारी निर्णय कर सकते हैं कि नैतिकता और सैनिक सुरक्षा के विचार से उस अपराध पर वे स्वयं ही विचार करें अथवा नहीं। पर जब कोई व्यक्ति सामान्य फौजदारी कानून का गंभीर अपराध (बलात्कार, हत्या आदि) करता है तब सैनिक अधिकारी को अपराधी का विचार करने के लिये उसे दीवानी अदालत को सौंप देना चाहिए। यदि कोई अपराध दीवानी या फौजदारी अदालत के क्षेत्राधिकार के अंदर आता है और अदालत यह समझती है कि अपराध का विचार उसी के द्वारा

होना चाहिए तो वह सैनिक अधिकारी के पास भेज दिया जायगा अथवा कार्यविधि तब तक स्थगित रखने के लिये कहे जब तक उच्चतर अधिकारी, जैसे केंद्रीय सरकार, के यहाँ से आवश्यक निर्देश प्राप्त न हो जाए। केंद्रीय सरकार का निर्णय अंतिम होता है। संयुक्त राज्य अमरीका में सैनिक सेवा में लगे यदि किसी व्यक्ति को असैनिक अपराध के लिये दीवानी अधिकारी पकड़े तो सैनिक अधिकारी उसमें हस्तक्षेप नहीं करेंगे पर ब्रिटेन में ऐसा नहीं है। वहाँ सैनिक अधिकारी उसपर विचार करेंगे।

यदि किसी व्यक्ति को दीवानी अदालत से कोई सजा दी जाती है तो उसी अपराध के लिये फिर उसपर सैनिक अदालत में विचार नहीं किया जा सकता। पर उसकी सजा की सूचना उच्च सैनिक अधिकारी को दे दी जाती है जो अभियुक्त को बरखास्त अथवा उसके पद की अवनति कर सकता है।

दीवानी अधिकारी की सहायता — आंतरिक कानून और व्यवस्था कायम रखने का उत्तरदायित्व असैनिक अधिकारियों पर है और अपने असैनिक दल पुलिस की सहायता से वे ऐसा करते हैं। पर जब अव्यवस्था असैनिक पुलिस के नियंत्रण के बाहर हो जाए और मजिस्ट्रेट द्वारा आज्ञा देने पर भी पाँच या अधिक व्यक्ति का गैर कानूनी जमाव तितर बितर न हो तब वह किसी नागरिक से उत्तेजित भीड़ को तितर बितर करने में सहायता ले सकता है। मजिस्ट्रेट ऐसे कमीशन अधिकारी की भी अपराधियों को गिरफ्तार करने मे सहायता ले सकता है जिनके अधिकार में सैनिक हों। असैनिक अधिकारियों को इस प्रकार मदद करना सैनिकों का सबसे कठिन और अप्रिय कर्तव्य है जिसे सैनिकों को करना पड़ता है। इससे ऐसी आशा की जाती है कि असैनिक अधिकारी सैनिकों का तभी सहारा लेंगे जब अधिकारियों के पास अन्य कोई उपाय नहीं रह जाए और वे सैनिक अधिकारियों से उनके काम के संपादन में पूर्ण रूप से सहयोग करेंगे।

यदि सैनिक अधिकारी को ऐसी सैनिक सहायता के लिये आदेश प्राप्त हो तो उसको तत्काल पूरा करना चाहिए। ऐसा काम करते हुए उद्देश्य की पूर्ति के लिये अधिकारी को कम से कम बल का उपयोग करना चाहिए। किसी गैरकानूनी जमाव को तितर बितर करने या दंगे को शांत करने के लिये कितने न्यायसंगत बल की आवश्यकता है, यह परिस्थितियों पर निर्भर है पर सदा ही, वह इतना कम रहना चाहिए जितना उद्देश्य की पूर्ति के लिये बिलकुल आवश्यक हो।

जब जनसुरक्षा खतरे में दिखाई पड़े और निकट में कोई मजिस्ट्रेट न हो जिससे संपर्क स्थापित किया जा सके, तब सेना का कोई भी कमीशन अधिकारी गैरकानूनी जमाव को तितर बितर करने के लिये स्वतःप्रेरणा से आवश्यक कारवाई कर सकता है। स्वतः ऐसा करते हुए उसे यदि संभव हो तो मजिस्ट्रेट के संपर्क में आने की कोशिश करनी चाहिए और ऐसा होने पर उसके आदेश का पालन करना चाहिए। बलप्रयोग करने से पहले कमान अधिकारी को सभी संभव उपाय से भीड़ को समझा देना चाहिए कि वे जल्द तितर बितर हो जाएँ और सावधान कर देना चाहिए कि यदि गोली चली तो वह प्रभावकारी होगी। असैनिक द्वारा माँगी गई मदद के संबद्ध अधिकारी को मदद करने के लिये अगर कोई मजिस्ट्रेट नहीं है तो स्वतःप्रेरणा से यदि वह कोई काम करता है तब वह उसके लिये दोषी नहीं समझा जाता बशर्ते उसने ऐसा काम सद्भाव से किया है और कम से कम बल का प्रयोग किया है। इसी प्रकार वैध आदेश के पालन मे यदि कोई अवर अधिकारी या सैनिक कोई कार्य करता है तो वह कोई अपराध नहीं समझा जाता। ऐसे कार्यों के लिये किसी फौजदारी अदालत में केंद्र सरकार की अनुमति के बिना अधिकारी या सैनिक के विरुद्ध कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता।

असैनिक अधिकारियों की सहायता के लिये यदि कोई अधिकारी सैनिक भेजता है तो उसे इसकी सूचना तत्काल जेनरल स्टाफ के प्रधान के पास, जब घटनास्थल से और सैनिक हटा लिए जाँय, तब भेज देनी चाहिए। उसमें उल्लेख करना चाहिए कि यदि गोली चली तो कितने हताहत हुए। गोली चलने पर जो उपद्रवी घायल हुए उनको तत्काल डाक्टरी या अन्य सहायता मिलनी चाहिए और आहतों को बिना सहायता के घटनास्थल पर नहीं छोड़ देना चाहिए।

जब मजिस्ट्रेट गोली चलाना बंद करने का आदेश दे तब गोली चलाना बंद हो जाना चाहिए। उसके बाद सैनिक कमांडर अपनी और अपने सैनिकों की सुरक्षा के लिये ही आत्मपरिरक्षा के अधिकार के अंतर्गत कार्य कर सकता है। [प्रा० ना० खे०]

सैनिक गुप्तचर्या (Military Espionage) आधुनिक युद्ध का युक्तिपूर्ण संपादन तथा उसमें विजय प्राप्त करना जितना सैनिकों और हथियारों पर निर्भर है उतना ही गुप्तचर विभाग की सूचनाओं पर। जल, स्थल तथा वायुसेना का वह विभाग जो शत्रु की गतिविधियों की सूचना देता है, गुप्तचर विभाग कहलाता है। गुप्तचर विभाग को युद्ध के समय बहुत काम करना पड़ता है। उदाहरणतया द्वितीय महायुद्ध में अमरीका का गुप्तचर विभाग प्रति दिन २,५०,००० पत्र, फोटो, मानचित्र और अन्य संदेश प्राप्त किया करता था।

सैनिक गुप्तचर्या का कार्य दूसरे देशों की सूचनाएँ एकत्र करना, अनुवाद करना, उनको समझना तत्पश्चात् प्राप्त सूचना को वितरित करना है, यह सूचना युद्ध अथवा शांतिकाल में प्राप्त की जा सकती है। यद्यपि पुरातन काल से ही युद्ध में सैनिक गुप्तचर विभाग का मुख्य स्थान रहा है, परंतु सभ्यता के विकास के साथ ही गुप्तचर विभाग का क्षेत्र भी विकसित हो गया है तथा साधनों में भी नवीनता आ गई है।

सूचना के प्रकार — शत्रु की योग्यता तथा उनकी योजनाओं का सही अनुमान तभी लगाया जा सकता है जब हमें उनको रचनाशक्ति, फैलाव, अस्त्र शस्त्र, चालें, सैन्य शक्ति, स्वरक्षा कार्य, उस देश की भौगोलिक तथा राजनीतिक स्थिति, यातायात के साधन, हवाई अड्डे, तार, टेलीफोन, वायरलेस व्यवस्था, उत्पादन के साधन, औद्योगिक स्थिति तथा उनके नेताओं की विशेषताओं का ज्ञान हो।

सूचना प्राप्ति के साधन — शांतिकाल में शत्रु विषयक सूचनाप्राप्ति के मुख्य साधन उस देश के सरकारी प्रकाशन, व्यापार संबंधी पत्र पत्रिकाएँ, कलात्मक कार्य तथा उनके प्रकाशन, स्थायी तथा

अस्थायी सैनिक प्रकाशन, सैनिकों के लेख तथा भूगोल संबंधी पुस्तकें हैं। यह सूचना प्राय: उस देश के विश्वसनीय कार्यकर्ताओं, जो विदेशों में रहते हैं, द्वारा प्राप्त की जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ गुप्त सूचनाएँ दूसरे देशों के कर्मचारियों को घूस आदि देकर भी प्राप्त की जा सकती हैं।

युद्धकाल में गुप्तचर विभाग के कुछ कर्मचारी शत्रु के बड़े बड़े नगरों में जाकर भी पर्याप्त सूचना प्राप्त कर सकते हैं। वायुयान द्वारा लिए गए चित्र शत्रु की गतिविधि के विषय में काफी जानकारी देते हैं। इन चित्रों की सहायता से किसी भी बंदरगाह के अच्छे या बुरे होने का ज्ञान हो सकता है। शत्रु के आकाशवाणी द्वारा भेजे गए गुप्त संदेश, शत्रु के समाचारपत्र तथा पत्रिकाओं से भी कई महत्वपूर्ण समाचार मिलते हैं। गुप्तचर विभाग के उच्चाधिकारी शत्रु के बंदियों से प्रश्न पूछकर भी कई महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त कर सकते हैं।

सूचनाओं का प्रयोग — गुप्तचर विभाग द्वारा शांतिकाल में एकत्र सूचनाएँ, किसी भी देश की शत्रुशक्ति के अनुसार सुरक्षा कार्य तथा आक्रमण करने की योजना बनाने में सहायता देती है। युद्ध छिड़ जाने पर भी गुप्त सूचनाएँ अधिकारियों को शत्रु की चालों का और उसी के अनुसार सेनासंचालन में सहायता देती है।

युद्धकालीन गुप्तचर्या — शांतिकालीन प्राप्त सूचनाएँ युद्ध छिड़ने पर युद्ध संबंधी योजना का आधार बनती हैं। परतु युद्ध छिड़ जाने पर भी गुप्तचर विभाग को शत्रु की अकस्मात् खेली गई किसी भी नई चाल से सावधान रहना चाहिए तथा शत्रु की गतिविधि, उस देश की राजनीतिक अवस्था आदि की भी अवश्य सूचना प्राप्त करनी चाहिए। युद्धकाल में गुप्तचर विभाग के कार्यालय अधिकांशत: युद्धक्षेत्र के बाह्य भाग में होते हैं।

गुप्त सूचना के क्षेत्र तथा अभिप्राय — सूचनाप्राप्ति का अभिप्राय शत्रु की प्रत्येक योजना का ध्यान रखना तथा उसको पराजित करना है। क्योंकि शत्रु ही युद्ध में विजय प्राप्त करने में मुख्य रुकावट है, इसलिये प्राप्त सूचनाएँ शत्रु की क्षमता तथा गतिविधि से संबंधित होनी चाहिए जिससे कमांडर को युद्ध में मुँह की न खानी पड़े। शत्रु की युद्धसंबंधी गतिविधि, जनसंख्या, युद्ध सामग्री, बचाव के साधन, उत्साह, युद्ध स्थल के चित्र आदि की यथार्थ सूचनाएँ तथा उनकी समयानुकूल प्राप्ति बहुत महत्व रखती है। इन सूचनाओं का महत्व युद्ध में परिवर्तन के कारण अनुकूलत: परिवर्तित हो जाता है।

शत्रु का युद्ध आदेश बड़ा महत्वपूर्ण है। इसमें शत्रु की सैन्य रचना, उसकी संख्या, गतिविधि, विभाजन, मानसिक भावना, लड़ने की योग्यता, सेना के अफसरों की विशेषताएँ और मृतक सिपाहियों की पूर्ति के साधन आदि का पता चलता है। सेना के भिन्न यूनिटों की पहचान ही गुप्तचर्या की मूल जड़ है। शत्रु के यातायात साधनों की असुविधा युद्धयोजना में परिवर्तन ला सकती है।

युद्धारंभ में शत्रु की कला का ज्ञान शत्रु के शांतिकालीन प्रशिक्षण से लगाया जा सकता है। परंतु युद्ध में प्रयुक्त हथियार और युद्ध में जो परिवर्तन किए गए हों उनका अध्ययन आवश्यक है। कोई भी कमांडर अपनी योजनाएँ गुप्तचर विभाग द्वारा प्राप्त शत्रु की सूचनाओं के आधार पर ही कार्यान्वित करता है। इसीलिये शत्रु की प्रत्येक कार्यवाही को अत्यंत सावधानी से देखा जाना चाहिए।

युद्धबंदियों, भगोड़ों और वहाँ के निवासियों, हाथ में आए कागजात तथा सामग्री की जाँच बड़ी सावधानी से की जाती है। विशेषत: अस्थिर स्थिति में यह जानकारी शत्रु की युद्ध संबंधी सामग्री, हथियार और रसद आदि के विषय में पता लगाने के लिये की जाती है। भूमि की देखभाल का उद्देश्य शत्रु की टूटी फूटी भूमि की देखभाल करना है। अग्रगामी यंत्रचालित यूनिटें और रिसाला का गुप्तचर विभाग दूरस्थ कार्य करते हैं, जब कि पैदल सेना आस पास घूमनेवाले दस्ते देती है जिनका कार्य अपने यंत्र से ही शत्रु की गतिविध की देखभाल द्वारा स्थिरीकृत परिस्थितियों की सुव्यवस्था करना है। गुप्तचर्या के सुशिक्षित पर्यवेक्षकों को, जिनको विशेष सामग्री दी गई हो, ऐसे स्थान पर रखा जाता है जहाँ से वे शत्रु की वास्तविक स्थिति को जान सकें। गुप्तचर विभाग का तोपखाना आवाज और चमक से ही शत्रु के तोपखाने पर चौकसी रखता है। सिगनल विभाग शत्रु के संचारसाधनों पर चौकसी रखता है।

हवाई प्रगति और फोटोग्राफी ने तो गुप्तचरकार्य में क्रांति ही ला दी है। हवाई फोटोग्राफी ने शत्रु के बचाव की व्यवस्था, संचार, सप्लाई और हवाई बमबारी के विषय में सूचना प्राप्त करना संभव कर दिया है। हवाई गुप्तचर्या का यदि भूमि पर किए गए गुप्तचर्या से मेलजोल कर लिया जाय तो अधिक प्रभावशाली होता है।

चर विभाग युद्ध में शत्रुदेश की पीछेवाली बातों की सूचना देता है, जिनमें रिजर्व सेना की स्थिति, जनशक्ति, पीछे की रक्षा, शत्रु की आतरिक दशा और सैनिक सामग्री प्राप्ति के साधन आदि संमिलित हैं। चर विभाग का कार्य प्रत्येक सूचना को उचित और अनुचित ढंग से प्राप्त करना है। युद्धकाल में गुप्तचर्या अति कठिन होती है। गुप्तचर को भावुक नहीं होना चाहिए। सफल गुप्तचर वही होता है जो शत्रुदेश में अपनी उपस्थिति का अनुकूल अथवा कानूनी कारण बता सके।

गुप्तचर का प्रत्युत्तर — गुप्तचर के प्रत्युत्तर में वे सब कार्य संमिलित हैं जो शत्रु के गुप्तचर्या को अव्यवहारीय सिद्ध कर दें। इन कार्यों में मुकाबिले की गुप्तचर्या, छल, कपट, रहस्य रखने का अनुशासन, सुरक्षा, रंगों द्वारा छुपाव तथा बनवटी या प्राकृतिक छुपाव, साईफर कोर्ड द्वारा महत्व रखना, रेडियो तथा समाचारपत्रों की सेंसर व्यवस्था और शत्रु द्वारा सेना और बाकी जनता को प्रभावित करने के प्रपंचों को नकारा करना आदि संमिलित हैं। [मे० क०]

सैपोनिन और सैपोजेनिन सैपोनिन ($C_{32}H_{52}O_{17}$) नामक पदार्थ सैपोजेनिन एवं शर्करा के संयोग से बने हुए ग्लाइकोसाइड होते हैं। ये विभिन्न प्रकार के पौधों से प्राप्त किए जाते हैं। इनकी विशेषता है कि पानी के साथ विलयन बनाने पर ये फेन (झाग) देते हैं। ऐलकोहली सल्फ्यूरिक अम्ल की उपस्थिति में फेरिक क्लोराइड के साथ हरा रंग देता है।

सैपोनिन दो प्रकार के होते हैं :

(१) ट्राइटरपिनाइड सैपोनिन, (२) स्टेराइडाल सैपोनिन

दोनों प्रकार के सैपोनिन में भिन्नता केवल ग्लाइकोसाइडों की संरचना में सैपोजेनिनवाले भाग में ही होती है। ट्राइटरपिनाइड सैपोनिन में ट्राइटरपिनाइड सैपोजेनिन क्वीलाइक अम्ल है जब कि स्टेराइडल सैपोनिन में स्टेराइडाल सैपोजेनिन डिग्रोसजेनिन है।

सैपोनिन की सुई ठंढे रक्तवाले जीवों की रक्तशिराओं में विषैला प्रभाव डालती है और रक्त के लाल कणों को नष्ट कर देती है, १:५०,००० के अनुपात की तनुता (dilution) में भी जब कि गर्म रक्तवाले जीवों को इससे कोई हानि नहीं पहुँचती। इसी कारण इसका उपयोग मत्स्यविष के रूप में किया जाता है।

ट्राइटरपिनाइड सैपोनिन तथा सैपोजेनिन — रीठा, स्वफेनिका (सैपोनेरिया वैक्सारिया, Saponaria vacsaria), स्वफेनिकाछाल एवं स्वफेनिका की जड़ से ट्राइटरपिनाइड सैपोनिन प्राप्त किए जाते हैं जो व्यापारिक दृष्टि से बड़े महत्व का है। इसी के अम्लीय जल अपघटन से ट्राइटरपिनाइड सैपोजेनिन प्राप्त किया जाता है। कुछ स्वतंत्र अवस्था में भी पाए जाते हैं, जैसे यूरोसोलिक अम्ल (Urosolic acid), इलेमोलिक अम्ल (Elemolic acid), बासवेलिक अम्ल (Boswellic acid)।

इसका व्यापारिक नाम सोपबार्क सैपोनिन (Soapbark-Saponin) है। इसे क्वीलाजा या क्वीलिया सैपोनिन भी कहते हैं।

सैपोनिन पीत रंग लिए हुए श्वेत अक्रिस्टलीय अनिक्लेदग्राही चूर्ण होता है जिसकी थोड़ी सी मात्रा से छींक आ जाती है तथा श्लेष्मा में क्षोभ उत्पन्न होता है। जल के साथ कोलाइडीय विलयन बनाता है, ऐलकोहॉल में थोड़ा घुलता है, मेथेनोल में बराबर मात्रा में घुलता है। ईथर, क्लोरोफार्म और बेंजीन में विलेय है। रेजिन तथा स्थिर तेलों के साथ पायस बनाता है। विलयन में सैपोनिन द्वारा सतह तनाव कम हो जाता है और वे बहुत फेन उत्पन्न करते हैं। पानी के साथ १: १००,००० अनुपात में भी फेन देता है। अंतःशिरा (intravenous) में इन्जेकशन देने से रुधिरसंलागी प्रभाव दिखाता है।

इसे निम्न उद्योगों में उपयोग में लाते हैं :

१—ध्वनिशोषक टाइल (Acoustic tiles) २—आग बुझाने, ३—फोटोग्राफी प्लेट वाले पदार्थों में फेना, देने के लिये ४—फिल्म, ५—कागज, ६—मृत्तिका उद्योग, ७—दंतमंजन, ८—सुरा उद्योग, ९—शैंपू और तरल साबुन, १०—सौंदर्य प्रसाधन, ११—तेल के पायसीकरण में, १२—रक्त के आक्सीजन की मात्रा का मान निकालने में।

स्टेराइडाल सैपोनिन तथा सैपोजेनिन — डिजिटैलिस जाति के पौधों से तथा लिली कुल के मेक्सिकान पौधों से प्राप्त किया जाता है। जल अपघटन या ऐंजाइम विघटन द्वारा सैपोनिन से सैपोजेनिन उन्मुक्त होता है, यद्यपि कभी कभी जल अपघटन से सैपोजेनिन की संरचना में परिवर्तन भी हो जाता है। स्टेराइडाल सैपोजेनिन की संरचना की यह विशेषता है कि स्टेराइड के केंद्र के कई स्थानों पर आक्सीजन जटिल पार्श्वशृंखला निर्माण किए रहते हैं।

स्टेराइडाल सैपोनिन झाग देने के गुण के साथ साथ सब प्रकार के स्टेरोल या स्टेराइड्स के साथ अविलेय यगु यौगिक बनाते हैं जो अधिकतम तनुता होने पर भी रुधिरसंलागी प्रभाव रखते हैं।

अभी तक इसका उपयोग प्रक्षालक (detergents), मत्स्य-विष और फेनकारक के ही हेतु किया जाता था, पर इधर कुछ वर्षों में सैपोजेनिन की संरचना के विस्तृत अध्ययन के पश्चात् इससे स्टेराइडाल हारमोन बनाया जाने लगा है जिससे इसका अधिक महत्व बढ़ गया है। इस हारमोन के लिये यह कच्चा माल (raw material) के रूप में काम आता है। [स० ग्रं० गु०]

सैबिन, सर एडवर्ड (Sabine, Sir Edward, सन् १७८८-१८८३) अंग्रेज भौतिकीविद, खगोलशास्त्री और भूगणितज्ञ, का जन्म डब्लिन में हुआ था तथा इन्होंने वूलिच (Woolwich) की रॉयल मिलिटरी ऐकैडमी में शिक्षा पाई थी।

सन् १८१८ और सन् १८१९ में उत्तरी पश्चिमी मार्ग की खोज के लिये संगठित अभियान में ये खगोलज्ञ नियुक्त हुए थे। इसके पश्चात् इन्होंने अफ्रीका और अमरीका के उष्ण कटिबंधीय सागर-तटों की यात्रा, लोलक पर आधारित प्रयोगों द्वारा पृथ्वी की यथार्थ आकृति ज्ञात करने के लिये, की। सन् १८२१ में सेकंडवाले लोलक की लंबाई के अन्वेषण संबंधी प्रयोग आपने लंदन तथा पेरिस में किए। अपने जीवन का अधिकांश इन्होंने पार्थिव चुंबकत्व के अनुसंधान में बिताया। आपके ही प्रयत्नों से पृथ्वी पर अनेक स्थानों में चुंबकीय वेधशालाएँ स्थापित की गई। सूर्य के धब्बों और पृथ्वी पर चुंबकीय विक्षोभ में संबंध है, यह बात आप ही ने खोज निकाली थी।

सन् १८६१–७१ तक आप रॉयल सोसायटी के अध्यक्ष थे। सन् १८२१ में इस सोसायटी का कॉपलि पदक, सन् १८४९ में रॉयल पदक तथा सन् १८६९ में के० सी० बी० की उपाधि आपको प्रदान की गई। [भ० दा० व०]

सैमुएल पीप्स (१६३३-१७०३) अंग्रेजी दैनिकी लेखक। जन्मस्थान लंदन। कैंब्रिज विश्वविद्यालय में शिक्षा समाप्त करके विवाहोपरांत पिता के चचेरे भाई सर एडवर्ड मौंटेग्यू (कालांतर में अर्ल ऑव सैंडविच) के परिवार में नौकरी कर ली जो उसका आजीवन संरक्षक रहा। अपने जीवन में उसने जो सफलताएँ प्राप्त कीं उनका श्रेय मौंटेग्यू को ही था। १६६० ई० में वह क्लार्क ऑव दि किंग्स-शिप्स' और 'क्लार्क ऑव दि प्रिवीसील' नियुक्त हुआ। १६६५ में वह नौसेना के भोजन विभाग का 'सर्वेयर जनरल' बनाया गया जहाँ उसने बड़ी प्रबंधकुशलता तथा सुधार के लिये उत्साह प्रदर्शित किया। १६७२ में वह नौसेना विभाग का सेक्रेटरी नियुक्त हुआ। १६७९ में 'पोपिश प्लॉट' नामक षड्यंत्र से संबंधित मिथ्यारोपों के फलस्वरूप उसका पद छीन लिया गया और उसे 'लंदन टावर' में कैद कर दिया गया। परंतु १६८४ में वह पुनः नौसेना विभाग का सेक्रेटरी बना दिया गया। १६८८ में गौरवपूर्ण क्रांति होने तक वह इस पद पर बना रहा तथा इस बीच एक सक्षम नौसैनिक बेड़े की स्थापना के लिये उसने बड़ा काम किया। १६९० में उसने मेवाएँ

ऑव दि रॉयल नैवी' नाम से ब्रिटिश नौसेना का इतिहास भी लिखा। दो वर्ष तक वह 'रॉयल सोसाइटी' का अध्यक्ष भी रहा।

परंतु पीप्स की ख्याति इन सरकारी पदों के कारण नहीं बल्कि उसकी उस अद्भुत 'डायरी' के कारण है जो अंग्रेजी साहित्य को उसकी महान् देन है। १ जनवरी, १६६० से प्रारंभ होकर यह दैनिकी ३१ मई, १६६९ तक चलती है, जब आँखें कमजोर हो जाने के कारण उसे इसको बंद करना पड़ा। इसमें राजदरबार, नौसेना तथा लंदन के तत्कालीन समाज का आँखों देखा हाल मिलने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्व तो है ही, परंतु निस्संकोच आत्माभिव्यंजन की दृष्टि से यह संभवतः अपने ढंग की अकेली अंग्रेजी रचना है। इसमें उसने अपनी मानवसुलभ चारित्रिक दुर्बलताओं को बड़ी ही सादगी और निर्ममता से चित्रित किया है। यह 'डायरी' एक प्रकार की सांकेतलिपि में लिखी गई थी। सर्वप्रथम १८२५ मे यह जॉन स्मिथ द्वारा सामान्य लिपि में परिवर्तित की गई तथा लॉर्ड ब्रेब्रुक के संपादकत्व में प्रकाशित हुई। [ज० वि० मि०]

सैयद अहमद खाँ, सर का जन्म १७ अक्टूबर, १८१७ ई० को देहली में हुआ। उनके पूर्वज मुगल शाहंशाहों के दरबार में उच्च पदों पर आरूढ़ रह चुके थे। उनकी शिक्षा पुराने ढंग के मुगल परंपरानुसार हुई। देहली के मुगल शासक की शोचनीय दशा देखकर वे ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा में प्रविष्ट हो गए और आगरा, देहली, बिजनौर, मुरादाबाद, गाजीपुर तथा अलीगढ़ में विभिन्न पदों पर आरूढ़ रहे। प्रारंभ से ही उनकी पुस्तकों की रचना में बड़ी रुचि थी और शीआ-सुन्नी-मतभेद संबंधी उन्होंने कई ग्रंथ लिखे। किंतु कुछ अंग्रेज विद्वानों के संपर्क के कारण उन्होंने यह मार्ग त्याग दिया और १८४५ ई० में आसारुस्सनादीद का प्रथम संस्करण प्रकाशित किया जिसमें देहली के प्राचीन भवनों, शिलालेखों आदि का सविस्तर विवरण दिया। १८५७ ई० के संघर्ष के समय वे बिजनौर में थे। उन्होंने वहाँ अंग्रेजों की सहायता की और शांति हो जाने के तुरंत बाद एक पुस्तक 'रिसाला अस्बाबे बग़ावते हिंद' लिखी जिसमें अंग्रेजों के प्रति हिंदुस्तानियों के क्रोध का बड़ा मार्मिक विश्लेषण किया। मुसलमानों की अंग्रेजों के प्रति निष्ठा के प्रमाण में उन्होंने कई पुस्तकों की रचना की और मुसलमानों का ईसाइयों से घनिष्ठ संबंध स्थापित कराने के उद्देश्य से तबीनुल कलाम (बाइबिल की टीका) और रिसालये तआम अहले किताब की रचना की। खुत्बाते अहमदिया में सर विलियम म्योर की पुस्तक लाइफ़ ऑव मुहम्मद का उत्तर लिखा और क़ुरान की टीका सात भागों में की। अपनी रचनाओं द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि शिक्षा एवं सिद्धांत नेचर अथवा प्रकृति के नियमों के अनुकूल हैं और विज्ञान तथा आधुनिक दर्शनशास्त्र से इस्लामी नियमों का किसी प्रकार खंडन नहीं होता और उससे प्रत्येक युग तथा काल में मानव समाज का उपकार हो सकता है।

सर सैयद का सबसे बड़ा कारनामा शिक्षा का प्रसार है। सर्वप्रथम इन्होंने १८५९ ई० में मुरादाबाद में फारसी का मदरसा स्थापित कराया। १८६४ ई० में गाजीपुर में एक अंग्रेजी स्कूल खुलवाया। १८६३ ई० में गाजीपुर में यूरोप की भाषा से उर्दू में ग्रंथों के अनुवाद तथा यूरोप की वैज्ञानिक उन्नति पर वादविवाद कराने के उद्देश्य से गाजीपुर में ही साइंटिफिक सोसाइटी की स्थापना कराई। सर सैयद के अलीगढ़ स्थानांतरित हो जाने के उपरांत शीघ्र ही सोसाइटी का कार्यालय भी वहीं चला गया। इसी उद्देश्य से सर सैयद ने अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजट नामक एक समाचारपत्र भी निकालना प्रारभ किया। इसका स्तर समकालीन समाचारपत्रों में काफी ऊँचा समझा जाता था। वे एक उर्दू के विश्वविद्यालय की स्थापना भी करना चाहते थे। उच्च वर्ग के हिंदू मुसलमान दोनों ने खुले दिल से सर सैयद का साथ दिया किंतु वे हिंदुओं के उस मध्य वर्ग की आकांक्षाओं से परिचित न थे जो अंग्रेजी शिक्षा द्वारा उत्पन्न हो चुकी थी। इस वर्ग ने सर सैयद की योजनाओं का विरोध किया और उर्दू के साथ हिंदी में भी पुस्तकों के अनुवाद की माँग की। सर सैयद इस वर्ग से किसी प्रकार समझौता न कर सके। १८६७ ई० की उनकी एक वार्ता से, जो उन्होंने वाराणसी के कमिश्नर शेक्सपियर से की, यह पता चलता है कि हिंदी आंदोलन के कारण वे हिंदुओं के भी विरोधी बन गए। उसी समय स्वेज नहर के खुलने (१८६९ ई०) एवं मध्य पूर्व की अनेक घटनाओं के कारण अंग्रेज राजनीतिज्ञ संसार के मुसलमानों के साथ साथ भारत के मुसलमानों में भी अधिक रुचि लेने लगे थे। सर सैयद ने इस परिवर्तन से पूरा लाभ उठाया। १८६९-१८७० ई में उन्होंने यूरोप की यात्रा की और टर्की के सुधारों का विशेष रूप से अध्ययन किया। मुसलमानों की जाग्रति के लिये तहज़ीबुल इख्लाक़ नामक एक पत्रिका १८७० ई० से निकालनी प्रारंभ की। अलीगढ़ में मोहमडन ऐंग्लो ओरिएंटल कालेज की स्थापना कराई जो १८७९ ई० में पूरे कालेज के रूप में चलने लगा। १९२१ ई० में यही कालिज यूनीवर्सिटी बन गया।

१८७८ ई० से १८८२ ई० तक वे वाइसराय की कौंसिल के मेंबर रहे और देश के कल्याण के कई काम किए, विशेष रूप से एलबर्ट बिल के समर्थन में जोरदार भाषण दिया। २७ जनवरी, १८८३ ई० को पटना में और १८८४ ई० के प्रारंभ में पंजाब में कई भाषणों में हिंदुओं तथा मुसलमानों को एक कौम बताते हुए पारस्परिक मेलजोल पर अत्यधिक जोर दिया किंतु वे राजनीति में जेम्स स्टुअर्ट मिल के सिद्धांतों से बड़े प्रभावित थे। १८८३ ई० में ही उन्होंने इस बात का प्रचार प्रारंभ कर दिया था कि भारत में हिंदुओं के बहुमत के कारण जनता के प्रतिनिधियों द्वारा शासनप्रणाली मुसलमानों के लिये हानिकारक है। इसी आधार पर उन्होंने कांग्रेस का विरोध किया। १८८५ में एक यूनाइटेड इंडिया पैट्रिक असोसिएशन की स्थापना कराई और इस बात का प्रचार किया कि मुसलमानों को केवल अपनी शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिए। इसी उद्देश्य से १८८६ ई० में उन्होंने मोहमडन एजूकेशनल कांग्रेस की स्थापना की। १८९० ई० में इसका नाम मोहमडन एजूकेशनल कान्फ्रेंस हो गया। २७ मार्च, १८९८ ई० को उनकी मृत्यु हो गई।

सं० ग्रं० — सर सैयद की रचनाओं के अतिरिक्त अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गज़ट; तहज़ीबुल इख्लाक़ हाली; हयाते जावेद; सैयद तुफ़ैल अहमद : मुसलमानों का रौशन मुस्तकबिल (देहली, १९४५);

ग्राहम सी० एफ० आई० : दि लाइफ ऐंड वर्क ऑव सैयद अहमद खाँ (एडिनबर्ग, लंदन १८८५) ।   [सै० अ० अ०]

सैयद मुहम्मद गौस ग्वालियर के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम खतीरुद्दीन था। बचपन में ही यह हाजी हामिद हुजूर के शागिर्द हो गए जिन्होंने उनको अपने मत की प्रारंभिक दीक्षा देकर आध्यात्मिक साधना करने के लिये चुनार भेज दिया। तेरह वर्षों से भी अधिक समय तक इन्होंने अत्यंत कठोर विरक्त जीवन की यातनाएँ झेलीं और पेड़ की पत्तियों से ही अपनी भूख शांत करते थे। विंध्याचल के एकांत अंचल में रहते समय यह हिंदू योगियों के संपर्क में आए जिसने इनके धार्मिक विचारों और दृष्टिकोण के पोषण में महत्वपूर्ण योगदान किया। बाद में इनके आध्यात्मिक गुरु ने इन्हें ग्वालियर में बसने की हिदायत की और वहीं पर ८० वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु (रमजान १७, ९७० हि०) १० मई, १५६३ ई० को हुई।

विंध्याचल के अपने आध्यात्मिक अनुभवों का संकलन इन्होंने 'जवाहरे खमसा' नाम से किया जिसे पढ़ने से प्रकट होता है कि हिंदू धर्म की विचारधारा तथा कर्मकांड का इनपर कितना अधिक प्रभाव पड़ा। यह पहले भारतीय मुसलमान संत हैं जिन्होंने हिंदू और मुसलमान रहस्यवादी विचारधारा के समन्वय का प्रयत्न किया। तन्त्रशास्त्र का भी इनपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इसके तो यह इतने मुरीद हो गए कि ये शत्तारी तन्त्रवाद (Shattari Tantrism) मत के संस्थापक ही कहे जा सकते हैं। इनके दूसरे ग्रंथ 'अवरादे गौसियाह' में यह मुसलमान रहस्यवादी की अपेक्षा तंत्रशास्त्र के योगी जैसे दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने करिश्मों की जिन गाथाओं का वर्णन अपने ग्रंथ में किया है उनपर विश्वास करना कठिन है। यह ग्रंथ मृत लोगों से संपर्क, आस्मानी दुनिया में यात्रा और काल एवं अंतरिक्ष में घटित करिश्मों से भरा पड़ा है।

हिंदूधर्म के कितने ही आधारभूत विचारों को अपना लेने के बाद हिंदुओं के प्रति धार्मिक कट्टरता दिखाना इनके लिये संभव ही न रह गया। अपने इस्लाम धर्म के प्रचार और दूसरे धर्मावलबियों को मुसलमान बनाने का कोई हौसला इनमें बाकी नहीं रहा और यह हिंदुओं को इस्लाम धर्म की दीक्षा प्राप्त करने की शर्त लगाये बिना अपने रहस्यवाद के उपदेश देने को तैयार हो जाते थे। वे गान विद्या के बड़े समर्थक थे। अकबर के दरबार के प्रसिद्ध गायक तानसेन इनके शिष्य थे, जिनके द्वारा इस्लाम धर्म अपनाए जाने का उल्लेख किसी भी ग्रंथ में नहीं मिलता। धार्मिक विश्वासों की भिन्नता से प्रभावित हुए बिना आप हिंदुओं से प्रेमभाव और सामाजिक संबंध रखते थे। फलतः कट्टर मुसलमान लोग इनसे नाखुश रहते थे। गायों और साँडों के प्रति यह बहुत रुचि रखते थे और मिलने के लिये आनेवाले हिंदुओं से बहुत आदर का व्यवहार करते थे।

सं० ग्रं० — सैयद मुहम्मद गौस (जवाहरे खमसह पांडुलिपि, आजाद पुस्तकालय, अलीगढ़), वाकरनामा, जिल्द दो; तबकाते अकबरी (निजामुद्दीन), जिल्द दो; अकबरनामा, जिल्द दो; आईने अकबरी, जिल्द एक; तबकाते शाहजहानी (मुहम्मद सादिक खाँ); सूफियों के शत्तारिया संप्रदाय का इतिहास (काज़ी मोइनुद्दीन अहमद)।   [का० मो० अ०]

सैरागॉसा सागर (Saragossa Sea) कैनरी द्वीपों (Canary Islands) से २,००० मील पश्चिम, उत्तरी ऐटलैंटिक महासागर का एक भाग है। स्थूलतः यह २०° से ४०° उत्तरी अक्षांश तथा ३५° से ७५° पश्चिमी देशांतर तक, २०,००,००० वर्ग मील में विस्तृत है, अर्थात् इसका क्षेत्रफल समस्त भारत के क्षेत्रफल के डेढ़ गुने से भी अधिक है।

स्पेनीय शब्द "सैरागॉसा" का अर्थ समुद्री घासपात होता है। इस विशाल सागरक्षेत्र का यह नाम इसलिये पड़ा कि यह घासपात के खंडों से भरा हुआ है। इन खंडों से प्राचीन काल के सागर यात्रियों को फैले हुए खेतों का भ्रम हुआ और उनमें अनेक जहाजों के फँसकर अचल हो जाने और सड़कर नष्ट हो जाने की कल्पित कहानियाँ फैल गईं।

वैज्ञानिकों का पहले यह ख्याल था कि इस समुद्र का घासपात निकटतम भूमि या छिछले समुद्रतल से आता होगा। किंतु सागर वहाँ पर दो से चार मील तक गहरा है और भूमि बहुत दूर है। चतुर्दिक् के समुद्रतटों पर उगनेवाली समुद्री घासों तथा यहाँ पाई जानेवाली वनस्पतियों की बनावट और जाति में भी भेद है। अंततोगत्वा इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि यहाँ की जलीय वनस्पति विशिष्ट प्रकार की है और इसने खुले समुद्र में पनपने योग्य अपने को बना लिया है। इसमें अंगूर की आकृति की थैलियाँ सी लगी होती हैं, जिनमें हवा भरी होती है। इस कारण यह जल में तैरती रहती है और जल में ही बढ़ती जाती है। इसका सबसे सघन भाग केंद्र में है।   [भ० दा० व०]

सैलिसिलिक अम्ल यह ऑर्थोहाइड्रोक्सि बेंजोइक ($C_7H_6O_3$) अम्ल है जो मेथाइल एस्टर के रूप में विंटरग्रीन तेल का प्रमुख अवयव है। तेल में सैलिसिन (Salicin) नामक ग्लुकोसाइड रहता है जिसमें सैलिसिलिक अम्ल सैलिजेनिन नामक ऐल्कोहल से संयुक्त रहता है। यह वर्णरहित सूच्याकार क्रिस्टल बनाता है जिसका गलनांक १५५° सें० है। ठंडे जल में बहुत कम विलेय है पर उष्ण जल, ऐल्कोहल और क्लोरोफार्म में शीघ्र विलेय है, इसका जलीय या ऐल्कोहलीय विलयन फेरिक क्लोराइड से बैंगनी (voilet) रंग बनाता है।

रसायनशाला में या बड़े पैमाने पर कोलबे विधि (Cholbeis method) से लगभग १४०° सें० पर सोडियम फीनेट का कार्बन डाइआक्साइड के साथ दबाव में गरम करने से सैलिसिलिक अम्ल बनता है। यहाँ सोडियम फीनेट कार्बन डाइऑक्साइड के साथ संबद्ध हो फीनोल आर्थोकार्बोक्सिलिक अम्ल का सोडियम लवण बनता है जिसमें खनिज अम्लों के डालने से सैलिसिलिक अम्ल का अवक्षेप प्राप्त होता है।

उष्ण जल से अवक्षेप का क्रिस्टलन करते हैं। सैलिसिलिक अम्ल

महत्वपूर्ण रोगाणुनाशक यौगिक है। पहले यह बात रोग में ओषधि के रूप में प्रयुक्त होता था पर आजकल इसके स्थान में इसका एक संजात ऐस्पिरिन (Acetyl Salicylic acid गलनांक, १२८°C) के नाम से व्यापक रूप से प्रयुक्त होता है। सैलिसिलिक अम्ल का एक दूसरा संजात सैलोल (फेनिल सैलिसिकेट) के नाम से रोगाणुनाशक के रूप में विशेषतः दंतमंजनों में प्रयुक्त होता है। एक तीसरा संजात बेटोल भी सैलोल के साथ प्रयुक्त होता है। सिरदर्द की एक ओषधि सैलोफीन (Salophene) इसी का संजात है। सैलिसिलिक अम्ल का उपयोग रंजकों और सुगंधों के निर्माण में भी होता है। [स० व०]

सैलिस्बरी, रॉबर्ट आर्थर टैल्बट गैस्कोइन-सेसिल

(१८३०–१९०३) जेम्स और उसकी प्रथम पत्नी फ्रांसिस मेरी गैस्कोइन के द्वितीय पुत्र का जन्म ३ फरवरी, १८३० को हैटफील्ड में हुआ। उन्होंने ईटन और ऑक्सफर्ड के क्राइस्ट चर्च कालेज में शिक्षा ग्रहण की। अस्वस्थ होने के कारण वे दो वर्ष तक समुद्रयात्रा करते रहे। यात्रा से लौटने पर २२ अगस्त, १८५३ को स्टेमफर्ड के 'बरो' से संसद् के लिये निर्विरोध सदस्य निर्वाचित हुए।

जुलाई, १८५७ में उनका विवाह हुआ। इस समय धनाभाव के कारण उन्होंने 'सैटरडे रिव्यू' में कार्य आरंभ किया। परंतु उनकी अधिकांश रचनाएँ 'क्वार्टर्ली रिव्यू' में लगभग छः वर्ष तक निरंतर अनामतः प्रकाशित होती रहीं। १८६४ में उन्होंने विदेशनीति पर भाषण दिए। १८६६ में लार्ड रसल की मंत्रिपरिषद् के पतन के पश्चात् लार्ड डरबी ने उन्हें अपने मंत्रिमंडल में आमंत्रित किया। जुलाई, १८६६ में उन्होंने भारतमंत्री का पद सँभाला। इस पद पर उन्होंने केवल सात महीने तक ही कार्य किया और ९ फरवरी, १८६८ को त्यागपत्र दे दिया।

उनके पिता का देहांत १२ अप्रैल, १८६८ को हुआ। फलस्वरूप उन्हें लार्ड सदन का सदस्य होना पड़ा। १८६८ से १८७४ तक लार्ड सैलिस्बरी ने ग्लैडस्टन के विधानों का निरंतर विरोध किया। १८७४ में डिजरेली ने उन्हें मंत्रिमंडल में आमंत्रित किया, और वे पुनः भारतमंत्री नियुक्त हुए। इन्हीं दिनों भारत में भयानक अकाल पड़ा, और उन्हें इस संकट का शमन करने के लिये अथक परिश्रम करना पड़ा।

१८७६ में दक्षिण पूर्व यूरोप में एक संकट उत्पन्न हुआ। उन्हें कुस्तुनतुनिया सम्मेलन में भाग लेने के लिये भेजा गया। इंग्लैंड के मंत्रिमंडल की ढुलमुल नीति के कारण वे सफलता प्राप्त न कर सके। सुदृढ़ नीति आवश्यक थी। डरबी को त्यागपत्र देना पड़ा, और सैलिस्बरी विदेश मंत्री नियुक्त हुए। इस पद का भार सँभालते ही उन्होंने यूरोप की सभी राजधानियों को एक परिपत्र भेजा, जिसके द्वारा यह सिद्ध किया कि सैन स्टीफानों की संधि द्वारा टर्की का साम्राज्य रूस के अधीन हो गया है जो यूरोप की अन्य शक्तियों के लिये भयप्रद होगा। इसलिये इस संधि के विषय में संबंधित राज्यों ने पुनः परिनिरीक्षण के लिये माँग की। इस प्रकार यूरोप के राज्य ब्रिटेन के पक्ष में हो गए और रूस को झुकना पड़ा। बर्लिन कांग्रेस में इंग्लैंड की ओर से डिजरेली और सैलिस्बरी संमिलित हुए। उद्देश्यप्राप्ति के पश्चात् उन्होंने गर्व के साथ कहा कि वे शांति को मान सहित लाए हैं।

१८८० के चुनाव में कंजरवेटिव हार गए और उसी वर्ष लार्ड बीकंसफील्ड की मृत्यु हो गई। परिणामस्वरूप लार्ड सभा का नेतृत्व सैलिस्बरी को सँभालना पड़ा। १८८५ में सूडानी दुर्घटना के कारण लिबरल असंगठित थे। ग्लैडस्टन की पराजय हुई, और सैलिस्बरी प्रधान मंत्री नियुक्त हुए। इस पद को सँभालते ही बल्गेरिया में उपद्रव हुआ। परिणामस्वरूप उत्तरी और दक्षिणी बल्गेरिया मिल गए। सैलिस्बरी ने इसका समर्थन किया।

सैलिस्बरी का द्वितीय मंत्रिमंडल १८८६ से १८९२ तक रहा। वे ब्रिटेन, जर्मनी, ऑस्ट्रिया और इटली की ओर झुके एवं उन्होंने रूस और फ्रांस का विरोध किया। १८९० में बिस्मार्क की मृत्यु के पश्चात् सैलिस्बरी की गणना यूरोप के प्रमुख राजनीतिज्ञों में होने लगी। अफ्रीका में साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये झगड़ रही थीं। सैलिस्बरी ने अंतरराष्ट्रीय संबंधों को बिना संकट में डाले उस देश की स्थायी रूपरेखा निर्धारित की।

१८९२ के सामान्य निर्वाचन में लिबरल दल विजयी हुआ और लोक सदन ने ग्लैडस्टन के 'होम रूल विधेयक' को स्वीकार किया। लार्ड सदन में सैलिस्बरी ने विरोध किया। आंग्ल विधान में लार्ड सदन का कार्य निर्वाचकों को पुनः विचार करने का अवसर प्रदान करने का है। १८९५ में संसद भंग की गई। सामान्य निर्वाचन का मत कंजरवेटिव दल (रूढ़िवादियों) के पक्ष में रहा; और सैलिस्बरी तीसरी बार प्रधान एवं विदेशमंत्री नियुक्त हुए।

इन्होंने ब्रिटिश गायना और वेनिजवीला के बीच सीमा संबंधी चले आ रहे झगड़े को बुद्धिमत्ता से हल किया। १८९७ में रूस ने चीन के 'पोर्ट आर्थर' और तेलिनवान पर अवैध रूप से अधिकार कर लिया। सैलिस्बरी के विरोधपत्र से आंग्ल जनता असंतुष्ट थी अतः उसने शक्तिप्रयोग की माँग की। इंग्लैंड का फ्रांस से मिस्र पर पुराना झगड़ा चला आ रहा था। उसे भी सैलिस्बरी ने बड़ी चतुराई से हल कर लिया। उन्होंने दक्षिणी अफ्रीका के युद्धों को सफलतापूर्वक संचालित किया। नवंबर, १९०० में विदेशमंत्री पद तथा जुलाई, १९०२ में प्रधानमंत्री पद से मुक्ति पाकर २२ अगस्त, १९०३ को जीवनलीला समाप्त की। [गि० कि० ग०]

सैल्वाडार, एल

(Salvador, El) स्थिति : १३° १५' उ० अ० तथा ८९° ०' प० दे०। यह मध्य अमरीका का अत्यधिक घनी जनसंख्यावाला प्रशांत महासागर के तट पर स्थित सबसे छोटा गणतंत्र है। इसके पश्चिम में ग्वाटेमाला तथा उत्तर और पूर्व में हांडुरेस हैं। इसका क्षेत्रफल २०,००० वर्ग किमी जनसंख्या २५,१०,९८४ (१९६१) और राजधानी सैन सैल्वाडार है।

एल सैल्वाडार की प्रमुख नदी लेंपा (Lempa) है जिसका पानी प्रशांत महासागर में गिरता है। लेंपा नदी की आकर्षक घाटी एल सैल्वाडार की सबसे अधिक उपजाऊ भूमि है। तटीय भागों की जलवायु उष्ण कटिबंधी तथा उच्चतर भूमि की जलवायु शीतोष्ण है। एल सैल्वाडार की आय का मुख्य साधन यहाँ की उपजाऊ

भूमि है। सैल्वाडार के गरम उष्ण कटिबंधी तट पर इमारती लकड़ी के घने जंगल हैं। यहाँ सोना, चाँदी, कोयला, तांबा, सीसा और जस्ता आदि के निक्षेप भी पाए गए हैं। सड़क एवं रेल व्यवस्था विकसित है। यहाँ की भाषा स्पेनी है।

पनामा नहर के बनने से पूर्व एल सैल्वाडार का विदेशी व्यापार मुख्यतः संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन तथा जर्मनी से ही होता था परंतु अब अन्य देशों से भी होने लगा है। यहाँ से निर्यात होनेवाली वस्तुएँ कॉफी, रबर, तंबाकू, नील तथा सोना हैं।

२. सैल्वाडार — स्थिति : १३° ०' द० अ० तथा ३८° ३०' प० दे०। यह ब्राजील का अत्यंत प्राचीन नगर है। आकार की दृष्टि से इसका चौथा स्थान है। यहाँ से चीनी, रबर तथा कपास का निर्यात होता है। इसकी जनसंख्या ६,५५,७३५ (१९६०) है।

३. सैल्वाडार नाम का एक नगर कैनाडा में भी है।

[न० कु० रा०]

सैसून, सर अल्बर्ट अब्दुल्ला डेविड (१८१८-१८९६) उन्नीसवीं सदी के भारतीय व्यापारी और समाजसेवी। ये जन्मतः यहूदी थे। इनका जन्म बगदाद में २५ जुलाई, सन् १८१८ को हुआ था। इनके पूर्वज स्पेनवासी थे जो १६ वीं शताब्दी में बगदाद आ बसे थे। पर यहाँ भी यहूदी विरोधी आंदोलन से त्रस्त होकर उनके पिता को बगदाद छोड़ना पड़ा। यहाँ से वे फारस चले गए। सन् १८३२ से इनका परिवार बंबई में स्थायी रूप से आ बसा। यहाँ उन्होंने महाजनी और व्यापार शुरू किया। इस दिशा में उन्हें अच्छी सफलता मिली। सैसून की शिक्षा भारत में ही हुई थी। पिता के बाद उनके वारिस के रूप में उन्होंने भारतीय समाज के प्रति अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। विशेष रूप से बंबई नगर को उनका योगदान स्मरणीय कहा जाएगा। उनके अनुदान से तैयार हुआ सैसून डाक सन् १८७५ में पूरा हुआ। उनकी मृत्यु २४ अक्टूबर सन् १८९६ में इंग्लैंड में हुई।

[मु० रा०]

सोडियम (Sodium) आवर्त सारणी के प्रथम मुख्य समूह का दूसरा तत्व है, इसमें धातुगुण विद्यमान हैं। इसके एक स्थिर समस्थानिक (द्रव्यमान संख्या २३) और चार रेडियोऐक्टिव समस्थानिक द्रव्यमान (संख्या २१, २२, २४, २५) ज्ञात हैं।

उपस्थिति — सोडियम अत्यंत सक्रिय तत्व है जिसके कारण यह मुक्त अवस्था में नहीं मिलता। यौगिक रूप में यह सब स्थानों में मिलता है। सोडियम क्लोराइड अथवा नमक इसका सबसे सामान्य यौगिक है। समुद्र के पानी में घुले यौगिकों में इसकी मात्रा ८०% तक रहती है। अनेक स्थानों पर इसकी खानें भी हैं। पश्चिमी पाकिस्तान में इसकी बड़ी खान है। राजस्थान प्रदेश की साँभर झील से यह बहुत बड़ी मात्रा में निकाला जाता है।

सोडियम कार्बोनेट भी अनेक स्थानों में मिलता है। क्षारीय मिट्टी में सोडियम कार्बोनेट उपस्थित रहता है। इसके अतिरिक्त सोडियम के अनेक यौगिक, जैसे सोडियम सल्फेट, नाइट्रेट, फ्लोराइड आदि विभिन्न स्थानों पर मिलते हैं। जर्मनी के सेक्सनी प्रदेश में स्टेस्फुर्ट की खानें इसके अच्छे स्रोत हैं। सिलिकेट के रूप में सोडियम समस्त खानिज पदार्थों तथा चट्टानों में उपस्थित रहता है यद्यपि इसकी प्रतिशत मात्रा कम रहती है।

निर्माण — सक्रिय पदार्थ होने के कारण बहुत काल तक सोडियम धातु का निर्माण सफल न हो सका। १८०७ ई० में इंग्लैंड के वैज्ञानिक डेवी ने तरल सोडियम हाइड्राक्साइड के वैद्युत अपघटन द्वारा इस तत्व का सर्वप्रथम निर्माण किया। सन् १८९० में केस्टनर (Castner) ने इस विधि को औद्योगिक रूप दिया। इस विधि में लोहे के बर्तन के मध्य में ताम्र या निकेल का ऋणाग्र और उसके चारों ओर निकेल का धनाग्र रखते हैं। बेलन को उष्ण गैस द्वारा गर्म किया जाता है जिससे उसमें रखा सोडियम हाइड्राक्साइड पिघल जाय। वैद्युत अपघटन द्वारा सोडियम धातु ऋणाग्र पर निर्मित होकर सतह के ऊपर तैरने लगती है। इसे धनाग्र पर जाने से रोकने के लिये ऋणाग्र को लोहे की बेलनाकार जाली से घेरा जाता है।

आजकल तरल सोडियम क्लोराइड के वैद्युत अपघटन द्वारा भी सोडियम का निर्माण हो रहा है।

गुणधर्म — सोडियम रुपहली चमकदार धातु है। वायु में ऑक्सीकरण के कारण इसपर शीघ्र ही परत जम जाती है। यह नरम धातु है तथा उत्तम विद्युच्चालक है क्योंकि इसके परमाणु के बाहरी कक्ष का इलेक्ट्रान अत्यंत गतिशील होने के कारण शीघ्र एक से दूसरे परमाणु पर जा सकता है। इसके कुछ भौतिक स्थिरांक संकेत, सो० (Na), परमाणु संख्या ११, परमाणु भार २२.९९ घनत्व ०.९७ ग्रा०। घसेमी, गलनांक ९७.८° सें०, क्वथनांक ८९२° सें०, परमाणु व्यास १.५५ ऐंग्स्ट्राम, आयनीकरण विभव ५.१३ इवो०। सोडियम धातु के परमाणु अपना एक इलेक्ट्रॉन खोकर सोडियम आयन में सरलता से परिणत हो जाते हैं। फलत: सोडियम अत्यंत शक्तिशाली अपचायक (reductant) है। इसकी क्रियाशीलता के कारण इसे निर्वात या तैल में रखते हैं। जल से यह विस्फोट के साथ क्रिया कर हाइड्रोजन मुक्त करता है। वायु में यह पीली लपट के साथ जलकर सोडियम ऑक्साइड (Na_2O) तथा सोडियम परऑक्साइड (Na_2O_2) का मिश्रण बनाता है।

हैलोजन तत्व तथा फॉस्फोरस के साथ सोडियम क्रिया करता है। विशुद्ध अमोनिया द्रव में सोडियम घुलकर नीला विलयन देता है। पारद से मिलकर यह ठोस मिश्रधातु बनाता है। यह मिश्रधातु अनेक क्रियाओं में अपचायक के रूप में उपयोग की जाती है।

उपयोग — सोडियम धातु का उपयोग अपचायक के रूप में होता है। सोडियम परऑक्साइड (Na_2O_2), सोडियम सायनाइड ($NaCN$) और सोडेमाइड ($NaNH_2$) के निर्माण में इसका उपयोग होता है। कार्बनिक क्रियाओं में भी यह उपयोगी है। लेड टेट्राएथिल [$Pb(C_2H_5)_4$] के उत्पादन से सोडियम-सीस मिश्रधातु उपयोगी है। सोडियम में प्रकाशवैद्युत (Photo-electric) गुण है। इसलिये इसको प्रकाश वैद्युत सेल बनाने के काम में लाते हैं। कुछ समय से परमाणु ऊर्जा द्वारा विद्युत उत्पादन में सोडियम धातु का बृहद् उपयोग होने लगा है। परमाणु रिऐक्टर (Atomic reactor) द्वारा उत्पन्न ऊष्मा को तरल सोडियम के चक्रण

(Circulation) द्वारा जल वाष्प बनाने के काम में लाते हैं और उत्पन्न वाष्प द्वारा टरबाइन चलने पर विद्युत् का उत्पादन होता है।

सोडियम के अनेक यौगिक चिकित्सा में काम आते हैं। आज के औद्योगिक युग में सोडियम तथा उसके यौगिकों का प्रमुख स्थान है।

यौगिक — सोडियम एक संयोजक यौगिक बनाता है। सोडियम यौगिक जल में प्रायः विलेय होते हैं।

सोडियम के दो ऑक्साइड ज्ञात हैं Na_2O और Na_2O_2। सोडियम धातु पर ३००° सें० पर वायु प्रवाहित करने से सोडियम परऑक्साइड बनेगा। यह शुष्क वायु में स्थायी होता है और जल में शीघ्र अपघटित हो सोडियम हाइड्रॉक्साइड में परिणत हो जाता है। यह सुविधानुसार ऑक्सीकारक (oxidant) तथा अपचायक (reductant) दोनों का ही कार्य कर सकता है। यह कार्बन मोनोऑक्साइड (CO) और कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2) दोनों से मिलकर सोडियम कार्बोनेट बनाता है। कार्बन डाइऑक्साइड से क्रिया के फलस्वरूप ऑक्सीजन मुक्त होता है। इस क्रिया का उपयोग बंद स्थानों (जैसे पनडुब्बी नावों) मे ऑक्सीजन निर्माण मे हुआ है।

सोडियम और हाइड्रोजन का यौगिक सोडियम हाइड्राइड (Na H) एक क्रिस्टलीय पदार्थ है। इसके वैद्युत अपघटन पर हाइड्रोजन गैस धनाग्र पर मुक्त होती है। सोडियम हाइड्राइड सूखी वायु में गर्म करने पर जल जाता है और जलयुक्त वायु मे अपघटित हो जाता है।

सोडियम कार्बोनेट (Na_2Co_3) अनार्द्र तथा जलयोजित दोनों दशाओं में मिलता है। इसे घरेलू उपयोग में कपड़े तथा अन्य वस्तुओं के साफ करने के काम में लाते हैं। चिकित्साकार्य में भी यह उपयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त सोडियम बाइकार्बोनेट (Na H CO_3) भी रसायनिक क्रियाओं तथा दवाइयो में काम आता है।

अनेक संरचना के सोडियम सिलिकेट ज्ञात हैं। इनमें विलेय सोडा काँच (Soda glass) सबसे मुख्य है। सिलिका को सोडियम हाइड्रॉक्साइड (Na OH) विलयन के साथ उच्च दाब पर गर्म करने से यह तैयार होता है। यह पारदर्शी रंगरहित पदार्थ है जो उबलते पानी में घुल जाता है। कुछ छापेखाने के उद्योगो मे इसका उपयोग होता है। पत्थरों तथा अन्य वस्तुओं के जोड़ने में भी इसका उपयोग हुआ है।

सोडियम कार्बोनेट, सोडियम टार्टरेट, सोडियम ब्रोमाइड, सोडियम सेलिसिलेट, सोडियम क्लोराइड आदि यौगिकों का चिकित्सा निदान में उपयोग होता है।

किसी कारण से शरीर में जल की मात्रा कम होने पर सोडियम क्लोराइड अथवा साधारण नमक के विलयन को इंजेक्शन द्वारा रक्तनाड़ी में प्रविष्ट करते हैं।

अनेक प्राकृतिक झरनों में सोडियम यौगिक पाए गए हैं। इन झरनों का जल गठिया तथा पेट और चर्मरोगों में लाभकारी माना जाता है।

सोडियम की पहचान स्पेक्ट्रममापी (Spectrometer) द्वारा हो सकती है। इसके यौगिक बुंसन लौ को पीला रंग प्रदान करते हैं। इस प्रकाश का तरंगदैर्घ्य ५८९० तथा ५८९६ ऐंगस्ट्राम है। आयन विनिमय स्तंभ (Ion exchange column) द्वारा भी इसकी पहचान की गई है। [र० चं० क०]

सोन या सोनभद्र नदी गंगा की सहायक नदियों में सोन का प्रमुख स्थान है। इसका पुराना नाम संभवतः 'सोहन' था जो पीछे बिगड़कर सोन बन गया। यह नदी मध्यप्रदेश के अमरकंटक नामक पहाड़ से निकलकर ३५० मील का चक्कर काटती हुई पटना से पश्चिम गंगा में मिलती है। इस नदी का पानी मीठा, निर्मल और स्वास्थ्यवर्धक होता है। इसके तटों पर अनेक प्राकृतिक दृश्य बड़े मनोरम हैं। अनेक फारसी, उर्दू और हिंदी कवियों ने नदी और नदी के जल का वर्णन किया है। इस नदी से डिहरी-आन-सोन पर बाँध बाँधकर २९६ मील लंबी नहर निकाली गई है जिसके जल से शाहाबाद, गया और पटना जिलों के लगभग सात लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। यह बाँध १८७४ ई० में तैयार हो गया था। इस नदी पर ही एशिया का सबसे लंबा पुल, लगभग ३ मील लंबा, डिहरी-ऑन-सोन पर बना हुआ है। दूसरा पुल पटना और आरा के बीच कोइलवर नामक स्थान पर है। कोइलवर का पुल दोहरा है। ऊपर रेलगाड़ियाँ और नीचे बस, मोटर और बैलगाड़ियाँ आदि चलती हैं। इसी नदी पर एक तीसरा पुल भी ग्रैंड ट्रंक रोड पर बन गया है। इसके निर्माण में ढाई करोड़ रुपयों से ऊपर लगा है। १९६५ ई० में यह पुल तैयार हो गया था और अब यातायात के लिये खुल गया है।

ऐसे यह नदी शांत रहती है। इसका तल अपेक्षया छिछला है और पानी कम ही रहता है पर बरसात में इसका रूप विकराल हो जाता है, पानी मटियाले रंग का, लहरें भयंकर और झाग से भरी हो जाती हैं। तब इसकी धारा तीव्र गति और बड़े जोर शोर से बहती है।

सोनपुर बिहार के सारन जिले का एक कस्बा है। यह पटना नगर से लगभग तीन मील उत्तर, गंगा और गंडक नदियों के संगम पर बसा है। यह स्थान दो वस्तुओं, सबसे प्लेटफार्म तथा मेले के लिये प्रसिद्ध है। पश्चिम और पूर्व से पूर्वोत्तर रेलवे द्वारा और पटना से स्टीमर द्वारा गंगा पार कर फिर रेल द्वारा सोनपुर पहुँचा जाता है। यहाँ का रेलवे प्लेटफार्म लंबाई के लिये सुप्रसिद्ध है। सोनपुर की सबसे अधिक प्रसिद्धि उस मेले के कारण है जो कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर यहाँ लगता है और एक मास तक चलता है। भारत के कोने कोने से हजारों व्यक्ति एवं मवेशी इस मेले में आते हैं। यह मेला वस्तुतः भारत का ही नहीं वरन् एशिया का सबसे बड़ा मेला है। सोनपुर का पुराना नाम हरिहरक्षेत्र है। यहाँ का मेला हरिहरक्षेत्र के मेले के नाम से भी प्रसिद्ध है। पुराणों में इसे महाक्षेत्र भी कहा गया है। गंगा और वैदिक काल की नदी सदानीरा (नारायणी) के इस संगम पर एक बार ऋषि, साधु तथा संत बहुत बड़ी संख्या में एकत्र हुए, उनमें वैष्णव एवं

बीच दोनों में गंभीर वाद विवाद हुआ, अंत में दोनों ने मिलकर कार्य करने का निश्चय किया एवं विष्णु और शिव के नामों पर इसका नाम हरिहरक्षेत्र रखा। इसके निकट ही कोनहरा घाट पर पौराणिक गज और ग्राह की लड़ाई हुई थी। प्यासा गज अपनी प्यास बुझाने के लिये नदी के पानी में गया तब ग्राह (भयानक मगरमच्छ) ने उसे पकड़ लिया, फिर दोनों में युद्ध छिड़ा, जो ऐसा कहा जाता है कि बहुत वर्षों तक चलता रहा। अंत में विष्णु की कृपा से ग्राह मारा गया और गज की विजय हुई। कुछ लोग इसका यह भी अर्थ लगाते हैं कि गज और ग्राह का युद्ध वस्तुतः अच्छाइयों और बुराइयों के बीच युद्ध था, जिसमें अच्छाइयों की विजय हुई। यहाँ के मंदिर में विष्णु और शिव दोनों की मूर्तियाँ स्थापित हैं। ऐसा कहा जाता है कि हरिहर नाथ की स्थापना विभिन्न विचारों के मिलन, एकता और बंधुत्व बनाए रखने के लिये की गई थी।

यहाँ के मेले में बड़ी बड़ी दूकानें कलकत्ता और बंबई तक से आती हैं और लाखों व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति यहाँ से करते हैं। हाथियों का तो इतना बड़ा मेला और कहीं नहीं लगता। हजारों की संख्या में हाथी यहाँ आते हैं तथा उनका क्रय विक्रय होता है। मेले का प्रबंध बिहार सरकार की ओर से होता है। स्थान स्थान पर पानी के कल, बिजली के खंभे और शौचालय आदि बनाए जाते हैं। स्थान को साफ सुथरा बनाने के लिये पूरा प्रबंध किया जाता है ताकि कोई बीमारी न फैल सके और न ही लोगों को किसी प्रकार का कष्ट हो। लोगों को लाने तथा ले जाने के लिये कई स्पेशल गाड़ियाँ चलाने का प्रबंध किया जाता है। १९६७ ई० के मेले में लगभग २००० हाथी और ५०,००० से ऊपर मवेशी एकत्र हुए थे। देखें 'हरिहर क्षेत्र'।

सोना या स्वर्ण (Gold) स्वर्ण अत्यंत चमकदार मूल्यवान धातु है। यह आवर्तसारणी के प्रथम अंतर्वर्ती समूह (transition group) में ताम्र तथा रजत के साथ स्थित है। इसका केवल एक स्थिर समस्थानिक (isotope, द्रव्यमान १९७) प्राप्त है। कृत्रिम साधनों द्वारा प्राप्त रेडियोऐक्टिव समस्थानिकों का द्रव्यमान क्रमशः १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९८ तथा १९९ है।

स्वर्ण के तेज से मनुष्य अत्यंत पुरातन काल से प्रभावित हुआ है क्योंकि बहुधा यह प्रकृति में मुक्त अवस्था में मिलता है। प्राचीन सभ्यताकाल में भी इस धातु को सम्मान प्राप्त था। ईसा से २५०० वर्ष पूर्व सिंधु घाटी की सभ्यताकाल में (जिसके भग्नावशेष मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में मिले हैं) स्वर्ण का उपयोग आभूषणों के लिये हुआ करता था। उस समय दक्षिण भारत के मैसूर प्रदेश से यह धातु प्राप्त होती थी। चरकसंहिता में (ईसा से ३०० वर्ष पूर्व) स्वर्ण तथा उसके भस्म का औषधि के रूप में वर्णन आया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्वर्ण की खान की पहचान करने के उपाय धातुकर्म, विभिन्न स्थानों से प्राप्त धातु और उसके शोधन के उपाय, स्वर्ण की कसौटी पर परीक्षा तथा स्वर्णशाला में उसके तीन प्रकार के उपयोगों (क्षेपण, गुण और क्षुद्रक) का वर्णन आया है। इन सब वर्णनों से यह ज्ञात होता है कि उस समय भारत में सुवर्णकला का स्तर उच्च था।

इसके अतिरिक्त मिस्र, ऐसीरिया आदि की सभ्यताओं के इतिहास में भी स्वर्ण के विविध प्रकार के आभूषण बनाए जाने की बात कही गई है और इस कला का उस समय अच्छा ज्ञान था।

मध्ययुग के कीमियागरों का लक्ष्य निम्न धातु (लोहे, ताम्र, आदि) को स्वर्ण में परिवर्तन करना था। वे ऐसे पत्थर पारस की खोज करते रहे जिसके द्वारा निम्न धातुओं से स्वर्ण प्राप्त हो जाए। इस काल में लोगों को रासायनिक क्रिया की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान न था। अनेक लोगों ने दावे किये कि उन्होंने ऐसे गुर का ज्ञान पा लिया है जिसके द्वारा वे लोह से स्वर्ण बना सकते हैं जो बाद में सदैव मिथ्या सिद्ध हुए।

उपस्थिति — स्वर्ण प्रायः मुक्त अवस्था में पाया जाता है। यह उत्तम (noble) गुण का तत्व है जिसके कारण से उसके यौगिक प्रायः अस्थायी ही होते हैं। आग्नेय (igneous) चट्टानों में यह बहुत सूक्ष्म मात्रा में वितरित रहता है परंतु समय से क्वार्ट्ज नलिकाओं (quartz veins) में इसकी मात्रा में वृद्धि हो गई है। प्राकृतिक क्रियाओं के फलस्वरूप कुछ खनिज पदार्थों में जैसे लौह पायराइट ($Fe\,S_2$), सीस सल्फाइड ($Pb\,S$), चेलकोलाइट ($Cu_2\,S$) आदि अयस्कों के साथ स्वर्ण भी कुछ मात्रा में जमा हो गया है। यद्यपि इसकी मात्रा न्यून ही रहती है परंतु इन धातुओं का शोधन करते समय स्वर्ण की समुचित मात्रा मिल जाती है। चट्टानों पर जल के प्रभाव द्वारा स्वर्ण के सूक्ष्म मात्रा में पथरीले तथा रेतीले स्थानों में जमा होने के कारण पहाड़ी जलस्रोतों में कभी कभी इसके कण मिलते हैं। केवल टेल्यूराइड के रूप में ही इसके यौगिक मिलते हैं।

भारत में विश्व का लगभग दो प्रतिशत स्वर्ण प्राप्त होता है। मैसूर की कोलार की खानों से यह सोना निकाला जाता है। कोलार में स्वर्ण की ५ खानें हैं। इन खानों से स्वर्ण पारद के साथ पारदन (amalgamation) तथा सायनाइड विधि द्वारा निकाला जाता है। उत्तर में सिक्किम प्रदेश में भी स्वर्ण अन्य अयस्कों के साथ मिश्रित अवस्था में मिला करता है। बिहार के मानभूम और सिंहभूम जिले में सुवर्णरेखा नदी में भी स्वर्ण के कण प्राप्य हैं।

दक्षिण अमरीका के कोलंबिया प्रदेश, मेक्सिको, संयुक्त राष्ट्र अमरीका के कैलीफोर्निया तथा एलास्का प्रदेश, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका स्वर्ण उत्पादन के मुख्य केंद्र हैं। ऐसा अनुमान है कि यदि पंद्रहवीं शताब्दी के अंत से आज तक उत्पादित स्वर्ण को सजाकर रखा जाय तो लगभग २० मीटर लंबा, चौड़ा तथा ऊँचा घन बनेगा। आश्चर्य तो यह है कि इतनी छोटी मात्रा के पदार्थ द्वारा करोड़ों मनुष्यों के भाग्य का नियंत्रण होता रहा है।

निर्माणविधि — स्वर्ण निकालने की पुरानी विधि में चट्टानों की रेतीली भूमि को छिछले तवों पर धोया जाता था। स्वर्ण का उच्च घनत्व होने के कारण वह नीचे बैठ जाता था और हल्की रेत धोवन के साथ बाहर चली जाती थी। हाइड्रालिक विधि (hydraulic mining) में जल की तीव्र धारा को स्वर्णयुक्त चट्टानों द्वारा प्रविष्ट करते हैं जिससे स्वर्ण से मिश्रित रेत जमा हो जाती है।

आधुनिक विधि द्वारा स्वर्णयुक्त क्वार्ट्ज (quartz) को चूर्ण

कर पारद की परतदार ताम्र की थालियों पर धोते हैं जिससे अधिकांश स्वर्ण थालियों पर जम जाता है। परत को खुरचकर उसके आसवन (distillation) द्वारा स्वर्ण को पारद से अलग कर सकते हैं। प्राप्त स्वर्ण में अपद्रव्य वर्तमान रहता है। इसपर सोडियम सायनाइड के विलयन द्वारा क्रिया करने से सोडियम ऑरोसायनाइड बनेगा।

४ स्वर्ण + ८ सोडियम सायनाइड + ऑक्सीजन + २ जल =

४ सोडियम ऑरोसायनाइड + ४ सोडियम हाइड्रॉक्साइड

$$4\ Au + 8\ NaCN + O_2 + 2\ H_2O = 4\ Na\ [\ Au\ (CN)_2\ ] + 4\ NaOH$$
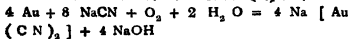
इस क्रिया में वायुमंडल की ऑक्सीजन ऑक्सीकारक के रूप में प्रयुक्त होती है।

सोडियम ऑरोसायनाइड विलयन के विद्युत् अपघटन द्वारा अथवा यशद धातु की क्रिया से स्वर्ण मुक्त हो जाता है।

$$Zn + 2\ Na\ [\ Au\ (CN)_2\ ] = Na_2\ [\ Zn\ (CN)_4\ ] + 2\ Au$$
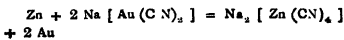
सायनाइड विधि द्वारा ऐसे अयस्कों से स्वर्ण निकाला जा सकता है जिनमें स्वर्ण की मात्रा न्यूनतम हो (देखें सायनाइड विधि)। अन्य विधि के अनुसार अयस्क में उपस्थित स्वर्ण को क्लोरीन द्वारा गोल्ड क्लोराइड ($Au\ Cl_3$) में परिणत कर जल में विलयित कर लिया जाता है। विलयन में हाइड्रोजन सल्फाइड (H_2S) प्रवाहित करने पर गोल्ड सल्फाइड बन जाता है जिसके दहन से स्वर्ण धातु मिल जाती है।

ऊपर बताई क्रियाओं से प्राप्त स्वर्ण में अपद्रव्य उपस्थित रहते हैं। इसके शोधन की आधुनिक विधि विद्युत् अपघटन पर आधारित है। इस विधि में गोल्ड क्लोराइड को तनु (dilute) हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में विलयित कर लेते हैं। विलयन में अशुद्ध स्वर्ण के धनाग्र और शुद्ध स्वर्ण के ऋणाग्र के बीच विद्युत् प्रवाह करने पर अशुद्ध स्वर्ण विलयित हो ऋणाग्र पर जम जाता है।

गुणधर्म — स्वर्ण पीले रंग की धातु है। अन्य धातुओं के मिश्रण से इसके रंग में अंतर आ जाता है। इसमें रजत का मिश्रण करने से इसका रंग हल्का पड़ जाता है। ताम्र के मिश्रण से पीला रंग गहरा पड़ जाता है। गिनी गोल्ड में ८·३३ प्रतिशत ताम्र रहता है। यह शुद्ध स्वर्ण से अधिक लालिमा लिए रहता है। प्लैटिनम या पेलेडियम के संमिश्रण से स्वर्ण में श्वेत छटा आ जाती है।

स्वर्ण अत्यंत कोमल धातु है। स्वच्छ अवस्था में यह सबसे अधिक घातवर्ध्य (malleable) और तन्य (ductile) धातु है। इसे पीटने पर १०^{-५} मिमी पतले वरक बनाए जा सकते हैं।

स्वर्ण के कुछ विशेष स्थिरांक निम्नांकित हैं :

संकेत (Au), परमाणुसंख्या ७९, परमाणुभार १९६·९७, गलनांक १०६३° से०, क्वथनांक २९७०° से०, घनत्व १९·३ ग्राम प्रति घन सेमी, परमाणु व्यास २·९ एंग्स्ट्राम A°, आयनीकरण विभव ९·२ इवों, विद्युत् प्रतिरोधकता २·१९ माइक्रोओहम् — सेमी०।

स्वर्ण वायुमंडल ऑक्सीजन द्वारा प्रभावित नहीं होता है। विद्युत्-वाहक-बल-शृंखला (electromotive series) में स्वर्ण का सबसे नीचा स्थान है। इसके यौगिक का स्वर्ण आयन सरलता से इलेक्ट्रान ग्रहण कर धातु में परिवर्तित हो जाएगा। स्वर्ण दो संयोजकता के यौगिक बनाता है, १ और ३। १ संयोजकता के यौगिकों को ऑरस (aurous) और ३ के यौगिकों को ऑरिक (auric) कहते हैं।

स्वर्ण नाइट्रिक, सल्फ्यूरिक अथवा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से नहीं प्रभावित होता परंतु अम्लराज (aqua regia) (३ भाग सांद्र हाइड्रोक्लोरिक अम्ल तथा १ भाग सांद्र नाइट्रिक अम्ल का संमिश्रण) में घुलकर क्लोरोऑरिक अम्ल ($H\ Au\ Cl_4$) बनाता है। इसके अतिरिक्त गरम सेलीनिक अम्ल (selenic acid) क्षारीय सल्फाइड अथवा सोडियम थायोसल्फेट में विलेय है।

यौगिक — स्वर्ण के १ और ३ संयोजी यौगिक प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त इसके अनेक जटिल यौगिक भी बनाए गए हैं जिनमें इसकी सख्या उपसहसयोजकता (co ordination number) २ या ४ रहती है।

स्वर्ण का हाइड्रॉक्साइड ऑरस हाइड्रॉक्साइड ($Au\ OH$), ऑरस क्लोराइड ($Au\ Cl$) पर तनु पोटैशियम हाइड्रॉक्साइड (dil KOH) की क्रिया द्वारा प्राप्त होता है। यह गहरे बैंगनी रंग का चूर्ण है जिसे कुछ रासायनिक जलयुक्त ऑक्साइड (Au_2O) कहते हैं। यह स्वर्ण तथा त्रिऑक्साइड (Au_2O_3) में परिणत हो सकता है। ऑरस हाइड्रॉक्साइड में शिथिल क्षारीय गुण वर्तमान हैं। यदि ऑरिक क्लोराइड ($Au\ Cl_3$) अथवा क्लोरोऑरिक अम्ल ($HAuCl_4$) पर क्षारीय हाइड्रॉक्साइड की क्रिया की जाय तो ऑरिक हाइड्रॉक्साइड { $Au\ (OH)_3$ } बनता है जिसे गरम करने पर ऑराइल हाइड्रॉक्साइड $Au\ O\ (OH)$ ऑरिक ऑक्साइड (Au_2O_3) और (Au_2O_2) और तत्पश्चात् स्वर्ण धातु बच रहती है।

हेलोजन तत्वों से स्वर्ण अनेक यौगिक बनाता है। रक्तताप पर स्वर्ण फ्लोरीन से संयुक्त हो गोल्ड फ्लोराइड बनाता है। क्लोरीन के साथ दो यौगिक ऑरस क्लोराइड ($Au\ Cl$) और ऑरिक क्लोराइड ($Au\ Cl_3$) ज्ञात हैं। ऑरस क्लोराइड जल द्वारा अपघटित हो स्वर्ण और ऑरिक क्लोराइड बनाता है। ऑरिक क्लोराइड उच्च ताप पर ऑरस क्लोराइड ($Au\ Cl$) बना है और अधिक उच्च ताप पर पूर्णतय: विघटित हो जाता है। ब्रोमीन के साथ ऑरस ब्रोमाइड ($Au\ Br$) और ऑरिक ब्रोमाइड ($Au\ Br_3$) बनते हैं। इनके गुण क्लोराइड यौगिकों की भाँति है। आयोडीन के साथ भी स्वर्ण के दो यौगिक ऑरस आयोडाइड ($Au\ I$) और ऑरिक आयोडाइड ($Au\ I_3$) बनते हैं परंतु वे दोनों अस्थायी होते हैं।

वायु की उपस्थिति में स्वर्ण क्षारीय सायनाइड में विलयित हो जटिल यौगिक ऑरोसाइनाइड [$Au\ (CN)_2$] बनाता है जिसमें स्वर्ण १ संयोजी अवस्था में है। त्रिसंयोजी अवस्था के जटिल यौगिक { $K\ Au\ (CN)_4$ } भी ज्ञात हैं।

ऑरिक ऑक्साइड पर सांद्र अमोनिया की क्रिया से एक काला चूर्ण बनता है जिसे फ्लीमिनेटिंग गोल्ड ($2\ Au\ N.\ NH_3.\ 3\ H_2O$) कहते हैं। यह सूखी अवस्था में विस्फोटक होता है।

स्वर्ण के कालायडी विलयन (col'oidal solution) का रंग कणों के आकार पर निर्भर है। बड़े कणों के विलयन का रंग नीला रहता है। कणों का आकार छोटा होने पर वह क्रमश: लाल तथा नारंगी हो जाता है। क्लोरोऑरिक अम्ल विलयन में स्टैनस क्लोराइड (Sn Cl_2) मिश्रित करने पर एक नीललोहित अवक्षेप प्राप्त होता है। इसे कैसियस नीललोहित (purple of cassius) कहते हैं। यह स्वर्ण का बड़ा संवेदनशील परीक्षण (delicate test) माना जाता है।

उपयोग — स्वर्ण का मुद्रा तथा आभूषण के निमित्त प्राचीन काल से उपयोग होता रहा है। स्वर्ण अनेक धातुओं से मिश्रित हो मिश्रधातु बनाता है। मुद्रा में प्रयुक्त स्वर्ण में लगभग ९० प्रतिशत स्वर्ण रहता है। आभूषण के लिये प्रयुक्त स्वर्ण में भी न्यून मात्रा में अन्य धातुएँ मिलाई जाती हैं जिससे उसके भौतिक गुण सुधर जायँ। स्वर्ण का उपयोग दंतकला तथा सजावटी अक्षर बनाने में हो रहा है।

स्वर्ण के यौगिक फोटोग्राफी कला में तथा कुछ रासायनिक क्रियाओं में भी प्रयुक्त हुए हैं।

स्वर्ण की शुद्धता डिग्री अथवा कैरट में मापी जाती है। विशुद्ध स्वर्ण १००० डिग्री अथवा २४ कैरट होता है। [र० चं० क०]

सोने का उत्खनन

सोने का खनन भारत में अत्यंत प्राचीन समय से हो रहा है। कुछ विद्वानों का मत है कि दसवीं शताब्दी के पूर्व पर्याप्त मात्रा में खनन हुआ था। गत तीन शताब्दियों में अनेक पूर्वेक्षकों ने भारत के स्वर्णयुक्त क्षेत्रों में कार्य किया किंतु अधिकांशत: वे आर्थिक स्तर पर सोना प्राप्त करने में असफल ही रहे। भारत में उत्पन्न लगभग संपूर्ण सोना मैसूर राज्य के कोलार तथा हट्टी स्वर्णक्षेत्रों से निकलता है। अत्यंत अल्प मात्रा में सोना उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा मद्रास राज्यों में भी अनेक नदियों की मिट्टी या रेत में पाया जाता है किंतु इसकी मात्रा साधारणत: इतनी कम है कि इसके आधार पर आधुनिक ढंग का कोई व्यवसाय आर्थिक दृष्टि से प्रारंभ नहीं किया जा सकता। इन क्षेत्रों में कुछ स्थानों पर स्थानीय निवासी अपने अवकाश के समय में इस मिट्टी एवम् रेत को धोकर कभी कभी अवश्य सोने की प्राप्ति कर लेते हैं।

कोलार स्वर्णक्षेत्र (Kolar Gold Field) — यह क्षेत्र मैसूर राज्य के कोलार जिले में मद्रास के पश्चिम की ओर १२५ मील की दूरी पर स्थित है। समुद्र से २,८०० फुट की ऊँचाई पर यह क्षेत्र एक उच्च स्थली पर है। वैसे तो इस क्षेत्र का विस्तार उत्तर-दक्षिण में ५० मील तक है किंतु उत्पादन योग्य पट्टिका (Vein) की लंबाई लगभग ४½ मील ही है। इस क्षेत्र में बालाघाट, नंदी दुर्ग, उरगाम, चैंपियन रीफ (Champion Reef) तथा मैसूर खानें स्थित हैं। खनन के प्रारंभ से मार्च १९५१ के अंत तक २,१८,४२,९०२ आउंस स्वर्ण, जिसका मूल्य १९९·९१ करोड़ रुपया हुआ, प्राप्त हुआ। कोलार क्षेत्र में कुल ३० पट्टिकाएँ हैं जिनकी औसत चौड़ाई ३-४ फुट है। इन पट्टिकाओं में सर्वाधिक स्वर्ण उत्पादक पट्टिका 'चैंपियन रीफ' है। इसमें नीले भूरे वर्ण का, विशुद्ध तथा कणों-वाला स्फटिक प्राप्त होता है। इसी स्फटिक के साहचर्य में सोना भी मिलता है। सोने के साथ ही टुरमेलीन (Tourmaline) भी सहायक खनिज के रूप में प्राप्त होता है। साथ ही साथ पायरोटाइट (Pyrotite), पायराइट, चाल्कोपायराइट, इल्मेनाइट, मैग्नेटाइट तथा शीलाइट (Shilite) आदि भी इस क्षेत्र की शिलाओं में मिलते हैं।

स्वर्ण उद्योग — कोलार (मैसूर) की सोने की खानों में पूर्णत: आधुनिक एवं वैज्ञानिक विधियों से कार्य होता है। यहाँ की चार खानें 'मैसूर', 'नंदीदुर्ग', 'उरगाम', और 'चैंपियनरीफ' संसार की सर्वाधिक गहरी खानों में से हैं। इन खानों में से दो तो सतह से लगभग १०,००० फुट की गहराई तक पहुँच चुकी हैं। इन खानों में ताप १४८° फारेनहाइट तक चला जाता है अत: शीतोत्पादक यंत्रों की सहायता से ताप ११८° फारेनहाइट तक कम करने की व्यवस्था की गई है। सन् १९५३ में उरगाम खान बंद कर दी गई है। औसत रूप से कोलार में प्रति टन खनिज में लगभग पौने तीन माशे सोना पाया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व विपुल मात्रा में सोने का निर्यात किया जाता था। सन् १९३९ मे ३,१४,५१५ आउंस सोने का उत्पादन हुआ जिसका मूल्य ३,२४,३४,३६४ रुपये हुआ किंतु इसके पश्चात् स्वर्ण उत्पादन में अनियमित रूप से कमी होती चली गई है तथा सन् १९४७ में उत्पादन घटकर १,७१,७९५ आउंस रह गया जिसका मूल्य ४,८१,५४,६३९ रुपए हुआ। गत कुछ ही वर्षों में इस उद्योग की प्रगति के कुछ लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे हैं। सन् १९५७ में उत्पादन १,७९,००० आउंस, जिसका मूल्य ५,१०,९९,००० रुपए हुआ, तक पहुँचा। कोलार स्वर्णक्षेत्र की खानों का राष्ट्रीयकरण हो गया है तथा मैसूर की राज्य सरकार द्वारा संपूर्ण कार्य संचालित होता है। कोलार विश्व का एक अद्वितीय एवं आदर्श खनन नगर है। यहाँ स्वर्ण खानों के कर्मचारियों को लगभग सभी संभव सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। खानों में भी आपातकालीन स्थिति का सामना करने के लिये विशेष सुरक्षा दल (Rescue Teams) रहते हैं।

हैदराबाद में हट्टी में भी सोना प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार केरल में वायनाड नामक स्थान पर सोना मिला था किंतु ये निक्षेप कार्य योग्य नहीं थे। [वि० सा० दु०]

सोना चढ़ाना (Gilding)

किसी पदार्थ की सतह पर उसकी सुरक्षा अथवा अलंकरण हेतु यांत्रिक तथा रासायनिक साधनों से सोना चढ़ाया जाता है। यह कला बहुत ही प्राचीन है। मिस्रवासी आदिकाल ही से लकड़ी और हर प्रकार के धातुओं पर सोना चढ़ाने में प्रवीण तथा अभ्यस्त रहे। पुराने टेस्टामेंट में भी गिल्डिंग का उल्लेख मिलता है। रोम तथा ग्रीस आदि देशों में प्राचीन काल से इस कला को पूर्ण प्रोत्साहन मिलता रहा है। प्राचीन काल में अधिक मोटाई की सोने की पत्तियाँ प्रयोग में लाई जाती थी। अत: इस प्रकार की गिल्डिंग अधिक मजबूत तथा चमकीली होती रही। पूर्वी देशों के सजावट की कला में इसका प्रमुख स्थान है — मंदिरों के गुंबजों तथा राजमहलों की शोभा बढ़ाने के लिये यह कला विशेषत:

अपनाई जाती है। भारत में आज भी जिस विधि से सोना चढ़ाया जाता है इसकी प्राचीनता का एक सुंदर उदाहरण है।

आधुनिक गिल्डिंग में तरह तरह की विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं और इनसे हर प्रकार के सतहों पर सोना चढ़ाया जा सकता है, जैसे तस्वीरों के फ्रेम, अलमारियों, सजावटी चित्रण, घर और महलों की सजावट, किताबों की जिल्दसाजी, धातुओं के आवरण, बटन बनाना, गिल्ट टाव ट्रेड, प्रिंटिंग तथा विद्युत् आवरण, मिट्टी के बर्तनों, पोर्सिलेन, काँच तथा काँच की चूड़ियों की सजावट। टेक्सटाइल, चमड़े और पार्चमेंट पर भी सोना चढ़ाया जाता है तथा इन प्रचलित कामों में सोना अधिक मात्रा में उपयुक्त होता है।

सोना चढ़ाने की समस्त विधियाँ यांत्रिक अथवा रासायनिक साधनों पर निर्भर हैं। यांत्रिक साधनों से सोने की बहुत ही बारीक पत्तियाँ बनाते हैं और उसे धातुओं या वस्तुओं की सतह से चिपका देते हैं। इसलिये धातुओं की सतह को भली भाँति खुरचकर साफ कर लेते हैं और उसे अच्छी तरह पालिश कर देते हैं। फिर ग्रीज तथा दूसरे अपद्रव्यों (Impurities) जो पालिश करते समय रह जाती है, गरम करके हटा देते हैं। बहुधा लाल ताप पर धातुओं की सतह पर बर्निशर से सोने की पत्तियों को दबाकर चिपका देते हैं। इसे फिर गरम करते हैं और यदि आवश्यकता हुई तो और पत्तियाँ रखकर चिपका देते हैं, तत्पश्चात् इसे ठंढा करके बर्निशर से रगड़ कर चमकीला बना देते हैं। दूसरी विधि में पारे का प्रयोग किया जाता है। धातुओं की सतह को पूर्ववत् साफकर अम्ल विलयन में डाल देते हैं। फिर उसे बाहर निकालकर सुखाने के बाद झाँवा तथा सुर्खी से रगड़ कर चिकनाहट पैदा कर देते हैं। इस क्रिया के उपरांत सतह पर पारे की एक पतली पर्त पारदन कर देते हैं, तब इसे कुछ समय के लिये पानी में डाल देते हैं और इस प्रकार यह सोना चढाने योग्य बन जाता है। सोने की बारीक पत्तियाँ चिपकाने से ये पारे से मिल जाती हैं। गरम करने के फलस्वरूप पारा उड़ जाता है और सोना चूरेपन की अवस्था में रह जाता है, इसे अगेट वर्निशर से रगड़कर चमकीला बना देते हैं। इस विधि में सोने का प्रायः दुगुना पारा लगता है तथा पारे की पुनः प्राप्ति नहीं होती।

रासायनिक गिल्डिंग में वे विधियाँ शामिल हैं जिनमें प्रयुक्त सोना किसी न किसी अवस्था में रासायनिक यौगिक के रूप में रहता है।

सोना चढ़ाना — चाँदी पर प्रायः सोना चढ़ाने के लिये, सोने का अम्लराज में विलयन बना लेते हैं और कपड़े की सहायता से विलयन को धात्विक सतह पर फैला देते हैं। फिर इसे जला देते हैं और चाँदी से चिपकी काली तथा भारी भस्म को चमड़े तथा अंगुलियों से रगड़कर चमकीला बना देते हैं। अन्य धातुओं पर सोना चढाने के लिये पहले उसपर चाँदी चढ़ा लेते हैं।

गीली सोनाचढ़ाई — गोल्ड क्लोराइड के पतले विलयन को हाईड्रोक्लोरिक अम्ल की उपस्थिति में पृथक्कारी कीप की मदद से ईथरीय विलयन में प्राप्त कर लेते हैं तथा एक छोटे बुरुश से विलयन को धातुओं की साफ सतह पर फैला देते हैं। ईथर के उड़ जाने पर सोना रह जाता है और गरम करके पालिश करने पर चमकीला रूप धारण कर लेता है।

आग सोनाचढ़ाई (fire Gilding) — इसमें धातुओं के तैयार साफ और स्वच्छ सतह पर पारे की पतली सी परत फैला देते हैं और उसपर सोने का पारदन चढ़ा देते हैं। तत्पश्चात् पारे को गरम कर उड़ा देते हैं और सोने की एक पतली पटल बच जाती है, जिसे पालिश कर सुंदर बना देते हैं। इसमें पारे की अधिक क्षति होती है और काम करनेवालों के लिये पारे का धुआँ अधिक अस्वास्थ्यकर है।

काष्ठ सोनाचढ़ाई — लकड़ी की सतह पर चाक या जिप्सम का लेप चढ़ाकर चिकनाहट पैदा कर देते हैं। फिर पानी में तैरती हुई सोने की बारीक पत्तियों का स्थायी विक्षेपण कर देते हैं। सूख जाने पर इसे चिपका देते हैं तथा दबाकर समस्थितीकरण कर देते हैं। इसके उपरांत यह सोने की मोटी चद्दरों की तरह दिखाई देने लगती है। दाँतेदार गिल्डिंग से इसमें अधिक चमक आ जाती है।

मिट्टी के बरतनों, पोर्सिलेन तथा काँच पर सोना चढ़ाने की कला अधिक लोकप्रिय है। सोने के अम्लराज विलयन को गरम कर पाउडर अवस्था में प्राप्त कर लेते हैं और इसमें बारहवाँ भाग बिसमथ आक्साइड तथा थोड़ी मात्रा में बोराक्स और गम पाउडर मिला देते हैं। इस मिश्रण को ऊँट के बालवाले बुरुश से वस्तु पर यथास्थान चढ़ा देते हैं। आग में तपाने पर काले मैले रंग का सोना चिपका रह जाता है, जो अगेट बर्निशर से पालिश कर चमकाया जाता है। और फिर ऐसीटिक अम्ल से इसे साफ कर लेते हैं।

लोहा या इस्पात पर सोना चढाने के लिये सतह को साफ कर खरोंचने के पश्चात् उसपर लाइन बना देते हैं। फिर लाल ताप तक गरम कर सोने की पत्तियाँ बिछा देते है और ठंडा करने के उपरांत इसको अगेट बर्निशर से रगड़कर पालिश कर देते हैं। इस प्रकार इसमें पूर्ण चमक आ जाती है और इसकी सुंदरता अनुपम हो जाती है।

धातुओं पर विद्युत् आवरण की कला को आजकल अधिक प्रोत्साहन मिल रहा है। एक छोटे से नाद में गोल्ड सायनाइड और सोडियम सायनाइड का विलयन डाल देते हैं तथा सोने का ऐनोड और जिसपर सोना चढ़ाना होता है, उसका कैथोड लटका देते हैं। फिर विद्युत्प्रवाह से सोने का आवरण कैथोड पर चढ़ जाता है। विद्युत्-आवरणीय सोने का रंग अन्य धातुओं के निक्षेपण पर निर्भर है। अच्छाई, टिकाऊपन, सुंदरता तथा सजावट के लिये निम्न कोटि की धातुओं पर पहले ताँबे का विद्युत् आवरण करके चाँदी चढ़ाते हैं। तत्पश्चात् सोना चढ़ाना उत्तम होता है। इस ढंग से सोने के बारीक से बारीक परत का आवरण चढ़ाया जा सकता है तथा जिस मोटाई का चाहें सोने का विद्युत्-आवरण आवश्यकतानुसार चढ़ा सकते हैं। इससे धातुओं की क्षरण से रक्षा होती है तथा हर प्रकार की वस्तुओं पर सोने की सुंदर चमक आ जाती है। [द० सिं०]

सोनीपत स्थिति : २८° ५९′ ३०″ उ० अ० तथा ७७° १′ ३०″ पू० दे०। भारत के हरियाणा राज्य के रोहतक जिले की एक तहसील

तथा नगर है। नगर की जनसंख्या ४५,८८२ (१९६१) तथा क्षेत्रफल ४·३८ वर्ग किमी है। आर्यों द्वारा स्थापित इस नगर का उत्तम और पुनीत इतिहास है। दुर्योधन से युधिष्ठिर द्वारा याचित 'पतों' में यह भी एक था। वर्तमान नगर स्थानीय व्यापारिक केंद्र है। तहसील तथा अन्य राजकीय कार्यालय नगर के मध्यवर्ती किंचित् उच्च धरातल पर स्थित हैं। नगर से 'ग्रैंड ट्रंक रोड' पाँच मील दूर है। दिल्ली-पानीपत-मार्ग पर यह स्थित है। नगर के दक्षिणी भाग में साइकिल का कारखाना है, जिसके ठीक सामने, रेलवे लाइन के दूसरी ओर, औद्योगिक क्षेत्र है। गंगा और सिंधु का जलविभाजक क्षेत्र सोनीपत तहसील से होकर जाता है। पश्चिमी यमुना नहर से सिंचाई होती है। यमुना नदी के दाहिने किनारे पर नदीनिर्मित भूमि है। कुछ भाग पठारी भी है। [कां० ना० का०]

सोपारा बंबई के थाना जिले में स्थित है। इसका प्राचीन नाम शूर्पारक है। देवानां प्रिय प्रियदर्शी अशोक के चतुर्दश शिलालेख शहबाजगढ़ी (जिला पेशावर), मनसेहरा (जिला हजारा), गिरनार (जूनागढ़, काठियावाड़ के समीप), सोपारा (जिला थाना, बंबई), कलसी (जिला देहरादून), धौली (जिला पुरी, उड़ीसा), जौगढ़ (जिला गंजाम) तथा इरागुर्डी (जिला कर्नूल, मद्रास) से उपलब्ध हुए हैं। ये लेख पर्वत की शिलाओं पर उत्कीर्ण पाए गए हैं।

शहबाजगढ़ी तथा मनसेहरा के अभिलेखों के अतिरिक्त, सोपारा का अभिलेख तथा अन्य अभिलेख भारतीय ब्राह्मी लिपि में हैं। इसी ब्राह्मी से वर्तमान देवनागरी लिपि का विकास हुआ है। यह बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। शहबाजगढ़ी तथा मनसेहरा के अभिलेख ब्राह्मी में न होकर खरोष्ठी में हैं। खरोष्ठी अलमाइक की एक शाखा है जो अरबी की भाँति दाहिने से बाएँ को लिखी जाती थी। सीमाप्रांत के लोगों के संभवतः ब्राह्मी से अपरिचित होने के कारण अशोक ने उनके हेतु खरोष्ठी का उपयोग किया।

सोपारा का अभिलेख अशोक के साम्राज्य के सीमानिर्धारण में भी अति सहायक है। सोपारा तथा गिरनार के शिलालेखों से यह सिद्ध है कि पश्चिम में अशोक के साम्राज्य की सीमा पश्चिमी समुद्र थी।

अशोक के अभिलेख हृदय पर सीधा प्रभाव डालते हैं। अशोक ने इस तथ्य को भली भाँति समझ रखा था कि भाष्यकार मूल उपदेश को निस्सार कर देते हैं। अतएव उसने अपनी प्रजा तक पहुँचने का प्रयास किया। सम्राट् के अपने शब्दों में ये लेख सरल एवं स्वाभाविक शैली में जनभाषा पालि के माध्यम से उसके उपदेशों को जन जन तक पहुँचाते हैं। यही इन अभिलेखों का वैशिष्ट्य तथा यही इनकी सफलता है। [र० उ०]

सोफिया (Sofia) स्थिति : ४२° ४५' उ० अ० तथा २३° २०' पू० दे०। यह बल्गेरिया की राजधानी तथा वहाँ का सबसे बड़ा नगर है। यह नगर विटोशा (Vitosha) तथा बाल्कन पर्वतों के मध्य उच्च समतल भूमि पर स्थित है तथा बुखारेस्ट से लगभग १८० मील दक्षिण पश्चिम में है। यहाँ की जनसंख्या ६,९८,४६४ (१९६२) है।

सोफिया, बल्गेरिया का प्रमुख व्यापारिक केंद्र है। यहाँ पर मशीनें, कपड़े, खाद्य पदार्थ, बिजली के सामान तथा अनेक पदार्थों के निर्माण के लिये कई कारखानें हैं। यहाँ से चमड़ा, कपड़ा तथा अनाज का निर्यात होता है।

सोफिया की प्रमुख इमारतों में राजमहल, सेंट एलेक्जेंडर का गिरजाघर, संसद भवन, ओपेरा हाउस तथा विश्वविद्यालय भवन हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय नगर को बमबारी से काफी क्षति उठानी पड़ी थी। [न० कु० रा०]

सोफिस्त आधुनिक प्रचलन में, 'सोफ़िस्त' वह व्यक्ति है, जो दूसरों को अपने मत में करने के लिये युक्तियों, एवं व्याख्याओं का आविष्कार कर सके। किंतु यह 'सोफिस्त' का मूल अर्थ नहीं है। प्राचीन यूनानी दर्शनकाल मे, ज्ञानाश्रयी दार्शनिक ही सोफिस्त थे। तब 'फ़िलॉसफ़ॅर' का प्रचलन न था। ईसा पूर्व पाँचवी तथा चौथी शताब्दियों मे यूनान के कुछ सीमावर्ती दार्शनिकों ने सांस्कृतिक विचारों के विरुद्ध आंदोलन किया। एथेंस नगर प्राचीन यूनानी संस्कृति का केंद्र था। वहाँ इस आंदोलन की हँसी उड़ाई गई। अफलातून के कुछ संवादों के नाम सोफिस्त कहे जानेवाले दार्शनिकों के नामों पर हैं। उनमें सुकरात और प्रमुख सोफिस्तों के बीच विवाद प्रस्तुत करते हुए अंत में सोफिस्तों को निरुत्तर करा दिया गया है। सुकरात के आत्मत्याग से यूनान में उसका संमान इतना अधिक हो गया था कि सुकरात को सोफिस्त आंदोलन का विरोधी समझकर, परंपरा ने 'सोफिस्त' शब्द अपमानसूचक मान लिया।

वस्तुतः सोफिस्त दार्शनिकों ने ही यूनानी सभ्यता का मानवीकरण किया। इनसे पूर्व, कभी किसी यूनानी दार्शनिक ने मनुष्य को सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माता नहीं समझा था। एकियन सभ्यता में, जिसकी झलक होमर के 'इलियड' नामक महाकाव्य में मिलती है, सृष्टि का भार ओलिंपस के देवी देवताओं को सौंपा गया था। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में, देवी देवताओं से अनिच्छा होने पर जिस दर्शन का सूत्रपात हुआ, वह प्रकृति, अथवा नियति को संसार और उसकी संपूर्ण गति विधि की जननी मान बैठा था। किंतु सोफिस्त विचारकों का ध्यान इस विचार के प्रत्यक्ष रूप की ओर गया। उन्होंने देखा, देवपुत्र, अथवा प्रकृतिपुत्र यूनानी कुलीन प्रथा से आक्रांत थे। उन्होंने समाज को स्वतंत्र पुरुषों एवं दासों मे विभाजित कर रखा था। सार्वजनिक शिक्षा की कोई रूपरेखा कभी ही न थी। उपेक्षित वर्ग का जनकार्यों में कोई स्थान न था। परिवर्तन की किसी भी योजना के सफल होने की आशा तभी की जा सकती थी, जब पुरानी दूषित परपराओं के सुरक्षित रखने का श्रेय मनुष्य को दिया जाता। अतएव सोफिस्तो ने प्रकृतिवादी दर्शन के स्थान पर मानववादी दर्शन की स्थापना की। अफ़लातून के 'प्रोतागोरस' नामक संवाद में प्रसिद्ध सोफ़िस्त प्रोतागोरस के मुख

से कहलाया गया है—"मनुष्य सभी वस्तुओं की माप है, जो हैं उनका कि वे हैं, जो नहीं हैं उनका कि वे नहीं हैं।" यही सोफ़िस्त विचारकों के दर्शन का मुख्य स्वर था। इसी से प्राचीन परंपराओं के पोषकों ने, 'सोफ़िस्त' कहकर उनका उपहास किया। किंतु यूनानी सभ्यता में जनजागरण के वे अग्रदूत थे।

सोफ़िस्त विचारकों ने नागरिक एवं दास का भेदभाव मिटाकर सबको शिक्षा देना प्रारंभ किया। सोफिस्तों ने कहीं अपने विद्यालय स्थापित नहीं किए। वे घूम घूमकर शिक्षा देते थे। निःशुल्क शिक्षण के वे समर्थक न थे, क्योंकि उन्होंने इसी कार्य को अपना व्यवसाय बना लिया था।

यूनान में पहले कभी, कला के रूप में, संभाषण की शिक्षा नहीं दी गई थी। सोफ़िस्तों ने, जनकार्य के लिये भाषण की योग्यता अनिवार्य समझकर, युवकों को संभाषणकला सिखाना प्रारंभ किया। थ्रैसीमैकस और थियोडोरस नामक सोफ़िस्तों ने अपने विद्यार्थियों के लिये उक्त विषय पर टिप्पणियाँ तैयार की थीं। अरस्तू ने इनके ऋण को स्वीकार नहीं किया किंतु अपने 'रेतारिक्स' में उसने इनकी दी हुई सामग्री का उपयोग किया था।

प्रॉडिकस ने मिलते जुलते शब्दों का अर्थभेद स्पष्ट करने के लिये पुस्तकें लिखी थीं। शिक्षा की दृष्टि से यह कार्य उस प्राचीन काल में कितना महत्वपूर्ण था जब यूनानी भाषा के शब्दकोश का निर्माण नहीं हुआ था। यही नहीं, सोफ़िस्तों ने विज्ञान आदि विषयों पर भी पाठ तैयार किए।

प्रसिद्ध है कि सोफ़िस्त किसी भी शब्द का मनमाना अर्थ कर लेते थे। पर उनके इस कार्य का एक दूसरा पक्ष भी है। तब तक किसी सीमित व्याख्यापद्धति का विकास नहीं हुआ था। सोफिस्तों के इस कार्य से विचारकों की आँखें खुलीं और उन्होंने समझा कि चिंतन के नियम स्थिर करके ही व्याख्याओं को सीमित किया जा सकता है। अरस्तू के 'तादात्म्य के नियम' को सोफ़िस्तों की स्वतंत्र व्याख्यापद्धति का फल मानना संभवतः अनुचित न होगा।

परंपरा ने सोफ़िस्तों को स्थूल व्यक्तिवाद का पोषक ठहराया है। किंतु, प्रोतागोरस के कथन को कि 'मनुष्य ही सब वस्तुओं की माप है' यदि उस समय तक विकसित दार्शनिक मतों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी मानें तो कोई बड़ी भूल न होगी। दार्शनिकों के चिंतन का न कोई मानदंड था, न उनके चिंतन की कोई शैली थी। पाश्चात्य तर्क का जन्मदाता अरस्तू (३८५-२२ ई० पू०) तो बाद में हुआ। अतएव, सोफ़िस्त विचारकों की स्वतंत्र व्याख्यापद्धति को यूनानी दर्शन के तार्किक उत्कर्ष का निमित्त कारण कहा जा सकता है।

सं० ग्रं० — प्लेटो के संवाद; ज़ेलर : आउटलाइन हिस्टरी ऑव ग्रीक फ़िलासफ़ी, ग्रोटे : हिस्ट्री ऑव ग्रीस, भाग ८। [शि० श०]

सोमालिया क्षेत्रफल ६३७६६० वर्ग किमी (२४६,१३५ वर्ग मील) भूतपूर्व ब्रिटिश संरक्षित क्षेत्र सोमालीलैंड एवं राष्ट्रसंघीय न्यास क्षेत्र सोमालिया को मिलाकर १ जुलाई, १९६० ई० को इस गणतंत्र का निर्माण हुआ। इसके उत्तर में अदन की खाड़ी, पूर्व एवं दक्षिण में हिंद महासागर, दक्षिण पश्चिम में केनिया तथा पश्चिम में ईथीयोपिया एवं फ्रेंच सोमालीलैंड स्थित हैं। सोमालिया एक चरागाह प्रधान क्षेत्र है। इसकी ८०% जनसंख्या पशुपालन पर निर्भर है। दक्षिणी भाग में शेबेली एवं जुब्बा नदियों की घाटियों में गन्ना, केला, दुर्रा, मक्का, तिलहन एवं फल की उपज होती है। उत्तरी पश्चिमी प्रांत की मुख्य फसल ज्वार है।

बहुत थोड़े से खनिज पाए जाते हैं। लेकिन अभी इन सबकी खुदाई नहीं होती। जिप्सम एवं खनिज तेल निकाले जाते हैं। बेरिल एवं कोलंबाइट यहाँ पाए जानेवाले अन्य खनिज हैं।

उद्योग धंधे मुख्यतः मांस, मत्स्य एवं चमड़े से संबंधित हैं। यहाँ से पशुओं एवं उनके चमड़ों तथा ताजे फलों का निर्यात होता है। सोमालिया का आयात निर्यात व्यापार मुख्य रूप से इंग्लैंड से होता है। गमनागमन के साधन विकसित नहीं हैं। सड़कों की लंबाई ४०० मील है परंतु रेलमार्ग तो बिल्कुल ही नहीं है। इस देश की कोई व्यापारिक वायुसेवा भी नहीं है। मोगादिसिओ हवाई अड्डे से नैरोबी एवं अदन जाया जा सकता है। प्रशासन के लिये इसे आठ विभागों में बाँटा गया है।

सोमालिया की जनसंख्या २० से ३० लाख के बीच में है। मोगादिशु (१०,०००) यहाँ की राजधानी है। सोमाली राष्ट्रीय भाषा है लेकिन कामकाज की भाषाएँ अरबी, इतालवी एवं अंग्रेजी हैं। इन भाषाओं में दैनिक समाचारपत्र भी निकलते हैं। निवासियों में सुन्नी मुसलमानों की अधिकता है। शेष किसान (रोमन कैथोलिक) हैं। इस देश में उच्च शिक्षा के लिये एक विश्वविद्यालयीय संस्थान है। जहाँ विधि, अर्थशास्त्र एवं प्रशिक्षण की पढ़ाई होती है। रूसी मदद से वायुसेना को सुदृढ़ किया जा रहा है। [रा० प्र० सिं०]

सोमेश्वर अजमेर के स्वामी अर्णोराज का कनिष्ठ पुत्र था। पिता की मृत्यु के बाद उसने अपने जीवन का कुछ भाग कुमारपाल चौलुक्य के दरबार में व्यतीत किया। उसके नाना सिद्धराज जयसिंह के समय गुजरात में ही उसका जन्म हुआ था, और वहीं पर चेदि राजकुमारी कर्पूरदेवी से उसका विवाह हुआ। जब कुमारपाल ने कोंकण देश के स्वामी मल्लिकार्जुन पर आक्रमण किया, तो चौहान वीर सोमेश्वर ने शत्रु के हाथी पर कूदकर उसका वध किया।

उधर अजमेर में एक के बाद दूसरे राजा की मृत्यु हुई। अपने पिता अर्णोराज की हत्या करनेवाले जगद्देव को वीसलदेव ने हराया। वीसलदेव की मृत्यु के बाद उसके पुत्र को हटाकर जगद्देव का पुत्र गद्दी पर बैठा किंतु दो वर्षों के अंदर ही सिंहासन फिर शून्य हो गया और चौहान सामंत और मंत्रियों ने गुजरात से लाकर सोमेश्वर को गद्दी पर बैठाया। सोमेश्वर ने लगभग आठ वर्ष (वि० सं० १२२६-१२३४) तक राज्य किया।

सोमेश्वर का राज्य प्रायः सुख और शांति का था। उसने अर्णोराज के नाम से एक नगर बसाया, और अनेक मंदिर बनवाए) जिनमें से एक भगवान् त्रिपुरुष देव का और दूसरा वैद्यनाथ देव का था। ब्राह्मण और अब्राह्मणों सभी संप्रदायों को उसकी संरक्षा

प्राप्त थी। सोमेश्वरीय द्रम्मों का प्रचलन भी इसके राज्य के ऐश्वर्य को द्योतित करता है।

सोमेश्वर ने प्रतापलंकेश्वर की पदवी धारण की। पृथ्वीराजरासो के अनुसार उसका विवाह दिल्ली के तंवर राजा अनंगपाल की पुत्री से हुआ और पृथ्वीराज इसका पुत्र था। इसी काव्य में गुजरात के राजा भीम के हाथों उसकी मृत्यु का उल्लेख है। ये दोनों बातें असत्य हैं। पृथ्वीराज चेदि राजकुमारी कुमारदेवी का पुत्र था और सोमेश्वर की मृत्यु के समय भीम गुजरात का राजा नहीं बना था। किंतु गुजरात से उसकी कुछ अनबन अवश्य हुई थी। उसकी मृत्यु के समय पृथ्वीराज केवल दस साल का था।

[द० श०]

सोयाबीन (Soybean) लेग्यूमिनोसी (Leguminosae) कुल का पौधा है। यह दक्षिणी पूर्वी एशिया का देशज कहा जाता है। हजारों वर्षों से यह चीन में उगाया जा रहा है। आज संसार के अनेक देशों, रूस, मंचूरिया, अमरीका, अफ्रीका, फ्रांस, इटली, भारत, कोरिया, इंडोनेशिया और मलाया द्वीपों में यह उगाया जा रहा है। अमरीका में मक्का के बाद इसी फसल का स्थान है। अमरीका में प्रति एकड़ २,००० पाउंड उपज होती है, जब कि भारत में प्रति एकड़ ३,००० पाउंड तक उगाया गया है तथा और अधिक देखभाल से ४,००० पाउंड तक उगाया जा सकता है। उत्तर प्रदेश के पंतनगर के कृषि विश्वविद्यालय मे और जबलपुर के जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय में इसपर विशेष शोध कार्य हो रहा है।

प्राचीनकाल में चीन में खाद्य के रूप में और औषधों में इसका व्यवहार होता था। आज यह पशुओं के चारे के रूप में, मानव आहार और अनेक उद्योगों में काम आता है। इसकी खेती और उपयोगिता दिन दिन बढ़ रही है। एक समय इसका महत्व चारे के रूप मे ही था पर आज मानव खाद्य के रूप में भी इसका महत्व बहुत बढ़ गया है। एक पाउंड सोयाबीन से इसका एक गैलन दूध बनाया जा सकता है। इसमें एक प्रकार की महक होती है जो कुछ लोगो को पसंद नही है, पर इस महक के हटाने का प्रयत्न हो रहा है। सोयाबीन में मांस की अपेक्षा प्रोटीन, दूध की अपेक्षा अधिक कैल्सियम तथा अंडे की अपेक्षा अधिक वसावाला लेसिथिन रहता है। इससे प्राप्त लेसिथिन का उपयोग मिठाइयों, पावरोटी और ओषधियों में हो रहा है। इसमें अनेक विटामिन, खनिज लवण और अम्ल भी पर्याप्त मात्रा में रहते हैं। इसकी दाल बड़ी स्वादिष्ट और पुष्टिकर होती है। इसकी हरी फली की साग सब्जियाँ बनती हैं।

सोयाबीन में १८ से २० प्रतिशत तेल रहता है। इस तेल में ८४ से ८७ प्रतिशत तक असंतृप्त ग्लिसराइड रहता है। अत: इसकी गणना सूखनेवाले तेलों में होती है और पेंटों के निर्माण में उपयुक्त होता है। फुलर मिट्टी द्वारा विरंजन तथा भाप द्वारा, निर्गंधीकरण के बाद, यह तेल खाने के योग्य हो जाता है। तब इससे मारगरीन और वनस्पति तैयार हो सकते हैं। भारत में भी अमरीका से आया यह तेल, मूँगफली के तेल के स्थान पर वनस्पति के निर्माण में इस्तेमाल होता है। तेल का सर्वाधिक उत्पादन आज अमरीका, जर्मनी तथा मंचूरिया में होता है।

बीज से तेल निकालने पर जो खली बच जाती है उसमें प्रोटीन प्रचुर मात्रा में रहता है। यह सूअरों, मुर्गों और अन्य पशुओं के आहार के रूप में बहुमूल्य सिद्ध हुई है। पालतू मधुमक्खियों को भी यह खिलाई जा सकती है। बीज से आटा भी बनाया गया है। इस आटे की रोटियाँ और मिठाइयाँ स्वादिष्ट और पुष्टिकर होती हैं। आटे का उपयोग पेंट, अग्निशामक द्राव और ओषधियाँ बनाने में होता है। इससे कोर्टोसोम (Cortosome) नामक ओषधि भी बनाई जाती है। इसकी सहायता से सुप्रसिद्ध ओषधि 'स्ट्रेप्टोमाइसिन' बनाई जाती है। आटे का कागज पर लेप चढ़ाने तथा वस्त्रों के सज्जीकरण में भी उपयोग हुआ है। यह प्रमेह, अम्लोपचय (acidosis) तथा पेट की अन्य गड़बड़ियों में लाभप्रद बताया गया है।

सोयाबीन उन सभी मिट्टियों में अच्छा उपजता है जहाँ मक्का उपजता है। मक्के के लिये अच्छे किस्म की मिट्टी और जलवायु आवश्यक होती है। दुमट मिट्टी सबसे अच्छी होती है। इसके खेतों में पानी जमा नहीं रहना चाहिए। सामान्य मिट्टी में भी यह उपज सकता है यदि उसमें चूना और उर्वरक डाले गए हों। इसके पौधों की जड़ों में गुटिकाएँ (nodules) होती हैं जिनमें वायु के नाइट्रोजन का मिट्टी में स्थिरीकरण का गुण होता है। अतः इसके खेतों मे अधिक नाइट्रोजन खाद की आवश्यकता नहीं होती। इसके खेतों में घासपात नहीं रहना चाहिए। जुलाई मास में ड्रिल द्वारा बीज बोए जाते हैं और चार मास में फसल तैयार हो जाती है। इसके खेत में फिर गेहूँ, आलू, और मूँगफली आदि की अन्य फसलें उगाई जा सकती हैं।

सोयाबीन सैकड़ों प्रकार का होता है। संकरण से और भी अनेक प्रकार के पौधे उगाए गए हैं। इसके पौधे दो से साढ़े तीन फुट ऊँचे होते हैं। इसके डंठल, पत्ते और फलियों पर छोटे छोटे महीन भूरे या धूसर रोएँ होते हैं। इसका फूल सफेद या नीललोहित (purple) होता है। फलियाँ हल्के पीले से धूसर भूरे या काले रंग की होती हैं। फलियों में दो से छह तक गोल या अंडाकार दाने होते हैं। दाने पीले, हरे, भूरे, काले या चित्तीदार हो सकते हैं। पीले बीजवाले सोयाबीन में तेल की मात्रा सर्वाधिक होती है। पौधे और बीज की प्रकृति मिट्टी, उपजाने की विधि, मौसम और स्थान के कारण बदल सकती है।

सोयाबीन के शत्रु भी होते हैं। कुछ कीड़े और इल्लियाँ पौधों को क्षति पहुँचाती हैं। कुछ जानवर, भूशूकर और खरगोश भी पौधों को खाकर नष्ट कर देते हैं। भारत में सोयाबीन की अधिकाधिक खेती करने के लिये भारत का कृषि विभाग किसानों को प्रोत्साहित कर रहा है। प्रोटीन की प्रचुरता के कारण महात्मा गांधी ने भी इसको उगाने और उपयोग करने की ओर लोगों का ध्यान दिलाया था।

[फू० स० व०]

सोलंकी राजवंश १३वीं और १४वीं शताब्दी की चारणकथाओं में गुजरात के चौलुक्यों का सोलंकियों के रूप में वर्णन मिलता है। ये राजपूत जाति के थे, और कहा जाता है, इस वंश का संस्थापक आबू पर्वत पर एक अग्निकुंड से उत्पन्न हुआ था। यह

वंश, प्रतिहार, परमार और चहमाण सभी अग्निकुल के सदस्य थे। अपने पुरालेखों के आधार पर चौलुक्य यह दावा करते हैं कि वे ब्रह्मा के चुलुक (करतल) से उत्पन्न हुए थे, और इसी कारण उन्हें यह नाम मिला। प्राचीन परंपराओं से ऐसा लगता है कि चौलुक्य मूल रूप से कन्नौज के कल्याणकटक नामक स्थान में रहते थे और वहीं से वे गुजरात जाकर बस गए। इस परिवार की चार शाखाएँ अब तक ज्ञात हैं। इनमें से सबसे प्राचीन मत्तमयूर (मध्यभारत) में नवीं शताब्दी के चतुर्थांश में शासन करती थी। अन्य तीन गुजरात और लाट में शासन करती थीं। इन चार शाखाओं में सबसे महत्वपूर्ण वह शाखा थी जो सारस्वत मंडल में अणहिलपत्तन (वर्तमान गुजरात के पाटन) को राजधानी बनाकर शासन करती थी। इस वंश का सबसे प्राचीन ज्ञात राजा मूलराज है। उसने ९४२ ईस्वी में चापों को परास्त कर सारस्वतमंडल में अपनी प्रभुता कायम की। मूलराज ने सौराष्ट्र और कच्छ के शासकों को पराजित करके, उनके प्रदेश अपने राज्य में मिला लिए, किंतु उसे अपने प्रदेश की रक्षा के लिये, शाकंभरी के चहमाणों. लाट के चौलुक्यों, मालव के परमारों और त्रिपुरी के कलचुरियों से युद्ध करने पड़े। इस वंश का दूसरा शासक भीम प्रथम है, जो १०२२ में सिंहासन पर बैठा। इस राजा के शासन के प्रारंभिक काल में महमूद गजनवी ने १०२५ में अणहिलपत्तन को ध्वंस कर दिया और सोमनाथ के मंदिर को लूट लिया। महमूद गजनवी के चौलुक्यों के राज्य से लौटने के कुछ समय पश्चात् ही, भीम ने आबू पर्वत और भीनमल को जीत लिया और दक्षिण मारवाड़ के चाहमानों से लड़ा। ११वीं शताब्दी के मध्यभाग में उसने कलचुरि कर्ण से संधि करके परमारों को पराजित कर दिया और कुछ काल के लिये मालव पर अधिकार कर लिया। भीम के पुत्र और उत्तराधिकारी कर्ण ने कर्णाटवालों से संधि कर ली और मालव पर आक्रमण करके उसके शासक परमार जयसिंह को मार डाला, किंतु परमार उदयादित्य से हार खा गया। कर्ण का बेटा और उत्तराधिकारी जयसिंह सिद्धराज इस वंश का सबसे महत्वपूर्ण शासक था। ११वीं शताब्दी के पूर्वार्ध से चौलुक्यों का राज्य गुर्जर कहलाता था। जयसिंह शाकंभरी और दक्षिण मारवाड़ के चहमाणों, मालव के परमारों, बुंदेलखंड के चंदेलों और दक्षिण के चौलुक्यों से सफलतापूर्वक लड़ा। उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल ने, शाकंभरी के चहमाणों, मालव नरेश वल्लाल और कोंकण नरेश मल्लिकार्जुन से युद्ध किया। वह महान् जैनधर्म शिक्षक हेमचंद्र के प्रभाव में आया। उसके उत्तराधिकारी अजयपाल ने भी शाकंभरी के चाहमानों और मेवाड़ क गुहिलों से युद्ध किया, किंतु ११७६ में अपने द्वारपाल के हाथों मारा गया। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी मूलराज द्वितीय के शासनकाल में मुइजउद्दीन मुहम्मद गोरी ने ११७८ में गुजरात पर आक्रमण किया, किंतु चौलुक्यों ने उसे असफल कर दिया। मूलराज द्वितीय का उत्तराधिकार उसके छोटे भाई भीम द्वितीय ने सँभाला जो एक शक्तिहीन शासक था। इस काल में प्रांतीय शासकों और सामंतों ने स्वतंत्रता के लिये सिर उठाया किंतु बघेलवंशी सरदार, जो राजा के मंत्री थे, उनपर नियंत्रण रखने में सफल हुए। फिर भी उनमें से जयसिंह नामक एक व्यक्ति को कुछ काल तक सिंहासन पर बलात् अधिकार करने में सफलता मिली किंतु अंत में उसे भीम द्वितीय के संमुख झुकना पड़ा। चौलुक्य वंश से संबंधित बाघेलों ने इस काल में गुजरात की विदेशी आक्रमणों से रक्षा की, और उस प्रदेश के वास्तविक शासक बन बैठे। भीम द्वितीय के बाद दूसरा राजा त्रिभुवनपाल हुआ, जो इस वंश का अंतिम ज्ञात राजा है। यह १२४२ में शासन कर रहा था। चौलुक्यों की इस शाखा के पतन के पश्चात् बाघेलों का अधिकार देश पर हो गया।

सं० ग्रं० — ए० के० मजूमदार : हिस्टरी ऑव द चौलुक्याज।

[धी० च० गां०]

सोलारिओ, आंद्रिया (१४६०-१५१० ई०) मिलान स्कूल का इटालियन चित्रकार। प्रारंभ में अपने बड़े भाई क्रिस्टोफाओ के तत्वावधान में कला सीखी, जो स्वयं भी एक अच्छा मूर्तिकार और भवनशिल्पी माना जाता था तथा मिलान के चर्च में नियुक्त था। सोलारिओ की सर्वप्रथम कृति 'होली फैमिली ऐंड सेंट जेरोम' काफी सुंदर बन पड़ी। फिर तो उसने कितने ही पोर्ट्रेट चित्रों का निर्माण किया जिससे वह धीरे धीरे ख्याति अर्जित करता गया। १५०७ ई० में एक परिचयपत्र के साथ जब वह फ्रांस गया तो एंबोइज के कार्डिनल ने नारमंडी के किले में स्थित चर्च की दीवारों को, जो बाद में फ्रेंच राज्यक्रांति के दौरान ध्वस्त हो गईं, चित्रित करने का काम उसे सौंपा। इसी बीच उसे फ्लांडर्स भी जाना पड़ा। उसकी परवर्ती कलाकृतियों पर फ्लीमिश प्रभाव भी द्रष्टव्य है। १५१५ ई० में वह पुन: इटली लौट आया। 'फ्लाइट इनटु ईजिप्ट' के दृश्यांकन में इसकी अप्रत्यक्ष झलक मिलती है। अंतिम कृति 'दि एजंप्शन ऑव दि वर्जिन' जब एक वेदिका पर चित्रित की जा रही थी तभी उसकी अकस्मात् मृत्यु हो गई। इस अधूरी कृति को बर्नार्डिनो डि कंपी नामक दूसरे कलाकार ने पूरा किया। मिलान और रोम के संग्रहालयों में उसके अनेक पोर्ट्रेट चित्र मिलते हैं। [श० रा० गु०]

सोवियत संघ में कला सोवियत प्रदेश में खोज से प्राप्त प्राच स्मारक पाषाणयुग का निर्देश करते हैं। यह मध्य एशिया तथा देश के अन्य बहुतेरे भागों में प्राप्त चट्टानों पर उत्कीर्ण चित्रण तथा छोटी मूर्तियाँ थीं। ईसा के पूर्व तीसरी और दूसरी सहस्राब्दियों में नीपर डिस्ट्रिक्ट और मध्य एशिया मिट्टी के बर्तनों के चित्रण के लिये प्रसिद्ध थे, और मध्य एशिया तथा काकेशस के कारीगरों ने मूल्यवान धातुओं के सुंदर अलंकार तैयार किए थे। ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी तथा ईसा की प्रारंभिक शतियों में कला उन प्रदेशों में फल फूल रही थी जो अब सोवियत संघ के दक्षिणी प्रदेश कहे जाते हैं। कृष्णसागर तट के उत्तर में रहनेवाले सीथियन लोग सोने के पशु चित्रित किया करते थे। संस्कृति में सीथियनों के सजातीय अल्ताई फिर्के के मृतक स्तूपों में एक कंबल मिला जो संसार में सबसे पुराना समझा जाता है तथा जिसकी रूपाकृति में घुड़सवार और रेनडीयर बने थे। अलंकार निर्माण, चित्रकला और मूर्तिकला कृष्णसागर तट के प्राचीन नगरों में उत्कर्ष पर थी। ट्रांस काकेशस में दासत्व राज्य, जहाँ दास रखने की प्रथा प्रचलित थी, अपने सुंदर

काँसे के काम के लिये प्रसिद्ध था। मध्य एशिया के कारीगर मिट्टी, पत्थर और हाथीदाँत के स्मृतिशिल्प बनाते थे। इन लोगों के कुछ भाग यूनानी बाख्त्री राज्य, पार्थिया, और कस्साह राज्य के अधीन थे। खोरेज्म राज्य को अपनी स्मारक चित्रकला पर गर्व था जिसके बाद के युग के कुछ नमूने मध्य एशिया के दूसरे भागों में पाए गए हैं।

सोवियत संघ के बहुत से लोगों की कला सामंतवादी युग में रूप ग्रहण करने लगी थी। रूसी, उक्रेनी और बेलोरूसी संस्कृति का आधार कीएव रूस की कला अपने उत्कर्ष पर १० वीं और १२ वीं शती के बीच पहुँच गई थी। स्लाव जाति की प्राचीन कला से उत्पन्न होकर कीएव रूस की कला ने ईसाई धर्म के उद्भव के साथ साथ बैजंतिया कला के अनेक रूप और पद्धतियों को आत्मसात् किया। यह कीएव और नोवगोरोद में दक्षिणी सोफिया के गिरजाघरों के मूल मोज़ेक और फ्रेस्को में प्रत्यक्ष है। १२ वीं और १३ वीं शती में स्मारक और पवित्र प्रतिमा के चित्रण की स्थानीय प्रणालियाँ नोवगोरोद, व्लादीमीर और रूस के कुछ अन्य नगरों में प्रारंभ हुईं।

काकेशिया पार के लोगों की कला मध्ययुग में जड़ पकड़ने लगी थी। जॉर्जिया के चित्रकारों ने अपने गिरजे मनोहर भित्तिचित्रों से अलंकृत किए, और कारीगरों ने धातु और रंगीन मीना की सूक्ष्म नक्काशी के अलंकार बनाए। आर्मीनिया ने अपनी पुस्तकों की चित्रसज्जा के लिये प्रसिद्धि प्राप्त की जिनमें सबसे सुंदर तोरोस रोज़लिन (१३ वीं शती) के बनाए हुए थे। सूक्ष्म और आलंकारिक चित्रण में अज़रबैजान का भी विशिष्ट स्थान रहा। मध्ययुग के सूक्ष्म चित्र बनानेवाले कलाकारों में बेहज़ाद था (१६ वीं शताब्दी के मोड़ पर), जिसके कार्य ने अज़रबैजान और मध्य एशिया दोनों की संस्कृति को बढ़ाया। मध्य एशिया — उज़बेकिस्तान, ताजिकिस्तान और तुर्कमानिस्तान — में इस्लाम के आने के साथ कंबल, मिट्टी के बर्तन, और टाइलों में मोज़ेक अलंकरण की कारीगरी पूर्णता के उच्च स्तर पर पहुँच गई।

१४ वीं शताब्दी में जब मंगोल और तातार आक्रमणकारी निकाल बाहर किए गए, तब रूस राज्य के पुनर्जागरण के समय दीवारों के चित्रण, पवित्र मूर्ति बनाने की कला, किताबों की चित्रकला ऐसी विकसित हुई जैसी पहले कभी नहीं हुई थी। १५ वीं और १६ वीं शताब्दी ने यूनानी थियोफेनीस और आंद्रे रुब्ल्योव के समान श्रेष्ठ चित्रकारों को जन्म दिया जिनकी पवित्र मूर्ति और भित्तिचित्र उच्च मानवता तथा समुज्वल सामंजस्य के भाव से अनुप्राणित थे; और डायोनिसस भी उसी काल में हुआ। यह अपनी सुंदर प्रेरित चित्रकारी के लिये प्रसिद्ध था। १७ वीं शती में रूसी, उक्रेनी और बिलोरूसी कला में मध्यकालीन परंपरा से अलग हटने के लक्षण प्रकट होने लगे। इसी समय के लगभग लैटविया, लिथुआनिया और एस्टोनिया की कला का मध्यकाल भी समाप्त होने लगा।

१८ वीं शती के आरंभ से रूसी कला अपने इतिहास की नई मंजिल की ओर बढ़ी। धर्मनिरपेक्ष यथार्थवाद तथा पश्चिमी यूरोप की कला का प्रभाव इस अवस्था के प्रमुख लक्षण थे। एफ० रोकोतोव, डी० लेवित्स्की और वी० बोरोविकोव्स्की (१८ वीं शती के अंत और १९ वीं शती का प्रारंभ) के व्यक्तिचित्रों में प्रकृति और मानव शरीर की बढ़ती हुई जानकारी दृष्टिगत होती है। नागरिक वीरता के प्रशंसात्मक ऐतिहासिक विषयों के चित्र, प्राकृतिक दृश्यों तथा ग्रामजीवन और दैनिक जीवनशैली के चित्र बनाए गए। इनके अतिरिक्त व्यक्तियों की मूर्तियाँ (एफ शुबिन) और स्मारक (एम० कोज़लोव्स्की और आई० मार्तोस) भी बने। बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना तथा स्वतंत्रताप्रिय विचारों के प्रतिक्रियास्वरूप १९ वीं शती के प्रारंभ की रूसी कला में अभूतपूर्व जीवन और शक्ति का संचार हुआ। ब्र्यूलोव के चित्रों के विषय महान् इतिहास की गूँज लिए रहते थे। ए० इवानोव ने इतिहास के विषयों तथा दार्शनिक विचारों को कलात्मक अभिव्यक्ति दी। ओकिप्रेंस्की के व्यक्तिचित्र तथा एस० श्चेद्रिन के दृश्यों में गहरा मनोवेगात्मक आकर्षण रहता था। इस काल में जनता पर अत्याचार और ज़ारशाही के विरुद्ध प्रतिवाद के स्वर चित्रकला में प्रतिध्वनित हुए। अपने लोकजीवनशैली के चित्रों में पी० फ़ेदोतोव ने जनसामान्य के हित का समर्थन किया। कवि टी० शेवचेंको ने कला में आलोचनात्मक यथार्थवाद की उक्रेनियन शाखा की स्थापना की। अंत में १८७० में एक सचल प्रदर्शनियों का संघ (पेरेद्विज़िनकी) ज़ारशाही के अंतर्गत जीवन की हीन दशा प्रदर्शित करने के लिये संगठित किया गया। उनके चित्रों में स्वयं प्रतिबिंबित होता था। आई० क्राम्सकोय, वी० पेरोव, वी मैक्सिमोव, वी० माकोव्स्की, के० सावित्स्की और अन्य पेरेद्विज़्निकी प्रदर्शनी चित्रकारों ने रूसी चित्रकला में लोकतंत्रीय तत्व तथा यथार्थवादी रूप को दृढ़ता के साथ चित्रित किया। उनका सबसे अच्छा प्रतिनिधि आई० रेपिन था जिसने, ज़ार से पीड़ित किंतु जिनका उत्साह भंग नहीं हुआ था, ऐसे लोगों के अत्याचारों के चित्र प्रस्तुत किए; और वी० सुरिकोव के इतिहासविषयक चित्रों में जनता के कष्ट और संघर्ष अत्यंत प्रबल शक्ति से प्रतिबिंबित होते थे। एक अन्य विशिष्ट प्रदर्शनी-चित्रकार वी० वेरेश्चेगिन था, जो रणभूमि के चित्र प्रस्तुत करता था। भारतयात्रा ने उसे ब्रिटिश लोगों द्वारा सिपाहियों के नृशंस वध का चित्र बनाने को प्रेरित किया। प्रदर्शनी चित्रकार राष्ट्रीय यथार्थवादी दृश्यचित्रों (आई० लेविटन, और आई० शिश्किन) के उन्नायक भी थे। उक्रेन (टी० शेवचेंको), जॉर्जिया (जी० गाबशविली और ए० म्रेव्लिशविली), लैटविया (के० गुन), तथा दूसरे देशों में जिनकी राष्ट्रीय संस्कृति ज़ार के शासन के अत्याचारों में निमित हो रही थी उनमें वे यथार्थवादी चित्रकला के विकास में साधन स्वरूप बने।

१९१७ की अक्टूबर की महान् समाजवादी क्रांति ने कला में व्यापक परिवर्तन किए। कला अब जनता की संपत्ति बन गई। प्रदर्शनियों, अजायबघरों, और उनके दर्शकों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई। सोवियत कला ने लाखों श्रमजीवियों की पहुँच में और समझ में आनेवाली कला बनने की समस्या का सामना किया। अब वह विषयवस्तु और रूपविन्यास में समाजवादी कला की भाँति विकसित हो रही है। यद्यपि वह सोवियत संघ के सभी लोगों के हितों को प्रतिबिंबित करती है, फिर भी वह सावधानी से राष्ट्रीय

परंपराओं की रक्षा करती है उन्हें जारी रखती है और उनका विकास करती है। कला की यह राष्ट्रीय बहुरूपता और व्यक्तिगत रचनात्मक रीतियों की विविधरूपता समाजवादी यथार्थवाद के आधार पर तथा सार्थक आदर्शवादी कला के सोवियत ढंग पर आश्रित है, और यह ऐसे इतिहाससिद्ध मूर्त रूपों में अभिव्यंजित होती है, जो जीवन को विकासप्रक्रिया में होकर गुजरते हुए प्रतिबिंबित करते हैं।

सोवियत संघ के सभी लोग, जिनमें वे लोग भी शामिल हैं जो चित्रकला, मूर्तिकला और बिंदु-रेखा-चित्रण के संबंध में बहुत कम या बिलकुल नहीं जानते थे, कला की उन्नति के लिये यथासंभव सब कुछ कह रहे हैं। उजबेक लोगों का उल्लेख पर्याप्त है जिनकी कला का प्रतिनिधित्व अब प्रतिभाशाली प्रकृतिचित्रण करनेवाले यूतंजिकय्येव, अजरबैजानवाले (मूर्तिकार एफ० अब्दुर्रखमानोव) बूरियत लोग (टी० संपिलोव) और दूसरे बहुतेरे लोगों के साथ बहुसंख्यक चित्रकार कर रहे हैं। सोवियत कलाकारों के रचनात्मक संघ में अब विभिन्न जातियों के ८,००० से अधिक कलाकार संमिलित हैं।

सोवियत चित्रकला की शाखा ने अब विविध प्रकार का चित्रण करनेवाले चित्रकारों की अनेकानेक कृतियों को जन्म दिया है जैसे आई० ब्रोड्स्की, बी० ग्रेकोव, बी० योहान्सन और वी सेरोव के सामान्य ऐतिहासिक और आधुनिक विषयों के चित्रों को, एस० चुइकोव (भारतीय विषयवस्तु पर एक चित्रमाला के रचनाकार) ए० प्लास्तोव, और टी० याब्लोंस्काया के जनजीवन संबंधी चित्रों को, एम० नेस्तेरोव और पी० कोरिन के व्यक्तिचित्रों, एस० जेरासिमोव और एम० सर्यान के दृश्यचित्रों और वाई० लांसेरे और ए० दानेका के स्मारक चित्रों को। एन० आंद्रेयेव, आई० श्वाद्र, वी० मुखीना, एस० कोनेन्कोव और वाई० निकोलाद्जे के द्वारा स्मारकों से मूर्तियों तक सोवियत् तक्षणकारों ने सभी शैलियों का प्रतिनिधित्व किया है। ग्राफिक कला (पोस्टर, उत्कीर्ण चित्र, रेखांकन, व्यंगचित्र आदि) में कुक्रिनिक्सी, डी० मूर, वी० फ़ावोर्स्की, डी० श्मारिनोव, आई० किब्रिक, इस्टोनिया के ग्राफिक कलाकारों के एक दल ने अत्यंत सजीव कार्य किया है। लोगों की आदर्शवादी और सौंदर्यानुभूति विषयक शिक्षा को बढ़ाने के उच्च उद्देश्य में सोवियत कला भावात्मक (ऐब्स्ट्रैक्ट) शैली का परित्याग करती है। वह उसे कला के विकास के लिये हानिप्रद, उसको नाश की ओर ले जानेवाली, तथा सत्य और जीवन के सौंदर्य को प्रतिबिंबित करने में अवरोधक मानती है।

सोवियत कला का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र लोगों की हस्तकला है, यथा रूसियों, उक्रेनियों, जॉर्जियावासियों, कज्जाक और बाल्टिकवासियों के मिट्टी के बर्तन; तुर्कमेनिया, आर्मीनिया, अजरबैजान और दाग़िस्तान निवासियों का कंबल का काम; लाख की वार्निश की रूसियों की नन्हीं नन्हीं चीजें; और बहुतेरे लोगों की बनाई लकड़ी और हड्डी पर नक्काशी और धातु की चीजें। सोवियत कलाकौशल की चीजों को राज्य और जनसंस्थाओं द्वारा व्यापक सहायता प्राप्त है और उनके इस प्रोत्साहन से नए सिरे से विकसित हो रही हैं।

सौदा, मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ीअ इनके पिता मुहम्मद शफ़ीअ व्यापार के लिये काबुल से दिल्ली आए और यहीं विवाह कर बस गए। सन् १७११ ई० में यहीं सौदा का जन्म हुआ और यहीं शिक्षा पाई। पिता के धन के समाप्त होने पर सेना में नौकरी की, पर उसे छोड़ दिया। कविता करने की ओर रुचि पहले ही से थी। पहले फ़ारसी में शेर कहने लगे और फिर उर्दू में। यह शाह हातिम के शिष्य थे। बादशाह शाहआलम इनसे अपनी कविता का संशोधन कराते थे। दिल्ली की दुरवस्था बढ़ने पर यह पहले फर्रुखाबाद गए और वहाँ कई वर्ष रहने के अनंतर यह सन् १७७१ ई० में नवाब शुजाउद्दौला के दरबार में फैजाबाद पहुँचे। नवाब आसफ़ुद्दौला ने इन्हें मलिकुश्शुअरा की पदवी तथा अच्छी वृत्ति दी, जिससे अंतिम दिनों में सुखपूर्वक रहते हुए सन् १७८१ में इनकी लखनऊ में मृत्यु हुई।

उर्दू काव्यक्षेत्र में सौदा का स्थान बहुत ऊँचा है क्योंकि यह उन कवियों में से हैं, जिन्होंने उर्दू भाषा का खूब प्रसार किया और उसे इस योग्य बनाया कि उसमें हर प्रकार की बातें कही जा सकें। इन्होंने हर प्रकार की कविताएँ — गजल, मर्सिया, मुखम्मस कसीदा, हजो आदि रचकर उसके भांडार को संपन्न किया। इनमें कसीदा तथा हजों में सौदा के समकक्ष कोई अन्य कवि नहीं हुआ। कसीदे में इनकी कल्पना की उड़ान तथा शब्दों के नियोजन के साथ ऐसा प्रवाह है कि पढ़ते ही में आनंद आता है। अपनी हजोओं में समय की अवस्था तथा लोगों के वर्णन में अत्यंत विनोदपूर्ण व्यंग्य किए हैं।

इनकी कविता में केवल मुसलमानी संस्कृति ही नहीं झलकती अपितु हिंदुस्तान के रीति रिवाज, देवताओं के नाम, उनकी लीलाओं के उल्लेख यत्र तत्र बराबर मिलते हैं। सौदा ने फारसी शब्दों के साथ हिंदी शब्दों का प्रयोग ऐसी सुंदरता से किया है कि इनकी कविता की भाषा में अनोखापन आ गया है। इनका भाषा पर ऐसा अधिकार है कि यह हर प्रकार के प्रसंग का बड़ी सुंदरता से वर्णन कर देते हैं। इनकी समग्र कविता 'कुल्लियाते सौदा' के नाम से प्रकाशित हो चुकी है, जिसमें गजल, कसीदे, हजो सभी संकलित हैं। [र० ज०]

सौरपुराण की गिनती उपपुराणों में होती है, सूतसंहिता में (सन् १४ सौ के पूर्व) स्थित क्रम के अनुसार यह सोलहवाँ उपपुराण है। किसी किसी का मत है कि सांब, भास्कर, आदित्य, मानव और सौरपुराण एक ही ग्रंथ हैं केवल नाम भिन्न भिन्न हैं, परंतु यह कथन गलत है, क्योंकि देवी भागवत ने आदित्यपुराण से पृथक् सौर को गिना है (स्कं० १, ३, १५) एवं सूतसंहिता ने सांबपुराण से भिन्न सौरपुराण गिना है, भास्कर और मानव ये दो पाठभेद भार्गव और मानव के स्थान में पाए जाते हैं। अतः सौरपुराण के साथ उनको एकरूप कहना गलत है, कदाचित् ये उपपुराण होने पर भी संप्रति उपलब्ध नहीं हैं, एवं प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथों में इनका उल्लेख नहीं है।

सौरपुराण पूना की आनंदाश्रम संस्था द्वारा संभवतः दाक्षिणात्य

भी प्रतियों से मुद्रित उपलब्ध है, उत्तरीय प्रतियों के पाठ भिन्न हो सकते हैं।

इस पुराण में अध्याय ६६ तथा श्लोक संख्या ३,७६६ है, सौरपुराण अपने को ब्रह्मांडपुराण का 'खिल' अर्थात् उपपुराण कहता है एवं सनत्कुमारसंहिता और सौरीसंहिता रूप दो भेदों से युक्त मानता है (६। १३-१४)। इस समय सौरीसंहिता को ही सौरपुराण कहते हैं और सनत्कुमारसंहिता को सनत्कुमारपुराण नाम से उपपुराणों में प्रथम गिनते हैं।

सौरपुराण नाम से इसमें सूर्य का ज्ञान विज्ञान होगा, ऐसा भ्रम होता है परंतु यह एक शिवविषयक उपपुराण है, केवल सूर्य ने मनु से कहा है। अतः अन्य पुराणों के समान इसको सौरपुराण कहते हैं। नैमिषारण्य में ईश्वरप्रीत्यर्थ दीर्घसत्र करनेवाले शौनकादिक ऋषियों के संमुख व्यास द्वारा प्राप्त यह पुराण सूत ने कहा है (१,२-५)। यह उपपुराण होने पर भी पुराण के 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च' आदि लक्षण इसमें पाए जाते हैं, (अ० २१-२३,२६,२८,३०-३१,३३)।

इस पुराण में ३६-४० अध्यायों में द्वैतमतस्थापक मध्वाचार्य का (सन् ११६३) वर्णन विस्तार से आया है, ये अध्याय यदि प्रक्षिप्त न हों तो इस पुराण का प्रणयन नए विचार से दक्षिण देश में सन् १२०० में हुआ, यह कह सकते हैं। चौथे अध्याय में आया हुआ कलियुग का वर्णन भी इस कल्पना का पोषक है।

इस पुराण का प्रारंभ इस प्रकार है — सूर्यपुत्र मनु कामिका वन मे यज्ञ करनेवाले प्रतर्दन राजा के यज्ञ में गया, वहाँ तत्व का विचार करनेवाले परंतु निर्णय करने में असमर्थ ऋषियों के साथ आकाशवाणी द्वारा प्रवृत्त होकर सूर्य के द्वादशादित्य नामक स्थान में जाकर सूर्यदर्शन के निमित्त तप करने लगा, हजार वर्षों के अनंतर सूर्य ने दर्शन दिए और सौरपुराण सुनाया (१,१६-४५)।

इसमें विशेष विषय ये हैं —

सुद्युम्न (१), प्रह्लाद (२६-३०), त्रिपुर (३४-३५), उपमन्यु (१६) आदि के चरित्र पढ़ने योग्य हैं। वाराणसी, गया, विश्वेश्वर आदि का वर्णन भी (४-८) सुंदर है। योगों के अनेक अंगों का (१२-१३) एवं अनेक दानों का (६-१०)वर्णन देखने योग्य है। अनेक कृष्णाष्टम्यादिव्रत, वर्णभेद, श्राद्ध, वानप्रस्थ, सन्यासधर्म भी वर्णित हैं (१४-२०)। शिवपूजादि (४२,४४), पाशुपत (४५), पार्वती की उत्पत्ति एवं शिव के साथ विवाह, स्कंद की उत्पत्ति एवं तारकासुरवध (४६-६३) आदि का वर्णन रोचक ढंग से हुआ है। शिवभक्ति (६४), उज्जयिनीस्थ महाकाल आदि का वर्णन (६४), पंचाक्षरमंत्रमहिमा (६५) भी द्रष्टव्य हैं। धर्मशास्त्रीय उपयुक्त निर्णय — तिथि, (५७, ६८), संक्रांति (५१), प्रायश्चित्त (५२), उमामहेश्वर व्रत (४३), पुण्य और वर्ज्यदेश (१७), श्राद्ध (१६) आदि विचारणीय हैं।

शिव और विष्णुभक्तों में अपने अपने उपास्य देवता को लेकर जो उग्र विरोध था उसको मिटाने के लिये एवं समाज में सामंजस्य स्थापन के लिये शिव और विष्णु में भेद देखना बड़े पाप का कारण बताया है (२६)। [भ० शा० फ०]

स्कंदगुप्त गुप्त सम्राटों का उत्कर्षकाल ई० स० ३५०-४६७ ई० तक माना जाता है। इसी युग का अंतिम सम्राट् स्कंदगुप्त था। इस नरेश के स्तंभलेख घोषित करते हैं कि स्कंदगुप्त कुमारगुप्त का पुत्र तथा राज्य का उत्तराधिकारी था। स्कंदगुप्त के उत्तराधिकार का विषय विद्वानों के लिये विवाद की वार्ता हो गया है। इसका मुख्य कारण भीतरी राजमुद्रा में वर्णित पुरुगुप्त का नामोल्लेख समझा जाता है जो कुमारगुप्त का पुत्र कहा गया है। अतएव प्रश्न सामने आता है कि कुमारगुप्त के दोनों पुत्रों, स्कंदगुप्त तथा पुरुगुप्त, में सर्वप्रथम कौन शासक हुआ।

इस विवाद के निर्णय से पूर्व स्कंदगुप्त के अभिलेख तथा सिक्कों के अध्ययन से इस सम्राट् का शासनकाल निश्चित करना युक्तिसंगत होगा। स्कंदगुप्त के छह लेख भिन्न भिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं जिनमें कुछ पर गुप्त संवत् (सं० ३१६ ई०) में तिथि का उल्लेख मिलता है। जूनागढ़ (काठियावाड़ से प्राप्त) लेख की तिथि गु० सं० १३६ है तथा गढ़वा (प्रयाग के समीप) अभिलेख में १४८ अंकित है। इनके आधार पर स्कंदगुप्त का शासन सन् ४५५ से लेकर सन् ४६७ पर्यंत निश्चित हो जाता है। कुमारगुप्त की रजतमुद्रा पर १३६ तिथि अंकित मिली है, जिससे स्पष्ट है कि सन् ४५५ में स्कंदगुप्त सिंहासन पर बैठा। कुमारगुप्त के पुत्रों में स्कंदगुप्त सर्वपराक्रमी तथा योग्य व्यक्ति था जो शासन की बागडोर लेकर सुचारु रूप से कार्य करने में दक्ष सिद्ध हुआ। जूनागढ़ की प्रशस्ति उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है। इसकी स्वर्णमुद्रा पर राजा तथा एक देवी के चित्र अंकित हैं जिसमें देवी राजा को कुछ भेंट कर रही है।

कुछ विद्वान् स्कंदगुप्त को गुप्त-राज्य-सिंहासन का उचित अधिकारी नहीं मानते किंतु यह व्यक्त करते हैं कि उसने अपने पराक्रम द्वारा पुरुगुप्त को हटाकर सिंहासन पर अधिकार जमा लिया। भीतरी स्तंभलेख पर एक श्लोक मिलता है जिससे पुरुगुप्त तथा स्कंदगुप्त के मध्य दायाधिकार के निमित्त युद्ध का अनुमान लगाया जाता है। "पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूय.।" पिता की मृत्यु के पश्चात् स्कंदगुप्त ने चंचल वंशलक्ष्मी को अपने भुजबल से पुनः प्रतिष्ठित किया था। इसी आधार पर दायाधिकार के युद्ध की पुष्टि की जाती है। परंतु उसी भीतरी स्तंभलेख में पुष्यमित्रों का उल्लेख है। वे ही बाहरी शत्रु थे जिन्हें स्कंदगुप्त ने पराजित किया। वंशलक्ष्मी को चचल करनेवाला राजघराने का कोई व्यक्ति नहीं था। कालीघाट से प्राप्त स्वर्णमुद्राओं तथा स्कंदगुप्त द्वारा प्रचलित सोने के सिक्कों की माप, तौल, धातु तथा शैली के तुलनात्मक अध्ययन से गुप्त साम्राज्य के बँटवारे का भी सिद्धांत उपस्थित किया जाता है। स्कंदगुप्त मगध का राजा तथा पुरुगुप्त पूर्वी बंगाल का शासक माना जाता है। विवाद का निष्कर्ष यह है कि न तो गृहयुद्ध और न साम्राज्य का बँटवारा हुआ था। स्कंदगुप्त गौरव के साथ काठियावाड़ से बंगालपर्यंत शासन करता रहा।

स्कंदगुप्त केवल योद्धा तथा पराक्रमी विजेता ही नहीं था अपितु

योग्य शासक भी था। सुशासन के लिये चक्रपालित की नियुक्ति तथा प्रजा की समृद्धि के निमित्त सुदर्शन कासार के जीर्णोद्धार का विवरण जूनागढ़ अभिलेख में पाया जाता है। इस सम्राट् के लौकिक तथा लोकोपकारिता के गुणों का वर्णन अनेक लेखों में निहित है। परमभागवत की उपाधि, सिक्कों पर लक्ष्मी की आकृति तथा विष्णु-प्रतिमा की स्थापना स्कंदगुप्त को वैष्णव मतानुयायी सिद्ध करती है। सम्राट् में धार्मिक सहिष्णुता की भावना भी पूर्ण मात्रा में विद्यमान थी। अंतर्वेदी में सूर्यपूजा तथा जैन तीर्थंकरों की मूर्ति-स्थापना की घटनाएँ इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। गुप्तवंश के इतिहास में स्कंदगुप्त का स्थान महत्वपूर्ण है। उसने साम्राज्य को दृढ़ कर स्कंद (स्वामी कार्तिकेय) नाम को चरितार्थ किया। [बा० उ०]

स्कर्वी (Scurvy) रोग शरीर में विटामिन 'सी' की कमी के कारण होता है। इसकी कमी से केशिका (Capillary) की पारगम्यता बढ़ जाती है। वैसे तो किसी भी अवस्था के व्यक्ति में इस रोग के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं, परंतु प्राय: ८ से १२ माह के शिशु में, जिसे प्रारंभ से माँ के दूध के स्थान पर पाउडर का दूध आदि दिया जाता है, मिलते हैं। रोग के लक्षण प्राय: धीरे धीरे प्रकट होते हैं। त्वचा एवं परिअस्थिक (periosteum) के नीचे रक्त स्राव होने के कारण बच्चा हाथ पैर हिलाने या छूने से रोने लगता है। आँखों के निकट त्वचा के नीचे रक्तस्राव होने से ललाई और सूजन आ जाती है और आँख के पीछे रक्तस्राव होने से आँख की पुतली आगे को उभर आती है। मसूड़ों, आँतों तथा पेशाब की राह खून आने लगता है। हल्का हल्का ज्वर हो जाता है जिससे नाड़ी की गति कुछ तीव्र हो जाती है। रक्तक्षय से बच्चा पीला एवं कमजोर हो जाता है।

रोग के निश्चित निदान में रक्त की परीक्षा में बिंबाणुगणन की संख्या, स्कंदन तथा रक्तस्राव में कोई परिवर्तन नहीं होता। अदृश्य किरणों से हड्डियों के सिरों पर सूजन और सफेद रेखा दिखलाई देती है।

इस रोग की रोकथाम के लिये जिन शिशुओं को माँ का दूध उपलब्ध नहीं हो पाता उनको विटामिन सी, फलों विशेषत: संतरे और टमाटर का रस जन्म से ही देना चाहिए। रोग के उपचार में फलों का रस एवं ऐस्कार्बिक अम्ल दिया जाता है। [ह० बा० मा०]

स्काट, सर वाल्टर (१७७१–१८३२ ई०) अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार तथा कवि स्काट का जन्म सन् १७७१ ई० में एडिनबरा नगर में हुआ जहाँ उनके पिता 'राइटर टु दी सिगनेट' के पद पर कार्य करते थे। बाल्यकाल में उन्होंने कुछ वर्ष अपने पितामह के साथ ट्वीड नदी की घाटी में व्यतीत किए, जहाँ उनका मन प्रकृतिप्रेम और स्काटलैंड के प्रति आकर्षण से भर गया। स्काटलैंड के सीमांत प्रदेश की शौर्यपूर्ण कथाओं से उन्हें विशेष अनुराग था। उनकी शिक्षा एडिनबरा में हुई। एडिनबरा विश्वविद्यालय से उन्होंने कानून की शिक्षा प्राप्त की और १७९२ ई० में बैरिस्टर की हैसियत से कार्य करने लगे। यद्यपि जीविका के लिये उन्होंने इस व्यवसाय को अपनाया तथापि उनकी अभिरुचि मुख्यत: साहित्यिक थी। अत: उन्होंने अपना अधिकांश समय साहित्यसेवा को ही प्रदान किया तथा अंत में कवि, उपन्यासकार एवं इतिहास ग्रंथों के प्रणेता के रूप में प्रसिद्ध हुए। सन् १८१२ ई० में स्काट ने मेलरोज के निकट ट्वीड नदी के तट पर अपने लिये एक भव्य भवन का निर्माण किया जो प्राचीन कथाओं में वर्णित चमत्कारपूर्ण प्रासादों की याद दिलाता था। लेखन के अतिरिक्त स्काट ने बैलेंटाइन नामक एक व्यक्ति के साथ मिलकर प्रकाशन व्यवसाय में भी भाग लिया। कुछ वर्षों के बाद इस व्यवसाय में हानि हुई जिसकी पूर्ति के लिये सन् १८२६ के उपरांत लेखक ने अथक और अनवरत परिश्रम किया। फलत: उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। उनका देहांत सन् १८३२ में हुआ। स्काट का चरित्र उदात्त तथा उनका मन देशप्रेम, साहित्यप्रेम तथा आत्मसंमान की भावना से परिपूर्ण था।

अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ में स्काट ने कतिपय जर्मन कथाओं का अनुवाद अंग्रेजी में किया और तदुपरांत सन् १८०२ में बार्डर मिस्ट्रेलसी नामक संग्रह तीन भागों में प्रकाशित हुआ। प्रथम मौलिक काव्यरचना 'दि ले ऑव दि लास्ट मिस्ट्रेल' का प्रकाशन १८०५ में हुआ और इसके बाद क्रमश: 'मारमियन' १८०८, दि लेडी ऑव दि लेक' १८१० तथा 'राकबी' १८१३ प्रकाशित हुए। इन सभी रचनाओं मे शौर्यवर्णन तथा स्वच्छंदतावादी उपकरणों की प्रधानता है।

१८१३ के लगभग बायरन के वर्णनात्मक काव्य की लोकप्रियता बढ़ने लगी। अतएव स्काट ने काव्य का माध्यम छोड़कर गद्य में कथालेखन आरंभ किया। इनका प्रथम उपन्यास 'वेवरली' १८१४ ई० में निकला। इसके अनंतर अनेक निम्नलिखित उपन्यास प्रकाशित हुए — 'गैनरिंग' १८१५, 'दि एंटिक्वेरी' १८१६, 'दि ब्लैक ड्वार्फ' १८१६, 'दि ओल्ड मारटैलिटी' १८१६, राब राय १८१७, 'दि हार्ट ऑव मिडलोथियन' १८१८, 'दि ब्राइड ऑव लैमरमूर' १८१९, दि लीजेंड ऑव मांट्रोज १८१९, आइवन हो १८१९, दि मानेस्टरी १८२०, दि ऐबट १८२०, केनिलवर्थ १८२१, दि पाइरेट १८२१, दि फारच्यूंस ऑव निजेल १८२२, पेवरिल ऑव दि पीक १८२३, क्वेंटिन डरवर्ड १८२३, सेंट रानेंसवेल १८२३, रेड गांटलेट १८२४, टेल्स ऑव दि क्रूसेडर्स, दि बिट्रोथ्ड, दि टेलिसमैन १८२५, वुडस्टाक १८२६ क्रोनिकिल्स ऑव दि कैननगेट, सेंट वेलेंटाइंस डे, दि फेयरमेड ऑव पर्थ १८२८, काउंट राबर्ट ऑव पेरिस, कैसिल डैंजरस १८३२।

स्काट ने चार पाँच नाटकों की भी रचना की जिनकी कथावस्तु का संबंध स्काटलैंड के इतिहास एवं जनश्रुति से है। इन नाटकों में लेखक को विशेष सफलता नहीं मिली। इसके अतिरिक्त स्काट ने अनेक साहित्यिक, ऐतिहासिक तथा पुरातत्वविषयक ग्रंथों का सृजन अथवा संपादन किया। इस प्रकार के ग्रंथों में प्रमुख हैं — (१) ड्राइडेन का जीवनचरित् तथा उनकी रचनाओं का नवीन संस्करण १८०८, (२) स्विफ्ट का जीवनचरित् तथा उनकी कृतियों का नवीन संस्करण १८१७, (३) बोर्डर ऐंटिक्विटीज़ ऑव इंग्लैंड ऐंड स्काटलैंड (१८१४-१७), (४) प्राविंशियल ऐंटिक्विटीज ऑव स्काटलैंड (१८१९-१८२६) आदि।

यद्यपि सर वाल्टर स्काट विशेषतया अपने उपन्यासों के लिये ही प्रसिद्ध हैं तथापि उनकी काव्यरचनाओं में रोचकता एवं वैशिष्ट्य

का प्रभाव नहीं है। अपने शौर्यवर्णन, देश-प्रेम-प्रकाशन एवं ओज के कारण ये रचनाएँ आज भी पठनीय एवं आनंददायिनी बनी हुई हैं। लेखक के उपन्यासों का विशेष महत्व है। इनमें इंग्लैंड और स्काटलैंड के इतिहास से सामग्री लेकर जीवन के विराट् चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। कतिपय उपन्यासों में मध्ययुगीन जीवन की झलक देखने को मिलती है। सभी कथाओं में कल्पना तथा यथार्थ तथ्यों का सुंदर मिश्रण हुआ है। घटनाएँ और पात्र जीवन के सभी स्तरों से लिए गए हैं। अतः स्काट के उपन्यासों में सार्वभौम आकर्षण मिलता है। अंग्रेजी में स्काट ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रथम सफल लेखक थे। यद्यपि वस्तुविन्यास और शैली कहीं कहीं त्रुटिपूर्ण हैं तथापि भावुकता, कवित्व, कल्पना एवं यथार्थ की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति के कारण इन उपन्यास में अनुपम रोचकता उत्पन्न हो गई है। स्काट के उपन्यासों का प्रभाव न केवल इंग्लैंड वरन् यूरोप के अन्य देशों के साहित्य पर भी पड़ा। [रा० प्र० हि०]

स्कॉटलैंड ग्रेट ब्रिटेन का उत्तरी भाग है। यह पहाड़ी देश है जिसका क्षेत्रफल ७८,८५० वर्ग किमी और जनसंख्या ५१,२१३०० (१९५१ ई०) है। ८० प्रतिशत मनुष्य इस देश के नगरों में तथा शेष २० प्रतिशत लोग गावों में निवास करते हैं।

भौगोलिक दृष्टि से स्कॉटलैंड को तीन प्राकृतिक भागों में विभाजित कर सकते हैं — १. उत्तरी पहाड़ी भाग, २. दक्षिणी पठारी भाग तथा ३ मध्य की घाटी।

१. उत्तरी पहाड़ी भाग — क्रिस्टली चट्टानों से निर्मित यह पहाड़ी भाग दो बड़े निचले भागों द्वारा, ग्लीनमोर तथा मिच की घाटियो द्वारा तीन भागों में विभाजित हो जाता है। ग्लीनमोर का पतला निचला भाग प्राचीन चट्टानी भागों के विभंजन (Fracture) से निर्मित हुआ है, इसमे अब भी भूचाल आते हैं। यह उत्तरी पश्चिमी पहाड़ी भाग को मध्य के पहाड़ी भागों से अलग करता है। मिच असान घाटी है जो २४ किमी की लबाई तथा ४८ किमी की चौड़ाई मे, पतले 'चैनेल' के रूप में, स्कॉटलैंड के स्थलखंड को हेब्राइड द्वीपसमूह से अलग करती है। पहाड़ी भाग की औसत ऊँचाई करीब ६१५ मी है यद्यपि कुछ चोटियाँ १२२० मी से ऊपर उठती हैं।

पहाड़ी भाग के पश्चिमी किनारे पर द्वीपों तथा प्रायद्वीपों की एक पतली कतार मिलती है। दक्षिण की ओर बूटे, अरान, मुल ऑव केंटियर, जुरा और इसले; फिर द्वीपों की एक पंक्ति, स्लीट, इग, कोल, टिरी और स्केरी वोर राक, मिलती है। समुद्रतट के निकट इनर हेब्राइड्स तथा मिच के उस पार आउटर हेब्राइड्स के द्वीप मिलते हैं। अंत में पेंटलैंड की खाड़ी के उस पार आर्कनी तथा शेटलैंड के द्वीप मिलते हैं। उत्तरी हेब्राइड द्वीपसमूह आपस में इतने अधिक संबद्ध हैं कि उसे 'लांग आइलैंड' की संज्ञा दी जाती है।

इस क्षेत्र में स्थल तथा समुद्र एक दूसरे से इतने संलग्न तथा मिश्रित देख पड़ते हैं कि 'ग्रीकी' के शब्दों में इस स्थल पर चट्टान, पानी तथा 'पीट' ही देखने को मिलते हैं। आर्कनी द्वीपसमूह में २८ बसे हुए तथा २९ 'बेचिरागी' द्वीप संमिलित हैं।

परंतु पूर्वी भाग में न तो इतनी झीलें मिलती हैं और न ऐसी चट्टानी भूमि, बल्कि समुद्रतट पर कुछ चौड़े मैदान भी मिलते हैं। द्वीप भी नहीं मिलते। नदियाँ ज्वारमुहानें बनाती हैं।

आर्थिक रूपरेखा — इस पर्वतीय भाग में, ऊबड़ खाबड़ धरातल, मिट्टी के छिछले अभाव तथा समुद्र के धरातल से अधिक ऊँचाई के कारण खेती की सुविधा नहीं है। कृषि योग्य भूमि केवल नदियों की घाटी तथा समुद्रतट तक ही सीमित है। २७५ मी की ऊँचाई कृषिक्षेत्रों की ऊपरी सीमा निर्धारित करती है। अधिकतर भाग की भूमि बेकार है। मिट्टी अधिकतर रेतीली, कंकरीली, पथरीली तथा छिद्रयुक्त होने के कारण कम उपजाऊ होती है। परंतु पूर्वी भाग में गर्मी की ऋतु में ताप पश्चिम की अपेक्षा अधिक होता है और उत्तर में रास तथा पश्चिम में क्लाइड की खाड़ी तक गेहूँ की खेती होती है। अबरडीनशिर में ४८८ मी की ऊँचाई तक जई की खेती होती है।

जई स्काटलैंड का मुख्य खाद्यान्न है। कृषिक्षेत्र के २० प्रतिशत भाग में जई की, ४–५ प्रतिशत भाग में आलु की तथा ४ प्रतिशत में जौ की खेती होती है।

यहाँ का मुख्य व्यवसाय पशुपालन है। पहाड़ी भाग में भेड़ पालने का व्यवसाय बहुत पुराना है। कुछ भागों में अधिक भेड़ें पाली जाती हैं और कुछ भाग में अधिक गाएँ पाली जाती हैं कुछ वर्ष पूर्व से पहाड़ी नदियों से विद्युत् शक्ति पैदा करने का प्रयास किया जा रहा है। घासवाले क्षेत्रों में शिकार करने की भी प्रथा प्रचलित है। यहाँ का क्षेत्रफल स्कॉटलैंड के क्षेत्रफल का $\frac{६}{१०}$ वाँ भाग है, पर जनसंख्या $\frac{१}{२०}$ ही है। क्षेत्र का सबसे बड़ा नगर अबरडीन है।

स्काटलैंड का यह भाग सदैव अन्य भागों से पृथक् रहा है। १८ वीं शताब्दी तक 'हाईलैंडर' लोगों ने अपनी पोशाक, रीति रिवाज और लड़ाई झगड़े की प्रवृत्ति कायम रखी थी। वे लोग गैलिक भाषा बोलते थे। भेड़ पालने के तौर तरीकों में पीछे सुधार हुआ और रेलों तथा सड़कों के बनने से उनमें नया जीवन आया।

पूर्वी समुद्रतटीय मैदान में, जो मोरे की खाड़ी के निकट पड़ते हैं, और ही दृश्य देखने को मिलता है। कृषि तथा मछली पकड़ना यहाँ का मुख्य उद्यम है। इस उपजाऊ भाग में इस विभाग के $\frac{१}{२}$० लोग निवास करते हैं। वलाटर, गैनटाउन, डारनोच और इवरनेस मुख्य व्यापारी नगर हैं। मत्स्य व्यवसाय के कारण समुद्रतट पर छोटे छोटे मत्स्यनगर (fishing towns) बस गए हैं।

२. मध्य की घाटी — उत्तर के प्राचीन पहाड़ी भाग तथा दक्षिण के पठारी भाग के बीच दक्षिण पश्चिम से उत्तर पूर्व की दिशा में फैला हुआ एक ऊँचा नीचा मैदान है। बीच बीच में नदियों के बड़े बड़े ज्वारमुहानों के घुस जाने के फलस्वरूप मैदान सँकरा हो गया है और उसका क्षेत्रफल पूरे स्कॉटलैंड के क्षेत्रफल का केवल

एक चौथाई है। यह भूमिखंड, जो मध्य की घाटी के नाम से प्रसिद्ध है, यहाँ की अधिक उपजाऊ भूमि समुद्र से संबद्ध होने, आवागमन के साधनों की सुगमता तथा खनिज पदार्थों की उपलब्धि के कारण शताब्दियों से स्काटलैंड के आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन का मुख्य केंद्र रहा है। यहाँ पर स्कॉटलैंड के दो तिहाई लोग निवास करते हैं। ग्रेट ब्रिटेन का दूसरा बड़ा नगर ग्लासगो, जिसकी जनसंख्या १० लाख से अधिक है, इसी भाग में स्थित है।

मध्य की घाटी धँसान की घाटी है जिसके उत्तर तथा दक्षिण की ओर भ्रंश (jault) की पंक्तियाँ मिलती हैं। निचले भाग में डिवोनी तथा कार्बोनीफेरस युग की चट्टानें लाल बालू पत्थर, शेल, कोयला, मृत्तिका, और चूनापत्थर आदि मिलते हैं। इन चट्टानों से निर्मित पहाड़ियों की दो पंक्तियाँ फैली मिलती हैं। घाटी का पूर्वी भाग अपनी उपजाऊ भूमि के लिये प्रसिद्ध है, यहाँ गेहूँ, जई, जौ, आलू, क्लवर, लूसर्न, और सलगम की अच्छी उपज होती है। भेड़ तथा गोपालन आर्थिक दृष्टि से अच्छा उद्यम माना जाता है। बगीचों में फल उगाए जाते हैं।

कुछ नगर उपजाऊ मैदान में स्थित हैं और वहाँ कृषि मंडियाँ (Agricultural towns) हैं। कुछ नगर, जैसे स्टिरलिंग और पर्थ, अपनी भौगोलिक स्थितियों के कारण बड़े नगर हो गए हैं। फोर्थ नदी के ज्वारमुहाने पर खदानें मिलती हैं। इसके दक्षिणी तट पर लोथियन की कोयले की खदानें विस्तृत हैं जिसकी ४६ तहों की कुल मोटाई ४०मी है। फिफीशिर तथा क्लाकमन कोयले की अन्य खदानें हैं। इसके फलस्वरूप यहाँ लोहे के कई कारखानें हैं। यहाँ लिनलिथगो तथा मिडलोथियन में खनिज तेल की प्रमुख खानें हैं।

टे के ज्वार मुहाने पर जूट, मोटे कपड़े तथा लिनेन (Linen) तैयार करने के उद्योग बहुत पहले से केंद्रित हैं। इन उद्योगों से संबंधित नगर समुद्रतट पर डंडी से फोर्थ तक बिखरे हुए हैं। कपड़े की सफाई तथा रंगाई पर्थ में होती है परंतु जूट तथा लिनेन का मुख्य केंद्र डंडी है। प्रारंभ में यह मत्स्यकेंद्र था जहाँ ह्वेल पकड़ने का विशेष कार्य होता था। जहाजनिर्माण का भी कार्य यहाँ होता था, परंतु अब यह मुख्यतया लिनेन, सन (हेंप) तथा जूट का ही काम करता है। यहाँ के कारखाने बोरे, टाट तथा जूट के कपड़े तथा चद्दरें (sheets) तैयार करते हैं। सन् १८८० तक डंडी के मुकाबिले में जूट के कारखाने स्थापित हो जाने से इसका एकाधिकार समाप्त हो गया। आसपास में फल उत्पन्न होने के कारण यहाँ जैम उद्योग स्थापित हो गया है। अतः बाहर से आयात होनेवाली वस्तुओं में चीनी की मात्रा अधिक रहती है। उद्योग धंधों के विकास के साथ जनसंख्या का विकास भी हुआ है।

स्काटलैंड की राजधानी एडिनबर्ग फोर्थ की खाड़ी पर उस ऐतिहासिक मार्ग पर स्थित है जो फर्थ, स्टर्लिंग, डनफर्मलिन को संबद्ध करता है। नगर ज्वालामुखी पहाड़ियों पर स्थित है। प्रारंभ में नगर कैसिल राक तथा काल्टन हिल पर बसा था, धीरे धीरे पूर्व में आर्थर्स सीट, पश्चिम में कास्टरफिन हिल और दक्षिण मे ब्लैकफोर्ड हिल तक नगर का विकास हो गया। 'राक' के पश्चिमी भाग में प्राचीन दुर्ग तथा पूर्वी भाग में होली रुड अबे तथा राजमहल स्थित हैं। अबे तथा दुर्ग को हाईस्ट्रीट तथा कैनन गेट मार्गों द्वारा संबद्ध किया गया है। नगर के इस भाग में मकान बहुत करीब करीब हैं तथा इमारतें कई तल्ले ऊँची उठती हैं। १८ वीं शताब्दी में ग्रेट ब्रिटेन की आर्थिक उन्नति के साथ नगर के उत्तर की ओर एक नए नगर की स्थापना हुई जो प्राचीन भाग से एक लंबे खड द्वारा अलग होता है। इस नए नगर में सड़कें चौड़ी, सीधी तथा इमारतें खुली हुई हैं। प्रिंसेज स्ट्रीट यहाँ का मुख्य जनपथ है जो खड्ड के समांतर जाती है। खड्ड में उसकी तलहटी तक सुंदर फूलों के बाग लगे हुए हैं। लीथ इस नगर का मुख्य बंदरगाह है।

मध्य की घाटी में पश्चिमी तट पर ससार का एक प्रसिद्ध औद्योगिक केंद्र ग्लासगो स्थित है। यह अपेक्षाकृत नवविकसित नगर है (देखें ग्लासगो)।

जहाज-निर्माण-उद्योग, जो क्लाइड के तट पर स्थापित हैं, सस्ते कोयले तथा लोहे की उपलब्धि के कारण केंद्रित तथा विकसित हो गए हैं। ग्लासगो से ग्रीनाक तक जलयानप्रांगण की दो कतारें पैट्रिक, क्लाइड बैंक, डलमर, किल पैट्रिक, बाउलिंग और डनबर्टन आदि स्थलों पर मिलती हैं। जलयानप्रांगणों ने पोतनिर्माण संबंधी विशेष प्रकार के कार्य में विशेषता भी प्राप्त कर ली है— कहीं माल ढोनेवाली नावें तैयार होती हैं, कहीं, लाइनर्स, कहीं युद्धक जहाज, कहीं बड़े बड़े जहाज, कहीं जहाज संबंधी मशीनें आदि तैयार होती हैं। संसार के दो प्रसिद्ध जहाजों 'क्वीन मैरी' तथा 'क्वीन एलिजाबेथ' का निर्माण यहीं हुआ। सन् १८७१ ई० तक ग्रेट ब्रिटेन के ५० प्रति शत जहाज (भार के रूप में) यहीं निर्मित होते थे। उसके पश्चात् इसमें ह्रास हुआ और १९१३ ई० में यह संख्या २८ प्रतिशत तक पहुँच गई।

कपड़े बुनने का काम लनार्कशिर, आयरशिर और रेनफ्रीशिर में अधिक विकसित हुआ है। पेसले कपड़ा की सिलाई के लिये संसार का सबसे बड़ा केंद्र है। किलमरनाक में पर्दे तथा फीते बनाने का कार्य होता है। डनबर्टन में रँगाई का काम होता है। लनार्कशिर मे रेशमी कपड़े तैयार होते हैं।

इन सब उद्योगो के विकास के फलस्वरूप नगर का विस्तार नदी के दोनों किनारो पर बड़ी दूर तक चला गया है जिससे इसकी जन-संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई।

इस विशाल नगर का प्रभाव आसपास के क्षेत्रों पर भी अधिक पड़ा है। इसके फलस्वरूप इसपर आश्रित अनेक औद्योगिक नगर स्थापित हो गए हैं। ग्लासगो का प्रभाव फोर्थ तक विस्तृत है जहाँ ग्रग माउथ एक नदी पर स्थित एक बंदरगाह है। क्लाइड नदी के निचले भाग में स्थित नगरों में जहाज बनाने का काम बहुत पहले से होता आया है।

३. दक्षिणी पठारी भाग — स्काटलैंड के तीसरे भाग के अंतर्गत एक पठारी भाग की पेटी पड़ती है जो मध्य की घाटी तथा साल्वे की खाड़ी के बीच विस्तृत है। यह भाग उत्तर पूर्व से दक्षिण पश्चिम की दिशा में फैला हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस भाग में

इंगलैंड तथा स्काटलैंड की राजनीतिक सीमा उत्तर से दक्षिण की ओर खिसकती रही है।

पठारी भाग की आधारशिला सिलूरियनयुग की शेल (Shale) है जिसमें अधिक मोड़ होने के फलस्वरूप एक चौड़े पठार का निर्माण हुआ है। इसका वर्तमान धरातल छोटे छोटे पेड़ों, झाड़ियों तथा घास के मैदानों से ढका हुआ है। पठारी भाग का कुछ स्थल ६०० मी से अधिक ऊँचा है। बीच बीच में चौड़ी घाटियाँ मिलती हैं। पश्चिम की ओर एन्नम, निथ, डी और क्री नदियाँ उत्तर पश्चिम से दक्षिण पूर्व को पठार के ढाल के अनुसार बहती हैं और साल्वे की खाड़ी में गिरती हैं। पूर्व की ओर ट्वीड की बड़ी घाटी द्वारा इस पठारी भाग के दो भाग हो जाते हैं — लमरम्यूर और चेवियट की पहाड़ियाँ। लमरम्यूर का धरातल अधिक समतल है जहाँ के घास के मैदानों में भेड़ पालने का कार्य होता है। ट्वीड के दक्षिण चेवियट की पहाड़ी दक्षिण पश्चिम से उत्तर पूर्व की दिशा में फैली हुई है। यह भाग प्राचीन शिस्ट (schist), लाल पत्थर, ग्रैनाइट और लावा आदि चट्टानों से निर्मित है। कुछ भाग घासों तथा झाड़ियों तथा पीट (Peat) से ढँका हुआ है परंतु पश्चिमी उत्तरी भाग में अधिक जंगल तथा हरियाली मिलती है। ट्वीड की घाटी की भूमि अधिक उपजाऊ है जहाँ पर इस भाग का अधिकांश जनसमूह निवास करता है।

दक्षिणी पठार का पश्चिमी भाग क्लाइड तथा सोलवे की खाड़ी के बीच प्रायद्वीप के रूप में है। यहाँ वर्षा की अधिकता और धूप की कमी के कारण खेती करने का कम अवसर है। अत: पशुपालन मुख्य धंधा है। मांस तथा दूध का उत्पादन अधिक होता है। १८० मी की ऊँचाई के ऊपर अधिकतर घास के मैदान ही मिलते हैं जहाँ भेड़ अधिक संख्या में चराई जाती हैं।

पठार का पूर्वी भाग जो उत्तर सागर के तट पर पड़ता है, नीचा उपजाऊ भाग है। यहाँ धूप अपेक्षाकृत अधिक होती है। यहाँ कृषियोग्य भूमि तथा चरागाह मिलते हैं, जहाँ गेहूँ, जई, जौ, आलू इत्यादि फसलें उगाई जाती हैं। ऊँचे भागों में भेंड़ पालना मुख्य पेशा है। चेवियट की भेंड़ें अपने ऊन के लिये जगत्‌प्रसिद्ध हैं।

इस उन्नत तथा धनी प्रदेश के लिये इंग्लैंड तथा स्कॉटलैंड में अक्सर युद्ध होता रहा है। अत: सभी मुख्य नगर कभी न कभी युद्धस्थल रह चुके हैं जहाँ पुराने किले के भग्नावशेष अब भी मिलते हैं। इसी भाग से होकर इंग्लैंड तथा स्कॉटलैंड के बीच के प्रमुख स्थलमार्ग, रेल तथा सड़कें जाते हैं। [उ० सि०]

स्कैंडिनेविया स्थिति : लगभग ५५° से ७१° उ० अ० और ५° से ३१° पू० दे० के मध्य एक प्राचीन पठार है जिसमें नार्वे तथा स्वीडेन संमिलित हैं। इसकी ढाल सामान्यत: पूर्व की ओर है। इसका क्षेत्रफल लगभग ४६२६२५ वर्ग किमी है। यहाँ की जलवायु पश्चिम से पूर्व क्रमश: पश्चिमी यूरोप तुल्य एवं ठंढी महाद्वीपीय है। यहाँ शंकुधारी वनों की प्रचुरता है। झीलों तथा पूर्वोन्मुखी प्रपाती नदियों की अधिकता है।

दुग्धशालाओं के अतिरिक्त गेहूँ, जौ, राई, आलू, और चुकंदर आदि यहाँ की कृषि की उपजें हैं। जलप्रपातों की सस्ती बिजली के अतिरिक्त स्थान स्थान पर लोहा, ताँबा, चाँदी, गंधक, सीसा, जस्ता और सोना आदि मिलते हैं। जनसंख्या अधिकांशत: दक्षिणी भाग में है। लोगों का प्रमुख व्यवसाय कृषि, दूध, मछली, जंगली, स्थानीय खनिज एवं शिल्प संबधी है। प्रायद्वीप में जरूरत से अधिक उत्पन्न वस्तुओं का निर्यात तथा आवश्यक वस्तुओं का आयात होता है। ओसलो, स्टाक्होम, बरजन, नारविक और गोटेबर्ग प्रमुख नगर हैं।

[रा० स० ख०]

स्कैंडिनेवियन भाषाएँ और साहित्य अगर भारतीय भाषाओं के बारे में यह कहा जाता है कि वह भारोपीय भाषापरिवार के दक्षिणपूर्वी भाग से उत्पन्न हुई हैं तो नॉर्डिक या स्कैंडिनेवियन भाषाओं के लिये यह कहना उचित होगा कि वह उसके विपरीत भाग अर्थात् उत्तरपश्चिम से आई हैं। नॉर्डिक भाषाएँ जर्मन भाषा-समुदाय से संबंधित हैं और तदनुसार जर्मन उमलाउट इन भाषाओं में भी पाए जाते हैं। प्रथम शताब्दी में नॉर्डिक भाषाओं ने पृथक् होकर अपना नया समुदाय बनाया। पुराने २४ अक्षरों की वर्णमाला में लिखे हुए शिलालेख, फिनलैंड और लैपलैंड की भाषाओं में उधार लिए गए हुए और अनेक शताब्दियों तक बिना परिवर्तन के रक्षित शब्द, सीजर और टॅकिटस जैसे प्राचीन प्रसिद्ध लेखकों द्वारा दिए हुए निर्देश आदि, इन सबसे यह समझा जाता है कि उस वक्त संपूर्ण नॉर्डिक क्षेत्र में, अर्थात् डेन्मार्क और स्कैंडिनेविया के प्रायद्वीप में एक ही भाषा बोली जाती थी। यह भाषा तब पुरानी जर्मन भाषा के समान थी लेकिन छठी शताब्दी के बाद उसमें बहुत परिवर्तन हुआ और वह अंशत: पश्चिमी जर्मन तथा कुछ अंश तक पूर्वी जर्मन — जिसमें चौथी शताब्दी में लिखे हुए साहित्य की भाषा गोथिक सबसे प्रधान है—भाषासमुदाय से अलग हुई। वाइकिंग लोगों के समय में (८००-१००० ई०) नॉर्डिक भाषा के दो प्रधान विभाग किए गए — पश्चिमी नार्डिक (प्राचीन नॉर्वेजियन और प्राचीन आइसलैंडिक) तथा पूर्वी नॉर्डिक (प्राचीन स्वीडिश और प्राचीन डॅनिश)। बारहवीं शताब्दी में लिखे हुए साहित्य के अंश (लैटिन अक्षरों में लिखे हुए धर्मपत्र) आज प्राप्त हैं। किंतु पूर्वी नॉर्डिक साहित्य के अवशेष सौ साल बाद के हैं।

प्राचीन आइसलैंडिक भाषा वह पश्चिमी नॉर्डिक भाषा है जिसे ८७०-९३० ई० के मध्य आइसलैंड के पहले बसनेवाले अपने साथ वहाँ ले गए। यह भाषा बहुत मामूली परिवर्तन के बाद आज भी आइसलैंड के प्रजातंत्र राज्य के १,८०,००० लोगों की राष्ट्रीय भाषा बनी हुई है। इसके बाद पश्चिमी नॉर्वेजियन प्रांतीय भाषा और फारो द्वीप की (जनसंख्या प्राय: ३०,०००) भाषा का स्थान है। पश्चिमी नॉर्डिक भाषा पहले से शेटलैंड द्वीप, ओर्कनी द्वीप, आइल ऑव मैन और आयर्लैंड के कुछ भागों में बोली जाती थी। इसी प्रकार से प्राचीन डेनिश इंग्लैंड के डानलेगन भाग में और नॉरमंडी में तथा प्राचीन स्वीडिश रूस के वाइकिंग लोगों में बोली जाती थी। वाइकिंग लोगों की और मध्ययुग की भाषा आज हमको हजारों प्राप्त शिलालेखों के ७६ अक्षरों की वर्णलिपि में देखने को मिलती है। प्राप्त शिलालेख साधारणतया मृत संबंधियों के स्मारकचिह्न हैं और इस कारण वे कुछ अंश में एक ही ढंग के हैं। लेकिन इसे

शिलालेख में पुराने काव्य ही सुरक्षित हैं। आधुनिक नॉर्डिक भाषाएं बाद में मध्ययुग की प्राचीन भाषाओं से विस्तृत की गईं। आज नॉर्डिक भाषासमुदाय में उपर्युक्त आइसलैंडिक और फारो द्वीप की भाषाओं के अतिरिक्त डेनिश, स्वीडिश और नॉर्वेजियन भाषाओं का समावेश मिलता है। नॉर्वेजियन भाषा के १९११ ई० से दो विभाग अधिकारपूर्वक किए गए। वे हैं लिखने की भाषा (जिसको प्रमाणभाषा भी कहा जाता है), प्रांतिक और नई नॉर्वेजियन (अर्थात् प्रांतिक भाषा)।

डेनिश भाषा — मध्ययुग में १८१४ (?) तक नार्वे डेन्मार्क से संयुक्त था और डेनिश शीघ्र ही साहित्य की प्रधान भाषा बन गई। रूपांतरित डेनिश सुशिक्षित लोगों की, विशेषकर नॉर्वे के पूर्वी और दक्षिणी भाग के शहरों में बोलचाल की भाषा बन गई। उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय आंदोलन की लहर में, विशेषकर पश्चिमी प्रांतीय भाषाओं पर आधारित शुद्ध नॉर्वेजियन भाषा बनाने की कल्पना को प्रेरणा मिली। इसमें सबसे प्रधान है 'इवार आसेन' का १८४८ का लिखा हुआ शब्दशास्त्र और १८५० में लिखा हुआ शब्दकोश। आज ३५ लाख से अधिक लोग नॉर्वेजियन भाषा बोलते हैं। डेनिश भाषा पहले रुने डेनिश, फिर प्राचीन डेनिश और बाद में नई डेनिश बन गई। मध्ययुग और उसके बाद के समय में डेनिश भाषा में कुछ विशिष्टताएँ उत्पन्न हो गईं जिससे डेनिश भाषा सनातनी स्वीडिश भाषा से अलग हो गई। जिलांड की भाषा, प्रधान द्वीप की भाषा (जिसपर लिखने की भाषा प्रमुख रूप से आधारित है) और पूर्वी डेनिश (बोर्नहोल्म और स्कोने विभाग की) इन प्रांतीय भाषाओं से मिलकर डेनिश भाषा बनी हुई है। १५५० ई० में तीसरे क्रिस्तियान की लिखी हुई बाइबिल से डेनिश भाषा के व्यवहार को डेन्मार्क और नॉर्वे में बहुत महत्व प्राप्त हुआ। आज जर्मन भाषा के संबंध में सीमारेखा फ्लेन्सबुर्ग के समुद्र की चट्टानों से घिरे हुए मार्ग से (फिओर्ड) विडोस के उत्तर महासागर के निकास तक मानना उचित होगा। अब डेनिश भाषा ४७ लाख लोगों में बोली जाती है।

स्वीडिश भाषा — स्वीडिश भाषा १२२५ ई० तक रुने स्वीडिश, १५२६ ई० तक — जब बाइबिल का नया टेस्टामेंट प्रकाशित हुआ — प्राचीन स्वीडिश और उसके बाद नई स्वीडिश में मौजूद है। प्राचीन समय से स्वीडिश भाषा आज के स्वीडन के बाहर भी बोली जाती है, जैसे ओलांड और फिनलैंड के किनारे पर। आज स्वीडिश लगभग ७० लाख लोग बोलते हैं। इसमें से ३,००,००० लोग फिनलैंड में हैं। १८५० ई० के बाद प्रथम महायुद्ध तक स्कैंडिनेविया से उत्तर अमरीका को जो विशाल परदेशगमन हुआ, उसकी वजह से आज तक वहाँ कम से कम १० लाख लोग अंग्रेजी के साथ नॉर्डिक भाषाएँ ही बोलते हैं।

आइसलैंड का साहित्य — प्राचीन आइसलैंडिक साहित्य अंशतः काव्यमय (भाटों का काव्य और एड्डा महाकाव्य) तथा अंशतः गद्यरूप (लोगों और उनके रिश्तेदारों के वृत्तांत, कहानियाँ, पौराणिक कथाएँ) है। सामान्य छंद में लिखे हुए अनुप्रासयुक्त काव्य से ८०० से १२०० ई० की अवधि में प्राचीन एड्डा महाकाव्य निर्मित हुआ है। तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ की इसकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त है। एड्डा महाकाव्य का विषय अंशतः प्राचीन नॉर्डिक देवताओं और अंशतः महावीरों से संबंधित है। महावीरों से संबंधित काल में जर्मन आक्रमणकाल के साहित्य के अंश बचे हैं। 'हावामाल' में पुराने पांडित्य की रक्षा की गई है। आइसलैंड में प्रायः १००० ई० के थोड़े पहले लिखा हुआ 'वोलुस्पा' तेजस्वी महाकाव्य है। इसमें पृथ्वी के प्रारंभ और उसके नाश का विषय वर्णित है। प्राचीन एड्डा महाकाव्य का कुछ अंश नॉर्वे में लिखा गया और कुछ ग्रीनलैंड से प्राप्त है। भाट लोग विशेषतः राजदरबार से संबंधित थे और उनका काव्य महाराजाओं के रणसंग्राम के विषय में है। एगिल स्कालाग्रिमसन नॉर्डिक साहित्य का प्रथम मुख्य कवि (सोनातोरेक काव्य की वजह से) समझा जाता है। भाटों का काव्य अनेक काव्यमय वर्णनों से युक्त होने से बहुत ही सुंदर लगता है। यह बहुधा प्राचीन देवताओं की कथाओं की ओर संकेत करता है। तेरहवीं शताब्दी में आइसलैंड के क्रिस्तानी लोगों को यह काव्य समझने के लिये पौराणिक पाठ्यपुस्तकों की आवश्यकता पड़ी। इस तरह की एक रचना है 'स्नोरे स्तुर्लुसन' (११७८–१२४१) का लिखा महाकाव्य जिसमें शक्तिमान् देवता 'तोर' द्वारा राक्षसों के देश की यात्राओं और धूर्त 'लोके' तथा खूबसूरत 'फ्रेया' का वर्णन उत्साहपूर्ण शैली में है। स्नोरे प्राचीन आइसलैंड के गद्य साहित्य का प्रमुख लेखक समझा जाता है। उसने नवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के महाराजाओं की कथाएँ लिखी हैं। दूसरे लोगों और रिश्तेदारों के बारे में लिखी हुई कथाओं में एग्रसविज्या, लाक्सडोएला और न्याल की कथा, इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इन कथाओं में लिखी हुई घटनाएँ १००० ई० के आसपास की हैं किंतु उनको लिखित रूप सौ साल के बाद मिला। इनके ऐतिहासिक मूल्य पर अभी तक वादविवाद चल रहा है। चौदहवीं शताब्दी से आइसलैंड के साहित्य का अंत होने लगा। ब्यार्नी थोरारिनसन और यनास हालाग्रिमसन जैसे महान् लेखक उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए। आज आइसलैंड के प्रमुख साहित्यकार हैं हालडोर हाक्सनेस (जन्म १९०२, नोबेल पुरस्कार १९५५)।

नॉर्वेजियन साहित्य — मध्ययुग का नार्वेजियन साहित्य 'कोंगस्पेयलेत' नामक राजकुमारों के लिये लिखी हुई पाठ्यपुस्तक और 'द्राउमक्वेदेत' नामक क्रिस्तानी धर्मकाव्य इत्यादि से बना है। इसके बाद की शताब्दी में नॉर्वे के साहित्य का भार प्रमुख रूप से डेन्मार्क और नॉर्वे में उत्पन्न हुए लेखकों पर था,— जैसे 'लुडविग होलबेरिय' (१६८४-१७५४) और 'जे० एच० वेसेल' (१५४२ ८५) जो जीवन भर डेन्मार्क में कार्य करते रहे। फ्रेंच उच्च कोटि के साहित्य (मोलिएर) और वृत्तांत (वोल्टेर) का सबसे प्रसिद्ध प्रतिनिधि है लुडविग होलबेरिय, जो अपने 'देन डान्सके स्कुएप्लाड्स' के लिये लिखे आज तक खेले जानेवाले सुखांत नाटकों (येपो पो बेर्येत, देन पोलितिस्के कांदेस्तोबर इत्यादि) के लिये विशेष रूप से प्रख्यात है। नॉर्वे के डेन्मार्क से स्वतंत्र होने के बाद वहाँ प्रथम 'वेलहावेन' और वेर्गेलांड जैसे काव्यों से राष्ट्रीय साहित्य का प्रारंभ हुआ। शताब्दी के मध्य तक 'आस ब्योर्नसेन' और 'मो' ने शुद्ध लोककथासंग्रह 'नोर्स्के फोल्के राबेंतुर' प्रस्तुत किया। उन्नी-

सवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों को नार्वे के साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता है, जिसमें 'ए० कीलान्ड' और 'जे० ली' जैसे गद्य लेखक और प्रमुख रूप से 'एच० इब्सेन' (१८२८-१९०६) और 'बी० ब्योर्नसन' (१८३२-१९१०, नोबेल पुरस्कार १९०३) जो लोककहानियों (फोरनेलिंगर) के भी प्रसिद्ध लेखक हैं — जैसे नाटककार और कवि हुए। इब्सेन के नाटक, विशेषकर उसके ललित, मनोवैज्ञानिक नाटक, समाज की आलोचना करनेवाले समकालीन नाटकों (विल्दांडेन, हेड्डा गेब्लर, एन फोल्कफिरांडे) तथा अन्य यूरोपीय नाटकों के लिये यथेष्ट प्रभावकारी थे। 'नूट हामसुन' (नोबेल पुरस्कार १९२०) के ग्रंथ मौलिक जीवनपूजा और कलापूर्ण चैतन्य से भरे हुए हैं। मध्ययुग में लिखा गया 'सिग्रीद उंदसेन' का (नोबेल पुरस्कार १९२८) 'क्रिस्तीन लावरांस दात्तर' ललित तथा मानसशास्त्रीय अनुभवों से भरा ग्रंथ है जिसमें स्त्री जाति का वर्णन है। ओलाव दून आरनुल्फ ओवर लांद, एस० होएल, नोरदाल, ग्रीग इत्यादि नार्वे के उत्तरकाल के कवि हैं।

डेनमार्क का साहित्य — मध्ययुगीन डेन्मार्क के सबसे प्रधान साहित्य ग्रंथ हैं डेन्मार्क के वीररसकाव्य, जो स्वीडन और नार्वे में भी प्रस्तुत हुए और जिनको पाँच सौ साल बाद अद्भुत साहित्यविचार के उदय के समय बहुत महत्व प्राप्त हुआ। अद्भुत काव्य के प्रतिनिधि हैं 'ए० उहलेनश्लेनगर' (अल्लादिन,' 'हाकोन 'मार्ल)', 'ग्रुडात्विग', और 'जे० एल० हैबर्ग'। एस० किर्कगार्ड (एतेन एलर), जिसको यूरोप में बड़ी लोकप्रियता मिली, सत्य का दृढ़ लेखक था। बच्चों के लिये लिखी गई किंतु गंभीर और जीवन के मर्मभेदी परिज्ञान से युक्त एच० सी० ऐंडरसन की साहस कथाएँ (१८३५-१८७२) जगत्प्रसिद्ध हैं। आधुनिक समाज की समालोचना और प्राकृतिक नियमों के सिद्धांत का प्रारंभ साहित्य की आलोचना करनेवाले 'जॉर्ज ब्रांडेस' (हुवेद स्त्रमनिगार १८७३), अद्भुत कथालेखक 'जे० पी० याकोबसेन' (नील्स लिहने १८८०) और 'हरमान बांग' (हाबलोसे स्लेग्तर १८८३) आदि के साहित्य से हुआ। कवि एच० ड्राकमान, उपन्यास लेखक 'एच० पोंतोप्पिदान' (नोबेल पुरस्कार १९१७) 'जे० वी० येनसेन' (नोबेल पुरस्कार १९४४), एम० ऐंडरसननेक्सो (सुधारक समाज समालोचक पेले एरोबरेन १९१०) आदि अन्य साहित्यकार हैं। लघुकथा लेखक हैं 'कारेन ब्लिक्सेन', नाटककार 'काय मुंक' और लोककथाओं का यथार्थ वर्णन करनेवाले 'मार्टिन ए० हानसेन'।

स्वीडन का साहित्य — स्वीडन के मध्यकालीन साहित्य में प्राचीन धारा (एल्द्रे वेस्तयोता लागेन, तेरहवीं शताब्दी) इतिहास, वर्णन (एरिक्स क्रोनिकान, १४वीं शताब्दी के आरंभ से), काव्य, वीरकाव्य और धार्मिक साहित्य का समावेश होता है। साहित्य का प्रधान लेखक है 'पवित्र बिर्गित्ता' (१४वीं शताब्दी) जिसका लिखा 'उप्पेनबारेल्सेर' प्रमुख रूप से लैटिन भाषा में लपेटा हुआ है। गुस्ताव वासा की १५४१ में लिखी बाइबिल भाषा और साहित्य दोनों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। स्वीडिश साहित्य को प्राचीन नमूने पर लिखा कलापूर्ण काव्य 'जी० स्तिएर्नहिएल्म' ने (हक्युंलिस १६४८) प्रदान किया। 'ओ० वी० डालिन (आर्गस १७३२) और 'जे० एच० केलग्रेन' (मृत्यु १७९५) के साहित्य पुराने फ्रेंच साहित्य की झलक और वृत्तांत अभिव्यक्त हुआ। पक्षपातहीन कल्पनाप्रधान कवि थे 'सी० एम० बेलमान' (१७४०-१७९५) जिन्होंने 'फ्रेदमांस एपिस्तलार' में एक अमर विलासियों के समुदाय का चित्रण किया। नागरिक सत्य और तीक्ष्ण सामाजिक परिहासपूर्ण लेख लिखे हैं कवयित्री 'ए० एम० लेनग्रेन' ने। अद्भुत साहित्य में प्रमुख हैं कवि 'इ० टेगनेर' (फित्योफ्स सागा १८२५), 'इ० जी० गैयर', 'पी० डी० ए० आत्तरबुम' और 'ई० जे० स्तोग्नेलियुस'। 'सी० जे० एल० आल्मक्विस्त' के (तोर्नरोसेन्स बूक १८३२-५१) साहित्य में नागरिक सत्यकथा तक हुआ गमन प्रस्तुत है। ध्येयवाद और नूतन शास्त्रीय पांडित्य का वर्णन 'वी० रिदबेरिय' ने (१८२८-१८९५) किया है। प्राकृतिक नियमों के सिद्धांत का प्रमुख प्रतिनिधि है 'ए० स्ट्रिंदबेरिय' १८४९-१९१२ रदा रुमेन, हेमसोबुर्ना) जो नॉर्डिक साहित्य में सबसे बड़ा नाटककार (मेस्तर ओलोफ, एन द्रमस्पेल, तिल दमास्कस) है। १८९० के बाद कवि 'वी० व० ह्वाइडेनस्ताम' (कारोलीनर्ना, नोबेल पुरस्कार १९०९), 'इ० ए० कार्लफेल्ट' (नोबेल पुरस्कार १९३१)' और स्वीडिश साहित्य के सबसे बड़े कवियों में से एक 'जी फ्रोडिंग' — इन जैसे राष्ट्रीय साहित्यकारों का उदय हुआ। बाद के साहित्यिकों में विशेषकर 'ह्यालमार बेरियमान' 'बी० बोबेरिय' (१९२४ में 'क्रीसर ओक कान्सर' लिखकर स्वीडिश कविता को पुनर्जन्म प्रदान करनेवाले) 'पेर लागरक्विस्त' (नोबेल पुरस्कार १९५१), 'एच मार्टिनसोन' (अनियारा १९५६), 'ह्यालमार गुलबेरिय' इत्यादि का समावेश किया जाता है। स्वीडिश भाषा में लिखनेवाले फिनलैंड के साहित्यिकों में प्रधान हैं 'जे० एल० रुनेबेरिय' (फेनरिक स्लोल्स सेग्नर १८४८-६०)। बाद के समय के कवि 'ई० डिकनोनियस' 'जी० ल्योलिंग' और 'हग्निस सदरग्रान' इत्यादि हैं।

स्टर्न, ऑटो (Stern, Otto; सन् १८८८ —) जर्मन भौतिकीविद् का जन्म जर्मनी के सोहरॉ (Sohran) नामक कस्बे में हुआ था। इन्होंने ब्रेस्लॉ के विश्वविद्यालय तथा कैलिफॉर्निया में शिक्षा पाई।

गेर्लाख (Gerlach) के सहयोग से इन्होंने परमाणुओं के चुंबकीय घूर्ण को नापा, जिससे क्वांटम सिद्धांत की यांत्रिकी का उपयोग कर परमाणुओं के आकाश की विशिष्टताओं को जानने में सहायता मिली। बाद में एस्टरमैन (Estermann) के साथ अनुसंधान कर इन्होंने प्रदर्शित किया कि हाइड्रोजन, हीलियम आदि के पूर्ण अणुओं का क्रिस्टल तल से परावर्तन होने के पश्चात् अपवर्तन कराया जा सकता है। इससे पदार्थ की तरंगीय प्रकृति के साधारण सिद्धांत के संबंध में अतिरिक्त प्रमाण प्राप्त हुआ।

सन् १९३३ में ये संयुक्त राज्य अमरीका में पिट्सबर्ग के कार्नेगी इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नॉलाजी में रिसर्च प्रोफेसर नियुक्त हुए तथा सन् १९४३ में नाभिकीय भौतिकी से संबंधित अनुसंधानों के लिये आपको नोबेल पुरस्कार मिला। [भ० दा० व०]

स्टर्लिंग संख्याएँ गणितीय विश्लेषण की कई शाखाओं में काम आती हैं। इनके प्रस्तुतकर्ता जेम्स स्टर्लिंग के नाम पर इनका नाम पड़ा। ये प्रथम और द्वितीय, दो प्रकार की होती हैं।

$(१+य)\ (१+२य)......(१+नय) = १ + {}_{न}स_{१} य + {}_{न}स_{२} य^{२} + {}_{न}स_{३} य^{३} + ...$

$[(1+x)\ (1+2x)......(1+nx) = 1 + {}_{n}S_{1}x + {}_{n}S_{2}x^{2} + {}_{n}S_{3}x^{3} + ...]$

य (x) के आरोही क्रमवाले उपरिलिखित प्रसार के गुणांक, प्रथम प्रकार की न (n) कोटि की स्टर्लिंग संख्याएँ हैं तथा द्वितीय प्रकार की स्टर्लिंग संख्याएँ निम्नलिखित प्रसार के य (x) के गुणांकों में हैं :

$$\frac{१}{(१+य)\ (१+२य)......(१+नय)} = १ - {}_{न}द_{१} य + {}_{न}द_{२} य - {}_{न}द_{३} य^{३} + ...$$

$$\left[\frac{1}{(1+x)\ (1+2x)......(1+nx)} = 1 - {}_{n}T_{1}x + {}_{n}T_{2} x^{2} - {}_{n}T_{3}x^{3} + ... \right]$$

उपर्युक्त परिभाषा से निम्नलिखित प्रमेय प्राप्त होते हैं :

(१) प्रथम न (n) पूर्णांकों में से यदि पुनरावृत्ति बिना प (p) को लिया जाय तो इनके गुणनफलों का योग प्रथम प्रकार की न (n) कोटि की प वीं (pth) स्टर्लिंग संख्या के बराबर होता है।

(२) प्रथम न (n) पूर्णांकों में से यदि पुनरावृत्तियों सहित प (p) को लिया जाय, तो इनके गुणनफलों का योग द्वितीय प्रकार की न (n) कोटि की प वीं (pth) स्टर्लिंग संख्या के बराबर होता है।

स्टर्लिंग ने $य^{न}$ (x^{n}) को निम्नलिखित क्रमगुणित श्रेणी में प्रदर्शित किया :

$$य^{२} = य(य-१) + य$$
$$य^{३} = य(य-१)(य-२) + ३य(य-१) + य$$
$$य^{४} = य(य-१)(य-२)(य-३) + ६य(य-१)(य-२) + ७य(य-१) + य$$
$$य^{५} = य(य-१)(य-२)(य-३)(य-४) + १०य(य-१)(य-२)(य-३) + २५य(य-१)(य-२) + १५य(य-१) + य$$

$$\left\{\begin{array}{l} x^{2} = x(x-1) + x \\ x^{3} = x(x-1)(x-2) + 3x(x-1) + \\ x^{4} = x(x-1)(x-2)(x-3) + 6x(x-1)(x-2) + 7x(x-1) + n \\ x^{5} = x(x-1)(x-2)(x-3)(x-4) + 10x(x-1)(x-2)(x-3) + 25x(x-1)(x-2) + 15x(x-1) + x \end{array}\right\}$$

ऊपर लिखे विभिन्न क्रमगुणितों (Factorials) के गुणांक, जैसे १·१ ; १·३·१, १·६·७·१; १·१०·२५·१५·१ [1·1 ; 1·31; 1·6·7·1; 1·10 25·15·1] द्वितीय प्रकार की स्टर्लिंग संख्याएँ हैं। [ब० दा० ब०]

स्टाइन, सर ऑरेल (Stein, sir Aurel, १८६२-१९४३) ब्रिटिश पुरातत्वज्ञ, का जन्म बुडापेस्ट (हंगरी) तथा मृत्यु काबुल (अफगानिस्तान) में हुई। इनकी शिक्षा प्रारंभ में वियना तथा टुबिंगेन विश्वविद्यालयों में, किंतु उच्च शिक्षा ऑक्सफोर्ड तथा लंदन विश्वविद्यालयों में संपन्न हुई। शिक्षोपरांत वे भारत चले आए। सन् १८८८ से सन् १८९९ तक पंजाब विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार तथा लाहौर स्थित ओरिएंटल कालेज के प्रधानाचार्य के रूप में कार्य किया। भारत सरकार ने पुरातात्विक अनुसंधान एवं खोज के लिये इन्हें १९०० ई० में चीनी तुर्किस्तान भेज दिया। इस क्षेत्र मे इन्होंने प्राचीन अवशेषो तथा बस्ती के स्थलों (settlement sites) का प्रचुर अनुसंधान किया। पुनः सन् १९०६ से १९०८ तक इन्होंने मध्य-एशिया तथा पश्चिमी चीन के विभिन्न भागों मे महत्वपूर्ण पुरातात्विक खोज की। इनके अनुसंधानों से मध्य एशिया तथा समीपवर्ती भागों में मनुष्य के प्रारंभिक जीवन के विषय पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ा और जलवायु परिवर्तन संबंधी संभावनाओं के भी कुछ तथ्य सामने आए। १९०९ ई० में इन्हे भारतीय पुरातत्व विभाग में सुपरिंटेंडेंट नियुक्त किया गया। १९१३-१६ ई० मे वे ईरान तथा मध्य एशिया गए और पुरातात्विक एवं भौगोलिक खोज की। इन यात्राओं तथा अनुसधानों एवं प्राप्त तथ्यों का वर्णन उन्होंने लंदन से प्रकाशित जियोग्रैफिकल जर्नल के १९१६ ई० वाले अक में किया है। पुरातात्विक एव भौगोलिक अनुसंधानों के लिये लदन की रायल जियोग्रैफिकल सोसायटी (Royal Geographical Society) ने इन्हे स्वर्णपदक से विभूषित किया।

इनकी रचनाओं में निम्नलिखित प्रमुख हैं — (१) संस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध कश्मीरी कवि कल्हण द्वारा विरचित 'राजतरंगिणी' अथवा कश्मीर के राजाओं के इतिहास का अंगरेजी अनुवाद (दो जिल्दें, १९०० ई०); (२) 'प्राचीन खोतान' (दो जिल्दें, १९०३ ई०); (३) 'काथे मरुभूमि के अवशेष' (२ जिल्दें, १९१२ ई०); (४) 'सेरेंडिया' (पाँच जिल्दें, १९२२ ई०); (५) 'सहस्र' बुद्ध (The thousand Budhas १९२१ ई०); (६) 'अंततम (Innermost); एशिया (चार जिल्दें, १९२८ ई०); (७) सिकंदर का सिंधु तक आगमनपथ (On Alexander's track to Indus १९२९ ई०); (८) तुन हुआंग से संप्राप्त चित्रकारियों का संकलन (१९३१ ई०); (९) गेड्रोसिया में पुरातात्विक भ्रमण (१९३१ ई०); (१०) दक्षिण पूर्वी ईरान में पुरातात्विक वीक्षण (Reconneissances), १९३७ ई०); (११) पश्चिमी ईरान को आनेवाले प्राचीन पथ (१९४० ई०)। [का० ना० सिं०]

स्टालिनग्रैड (Stalingrad) स्थिति : ४८° ४५' उ० अ० एवं ४४° ३०' पू० दे०। १९६१ ई० से इसका नाम वोल्गाग्राड हो गया है। सोवियत संघ के फेडरल सोशियालिस्ट रिपब्लिक (R. S. F. S. R.) में वोल्गा नदी के दोनों ओर स्थित एक क्षेत्र है जिसका क्षेत्रफल १,११,८३३ वर्ग किमी है यह एक निचला क्षेत्र है जिसका कुछ भाग तो समुद्रतल से भी नीचा है। डान नदी के पश्चिम में ही काफी उपजाऊ मिट्टी मिलती है। यहाँ की जलवायु महाद्वीपीय है। वर्षा कम होती है। पहले यह वर्षों की

कमी के कारण अकालग्रस्त क्षेत्र था लेकिन वोल्गा-डान-नहर के बन जाने से सिंचाई की समस्या अब हल हो गई है। गेहूँ, राई, ज्वार, बाजरा, जौ, रुई, मक्का, आलू, अंगूर एवं सूर्यमुखी फूल मुख्य कृषि उपज हैं। कृषि के अतिरिक्त मत्स्याखेट, पशुपालन, समूर, चमड़े एवं वस्त्र से संबंधित उद्योग धंधे होते हैं। एल्टन झील से पर्याप्त नमक की प्राप्ति होती है तथा पशु, ऊन, गेहूँ, ट्रैक्टर एवं इस्पात का निर्यात यहीं से होता है।

२. नगर — इस क्षेत्र की राजधानी मास्को के ९१० किमी दक्षिण पूर्व में वोल्गा नदी के दोनों किनारों पर ५६ किमी की लंबाई में फैली हुई है। यह नगर वोल्गा-डान-नहर द्वारा डान नदी एवं डोनेत्ज बेसिन से संबद्ध होने के कारण महत्वपूर्ण नदीबंदरगाह एवं व्यापारिक तथा औद्योगिक केंद्र हो गया है। इस बंदरगाह से खनिज तेल, कोयला, खनिज धातुओं, लकड़ी एवं मछली का आदान प्रदान होता है। यह प्रसिद्ध रेलमार्गकेंद्र है जो मास्को, डोनेत्ज बेसिन, काकेशस और दक्षिणी पश्चिमी साइबेरिया से मिला हुआ है। यहाँ एक विशाल जल-विद्युत् गृह है। वोल्गाग्राड भारी मशीनों के निर्माण का केंद्र है जहाँ ट्रैक्टर, कृषियंत्र, लोह, इस्पात, तेलशोधनयंत्र, रेलवे कार तथा ऐलुमिनियम की वस्तुओं का निर्माण होता है। यहाँ शराब, रसायनक, नेप्था, जलायननिर्माण तथा तेलशोधन कारखाने भी हैं। इस नगर में अध्यापन, कृषि एवं चिकित्सा महाविद्यालय हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध में इसे भारी क्षति उठानी पड़ी थी। हिटलर की सेनाओं ने कुछ भाग पर अधिकार कर लिया था। तीन महीने के घमासान युद्ध के बाद फरवरी, १९४३ ई० में जर्मन सेनापति जनरल पॉलस ने आत्मसमर्पण किया था। युद्ध में काम आए जर्मन सैनिक तीन लाख थे। जनसंख्या ६,६३,००० (१९६३) है।

[रा० प्र० सि०]

स्टुअर्ट या स्टेवर्ट स्कॉटलैंड के इस घराने का उद्भव एलन (Alan) नामक ब्रिटेन देशांतरवासी से ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग हुआ बताया जाता है। इस वंश के वॉल्टर नामक व्यक्ति को स्कॉटलैंड के शासक डेविड प्रथम ने वंशानुगत परिचारक नियुक्त कर दिया था तथा उसे दक्षिण में भूमि भी दे दी थी। आगे चलकर इस घराने का वैवाहिक संबंध स्कॉटलैंड के राजवंश से हो गया। फलतः जब डेविड द्वितीय १३७१ ई० में निःसंतान मर गया तो स्कॉट्लैंड का राज्य वॉल्टर और मारजोरी के पुत्र को मिला और वह रॉबर्ट द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा। वह स्टुअर्ट वंश का प्रथम राजा हुआ। उसके छह वंशज गद्दी पर बैठे जिनके नाम रॉबर्ट तृतीय से जेम्स प्रथम और जेम्स पंचम तक आते हैं। १५४२ में जेम्स पंचम की मृत्यु से प्रत्यक्ष पुरुष वंशज समाप्त हो जाता है। उसकी पुत्री मेरी जिसके द्वारा स्टुअर्ट (Stuart) अक्षरविन्यास ग्रहण किया गया, हेनरी सप्तम की पुत्री मार्गरेट से उत्पन्न होने तथा जेम्स चतुर्थ की रानी होने के कारण इंगलैंड तथा स्कॉटलैंड की गद्दी पर अपना अधिकार सिद्ध कर रही थी। मेरी का पुत्र जेम्स षष्ठ जेम्स प्रथम के नाम से १६०३ ई० में इंगलैंड की गद्दी पर बैठकर, ग्रेट ब्रिटेन के स्टुअर्ट घराने का आदिपुरुष सिद्ध हुआ और स्टुअर्ट घराने ने इंगलैंड और स्कॉटलैंड का शासन १६०३ ई० से १६८८ की क्रांति तक किया। जेम्स द्वितीय के भाग जाने के बाद स्टुअर्ट पुरुषवंश सदैव के लिये समाप्त कर दिया गया। जेम्स के उत्तराधिकारी क्रमशः उसकी पुत्रियाँ मेरी (अपने पति विलियम ऑव ऑरेंज के साथ) तथा एन हुईं। स्टुअर्ट घराने की पुरुषरेखा का अंत जेम्स द्वितीय के पौत्र चार्ल्स एडवर्ड (The young Pretender) तथा हेनरी स्टुअर्ट (Cardinal York) की मृत्यु से हुआ।

स्टुअर्ट संज्ञा राजा के परिचारक (Steward) से ग्रहण की गई है। स्टुअर्ट अक्षरविन्यास मेरी के समय से प्रयोग में आने लगा था। उस परिवर्तन का कारण फ्रेंच प्रभाव कहा जा सकता है। इंगलैंड की गद्दी पर बैठने के उपरांत इस घराने ने स्टुअर्ट स्वरूप को ही पसंद किया। स्कॉट्लैंड में अब भी बहुधा स्टेवर्ट (Stewart) लिखा जाता है।

सं० ग्रं० — डंकन स्टेवर्ट : जीनिओलोजीकल अकाउंट ऑव दी सरनेम ऑव० स्टेवर्ट (१७३९); एस काउअन (Cowan): रॉयल हाउस ऑव स्टुअर्ट (Stuart), १९०८; टी० एफ़० हेंडरसन : दी रॉयल स्टेवर्ट्स (१९१४)।

स्टोइक (दर्शन) यह दर्शन अरस्तू के बाद यूनान में विकसित हुआ था। सिकंदर महान् की मृत्यु के बाद ही विशाल यूनानी साम्राज्य के टुकड़े होने लगे थे। कुछ ही समय में वह रोम की विस्तारनीति का लक्ष्य बन गया और पराधीन यूनान में अफलातून तथा अरस्तू के आदर्श दर्शन का आकर्षण बहुत कम हो गया। यूनानी समाज भौतिकवाद की ओर झुक चुका था। एपीक्यूरस ने सुखवाद (भोगवाद) की स्थापना (३०६ ई० पू०) कर, पापों के प्रति देवताओं के आक्रोश तथा भावी जीवन में बदला चुकाने के भय को कम करने का प्रयत्न प्रारंभ कर दिया था। तभी ज़ीनो ने रंग-बिरंगे मंडप (स्टोआ) में स्टोइक दर्शन की शिक्षा द्वारा, अंध-विश्वासों को मिटाते हुए, अपने समाज को नैतिक जीवन का मूल्य बताना प्रारंभ किया। इस दर्शनपरंपरा को पुष्ट करनेवालों में ज़ीनों के अतिरिक्त, क्लिऐंथिस और क्रिसिप्पस के नाम लिए जाते हैं। 'स्टोइक दर्शन' को तीन भागों में प्रस्तुत किया जाता है — तर्क, भौतिकी तथा नीति।

स्टोइक तर्क — स्टोइक दार्शनिकों को अफलातून और अरस्तू का प्रत्ययवाद स्वीकार्य न लगा। उनके विचार से, चेतना से बाह्य प्रत्ययों की कोई सत्ता नहीं। वे मात्र विचार हैं, जिन्हें मन वस्तुओं से अलग करके देखता है। ज्ञान को मन की कृति मानकर वे उसे निराश्रित कल्पना नहीं बनाना चाहते थे। इसलिये उन्होंने कहा, ज्ञान इंद्रियद्वारों से होकर मन तक पहुँचता है। स्टोइक दार्शनिकों ने ही, पहले पहल मन को कोरी पट्टी (टेबुला राज़ा) ठहराया था। किंतु, आधुनिक अंग्रेज विचारक जॉन लॉक (१६३२-१७१४) की भाँति, स्टोइक मन को निष्क्रिय ग्राहक नहीं मानते थे। वे उसे क्रियात्मक समझते थे। पर मन की क्रियाशीलता के लिये ऐंद्रिक प्रदत्तों की वे आवश्यकता समझते थे। जर्मन दार्शनिक इमैनुएल कांट (१७२४-१८०४) की ज्ञानमीमांसा पढ़ते हुए हमें स्टोइक

दार्शनिकों की इसीलिये याद आ जाती है। किंतु ज्ञान की उत्पत्ति में मन की मौलिकता नष्ट कर देने पर ज्ञान की सत्यता के प्रसंग में स्टोइकों को उसी प्रकार की कठिनाइयों का अनुभव हुआ जैसी कठिनाइयाँ लॉक और कांट के सामने आगे चलकर उपस्थित हुई। ज्ञान को उन्होंने वस्तुतंत्र माना था। वस्तुएँ इंद्रियों पर अपने प्रभाव छोड़ती हैं। इन्हीं के माध्यम से मन वस्तुओं को जानता है। अब प्रश्न उठता है कि ऐंद्रिक प्रभावों की माध्यमिकता से मन जिस वस्तुजगत् को जानता है, वह उससे बाह्य है, तो ज्ञान की सत्यता की परीक्षा कैसे हो सकती है? सभी यथार्थवादियों के लिये यह एक कड़ी गुत्थी है। या फिर हेनरी बर्गसाँ (१८५९-१९४१) की भाँति, अपरोक्षानुभूति स्वीकार की जाय। स्टोइकों ने ऐसा कुछ तो माना न था। इसलिये उन्हें यह मानना पड़ा कि सत्य वस्तुओं के प्रभाव अथवा प्रतिबिंब, स्वप्नों और मात्र कल्पनाओं के प्रतिबिंबों से कहीं अधिक स्पष्ट होते हैं। वे अपनी जीवंतता से हमारे भीतर सत्यता की भावना या विश्वास उत्पन्न करते हैं। यह आत्मगत भावना या विश्वास ही सत्य की कसौटी है। इस प्रकार स्टोइक दार्शनिकों ने ज्ञानात्मक व्यक्तिवाद का बीजवपन किया।

स्टोइक भौतिकी — भौतिकी के अंतर्गत स्टोइकों की पहली मान्यता यह थी कि किसी अशरीर वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। उन्होंने ज्ञान को भौतिक संवेदना पर आधारित किया था। इसलिये पदार्थ की सत्ता को, जिसे हम ऐंद्रिक संवेदना द्वारा जानते हैं, स्वीकार करना आवश्यक था। किंतु वे सत्तात्मक द्वैत अथवा बहुत्व को स्वीकार करना अयुक्त समझते थे। वे अद्वैतवादी थे अतएव उनके लिये पदार्थ की ही एकमात्र सत्ता थी। पर उन्होंने आत्मा और ईश्वर का निराकरण नहीं किया। उन्हें भी पदार्थ में ही स्थान दिया। ईश्वर और आत्मा संबंधी परंपरागत विचारों से यह मत भिन्न अवश्य है किंतु स्टोइक दार्शनिकों ने अविरोध के नियम के आग्रह से ही इसे स्वीकार किया था। उनकी ज्ञानमीमांसा पदार्थ की सत्ता सिद्ध कर रही थी। संसार की एकता की व्याख्या के निमित्त उसे एक ही स्रोत से उद्भूत मानना उचित था। आत्मा और शरीर के संबंध पर विचार करने से भी उन्हें यही युक्तियुक्त प्रतीत हुआ। आत्मा और शरीर एक दूसरे पर क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ करते हैं। आत्मा शरीर का चेतनता अथवा बुद्धि है। आत्मा की स्थापना करने के साथ ही वैश्व चेतना या वैश्व बुद्धि की स्थापना आवश्यक हो जाती है। इसलिये उन्होंने ईश्वर और संसार में वही संबंध माना जो व्यक्तिगत बुद्धि और शरीर में होता है। इन विचारों का उन्होंने यूनानी दर्शन के प्राचीन प्राथमिक सामग्री या उपादान के विचार के साथ समन्वय किया। हेराक्लाइटस ने ईसापूर्व छठी शताब्दी में कहा था, अग्नि वह प्राथमिक तत्व है जिससे विश्व का निर्माण हुआ। स्टोइक दार्शनिकों को अग्नि और बुद्धि में स्वभावसाम्य दिखाई दिया और उन्होंने कहा कि प्राथमिक अग्नि ही ईश्वर है। इस प्रकार उन्होंने एक सर्व-वाद (पैंथीज्म) की स्थापना की, जिसमें संसार के मौलिक उपादान या प्रकृति, ईश्वर, आत्मा, बुद्धि और पदार्थ के अर्थों मे कोई मौलिक अंतर न था। इस मान्यता के आधार पर स्टोइकों को यह मानने में कोई कठिनाई न थी कि विश्व बौद्धिक नियम के अधीन है। इस प्रकार पदार्थवाद का समर्थन करते हुए भी स्टोइक दार्शनिकों ने संसार की व्यवस्था, संगति, सुंदरता आदि की व्याख्या के निमित्त एक व्यापक चेतन प्रयोजन खोज लिया।

स्टोइक नीति — किंतु अब उनके पास व्यक्ति की स्वतंत्रता की स्थापना के लिये कोई उचित तर्क नहीं रह गया था। उसके स्वभाव मे बौद्धिक नियम की व्याप्ति होने से, वह जो कुछ करता है, स्वाभाविक है, बौद्धिक है। यह वही कठिनाई थी जो जर्मन दार्शनिक इमैनुएल कांट के नैतिक मत में आकर अटक गई। पर स्टोइक दार्शनिकों ने सैद्धांतिक स्तर से नीचे उतरकर इसका व्यावहारिक उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि प्रकृति में बौद्धिक नियम की व्याप्ति के कारण मनुष्य बौद्धिक प्राणी है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार सभी कुछ होता है; उसी के अनुसार प्राणिमात्र के व्यापार संपन्न होते हैं। किंतु मनुष्य को यह सुविधा है कि वह अपने कर्मों को, जो नियमित हैं, स्वीकार कर सके। बुद्धिमान् मनुष्य जानता है कि उसका जीवन विश्व के जीवन में समाहित है। वह जब अपनी स्वतंत्रता की बात सोचता है तो शेष मनुष्यों की स्वतंत्रता की बात भी सोचता है और तभी उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता सीमित हो जाती है। किंतु दूसरों की स्वतंत्रता की स्वीकृति से अपनी स्वतंत्रता सीमित करने में उसे बाध्यता का अनुभव नहीं होता। इन स्टोइक विचारों से अवगत होकर, जब हम कांट को यह कहते हुए पाते हैं कि 'दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार करो जैसा अपने साथ किए जाने पर तुम्हें कोई आपत्ति न हो'. अथवा, ऐसे कर्म करो कि तुम्हारे कर्म विश्व के लिये नियम बन सकें', तब हमें स्टोइक जीवनदर्शन के व्यापक प्रभाव का भान होता है। स्टोइक दार्शनिकों ने अव्यवस्थित व्यक्तिगत जीवन के माध्यम से अव्यवस्थित एवं संपन्न सामाजिक जीवन की आशा की थी। व्यक्तिगत जीवन की व्यवस्था के लिये उन्होंने बहुत उपयोगी सुझाव दिए थे। वासनाओं को उन्होने दुर्गुणों में गिना; सुखों को शुभों मे स्थान नहीं दिया; और कर्तव्यपालन को उन्होंने बौद्धिक मनुष्य के गौरव के अनुकूल बताया। कहा जा सकता है कि उन्होंने मनुष्य को स्वतंत्रता का मार्ग न बताकर कठिन आत्मनियंत्रण का मार्ग बताया। बिना आत्मनियंत्रण के व्यवस्थित एवं संतुलित समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से, स्टोइक दार्शनिकों ने पाश्चात्य जगत् को वह मूल मंत्र दिया था, जिसकी सभी सामाजिक विचारकों ने बार बार आवृत्ति की। जर्मन दार्शनिक कांट के मत में स्टोइक नीति की व्याप्ति का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अंग्रेज उपयोगितावादियों जेरेमी बेंथम और जॉन स्टुअर्ट मिल के नैतिक मतों का विश्लेषण करने पर भी हम यही पाएँगे कि यद्यपि उन्होंने प्रत्यक्षत: सुखवाद का समर्थन किया था तथापि मूलत: उन्होंने व्यक्ति के हित के माध्यम से समाज के हित की उपलब्धि के स्टोइक नियम का ही आश्रय लिया था। प्रसिद्ध अंग्रेज आदर्शवादी फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडले (१८४६-१९२४) भी समाज में प्रत्येक व्यक्ति के एक निश्चित स्थान का निरूपण करता है और कहता है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थान के अनुरूप कर्तव्यों का पालन करता रहे, तो वह स्वयं संपन्न जीवन व्यतीत कर सकता है। [शि० अ०]

स्टिफेंसन, जॉर्ज (Stephenson George; सन् १७८१-१८४८) अंग्रेज इंजीनियर, का जन्म निउकासल के पास वाइलैम (Wylam) में हुआ था। इनके पिता पंप चलानेवाले इंजन में कोयला झोंकने का काम करते थे। इनका बाल्यकाल मजदूरी करते बीता। १७ वर्ष की आयु में दूसरा काम करते हुए, इन्होंने रात्रिपाठशाला में शिक्षा प्राप्त करनी आरंभ की। २१ वर्ष की आयु में वे इंजन चलाने के काम पर नियुक्त हुए और खाली समय में घड़ियों की मरम्मत कर कुछ उपार्जन करते रहे।

सन् १८१२ में इन्हें इंजिन के मिस्त्री का काम मिला। तीन वर्ष बाद इन्होंने खनिकों के सुरक्षा (Safety) लैंप का आविष्कार लगभग उसी समय किया जब हम्फ्री डेवी ने। इस आविष्कार के श्रेय के संबंध में विवाद उठ खड़ा हुआ, किंतु इससे इनकी प्रसिद्धि हुई। सन् १८१४ में इन्होंने अपना प्रथम चल इंजन बनाया, जिससे एक ट्राम चलाने का काम लिया जाने लगा। सन् १८२१ में वे स्टॉकटन तथा डार्लिंगटन रेलवे में इंजीनियर तथा पाँच वर्ष बाद लिवरपूल-मैंचेस्टर रेलवे के मुख्य इंजीनियर नियुक्त हुए। इन रेलों की गाड़ियाँ घोड़े खींचते थे। रेलवे के निदेशकों को इन्होंने भाप से चलनेवाले इंजन के प्रयोग का सुझाव दिया और उनकी स्वीकृति पर 'रॉकेट' नामक प्रथम रेल इंजन बनाया, जो बहुत सफल रहा। इस सफलता के कारण, रेलों का विशेष विकास हुआ, जिसमें स्टिफेंसन ने प्रमुख भाग लिया और बहुत धन कमाया। निउकासल में रेल के इंजन बनाने का कारखाना सन् १८२३ में खोला, जिसमें इन्होंने अनेक इंजन बनाए और सैकड़ों मिली लंबी रेलों के बनाने के काम का संचालन किया।

इनकी ख्याति रेल इंजन के जन्मदाता होने के कारण है।

[भ० दा० व०]

स्टिफेंसन, रॉबर्ट (सन् १८०३-५९) अंग्रेज इंजीनियर, जॉर्ज स्टिफेंसन, प्रथम रेल इंजन के निर्माणकर्ता, के पुत्र थे। निउकासल नगर और एडिनबरा विश्वविद्यालय में काम करना प्रारंभ किया जिसमें प्रथम रेल इंजन, रॉकेट, बना था। बाद में इन्होंने इंग्लैंड तथा विदेश में भी कई रेलों के निर्माण में भाग लिया।

इनकी प्रसिद्धि का कारण इनके द्वारा निर्मित कई अत्युत्तम नलिकाकार (tubular) पुल, जैसे मीनाइ जलडमरूमध्य के आर पार ब्रिटानिया पुल, कॉनवे पुल, विक्टोरिया ब्रिज (मॉण्ट्रियल, कैनाडा में), नील नदी पर डुमयात (dumyat, मिस्र) में दो पुल, आदि हैं।

[भ० दा० व०]

स्टेथॉस्कोप (Stethoscope, वक्षस्थल-परीक्षक-यंत्र) फ्रांस के चिकित्सक रेने लैनेक ने १८१६ ई० में उर-परीक्षण के लिये एक यंत्र की खोज की, जिसके आधार पर प्रचलित वक्षस्थल परीक्षक यंत्र का निर्माण हुआ है। आजकल प्राय: सभी चिकित्सक द्विकर्णीय यंत्र को ही उपयोग में लाते हैं। इसके दो भाग होते हैं, एक वक्षखंड जो घंटी या आभीर प्रकार का होता है तथा दूसरा कर्णखंड। ये दोनों रबर की नलिकाओं द्वारा जुड़े रहते हैं। हृदय, फेफड़े, आँत, नाड़ियाँ और धमनियाँ आदि जब रोग से ग्रस्त हो जाती हैं तब चिकित्सक इसी यंत्र द्वारा उनसे निकली ध्वनि को सुनकर जानता है कि ध्वनि नियमित है या अनियमित। अनियमित ध्वनि रोग का संकेत करती है। इस यंत्र से ध्वनि तेज सुनाई पड़ती है। रोग-परीक्षण में एक अच्छे वक्षस्थल परीक्षक यंत्र का होना अति आवश्यक है।

[इ० मा०]

स्ट्रांशियम (Strontiam) क्षारीय मृत्तिका तत्वों का एक महत्वपूर्ण सदस्य है। इसके दो अन्य सदस्य बेरियम और कैलसियम हैं। स्ट्रांशियम, बेरियम और कैल्सियम के मध्य आता है। इसका संकेत, स्ट्रां, Sr, परमाणुसंख्या ३८, परमाणुभार ८७.६३, घनत्व २.५४, गलनांक ८००° सें० और क्वथनांक ११,५००° सें० है। इसके चार समस्थानिक, जिनकी द्रव्यमान संख्या ८८, ८६, ८७ और ८४ हैं, पाए गए हैं। तीन रेडियोऐक्टिव समस्थानिक, जिनकी द्रव्यमान संख्या ८५, ८७ और ८९ है, कृत्रिम विधि से प्राप्त हुए हैं। स्काटलैंड के स्ट्रांशियान में पाए जाने के कारण इसका नाम स्ट्रांशियम पड़ा। इसके परमाणु में इलेक्ट्रान चार कक्षाओं में वितरित हैं और एक बाह्यतम कक्ष होता है जिसमें दो संयोजक इलेक्ट्रान रहते हैं। यह सदा ही द्विसंयोजक लवण बनता है।

स्ट्रांशियम धातु और इसके लवणों के गुण बेरियम और कैल्सियम धातुओं और उनके लवणों के गुणों से बहुत समानता रखते हैं। उनके प्राप्त करने की विधियाँ भी प्राय: एक सी ही हैं।

स्ट्रांशियम के प्रमुख खनिज स्ट्रांशिएनाइट (Strontianite), कार्बोनेट और सेलेस्टाइट (Celestite) सल्फेट हैं। इनके निक्षेप अनेक देशों, कैलिफोर्निया, वाशिंगटन, टेक्सास, मेक्सिको, स्पेन, और इंग्लैंड आदि में पाए जाते हैं। स्ट्रांशियम के लवण, क्लोराइड, ब्रोमाइड, कार्बोनेट, क्लोरेट, नाइट्रेट, हाइड्रॉक्साइड आदि प्राप्त हुए हैं। क्लोराइड द्रावक के रूप में और इस्पात उपचार के लिये लवण ऊष्मक में, कार्बोनेट, क्लोरेट, नाइट्रेट आतशबाजी में, हाइड्रॉक्साइड, छोआ से शर्करा प्राप्त करने में, काम आते हैं। नाइट्रेट संकेतप्रकाश में भी काम आता है। स्ट्रांशियम का लैक्टेट मंद रोगाणुरोधक, ज्वरनाशी और पीड़ाहारी होता है।

हाइड्रॉक्साइड स्फुरदीप्त, प्रतिदीप्त प्रकाशन युक्तियों एवं लोमनाशक ओषधियों के निर्माण में प्रयुक्त होता है। स्ट्रांशियम के लवण इनेमल, ग्लेज और काँच के निर्माण में भी काम आते हैं। [स० व०]

स्ट्रिकनिन एक ऐलकेलाइड है जिसका आविष्कार १८१८ ई० में हुआ था। यह स्ट्रिकनोस वंश के एक पौधे नक्सवोमिका के बीज से निकाला गया था। पीछे अन्य कई पौधों में भी पाया गया। साधारणतया यह एक दूसरे ऐलकेलाइड ब्रुसिन के साथ साथ पाया जाता है। ऐलकोहॉल से यह वर्णरहित प्रिज्म बनाता है। जल में यह प्राय: अविलेय होता है। सामान्य कार्बनिक विलायकों में भी कठिनता से घुलता है। यह क्षारीय क्रिया देता है। यह अम्लीय क्षार है। स्वाद में बड़ा कड़वा होता है।

ओषधियों में इसका व्यवहार होता है। यह बड़ी अल्प मात्रा में बलवर्धक होता है। कुछ शर्बतों में सल्फेट या हाइड्रोक्लोराइड के रूप में प्रयुक्त होता है। बड़ी मात्रा में यह बहुत विषाक्त होता है। यह सीधे रक्त में प्रविष्ट कर जाता है। अल्प मात्रा में आमाशय रस का स्राव उत्पन्न करता है। इसका विशेष प्रभाव केंद्रीय तंत्रिकातंत्र (Central nervous system) पर होता है। रीढ़रज्जु के प्रेरक क्षेत्र (motor area) को यह उत्तेजित करता और प्रतिवर्त क्षोभ्यता (reflex irritability) को बढ़ाता है। अल्प मात्रा में स्पर्श, दृष्टि और श्रवण संवेदनशक्ति को बढ़ाता है। बड़ी मात्रा में पेशियों का स्फुरण और निगलने में कठिनता उत्पन्न करता है। अधिक मात्रा में ऐंठन उत्पन्न करता है। सामान्य मात्रा से शरीर के ताप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता पर अतिमात्रा से ताप में वृद्धि होती है। विषैली मात्रा से बीस मिनट के अंदर विष के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। गरदन के पीछे का भाग कड़ा हो जाता है। पेशियों का स्फुरण होता है और दम घुटने सा लगता है। फिर रोगी को तीव्र ऐंठन होती है। एक मिनट के बाद ही पेशियाँ ढीली पड जाती हैं और रोगी थककर गिर पड़ता है। पर चेतना बराबर बनी रहती है। स्ट्रिकनिन विष की दवा काठ के कोयले या अंडे की सफेदी का तत्काल सेवन है। वमनकारी ओषधियों का सेवन निषिद्ध है क्योंकि उससे ऐंठन उत्पन्न हो सकती है। रोगी को पूर्ण विश्राम करने देना चाहिए और बाह्य उद्दीपन से बचाना चाहिए। बारबिट्यूरेटों या ईथर की शिराभ्यंतरिक (Intravenous) सूई से ऐंठन रोकी जा सकती है। कृत्रिम श्वसन का भी उपयोग हो सकता है।

[फू० स० व०]

स्ट्रेबो यूनानी भूगोलवेत्ता तथा इतिहासकार का जन्म एशिया माइनर के अमासिया स्थान में ईसा से लगभग ६३ वर्ष पूर्व हुआ था। स्ट्रेबो ने अनेक यात्राएँ कीं किंतु जब १६ ई० में मरे तो रोम में रहते थे।

स्ट्रेबो ने अच्छी शिक्षा पाई। इन्होंने अनेक यात्राएँ कीं, पूर्व में आर्मीनिया से पश्चिम से सार्डिनिया तक तथा उत्तर में काला सागर से दक्षिण में इथिओपिया (अबिसीनिया) तक। इन्होंने ४३ खंडों में एक ऐतिहासिक ग्रंथ लिखा था जो लुप्त हो चुका है। केवल कुछ अंश ही प्राप्य हैं। इनमें पोलिबियस के इतिहास से लेकर सक्टियम की लड़ाई तक का हाल निहित है। स्ट्रेबो का १७ खंडों में लिखा हुआ 'ज्योग्रैफिका' सुरक्षित है, जो यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के भूगोल से संबंधित है। यह बड़ा महत्वपूर्ण ग्रंथ है। आठ पुस्तकें यूरोप पर और शेष एशिया और अफ्रीका पर हैं। यद्यपि इन्होंने बहुत कुछ पूर्वकालिक लेखकों से लिया है तथापि इसमें व्यक्तिगत अनुभव भी दिए गए हैं।

[शा० ला० का०]

स्तनग्रंथि (Mammary gland) यह स्तनधारी वर्ग के शरीर की एक विशेष और अनूठी ग्रंथि है। यह 'दूध' का स्रवण करती है जो नवजात शिशु के लिये पोषक आहार है। इस प्रकरण में सबसे आद्यकालीन (primitive) स्तनधारी डकबिल (बत्तखचंचु, duck-bill) और प्लेटिपस (platypus) हैं जो अंडा देते हैं। इनकी स्तनग्रंथि में चूचुक (nipples) का अभाव होता है और दूध की रसना (oozing) दो स्तनप्रदेशों से होती है जिसे पशुशावक जीभ से चाटते हैं।

थानी प्राणीगण, जैसे कंगारू, में स्तनग्रंथि से संबंधित उसके नीचे एक थानी (pouch) रहती है जिसे स्तनगर्त (mammary pocket) कहते हैं। जन्म के बाद पशुशावक गर्भाशय से रेंगकर स्तनगर्त में आ जाते हैं। वहाँ वे अधिक समय तक अपना मुँह चूचुक से लगाए रहते हैं और इस तरह दुग्ध आहार ग्रहण करते हैं।

मानव जाति में जन्म के समय स्तनग्रंथि का प्रतिरूप केवल चूचुक होता है। स्तनग्रंथियों को स्वचाग्रंथि माना जाता है क्योंकि त्वचा की तरह इनकी भ्रूणीय उत्पत्ति भी बहिर्जनस्तर (ectoderm) की वृद्धि से होती है। तरुण अवस्था मे एस्ट्रोजेन (oestrogen), (स्त्री मदजन), हारमोन और मदचक्र (oestrons cycle) के कारण स्तन ऊतकों को अधिक उत्तेजना मिलती है और स्तन की नली प्रणाली, वसा और स्तन ऊतक में अधिक वृद्धि होती है। गर्भावस्था में स्तनग्रंथि की नलियाँ शाखीय हो जाती हैं और इन शाखाओं के छोर पर एक नई प्रकार की अंगूर की तरह कोष्ठिकाओं (alveori) की वृद्धि होती है। इन कोष्ठिकाओं की आरिच्छद कोशिकाएँ (epithelial cells) दूध और कोलोस्ट्रम (colostrum) स्रावित करने में समर्थ होती हैं जो अवकाशिका (central cavity) में एकत्र होते हैं और इस कारण स्तन में फैलाव भी होता है। गर्भावस्था में कोष्ठिकाओं की वृद्धि को अंडाशय (ovary) के हारमोन (oestrogen) एस्ट्रोजेन और प्रोजेस्टरोन (progesterone) से और पियुषिका पिंड के अग्रखंड (anterior lobe of pituitary) में स्रावित एक दुग्धजनक हारमोन (lactogenic hormone) से अधिक उत्तेजना मिलती है। दूध की उत्पत्ति कोष्ठिकाओं की संख्या पर निर्भर होती है। प्रसूति (parturition) के समय स्तनग्रंथियाँ पूर्ण रूप से विकसित और दूध स्रावित करने में समर्थ रहती हैं।

[प्र० ना० मे०]

स्तरित शैलविज्ञान (Stratigraphy) भौमिकी की वह शाखा है जिसके अतर्गत पृथ्वी के शैलसमूहों, खनिजों और पृथ्वी पर पाए जानेवाले जीव जंतुओं का अध्ययन होता है। पृथ्वी के धरातल पर उसके जन्म से लेकर अब तक हुए विभिन्न परिवर्तनों के विषय में स्तरित शैलविज्ञान हमें जानकारी प्रदान करता है। शैलों और खनिजों के अध्ययन के लिये स्तरित शैलविज्ञान, शैलविज्ञान (petrology) की सहायता लेता है और जीवाश्म अवशेषों के अध्ययन में पुराजीवविज्ञान की। स्तरित शैलविज्ञान के अध्ययन का ध्येय पृथ्वी के विकास और इतिहास के विषय में ज्ञान प्राप्त करना है। स्तरित शैलविज्ञान न केवल पृथ्वी के धरातल पर पाए जानेवाले शैलसमूहों के विषय में ज्ञान प्रदान करता है, बल्कि यह पुरातन भूगोल, जलवायु और जीव जंतुओं की भी एक झलक प्रदान करता है और हम स्तरित शैलविज्ञान को पृथ्वी के इतिहास का एक विवरण कह सकते हैं।

स्तरित शैलविज्ञान को कभी कभी ऐतिहासिक भौमिकी भी कहते हैं जो वास्तव में स्तरित शैलविज्ञान की एक शाखा मात्र है।

इतिहास में पिछली घटनाओं का एक क्रमवार विवरण होता है; पर स्तरित शैलविज्ञान पुरातन भूगोल और विकास पर भी प्रकाश डालता है। प्राणिविज्ञानी (Zoologist), जीवों के पूर्वजों के विषय में स्तरित शैलविज्ञान पर निर्भर हैं। वनस्पतिविज्ञानी (Botanist) भी पुराने पौधों के विषय में अपना ज्ञान स्तरित शैलविज्ञान से प्राप्त करते हैं। यदि स्तरित शैलविज्ञान न होता तो भूआकृतिविज्ञानी (geomorphologists) का ज्ञान भी पृथ्वी के आधुनिक रूप तक ही सीमित रहता। शिल्पवैज्ञानिक (Technologists) को भी स्तरित शैलविज्ञान के ज्ञान के बिना अँधेरे में ही कदम उठाने पड़ते।

इस प्रकार स्तरित शैलविज्ञान बहुत ही विस्तृत विज्ञान है जो शैलों और खनिजों तक ही सीमित नहीं वरन् अपनी परिधि में उन सभी विषयों को समेट लेता है जिनका संबंध पृथ्वी से है।

स्तरित शैलविज्ञान के दो नियम हैं जिनको स्तरित शैलविज्ञान के नियम कहते हैं। प्रथम नियम के अनुसार नीचेवाला शैलस्तर अपने ऊपरवाले से उम्र में पुरातन होता है और दूसरे के अनुसार प्रत्येक शैलसमूह में एक विशिष्ट प्रकार के जीवनिक्षेप संग्रहीत होते हैं।

वास्तव में ये नियम जो बहुत वर्षों पहले बनाए गए थे, स्तरित शैलविज्ञान के विषय में संपूर्ण विवरण देने में असमर्थ हैं। पृथ्वी के विकास का इतिहास मनुष्य के विकास की भाँति सरल नहीं है। पृथ्वी का इतिहास मनुष्य के इतिहास से कहीं ज्यादा उलझा हुआ है। समय ने बार बार पुराने प्रमाणों को मिटा देने की चेष्टा की है। समय के साथ साथ आग्नेय क्रिया (igneous activity) कायांतरण (metamorphism) और शैलसमूहों के स्थानांतरण ने भी पृथ्वी के रूप को बदल दिया है। इस प्रकार वर्तमान प्रमाणों और ऊपर दिए नियमों के आधार पर पृथ्वी का तीन अरब वर्ष पुराना इतिहास नहीं लिखा जा सकता। पृथ्वी का पुरातन इतिहास जानने के लिये और बहुत सी दूसरी बातों का सहारा लेना पड़ता है।

स्तरित शैलविज्ञानी का मुख्य ध्येय है किसी स्थान पर पाए जानेवाले शैलसमूहों का विश्लेषण, नामकरण, वर्गीकरण और विश्व के स्तरशैलों से उनकी समतुल्यता स्थापित करना। उसको पुरातन जीव, भूगोल और जलवायु का भी विस्तृत विवरण देना होता है। उन सभी घटनाओं का जो पृथ्वी के जन्म से लेकर अब तक घटित हुई हैं एक क्रमवार विवरण प्रस्तुत करना ही स्तरित शैलविज्ञानी का लक्ष्य है।

पृथ्वी के आँचल में एक विस्तृत प्रदेश निहित है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि उसके प्रत्येक भाग में एक सी दशाएँ नहीं पाई जाएँगी। बीते हुए युग में बहुत से भौमिकीय और वायुमंडलीय परिवर्तन हुए हैं। इन्हीं कारणों से किसी भी प्रदेश में पृथ्वी का संपूर्ण इतिहास संग्रहीत नहीं है। प्रत्येक महाद्वीप के इतिहास में बहुत सी न्यूनताएँ हैं। इसीलिये प्रत्येक महाद्वीप से मिलनेवाले प्रमाणों को एकत्र करके उनके आधार पर पृथ्वी का संपूर्ण इतिहास निर्मित किया जाता है। किंतु यह ऐसा ढंग है जिसके ऊपर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता और इसीलिये पृथ्वी के विभिन्न भागों में पाए जानेवाले शैलसमूहों के बीच बिल्कुल सही समतुल्यता स्थापित करना संभव नहीं है। इन्हीं कठिनाइयों को दूर करने के लिये स्तरित शैलविज्ञानी समतुल्यता के बदले समस्थानिक (homotaxial) शब्द प्रयोग में लाते हैं जिसका अर्थ है व्यवस्था की सदृशता।

पुरातनयुग में जीवों का विकास एकरूपेण और समान नहीं था। वायुमंडलीय दशाएँ भी जीवविकास के क्रम में परिवर्तन लाती हैं। जो जीव समशीतोष्ण जलवायु में बहुतायत से पाए जाते हैं वे उष्ण जलवायु में जीवित नहीं रह पाएँगे या उनकी संख्या में भारी कमी हो जायगी। हममें से कुछ को रेगिस्तानी जलवायु न भाती हो लेकिन बहुत से लोग इसी जलवायु में रहते हैं। इस प्रकार जीवविकास पृथ्वी के प्रत्येक भाग में एक गति से नहीं हुआ है। आजकल आस्ट्रेलिया में पाए जानेवाले कुछ जीवों के अवशेष यूरोप के मध्यजीवकल्प (Mesozoic Era) में पाए गए हैं। इसलिये यह कहना उचित न होगा कि इन दोनों के पृथ्वी पर अवतरण का समय एक है। [रा० चं० सि०]

स्तालिन, जोज़फ, विसारिओनोविच (१८७९-१९५३) स्तालिन का जन्म जॉर्जिया में गोरी नामक स्थान पर हुआ था। उसके माता पिता निर्धन थे। जोज़फ़ गिर्जाघर के स्कूल में पढ़ने की अपेक्षा अपने सहपाठियों के साथ लड़ने और घूमने में अधिक रुचि रखता था। जब जॉर्जिया में नए प्रकार के जूते बनने लगे तो जोज़फ़ का पिता तिफ्लिस चला गया। यहाँ जोज़फ़ को संगीत और साहित्य में अभिरुचि हो गई। इस समय तिफ्लिस में बहुत सा क्रांतिकारी साहित्य चोरी से बाँटा जाता था। जोज़फ़ इन पुस्तकों को बड़े चाव से पढ़ने लगा। १९ वर्ष की अवस्था में वह मार्क्स के सिद्धांतों पर आधारित एक गुप्त संस्था का सदस्य बना। १८९९ ई० में इसके दल से प्रेरणा प्राप्त कर काकेशिया के मजदूरों ने हड़ताल की। सरकार ने इन मजदूरों का दमन किया। १९०० ई० में तिफ्लिस के दल ने फिर क्रांति का आयोजन किया। इसके फलस्वरूप जोज़फ़ को तिफ्लिस छोड़कर बातूम भाग जाना पड़ा। १९०२ ई० में जोज़फ़ को बंदीगृह में डाल दिया गया। १९०३ से १९१३ के बीच उसे छह बार साइबेरिया भेजा गया। मार्च १९१७ में सब क्रांतिकारियों को मुक्त कर दिया गया। स्तालिन ने जर्मन सेनाओं को हराकर दो बार खार्कोव को स्वतंत्र किया और उन्हें लेनिनग्रेड से खदेड़ दिया।

१९२२ में सोवियत समाजवादी गणराज्यों का संघ बनाया गया और स्तालिन उसकी केंद्रीय उपसमिति में सम्मिलित किया गया। लेनिन और ट्रॉट्स्की विश्वक्रांति के समर्थक थे। स्तालिन उनसे सहमत न था। जब उसी वर्ष लेनिन को लकवा मार गया तो सत्ता के लिये ट्रॉट्स्की और स्तालिन में संघर्ष प्रारंभ हो गया। १९२४ में लेनिन की मृत्यु के पश्चात् स्तालिन ने अपने को उसका शिष्य बतलाया। चार वर्ष के संघर्ष के पश्चात् ट्रॉट्स्की को पराजित करके वह रूस का नेता बन बैठा।

१९२८ ई० में स्तालिन ने प्रथम पंचवर्षीय योजना की घोषणा की। इस योजना के तीन मुख्य उद्देश्य थे — सामूहिक कृषि, भारी

उद्योगों की स्थापना, और नए श्रमिक समाज का निर्माण। सरकार सामूहिक खेतों में उत्पन्न अन्न को एक निश्चित दर पर खरीदती थी और ट्रैक्टर किराए पर देती थी। निर्धन और मध्य वर्ग के कृषकों ने इस योजना का समर्थन किया। धनी कृषकों ने इसका विरोध किया किंतु उनका दमन कर दिया गया। १९४० ई० में ८६% अन्न सामूहिक खेतों में, १२३% सरकारी फार्मों में और केवल १३% व्यक्तिगत किसानों के खेतों में उत्पन्न होने लगा। इस प्रकार लगभग १२ वर्षों में रूस में कृषि में यह क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया। उद्योगों का विकास करने के लिये तुर्किस्तान में बिजली का उत्पादन बढ़ाया गया। नई क्रांति के फलस्वरूप १९३७ में केवल १०% व्यक्ति अशिक्षित रह गए जबकि १९१७ से पूर्व ७६% व्यक्ति अशिक्षित थे।

स्तालिन साम्यवादी नेता ही न था, वह राष्ट्रीय तानाशाह भी था। १९३६ में १३ रूसी नेताओं पर स्तालिन को मारने का षड्यंत्र रचने का आरोप लगाया गया और उन्हें प्राणदंड दिया गया। इस प्रकार स्तालिन ने अपना मार्ग निष्कंटक कर लिया। १९३१ तक मजदूर संघ, सोवियत और सरकार के सभी विभाग पूर्णतया उसके अधीन हो गए। कला और साहित्य के विकास पर भी स्तालिन का पूर्ण नियंत्रण था।

१९२४ में ब्रिटेन के प्रधान मंत्री ने रूस की सरकार को मान्यता दे दी। १९२६ में सोवियत सरकार ने टर्की और जर्मनी आदि देशों से संधि की। १९३४ ई० में रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य बना। जब जर्मनी ने अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा ली तो स्तालिन ने ब्रिटेन और फ्रांस से संधि करके रूस की सुरक्षा का प्रबंध किया। किंतु ब्रिटेन ने जब म्यूनिक समझौते से जर्मनी की मांगें मान लीं तो उसने १९३९ में जर्मनी के साथ तटस्थता की संधि कर ली। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ में रूस ने जर्मनी का पक्ष लिया। जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया तो ब्रिटेन और अमरीका ने रूस की सहायता की। १९४२ में रूस ने जर्मनी को आगे बढ़ने से रोक दिया और १९४३-४४ में उसने जर्मनी की सेनाओं को पराजित किया। १९४५ में स्तालिन ने अपने आपको जेनरलिसिमो (generalissimo) घोषित किया।

फरवरी, १९४५ में याल्टा समेलन में रूस को सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार दिया गया। चेकोस्लोवाकिया से चीन तक रूस के नेतृत्व में साम्यवादी सरकारें स्थापित हो गईं। फ्रांस और ब्रिटेन की शक्ति अपेक्षाकृत कम हो गई। १९४७ से ही रूस और अमरीका में शीत युद्ध प्रारंभ हो गया। साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिये अमरीका ने यूरोपीय देशों को आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया। उसी वर्ष रूस ने अंतरराष्ट्रीय साम्यवाद संस्था को पुनरुज्जीवित किया। स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत रूस ने सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। वस्तुओं का उत्पादन बहुत बढ़ गया और साधारण नागरिक को शिक्षा, मकान, मजदूरी आदि जीवन की सभी आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध हो गईं। [ओं० प्र०]

स्तीफेन, जार्ज (Stephan, George १८६३–१९३३) जर्मन कवि स्तीफेन जार्ज ने उस समय लिखना प्रारंभ किया जब साहित्य में यथार्थवाद का बोलबाला था। अपने गुरु नीत्से (Nietzsche) की भाँति इन्होंने अनुभव किया कि यथार्थवादी प्रवृत्ति साहित्य के लिये घातक सिद्ध हो रही है तथा इसके कुप्रभाव से सौंदर्यबोध एवं सर्जनात्मकता का ह्रास हो रहा है। यथार्थवाद की वेगवती धारा को रोकना इनके साहित्यिक जीवन का मुख्य ध्येय था। सर्वप्रथम इन्होंने भाषा को परिष्कृत करने का कार्य हाथ में लिया।

ईसाई धर्म में विनम्रता, कष्ट सहन करने की क्षमता तथा दीन और निर्बल की सेवा पर जोर दिया गया है। नीत्से ने इस धर्म के उपर्युक्त भावों को दासमनोवृत्ति का परिचायक बताया और उनकी कटु आलोचना की। ईसाई धर्म के विपरीत उसने एक नया जीवन-दर्शन दिया जिसमें शक्ति की महत्ता पर बल दिया गया था। उसके अनुसार महापुरुष नैतिकता अनैतिकता के धरातल से ऊपर उठकर दृढ़ संकल्प के साथ कार्य करने में ही जीवन की सार्थकता देखते हैं। नीत्से के प्रभाव के फलस्वरूप ही जर्मनी में फासिज्म और हिटलर का प्रादुर्भाव हुआ।

स्तीफेन जार्ज ने नीत्से के जीवनदर्शन को साहित्य के क्षेत्र में स्वीकार किया। पराक्रमी पुरुषों में दैवी शक्ति भी निहित होती है। ऐसी ही विभूतियाँ जीवन के चरम मूल्यों की स्थापना कर पाती हैं। जहाँ साधारण प्राणी बहुधा सही गलत की उधेड़बुन में फँस जाते हैं और उनकी क्रियाशीलता किसी न किसी अंश में नष्ट हो जाती है, पराक्रमी पुरुष एकनिष्ठ भाव से अपने लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयास करते हैं। उनमें जीवन और समाज को अपनी धारणाओं के अनुसार नए साँचे में ढालने के लिये अदम्य उत्साह होता है। जार्ज स्तीफेन ने काव्य को आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप माना। श्रेष्ठ कवि बाह्य क्रियाकलाप के आवरण के नीचे छिपे जीवन के मूल तत्वों को प्रकाश में लाता है। उसका काम स्थूल दृष्टि को भोंड़ी दिखनेवाली चीजों में निहित सौंदर्य को निखारना है। सन् १८९० से १९२८ तक इनकी कविताओं के कई संग्रह निकले। इन कविताओं में इन्होंने एक नए जर्मन साम्राज्य की कल्पना प्रस्तुत की जिसमें नेता का आदेश सर्वोपरि होगा। इन्हें जनतंत्र में विश्वास नहीं था और सबके लिये समान अधिकार का सिद्धांत इन्होंने कभी नहीं स्वीकार किया। नया साम्राज्य किसी एक पराक्रमी व्यक्ति के निर्देश में काम करनेवाले कुछ गिने चुने लोगों द्वारा ही स्थापित हो सकता था। जार्ज स्तीफेन ने उस नेता की कल्पना एक कवि के रूप में की और स्वयं को सर्वथा उपयुक्त पाते हुए अपने इर्द गिर्द कवियों के एक गिरोह को भी खड़ा कर लिया। इनके शिष्यों में गंडोल्फ (Friedrich Gundolf) भी थे, जिन्होंने हिटलरी शासन में प्रचारमंत्री डा० गोबेल्स को पढ़ाया था। [सु० ना० सि०]

स्त्रीरोगविज्ञान (Gynaecology) स्त्रीरोगविज्ञान, चिकित्साविज्ञान की वह शाखा है जो केवल स्त्रियों से संबंधित विशेष रोगों, अर्थात् उनके विशेष रचना अंगों से संबंधित रोगों एवं उनकी चिकित्सा विषय का समावेश करती है। स्त्री के प्रजननांगों को दो वर्ग में विभाजित किया जा सकता है (१) बाह्य और (२) आंतरिक।

बाह्य प्रजननांगों में भग (Vulva) तथा योनि (Vagina) का अंतर्भाव होता है।

आंतरिक प्रजननांगों में गर्भाशय, डिंबवाहिनियों और डिंबग्रंथियों का अंतर्भाव होता है।

प्रजननांगों में से अधिकतम की अभिवृद्धि म्यूलरी वाहिनी (Mullerian duct) से होती है। म्यूलरी वाहिनी भ्रूण की उदर गुहा एवं श्रोणिगुहाभित्ति के पश्चपार्श्वीय भाग में ऊपर से नीचे की ओर गुजरती है तथा इनमें मध्यवर्ती, वुल्फियन पिंड एवं नलिकाएँ होती हैं, जिनके युवा स्त्री में अवशेष मिलते हैं।

वुल्फियन नलिकाओं से अंदर की ओर दो उपकला ऊतकों से निर्मित रेखाएँ प्रकट होती हैं, यही प्राथमिक जनन रेखा है जिससे भविष्य में डिंबग्रंथियों का निर्माण होता है।

प्रजननांग संस्थान का शारीरक्रियाविज्ञान — एक स्त्री की प्रजनन आयु अर्थात् यौवनागमन से रजोनिवृत्ति तक, लगभग ३० वर्ष होती है। इस संस्थान की क्रियाओं का अध्ययन करने में हमें विशेषतः दो प्रक्रियाओं पर विशेष ध्यान देना होता है :

(क) बीजोत्पत्ति तथा (ख) मासिक रजःस्रवण। बीजोत्पत्ति का अधिक संबंध बीजग्रंथियों से है तथा रजःस्रवण का अधिक संबंध गर्भाशय से है परंतु दोनों कार्य एक दूसरे से संबद्ध तथा एक दूसरे पर पूर्ण निर्भर करते हैं। बीजग्रंथि (डिंबग्रंथि) का मुख्य कार्य है, ऐसे बीज की उत्पत्ति करना है जो पूर्ण कार्यक्षम तथा गर्भाधान योग्य हों। बीजग्रंथि स्त्री के मानसिक और शारीरिक अभिवृधि के लिये पूर्णतया उत्तरदायी होती है तथा गर्भाशय एवं अन्य जननांगों की प्राकृतिक वृद्धि एवं कार्यक्षमता के लिये भी उत्तरदायी होती है।

बीजोत्पत्ति का पूरा प्रक्रम शरीर की कई हारमोन ग्रंथियों से नियंत्रित रहता है तथा उनके हारमोन (Harmone) प्रकृति एवं क्रिया पर निर्भर करते हैं। अग्रपीयूष ग्रंथि को नियंत्रक कहा जाता है।

गर्भाशय से प्रति २८ दिन पर होनेवाले श्लेष्मा एवं रक्तस्राव को मासिक रजःस्राव कहते हैं। यह रजःस्राव यौवनागमन से रजोनिवृत्ति तक प्रति मास होता है। केवल गर्भावस्था में नहीं होता है तथा प्रायः धात्री अवस्था में भी नहीं होता है। प्रथम रजःस्राव को रजोदय अथवा (menarche) कहते हैं तथा इसके होने पर यह माना जाता है कि अब कन्या गर्भधारण योग्य हो गई है तथा यह प्रायः यौवनागमन के समय अर्थात् १३ से १५ वर्ष के वय में होता है। पैंतालीस से पचास वर्ष के वय में रजःस्राव एकाएक अथवा धीरे धीरे बंद हो जाता है। इसे ही रजोनिवृत्ति कहते हैं। ये दोनों समय स्त्री के जीवन के परिवर्तनकाल हैं।

प्राकृतिक रजःचक्र प्रायः २८ दिन का होता है तथा रजःदर्शन के प्रथम दिन से गिना जाता है। यह एक रजःस्राव काल से दूसरे रजःस्राव काल तक का समय है। रजःचक्र के काल में गर्भाशय अंतः-कला में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें चार अवस्थाओं में विभाजित कर सकते हैं (१) वृद्धिकाल, (२) गर्भाधान पूर्वकाल, (३) रजः-स्रावकाल तथा (४) पुनर्निर्माणकाल।

(१) रजःस्राव के समाप्त होने पर गर्भाशय कला के पुनः निर्मित हो जाने पर यह गर्भाशयकला वृद्धिकाल प्रारंभ होता है तथा अंडोत्सर्ग (ovulation) तक रहता है। अंडोत्सर्ग (जीवग्रंथि से अंडोत्सर्ग) मासिक रजःस्राव के प्रारंभ होने के पंद्रहवें दिन होती है। इस काल में गर्भाशय अंतःकला धीरे धीरे मोटी होती जाती है तथा डिंबग्रंथि में डिंबनिर्माण प्रारंभ हो जाता है। डिंबग्रंथि के अंतःस्राव ओस्ट्रोजेन की मात्रा बढ़ती है क्योंकि ग्रेफियन फालिकल वृद्धि करता है। गर्भाशय अंतःकला ओस्ट्रोजेन के प्रभाव में इस काल में ४-५ मिमी तक मोटी हो जाती है।

(२) इस अवस्था के पश्चात् स्राविक या गर्भाधान पूर्वकाल प्रारंभ होता है तथा १४ दिन तक रहता है अर्थात् रजःस्राव प्रारंभ होने तक रहता है। रजःस्राव के पंद्रहवें दिन डिंबग्रंथि से अंडोत्सर्ग (ovulation) होने पर पीत पिंड (Corpus Luteum) बनता है तथा इसके द्वारा निर्मित स्रावों (प्रोजेस्ट्रान) तथा ओस्ट्रोजेन के प्रभाव के अंतर्गत गर्भाशय अंतःकला में परिवर्तन होते रहते हैं। यह गर्भाशय अंतःकला अंततोगत्वा (पतनिका decidua) में परिवर्तित होती है जो कि गर्भावस्था की अंतःकला कही जाती है। ये परिवर्तन इस रजःचक्र के २८ दिन तक पूरे हो जाते हैं तथा रजःस्राव होने से पूर्व गर्भाशय अंतःकला की मोटाई ६-७ मिमी होती है।

(३) रजःस्रावकाल ४-५ दिन का होता है। इसमें गर्भाशय अंतःकला की बाहरी सतह टूटती है और रक्त एवं श्लेष्मा का स्राव होता है। जब रजःस्रावपूर्व होनेवाले परिवर्तन पूरे हो चुकते हैं तब गर्भाशय अंतःकला का अपजनन प्रारंभ होता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस अंतःकला का बाह्य स्तर तथा मध्य स्तर ही इन अंतःस्रावों से प्रभावित होते हैं तथा गहन स्तर या अंतः-स्तर अप्रभावित रहते हैं। इस तरह से रजःस्राव में रक्त, श्लेष्मा इपीथीलियम कोशिकाएँ तथा स्ट्रोमा (stroma) कोशिकाएँ रहती हैं। यह रक्त जमता नहीं है। रक्त की मात्रा ४ से ८ औंस तक प्राकृतिक मानी जाती है।

(४) पुनः जनन या निर्माण का कार्य तब प्रारंभ होता है जब रजःस्रवण की प्रक्रिया द्वारा गर्भाशय अंतःकला का अपजनन होकर उसकी मोटाई घट जाती है। पुनः जनन अंतःकला के गंभीर स्तर से प्रारंभ होता है तथा अंतःकला वृद्धिकाल के समान दिखाई देता है।

रजःस्राव के विकार — (१) अडिंबी (anouhlar) रजः-स्राव — इस विकार में स्वाभाविक रजःस्राव होता रहता है, परंतु स्त्री बंध्या होती है।

(२) रुद्धार्तव (Amehoryboea) स्त्री के प्रजननकाल अर्थात् यौवनागमन (Puberty) से रजोनिवृत्ति तक के समय में रजः-स्राव का अभाव होने को रुद्धार्तव कहते हैं। यह प्राथमिक एवं द्वितीयक दो प्रकार का होता है। प्राथमिक रुद्धार्तव में प्रारंभ से से ही रुद्धार्तव रहता है जैसे गर्भाशय की अनुपस्थिति में होता है। द्वितीयक में एक बार रजःस्राव होने के पश्चात् किसी विकार के कारण बंद होता है। इसका वर्गीकरण प्राकृतिक एवं वैकारिक भी किया जाता है। गर्भिणी, प्रसूता, स्तन्यकाल तथा यौवनागमन के

पूर्व तथा रजोःनिवृत्ति के पश्चात् पाया जानेवाला रक्तार्तव प्राकृतिक होता है। गर्भधारण का सर्वप्रथम लक्षण रक्तार्तव है।

(३) हीनार्तव (Hypomenorrhoea) तथा स्वल्पार्तव (oligomenorrhoea) — हीनार्तव में मासिक (menstrual cycle) रजःचक्र का समय बढ़ जाता है तथा अनियमित हो जाता है। स्वल्पार्तव में रजःस्राव का काल तथा उसकी मात्रा कम हो जाती है।

(४) ऋतुकालीन अत्यार्तव — (Menorrhagia) रजःस्राव के काल में अत्यधिक मात्रा में रज स्राव होना।

(५) अऋतुकालीन अत्यार्तव (Metrorrhagia) दो रज स्रावकाल के बीच बीच में रक्तस्राव का होना।

(६) कष्टार्तव — (Dysmenorrhoea) इसमें अतिस्राव के साथ वेदना बहुत होता है।

(७) श्वेत प्रदर (Leucorrhoea) — योनि से श्वेत या पीत श्वेत स्राव के आने को कहते हैं। इसमें रक्त या पूय नहीं होना चाहिए।

(८) बहुलार्तव (Polymenorrhoea) — इसमें रजःचक्र २८ दिन की जगह कम समय में होता है जैसे २१ दिन का अर्थात् स्त्री को रजःस्राव शीघ्र शीघ्र होने लगता है। अंडोत्सर्ग (ovulation) भी शीघ्र होने लगता है।

(९) वैकारिक आर्तव (Metropathia Haemorrhagica) — यह एक अनियमित, अत्यधिक रजःस्राव की स्थिति होती है।

कानीय रजोदर्शन — निश्चित वय या काल से पूर्व ही रजःस्राव के होने को कहते हैं तथा इसी प्रकार के यौवनागमन को कानीन यौवनागमन कहते हैं।

(१०) अप्राकृतिक आर्तव क्षय — निश्चित वय या काल से बहुत पूर्व तथा आर्तव विकार के साथ आर्तव क्षय को कहते हैं। प्राकृतिक क्षय चक्र की अवधि बढ़कर या मात्रा कम होकर धीरे धीरे होता है।

प्रजननांगों के सहज विकार — (१) बीजग्रंथियाँ — ग्रंथियों की ह्रस्व वृद्धि (Hypoplasea) पूर्ण अभाव आदि विकार बहुत कम उपलब्ध होते हैं। कभी कभी अंडग्रंथि तथा बीजग्रंथि संमिलित उपस्थित रहती है तथा उसे अंडवृषण (ovotesties) कहते हैं।

(२) बीजवाहिनियाँ — इनका पूर्ण अभाव, आंशिक वृद्धि, तथा इनका अंधवर्ध (diverticulum) आदि विकार पाए जाते हैं।

(३) गर्भाशय — इस अंग का पूर्ण अभाव कदाचित् ही होता है (अ) गर्भाशय में दो शृंग, एवं दो ग्रीवा होती है तथा दो योनि होती है अर्थात् दोनों म्यूलरी वाहिनी परस्पर विलग विलग रहकर वृद्धि करती है। इसे डाइडेलफिस (didelphys) गर्भाशय कहते हैं। (आ) इस तरह वह अवस्था जिसमें म्यूलरी वाहिनियाँ परस्पर विलग रहती हैं परंतु ग्रीवा योनिसंधि पर संयोजक ऊतक द्वारा संयुक्त होती है उसे कूट डाइडेल फिस कहते हैं। (इ) कभी गर्भाशय में दो शृंग होते हैं जो एक गर्भाशय ग्रीवा में खुलते हैं। (ई) कभी गर्भाशय स्वाभाविक दिखाई देता है परंतु उसकी तथा ग्रीवा की गुहा, पट द्वारा विभाजित रहती है। यह पट पूर्ण तथा अपूर्ण हो सकता है। (उ) कभी कभी छोटी छोटी अस्वाभाविकताएँ गर्भाशय में पाई जाती हैं जैसे शृंग का एक ओर झुकना, गर्भाशय का चिपका होना आदि। (ऐ) शैशविक आकार एवं आयतन का गर्भाशय युवावस्था में पाया जाता है क्योंकि जन्म के समय से ही उसकी वृद्धि रुक जाती है। (ओ) अल्पविकसित गर्भाशय में गर्भाशय शरीर छोटा तथा ग्रैवेय ग्रीवा लंबी होती है।

(४) गर्भाशय ग्रीवा — (अ) ग्रीवा के बाह्य एवं अंतःमुख का बंद होना। (आ) योनिगत ग्रीवा का सहज अतिलंब होना एवं भग तक पहुँचना।

(५) योनि — योनि कदाचित् ही पूर्ण लुप्त होती है। योनिछिद्र का लोप पूर्ण अथवा अपूर्ण, पट द्वारा योनि का लंबाई में विभाजन आदि प्रायः मिलते हैं।

(६) इसमें अत्यधिक पाए जानेवाले सहज विकारों योनिच्छद का पूर्ण अछिद्रित होना या चलनी रूप छिद्रित होना होता है।

जननांगों के आघातज विकार एवं अपविस्थापन — (१) मूलाधार (Perineaum) तथा भग के विकार — साधारणतया प्रसव में इनमें विदर हो जाती है तथा कभी कभी प्रथम संयोग से, आघात से तथा कंडु से भी विदरव्रण बन जाते हैं।

(२) योनि के विकार — गिरने से, प्रथम संयोग से, प्रसव से, यंत्रप्रवेश से, पेसेरी से तथा श्रोणिभित्तिसर्ग से ये आघातज विकार होते हैं। इसी तरह प्रसव से योनि गुद तथा मूत्राशय योनि भगदर उत्पन्न होते हैं।

(३) गर्भाशय ग्रीवा विकार — ग्रीवाविदर प्रायः प्रसव से उत्पन्न होता है।

(४) गर्भाशय एवं सह अंगों के विकार — प्रायः ये विकार कम होते हैं। गर्भाशय में छिद्र शल्यकर्म अथवा गर्भपात में यंत्रप्रयोग से होता है।

(५) गर्भाशय का विस्थापन — (displacesment) (अ) गर्भाशय का अति अग्रनमन (anteversion) होना अथवा पश्चनति (Retroversion) होना। (आ) योनि के अक्ष से गर्भाशय अक्ष के संबंध का विकृत होना अर्थात् दोनों अक्षों का एक रेखा में होना अथवा प्रत्यावक्र (Retroflexion) होना। (इ) श्रोणिगुहा में गर्भाशय की स्थिति की जो प्राकृत सतह है उससे ऊपर या नीचे स्थित होना या भ्रंश (Prolapse) होना। (ई) गर्भाशय भित्तियों का उसकी गुहा में लटकना या विपर्यय (Inversion) होना।

प्रजननांगों के उपसर्ग

भग के उपसर्ग — (१) भग के विशिष्ट उपसर्ग — तीव्र भगशोथ, बार्थोलियन ग्रंथिशोथ गोनोरिया में होते हैं। डुक्रे के जीवाणुओं द्वारा भग में मृदुव्रण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार के यक्ष्मा एवं फिरंगज व्रण भी भग पर पाए जाते हैं।

(२) इतरैतिक भगशोथ — मधुमेह, पूयमेह, मूत्रस्राव, कृमि एवं अर्श आदि में व्रण उत्पन्न होते हैं जिनसे यह शोथ होता है।

(३) प्राथमिक त्वक्विकार — पिडिकाएँ, हरपिस आदि त्वक्विकार भगत्वक् में भी होता है।

(४) विशिष्ट प्रकार के भगशोथ — (अ) भग परिगलन (gangrene) यह मीसल्स, प्रसूतिज्वर अथवा रतिजन्य रोगों में होता है।

(आ) बेचेट का लक्षण — यह मासिक स्राव पूर्व दिनों में होता है। इसमें मुखपाक, नेत्र-श्लेष्मा-शोथ सहलक्षण रूप में होता है।

(इ) अप्थस भगशोथ (apthous) इसमें भग का थ्रश (Thrush) रूपी उपसर्ग होता है।

(ई) हूरी सेपलास भग — रक्त लाई स्ट्रेप्टोकोकस के उपसर्ग से भगशोथ होता है।

(उ) भग योनिशोथ (बालिकाओं में) — यह स्वच्छता के अभाव में अस्वच्छ तौलियों के प्रयोग से होनेवाले गोनोकोकस उपसर्ग से तथा मैथुनप्रयत्न से होता है।

(५) भग के चिरकालिक विशेष रोग —

(अ) भग का ल्युकोप्लेकिया (leucoplakia) — भग त्वचा का यह एक विशेष शोथ रजोनिवृत्ति के पश्चात् हो सकता है।

(आ) क्राराउसिस (kraraosis) भग — ग्रीवग्रंथियों की अकर्मण्यता होने पर यह भगशोथ उत्पन्न होता है।

योनि के उपसर्ग — यों तो कोई भी जीवाणु या वाइरस का उपसर्ग योनि में हो सकता है तथा योनिशोथ पैदा हो सकता है परंतु बीकोलाई, डिप्थेराइड, स्टेफिलोकोकस, स्ट्रप्टोकोकस, ट्रिकनामस मोनिला (श्वेत) का उपसर्ग अधिकतर होता है।

(१) बालयोनिशोथ — इसमें उपसर्ग के साथ साथ अंतःस्राविक कारक भी सहयोगी होता है।

(२) द्वितीयक योनिशोथ — पेसेरी के आघात, तीव्र पूतिरोधक द्रव्यों से योनिप्रक्षालन, गर्भनिरोधक रसायन, गर्भाशय ग्रीवा से चिरकालिक औपसर्गिक स्राव आदि के पश्चात् होनेवाले योनिशोथ।

(३) प्रसवपश्चात् योनिशोथ — कठिन प्रसवजन्य विदार इत्यादि तथा आस्ट्रोजेन के प्रभाव को कुछ समय के लिये हटा देने से बीजोत्सर्ग न होने से होता है।

(४) वृद्धावस्थाजन्य योनिशोथ — यह केवल वृद्धयोनि का शोथ है।

गर्भाशय के उपसर्ग — स्त्रीरोगों में प्रायः मुख होते हैं। यह ऊर्ध्वगामी तथा अधःगामी दोनों प्रकार का होता है। प्रसव, गर्भपात, गोनोरिया, गर्भाशयभ्रंश, यक्ष्मा, अर्बुद, ग्रीवा का विस्फोट आदि के पश्चात् प्रायः उपद्रव रूप उपसर्ग होता है। गर्भाशयशोथ — आधारीय स्तर में चिरकालिक शोथ से परिवर्तन होते हैं परंतु प्रायः इनके साथ गर्भाशय पेशी में भी ये चिरकालिक शोथपरिवर्तन होते हैं। यह शोथ तीव्र, अनुतीव्र, चिरकालिक वर्ग में तथा यक्ष्मज और वृद्धताजन्य में विभाजित होता है।

बीजवाहिनियों तथा बीजग्रंथियों के उपसर्ग —

बीजवाहिनी बीजग्रंथि शोथ — इसके अंतर्गत बीजवाहिनी बीजग्रंथि तथा श्रोणिकला के जीवाणुओं द्वारा होनेवाले उपसर्ग आते हैं। यह उपसर्ग प्रायः नीचे योनि से ऊपर जाता है परंतु यक्ष्मज बीजवाहिनी शोथ प्रायः श्रोणिकला से प्रारंभ होता है अथवा रक्त द्वारा लाया जाता है।

प्रजनन अंगों के अर्बुद (tumours) — इसके अंतर्गत नियोप्लाज्म (neoplasm) के अलावा अन्य अर्बुद भी वर्णित किए जाते हैं।

(१) भगयोनि के अर्बुद — (क) भग के अर्बुद —

(अ) भगशिश्न की अतिपुष्टि — यह प्रायः सहज होती है। हस्तमैथुन, बीजग्रंथि अर्बुद, चिरकालिक उपसर्ग तथा अधिवृक्क ग्रंथि के रोगों में यह रोग उपद्रव स्वरूप होता है।

(आ) लघु भगोष्ठ की अतिपुष्टि — यह प्रायः सहज होती है परंतु चिरकालिक उत्तेजनाओं से भी होती है।

(इ) पुटियुक्त शोथ (cystic swelling) — इसके अंतर्गत (१) बार्थोलियन पुटी, (२) नक (nuck) नलिका हाइड्रोसील, (३) इंडोमेट्रियोमाटा तथा (४) भगोष्ठों के एवं भगशिश्निका के सिस्ट आते हैं।

(ई) रक्तवाहिकामय शोथ — भग की सिराओं का फूलना तथा भग में रक्तसंग्रह (haematoma) आदि साधारणतया मिलता है।

(उ) वास्तविक अर्बुद —

(१) अघातक — (क) फाइब्रोमाटा (छोटा, कड़ा तथा पीड़ारहित)

(ख) पेपिलोमाटा (प्रायः अकेला वटि के समान होता है)

(ग) लाइपोमाटा (अधःत्वक् में प्रारंभ होता है।)

(घ) हाइड्रेडिनोमा (स्वेदग्रंथि का अर्बुद)

(२) घातक — (अ) कारसिनोमा भग, (आ) एडिनो कारसिनोमा (बार्थोलियन ग्रंथि से प्रारंभ होता है)।

(३) विशिष्ट — (क) बेसल कोशिका कार्सिनोमा (रोडांडव्रण)

(ख) इपीथीलियल अंतःकारसिनोमा

(१) बी एन का रोग

(२) घातक मेलिनोमा

(३) पेजेट का रोग

(४) सारकोमा

(५) द्वितीयक कोरियन इपिथोलियमा

(ख) योनि के अर्बुद —

(अ) गार्टनर नलिका का सिस्ट

(आ) इक्लूजन सिस्ट (शल्यकर्म के द्वारा इपीथीलियम को अंतःप्रविष्ट करने से बनता है)।

(इ) वास्तविक अर्बुद —

(१) अघातक — (क) फाइब्रोमा (गोल, कठिन, चल)

(ख) पेपिलोमाटा

(२) घातक— (क) कार्सिनोमा (प्राथमिक, द्वितीयक)

(ख) सारकोमा

(२) गर्भाशय के अर्बुद गर्भाशय के अघातक अर्बुद पेशी से या अंत:कला से उत्पन्न होते हैं अथवा गर्भाशय तंतु पेशी से उत्पन्न होते हैं।

(अ) फाइब्रोमायोमाटा—ये अचल, धीरे धीरे बढ़नेवाले तथा गर्भाशयपेशी मे स्थित आवरण से युक्त होते हैं। ये गर्भाशयशरीर में प्राय: होते हैं कभी कभी अर्बुद गर्भाशयग्रीवा में भी पाए जाते हैं। गर्भाशय में तीन प्रकार के होते हैं—(क) पेरीटोनियम के नीचे (ख) पेशी के अंतर्गत और (ग) अंत:कला के नीचे।

(आ) गर्भाशय पालिपस — ये अधिकतर पाए जाते हैं। ग्रीवा एवं शरीर दोनों में होते हैं।

शरीर में : एडिनोमेटस, फाइब्राइड, अपरा के कार्सिनोमा एवं सार्कोमाम। ग्रीवा में —अंत:कला के फाइब्राइड, कार्सिनोमा, सार्कोमा, गर्भाशय के घातक अर्बुद, इपीथीलियल कोशिकाओं से उत्पन्न होते हैं। अत: कार्सिनोमा तथा सारकोमा से अधिक पाए जाते हैं।

(३) बीजग्रंथि के अर्बुद — इनमें होनेवाली पुटि (सिस्ट) तथा अर्बुद का वर्गीकरण करना कठिन होता है क्योंकि उन कोशिकाओं का जिनसे ये उत्पन्न होते हैं विनिश्चय करना कठिन होता है।

(अ) फालिक्यूलर सिस्टम के सिस्ट — फालिक्यूलर सिस्ट, पीतपिंड सिस्ट, थीकाल्यूटीन सिस्ट।

(आ) इपीथीलयम अर्बुद

घातक	अघातक
१ — साधारण सीरस	१ — कार्सिनोमा प्राथमिक
२ — पेपेलरी सिरस सिस्ट एडिनोमा	२ — कार्सिनोमा द्वितीयक (प्रजननांगों से / अन्य अंगों से)
३ — कूट म्यूसीन सिस्ट एडिनोमा	
४ — गर्भाशयिक विस्तृत स्नायु बीजग्रंथि सिस्ट	

अन्य रोगवर्ग
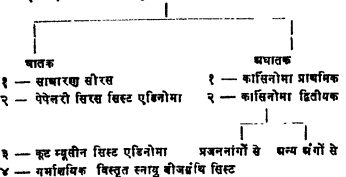
(१) इंडोमेट्रोसिस (endometrosis) इस विकार का मुख्य कारण यह है कि इंडोमेट्रियम ऊतक अपने स्थान के अलावा अन्य स्थानों पर उपस्थित रहता है।

(२) इनके अतिरिक्त अन्य रोग जैसे बंध्यत्व, कष्ट मैथुन, नपुंसकता, योनापकर्ष आदि नाना रोगों का वर्णन तथा चिकित्सा का वर्णन इस शास्त्र में करते हैं। [ल० वि० शु०एवं वि० नं० पां०]

स्थानीय कर इन्हें स्थानीय संस्थाएँ जैसे नगरनिगम, नगरपालिकाएँ, जिलामंडल, सुधार प्रन्यास (improvement trusts), ग्रामसभाएँ तथा पंचायतें आरोपित एवं संगृहीत करती हैं। इन संस्थाओं का गठन एवं इनके अधिकार संसद् एवं राज्य विधानमंडलों द्वारा बनाई विधियों के अनुसार होते हैं, इनके कराधिकार भी संविधानीय रूप में निश्चित न होकर विधियों एवं अधिनियमों में निर्धारित होते हैं। ये संस्थाएँ करारोपण तभी कर सकती हैं जब इन्हें इस विषय में अधिकार प्राप्त हों। ये संस्थाएँ वे कर लगाती हैं जो संविधान की सप्तम अनुसूची में दी हुई राज्यसूची में निहित हैं और राज्यमंडलों ने इन्हें सौंप दिया है। इन करों में निम्न कर शामिल हैं —

१. भूमि और भवनकर,

२. स्थानीय क्षेत्र में उपभोग, प्रयोग या विक्रय के लिये वस्तुओं के प्रवेश पर कर,

३. मार्ग उपयोगी यानों पर कर,

४. पशुओं और नौकाओं पर कर,

५. पथकर (tolls),

६. वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं और नौकरियों पर कर,

७. विलास, आमोद विनोद कर तथा

८. प्रतिव्यक्ति कर (capitation tax) इत्यादि।

राज्यों में ग्रामसभाएँ और पंचायतें प्राय: सामान्य संपत्तिकर, व्यवसायकर, पशु तथा वाहनकर लगाती हैं। वे राज्य सरकारों को भूराजस्व (land revenue) के संग्रहण कार्य में सहायक होती हैं, और भूराजस्व पर लगनेवाले कर लगाती भी हैं। जिला मंडलों के कराधिकार सीमित होते हैं। वे बहुधा उपकर लगाते हैं। संपत्तिकर वे नहीं लगाते। नगरनिगम और नगरपालिकाएँ अधिक कर लगाती हैं। इन करों में भूमिकर, भवनकर, स्थानीय उपभोग कर, स्थानीय प्रयोग तथा विक्रय हेतु स्थानीय क्षेत्र में लाई हुई वस्तुओं पर कर, मार्ग उपयोगी वाहनकर, पशुकर, पथकर, वृत्तीय कर, आमोद-प्रमोद कर, प्रतिव्यक्ति कर इत्यादि संमिलित हैं। अधिकांश नगरनिगमों तथा नगरपालिकाओं का राजस्वस्रोत संपत्तिकर (गृहकर) और जलकर है। संपत्तिकर अचल संपत्ति पर लगता है। कर की राशि संपत्ति के वार्षिक मूल्य अथवा पूंजीगत मूल्य पर आधारित होती है, पर पूंजीगत मूल्य पर कर स्थानीय संस्थाएँ नहीं लगा सकतीं, क्योंकि ऐसा कर राज्यसूची में उल्लिखित नहीं है और केवल संसदीय विधि के अंतर्गत आधारित एवं संगृहीत किया जा सकता है। स्थानीय संस्थाओं द्वारा आधारित संपत्ति-कर-राशि बहुधा भवनों के नियंत्रित किराए के आधार पर निश्चित की जाती है। मदरास राज्य में ग्रामपंचायतें मकान के कुर्सीक्षेत्र एवं बनावट की किस्म के आधार पर भी संपत्ति कर आरोपित करती हैं।

प्रत्येक राज्य में नगरपालिकाएँ आमोद-प्रमोद-कर नहीं लगातीं, पर कुछ राज्यों में, जैसे महाराष्ट्र में, उन्हें यह अधिकार प्राप्त है। दिल्ली नगरनिगम के अधिकार बबई नगरनिगम तथा कलकत्ता नगरनिगम के से विस्तृत हैं। स्थानीय संस्थाएँ संपत्तिकर धार्मिक स्थानों, मंदिरों मस्जिदों, गिरजाघरों, गुरुद्वारों आदि के भवनों पर नहीं लगातीं। दिल्ली में यह धर्मशालाओं तथा अन्य ऐसे स्थानों पर से उठा लिया गया है। कोई भी स्थानीय कर, प्रतिरक्षा दलों के सदस्यों से संगृहीत नहीं किया जाता (स्थानीय संस्थाएँ कर अधिनियम १८८१)। कर भारत सरकार की संपत्ति पर आम तौर से नहीं लग सकता, यदि संविधान के पूर्वकाल में भारत सरकार की किसी संपत्ति पर कर लगता था, तो अब भी लग सकता है, पर कोई नया कर

लगाने के पूर्व संसद् की अनुमति आवश्यक है; और संसदीय विधि के अनुसार और रीति से बन सकता है (अनुच्छेद २८५)।

[मं० चं० जै० का०]

स्नातक भारतीय शिक्षापद्धति का ग्रैजुएट (graduate) कहा जा सकता है। वर्णाश्रम और शिक्षा ग्रहण का भारतीय विधान यह था कि द्विज ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत संस्कार के बाद अपनी शिक्षा की पूर्णता के उद्देश्य से गुरुकुल (गुरु के घर) जाय। वहाँ ब्रह्मचर्य और शिक्षा समाप्त कर चुकने पर उस ब्रह्मचारी का समावर्तन संस्कार होता और वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिये घर लौटता था। लौटते समय उसे एक प्रकार का याज्ञिक स्नान कराया जाता था, जिससे उसे स्नातक की संज्ञा मिलती थी। शिक्षा, संस्कार तथा विनय की पूर्णता अथवा अपूर्णता की दृष्टि से स्नातकों के तीन प्रकार माने जाते थे। वेदाध्ययन मात्र को पूर्ण करनेवाले की विद्यास्नातक संज्ञा होती थी। वह ज्ञानप्राप्ति के बाद घर वापस चला जाता था। व्रतस्नातक वह होता, जिसने ब्रह्मचर्याश्रम के सभी व्रतों (विनय और नियमों) का तो पालन कर लिया हो, किंतु वेदाध्ययन की पूर्णता न प्राप्त की हो। विद्याव्रत स्नातक का तीसरा प्रकार ही विशिष्ट था, जिसमे अध्ययन और व्रतनियमादि की समान सिद्धि प्राप्त की जा चुकी हो। कभी कभी स्नातक अपनी शिक्षा प्राप्त कर घर नहीं लौटता था, अपितु गुरुकुल में ही अध्यापन का कार्य शुरू कर देता था। किंतु इससे उसके स्नातकत्व में कोई कमी नहीं पड़ती थी।

[वि० पा०]

स्पंज जल में रहनेवाला एक बहुकोशिक प्राणी है। साधारण तौर से देखने में यह पौधों की भाँति लगता है। इसीलिये पहले इसकी गणना वनस्पतिविज्ञान के अंतर्गत होती थी। परंतु सन् १७६५ में एलिस (Ellis) ने देखा कि इसमें जल की धाराएँ अंदर जाती हैं और बाहर आती हैं। उसके बाहरी छिद्र 'ऑस्कुला' की गति भी देखी और यह प्रमाणित किया कि यह जानवर है वनस्पति नहीं। इनको अंग्रेजी में पॉरीफैरा (Porifara) कहते हैं, इसलिये कि इनके सारे शरीर पर छोटे छोटे छेद (Pore) होते हैं। यद्यपि यह बहुकोशिक है तथापि यह स्पष्ट रूप से प्राणी के विकास की सीधी रेखा पर नहीं है, इसीलिये इसे पैराजोआ (Parazoa) अतिरिक्त प्राणी भी कहा जाता है।

स्नान के समय शरीर को रगड़ने के काम आनेवाला स्पंज इन जंतुओं का कंकाल मात्र है। पुराने ग्रीसवासी भी स्नान के समय इसका उपयोग करते थे। मेज और फर्श को भी स्पंज से रगड़कर साफ किया जाता था। सिपाही अपने कवच तथा पैरों में पहने जानेवाले कवच के नीचे स्पंज भरते थे, ताकि उनके कवचकुंडल ढीले न रह जाएँ। रोम के निवासी इन्हें रँगनेवाले ब्रुश में लगाते थे और बाँस के सिरों पर बाँधकर झाड़ू बनाते थे। आज भी स्पंज अनेक कामों में आता है। इसीलिये समुद्र की गहराई से स्पंज को निकालना तथा उनका एकत्र करना एक व्यवसाय बन गया है। लगभग एक हजार टन स्पंज हर वर्ष एकत्र किया जाता है। स्नान के काम में लाया जानेवाला स्पंज केवल गरम तथा उथले समुद्र में पैदा होता है, परंतु अन्य प्रकार के स्पंज समुद्र की तली पर रहते हैं। नदियों, झीलों और तालाबों में भी स्पंज सफलता से पनपते हैं।

देखने में जीवित स्पंज स्नानागार के स्पंज से बिलकुल भिन्न लगता है। वह चिकना होता है। स्पंज के संरचनात्मक अध्ययन के लिये लिऊकोसोलेनिया (Leucosolenia) नामक स्पंज की रचना जान लेना आवश्यक है। यह एक लंबे फूलदान के आकार का होता है जो ऊपर चौड़ा तथा नीचे पतला होता है। इसके ऊपरी सिरे पर एक बड़ा छेद होता है, जिससे जल की धारा बाहर निकलती है। इस छेद को बहिर्वाही नाल (Excurrent canal) या ऑसकुलम (Osculum) कहते हैं। यह शरीर की मध्यस्थ गुहा में खुलता है। मध्यस्थ गुहा को स्पंजगुहा (spongvocoel), अवस्कर (cloaca) अथवा जठरांगगुहा (Paragastric cavity) कहते हैं। चारों ओर देहभित्ति में अनेक छोटे छोटे छेद होते हैं। इनसे जल मध्यस्थगुहा में आता है। इसलिये इन्हें अंतर्वाही रंध्र (Incurrent pores) या आस्य (ostia) कहते हैं। इन छिद्रों से प्रविष्ट जल एक नन्हीं सी नलिका से होकर अंदर जाता है। इसको अंतर्वाही नाल (Incurrent canal) कहते हैं। देहभित्ति के बाहर की परत चपटी बहुभुजी कोशिकाएँ होती हैं।

मध्यस्थ गुहा की भीतरी परत विशेष प्रकार की कोशिकाओं से बनती है। इनको कीप कोशाभिका (Collared flagellates) कहते हैं। इनकी रचना अजीब ढंग की होती है। इनके स्वतंत्र सिरों पर प्रोटोप्लाज्म (Protoplasm) की एक कीप होती है। कीप के बीच से एक लंबी कशाभिका (Flagellum) निकलती है। इसलिये इन्हें कीप कशाभिका कहते हैं। कशाभिका की गति से जलप्रवाह प्रारंभ होता है और जल अंतर्वाही रंध्र से अंदर आता है तथा बहिर्वाही रंध्र से बाहर निकलता है। जल की धारा के साथ छोटी छोटी वनस्पति तथा जंतु आदि अंदर आ जाते हैं। कशाभिका इनको पकड़कर भोजन करती हैं। इनके भोजन करने का ढंग भी निराला है। भोज्य पदार्थ कशाभिका की सतह पर चिपक जाते हैं और बाहर ही बाहर नीचे के भाग में चले जाते हैं। यह भाग इनको अपने अंदर कर लेता है, उसी तरह जैसे अमीबा अपना भोजन करता है। अंदर खाद्यरिक्तिका (Food vacaoles) बन जाती हैं और पाचनक्रिया उन्हीं के अंदर पूरी होती है। ये कशाभिकाएँ एककोशिक कशाभिकाओं से मिलती जुलती हैं, और इसी प्रकार भोजन भी करती हैं। इसलिये ऐसा अनुमान किया जाता है कि स्पंज को जन्म उन्हीं एककोशिकीय प्राणियों ने दिया जिनसे आधुनिक कशाभिका एककोशिक प्राणी पैदा हुए हैं।

बाहरी रक्षा करनेवाली परत और मध्यस्त गुहा के स्तर के बीच में निर्जीव जेली (jelly) जैसा पदार्थ है। इसमें पूर्वमध्यजन कोशिका इधर उधर अमीबा की भाँति घूमती रहती है। यह साधारण कोशिका है जो एक दूसरे से अपने कूटपाद (Pseudopod) द्वारा जुड़ी रहती हैं। यह सबसे कम विशिष्टताप्राप्त कोशिका है और आवश्यकता पड़ने पर किसी विशिष्ट रूप को प्राप्त कर सकती है। यह

कशाभिका से अथवा भोजन प्राप्त कर सकती है और उसकी पाचनक्रिया की पूर्ति करके आवश्यकतानुसार भोजन बाँटती है। कुछ लोगों का विचार है कि यह नाइट्रोजनीय क्षय पदार्थ तथा उत्सर्ग की परिवहन अभिकर्ता है। कुछ कोशिकाएँ भोजन एकत्र करती हैं और कुछ ऐसी हैं जो अंडाणु (Ova) और शुक्राणु (Spermatozoa) बनाती हैं।

पूर्वमध्यजन कोशिका का विशेष कार्य है चूने (Calcium carbonate) का सुइयों जैसा कंकाल बनाना। इसका मतलब यह हुआ कि यह कोशिका कंकालजनक है। चूने की सुई को कंटिका (Spicule) कहते हैं। कंटिका स्पंज का कंकाल बनाती हैं। कंकाल का कार्य है कोशिकाओं के नर्म भाग को सहारा देना, जलनलिकाओं को फैलाए रखना और स्पंज की वृद्धि करना। कंटिका चूने के अतिरिक्त सिलिका की भी बनती हैं। कंटिका के अलावा स्पंजिन (Spongin) नामक वस्तु के धागे से भी स्पंज का कंकाल बनता है। कंटिका दो प्रकार की होती है—बड़ी गुरुकंटिका (Megasclera) और छोटी लघुकंटिका (Microsclera) बड़ी कंटिकाएँ स्पंज के शरीर का आकार बनाती हैं और छोटी कंटिका शरीर के सभी भागों में पाई जाती हैं। साधारण रूप में कंटिका एक सुई की तरह होती है जिसके दोनों सिरे या एक सिरा नुकीला होता है। ऐसी कंटिका को मोनोएक्जान (Monoaxon) कंटिका कहते हैं। कुछ कंटिकाएँ ऐसी भी होती हैं जिनमें एक बिंदु से तीन काँटे निकलते हैं, इनको त्रिअरिक (Triradiate) कंटिका कहते हैं। ये सबसे अधिक होती हैं। इसके अलावा चार और छह काँटेवाली कंटिकाएँ भी होती हैं। कंटिकाएँ अन्य रूपों की भी होती हैं। एक ही स्पंज में कई रूप की कंटिकाएँ पाई जाती हैं।

कंटिकाजनक कोशिका जेली (Jelly) में उत्तर आती हैं तब हर कोशिका का नाभिक (Nucleus) दो भागों में विभाजित हो जाता है। न्यूक्लियस के दोनों टुकड़े अलग हो जाते हैं और अपने बीच चूने की सुई बनाते हैं। जब तीन मूल कंटिकाएँ बनानी होती हैं तो तीन कोशिकाएँ एक साथ मिलकर उसे बनाती हैं। इसी तरह कभी चौथी कंटिकाजनक कोशिका भी इनसे मिलकर चार मूल कंटिकाएँ बनाती है। स्पोंजिन के धागे भी पूर्वमध्यजन कोशिकाओं में उत्पन्न होते हैं।

लिउकोसोलेनिया का अध्ययन करते समय देखा गया है कि स्पंज की बाहरी सतह पर स्थित छिद्र एक नन्हीं सी नलिका में खुलते हैं। यह नलिका अंदर मध्यस्थ गुहा में खुलती है। जल इसी से होकर मध्यस्थ गुहा में जाता है। यह नलिका एक कोशिका से होकर जाती है जिसे छिद्रकोशिका (Porocyte) कहते हैं। ऐसी अनेक नलिकाएँ लिउकोसोलेनिया की देहभित्ति से अरीय (Radially) ढंग से गुजरती हैं। इस तरह के नालतंत्र को एस्कन नालतंत्र (Ascon canal system) कहते हैं, ऐसा ही नालतंत्र क्लेथ्राइना (Clathrina) के ओलिंथस (Olynthus) में भी मिलता है।

ज्यों ज्यों स्पंज का विकास होता है, उसकी देहभित्ति जटिल रूप धारण कर लेती है। जगह जगह वह अंदर की ओर धँस जाती है। इस तरह बाहरी कोशिकाओं से आच्छादित भित्ति की कुछ नालियाँ बन जाती हैं, इन्हें अंतर्वाही नाली (incurrent canal) कहते हैं। अंतर्वाही नाली बाहर की ओर खुलती है। ऐसी ही अंदर की नालियों का स्तर कीप कशाभिका का होता है। इसलिये इन्हें कशाभिका नाली (Flagellated canals) कहते हैं। प्राथमिक नाली बाहरी नालियों को भीतरी नालियों से जोड़ती है। इसमें सतह पर दिखनेवाले छिद्र मध्यस्थ गुहा में नहीं खुलते, बल्कि अंतर्वाही नाली में। इन छिद्रों को चर्मरंध्र (Dermal pore) कहते हैं। कशाभिका नाली मध्यस्थ गुहा में जिन छिद्रों से खुलती हैं उन्हें अपद्वार (Apophyle) कहते हैं। इस तरह देहभित्ति के सिकुड़ने से जलप्रवेश की सतह बढ़ जाती है और अंदर की कशाभिकाओं से स्तरित कोष्ठों की संख्या बढ़ जाती है। इस तरह के नालतंत्र को साइकन नालतंत्र कहते हैं। स्पंज की देहभित्ति की सिकुड़न स्पंज के विकास के साथ बढ़ती जाती है। इससे अदर और अनेक प्रकार के कीपकशाभिकायुक्त कोष्ठ बन जाते हैं और जो नालतंत्र बनता है उसे लिउकन नालतंत्र (Leucon canal system) कहते हैं।

पोषण और मलोत्सर्ग — स्पंज का प्राकृतिक भोजन छोटे छोटे प्राणी, सड़ते हुए जीवाणु तथा पानी में घुले हुए पदार्थ हैं। जल की अंदर जाती हुई धाराओं के साथ भोजन अंदर जाता है और उसे कशाभिकाएँ पकड़ लेती हैं। उनके कीप (Coller) से लगे लगे इनकी पाचनक्रिया प्रारंभ हो जाती है। पचा हुआ भोजन अमीबा जैसी कोशिकाओं के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता है। अपाच्य भोजन मध्यस्थ गुहा में आ जाता है और यहाँ से पानी की धारा के साथ शरीर के बाहर निकल जाता है।

श्वसन क्रिया — यद्यपि स्पंज बहुकोशिका प्राणी हैं फिर भी इनमे श्वास की क्रिया के विशेष अंग नहीं हैं। आक्सीजन कोशिकाओं की सतह से अंदर चली जाती है और वहाँ वह शक्ति का उत्पादन करती है। स्पंज ऐसा स्वच्छ जल पसंद करते हैं जिसमें ऑक्सीजन की मात्रा अधिक हो। यदि यह गंदे पानी में अथवा ऐसे पानी में रखे जायँ जिसमें ऑक्सीजन की मात्रा कम हो तो इनकी वृद्धि रुक जाती है तथा अंत में मर जाते हैं। यह हाल उस समय भी होता है जब इनके बाहरी छिद्र बंद हो जाते हैं। ऐसा इसलिये होता है कि श्वसन जल की धाराओं की गति पर आधारित होता है।

जल की धारा — ऊपर लिखा जा चुका है कि स्पंज के शरीर पर अनेक छोटे छोटे छेद होते हैं। जल इनमें से होकर अंदर जाता है और मध्यस्थ गुहा से होकर वह बाहर ऊपर के बड़े छेद से निकलता है। पानी का प्रवाह निरंतर एक सा होता रहता है। प्रवाह की गति जलनाली (water canal) की रचना पर आधारित है। लिउकोसोलेनिया जैसे स्पंज में जलप्रवाह धीरे धीरे होता है और जटिल बनावटवाले स्पंज में धारा तेज हो जाती है। ज्यों ज्यों बनावट जटिल होती जाती है धारा की गति बढ़ती जाती है। लोगों ने यह भी अध्ययन किया है कि एक स्पंज के शरीर से कितना जल बहता है। अनुमान लगाया गया है कि १० सेंमी ऊँचे और एक सेंमी व्यासवाले स्पंज में लगभग २२,५०,००० कशाभिका कोष्ठ होते हैं। इनमें से होकर एक दिन में २२·५ लीटर जल बहता है। जितना स्पंज बड़ा होगा, जल की मात्रा भी उतनी ही बढ़ती

जाएगी। एक छोटा स्पंज ल्यूकैंड्रा (Leucandra) कहलाता है। इसके ऊपर के छेद से ८.५ घन सेंमी जल प्रति सेकेंड निकलता है।

व्यवहार — कोई वयस्क स्पंज एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता। अधिकतर स्पंज में सिकुड़ने की शक्ति रहती है, या तो किसी एक स्थान में सिकुड़ने की शक्ति होती है या सारा शरीर सिकुड़ सकता है। यह शक्ति शरीर के अंदर स्थित विशेष कोशिकाओं के कारण होती है। कुछ ऐसे भी स्पंज हैं जिनमें सिकुड़ने की शक्ति नहीं होती, इनमें केवल कुछ रंध्रकोशिका (Porocyta) जिनसे जलनाली जाती है सिकुड़ सकती हैं। जब कभी कभी स्पंज को छुआ जाता है, अथवा उन्हें उनके स्थान से उठाया जाता है तब वे सिकुड़ते हैं। जब भी स्पंज हवा में लाए जाते हैं या आक्सीजन की कमी होती है या ताप बहुत कम या बहुत अधिक हो जाता है तब अपवाही रंध्र (oscula) बंद हो जाता है। जल में जहरीले रसायन मिलाने से भी यही होता है। प्रकाश का इनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, सारी क्रियाएँ बड़ी धीमी होती हैं इसलिये कि स्पंज में स्नायविक संस्थान का विकास नहीं होता।

रंग और गंध — अधिकतर स्पंज अप्रत्यक्ष मांस के रंग के होते हैं; कुछ हल्के भूरे रंग के होते हैं और कुछ खाकी रंग के। भड़कीले रंगवाले स्पंज भी मिलते हैं। नारंगी, पीले, लाल, हरे, नीले, बैंगनी रंग के तथा काले स्पंज भी कभी कभी मिल जाते हैं। प्राय: गहराई में रहनेवाले स्पंज का रंग अप्रत्यक्ष होता है और उथले जल में रहनेवाले का भड़कीला।

पुनरुद्भवन (Regeneration) — स्पंज में नवोद्गम शक्ति अधिक होती है। शरीर का कटा हुआ कोई भी भाग पूरा स्पंज बन सकता है। परंतु यह क्रिया अधिक समय लेती है। कुछ ऐसे भी स्पंज हैं जिनकी प्रत्येक कोशिका में यह शक्ति होती है अर्थात् यदि एक कोशिका भी अलग कर दी जाए तो वह पूरा स्पंज बना सकती है। यदि एक स्पंज को रेशम के एक टुकड़े में रखकर गाड़ दिया जाए तो उसके अंग अंग के टुकड़े हो जाएंगे, बहुत सी कोशिकाएँ भी पृथक् हो जाएँगी। ये सब टुकड़े अथवा कोशिका पूरे पूरे स्पंज बन जाएँगी यदि इन्हें उपयुक्त ढंग से रखा जाय।

अलिंगी जनन — स्पंज में अलिंगी जनन मुकुलन (Budding) द्वारा होता है। किसी किसी में अलिंगी जनन के लिये विशेष प्रजनन इकाइयाँ बन जाती हैं। इन्हें जेम्यूल (Gemmule) कहते हैं। लगभग सभी मीठे जल में रहनेवाले स्पंज में जेम्यूल बनते हैं। जेम्यूल सुराही के आकार की इकाई है जिसके अंदर मीजेनकाइम कोशिकाएँ भरी रहती हैं। इसकी भित्ति पर अनेक कंटिकाएँ पाई जाती हैं। जेम्यूल के सिर पर एक छोटा छेद होता है। उपयुक्त समय में अंदर से कोशिका बाहर निकलती है और पूरा स्पंज बना देती है। साधारण स्पंज के नीचे के भाग से कुछ शाखाएँ निकलती हैं जो तली पर फैल जाती हैं। इन शाखाओं पर स्थान स्थान पर मुकुलन निकलते हैं और बढ़कर पैत्रिक व्यक्ति के रूप के हो जाते हैं। इस तरह साधारण बेलनीय व्यक्तियों के निवह (Colony) बन जाते हैं। कभी कभी एक या दो मुकुलन अलग भी हो जाते हैं।

लिंगीय जनन (Sexual reproduction) — साधारण तौर से स्पंज में अंडाणु तथा शुक्राणु द्वारा ही लिंगीय जनन होता है। अधिकतर स्पंज उभयलिंगी (Hermophrodite) होते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जिनमें नर तथा मादा अलग अलग होते हैं। उभयलिंगी स्पंज में भी अंडाणु और शुक्राणु अलग अलग समय पर परिपक्वता प्राप्त करते हैं। स्पंज में निषेचन (Fertilization) अद्भुत ढंग से होता है। शुक्राणु अंडाणु के निकटस्थ कशाभिका में घुस जाता है। इससे कशाभिका लुप्त हो जाती है और यह अमीबा जैसा होकर अंडाणु के पास आ जाता है और उससे लिपट जाता है। इसमें से शुक्राणु अंडाणु में प्रवेश कर जाता है और निषेचन की क्रिया पूरी हो जाती है तथा युग्मज (zygote) कोशिकाओं की परत के बीच विभाजित होने लगता है. थोड़े ही समय में यह एक छोटे डिंभक (larva) का रूप ग्रहण कर लेता है। यह डिंभक बहिर्वाही नाल से होकर पितृ स्पंज से बाहर निकल आता है। कुछ घंटे तैरने के पश्चात् लारवा नीचे तली पर किसी चीज से चिपक जाता है और वयस्क रूप ग्रहण कर लेता है।

जंतुजगत् में स्थान — स्पंज अनेक कोशिकाओं से बने हैं। इसलिये यह बहुकोशिक प्राणी (Metazoa) कहे जा सकते हैं। किंतु स्पंज अनेक महत्वपूर्ण बातों में बहुकोशिक प्राणियों से भिन्न हैं। अन्य बहुकोशिक प्राणियों की भाँति इनमें मुँह नहीं होता। यह एक बात ही इन्हें बहुकोशिक प्राणियों से अलग करती है। इनकी संरचना में सामंजस्य नहीं है और न इनमें तंत्रिकातंत्र तथा ज्ञानकोशिकाएँ हैं जिससे इनमें व्यावहारिक सामंजस्य पैदा हो सके। इनका जन्म एककोशिक प्राणियों से हुआ प्रतीत होता है परंतु इनका आगे विकास नहीं हुआ। इसलिये इनको अतिरिक्त प्राणी माना जाता है और पैरोज़ोआ समुदाय में रखा जाता है। इनकी गणना एककोशीय प्राणियों में भी नहीं की जा सकती क्योंकि यह स्पष्ट है कि इनका विकास (development) एक युग्मज (zygote) के खंडीकरण से होता है। यह बहुकोशिक प्राणियों की विशेषता है। [प्र० प्रो०]

स्पिनोज़ा बेनीडिक्टस डी० स्पिनोज़ा का जन्म हालैंड (एम्सटर्डम) में, यहूदी परिवार में, सन् १६३२ में हुआ था। वे स्वभाव से एकांतप्रिय, निर्भीक तथा निर्लोभ थे। अपने विश्वासों को त्यागने के लिये उनको लोभ दिखाया गया, उनकी हत्या का षड्यंत्र रचा गया, उन्हें यहूदी संप्रदाय से बहिष्कृत किया गया, फिर भी वे अडिग रहे। सांसारिक जीवन उनको एक असह्य रोग के समान जान पड़ता था। अतः उससे मुक्ति पाने तथा ईश्वरप्राप्ति के लिये वे बेचैन रहते थे।

स्पिनोज़ा का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ उनका एथिक्स (नीतिशास्त्र) है। किंतु इसके अतिरिक्त भी उन्होंने सात या आठ ग्रंथों का प्रणयन किया है। प्रिंसिपल्स आँव फिलासफी तथा मेटाफिज़िकल कोजिटेशंस का प्रकाशन १६६३ में और ट्रैक्टेटस थियोलोजिको पोलिटिकस (Tractatus Theologico Politicus) का प्रकाशन १६७० में, बिना उनके नाम के हुआ। उनके तीन अधूरे ग्रंथ — ट्रैक्टेटस पोलिटिकस, ट्रैक्टेटस डी इंटेलेक्टस इमेनडेटिओन, कपेंडियम ग्रैमैटिसेस लिंगुए हेब्रेई (Tractatus Politicus, Tractatus

de Intellectus Emendatione, Compendium Grammatices Linguae Hebraeae) हैं — जो उनके मुख्य ग्रंथ एथिक्स के साथ, उनकी मृत्यु के उपरांत उसी साल १६७७ में प्रकाशित हुए। बहुत दिनों बाद उनके एक और ग्रंथ ट्रैक्टेटस ब्रेविस डी डियो (Tractatus Brevis de Deo) का पता चला, जिसका प्रकाशन १८५८ में हुआ। स्पिनोज़ा के जीवन तथा दर्शन के विषय में अनेक ग्रंथ लिखे गए हैं जिनकी सूची स्पिनोज़ा इन द लाइट ऑव वेदांत (Spinoza in the light of Vedanta) में दी गई है।

इस कल्पना का कि द्रव्य की सृष्टि हो सकती है अतः विचारतत्व और विस्तारतत्व द्रव्य हैं, स्पिनोज़ा ने घोर विरोध किया। द्रव्य, स्वयंप्रकाश और स्वतंत्र है, उसकी सृष्टि नहीं हो सकती। अतः विचारतत्व और विस्तारतत्व, जो सृष्ट हैं, द्रव्य नहीं बल्कि उपाधि हैं। स्पिनोज़ा अनीश्वरवादी इस अर्थ में कहे जा सकते हैं कि उन्होंने यहूदी धर्म तथा ईसाई धर्म में प्रचलित ईश्वर की कल्पना का विरोध किया। स्पिनोज़ा का द्रव्य या ईश्वर निर्गुण, निराकार तथा व्यक्तित्वहीन सर्वव्यापी है। किसी भी प्रकार ईश्वर को विशिष्ट रूप देना उसको सीमित करना है। इस अर्थ में स्पिनोज़ा का ईश्वर अद्वैत वेदांत के ब्रह्म के समान है। जिस प्रकार ब्रह्म की दो उपाधियाँ, नाम और रूप हैं, उसी प्रकार स्पिनोज़ा के द्रव्य की दो उपाधियाँ विचार और विस्तार हैं। ये द्रव्य के गुण नहीं हैं। ब्रह्म के स्वरूपलक्षण के समान द्रव्य के भी गुण हैं जो उसके स्वरूप से ही सिद्ध हो जाते हैं, जैसे उसकी अद्वितीयता, स्वतंत्रता, पूर्णता आदि। विचार तथा विस्तार को गुण न कहकर उपाधि कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि स्पिनोज़ा के अनुसार वे द्रव्य के स्वरूप को समझने के लिये बुद्धि द्वारा आरोपित हैं। इस प्रकार की अनंत उपाधियाँ स्पिनोज़ा को मान्य हैं। ईश्वर की ये उपाधियाँ भी असीम हैं परतु ईश्वर में और उनमें भेद यह है कि जहाँ ईश्वर की निस्सीमता निरपेक्ष है वहाँ इन उपाधियों की असीमता सापेक्ष है।

ईश्वर जगत् का स्रष्टा है, परंतु इस रूप में नहीं कि वह अपनी इच्छाशक्ति से संपूर्ण विश्व की रचना करता है। वास्तव में ईश्वर में इच्छाशक्ति आरोपित करना उसको सीमित करना है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर स्वतंत्र नहीं है; उसकी स्वतंत्रता उसकी सर्वनिरपेक्षता है न कि स्वतंत्र इच्छा। इसी से स्पिनोज़ा सृष्टि को सप्रयोजन नहीं मानता। ईश्वर जगत् का कारण उसी अर्थ में है जिसमें स्वर्णपिंड आभूषण का या आकाश त्रिभुज का। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि ईश्वर परिवर्तनशील है। जगत् कल्पित है किंतु उसका आधार ईश्वर सत्य है। ईश्वर और जगत् विभिन्न हैं, परंतु विभक्त नहीं।

जिस प्रकार ईश्वर में इच्छाशक्ति नहीं है वैसे ही मनुष्य में भी स्वतंत्र इच्छाशक्ति नाम की कोई वस्तु नहीं है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक विचार का कारण एक अन्य विचार हुआ करता है, अतः कोई भी विचार स्वतंत्र नहीं है। साथ ही स्पिनोज़ा की दृष्टि में विचारजगत् पर भौतिक जगत् का प्रभाव नहीं पड़ता। दोनों की कार्य-कारण-शृंखला अलग है परंतु दोनों एक ही द्रव्य, ईश्वर, पर आरोपित हैं अतः वे संबंधित मालूम पड़ते हैं।

व्यवहारजगत् में स्पिनोज़ा नियतिवादी जान पड़ते हैं। उनका कहना है कि इच्छाशक्ति के अस्वीकार करने से हमारे व्यवहार तथा आचार पर प्रभाव नहीं पड़ता अतः उससे सशंक होना अनावश्यक है। वास्तविकता तो यह है कि यदि हमको यह दृढ़ निश्चय हो जाय कि संसार की कार्य-कारण-शृंखला इच्छानिरपेक्ष है तो हमको बड़ी शांति मिले। मनुष्य तभी तक अशांत रहता है जब तक उसको कार्य-कारण-शृंखला में परिवर्तन की आशा रहती है। इच्छास्वातंत्र्य में विश्वास ही हमारा बंधन है। इच्छास्वातंत्र्य का उपयोग इच्छास्वातंत्र्य के निराकरण के लिये करना चाहिए। इच्छास्वातंत्र्य के शमन से राजसिक वृत्ति तथा मानसिक विकारों का शमन होता है और मन ईश्वरचिंतन के योग्य होता है।

जीवन का परम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है क्योंकि तभी नित्यशुभ की प्राप्ति हो सकती है। ईश्वर की प्राप्ति ईश्वर से प्रेम करने से होती है परंतु प्रेम का अर्थ भावुकता नहीं बल्कि तन्मयता है। इसी से स्पिनोज़ा ने इस प्रेम को बौद्धिक प्रेम कहा है। ईश्वरतन्मयता का एक अर्थ यह भी है कि हम सदाचार सदाचार के लिये करें, क्योंकि सदाचार के उपलक्ष्य में प्रतिफल की इच्छा रखना एक बंधन की सृष्टि करना है। जब हमारा मन ईश्वरमय तथा हमारा दृष्टिकोण नित्य का दृष्टिकोण हो जाता है तब हम ईश्वर के साथ तादात्म्य का अनुभव करते हैं तथा परम शांति प्राप्त करते हैं। स्पिनोज़ा के विचार में ईश्वर के सगुण साकार रूप का भी महत्व है। जिनका बौद्धिक स्तर नीचा है तथा जिनके मन में सगुण, साकार ईश्वर की कल्पना से धर्मभावना जाग्रत होती है उनके लिये यह कल्पना अत्यंत उपयोगी है। ईश्वर को न मानने की अपेक्षा सगुण साकार ईश्वर को मानना श्रेयस्कर है। स्पिनोज़ा का विचार सर्वधर्मनिरपेक्ष था, इसी से आज के युग में लोगों की दृष्टि स्पिनोज़ा की ओर बार बार जा रही है। [र० को० त्रि०]

स्पेंसर, एडमंड (१५५२-१५९९ ई०) अंग्रेजी साहित्य में कवि के रूप में चॉसर के बाद स्पेंसर का ही नाम आता है। इनका जन्म लंदन में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा मर्चेंट टेलर्स ग्रामर स्कूल में हुई। कैंब्रिज विश्वविद्यालय से इन्होंने बी० ए० तथा एम० ए० की उपाधियाँ लीं। सन् १५८० में इन्हें लार्ड ग्रे के मंत्री के रूप में आयरलैंड भेजा गया। कुछ साल बाद इनकी प्रशंसनीय सेवा के उपलक्ष में आयरलैंड में ही इन्हें एक जागीर भी मिल गई। वहीं उन्होंने अपने सर्वोत्तम ग्रंथ 'फेयरी क्वीन' की रचना प्रारंभ की। तत्पश्चात् इसके तीन सर्ग लंदन में प्रकाशित हुए तथा महारानी ने स्पेंसर के लिये पचास पौंड वार्षिक पेंशन की स्वीकृति दी।

चॉसर और स्पेंसर के बीच का लगभग डेढ़ सौ वर्षों का समय अंग्रेजी कविता के लिये बड़ा ही शोचनीय रहा। मौलिक प्रतिभा का कोई भी कवि देखने को नहीं मिलता। यूरोपीय पुनर्जागरण ने प्राचीन ग्रीक और लैटिन साहित्य को लोगों के सामने लाकर साहित्यिक प्रतिभा के प्रस्फुरण के लिये वातावरण तो अवश्य तैयार किया लेकिन इसका एक भयावह परिणाम भी हुआ। क्लासिकी भाषाओं एवं साहित्य की चकाचौंध में आकर कवियों ने उन्हें ही आदर्श मानकर साहित्यसर्जन प्रारंभ किया। वे लोग

क्लासिकी भाषाओं की तुलना में अपनी भाषा को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे।

कवि के रूप में स्पेंसर रेनैसाँ युग की नई राष्ट्रीयता के प्रतीक हैं। क्लासिकी साहित्य के किसी प्रख्यात कवि को नहीं वरन् अपने ही देश के कवि चॉसर को इन्होंने अपना आदर्श माना। इन्हें अंग्रेजी भाषा को, जो कविता के लिये सर्वथा अनुपयुक्त समझी जाती थी, सजा सँवारकर नए शब्दों एवं छंदों से अलंकृत करना था। इसके लिये इन्होंने कठोर परिश्रम द्वारा अन्य भाषाओं एवं साहित्य का अध्ययन किया। इसीलिये इनकी कविता में अंत:प्रेरणा के साथ ही साथ प्रकांड विद्वत्ता एवं अध्ययनशीलता की भी झलक है। यह जानते हुए कि इनकी प्रथम मौलिक रचना 'शेपर्ड्स कैलेंडर' लोगों के लिये बिलकुल नई चीज होगा, इन्होंने अपने मित्र एडवर्ड कर्क द्वारा उसकी विस्तृत व्याख्या की व्यवस्था की। एडवर्ड कर्क ने स्पेंसर को 'नए कवि' की संज्ञा दी और काव्यसंबंधी इनके उद्देश्यों को घोषित किया।

स्पेंसर की कविता, विशेष रूप से 'फेयरी क्वीन' महारानी एलिजाबेथ की प्रशंसा से ओतप्रोत है। महारानी एलिजाबेथ ने न केवल देश के भीतर षड्यंत्रकारियों को दबाकर अमन चैन कायम किया वरन् बाहरी शत्रुओं से भी उसकी रक्षा की। इंगलैंड ने जैसी राष्ट्रीय एकता का अनुभव उनके शासनकाल में किया, वैसा पहले कभी नहीं किया था। स्वाभाविक रूप से वे ब्रिटिश राष्ट्रीयता का प्रतीक सी बन गईं और कवियों के लिये उनकी प्रशस्ति गाना राष्ट्रीय चेतना को ही व्यक्त करना था।

रेनासाँ का एक अन्य प्रभाव भी स्पेंसर की कविता में देखने को मिलता है। यह है भौतिक जगत् की सभी सुंदर वस्तुओं के प्रति उनका आकर्षण। नारी सौंदर्य के तो वे श्रद्धालु पुजारी थे। प्लेटो की ही भाँति उन्होंने शारीरिक सौंदर्य को आत्मिक सौंदर्य एवं पवित्रता की अभिव्यक्ति माना। उनके अनुसार किसी भी सुंदर वस्तु से सात्विक प्रेम करने में कोई पाप नहीं। जैसे सौंदर्य पवित्र होता है वैसे ही प्रेम भी। अध्यात्म एवं नैतिकता से बोझिल मध्ययुग के बाद स्थूल सौंदर्य के प्रति यह अनुराग एक नई चीज थी।

लेकिन जहाँ एक ओर स्पेंसर में हमें आधुनिक युग की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं, वहीं दूसरी ओर उनका काव्य कतिपय मध्ययुगीन मान्यताओं के बंधन से भी मुक्त नहीं। धर्म एवं नैतिकता के व्यापक प्रभाव के कारण मध्ययुग में साहित्यसर्जन का प्रमुख उद्देश्य जनसाधारण को सदाचार की शिक्षा देना समझा जाता था। कवि मनोरंजन के लिये नहीं, समाज एवं व्यक्ति के चारित्रिक उत्थान के लिये लिखता था। स्पेंसर ने भी अपने सर्वोत्तम ग्रंथ 'फ़ेयरी क्वीन' की रचना इसी महान् उद्देश्य से की।

मध्ययुग में रूपक नैतिकता की शिक्षा देने का सर्वोत्तम माध्यम समझा जाता था। स्पेंसर ने भी रूपक शैली को ही उपयुक्त समझा। साथ ही साथ उन्होंने तत्कालीन राजनीति तथा शासन से संबंधित प्रमुख व्यक्तियों की भी आलोचना की। खुले रूप में ऐसा करना संकट मोल लेना होता है। रूपक का सहारा लेकर वे कानून की चपेट में आए बिना जो चाहते, कह सकते थे।

स्पेंसर का सर्वोत्तम ग्रंथ 'फ़ेयरी क्वीन' शब्दचित्रों से भरा है। जो सफलता चित्रकार अपनी तूलिका द्वारा प्राप्त करता है, वह इन्होंने अपनी असाधारण वर्णनशैली द्वारा प्राप्त की। सौंदर्य का वर्णन करते समय थोड़ी देर के लिये ये अपना नैतिक उद्देश्य भूलकर उसी में तन्मय हो जाते हैं। लेकिन भद्दी और हृदय में घृणा एवं भय उत्पन्न करनेवाली वस्तुओं को मूर्त रूप देने में भी उनकी लेखनी वैसा ही जादू दिखाती है। [वु० ना० सि०]

स्पेक्ट्रमिकी भौतिकी का एक विभाग है जिसमें पदार्थों द्वारा उत्सर्जित या अवशोषित विद्युच्चुंबकीय विकिरणों के स्पेक्ट्रमों का अध्ययन किया जाता है और इस अध्ययन से पदार्थों की आंतरिक रचना का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस विभाग में मुख्य रूप से स्पेक्ट्रम का ही अध्ययन होता है अतः इसे स्पेक्ट्रमिकी या स्पेक्ट्रम-विज्ञान (Spectroscopy) कहते हैं। स्पेक्ट्रमिकी की नींव सर आइज़ेक न्यूटन ने सन् १६६६ ई० में डाली थी। उन्होंने एक बंद कमरे में खिड़की के छिद्र से आते हुए सौर किरणपुंज (beam of light) को एक प्रिज्म से होकर पर्दे पर जाने दिया। पर्दे पर सात रंगों की पट्टी बन गई जिसके एक सिरे पर लाल रंग और दूसरे सिरे पर बैंगनी रंग था। पट्टी में सातो रंग — लाल, नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला और बैंगनी — इसी क्रम से दिखाई पड़ते थे। न्यूटन ने इस पट्टी को 'स्पेक्ट्रम' कहा। इस प्रयोग से उन्होंने यह सिद्ध किया कि सूर्य का श्वेत प्रकाश वास्तव में सात रंगों का मिश्रण है। बहुत समय तक 'स्पेक्ट्रम' का अर्थ इसी सतरंगी पट्टी से ही लगाया जाता था। बाद में वैज्ञानिकों ने यह देखा कि सौर स्पेक्ट्रम के बैंगनी रंग से नीचे भी कुछ रश्मियाँ पाई जाती हैं जो आँख से नहीं दिखाई पड़ती हैं परंतु फोटोप्लेट पर प्रभाव डालती हैं और उनका फोटो लिया जा सकता है। इन किरणों को पराबैंगनी किरणें (Ultra-violet rays) कहा जाता है। इसी प्रकार लाल रंग से ऊपर अवरक्त किरणें पाई जाती हैं। वास्तव में सभी वर्णों की रश्मियाँ विद्युच्चुंबकीय तरंगें होती हैं। रंगीन प्रकाश, अवरक्त, पराबैंगनी प्रकाश, एक्स-किरण, गामा (γ) — किरण, माइक्रो तरंगें तथा रेडियो तरंगें — ये सभी विद्युच्चुंबकीय तरंगें हैं। इन सबका स्पेक्ट्रम होता है। प्रत्येक वर्ण की रश्मियों का निश्चित तरंगदैर्घ्य लगभग ७००० A° होता है। पारे को उत्तेजित करने से जो हरे रंग की किरणें निकलती हैं उनका तरंगदैर्घ्य ५४६१ A° होता है। अत: अब विभिन्न वर्णों की रश्मियों का विभाजन रंग के आधार पर नहीं वरन् तरंगदैर्घ्य के आधार पर किया जाता है और स्पेक्ट्रम का अर्थ बहुत व्यापक हो गया है — तरंगदैर्घ्य के अनुसार रश्मियों की सुव्यवस्था को स्पेक्ट्रम कहा जाता है। स्पेक्ट्रमविज्ञान का संबंध प्राय: सभी प्रकार की विद्युच्चुंबकीय तरंगों से है। माइक्रो तरंग-स्पेक्ट्रमिकी, इन्फ्रारेड-स्पेक्ट्रमिकी, दृश्य क्षेत्र स्पेक्ट्रमिकी, एक्स किरण-स्पेक्ट्रमिकी और न्यूक्लियर-स्पेक्ट्रमिकी आदि सभी विभाग स्पेक्ट्रमिकी के ही अंग हैं किंतु प्रचलित अर्थ में स्पेक्ट्रमिकी के अंतर्गत अवरक्त, दृश्य तथा पराबैंगनी किरणों के स्पेक्ट्रम का अध्ययन ही आता है।

न्यूटन ने सूर्य की किरणों से जो 'स्पेक्ट्रम' प्राप्त किया था वह शुद्ध नहीं था अर्थात् सभी रंग पासवाले रंग से पूर्णतः पृथक् नहीं

थे; एक रंग दूसरे से मिला था। इसका कारण यह था कि उन्होंने किरणों को एक गोल छेद से लेकर प्रिज्म पर डाला था। सन् १८०२ ई० में वोलास्टन (W. H. Wollaston) ने गोल छिद्र के स्थान पर सँकरी झिरी (Slit) का प्रयोग करके शुद्ध स्पेक्ट्रम प्राप्त किया। आगे चलकर जासेफ़ फ्राउनहोफर (Fraunhofer) ने प्रिज्म की सहायता से शुद्ध स्पेक्ट्रम प्राप्त किया और समतल ग्रेटिंग का आविष्कार किया। ग्रेटिंग एक दूसरा उपकरण है जो विभिन्न वर्णों की रश्मियों को परिक्षेपित (Disperse) कर देता है। स्पेक्ट्रमिकी की प्रगति में फ्राउनहोफर का कार्य विशिष्ट महत्व रखता है। सन् १८५९ ई० में किरखाफ और बुनशन (G. R. Kirchhoff and Bunsen) ने बहुत से शुद्ध तत्वों का स्पेक्ट्रम लिया और यह बताया कि वे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। किरखॉफ़ और बुनशन ने यह भी सिद्ध किया कि कोई पदार्थ उत्तेजित होने पर जिस वर्ण की रश्मियाँ दे सकता है, कम ताप पर केवल उसी वर्ण की रश्मियों को अवशोषित भी कर सकता है। इन तत्वों की जानकारी के बाद स्पेक्ट्रमिकी की प्रगति बड़ी तीव्रता से हुई। इस विज्ञान ने अणु परमाणुओं की रचना का ज्ञान प्राप्त कराने में महत्तम योगदान किया है।

किसी पदार्थ को विद्युत् या ऊष्मा देकर उत्तेजित किया जाता है तब उससे प्रकाश निकलने लगता है। उस पदार्थ से निकलनेवाली रश्मियों का स्पेक्ट्रम उसकी आंतरिक रचना पर निर्भर करता है। किसी ठोस पदार्थ को इतना गरम किया जाय कि वह तीव्र चमक देने लगे तो उससे जो स्पेक्ट्रम प्राप्त होता है उसे संतत स्पेक्ट्रम (continuous spectrum) कहते हैं क्योंकि इसमें विभिन्न वर्णों की पट्टियाँ एक दूसरी से मिली जुली रहती हैं, उनकी कोई सीमा नहीं पाई जाती है। बिजली के बल्ब तथा सूर्य से ऐसा ही स्पेक्ट्रम प्राप्त होता है। इसके विपरीत यदि किसी पदार्थ को इतनी अधिक ऊर्जा दी जाय कि उसके परमाणु उत्तेजित हो जायँ तो उससे रेखीय स्पेक्ट्रम मिलता है। इसमें विभिन्न वर्णों की तीक्ष्ण रेखाएँ पाई जाती हैं। विद्युत् आर्क तथा कुछ तारों (Stars) से भी रेखीय स्पेक्ट्रम प्राप्त होता है। स्पेक्ट्रम की एक तीसरी श्रेणी भी होती है। यदि किसी गैस में कम दबाव पर विद्युत् विसर्जन किया जाय तो वे गैसें उत्तेजित होकर सपट्ट स्पेक्ट्रम देती हैं। इस स्पेक्ट्रम में एक दूसरे से पृथक् बहुत से पट्ट पाए जाते हैं जिनका एक सिरा तीक्ष्ण और दूसरा क्रमशः धूमिल होता है। ये सभी स्पेक्ट्रम उत्सर्जित (Emission) स्पेक्ट्रम कहे जाते हैं।

यदि किसी पदार्थ के भीतर से सभी वर्ण (Colour) की रश्मियाँ भेजी जायँ तो वह उन रश्मियों को, जिन्हें स्वयं उत्सर्जित कर सकता है, अवशोषित कर लेता है। बिजली के बल्ब से दृश्यक्षेत्र की सभी वर्ण की रश्मियाँ निकलती हैं। यदि किसी नली में सोडियम की भाप भरी हो और उसके भीतर से बल्ब का प्रकाश भेजकर बहिर्गत प्रकाश का स्पेक्ट्रम लिया जाय तो उसके पीले भाग में दो काली रेखाएँ पाई जाती हैं। इसका कारण यह है कि सोडियम स्वयं उत्तेजित होने पर रेखीय स्पेक्ट्रम देता है। इस स्पेक्ट्रम में दो पीली रेखाएँ भी होती हैं जिन्हें सोडियम की 'डी' रेखाएँ कहा जाता है। जब बल्ब का प्रकाश सोडियम की भाप से होकर आता है तो सोडियम की रेखाओं के अनुकूल वर्ण को अवशोषित कर लेता है और बहिर्गत प्रकाश में इसी स्थान पर दो काली रेखाएँ बन जाती हैं। इस स्पेक्ट्रम को अवशोषण (Absorption) स्पेक्ट्रम कहते हैं। अवशोषण स्पेक्ट्रम भी तीन प्रकार के होते हैं। जिस अवशोषण स्पेक्ट्रम में काली रेखाएँ पाई जाती हैं उन्हें रेखीय अवशोषण स्पेक्ट्रम, जिनमें काले बैंड पाए जाते हैं उन्हें बैंड अवशोषण स्पेक्ट्रम और जिनमें स्पेक्ट्रम का थोड़ा या अधिक संतत क्षेत्र ही अवशोषित हो जाता है उन्हें संतत अवशोषण स्पेक्ट्रम कहते हैं।

स्पेक्ट्रम प्राप्त करने के लिये जिन उपकरणों का प्रयोग किया जाता है उन्हें स्पेक्ट्रमदर्शी, स्पेक्ट्रममापी, और स्पेक्ट्रमलेखी कहते हैं। प्रत्येक स्पेक्ट्रोलेखी या स्पेक्ट्रोदर्शी में तीन मुख्य अवयव (Components) होते हैं। पहला भाग स्रोत से आनेवाली रश्मियों को उचित दिशा में नियन्त्रित करता है, दूसरा भाग विभिन्न वर्णों को पृथक् करता अर्थात् मिश्रित रश्मियों को परिक्षेपित करता है तथा तीसरा भाग उन्हें अलग अलग एक नाभितल (focal surface) पर फोकस करता है। यदि उपकरण में केवल स्पेक्ट्रम देखने मात्र की ही व्यवस्था हो तो उसे स्पेक्ट्रोदर्शी कहते हैं, यदि उसके तीसरे भाग को घुमाकर स्पेक्ट्रम के विभिन्न वर्णों का विचलन (Deviation) पढ़ने की व्यवस्था भी हो तो उसे स्पेक्ट्रोमापी कहते हैं। स्पेक्ट्रोलेखी में तीसरा भाग एक फोटो कैमरा का काम करता है इससे स्पेक्ट्रम का स्थायी चित्र लिया जा सकता है। सभी स्पेक्ट्रोलेखी बनावट में लगभग समान होते हैं किंतु परिक्षेपण के लिये दो साधन काम में लाए जाते हैं — प्रिज्म और ग्रेटिंग। इसीलिये स्पेक्ट्रोलेखी भी दो प्रकार के होते हैं — प्रिज्म स्पेक्ट्रोलेखी और ग्रेटिंग स्पेक्ट्रोलेखी।

स्पेक्ट्रम के विभिन्न क्षेत्र — अध्ययन की सुविधा के लिये स्पेक्ट्रम को विभिन्न क्षेत्रों में बाँट लिया गया है। यह विभाजन तीन बातों के आधार पर किया गया है — रश्मिस्रोत, परिक्षेपण विधि और अभिलेखन (Recording)। स्पेक्ट्रमिकी विभाग में निम्नांकित क्षेत्रों का अध्ययन किया जाता है — सुदूर अवरक्तकिरण दृश्यक्षेत्र, पराबैंगनी क्षेत्र और निर्वात पराबैंगनी क्षेत्र। विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के स्पेक्ट्रोलेखी काम आते हैं। सारणी में विभिन्न क्षेत्रों की सीमा, परिक्षेपण यंत्र और अभिलेखन यंत्रों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है —

सारणी

म्यू = १०$^{-४}$ सेमी और A° = १०$^{-८}$ सेमी

क्षेत्र	तरंगदैर्घ्य सीमा	रश्मिस्रोत	परिक्षेपण संयंत्र	अभिलेखन
१. सुदूर इन्फ्रारेड	१ म्यू–५० म्यू	तप्त ठोस	वक्रग्रेटिंग	ताप-विद्युत् रिकार्डर
२. इन्फ्रारेड	७०००–३०,०००A°	तप्त ठोस	क्लोराइड तथा फ्लोराइड प्रिज्म वक्र ग्रेटिंग	ताप-विद्युत् रिकार्डर

स्पेक्ट्रमिकी

३. दृश्यक्षेत्र	४०००A°-७०४०A°	तप्त ठोस आर्क स्पार्क विद्युत् विसर्जन	काँच के प्रिज्म तथा वक्रग्रेटिंग	फोटो प्लेट और फ़िल्म
४. अल्ट्रा-वायलेट	४०००A°-२०००A°	आर्क स्पार्क विद्युत् विसर्जन	क्वार्ज प्रिज्म तथा वक्र ग्रेटिंग	फोटोप्लेट तथा विद्युत् रिकार्डर
५. निर्वात अल्ट्रावायलेट	२०००A°-१००A°	स्पार्क विद्युत् विसर्जन	फ्ल्यूराइड प्रिज्म तथा वक्र ग्रेटिंग	,,

रश्मिस्रोत — स्पेक्ट्रम तीन प्रकार के होते हैं,—रेखीय, पट्टदार तथा संतत। रेखीय स्पेक्ट्रम में केवल रेखाएँ पाई जाती हैं। पट्टदार स्पेक्ट्रम में पट्ट बैंड (Band) पाए जाते हैं जिनका एक किनारा तीक्ष्ण और दूसरा क्रमशः धूमिल होता है। संतत स्पेक्ट्रम में सभी वर्णों की रश्मियाँ एक दूसरे से संलग्न रहती हैं। विभिन्न प्रकार के स्पेक्ट्रम पाने के लिये उपयुक्त रश्मिस्रोत काम में लाए जाते हैं।

(अ) रेखीय स्पेक्ट्रम के स्रोत — रेखीय स्पेक्ट्रम उत्तेजित परमाणुओं द्वारा प्राप्त होता है। इन्हें उत्तेजित करने के लिये ऊष्मा, विद्युत् या अत्यधिक ऊर्जायुक्त विद्युच्चुंबकीय रश्मियों की आवश्यकता होती है। सामान्यतः विद्युत् आर्क और विद्युत् स्पार्क उपयोग में आते हैं। ज्वाला (Flame), ताप भट्ठी तथा विद्युत् विसर्जन द्वारा भी परमाणुओं को उत्तेजित किया जाता है।

विद्युत् आर्क — धातु के दो इलेक्ट्रोड एक विशेष प्रकार के स्तंभ में कस दिए जाते हैं किंतु स्तंभ से पृथग्न्यस्त रहते हैं। एक स्क्रूहेड को घुमाकर इलेक्ट्रोडों के बीच का रिक्त स्थान कम या अधिक किया जा सकता है। दोनो इलेक्ट्रोड एक परिवर्तनीय अवरोध तथा एक प्रेरकत्व (inductance) श्रेणीक्रम में जोड़ दिए जाते हैं।

आर्क चलाने के लिये आरंभ में दोनों इलेक्ट्रोड सटा दिए जाते हैं अत. विद्युत् परिपथ पूरा हो जाता है और धारा प्रवाहित होने लगती है। जहाँ इलेक्ट्रोड सटते हैं उस बिंदु पर भीषण ऊष्मा उत्पन्न होती है क्योंकि वहाँ अवरोध अत्यंत कम होने से सहसा हजारों ऐंपीयर की धारा प्रवाहित होती है। इस उष्मा के कारण इलेक्ट्रोड के अग्र भाग वाष्पित हो जाते हैं और उन्हें थोड़ा विलग करने पर भी यह भाप विद्युत् परिपथ को पूरा किए रहती है। इस भाग में स्थित अणु-परमाणु उत्तेजित होकर प्रकाश देने लगते हैं। आर्क का तापक्रम लगभग ३५०० सें० से ८००० सें० तक होता है। मुख्य तार आर्क चलाने के पूर्व इलेक्ट्रोडों के बीच का विभवांतर मेन (Mains) के विभवांतर के बराबर (२२० वोल्ट) होता है किंतु आर्क चलते समय यह घट जाता है। प्रत्यावर्तीधारा से भी आर्क चलाए जाते हैं। आजकल कई प्रकार के सुधरे हुए आर्क उपलब्ध हैं।

इलेक्ट्रिक स्फुलिंग — की रचना लगभग आर्क की ही भाँति होती है किंतु स्फुलिंग के इलेक्ट्रोडों का विभवांतर आर्क की अपेक्षा कई सौ गुना अधिक होता है। यही कारण है कि स्फुलिंग का स्तंभ (Stand) अधिक सुरक्षित तथा इलेक्ट्रोडों से भली भाँति पृथग्न्यस्त रखा जाता है। इलेक्ट्रोडों को एक स्टेपअप ट्रान्सफार्मर के सेकंडरी सिरों (Secondary terminals) से जोड़ दिया जाता है। स्फुलिंग रिक्त स्थान का विभवांतर १०,००० वो० से ५०,००० वोल्ट तक होता है; अतः इस स्रोत में अणु-परमाणुओं को अत्यधिक उत्तेजना मिलती है। स्फुलिंग रिक्त स्थान इच्छानुसार घटाया बढ़ाया जा सकता है।

इस स्रोत में उत्तेजित होनेवाले अणु परमाणुओं को बहुत अधिक ऊर्जा प्राप्त होती है। अतः वे आयनित हो जाते हैं। परमाणु या अणु के केंद्रक (nucleus) के चारों ओर बहुत से इलेक्ट्रान घूमते रहते हैं। ये इलेक्ट्रान निश्चित नियम के अनुसार विभिन्न कक्षाओं में बँटे रहते हैं। सबसे बाहरवाली कक्षा के इलेक्ट्रानों को 'आप्टिकल इलेक्ट्रान' कहा जाता है। यदि किसी अणु या परमाणु में से एक या अधिक आप्टिकल इलेक्ट्रान निकाल दिए जायँ तो वह 'आयनित' कहा जाता है। केवल एक इलेक्ट्रान निकल जाने पर परमाणु पहली आयनित स्थिति में हो जाता है। यदि दूसरे, तीसरे आदि इलेक्ट्रान भी निकल जायँ तो परमाणु क्रमशः दूसरी, तीसरी आदि आयनित स्थिति में चला जाता है। इन स्थितियों के लिये उत्तरोत्तर अधिक ऊर्जा देनी होती है। अत्यंत उच्च विभवांतर पर चलनेवाले स्फुलिंग से टिन की २३वीं आयनित स्थिति प्राप्त की जा चुकी है।

स्पेक्ट्रो रासायनिक विश्लेषण (Spectro Chemical analysis) के लिये विद्युत् स्फुलिंग मुख्य रूप से उपयोगी होता है। स्फुलिंग को स्थिर रूप से देर तक चलाने के लिये इसमें विविध प्रकार के सुधार किए गए हैं।

(ब) पट्टदार स्पेक्ट्रम के स्रोत — पदार्थों को प्रज्वलित करने या बुनसन ज्वालक की ज्वाला में जलाने पर पट्टदार स्पेक्ट्रम प्राप्त होता है। कुछ पदार्थों को विद्युत् आर्क में प्रज्वलित करने से भी पट्टदार स्पेक्ट्रम प्राप्त किया जा सकता है। गैसों में विद्युत् विसर्जन से पट्टदार स्पेक्ट्रम बड़ी सुविधा से प्राप्त होते हैं। विद्युत् विसर्जन के लिये गैस को बहुत कम दाब पर एक नली में भरकर उसके सिरों के बीच कई हजार वोल्ट का विभवांतर (Potential difference) देना पड़ता है। नियॉन गैस में विद्युत् विसर्जन से रक्त वर्ण की रश्मियाँ निकलती हैं। आजकल प्रदर्शन और प्रचार के लिये अक्षरों और चित्रों के आकार की विसर्जन नलियाँ बनाई जाती हैं जिनमें नीऑन गैस भरी रहती है। इन्हें नियॉन साइन (Neon sign) कहते हैं।

(स) संतत स्पेक्ट्रम के स्रोत — किसी ठोस पदार्थ को इतनी ऊष्मा दी जाय कि वह लाल होकर चमकने लगे तो उससे संतत रश्मिपुंज निकलता है। बिजली के बल्ब से दृश्यक्षेत्र में संतत स्पेक्ट्रम पाने के लिये विशेष प्रकार के हाइड्रोजन लैंप, जीनान आर्क लैंप तथा पारद-वाष्प विसर्जन काम में लाए जाते हैं।

स्पेक्ट्रोलेखी — विभिन्न प्रकार के रश्मिस्रोतों से जो रश्मियाँ निकलती हैं उनका स्थायी स्पेक्ट्रम प्राप्त करने के लिये स्पेक्ट्रोलेखी काम में लाए जाते हैं। प्रत्येक स्पेक्ट्रोलेखी में लाया हुआ परिक्षेपण संयंत्र विभिन्न वर्णों की मिश्रित रश्मियों को पृथक् कर देता है।

रश्मियों का परिक्षेपण तीन रीतियों से होता है : (१) जब रश्मियाँ किसी प्रिज्म से होकर जाती हैं तब अपवर्तन के कारण पृथक् हो जाती हैं। इसे अपवर्तनीय परिक्षेपण कहते हैं; (२) यदि बहुत सी सँकरी झिरियों को एक दूसरी के समांतर पास पास रखकर उनमें से मिश्रित प्रकाशपुंज भेजा जाय तो विवर्तन के कारण रश्मियाँ अलग अलग हो जाती हैं और स्पेक्ट्रम बन जाता है। ऐसे परिक्षेपण को विवर्तनीय परिक्षेपण (Diffractive dispersion) कहते हैं; (३) रश्मियों के व्यतिकरण (Interference) द्वारा भी परिक्षेपण उत्पन्न किया जाता है। पहली दो रीतियाँ अधिक प्रचलित हैं।

प्रिज्म स्पेक्ट्रोलेखी — के तीन मुख्य भाग होते हैं — कॉलीमेटर, प्रिज्म और कैमरा। कॉलीमेटर एक खोखली नली होती है जिसके एक सिरे पर पतली झिरी और दूसरे सिरे पर लेंस लगा होता है। झिरी और लेंस की दूरी परिवर्तनीय होती है तथा झिरी की चौड़ाई भी परिवर्तनीय होती है। प्रिज्म एक दृढ़ आधार पर इस प्रकार रखा जाता है कि लेंस से आनेवाला समांतर रश्मिपुंज इसपर पड़े। प्रिज्म से परिक्षेपित रश्मियाँ कैमरे में जाती हैं और कैमरा लेंस द्वारा फोटोप्लेट पर केंद्रित (Focus) की जाती हैं। पूरी व्यवस्था एक साथ इस प्रकार ढकी रहती है कि झिरी के अतिरिक्त और कहीं से भी प्रकाश भीतर न जा सके।

सामान्यतः दृश्य और पराबैंगनी क्षेत्र में काम आनेवाले स्पेक्ट्रोग्राफ ऐसे ही होते हैं। दृश्यक्षेत्र में काम आनेवाले स्पेक्ट्रोलेखी में काँच के लेंस और प्रिज्म लगे रहते हैं। पराबैंगनी क्षेत्र के लिये क्वार्ट्ज, फ्लोराइड तथा फ्लोराइड के प्रिज्म और लेंस काम आते हैं। दूरस्थ अवरक्त के लिये उपयोगी प्रिज्म नहीं मिलते हैं। विक्षेपण बढ़ाने के लिये दो या तीन प्रिज्म वाले स्पेक्ट्रोलेखी बनाए गए हैं। निर्वात पराबैंगनी क्षेत्र के लिये ऐसे स्पेक्ट्रोग्राफ काम आते हैं जिनसे वायु निकाल दी जाती है। इन्हें निर्वात स्पेक्ट्रोग्राफ कहते हैं। ये बड़े मूल्यवान होते हैं।

अवरक्त के लिये विशेष प्रकार के स्पेक्ट्रोमापी काम में लाए जाते हैं। इन्फ्रारेड स्पेक्ट्रोमीटर से किसी पदार्थ का अवशोषण वर्णक्रम प्राप्त होता है। सततवर्णी इन्फ्रारेड रश्मियों को पदार्थ से होकर जाने दिया जाता है। पदार्थ से निकलने के बाद इन्हें प्रिज्म या ग्रेटिंग से विक्षेपित किया जाता है। विक्षेपित रश्मियों का अभिलेख (Recording) तापविद्युत् रिकार्डरों द्वारा किया जाता है। इन स्पेक्ट्रोमीटरों में क्लोराइड तथा फ्लोराइड के प्रिज्म लगे रहते हैं और लेंसों के स्थान पर धातु की कलईवाले दर्पण लगाए जाते हैं।

ग्रेटिंग स्पेक्ट्रोग्राफ (Grating Spectrograph) — कई सँकरी झिरियों को समानांतर रखकर जो झिरीसमूह बनाया जाता है उसे ग्रेटिंग कहते हैं। यदि स्वच्छ पारदर्शक काँच पर समांतर रेखाएँ खुरच दी जायँ तो प्रत्येक दो रेखाओं के बीच का पारदर्शक स्थान झिरी का काम देता है। ऐसे शीशे को समतल पारगामी (plane transmission) ग्रेटिंग कहते हैं। इनका उपयोग प्रिज्म की ही भाँति सीमित है। यदि किसी वक्रतल पर एलुमिनियम या चाँदी की कलई की जाय और इसी पर समांतर रेखाएँ खुरच दी जायें तो यह उपकरण अवतल परावर्तक ग्रेटिंग (Concave reflection grating) कहा जाता है। प्रत्येक दो रेखाओं के बीच का तल रश्मियों को परावर्तित कर देता है, इन्हीं परावर्तित रश्मियों के विवर्तन (diffraction) से स्पेक्ट्रम प्राप्त होता है। इस प्रकार की ग्रेटिंग सर्वप्रथम हेनरी रोलैंड (Henry Rowland) ने सन् १८८२ ई० में बनाई थी। रेखाएँ खुरचने के लिये रोलैंड ने रूलिंग मशीन भी बनाई थी जो सुधरे हुए रूप में अब भी प्रचलित है।

वक्र ग्रेटिंग स्पेक्ट्रोलेखी में लेंस की आवश्यकता नहीं होती है। रश्मिपुंज एक सँकरी झिरी से होकर ग्रेटिंग पर पड़ता है। परावर्तित रश्मियाँ स्वतः एक वृत्त पर केंद्रित हो जाती हैं। इस वृत्त को 'रोलैंड वृत्त' कहते हैं। जिस वक्रतल पर रेखाएँ खुरची जाती हैं उसे 'ग्रेटिंग ब्लैंक' कहते हैं। रोलैंड वृत्त का अर्धव्यास 'ब्लैंक' के वक्रतार्धव्यास का आधा होता है। यह वृत्त ग्रेटिंग को उस स्थान पर स्पर्श करता है जहाँ इसका व्यास ग्रेटिंग पर अभिलंब होता है। इसी अभिलंब के दूसरे सिरे पर झिरी का प्रत्यक्ष बिंब बनता है। इसे शून्य कोटि का स्पेक्ट्रम कहते हैं। इसके दोनों ओर रोलैंड वृत्त पर जो सर्वप्रथम स्पेक्ट्रम पाए जाते हैं उन्हें प्रथम कोटि का स्पेक्ट्रम कहा जाता है। इसी वृत्त पर और आगे क्रमशः कम तीव्रता के कई स्पेक्ट्रम मिलते हैं। इन्हें क्रमशः द्वितीय, तृतीय आदि कोटि का स्पेक्ट्रम कहा जाता है।

स्पेक्ट्रोलेखी की उपयोगिता दो बातों पर निर्भर करती है। पहली उसकी परिक्षेपण क्षमता और दूसरी विभेदन क्षमता (Resolving power) है। किसी स्पेक्ट्रोलेखी में परिक्षेपक संयंत्र से निकलने पर विभिन्न तरंगदैर्घ्य की रश्मियाँ एक दूसरी से जितना ही अधिक पृथक् हो जाती हैं उस स्पेक्ट्रोलेखी की परिक्षेपण क्षमता उतना ही अधिक होती है। इसी प्रकार दो अत्यंत समीपवर्ती तरंगदैर्घ्य की रेखाओं को एक दूसरी से ठीक ठीक अलग दिखाने की क्षमता को विभेदनक्षमता कहते हैं। यदि किसी स्पेक्ट्रम में दो ऐसी रेखाएं ली जायें जिनमें एक का तरंगदैर्घ्य λ और दूसरी का $\lambda + d\lambda$ हो तो अधिक विभेदनक्षमतावाले स्पेक्ट्रोलखी में दोनों रेखाएँ एक दूसरी से अलग दिखाई देती हैं किंतु कम विभेदक स्पेक्ट्रोलेखी में दोनों मिलकर केवल एक ही रेखा दिखाई पड़ती है। विभेदनक्षमता को $\lambda/d\lambda$ के अनुपात से व्यक्त किया जाता है।

रश्मियों का अभिलेखन — स्पेक्ट्रोलेखी में परिक्षेपित रश्मियों का फोटो उतार लिया जाता है। इसे स्पेक्ट्रोलेखी कहते हैं। जहाँ फोटो नहीं उतारा जा सकता है वहाँ रश्मियों का अभिलेखन (Recording) किया जाता है। फोटो उतारने तथा अभिलेखन के लिये जो उपकरण काम आते हैं उन्हें 'डिक्टेटर' कहा जाता है। स्पेक्ट्रमिकी के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के डिक्टेटर काम में लाए जाते हैं।

तरंगदैर्घ्य की माप — किसी एकवर्ण रश्मि का तरंगदैर्घ्य अत्यंत शुद्धतापूर्वक ज्ञात करने के लिये व्यतिकरणमापी (Interferometer) काम में लाए जाते हैं। फेबरीपेरो इंटरफेरोमीटर और माइकेल्सन इंटरफेरोमीटर इस कार्य के लिये अत्यधिक उपयोगी होते हैं।

सभी रेखाओं का तरंगदैर्घ्य व्यतिकरणमापी से ही ज्ञात करना कठिन और बहुधा असंभव है अतः किसी तत्व की तीक्ष्ण और प्रखर

रेखा को प्राथमिक मानक (Primary standard) मान लिया जाता है और इसकी सहायता से अन्य रेखाओं के तरंगदैर्घ्य ज्ञात किए जाते हैं। कैडमियम तत्व की लाल रेखा का तरंगदैर्घ्य ६४३८·४६९६ ए° को प्राथमिक मानक माना गया है। हाल ही में (१९५८-५९ ई०) बहुत से वैज्ञानिकों ने क्रीप्टन गैस की रेखा ६०५७·८०२ ए° (A°) को प्राथमिक मानक मानने का निर्णय किया है। शुद्ध लोह तथा विरल गैसों के तरंगदैर्घ्य गौण मानक (Secondary standard) माने जाते हैं। किसी स्पेक्ट्रम का फोटो लेते समय फोटोप्लेट को यथास्थान रखकर मुख्य स्पेक्ट्रम के साथ साथ लोहे या ताँबे के विद्युत्आर्क का स्पेक्ट्रम भी ले लिया जाता है और इसकी रेखाओं से तुलना करके, सूत्रों की सहायता से, स्पेक्ट्रम की रेखाओं या बैंडशीर्षों का तरंगदैर्घ्य ज्ञात कर लिया जाता है। रेखाओं की पारस्परिक दूरियाँ कंपैरेटर नामक उपकरण की सहायता से मापी जाती हैं।

स्पेक्ट्रमों की उत्पत्ति का सिद्धांत — प्रत्येक परमाणु में एक नाभिक (nucleus) होता है। इसके चारों ओर कई इलेक्ट्रान नियत कक्षाओं में घूमते रहते हैं। इलेक्ट्रानों की कुल संख्या नाभिक के प्रोटानों की संख्या के बराबर होती है। भिन्न भिन्न कक्षाओं में इलेक्ट्रानों की संख्या भी नियत होती है। कोई भी इलेक्ट्रान किसी नियत कक्षा में ही रह सकता है। वास्तव में ये कक्षाएँ परमाणु की ऊर्जास्थिति की द्योतक होती हैं। यदि कोई इलेक्ट्रान किसी अन्य रिक्त कक्षा में चला जाय तो परमाणु की ऊर्जास्थिति बदल जाती है। भीतरी कक्षाओं के इलेक्ट्रानों का हटना प्राय: संभव नहीं होता है किंतु अंतिम कक्षा का इलेक्ट्रान बाहरी ऊष्मा या विद्युत् शक्ति से उत्तेजित होने पर अगली कक्षा में जा सकता है। यदि पहली कक्षा में उससे संबद्ध ऊर्जा E_1 और उससे ठीक अगली कक्षा में E_2 है तो पहली से दूसरी उच्चतर ऊर्जास्थिति में जाने के लिये इलेक्ट्रान केवल $E_2 - E_1$ ऊर्जा ही ले सकता है। उत्तेजित स्तर पर जाने के बाद ही वह पुन: पूर्वस्थिति में वापस आता है और $E_2 - E_1$ ऊर्जा उत्सर्जित करता है। इस उत्सर्जित या अवशोषित ऊर्जा का मान $h\nu$ ही होता है अर्थात् इलेक्ट्रान एक ऊर्जास्तर से ठीक अगले ऊर्जास्तर में जाने या वापस आने में निश्चित ऊर्जा $h\nu$ अर्ग ही ले सकता है या दे सकता है। इससे कम ऊर्जा का आदान प्रदान नहीं हो सकता है। h एक स्थिर संख्या है और ν उत्सर्जित रश्मि की आवृत्ति (frequency) है। $h\nu$ अर्ग ऊर्जा का एक पैकेट या 'क्वांटम' कहा जाता है। इसी प्रकार जब इलेक्ट्रान अन्य ऊर्जास्तरों में संक्रमण करता है तो भिन्न भिन्न आवृत्ति की रश्मियाँ प्राप्त होती हैं और स्पेक्ट्रम में तदनुकूल बहुत सी रेखाएँ बन जाती हैं। अणु, परमाणुओं में इलेक्ट्रानों की व्यवस्था के अनुसार कई इलेक्ट्रानिक ऊर्जास्तर पाए जाते हैं और इलेक्ट्रानिक संक्रमण के कारण विभिन्न प्रकार के स्पेक्ट्रम प्राप्त होते हैं। परमाणुओं में केवल इलेक्ट्रानिक ऊर्जास्थितियाँ ही पाई जाती हैं। अत: इलेक्ट्रानों के संक्रमण (transition) से निश्चित तरंगदैर्घ्य की रश्मियाँ निकलती हैं और रेखीय स्पेक्ट्रम प्राप्त होता है। अणुओं में तीन प्रकार की ऊर्जा होती है — इलेक्ट्रानिक, कंपनजन्य (vibrational) और घूर्णनजन्य (rotational)। इलेक्ट्रानिक ऊर्जा का मान और भी कम होता है। जिस प्रकार इलेक्ट्रानिक ऊर्जास्थितियाँ नियत हैं उसी प्रकार कंपनजन्य और घूर्णनजन्य ऊर्जा की स्थितियाँ भी नियत हैं। अत: कंपनजन्य संक्रमण से पट्ट या बैंड प्राप्त होता है। प्रत्येक बैंड में घूर्णनजन्य संक्रमण से रेखाएँ प्राप्त होती हैं। ये बहुत पास पास होती हैं अत: छोटे स्पेक्ट्रोदर्शी से अलग अलग नहीं दिखाई पड़ती हैं और स्पेक्ट्रम में विभिन्न वर्ण के बैंड ही दिखाई पड़ते हैं। अधिक परिक्षेपण तथा विभेदनक्षमतावाले स्पेक्ट्रोदर्शी से इन रेखाओं को देखा जा सकता है। दो से अधिक परमाणुवाले अणुओं की घूर्णन रेखाएँ और भी पास पास होती हैं अत: उन्हें देखना कठिन होता है। बहुपरमाणुक अणुओं की घूर्णनरेखाओं को देखना अब तक संभव नहीं हुआ है।

स्पेक्ट्रमदर्शी के उपयोग — १. स्पेक्ट्रमी रासायनिक विश्लेषण : आर्क या स्फुलिंग द्वारा किसी पदार्थ को उत्तेजित करके उसके स्पेक्ट्रम द्वारा यह जाना जा सकता है कि उक्त पदार्थ किन किन तत्वों से बना है तथा इसमें उनका अनुपात क्या है। ऐसे विश्लेषण से किसी तत्व की अत्यंत सूक्ष्म मात्रा का अनुपात ज्ञात किया जा सकता है। किसी धातु में दूसरी धात्वीय अशुद्धि यदि ०·००१०% तक है तब भी इसका पता लगाया जा सकता है। रासायनिक रीतियों से यह संभव नहीं है।

२ अणु-परमाणुओं की आंतरिक रचना ज्ञात की जाती है।

३. नाभिकीय भ्रमि (Nuclear spin) और समस्थानिकों का पता सुविधापूर्वक लगाया जा सकता है।

४. द्विपरमाणुक पदार्थों के चुंबकीय गुणों का पता लगाया जाता है।

५. जहाँ सीधी रीतियों से ताप ज्ञात करना संभव नहीं है वहाँ स्पेक्ट्रमदर्शी की रीति अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई है। स्पेक्ट्रम की रेखाओं की दीप्ति नापकर उनके स्रोत का ताप बताया जा सकता है।

६. पदार्थों के ऊष्मागतिक (Thermodynamical) गुणों की गणना भी स्पेक्ट्रमदर्शी की रीति से की जा सकती है।

७. बहुत से ऐसे 'रेडिकल' या परमाणुसमूह, जिनका बनना रासायनिक क्रियाओं द्वारा असंभव है और जो मुक्त रूप में नहीं बन सकते, उनका अध्ययन भी स्पेक्ट्रमदर्शी में बहुधा अत्यंत सरल है। C N और O H मूलक स्वतंत्र रूप में कभी नहीं पाए जाते हैं पर स्पेक्ट्रोदर्शी की रीतियों से इनका यथेष्ट अध्ययन किया गया है। तारों का ताप और उनकी बनावट का ज्ञान भी स्पेक्ट्रमदर्शी की विधियों से ही प्राप्त किया जाता है। [श० कु० सि०]

स्पेक्ट्रमिकी, एक्स-किरण स्पेक्ट्रमिकी के इस विभाग में एक्स किरणों के स्पेक्ट्रम का अध्ययन किया जाता है। इससे परमाणुओं की संरचना का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। एक्स

किरणों की खोज डब्ल्यू० के० रंटगेन (W. K. Rontgen) ने 1895 ई० में की थी। ये किरणें भी विद्युत् चुंबकीय तरंगें होती हैं। एक्स किरणों का तरंगदैर्घ्य बहुत छोटा, 100 ए° से 10° तक होता है। स्पेक्ट्रमिकी के इस विभाग की नींव डालनेवाले वैज्ञानिकों में हेनरी जेफरी मोस्ले, ब्रैग और लावे के नाम उल्लेखनीय हैं।

जब तीव्र गति से चलते हुए इलेक्ट्रानों की धारा को किसी धातु के 'टार्जेट' पर रोक दिया जाता है तब उससे एक्स-किरणें निकलने लगती हैं। इनसे प्राप्त स्पेक्ट्रम दो प्रकार के होते हैं—रेखा स्पेक्ट्रम और संतत स्पेक्ट्रम। रेखा स्पेक्ट्रम टार्जेट के तत्व का लाक्षणिक स्पेक्ट्रम (Characteristic Spectrum) होता है। संतत स्पेक्ट्रम में एक सीमित क्षेत्र की प्रत्येक आवृत्ति की रश्मियाँ होती हैं। इस स्पेक्ट्रम की उच्चतम आवृत्तिसीमा तीक्ष्ण और स्पष्ट होती है किंतु निम्न आवृत्तिसीमा निश्चित नहीं होती है। उच्चतम आवृत्ति-सीमा को एक्स-स्पेक्ट्रम की क्वांटम-सीमा कहते हैं।

संतत एक्स किरण स्पेक्ट्रम की विशेषताएँ—(1) एक्स किरणों को उत्पन्न करने के लिये जितना ही अधिक विभवांतर रखा जाता है, संतत स्पेक्ट्रम की उच्चतम आवृत्तिसीमा भी उतनी ही अधिक होती है।

(2) एक निश्चित टार्जेट के लिये संतत स्पेक्ट्रम की संपूर्ण तीव्रता (total intensity) उपयोग किए हुए विभव के वर्ग के सरल अनुपात में होती है। यदि विभव स्थिर रखकर टार्जेट बदलते जाएँ तो तीव्रता परमाणुसंख्या के अनुसार बढ़ती जाती है।

रैखिक एक्स स्पेक्ट्रम की विशेषताएँ — (1) रैखिक ऐक्स स्पेक्ट्रम की रेखाओं को प्रायः दो श्रेणियों में बाँटा जाता है। छोटी तरंगदैर्घ्य की रेखाओं को 'के' (K) श्रेणी में और बड़ी तरंगदैर्घ्य की रेखाओं को 'एल' (L) श्रेणी में रखा जाता है। इन रेखाओं की संख्या तत्वों के परमाणुभार के अनुसार बढ़ती जाती है। उच्च विभव का प्रयोग करने पर भी इनकी संख्या बढ़ती है। इस दशा में 'के' और 'एल' श्रेणियों के अतिरिक्त एम, एन, ओ (M, N, O) श्रेणियाँ भी मिलने लगती हैं। यूरेनियम और थोरियम के ऐक्स स्पेक्ट्रम में के, एल, एम और एन श्रेणियाँ पाई जाती हैं।

(2) सूक्ष्मदर्शी स्पेक्ट्रोदर्शी की सहायता से यह ज्ञात हुआ है कि 'के' श्रेणी में चार रेखाएँ होती हैं; एल श्रेणी में इससे अधिक रेखाएँ होती हैं। एम, एन आदि श्रेणियों में और भी अधिक रेखाएँ होती हैं।

(3) उपर्युक्त रेखाओं के अतिरिक्त उनके अत्यंत निकट धुँधली रेखाएँ भी पाई गई हैं। इन्हें 'सेटेलाइट' रेखाएँ कहते हैं।

प्रतिदीप्ति — जब किसी धातु पर एक्स रश्मियाँ पड़ती हैं तब उससे लाक्षणिक रैखिक स्पेक्ट्रम प्राप्त होता है। इस एक्स किरण प्रतिदीप्ति कहते हैं। इससे ठीक पहले धातु से इलेक्ट्रान भी निकलते हैं, यह फोटो इलेक्ट्रिक क्रिया कहलाती है।

अवशोषण एक्स-किरण स्पेक्ट्रम — स्पेक्ट्रोमापी में जाने के पूर्व यदि संतत एक्स किरणों को किसी धातु के पतले पत्र से होकर जाने दिया जाय तो वह अपनी लाक्षणिक आवृत्तियों को अवशोषित कर लेता है और हमें अवशोषण स्पेक्ट्रम मिलता है। स्पेक्ट्रम की अवशोषण रेखाओं को पहले की भाँति के, एल, एम आदि श्रेणियों में रख सकते हैं। ये रेखाएँ उत्सर्जित रेखाओं की भाँति तीक्ष्ण नहीं होती वरन् पट्ट की भाँति मालूम पड़ती हैं क्योंकि इनमें चौड़ाई होती है और इनका एक ही किनारा तीक्ष्ण होता है।

एक्स किरण स्पेक्ट्रमदर्शी तथा स्पेक्ट्रमलेखी — एक्स-किरण स्पेक्ट्रमदर्शी में दो प्रकार के उपकरण काम में लाए जाते हैं। 1. क्रिस्टल एक्स-स्पेक्ट्रममापी (Crystal x spectrometer) 2. ग्रेटिंग एक्स-स्पेक्ट्रमलेखी (Grating spectrograph)

क्रिस्टल एक्स-किरण स्पेक्ट्रममापी—ये कई प्रकार के होते हैं किंतु सबका मूल सिद्धांत प्रायः ब्रैग स्पेक्ट्रममापी पर ही आधारित है। नीचे अन्य प्रकार के स्पेक्ट्रममापी के नाम दिए गए हैं:—

(1) ब्रैग का आयनीकरण स्पेक्ट्रममापी।

(2) डी ब्रोग्ली का क्रिस्टल स्पेक्ट्रममापी — इसमें क्रिस्टल को घुमाया जा सकता है और संसूचक को स्थिर रखा जा सकता है।

(3) सीग्बन का एक्स-किरण स्पेक्ट्रममापी।

(4) रदरफोर्ड का पारगामी एक्स-किरण स्पेक्ट्रमलेखी।

ग्रेटिंग ऐक्स-किरण स्पेक्ट्रमलेखी — इस प्रकार का स्पेक्ट्रोग्राफ सर्वप्रथम काम्टन और डोन द्वारा 1926 ई० में बनाया गया। परावर्तक सतहों से एक्स-किरणों का पूर्ण परावर्तन हो सकता है। इसी तथ्य के आधार पर यह संभव हुआ है कि खचित परावर्तन ग्रेटिंग (Ruled reflection grating) की सहायता से एक्स किरणों का तरंगदैर्घ्य निकाला जा सकता है। एक्स-किरणों को परावर्तन के लिये ग्रेटिंग के साथ अत्यंत छोटा कोण बनाना चाहिए। (पूर्ण परावर्तन के लिये चरमकोण से छोटा आपतन कोण बनाना चाहिए)। छोटी तरंगदैर्घ्य की एक्स किरणों के लिये ग्रेटिंग स्पेक्ट्रम लेखी उपयोगी नहीं होते हैं।

एक्स-किरण स्पेक्ट्रमदर्शी की उपयोगिता सामान्य स्पेक्ट्रमदर्शी की अपेक्षा कम नहीं है। अणुओं की आंतरिक रचना जानने के लिये एक्स-किरण स्पेक्ट्रम के अध्ययन से बड़ी सहायता मिली है। सामान्य स्पेक्ट्रमदर्शी में हम केवल ऐसे ही स्पेक्ट्रम प्राप्त करते हैं जो परमाणुओं के समीपवर्ती इलेक्ट्रानों की उत्तेजना से प्राप्त करते हैं। एक्स-किरणों से संबद्ध ऊर्जा का मान बहुत अधिक होता है। अतः जब ये किसी पदार्थ के परमाणुओं से टकराती हैं, या अत्यधिक ऊर्जावाले इलेक्ट्रान जब परमाणुओं से टकराते हैं तब परमाणु की आंतरिक कक्षाओं के इलेक्ट्रान (एक या अधिक) बाहर निकल जाते हैं। उनको स्थानापन्न करने के लिये अन्य कक्षाओं से इलेक्ट्रान आते हैं। इन्हीं इलेक्ट्रनों के संक्रमण से एक्स-विकिरणें (X-radiation) निकलती हैं और रैखिक स्पेक्ट्रम प्राप्त होता है। प्रत्येक तत्व का एक्स-स्पेक्ट्रम दूसरों के स्पेक्ट्रम से भिन्न होता है। इसकी सहायता से तत्वों की पहचान बहुत सुविधापूर्वक की जा सकती है। एक्स-किरण स्पेक्ट्रम

से रासायनिक विश्लेषण करने का मूल सिद्धांत यही है। ऐसे विश्लेषण का प्रारंभ मोस्ले ने किया था।

यदि दिए हुए पदार्थ का 'टार्जेट' बनाकर ऐक्स किरणें प्राप्त की जाय तो उनके स्पेक्ट्रम की सहायता से दिए हुए तत्वों की पहचान हो सकती है। प्रत्येक तत्व को टार्जेट के रूप में बनाना और प्रत्येक के लिये एक्स-किरण नलिका बनाना अत्यंत असुविधाजनक है। अतः एक्स-किरणों द्वारा दिए हुए पदार्थ के परमाणुओं को उत्तेजित करके गौण विकिरण (Secondary Radiation) प्राप्त किया जाता है और इन्हीं के स्पेक्ट्रम का अध्ययन करके अज्ञात पदार्थ के अवयवों (परमाणुओं) का पता लगाते हैं। इन गौण विकिरणों से प्राप्त स्पेक्ट्रम उस पदार्थ से प्रत्यक्ष उत्सर्जित स्पेक्ट्रम के समान ही होता है। द्वितीयक स्पेक्ट्रम की तीव्रता अपेक्षाकृत कुछ कम होती है। जिस पदार्थ का विश्लेषण करना होता है उसे एक्स-किरण नलिका के टार्जेट के यथासंभव समीप रखते हैं क्योंकि नली से निकलनेवाली प्राथमिक किरणों की तीव्रता दूरी के वर्ग के अनुपात में घटती जाती है। पदार्थ को एक्स-रश्मियों द्वारा उत्तेजित करके द्वितीयक रश्मियाँ प्राप्त करने की प्रक्रिया को प्रतिदीप्ति कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ के अवशोषण स्पेक्ट्रम में अपनी विशिष्ट अवशोषणसीमा होती है। किसी पदार्थ से प्रतिदीप्ति प्राप्त करने के लिये उत्तेजना देनेवाली प्राथमिक एक्स-रश्मियों का तरंगदैर्घ्य उस पदार्थ की अवशोषण सीमा से थोड़ा अधिक होना चाहिए। उदाहरणार्थ ताम्र की अवशोषणसीमाएँ १·५४ ए° तथा १·३९ ए° हैं। इससे प्रतिदीप्ति पाने के लिये कोबाल्ट (Co) टार्जेट से प्राप्त एक्स किरणें, जिनका तरंगदैर्घ्य १·६१ ए° है, प्रयोग में लाई जाती हैं। किंतु वे किरणें जस्ते में प्रतिदीप्ति नहीं पैदा कर सकती क्योंकि इसकी अवशोषणसीमा १·२८ ए° पर पड़ती है। बहुधा उत्तेजना देने के लिये श्वेतत रश्मिस्रोत काम में लाए जाते हैं। इसके द्वारा सभी तत्वों से प्रतिदीप्ति प्राप्त की जा सकती है। एक्स किरण देनेवाली नली में यदि टंग्स्टन का टार्जेट रखा जाय और ५०,००० वो० का विभव दिया जाय तो इससे असंतत रश्मियाँ प्राप्त होती हैं। इन रश्मियों से अज्ञात पदार्थ को उत्तेजित करके द्वितीयक रश्मियों को स्पेक्ट्रमलेखी में ले जाते हैं और अभिलेखन की उचित विधियों द्वारा स्पेक्ट्रम प्राप्त करते हैं। विभिन्न तत्वों के स्पेक्ट्रम इसी प्रकार प्राप्त किए जाते हैं। इनमें रेखाओं की दीप्ति और पदार्थ की प्रतिशत मात्रा के बीच लेखाचित्र खींच दिए जाते हैं। इन्हें अंशशोधनवक्र कहते हैं। इन वक्रों की तुलना से किसी पदार्थ में उपस्थित तत्वों का प्रतिशत ज्ञात किया जा सकता है।

अभिलेखन के लिये मुख्यतः दो विधियाँ अपनाई जाती हैं। बहुधा क्रिस्टलवाले स्पेक्ट्रमलेखी में एक्स-रश्मियाँ स्फुरण गणित्र (Scintilation Counter) या ऐसे ही अन्य संसूचक (Detector) पर पड़ती हैं। इसके प्रभाव से विद्युत् ऊर्जा उत्पन्न होती है जिससे अभिलेखी द्वारा एक्स-किरणों की दीप्ति का लेखाचित्र उतर जाता है। साधारण प्रेरिंग वाले स्पेक्ट्रमलेखी में फोटोप्लेटों का प्रयोग करके पूरा स्पेक्ट्रम एक ही बार उतारा जाता है किंतु ब्रैग स्पेक्ट्रमलेखी में क्रिस्टल या संसूचक को स्थिर गति से इस प्रकार घुमाते हैं कि स्पेक्ट्रम का विभिन्न भाग क्रम से संसूचक द्वारा ग्रहण किया जा सके।

क्रिस्टल विवर्तन से यह सिद्ध किया गया है कि $2d \sin \theta = n\lambda$ होता है, यहाँ Q संस्पर्श (glancing) कोण और d ब्रैग अंतराल (Bragg spacing) कहलाता है। n (= 1, 2, 3) स्पेक्ट्रम की कोटि (order) प्रकट करता है। क्रिस्टल 2d से अधिक तरंगदैर्घ्यवाली रश्मियों को परावर्तित नहीं कर सकता है अतः क्रिस्टल का चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है। इसके अतिरिक्त क्रिस्टल की परावर्तनक्षमता भी अच्छी होनी चाहिए। कैलसाइट, अबरक और क्वार्ट्ज इस काम के लिये उपयोगी होते हैं।

एक्स-किरणों द्वारा रासायनिक विश्लेषण का कार्य सामान्य स्पेक्ट्रमदर्शी रीतियों की अपेक्षा अधिक सुगम होता है। एक्स-किरणों का स्पेक्ट्रम प्राप्त करने के लिये सभी प्रकार के ठोस काम में लाए जा सकते हैं। उन्हें किसी आर्क या स्फुलिंग में जलना नहीं पड़ता है और पदार्थ की कम मात्रा की आवश्यकता होती है। साथ ही प्राप्त स्पेक्ट्रम सरल होता है; इसमें रेखाएँ कम होती हैं।

एक्स-किरण स्पेक्ट्रमदर्शी का उपयोग विविध व्यवसायों में हो रहा है क्योंकि यह प्रत्यक्ष और अपेक्षाकृत सरल रीति है। इसमें समय कम लगता है और विश्लेषण के लिये पदार्थ को नष्ट नहीं करना पड़ता। इस रीति से जितनी सूचनाएँ मिलती हैं वे प्रायः अन्य रीतियों से नहीं मिल पातीं।

एक्स-किरणों द्वारा विवर्तन (X-Ray Diffraction) की रीति से यौगिकों की पहचान की जा सकती है। चूर्ण विवर्तन की रीति भी बहुत लाभदायक है क्योंकि रासायनिक दृष्टि से भिन्न भिन्न यौगिकों के चूर्ण-विवर्तन-पैटर्न सर्वथा भिन्न होते हैं।

परमाणु के चारों ओर घूमनेवाले इलेक्ट्रान विभिन्न कक्षाओं में भ्रमण करते हैं। सबसे छोटी कक्षा को के शेल कहते हैं। इसके आगे एल, एम, एन इत्यादि शेल होते हैं। यदि कोई तीव्र इलेक्ट्रान परमाणु से टकराकर कक्षा के एक इलेक्ट्रान को परमाणु से बाहर कर दे तो वहाँ एक स्थान रिक्त हो जाता है। उसे पूरा करने के लिये एल या एम कक्षाओं का एक इलेक्ट्रान जाता है। उसके संक्रमण से ऊर्जा उत्सर्जित होती है और रैखिक स्पेक्ट्रम प्राप्त होता है। इलेक्ट्रानों के संक्रमण को कोसेल चित्र (Kossel's Diagram) द्वारा व्यक्त किया जाता है। [श्र० कु० ति०]

स्पेक्ट्रमिकी, खगोलीय वह विज्ञान है जिसका उपयोग आकाशीय पिंडों के परिमंडल की भौतिक अवस्थाओं के अध्ययन के लिये किया जाता है। प्लेकेट के मतानुसार भौतिकविद् के लिये स्पेक्ट्रमिकी वृहद् अस्त्रागार में रखे हुए अनेक अस्त्रों में से एक अस्त्र है। खगोल भौतिकविद् के लिये आकाशीय पिंडों के परिमंडल की भौतिक अवस्थाओं के अध्ययन का यह एकमात्र साधन है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और प्रारंभिक शोध — १६७५ ई० में न्यूटन ने सर्वप्रथम श्वेत प्रकाश की संयुक्त प्रकृति का पता लगाया। इसके सौ वर्ष से कुछ अधिक समय के पश्चात् १८०२ ई० में वुलैस्टन (Wollastan) ने प्रदर्शित किया कि सौर स्पेक्ट्रम में काली रेखाएँ

होती हैं। उन्होंने सूर्य के प्रकाश के एक संकीर्ण किरणपुंज को एक छिद्र में से अंधेरे कक्ष में प्रविष्ट कराकर प्रिज्म द्वारा देखा। उन्होंने देखा कि यह किरणपुंज काली रेखाओं द्वारा चार रंगों में विभक्त हो गई। यह भी देखा कि एक मोमबत्ती की ज्वाला के निचले भाग के नीले प्रकाश को एक प्रिज्म के द्वारा देखने पर बहुत से चमकीले प्रतिबिंब दिखाई पड़ते हैं, जिनमें से एक सौर स्पेक्ट्रम के नीले और बैंगनी रंगों के बीच की काली रेखा का संपाती होता है। बाद में १८१४ ई० में फ्राउनहोफर (Fraunhofer) ने काली रेखाओं की दूरदर्शी और संकीर्ण रेखाछिद्र से विस्तृत परीक्षा की और वे स्पेक्ट्रम में ५७४ तक काली रेखाओं को गिन सके थे। उन्होंने उनमें से कुछ प्रमुख रेखाओं का नाम A, a, B, C, D, E, b इत्यादि दिया जो आज भी प्रचलित हैं। उन्होंने यह भी देखा कि सौर स्पेक्ट्रम की D रेखाएँ दीपक की ज्वाला के स्पेक्ट्रम में दिखाई पड़नेवाली काली रेखाओं की संपाती होती हैं। इस संपात की सार्थकता तब तक अज्ञात रही जब तक किर्खहॉफ (Kirchhoff) ने १८५९ ई० में एक साधारण प्रयोग द्वारा यह स्पष्ट नहीं किया कि स्पेक्ट्रम में D रेखाओं की उपस्थिति इनके तरंगदैर्घ्य पर तीव्रता की दुर्बलता के कारण है, जिसका कारण सूर्य में सोडियम वाष्प की तह की उपस्थिति है और इससे उन्होंने सूर्य में सोडियम की उपस्थिति को सिद्ध किया। इस महत्वपूर्ण सुझाव का उपयोग हूगिंज (Huygens) ने किर्खहॉफ की खोजों को तारकीय स्पेक्ट्रम के अध्ययन में प्रयुक्त कर किया। प्रायः उसी समय रोम में सेकी (Secchi) ने तारकीय स्पेक्ट्रम को देखना प्रारंभ किया और यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि तारे भी लगभग उन्हीं पदार्थों से बने हैं जिनसे सूर्य बना है।

किर्खहॉफ, हूगिंज और सेकी के प्रारंभिक कार्य के बाद यंग, जान्सेन लॉकयर, फोगेल (Vogel) और इनके पश्चात् ड्रिस्लैड्रिस पिकरिंग, किलर, डुनर (Duner), हेल (Hele) बेलोपोल्सकी (Belopolsky) और अन्य लोगों ने इस दिशा में कार्य किया।

१८७३ ई० में लॉकयर ने सर्वप्रथम प्रदर्शित किया कि एक तत्व एक से अधिक विशिष्ट स्पेक्ट्रम उत्सर्जित (emitting) करने में समर्थ है। यह स्पेक्ट्रम उत्सर्जित परमाणु के ऊपर प्रयुक्त उद्दीपन पर निर्भर करता है। जब लॉकयर ने स्पेक्ट्रम को उत्तेजित करने के लिये आर्क के बाद अधिक उग्र स्फुलिंग विधि का प्रयोग किया तब जो स्पेक्ट्रम रेखाएँ और तीव्र हो गईं उन्हें उन्होंने वर्धित रेखाओं का नाम दिया। वे यह प्रदर्शित करनेवाले प्रथम व्यक्ति थे कि सूर्य के वर्णमंडल (Chromosphere) का स्पेक्ट्रम मंडलक और सूर्यकलंक (Sunspot) के स्पेक्ट्रम से भिन्न है और इससे निष्कर्ष निकाला कि प्रकाशमंडल (photosphere) के ताप की अपेक्षा वर्णमंडल का ताप अधिक और सूर्यकलकों का ताप कम होता है।

लॉकयर ने यह ज्ञात किया कि यौगिकों के ज्वाला स्पेक्ट्रम (Flame Spectrum) में पट्टियाँ (प्रत्येक रेखाओं के समूह से युक्त होती है) का अनुक्रम दिखाई पड़ता है। ये पट्टियाँ घटक (Constituent) परमाणुओं द्वारा प्राप्त रैखिक स्पेक्ट्रम (line spectrum) से भिन्न होती हैं। परंतु जब ताप बढ़ा दिया गया, तब पट्टियाँ लुप्त हो गईं और घटक तत्वों के रैखिक स्पेक्ट्रम प्रकट हो गए। इस प्रेक्षण से लॉकयर ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि स्फुलिंग स्पेक्ट्रम में तत्वों की वर्धित रेखाएँ साधारण तत्वों के वियोजन (dissociation) से प्राप्त होनेवाले प्रोटोएलिमेंट (proto element) के कारण होती हैं। इस प्रकार आज की ज्ञात पिर्रिग श्रेणी जो आयनित हीलियम परमाणु के कारण है उसे प्रोटो हाइड्रोजन (Proto hydrogen) स्पेक्ट्रम कहा गया। आज हम जानते हैं कि ये प्रोटोएलिमेंट मात्रा वे ही तत्व हैं जिनके परमाणु आयनित हो गए हैं। लॉकयर ने अनेक तारों का प्रेक्षण किया और यह निष्कर्ष निकाला कि वे विभिन्न प्रकार के स्पेक्ट्रम केवल इसलिये प्रदर्शित करते हैं कि उनका ताप विभिन्न है। सन् १९२१ तक यह विवेकपूर्ण सुझाव उपेक्षित ही रहा जब तक कि साहा (Saha) ने स्पेक्ट्रम अनुक्रम के बारे में सही व्याख्या नहीं की। इनके अनुसार तारों की भिन्नता का कारण उनकी भौतिक रासायनिक रचना नहीं है अपितु उनके ताप और दबाव की भिन्नता है।

१९०० ई० के लगभग यंग के विचारों के आधार पर तारकीय परिमंडल (Stellar atmosphere) के बारे में एक पर्याप्त संतोषजनक गुणात्मक सिद्धांत प्रतिपादित हुआ। इस सिद्धांत के अनुसार परिमंडल का निम्नतम स्तर एक अपारदर्शी प्रकाशमंडल है जिसमें गैसीय माध्यम में संघनित धातु या कार्बन वाष्प तैरते रहते हैं। प्रेक्षित संतत स्पेक्ट्रम का उद्गम इसी स्तर से होता है। इस स्तर के ऊपर अपेक्षाकृत ठंढा परिमंडल रहता है जो वरणात्मक अवशोषण (Selective absorption) द्वारा प्रेक्षित काली रेखाएँ उत्पन्न करता है।

१९ वीं शताब्दी के अंतिम दशक में तारों, विशेषतः सूर्य के परिमंडल का विस्तृत गुणात्मक विश्लेषण किया गया। अनेक अन्वेषकों, मुख्यरूप से रोलैंड (Roland), ने स्पेक्ट्रम रेखाओं की पहचान तरंगदैर्घ्य के संबंध के आधार पर करने का प्रयास किया। सूर्य का तल, सूर्य धब्बों के बदलते हुए दृश्य, सौर ज्वाला का अध्ययन किया गया।

अनेक ग्रहणों के अध्ययन से सौर वर्णमंडल और किरीट (Corona) की संरचनाओं के बारे में बहुमूल्य सूचनाएँ प्राप्त हुईं। बहुत सी नई समस्याएँ, जैसे किरीट रेखाओं की पहचान आदि पैदा हो गईं। ग्रहों के अध्ययन के लिये स्पेक्ट्रमिकी का उपयोग भी किया गया, यद्यपि कोई महत्वपूर्ण परिणाम नहीं प्राप्त हुआ। १९०० ई० तक स्पेक्ट्रमिकीय युग्मतारों (Spectroscopic binaries), वे तारे जो देखने में एकल दिखाई देते हैं परंतु वास्तव में युग्म तारे हैं और जिनसे स्पेक्ट्रम रेखाओं में कभी कभी आवर्ती द्विगुण उत्पन्न हो जाते हैं) का पता लगा। विभिन्न वेधशालाओं में अनेक स्पेक्ट्रमलेखी (Spectrographs) कार्य में लाए गए और अनेक अन्वेषकों द्वारा, विशेषतः लिक वेधशाला में कैंपबेल द्वारा, त्रिज्य वेग (radial velocity) का स्पेक्ट्रमी मापन प्रारंभ हुए। ऐसा कहा जा सकता है कि इसी के साथ खगोलीय स्पेक्ट्रमिकी के प्रथम चरण का समापन हुआ।

१९ वीं शताब्दी की खगोलभौतिकी (astrophysics)

तारकीय स्पेक्ट्रम की गुणात्मक व्याख्या तक ही सीमित थी। बीसवीं सदी से परिमाणात्मक व्याख्या का प्रारंभ हुआ। १९०० ई० के प्लैंक के विकिरण नियम परमाणु ऊर्जास्तर की मान्यता आयनन विभव (ionisation potential) एवं विस्तृत प्रयोगशाला और परमाणु स्पेक्ट्रमी (atomic spectra) के सैद्धांतिक अन्वेषण से तारों की भौतिक दशा और उनके संघटन का परिमाणात्मक अध्ययन संभव हो सका है। ऐसा कहा जा सकता है कि इन्हीं अन्वेषणों से खगोलीय स्पेक्ट्रमिकी के द्वितीय चरण का प्रारंभ हुआ।

शुस्टर (Schuster) ने सन् १९०२ में खगोलभौतिकी जर्नल में एक लेख प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने सौर मंडलक के छोर (limb) की ओर के प्रेक्षित अंधेरों को विकरित परिमंडल द्वारा समझाने का प्रयास किया। कुछ वर्षों के पश्चात् उन्होंने दूसरा निबंध प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने तारकीय स्पेक्ट्रमों में अवशोषण और उत्सर्जन रेखाओं की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। इन खोजों के पश्चात् श्वार्ट्स चाइल्ड (Schwarzschild), मिल्न (Milne), एडिंगटन (Eddington), फाउलर (Fowler) और इनके पश्चात् अनसॉल्ड (Unsold), चंद्रशेखर, स्ट्रामग्रेन (Stromgren) तथा अन्य लोगों ने इस दिशा में कार्य किया।

तारों का सतत स्पेक्ट्रम — सूर्य पृथ्वी के सबसे निकट का और सबसे अधिक चमकीला तारा है, जो प्रेक्षणीय मंडलक प्रदर्शित करता है। यह स्वाभाविक है कि तारों के संतत स्पेक्ट्रम सिद्धांत की जाँच सूर्य के ऊपर इसके अनुप्रयोग द्वारा की जाय। सूर्य मंडलक के ऊपर की तीव्रता वितरण का प्रेक्षण समाकलित (integrated) प्रकाश में ही नहीं वरन् अलग अलग तरंगदैर्घ्य के एकवर्णी प्रकाश मे भी किया गया है। यह पाया गया कि अंग (Limb) तक पहुँचने पर तीव्रता घट जाती है और अंगतमिस्रण की घटना दीर्घ तरंगदैर्घ्य की अपेक्षा लघु तरंगदैर्घ्य में अधिक स्पष्ट होती है।

शुस्टर ने इस प्रेक्षित अंगतमिस्रण की व्याख्या करते समय यह मान लिया था कि प्रकाशमंडल सभी दिशाओं में समान रूप से विकिरण करता है और उसके चारों ओर का गैसीय परिमंडल सभी आवृत्तियों पर उसका अवशोषण और उत्सर्जन करता है। यह मानकर कि गैसीय परिमंडल निचले प्रकाशीय मंडल की अपेक्षा ठंढा है, शुस्टर ने एक सैद्धांतिक नियम का प्रतिपादन किया और इस सिद्धांत की प्रेक्षणों से तुलना की।

तारकीय परिमंडल में विकिरणात्मक (radiative) संतुलन की महत्ता को समझने का श्रेय श्वार्ट्स चाइल्ड को है जो यह दिखाने में सफल रहे कि प्रेक्षणों के साथ रुद्धोष्म (adiabatic) संतुलन की अपेक्षा विकिरणात्मक संतुलन का अधिक तालमेल बैठता है। इस विचार के अनुसार अभ्यंतर से ऊर्जा का अभिगमन एक स्तर से दूसरे स्तर तक विकिरण द्वारा होता है।

संतुलन के लिये परिमंडल में एक निश्चित ताप वितरण आवश्यक है। यदि हम अनुमान करें कि ताप भीतर की ओर बढ़ता जाता है, तो अंगतमिस्रण की घटना को बड़ी सरलता से समझा जा सकता है। जैसे जैसे हम मंडलक केंद्र से अंग की ओर अग्रसर होते हैं, दृष्टिरेखा सतह के उस बिंदु पर अधिकाधिक झुक जाती है जहाँ वह सौर परिमंडल में प्रवेश करती है। फलस्वरूप उत्सर्जित तीव्रता में अंशदान करनेवाले स्तर की औसत गहराई घट जाती है। चूँकि ताप भीतर की ओर बढ़ता है अतः अंगतमिस्रण उत्पन्न हो जाता है।

श्वार्ट्सचाइल्ड के विचारों से मूल समस्याओं को समझाने में काफी सहायता मिली परंतु बोर (Bohr) के परमाणु सिद्धांत के विकसित होने तक और सतत अवशोषण एवं उत्सर्जन की प्रक्रिया समझ में आने तक वे विचार अस्पष्ट रहे। इस सिद्धांत के अनुसार संतत अवशोषण तभी होता है जब कि बद्ध इलेक्ट्रॉन प्रकाशिक आयनन (photoionnisation) द्वारा मुक्त होता और संतत उत्सर्जन तभी होता है जब मुक्त इलेक्ट्रॉन का ग्रहण (capture) आयन द्वारा होता है।

परमाणु सिद्धांत के विकास की दृष्टि से श्वार्ट्स चाइल्ड के अन्वेषण निरंतर चलते रहे। १९२० ई० में लुंडब्लैड ने (Lundbland) ने यह सिद्ध किया कि श्वार्ट्सचाइल्ड की कल्पनाएँ (assumptions), जैसे (१) अवशोषण गुणांक तरंगदैर्घ्य से स्वतंत्र है तथा (२) प्रकीर्णन (scattering) नगण्य है, बहुत हद तक ठीक हैं। इन कल्पनाओं के आधार पर अनुगणन संतत स्पेक्ट्रम में तीव्रता का वितरण प्रेक्षणों से भली भाँति मेल खाता है। श्वार्ट्सचाइल्ड की कल्पनाओं के आधार पर ही कार्य कर मिल्न (Milne) द्वारा आगे विकास किया गया और स्वतंत्र रूप से वे उन्हीं परिणामों पर पहुँचे जिन पर लंडब्लैड पहुँचे थे। मिल्न ने एक अन्वेषण द्वारा, जिसे उन्होंने १९२३ ई० मे प्रकाशित किया, संतत स्पेक्ट्रम के सिद्धांत का विस्तार समकालिक प्रकीर्णन और अवशोषण तक किया। संतत स्पेक्ट्रम के सिद्धांत में बनी कल्पनाओं की सार्थकता की जाँच तक ही भावी शोध सीमित था। ये कल्पनाएँ थीं : (१) परिमंडल समतल समांतर है, (२) यह विकिरणात्मक संतुलन में है, (३) उत्सर्जन गुणांक प्रत्येक स्थान पर किर्खहॉफ प्लांक के संबंध द्वारा व्यक्त किया जाता है अर्थात् $I_\nu = K_\nu B_\nu(T)$, तथा (४) अवशोषण गुणांक आवृत्ति से स्वतंत्र है, केवल उन्हीं स्थितियों को छोड़कर जहाँ तीव्रता वितरण वक्रता से प्रभावित होता है। पहली कल्पना की वैधता अनेक स्थितियों में सही सिद्ध हुई, दूसरी कल्पना के संबध में यह देखा गया कि यदि संवहन द्वारा ऊर्जा अभिगमन नगण्य न हो तो संभावित विचलन हो सकते हैं। अनसॉल्ड ने सूर्य में एक संवहनी (convective) क्षेत्र का पता लगाया है। नवीनतम खोजों से पता लगता है कि विकिरणात्मक संतुलन का सबसे ऊपरी स्तर के प्रेक्षण से जो विरोधाभास है, वह सौरतल के दानेदार होने के कारण है। कम से कम अधिक गहरे स्तर में, जहाँ यह माना जा सकता है कि ऊष्मागतिकी संतुलन विद्यमान है, तीसरी कल्पना वैध होगी। चौथे अनुमान की वैधता का परीक्षण करने के लिये मक्रिया (Mecrea), बियरमैन, (Biermann), अनसाल्ड, (Unsold), पेनीकॉक (Pannekock) और अन्य लोगों द्वारा अवशोषण गुणांक के विस्तृत परिकलन किए गए। इन लोगों ने अपने परिकलन में रसेल द्वारा निर्धारित सूर्य के रासायनिक संगठन का

उपयोग किया। इन परिकलनों का उपयोग विभिन्न प्रभावी तापों पर तीव्रता वितरण के वक्र बनाने के लिये किया गया और अनेक वैज्ञानिकों ने सूर्य और तारों के सतत स्पेक्ट्रमों के प्रेक्षणों से इनकी तुलना की। इस तुलना से यह पता चला कि परमाणु हाइड्रोजन का प्रकाशिक आयनन ऊष्ण तारों में मुख्य रूप से भाग लेता है जब कि सूर्य और इसी प्रकार के अन्य तारों के लिये संतत अवशोषण का अन्य स्रोत होना चाहिए। १६३६ ई० में विल्ड्ट ने यह ज्ञात किया कि सौर किस्म के तारों में संतत अवशोषण का कारण ऋणात्मक हाइड्रोजन हो सकते हैं जिनमें एक प्रोटॉन और दो इलेक्ट्रान रहते हैं। इन आयनों के विन्यास (configuration) की स्थिरता प्रारंभ में ही स्थापित हो चुकी थी। यह शीघ्र ही मालूम हो गया कि संतत अवशोषण के स्रोत के रूप में ऋणात्मक हाइड्रोजन आयन की महत्ता १०,०००° के नीचे बढ़ जाती है और ६,०००° पर यह प्रबल हो जाती है। एक ओर चंद्रशेखर और दूसरी ओर चैलांग (Chalong) एवं कूर्गनॉफ (Kourganoff) की खोजों से यह ज्ञात हो गया कि सौर मंडलक के अंगतमिस्रण (limbdarkening) के प्रेक्षण असाधारण रूप से सैद्धांतिक परिणामों के अनुरूप होते हैं, यदि ऋणात्मक हाइड्रोजन आयन के कारण होनेवाले अवशोषण को ध्यान में रखा जाय।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि तारों के संतत स्पेक्ट्रमों के बारे में हमें पर्याप्त जानकारी हो गई है, तथापि अभी भी बहुत सी समस्याओं का हल नहीं मिला है, उदाहरणार्थ, सूर्य का ४००० A° के नीचे का संतत अवशोषण का स्रोत अभी भी अज्ञात है। इस संबंध में अनेक सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं, पर कोई भी संतोषजनक नहीं है।

अपेक्षाकृत ठंढे तारों में आण्विक यौगिक (molecular compound) प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं और उनका संतत अवशोषण अभी भी अज्ञात है। बम-विटेंस (Bohm Vitense) ने हाल में ३८४०° A° से लेकर १,००,८००° A° ताप के लिये अनुमानित रासायनिक संगठनवाले तारकीय द्रव्यों के संतत अवशोषण के गुणांकों की सारणी प्रस्तुत की है। हाइड्रोजन (H), हीलियम (He) और हीलियम$^{+}$ (He^{+}) के अवशोषण की सारणी भी वेनो (Veno) द्वारा प्रस्तुत की गई है।

५०००A° पर के कुछ ऊष्ण तारों के स्पेक्ट्रम में होनेवाली असंतता और महादानवी (Super giant) तारों के संतत स्पेक्ट्रमों को अभी भी पूर्ण रूप से समझा नहीं जा सका है। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि इस शती के पूर्वार्ध में तारों के संतत स्पेक्ट्रम संबंधी ज्ञान में हुई प्रगति पर्याप्त संतोषजनक रही है।

तारकीय स्पेक्ट्रमों में अवशोषण रेखाएँ — तारकीय स्पेक्ट्रमों में अवशोषण रेखाओं की रचना के बारे में प्रारंभिक विचार बड़े सरल थे। प्रकाशमंडल को घेरे हुए ठंढा गैसीय मंडल, प्रकाशमंडल से संतत उत्सर्जित होनेवाले विकिरण का वरणात्मक अवशोषण करता है जिससे अवशोषण रेखाएँ बनती हैं। सर्वप्रथम शुस्टर ने तारकीय स्पेक्ट्रमों में अवशोषण रेखाओं का क्रमबद्ध सिद्धांत प्रस्तुत किया। इन्होंने इन रेखाओं के बनने का कारण संतत प्रकीर्णन पर आरोपित स्पेक्ट्रम रेखाओं के अवशोषण को बताया।

शुस्टर ने इन रेखाओं में तीव्रता की कमी के लिये कुछ परिकलन किए और उनकी जब प्रेक्षण से तुलना की तो यह ज्ञात हुआ कि समकालिक अवशोषण एवं प्रकीर्णन के विचार से शुस्टर की विधि सही थी। शुस्टर ने प्रकाशमंडल के चारों ओर शुद्ध प्रकीर्ण परिमंडल की कल्पना की।

शुस्टर के बाद श्वार्ट्सचाइल्ड ने इस दिशा में कार्य किया। इन्होंने विकिरणात्मक संतुलन के आधार पर स्पेक्ट्रम रेखाओं में उत्सर्जन फलनों को ज्ञात किया और सौर मंडलक में अनेक बिंदुओं पर बनी सौर अवशोषण रेखाओं के प्रेक्षणों से उनकी तुलना की।

इन्होंने यह पाया कि अवशोषण रेखाओं के बनने में प्रकीर्णन का महत्वपूर्ण योग है, क्योंकि इनके प्रेक्षणों को एक शुद्ध अवशोषित परिमंडल द्वारा नहीं समझाया जा सकता।

आधुनिक खगोलीय स्पेक्ट्रमिकी को प्रारंभ करने का श्रेय अनसल्ड को है, जिन्होंने सूर्य मंडलक के ऊपर पाई जानेवाली सोडियम रेखाओं की परिच्छेदिका की विशेष रूप से की गई प्रकाशमापीय मापों को श्वार्ट्सचाइल्ड द्वारा विकसित विकिरणात्मक (radiative) अंतरण (transfer) के सिद्धांत और रेखीय अवशोषण के क्वांटम सिद्धांत से संबंध स्थापित करने का प्रयास किया और उसने सौर परिमंडल की इलेक्ट्रान दाब तथा कम से कम अंशतः रासायनिक संघटन का पता लगाया। अनसल्ड के लेखों के पश्चात् इस दिशा में काफी तेजी से प्रगति हुई। १६२६ ई० में एडिंग्टन ने अवशोषण रेखाओं के निर्माण पर एक निबंध प्रकाशित किया जिसमें तारकीय अवशोषण रेखाओं के बनने की विधि का स्पष्टीकरण किया था। इसके अनुसार इन रेखाओं के बनने में प्रकीर्णन और अवशोषण का समान रूप से हाथ रहता है। इस प्रकार परिमंडल के सभी स्तरों पर प्रकीर्णन और अवशोषण होता है। इन रेखाओं के बनने का कारण यह है कि रेखा के समीप अवशोषण बहुत अधिक होता है। आगामी वर्षों में एडिंग्टन के सिद्धांत का मिल्न, वूल (Woolley), पैनॉकॉक, अनसल्ड और चंद्रशेखर द्वारा सुधार और विस्तार किया गया।

इस प्रकार जब शुस्टर-श्वार्ट्सचाइल्ड के अनुसार रेखाओं का निर्माण प्रकाशमंडल के ऊपर स्थित उत्क्रमणमंडल (reversing-layer) में होता है, जो संतत स्पेक्ट्रम उत्पन्न करता है, मिल्न-एडिंग्टन के अनुसार रेखीय अवशोषण के गुणांक और संतत अवशोषण के गुणांक का अनुपात सभी स्थानों पर स्थायी रहता है और सभी स्तर समान रूप से रेखिल और संतत अवशोषण उत्पन्न करने में समर्थ हैं। परंतु किसी रेखा की वास्तविक स्थिति दोनों चरम सीमाओं के बीच में होती है। उत्क्रमणमंडल और प्रकाशमंडल एक दूसरे में धीरे धीरे विलीन हो जाते हैं और प्रकाशमंडल को पहचान करनेवाला कारक अपारदर्शिता (opacity) क्रमिक वृद्धि है।

मिल्न ने फ्राउनहोफर रेखाओं के बनने की दो अवस्थाओं पर

विचार किया। पहला विचार था कि रेखाओं का निर्माण स्थानीय ऊष्मागतिकीय संतुलन या अवशोषण प्रक्रम के अंतर्गत होता है। यहाँ प्रत्येक स्तर ताप द्वारा वर्णित किया जाता है और किर्खहॉफ़ के नियम का पालन होता है। इस दृष्टि से एक तीव्र रेखा के केंद्र से हुआ विकिरण सबसे ऊपरी स्तर के अनुरूप होता है क्योंकि इस तरंगदैर्घ्य पर रेखिल अवशोषण गुणांक अधिक होता है और विकिरण केवल तल से पहुँचता है। समीप के सातत्यक (Continuum) से विकिरण का अधिकांश अपेक्षाकृत गरम और निचले स्तरों से आता है। सूर्य के छोर की ओर निर्गत विकिरण सातत्य और रेखाओं दोनों में सर्वोच्च स्तर से आता है। इसके परिणामस्वरूप रेखाओं को छोर पर लुप्त हो जाना चाहिए।

दूसरी अवस्था में परमाणु किसी भी दशा में विकिरण क्षेत्र के ताप संतुलन में नहीं है किंतु वे अधिक गहराई से अपने तक पहुँचनेवाले क्वांटा (Quanta) का वर्णात्मक प्रकीर्णन करते हैं। इस प्रकार एक विशिष्ट प्रकाश क्वांटम का तल तक पहुँचने का बहुत कम अवसर प्राप्त होता है। प्रकीर्णन की इस क्रियाविधि द्वारा बनी अवशोषणरेखा का केंद्र काला होगा।

फ्रॉउनहोफर की कोई रेखा न तो केंद्र में काली होती है और न छोर पर अदृश्य। निम्न केंद्रीय तीव्रतावाली अनुनाद रेखाएँ (resonance lines) प्रकीर्णन की क्रियाविधि को बढ़ावा देती हैं जबकि उच्च स्तरवाली गौण (subordinate) रेखाएँ अवशोषणप्रक्रम को बढ़ावा देती हैं। अनसल्ड, पेनीका, मिनर्ट, स्ट्रमग्रेन और चंद्रशेखर ने सिद्धांत को और अधिक परिष्कृत किया। इनके कार्य मुख्य रूप से रेखिल विकिरण के अंतरण के समीकरण के हल और आदर्श परिस्थितियों से विचलन से संबंधित थे।

तारकीय स्पेक्ट्रमों में रेखाओं का विस्तार — तारकीय स्पेक्ट्रमों में अवशोषणरेखाएँ तीव्र फोकस करने पर भी साधारणतया चौड़ी और अस्पष्ट दिखाई देती हैं। उनके चौड़ी होने के प्रधान कारण निम्नलिखित हैं :

(१) डॉप्लर प्रभाव, जो परमाणुओं के असंगत गतिज (kinetic) गतियों के कारण उत्पन्न होता है। इसमें कभी कभी विक्षोभ विस्तार (Turbulence broadening) को भी संमिलित किया जा सकता है, कुछ निश्चित किस्म के तारों में गैसों की अधिक मात्रा की उच्चस्तरीय गति के कारण होता है।

(२) विकिरण अवमंदन (Radiation damping) जो उत्तेजित स्तरों के परिमित जीवनकाल के कारण होता है।

(३) टक्कर अवमंदन (Collision damping) कभी कभी विकिरण परमाणु के साथ कुछ निकटवर्ती परमाणुओं, आयनों या इलेक्ट्रानों की टक्कर के फलस्वरूप चौड़ी रेखा बनती है।

(४) आयनों और इलेक्ट्रानों द्वारा उत्पन्न सांख्यिकीय उच्चावच क्षेत्र के कारण हाइड्रोजन हीलियम रेखाओं पर स्टार्क प्रभाव होता है।

(५) ज़ेमैन प्रभाव — सूर्यकलंकों या चुंबकीय तारों में उत्पन्न रेखाएँ चुंबकीय क्षेत्र द्वारा चौड़ी या खंडित हो जाती हैं।

वृद्धि का वक्र — रेखाओं के निर्माण की क्रियाविधि और आवश्यक प्राचलों के मिल जाने पर रेखा की समोच्च रेखा प्राप्त करना और उसका प्रेक्षणों से तुलना करना संभव है। ऐसी प्रक्रिया बहुधा बड़ी श्रमसाध्य होती है, यद्यपि इन रेखाओं से बहुमूल्य परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। परंतु दुर्बल रेखाओं का स्पेक्ट्रमलेखी से फोटोग्राफ लेने पर उनकी रूपरेखा बड़ी विकृत ज्ञात होती है, क्योंकि रेखा की यथार्थ रूपरेखा प्राप्त करने के लिये स्पेक्ट्रमलेखी की सीमित विभेदनक्षमता (resolving power) पर्याप्त नहीं होती। सौभाग्यवश एक अन्य भौतिक राशि है जिसे रेखा की तुल्यांक चौड़ाई (Equivalent width of a line) कहते हैं और जो स्पेक्ट्रमलेखी की सीमित विभेदनक्षमता से प्रभावित नहीं होती। यह शून्य तीव्रतावाली आयताकार परिच्छेदिका (Rectangular profile) की चौड़ाई है जो उतनी ही संपूर्ण ऊर्जा का अवशोषण करती है जितनी वास्तविक परिच्छेदिका। खगोलीय स्पेक्ट्रमिकी के लिये एक रेखा की तुल्यांक चौड़ाई और रेखा को उत्पन्न करनेवाले परमाणुओं की संख्या के बीच एक क्रियात्मक संबंध प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार के संबंध को वृद्धि का वक्र कहते हैं। रेखा की तुल्यांक चौड़ाई (W) का सिद्धांततः परिकलन भी किया जा सकता है। यदि एक ग्राफ पर Log (W) को Log N का फलन प्रदर्शित किया जाय (N = अवशोषण परमाणुओं की संख्या) तो वृद्धि का सैद्धांतिक वक्र प्राप्त होता है जिससे ज्ञात होता है कि किस प्रकार किसी रेखा की शक्ति अवशोषण परमाणुओं की संख्या के साथ साथ बढ़ती जाती है। यथार्थतः इसमें Log Nf संमिलित है न कि Log N। यहाँ पर f दोलक की शक्ति है जो परमाणु की अभिरुचि प्रदर्शित करता है जब वह विशेष आवृत्ति के अवशोषण के लिये विवादास्पद मूल अवस्था में रहता है [परंपरा से f को एक पूर्ण संख्या होना चाहिए परंतु क्वांटम के यांत्रिक परिकलन से यह ज्ञात होता है कि f सन्निकटतः कोई पूर्ण संख्या भी नहीं है]।

वृद्धि का आनुभविक वक्र (Empirical curve) — किसी तत्व, चाहे वह उदासीन हो या आयनित, की सभी रेखाओं के तुल्यांक चौड़ाई के लघुगणक को उनके सापेक्ष f मानों के लघुगणक के विपरीत आलेखित करने से प्राप्त होता है। तारकीय परिमंडल के आवश्यक प्राचलों, जैसे तत्वों की प्रचुरता और उत्तेजन ताप ज्ञात करने के लिये इस प्रकार के वक्र की सैद्धांतिक वक्र से तुलना की जाती है।

तारकीय स्पेक्ट्रमों का वर्गीकरण — लगभग सभी ५०,००० या इससे अधिक तारकीय स्पेक्ट्रमों को जिनका अध्ययन किया जा चुका है उन्हें इस प्रकार नियमित क्रम से व्यवस्थित किया गया है जिसमें उनके अनेक गुण धीरे धीरे बदलते हैं। ऐसे गुण, प्रभावी ताप, रंग, अवशोषणरेखाओं या पट्टियों की आपेक्षिक तीव्रता आदि हैं। स्पेक्ट्रम के वर्गीकरण की जितनी भी प्रणालियाँ प्रस्तावित की गईं हैं उनमें ऐनी कैनन (Annie Cannon) द्वारा प्रस्तुत हार्वर्ड वर्गीकरण संतोषजनक रूप से स्वीकृत है। ये वर्ग हैं — ओ (O), बी (B), ए (A), एफ (F), जी (G), के (K) और एम (M)। ऐसे अपेक्षाकृत कम तारे हैं जो मुख्य क्रम से के (K) पर शाखा बनाते हैं; वे एन (N), आर (R) और एस (S)

के नाम से जाने जाते हैं। प्रत्येक वर्ग का पुन: अंतर्विभाजन होता है जिसके लिये अक्षरों या ९ तक के अंकों का उपयोग किया जाता है। जिन तारों का स्पेक्ट्रम ज्ञात हो चुका है उनमें ९०% से अधिक ए (A), एफ (F), जी (G) और के (K) वर्ग के हैं।

वर्ग० — इसमें ३०,०००° A से अधिक प्रभावी तापवाले नील-श्वेत तारे हैं जिनके स्पेक्ट्रम में चमकीले बैंड पाए जाते हैं। ये बैंड धुँधली संतत पृष्ठभूमि पर आरोपित हाइड्रोजन, आयनित हीलियम दुबारा और तिबारा आयनित ऑक्सीजन और नाइट्रोजन के कारण हैं, जैसे टी प्यूपिस (T. Pupis), वाल्फ राये (Wolf Rayet) तारे (इनका वर्णन नीचे देखिए)।

वर्ग बी — इसमें लगभग २०,०००° A प्रभावी तापवाले नील-श्वेत तारे हैं। इनके स्पेक्ट्रम उदासीन हीलियम और हाइड्रोजन की काली रेखाओं द्वारा अभिलाक्षणिक हैं। आयनित कैल्सियम की दुर्बल एच (H) और के (K) रेखाएँ भी पाई जाती हैं, जैसे चित्रा (Spica), राइजेल (Rigel) और मृग (Orion) के बेल्ट तारे।

वर्ग ए — इनमें ११,०००°A ताप के श्वेत तारे हैं जिनके स्पेक्ट्रम में प्रबल हाइड्रोजन रेखाएँ होती हैं। हीलियम अनुपस्थित होता है। एच (H) और के (K) रेखाएँ कुछ कुछ दिखाई देती हैं। धात्विक रेखाएँ भी पाई जाती हैं परंतु वे दुर्बल होती हैं, जैसे लुब्धक (Sirius), अभिजित (Vega) तथा फोमलहॉट (Fomalhaut)।

वर्ग एफ — इसमें वे तारे हैं जिनका ताप लगभग ७,५००° A है और जिनके स्पेक्ट्रम में प्रबल एच (H) तथा के (K) रेखाएँ न्यून प्रबल हाइड्रोजन रेखाएँ और अधिक संख्याओं में सुस्पष्ट धात्विक रेखाएँ पाई जाती हैं, जैसे अगस्त्य (Canopus) तथा प्रोसियन (Procyon)।

वर्ग जी — ये सूर्य की किस्म के पीले तारे हैं जिनका प्रभावी ताप ६,०००° A है। इनके स्पेक्ट्रम में प्रबल एच (H) तथा के (K) रेखाएँ और अनेक सूक्ष्म धात्विक रेखाएँ पाई जाती हैं, जैसे सूर्य, कैपेला (Capella) और α सेंटारी (α-Centauri)।

वर्ग के — ये नारंगी रंग के तारे हैं जो जी और एम वर्ग के मध्य में होते हैं। इनका ताप लगभग ४,२००° A के होता है। इनके स्पेक्ट्रम में धातुओं की उदासीन रेखाएँ प्रबल और एच एवं के रेखाएँ भी बड़ी प्रबल होती हैं। हाइड्रोजन रेखाएँ अपेक्षाकृत निर्बल होती हैं। संतत स्पेक्ट्रम की चमक बैंगनी में शीघ्रता से कम हो जाती है, जैसे सूर्यकांक, स्वाती (Arcturus)।

वर्ग एम — लगभग ३,०००° A ताप के ये लाल तारे हैं। इनके स्पेक्ट्रम के (K) तारों के स्पेक्ट्रम के समान ही होते हैं पर अंतर केवल इतना ही है कि इनमें टाइटेनियम ऑक्साइड के सुस्पष्ट बैंड पाए जाते हैं, जैसे ज्येष्ठा (Antares), आर्द्रा (Betelgeuse)।

वर्ग एन — ये लाल तारे हैं जिनका ताप लगभग ३,०००° A होता है। इन्हें कार्बन तारे भी कहते हैं। संतत स्पेक्ट्रम पर, जो बैंगनी में बहुत दुर्बल होता है, आणविक कार्बन के कारण काले हंस बैंड (dark Swan bands) अध्यारोपित रहते हैं, जैसे वाई कैनम (Y-Canum), वैनाटिको रम, १९ मीन (19 Pisces)।

वर्ग आर — इस किस्म के तारों के स्पेक्ट्रम में एन वर्ग के तारों की भाँति ही बैंड होते हैं परंतु स्पेक्ट्रम बैंगनी तक फैला रहता है। ये तारे बड़े धुँधले हैं और कुछ ही ज्ञात हैं।

वर्ग एस — इन तारों के स्पेक्ट्रम एम (M) वर्ग के समान होते हैं। अंतर यही है कि टाइटेनियम ऑक्साइड के स्थान पर ज़रकोनियम ऑक्साइड के बैंड रहते हैं। इन तारों की संख्या बहुत थोड़ी है और ये बड़े धुँधले होते हैं।

वोल्फ राये तारे — १८६७ ई० में पैरिस वेधशाला के वोल्फ और राये ने एक चाक्षुष स्पेक्ट्रमलेखी की सहायता से सिग्नस (Cygnus) के बड़े तारामेघ में तीन बड़े असाधारण तारकीय स्पेक्ट्रमों का पता लगाया। अन्य स्पेक्ट्रमों से ये स्पेक्ट्रम इस बात में भिन्न थे कि इनमें चौड़े उत्सर्जन बैंड थे। कुछ बैंड अभी तक पहचाने नहीं गए थे। प्रत्येक बैंड दोनों ओर समान रूप से धुँधला होता गया था। उसमें रेखाएँ नहीं थीं और सभी बैंड धुँधले संतत स्पेक्ट्रम पर अध्यारोपित थे। इनपर हाइड्रोजन और आयनित हीलियम की चमकीली रेखाएँ भी थीं। अभी तक इस किस्म के लगभग १०० तारों का आकाशगंगा (milky way) और मैजेलैनीय मेघों (Magelleanic clouds) में पता लगा है। वोल्फ राये तारे शून्य वर्ग में निचली श्रेणी के अंतर्गत आते हैं और ज्ञात तारों में उष्णतम हैं। इन तारों का ताप १,००,०००° A क्रम का है।

अनेक एम तारों के स्पेक्ट्रमों में संतत स्पेक्ट्रम पर दूसरी काली रेखाओं के मध्य में चमकीली हाइड्रोजन रेखाएँ दिखाई देती हैं। इन तारों को उत्सर्जन तारे कहते हैं और इन्हें एम ई (Me) से प्रकट करते हैं। एम-ई तारों की चमक परिवर्ती (Variable) होती है।

उपर्युक्त स्पेक्ट्रम वर्गों के अतिरिक्त दो और वर्ग हैं जिन्हें पी (P) और क्यू (Q) अक्षरों से प्रकट करते हैं। गैसीय नीहारिकाओं (Nebulae) के स्पेक्ट्रमों को, जिनमें चमकीली रेखाएँ पाई जाती हैं, पी (P) वर्ग में तथा नवताराओं (Nova) के स्पेक्ट्रमों को क्यू (Q) वर्ग में रखते हैं।

नवताराओं के स्पेक्ट्रम और पी सिग्नी (P-cygani) किस्म के तारों में प्राय: दोहरी रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं जिनमें एक चौड़ा उत्सर्जन घटक (Component) और एक तीव्र अवशोषण घटक होता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये तारे शीघ्रता से बढ़ती हुई पट्टिका या खोल (Shell) द्वारा घिरे रहते हैं। कुछ बी (B) किस्म के तारे भी हैं जिनमें ऐसी उत्सर्जन रेखाएँ पाई जाती हैं जिनमें से प्रत्येक एक अवशोषणरेखा द्वारा खंडित रहती है। यह तारों के चारों ओर घूर्णी गैसीय खोल (Shell) के कारण होता है। उत्सर्जन रेखाएँ खोल (Shell) द्वारा उत्पन्न होती हैं और अपने विभिन्न भागों के डॉप्लर विस्थापन (Shift) द्वारा चौड़ी की जाती हैं। केंद्रीय धुँधली रेखा की उत्पत्ति खोल के उस भाग से होती है जो तारे और तारे के विकिरण का अवशोषण करनेवाले प्रेक्षक की दृष्टिरेखा के आर पार घूमता है। यह आवृत्ति इस स्पेक्ट्रम की अपनी विशेषता है।

नीहारिकाओं के स्पेक्ट्रम — अनेक नीहारिकाओं में ऐसे स्पेक्ट्रम होते हैं जिनमें चमकीली रेखाएँ होती हैं। उनमें सबसे प्रबल दोहरे और तेहरे आयनित आक्सीजन की वर्जित रेखाएँ हैं और उन्हें प्रकाशमान् गैसों का मेघ कहते हैं। अन्य नीहारिकाओं के स्पेक्ट्रम निकटवर्ती तारों के स्पेक्ट्रम के समान होते हैं और वे तारों के परावर्तित प्रकाश द्वारा चमकते हैं। फिर भी अन्य नीहारिकाओं, जैसे परागांगेय नीहारिकाओं (Extragalactic nebula) में काली रेखा के स्पेक्ट्रम पाए जाते हैं, जैसा अनेक तारों के मिश्रित प्रकाश से आशा की जाती है।

प्राचल (Parameter) के ताप से घनिष्ट रूप से संबंधित हार्वर्ड के स्पेक्ट्रम वर्गीकरण के तारों की वास्तविक ज्योति पर आधारित एक दूसरा वर्गीकरण भी है जिसका नामकरण I, II, III, IV, V के नाम से यॉर्क्स वेधशाला के कीनन और मॉर्गन द्वारा स्वतंत्र रूप से किया गया है। वास्तविक ज्योतियाँ निरपेक्ष तारकीय कांतिमान (Absolute steller magnitude) के रूप में व्यक्त की जाती हैं। तारों का कांतिमान वही है जो मानक दूरी, १० पारसेक्स (३२·६ प्रकाश वर्ष = २ × १०¹⁴ मील) पर होता है। उदाहरणस्वरूप वर्ग एक के तारों का निरपेक्ष कांतिमान (Absolute magnitude) – ५ के क्रम का और वर्ग पाँच के तारों का + ५ क्रम का होता है। अंतिम मान सूर्य की तेज चमक के अनुरूप और पहला मान १०,००० गुना अधिक चमकदार होता है।

तारकीय स्पेक्ट्रमों की व्याख्या—किसी अवशोषण रेखा की तीव्रता परमाणुओं की उस संख्या पर निर्भर करती है जो रेखा का अवशोषण करने में समर्थ है। रेखा की तीव्रता जानने के लिये हमें किसी तत्व के सभी परमाणुओं का ज्ञान होना चाहिए तथा यह भी ज्ञान होना चाहिए कि उसका कितना भाग किसी विशेष रेखा का अवशोषण करने में समर्थ है। बोल्ट्समैन (Boltzmann) के सूत्र (जो ऊष्मागतिक संतुलन को मान लेने पर ही वैध है) से किसी स्तर में परमाणुओं की संख्या और क्षेत्र (ground) में उनकी संख्या का अनुपात स्तर के ताप और उद्दीपन विभव के फलन के रूप में प्राप्त होता है। १९२०-२१ ई० में साहा ने क्रमबद्ध निबंधों में एक या अधिक बार आयनित परमाणुओं का विभिन्न अचर दशाओं में विकिरण के सुलझाने का प्रथम बार प्रयास किया। साहा ने सिद्धांत रूप से गैसों के आयनन और उद्दीपन को ताप और दबाव के फलन के रूप में ज्ञात किया। उन्होंने व्यक्त किया कि विभिन्न स्पेक्ट्रमी वर्गों के तारों की अवशोषणरेखाओं के स्पेक्ट्रमों में अंतर का मुख्य कारण परिमंडल के ताप में अंतर है। साहा के आयनन समीकरण की परिशुद्ध व्युत्पत्ति आर. एच. फाउलर द्वारा प्रस्तुत की गई जिन्होंने मिल्न के संग स्पेक्ट्रम वर्ग के साथ रेखाशक्ति के परिवर्तन सिद्धांत को विकसित किया जिससे कई पक्षों में साहा के प्रारंभिक कार्यों में महत्वपूर्ण सुधार प्रस्तुत हुआ। इस सिद्धांत की सहायता से किसी तत्व की सभी अचर दशाओं में परमाणुओं के वितरण को ताप और इलेक्ट्रान के दबाव के फलन के रूप में ज्ञात किया जा सकता है।

इस प्रकार उष्णतम तारों में धात्विक रेखाएँ नहीं प्रकट होतीं, क्योंकि उच्च ताप पर धातुएँ दोहरी और तेहरी आयनित हो जाती हैं और इन आयनित परमाणुओं की रेखाएँ पराबैंगनी क्षेत्र में दूरी पर स्थित होती हैं। ठंडे तारों में कोई हीलियम रेखा नहीं दिखाई देती क्योंकि रेखाओं को उत्तेजित करने के लिये ताप पर्याप्त नहीं होता है।

फिर यदि हम लगभग समान ताप के दानव (giant) और वामन (Dwarf) तारों के स्पेक्ट्रमों की तुलना करें तो हमें कुछ अंतर मिलते हैं जिनकी व्याख्या तारों के परिमंडलों के घनत्वों के अंतर से की जा सकती है। दानव तारों का परिमंडल विरलित और विस्तृत होता है जबकि वामन तारों का परिमंडल हलका और संपीडित होता है। एक ही ताप के दानव और वामन तारों के स्पेक्ट्रमों में एक ही तत्व के आयनित और उदासीन परमाणुओं की रेखाओं की तुलना करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि उदासीन परमाणुओं की रेखाएँ दानव की अपेक्षा वामन में तो अधिक प्रबल होती हैं जब कि आयनित परमाणुओं की रेखाएँ दानव तारे में प्रबल होती हैं। इस प्रकार एक निर्दिष्ट ताप के दानव तारे का स्पेक्ट्रम कुछ उच्च ताप के वामन तारे के लगभग अनुरूप होता है। वामन तारे का उच्च ताप कुछ हद तक दानव तारे के परिमंडल में न्यून घनत्व का पूरक है।

तारों का रासायनिक संघटन — १९२७ ई० में रसेल ने रोलैंड तीव्रताओं (Rowland intensities) के अंशशोधन (Calibration) द्वारा सूर्य के रासायनिक संघटन को ज्ञात करने का प्रयास किया। पेनेगेपोश्किन ने, जिन्होंने हार्वर्ड वेधशाला में लिए गए वस्तुनिष्ठ प्रिज्म प्लेट पर साहा के आयनित सिद्धांत और रेखा तीव्रता के दृष्टि अनुमान (eye estimation) का उपयोग किया, यह प्रदर्शित किया कि अधिकांश तारों का रासायनिक संघटन मुख्यत: सूर्य जैसा ही है। उसी समय से परिच्छेदिका (Profile) और वृद्धि के वक्र पर आधारित परिमाणात्मक प्रक्रिया ने रेखातीव्रता और सक्रिय परमाणुओं की संख्या के बीच के संबंधों के गुणात्मक विचारों का स्थान ग्रहण कर लिया। इन दोनों उपगमनों में रेखानिर्माण के निश्चित सिद्धांत निहित हैं। धातुओं की आपेक्षिक प्रचुरता का ज्ञान उतना ही यथार्थ हो सकता है जितना यथार्थ ज्ञान उनके f के मानों का (f-values) है और हाइड्रोजन के अनुपात का ज्ञान सूर्य जैसे तारों के लिये भी प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि सतत अवशोषण के के रूप में ऋणात्मक हाइड्रोजन आयन ही उत्तरदायी है।

हाइड्रोजन और हीलियम की तुलना में ऑक्सीजन समूह, कार्बन, नाइट्रोजन और नियॉन इत्यादि की प्रचुरता का ज्ञान उष्ण तारों के आँकड़ों से भी प्राप्त हो सकता है। इन तारों के स्पेक्ट्रमों से, जिनमें हलके तत्वों की रेखाओं की प्रचुरता होती है, हलके तत्वों की प्रचुरता भी निर्धारित की जा सकती है।

विश्लेषणों से ज्ञात हुआ कि अधिकांश तारों का संघटन एक सा ही है। अन्य तारों का संघटन भिन्न है। एम (M) वर्ग के तारों में कार्बन की अपेक्षा ऑक्सीजन प्रचुर मात्रा में है जब कि आर (R) और एन (N) वर्ग के तारों में ऑक्सीजन की अपेक्षा कार्बन प्रचुर

मात्रा में है। एस (S) वर्ग में जिरकोनियम ऑक्साइड की पट्टियों की प्रमुखता है जबकि एम (M) तारों में टाये (Tio) पट्टियाँ प्रबल हैं। उच्च तापवाले बोल्फ राये तारों के एक वर्ग की विशिष्टता हीलियम कार्बन एवं ऑक्सीजन रेखाओं के कारण है और दूसरे वर्ग में हीलियम तथा नाइट्रोजन प्रमुख रूप से पाए जाते हैं परंतु कार्बन निर्बल है। ग्रहीय नीहारिकाएँ और नवतारों का संघटन साधारण तारों के समान ही है।

असामान्य संघटन के पदार्थों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिये विस्तृत खोज की आवश्यकता है। कुछ तारों का संघटन क्यों असाधारण है, विशेषतः जहाँ कार्बन, नाइट्रोजन और ऑक्सीजन संबंधित हैं? ऐसे प्रश्नों का उत्तर ब्रह्मांडोत्पत्तिक संबंधी अभिरुचि का है। [ए० एस० आर० तथा जे० बी० एन०]

स्पेन स्थिति : ४३° ४७' से ३६° उ० अ०, ३° १६' तथा ६° ३०' प० दे०। यह यूरोप महाद्वीप का एक गणतंत्र है। इसके उत्तर में बिस्के (Biscay) की खाड़ी तथा फ्रांस, पूर्व और दक्षिण में भूमध्यसागर, पश्चिम में पुर्तगाल तथा एटलैंटिक महासागर स्थित हैं। इसका कुल क्षेत्रफल बेलिऐरिक (Balearic) तथा कानेरि (Canary) द्वीपों सहित ५,०३,४८६ वर्ग किमी है। भूमध्यसागरीय तटरेखा १६६३ किमी तथा ऐटलैंटिक तटरेखा ६७५ मी लंबी है। ६७४ किमी लंबे पिरेनीज (Pyrenees) पर्वत स्पेन को फ्रांस से अलग करते हैं। यहाँ की भाषा स्पेनी (Spanish) है।

स्पेन पाँच स्थलाकृतिक (topographic) क्षेत्रों में विभक्त है, (१) उत्तरी तटवर्ती कटिबंध, (२) केंद्रीय पठार मेसेटा, (३) स्पेन का सबसे बड़ा नगर आंडालूसीया (४) दक्षिणी पूर्वी भूमध्यसागरीय कटिबंध लीवेंटे (Levante) और (५) उत्तर पूर्व क्षेत्र की कैटालोनिया (Catalonya) तथा एब्रो (Ebro) घाटी। स्पेन में छह मुख्य पर्वतमालाएँ हैं। सबसे ऊँची चोटी पर्डिडो (Perdido) है। स्पेन में पाँच मुख्य नदियाँ हैं, एब्रो, ड्यूरो (Duero), टैगस (Tagus), ग्वॉडियाना (Duadiana) तथा ग्वॉडलक्विवर (Guadalquivir)। स्पेन का समुद्री तट चट्टानी है।

स्पेन की जलवायु बदलती रहती है। उत्तरी तटवर्ती क्षेत्रों की जलवायु ठंढी और आर्द्र (humid) है। केंद्रीय पठार जाड़ों में ठंढा तथा गर्मियों में गरम रहता है। उत्तरी तटवर्ती क्षेत्र तथा दक्षिणी तटवर्ती कटिबंध में वार्षिक औसत वर्षा क्रमशः १०० सेमी तथा ७५ सेमी है। विभिन्न किस्म की जलवायु होने के कारण प्राकृतिक वनस्पतियों में भी विभिन्नता पाई जाती है। उत्तर के आर्द्र क्षेत्रों में पर्णपाती (deciduous) वृक्ष जैसे अखरोट, चेस्टनट (Chestnut), एल्म (elm) आदि पाए जाते हैं।

यहाँ की जनसंख्या बैलिएरिक तथा कानेरी द्वीपों सहित ३,०१,२८,०५६ (१९६०) है। जनसंख्या का औसत घनत्व प्रति वर्ग किमी ५६ ८ है। स्पेन की राजधानी मैड्रिड की जनसंख्या १६,६६,०७० (१९६०) है (देखें मैड्रिड)। अन्य बड़े नगर बार्सिलाना (देखें बार्सिलोना), वालेंशिया (Valencia), सिवेले (Sivelle), मलागा (Malaga) तथा जैरागोजा (Zaragoza) आदि हैं। लगभग सभी स्पेनवासी कैथोलिक धर्म के अनुयायी हैं।

यद्यपि अन्य राष्ट्रों की तुलना में खेती का विकास नहीं हुआ है फिर भी यहाँ की आय का प्रमुख साधन कृषि ही है। बैलिऐरिक तथा कानेरी द्वीपों की भूमि सहित यहाँ पर कुल ४,४३,३३,००० हेक्टर भूमि कृषि योग्य है। अनाज, विशेषकर गेहूँ की पैदावार केंद्रीय पठार में होती है। स्पेन की मुख्य फसल गेहूँ है। अन्य उल्लेखनीय फसलें नारंगी, धान और प्याज आदि है। स्पेन संसार का सबसे बड़ा जैतून उत्पादक है तथा यहाँ आलू, रूई, तंबाकू तथा केला आदि का भी उत्पादन होता है। स्पेन में भेड़ें सर्वाधिक संख्या में पाली जाती हैं।

उत्तरी समुद्रतट पर मछलियाँ पकड़ी जाती हैं। सारडीन (Sardine), कॉड (Cod) तथा टूना (Tuna) आदि जातियों की मछलियाँ ही मुख्य रूप से पकड़ी तथा बेची जाती हैं। लवणित सारडीन तथा कॉड डिब्बों में बंदकर विदेशों को भेजी जाती हैं।

यद्यपि यहाँ की कुल भूमि के १०% क्षेत्र में जंगल पाए जाते हैं फिर भी इमारती लकड़ियों का आयात करना पड़ता है। स्पेन संसार का दूसरा सबसे बड़ा कार्क (cork) उत्पादक देश है। रेजिन तथा टर्पेंटाइन (Turpentine) अन्य प्रमुख जंगली उत्पाद हैं।

यहाँ लगभग सभी ज्ञात खनिज प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। खनन (mining) यहाँ की आय का मुख्य साधन है। लोहा, कोयला, ताँबा, जस्ता, सीसा, गंधक, मैंगनीज आदि की खानें पाई जाती हैं। संसार में सबसे अधिक पारे का निक्षेप स्पेन के अल्मादेन (Almaden) की खानों मे पाया जाता है।

वस्त्र उद्योग यहाँ का प्रमुख लघु उद्योग है। महत्वपूर्ण रासायनिक उत्पाद सुपर फॉस्फेट, सल्फ्यूरिक अम्ल, रंग तथा दवाएँ आदि हैं। लोहा तथा इस्पात उद्योग उल्लेखनीय भारी उद्योग हैं। सीमेंट तथा कागज उद्योग भी काफी विकसित हैं। स्पेन में उद्योग का तेजी से विकास हो रहा है।

शिक्षण संस्थाएं सरकारी तथा गैरसरकारी दोनों प्रकार की हैं। गैरसरकारी शिक्षण संस्थाएँ गिरजाघरों द्वारा नियंत्रित होती हैं। प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क है। स्पेन में विश्वविद्यालयों की संख्या १२ है। मैड्रिड विश्वविद्यालय छात्रों की संख्या की दृष्टि से स्पेन का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय है। यहाँ का सर्वप्राचीन विश्वविद्यालय सालामान्का (Salamanca) का है। इसकी स्थापना १२५० ई० में हुई थी।

स्पेन में मैड्रिड नगर तथा यहाँ का संग्रहालय, मैड्रिड के समीपस्थ एस्कोरियल महल (Escorial palace), टोलिडू (Toledo) तथा सान सेबास्ट्यान (San Sebastian) के पास का एमेराल्ड समुद्रतट (Emeraled Coast) आदि प्रमुख दर्शनीय स्थल हैं। स्पेन में त्योहारों तथा अन्य दिनों में भी वृषभयुद्ध का आयोजन किया जाता है (देखें वृषभयुद्ध)। [नं० कु० रा०]

स्फोटन (Blasting) विस्फोटकों की सहायता से चट्टानों या इसी प्रकार के कठोर पदार्थों के तोड़ने फोड़ने की प्रक्रिया को कहते

है। विस्फोटन से बड़ी मात्रा में उच्च ताप पर गैसें बनती हैं जिससे अकस्मात् इतना तनाव उत्पन्न होता है कि वह पदार्थों के बीच प्रतिरोध हटाकर उन्हें छिन्न भिन्न कर देता है। विस्फोटकों के उपयोग से पूर्व छेनी और हथौड़े से चट्टानें तोड़ी जाती थीं। यह बहुत परिश्रमसाध्य होता था। चट्टानों पर आग लगाकर गरम कर ठंढा करने से चट्टानें विदीर्ण होकर टूटती थीं। तप्त चट्टानों पर पानी डालकर भी चट्टानों को चिटकाते थे। विस्फोटक के रूप में साधारणतया बारूद, कार्डाइट, डाइनेमाइट और बारूदी रुई (gun cotton) प्रयुक्त होते हैं।

विस्फोटन के लिये एक छेद बनाया जाता है। इसी छेद में विस्फोटक रख कर उसे विस्फुटित किया जाता है। छेद की गहराई और व्यास विभिन्न विस्तार के होते हैं। व्यास ३ सेमी से ३० सेमी तक का या कभी कभी इससे भी बड़ा और गहराई कुछ मीटर से ३० मी तक होती है। सामान्यतः छेद ४ सेमी व्यास का और १ मी गहरा होता है। छेद में रखे विस्फोटक की मात्रा भी विभिन्न रहती है। विस्फोटन के पश्चात् चट्टान चूर चूर होकर टूट जाती है। चट्टान के छिन्न भिन्न करने में कितना विस्फोटक लगेगा, यह बहुत कुछ चट्टान की प्रकृति पर निर्भर करता है।

चट्टानों में बरमें से छेद किया जाता है। बरमें कई प्रकार के होते हैं। जैसे हाथ बरमा या मशीन बरमा या पिस्टन बरमा या हैमर (हथौड़ा) बरमा या विद्युच्चालित बरमा या जलचालित बरमा। ये भिन्न भिन्न परिस्थितियों में काम आते हैं। सभी के पक्ष या विपक्ष में कुछ न कुछ बातें कही जा सकती हैं। छेद हो जाने पर छेद की सफाई कर उसमें विस्फोटक भरते हैं। १८६४ ई० तक स्फोटन के लिये केवल बारूद काम में आता था। अल्फ्रेड नोबेल ने पहले पहल नाइट्रोग्लिसरीन और कुछ समय बाद डाइनेमाइट का उपयोग किया। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य निरापद विस्फोटक भी खानों में प्रयुक्त होते हैं विशेषतः उन खानों में जिनमें दहनशील गैसें बनती या बन सकती हैं। बारूद को जलाने के लिये फ्यूज की जरूरत पड़ती है। बारूद से चारगुना अधिक प्रबल डाइनेमाइट होता है। डाइनेमाइट को जलाने के लिये 'प्रस्फोटक' की आवश्यकता पड़ती है। प्रस्फोटक को 'कैप' या टोपी भी कहते हैं। टोपी फ्यूज प्रकार की हो सकती है या विद्युत् किस्म की। आजकल विस्फोटकों का स्फोटन बिजली द्वारा संपन्न होता है। इन्हें 'वैद्युत प्रस्फोटक' कहते हैं। कभी कभी प्रस्फोटक के विस्फुटित न होने से 'स्फोटन' नहीं होता इसे 'मिसफायर' कहते हैं।

स्फोटन के लिये 'विस्फोटकों' के स्थान में अब संपीडित वायु का प्रयोग हो रहा है। पहले १९४० ई० में यह विधि निकली और तब से उत्तरोत्तर इसके व्यवहार में वृद्धि हो रही है। यह सतह पर या भूमि के अंदर समानरूप से संपन्न किया जा सकता है। इसमें आग लगने का बिल्कुल भय नहीं है। अतः कोयले की खानों में इसका व्यवहार दिन दिन बढ़ रहा है।

स्मट्स, जॉन क्रिश्चन (१८७०-१९५० ई०) स्मट्स का जन्म दक्षिण अफ्रीका में पश्चिमी राइबीक (Riebeck West) के निकट हुआ। उसके पूर्वज डच थे। १८८६ ई० में वह विक्टोरिया कालेज में प्रविष्ट हुआ। १८९१ में स्नातक होकर वह कैंब्रिज गया। १८९५ में उसने वकालत की परीक्षा पास की। दक्षिण अफ्रीका लौटकर केपटाउन में वकालत प्रारंभ की। १८९८ में राष्ट्रपति क्रूगर ने उसे सरकारी वकील बना दिया। १८९९ से १९०२ तक अंग्रेजों और डचों में युद्ध हुआ। उस समय स्मट्स स्वयं ब्रिटेन की सेनाओं के विरुद्ध लड़ा। १९०२ में उसने समझौता कराने में प्रमुख भाग लिया। उसी के प्रयत्न से १९१० में दक्षिण अफ्रीका का संघ बनाया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारंभ में दक्षिण अफ्रीका के निवासी डचों ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया। जनरल बोथा के साथ स्मट्स ने इस विद्रोह का दमन करने में अंग्रेज सेना की सहायता की। स्मट्स के उत्साह और दूरदर्शिता के कारण जर्मन दक्षिण अफ्रीका में न घुस सके। १९१७ ई० में ब्रिटेन के युद्धकालीन मंत्रिमंडल में स्मट्स को भी सम्मिलित किया गया।

१९१८ में जनरल बोथा की मृत्यु के पश्चात् स्मट्स दक्षिण अफ्रीका का प्रधान मंत्री बना। १९२४ तक वह इस पद पर रहा। १९३३ में स्मट्स ने डचों के नेता हर्टजोग के साथ संगठन बनाकर सरकार बनाई। उसने ब्रिटेन और कॉमनवेल्थ ऑव नेशंस के सहयोग से दक्षिण अफ्रीका की आर्थिक दशा सुधारने का भी महान् प्रयत्न किया। १९४८ के चुनाव में स्मट्स का संयुक्त दल सफल न हो सका। [ओं० प्र०]

स्मार्त सूत्र वेद द्वारा प्रतिपादित विषयों को स्मरणकर उन्हीं के आधार पर आचार विचार को प्रकाशित करनेवाली शब्दराशि को 'स्मृति' कहते हैं। स्मृति से विहित कर्म स्मार्त कर्म हैं। इन कर्मों की समस्त विधियाँ स्मार्त सूत्रों से नियंत्रित हैं। स्मार्त सूत्र का नामांतर गृह्यसूत्र है। अतीत में वेद की अनेक शाखाएँ थीं। प्रत्येक शाखा के निमित्त गृह्यसूत्र भी होंगे। वर्तमानकाल में जो गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं वे अपनी शाखा के कर्मकांड को प्रतिपादित करते हैं।

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष ये छह वेदांग हैं। गृह्यसूत्र की गणना कल्पसूत्र में की गई है। अन्य पाँच वेदांगों के द्वारा स्मार्त कर्म की प्रक्रियाएँ नहीं जानी जा सकतीं। उन्हीं प्रक्रियाओं एवं विधियों को व्यवस्थित रूप से प्रकाशित करने के निमित्त आचार्यों एवं ऋषियों ने स्मार्त सूत्रों की रचना की है। इन स्मार्त सूत्रों के द्वारा सप्तपाकसंस्था एवं समस्त संस्कारों के विधान तथा नियमों का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है।

सामान्यतः गृह्यकर्मों के दो विभाग होते हैं। प्रथम सप्तपाकसंस्था और द्वितीय संस्कार। त्रेताग्नि पर अनुष्ठेय कर्मों से अतिरिक्त कर्म स्मार्त कर्म कहे जाते हैं। इन स्मार्त कर्मों में सप्तपाकसंस्थाओं का अनुष्ठान स्मार्त अग्नि पर विहित है। इनको वही व्यक्ति संपादित कर सकता है जिसने गृह्यसूत्र द्वारा प्रतिपादित विधान के अनुसार स्मार्त अग्नि का परिग्रहण किया हो। स्मार्त अग्नि का विधान विवाह के समय अथवा पैतृक संपत्ति के विभाजन के समय हो सकता है। औपासन, गृह्य अथवा आवसथ्य, ये स्मार्त अग्नि के नामांतर हैं।

याग की इक्कीस संस्थाओं में पहली सात पाकसंस्था के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं: औपासन होम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिश्राद्ध, श्रवणाकर्म और शूलगव। एक बार इस अग्नि का परिग्रह कर लेने पर जीवनपर्यंत उसकी उपासना एवं संरक्षण करना अनिवार्य है। इस प्रकार से उपासना करते हुए जब उपासक की मृत्यु होती है, तब उसी अग्नि से उसका दाहसंस्कार होता है। उसके अनंतर उस अग्नि का विसर्जन हो जाता है (दे० 'पौरोहित्य और कर्मकांड')।

गर्भाधान प्रभृति संस्कार के निमित्त विहित समय तथा शुभ मुहूर्त का होना आवश्यक है। संस्कार के समय अग्नि का साक्ष्य परमावश्यक है। उसी अग्नि पर हवन किया जाता है। अग्नि और देवताओं की विविध स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ होती हैं। देवताओं का आवाहन तथा पूजन होता है। संस्कार्य व्यक्ति का अभिषेक होता है। उसकी भलाई के लिये अनेक आशीर्वाद दिए जाते हैं। कौटुंबिक सहभोज, जातिभोज और ब्रह्मभोज प्रभृति मांगलिक विधान के साथ कर्म की समाप्ति होती है। समस्त गृह्यसूत्रों के संस्कार एवं उनके क्रम में एकरूपता नहीं है।

विभिन्न शाखाओं के गृह्यसूत्रों का प्रकाशन अनेक स्थानों से हुआ है। 'शांखायनगृह्यसूत्र' ऋग्वेद की शांखायन शाखा से संबद्ध है। इस शाखा का प्रचार गुजरात मे अधिक है। कौषीतकि गृह्यसूत्र का भी ऋग्वेद से संबंध है। शांखायनगृह्यसूत्र से इसका अक्षरगत अर्थगत पूर्णतः साम्य है। इसका प्रकाशन मद्रास युनिवर्सिटी संस्कृत ग्रंथमाला से १९४४ ई० में हुआ है। आश्वलायन गृह्यसूत्र ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा से संबद्ध है। यह गुजरात तथा महाराष्ट्र में प्रचलित है।

पारस्करगृह्यसूत्र शुक्ल यजुर्वेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है। यह गुजराती मुद्रणालय (मुंबई) से प्रकाशित है।

यहाँ से लौगाक्षिगृह्यसूत्र तक समस्त गृह्यसूत्र कृष्ण यजुर्वेद की विभिन्न शाखाओं से संबद्ध हैं। बौधायन गृह्यसूत्र के अंत में गृह्यपरिभाषा, गृह्यशेषसूत्र और पितृमेध सूत्र हैं। मानव गृह्यसूत्र पर अष्टावक्र का भाष्य है। भारद्वाजगृह्यसूत्र के विभाजक प्रश्न हैं। वैखानसस्मार्त सूत्र के विभाजक प्रश्न की संख्या दस हैं। आपस्तंब गृह्यसूत्र के विभाजक आठ पटल हैं। हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र के विभाजक दो प्रश्न हैं। वाराहगृह्यसूत्र मैत्रायणी शाखा से संबद्ध है। इसमें एक खंड है। काठकगृह्यसूत्र चरक शाखा से संबद्ध है। लौगाक्षिगृह्यसूत्र पर देवपाल का भाष्य है।

गोभिलगृह्यसूत्र सामवेद की कौथुम शाखा से संबद्ध है। इसपर भट्टनारायण का भाष्य है। इसमें चार प्रपाठक हैं। प्रथम में नौ और शेष में दस दस कंडिकाएँ हैं। कलकत्ता संस्कृत सिरीज से १९३६ ई० में प्रकाशित है। द्राह्यायणगृह्यसूत्र, जैमिनिगृह्यसूत्र और कौथुम गृह्यसूत्र सामवेद से संबद्ध है। खादिरगृह्यसूत्र भी सामवेद से संबद्ध गृह्यसूत्र है।

कौशिकगृह्यसूत्र का संबंध अथर्ववेद से है। ये सब गृह्यसूत्र विभिन्न स्थलों से प्रकाशित हैं। [म० श्रा० द्वि०]

स्मिथ, एडम (१७२३-१७९० ई०) ग्लासगो और ऑक्सफर्ड विश्वविद्यालयों में अध्ययन। ग्लासगो विश्वविद्यालय में तर्कशास्त्र का अध्यापन। अपने गुरु हचेसन, ह्यूम, वॉलटेयर तथा क्वेसने से प्रभावित। स्कॉटलैंड में जकात के आयुक्त के रूप में नियुक्ति। इस पद पर इन्होंने जीवन के अंतिम दिनों तक कार्य किया। नैतिक मनोभावों का सिद्धांत (थियोरी ऑव मॉरल सेंटिमेंट्स) नामक पुस्तक से पर्याप्त ख्याति मिली। स्मिथ से ही अर्थशास्त्र का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रारंभ होता है। आर्थिक विचारधारा के इतिहास में अर्थशास्त्र के जन्मदाता के रूप मे प्रसिद्ध। राष्ट्र की संपत्ति (वेल्थ ऑव नेशंस) पुस्तक को आर्थिक विचारधारा के इतिहास में क्रांतिकारी ग्रंथ माना जा सकता है।

स्मिथ श्रम को संपत्ति का स्रोत मानता था। इस दृष्टिकोण से मार्क्स का अग्रगामी था। परावलंबन और पारस्परिक हित की भावना विनिमय को जन्म देते हैं। श्रम विभाजन विनिमय की स्वाभाविक उपज है। स्मिथ आर्थिक स्वातंत्र्य का समर्थक और अंतरराष्ट्रीय व्यापार में संरक्षण एवं सरकारी हस्तक्षेप का विरोधी था। स्मिथ के विचार इंग्लैंड के हित में सिद्ध हुए। अंग्रेज अर्थशास्त्रियों से उसके विचारों को समर्थन मिला। अमरीकन स्वातंत्र्य का संग्राम तथा फ्रांसीसी क्रांति से उत्पन्न वातावरण ने भी उसकी ख्याति बढ़ाने मे सहायता की। लॉर्ड नॉर्थ तथा पिट आदि ने उसके विचारों का समावेश अपनी वित्तीय नीति में किया। रिकार्डो ने अपने लगान के सिद्धांत के लिये स्मिथ को ही आधारशिला माना। अर्थ, मजदूरी, पूँजी, तथा उपयोगितावाद के संबंध मे उसके विचार अपना स्थान रखते हैं।

सं० ग्रं० — भटनागर : हिस्टरी ऑव इकॉनॉमिक थॉट; जीड एवं रिस्ट : ए हिस्टरी ऑव इकॉनॉमिक डाक्ट्रिन; अमरीकन एवं ब्रिटिश विश्वकोश। [उ० ना० पा०]

स्मोलेट, टोबिअस जार्ज (१७२१-७१) इनका जन्म स्कॉटलैंड में हुआ था। ग्लासगो विश्वविद्यालय में इन्होंने चिकित्साविज्ञान की शिक्षा पाई और पाँच वर्ष तक जहाज के एक सर्जन के साथ काम भी किया। लेकिन इनकी आकांक्षा नाट्यसाहित्य में सफलता प्राप्त करने की थी और इसी उद्देश्य से ये एक नाटक 'रेजिसाइड' लिखकर लंदन आए। यहाँ थियेटर मालिकों से किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन न मिलने पर इन्होंने उपन्यास लिखना प्रारंभ किया। रोडरिक रैंडम, पेरिग्रिन पिकिल, काउंट फैदम, सर लांसलाट ग्रीव्स तथा हंफ्री क्लिंकर कुल पाँच उपन्यास इन्होंने लिखे। सन् १७७१ में इनकी मृत्यु हो गई।

स्मोलेट के उपन्यास पिकारेस्क (Picaresque) परंपरा में आते हैं। उनके मुख्य पात्र बहुधा घुमक्कड़ प्रवृत्ति के नवयुवक हैं जो आवारागर्दी में चक्कर लगाते हुए जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से गुजरते हैं। ऐसे उपन्यासों में घटनाओं की प्रधानता स्वाभाविक है, क्योंकि ये उपन्यास किसी सामाजिक या नैतिक दृष्टिकोण से न लिखे जाकर कथानक की मनोरंजकता के विचार से ही लिखे गए हैं। इनमें फील्डिंग या रिचर्डसन का शिल्पगठन नहीं मिलता।

घटनाओं को एक दूसरे से संबंद्ध करने का एकमात्र माध्यम उपन्यास का नायक होता है जिसके चतुर्दिक् ये घटित होती हैं। उनके उपन्यासों में हमें तत्कालीन सामाजिक जीवन तथा मानवचरित्र की ऊपरी सतह का ही चित्र मिलता है। गहराई में जाने की क्षमता उनमें नहीं थी।

चरित्रचित्रण में भी मानव स्वभाव की छोटी मोटी कमजोरियों तथा विचित्रताओं को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है जिसका उपयोग बाद में चार्ल्स डिकेंस ने किया।

[सु० ना० सिं०]

स्याही या मसी ऐसे रंगीन द्रव को कहते हैं जिसका प्रयोग अक्षरों एवं चिह्नों को अंकित करने अथवा किसी वस्तु में छपाई करने में होता है। लेखन में प्रयुक्त होनेवाली स्याही का प्रयोग सबसे पहले भारत तथा चीन में हुआ था। प्राचीनतम स्याही अर्धठोस पदार्थ होती थी। इसे काजल (दीपकालिमा) तथा सरेस के संमिश्रण से तैयार किया जाता था। पीछे तरल स्याही का प्रयोग आरंभ हुआ। प्रारंभ में तरल स्याही तैयार करने में कार्बन के निलंबन तथा उसके कोलॉइडी द्रवों का प्रयोग होता था। ऐसी स्याही अल्प समय में ही विश्व के अनेक देशों में प्रयुक्त होने लगी। आठवीं शताब्दी में पाश्चात्य देशों में कार्बनयुक्त स्याही का स्थान लोह माजूफल (gallnut) ने ले लिया। ऐसी स्याही तैयार करने मे माजूफल को दलकर उसके क्वाथ (infusion) अथवा टैनिनयुक्त किसी अन्य द्रव में कसीस के विलयन को मिलाते थे। इसमें पर्याप्त मात्रा में बबूल का गोंद भी मिलाते थे जिससे कोलॉइडी लोह टैनेट द्रव में निलंबन की स्थिति में रहता था। स्याही के बनने मे किसी भी शल्कछाल (Scale bark) का प्रयोग होता है पर माजूफल सर्वाधिक उपयुक्त कच्चा माल माना जाता है। माजूफल में सामान्यत: ५० से ८० प्रतिशत गैलो टैनिन तथा अल्प मात्रा में गैलिक अम्ल उपस्थित रहते हैं। हरीतकी (हड़) का प्रयोग प्रतिलिपि स्याही के बनाने मे किया जाता है। इसमें ४० से ५० प्रतिशत टैनिन रहता है। माजूफल के गैलोटैनिन तथा गैलिक अम्ल का पाइरोगैलिक समूह वर्ण का एक अंश होता है। अत: माजूफल का रँगनेवाला गुण उसमें उपस्थित गैलो टैनिन तथा गैलिक अम्ल की संयुक्त मात्रा पर निर्भर करता है। स्याही के बनाने में विभिन्न मात्रा मे माजूफल का प्रयोग होता है। माजूफल का प्रयोग किसी निश्चित मात्रा के आधार पर नहीं होता है। स्थायी स्याही के उत्पादन में भी विभिन्न मात्रा में माजूफल तथा कसीस का उपयोग होता है पर सामान्यत: तीन भाग माजूफल के साथ एक भाग कसीस रहता है। माजूफल में टैनिन की मात्रा निश्चित न होने के कारण स्याही में माजूफल तथा कसीस का भाग निश्चित करना संभव नहीं है। लिखने की लोह माजूफल स्याही बनाने की एक रीति में माजूफल, कसीस, बबूल का गोंद, जल तथा फीनोल क्रमश: १२०, ८०, ८०, २४०० तथा १ भाग रहते हैं। यहाँ दलित माजूफल को जल से बारबार निष्कर्षित कर सब निष्कर्ष को एक साथ मिलाकर उसमें अन्य पदार्थ मिलाते हैं। स्याही को इस प्रकार तैयार कर परिपक्व होने के लिये कुछ समय तक किसी पात्र में छोड़ देते हैं। स्याही बनाने में कसीस के रूप में फेरस सल्फेट का प्रयोग बहुत समय से होता आ रहा है पर अब लोह के अन्य लवण जैसे फेरिक क्लोराइड या सीमित मात्रा में फेरिक सल्फेट का प्रयोग भी होने लगा है। व्यापारिक कसीस में लोह की मात्रा निश्चित नहीं रहती। सामान्य कसीस नीलापनयुक्त होने से लेकर चमकीला धानी हरे रंग का होता है। इसमें लोह की मात्रा १८ से २६ प्रतिशत तक रहती है।

सामान्य नीलीकाली स्थायी स्याही गैलोटैनेट स्याही होती है। इसमें लोह की मात्रा ०·५ से ०·६ प्रतिशत तक रहती है। स्याही में लोह तथा टैनिन पदार्थों का अनुपात ऐसा रखा जाता है कि लिखावट अधिक स्थायी रहे। फाउंटेनपेन की नीलीकाली स्याही में लोह की मात्रा न्यूनतम ०·२५ प्रतिशत के लगभग रहती है। ऐसी स्याही का रंग बोतल में तथा लिखने के समय नीलाकाला होता है पर वायु के प्रभाव से कुछ समय बाद काला हो जाता है। गैलिक अम्ल स्याही सामान्य लोह माजूफल के अपेक्षाकृत अधिक समय तक रखने पर खराब नहीं होती। प्रतिलिपि स्याही सांद्र लोह टैनेट (नीलीकाली) स्याही होती है जिसमें ग्लिसरीन अथवा डेक्सट्रिन की कुछ मात्रा मिलाकर कागज पर स्याही में होनेवाले वायुमंडलीय आक्सीकरण क्रिया में अवरोध उत्पन्न किया जाता है। इनके रंजकों के उपयोग से विभिन्न वर्णों की स्याही बनाई जाती है। अधिकांश लाल वर्ण की स्याही में मजेंटा अथवा इयोसिन का उपयोग होता है। इनमें आवश्यकतानुसार गोंद अथवा यदि स्याही प्रतिलिपि के कार्य के लिये है तो ग्लिसरीन मिलाया जाता है। नीले वर्ण की स्याही बनाने में प्रशियन नील नामक रंजक तथा अम्ल का प्रयोग होता है जिनका अनुपात क्रमश: ८ : १ होता है। इंडिगो कारमाइन नामक रंजक के प्रयोग से भी नीली स्याही प्राप्त होती है। १·२ प्रतिशत ऐसिड-ग्रीन अथवा ०·२ प्रतिशत मैलकाइट ग्रीन के प्रयोग से हरे वर्ण की स्याही प्राप्त होती है।

कागज पर स्याही के वर्ण में परिवर्तन न होने से लेखन के समय का अनुमान लगाया जा सकता है। अनेक ऐसी स्याहियाँ भी उपलब्ध हैं जो लिखने के समय दिखाई नहीं पड़ती हैं पर किसी विशेष उपचार से उन्हें पढ़ा जा सकता है। ऐसी स्याही को गुप्त मसी या स्याही कहते हैं। कागज पर छपाई, कपड़ों पर छपाई आदि विशेष प्रयोजनों के लिये विशेष प्रकार की स्याहियाँ काम में आती हैं।

[अ० सि०]

स्लोवाकिया चेकोस्लोवाकिया का एक प्रदेश है जिसका क्षेत्रफल ४९,००८ वर्ग किमी है। इसके पश्चिम में मोरेविया प्रदेश, दक्षिण पश्चिम में आस्ट्रिया, दक्षिण में हंगरी, पूर्व में यूक्रेन और उत्तर में पोलैंड है। स्लोवाकिया का अधिकांश भाग पहाड़ी है। कारपेथिएन, टाट्रा और बेस्किड्स पर्वतश्रेणियाँ इसमें फैली हुई हैं। गेरलाखोफ्का (Gerlachovka) सबसे ऊँची (२७५० मी०) चोटी है। दक्षिणी स्लोवाकिया हंगरी के विशाल उपजाऊ मैदान का एक भाग है जिसमें डेन्यूब और उसकी सहायक वाह नदी बहती है। पहाड़ी भाग में वन एवं चरागाह हैं। यहाँ भेड़ें पाली जाती हैं। मैदानी भाग में अंगूर के लताकुंज, बाग और चरागाह मुख्य आर्थिक साधन हैं।

लोहा, पारा, चाँदी, सोना, ताँबा, सीसा, एवं नमक महत्वपूर्ण

खनिज हैं। खनिजों के सोते भी कुछ भागों में पाए जाते हैं। नगरों एवं उद्योगधंधों का बहुत विकास हुआ है। खनन, जलयाननिर्माण, कृषि तथा धातु पदार्थों का रूपांतरण यहाँ के प्रधान उद्योग हैं। इस प्रदेश की जनसंख्या ४१,१३,४०० (१९६१) थी। स्लोवाक लोग कुल जनसंख्या के ८७.३% हैं। ये रोमन कैथोलिक, धर्मावलंबी हैं। ब्रैटिस्लावा स्लोवाकिया की राजधानी है।

भाषा एवं मानवप्रजाति में समानता होते हुए भी स्लोवाकिया, चेक लोगों से सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दृष्टि से १००० वर्ष तक बिल्कुल अलग रहा। [रा० प्र० सिं०]

स्वतंत्रता की घोषणा (अमरीकी) (४ जुलाई, १७७६ ई०) अमरीका के निवासियों ने ब्रिटिश शासनसत्ता के अधिकारों और अपनी कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिये जो संघर्ष सन् १७७५ ई० में आरंभ किया था वह दूसरे ही वर्ष स्वतंत्रता संग्राम में परिणत हो गया। इंगलैंड के तत्कालीन शासक जॉर्ज तृतीय की दमननीति से समझौते की आशा समाप्त हो गई और शीघ्र ही पूर्ण संबंधविच्छेद हो गया। इंगलैंड से आए हुए उग्रवादी युवक टॉमस पेन ने अपनी पुस्तिका 'कॉमनसेंस' द्वारा स्वतंत्रता की भावना को और भी प्रज्वलित किया। ७ जून, १७७६ ई० को वर्जीनिया के रिचर्ड हेनरी ली ने प्रायद्वीपी कांग्रेस में यह प्रस्ताव रखा कि उपनिवेशों को स्वतंत्र होने का अधिकार है। इस प्रस्ताव पर वादविवाद के उपरांत 'स्वतंत्रता की घोषणा' तैयार करने के लिये ११ जून को एक समिति बनाई गई, जिसने यह कार्य जेफ़रसन को सौंपा। जेफ़रसन द्वारा तैयार किए गए घोषणापत्र में ऐडम्स और फ्रैंकलिन ने कुछ संशोधन कर उसे २८ जून को प्रायद्वीपी कांग्रेस के समक्ष रखा और २ जुलाई को वह बिना विरोध पास हो गया।

जेफ़रसन ने उपनिवेशिकों की कठिनाइयों और आवश्यकताओं का ध्यान रखकर नहीं, अपितु मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों के दार्शनिक सिद्धांतों को ध्यान में रखकर यह घोषणापत्र तैयार किया था जिसके निम्नांकित शब्द अमर हैं : 'हम इन सिद्धांतों को स्वयसिद्ध मानते हैं कि सभी मनुष्य समान पैदा हुए हैं और उन्हें अपने स्रष्टा द्वारा कुछ अविच्छिन्न अधिकार मिले हैं। जीवन, स्वतंत्रता और सुख की खोज इन्हीं अधिकारों में है। इन अधिकारों की प्राप्ति के लिये समाज में सरकारों की स्थापना हुई जिन्होंने अपनी न्यायोचित सत्ता शासित की स्वीकृति से ग्रहण की। जब कभी कोई सरकार इन उद्देश्यों पर कुठाराघात करती है तो जनता को यह अधिकार है कि वह उसे बदल दे या उसे समाप्त कर नई सरकार स्थापित करे जो ऐसे सिद्धांतों पर आधारित हो और जिसकी शक्ति का संगठन इस प्रकार किया जाय कि जनता को विश्वास हो जाय कि उनकी सुरक्षा और सुख निश्चित हैं।'

इस घोषणापत्र में कुछ ऐसे महत्व के सिद्धांत रखे गए जिन्होंने विश्व की राजनीतिक विचारधारा में क्रांतिकारी परिवर्तन किए। समानता का अधिकार, जनता का सरकार बनाने का अधिकार और अयोग्य सरकार को बदल देने अथवा उसे हटाकर नई सरकार की स्थापना करने का अधिकार आदि ऐसे सिद्धांत थे जिन्हें सफलतापूर्वक क्रियात्मक रूप दिया जा सकेगा, इसमें उस समय अमरीकी जनता को भी संदेह था परंतु उसने इनको सहर्ष स्वीकार कर सफलतापूर्वक कार्यरूप में परिणत कर दिखाया। जेफ़रसन ने ब्रिटिश दार्शनिक जॉन लॉक के 'जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति' के अधिकार के सिद्धांत को भी थोड़े संशोधन के साथ स्वीकार किया। उसने 'संपत्ति' को ही सुख का साधन न मानकर उसके स्थान पर 'सुख की खोज' का अधिकार माँगकर अमरीकी जनता को वस्तुवादिता से बचाने की चेष्टा की, परंतु उसे कितनी सफलता मिली इसमें संदेह है।

[श० भू० त्रि०]

स्वदेशी आंदोलन से हम विशेषकर उस आंदोलन को लेते हैं जो बंगभंग के विरोध में बंगाल और भारत में चला। इसका मुख्य अंग अपने देश की वस्तु अपनाना और दूसरे देश की वस्तु का बहिष्कार करना है। यह विचार बंगभंग से बहुत पुराना है। भारत में स्वदेशी का पहले पहल नारा श्री बंकिमचंद्र ने 'बंगदर्शन' के १२७९ की भाद्र संख्या यानी १८७२ ई० में ही विज्ञानसभा का प्रस्ताव रखते हुए दिया था। उन्होंने कहा था — जो विज्ञान स्वदेशी होने पर हमारा दास होता, वह विदेशी होने के कारण हमारा प्रभु बन बैठा है, हम लोग दिन ब दिन साधनहीन होते जा रहे हैं। अतिथिशाला में आजीवन रहनेवाले अतिथि की तरह हम लोग प्रभु के आश्रय में पड़े हैं, यह भारतभूमि भारतीयों के लिये भी एक विराट् अतिथिशाला बन गई है।

इसके बाद श्री भोलानाथ चंद्र ने १८७४ में श्री शंभुचंद्र मुखोपाध्याय प्रवर्तित 'मुखर्जीज़ मैगज़ीन' में स्वदेशी का नारा दिया था। उन्होंने लिखा था "किसी प्रकार का शारीरिक बलप्रयोग न करके, राजानुगत्य अस्वीकार न करते हुए, तथा किसी नए कानून के लिये प्रार्थना न करते हुए भी हम अपनी पूर्वसंपदा लौटा सकते हैं। जहाँ स्थिति चरम में पहुँच जाए, वहाँ एकमात्र नहीं तो सबसे अधिक कारगर अस्त्र नैतिक शत्रुता होगी। इस अस्त्र को अपनाना कोई अपराध नहीं है। आइए हम सब लोग यह संकल्प करें कि विदेशी वस्तु नहीं खरीदेंगे। हमें हर समय यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत की उन्नति भारतीयों के द्वारा ही संभव है।' यह नारा कांग्रेस के जन्म के पहले दिया गया था। जब १९०५ ई० में बंगभंग हुआ, तब स्वदेशी का नारा जोरों से अपनाया गया। उसी वर्ष कांग्रेस ने भी इसके पक्ष में मत प्रकट किया। देशी पूँजीपति उस समय मिलें खोल रहे थे, इसलिये स्वदेशी आंदोलन उनके लिये बड़ा ही लाभदायक सिद्ध हुआ।

इन्हीं दिनों जापान ने रूस पर विजय पाई। उसका असर सारे पूर्वी देशों पर हुआ। भारत में बंगभंग के विरोध में सभाएँ तो हो ही रही थीं। अब विदेशी वस्तु बहिष्कार आंदोलन ने बल पकड़ा। 'वंदेमातरम्' इस युग का महामंत्र बना। १९०६ के १४ और १५ अप्रैल को स्वदेशी आंदोलन के गढ़ बारिसाल में बंगीय प्रादेशिक संमेलन होने का निश्चय हुआ। यद्यपि इस समय बारिसाल में बहुत कुछ दुर्भिक्ष की हालत थी, फिर भी जनता ने अपने नेता अश्विनीकुमार दत्त आदि को धन जन से इस संमेलन के लिये सहायता दी।

उन दिनों सार्वजनिक रूप से 'वंदेमातरम्' का नारा लगाना गैरकानूनी बन चुका था और कई युवकों को नारा लगाने पर बेंत लग चुके थे और अन्य सजाएँ मिली थीं। जिला प्रशासन ने स्वागतसमिति पर यह शर्त लगाई कि प्रतिनिधियों का स्वागत करते समय किसी हालत में 'वंदेमातरम्' का नारा नहीं लगाया जाएगा। स्वागतसमिति ने इसे मान लिया। किंतु अत्युग्र दल ने इसे स्वीकार नहीं किया। जो लोग 'वंदेमातरम्' का नारा नहीं लगा रहे थे, वे भी उसका बैज लगाए हुए थे। ज्योंही प्रतिनिधि सभास्थल में आने को निकले त्यों ही उनपर पुलिस टूट पड़ी और लाठियों की वर्षा होने लगी। श्री सुरेंद्रनाथ बनर्जी गिरफ्तार कर लिये गए। उनपर २०० रुपया जुर्माना हुआ। वह जुर्माना देकर सभास्थल पहुँचे। सभा में पहले ही पुलिस के अत्याचारों की कहानी सुनाई गई। पहले दिन किसी तरह अधिवेशन हुआ, पर अगले दिन पुलिस कप्तान ने आकर कहा कि यदि वंदेमातरम्' का नारा लगाया गया तो सभा बंद कर दी जाएगी। लोग इस पर राजी नहीं हुए, इसलिये अधिवेशन यहीं समाप्त हो गया। पर उससे जनता में और जोश बढ़ा।

लोकमान्य तिलक और गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे भी इस संबंध में कलकत्ता पहुँचे और बंगाल में भी शिवाजी उत्सव का प्रवर्तन किया गया। रवींद्रनाथ ने इसी अवसर पर शिवाजी शीर्षक प्रसिद्ध कविता लिखी। १० जून को तीस हजार कलकत्तावासियों ने लोकमान्य तिलक का विराट् जुलूस निकाला। इन्हीं दिनों बंगाल में बहुत से नए पत्र निकले, जिनमें 'वंदेमातरम्' और 'युगांतर' प्रसिद्ध हैं।

इसी आंदोलन के अवसर पर विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर पिकेटिंग शुरू हुई। अनुशीलन समितियाँ बनीं जो दबा दी जाने के कारण क्रांतिकारी समितियों में परिणत हो गईं। अरविंद के छोटे भाई बारींद्रकुमार घोष ने बंगाल में क्रांतिकारी दल स्थापित किया। इसी दल की ओर से खुदीराम ने जज किंग्सफोर्ड के धोखे में कैनेडी परिवार को मार डाला, कन्हाईलाल ने जेल के अंदर मुखबिर नरेंद्र गोसाईं को मारा और अंत में बारींद्र स्वयं अलीपुर षड्यंत्र में गिरफ्तार हुए। उनको तथा उनके साथियों को लंबी सजाएँ हुई।

दिल्ली दरबार (१९११) में बंगभंग रद्द कर दिया गया, पर स्वदेशी आंदोलन नहीं रुका और वह स्वतंत्रता आंदोलन में परिणत हो गया।

सं० ग्रं० — पट्टाभि सीतारमैया : द हिस्टरी ऑव द कांग्रेस (अंग्रेजी); योगेशचंद्र बागल : मुक्तिसंधाने भारत (बंगला)।

[म० गु०]

स्वप्न आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सोते समय की चेतना की अनुभूतियों को स्वप्न कहते हैं। स्वप्न के अनुभव की तुलना मृगतृष्णा के अनुभवों से की गई है। यह एक प्रकार का विभ्रम है। स्वप्न में सभी वस्तुओं के अभाव में विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ दिखाई देती हैं। स्वप्न की कुछ समानता दिवास्वप्न से की जा सकती है। परंतु दिवास्वप्न में विशेष प्रकार के अनुभव करनेवाला व्यक्ति जानता है कि वह अमुक प्रकार का अनुभव कर रहा है। स्वप्न अवस्था में अनुभवकर्ता जानता नहीं कि वह स्वप्न देख रहा है। स्वप्न की घटनाएँ वर्तमान काल से संबंध रखती हैं। दिवास्वप्न की घटनाएँ भूतकाल तथा भविष्यकाल से संबंध रखती हैं।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार स्वप्न चेतना की चार अवस्थाओं में से एक विशेष अवस्था है। बाकी तीन अवस्थाएँ जाग्रतावस्था, सुषुप्ति अवस्था और तुरीय अवस्था हैं। स्वप्न और जाग्रतावस्था में अनेक प्रकार की समानताएँ हैं। अतएव जाग्रतावस्था के आधार पर स्वप्न अनुभवों को समझाया जाता है। इसी प्रकार स्वप्न अनुभवों के आधार पर जाग्रतावस्था के अनुभवों को भी समझाया जाता है।

स्वप्नों का अध्ययन मनोविज्ञान के लिये एक नया विषय है। साधारणतः स्वप्न का अनुभव ऐसा अनुभव है जो हमारे सामान्य तर्क के अनुसार सर्वथा निरर्थक दिखाई देता है। अतएव साधारणतः मनोवैज्ञानिक स्वप्न के विषय में चर्चा करनेवालों को निकम्मा व्यक्ति मानते हैं। प्राचीन काल में साधारण अपढ़ लोग स्वप्न की चर्चा इसलिये किया करते थे कि वे समझते थे कि स्वप्न के द्वारा हम भावी घटनाओं का अंदाज लगा सकते हैं। यह विश्वास सामान्य जनता में आज भी है। आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन इस प्रकार की धारणा को निराधार मानता है और इसे अंधविश्वास समझता है।

स्वप्नों के वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा यह जानने की चेष्टा की गई है कि बाहरी उत्तेजनाओं के प्रभाव से किस प्रकार के स्वप्न हो सकते हैं। सोए हुए किसी मनुष्य के पैर पर ठंढा पानी डालने से उसे प्रायः नदी में चलने का स्वप्न होता है। इसी प्रकार सोते समय शीत लगने से नदी में नहाने अथवा तैरने का स्वप्न हो सकता है। शरीर पर होनेवाले विभिन्न प्रकार के प्रभाव भिन्न भिन्न प्रकार के स्वप्नों को उत्पन्न करते हैं। स्वप्नों का अध्ययन चिकित्सा दृष्टि से भी किया गया है। साधारणतः रोग की बढ़ी चढ़ी अवस्था में रोगी भयानक स्वप्न देखता है और जब वह अच्छा होने लगता है तो वह स्वप्नों में सौम्य दृश्य देखता है।

स्वप्नों के अध्ययन के लिये मनोवैज्ञानिक कभी कभी संमोहन का प्रयोग करते हैं। विशेष प्रकार के संमोहन देकर जब रोगी को सुला दिया जाता है तो उसे उन संमोहनों के अनुसार स्वप्न दिखाई देते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक सोते समय रोगी को स्वप्नों को याद रखने का निर्देश दे देते हैं। तब रोगी अपने स्वप्नों को नहीं भूलता। मानसिक रोगी को प्रारंभ में स्वप्न याद ही नहीं रहते। ऐसे रोगी को संमोहित करके उसके स्वप्न याद कराए जा सकते हैं।

साधारणतः हम स्वप्नों में उन्हीं बातों को देखते हैं जिनके संस्कार हमारे मस्तिष्क पर बन जाते हैं। हम प्रायः देखते हैं कि हमारे स्वप्नों का जाग्रत अवस्था से कोई संबंध नहीं होता। कभी कभी हम स्वप्न के उन भागों को भूल जाते हैं जो हमारे जीवन के लिये विशेष अर्थ रखते हैं। ऐसे स्वप्नों को कुशल मनोवैज्ञानिक संमोहन द्वारा प्राप्त कर लेते हैं। देखा गया है कि जिन स्वप्नों को मनुष्य भूल जाता है वे उसके जीवन की ऐसी बातों को चेतना के समक्ष लाते हैं जो उसे अत्यंत अप्रिय होती हैं और जिनका भूल जाना ही उसके लिये श्रेयस्कर होता है। ऐसी बातों को विशेष प्रकार के संमोहन द्वारा व्यक्ति को याद कराया जा सकता है। इन स्वप्नों का मानसिक चिकित्सा में विशेष महत्व रहता है।

स्वप्न के विषय में सबसे महत्व की खोजें डाक्टर सिगमंड फ्रायड ने की हैं। इन्होंने अपने अध्ययन से यह निर्धारित किया कि मनुष्य के भीतरी मन को जानने के लिये उसके स्वप्नों को जानना नितांत आवश्यक है। 'इंटरप्रिटेशन ऑव ड्रीम्स' नामक अपने ग्रंथ में इन्होंने यह बताने की चेष्टा की है कि जिन स्वप्नों को हम निरर्थक समझते हैं उनके विशेष अर्थ होते हैं। इन्होंने स्वप्नों के संकेतों के अर्थ बताने और उनकी रचना को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इनके कथनानुसार स्वप्न हमारी उन इच्छाओं को सामान्य रूप से अथवा प्रतीक रूप से व्यक्त करता है जिसकी तृप्ति जाग्रत अवस्था में नहीं होती। पिता की डाँट के डर से जब बालक मिठाई और खिलौने खरीदने की अपनी इच्छा को प्रकट नहीं करता तो उसकी दमित इच्छा स्वप्न के द्वारा अपनी तृप्ति पा लेती है। जैसे जैसे मनुष्य की उम्र बढ़ती जाती है उसका समाज का भय जटिल होता जाता है। इस भय के कारण वह अपनी अनुचित इच्छाओं को न केवल दूसरों से छिपाने की चेष्टा करता है वरन् वह स्वयं से भी छिपाता है। डाक्टर फ्रायड के अनुसार मनुष्य के मन के तीन भाग हैं। पहला भाग वह है जिसमें सभी इच्छाएँ आकर अपनी तृप्ति पाती हैं। इनकी तृप्ति के लिये मनुष्य को अपनी इच्छाशक्ति से काम लेना पड़ता है। मन का यह भाग चेतन मन कहलाता है। यह भाग बाहरी जगत् से व्यक्ति का समन्वय स्थापित करता है। मनुष्य के मन का दूसरा भाग अचेतन मन कहलाता है। यह भाग उसकी सभी प्रकार की भोगेच्छाओं का आश्रय है। इसी में उसकी सभी दमित इच्छाएँ रहती हैं। उसके मन का तीसरा भाग अवचेतन मन कहलाता है। इस भाग में मनुष्य का नैतिक स्वत्व रहता है। डाक्टर फ्रायड ने नैतिक स्वत्व को राज्य के सेन्सर विभाग की उपमा दी है। जिस प्रकार राज्य का सेन्सर विभाग किसी नए समाचार के प्रकाशित होने के पूर्व उसकी छानबीन कर लेता है। उसी प्रकार मनुष्य के अवचेतन मन में उपस्थित सेन्सर अर्थात् नैतिक स्वत्व किसी भी वासना के स्वप्नचेतना में प्रकाशित होने के पूर्व काँट छाँट कर देता है। अत्यंत अप्रिय अथवा अनैतिक स्वप्न देखने के पश्चात् मनुष्य को आत्मभर्त्सना होती है। स्वप्न-द्रष्टा को इस आत्मभर्त्सना से बचाने के लिये उसके मन का सेन्सर विभाग स्वप्नों में अनेक प्रकार की तोड़मरोड़ करके दबी इच्छा को प्रकाशित करता है। फिर जाग्रत होने पर यही सेन्सर हमें स्वप्न के उस भाग को भुलवा देता है जिससे आत्मभर्त्सना हो। इसी कारण हम अपने पूरे स्वप्नों को ही भूल जाते हैं।

डा० फ्रायड ने स्वप्नों के प्रतीकों के विशेष प्रकार के अर्थ बताएँ हैं। इनमें से अधिक प्रतीक जननेंद्रिय संबंधी हैं। उनके कथनानुसार स्वप्न मे होनेवाली बहुत सी निरर्थक क्रियाएँ रति-क्रिया की बोधक होती हैं। उनका कथन है कि मनुष्य की प्रधान वासना, कामवासना है। इसी से उसे अधिक से अधिक शारीरिक सुख मिलता है और इसी का उसके जीवन में सर्वाधिक रूप से दमन भी होता है। स्वप्न में अधिकतर हमारी दमित इच्छाएँ ही छिपकर विभिन्न प्रतीको द्वारा प्रकाशित होती हैं। सबसे अधिक दमित होनेवाली इच्छा कामेच्छा है। इसलिये हमारे अधिक स्वप्न उसी से संबंध रखते हैं। मानसिक रोगियों के विषय में देखा गया है कि एक ओर उसकी प्रबल कामेच्छा दमित अवस्था में रहती है और दूसरी ओर उसकी उपस्थिति स्वीकार करना उनके लिये कठिन होता है। इसलिये ही मानसिक रोगियों के स्वप्न न केवल जटिल होते हैं वरन् वे भूल भी जाते हैं।

डाक्टर फ्रायड ने स्वप्नरचना के पाँच सात प्रकार बताए हैं। उनमें से प्रधान हैं — संक्षेपण, विस्तारीकरण, भावांतरकरण तथा नाटकीकरण। संक्षेपण के अनुसार कोई बहुत बड़ा प्रसंग छोटा कर दिया जाता है। विस्तारीकरण मे ठीक इसका उल्टा होता है। इसमें स्वप्नचेतना एक थोड़े से अनुभव को लबे स्वप्न में व्यक्त करती है। मान लीजिए किसी व्यक्ति ने किसी पार्टी में हमारा अपमान कर दिया और उसका हम बदला लेना चाहते हैं। परंतु हमारा नैतिक स्वत्व इसका विरोधी है, तो हम अपने स्वप्न मे देखेंगे कि जिस व्यक्ति ने हमारा अपमान किया है वह अनेक प्रकार की दुर्घटनाओं में पड़ा हुआ है। हम उसकी सहायता करना चाहते हैं, परंतु परिस्थितियाँ ऐसी हैं जिनके कारण हम उसकी सहायता नहीं कर पाते। भावांतरीकरण की अवस्था मे हम अपने अनैतिक भाव को ऐसे व्यक्ति के प्रति प्रकाशित होते नहीं देखते जिसके प्रति उन भावों का प्रकाशन होना आत्मग्लानि पैदा करता है। कभी कभी किशोर बालक भयानक स्वप्न देखते हैं। उनमें वे किसी राक्षस से लड़ते हुए अपने को पाते हैं। मनोविश्लेषण से पीछे पता चलता है कि वह राक्षस उनका पिता, चाचा, बड़ा भाई, अध्यापक अथवा कोई अनुशासक ही रहता है।

नाटकीकरण के अनुसार जब कोई विचार इच्छा अथवा स्वप्न में प्रकाशित होता है तो वह अधिकतर दृश्य प्रतिमाओं का सहारा लेता है। स्वप्नचेतना अनेक मार्मिक बातों को एक पूरी परिस्थिति चित्रित करके दिखाती है। स्वप्न किसी शिक्षा को सीधे रूप से नहीं देता। स्वप्न में जो अनेक चित्रों और घटनाओं के सहारे कोई भाव व्यक्त होता है उसका अर्थ तुरंत लगाना संभव नहीं होता। मान लीजिए, हम अकेले में हैं और हमें डर लगता है कि हमारे ऊपर कोई आक्रमण न कर दे। यह छोटा सा भाव अनेक स्वप्नों को उत्पन्न करता है। हम ऐसी परिस्थिति में पड़ जाते हैं जहाँ हम अपने को सुरक्षित समझते हैं परंतु हमें बाद को भारी धोखा होता है।

डाक्टर फ्रायड का कथन है कि स्वप्न के दो रूप होते हैं — एक प्रकाशित और दूसरा अप्रकाशित। जो स्वप्न हमें याद आता है वह प्रकाशित रूप है। यह रूप उपर्युक्त अनेक प्रकार की तोड़ मोड़ की रचनाओं और प्रतीकों के साथ हमारी चेतना के समक्ष आता है। स्वप्न का वास्तविक रूप वह है जिसे गूढ़ मनोवैज्ञानिक खोज के द्वारा प्राप्त किया जाता है। स्वप्न का जो अर्थ सामान्य लोग लगाते हैं वह उसके वास्तविक अर्थ से बहुत दूर होता है। वह वास्तविक अर्थ स्वप्ननिर्माण कला के जाने बिना नहीं लगाया जा सकता।

डाक्टर फ्रायड ने स्वप्नानुभव के बारे में निम्नलिखित बात महत्व की बताई हैं : स्वप्न मानसिक प्रतिगमन का परिणाम है। यह प्रतिगमन थोड़े काल के लिये रहता है। अतएव इससे व्यक्ति के मानसिक विकास की क्षति नहीं होती। दूसरे यह प्रतिगमन अभिनय के रूप में होता है। इस कारण इससे मनुष्य की उन इच्छाओं का

रेचन हो जाता है जो बचपन की अवस्था की होती है। यदि ऐसे स्वप्न मनुष्य को न हों तो उसका मानसिक विकास रुक जाय अथवा उसे किसी न किसी प्रकार का मानसिक रोग हो जाय। डाक्टर फ्रायड ने दूसरी महत्व की बात यह बताई है कि स्वप्न निद्रा का विनाशक नहीं वरन् उसका रक्षक है। भयानक अथवा उत्तेजक स्वप्नों से दमित उत्तेजना बाहर आकर शांत हो जाती है। स्वप्न मानव भवण की जटिल समस्याओं को हल करने का एक मार्ग है। फ्रायड ने तीसरी बात यह बताई कि स्वप्न न तो व्यर्थ मानसिक अनुभव है और न उसमें देखे गए दृश्य निरर्थक होते हैं। अप्रिय स्वप्नों द्वारा व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा होती है। स्वप्नों का अध्ययन करना मन के आंतरिक रूप को समझने के लिये नितांत आवश्यक है। स्वप्नों को डाक्टर फ्रायड ने मनुष्य के आंतरिक मन की कुंजी कहा है।

स्वप्न संबंधी बातचीत से रोगी के बहुत से दमित भाव चेतना की सतह पर आते हैं और इस तरह उनका रेचन हो जाता है। किसी रोगी के अनेक स्वप्न सुनते सुनते और उनका अर्थ लगाते लगाते रोगी का रोग नष्ट हो जाता है। मानसिक चिकित्सा की प्रारंभिक अवस्था में रोगी को प्राय: स्वप्न याद ही नहीं रहते। जैसे जैसे रोगी और चिकित्सक की भावात्मक एकता स्थापित होती है वैसे वैसे उसे स्वप्न अधिकाधिक होने लगते हैं तथा वे अधिकाधिक स्पष्ट भी होते हैं। एक ही स्वप्न कई प्रकार से होता है। स्वप्न का भाव अनेक प्रकार के स्वप्नों द्वारा चिकित्सक के समक्ष आता है।

चार्ल्स युंग ने स्वप्न के विषय में कुछ बातें डाक्टर फ्रायड से भिन्न कही हैं। उनके कथनानुसार स्वप्न के प्रतीक सभी समय एक ही अर्थ नहीं रखते। स्वप्नों के वास्तविक अर्थ जानने के लिये स्वप्नद्रष्टा के व्यक्तित्व को जानना, उसकी विशेष समस्याओं को समझना और उस समय देश, काल और परिस्थितियों को ध्यान में रखना नितांत आवश्यक है। एक ही स्वप्न भिन्न भिन्न स्वप्नद्रष्टा के लिये भिन्न भिन्न अर्थ रखता है और एक ही द्रष्टा के लिये भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भी उसके भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं। अतएव जब तक स्वयं स्वप्नद्रष्टा किसी अर्थ को स्वीकार न कर ले तब तक हमें यह नहीं जानना चाहिए कि स्वप्न का वास्तविक अर्थ प्राप्त हो गया। डॉक्टर फ्रायड की मान्यता के अनुसार अधिक स्वप्न हमारी काम वासना से ही संबंध रखते हैं। युंग के कथनानुसार स्वप्नों का कारण मनुष्य के केवल वैयक्तिक अनुभव अथवा उसकी स्वार्थमयी इच्छाओं का ही दमन मात्र नहीं होता वरन् उसके गंभीरतम मन की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ भी होती हैं। इसी के कारण मनुष्य अपने स्वप्नों के द्वारा जीवनोपयोगी शिक्षा भी प्राप्त कर लेता है।

चार्ल्स युंग के मतानुसार स्वप्न केवल पुराने अनुभवों की प्रतिक्रिया मात्र नहीं है वरन् वे मनुष्य के भावी जीवन से संबंध रखते हैं। डॉक्टर फ्रायड सामान्य प्राकृतिक जड़वादी कारणकार्य प्रणाली के अनुसार मनुष्य के मन की सभी प्रतिक्रियाओं को समझाने की चेष्टा करते हैं। इनके प्रतिकूल डॉक्टर युंग मानसिक प्रतिक्रियाओं को मुख्यत: लक्ष्यपूर्ण सिद्ध करते हैं। जो वैज्ञानिक प्रणाली जड़ पदार्थों के व्यवहारों को समझाने के लिये उपयुक्त होती है वही प्रणाली चेतन क्रियाओं को समझाने में नहीं लगाई जा सकती। चेतना के सभी कार्य लक्ष्यपूर्ण होते हैं। स्वप्न भी इसी प्रकार का एक लक्ष्यपूर्ण कार्य है जिसका उद्देश्य रोगी के भावी जीवन को नीरोग अथवा सफल बनाना है। युंग के कथनानुसार मनुष्य स्वप्न द्वारा ऐसी बातें जान सकता है जिनके अनुसार चलने से वह अपने आपको अनेक प्रकार की दुर्घटनाओं और दु:खों से बचा सकता है। इस तथ्य को उन्होंने अनेक दृष्टांतों के द्वारा समझाया है। [ला० सु०]

स्वयंचालित प्रक्षेप्यास्त्र अथवा नियंत्रित प्रक्षेप्यास्त्र (guided missile), सैनिक भाषा में यंत्र द्वारा चलनेवाले ऐसे क्षेपणीय यान या वाहन को कहते हैं जिनके गतिमार्ग को उस यान के अंदर स्थित यंत्रों द्वारा बदला या नियंत्रित किया जा सकता है। इस नियंत्रण का आयोजन प्रयाण से पूर्व, अथवा प्रक्षेप्यास्त्र के वायु में पहुँच जाने पर, दूर से किया जा सकता है, या प्रक्षेप्यास्त्र में ऐसी युक्ति लगी होती है जो विशिष्ट लक्षणोंवाले लक्ष्य तक उस अस्त्र को पहुँचा देती है।

प्रथम विश्वयुद्ध — अमरीका में प्रथम विश्वयुद्ध के समय में ही स्वनियंत्रित वायुयानों से संबंधित प्रयोग किए गए थे, किंतु द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व ऐसे वायुयानों तथा दीर्घ परास नियंत्रित प्रक्षेप्यास्त्रों के बारे में कुछ अधिक न किया जा सका।

द्वितीय विश्वयुद्ध — इस युद्ध में अमरीका की वायुसेना ने ऐज़ॉन (Azon) नामक १,००० पाउंड के बम के प्रयोग में आंशिक सफलता पाई। इस बम को छोड़ने के पश्चात् इसके पुच्छपृष्ठतलों को रेडियो तरंगों से प्रभावित कर, चलानेवाला, इसको केवल दिगंश (Azimuth only) में, अर्थात् पार्श्वत:, नियंत्रित कर सकता था, किंतु १०,००० फुट से अधिक की ऊँचाई से इसका उपयोग व्यावहारिक सिद्ध न हुआ। प्रहार में इससे अधिक सफलता जी बी–१ (G B — 1) नामक संसर्पक (glide) बम से मिली, जो २,००० पाउंड का सामान्य बम था। इसमें १२ फुट का एक पंख जोड़ दिया गया था। लक्ष्य से २० मील की दूरी से, इसका पूर्व नियंत्रण कर, इसे छोड़ दिया जाता था। इसके पश्चात् ऐसे संसर्पक बमों का निर्माण हुआ, जिनके परास तथा पक्षच्युति, दोनों का नियंत्रण रेडियो द्वारा किया जाता था। इसके भी पश्चात् ऐसे जी-बी–४ (G B–4) तथा ऐज़ॉन प्रकार के बमों का निर्माण किया गया, जिनके अंदर रेडियोवीक्षण (Television) प्रेषित्र लगे रहते थे और जिनका नियंत्रण रेडियो से किया जा सकता था। किंतु रेडियोवीक्षण यंत्र की अपर्याप्त विभेदनक्षमता तथा मौसम से उत्पन्न लघु दृश्यता के कारण ऐसे बम भी सफल सिद्ध न हुए। सन् १९४५ में लक्ष्य से निकलनेवाली ऊष्मा से मार्गदर्शन पानेवाले बम बनाए गए, जो समुद्र पर जहाजों के विरुद्ध भी काम में लाए जा सकते थे, किंतु तब तक युद्ध का अंत हो गया था।

इसी समय यूरोप में वेयरी विली (Weary Willie) नामक

एक नियंत्रित प्रक्षेप्यास्त्र का उपयोग, जर्मनी द्वारा अधिकृत फ्रांस में, सागरतट पर स्थित वी-२ (V-2) बम संस्थापनों के विरुद्ध किया गया। इन प्रक्षेप्यास्त्रों में २०,००० पाउंड विस्फोटक भर कर, इन्हें वायुयान चालक उचित ऊँचाई तक वायुमंडल में पहुँचाने के पश्चात् स्वयं वापस चला आता था और एक अन्य नियंत्रक वायुयान रेडियो और रेडियोवीक्षण द्वारा उसका मार्गदर्शन कर, लक्ष्य तक पहुँचा देता था, किंतु ये बम भी मौसम की खराबी और विरोधी तोपों की मार के कारण विशेष उपयोगी सिद्ध न हुए।

द्वितीय विश्वयुद्ध के अंतिम दिनों में अमरीका ने जी बी-१ (G B-1), जे बी-२ तथा जे बी-१० प्रक्षेप्य बमों का विकास भी किया। ये बम जर्मनी द्वारा निर्मित वी-१ (V-1) बमों की नकल थे तथा इनमें वैसा ही इंजिन भी लगाया गया था। इन बमों में ऐसे रॉकेट लगे थे जिनका विस्फोट, इनको पृथ्वी से ऊर्ध्व दिशा में सीधा उठाकर आवश्यक दिशा में गतिमान कर देता था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय इस क्षेत्र में सर्वाधिक सफलता जर्मनों ने वी—१ तथा वी—२ प्रक्षेप्यास्त्र बनाकर प्राप्त की। इन्होंने सन् १९२६ में ही इससे संबंधित प्रयोग और अनुसंधान प्रारंभ कर दिए थे। ये दोनों ही अस्त्र २,००० पाउंड भार के विस्फोटकवाले शीर्ष से युक्त होते थे। वी – १ की गति केवल ४०० मील प्रति घंटा होती थी। इसके आगमन की पूर्वसूचना इसकी ध्वनि से मिल जाती थी, जिस कारण यह बज बम भी कहलाता था और वायुयान विरोधी तोपें इसे मार गिराती थीं। परंतु वी — २ की गति ध्वनि की गति से कई गुना अधिक, अर्थात् ३,५०० मील प्रति घंटा तक होने के कारण यह निःशब्द आ पहुँचता था और सतर्क होने तक का अवसर नहीं मिलता था। यह वी — १ से कहीं अधिक विनाशक सिद्ध हुआ।

वी — १ का रूप छोटे मोनोप्लेन के सदृश, लंबाई २९ फुट, पंखों की विस्तृति १७ फुट तथा भार ५,००० पाउंड होता था। एक अपक्षेपी यंत्र (Catapult) इसको वायु में ऊपर फेंक देता था। इसके पश्च भाग में स्थित स्पंद जेट (pulse jet) इंजिन द्वारा इसका नोदन (propulsion) तथा उड़ान के समय नियंत्रण प्रचलित प्रकार के स्वतः पथप्रदर्शक द्वारा होता था। नियंत्रण में भूल का निवारण वायुगतिकीय निरोधक पृष्ठों द्वारा, एक परिशुद्ध चुंबकीय दिक्सूचक करता था। प्रक्षेप्यास्त्र को जो मार्ग पकड़ना है उसके अनुसार दिक्सूचक का पूर्वनियोजन कर दिया जाता था और प्रक्षेप के कुछ ही समय पश्चात् अस्त्र वही पथ पकड़ लेता था। यह अधिक से अधिक ५,००० फुट तक ऊँचा उठ सकता था। आवश्यक ऊँचाई तुंगमापक (altimeter) पर स्थिर कर दी जाती थी। अस्त्र के अग्र भाग में रखे एक वायु-गति-लेख (air log) का भी नियोजन इस प्रकार कर दिया जाता था कि लक्ष्य की ओर आवश्यक दूरी तय कर लेने पर यह प्रक्षेप्यास्त्र को पृथ्वी की तरफ मोड़ देता था। इसका परास लगभग १६० मील था।

वी — २ नामक बम वी—१ से कहीं बड़ा प्रक्षेप्यास्त्र था। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत तक इससे रक्षा का कोई उपाय ज्ञात न था। इसकी लंबाई ४६ फुट तथा भार लगभग २८,००० पाउंड था। इसके रॉकेट के मोटर में ऐल्कोहल तथा तरल ऑक्सीजन ईंधन का काम देते थे। एक चबूतरे से यह सीधा ऊपर चढ़ जाता था तथा प्रक्षेप के लिये शक्ति इसमें लगे मुख्य जेट से प्राप्त होती थी। ६० मील की ऊँचाई तक पहुँच जाने पर, इसका परास २०० मील तथा गति ३,५०० मील प्रति घंटा तक होती थी। छूटने के कुछ ही देर पश्चात् इसमें स्थित एक यंत्र इसे ऊर्ध्व दिशा से लक्ष्य की ओर इस प्रकार घुमा देता था कि पृथ्वी से लगभग ४५° का कोण बना रहे। एक अन्य यंत्र परास (range) के अनुसार उचित समय पर ईंधन की पहुँच रोक देता था। पूरे परास के लिये ईंधन का ज्वलनकाल केवल ६५ सेकंड होता था। ईंधन के बंद हो जाने पर इसका मार्ग तोप के गोले के प्रक्षेपपथ के सदृश हो जाता था। यह इतनी ऊँचाई पर पहुँच जाता था कि इसके प्रक्षेपपथ के अधिकांश में वायु से कोई रुकावट न होती थी। इसकी पूँछ में लगे वृहत् पक्ष (fins) इसे स्थायित्व प्रदान करते थे तथा जेट धारा में स्थित छोटे पिच्छफलकों (vanes) से क्षेपण के समय मार्गदर्शन का काम लिया जाता था। वी — २ की लक्ष्यप्राप्ति में भूल केवल लगभग २½ मील पार्श्वतः तथा लगभग ७½ मील परास में संभाव्य थी।

इन अस्त्रों के अतिरिक्त जर्मनों ने रेडियो द्वारा नियंत्रित बमों का भी पृथ्वी पर के लक्ष्यों तथा समुद्र पर के जहाजों के विरुद्ध प्रयोग किया। पृथ्वी से वायुमंडल तथा वायुमंडल से वायुमंडल, दोनों प्रकार के वायुयानरोधी प्रक्षेप्यास्त्रों का विकास भी युद्ध के अंत समय जर्मन कर रहे थे।

युद्धोत्तर काल — युद्ध के बाद नियंत्रित प्रक्षेप्यास्त्रों के विकास के लिये दीर्घकालिक कार्यक्रम बनाए गए। इनमें पराध्वनिक (supersonic) गतियों, उच्च वायुमंडलीय घटनाओं, नोदन (propulsion), इलेक्ट्रॉनिकी, नियंत्रण तथा मार्गदर्शन संबंधी अन्वेषणों पर जोर दिया गया तथा प्राप्त फलों के अनुसार पृथ्वीतल से पृथ्वीतल, पृथ्वी से वायु, वायु से वायु तथा वायु से पृथ्वी पर मार करनेवाले, नियंत्रित प्रक्षेप्यास्त्रों के विकास का कार्यक्रम निश्चित किया गया।

इस चेष्टा के फलस्वरूप प्राप्त प्रक्षेप्यास्त्रों में एक का नाम एयरो बी (Acro-bee) है। इसका उपयोग ऐसे परियोजनों के निमित्त मौलिक आँकड़े एकत्रित करने के लिये किया गया, जिनमें हजारों मील प्रति घंटा की गति, सौ मील तक की ऊँचाई तथा बारह हजार मील तक का परास प्राप्त हो। पेंसिल की आकृति का यह प्रक्षेप्यास्त्र १५० फुट ऊँची मीनार से छोड़ा जाता था और इसका रॉकेट इंजिन, जिसमें तरल ईंधन प्रयुक्त होता था, एक मिनट से भी कम काल तक कार्य कर और लगभग ३,००० मील प्रति घंटा की गति उत्पन्न कर, इसे वायुमंडल में दीर्घ ऊँचाई पर पहुँचा देता था। एयरो बी की लंबाई २१ फुट तथा ६ फुट लंबे वर्धक (booster) सहित भार १,५०० पाउंड से अधिक होता था और यह पृथ्वीतल से ७० मील तक की ऊँचाई तक पहुँच जाता था।

ध्वनि से कम गतिवाले प्रक्षेप्यास्त्रों में ऊपर उठने के लिये मुख्य पक्षों की, अनुदैर्घ्य अक्ष पर स्थिरता के लिये किसी प्रकार के स्थायी-

कारी की तथा सहपक्षों (aelerons) और/या पतवारों तथा उत्थापकों द्वारा नियंत्रण की आवश्यकता होती है। जेट तथा रॉकेट से चालित प्रक्षेप्यास्त्रों की गति शीघ्र ही पराध्वनिक हो जाती है। इन्हें वायु में सँभालने के लिये कम वायुगतिकीय (aerodynamic) पृष्ठों की आवश्यकता होती है। इनके पुच्छ भाग में स्थायीकारक पक्ष (fins) मुख्यतः आवश्यक होते हैं। जब तक प्रक्षेप्यास्त्र वायुमंडल में रहता है, केवल तब तक पतवार तथा उत्थापकों (elevators) की आवश्यकता क्षैतिज तथा ऊर्ध्वाधर तलों में शीर्ष का दिशा-परिवर्तन करने के लिये पड़ती है। उस गति के प्राप्त करने के पूर्व जब वे तल कार्यकारी हो जाते हैं तथा प्रक्षेप्यास्त्र के वायुमंडल के बाहर पहुँच जाने के पूर्व, मुख्य जेट में स्थित विक्षेफलकों द्वारा या जेट की दिशा बदलकर, नियंत्रण करना आवश्यक होता है।

पराध्वनिक गति प्राप्त हो जाने पर, नियंत्रित प्रक्षेप्यास्त्रों के बहिस्तलों का ऊष्मारोधी धातुओं से बना होना आवश्यक होता है, अन्यथा वायुघर्षण से गरम होकर ये अपकप या ऑक्सीकृत हो जाएँगे। इस प्रकार की उच्च गति जेट नोदन से प्राप्त होती है। जेट इंजिनों में ज्वलन की गैसों से प्रणोद (thrust) उसी प्रकार प्राप्त होता है जैसे बच्चों के खिलौना गुब्बारे में भरी वायु के सहसा निकल जाने से। यों तो इंजिन के धारक पात्र के अंदर की सब दीवारों पर गैसों के अविलंब ज्वलन से दाब पड़ती है, पर जो प्रणोद प्रक्षेप्यास्त्र को गति देता है, उसकी उत्पत्ति जेट इंजिन के पुच्छ भाग में ज्वलन गैसों के बाहर निकल जाने के लिये बने छिद्रों से विपरीत दिशा में स्थित, इंजिन की दीवार पर पड़े दबाव के कारण होती है।

संमिश्र ईंधन के विस्फोट के लिये वायु की आवश्यकता नहीं होती। इंजिन की खोल (Casing) के अग्रपृष्ठ पर ऐसे विस्फोट द्वारा पड़नेवाले प्रणोद या धक्के से ही प्रक्षेप्यास्त्र को गति मिलती है। इसलिये जेट से चालित प्रक्षेप्यास्त्र बहिरंतरिक्ष में भी, जहाँ वायु नहीं होती, यात्रा कर सकता है।

जेट इंजिनों के विभेद — ये इंजिन मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं : (१) रॉकेट तथा (२) वायुनली (Airduct) वाले। जैसा ऊपर कहा गया है, रॉकेट के कार्य में वायु की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि इसमें ईंधन और उसका दाहक, दोनों उपस्थित रहते हैं। ऐल्कोहल—तरल ऑक्सीजन संयुक्त प्रणोदक, जिसका प्रयोग वी—२ रॉकेट में किया गया, साधारणतः ऐसे ईंधन के रूप में प्रयुक्त होता है।

वायुनलिक वाले जेट तीन प्रकार के, अर्थात् टर्बोजेट (Turbo Jets), स्पंद जेट (Pulse Jets) तथा रैमजेट (Ram Jets), होते हैं। ये तीनों जेट वायुमंडल में से गुजरते हुए, रॉकेट के अग्रभाग में स्थित एक नलिका द्वारा वायु को खींच लेते हैं। इस वायु का संपीडन हो जाता है और यह रॉकेटों में भरे ईंधन, पैसोलीन या किरोसीन तेल, को जला देती है। रॉकेटों की तुलना में वायुनलिका प्रकार का इंजिन इसलिये अधिक सुविधाजनक तथा सस्ता होता है क्योंकि इनमें ईंधन को जलाने के लिये वायु काम में आती है तथा इस कार्य के लिये ईंधन के साथ अन्य ऑक्सीकारक पदार्थ भी नहीं लादना पड़ता। इस कारण कम भार के ईंधन में आवश्यक प्रणोद उत्पन्न हो जाता है। यह स्पष्ट है कि वायुनलिका इंजिनवाले प्रक्षेप्यास्त्रों का प्रक्षेप पथ वायुमंडल के भीतर ही होगा, जबकि रॉकेट इंजिनवाले प्रक्षेप्यास्त्र अंतरिक्ष में यात्रा कर सकते हैं। वर्तमान काल में चंद्रमा तथा ग्रहों तक यात्रा करनेवाले सब प्रक्षेप्य यानों में रॉकेट इंजिनों का प्रयोग होता है।

प्रक्षेपण — स्पंद जेट तथा रैम जेट प्रकार के रॉकेटों को वायु में ऊपर उठने के लिये सहायता की आवश्यकता होती है, किंतु रॉकेट तथा टर्बो जेट प्रकार के इंजिनों में स्वप्रक्षेपण की शक्ति रहती है। फिर भी सामान्यतः सभी प्रकार के प्रक्षेप्यास्त्रों या प्रक्षेपयानों को वायुमंडल के उच्च स्तरों तक पहुँचाने के लिये गुलेल सदृश अपक्षेपी, तोप या जाटो (Jato) का प्रयोग किया जाता है। जाटो में ऐसे छोटे रॉकेटों से काम लिया जाता है जो प्रक्षेप्य के ऊपर पहुँच जाने पर स्वतः उससे अलग हो जाते हैं।

स्थायीकरण — प्रक्षेपण के समय प्रक्षेप्यास्त्र के अनुदैर्घ्य स्थायीकरण के लिये वायुगतिकीय स्थायीकारी तलों से काम लिया जाता है। बाद में प्रक्षेपण के पश्चात् प्रक्षेप्यास्त्र में अपने अक्ष पर घूर्णन उत्पन्न हो जा सकता है। यदि घूर्णन होने दिया जाय तो पतवार और उत्थापक नियंत्रण तल क्रमानुसार ऊर्ध्व तथा क्षैतिज समतलों में नहीं रह पाएँगे और मार्गदर्शन संभव नहीं होगा। नियंत्रण तथा मार्गदर्शन के समय इस घूर्णन को रोकने के लिये प्रक्षेप्यास्त्र में एक छोटा चबूतरा लगा रहता है, जिसके परितः प्रक्षेप्यास्त्र के अनुदैर्घ्य अक्षीय स्थितिसूचक संकेतों का उपयोग घूर्णन रोकने में काम आनेवाले वायुगतिकीय नियंत्रकों को कार्यकारी करने में किया जाता है। इस कृत्रिम चबूतरे का तल जाइरो (gyro) द्वारा इस प्रकार निर्धारित होता है कि किसी क्षण पृथ्वी के जिस बिंदु के ऊपर प्रक्षेप्यास्त्र उड़ रहा है उस बिंदु पर पृथ्वी के स्पर्शी समतल से चबूतरे का तल समानांतर रहे।

नियंत्रण — स्थायीकृत प्रक्षेप्यास्त्र का नियंत्रण चार प्रकार से होता है। प्रथम, अर्थात् 'पूर्वनिर्धारण' रीति में, प्रक्षेप्यास्त्र में स्थित यंत्रों को इस प्रकार नियोजित कर दिया जाता है कि अस्त्र निश्चित पथ पर चले। यदि वह इस पथ के बाहर चला जाता है, तो मार्गदर्शक यंत्रों से ऐसे संकेत निकलते हैं जो पतवार, या उत्थापक या दोनों की स्थितियों में परिवर्तन कर प्रक्षेप्यास्त्र को सही पथ पर ला देते हैं। दूसरी रीति को 'आज्ञा प्रणाली' (Command system) कहते हैं। इसमें प्रक्षेप्यास्त्र के पथ को नियंत्रण केंद्रों से रेडार द्वारा जाँचते रहते हैं। विपथगामी होने पर, रेडियो या रेडार संकेत द्वारा प्रक्षेप्यास्त्र का लक्ष्य तक मार्गदर्शन किया जाता है। तीसरी रीति, अर्थात् 'रश्मिदंड आरोहण' (Beam Riding) में कई केंद्रों से प्रक्षेप्यास्त्र तक युगपत् रेडियो संकेत भेजे जाते हैं। इनकी पहुँच के समयों की तुलना से एक विशेष यंत्र प्रक्षेप्यास्त्र की स्थिति का निर्णय, और यदि आवश्यक हो, तो पथपरिवर्तन कर उसे सही मार्ग पर ले जाता है। चतुर्थ प्रणाली 'लक्ष्यसिद्धि' (Homing) पद्धति कहलाती है। इस प्रणाली में प्रक्षेप्यास्त्र में स्थित यंत्र का मार्गदर्शन लक्ष्य से उत्सर्जित विद्युत्-चुंबकीय ध्वनि, ऊष्मा अथवा प्रकाशतरंगों से होता है। यह उत्सर्जन लक्ष्य से प्राकृतिक रूप से, अथवा उससे परावर्तन कराकर, प्राप्त हो

सकता है। ये चारों विधियाँ अलग अलग या संयुक्त रूप से काम में लाई जा सकती हैं, परंतु साधारणतः उड़ान के अधिकांश भाग में प्रथम तीनों में से किसी एक का प्रयोग किया जाता है और चतुर्थ प्रणाली यथार्थ लक्ष्यभेद के लिये काम आती है।

स्वयंचालित प्रक्षेप्यास्त्रों का महत्व — उच्चगति, दीर्घ परास, लक्ष्यप्राप्ति में अचूकता तथा स्वतःचालन की क्षमता आदि गुणों के कारण भविष्य के युद्धों में इन अस्त्रों की महत्ता तथा व्यापक उपयोगिता संभाव्य है, किंतु इनके उत्पादन में बड़ा खर्च होता है तथा इनके प्रयोग के लिये उच्च प्रशिक्षित प्रविधिज्ञों, विद्युत् उपकरणों से सज्जित उड़ान स्थलों (Launching sites), जनशक्ति तथा विपुल सामग्रियों की आवश्यकता होती है। ये सब राष्ट्रों के लिये साध्य नहीं हैं। ऐटम बम के विकास के पश्चात् इन बमों का उपयोग स्वयंचालित प्रक्षेप्यास्त्रों द्वारा भी संभव हो गया है। इसलिये उपरिलिखित कठिनाइयों के रहते हुए भी, ऐटम बम की अपरिमित विनाशकारी शक्ति से विपक्षी का ध्वंस करने के लिये भविष्य के युद्धों में इन प्रक्षेप्यास्त्रों का उपयोग अवश्यंभावी है।

प्रक्षेप्यास्त्रों से बचाव की रीतियाँ — प्रत्येक अस्त्र की मार से बचाव की रीति का आविष्कार आवश्यक है। स्वयंचालित प्रक्षेप्यास्त्रों से बचाव इसी जाति के ऐसे विरोधी प्रक्षेप्यास्त्र द्वारा ही संभव है जिसमें खोजने और लक्ष्यप्राप्ति के लिये मार्गदर्शन करानेवाली युक्तियाँ लगी हों। आक्रमणकारी प्रक्षेप्यास्त्र को वायुमंडल में ही ये विरोधी प्रक्षेप्यास्त्र खोज निकालेंगे और लक्ष्य तक पहुँचने के पूर्व ही उसे नष्ट कर देंगे। तलाश, लक्ष्य की पहचान तथा मार नियमन के लिये उन्नत रेडार यंत्र और नए प्रकार की वायुयाननाशक तोपें, जो आज से कहीं अधिक क्षिप्रता से काम करें, संभवतः बचाव के लिये उपयोगी सिद्ध हों। इन सब पर निरंतर और बड़े पैमाने पर खोज जारी है। [भ० दा० व०]

स्वयंचालित मशीनें (Automatic Machines) ऐसी मशीनें हैं जो मानव प्रयास के अभाव में भी किसी प्रचालन चक्र को पूर्णतः या अंशतः संचालित करती हैं। ऐसी मशीनें केवल पेशियों का ही कार्य नहीं करतीं वरन् मस्तिष्क का कार्य भी करती हैं। स्वयंचालित मशीनें पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से स्वयंचालित हो सकती हैं। वे निम्नलिखित प्रकार का कार्य कर सकती हैं :

१. माल तैयार करना
२. माल को सँभालना
३. माल का निरीक्षण करना
४. माल का संग्रह करना
५. माल को पैक करना

स्वयंचालित मशीनों के लाभ ये हैं : १. श्रम की लागत में कमी, २. उत्पादन समय में कमी अर्थात् नियमित समय में अधिक उत्पादन करना, ३. प्रचालक की आवश्यक कुशलता में कमी का होना, ४. तैयार माल के गुणों में सुधार, ५. अदल बदल में उत्कृष्टता, ६. प्रचालन भ्रांति में कमी का होना तथा ७. औजारों और उनकी व्यवस्था में कमी का होना।

इन लाभों के कारण जहाँ पहले केवल मनुष्यों से काम लिया जाता था, जैसे कार्यालयों, गृह और सड़क के निर्माणों, खनन, कृषि और कृषि के अन्य कामकाजों तथा अनेक उद्योग धंधों में, वहाँ अब स्वयंचालित मशीनें पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से कार्य कर रही हैं।

किसी संयंत्र में कितना स्वचालित अंश होगा, यह लागत, प्राप्यता और अन्य प्रतिबंधों (limitations) पर निर्भर करता है। किसी संयंत्र के समस्त भागों को या संयंत्र के किसी एक भाग को या किसी संयंत्र की अनेक मशीनों या विभागों को स्वयंचालित रखना संभाव्य और व्यावहारिक हो सकता है। कुछ संयंत्र ऐसे हो सकते हैं कि उनका कुछ अंश ही स्वयंचालित रखना व्यावहारिक हो सकता है। कुछ स्वयंचालित मशीनों के उदाहरण निम्नलिखित हैं :

१. पैक करने की मशीन — कारखाने के तैयार माल को पैक करने की अनेक स्वयंचालित मशीनें आज मिलती हैं। तैयार माल लपेटने के कागज, दफ्ती के डिब्बे आदि आवश्यक पदार्थ परिचालक द्वारा मशीन में डाल दिए जाते हैं और कागज के लपेटने, डिब्बे में भरने आदि पैक करने का सारा काम मशीन द्वारा ही होता है। यदि आवश्यक हो तो डिब्बे या खोल में रखी वस्तुओं की गिनती या भार नियंत्रित करने की भी व्यवस्था रहती है, जैसे सिगरेट बक्स में सिगरेट की संख्या, दियासलाई की डिबियों में लकड़ी की संख्या, टॉफी डिब्बे में टॉफी की संख्या इत्यादि।

२. बोतल भरने की मशीन — ऐसी अनेक प्रकार की मशीनें बनी हैं। इनमें बोतलों की सफाई, वांछित द्रवों (शर्बत, तेल, फलरस, शराब आदि) से भराई और मुहरलगाई आदि सब कार्य स्वतः होते हैं।

३. डिब्बाबंदी मशीन — खाद्य या अन्य पदार्थों को डिब्बे में बंद करने का समस्त कार्य आज स्वयंचालित मशीनों द्वारा होता है। इसमें वांछित पदार्थों को डिब्बे में भरना, मोहर लगाना और पैक करना सब संमिलित है।

४. कार्यालय मशीन — आधुनिक कार्यालयों में काम करनेवाली अनेक स्वयंचालित मशीनें — लिखने की, पुनरुत्पादन की, पंजीकृत करने की, गणना करने की, संगणक आदि बनी हैं। इन मशीनों में नकद कारबार का अंकन भी होता है, पुर्जे छप जाते हैं, रुपया निकालने का काम भी होता है। संगणक में सामान्य जोड़ने घटाने के अतिरिक्त अनेक पेचीदी गणनाओं का हल भी निकल आता है। संगणक अनेक काम कर सकते हैं पर ये बहुत कीमती होते हैं। उनका प्रचलन इतना सामान्य नहीं है। इनके अतिरिक्त सूत कातने, कपड़ा बुनने, फसल काटने और तौलने आदि की भी स्वयंचालित मशीनें बनी हैं।

भिन्न भिन्न प्रकार के उद्योग धंधों में काम आनेवाली जो अनेक प्रकार की विशिष्ट मशीनें आज बनी हैं उन सब का वर्णन यहाँ संभव नहीं है।

धातु शिल्प उद्योगों में काम आनेवाली स्वयंचालित मशीनें — गुल्लियाँ और साँचे पहले जहाँ हाथों से बनते थे वहाँ वे अब

मशीनों से बनने लगे हैं। तार खींचना, बहिर्वेधन (extrusions) आदि सब काम स्वयंचालित मशीनों से होते हैं। धातु की चादरें, डाई आदि बड़ी मात्रा में बनते और संपीडित वायु द्वारा बाहर निकाल फेंके जाते हैं।

मशीनी औजारों में स्वचालन का प्रचलन बहुत बढ़ गया है। इनसे लागत में बहुत कमी होती है।

खराद और पेंच मशीन — इनका उपयोग छड़ या चक्का (Chuck) बनाने में होता है। चक्का बनाने में हाथ से पदार्थ डाला जाता है तथा काम आरंभ होता है और विभिन्न सरकों (Slides) की गति स्वयंचालित होती एवं चाल और भरण स्वतः नियन्त्रित होता है। लादने और उतारने को छोड़कर अन्य सब कार्यों के चक्र स्वयंचालित होते हैं।

दूसरे प्रकार के औजार में मशीन में छड़ का भरण होता और समस्त चक्र तब तक स्वयंचालित होता है जब तक समान छड़ खतम नहीं हो जाता। अब नवीन छड़ डालकर चक्र पुनः चालित होता है।

मशीन एक टकुआवाली या बहुटकुआवाली हो सकती है। बहुटकुआवाली मशीन में कई छड़ भ्रमित होते हैं और साथ साथ मशीन का कार्य चलता रहता है।

स्वयंचालित मशीनी औजारों के अन्य उदाहरण हैं — पेषण चक्की, गियर काटने की मशीन, मिलिंग मशीन, छेदने की मशीन इत्यादि।

प्रतिलिपि मशीन (प्रतिलिपित्र) — खराद और पेषण के लिये यदि परिचालन को बार बार करना पड़ता है, तो यह कार्य परिचालक के लिये बहुत थकानेवाला और उकतानेवाला होता है। ऐसे स्थान में प्रतिलिपि का वैसा ही नमूना प्राप्त करने के लिये इसका उपयोग बहुत सामान्य हो गया है और इसमें पदार्थ की बड़ी यथार्थ प्रतिलिपि प्राप्त होती है।

रूपद (टेंपलेट, Template) के संसर्ग में कंटिका (Stylus) मशीन स्लाइडों को चालू करता है और औजार वांछित मार्ग का अनुसरण करते हुए समोच्च रेखा (Contour) का पुनरुत्पादन करते हैं। कंटिका इन वैद्युतीय या द्रवचालित युक्तियों (Hydraulic devices) को प्रचालित (operate) कर सकती है जो मशीन स्लाइडों को चलानेवाली मोटरों को नियंत्रित करती है।

स्थानांतरण मशीन — ये पूर्ण स्वचालन मात्रा (Degree of automation) की विशिष्ट मशीनें हैं। इनकी समाकलित (integrated) उत्पादनरेखा में स्वयंचालित मशीनों के साथ स्थान स्थान से सरल रेखा में सूचक (Indexing) अथवा स्थायक (Fixtured) भागों का संयोजन (Combination) उत्पादनदर बहुत अधिक है और व्यवहारतः वर्क पीस (Work piece) तलों की संख्या की कोई सीमा नहीं है, जिन्हें मशीनित किया जा सकता है। क्योंकि युक्तियाँ मशीनगत प्रचालनों को पूर्ण करने के लिये अभिविन्यस्त (Orienting) या वर्क पीसों को निकालने के लिये अपनाई जा सकती हैं। ये मशीनें प्रायः द्रवचालन से संचालित होती हैं अथवा वैद्युतीय विधि से नियन्त्रित होती हैं।

स्थानांतरण मशीनों का प्रमापन — मशीन चलते समय विशिष्ट मशीनों में यथार्थता का निर्दिष्ट नियन्त्रण वांछित है। चूँकि बहुत से प्रचालन होते हैं अतः स्थानांतरण मशीनों में कुछ अंतरप्रक्रम और बहिर्प्रक्रम प्रमापन प्रविधियों का उपयोग होता है। ढली हुई वस्तुओं और मशीनित तलों की जाँच तथा विभिन्न भागों की स्वतः अस्वीकृति भी रहती है।

संख्यात्मक रूप से नियंत्रित मशीन औजार — ऐसी मशीनों में मशीन स्लाइडों के स्थिर गुटका सेटिंग (manual setting) स्वचालित सेटिंग से बदल (Replace) दी जाती हैं। मशीन स्लाइड की गति नियन्त्रित करनेवाली 'हाथ चक्र' नियमन मोटर (Servomotor) से बदल दी जाती है। मशीन पर निर्देश छिद्रित पत्रक (punched cards) या टेप (फीता) या चुंबकीय टेप द्वारा संकेतों में लिखे रहते हैं। ये आदेश वैद्युतीय संकेतों में बदल कर नियन्त्रक इकाई द्वारा सर्वोमोटर तक पहुँचा दिए जाते हैं। सर्वोमोटर इस इकाई से संकेत पाने पर संकेत द्वारा निर्देशित मात्रा और दिशा में अपने नियन्त्रणाधीन स्वनियन्त्रित मशीन स्लाइडों को घुमा देता है। मशीन की यह प्रणाली तुलना की जानेवाली सारणियों (tables) को हर समय की वास्तविक आदेश स्थिति को बताती है और आवश्यक संशोधन स्वयं हो जाते हैं। एकत्रित संख्यात्मक आँकड़े मशीन औजारों के लिये कई दृष्टियों से लाभप्रद हैं :

(१) तेज उत्पादन दर,

(२) जिग्स (Jigs), फिक्सचर्स (Fixtures), टेंपलेट और प्रतिरूप (model) का निराकरण,

(३) आर्थिक व्यापारिक निर्माण,

(४) स्थापन (Set up) के समय और चक्र (Cycle) के समय में कमी तथा

(५) अल्प खुरच (Scrap), क्योंकि मानवीय त्रुटियों का लगभग निराकरण हो जाता है।

संख्यात्मक नियन्त्रण के लिये जो मशीन औजार लिए गए हैं वे ये हैं — जिग वेधन मशीनें, पेषण तथा खराद मशीनें।

स्वयंचालित मशीनों पर नियन्त्रण के प्रकार — १. यांत्रिक युक्तियाँ—गीयर, लीवर, पेंच, कैम (Cams) तथा ग्राम (Clutches) हैं।

मशीन के विभिन्न प्रचालनों के नियंत्रणार्थ ये युक्तियाँ सरलतम तथा सामान्य हैं। ये स्वयंचालित भरण (feeding) में तथा दाबयन्त्र (Presses) और पेंचमशीनों के विभिन्न पुर्जों के हटाने में भी प्रयुक्त होती हैं। कैम विभिन्न स्लाइडों की गति को नियंत्रित करते हैं तथा स्वयंचालित खराद मशीनों का संभरण करते तथा उन्हें गति प्रदान करते हैं।

(२) द्रवचालित युक्तियाँ — विभिन्न मशीन स्लाइडों का स्वचालित संचालन किसी बेलन के भीतर कार्य कर रहे तेल-दाब से होता है।

अनुरेखक नियन्त्रण — कंटिका टेंपलेट का अनुसरण करती

है और औजारों की गति कंटिका द्वारा द्रवचालित या वैद्युतीय युक्तियों से नियंत्रित की जाती है। अनुरेखक नियंत्रण एक, दो या तीन विमाओं (dimensions) में कार्य कर सकते हैं। एक दिशा में नियंत्रण खरादों पर होता है जहाँ औजार भीतर तथा बाहर पल्याण (Saddle) के साथ गति करता है। अंस (shoulder) में पल्याण का अनुदैर्ध्य संचलन स्वतः पकड़ में आ जाता है।

द्विविम अनुरेखक नियंत्रण या तो कर्तक (Cutter) को घुमाता है या समकोणिक दिशा में कार्य करता है। टेंपलेट के संपर्क का कंटिका, विक्षेप की दिशा और मात्रा के अनुपात में संकेत भेजता है। इलेक्ट्रानीय (Electronic) युक्ति दो संभरण (two feed) मोटरों की गति नियन्त्रित करते हैं ताकि मंच (table) की परिणामी (Resultant) गति कंटिका के साथ संसर्ग में टेंपलेट पर स्पर्शीय हो।

संख्यात्मक नियंत्रण — प्रतिलिपि विधि में, जैसा ऊपर कहा गया है, टेंपलेट या प्रतिकर का उत्पादन आवश्यक है जो स्वयं में कठिनाइयाँ और विलंब प्रस्तुत कर सकता है। इलेक्ट्रानीय नियंत्रण टेंपलेट या प्रतिकर के प्रयोग का निराकरण करता है तथा चुंबकीय और छिद्रित (Perforated) टेप द्वारा संचित सूचनाओं से विभिन्न भागों का यथार्थता से पुनरुत्पादन होता है। टेप पर अंकित सूचना की व्याख्या के तथा उचित समय पर m/c को संकेत भेजने के लिये उपयुक्त उपस्कर (equipment) की आवश्यकता होती है। ये संकेत m/c पर एक नियंत्रक युक्ति द्वारा ग्रहण किए जाते हैं जो m/c को आदेश पालन कराते हैं। m/c औजारों के संख्यात्मक नियंत्रण के दो प्रमुख वर्ग हैं :

(1) m/c औजार स्लाइडों का नियत स्थानीकरण अर्थात् कर्तन से पहले पूर्वनिर्धारित स्थानों पर औजारों का घुमाना, जैसे छेदन (Drilling), रीमिंग (Reaming) और वेधन (Boring)।

२. बहुत सी स्लाइडों का सतत नियंत्रण जहाँ उनकी आपेक्षिक स्थितियाँ और वेग अवश्य नियंत्रित होने चाहिए। यह वक्र तलों को मशीनित करने के लिये प्रयुक्त होता है जहाँ औजार हमेशा चलते रहना चाहिए जिसमें मशीन वांछित वक्र बनाती रहे।

इन दोनों प्रणालियों में कुछ बुनियादी साम्य हैं जिनमें ४ तत्व मुख्य हैं —

१. निविष्ट (In put) युक्ति
२. मापन
३. तुलना
४. सर्वो (Servos) की स्थिति

मशीनिंग के लिये पूरी सूचना 'प्रक्रम इंजीनियर' द्वारा तैयार की जाती है ताकि मशीन की सभी गतियाँ पूर्व निर्धारित रहें और मशीन परिचर (attendant) पर आश्रित न हो।

इसमें निम्न सोपान हैं —

१. सभी यांत्रिक विवरणों को ज्ञात करना — यथा, कर्तक का प्रकार, कर्तन का क्रम (Order) और कर्तनों की संख्या।

२. उपयुक्त दत्त (Datum) से सभी प्रमुख विमाओं का परिकलन (calculation)

द्विविम नियंत्रण हेतु सभी बिंदुओं के x और y निर्देशांकों (Coordinates) की गणना चुने हुए दत्त से कर ली जाती है। यह पार्ट (Part) के ब्लू प्रिंट (Blue print) से प्राप्त होता है।

३. कार्यक्रम निर्धारण — मशीनिंग के लिये विस्तृत निर्देश अंकों और शब्दों का प्रयोग कर संकेतों (Codes) में तैयार किए जाते हैं।

कर्तक के व्यास, कर्तक-भरण-दर और नियंत्रण दर आदि की रचना के लिये संकेत प्रयुक्त होते हैं।

४. ये निर्देश विशिष्ट भाषा में कार्डों पर छिद्रित होते हैं। ये छिद्रित कार्ड एक परिकलन यंत्र (Computor) में छोड़े जाते हैं जो कागज के टेप पर बने छिद्रित छेदों में विशिष्ट भाषा का अनुवाद कर देते हैं। यदि बीच की स्थितियों की सूचना की आवश्यकता पड़ती है तो टेप, परिकलनयंत्र पर लगा दिया जाता है जो कर्तक की निर्देशांक स्थिति का गणना कर देता है, वह फिर चुंबकीय टेप पर लपेट दिया जाता है जिसका उपयोग निविष्ट माध्यम की तरह m/c औजार नियंत्रक ईकाई के लिये किया जाता है।

५. टेप पाठयाक सिरे पर लगाते हैं जो नियंत्रण इकाई या नियंत्रक को निर्देश भेजता है और बाद में मशीन स्लाइडों को नियंत्रित करता है। वही टेप बार बार प्रयुक्त हो सकता है और इस प्रकार चक्र (cycle) की पुनरावृत्ति होती रहती है।

प्रति संभरण (Feed back) — वांछित स्थिति से किसी विचलन को सही करने के लिये इसका प्रयोग होता है। यह वांछित मानं से m/c की च्युति (Drift) प्रवृत्ति को दूर करने का साधन है। उदाहरणतया यदि m/c मंच की स्थिति नियंत्रित की जाती है, तो प्रतिसंभरण नियंत्रक को वापसी संकेत भेजता है तथा आवश्यकता पड़ने पर संकेतों में शुद्धि की जाती है।

मंच स्थिति की त्रुटि निकाली जाती है तथा संकेत नियंत्रण इकाई को भेजे जाते हैं जो नियमन मोटर द्वारा मंच स्थिति को शुद्ध कर देते हैं।

मशीन औजारों के प्रयुक्त होने पर संख्यात्मक नियंत्रण, सभी कर्तक चालों, पूर्ण पथ, वर्क पीस के सापेक्ष कर्तक की संभरण दर तथा अन्य सहायक फलन (auxiliary function) यथा खरादन, कर्तन, तरल जोड़तोड़ (on and off) आदि के नियंत्रण हेतु, कार्य करता है।

[रा० नु०]

स्वयंभू ये अपभ्रंश भाषा के महाकवि थे। अभी तक इनकी तीन रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं — पउमचरिउ (पद्मचरित)। रिट्ठणेमिचरिउ (अरिष्ट नेमिचरित या हरिवंश पुराण) और स्वयंभू छंदस्। इनमें की प्रथम दो रचनाएँ काव्यात्मक तथा तीसरी प्राकृत-अपभ्रंश छंदशास्त्रविषयक है। ज्ञात अपभ्रंश प्रबंध काव्यों में स्वयंभू की प्रथम दो रचनाएँ ही सर्वप्राचीन, उत्कृष्ट और विशाल पाई जाती

है और इसीलिये उन्हें अपभ्रंश का आदि महाकवि भी कहा गया है। स्वयंभू की उपलब्ध रचनाओं से उनके विषय में इतना ही ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम मारुतदेव और माता का पद्मिनी था। स्वयंभू छंदस् में एक दोहा माउरदेवकृत भी उद्धृत है, जो संभवतः कवि के पिता का ही है। उनके अनेक पुत्रों में से सबसे छोटे त्रिभुवन स्वयंभू थे, जिन्होंने कवि के उक्त दोनों काव्यों को उनकी मृत्यु के बाद अपनी रचना द्वारा पूरा किया था। कवि ने अपने रिट्ठणेमिचरिउ के आरंभ में भरत, पिंगल, भामह और दंडी के अतिरिक्त बाण और हर्ष का भी उल्लेख किया है, जिससे उनका काल ई० की सातवीं शती के मध्य के पश्चात् सिद्ध होता है। स्वयंभू का उल्लेख पुष्पदंत ने अपने महापुराण में किया है, जो ई० सन् ९६५ में पूर्ण हुआ था। अतएव स्वयंभू का रचनाकाल इन्हीं दो सीमाओं के भीतर सिद्ध होता है।

स्वयंभू की रचनाओं में महाकाव्य के सभी गुण सुविकसित पाए जाते हैं, और उनका पश्चात्कालीन अपभ्रंश कविता पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। पुष्पदंत आदि कवियों ने उनका नाम बड़े आदर से लिया है। स्वयंभू ने स्वयं अपने से पूर्ववर्ती चउमुह (चतुर्मुख) नामक कवि का उल्लेख किया है, जिनके पद्धडिया, छंडनी, दुवई तथा ध्रुवक छंदों को उन्होंने अपनाया है। दुर्भाग्यवश चतुर्मुख की कोई स्वतंत्र रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। (देखिए पउमचरिउ, हिंदी अनु० सहित प्रकाशित भारतीय ज्ञानपीठ, काशी : अप० साहित्य — ह० कोछड़)।

स्वर (Voice) या कंठध्वनि की उत्पत्ति उसी प्रकार के कंपनों से होती है जिस प्रकार वाद्ययंत्र से ध्वनि की उत्पत्ति होती है। अतः स्वरयंत्र और वाद्ययंत्र की रचना में भी कुछ समानता है। वायु के वेग से बजनेवाले वाद्ययंत्र के समकक्ष मनुष्य तथा अन्य स्तनधारी प्राणियों में निम्नलिखित अंग होते हैं :

१. कंपक (Vibrators) इसमें स्वर रज्जुएँ (Vocal cords) भी संमिलित हैं।

२. अनुनादक अवयव (resonators) इसमें निम्नलिखित अंग संमिलित हैं :

क. नासा ग्रसनी (nasopharynx), ख. ग्रसनी (pharynx), ग. मुख (mouth), घ. स्वरयंत्र (larynx), च. श्वासनली और श्वसनी (trachea and bronchus) छ. फुफ्फुस (lungs), ज. वक्षगुहा (thoracic cavity)।

३. स्पष्ट उच्चारक (articulators) अवयव — इसमें निम्नलिखित अंग संमिलित हैं : क. जिह्वा (tongue), ख. दाँत (teeth), ग. ओठ (lips), घ. कोमल तालु (soft palate), च. कठोर तालु (hard palate)।

स्वर की उत्पत्ति में उपर्युक्त अवयव निम्नलिखित प्रकार से कार्य करते हैं : फुफ्फुस जब उच्छ्‌वास की अवस्था में संकुचित होता है, तब उच्छ्‌वसित वायु वायुनलिका से होती हुई स्वरयंत्र तक पहुँचती है, जहाँ उसके प्रभाव से स्वरयंत्र में स्थित स्वररज्जुएँ कंपित होने लगती हैं, जिसके फलस्वरूप स्वर की उत्पत्ति होती है। ठीक इसी समय अनुनादक अर्थात् स्वरयंत्र का ऊपरी भाग, ग्रसनी, मुख तथा नासा अपनी अपनी क्रियाओं द्वारा स्वर में विशेषता तथा मृदुता उत्पन्न करते हैं। इसके उपरांत उक्त स्वर का शब्द उच्चारण में रूपांतर उच्चारक अर्थात् कोमल, कठोर तालु, जिह्वा दाँत तथा ओंठ करते हैं। इन्हीं सब के सहयोग से स्पष्ट शुद्ध स्वरों की उत्पत्ति होती है।

स्वरयंत्र — यह पेशी तथा स्नायुजाल से बँधी उपास्थियों (cartilages) के जुड़ने से बनी रचना है। यह एक ऊपर नीचे छिद्रवाला मुकुटाकार रचना है जो गले के संमुख भाग में श्वासनली के शिखर पर रहता है और जिसके द्वारा श्वासवायु का प्रवेश होता है तथा कंठ से स्वर निकलता है। यह पेशियों से घिरा रहता है तथा त्वचा के नीचे अनुभव भी किया जा सकता है। यह ऊपर कंठिकास्थि और नीचे श्वासनली से मिला है। स्वरयंत्र नौ उपास्थियों से बना है जिनमें तीन एकल बड़ी उपस्थियाँ और तीन युग्म उपस्थियाँ होती हैं।

अवटु (thyroid) उपास्थि — यह स्वरयंत्र की प्रधान उपास्थि है, जिसका आकार फैले हुए युग्म पंख के समान होता है। इसका बाहर से उभार युवावस्था में, विशेषकर पुरुषों में दिखाई देता है। इसके दोनों पंख मध्यरेखा के दोनों ओर हैं और संमुख में कोण बनाकर पीछे की ओर फैले हुए हैं। इसके ऊपर नीचे दो शृंग (horns) हैं। ऊपर के शृंगों में कंठिकास्थि के दोनों पार्श्व जुड़े हैं तथा नीचे के दोनों शृंग वलय उपास्थि से मिलते हैं। दोनों पंखों के संधिकोण के ऊर्ध्व भाग में कंठच्छद (epiglottis) का मूलस्थान है। इन सब रचनाओं के चारों तरफ छोटी बड़ी मांसपेशियाँ आच्छादित रहती हैं।

वलय (Cricoid) उपास्थि — यह स्वरयंत्र के नीचे की उपास्थि है जिसका आकार अँगूठी के समान होता है। इसके दो भाग होते हैं जिनमें संमुख का भाग पतला और गोल है और पीछे का भाग स्थूल और चौड़ा है। संमुख भाग के ऊपर की ओर अवटु उपास्थि का निम्नभाग और नीचे की ओर श्वासनली का ऊर्ध्वभाग श्लेष्म झिल्ली द्वारा जुड़ा रहता है। पश्चिम भाग के पीछे मध्य रेखा में अन्ननली का संमुख भाग है। इसके दोनों ओर मांसपेशियाँ आच्छादित हैं।

इसी प्रकार स्वरयंत्र की अन्य प्रमुख उपास्थियों में कुंभकार (arytenoid) उपास्थि, कीलक (cuneiform) उपस्थि तथा शृंगी (Corniculate) उपास्थि हैं, जो चारों तरफ से मांसपेशियों से बँधी रहती हैं तथा स्वर की उत्पत्ति में सहायक होती हैं।

रज्जुएँ — ये संख्या में चार होती हैं जो स्वरयंत्र के भीतर सामने से पीछे की ओर फैली रहती हैं। यह एक रेशेदार रचना है जिसमें अनेक स्थितिस्थापक रेशे भी होते हैं। देखने में उजली तथा चमकीली मालूम होती है। इसमें ऊपर की दोनों तंत्रियाँ गौण तथा नीचे की मुख्य कहलाती हैं। इनके बीच में त्रिकोण अवकाश होता है जिसको कंठद्वार (glottis) कहते हैं। इन्हीं रज्जुओं के खुलने और बंद होने से नाना प्रकार के विचित्र स्वरों की उत्पत्ति होती है।

स्वर की उत्पत्ति में स्वररज्जुओं की गतियाँ (movements)—

श्वसन काल में रज्जुद्वार खुला रहता है और चौड़ा तथा त्रिकोणाकार होता है। साँस लेने में यह कुछ अधिक चौड़ा तथा श्वास छोड़ने में कुछ संकीर्ण हो जाता है। बोलते समय रज्जुएँ आकर्षित होकर परस्पर सन्निकट आ जाती हैं और उनका द्वार अत्यंत संकीर्ण हो जाता है। जितना ही स्वर उच्च होता है, उतना ही रज्जुओं में आकर्षण अधिक होता है और द्वार उतना ही संकीर्ण हो जाता है।

स्वरयंत्र की वृद्धि के साथ साथ स्वररज्जुओं की लंबाई बढ़ती है जिससे युवावस्था में स्वर भारी हो जाता है। स्वररज्जुएँ स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक लंबी होती हैं।

स्वर की उत्पत्ति — उच्छ्‌वसित वायु के वेग से जब स्वर रज्जुओं का कंपन होता है तब स्वर की उत्पत्ति होती है। यहाँ स्वर एक ही प्रकार का उत्पन्न होता है किंतु आगे चलकर तालु, जिह्वा, दंत और ओष्ठ आदि अवयवों के संपर्क से उसमें परिवर्तन आ जाता है। स्वररज्जुओं के कंपन से उत्पन्न स्वर का स्वरूप निम्नलिखित तीन बातों पर निर्भर करता है :

१. प्रबलता (loudness) — यह कंपन तरंगों की उच्चता के अनुसार होती है।

२. तारत्व (Pitch) — यह कंपन तरंगों की संख्या के अनुसार होता है।

३. गुणता (Quality) — यह गुंजनशील स्थानों के विस्तार के अनुसार बदलता रहता है और कंपन तरंगों के स्वरूप पर निर्भर होता है। [प्रि० कु० चौ०]

स्वरक्त चिकित्सा (Autohamemic Therapy) रोगी की शिरा से रक्त लेकर इसे सुई द्वारा उसकी मांसपेशी में प्रविष्ट कराने को कहते हैं। कई रोगों में यह चिकित्सा लाभप्रद सिद्ध हुई है। रक्त एक बार शरीर से बाहर निकलने के बाद शरीर में पुन: जाने पर विजातीय प्रोटीन जैसा व्यवहार करता है। यह विश्वसनीय अविशिष्ट प्रोटीन चिकित्सा का अंग बन गया है। सुई से शरीर में रक्त प्रविष्ट कराने पर शरीर में प्रतिक्रिया होती है जिससे ज्वर आ जाता है, सर्दी मालूम होती है और प्यास लगती है। श्वेत रुधिर-कणों की संख्या बढ़ जाती है पर शीघ्र ही उनका ह्रास होकर लाल रुधिर कणों की संख्या सहसा बढ़ जाती है। इससे शरीर की शक्ति एवं प्रतिरोध क्षमता बढ़ जाती है जिससे रोग में आराम होने लगता है। कहीं कहीं इसका परिणाम स्थायी और कहीं कहीं अस्थायी होता है। जीर्ण एवं तीव्र श्वास रोग में यह लाभकारी सिद्ध हुआ है। अम्लपित्त, नेत्ररोग, त्वचा के रोग और एलर्जी में यह अच्छा कार्य करता है। एक घन सेमी रुधिर सुई से दे सकते हैं। रुधिर की अल्पमात्रा की सुई शरीर की किसी भी मांसपेशी में दे सकते हैं किंतु चार या इससे अधिक घन सेमी रक्त की सुई केवल नितंब की मांसपेशी में ही देते हैं। सुई एक दिन के अंतर पर ही दी जाती है। [प्रि० कु० चौ०]

स्वरूप दामोदर गोस्वामी इनके पिता पद्मगर्भाचार्य थे। इनका जन्म नवद्वीप में सं० १५४१ में हुआ और नाम पुरुषोत्तम रखा गया। यही संन्यास लेने पर स्वरूप दामोदर नाम से विख्यात हुए। यह श्रीगौरांग के सहाध्यायी तथा परम मित्र थे और उनपर बड़ी श्रद्धा रखते थे। श्रीगौरांग के अंतिम बारह वर्ष राधा-भाव की महाविरहावस्था में बीते थे और इस काल में श्री स्वरूप-दामोदर तथा राय रामानंद ही उन्हें सँभालते। इनके सुमधुर गायन से वह परम तृप्त होते थे। श्रीगौर के अप्रकट होने पर यह भी शीघ्र ही नित्यलीला में पधारे। इन्होंने गौरलीला पर एक काव्य लिखा था पर वह अप्राप्य है। कुछ श्लोक चैतन्य चरितामृत में उद्धृत हैं। [ब्र० र० दा०]

स्वरूपाचार्य अनुभूति स्वरूपाचार्य को सारस्वत व्याकरण का निर्माता माना जाता है। बहुत से वैयाकरण इनको सारस्वत का टीकाकार ही मानते हैं। इनकी पुष्टि में जो तथ्यपूर्ण प्रमाण मिलते हैं उनमें क्षेमेंद्र का प्रमाण सर्वोपरि है। मूल सारस्वतकार कौन थे इसका पता नहीं चलता।

सारस्वत पर क्षेमेंद्र की प्राचीनतम टीका मिलती है। उसमें सारस्वत का निर्माता 'नरेंद्र' माना गया है। क्षेमेंद्र सं० १२५० के आसपास वर्तमान थे। उसके बाद अनुभूति स्वरूपाचार्यकृत 'सारस्वतप्रक्रिया' नामक ग्रंथ पाया जाता है। ग्रंथ के नामकरण से ही मूल ग्रंथकार का खंडन हो जाता है। फिर भी आज तक पूरा वैयाकरणसमाज अनुभूतिस्वरूपाचार्य को ही सारस्वतकार मानता आ रहा है।

पाणिनि व्याकरण की प्रसिद्धि का स्थान लेने के लिये ही स्यात् 'सारस्वतप्रक्रिया' का निर्माण किया गया था। सचमुच यह उद्देश्य अत्यंत सफल रहा। देश के कोने कोने में 'सारस्वतप्रक्रिया' का पठनपाठन चल पड़ा। अतएव अनुभूति स्वरूपाचार्य को टीकाकार तक ही सीमित न रखकर मूलकार के रूप में भी प्रतिष्ठापित किया गया।

अनुभूति स्वरूपाचार्य की प्रक्रिया के अनुकरण पर अनेक टीकाग्रंथों का निर्माणप्रवाह चल पड़ा। परिणामत: सारस्वत व्याकरण पर १८ टीकाग्रंथ बनाए गए, परंतु अनुभूति स्वरूपाचार्य की प्रक्रिया टीका के आगे सभी टीकाएँ फीकी पड़ गईं। इन्होंने सं० १३०० के लगभग 'सारस्वत प्रक्रिया' का निर्माण किया था। लोकश्रुति है कि सरस्वती की कृपा से व्याकरण के सूत्र मिले थे। अतएव 'सारस्वत' नाम सार्थक माना गया।

सारस्वत प्रक्रिया का प्रभाव उत्तरवर्ती टीकाग्रंथों में स्वीकार किया गया है।

स्वर्ग (ईसाई दृष्टि से) ईसाई विश्वास के अनुसार मनुष्य की सृष्टि इस उद्देश्य से हुई थी कि वह कुछ समय तक इस संसार में रहने के बाद सदा के लिये ईश्वर के परमानंद का भागी बन जाय। ईश्वर के इस विधान में पाप के कारण बाधा उत्पन्न हुई किंतु ईसा ने सभी पापों का प्रायश्चित्त करके मानव जाति के लिये मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है (दे० मुक्ति)। जो मनुष्य मुक्ति का अधिकारी बनकर मरता है वह स्वर्ग पहुँच जाता है, अत: स्वर्ग मुक्ति की उस परिपूर्णता का नाम है, जिसमें मनुष्य ईश्वर

का साक्षात्कार पाकर ईसा तथा स्वर्गदूतों के साथ ईश्वरीय परमानंद का भागी बन जाता है।

बाइबिल की प्रतीकात्मक शैली में स्वर्ग अथवा पैराडाइज को ईश्वर के निवासस्थान के रूप में चित्रित किया गया है (दे० पैराडाइज) किंतु कहाँ तक उसे एक निश्चित स्थान मानना चाहिए, यह स्पष्ट नहीं है। इतना ही निश्चित है कि स्वर्गवासी मनुष्यों का शरीर महिमामंडित है, वह शुद्ध भौतिक आवश्यकताओं तथा इंद्रियग्राह्य सुखों के ऊपर उठ चुका होता है और एक अनिर्वचनीय आध्यात्मिक आनंद में विभोर रहता है। [का० बु०]

स्वर्ग (जैन) धार्मिक मान्यताओं के आधार पर लोक दो माने गए हैं — इहलोक जिसे मृत्युलोक कहते हैं, तथा परलोक जिसके अंतर्गत नरक, स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदि आते हैं। चूँकि स्वर्ग में देवगण रहते हैं, उसे देवलोक कहा गया है। जैनमतानुसार देवताओं के चार निकाय अर्थात् चार जातियाँ हैं —

१. भवनपति, २. व्यंतर, ३. ज्योतिष्क, और ४. वैमानिक। इन सभी के क्रमश: दस, आठ, पाँच और बारह भेद हैं। वैमानिक देवताओं के दो रूप होते हैं — कल्पोत्पन्न तथा कल्पातीत। ये ऊपर रहते हैं। इन सब के रहने के स्थान हैं— सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेंद्र, ब्रह्मलोक, लांतक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत तथा नव ग्रैवेयक और विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि, जिनमें से सौधर्म से लेकर अच्युत तक बारह स्वर्ग कहे गए हैं। सभी भवनपति जंबूद्वीप में स्थित सुमेरु पर्वत के नीचे, उसके उत्तर और दक्षिण लाखों योजनों में रहते हैं। व्यंतरदेव ऊर्ध्व, मध्य और अध: तीनों लोकों में भवन तथा आवासों में रहते हैं। और मनुष्यलोक में जो मानुषोत्तर पर्वत पर है, ज्योतिष्कदेव भ्रमण करते हैं। सौधर्म कल्प या सौधर्म स्वर्ग ज्योतिष्क के ऊपर असंख्यात योजन चढ़ने के बाद मेरु के दक्षिण भाग से उपलक्षित आकाश में स्थित है। उसके ऊपर किंतु उत्तर की तरफ ऐशान है। सौधर्म के समश्रेणी में सानत्कुमार है। ऐशान के ऊपर समश्रेणी में माहेंद्र है। इन दोनों के बीच में लेकिन ऊपर ब्रह्मलोक है। ब्रह्मलोक के ऊपर समश्रेणी में क्रमश: लांतक, महाशुक्र, और सहस्रार एक दूसरे के ऊपर हैं। इनके ऊपर आनत, प्राणत हैं। इनके ऊपर आरण और अच्युत कल्प हैं। फिर कल्पों के ऊपर नव विमान हैं। भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क तथा प्रथम और द्वितीय स्वर्ग के वैमानिक देवगण मनुष्यों की तरह शरीर से कामसुख भोगते और खुश होते हैं। तीसरे तथा चौथे स्वर्ग के देवता देवियों के स्पर्शमात्र से कामतृष्णा को शांत कर लेते हैं। पाँचवें और छठे स्वर्ग के देव देवियों के सजेधजे रूप को देखकर, सातवें और आठवें स्वर्ग के देव देवियों के शब्द सुनकर, तथा नवें दसवें, ग्यारहवें एवं बारहवें स्वर्गों के देवों को देवियों के संबंध में चिंतन मात्र से वैषयिक सुख की प्राप्ति होती है। पहले तथा दूसरे स्वर्ग में शरीर का परिमाण सात हाथ; तीसरे, चौथे में छह हाथ, सातवें आठवें में चार हाथ; नवें, दसवें, ग्यारहवें तथा बारहवें में तीन हाथ है। पहले स्वर्ग में बत्तीस लाख, दूसरे में अट्ठाईस लाख, तीसरे में बारह लाख, चौथे में आठ लाख, पाँचवें में चार लाख, छठे में पचास हजार, सातवें में चालीस हजार, आठवें में छह हजार, नवें से बारहवें तक में सात सौ विमान हैं। पहले और दूसरे स्वर्गों के देवों में पीतलेश्या, तीसरे से पाँचवें के देवों में पद्मलेश्या, तथा छठे से सर्वार्थसिद्धि पर्यंत के देवों में शुक्ल लेश्या पाई जाती है (तत्त्वार्थसूत्र, वाचक उमास्वाति, अध्याय चतुर्थ)। [बं० ना० सिं०]

स्वर्गदूत मनुष्य की सृष्टि के पूर्व ईश्वर ने अभौतिक एवं अशरीरी आत्माओं की सृष्टि की थी, ऐसा ईसाइयों का विश्वास है। ये आत्माएँ स्वर्गदूत, देवदूत अथवा फरिश्ते हैं। उनमें से एक दल ने शैतान के नेतृत्व में ईश्वर के प्रति विद्रोह किया था, वे नरक में डाले गए और नरक दूत कहलाए (दे० 'शैतान', 'नरक')।

बाइबिल में बहुत से स्वर्गों पर देवदूतों की चर्चा है यद्यपि उनमें से केवल तीन का नाम दिया गया है, अर्थात् गब्रीएल, राफाएल और मिकाएल (दे० ग्रबीएल)। देवदूत ईश्वर के सेवक हैं, वे उसकी महिमा का गुणगान करते हैं। समय समय पर उसके द्वारा भेजे जाकर यहूदी जाति की रक्षा करते हैं। उत्तरार्ध में वे ईसा के जन्म की घोषणा करते हैं और उनके अधीन रहकर अनेक प्रकार से मनुष्यों की मुक्ति के कार्य में सहायक बन जाते हैं। ईसा के मरण के बाद वे चर्च के प्रारंभिक काल में उनके शिष्यों की रक्षा करते हैं। कयामत के वर्णन में उनके विषय में लिखा है कि वे ईसा के साथ प्रकट हो जाएँगे। [का० बु०]

स्वस्तिक मंत्र यह मंत्र शुभ और शांति के लिये प्रयुक्त होता है। ऐसा माना जाता है कि इससे हृदय और मन मिल जाते हैं। मंत्रोच्चार करते हुए दर्भ से जल के छींटे डाले जाते थे तथा यह माना जाता था कि यह जल पारस्परिक क्रोध और वैमनस्य को शांत कर रहा है। गृहनिर्माण के समय स्वस्तिक मंत्र बोला जाता है। मकान की नींव में घी और दुग्ध छिड़का जाता था। ऐसा विश्वास है कि इससे गृहस्वामी को दुधारू गाएँ प्राप्त होती हैं एवं गृहपत्नी वीर पुत्र उत्पन्न करती है। खेत में बीज डालते समय मंत्र बोला जाता था कि विद्युत् इस अन्न को क्षति न पहुँचाए, अन्न की विपुल उन्नति हो और फसल को कोई कीड़ा न लगे। पशुओं की समृद्धि के लिये भी स्वस्तिक मंत्र का प्रयोग होता था जिससे उनमें कोई रोग नहीं फैलता था। गायों को खूब संतानें होती थीं।

यात्रा के आरंभ में स्वस्तिक मंत्र बोला जाता था। इससे यात्रा सफल और सुरक्षित होती थी। मार्ग में हिंसक पशु या चोर और डाकू नहीं मिलते थे। व्यापार में लाभ होता था, अच्छे मौसम के लिये भी यह मंत्र जपा जाता था जिससे दिन और रात्रि सुखद हों, स्वास्थ्य लाभ हो तथा खेती को कोई हानि न हो।

पुत्रजन्म पर स्वस्तिक मंत्र बहुत आवश्यक माने जाते थे। इससे बच्चा स्वस्थ रहता था, उसकी आयु बढ़ती थी और उसमें शुभ गुणों का समावेश होता था। इसके अलावा भूत, पिशाच तथा रोग उसके पास नहीं आ सकते थे। षोडश संस्कारों में भी मंत्र का प्रयो

कम नहीं है और यह सब स्वस्तिक मंत्र है जो शरीररक्षा के लिये तथा सुखप्राप्ति एवं आयुवृद्धि के लिये प्रयुक्त होते हैं।

[भ० सा० श०]

स्वामी, तैलंग इन तपस्वी महात्मा का जन्म दक्षिण भारत के विजियाना जनपद के होलिया नगर में हुआ था। बाल्यावस्था में इनका नाम तैलंगधर था। बचपन से ही आत्मचिंतन तथा वैराग्य की प्रवृत्ति देखी गई। माता की मृत्यु के पश्चात् जहाँ चिता लगी थी वहीं बैठ गए। पीछे लोगों ने वहीं कुटी बना दी। लगभग बीस वर्ष की योगसाधना के पश्चात् देशाटन में निकल पड़े। इसी देशाटन में पश्चिम प्रदेश के पटियाला नामक नगर में भाग्यवश भगीरथ स्वामी महाराज का दर्शन हुआ जिन्होंने इनको संन्यास दीक्षा दी। इसके पश्चात् बहुत दिनों तक नेपाल, तिब्बत, गंगोत्री, जमनोत्री, मानसरोवर आदि में कठोर तपस्या कर अनेक सिद्धियाँ भी प्राप्त कर लीं। रामेश्वरम्, प्रयाग, नर्मदाघाटी, उज्जैन आदि अनेक तीर्थ स्थानों में निवास और साधना करते हुए काशी पहुँचे। काशी में मणिकर्णिका, राजघाट, अस्सी आदि क्षेत्रों में रहने के बाद अंत में पंचगंगाघाट पर स्थायी रूप से रहने लगे, जहाँ आज भी तैलंग स्वामी मठ है। इस मठ में स्वामी जी द्वारा पूजित भगवान् कृष्ण का एक विचित्र विग्रह है जिसके ललाट पर शिवलिंग और सिर पर श्रीयंत्र खचित है। मंडप के २०–२५ फुट नीचे गुफा है जिसमें बैठकर स्वामी जी साधना करते थे। मठ की बनावट काफी पुरानी है। अनुमानतः माधव जी के मंदिर को तोड़कर मसजिद बनाने के समय से पूर्व वहाँ मठ बन चुका था। इसी मठ में विक्रमाब्द १९४४ की पौष शुक्ल ११ को स्वामी जी ब्रह्मीभूत हुए।

तैलंगधर स्वामी को काशी-प्रवास-काल में तैलंगी होने के कारण काशीवासी तैलंग स्वामी के नाम से पुकारने लगे। स्वामी जी जहाँ कहीं जाते कोई न कोई ऐसी घटना घटती जो अत्यंत चमत्कारपूर्ण होती और लोग घेरने लगते। भीड़ बढ़ते ही स्वामी जी वह स्थान छोड़कर कहीं अन्यत्र निर्जन स्थान में चल देते। मणिकर्णिका घाट पर दिनरात धूप और शीत में स्वामी जी पड़े रहते। उनका कहना था कि जीवित रहने के लिये प्राणवायु (oxygen) या किसी विशेष साधना, क्रम, उपक्रम या खूराक की जरूरत नहीं। सिद्ध साधक यौगिक साधना से घनीकृत तेजस द्वारा जीवित रहने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। अस्तु, उन्हें प्राकृतिक नियमों और क्रमों का अपघात करने में कठिनाई नहीं होती। मनोजय और कुंडलिनी जागरण द्वारा शरीर और प्राण को जैसा चाहे कर लेना साधारण सी बात है।

[श्री० च० पां०]

स्वामी रामतीर्थ वेदांत की जीती जागती मूर्ति थे। इनकी वाणी के शब्द शब्द से आत्मानुभूति का उल्लास टपकता है। केवल ३३ वर्ष की अल्पायु में कैसे इन्होंने आत्मज्ञान के प्रकाश से स्वदेश और विदेशों को आलोकित किया, यह एक चमत्कार जैसा है।

इनका जन्म सन् १८७३ की दीपावली के अगले दिन पंजाब के मुरारीवाला ग्राम में एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। सन् १८९१ में पंजाब विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा में प्रांत भर में सर्वप्रथम आए और गणित लेकर एम० ए० की परीक्षा में भी सर्वप्रथम रहे। गणित इनका अत्यंत प्रिय विषय था। उसकी तल्लीनता में ये दिन रात भूख प्यास सब भूल जाते थे।

अर्थाभाव की जिन विकट परिस्थितियों में इन्होंने विद्याध्ययन किया, वे हृदयविदारक हैं। इनका रहन सहन सीधा सादा था। मोटे कपड़े, सात्विक भोजन, एकांत निवास, ये ही इनकी आवश्यकताएँ थीं। शोक नाम की चीज तो इन्होंने कभी जानी नहीं।

तुलसी, सूर, नानक, आदि भारतीय संत, शम्स तबरेज, मौलाना रूमी आदि सूफी संत, गीता, उपनिषद्, षड्दर्शन, योगवासिष्ठ आदि के साथ ही पाश्चात्य विचारवादी और यथार्थवादी दर्शनशास्त्र, तथा इमर्सन, वाल्ट ह्विटमैन, थोरो, हक्सले, डार्विन आदि, सभी मनीषियों का साहित्य इन्होंने हृदयंगम किया था।

आध्यात्मिक साधना — दस वर्ष की अवस्था में इन्होंने भगत धन्नाराम को गुरु के रूप में वरण किया। वे बालब्रह्मचारी सिद्ध योगी थे। इन्होंने अपने गुरु के नाम एक सहस्र से अधिक पत्र लिखे हैं। वे पूर्ण आत्मसमर्पण के भाव से ओतप्रोत हैं। गुरुनिष्ठा से हृदय विकसित हुआ और वही भगवद्भक्ति में परिणत हो गई। इनके हृदय में अपने इष्ट कृष्ण के दर्शन की लालसा जाग्रत हुई। कृष्णविरह में रात रात भर रोते रहते। भक्ति की चरम सीमा होते ही कीटभृंगवत् ये अद्वैत स्तर पर आने लगे। इन्होंने अद्वैत वेदांत का अध्ययन और मनन प्रारंभ किया और अद्वैत-निष्ठा बलवती होते ही उर्दू में एक मासिक 'अलिफ' निकाला। इसी बीच उनपर दो महात्माओं का विशेष प्रभाव पड़ा — द्वारकापीठ के तत्कालीन शंकराचार्य और विश्वविख्यात स्वामी विवेकानंद।

संन्यास — सन् १९०० में स्त्री पुत्रों को भगवान् के भरोसे छोड़ ये गंगा और हिमालय की शरण में जा पड़े और तीर्थराम से स्वामी रामतीर्थ हो गए। ऋषिकेश से आगे तपोवन में आत्मचिंतन करते हुए ऐसी निर्विकल्प समाधि हुई कि उसके खुलते ही जो देखा, सो नया, सब अपनी ही आत्मा। सारी प्रकृति सजीव हो उठी। इन दिनों की उर्दू अंग्रेजी कविताएँ अद्वैतपरक काव्य के अनमोल रत्न हैं।

विदेशयात्रा — स्वामी राम ने जापान में लगभग एक मास और अमेरिका मे लगभग दो वर्ष तक प्रवास किया। जहाँ जहाँ पहुँचे, वहाँ लोगों ने एक अद्वितीय पावन संत के रूप में स्वागत किया। उनके स्वरूप में एक दिव्य चुंबकीय आकर्षण था, जो देखता, अपने को भूल सा जाता और एक शांतिमूलक चेतना का अनुभव करता। उनकी मधुर 'ॐ' ध्वनि भुलाए न भूलती थी। दोनों देशों में राम ने एक ही संदेश दिया—'आप लोग देश और विज्ञान के लिये सहर्ष प्राणों का उत्सर्ग कर सकते हैं। यह वेदांत के अनुकूल है। पर आप जिन सुख साधनों पर भरोसा करते हैं उसी अनुपात में इच्छाएँ बढ़ती हैं। शाश्वत शांति का एकमात्र उपाय है आत्मज्ञान। अपने आप को पहचानो, तुम स्वयं ईश्वर हो।

प्रत्यागमन — सन् १९०४ में स्वदेश लौटने पर लोगों ने राम से अपना एक समाज खोलने का आग्रह किया। राम ने बाँहें फैलाकर कहा, भारत में जितनी सभा समाजें हैं, सब राम की अपनी हैं। राम मतैक्य के लिये हैं, मतभेद के लिये नहीं। देश को इस

स्वामी विवेकानंद (देखें पृष्ठ २७५)
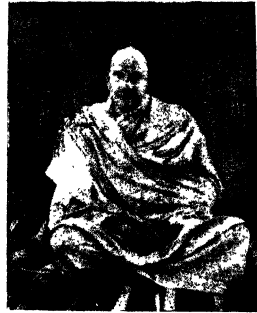
स्वामी अ[illegible]नंद (देखें पृष्ठ २७६)

आचार्य विनोबा भावे (देखें पृष्ठ ४२१)

लॉर्ड बर्ट्रेंड रसेल (देखें पृष्ठ ४२६)

सम्राट् हर्षवर्धन (देखें पृष्ठ ४५७)

सिकंदर (देखें पृष्ठ ४५५)

समुद्रगुप्त (देखें पृष्ठ ४५२)

जोज़फ़ स्तालिन (देखें पृष्ठ २३५)

अडोल्फ़ हिटलर (देखें पृष्ठ १६१)

समय आवश्यकता है एकता और संगठन की, राष्ट्रधर्म और विज्ञान साधना की, संयम और ब्रह्मचर्य की। सन् १९०६ में राम पुनः हिमालय और गंगा के साहचर्य में चले गए और दीपावली को 'ॐ ॐ' कहते हुए गंगा में चिर समाधि ले ली। राम के जीवन का हर पहलू आदर्शमय था, आदर्श विद्यार्थी, आदर्श गणितज्ञ, अनुपम सुधारक और अनुपम देशभक्त, महान् कवि और महान् संत।

सिद्धांत — स्वामी राम शंकर के अद्वैतवाद के समर्थक थे, पर उसकी सिद्धि के लिये उन्होंने स्वानुभव को ही महत्वपूर्ण माना है। वे कहते हैं — हमें धर्म और दर्शनशास्त्र भौतिकविज्ञान की भाँति पढ़ना चाहिए। पाश्चात्य दर्शन केवल जाग्रतावस्था पर आधारित हैं, उनके द्वारा सत्य का दर्शन नहीं होता। यथार्थ तत्व वह है जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के आधार में सत् चित् आनंद रूप से विद्यमान है। वही वास्तविक आत्मा है।

उनकी दृष्टि में सारा संसार केवल एक आत्मा का खेल है। जिस शक्ति से हम बोलते हैं, उसी शक्ति से उदर में अन्न पचता है। उनमें कोई अंतर नहीं। जो शक्ति एक शरीर में है, वही सब शरीरों में है। जो जंगम में है, वही स्थावर में है। सब का आधार है हमारी आत्मा।

राम विकासवाद के समर्थक थे। मनुष्य भिन्न भिन्न श्रेणियों में है। कोई अपने परिवार के, कोई जाति के, कोई समाज के और कोई धर्म के घेरे से घिरा हुआ है। उसे घेरे के भीतर की वस्तु अनुकूल है और घेरे से बाहर की प्रतिकूल। यही संकीर्णता अनर्थों की जड़ है। प्रकृति में कोई वस्तु स्थिर नहीं। अपनी सहानुभूति के घेरे को भी फैलना चाहिए। सच्चा मनुष्य वह है, जो देशमय, विश्वमय हो जाता है।

राम आनंद को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं, पर जन्म से मरण पर्यंत हम अपने आनंदकेंद्रों को बदलते रहते हैं। कभी किसी पदार्थ में सुख मानते हैं और कभी किसी व्यक्ति में। आनंद का स्रोत हमारी आत्मा है। हम उसके लिये प्राणों का भी उत्सर्ग कर देते हैं।

जब से भारतवासियों ने अपने आत्मस्वरूप को भुलाकर हृदय से अपने आपको दास मानना प्रारंभ किया हम पतनोन्मुख हुए। श्रुति अटल और शाश्वत है। स्मृति गौण है, उसे देशकालानुसार बदलना चाहिए। श्रमविभाजन के आधार पर वर्णव्यवस्था किसी समय समाज के लिये हितकर थी, पर आज हमने उसके नियमों को अटल बना कर समाज के टुकड़े टुकड़े कर दिए। आज देश के सामने एक ही धर्म है—राष्ट्रधर्म। अब शारीरिक सेवा और श्रम केवल शूद्रों का कर्तव्य नहीं माना जा सकता। सभी को अपनी सारी शक्तियों को देशोत्थान के कार्यों में लगाना चाहिए।

भारत के साथ तादात्म्य होनेवाले स्वामी राम ने भविष्यवाणी की थी — चाहे एक शरीर द्वारा, चाहे अनेक शरीरों द्वारा काम करते हुए राम प्रतिज्ञा करता है कि बीसवीं शताब्दी के अर्धभाग के पूर्व ही भारत स्वतंत्र होकर उज्वल गौरव को प्राप्त करेगा। राम ने अपने एक पत्र में बाबा हरदयाल को लिखा था — हिंदी में प्रचार कार्य प्रारंभ करो। वही स्वतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा होगी। एक शब्द में इनका संदेश है — त्याग और प्रेम। [दी० द०]

स्वामी विवेकानंद (सन् १८६३-१९०२ ई०) स्वामी विवेकानंद रामकृष्ण परमहंस के प्रधान शिष्य और संदेशवाहक थे। उन्होंने रामकृष्ण मिशन का संगठन किया। अंग्रेजी और बंगला के अच्छे वक्ता थे। कई जिल्दों में उनके भाषण प्रकाशित हुए हैं, जो बहुत ही विद्वत्तापूर्ण और ओजस्वी हैं।

उनका नाम पहले नरेंद्रनाथ दत्त था। उनका जन्म कलकत्ते के एक कायस्थ परिवार में हुआ। नरेंद्र अपने भावी गुरु से बिल्कुल पृथक् ढंग के व्यक्ति थे। रामकृष्ण परमहंस में सुकुमारता अधिक थी, पर नरेंद्र में पौरुष और ओज अधिक था और वह देखने में हट्टे-कट्टे थे। वह घूँसेबाजी, कुश्ती, दौड़, घुड़सवारी और तैराकी में पारंगत थे। रामकृष्ण सात्विक गुणयुक्त थे तो वह राजसिक। रामकृष्ण का कंठ मधुर था, पर वह केवल लोकगीत और कीर्तन आदि गाते थे, पर नरेंद्र ने कंठ तथा यंत्रसंगीत में बाकायदा प्रशिक्षण प्राप्त किया था। रामकृष्ण लगभग अनपढ़ थे तो नरेंद्रनाथ विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त कर चुके थे और कालेज में उनके अध्यापक तथा सहपाठी उनका लोहा मानते थे। उनके लिये आस्था अंतिम शब्द नहीं था, बल्कि वह हर प्रतिपाद्य को बौद्धिक कसौटी पर कसना चाहते थे।

रामकृष्ण से नरेंद्रनाथ की जिस समय भेंट हुई थी, उस समय रामकृष्ण प्राच्य जगत् के प्रतिनिधि थे और नरेंद्रनाथ मुख्यतः पाश्चात्य से प्रभावित थे। दोनों का मिलन बहुत ही अद्भुत था। कहाँ विवेकानंद, जो हर्बर्ट स्पेंसर, जॉन स्टुअर्ट, मिल, शेली, वर्ड्सवर्थ, हेगेल और फ्रेंच राज्यक्रांति के सिद्धांतों से ओतप्रोत थे और कहाँ सरल, ऋजु रामकृष्ण परमहंस।

प्रथम मिलन के बाद नरेंद्रनाथ बराबर उनसे मिलते रहे। रामकृष्ण ने अपने सरल व्यवहार और प्रभाव द्वारा नरेंद्र के संदेहजाल को छिन्न कर दिया और वह उन्हें बड़ी तेजी से आकर्षित करने लगे। नरेंद्र को ऐसा मालूम हुआ जैसे उनमें कुछ भयकर हो रहा है और वह एक बार शंकित होकर कह भी उठे, यह क्या कर रहे हैं? मेरे घर माँ बाप हैं। इसपर रामकृष्ण हँसे और उन्होंने नरेंद्रनाथ के वक्षस्थल पर हाथ रख दिया और बोले —'अच्छी बात है, अभी जाने दो।' — इसपर नरेंद्र फिर पूर्ववत् हो गए।

धीरे धीरे वह रामकृष्ण के प्रभाव में आ गए। संदेह का अंधकार-जाल तो पहले ही छिन्न हो चुका था, अब साधना की किरणें फैलने लगीं।

१८८४ में नरेंद्र के पिता का देहांत हो गया। वह परिवार को कर्ज और गरीबी में छोड़ गए थे। नरेंद्र के सामने परिवार की जीविका का प्रश्न था। वह दफ्तरों में नौकरी के लिये मारे मारे फिरने लगे। उन्होंने एक के बाद एक कई नौकरियाँ कीं, पर कोई स्थायी नौकरी नहीं लगी। वे दक्षिणेश्वर गए।

कुछ समय बाद वह संपूर्ण रूप से रामकृष्ण परमहंस के साथ हो गए। रामकृष्ण के महाप्रयाण के बाद वे बराबर भ्रमण करते

लगे। १८६० की जुलाई में शारदादेवी का आशीर्वाद लेकर वह लंबी यात्रा पर चल पड़े। वह हिमालय में घूमते रहे। फिर वह राजस्थान, काठियावाड़, बंबई, मैसूर, कोचीन, मालाबार, त्रिवांकुर होते हुए रामेश्वरम् और कन्याकुमारी पहुँचे। उन्होंने १८६३ में शिकागो में होनेवाले सर्वधर्म संसद् की बात सुनी और वह अमरीका के लिये रवाना हो गए।

११ सितंबर को सर्वधर्म संसद् का प्रारंभ हुआ। उन्होंने अपने भाषण में यह कहा कि ईसाई को हिंदू या बौद्ध अथवा हिंदू और बौद्ध को ईसाई होने की जरूरत नहीं है, हर एक व्यक्ति दूसरे धर्म की बातों को अपने में पचाए, साथ ही अपना व्यक्तित्व कायम रखे और विकास के नियमानुसार बढ़े। लोगों को यह उदार विचार बहुत पसंद आया। फिर तो उनकी धूम मच गई और वह सारे अमेरिका में व्याख्यान देते हुए फिरने लगे। १८६५ तक उनके लगभग १२ पक्के शिष्य बन चुके थे।

वह सितंबर, १८६५ में इंग्लैंड गए, और वहाँ से पेरिस तक। १८६५ के अंत तक वह अमेरिका लौट आए। वहाँ रामकृष्ण परमहंस तथा उनके दर्शन पर व्याख्यान देते रहे। १८६६ में अप्रैल मे वह फिर लंदन चले गए। वहाँ सफल व्याख्यानों के बाद १८६६ के दिसंबर में वह वहाँ से चल पड़े और इटली होते हुए भारत लौट आए।

वह निरे अध्यात्मवादी न थे। उन्होंने भारतीयों को बलिष्ठ और प्राणवान् बनने का उपदेश दिया और यह कहा कि तामसिक अवस्था से सीधे सात्विक अवस्था में नहीं पहुँचा जा सकता, बल्कि पश्चिम की तरह राजसी उन्नति आवश्यक है। उन्होंने एक बार यह भी कहा था कि हम भारतीयों के लिये गीता पढ़ने से फुटबाल खेलना ज्यादा जरूरी है। उनके विचारों में समाजवादी सिद्धांत का पुट है।

[मं० गु०]

स्वामी श्रद्धानंद का जन्म पंजाब के जालंधर शहर से बीस मील दूर तलवन ग्राम में सं० १६१४ (१८५७ ई०) में हुआ। ये चार भाइयों में सबसे छोटे थे। इनका पहला नाम मुंशीराम था। इनकी शिक्षा संयुक्त प्रांत में ही हुई। ये प० मोतीलाल नेहरू के सहपाठी रहे थे। बड़े होकर वकील बने और जालंधर में वकालत प्रारंभ की। आय अच्छी थी। रईसी ठाट से रहते थे। जालंधर में होशियारपुर अड्डे के पास एक विशाल कोठी बनवाई थी। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंद सरस्वती के संपर्क में आने से आर्यसमाज की विचारधारा को अपना चुके थे। इस विचारधारा के प्रचार के उद्देश्य से आपने 'सद्धर्मप्रचारक' नाम का एक साप्ताहिक पत्र सं० १६४६ मे उर्दू में निकाला और कुछ समय पश्चात् सद्धर्मप्रचारक प्रेस की स्थापना भी अपनी कोठी के अहाते में ही की। ये सच्चे देशभक्त एवं समाजसुधारक थे। पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय एवं उनके कुछ सहयोगियों के प्रयत्न से लाहौर में डी० ए० वी० (दयानंद एंग्लो वैदिक) कालेज की स्थापना हो चुकी थी। इसमें मैकाले के मार्ग का ही अनुसरण किया गया था। संस्कृत और हिंदी को महत्व नहीं दिया गया था, इसलिये ला० मुंशीराम जी ने सद्धर्मप्रचारक मे अपने लेखों तथा भाषणों द्वारा स्वामी दयानंद की प्रदर्शित आर्य शिक्षा-पद्धति का पुनरुद्धार करने के लिये आंदोलन आरंभ किया और उसे क्रियात्मक रूप देने के लिये जालंधर के आर्यसमाज में एक वैदिक पाठशाला की स्थापना की। कुछ समय पश्चात् वह पाठशाला उन्होंने आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब को सौंप दी। सभा ने इसे जालंधर से उठाकर सं० १६५७ (१६ मई १६००) में गुजरांवाला मे (पश्चिमी पाकिस्तान) गुरुकुल के रूप में चलाने की व्यवस्था की। ला० मुंशीराम ने ३० अक्टूबर, १८६८ ई० को गुरुकुलप्रणाली की शिक्षा के लिये विस्तृत योजना प्रस्तुत की। आर्य प्रतिनिधि सभा से स्वीकृति मिलने पर इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये सर्वात्मना जुट गए। उन्होंने अपनी वकालत छोड़ दी तथा इस कार्य के लिये धनसंग्रह में लग गए। जिला बिजनौर (उ० प्र०) के मुंशी अमनसिंह ने हरिद्वार के पास गंगा के पार, आठ सौ बीघा भूमि का अपना कांगड़ी ग्राम, गुरुकुल स्थापित करने के लिये दान में दे दिया। वह ग्राम नगाधिराज हिमालय की उपत्यका में गंगा की धारा से एक कोस दूर सघन वन से घिरा हुआ था। वन का कुछ भाग साफ करके फूस की झोपड़ियाँ तैयार की गई और सं० १६५६ (४ मार्च, १६०२) को गुजरांवाला से हटाकर कांगड़ी ग्राम मे गुरुकुल की स्थापना की गई।

लाला मुंशीराम जी अब त्याग, तपस्या एवं सच्ची लगन के कारण जनता द्वारा 'महात्मा मुंशीराम' पुकारे जाने लगे थे। वे गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक ही नहीं, उसकी आत्मा थे। उनके सुयोग्य संचालन में गुरुकुल ने बड़ी प्रगति की। महात्मा मुंशीराम जी आरंभ से सं० १६७४ (१६१७ ई०) पर्यंत गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता रहे। जालंधर की विशाल कोठी उन्होंने गुरुकुल को दान दे दी। सम्राट् हर्ष के समान, सर्वमेध यज्ञ (सर्वस्वदान) करके सं० १६७४ (१९१७ ई०) में गंगा के तट पर उन्होंने संन्यास ग्रहण किया। उस समय उन्होंने घोषणा की —

"मैं सदा सब निश्चय परमात्मा की प्रेरणा से श्रद्धापूर्वक ही करता हूँ। मैंने संन्यास भी श्रद्धा की भावना से प्रेरित होकर ही लिया है। इस कारण मैंने 'श्रद्धानंद' नाम धारण करके संन्यास में प्रवेश किया है।"

संन्यासी बनने के पश्चात् दो वर्ष तक उत्तरी भारत में स्वामी जी ने दलितोद्धार आंदोलन को जाग्रत एवं संगठित किया। सन् १६१८ में योरप के प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् भारत के राजनीतिक घटनाचक्र में कुछ तेजी आ गई। अंग्रेजों के विश्वासघात के कारण सर्वत्र असंतोष और रोष की लहर फैल गई थी। सन् १६१६ के आरंभ में गांधी जी वायसराय से मिलने दिल्ली आए तो स्वामी जी भी उनसे मिले। दिल्ली की सत्याग्रही सेना का नेतृत्व गांधी जी ने स्वामी जी के कंधों पर डाल दिया। बस यहीं से देश की राजनीति में स्वामी जी के क्रियात्मक जीवन का प्रारंभ हुआ।

सत्याग्रह आंदोलन का प्रारंभ गांधी जी के आदेश से प्रार्थनादिवस के रूप में हुआ। ३० मार्च, १६१६ को दिल्ली में प्रार्थनादिवस को पूर्ण हड़ताल रही। हिंदू और मुसलमानों की एक बृहद् सभा पीपल पार्क में स्वामी जी के नेतृत्व में हुई। सभा पाँच घंटे तक चलती रही। इस बीच मशीनगनों सहित पुलिस और सेना ने दो बार सभास्थल को घेरा किंतु स्वामी जी के शांति प्रयत्नों से आवश्यक

होकर घेरा तुड़ा लिया गया। जुलूस जब चाँदनी चौक से जा रहा रहा था तब बंदूक के चलने की आवाज सुनकर स्वामी जी ने सैनिकों से गोली चलाने का कारण पूछा। उन्होंने स्वामी जी की ओर संगीनें तान दीं। स्वामी जी ने अपनी छाती संगीनों से छुआते हुए कहा 'लो मारो'। किंतु तुरंत बड़े सेनाधिकारी ने सेना को पीछे हटने का आदेश दिया। स्वामी जी के साहस और वीरता की कथा सारे देश में फैल गई।

खिलाफत का आंदोलन जोरों पर था। ४ अप्रैल, १९१९ को दिल्ली की जामा मसजिद में मुसलमानों की एक विशाल सभा का आयोजन हुआ। इसमें भाषण करने के लिये स्वामी जी को आमंत्रित किया गया। यह इस्लाम के इतिहास में पहला अवसर था कि किसी मुसलमानेतर ने जामा मसजिद की मिंबर (वेदी) पर भाषण किया। भाषण ऋग्वेद के एक मंत्र से आरंभ और 'ओं शांति. शांति : शांति:' से समाप्त हुआ। ६ अप्रैल, १९१९ को फतेहपुरी मस्जिद में भी स्वामी जी का भाषण हुआ।

१९१९ के १३ अप्रैल को अमृतसर के जलियाँवाला बाग में ओ॰ डायर ने अपनी क्रूरता का नग्न नृत्य दिखाया था। सारे देश में बिजली सी कौंध गई। स्वामी श्रद्धानंद जी तुरत सहायता-कार्य के लिये अमृतसर पहुँचे। इस वर्ष दिसंबर मास में कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में हुआ। स्वामी श्रद्धानंद जी स्वागता-ध्यक्ष और अध्यक्ष श्री मोतीलाल नेहरू बने। अब तक की परंपराओं के विरुद्ध स्वामी जी ने अपना भाषण हिंदी में पढ़ा। लगभग सन् १९२४ तक कांग्रेस के साथ स्वामी जी का सक्रिय योग रहा। दिसंबर, १९२२ में अमृतसर में अकाल तख्त के समीप हुई सत्याग्रहियों की सभा में दिए गए भाषण के अपराध में स्वामी जी को एक वर्ष का कारावास दंड दिया गया।

उन दिनों आगरा में मलकानों की शुद्धि का आंदोलन चल रहा था। वहाँ एक शुद्धिसभा का संगठन किया गया। स्वामी जी उसके प्रधान चुने गए। दिसंबर, १९२३ में कांग्रेस के विशेषाधिवेशन के अवसर पर एकता संमेलन में स्वामी जी से कहा गया कि वे शुद्धि-आंदोलन को बंद कर दें। एक शर्त के साथ स्वामी जी ने इस अनुरोध को स्वीकार किया कि दूसरा पक्ष भी ऐसा ही करे। किंतु मौलवियों के अस्वीकार करने पर कोई समझौता नहीं हो सका। २३ दिसंबर, १९२६ को अब्दुल रशीद नामक एक मुसलमान ने उनके अस्वस्थ शरीर को अपनी पिस्तौल की गोलियों का निशाना बनाया। वे धर्म पर बलिदान हो गए।

यद्यपि कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है, जिसमें स्वामी श्रद्धानंद जी ने अपना योगदान न दिया हो, तथापि तीन क्षेत्रों से उन्होंने विशेष रूप से कार्य किया। वे क्षेत्र हैं—१.समाजसुधार, २. राष्ट्र का स्वातंत्र्यआंदोलन, और ३. भारत की प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षापद्धति का पुनरुद्धार। यद्यपि प्राचीन शिक्षापद्धति के वे प्रबल समर्थक थे, तथापि शिक्षा के नव आलोक के विरोधी नहीं थे। उन्होंने अपने गुरुकुल में दोनों का समन्वय किया, किंतु शिक्षा का माध्यम राष्ट्रभाषा हिंदी को ही बनाया। [श॰ ना॰ शा॰]

स्वास्थ्य विज्ञान स्वास्थ्य से सभी परिचित हैं किंतु पूर्ण स्वास्थ्य का स्तर निश्चित करना कठिन है। प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य अपने प्रयास से और भी अधिक स्वस्थ हो सकता है। व्यक्ति के स्वास्थ्य सुधार से समाज और राष्ट्र का स्वास्थ्य स्तर ऊँचा होता है। स्वास्थ्यविज्ञान का ध्येय है कि प्रत्येक मनुष्य की शारीरिक वृद्धि और विकास और भी अधिक पूर्ण हो, जीवन और भी अधिक तेजपूर्ण हो, शारीरिक ह्रास और भी अधिक धीमा हो और मृत्यु और भी अधिक देर से हो। वास्तव में स्वास्थ्य का अर्थ केवल रोगरहित और दुःखरहित जीवन नहीं है। केवल जीवित रहना ही स्वास्थ्य नहीं है। यह तो पूर्ण शारीरिक, मानसिक और सामाजिक हृष्टता पुष्टता की दशा है। अधिकतम सुखमय जीवन और अधिकतम मानवसेवा का अवसर पूर्ण स्वस्थता से ही संभव है।

अपने व्यक्तिगत स्वास्थ्योपार्जन का भार प्रत्येक प्राणी पर ही है। जिस प्रकार धन, विद्या, यश आदि द्वारा जीवन की सफलता अपने ही प्रयास से प्राप्त होती है उसी प्रकार स्वास्थ्य के लिये प्रत्येक को प्रयत्नशील होना आवश्यक है। अनायास या दैवयोग से स्वास्थ्य प्राप्ति नहीं होती परंतु प्राकृतिक स्वास्थ्यप्रद नियमों का निरंतर पालन करने से ही स्वास्थ्य प्राप्ति और उसका संरक्षण संभव है।

स्वास्थ्य के संवर्धन, संरक्षण तथा पुनःस्थापन का ज्ञान स्वास्थ्य-विज्ञान द्वारा होता है। यह कार्य केवल डाक्टरों द्वारा ही संपन्न नहीं हो सकता। यह तो जनता तथा उसके नेताओं के सहयोग से ही संभव है। स्वास्थ्यवेत्ता सेनानायक की भाँति अस्वस्थता से युद्ध करने हेतु संचालन और निर्देशन करता है किंतु युद्ध तो समस्त जनता को सैनिक की भाँति लड़ना पड़ता है। इसी कारण स्वास्थ्यविज्ञान भी एक सामाजिक शास्त्र है। संपूर्ण समाज का अस्वस्थता के निवारणार्थ संगठित प्रयास लोकस्वास्थ्य की उन्नति के लिये आवश्यक है।

लोकस्वास्थ्य के सुधार के लिये स्वास्थ्यसंबंधी आवश्यक ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिए। इस ज्ञान के अभाव में कोई सुधार नहीं हो सकता। स्वास्थ्य संबंधी कानून की उपयोगिता स्वास्थ्य शिक्षा के अभाव में नगण्य है और स्वास्थ्य शिक्षा द्वारा जनता में स्वास्थ्य चेतना होने पर कानून की विशेष आवश्यकता नहीं रहती। स्वास्थ्यशिक्षा वही सफल होती है जो जनता को स्वस्थ्य जीवनयापन की ओर स्वभावत: प्रेरित कर सके। प्रत्येक प्राणी को अपने स्वास्थ्य सुधार के लिये स्वास्थ्य शिक्षा तथा सभी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। यह तो जन्मसिद्ध मानव अधिकार है और कोई कल्याणकारी राज्य इस सुकार्य से मुख नहीं मोड़ सकता। रोग एक देश से दूसरे देशों में फैल जाते हैं। इसलिये किसी देशविशेष का यदि स्वास्थ्यस्तर गिरा हुआ है तो वह सभी देशों के लिये बाधावह है। इसी कारण अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा रोग-नियंत्रण और स्वास्थ्यसुधार का कार्य सभी देशों में करने का प्रयास किया जाता है। स्वास्थ्य की देखरेख जन्म से मृत्यु पर्यंत सभी के लिये आवश्यक है। मातृत्व स्वास्थ्य, बाल स्वास्थ्य, पाठशाला स्वास्थ्य, व्यावसायिक स्वास्थ्य, सैनिक स्वास्थ्य, जरावस्था स्वास्थ्य, संक्रामक और अन्य रोगों की रोकथाम, रोगचिकित्सा, जल, भोजन और वायु

की स्वच्छता, परिवेश स्वास्थ्य आदि स्वास्थ्यविज्ञान के महत्वपूर्ण अंग हैं। सर्वांगपूर्ण बहुमुखी योजना द्वारा स्वास्थ्यसुधार राष्ट्रोन्नति का प्रमुख साधन है। राष्ट्र के लिये शिक्षा, स्वास्थ्य, उत्पादन और सामाजिक न्याय समान रूप से आवश्यक है और इन चारों क्षेत्रों में संतुलित विकास ही राष्ट्रोन्नति का राजमार्ग प्रशस्त करता है। ये चारों परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं और किसी को भी एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।

प्रत्येक मनुष्य प्राप्त धन से संतोष न कर उससे अधिक उपार्जन करने की निरंतर चेष्टा करता है उसी प्रकार प्रस्फुटित (radiant) स्वास्थ्य लाभ के लिये निरंतर प्रयास द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धि पूर्ण धनात्मक (positive) स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहिए। सर्वांगपूर्ण स्वास्थ्य के लिये शारीरिक और मानसिक स्वस्थता के साथ साथ प्रत्येक व्यक्ति को समाज में संमानित पद भी प्राप्त करना आवश्यक है। समाज द्वारा समादृत स्वस्थ्य पुरुष अपने समाजसेवी कर्त्तव्यों द्वारा ही समाज का उपयोगी अंग बन सकता है। समाज में हीन पद पानेवाला व्यक्ति स्वस्थ नहीं गिना जा सकता है

लोक-स्वास्थ्य-सुधार का इतिहास तीन कालों में बँटा हुआ है: पहला परिशोधी काल जिसमें जल, वायु, भोजन, शरीर, वस्त्र आदि की स्वच्छता पर ध्यान दिया जाता था। दूसरा कीटाणु शास्त्रसंबंधी ज्ञान का काल जिसमें संक्रामक रोगों का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त कर उनसे बचने की चेष्टा की गई और तीसरा धनात्मक स्वास्थ्य का वर्तमान काल जिसमें शारीरिक, मानसिक और सामाजिक हृष्टपुष्टतायुक्त सर्वांगपूर्ण समस्त जनता का स्वास्थ्य उत्तरोत्तर संवर्धन किया जाता है। [भ० शं० या०]

स्वास्थ्य विज्ञान, मानसिक मानसिक स्वास्थ्य के विशेषज्ञों की व्यवस्थानुसार सुदृढ़ (sound) मानसिक स्वास्थ्य के लक्षण इस प्रकार हैं :

वह व्यक्ति संतोषी और प्रसन्नचित्त रहता है और भय, क्रोध, प्रेम द्वेष, निराशा, अपराध, दुश्चिंता आदि आवेगों से व्यथित नहीं होता। वह अपनी योग्यता और क्षमता को न तो अत्यधिक उत्कृष्ट और न हीन समझता है। वह ममत्वशील होता है और दूसरों की भावनाओं का ध्यान रखता है। वह अन्य पुरुषों के प्रति रुचि और विश्वास रखता है और समझता है कि अन्य भी उसके प्रति रुचि और विश्वास की भावना रखते हैं, वह नित्य नई उठनेवाली समस्याओं का सामना करता है। वह अपने परिवेश (environment) को यथा संभव अपने अनुकूल बना लेता है और आवश्यकता पड़ने पर स्वयं उससे सामंजस्य स्थापित कर लेता है। वह अपनी योजना पहले ही निश्चित कर लेता है किंतु भावी से भयातुर नहीं होता। वह नई अनुभूतियों और विचारों का स्वागत करता है। वह वास्तविकता का ध्यान रख अपने लक्ष्य को निर्धारित करता है। वह अपना बुरा सोच सकता है और स्वयं ही अपना कर्तव्य निश्चित करता है।

मनुष्य के गुण दोष उसके स्वभाव, आचरण तथा मान्यताओं से जाने जाते हैं। माता, पिता तथा अन्य व्यक्तियों के संपर्क से बालक में व्यक्तित्व का विकास होता है और उसकी धारणाएँ दृढ़ हो जाती हैं। मानसिक स्वस्थता की दशा में (१) जीवन के प्रति रुचि, (२) साहस और स्वावलंबन का वृद्धि, (३) आत्मगौरव का भाव, (४) सहिष्णुता तथा दूसरों के विचार का आदर, (५) व्यवस्थित विचारधारा, (६) जीवन के प्रति सदुद्देश्यपूर्ण दार्शनिक दृष्टिकोण, (७) विनोदशीलता तथा (८) अपने कार्य में मनोयोग और तल्लीनता की धारणाएँ स्वभावतः पुष्ट होने लगती हैं। अस्वस्थ दशा में इनका अभाव सा होता है। शिक्षा और अभ्यास द्वारा इन स्वस्थ भावों को अपनाना चाहिए। स्वस्थ मनोविकास के लिये जो अभ्यास और प्रक्रिया फलीभूत सिद्ध हुई है, इस प्रकार है :

(१) आवेगों को वश मे रखने का अभ्यास करना और उन्हें किसी सुकार्य की ओर प्रेरित करना, (२) छोटी मोटी घटनाओं से अपने को व्यथित न होने देना, (३) व्यर्थ की चिंताओं से छुटकारा पाने के लिये भय पर विजय पाना, (४) वास्तविकता का आवश्यक दृढ़ता से सामना करना, (५) जीवन के प्रति रुचि और आस्था का भाव उत्पन्न करना, (६) अपनी सामर्थ्य पर विश्वास रख स्वावलंबी बनना, (७) दूसरे के विचारों का आदर करना, (८) अपने विचारों का व्यवस्थित रूप से नियमन तथा नियंत्रण करने का अभ्यास करना, और उनको किसी कल्याणकारी लक्ष्य की ओर प्रेरित करना, (९) जीवन के प्रति वास्तविकतापूर्ण दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाकर सुख दुख मे समत्व बुद्धि द्वारा अपने जीवन को सुखी और संतुष्ट बनाना, (१०) विनोदशील प्रवृत्ति द्वारा जीवन की कठोरता और व्यग्रकारी समस्याओं को दूर करना तथा (११) चित्त को एकाग्र कर अपने कार्य में रुचि, उत्साह और तल्लीनता उत्पन्न करना।

अल्पबुद्धिता (Mental defficiency) और मानसिक विकार (Mental disorder) में भेद है। अठारह वर्ष की आयु तक होनेवाले मानसिक विकास में कुछ बाधा पड़ जाने के कारण अल्पबुद्धिता होती है और मानसिक विकार, विकसित मन में दोषोत्पत्ति के कारण। अल्पबुद्धिवाले जड़मूर्ख, मूढ़ (embecile) अथवा बालिश (moron) होते हैं। अल्पबुद्धिता वंशानुगत दोष तो होता ही है परंतु बधिरता, अंधता, अपंगता तथा अन्यशारीरिक दोष के कारण बालक पढ़ने लिखने मे पिछड़ जाते हैं और उनकी बुद्धि का स्तर उन्नत नहीं हो पाता। इन शारीरिक दोषों को दूर करने से विद्यार्थियों की मानसिक शक्ति में सुधार किया जा सकता है। मद्यपान तथा अन्य मादक वस्तुओं का सेवन, जीवन की जटिलता, समाज से संघर्ष तथा शारीरिक रोगों के कारण चिंता, व्यग्रता, अनिद्रा, भीति, अस्थिरता, बुद्धिविपर्यय और विभ्रम आदि उत्पन्न होते हैं जिससे आक्रमकता, ध्वंसकारिता, मिथ्याचरण, तस्करता, हठवादिता, अनुशासनहीनता आदि आचरण दोष (behaviour disorder) बढ़ने लगते हैं। इन दोषों से समाज की बड़ी हानि होती है। किशोरावस्था की दुश्चरित्रता समाज का सबसे अधिक हानिकर रोग है। इन दोषों के रहते समाज का व्यवस्थित संगठन संभव नहीं है। स्वस्थ मानसिक संतुलन तथा समत्व बुद्धि के लिये जो उपाय करने चाहिए वे मुख्यतः इस प्रकार हैं—

(१) वंशानुगत विकारों को दूर करने के लिये विवाह तथा संतानोत्पत्ति संबंधी संततिशास्त्रानुमोदित योजना का प्रसार करना जिससे अनुपयुक्त मनुष्यों द्वारा संतानोत्पत्ति रोकी जा सके और केवल पूर्णत: स्वस्थ स्त्री पुरुषों द्वारा ही स्वस्थ बालकों की उत्पत्ति हो, (२) शारीरिक स्वास्थ्य के सुधार द्वारा तथा आवश्यक विश्राम द्वारा मानसिक दुरावस्था, क्लांति (Strain) और शारीरिक विकारों को दूर करना, (३) अत्यधिक प्रश्रय (Indulgence), कठोरतापूर्ण अनुशासित और आग्रहपूर्ण हठवादिता का परित्याग करना, (४) बालकों के प्रति सद्भाव, ममत्व, सहानुभूति, प्रोत्साहन और विश्वास का भाव प्रदर्शित करना, (५) व्यक्तित्व के विकास में बाधा न डालना, (६) क्षमता से अधिक कार्यभार बालक पर न डालना, (७) बालक की हीनता के निवारण में सहायता करना, (८) उन्नयन (Sublimation) की सभी संभाव्य रीतियों का अनुसंधान कर अवांछनीय दोष को किसी समाजानुमोदित सुरुचिपूर्ण कार्य के साथ जोड़ने का प्रयास करना (९) योनि संबंधी परंपरागत विचारों को त्याग कर वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए सुशिक्षा का प्रसार करना, तथा (१०) बाल निर्देशनशाला स्थापित कर मनोदौर्बल्य दूर करना और बालक के मन में व्यष्टि तथा समष्टि के कल्याण की भावना जाग्रत करना।

बालक संरक्षण चाहता है और ममत्व का भूखा होता है। उसकी ममत्वपूर्ण देखरेख कर उसे आश्वस्त करना चाहिए। खेल कूद, व्यायाम, विश्राम, मनोरंजन द्वारा मानसिक विकलता दूर करनी चाहिए। जीवन की कठिनाइयाँ, साधनों का अभाव और आपदाओं से विचलित न होना चाहिए परंतु इनसे उच्चतर जीवन की प्रेरणा लेनी चाहिए। अभाव की चिंता करने की अपेक्षा जो कुछ भी प्राप्त है उससे संतोषसुख प्राप्त करना श्रेष्ठतर है। अपने को हतभाग्य समझकर हाय हाय करना कापुरुषत्व है। प्रसन्नचित्त रहने का सतत प्रयत्न करते रहने से मनोदौर्बल्य दूर किया जा सकता है और यह प्रसन्नता और संतोष द्वारा प्राप्य है।

[भ० शं० या०]

स्वास्थ्य शिक्षा (Health Education) ऐसा साधन है जिससे कुछ विशेष योग्य एवं शिक्षित व्यक्तियों की सहायता से जनता को स्वास्थ्यसंबंधी ज्ञान तथा औपसर्गिक एवं विशिष्ट व्याधियों से बचने के उपायों का प्रसार किया जा सकता है। चिकित्साक्षेत्र में कार्य करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को रोगोपचार के अतिरिक्त किसी न किसी रूप में स्वास्थ्य शिक्षक के रूप में भी कार्य करने की क्षमता रखनी पड़ती है। 'स्वास्थ्य शिक्षा' का कार्य कभी भी स्वतंत्र रूप से नहीं चल सकता। यह हमेशा 'शिक्षा विभाग' एवं 'स्वास्थ्य विभाग' के संयुक्त उत्तरदायित्व पर ही चलता है। इसका सफलतापूर्वक प्रसार स्वयंसेवकों द्वारा होता है। स्वास्थ्य स्वयंसेवकों के लिये यह आवश्यक है कि वे आधुनिकतम स्वास्थ्य एवं चिकित्सा संबंधी ज्ञान से अपनी योग्यता बढ़ाते रहें जिससे उस ज्ञान का सही स्थान पर उचित रूप से स्वास्थ्य शिक्षा के अंतर्गत जनता के लाभार्थ प्रसार एवं उपयोग कर सकें।

स्वास्थ्य शिक्षा के द्वारा जनसाधारण को यह समझाने का प्रयास किया जाता है कि उसके लिये क्या स्वास्थ्यप्रद और क्या हानिप्रद है तथा इनसे साधारण बचाव कैसे किया जाय, संक्रामक रोगों जैसे चेचक, क्षय, मलेरिया और विसूचिका इत्यादि के टीके लगवाकर हम कैसे अपनी सुरक्षा कर सकते हैं। स्वास्थ्य शिक्षक ही जनता से संपर्क स्थापित कर स्वास्थ्य शिक्षा द्वारा स्वास्थ्यसंबंधी आवश्यक नियमों का उन्हें ज्ञान कराता है। इस योजना से लोग यथाशीघ्र स्वास्थ्य-रक्षासंबंधी नियमों से परिचित हो जाते हैं। स्वास्थ्य शिक्षा से तत्काल लाभ पाना कठिन होता है क्योंकि इसमें अधिकतर समय स्वास्थ्य शिक्षक का लोगों का विश्वास प्राप्त करने में लग जाता है।

स्वास्थ्य शिक्षा की विधि — स्वास्थ्य शिक्षा की तीन प्रमुख विधियाँ हैं जिनमें दो विधियों में तो चिकित्सक की आंशिक आवश्यकता पड़ती है परंतु तीसरी स्वास्थ्य शिक्षक के ही अधीन है। ये तीनों विधियाँ इस प्रकार हैं —

१ — स्कूलों एवं कालेजों के पाठ्यक्रमों में स्वास्थ्य शिक्षा का समावेश। इसके अंतर्गत निम्नलिखित बातें आती हैं : —

(क) व्यक्तिगत स्वास्थ्य तथा व्यक्ति एवं पारिवारिक स्वास्थ्य की रक्षा तथा लोगों को स्वास्थ्य के नियमों की जानकारी कराना।

(ख) संक्रामक रोगों की घातकता तथा रोगनिरोधन के मूल तत्वों का लोगों को बोध कराना।

(ग) स्वास्थ्य रक्षा के सामूहिक उत्तरदायित्व को वहन करने की शिक्षा देना।

इस प्रकार से स्कूलों में स्वास्थ्य शिक्षा प्राप्त कर रहा छात्र आगे चलकर सामुदायिक स्वास्थ्यसंबंधी कार्यों में निपुणता से कार्य कर सकता है तथा अपने एवं अपने परिवार के लोगों की स्वास्थ्य रक्षा के हेतु उचित उपायों का प्रयोग कर सकता है। अनुभव द्वारा यह देखा भी गया है कि इस प्रकार की स्कूलों में स्वास्थ्य शिक्षा से संपूर्ण देश की स्वास्थ्य रक्षा में प्रगति हुई है।

२ — सामान्य जनता को स्वास्थ्यसंबंधी सूचना देना — यह कार्य मुख्य रूप से स्वास्थ्य विभाग का है परंतु अनेक ऐच्छिक स्वास्थ्य संस्थाएँ एवं अन्य संस्थाएँ जो इस कार्य में रुचि रखती हैं, सहायक रूप से कार्य कर सकती हैं। इस प्रकार की स्वास्थ्य शिक्षा का कार्य आजकल रेडियो, समाचारपत्रों, भाषणों, सिनेमा, प्रदर्शनी तथा पुस्तिकाओं की सहायता से यथाशीघ्र संपन्न हो रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी उपकरणों का भी प्रयोग करना चाहिए जिससे अधिक से अधिक जनता का ध्यान स्वास्थ्य शिक्षा की ओर आकर्षित हो सके। इसके लिये विशेष प्रकार के व्यवहारकुशल और शिक्षित स्वास्थ्य शिक्षकों की नियुक्ति करना श्रेयस्कर है।

३ — उन लोगों से स्वास्थ्य शिक्षा दिलाना जो रोगियों की सेवा शुश्रूषा तथा अन्य स्वास्थ्यसंबंधी कार्यों में निपुण हों।

यह कार्य स्वास्थ्य चर (Health visitor) बड़ी कुशलता से कर सकता है। प्रत्येक रोगी तथा प्रत्येक घर जहाँ चिकित्सक जाता है वहाँ किसी न किसी रूप में उसे स्वास्थ्य शिक्षा देने की सदा आवश्यकता पड़ा करती है अत. प्रत्येक चिकित्सक को स्वास्थ्य शिक्षा चिकित्सक के प्रमुख अंग के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

इस तरह से कोई भी स्वास्थ्य चर, स्वास्थ्य शिक्षक (Health Educator) तथा चिकित्सक जनता की निम्नलिखित प्रकार से सेवा कर सकता है :

(क) रोग के संबंध में रोगी के भ्रमात्मक विचार तथा अंधविश्वास को दूर करना।

(ख) रोगी का रोगोपचार, स्वास्थ्य रक्षा तथा रोग के समस्त रोगनिरोधात्मक उपायों का ज्ञान करा सकना।

(ग) अपने ज्ञान से रोगी को पूरा विश्वास दिलाना जिससे रोगी अपनी तथा अपने परिवार की स्वास्थ्य रक्षा के हेतु उनसे समय समय पर राय ले सके।

(घ) रोग पर असर करनेवाले आर्थिक एवं सामाजिक प्रभावों का भी रोगी को बोध करावे तथा एक चिकित्सक, उपचारिका, स्वास्थ्य चर तथा इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले स्वयंसेवकों की कार्यसीमा कितनी है, इसका लोगों को बोध कराना अत्यंत आवश्यक है।

इस प्रकार से दी गई शिक्षा ही सही स्वास्थ्य शिक्षा कही जा सकती है और उसका जनता जनार्दन के लिये सही और प्रभावशाली असर हो सकता है। [प्रि॰ कु॰ चो॰]

स्विट्सरलैंड स्थिति: ४५°४६' से ४७°४६' उ॰ अ॰ तथा ५°५७' से १०°३०' पू॰ दे॰। यह मध्य यूरोप का एक छोटा जनतांत्रिक देश है जिसमें २२ प्रदेश (Canton) हैं। इसके पश्चिम और उत्तर पश्चिम में फ्रांस, दक्षिण में इटली, पूर्व में आस्ट्रिया और लिक्टेनस्टाइन (Liechtenstein) तथा उत्तर में पश्चिमी जर्मनी स्थित है। इसका कुल क्षेत्रफल ४१,२८८ वर्ग किमी है। स्विट्सरलैंड की पूर्व से पश्चिम तक की अधिकतम लंबाई ३६० किमी तथा अधिकतम चौड़ाई २२० किमी है।

यूरोप महाद्वीप में स्विट्सरलैंड सबसे अधिक पर्वतीय देश है। हिमाच्छादित आल्प्स (Alps) और जूरा (Jura) पर्वत इसका ३/४ भाग घेरे हुए हैं। जूरा पर्वत देश के उत्तर पश्चिम भाग में एक बड़ा अर्धवृत्त बनाते हैं। इन दोनों पर्वतश्रेणियों के बीच में मिडिललैंड पठार स्थित है और इसी पठार में अधिकांश लोग रहते हैं। बहुत से छोटे छोटे जिलों से मिलकर बने होने से प्राकृतिक एकता बहुत कम अथवा नहीं के बराबर है। ये जिले भाषा, धर्म, रीतिरिवाज और मानवजाति विज्ञान (Ethnology) में एक दूसरे से भिन्न हैं।

आधुनिक स्विट्सरलैंड में तीन बड़ी नदी घाटियाँ रोन, राइन और आर हैं। ये आल्प्स की मुख्य शृंखला के उत्तर में हैं। राइन और रोन घाटियाँ, आर घाटी से बर्नीज ओबरलैंड और टोडी आल्प्स की उत्तरी श्रेणी द्वारा अलग हैं। टिसिनो और इन अन्य प्रमुख नदियाँ हैं। राइन, रोन, टिसिनो, और इन क्रमशः उत्तरी सागर, भूमध्यसागर, ऐड्रियाटिक सागर और कृष्णसागर में गिरती हैं।

मांटे रोजा की ड्यूफोरस्पिट्ज (Dufourspitze) मिशाबेल श्रेणी का डोम तथा बर्नीज ओबरलैंड में फिंटरार हार्न मुख्य ऊँची चोटियाँ हैं। आल्प्स की भूतात्विक रचना बहुत ही जटिल एवं दुरूह है। जूरा पर्वत मोड़ तथा अनावरण में कम जटिल है। मध्य मैदानी भाग आदिनूतनयुग तथा मध्यनूतनयुग का बना है।

झील, जलप्रपात तथा हिमसरिताएँ — स्विट्सरलैंड प्राकृतिक सौंदर्य के लिये विश्वविख्यात है। झीलों, जलप्रपातों और हिमाच्छादित पर्वतश्रेणियों के कारण संसार का महत्वपूर्ण पर्यटन एवं स्वास्थ्यवर्धक केंद्र है। इस देश के १/५ भूभाग पर (लगभग ८७,००० वर्ग किमी) जलाशय है। झीलों में मुख्य ब्रिज, कांसटैंस, जेनेवा, और लूसर्न आदि हैं। स्विट्सरलैंड का सर्वोच्च जलप्रपात स्टाबक्ट (२८७ मी) है जो लॉटरब्रुनेन की घाटी में गिरता है। इस देश में लगभग १,००० हिमसरिताएँ हैं।

जलवायु — स्विट्सरलैंड ऐसे देश में, जिसका अक्षांशीय विस्तार २° से भी कम है, कई प्रकार की जलवायु पाई जाती है। संपूर्ण देश की जलवायु उत्साह एवं स्वास्थ्यवर्धक है। मिडिललैंड में औसत वर्षा ६१ सेमी होती है। जैसे जैसे ऊँचाई बढ़ती जाती है वर्षा तथा हिमपात भी बढ़ता जाता है। कई स्थानों पर पानी अधिकतर हिम के रूप में ही गिरता है। जुलाई गर्म महीना है। इन दिनों ताप १०° से २०° से॰ तक रहता है।

कृषि — पूरे देश के क्षेत्रफल का कुल ७५% भाग उपजाऊ है। लगभग ६६% फार्म ७५ एकड़ से कम तथा अधिकांश ७ से २५ एकड़ तक के हैं। अधिकांश कृषियोग्य भूमि केंद्रीय पठार मिडिललैंड में है। बर्न, वो (Vaud), फ्राइबर्ग तथा ज्यूरिख प्रदेश में गेहूँ की उपज अच्छी होती है।

पहाड़ी ढालों पर गेहूँ, राई, जौ, जई, आलू, चुकंदर तथा तंबाकू आदि की खेती होती है। शाक सब्जियाँ भी उगाई जाती हैं। फलों में सेब, नाशपाती, चेरी, बेर, खुमानी, अंगूर, काष्ठफल (nuts) आदि होते हैं। अंगूर से शराब बनाई जाती है।

घाटियों में जैतून और अन्य इमारती लकड़ीवाले पेड़ पाए जाते हैं। पशुओं में घोड़े, भेड़, बकरियाँ, गाय, बैल, सूअर तथा मुर्गियाँ आदि पाली जाती हैं। यहाँ अनेक डेयरी फार्म भी हैं। कृषि पर आधारित उद्योग धंधे पनीर, मक्खन और चीनी हैं।

खनिज — स्विट्सरलैंड में खनिजों की कमी है। केवल नमक की खानें पाई गई हैं। यहाँ पर कोयले का अभाव है। अल्प मात्रा में लोहा, मैंगनीज तथा ऐल्यूमिनियम के खनिज निकाले जाते हैं।

उद्योग धंधे — यहाँ का विश्वविख्यात उद्योग घड़ियों का निर्माण है। संसार के प्रायः सभी देशों को यहाँ से घड़ियाँ निर्यात की जाती हैं। सन् १९६० में घड़ियों के १,२७२ कारखाने थे, जिनमें लगभग ५६,६०० व्यक्ति कार्य करते थे।

वस्त्र उद्योग स्विट्सरलैंड का सबसे पुराना उद्योग है। यहाँ ऊनी, सूती, रेशमी तथा अन्य प्रकार के वस्त्र तैयार किए जाते हैं। रसायन और ओषधियों का भी निर्माण होता है। धातुकर्म काफी समुन्नत है। यहाँ नाना प्रकार के हथियारों से लेकर सूक्ष्म प्रकाशीय यंत्रों का भी निर्माण होता है।

शक्ति — जलविद्युत् शक्ति का विकास द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हुआ, जब युद्ध के कारण देश को कोयला मिलना बंद हो

गया था। नदियों पर अनेक बाँध बाँधकर जलविद्युत् उत्पन्न की जाती है। स्विट्सरलैंड में जलविद्युत् आवश्यकता से अधिक होने के कारण अन्य देशों जैसे फ्रांस, इटली तथा जर्मनी आदि को भी भेजी जाती है।

व्यापार — स्विट्सरलैंड का व्यापार बड़े महत्व का है। खाद्य-पदार्थ और कच्चे माल, जैसे अनाज, मांस, लोहा, तांबा, भारी मशीनें और वाहन आदि का आयात किया जाता है तथा घड़ियाँ, रजक, औषधियाँ, रसायन तथा कुछ मशीनें भी निर्यात की जाती हैं। निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक होता है। जिन देशों को चीजें निर्यात की जाती हैं उनमें फ्रांस, इटली, जर्मनी, इंग्लैंड, स्पेन, स्वीडेन, तुर्की, अर्जेंटाइना तथा संयुक्त राज्य अमरीका हैं।

यातायात एवं संचार — स्विट्सरलैंड के रेलपथ की लंबाई सन् १९६० में ५,६४१ किमी थी। यहाँ की रेल व्यवस्था यूरोप के सर्वोत्कृष्ट रेल व्यवस्थाओं में से एक है। स्विट्सरलैंड अपनी प्राकृतिक स्थिति के कारण अंतर्राष्ट्रीय रेलों का केंद्र है। ५३% रेलें सरकारी व्यवस्था के अधीन हैं। सन् १९६० में पक्की सड़कों की कुल लंबाई १७,४४५ किमी थी।

यहाँ की डाक तार व्यवस्था बहुत अच्छी है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक डाक पहुँचाने के लिये बसों का प्रयोग किया जाता है। यहाँ डाक तार व्यवस्था के अंतर्गत रेडियो और टेलीविजन भी आते हैं। ये सभी व्यवस्थाएँ सरकार के अधीन हैं।

स्विट्सरलैंड के पास अनेक व्यापारिक जहाज हैं जिनसे माल बाहर से मँगाया तथा भेजा जाता है। इनका प्रधान कार्यालय बेसिल में है। यह आयात निर्यात का मुख्य केंद्र है। यहाँ का वायु-मार्ग भी पर्याप्त विकसित है। वायुयानों के द्वारा लाखों यात्री, हजारों टन डाक और माल प्रति वर्ष आता जाता है। सन् १९६० में 'स्विस एअर' कंपनी के पास ३६ वायुयान थे जो यातायात के लिये प्रयुक्त होते थे। इस कंपनी के अलावा स्विट्सरलैंड में २४ अन्य विदेशी कंपनियाँ भी हैं जो यातायात का कार्य करती हैं।

शिक्षा तथा धर्म — स्विट्सरलैंड का प्रत्येक व्यक्ति भली भाँति लिख पढ़ सकता है। प्रारंभिक शिक्षा निःशुल्क है। ६ से १५ वर्ष की आयु के बच्चों का स्कूल जाना अनिवार्य है। बालक एवं बालिकाओं की शिक्षा का प्रबंध एक साथ ही है। प्रत्येक विद्यार्थी के लिये अपनी स्थानीय भाषा के अतिरिक्त एक अन्य भाषा सीखना अनिवार्य है। व्यावसायिक एवं प्रशासनिक विद्यालय भी हैं। स्विट्सरलैंड में कुल ७ विश्वविद्यालय हैं तथा जूरिख में एक 'फेडरल इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नोलॉजी है'।

मुख्य धर्म ईसाई धर्म है। किसी भी व्यक्ति को किसी भी गिरजाघर में पूजा करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। कुल जनसंख्या के लगभग ५२·७% प्रोटेस्टेंट, ४२% रोमन कैथोलिक, ०.९% पुराने कैथोलिक और ·०४% यहूदी हैं। धर्म का भाषा से कोई संबंध नहीं है।

भाषा — यहाँ तीन आधिकारिक राष्ट्रीय भाषाएँ जर्मन, फ्रांसीसी तथा इतालवी हैं। स्विट्सरलैंड के कुछ निवासी जर्मन से मिलती जुलती, कुछ फ्रांसीसी से मिलती जुलती तथा कुछ प्राचीन इतालवी से मिलती जुलती बोली बोलते हैं। एक और अन्य भाषा को, जो पुराने लैटिन से मिलती जुलती है, रीटो रोमंश (Rhaeto Romansh) कहते हैं। यह भाषा भी स्विट्सरलैंड के एक प्रदेश ग्राउबनडेन में बोली जाती है। इस भाषा का पूर्ण विकास अभी तक नहीं हुआ है।

पर्यटन — यहाँ की आय का एक साधन पर्यटन भी है। संसार के प्रत्येक देश से पर्यटक यहाँ स्वास्थ्यलाभ एवं सौंदर्य-दर्शन हेतु आते हैं। पर्वतारोहियों के लिये भी स्विट्सरलैंड आकर्षण का केंद्र है। यहाँ की जलवायु शुष्क एवं ठंढी है तथा क्षय रोगियों के लिये अत्यंत उत्तम है। ऊष्ण जल के झरने और खनिज जल की स्वास्थकर झीलों से भी पर्यटक आकर्षित होते हैं।

जनसंख्या एवं प्रमुख नगर — सन् १९६० में यहाँ की जनसंख्या ५४,२९,०६१ थी। जिसमें ६७% ग्रामीण तथा ३३% शहरी लोग थे। जनसंख्या का घनत्व ३४७ व्यक्ति प्रति वर्ग किमी था।

मुख्य नगर जूरिख, बेसिल, जेनेवा, बर्न, सेंट गालेन, लूसर्न और विंटरथर आदि हैं। [रा० प्र० सि०]

स्विफ्ट, जोनाथन (१६६७–१७४५ ई०) तीखे व्यंग्य का जैसा निर्मम प्रहार स्विफ्ट की रचनाओं में मिलता है वैसा शायद ही कहीं अन्यत्र मिले। इनका जन्म आयरलैंड के डबलिन नगर में हुआ था। पंद्रह वर्ष की अवस्था में इन्होंने डबलिन के ट्रिनिटी कालेज में प्रवेश किया। कालेज छोड़ने के साथ ही इन्होंने सर विलियम टेंपुल के यहाँ उनके सेक्रेटरी के रूप में काम करना प्रारंभ किया और उनके साथ सन् १६९९ ई० तक रहे। वह समय दलगत राजनीति की दृष्टि से बड़े कशमकश का था और स्विफ्ट ने ह्विग पार्टी के विरुद्ध टोरी दल का साथ दिया। ये एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे। टोरी सरकार से इन्होंने अपनी सेवाओं के पुरस्कारस्वरूप बड़ी आशाएँ की थी जो पूरी नहीं हुईं। जीवन के अंतिम दिन निराशा और दुःख में बीते।

स्विफ्ट की प्रारंभिक आकांक्षा कवि होने की थी, लेकिन इनकी साहित्यिक प्रतिभा अंततः व्यंग्यात्मक रचनाओं में मुखरित हुई। इनकी पहली महत्वपूर्ण कृति 'बैटल ऑव द बुक्स' सन् १६९७ में लिखी गई लेकिन सन् १७०४ में बिना लेखक के नाम के छपी। इस पुस्तक में स्विफ्ट ने प्राचीन तथा आधुनिक लेखकों के तुलनात्मक महत्व पर व्यंग्यात्मक शैली में अपने विचार व्यक्त किए हैं। जहाँ एक ओर प्राचीन लेखकों ने मधुमक्खी की तरह प्रकृति से अमृततुल्य ज्ञान का संचय किया, आधुनिक लेखक मकड़ी की तरह अपने ही आंतरिक भावों का ताना बाना प्रस्तुत करते हैं।

इनकी दूसरी महत्वपूर्ण रचना 'द टेल ऑव ए टब' भी सन् १७०४ में गुमनाम ही छपी। इस पुस्तक में स्विफ्ट ने रोमन चर्च एवं डिसेंटर्स की तुलना में अंग्रेजी चर्च को अच्छा सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

स्विफ्ट का 'गुलिवर्स ट्रैवेल्स' अंग्रेजी साहित्य की सर्वोत्तम रचनाओं में से है। गुलिवर एक साहसी यात्री है जो नए देशों की खोज में ऐसे ऐसे स्थानों पर जाता है जहाँ के लोग तथा उनकी सभ्यता मानव जाति तथा उसकी सभ्यता से सर्वथा भिन्न हैं। तुलनात्मक अध्ययन द्वारा स्विफ्ट ने मानव समाज-व्यवस्था, शासन, न्याय, स्वार्थपरता के परिणामस्वरूप होनेवाले युद्ध आदि पर तीव्र प्रहार किया। प्राय: उनका रोष संयम की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। कहीं कहीं ऐसा प्रतीत होता है जैसे उन्हें मानव जाति से तीव्र घृणा हो। कतिपय आलोचकों ने स्विफ्ट की घृणा का कारण उनके जीवन की असफलताओं को बताया है। लेकिन इस महान् लेखक को व्यक्तिगत निराशा की अभिव्यक्ति करनेवाला मात्र स्वीकार करना उसके साथ अन्याय करना होगा। स्विफ्ट ने 'गुलिवर्स ट्रैवेल्स' में समाज एवं शासन की बुराइयों पर तीखा व्यंग्य करने के साथ ही साथ सत्य और न्याय के ऊँचे आदर्शों की स्थापना भी की और इसी कारण इनकी गणना अंग्रेजी साहित्य के महानतम लेखकों में है। [सु० ना० सिं०]

स्वीडेन स्थिति : ५५° २०' से ६९° ४' उ० अ० तथा १०° ५८' से २४° १०' पू० दे०। यह स्कैंडिनेवियन देशों में सबसे बड़ा तथा यूरोप का चौथा बड़ा देश है। इसका अधिकांश भाग बाल्टिक सागर के किनारे है। शीतकाल में यह सागर जम जाता है। स्वीडेन का समुद्रतट अधिक कटाफटा नहीं है। स्वीडेन के पूर्व और दक्षिण में कैटेगैट (Kattegat) तथा स्कैगेरैक (Skagerrak) स्थित हैं। स्वीडन का कुल क्षेत्रफल ४,४९,६६२ वर्ग किमी है। कुल क्षेत्रफल का ३८,५६९ वर्ग किमी भाग जल से भरा है। स्वीडेन की उत्तर से दक्षिण तक की अधिकतम लंबाई १,५७४ किमी तथा चौड़ाई ४९९ किमी है।

नदियों तथा झीलों की अधिकता के कारण यहाँ की जलवायु बहुत ठंडी नहीं है। यहाँ लगभग सात मास जाड़ा पड़ता है। ग्रीष्म काल लगभग दो मास (मई, जून) का होता है। ग्रीष्मकाल का सर्वाधिक लंबा दिन २१ घंटे का होता है। यहाँ की औसत वर्षा लगभग ५० सेंमी है।

स्वीडेन को चार भौगोलिक विभागों में बाँटा जा सकता है — १. नारलैंड (Norrland) — यह स्वीडेन का उत्तरी भाग है। इसके अंतर्गत स्वीडेन का लगभग ६०% भाग आता है। २. झीलों का प्रांत — यह नारलैंड के दक्षिण में स्थित है। स्वीडेन में कुल ९६,००० झीलें हैं। ३. स्मालैंड — यह दक्षिणी स्वीडेन के मध्य में स्थित है। यहाँ जंगलों तथा दलदलों की अधिकता है। ४. स्केनिया — यह स्वीडेन का दक्षिणी पश्चिमी भाग है। इस प्रदेश की भूमि बहुत ही उपजाऊ है।

स्वीडेन में लगभग ९% भूमि पर खेती होती है। गेहूँ, जौ, राई तथा चुकंदर आदि यहाँ के प्रमुख कृषि उत्पादन हैं। यद्यपि खाद्यान्न की दृष्टि से स्वीडेन लगभग आत्मनिर्भर है तथापि कुछ खाद्य सामग्री आयात की जाती है।

स्वीडेन में कोयले के अभाव के कारण जलविद्युत् शक्ति का बहुत विकास हुआ है। उत्तरी स्वीडेन की जलशक्ति दक्षिणी स्वीडेन के उद्योग धंधों के लिये लगभग १६०० किमी लंबे पारेषण लाइन (Transmission line) द्वारा पहुँचाई जाती है। हारस्प्रांग (Harsprong) दुनियाँ का दूसरा सबसे बड़ा जलविद्युत् केंद्र है। यहाँ से रेलों तथा औद्योगिक केंद्रों को विद्युत पहुँचाई जाती है।

स्वीडेन की आय का प्रमुख साधन यहाँ की वनसंपत्ति है। इन वनों में पाइन, बर्च, ऐश, ओक और बीच आदि के वृक्ष उगते हैं। इनसे अनेक पदार्थ जैसे इमारती लकड़ी, फर्नीचर, काष्ठ लुगदी, सेलुलोज और कागज आदि का निर्माण होता है। दियासलाई निर्माण का भी यह प्रमुख केंद्र है। यहाँ के निवासी बड़े परिश्रमी होते हैं।

स्वीडेन में खनिज पदार्थों की बहुलता है। यहाँ का लौहखनिज अपनी उत्कृष्टता के लिये विश्वप्रसिद्ध है। उत्तरी स्वीडेन के किरुना तथा गैलिवरा क्षेत्रों में उच्च श्रेणी के लोहे के अयस्क पाए जाते हैं। इन अयस्कों में ६०% से ७१% तक लोहा पाया जाता है। यहाँ से इस्पात तथा लौह अयस्क का निर्यात होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्वीडेन का निर्यात मुख्यत: ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य देशों को होता है। उससे पहले विशेषत: जर्मनी को होता था। लोहे के अतिरिक्त यहाँ चाँदी, सीसा, मैंगनीज, जस्ता तथा ताँबा आदि के खनिज भी पाए जाते हैं।

स्वीडेन के प्रमुख नगरों में स्टाकहोम तथा गोटेबर्ग मुख्य हैं। स्टाकहोम स्वीडेन की राजधानी है। यह नगर उद्योगों तथा रेलों का केंद्र है। गोटेबर्ग स्वीडेन का व्यापारिक केंद्र है। यह दक्षिणी स्वीडेन के पश्चिमी भाग में स्थित है। यह देश के अन्य भागों से रेलों तथा नहरों से जुड़ा हुआ है।

स्वीडेन का हर व्यक्ति भली भाँति लिखना पढ़ना जानता है। यहाँ ७ से ९ वर्ष की आयु तक शिक्षा अनिवार्य तथा नि:शुल्क है। स्वीडेन में चार विश्वविद्यालय हैं। इनका अधिकांश व्यय सरकार वहन करती है। यहाँ की भाषा स्वीडिश है। संविधान द्वारा सभी धर्मों को पूरी छूट मिली हुई है फिर भी यहाँ ९४% लोग लूथरन धर्म के अनुयायी हैं। [रा० स० ख०]

स्वेच्छा व्यापार (Laissez Faire) स्वेच्छा व्यापार सिद्धांत का प्रतिपादन रूढ़िवादी अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया था। उनका विश्वास था कि यदि राजव्यवस्था ने जनता के आर्थिक निर्णय और अभिरुचियों में हस्तक्षेप किया, तो व्यक्ति अपने इच्छानुसार वस्तुओं की मात्रा और गुण का उत्पादन न कर सकेंगे, फलत: कल्याण अधिकतम न हो पाएगा। इसलिये अर्थशास्त्रियों ने प्रशासन को रक्षा तथा देश में शांतिस्थापना आदि प्रारंभिक कर्तव्यों तक ही सीमित रखना चाहा और राज्य की नीति ऐसी निर्धारित की कि राज्याधिकारी समाज के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप न कर सकें।

इस सिद्धांत ने काफी समय तक आर्थिक व्यवस्था पर अपना प्रभाव बनाए रखा। किंतु समय परिवर्तन के साथ इसकी कार्यविधि में अनेक दोष पाए गए। प्रथम तो यह देखा गया कि आर्थिक व्यवस्था

सरकार द्वारा पथप्रदर्शन के प्रभाव में किसी नीति अथवा विधा-विशेष का अनुसरण नहीं करती जिसके कारण इसमें अनेक सामाजिक और आर्थिक कमजोरियाँ आ जाती हैं। आयविभाजन में विषमता आ जाती है तथा देश के उत्पत्तिसाधनों का पूर्णतः प्रयोग नहीं हो पाता। द्वितीय, अनियंत्रित बाजार अर्थव्यवस्था के कारण प्रजातंत्रीय राज्य की सामाजिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकतीं। तृतीय, स्वेच्छा व्यापार के अंतर्गत देश के निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन नहीं मिलता, अधिक उन्नत देशों की औद्योगिक स्पर्धा के कारण देश के निर्यात उद्योग विकसित नहीं हो पाते। चतुर्थ, इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था के अंतर्गत आर्थिक शोषण बढ़ता जाता है तथा श्रमिक वर्ग आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विषमता का शिकार बना रहता है। अंत में यह सिद्धांत यद्यपि व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्रदान करता है तथापि सामाजिक स्वतंत्रता से संबंध नहीं रख पाता।

आज के राजनीतिक तथा आर्थिक विचारक स्वेच्छा व्यापार के सिद्धांत को व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था में उतना ही अपूर्ण मानते हैं जितना नियोजित अर्थव्यवस्था को स्वेच्छा व्यापार के अंश के बिना। आर्थर लैविस (W. Arthur Lewis) के अनुसार शत प्रतिशत मार्गनिर्धारण उतना ही असंभव है जितना शत प्रतिशत स्वेच्छा व्यापार। आधुनिक काल में सभी देशों की अर्थव्यवस्थाओं में, आर्थिक नियोजन में स्वेच्छा व्यापर के सिद्धांतों का आंशिक समावेश अवश्य होता है। [अ० ना० अ०]

स्वेज नहर लाल सागर और भूमध्य सागर को संबद्ध करने के लिये सन् १८५९ में एक फ्रांसीसी इंजीनियर की देखरेख में इस नहर का निर्माण शुरू हुआ था। यह नहर आज १६५ किमी लंबी, ४८ मी चौड़ी और १० मी गहरी है। दस वर्षों में बनकर यह तैयार हो गई थी। सन् १८६९ में यह नहर यातायात के लिये खुल गई थी। पहले केवल दिन में ही जहाज नहर को पार करते थे पर १८८७ ई० से रात में भी पार होने लगे। १८६६ ई० में इस नहर के पार होने में ३६ घंटे लगते थे पर आज १८ घंटे से कम समय ही लगता है।

इस नहर का प्रबंध पहले 'स्वेज कैनाल कंपनी' करती थी जिसके आधे शेयर फ्रांस के थे और आधे शेयर तुर्की, मिस्र और अन्य अरब देशों के थे। पीछे मिस्र और तुर्की के शेयरों को अंग्रेजों ने खरीद लिया। १८८८ ई० में एक अंतरराष्ट्रीय उपसंधि के अनुसार यह नहर युद्ध और शांति दोनों कालों में सब राष्ट्रों के जहाजों के लिये बिना रोकटोक समान रूप से आने जाने के लिये खुली थी। इस नहर पर किसी एक राष्ट्र की सेना नहीं रहेगी, ऐसा करार था, पर अंग्रेजों ने १६०४ ई० में इसे तोड़ दिया और नहर पर अपनी सेनाएँ बैठा दीं और उन्हीं राष्ट्रों के जहाजों के आने जाने की अनुमति दी जाने लगी जो युद्धरत नहीं थे। १६४० ई० में स्वेज कैनाल कंपनी और मिस्र सरकार के बीच यह निश्चय हुआ कि कंपनी के साथ ६६ वर्ष का पट्टा रद्द हो जाने पर इसका स्वामित्व मिस्र सरकार के हाथ आ जायगा। १६५१ ई० में मिस्र में ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध आंदोलन छिड़ा और अंत में १६५४ ई० में एक करार हुआ जिसके अनुसार ब्रिटेन की सरकार कुछ शर्तों के साथ नहर से अपनी सेना हटा लेने पर राजी हो गई। पीछे मिस्र ने इस नहर का राष्ट्रीयकरण कर इसे अपने पूरे अधिकार में कर लिया।

इस नहर के कारण यूरोप से एशिया और पूर्वी अफ्रीका का सरल और सीधा मार्ग खुल गया और इससे लगभग ६,००० मील की दूरी की बचत हो गई। इससे अनेक देशों, पूर्वी अफ्रीका, ईरान, अरब, भारत, पाकिस्तान, सुदूर पूर्व एशिया के देशों, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि देशों के साथ व्यापार में बड़ी सुविधा हो गई है और व्यापार बहुत बढ़ गया है। [रा० स० ख०]

हंगरी गणतंत्र स्थिति : ४५° ५०' से ४८° ४०' उ० अ० तथा १६° से २३° पू० दे०। इस गणतंत्र की अधिकतम लंबाई २५६ किमी और चौड़ाई ४२८ किमी है। हंगरी, मध्ययूरोप की डेन्यूब नदी के मैदान में स्थित है। इसके उत्तर में चेकोस्लोवाकिया और सोवियत संघ, पूर्व में रोमानिया, दक्षिण में युगोस्लाविया तथा पश्चिम में आस्ट्रिया हैं। इस देश में समुद्रतट नहीं है।

प्राकृतिक बनावट — यह आल्प्स पर्वतश्रेणियों से घिरा है। यहाँ कार्पेथिऐन पर्वत भी है जो मैदान को लघु एल्फोल्ड और विशाल एल्फोल्ड नामक भागों में विभक्त करता है। सर्वोच्च शिखर केकेस ३,३३० फुट ऊँचा है। इसमें दो बड़ी झीलें हैं — (१) बालाटान (लंबाई ७७.५ किमी और चौड़ाई ५ किमी) (२) न्यूसीडलर (इसे हंगरी में फर्टो (Ferto) कहते हैं)। प्रमुख नदियाँ हैं : डेन्यूब, टिजा और द्रवा।

जलवायु — देश की जलवायु शुष्क है। शीतकाल में अधिक सरदी और ग्रीष्मकाल में अधिक गरमी पड़ती है। न्यूनतम ताप ४° सें० और अधिकतम ताप ३६° सें० से भी अधिक हो जाता है। पहाड़ी जिलों में औसत वर्षा १०१६ मिमी और मैदानी जिलों में ३८१ मिमी होती है। सबसे अधिक वर्षा जाड़े में होती है जो खेती के लिये हानिप्रद नहीं होती है।

कृषि — राष्ट्र की आधे से अधिक आय कृषि से होती है। डेन्यूब नदी के मैदानों में मक्का, गेहूँ, जौ, राई आदि अनाजों के अतिरिक्त आलू, चुकंदर प्याज और सन भी उगाए जाते हैं। चुकंदर से चीनी बनाई जाती है। यहाँ अच्छे फल भी उगते हैं। अंगूर से एक विशिष्ट प्रकार की शराब टोके (Tokay) बनाई जाती है। मैदानों में चरागाह हैं जहाँ हिरण, सूअर और खरगोश आदि पशु पाले जाते हैं। पैप्रीका (paprika) नामक मिर्च होती है। यहाँ के वनों में चौड़े पत्तेवाले पेड़, ओक, बीच, ऐश तथा चेस्टनट पाए जाते हैं।

खनिज संपत्ति — देश में खनिज धन अधिक नहीं है। लोहे, मैंगनीज और ऐलुमिनियम (बोक्साइट) के कुछ खनिज निकाले जाते हैं। लोहे के खनिज निम्न कोटि के हैं। कुछ पेट्रोलियम एवं प्राकृतिक गैस भी निकलती है। लिग्नाइट कोयला भी यहाँ निकाला जाता है। जलविद्युत् के उत्पादन के साधनों का यहाँ बहुत अभाव है।

उद्योग धंधे तथा विदेशी व्यापार — आटा पीसने के अनेक कारखाने हैं। शराब पर्याप्त परिमाण में बनती है और बाहर भेजी जाती है। चीनी का परिष्कार महत्व का उद्योग है। सन से भी अनेक सामान तैयार किए जाते हैं। निर्यात् की वस्तुओं में सूअर, मुर्गियाँ, सूती वस्त्र, आटा, चीनी, मक्खन, ताजे फल, मक्का, शराब, ऊन और सीमेंट आदि हैं। आयात की वस्तुओं में कच्ची रूई, कोयला, इमारती लकड़ी, नमक आदि हैं। छोटी छोटी मशीनें भी यहाँ बनती हैं और उनका निर्यात होता है। यहाँ का व्यापार सोवियत रूस, चेकोस्लोवाकिया, जर्मनी, पोलैंड, यूगोस्लाविया आदि से होता है।

अधिवासी — हंगरी के अधिवासियों को मग्यार (Magyars) कहते हैं। लगभग ६० प्रतिशत मग्यार ही यहाँ रहते हैं; शेष जनसंख्या में जर्मन, स्लोवाक, रोमानियन, क्रोट, सर्ब और जिप्सी हैं। लगभग आधी जनसंख्या नगरों में रहती है। हंगरी की कुल जनसंख्या १,००,५०,००० (१९६२ अनुमानित) है। यहाँ के निवासी स्वतंत्र प्रकृति के और आनवाले होते हैं। इनके लोकगीत और नृत्य सुप्रसिद्ध हैं। यहाँ के लोग रंगबिरंगे वस्त्र पहनते हैं और स्वादिष्ट भोजन करते हैं। यहाँ के रसोइए जगत् प्रसिद्ध हैं। यहाँ के निवासी फुटबाल, टेनिस, घुड़सवारी, तैराकी आदि के शौकीन हैं।

भाषा और धर्म — हंगरी के ६८ प्रतिशत निवासी रोमन-कैथोलिक, २७ प्रतिशत प्रोटेस्टेंट तथा शेष यहूदी एवं अन्य धर्मावलंबी हैं। यहाँ की भाषा मग्यार है।

यातायात — हंगरी में ८८०० किमी लंबी रेल, सड़कें, ९०८०० किमी लंबे राजमार्ग और १९२० किमी लंबा नौगम्य जलमार्ग है। यहाँ का हवाई अड्डा बहुत बड़ा है और समस्त यूरोपीय देशों से संबद्ध है। रेलमार्ग भी अन्य यूरोपीय देशों से संबद्ध है। देश के अंदर भी पर्याप्त विकसित वायु यातायात है।

नगर — हंगरी के प्रमुख नगर हैं : बुडापेस्ट (राजधानी), देब्रेसेन (Debrecen) जनसंख्या १,३४,०१९ (१९६१), मिशकोल्स (Miskolc) जनसंख्या १,५०,४५१ (१९६१), पेक (Peck) जनसंख्या १,२१,१७० (१९६१), सेगेड (Szeged) जनसंख्या १,०२,०२६ (१९६१) और ड्योर (Gyor) जनसंख्या ५५,००० । [रा० ना० मा०]

हंटर, जान (सन् १७२८–९३ ई०), अंग्रेज शरीरविद् तथा शल्यचिकित्सक का जन्म लैनेर्कशिर के लांग कैल्डरवुड ग्राम में हुआ था। ये विद्यालय में बहुत कम शिक्षा पा सके। १७ वर्ष की आयु में आलमारी बनाने के कारखाने में काम करने से जीविकोपार्जन आरंभ किया, पर तीन वर्ष बाद अपने बड़े भाई, विलियम हंटर, के शरीर-विच्छेदन कार्य (dissection) में सहायता देने के लिये लंदन चले गए। सन् १७५४ में सेंट जॉर्ज अस्पताल से इनका संबंध हुआ, वहाँ दो वर्ष बाद ये हाउस सर्जन नियुक्त हुए। सन् १७६० ई० में बेलआइल (Belleisle) के अभियान में स्टाफ सर्जन के पद पर गए। तत्पश्चात् पोर्चुगाल में सेना में कार्य कर, सन् १७६३ ई० में वापस आए तथा चिकित्सा व्यवसाय आरंभ किया।

प्रातः और रात्रि का समय विच्छेदन और प्रयोगों में इन्होंने लगाना आरंभ किया। सन् १७६८ ई० में सेंट जॉर्ज अस्पताल में शल्यचिकित्सक नियुक्त हुए, इस बीच इन्होंने शल्य चिकित्सा के नियमों की जो परिकल्पनाएँ प्रस्तुत कीं, वे उनके समय के चिकित्सकों की शरीर संबंधी प्रचलित धारणाओं से अत्यग्रिम होने के कारण उनकी समझ में न आईं। सन् १७७२ ई० से इन्होंने शल्यचिकित्सा पर व्याख्यान देना आरंभ किया। सन् १७७६ ई० में इंगलैंड के राजा, जार्ज तृतीय, के विशेष शल्यचिकित्सक नियुक्त हुए। सन् १७६७ ई० में रॉयल सोसायटी के सदस्य मनोनीत हुए तथा सन् १७७६ ई० से लेकर १७८२ ई० तक 'पेशीय गति' पर आपने व्याख्यान दिए। सन् १७८८ ई० में पॉट की मृत्यु के पश्चात् ब्रिटेन के सर्वश्रेष्ठ शल्यचिकित्सक माने जाने लगे।

हंटर ने अपने ज्ञान का विस्तार पुस्तकों से नहीं, वरन् निरीक्षण तथा प्रयोगों से किया। सन् १७६७ ई० में इनकी पिंडली की कंडरा (tendon) टूट गई थी तब इन्होंने कंडराओं की चिकित्सा का अध्ययन किया। इसी से आधुनिक अधस्त्वचीय कंडरोपचार का जन्म हुआ। 'मानव दंतों का प्राकृतिक इतिहास' शीर्षक से लिखे आपके ग्रंथ में सर्वप्रथम इस विषय के वर्तमान प्रचलित पदों का उपयोग हुआ जिससे दंतचिकित्सा में क्रांति आ गई। सन् १७७२ ई० में आपने 'मृत्युपश्चात् पाचन' और जैव शक्तिवाद पर महत्व के अपने विचार प्रकट किए। सन् १७८५ ई० में इन्होंने पाया कि यदि हरिण के शृंगाग्र की मुख्य धमनी को बाँध दिया जाय, तो भी संपार्श्विक रक्तसंचरण इतना हो जाता है कि शृंग की वृद्धि हो सके। जानुपश्च उत्स्फार (politeal ancurysm) विकृति के उपचार के लिये इन्होंने इसी नियम का उरु धमनी (temoral artery) के बंधन में उपयोग किया, जिससे इस प्रकार के रोगों की चिकित्सा का ढंग पूर्णतः बदल गया। जैव वैज्ञानिक तथा शरीरक्रियात्मक प्रयोगों से संबंधित आपने अनेक लेख लिखे। 'रक्त, शोथ तथा बंदूक के घाव' पर भी अपने प्रयोगों के आधार पर आपने एक ग्रंथ लिखा।

हंटर का सबसे बड़ा स्मारक वह संग्रहालय है, जिसकी आकल्पना इन्होंने सरलतम से लेकर जटिलतम वानस्पतिक और जंतुजगत् के तुलनात्मक अध्ययन के लिये की। इनकी मृत्यु के समय इसमें १३,६०० परिरक्षित द्रव्य थे, जिनपर इन्होंने लगभग दस लाख रुपए खर्च किए थे।

जॉन हंटर को आधुनिक शल्यचिकित्सा का संस्थापक माना जाता है। जैवविज्ञान के क्षेत्र में शीतनिष्क्रियता, मधुमक्खियों का स्वभाव, रेशम के कीड़े का जीवन, अंडों का परिपाक, पक्षियों के वायुकोष, मछलियों के विद्युतांग, पौधों के ताप और जीवाश्म संबंधी इनकी खोजें तथा जीवन के गुप्त ताप से संबंधित सिद्धांत आदि इनके श्रेष्ठ वैज्ञानिक होने के प्रमाण हैं। [भ० दा० व०]

हकीकत राय (सन् १७२४-४१) स्यालकोट (पश्चिमी पाकिस्तान) निवासी भागमल का धर्मपरायण एकमात्र पुत्र। मौलवी साहब की मकतब से अनुपस्थिति में हकीकत के सहपाठियों ने हिंदु देवी दुर्गा को गाली दी। विरोध में हकीकत ने कहा 'यदि मैं मुहम्मद

साहब की पुत्री फ़ातिमा के विषय में ऐसी ही अपमानजनक भाषा प्रयुक्त करूँ तो तुम लोगों को कैसा लगे? मौलवी साहब के समक्ष तथा स्यालकोट के शासक अमीर बेग की अदालत में हकीकत ने सच्ची बात कह सुनाई। तब भी मुल्लाओं की संमति ली गई। उन्होंने इस्लाम के अपमान का विचार भी मृत्युदंड ठहराया। लाहौर के सूबेदार खानबहादुर (जकरिया खान) की कचहरी में भी यही निर्णय बहाल रहा। मुल्लाओं के सुझाव के अनुसार प्राणरक्षा का अकेला साधन था — इस्लाम ग्रहण करना। पिता का अनुरोध, माता गौरां एवं अल्पवयस्का पत्नी दुर्गा के आँसू भी हकीकत को टस से मस न कर सके। माघ सुदी पंचमी को हकीकत को फाँसी दे दी गई। लाहौर से दो मील पूर्व दिशा में हकीकतराय की समाधि बनी हुई है।

सं० ग्रं० — काह्न सिंह : गुरुशबद रतनाकर। महान कोश (इंसाइक्लोपीडिया ऑव सिख लिटरेचर), द्वितीय संस्करण, १९६० ई० (भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला); कल्याण (बालक अंक), वर्ष २७, संख्या १ (गीता प्रेस, गोरखपुर) [न० क०]

हक्स्ले, टामस हेनरी (Huxley, Thomas Henry, सन् १८२५-१८९५) इस जीववैज्ञानिक का जन्म लंदन के ईलिंग नामक स्थान मे हुआ था। आपने चेयरिंग क्रास हॉस्पिटल में चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन किया। सन् १८४६ मे ये रॉयल नेवी के चिकित्सा विभाग में सहायक सर्जन नियुक्त हुए तथा एच० एम० एस० 'रैटिल स्नेक' पर, जो प्रवाल रोधिका (Barrier reef) वाले क्षेत्रों का मानचित्र तैयार करने के लिये भेजा गया था, सहायक सर्जन के रूप में गए। इस समुद्रयात्रा के समय हक्स्ले ने समुद्री, विशेष कर अपृष्ठवंशी जंतुओं का अध्ययन किया। इन्होंने हाइड्राइड पॉलिप और मेडुसी में संबंध स्थापित कर, यह सिद्ध किया कि ये जीव मूलत: दो स्तरो, बाह्य त्वचा तथा अंतस्त्वचा द्वारा बने निर्मित होते हैं। इसके बाद आप रॉयल सोसाइटी के सदस्य चुने गए। बाद मे इनकी रुचि पृष्ठवंशियो की ओर हुई और उन्होंने सन् १८५८ में करोटि के कशेरुक सिद्धांत (vertebral theory of skull) का प्रतिपादन किया। इनके इस सिद्धांत को ओवेन (Owen) द्वारा समर्थन प्राप्त हुआ।

ये डॉरविन (Darwin) के सिद्धांत के पहले की जीवविकाससंबंधी सभी खोजों से असंतुष्ट थे। इन्होंने डॉरविन के सिद्धांत का समर्थन किया तथा उसमें आवश्यक संशोधनों पर प्रकाश डाला। इन्होंने सन् १८६० से सन् १८७० तक जीवाश्मों (fossils) पर भी शोधकार्य किए और कई महत्वपूर्ण निबंध लिखे। सन् १८७० से १८८१ तक आप रायल सोसाइटी के सचिव तथा सन् १८८५ तक अध्यक्ष रहे। [नं० कु० रा०]

हजारीबाग बिहार का एक जिला है जिसका विस्तार २३° २५' से २४° ४९' उ० अ० तक तथा ८४° २७' से ८६° ३४' पू० दे० तक है। इसके उत्तर में गया तथा मुंगेर, दक्षिण में राँची, पूरब में मनभाव तथा पश्चिम में पलामू जिले हैं। इस जिले का क्षेत्रफल ७०१६ वर्ग मील एवं जनसंख्या २१,६६,४११ (१९६१) है। धरातल पठारी है जिसकी ऊँचाई १३०० फुट से लेकर २००० फुट है। यहाँ नाथ की पहाड़ी (४४८० फुट) सबसे ऊँची है। दामोदर तथा उसकी सहायक बराकर प्रमुख नदियाँ हैं। इस जिले में धान और मकई की खेती होती है परंतु खेती से अधिक महत्वपूर्ण यहाँ जंगल की लकड़ियाँ कोयला, अभ्रक, आदि खनिज पदार्थ हैं। यहाँ का नेशनल पार्क दर्शनीय है।

हजारीबाग नगर जिले का प्रमुख केंद्र है। इस नगर की जनसंख्या ४०,९५८ (१९६१) है। यहाँ बिहार का एक सेंट्रल जेल है। यह नगर सड़कों द्वारा राँची आदि अन्य नगरों से संबद्ध है तथा हजारीबाग रोड स्टेशन से ३३ किमी दूर है। [ज० सिं०]

हडसन, विलियम हेनरी (१८४१-१९२२) अंग्रेजी लेखक। जन्मस्थान, रियो दे ला प्लाता, ब्यूनस आयर्स, अर्जेंटाइना। अमरीकी मातापिता की संतान। प्रारंभिक जीवन अर्जेंटाइना के पास के विस्तृत मैदानोंवाले प्रदेश में ही बीता, परंतु १८६९ में वह दक्षिणी अमरीका छोड़कर इंग्लैंड आ गया। यहाँ उसका लगभग संपूर्ण जीवन, विशेषकर प्रारंभ में, निर्धनता और अकेलेपन के कारण कष्टपूर्ण रहा। १८७६ में उसने एमिली विनग्रेव से विवाह किया, और दस साल तक पत्नी ने बोर्डिंग हाउस चला चलाकर दोनों का भरणपोषण किया। १९०० में वह ब्रिटिश नागरिक बन गया। १९०१ में सरकारी पेंशन मिल जाने के कारण उसे कुछ सुविधा हो गई, परंतु परिस्थिति सुधरते ही उसने पेंशन लेना बंद कर दिया। बचपन से ही उसे प्रकृति से अत्यधिक अनुराग था और उसने उसका सूक्ष्म अध्ययन किया था, विशेषकर पक्षियों के जीवन का। उसके प्रकृतिवर्णन में वैज्ञानिक निस्संगता और तीव्र भावनानुभूति का अद्भुत सम्मिश्रण है।

हडसन की रचनाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: प्रथम वे रचनाएँ हैं जो दक्षिणी अमरीका से संबंधित हैं, यथा 'दि पर्पुल लैंड' (युरुग्वे) (१८८५), 'ए क्रिस्टल एज' (इसमें शांतिपूर्ण आदर्श कल्पनालोकों पर व्यंग्य किया गया है) (१८८७), 'ए नेचुरलिस्ट इन ला प्लाता' (१८९२), 'एल ऑम्बू' (१९०२), 'ग्रीन मैन्शंस' (१९०४), तथा 'फार ऍंड लॉंग एगो' (१९१८) जो आत्मकथात्मक है। 'ग्रीन मैंशंस' की अर्धपक्षी और अर्धमानव नायिका 'रीमा' उसके द्वारा निर्मित सबसे स्मरणीय चरित्र है।

ब्रिटिश प्रकृति एवं ग्राम्य प्रदेश से संबंधित कुछ रचनाएँ हैं: 'नेचर इन डाउनलैंड' (१९००), 'हैंपशायर डेज' (१९०३), 'अफ़ुट इन इंग्लैंड' (१९०९), 'ए शेपर्ड्स लाइफ़' (१९१०) तथा 'डेड मैंस प्लैंक' (१९२०)।

पक्षीजीवन से संबंधित रचनाओं में प्रमुख हैं : 'ब्रिटिश बर्ड्स' (१८९५), 'बर्ड्स ऍंड मेन' (१९०१) तथा 'बर्ड्स ऑव ला प्लाता' (१९२०)।

हडसन की कुछ अन्य पुस्तकें हैं : 'आइडिल डेज इन पैटागोनिया' (१८९३), 'ए लिटिल ब्वाय लॉस्ट' (१९०५), 'दि लैंड्स एंड' (१९०८), 'ए ट्रैवेलर इन लिटिल थिंग्स' (१९२१), तथा मृत्यु के बाद प्रकाशित 'ए हाइंड इन रिचमंड पार्क' (१९२२)।

[ब० सिं० मि०]

हड़ताल औद्योगिक माँगों की पूर्ति कराने के लिये हड़ताल मजदूरों का अत्यंत प्रभावकारी हथियार है। औद्योगिक विवाद अधिनियम १९४७ में हड़ताल की परिभाषा करते हुए लिखा गया है कि औद्योगिक संस्थान में कार्य करनेवाले कारीगरों द्वारा (जिनकी नियुक्ति कार्य करने के लिये हुई है) सामूहिक रूप से कार्य बंद करने अथवा कार्य करने से इनकार करने की कार्यवाही को हड़ताल कहा जाता है।

हड़ताल के अविभाज्य तत्वों में—औद्योगिक मजदूरों का संमिलित होना, कार्य का बंद होना अथवा कार्य करने से इन्कार करना और समान समझदारी से सामूहिक कार्य करने की गणना होती है। सामूहिक रूप से कार्य पर से अनुपस्थित रहने की क्रिया को भी हड़ताल की संज्ञा दी जाती है। हड़ताल के अंतर्गत उपर्युक्त तत्वों का उसमें समावेश है।

आम तौर पर मजदूरों ने मजदूरी, बोनस, मुअत्तली, निष्कासन-आज्ञा, छुट्टी, कार्य के घंटे, (continued) ट्रेड यूनियन संगठन की मान्यता आदि प्रश्नों को लेकर हड़तालें की हैं। श्रमिकों में व्याप्त असंतोष ही अधिकतर हड़तालों का कारण हुआ करता है। इंग्लैंड में श्रमिक संघों के विकास के साथ साथ मजदूरों में औद्योगिक उमंग अर्थात् उद्योगों में स्थान बनाने की भावना तथा राजनीतिक विचारों के प्रति रुचि रखने की प्रवृत्ति भी विकसित हुई। परंतु संयुक्त पूँजीवादी प्रणाली (Joint stock system) के विकास ने मजदूरों में असंतोष की सृष्टि की। इस प्रणाली से एक ओर जहाँ पूँजी के नियंत्रण एवं स्वामित्व में भिन्नता का प्रादुर्भाव हुआ, वहीं दूसरी ओर मालिकों और श्रमिकों के व्यक्तिगत संबंध भी बिगड़ते गए। फलस्वरूप द्वितीय महायुद्ध के बाद मजदूरी, बोनस, महँगाई आदि के प्रश्न हड़तालों के मुख्य कारण बने। इंग्लैंड में हड़तालें श्रमसंगठनों की मान्यता एवं उद्योग के प्रबंध में भाग लेने की इच्छा को लेकर भी हुई हैं।

वर्तमान काल में, हड़ताल द्वारा उत्पादन का ह्रास न हो, अतः सामूहिक सौदेबाजी (Collective bargalring) का सिद्धांत अपनाया जा रहा है। ग्रेट ब्रिटेन में श्रमसंगठनों को मालिकों द्वारा मान्यता प्राप्त हो चुकी है तथा सामूहिक सौदेबाजी के अंतर्गत जो भी समझौते हुए हैं उनको व्यापक बनाया जा रहा है।

अंतरराष्ट्रीय श्रमसंगठन की रिपोर्ट के अनुसार अमरीका में गैर-कृषिउद्योगों में कार्यरत एक तिहाई मजदूरों के कार्य की दशाएँ 'सामूहिक सौदेबाजी' के द्वारा निश्चित होने लगी हैं। स्विटजरलैंड में लगभग आधे औद्योगिक मजदूर सामूहिक अनुबंधों के अंतर्गत आते हैं। आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, जर्मन गणराज्य, लुकजंबर्ग, स्कैंडेनेवियन देशों तथा ग्रेट ब्रिटेन के अधिकांश औद्योगिक मजदूर सामूहिक करारों के अंतर्गत आ गए हैं। सोवियत संघ और पूर्वीय यूरोप के प्रजातंत्र राज्यों में भी ऐसे सामूहिक करार प्रत्येक औद्योगिक संस्थान में पाए जाते हैं।

प्रथम महायुद्ध से पूर्व भारतीय मजदूर अपनी माँगों को मनवाने के लिये हड़ताल का सुचारु रूप से प्रयोग करना नहीं जानते थे। इसका मूल कारण उनकी निरक्षरता, जीवन के प्रति उदासीनता और उनमें संगठन तथा नेतृत्व का अभाव था। प्रथम महायुद्ध की अवधि तथा विशेषकर उसके बाद लोकतंत्रीय विचारों के प्रवाह ने, सोवियत क्रांति ने, समानता, भ्रातृत्व और स्वतंत्रता के सिद्धांत की लहर ने तथा अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन ने मजदूरों के बीच एक नई चेतना पैदा कर दी तथा भारतीय मजदूरों ने भी साम्राज्यवादी शासन के विरोध, काम की दशाओं, काम के घंटे, छुट्टी, निष्कासन आदि प्रश्नों को लेकर हड़तालें कीं। [पु० ना०]

भारत में हड़तालों की पृष्ठभूमि — १९१४ के पूर्व का काल : भारत में सर्वप्रथम हड़ताल बंबई को 'टेक्सटाइल मिल' में १८७४ में हुई। तीन वर्ष उपरांत 'इंप्रेस मिल्स' नागपुर के श्रमिकों ने अधिक मजदूरी की माँग की पूर्ति न होने के फलस्वरूप हड़ताल की। १८८२ से १८९० तक बंबई एवं मद्रास में हड़तालों की संख्या २५ तक पहुँच गई। १८९४ में अहमदाबाद में श्रमिकों ने एक सप्ताह के स्थान पर दो सप्ताह पश्चात् मजदूरी देने के विरोध में हड़ताल का सहारा लिया, जिसमें ८०००, बुनकरों ने भाग लिया परंतु हड़ताल असफल रही। दूसरी बड़ी हड़ताल मई, १८९७ में बंबई के श्रमिकों ने दैनिक मजदूरी देने की प्रथा समाप्त कर देने के विरोध में की। यह भी असफल रही। उद्योगों में वृद्धि के फलस्वरूप बंबई एवं मद्रास में १९०५ से १९०७ तक काफी हड़तालें हुईं। १९०५ में कलकत्ता के भारतीय सरकारी प्रेस के श्रमिकों ने निम्नांकित माँगों की पूर्ति के लिये हड़ताल की :

१. रविवार एवं सरकारी (गजटेड) छुट्टियों एवं मजदूरी सहित अवकाश न देने पर,
२. अनियमित दंड देने पर,
३. अतिरिक्त समय के काम की मजदूरी न मिलने एवं
४. अधिकारियों द्वारा चिकित्सक के प्रमाणपत्र पर छुट्टी अस्वीकार करने पर।

यह हड़ताल लगभग एक मास तक चली। दो वर्ष उपरांत समस्तीपुर रेलकर्मचारियों ने अधिक मजदूरी की माँग में हड़ताल की। १९०८ में बंबई के टेक्सटाइल मिलों के श्रमिकों ने श्री बालगंगाधर तिलक के जेल भेजे जाने के फलस्वरूप हड़ताल की। इसके अतिरिक्त १९१० में बंबई में हड़तालें हुईं।

१९१४—१९२९ प्रथम विश्व महायुद्ध की समाप्ति ने अपूर्व संघर्षों को जन्म दिया। बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा के श्रमिकों ने हड़ताल की। सन् १९२० में बंबई, मद्रास, बंगाल, उड़ीसा, पंजाब और आसाम में करीब २०० हड़तालें हुईं। १९२१ से १९२७ तक भी हड़तालों की संख्या काफी रही। १९२८ की बंबई की भीषण हड़ताल की आग संपूर्ण देश में फैल गई। स्थिति सन् १९२९ तक पूर्ववत् रही।

१९३०–१९३८ के मध्य भी अधिक हड़तालें हुईं। परंतु इनकी संख्या पिछले वर्षों से अपेक्षाकृत काफी कम थी। १९३८ के द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका से पुनः एक बार श्रमिकों की आर्थिक दशा पर कुठाराघात किया गया। फलस्वरूप इनकी दशा और दयनीय हो

गई। तत्पश्चात् १६५० में ३२२ तथा १६५२ में ६६४ हड़तालें हुई। १६५२ से १६५६ के मध्य भी हड़तालें होती रहीं जिनमें जुलाई, १६५६ की डाक एवं तार विभाग के कर्मचारियों की आम हड़ताल अधिक महत्वपूर्ण है। इनका मुल कारण मजदूरी एवं महँगाई भत्ता में वृद्धि करना था।

१६४७–१६६६ — १६४७ में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने संघर्षों को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने के अनेक प्रयास किए। परंतु दिन प्रतिदिन महँगाई बढ़ने से श्रमिकों में असंतोष की ज्वाला कम न हुई। उदाहरणस्वरूप केंद्रीय सरकारी कर्मचारियों की हड़ताल, एयर इंडिया इंटरनेशनल के पाइलटों की हड़ताल, स्टेट बैंक एवं अन्य व्यापारिक बैंकों के कर्मचारियों की हड़ताल, हेवी इलेक्ट्रिकल, भोपाल के कर्मचारियों की हड़ताल, पोर्ट एवं डाक के मजदूरों की हड़ताल, राउरकेला, दुर्गापुर, भिलाई एवं हिंदुस्तान स्टील प्लांट के श्रमिकों की हड़ताल तथा अन्य छोटे बड़े उद्योगों की हड़तालें विशेष महत्व की हैं। इनसे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को अधिक क्षति पहुँची है।

सहानुभूतिक हड़ताल—कुछ ऐसी हड़तालें भी कभी कभी हो जाती हैं जिन्हें सामूहिक हड़तालें कहते हैं। ये श्रमिकों तथा मालिकों के किसी मतभेद के कारण नहीं, वरन् दूसरे उद्योग के श्रमिकों की सहानुभूति में होती हैं। इस प्रकार की हड़तालों को नियंत्रित करने के लिये कोई वैधानिक धारा नहीं है (दे० 'श्रमिक विधि')।

[सु० च० श्री०]

हत्ती या हित्ती प्राचीन खत्तियों (हित्ताइत) की जाति और भाषा। भाषा के रूप में खत्ती हिंद-यूरोपीय परिवार की है परंतु उसकी लिपि प्राचीन सुमेरी-बाबुली-असूरी है और उसका साहित्य अक्कादी (असूरी-बाबुली) अथवा उससे भी पूर्ववर्ती सुमेरी से प्रभावित है।

तुर्की (एशियाई) साम्राज्य के एक बड़े भाग के स्वामी खत्ती थे, जिनका अपना साम्राज्य था। वह साम्राज्य मध्यपूर्व के साम्राज्यों में (ई० पू० १७वीं–१२वीं सदियों में) तीसरा स्थान रखता था। उससे बड़े साम्राज्य अपने अपने राज्य में केवल मिस्रियों और असूरी-बाबुलियों के ही रहे थे। खत्तियों का लोहा, उनके उत्कर्षकाल में, बाबुलियों और मिस्रियों दोनों ने माना। फिलिस्तीन, लघुएशिया, सीरिया और दजला फरात के द्वाबे पर दीर्घकाल तक उनका दबदबा बना रहा। उनका पहला साम्राज्यकाल १७वीं से १५वीं सदी ई० पू० तक रहा, और दूसरा १४वीं से १२वीं सदी ई० पू० तक। मिस्री फ़राऊन रामसेज से उनका दीर्घकाल तक युद्ध होता रहा था और अंत में दोनों में संधि हुई। उनके भेजे शिष्टमंडल का स्वागत करते समय रामसेज ने तोरस पर्वत के पार हिमपात के परिवेश में बसनेवाले खत्तियों पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया था।

जर्मन पुराविद् ह्यूगो विंक्लर ने प्राचीन खत्ती राजधानी बोगाजकोइ (प्राचीन का आधुनिक प्रतिनिधि) से खोदकर बीस हजार ईंटें और पट्टिकाएँ निकाल लीं। इनपर कीलाक्षरों में प्राचीनतर जातियों का और स्वयं खत्तियों का साहित्य खुदा था। भारत के लिये इन ईंटों का बड़ा महत्व था क्योंकि वहीं मिली १४वीं सदी ई० पू० की एक पट्टिका पर ऋग्वेद के इंद्र, वरुण, मित्र, नासत्यों के नाम पाठपाठ में खुदे मिले थे। यह पट्टिका खत्ती मितन्नी दो राष्ट्रों के युद्धांतर का संधिपत्र थी जिसपर पुनीत साक्ष्य के लिये इन देवताओं के नाम दिए गए थे। इस अभिलेख से आर्यों के संक्रमण मार्ग पर प्रभूत प्रकाश पड़ा है।

ई० पू० की तृतीय सहस्राब्दी में कभी खत्तियों का लघुएशिया के पूर्वी भाग में प्रवेश हुआ और उन्होंने स्थानीय अनार्य संस्कृति की अनेक बातें सीखकर अपना लीं। खत्तियों का इस प्रकार अनेक भाषाओं और साहित्यों से संपर्क था और उन्होंने उनसे अपना ज्ञान-भंडार भरा। बोगजकोइ से मिली एक पट्टिका पर बराबर कालम बनाकर उनमें सुमेरी, अक्कादी, खत्ती आदि भाषाओं के शब्दपर्याय दिए हुए हैं। संसार के प्राचीनतम बहुभाषी शब्दकोशों में इसकी भी गणना है। अनेक बार तो बाबुली आदि साहित्यों के लिपिपाठ खत्तीसमानांतर अनूदित साहित्य से शुद्ध किए गए हैं। प्रसिद्ध सुमेरी-बाबुली काव्य गिल्गमेश के अनेक अंश, जो मूल पट्टिकाओं के टूट जाने से नष्ट हो गए थे, खत्ती पट्टिकाओं के मिलान से ही पूरे किए गए हैं।

खत्ती ऐतिहासिक साहित्य का अधिकांश राजवृत्तों से भरा है। लेखक वृत्तगद्य की साहित्यिक शैली में वृत्त लिखते थे और उनके नीचे अपना हस्ताक्षर कर देते थे। इन वृत्तों में अनेक प्रकार का ऐतिह्य है — असुरी-बाबुली-मिस्री राजाओं और सम्राटों के साथ सुलहनामे और अहदनामे, राजघोषणाएँ और राजकीय दानपत्र, नगरों के पारस्परिक विवादों में मध्यस्थता और सुलह, विद्रोही सामंतों के विरुद्ध साम्राज्य के अपराध परिगणन, सभी कुछ इन खत्ती अभिलेखों में भरा पड़ा है। इनमें विशेष महत्व के वे अगणित पत्र हैं जो खत्ती सम्राटों ने अन्य समकालीन नरेशों को लिखे थे या उनसे पाए थे। इन पत्रों को साधारणतः अमरना के टीले (तेल-एल-एमरना) के पत्र कहते हैं। प्राचीन काल की यह पत्रनिधि सर्वथा अद्वितीय और अनुपम है। इन पत्रों में एक बड़े महत्व का है। उसे खत्तियों के राजा शुप्पिलुलिउमाश के पास मिस्र की रानी ने भेजा था। उसमें रानी ने लिखा था कि खत्ती नरेश कृपया अपने एक पुत्र को उसका पुत्र बनने के लिये भेज दें। कुछ काल बाद इस निमित्त राजा का एक पुत्र मिस्र भेजा गया परंतु मिस्रियों ने उसे शीघ्र पकड़कर मार डाला।

बोगजकोइ के उस भांडार से एक बड़ा महत्वपूर्ण खत्ती और मिस्र के बीच अंतरराष्ट्रीय संधिपत्र उपलब्ध हुआ। जब खत्ती नरेश मुत्तालिश की सेनाओं ने मिस्री विजेता रामसेज द्वितीय की सेनाओं को १२८८ ई० पू० में एक देश के युद्ध में बुरी तरह पराजित कर दिया तब मुत्तालिश के उत्तराधिकारी खत्तुशिलिश तृतीय और मिस्र-राज के बीच संधि हुई। उसमें तय पाया कि मिस्र और खत्ती साम्राज्य के बीच बराबर मैत्री और पारस्परिक शांति बनी रहेगी। ई० पू० १२७२ में यह अहदनामा लिख डाला गया। अहदनामा चाँदी की पट्टिका पर खुदा है और उसमें १८ पैराग्राफ हैं। खोदकर वह रामसेज के पास भेजा गया था। उसकी मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं — दोनों में से कोई दूसरे पर आक्रमण न करेगा, दोनों पक्ष दोनों साम्राज्यों के बीच की पहली संधियों का फिर से समर्थन करते हैं, दोनों शत्रु के आक्रमण के समय एक दूसरे की सहायता करेंगे,

विद्रोही प्रजा के विरुद्ध दोनों का सहयोग होगा और राजनीतिक भगोड़ों का दोनों परिवर्तन कर लेंगे। यह संधि इतनी महत्वपूर्ण समझी गई कि मिस्री और खत्ती रानियों ने भी संधि की खुशी में एक दूसरे को बधाई के पत्र भेजे। पश्चात् खत्ती नरेश की कन्या मिस्र भेजी गई जो रामसेज द्वितीय की रानी बनी।

बोगजकोइ की पट्टिकाओं पर प्रायः २०० पैरों के खत्ती कानून की धाराएँ खुदी हैं। साधारणतः खत्तियों की दंडनीति असूरी, बाबुली, यहूदी दंडनीति से कहीं मृदुल थी। प्राणदंड अथवा नाक कान काटने की सजा शायद ही कभी दी जाती थी। कुछ यौनापराध संबंधी दंड तो इतने नगण्य थे कि खत्तियों की आचारचेतना पर विद्वानों को संदेह होने लगता है। उस विधान का एक बड़ा अंश राष्ट्र के आर्थिक जीवन से संबंध रखता है। उससे प्रगट है कि वस्तुओं के मूल्य, नाप तौल के पैमाने, बटखरे आदि निश्चित कर लिए गए थे। कृषि और पशुपालन संबंधी प्रधान समस्याओं का उसमें आश्चर्यजनक मृदु हल खोजा गया है। उसमें कानून और न्याय के प्रति प्रकटित आदर वस्तुतः अत्यंत सराहनीय है। अनेक अभिलेखों में महार्घ धातुओं के प्रयोग, युद्धबंदियों के प्रबंध, चिकित्सक, शालिहोत्र आदि पर खत्ती में प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। मध्यपूर्व में संभवतः पहले पहल अश्व का प्रयोग शुरू हुआ। उस दिशा में अश्वविज्ञान पर पहला साहित्य शायद खत्तियों के आर्य पड़ोसी मितन्नियों ने प्रस्तुत किया। उनसे खत्तियों ने सीखा फिर पड़ोसियों तथा उत्तरवर्ती सभ्यताओं को वे उसे सिखा गए।

खत्तियों के साहित्यभांडार में सबसे अधिक भाग धर्म का मिला है। खत्तियों के देवताओं की संख्या विपुल थी और प्रायः सब अन्याधारों से वे लिए गए थे। ऊपर संधिपत्रों पर देवसाक्ष्य का उल्लेख किया जा चुका है। इन्हीं संधिपत्रों पर देवताओं के नाम खुदे हैं जो सुमेरी, बाबुली, हुर्री, कस्सी, खत्ती और भारतीय हैं। इन देवताओं के अतिरिक्त खत्ती आकाश, पृथ्वी, पर्वतों, नदियों, कूपों, वायु और मेघों की भी आराधना करते थे, जैसा उनके इस धार्मिक साहित्य के संदर्भों से प्रमाणित है।

पौराणिक आनुवृत्तिक साहित्य मे प्राधान्य उनका है जो सुमेरी बाबुली से ले लिए गए हैं। खत्तियो में बाबुली आधार से अनूदित 'गिलगमेश' महाकाव्य बड़ा लोकप्रिय हुआ। उस काव्य के अनेक खंड अक्कादी, खत्ती और हुर्री मे लिखे बोगजकोइ के उस भंडार में मिले थे। हुर्री मे लिखे 'गिलगमेश के गीत' तो पंद्रह से अधिक पट्टिकाओं पर प्राप्त हुए थे। खत्तियो से ही ग्रीकों ने गिलगमेश का पुराण पाया। खत्तियों के उस धार्मिक साहित्य में अक्कादी साहित्य की ही भाँति सूक्त और गायन थे। मंदिरो आदि में होनेवाली यज्ञादि क्रियाओं को नर और नारी दोनों ही प्रकार के पुरोहित संपन्न करते थे। दोनों के नाम अनुष्ठानो मे लिखे जाते थे। अनुष्ठान मंत्रदोष, प्रायश्चित्त आदि के संबंध के थे। अपनी संस्कृति के निर्माण में जितना योग अन्य संस्कृतियों से सर्वथा उदार भाव से खत्तियों ने लिया उतना संभवतः किसी और जाति ने नहीं। कोशनिर्माण का एक प्रयत्न उन्होंने ही अनेक भाषाओं के पर्याय एक साथ समानांतर स्तंभों में लिखकर किया। विविध भाषाओं के समानांतर पर्यायों से ही भाषाविज्ञान की नींव की पहली ईंट रखी जा सकी। वह ईंट खत्तियों ने प्रस्तुत की। खत्तियों के अंतकाल में आर्य ग्रीकों (एकियाई दोरियाई) के आक्रमण ग्रीस पर हुए और लघुएशिया पर भी उनका दबदबा धीरे धीरे बढ़ा जब उन्होंने त्राय का प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर नष्ट कर दिया।

सं० ग्रं० — डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी : विश्व इतिहास (प्राचीन काल), हिंदी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ। [भ० श० उ०]

हनूमान् अंजना अथवा अंजनी के गर्भ से उत्पन्न केसरी के पुत्र, जो परमवीर हुए हैं। केसरी सुमेरुपर्वत पर रहनेवाले वानरों के राजा थे और अंजनी गौतम की कन्या थी। हनूमान् पवनदेव के अंश माने जाते हैं।

अंजनी फलों के लिये घोर वन में गई थी, वहीं हनूमान् का जन्म हुआ। तुरंत ही इन्हें भूख लगी तो सूर्य को फल समझकर उसे खाने दौड़े। आकाश में उड़कर जब इन्होंने सूर्य को ढक लिया तब सारे संसार में हाहाकार मच गया और सभी देवता लोग दौड़े। इंद्र ने अपने वज्र से इन्हें मारा तो इनकी ठुड्डी (हनु) टेढ़ी हो गई तभी से इनका नाम हनूमान् पड़ गया।

वज्र लगने से जब ये मूर्छित हो गए तब वायु ने इन्हें ले जाकर एक गुफा में छिपा दिया। वायुदेव स्वयं बहुत देर तक वहीं रुके रहे फिर तो भूमंडल भर में लोगों का साँस लेना दूभर हो गया। तब सब देवताओं ने आकर हनूमान् को अपनी अपनी शक्तियाँ प्रदान कीं और उन्हें अमरत्व भी प्राप्त हुआ। इन शक्तियों में उड़ने, नाना रूप धारण करने आदि की शक्तियाँ हैं। इनका शरीर वज्र का बना माना जाता है। इसीलिये इन्हें वज्रांग अथवा बजरंगबली भी कहते हैं। इनके दूसरे नामों में, मरुत् या वायुपुत्र होने से मारुति, पवनतनय तथा महावीर, अंजनिपुत्र, केसरीनंदन, आंजनेय आदि हैं।

हनूमान् के जन्म की कथा रामायण, शिवपुराण आदि में विस्तारपूर्वक मिलती है और सर्वत्र इन्हे परमपराक्रमी योद्धा के रूप में ही देखा गया है। इन्हीं के हाथों त्रिशरादि रावण के कई सेनापतियों का वध हुआ था और इनके महान् पराक्रम का उदाहरण रामायण में ही मिलता है जब लक्ष्मण के मूर्छित हो जाने पर ये उड़कर हिमालय से संजीवनी बूटी लाने गए और वहाँ शीघ्रता मे ओषधि न मिलने पर सारा पर्वत ही उखाड़कर उठा लाए। सीता जी की खोज तथा राम-रावण युद्ध की सफलता का अधिकांश श्रेय इन्ही को है। ये अजेय, कामरूप, कामचारी तथा यमदंड से अवध्य थे और सभी शक्तियाँ प्राप्त होने पर जब ये देवताओं पर अत्याचार करने लगे तब इनके पिता केसरी तथा वायु देव दोनों ने इन्हे बहुत समझाया। उत्तरकांड में लिखा है कि जब हनूमान् न माने तो भृगु तथा अंगिरा वंशीय ऋषियों ने इन्हे शाप दे दिया कि भविष्य मे इनकी सारी शक्तियाँ सीमित हो जायँगी और किसी के स्मरण दिलाने पर ही उनका विकास हो सकेगा और तभी उनका उपयोग हनुमान् कर सकेंगे।

हनुमान की गणना सप्त चिरजीवियों में की जाती है जिनमें ये लोग हैं —

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥

[रा० द्वि०]

हब्शी मानव जाति को तीन मुख्य जातीय विभागों में बाँटा जा सकता है : काकेसियाई या 'श्वेत' वर्ण के लोग, मंगोलियाई या 'पीत' वर्ण के लोग और नीग्रोई अर्थात् हब्शी या 'काले' वर्ण के लोग। मानव जाति की पूरी हब्शी आबादी सारे अफ्रीका में फैली हुई है; साथ ही इस जाति के लोग महासागरीय भागों में भी पाए जाते हैं। हब्शी जाति के लोग दो प्रकार के हैं : लंबे हब्शी और नाटे कद के हब्शी, जो कांगो के बौनों की तरह होते हैं। असली हब्शी का चेहरा आगे को निकला हुआ, बाल घुँघराले, नाक बड़ी सी तथा चपटी और होंठ मोटा तथा बाहर की ओर मुड़ा हुआ होता है। शरीर हट्टा कट्टा, हाथ लंबे और पैर छोटे होते हैं। ऐसे हब्शी केवल पश्चिम अफ्रीका में कांगो के बेसिन और वहाँ से पूर्व और झीलबहुलक्षेत्र में रहते हैं।

उत्तरी अफ्रीका के हब्शियों के रक्त में गोरी जातियों के रक्त की मिलावट है। इस कारण वे ज्यादा लंबे और अपेक्षाकृत पतले होते हैं। इस समूह के हब्शी, जिन्हें नील तटवर्ती हब्शी कहा जाता है, इथियोपिया और दक्षिण में रोडेसिया होते हुए दक्षिण अफ्रीका तक फैले हुए हैं। दक्षिण की ओर उत्तरोत्तर श्वेत रक्त कम होता गया है।

दक्षिण अफ्रिका के आदिम बुशमैनों को हब्शी जति में रखा गया है किंतु उनकी शकल सूरत आदि में मंगोलियाई तत्व की भी झलक दिखाई पड़ती है। नीलतटवर्ती हब्शियों ने बुशमैनो को रेगिस्तान से खदेड़ दिया। उन नीलतटवर्ती हब्शियों और बुशमैनों के रक्त मिश्रण से जो संकर जाति बनी वह है करीब करीब बुशमैनों की ही तरह होटेनटॉट, जिसे बुशमैनों के ही वर्ग में रखा जाता है क्योंकि उसमें बुशमैन के लक्षण बहुत अधिक और नील तटवर्ती हब्शियों के लक्षण बहुत कम है।

महासागरीय प्रदेश के हब्शी मलयेशिया तथा न्यूगिनी द्वीप में मिलते हैं और पोलिनेशिया की आबादी में उनकी अपनी एक जाति है।

नाटे हब्शी या बौने अफ्रीका और महासागरीय प्रदेश दोनों में ही मिलते हैं। अफ्रीका में वे कांगो बेसिन के भूमध्यरेखावर्ती प्रदेश के घने जंगलों में रहते हैं। वे बहुत ही आदिम हैं, उनकी अपनी कोई भाषा नहीं है और वे किसी प्रकार की खेती नहीं करते। वे अपनी वनवस्तुओं का हब्शियों की अन्य वस्तुओं से विनिमय करते हैं। महासागरीय प्रदेश में नाटे कद के हब्शी अंडमान द्वीप में भी पाए जाते हैं और वे मलय के सेमांगों की तरह हैं। नाटी जाति के हब्शी तत्व दक्षिण भारत की कुछ पहाड़ी जनजातियों, न्यूगिनी, और फिलीपीन में भी हैं।

हब्शियों के मूल के विषय में अभी भी बहुत विवाद है। उनके सबसे पुराने प्रकार का पता इतालवी औरिग्नेशियन (पूर्व प्राचीन पाषाणयुग का एक चरण) के ग्रिमाल्डी अस्थिपंजरों से और केनिया के पूर्व औरिग्नेशियन युग में मिलता है।

अफ्रीकी और महासागरीय दोनों ही के नाटे हब्शी यद्यपि एक दूसरे से इतनी दूर हैं, फिर भी उनकी शारीरिक बनावट उल्लेखनीय रूप से एक ही तरह की है। इससे ऐसा आभास मिलता है कि इनका उद्गम एक ही रहा है।

दक्षिण अफ्रीका के बुशमैन होटेनटॉट लोग, भौतिकीय नृविज्ञानवेत्ताओं के मतानुसार, वहाँ प्रातिनूतनयुग (Pleistocene times) से ही रह रहे हैं। उनमें कुछ ऐसे लक्षण मिलते हैं जो प्रकट करते हैं कि उनकी उत्पत्ति किसी आदिम मंगोलियाई जाति से हुई।

एक जाति के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की सबसे महत्वपूर्ण घटना आधुनिक काल में हुई, जब हब्शियों के समूह के समूह गुलामों की बिक्री करनेवाले स्पेनिश व्यापारियों द्वारा अमरीका ले जाए गए। किंतु अधिकांश देशों में हब्शी अधिक समय तक गुलाम नहीं रहे। हेती में तो वे कुछ समय के लिये सबसे प्रभावशाली वर्ग बन गए। वे बहुत तेजी से ब्राजील और मेक्सीको के निवासियों में विलीन हो गए; किंतु संयुक्त राज्य में उनका बिलकुल अलग अस्तित्व कायम रहा।

१८४० में ब्रिटेन और उसकी बस्तियों में दासप्रथा अवैध घोषित कर दी गई। फ्रांस ने १८४८, रूस और हालैंड ने १८६३ और पुर्तगाल ने १८७८ में दासता का अंत किया। किंतु अमरीका में दक्षिणी राज्यों के गोरे जमींदारों ने, जिनकी तंबाकू और कपास की लंबी खेती हब्शियों के श्रम से होती थी, दासप्रथा समाप्त नहीं की। दासताविरोधी आंदोलन ने जोर पकड़ा। कुछ दक्षिणी राज्य संघ से पृथक् हो गए और उत्तरी राज्यों की विजय हुई और १८६३ की "मुक्ति घोषणा" द्वारा दासता समाप्त कर दी गई। अब यद्यपि हब्शी अमरीका का स्वतंत्र नागरिक बन गया, फिर भी अपनी विलक्षण शकल सूरत और रंग के कारण वह कटु सामाजिक द्वेष का भागी बना रहा। अमरीकी हब्शी का अमरीका के संगीत, कला और नाटक पर काफी प्रभाव पड़ा है। अमरीकी हब्शी ने महान् संगीतज्ञ और महान् खिलाड़ी की मान्यता प्राप्त की है। जेसी ओवेन्स आधुनिक युग के सबसे बड़े व्यायामपराक्रमी थे; पाल राबसन और मैरियन एंडरसन का संगीत सारे विश्व ने सुना और सराहा है। विश्व के एक सबसे बड़े 'हेवीवेट बॉक्सर' के रूप में जो लुई कथा के विषय बन गए हैं।

अफ्रीका में हब्शी यद्यपि तेजी से स्वतंत्रता प्राप्त करते जा रहे हैं तथापि दक्षिण अफ्रीका गोरों को तो सभी सुविधाएँ देता है किंतु अश्वेतों को नहीं। दक्षिण अफ्रीका की यह रंगभेद नीति विश्व जनमत के कड़े विरोध के कारण काफी कमजोर हो गई है।

[मु० या०]

हमीदा बानू बेगम — दे० मरियम मकानी।

हमीरपुर १. जिला, यह भारत के उत्तर प्रदेश राज्य का जिला है। इसके उत्तर में कानपुर एवं जालौन, पश्चिम में झाँसी, पूर्व में बाँदा, पूर्व उत्तर में फतेहपुर जिला और दक्षिण में मध्य प्रदेश राज्य है। इस जिले का क्षेत्रफल ७,१०४ वर्ग किमी एवं जनसंख्या ७,६४

४४६ (१९६१) है। यह जिला बुंदेलखंड के मैदान में स्थित है जो मध्य विंध्य पठार और यमुना नदी के मध्य में फैला हुआ है। जिले में महोबा की कृत्रिम झीलें हैं। ये झीलें चंदेल राजाओं द्वारा, मुगलों के भारत में आने से पूर्व बनवाई गई थीं। इन झीलों में से अनेक में द्वीप या प्रायद्वीप हैं जिनपर ग्रेनाइट के बने मंदिरों के भग्नावशेष मिलते हैं। जिले का मुख्य मैदान उत्तर की ओर शुष्क एवं वृक्षरहित भूमि में विस्तृत है। यहाँ की मिट्टी काली है जिसमें आर्द्रता बनी रहती है और इस कारण यह मिट्टी उपजाऊ है। वर्षा अनिश्चित है, जिसका औसत ६१·५ सेंमी है। चना और कपास मुख्य फसलें हैं।

२. नगर, स्थिति : २५° ५७' उ० अ० तथा ८०° १०' पू० दे०। यह नगर बेतवा एवं यमुना नदी के संगम के समीप कानपुर से सागर जानेवाली पक्की सड़क पर इलाहाबाद से १७६ किमी उत्तर पश्चिम में स्थित है। परंपरा के अनुसार इस नगर के संस्थापक करचुरि राजपूत हमीर देव माने जाते हैं। नगर में हमीर के किले तथा कुछ मुसलमानों के मकबरों के भग्नावशेष हैं। नगर उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक केंद्र है तथा यहाँ की जनसंख्या १०,६२१ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

हम्मीर चौहान पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद उसके पुत्र गोविंद ने रणथंभोर में अपने राज्य की स्थापना की। हम्मीर उसीका वंशज था। सन् १२८२ ई० में जब उसका राज्याभिषेक हुआ गुलाम वंश उन्नति के शिखर पर था। किंतु चार वर्षों के अंदर ही सुल्तान बल्बन की मृत्यु हुई; और चार वर्ष के बाद गुलाम वंश की समाप्ति हो गई। हम्मीर ने इस राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठाकर चारों ओर अपनी शक्ति का प्रसार किया। उसने मालवा के राजा भोज को हराया, मंडलगढ़ के शासक अर्जुन को कर देने के लिये विवश किया, और अपनी दिग्विजय के उपलक्ष्य में एक कोटियज्ञ किया। सन् १२९० में पासा पलटा। दिल्ली में गुलाम वंश का स्थान साम्राज्याभिलाषी खल्जी वंश ने लिया, और रणथंभोर पर मुसलमानों के आक्रमण शुरू हो गए। जलालुद्दीन खल्जी को विशेष सफलता न मिली। तीन चार साल तक अलाउद्दीन ने भी अपनी शनैश्चरी दृष्टि इसपर न डाली।

किंतु सन् १३०० के प्रारंभ में जब अलाउद्दीन के सेनापति उलुग खाँ की सेना गुजरात की विजय के बाद दिल्ली लौट रही थी, मंगोल नवमुस्लिम सैनिकों ने मुहम्मदशाह के नेतृत्व में विद्रोह किया और रणथंभोर में शरण ली। अलाउद्दीन की इस दुर्ग पर पहले से ही आँख थी, हम्मीर के इस क्षत्रियोचित कार्य से वह और जलभुन गया। अलाउद्दीन को पहले आक्रमण में कुछ सफलता मिली। दूसरे आक्रमण में खल्जी बुरी तरह परास्त हुए; तीसरे आक्रमण में खल्जी सेनापति नसरतखाँ मारा गया और मुसल्मानों को घेरा उठाना पड़ा। चौथे आक्रमण में स्वयं अलाउद्दीन ने अपनी विशाल सेना का नेतृत्व किया। धन और राज्य के लोभ से हम्मीर के अनेक आदमी अलाउद्दीन से जा मिले। किंतु वीरव्रती हम्मीर ने शरणागत मुहम्मद शाह को खल्जियों के हाथ में सौंपना स्वीकृत न किया। राजकुमारी देवल देवी और हम्मीर की रानियों ने जौहर की अग्नि में प्रवेश किया। वीर हम्मीर ने भी दुर्ग का द्वार खोलकर शत्रु से लोहा लिया और अपनी आन, अपने हठ, पर प्राण न्योछावर किए।

सं० ग्रं० — हम्मीर महाकाव्य; तारीखे फिरोजशाही; श्री हरबिलास शारदा : हम्मीर आँव रणथंभोर; दशरथ शर्मा : प्राचीन चौहान राजवंश। [द० श०]

हयदल (घुड़सवार सेना) का सांग्रामिक महत्व उसकी सहज गतिशीलता में निहित था। पैदल सेना यदि सुरक्षा और स्थिरता का केंद्र थी, तो हयदल उस सुदृढ़ केंद्र पर अवलंबित गतिमान आक्रामक शक्ति थी। शत्रु का डटकर मुकाबला करने के लिये एक ओर तो कवचों और भालों से सुसज्जित पैदल सैनिकों की अभेद्य दीवार थी और दूसरी ओर आशुगामी हयदल रिपुसेना को पीड़ित करने, उसकी रसद व्यवस्था भंग करने और अंत में पार्श्वाघात द्वारा अथवा सवेग पीछा करके उसे छिन्न भिन्न करने के लिये प्रस्तुत था। इस भाँति पैदल सेना और हयदल दोनों के सहकार्य से ही रण में विजय होती थी।

ईसा से लगभग हजार वर्ष पूर्व से यह प्रथा अवश्य ही विद्यमान थी। ऋग्वेद, अथर्ववेद, रामायण और महाभारत में तत्संबंधी वर्णन सुलभ हैं। ईसवी पूर्व नवीं शताब्दी में असीरियाई मूर्तिकला में भी उसकी आकृति प्राप्य है। ट्रॉय सग्राम में युद्धग्रस्त वीर भी अश्व से भलीभाँति परिचित थे और संभवत. तत्कालीन चीनी भी अश्वारूढ़ हो चुके थे।

हयदल का सर्वप्रथम ऐतिहासिक वर्णन ईरानी सम्राट् साइरस महान (५५० ई० पू०) की सेना में मिलता है। तदनंतर ईरानी प्रतिस्पर्धी यूनानी राज्यों ने भी हयदल तैयार किए। सिकंदर महान (३३६–३२३ ई० पू०) ने तो अपने २२ युद्धों में से १५ युद्धों में हयदल के बलबूते पर ही सफलता प्राप्त की। तत्पश्चात् सुप्रसिद्ध सेनानायक हैनिबाल ने भी अपने प्रबल हयदल की सहायता से ही रोम की सेनाओं का कैनी जैसे युद्धों (२१६ ई० पू०) में दमन किया। रोम साम्राज्य प्रारंभ में सुगठित तथा चपल लीजन नामी पैदल सेना पर आधारित था, पर धीरे धीरे वहाँ भी हयदल का सामरिक महत्व समझा गया और ईसोत्तर तीसरी शताब्दी तक रोमन सेना में अश्वारोहियों की संख्या कुल सेना के दशमांश से बढ़कर तृतीयांश हो गई। अब इनकी कुल संख्या १,६०,००० थी। अपने विशाल साम्राज्य की विस्तृत सीमाओं की सुरक्षा के लिये और द्रुतगामी हूण, गॉथ आदि बर्बर जातियों के अश्वारोहियों से लोहा लेने के लिये रोम को भी मुख्यतः हयदल का ही आश्रय लेना पड़ा, तदपि रोम साम्राज्य का पतन हुआ।

यूनानी और रोमन हयदलों का युद्धकौशल प्रचंड आक्रमण (Shock action) पर आधारित था। पार्श्व अथवा पृष्ठ भाग पर प्रहार करना हयदलों की विशेष चेष्टा होती थी। वे हयदल प्रधानतः पैदल सैनिकों के सहयोग से ही युद्धरत होते थे।

एशियाई हयदलों की युद्धप्रणाली इससे कुछ भिन्न थी। भारतीय अश्वारोहियों की युद्धप्रणाली मुख्य प्रचंड आघाती आक-

मण पर आधारित नहीं थी। चाणक्य के कथनानुसार निजी पड़ाव को शत्रु से सुरक्षित रखना, विपक्षी गुप्तचरों को दूर रखना, रिपुदल की संख्या तथा उसके आवागमन आदि का पूरा ज्ञान रखना, किसी विशेष लाभकारी भूमि को शत्रु से पहिले ही हस्तगत कर लेना, शत्रु की कुमुक को मार्ग में ही नष्ट कर देना, विपक्षी व्यूह में घुसकर सैनिकों को विचलित कर देना, भागती हुई शत्रुसेना को तेजी से पीछा करके नष्ट कर देना आदि भारतीय अश्वसेना के कार्य थे। इस प्रकार के ही कार्य उसके लिये उचित भी थे, क्योंकि भारतीय अश्व हलके शरीर के होते थे और प्रचंड आघाती आक्रमण के लिये भारत में हस्तिबल उपलब्ध था। चंद्रगुप्त मौर्य (३२६–३०२ ई० पू०) की सेना में ३०,००० अश्वारोही और ६,००० हाथी थे। हर्षवर्धन (६०६ ई० से ६४६ ई०) की सेना में हयदल की संख्या १,००,००० तक पहुँच गई थी। तदपि भारतीय हयदल पैदल सैनिकों तथा हाथियों के सहयोग से ही युद्ध करता था।

मध्य एशिया की मंगोल आदि सेनाओं में केवल अश्वारोहियों का ही बोलबाला था। वह तो अश्वारोहियों का प्राकृतिक निवासस्थान था। अनुपम विजेता मंगोल सेनानायक चंगेज खाँ ने तेरहवीं शताब्दी में २,००,००० अश्वारोहियों की सेना संगठित कर, चीन से यूरोप पर्यंत विशाल भूभाग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। चंगेज खाँ के एक सेनानायक सुबताई का हयदल हंगरी आक्रमण के समय तीन दिन में २९० मील शत्रुप्रदेश में घुस गया था। वास्तव में हयदल का उत्कृष्ट रणकौशल मंगोल सेना में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था।

मध्यकालीन यूरोप में हयदल कवचों पर ही अधिकतर निर्भर था। सुदृढ़ धातुमय वर्मों के मूल्यवान होने के कारण हयदल किंचित् धनाढ्य परिवारों में ही सीमित हो गया था। वर्मसज्जित योद्धा वर्मभार के कारण अश्व पर सरलता से बैठ भी नहीं पाता था, जिसके कारण हयदल की पुरानी द्रुतगति भी लुप्त हो गई।

सन् १३४६ ईसवी में क्रेसी के युद्ध में अंग्रेज पैदल धनुर्धारियों ने अपने लंबे धनुषों के भीषण प्रहार से फ्रांसीसी वर्मधारी अश्वारोहियों का घोर संहार किया। कालांतर में आग्नेय शस्त्रों में भी उन्नति होने पर, पैदल सेना बंदूकों से लैस हो गई और इस प्रकार हयदल और पैदल सेना दोनों पुन. सेना के महत्वपूर्ण अंग बन गए। सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप में गुस्टेवस अाडालफस ने अपने सुसंगठित हयदल के कारण अनेक युद्धों में विजयपताका फहराई। यह हयदल पृथक् पृथक् टोलियों में विभक्त था और प्रत्येक टोली में १२० अश्वारोही थे, जो कवायद करने में दक्ष थे और शीघ्रता से सामरिक पैतरों द्वारा समाकलित (integrated) रूप से शत्रु पर प्रहार करते थे, अट्ठारहवीं शताब्दी में फ्रेडरिक महान् के हयदल भी इसी भाँति के थे, जो अपने द्रुतिमान सामरिक पैतरों तथा ठोस प्रचंड आघाती आक्रमण के कारण शत्रु पर विजयी होते थे। अश्वचालित तोपें भी इनके सहायतार्थ तत्पर रहती थीं।

ज्यों ज्यों आग्नेय अस्त्रों का विकास होता गया, त्यों त्यों हयदल की उपयोगिता घटने लगी। १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में नेपोलियन ने अपने हयदल का प्रयोग अधिकतर भारतीय हयदलों की ही भाँति किया। वाटरलू सदृश भीषण संग्राम में जब इस हयदल को ठोस आक्रमण करना पड़ा, तो बंदूकों और तोपों की मार ने उसे छिन्न भिन्न कर दिया। क्रीमिया के युद्ध में और १८७०-७८ ईसवी के जर्मन फ्रांसीसी संग्राम में भी यही घटना हुई। नए अस्त्रों ने हयदल की पारंपरिक आक्रमणविधि का सर्वथा अंत कर दिया।

बाबर के सुचालित हयदल और उसकी तोपों ने भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डाली और भारत के विस्तृत भूभाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। जब मराठा हयदल ने छापामार गतिशील युद्धप्रणाली अपनाकर मुगल सेना का सामना किया तो मुगल साम्राज्य का पतन आरंभ हो गया। मराठों की इस प्रणाली के कारण भारत के विशाल क्षेत्र पर उनका आधिपत्य हो गया।

परंतु द्रुतगति का समुचित उपयोग करके हयदल ने आधुनिक काल में भी महत्वपूर्ण युद्ध परिणाम दिखाए हैं। सन् १७६९ में भारतीय सेनानायक हैदर अली पहले तो अंग्रेजी बलशाली सेना को इधर उधर दौड़ाकर दूर ले गया और फिर सहसा मुड़कर उसने ६,००० अश्वारोहियों सहित सीधा मद्रास पर धावा बोल दिया। दो दिन में १३० मील उड़कर यह दल (जिसमें २०० चुने हुए पैदल सिपाही भी थे) मद्रास पहुँच गया और वहाँ की आश्चर्यचकित घबराई हुई सरकार को अपनी शर्त मानने पर बाध्य कर दिया। अमरीकी गृहयुद्ध में यद्यपि दूरमारक राइफलें और अति कुशल लक्ष्यभेदी भी उपलब्ध थे, तथापि स्टुअर्ट जैसे नायकों ने अपने हयदल को ड्रैगन रूप से संगठित किया। इस ड्रैगन रूप में भी हयदल महान उपयोगी सिद्ध हुआ। प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८ ई०) में जेनरल ऐलेनबी ने पैलेस्टाइन में हयदल की उपयोगिता सिद्ध की। परंतु आज के युद्ध में दूरमारक अस्त्रों, गतिशील वाहनों, वायुयान और राकेट आदि के आविष्कार के कारण अब युद्ध के लिये हयदल उपयोगी नहीं रह गया है। [नं० प्र०]

हरगोविंद खुराना (सन् १९२२–) भारतीय वैज्ञानिक का जन्म अविभाजित भारतवर्ष के रायपुर (जिला मुल्तान, पंजाब) नामक कस्बे में हुआ था। पटवारी पिता के चार पुत्रों में ये सबसे छोटे थे। प्रतिभावान् विद्यार्थी होने के कारण स्कूल तथा कालेज में इन्हें छात्रवृत्तियाँ मिलीं। पंजाब विश्वविद्यालय से सन् १९४३ में बी० एस-सी० (आनर्स) तथा सन् १९४५ में एम० एस-सी० (ऑनर्स) परीक्षाओं में ये उत्तीर्ण हुए तथा भारत सरकार से छात्रवृत्ति पाकर इंग्लैंड गए। यहाँ लिवरपूल विश्वविद्यालय में प्रोफेसर ए० रॉबर्टसन् के अधीन अनुसंधान कर इन्होंने डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। इन्हें फिर भारत सरकार से शोधवृत्ति मिली और ये ज़ूरिख (स्विट्सरलैंड) के फेडरल इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नॉलोजी में प्रोफेसर वी० प्रेलॉग के साथ अन्वेषण में प्रवृत्त हुए।

भारत में वापस आकर डाक्टर खुराना को अपने योग्य कोई काम न मिला। हारकर इंग्लैंड चले गए, जहाँ कैंब्रिज विश्वविद्यालय में सदस्यता तथा लार्ड टाड के साथ कार्य करने का अवसर मिला। सन् १९५२ में आप वैंकवर (कैनाडा) की ब्रिटिश कोलंबिया अनुसंधान

परिषद् के जीवरसायन विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। सन् १६६० में इन्होंने संयुक्त राज्य अमरीका के विस्कान्सिन विश्वविद्यालय के इंस्टिट्यूट ऑव एन्जाइम रिसर्च में प्रोफेसर का पद पाया और अब इसी संस्था के निदेशक हैं। वहीं उन्होंने अमरीकी नागरिकता स्वीकार कर ली।

डाक्टर खुराना जीवकोशिकाओं के नाभिकों की रासायनिक संरचना के अध्ययन में लगे रहे हैं। नाभिकों के नाभिकीय अम्लों के संबंध मे खोज दीर्घकाल से हो रही है, पर डाक्टर खुराना की विशेष पद्धतियों से वह संभव हुआ। इनके अध्ययन का विषय न्यूक्लिओटिड नामक उपसमुच्चयों की अत्यंत जटिल, मूल, रासायनिक संरचनाएं हैं। डाक्टर खुराना इन समुच्चयों का योग कर महत्व के दो वर्गों के न्यूक्लिओटिड एन्जाइम नामक यौगिकों को बनाने में सफल हो गए हैं।

नाभिकीय अम्ल सहस्रो एकल न्यूक्लिओटिडों से बनते हैं। जैव कोशिकाओं के आनुवंशिकीय गुण इन्हीं जटिल बहु न्यूक्लिओटिडों की संरचना पर निर्भर रहते हैं। डॉ० खुराना ग्यारह न्यूक्लिओटिडों का योग करने में सफल हो गए थे तथा अब वे ज्ञात शृंखलाबद्ध न्यूक्लिओटिडोंवाले न्यूक्लीक अम्ल का प्रयोगशाला में संश्लेषण करने में सफल हो गए हैं। इस सफलता से ऐमिनो अम्लों की संरचना तथा आनुवंशिकीय गुणों का संबंध समझना संभव हो गया है और वैज्ञानिक अब अनुवंशिकीय रोगों का कारण और उनको दूर करने का उपाय ढूंढने में सफल हो सकेंगे।

डाक्टर खुराना की इस महत्वपूर्ण खोज के लिये उन्हे अन्य दो अमरीकी वैज्ञानिकों के साथ सन् १६६८ का नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। आपको इसके पूर्व सन् १६५८ में कैनाडा के केमिकल इंस्टिट्यूट से मर्क पुरस्कार मिला तथा इसी साल आप न्यूयार्क के राकफेलर इंस्टिट्यूट में वीक्षक (visiting) प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् १६५६ में ये कैनाडा के केमिकल इंस्टिट्यूट के सदस्य निर्वाचित हुए तथा सन् १६६७ में होनेवाली जैवरसायन की अंतरराष्ट्रीय परिषद् में आपने उद्घाटन भाषण दिया। डा० निरेनबर्ग के साथ आपको पचीस हजार डालर का लूशिया ग्रौट्ज हॉविट्ज पुरस्कार भी सन् १६६८ में ही मिला है। [भ० दा० व०]

हरदयाल, लाला इनका जन्म १४ अक्टूबर, १८८४ को दिल्ली में हुआ। माता ने तुलसी रामायण एवं वीरपूजा के पाठ पढ़ाकर उदात्त भावना, भक्ति एवं सौंदर्य बुद्धि का संचार किया। उर्दू, फारसी के पंडित गौरीदयाल माथुर ने बेटे को विद्याव्यसन दिया। अंग्रेजी तथा इतिहास में एम० ए० करने पर रेकार्ड स्थापित किया। मास्टर अमीरचंद की गुप्त क्रांतिकारी संस्था के सदस्य ये इससे पूर्व बन चुके थे।

हरदयाल जी एक समय में सात कार्य कर लेते थे। १२ घंटे की नोटिस देकर मित्र इनसे शेक्सपियर का कोई भी नाटक मुँह जबानी सुन लेते। भारत सरकार ने छात्रवृत्ति देकर ऑक्सफर्ड भेजा। वहाँ दो और छात्रवृत्तियाँ पाईं। परंतु इतिहास के अध्ययन के परिणामस्वरूप अंगरेजी शिक्षापद्धति को पाप समझकर ऑक्सफर्ड छोड़ दिया। अब लंदन में 'देशभक्त समाज' स्थापित कर असहयोग का प्रचार करने लगे (जिसका विचार गांधी जी को १४ बरस बाद आया)। भारत को स्वतंत्र करने के लिये यह योजना बनाई — जनता में राष्ट्रीय भावना जगाने के पश्चात् सरकार की कड़ी आलोचना तथा युद्ध की तैयारी की जाय। भारत लौटने पर पूना में लो० तिलक से मिले। पटियाला पहुँच गौतम के समान संन्यास लिया। शिष्यमंडली के संमुख ३ सप्ताह संसार के क्रांतिकारियों के जीवन का विवेचन किया। फिर लाहौर के अंगरेजी दैनिक 'पंजाबी' का संपादन करने लगे। इनके आत्मत्याग, अहंकारशून्यता, सारल्य, विद्वत्ता, भाषा पर आधिपत्य, बुद्धिप्रखरता, राष्ट्रभक्ति का ओज तथा परदुःख में संवेदन के कारण मनुष्य एक बार दर्शन कर मुग्ध हो जाता। निजी पत्र हिंदी मे ही लिखते, दक्षिण भारत के भक्तों को संस्कृत में उत्तर देते। ये कहते : 'अंग्रेजी शिक्षापद्धति से राष्ट्रीय चरित्र नष्ट होता है और राष्ट्रीय जीवन का स्रोत विषाक्त।' 'अंगरेज ईसाइयत के प्रसार द्वारा दासत्व को स्थायी बना रहे हैं।'

१६०८ में दमनचक्र चला। लाला जी के प्रवचन के फलस्वरूप विद्यार्थी कॉलेज छोड़ने लगे और सरकारी नौकर नौकरियाँ। भयभीत सरकार इन्हें गिरफ्तार करने लगी। ला० लाजपतराय के अनुरोध पर ये पेरिस चले गए। जेनेवा से मासिक 'वंदेमातरम्' निकलने पर ये उसके संपादक बने। श्री गोखले जैसे मॉडरेटों को खूब लताड़ते। हुतात्मा मदनलाल ढींगड़ा के संबंध में इन्होंने लिखा — इस अमर वीर के शब्दों एवं कृत्यों पर शतकों तक विचार किया जायगा जो मृत्यु से नववधू के समान प्यार करता था। 'ढींगड़ा ने कहा था — 'मेरे राष्ट्र का दास होना परमात्मा का अपमान है।'

पेरिस को इस संन्यासी ने प्रचारकेंद्र बनाया था। परंतु इनके रहने का प्रबंध भारतीय देशभक्त न कर पाए। अत ये १६१० में अल्जीरिया और वहाँ से लामार्तनीक में बुद्ध के समान तप करने लगे। भाई परमानंद जी के अनुरोध पर ये हिंदु संस्कृति के प्रचारार्थ अमरीका गए। तत्पश्चात् होनोलूलू के समुद्रतट पर एक गुफा में रहकर शंकर, कांट, हीगल, मार्क्स आदि का अध्ययन करने लगे। भाई जी के कहने पर इन्होंने कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में हिंदू दर्शन पर व्याख्यान दिए। अमरीकी इन्हें हिंदू संत, ऋषि एवं स्वातंत्र्य सेनानी कहते। १६१२ में स्टेफर्ड विश्वविद्यालय में दर्शन तथा संस्कृत के प्राध्यापक हुए। तत्पश्चात् 'गदर' पत्रिका निकालने लगे। इधर जर्मनी और इंगलैंड में युद्ध छिड़ गया। इनके प्राण फूँकनेवाले प्रभाव से दस हजार पंजाबी भारत लौटे। कितने ही गोली से उड़ा दिए गए। जिन्होंने विप्लव मचाया, सूली पर चढ़ा दिए गए। सरकार ने कहा कि हरदयाल अमरीका और भाई परमानंद ने भारत में क्रांति के सूत्रों को सँभाला। दोनों गिरफ्तार कर लिए गए। भाई जी को पहले फाँसी, बाद में कालेपानी का दंड सुनाया गया। हरदयाल जी स्विट्जरलैंड खिसक गए और जर्मनी के साथ मिलकर भारत को स्वतंत्र करने के यत्न करने लगे। महायुद्ध के उत्तर भाग में जर्मनी हारने लगा। लाला जी स्वीडन चले गए। वहाँ की भाषा में इतिहास, संगीत, दर्शन आदि का व्याख्यान देने लगे। तेरह भाषाएँ ये सीख चुके थे।

१९२७ में इंगलैंड जाकर 'बोधिसत्व' पुस्तक लिखी। इसपर लंदन विश्वविद्यालय ने डॉक्टर की उपाधि दी। तब 'हिंट्स फार सेल्फ कल्चर' छापी। विद्वत्ता अथाह थी। अंतिम पुस्तक 'ट्वेल्व रिलिजिस ऐंड मॉडर्न लाइफ' में मानवता पर बल दिया। मानवता को धर्म मान लंदन में 'आधुनिक संस्कृति संस्था' स्थापित की। सरकार ने १९३७ में भारत लौटने की छूट दे दी। इन्होंने स्वदेश लौटकर जीवन को देशोत्थान में लगाने का निश्चय किया। ३ मार्च, १९३८ को हृदय की गति बंद हो जाने से इनकी मृत्यु हुई। [ध०]

हरदोई १. जिला, यह भारत के उत्तर प्रदेश राज्य का जिला है जिसके उत्तर में खीरी और शाहजहाँपुर, पश्चिम में फर्रुखाबाद, दक्षिण में कानपुर, दक्षिण पूर्व में उन्नाव, पूर्व में लखनऊ तथा पूर्वोत्तर में सीतापुर, जिले हैं। इस जिले का क्षेत्रफल ५९५२ वर्ग किमी तथा जनसंख्या १५,७३,१७१ (१९६१) है। सतह प्रायः समतल है और गंगा, रामगंगा, गर्रा, सई, सुखेता तथा गोमती आदि नदियों द्वारा सिंचित है। इसके मध्य भाग की निचली भूमि में झीलें हैं जिनमें दाहर झील सबसे बड़ी है। जिले में बड़े जंगली क्षेत्र अभी भी हैं। इन जंगलों में ढाक, बरगद और बाँस अधिकता से मिलते हैं। यहाँ भेड़िए, नीलगाय, बारहसिंघा, गीदड़ और खरगोश आदि जानवर मिलते हैं। जंगली मुर्गियाँ, जलकुक्कुट, हंस, धूसर, बत्तख तथा जंगली बत्तख भी मिलते हैं।

जिले की जलवायु स्वास्थ्यवर्धक है। जनवरी में यहाँ का ताप ५०° फारेनहाइट तथा जून में ९५° फारेनहाइट रहता है। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा ८१·३ सेमी है। जिले की प्रमुख फसल गेहूँ है। इसके अतिरिक्त जौ, बाजरा, चना, अरहर और दलहन अन्य फसलें हैं। अब कुछ क्षेत्रों में धान, मक्का और ज्वार की खेती भी होने लगी है। पोस्ता दूसरी महत्वपूर्ण फसल है।

२. नगर, स्थिति : २७° २६' उ० अ० तथा ८०° १५' पू० दे०। यह नगर उपर्युक्त जनपद का प्रशासनिक केंद्र तथा राज्य की प्रमुख अनाज मंडियों में से एक है। यह लखनऊ से ६३ मील उत्तर पूर्व तथा रेलमार्ग पर स्थित है। नगर में शोरा बनाने के दो कारखाने हैं। अनाज और शोरा यहाँ से बाहर जाता है। यहाँ लकड़ी पर खुदाई का काम होता है। नगर में कई शिक्षण संस्थाएँ हैं। यहाँ की जनसंख्या ३६,७२५ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

हरद्वार स्थिति : २९° ५७' ३०" उ० अ० तथा ७८° १२' ६२" पू० दे०। उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले में सहारनपुर से ३९ मील उत्तर पूर्व में गंगा के दाहिने तट पर बसा हुआ हिंदुओं का प्रमुख तीर्थ स्थान है। यहाँ गंगा पर्वतीय प्रदेश छोड़कर मैदान में प्रवेश करती है। यह बहुत प्राचीन नगरी है। प्राचीन काल में कपिलमुनि के नाम पर इसे कपिला भी कहा जाता था। ऐसा कहा जाता है कि यहाँ कपिल मुनि का तपोवन था। यह स्थान बड़ा रमणीक है और यहाँ की गंगा हिंदुओं द्वारा बहुत पवित्र मानी जाती है। ह्वेनसांग भी ७वीं शताब्दी में हरद्वार आया था और इसका वर्णन उसने 'मोयु-लो' नाम से किया है। मोयू लो को आधुनिक मायापुरी गाँव समझा जाता है जो हरद्वार के निकट में ही है। प्राचीन किलों और मंदिरों के अनेक खंडहर यहाँ विद्यमान हैं। यहाँ का प्रसिद्ध स्थान हर की पैड़ी है जहाँ 'गंगा द्वार का मंदिर भी है। हर की पैड़ी पर विष्णु का चरणचिह्न है जहाँ लाखों यात्री स्नान कर चरण की पूजा करते हैं और यहाँ का पवित्र गंगा जल देश के प्रायः सभी स्थानों में यात्रियों द्वारा ले जाया जाता है। प्रति वर्ष चैत्र में मेष संक्रांति के समय मेला लगता है जिसमें लाखों यात्री इकट्ठे होते हैं। बारह वर्षों पर यहाँ कुंभ का मेला लगता है जिसमें कई लाख यात्री इकट्ठे होते और गंगा में स्नान कर विष्णुचरण की पूजा करते हैं। यहाँ अनेक मंदिर और देवस्थल हैं। माया देवी का मंदिर पत्थर का बना हुआ है। संभवतः यह १०वीं शताब्दी का बना होगा। इस मंदिर में माया देवी की मूर्ति स्थापित है। इस मूर्ति के तीन मस्तक और चार हाथ हैं। १९०४ ई० में लक्सर से देहरादून तक के लिये रेलमार्ग बना और तभी से हरद्वार की यात्रा सुगम हो गई। हरद्वार का विस्तार अब पहले से बहुत बढ़ गया है। यह डेढ़ मील से अधिक की लंबाई में बसा हुआ है। यह स्थान वाणिज्य का केंद्र था और कभी यहाँ बहुत घोड़े बिकते थे। इसके निकट ही हृषिकेश के पास सोवियत रूस के सहयोग से एक बहुत बड़ा ऐंटी-बायोटिक कारखाना खुला है। यहीं से गंगा की प्रमुख नहर निकली है जो इ॰ गरी का एक अद्भुत कार्य समझा जाता है। यात्रियों की सुविधा के लिये अनेक धर्मशालाएँ बनी हैं। यहाँ के स्वास्थ्य की दशा में अब बहुत सुधार हुआ है।

लोगों का विश्वास है कि यहाँ मरनेवाला प्राणी परमपद पाता है और स्नान से जन्म जन्मांतर का पाप कट जाता है और परलोक में हरिपद की प्राप्ति होती है। अनेक पुराणों में इस तीर्थ का वर्णन और प्रशंसा उल्लिखित।

हस्तिनापुर स्थिति : २८° ९' उ० अ० तथा ७८° ३' पू० दे०। चंद्रवंशीय हस्ति नामक राजा का बसाया हुआ नगर है। महाभारत में इसे पांडवों की राजधानी कहा गया है।

राजा परीक्षित की यह राजधानी थी। बाद में राजधानी कौशांबी चली गई जो मेरठ से २२ मील दूर है। कार्तिक पूर्णिमा को यहाँ बड़ा मेला लगता है। यह प्रसिद्ध जैन तीर्थ भी है। आदि तीर्थंकर वृषभदेव को राजा श्रेयांस ने यहीं इक्षुरस का दान किया था। इसलिये इसे दानतीर्थ भी कहते हैं। इसके पास ही मसूमा गाँव में प्राचीन जैन प्रतिमाएँ हैं।

'हरिऔध', अयोध्यासिंह उपाध्याय (सन् १८६५ से–१९४७ जन्मभूमि निजामाबाद (आजमगढ़, उ० प्र०)। प्रारंभिक शिक्षा आजमगढ़, इसके बाद कुछ समय क्वींस कालेज (वाराणसी) में अंग्रेजी शिक्षा, तदुपरांत आजमगढ़ से नार्मल हुए। सन् २३ तक आजमगढ़ में कानूनगो रहे, वहीं से अवकाश ग्रहण पर काशी विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक हुए। वहाँ से भी अवकाशग्रहण करने पर उनका शेष जीवन आजमगढ़ में व्यतीत हुआ।

'हरिऔध' जी भारतेंदु युग के अंतिम चरण के कवि थे। उन्हें उस युग में पर्यवसित मध्ययुग का काव्य साहित्य और उन्नीसवीं

सदी का वह सार्वजनिक नवजागरण उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था, जो बीसवीं शताब्दी में परिपोषित और विकसित हुआ। एक कान्यकुब्ज सनाढ्य ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न होकर भी वे अपने संस्कारों में वैसे ही उदात्त थे जैसे अपनी प्रतिभा में, अतएव, जीवन की तरह ही उनकी रचनाओं में भी विविध युगों का समावेश मिलता है। व्रजभाषा से लेकर छायावाद तक उनकी कृतियों में काव्य की अनेक पद्धतियाँ हैं। काव्यशैली में ही नहीं, उनकी भाषा में भी अनेकरूपता है।

'हरिऔध' जी की कृतियों में सबसे पहले उनकी भाषा की ओर ही ध्यान जाता है। एक ओर उनकी भाषा सरलतम हिंदी है, जैसे 'ठेठ हिंदी का ठाट', 'अधखिलाफूल', 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे', और 'बोलचाल' में, दूसरी ओर गहनतम संस्कृतनिष्ठ हिंदी, जैसे 'प्रियप्रवास' में।

'प्रियप्रवास' के लेखनकाल में ही 'हरिऔध' जी 'वैदेहीवनवास' लिखने के लिये प्रेरित हुए थे। 'प्रियप्रवास' संस्कृत के वर्णवृत्तों में था, 'वैदेहीवनवास' हिंदी के मात्रिक छंदों में है। 'प्रवास' और 'वनवास' से उनकी सुकोमल संवेदना अथवा करुण स्वभाव का परिचय मिलता है। इन काव्यों का कथानक पुराना होते हुए भी कथा का निरूपण और स्पंदन नया है। भाषा की दृष्टि से हरिऔध जी के सभी प्रयोगों (ठेठ हिंदी, प्रियप्रवास और चौपदों) का 'वैदेही वनवास' समवाय है।

पुराने विषयों में नवीनता का उन्मेष हरिऔध जी की विशेषता है। व्रजभाषा में लिखा गया वृहद् काव्य 'रसकलस' यद्यपि लक्षणग्रंथ है, तथापि वह पुरानी परिपाटी का पिष्टपेषण मात्र नहीं है। उसमें कई नई उद्भावनाएँ हैं।

'पारिजात' हरिऔध जी का मुक्तक महाकाव्य है। मुक्तक इसलिये कि इसमें प्रकीर्णक उद्गार हैं, महाकाव्य इसलिये कि सभी उद्गार विषयक्रम से सर्गबद्ध हैं। इसे 'आध्यात्मिक और आधिभौतिक विविध-विषय-विभूषित' कहा गया है। यह महाकाव्य 'हरिऔध' जी के संपूर्ण अध्ययन, मनन, चिंतन का समाहार है। इसमें उनकी सभी तरह की भाषा, सभी तरह के छंदों और सभी तरह की काव्यशैलियों का संयोजन है।

हरिऔध जी ने बच्चों के लिये भी कविताएँ लिखी हैं। उपन्यास, नाटक, लेख, भाषण और भूमिका के रूप मे उनका गद्य साहित्य भी पुष्कल है। [शां० प्रि० द्वि०]

हरिकृष्ण 'जौहर' का जन्म काशी में संवत् १९३७ वि० को वर्तमान हिंदू स्कूल के सामने श्री सीताराम कुश्तिशाला में भाद्रपद ऋषिपंचमी को हुआ था। जौहर जी के पिता मुंशी रामकृष्ण कोहली काशी के महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के प्रधान मंत्री थे। शैशव में ही जौहर के मातापिता का स्वर्गवास हो गया। आपकी प्रारंभिक शिक्षा फारसी के माध्यम से हुई। प्रारंभ में उर्दू में लिखने के कारण आपने अपना उपनाम 'जौहर' रख लिया।

बाबू हरिकृष्ण के साहित्यिक जीवन का प्रारंभ भारतजीवन-प्रेस की छत्रच्छाया में प्रारंभ हुआ। प्रेस के स्वामी बाबू रामकृष्ण वर्मा के अतिरिक्त उस समय के प्रमुख एवं श्रेष्ठ साहित्यकार पं० अंबिकादत्त व्यास, पं० नकछेदी तिवारी, लच्छीराम, रत्नाकर, कार्तिकप्रसाद जी, पं० सुधाकर द्विवेदी तथा पं० किशोरीलाल गोस्वामी के संपर्क में आप आए। काशी से प्रकाशित होनेवाले मासिक पत्र 'मित्र', 'उपन्यास तरंग' तथा साप्ताहिक 'द्विजराज' पत्र का इन्होंने बहुत दिनों तक संपादन किया।

भारतजीवन प्रेस में काम करते समय आपने कुसुमलता नामक उपन्यास लिखा। काशी के समाज से विरक्ति होने पर आप बंबई वेंकटेश्वर समाचारपत्र में सहायक संपादक के रूप में कार्य करने लगे। सन् १९०२ ई० में आप कलकत्ते चले आए और वहाँ 'बंगवासी' के सहकारी संपादक के रूप में काम करने लगे। कालांतर में आप बंगवासी के प्रधान संपादक नियुक्त हो गए। कलकत्ते में जौहर जी ने बाबू दामोदरदास खन्नी तथा बाबू निहाल सिंह की सहायता से हिंदी के प्रचार व प्रसार के लिये नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना की।

बंगवासी में १७ वर्ष कार्य करने के पश्चात् जौहर सन् १९१८ ई० में नाटकों की दुनिया में चले आए। १९१९ ई० में आपने 'मदन थियेटर्स' में नाटककार के रूप में प्रवेश किया। सन् १९३१ में मदन थियेटर्स के स्वामी रुस्तम जी की मृत्यु होने पर आपने यह नौकरी छोड़ दी और फिर काशी चले गए। आपने खुदादास, माँ, कर्मवीर आदि फिल्मों की कथाएँ लिखी हैं। काशी में मामूरगंज से आपने हिंदी प्रेस से 'आधार' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला।

पत्रकार के रूप मे जौहर जी को काफी ख्याति मिली। युद्धसंबंधी समाचार आप बहुत ही सजीव देते थे। इस दिशा में वे कहा करते थे, हम केवल युद्ध लिखने के लिये ही पत्र का संपादन कर रहे हैं। पत्रकार के अतिरिक्त वे सफल उपन्यासकार भी थे। इनका 'कुसुमलता' नामक तिलस्मी उपन्यास देवकीनंदन खत्री की परंपरा में है। 'काला बाघ', 'गवाह गायब' लिखकर अपने जासूसी साहित्य में एक नए चरण की स्थापना की। जौहर जी का जीवन बड़ा सात्विक था। चाय सिगरेट से आपको भारी नफरत थी। अपने जीवन के संबंध में आप प्राय: कहा करते थे — कागज ओढ़ना और बिछाना, कागज से ही खाना, कागज लिखते पढ़ते साधु कागज में मिल जाना।'

बंबई में जब आप वेंकटेश्वर समाचारपत्र के संपादक के रूप में कार्य कर रहे थे तभी आपकी ठोढ़ी में साधारण सी चोट लग गई और इसी चोट ने भयानक टिटनस रोग का रूप धारण कर लिया। अधिक अस्वस्थ होने पर १९ सितंबर, १९४४ को काशी चले आए और यहीं ११ फरवरी, १९४५ में आपका स्वर्गवास हो गया।

[गि० चं० त्रि०]

हरिजन आंदोलन हिंदू समाज में जिन जातियों या वर्गों के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार किया जाता था, और आज भी कुछ हद तक वैसा ही विषम व्यवहार कहीं कहीं पर सुनने और देखने में आता है, उनको अस्पृश्य, अंत्यज या दलित नाम से पुकारते थे। यह देखकर कि ये सारे ही नाम अपमानजनक हैं, सन् १९३२ के अंत में गुजरात के एक अंत्यज ने ही महात्मा गांधी को एक गुजराती भजन का हवाला देकर लिखा कि अंत्यजों को 'हरिजन' जैसा सुंदर नाम क्यों न दिया

जाय। इस भजन में हरिजन ऐसे व्यक्ति को कहा गया है, जिसका सहायक संसार में, सिवाय एक हरि के, कोई दूसरा नहीं है। गांधी जी ने यह नाम पसंद कर लिया और यह प्रचलित हो गया।

वैदिक काल में अस्पृश्यता का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। परंतु वर्णव्यवस्था के विकृत हो जाने और जाति पाँति की भेद भावना बढ़ जाने के कारण अस्पृश्यता को जन्म मिला। इसके ऐतिहासिक, राजनीतिक आदि और भी कई कारण बतलाए जाते हैं। किंतु साथ ही साथ, इसे एक सामाजिक बुराई भी बतलाया गया। 'वज्रसूचिक' उपनिषद् में तथा महाभारत के कुछ स्थलों में जातिभेद पर आधारित ऊँचनीचपन की निंदा की गई है। कई ऋषि मुनियों ने, बुद्ध एवं महावीर ने, कितने ही साधु संतों ने तथा राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद प्रभृति समाजसुधारकों ने इस सामाजिक बुराई की ओर हिंदू समाज का ध्यान खींचा। समय समय पर इसे मिटाने के जहाँ तहाँ छिट पुट प्रयत्न भी किए गए, किंतु सबसे जोरदार प्रयत्न तो गांधी जी ने किया। उन्होंने इसे हिंदूधर्म के माथे पर लगा हुआ कलंक माना और कहा कि 'यदि अस्पृश्यता रहेगी, तो हिंदू धर्म का — उनकी दृष्टि में 'मानव धर्म' का — नाश निश्चित है।' स्वातंत्र्य प्राप्ति के लिये गांधी जी ने जो चतुःसूत्री रचनात्मक कार्यक्रम देश के सामने रखा, उसमें अस्पृश्यता का निवारण भी था। परंतु इस आंदोलन ने देशव्यापी रूप तो १९३२ के सितंबर मास में धारण किया, जिसका संक्षिप्त इतिहास यह है —

लंदन में आयोजित ऐतिहासिक गोलमेज परिषद् के दूसरे दौर में, कई मित्रों के अनुरोध पर, गांधी जी संमिलित हुए थे। परिषद् ने भारत के अल्पसंख्यकों के जटिल प्रश्न को लेकर जब एक कमेटी नियुक्त की, तो उसके समक्ष १३ नवंबर, १९३१ को गांधी जी ने अछूतों की ओर से बोलते हुए कहा — 'मेरा दावा है कि अछूतों के प्रश्न का सच्चा प्रतिनिधित्व तो मैं कर सकता हूँ। यदि अछूतों के लिये पृथक् निर्वाचन मान लिया गया, तो उसके विरोध में मैं अपने प्राणों की बाजी लगा दूँगा।' गांधी जी को विश्वास था कि पृथक् निर्वाचन मान लेने से हिंदू समाज के दो टुकड़े हो जाएँगे, और उसका यह अंगभंग लोकतंत्र तथा राष्ट्रीय एकता के लिये बड़ा घातक सिद्ध होगा, और अस्पृश्यता को मानकर सवर्ण हिंदुओं ने जो पाप किया है उसका प्रायश्चित्त करने का अवसर उनके हाथ से चला जाएगा।

गोलमेज परिषद् से गांधी जी के आते ही स्वातंत्र्य आंदोलन ने फिर से जोर पकड़ा। गांधी जी को तथा कांग्रेस के कई प्रमुख नेताओं को जेलों में बंद कर दिया गया। गांधी जी ने यरवदा जेल से भारत मंत्री श्री सेम्युएल होर के साथ इस बारे में पत्रव्यवहार किया। प्रधान मंत्री को भी लिखा। किंतु जिस बात की आशंका थी वही होकर रही। ब्रिटिश मंत्री रैमजे मैकडानल्ड ने अपना जो सांप्रदायिक निर्णय दिया, उसमें उन्होंने दलित वर्गों के लिये पृथक् निर्वाचन को ही मान्यता दी।

१३ सितंबर, १९३२ को गांधी जी ने उक्त निर्णय के विरोध में आमरण अनशन का निश्चय घोषित कर दिया। सारा भारत काँप उठा इस भूकंप के जैसे धक्के से। सामने विकट प्रश्न खड़ा था कि अब क्या होगा। देश के बड़े बड़े नेता इस गुत्थी को सुलझाने के लिये इकट्ठा हुए। मदनमोहन मालवीय, च० राजगोपालाचारी, तेजबहादुर सप्रू, एम० आर० जयकर, अमृतलाल वि० ठक्कर, घनश्यामदास बिड़ला आदि, तथा दलित वर्गों के नेता डाक्टर अंबेडकर, श्रीनिवासन्, एम० सी० राजा और दूसरे प्रतिनिधि। तीन दिन तक खूब विचार-विमर्श हुआ। चर्चा में कई उतार चढ़ाव आए। अंत में २४ सितंबर को सबने एकमत से एक निर्णीत समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए, जो 'पूना पैक्ट' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पूना पैक्ट ने दलित वर्गों के लिये ब्रिटिश भारत के अंतर्गत मद्रास, बंबई (सिंध के सहित) पंजाब, बिहार और उड़ीसा, मध्यप्रांत, आसाम, बंगाल और संयुक्त प्रांत की विधान सभाओं में कुल मिलाकर १४८ स्थान, संयुक्त निर्वाचन प्रणाली मानकर, सुरक्षित कर दिए, जबकि प्रधान मंत्री के निर्णय में केवल ७१ स्थान दिए गए थे, तथा केंद्रीय विधान सभा में १८ प्रतिशत स्थान उक्त पैक्ट में सुरक्षित कर दिए गए। पैक्ट की अवधि १० वर्ष की रखी गई, यह मानकर कि १० वर्ष के भीतर अस्पृश्यता से पैदा हुई निर्योग्यताएँ दूर कर दी जाएँगी।

सर तेजबहादुर सप्रू और श्रीजयकर ने इस पैक्ट का मसौदा तत्काल तार द्वारा ब्रिटिश प्रधान मंत्री को भेज दिया। फलतः प्रधान मंत्री ने जो सांप्रदायिक निर्णय दिया था, उसमें से दलित वर्गों के पृथक् निर्वाचन का भाग निकाल दिया।

समस्त भारत के हिंदुओं के प्रतिनिधियों की जो परिषद् २५ सितंबर, १९३२ को बंबई में पं० मदनमोहन मालवीय के सभापतित्व में हुई, उसमें एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसका मुख्य अंश यह है — आज से हिंदुओं में कोई भी व्यक्ति अपने जन्म के कारण 'अछूत' नहीं माना जायगा, और जो लोग अब तक अछूत माने जाते रहे हैं, वे सार्वजनिक कुओं, सड़कों और दूसरी सब संस्थाओं का उपयोग उसी प्रकार का कर सकेंगे, जिस प्रकार कि दूसरे हिंदू करते हैं। अवसर मिलते ही, सबसे पहले इस अधिकार के बारे में कानून बना दिया जाएगा, और यदि स्वतंत्रता प्राप्त होने से पहले ऐसा कानून न बनाया गया तो स्वराज्य संसद् पहला कानून इसी के बारे में बनाएगी।

२६ सितंबर को गांधी जी ने, कवि रवींद्रनाथ ठाकुर तथा अन्य मित्रों की उपस्थिति में संतरे का रस लेकर अनशन समाप्त कर दिया। इस अवसर पर भावविह्वल कवि ठाकुर ने स्वरचित 'जीवन जखन शुकाये जाय, करुणा धाराय एशो' यह गीत गाया। गांधी जी ने अनशन समाप्त करते हुए जो वक्तव्य प्रकाशनार्थ दिया, उसमें उन्होंने यह आशा प्रकट की कि, 'अब मेरी ही नहीं, किंतु सैकड़ों हजारों समाजसंशोधकों की यह जिम्मेदारी बहुत अधिक बढ़ गई है कि जब तक अस्पृश्यता का उन्मूलन नहीं हो जाता, इस कलंक से हिंदू धर्म को मुक्त नहीं कर लिया जाता, तब तक कोई चैन से बैठ नहीं सकता। यह न मान लिया जाय कि संकट टल गया। सच्ची कसौटी के दिन तो अब आनेवाले हैं।'

इसके अनंतर ३० सितंबर को पुनः बंबई में पंडित मालवीय जी की अध्यक्षता में जो सार्वजनिक सभा हुई, उसमें सारे देश के हिंदू

नेताओं ने निश्चय किया कि अस्पृश्यतानिवारण के उद्देश से एक अखिल भारतीय अस्पृश्यताविरोधी मंडल (एंटी-अन्टचेबिलिटी लीग) स्थापित किया जाय, जिसका प्रधान कार्यालय दिल्ली में रखा जाय, और उसकी शाखाएँ विभिन्न प्रांतों में और उक्त उद्देश को पूरा करने के लिये यह कार्यक्रम हाथ में लिया जाय—(क) सभी सार्वजनिक कुएँ, धर्मशालाएँ, सड़कें, स्कूल, श्मशानघाट, इत्यादि दलित वर्गों के लिये खुले घोषित कर दिए जाएँ, (ख) सार्वजनिक मंदिर उनके लिये खोल दिए जाएँ, (ग) बशर्ते कि (क) और (ख) के संबंध में जोर जबरदस्ती का प्रयोग न किया जाय, बल्कि केवल शांतिपूर्वक समझाने-बुझाने का सहारा लिया जाय।"

इन निश्चयों के अनुसार 'अस्पृश्यता-विरोधी-मंडल' नाम की अखिल भारतीय संस्था, बाद में जिसका नाम बदलकर 'हरिजन-सेवक-संघ' रखा गया, बनाई गई। संघ का मूल संविधान गांधी जी ने स्वयं तैयार किया।

हरिजन-सेवक-संघ ने अपने संविधान में जो मूल उद्देश्य रखा वह यह है—'संघ का उद्देश्य हिंदूसमाज में सत्यमय एवं अहिंसक साधनों द्वारा छुआछूत को मिटाना और उससे पैदा हुई उन दूसरी बुराइयों तथा निर्योग्यताओं को जड़मूल से नष्ट करना है, जो तथाकथित अछूतों को, जिन्हें इसके बाद 'हरिजन' कहा जाएगा, जीवन के सभी क्षेत्रों में भोगनी पड़ती हैं, और इस प्रकार उन्हें पूर्ण रूप से शेष हिंदुओं के समान स्तर पर ला देना है।'

'अपने इस उद्देश को पूरा करने के लिये हरिजन-सेवक-संघ भारत भर के सवर्ण हिंदुओं से संपर्क स्थापित करने का प्रयत्न करेगा, और उन्हें समझाएगा कि हिंदूसमाज में प्रचलित छुआछूत हिंदू धर्म के मूल सिद्धांतों और मानवता की उच्चतम भावनाओं के सर्वथा विरुद्ध है, तथा हरिजनों के नैतिक, सामाजिक और भौतिक कल्याणसाधन के लिये संघ उनकी भी सेवा करेगा।"

हरिजन-सेवक-संघ का प्रथम अध्यक्ष श्री घनश्यामदास बिड़ला को नियुक्त किया गया, और मंत्री का पद सँभाला श्रीअमृतलाल विट्ठलदास ठक्कर ने, जो 'ठक्कर बापा' के नाम से प्रसिद्ध थे। श्रीठक्कर ने सारे प्रांतों के प्रमुख समाजसुधारकों एवं लोकनेताओं से मिलकर कुछ ही महीनों में संघ को पूर्णतया संगठित कर दिया।

गांधी जी ने जेल के अंदर से ही हरिजन आंदोलन को व्यापक और सक्रिय बनाने की दृष्टि से तीन साप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन कराया—अंग्रेजी में 'हरिजन', हिंदी में 'हरिजन सेवक' और गुजराती में 'हरिजन बंधु'। इन साप्ताहिक पत्रों ने कुछ ही दिनों में 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' का स्थान ले लिया, जिनका प्रकाशन राजनीतिक कारणों से बंद हो गया था। हरिजन प्रश्न के अतिरिक्त अन्य सामयिक विषयों पर भी गांधी जी इन पत्रों में लेख और टिप्पणियाँ लिखा करते थे।

कुछ दिनों बाद, ठक्कर बापा के अनुरोध पर अस्पृश्यता-निवारणार्थ गांधी जी ने सारे भारत का दौरा किया। लाखों लोगों ने गांधी जी के भाषणों को सुना, हजारों ने छुआछूत को छोड़ा और हरिजनों को गले लगाया। कहीं कहीं पर कुछ विरोधी प्रदर्शन भी हुए। किंतु विरोधियों के हृदय को गांधी जी ने प्रेम से जीत लिया। इस दौरे में हरिजनकार्य के लिये जो निधि इकट्ठी हुई, वह दस लाख रुपए से ऊपर ही थी।

हरिजनों में अपना जन्मजात अधिकार प्राप्त करने का साहस पैदा हुआ। सवर्णों का विरोध भी धीरे धीरे कम होने लगा। गांधी जी की यह बात लोगों के गले उतरने लगी कि 'यदि अस्पृश्यता रहेगी तो हिंदू धर्म विनाश से बच नहीं सकता।'

हरिजन-सेवक-संघ ने सारे भारत में हरिजन-छात्र-छात्राओं के लिये हजारों स्कूल और सैकड़ों छात्रालय चलाए। उद्योगशालाएँ भी स्थापित कीं। खासी अच्छी संख्या में विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ और अन्य सहायताएँ भी दीं। हरिजनों की बस्तियों में आवश्यकता को देखते हुए अनेक कुएँ बनवाए। होटलों, धर्मशालाओं तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों के उपयोग पर जो अनुचित रुकावटें थीं उनको हटवाया। बड़े बड़े प्रसिद्ध मंदिरों में, विशेषतः दक्षिण भारत के मंदिरों में हरिजनों को संमानपूर्वक दर्शन पूजन के लिये प्रवेश दिलाया।

देश स्वतंत्र होते ही संविधान परिषद् ने, डॉ० अंबेडकर की प्रमुखता में जो संविधान बनाया, उसमें अस्पृश्यता को 'निषिद्ध' ठहरा दिया। कुछ समय के उपरांत भारतीय संसद् ने अस्पृश्यता अपराध कानून भी बना दिया। भारत सरकार ने अनुसूचित जातियों के लिये विशेष आयुक्त नियुक्त करके हरिजनों की शिक्षा तथा विविध कल्याण कार्यों की दिशा में कई उल्लेखनीय प्रयत्न किए।

संसद् और राज्यों की विधान सभाओं में सुरक्षित स्थानों से जो हरिजन चुने गए, उनमें से अनेक सुयोग्य व्यक्तियों को केंद्र में एवं विभिन्न राज्यों में मंत्रियों के उत्तरदायित्वपूर्ण पद दिए गए। विभिन्न सरकारी विभागों में भी उनकी नियुक्तियाँ हुईं। उनमें स्वाभिमान जाग्रत हुआ। आर्थिक स्थिति में भी यत्किंचित् सुधार हुआ। किंतु इन सबका यह अर्थ नहीं कि अस्पृश्यता का सर्वथा उन्मूलन हो गया है। स्पष्ट है कि समाजसंशोधन का आंदोलन केवल सरकार या किसी कानून पर पूर्णतः आधारित नहीं रह सकता। अस्पृश्यता का उन्मूलन प्रत्येक सवर्ण हिंदू का अपना कर्तव्य है, जिसके लिये उसका स्वयं का प्रयत्न अपेक्षित है। [वि० ह०]

हरिण (Antelope) विशाल अंगुलेटा वर्ग (order ungulata) के अंतर्गत गो कुल फैमिली बोवाइडी (Family Bovidae) के खुरवाले जीव हैं जो अफ्रीका, भारत तथा साइबेरिया के जंगलों के निवासी हैं।

ये बारह उपकुलों में विभक्त हैं जिनमें निम्नलिखित प्रसिद्ध हरिण आते हैं।

पहले उपकुल — ट्रागेलाफिनि (Tragelaphine) में बड़े और मझोले सभी तरह के हरिण संमिलित हैं। ये अफ्रीका और भारत के निवासी हैं जिनकी सींगें घुमावदार होती हैं। इनमें इलैंड (Eland Taurotragus oryx) ६ फुट ऊँचा, घूसर बादामी रंग का हरिण है जो अफ्रीका का निवासी है।

बोंगो (Bongo T. Eurycerus) को इलैंड का निकट संबंधी कहना अनुचित न होगा। यह भी अफ्रीका का हरिण है जिसकी ऊँचाई ५ फुट तक पहुँच जाती है। इसके शरीर का रंग कत्थई होता है, जिसपर १०-१२ सफेद धारियाँ पड़ी रहती हैं। नर मादा दोनों की सींगें घुमावदार होती हैं।

कुडू (Koodoo, Strepsiceros Strepsiceros) सिलेटी भूरे, बड़े कद का हरिण है जिसकी ऊँचाई ५ फुट तक पहुँच जाती है, केवल नर के माथे पर चक्करदार लंबी सींगें रहती हैं।

बुश बक (Bush Buck, Tragelaphus Buxtoni) यह भी दक्षिण अफ्रीका का ४ फुट ऊँचा भूरे रंग का हरिण है जिसकी सींगें घुमावदार रहती हैं।

न्याला (Nyala, Tragelaphus angasi) भी अफ्रीका का हरिण है जिसका नर सिलेटी भूरा और मादा चटक लाल रंग की

(गजेले)

अफ्रीकी बारहसिंगा (कुडू)

वृष हरिण (नू)

अफ्रीकी हिरण (हार्ट बीस्ट)

विविध प्रकार के हिरण

होती है। यह ३½ फुट ऊँचा और घुमावदार सींगोंवाला जानवर है।

मार्श बक (Marsh Buck, Limnotragus spekii) भी ४ फुट ऊँचा मध्य अफ्रीका निवासी हरिण है जो अपना अधिक समय पानी और कीचड़ में बिताता है।

चौसिंघा (Four horned Antelope, Tetra cerus guadri cornis) हमारे देश का छोटा हरिण है। जो कद में दो फुट ऊँचा होता है। इसके नर के सिर पर चार छोटी छोटी नोकीली सींगें रहती हैं।

नीलगाय (Nilgai, Boselaphus Tragocamelus) भी भारत का निवासी है लेकिन यह ४ फुट ऊँचा और भूरे रंग का होता है। इसके नर पुराने हो जाने पर निलछौंह सिलेटी रंग के हो जाते हैं। नर के माथे पर ८-९ इंच के सींग रहते हैं।

दूसरे उपकुल (Kobines) — में अफ्रीका के वाटर और रीड हरिण (Water Buck and Reed Buck) आते हैं। इनकी सींगें जो केवल नरों को होती हैं, टेढ़ी और बिना घुमाव के होती है।

वाटर बक (Kobus ellipsi pymnus) ४ फुट ऊँचे और गाढ़े भूरे रंग के होते हैं। ये पानी और कीचड़ के निकट रहते हैं।

रीड बक (Redunca arundinacea) ये २½ फुट ऊँचे सिलेटी रंग के हरिण हैं जो पहाड़ियों पर पाए जाते हैं।

तीसरे उपकुल (Aepycerines) — में अफ्रीका के इंपाला (Impala) हरिण हैं।

इंपाला (Aepyceros melampus) कत्थई रंग के तीन फुट से कुछ ऊँचे हरिण हैं जो झाड़ियों से भरे मैदानो में रहते हैं। नर को लंबी धारीदार सींगें रहती हैं।

चौथे उपकुल (Bubalines) — में अफ्रीका के हार्ट बीस्ट (Hart beest) और वाइल्ड बीस्ट (wild beest) नाम के हरिण हैं। जो भारी कद के और खुले मैदानों में रहनेवाले जीव हैं।

वाइल्ड बीस्ट या नू (Gnu, Gorgon taurinus) ४½ फुट ऊँचे सिलेटी रंग के हरिण हैं। नर मादा दोनों के धारीदार सींगें रहती हैं।

हार्ट बीस्ट (Bubalis buselaphus) ३½ फुट का हल्के बादामी रंग का हरिण है।

पाँचवें उपकुल (Gazellines) — में अफ्रीका और भारत के मझोले कद के हरिण हैं, जो खुले हुए मैदानों में रहना अधिक पसंद करते हैं। इनमें चिकारा और मृग प्रसिद्ध हैं।

चिकारा (Gazella quanti) पूर्वी अफ्रीका के निवासी हैं जो ३ फुट ऊँचे और घुमावदार सींगो वाले हरिण हैं।

मृग — (Antilope cerircapra) भारत के २½ फुट ऊँचे भूरे रंग के प्रसिद्ध हरिण हैं जिनके नर पुराने होने पर काले हो जाते हैं — सींगें लंबी और घुमावदार होती हैं।

छठे उपकुल — (Cephalophine) में अफ्रीका के डुइकर (Dui Kers) हरिण हैं जो करीब १० इंच ऊँचे होते हैं जिनकी सींग सीधी और नोकीली होती है, जो नर मादा दोनों के रहती हैं।

सातवें उपकुल — (Neo traqine) में ओरीबी (Oribi

ourelei) नाम के अफ्रीका निवासी छोटे हरिण हैं जो डेढ़ फुट ऊँचे और हलके भूरे रंग के होते हैं।

आठवें उपकुल —(Oreo traqine) में अफ्रीका के क्लिप-स्प्रिंगर (Klip Springer Oveotragus Oveotragus) नाम के १ फुट ऊँचे बादामी रंग के हरिण हैं।

नवें उपकुल — (Madoquine) में डिक डिक (Dik Dik) (Madoqua Sattiana) नाम के सवा फुट ऊँचे छोटे हिरण हैं जो पहाड़ियों पर चढ़ने में उस्ताद होते हैं।

दसवें उपकुल — (Pantholopine) वे हमारे देश का चेरू (Cheru, Pantholops hodqsoni) नाम का २ फुट ऊँचा प्रसिद्ध पहाड़ी हिरण है जिसकी सींग काफी लंबी होती है।

ग्यारहवें उपकुल — (Saiqine) में मध्य एशिया के सैगा (Saiga tatarica) नाम के ढाई फुट ऊँचे हलके बादामी रंग के हरिण हैं जो जाड़ों में सफेद हो जाते हैं इनकी सींग सीधी और धारीदार होती हैं।

बारहवें उपकुल (Rupicaprine) — में एशिया के शेमाइज Chamois (Rupicapra Rupicapra) नाम के २½ फुट ऊँचे भूरे रंग के हरिण हैं जिनके नर मादा दोनों की सींगें सिरे पर पीछे की ओर मुड़ी रहती हैं।

चीतल, कृष्ण सार, चौसिंहा, काकर, पाढ़ा, तथा बारहसिंगा के विवरण के लिये देखें शिकार। [सु० सि०]

हरिणपदी कुल (कॉन्वाल्वुलेसी, Convolvulaceae) यह द्विदा-लीय वर्ग के पौधों का एक कुल है जिसमें करीब ४५ जीनरा (genera) तथा १००० जातियों (Species) का वर्णन मिलता है। इस कुल के पौधे अधिकतर उष्णकटिबंध में पाए जाते हैं, यों तो इनकी प्राप्ति प्राय: सारे विश्व में है। पौधे अधिकांश एकवर्षीय तथा कुछ बहुवर्षीय होते हैं। कुछ लतास्वरूप परा-रोही तथा कुछ छोटे पौधों के रूप में उगा करते हैं। सफेद दूध सा पदार्थ पौधों के हरेक भाग में विद्यमान रहता है। जड़पद्धति (root system) बहुत विस्तृत होती है। जड़ें कभी कभी लंबी तथा पतली होती हैं, कुछ पौधों में ये मोटी, गूदादार तथा अधिक लंबी होती हैं, जैसे शकरकंद। इनमें खाद्य पदार्थ स्टार्च के रूप में विद्यमान होता है। अमरबेलि (Cuscuta) इसी कुल का पौधा है जो पराश्रयी और अन्य वृक्ष पर लिपटा हुआ फैला रहता है तथा अपनी जड़ें धँसाकर खाना आदि लेता रहता है।

तना नरम, कभी कभी पराश्रयी एवं लिपटा हुआ होता है। किसी किसी में पर्याप्त मोटा होता है। अमरबेलि में तना नरम तथा पीला होता है। पत्तियाँ सरल डंठलयुक्त तथा असंमुख होती हैं। अमरबेलि में पत्तियाँ बहुत छोटी तथा शल्कपत्रवत् (Scaly) होती हैं। पुष्प एकाकी (solitary) अथवा पुष्पक्रम (inflorescence) में पैदा होते हैं। ये पंचतयी (Pentamarous), जायांगाधर (hypogynous) और नियमित होते हैं। बाह्यदलपुंज (Calx) पाँच तथा स्वतंत्र बाह्यदल का बना होता है। दलपुंज (Covolla) पाँच संयुक्तदली (gamopetalous) तथा घंटे के आकार का होता है। रंग भिन्न भिन्न परंतु अधिकांशत: गुलाबी होता है। पुमंग (Androecium) पाँच पुंकेसरों (Stamens) का दललग्न (epiepetalous) तथा अंतर्मुखी (introrse) होता है।

जायांग (Gynaecium) दो या तीन अंडप (Carpels) का होता है जो जुड़े हुए होते हैं। अंडाशय जायांगाधर (hypogynous) होता है। बीजांड (ovules) स्तंभीय (axile) बीजांडासन (Placenta) पर लगे रहते हैं तथा प्रत्येक कोष्ठक (locule) मे इनकी संख्या प्राय. दो अथवा कभी कभी चार भी होती है। वर्तिका (Style) एक या तीन तथा वर्तिकाग्र (Stigma) दो या तीन भागो मे विभाजित होता है। शहद सा पदार्थ एक विशेष अंग से पैदा होता है जो अंडाशय (ovary) के नीचे विद्यमान रहता है।

फल अधिकतर संपुटिका (Capsule) तथा कभी कभी बेरी (berry) होता है। बीज असंख्य होते हैं। संसेचनक्रिया कीड़ों द्वारा होती है।

इस कुल के कुछ मुख्य पौधे निम्न हैं :

(१) शकरकंद (ipomoea batata) यह पोषणतत्व से भरा होने के कारण खाने के काम आता है।

(२) करेम (Ipomoea reptaus) — यह पानी का पौधा है तथा इसे शाक के रूप में प्रयोग करते हैं।

(३) चंद्रपुष्प (moon flower, Ipomoea bona-nose) — इसके पुष्प शाम को खिलते हैं और प्रात: मुरझा जाते हैं।

(४) हिरनखुरी (Convolvulus arvensis) यह गेहूँ और जौ के खेतों में उगकर फसलों को हानि पहुँचाता है।

(५) अमरबेलि (Cuscuta) या आकाशबेलि — यह परारोही तथा पूर्ण पराश्रयी होता है। [र० श० हि]

हरिता (Moss, मॉस) ब्रायोफाइटा के एक वर्ग मसाइ (Musci) या ब्रायोपसिडा (Bryopsida) के अंतर्गत लगभग १४००० जातियाँ पाई जाती हैं। ये पृथ्वी के हर भाग में पाए जाते हैं। ये छाया तथा सर्वथा नम स्थानों में पेड़ की छाल, चट्टानों आदि पर उगते हैं। इनके मुख्य उदाहरण स्फैग्नम (Sphagnum), (जो यूरोप के पीट में बहुत उगता है), एंड्रिया (Andreaea), फ्यूनेरिया (Funaria), पोलीट्राइकम (Polytrichum), बारबुला (Barbula) इत्यादि हैं।

मॉस एक छोटा सा एक या दो सेमी ऊँचा पौधा है, इसमें जड़ों के बजाय मूलाभास (Rhizoid) होते हैं जो जल तथा लवण लेने में मदद करते हैं। तना पतला, मुलायम और हरा होता है, इसपर छोटी छोटी मुलायम पत्तियाँ घनी तरह से लगी होती हैं जिसके कारण मॉस पौधों का समूह एक हरे मखमल की चटाई जैसा लगता है। प्रजनन के हेतु इन पौधों में स्त्रीधानी (Archegorium) तथा पुंधानी (Antheridium) होती हैं। पुंधानी में नर युग्मक बनते हैं जो इनके बाहर आकर अपनी दो बाल जैसी पक्ष्माभिका (Celia) की मदद से पानी में तैरकर स्त्रीधानी तक पहुँचते हैं और उसके अंदर मादा युग्मक से मिल जाते हैं।

वर्धांधान के पश्चात् बीजाणु उद्भिद या कैप्सूल बनता है जिसके अंदर छोटे छोटे हजारों बीजाणु बनते हैं। ये बीजाणु हवा में तैरते हुए पृथ्वी पर इधर उधर बिखर जाते हैं, और एक नए आकार को जन्म देते हैं। इन्हें प्रथमतंतु (Protonema) कहते हैं। ये बाद में ही नए मॉस पौधे को जन्म देते हैं।

मॉस मिट्टी का निर्माण करते हैं। उनकी छोटी छोटी मूलिकाएँ धीरे धीरे कार्य करती हुई चट्टानों को छोटे छोटे कणों में तोड़ देती हैं। समय पाकर वे पत्थरों को धूल में परिणत कर देते हैं। इनकी पत्तियाँ वायु के धूलकणों को रोककर धीरे धीरे मिट्टी की गहरी बना देती हैं। मॉस वर्षा के जल को भी रोक रखता है। इससे मिट्टी गीली रहती है जहाँ अन्य पौधे आकर उग जाते और पनपते हैं। मिट्टी में जल को रोककर मॉस बाढ़ से भी बचाते हैं। मॉस के बारबार उगने और मर जाने से वहाँ समय पाकर पीट नामक कोयला बनता है जिसका व्यवहार जलावन के रूप में होता है। मिट्टी के साथ मिलकर मॉस उसे उपजाऊ भी बनाता है। मॉस से मिट्टी में जल रोक रखा जाता है। पीट के दलदल अनेक देशों, जैसे जर्मनी, स्वीडन, हॉलैंड आयरलैंड और संयुक्त राज्य अमरीका के अनेक भागों में पाए जाते हैं।

हरिदास जी का जन्म किस संवत् में हुआ था, यह अनिश्चित सा है परंतु इतना निश्चित है कि अकबर के सिंहासनारूढ़ होने के पहले इनका नाम प्रसिद्ध हो चुका था। जो अपने आपको स्वामी हरिदास का वंशधर मानते हैं, उनका कहना है कि वे सारस्वत ब्राह्मण थे, मुल्तान के पास उच्च गाँव के रहनेवाले थे। बाबू राधाकृष्ण दास ने 'भक्तसिंधु' ग्रंथ का प्रमाण देकर यह माना है कि स्वामी जी सनाढ्य ब्राह्मण तथा, कोल के निकट हरिदासपुर के निवासी थे। स्वामी जी की शिष्यपरंपरा के महात्मा सहचरिशरण जी का भी यही मत है। किंतु, नाभा जी ने 'भक्तमाल' में 'आसधीर उद्योतकर' इतना ही इनके विषय में कहा है। 'भक्तमाल' में जो छप्पय दिया गया है, उसमें स्वामी हरिदास जी की प्रेमपरा भक्ति और गहरी रसिकता का ही वर्णन किया गया है।

स्वामी हरिदास जी उच्च कोटि के त्यागी, निस्पृह और महान् हरिभक्त थे। त्यागी ऐसे कि कौपीन, मिट्टी का एक करवा और यमुना की रज इतना ही पास में रखते थे। श्रीराधाकृष्ण के नित्यलीलाविहार के ध्यान और कीर्तन में आठों पहर यह मग्न रहते थे। बड़े बड़े राजे महाराजे भी दर्शन करने के लिये इनके निकुंज द्वार पर खड़े रहते थे।

स्वामी हरिदास जी संगीतशास्त्र के बहुत बड़े आचार्य थे। सुप्रसिद्ध तानसेन भी इनके शिष्य थे।

निंबार्क संप्रदाय के अंतर्गत वृंदावन में जो 'टट्टी' स्थान है उसके प्रवर्तक एवं संस्थापक स्वामी हरिदास जी थे। उनका 'निधुवन' आज भी दर्शनीय है। उनकी शिष्यपरंपरा में बीठल विपुल, भगवतरसिक, सहचरिशरण आदि अनेक त्यागी और रसिक महात्मा हुए हैं।

स्वामी हरिदास जी के रचे पद बड़े भावपूर्ण और श्रुतिमधुर हैं, और स्वभावतः राग रागिनियों में खूब बैठते हैं। सिद्धांत और लीलाविहार दोनों पर उन्होंने पदरचना की है। सिद्धांतसंबंधी १९ पद मिलते हैं, तथा लीलाविहारविषयक ११० पद। लीलाविहार की पदावली को 'केलिमाला' कहते हैं। 'केलिमाला' के सरस पदों में श्री श्यामाश्यामा के नित्यविहार का अनूठा चित्रण किया गया है। ऐसा लगता है कि वृंदावनविहारी की लीलाएँ प्रत्यक्ष देखकर हरिदास जी ने तंबूरे पर इन पदों को रच रचकर गाया होगा।

सिद्धांतपक्ष में 'तिनका बियारि के बस; ज्यों भावै त्यों उड़ाइ लै जाइ आपने रस' तथा 'हित तौ कीजै कमलनैन सों, जा हित के आगे और हित लागै फीकौ' एवं 'मन लगाइ प्रीति कीजै कर करवा सों, ब्रज बीथिन दीजै सोहिनी; बृंदावन सों, बन उपवन सों, गुंजमाल कर पोहिनी' ये पद बहुत प्रसिद्ध हैं। इन पदों में सर्वस्वत्याग, अकिंचनता, ऊँची रहनी, भगवत्प्रपन्नता एवं अनन्यता की निर्मल झाँकी देखने को मिलती है। [वि० ह०]

हरिनारायण हरिनारायण नामधारी दो कवि हुए हैं — एक हरिनारायण मिश्र और दूसरे हरिनारायण। इनमें एक हरिनारायण बेरी (जिला मथुरा) के निवासी थे। 'बारहमासी' और 'गोवर्धनलीला' खोज में इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। 'बारहमासी' में कांता प्रत्येक मास में होनेवाले दुःखों का वर्णन कर अपने पति को प्रवास जाने से रोकती है। 'गोवर्धनलीला' प्रबंधात्मक रचना है जिसमें श्रीकृष्ण इंद्रपूजा का निषेध करवाकर नंद गोपों से गोवर्धन पुजवाते हैं। कवित्व के विचार से इन दोनों ही रचनाओं का साधारण महत्व है।

दूसरे हरिनारायण भरतपुर में स्थित कुम्हेर के निवासी ब्राह्मण थे। इनकी तीन रचनाएँ बताई गई हैं — (१) 'माधवानलकामकंदला', (२) 'बैतालपचीसी' और (३) 'रुक्मिणीमंगल'। प्रथम कृति का रचनाकाल सं० १८१२ वि० है और यह प्रबंधात्मक रचना है। 'बैतालपचीसी' कथाप्रधान रचना है। तीसरी रचना 'रुक्मिणीमंगल' में श्रीकृष्णप्रिया रुक्मिणी के हरण का वर्णन है। पहले हरिनारायण की अपेक्षा दूसरे हरिनारायण में काव्यगरिमा अधिक है। [रा० फे० त्रि०]

हरि नारायण आपटे (१८६४-१९१९ ई०) मराठी के प्रसिद्ध उपन्यासलेखक हरिभाऊ आपटे का जन्म खानदेश में हुआ। पूना में पढ़ते समय इनके भावुक हृदय पर निबंधमालाकार चिपळूणकर और उग्र सुधारक आगरकर का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इसी अवस्था में इन्होंने कई अंग्रेजी कहानियों का मराठी में सरस अनुवाद किया। विद्यार्थी जीवन में ही इन्होंने संस्कृत के नाटकों का तथा स्कॉट, डिकन्स, थैकरे, रेनाल्ड्स इत्यादि के उपन्यासों का गहरा अध्ययन किया और लोकमंगल की दृष्टि से उपन्यासरचना की आकांक्षा इनमें अंकुरित हुई।

सन् १८८५ में इनका 'मधली स्थिति' नामक पहला सामाजिक उपन्यास एक समाचारपत्र में क्रमशः प्रकाशित होने लगा। बी० ए० की परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर इन्होंने 'करमणूक' नामक पत्रिका का संपादन करना आरंभ किया। यह कार्य ये अट्ठाईस वर्षों तक

सफलता से करते रहे। इस पत्रिका में इनके लगभग इक्कीस उपन्यास प्रकाशित हुए जिनमे दस सामाजिक और ग्यारह ऐतिहासिक हैं। मराठी उपन्यास के क्षेत्र में क्रांति का संदेश लेकर ये प्रवर्तीर्ण हुए। इनकी रचनाओं से मराठी उपन्याससाहित्य की सर्वांगीण समृद्धि हुई। इनकी सामाजिक कृतियों में समाजसुधार का प्रबल संदेश है। मुख्य सामाजिक उपन्यासों में 'मथली स्थिति', 'गणपतराव', 'पण लक्षात कोण घेतों', 'मी' और यशवंतराव खरे' उत्कृष्ट हैं। ये चरित्रचित्रण करने में सिद्धहस्त थे। इनकी रचनाओं में यथार्थवाद और ध्येयवाद (आदर्शवाद) का मनोहर संगम है। साथ ही मिल और स्पेंसर के बुद्धिवाद का रोचक विवेचन भी है। इन्होंने मध्यमवर्गीय महिलाओं की समस्याओं का भावपूर्ण एवं कलात्मक चित्रण किया।

ऐतिहासिक उपन्यासों में चंद्रगुप्त, उषःकाल, गड आला पण सिंह गेला, और वज्राघात आपटे की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। इनकी ऐतिहासिक दृष्टि व्यापक और विशाल थी। गुप्तकाल से मराठों की स्वराज्य स्थापना तक के काल पर इन्होंने कलापूर्ण उपन्यास लिखे। 'वज्राघात' इनकी अंतिम कृति है जिसमें दक्षिण के विजयानगरम् राज्य के नाश का प्रभावकारी चित्रण है। इसकी भाषा काव्यपूर्ण और सरस है। इनके सामाजिक उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास जैसे सजीव चरित्रचित्रण से ओतप्रोत हैं। ये सत्यं शिवं, सुंदरम् के अनन्य उपासक थे।

इनकी कहानियाँ 'स्फुट गोष्टी' नामक चार पुस्तकों में संगृहीत हैं। इनमें चरित्रचित्रण तथा घटनाचित्रण का मनोहर संगम है। कला तथा सौंदर्य की अभिव्यक्ति करते हुए जनजागरण का उदात्त कार्य करने में ये सफल रहे। [भी० गो० दे०]

हरियाणा भारत का राज्य है। जिसका क्षेत्रफल ४६५२० वर्ग किमी एवं जनसंख्या ७५,९९,७५९ (१९६१) है। राज्य में एक डिवीजन एवं सात जिले हैं। इन जिलों में २७ तहसीलें एवं इन तहसीलों के अंतर्गत ६,६६० ग्राम और ६२ उपनगर है। यहाँ की ग्रामीण जनसंख्या ६२,९२,०७९ (१९६१) एवं शहरी जनसंख्या १३,०७,६८० (१९६१) है। इस राज्य की राजधानी चंडीगढ़ है।

यह राज्य मुख्यतः कृषिप्रधान है, पर सिंचाई के साधनों की यहाँ अत्यधिक कमी है। अधिकांश भाग शुष्क एवं अर्धशुष्क क्षेत्रों में पड़ता है। राज्य में कोई भी ऐसी नदी नहीं है जिसमें वर्ष भर जल रहे। यहाँ ऋतु के अनुसार ताप में बड़ा परिवर्तन होता रहता है। हिसार, महेंद्रगढ़ एवं गुड़गाँव में ताप का परिवर्तन अधिक होता है। जाड़े में पाले से बड़ी हानि होती है। ग्रीष्म में प्रायः धूल से भरी आँधियाँ चला करती हैं। राज्य के आधे हिस्से में औसत वार्षिक वर्षा ५१ सेमी से कम होती है। घग्गर, टगड़ी, मरकद, सरस्वती, चुतग, कृष्णावती एवं दोहन भी बरसाती एवं छिछली नदियाँ हैं। पूर्व की ओर यमुना उत्तर प्रदेश के साथ उसकी सीमा बनाती है। राज्य के अधिकांश भाग की अवमृदा (Subsoil) नुनखरी है।

गेहूँ, जौ, मक्का, ज्वार, बाजरा, गन्ना एवं दलहन यहाँ की प्रमुख फसलें हैं। धान एवं कपास की खेती भी यहाँ की जाती है।

हरियाणा सर्वोत्कृष्ट नस्ल की सुंदर एवं सुडौल मुर्रा भैंसों और गायों के लिये अतीत काल से प्रसिद्ध है तथा संपूर्ण देश में उपर्युक्त दोनों पशुओं की बड़ी माँग है। हिसार का मवेशी फार्म एशिया के बड़े मवेशी फार्मों में से एक है और भारत में मवेशियों के नस्ल सुधार क्रियाकलापों का प्रमुख केंद्र है।

अब तक यह राज्य औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़ा रहा, पर अब दिल्ली के आसपास स्थित सोनीपत, फरीदाबाद आदि नगरों में औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित हो रही हैं। हरियाणा वित्त निगम, उद्योग विकास निगम तथा हरियाणा लघु उद्योग एवं निर्यात निगम राज्य में बड़े एवं छोटे उद्योगों को स्थापित करने में सहायता प्रदान कर रहे हैं और राज्य उद्योगों के लिये सस्ती भूमि और जल एवं विद्युत्शक्ति के संभरण का कार्य कर रहा है। महेंद्रगढ़ के अतिरिक्त राज्य में खनिजों का अभाव है।

हरियाणा राज्य बनने से पूर्व तक यह प्रदेश शिक्षा के क्षेत्र मे अत्यंत पिछड़ा हुआ था। १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार इस राज्य मे संमिलित जिलो की जनसंख्या का मात्र २० प्रतिशत ही शिक्षित है। राज्य की भाषा हिंदी है। कुरुक्षेत्र में एक विश्वविद्यालय है। मैट्रिकुलेशन एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर की परीक्षा लेने और पाठ्यक्रमों में सुधार के लिये एक शिक्षा बोर्ड का संगठन किया गया है। फरीदाबाद में जर्मनी के वाइ. एम. सी. ए. (Y. M. C. A.) के सहयोग से स्थापित तकनीकी प्रशिक्षण केंद्र भी यहाँ है। रोहतक मे चिकित्सा महाविद्यालय है।

राज्य के कई स्थान दर्शनीय हैं। दिल्ली से १०० मील की दूरी पर कुरुक्षेत्र है, जो हिंदुओं का अत्यंत प्रसिद्ध, धार्मिक एवं ऐतिहासिक स्थल है। यहाँ कौरवों एवं पांडवो के मध्य ऐतिहासिक युद्ध महाभारत हुआ था। सूर्यग्रहण के अवसर पर भी यहाँ बहुत तीर्थयात्री आते हैं। दिल्ली के समीप ही बड़खल झील एवं सूरजपुर कुंड दर्शनीय स्थल हैं। चंडीगढ़ और नगर से १३ मील दूर स्थित पिंजौर के मुगल उद्यान भी दर्शनीय हैं। ताजीवाला कलेसर नारायणगंज क्षेत्र शिकारियो के लिये आकर्षण का केंद्र है। अंबाला, झज्जर, थानेश्वर, रेवाड़ी, नारनौल, पानीपत एवं चंडीगढ़ राज्य के प्रसिद्ध नगर हैं।

राज्य सभा में पाँच और लोकसभा में नौ सदस्यों द्वारा यहाँ का प्रतिनिधित्व किया जाता है। [अ० ना० मे०]

हरिराम व्यास भक्तप्रवर व्यास जी का जन्म सनाढ्यकुलोद्भव ओड़छानिवासी श्री सुमोखन शुक्ल के घर मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी, संवत् १५६७ को हुआ था। संस्कृत के अध्ययन में विशेष रुचि होने के कारण अल्प काल ही में इन्होंने पांडित्य प्राप्त कर लिया। ओड़छानरेश मधुकरशाह इनके मंत्रशिष्य थे। व्यास जी अपने पिता की ही भाँति परम वैष्णव तथा सद्गृहस्थ थे। राधाकृष्ण की ओर विशेष झुकाव हो जाने से ये ओड़छा छोड़कर वृंदावन चले आए। राधावल्लभ संप्रदाय के प्रमुख आचार्य गोस्वामी हितहरिवंश जी के जीवनदर्शन का इनके ऊपर ऐसा मोहक प्रभाव पड़ा कि इनकी अंतर्वृत्ति नित्यकिशोरी राधा तथा नित्यकिशोर कृष्ण के निकुंजलीलागान में रम गई। ऐसी स्थिति में वृंदावन के प्रति अगाध निष्ठा स्वाभाविक थी। अतः ओड़छानरेश के आग्रह पर भी ये वृंदावन से पृथक् नहीं हुए।

चैतन्य संप्रदाय के रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी से इनकी गाढ़ी मैत्री थी। इनकी निधनतिथि ज्येष्ठ शुक्ला ११, सोमवार सं० १६८९ मानी जाती है।

इनका धार्मिक दृष्टिकोण व्यापक तथा उदार था। इनकी प्रवृत्ति दार्शनिक मतभेदों को प्रश्रय देने की नहीं थी। राधावल्लभीय संप्रदाय के मूल तत्व — नित्यविहार दर्शन — जिसे रसोपासना भी कहते हैं — की सहज अभिव्यक्ति इनकी वाणी में हुई है। इन्होंने श्रृंगार के अंतर्गत संयोगपक्ष को नित्यलीला का प्राण माना है। राधा का नखशिख और श्रृंगारपरक इनकी अन्य रचनाएँ भी संयमित एवं मर्यादित हैं। 'व्यासवाणी' भक्ति और साहित्यिक गरिमा के कारण इनकी प्रौढ़तम कृति है। ये उच्च कोटि के भक्त तथा कवि थे। राधावल्लभीय संप्रदाय के हृदिवय में इनका विशिष्ट स्थान है

कृतियाँ — व्यासवाणी, रागमाला, नवरत्न और स्वधर्म (दोनों संस्कृत तथा अप्रकाशित)।

सं० ग्रं० — पं० बलदेव उपाध्याय : भागवत संप्रदाय; श्री वासुदेव गोस्वामी : भक्त कवि व्यास जी; डॉ० विजयेंद्र स्नातक : राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धांत और साहित्य। [रा० ब० पा०]

हरिवंशपुराण महाभारत के खिल के रूप में हरिवंशपुराण सर्वविदित है। विविध ग्रंथ हरिवंश को महाभारत का खिल प्रमाणित करते हैं। महाभारत तथा हरिवंश में पाए जानेवाले प्रमाण भी इसी बात का समर्थन करते हैं।

महाभारत आदिपर्व के अंतर्गत पर्वसंग्रहपर्व में हरिवंश के हरिवंशपर्व और विष्णुपर्व महाभारत के अंतिम दो पर्वों में परिगणित किए गए हैं। इन दो पर्वों को जोड़कर ही महाभारत 'शतसाहस्री संहिता' के रूप में पूर्ण माना जाता है।

हरिवंश में अनेक प्रसंग महाभारत की पूर्वस्थिति की ओर संकेत करते हैं। साथ ही महाभारत में उपलब्ध कुछ आख्यान संभवत: आवृत्ति के भय से हरिवंश में उपेक्षित किए गए हैं। महाभारत मौसलपर्व में यादवों के विनाश और द्वारकानगरी के समुद्रमग्न होने का वृत्तांत हरिवंश में केवल एक श्लोक में वर्णित है। महाभारत आदिपर्व में विस्तार के साथ वर्णित शकुंतला का उपाख्यान हरिवंश में अत्यंत संक्षिप्त रूप में मिलता है। महाभारत के ही आदिपर्व में शंबूककथा के वक्ता कणिक मुनि की ओर संकेतमात्र हरिवंश में 'मित्रस्य धनदस्य च' के द्वारा हुआ है।

महाभारत का खिल होने पर भी हरिवंश एक स्वतंत्र पुराण है। पुराण पंचलक्षण—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वंतर और वंशानुचरित्—के आधार पर ही हरिवंश का विकास हुआ है। केवल पुराणपंचलक्षण ही नहीं, वरन् अर्वाचीन पुराणों में प्राप्त स्मृतिसामग्री और सांप्रदायिक विचारधाराएँ भी हरिवंश में उपलब्ध होती हैं।

अग्निपुराण में रामायण और महाभारत के साथ हरिवंश की भी गणना हुई है (अग्नि १२–१३)। संभवत: अग्निपुराण के काल में हरिवंश एक पुराण के रूप में स्वतंत्र अस्तित्व रखने लगा था, अन्यथा हरिवंश का पृथक् नामोल्लेख न होता।

हरिवंशपुराण के हरिवंशपर्व में पुराण पंचलक्षण के वंश और मन्वतर के अनुरूप विविध क्षत्रिय राजवंशों और ब्राह्मणवंशों का विवरण मिलता है। अन्य पुराणों की वंशावलि से तुलना करने पर हरिवंश की वंशावलि अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक ज्ञात होती है।

विष्णुपर्व में कृष्णचरित विस्तृत रूप से वर्णित है। विष्णु, भागवत, पद्म और ब्रह्मवैवर्त आदि वैष्णव पुराणों से तुलना किए जाने पर हरिवंश का कृष्णचरित्र अपनी प्रारंभिक अवस्था में ज्ञात होता है। हरिवंश के अंतर्गत रास अपने सीमित और सरल रूप में मिलता है, उत्तरकालीन वैष्णव पुराणों की भाँति वह विशद और रहस्यात्मक नहीं हुआ है। इस पुराण में कृष्ण का चरित्र उतना अधिक लोकोत्तर नहीं है जितना उत्तरकालीन पुराणों में दिखलाई देता है। भागवत और पांचरात्र सिद्धांत भी इस पुराण के अंतर्गत अपने आदि रूप में हैं। संभवत: इसी कारण, कवल प्रक्षिप्त स्थलों को छोड़कर, (हरि० २. १२१. ६ और २. १२१. १५) पांचरात्र के चतुर्व्यूह का उल्लेख इस पुराण के किसी भी भाग में नहीं हुआ है। चतुर्व्यूह का उल्लेख विष्णु, भागवत और पद्मपुराण में है।

हरिवंश में कृष्ण का स्वरूप वैष्णव पुराणों से भिन्न छांदोग्योपनिषद् के देवकीपुत्र कृष्ण से समानता रखता है। यहाँ पर कृष्ण के लिये प्रयुक्त सूर्य से सादृश्य रखनेवाले विशेषण — 'अग्नि', 'अग्निपर्वत' और 'ज्योतिषां पति' (हरि० ३.९०. २०–२१) छांदोग्य में वर्णित सूर्यपूजक देवकीपुत्र कृष्ण के विशेषणों से निकट संबंध सूचित करते हैं।

हरिवंशपुराण भविष्यपर्व में पुराण पंचलक्षण के सर्गप्रतिसर्ग के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति, ब्रह्म के स्वरूप, अवतार गणना और सांख्य तथा योग पर विचार हुआ है। स्मृतिसामग्री तथा सांप्रदायिक विचारधाराएँ भी इस पर्व में अधिकांश रूप में मिलती हैं। इसी कारण यह पर्व हरिवंशपर्व और विष्णुपर्व से अर्वाचीन ज्ञात होता है।

विष्णुपर्व में नृत्य और अभिनयसंबंधी सामग्री अपने मौलिक रूप में मिलती है। इस पर्व के अंतर्गत दो स्थलों में छालिक्य का उल्लेख हुआ है। छालिक्य वाद्यसंगीतमय नृत्य ज्ञात होता है। हाव भावों का प्रदर्शन इस नृत्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। छालिक्य के संबंध में अन्य पुराण कोई भी प्रकाश नहीं डालते।

विष्णुपर्व (९१ २६–३५) में वसुदेव के अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर भद्र नामक नट का अपने अभिनय से ऋषियों को तुष्ट करना वर्णित है। इसी नट के साथ प्रद्युम्न, साम्ब आदि वज्रनाभपुर में जाकर अपने कुशल अभिनय से वहाँ दैत्यों का मनोरंजन करते हैं। यहाँ पर 'रामायण' नामक उद्देश्य और 'कौबेर रंभाभिसार' नामक प्रकरण के अभिनय का विशद वर्णन हुआ है।

हापकिंस ने हरिवंश को महाभारत का अर्वाचीनतम पर्व माना है। हाजरा ने रास के आधार पर हरिवंश को चतुर्थ शताब्दी का पुराण बतलाया है। विष्णु और भागवत का काल हाजरा ने क्रमश: पाँचवीं शताब्दी तथा छठी शताब्दी के लगभग निश्चित किया है। श्री दीक्षितर के अनुसार मत्स्यपुराण का काल तृतीय शताब्दी है। कृष्णचरित्र, रुक्मि का वृत्तांत तथा अन्य वृत्तांतों से तुलना करने

पर हरिवंश इन पुराणों से पूर्ववर्ती निश्चित होता है। अतएव हरिवंश के विष्णुपर्व और भविष्यपर्व को तृतीय शताब्दी का मानना चाहिए।

हरिवंश के अंतर्गत हरिवंशपर्व शैली और वृत्तांतों की दृष्टि से विष्णुपर्व और भविष्यपर्व से प्राचीन ज्ञात होता है। अश्वघोषकृत वज्रसूची में हरिवंश से अक्षरशः समानता रखनेवाले कुछ श्लोक मिलते हैं। पाश्चात्य विद्वान् वेबर ने वज्रसूची को हरिवंश का ऋणी माना है और रे चौधरी ने उनके मत का समर्थन किया है। अश्वघोष का काल लगभग द्वितीय शताब्दी निश्चित है। यदि अश्वघोष का काल द्वितीय शताब्दी है तो हरिवंशपर्व का काल प्रक्षिप्त स्थलों को छोड़कर, द्वितीय शताब्दी से कुछ पहले समझना चाहिए।

हरिवंश में काव्यतत्व अन्य प्राचीन पुराणों की भाँति अपनी विशेषता रखता है। रसपरिपाक और भावों की समुचित अभिव्यक्ति में यह पुराण कभी कभी उत्कृष्ट काव्यों से समानता रखता है। व्यंजनापूर्ण प्रसंग पौराणिक कवि की प्रतिभा और कल्पनाशक्ति का परिचय देते हैं।

हरिवंश में उपमा, रूपक, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, यमक और अनुप्रास ही प्रायः मिलते हैं। ये सभी अलंकार पौराणिक कवि के द्वारा प्रयासपूर्वक लाए गए नहीं प्रतीत होते।

काव्यतत्व की दृष्टि से हरिवंश में प्रारंभिकता और मौलिकता है। हरिवंश, विष्णु, भागवत और पद्म के ऋतुवर्णनों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि कुछ भाव हरिवंश में अपने मौलिक सुंदर रूप में चित्रित किए गए हैं और वे ही भाव उपर्युक्त पुराणों में क्रमशः कृत्रिम, अथवा संश्लिष्ट होते गए हैं।

सामग्री और शैली को देखते हुए भी हरिवंश एक प्रारंभिक पुराण है। संभवतः इसी कारण हरिवंश का पाठ अन्य पुराणों के पाठ से शुद्ध मिलता है। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हरिवंश को स्वतंत्र वैष्णव पुराण अथवा महापुराण की कोटि में रखना समीचीन है। [वी० पा० पा०]

हरिश्चंद्र (राजा) अयोध्या के प्रसिद्ध सूर्यवंशी राजा जो सत्यव्रत के पुत्र थे। ये अपनी सत्यनिष्ठा के लिये अद्वितीय हैं और इसके लिये इन्हें अनेक कष्ट सहने पड़े। ये बहुत दिनों तक पुत्रहीन रहे पर अंत में अपने कुलगुरु वशिष्ठ के उपदेश से इन्होंने वरुणदेव की उपासना की तो इस शर्त पर पुत्र जन्मा कि उसे हरिश्चंद्र स्वयं यज्ञ में बलि दे दें। पुत्र का नाम रोहिताश्व रखा गया और जब राजा ने वरुण के कई बार आने पर भी अपनी प्रतिज्ञा पूरी न की तो उन्होंने हरिश्चंद्र को जलोदर रोग होने का शाप दे दिया।

रोग से छुटकारा पाने और वरुणदेव को फिर प्रसन्न करने के लिये राजा वशिष्ठ जी के पास पहुँचे। इधर इंद्र ने रोहिताश्व को वन में भगा दिया। राजा ने वशिष्ठ जी की संमति से अजीगर्त नामक एक दरिद्र ब्राह्मण के बालक शुनःशेप को खरीदकर यज्ञ की तैयारी की। परंतु बलि देने के समय शमिता ने कहा कि मैं पशु की बलि देता हूँ, मनुष्य की नहीं। जब शमिता चला गया तो विश्वामित्र ने आकर शुनःशेप को एक मंत्र बतलाया और उसे जपने के लिये कहा। इस मंत्र का जप करने पर वरुणदेव स्वयं प्रकट हुए और बोले — हरिश्चंद्र, तुम्हारा यज्ञ पूरा हो गया। इस ब्राह्मणकुमार को छोड़ दो। तुम्हें मैं जलोदर से भी मुक्त करता हूँ।

यज्ञ की समाप्ति सुनकर रोहिताश्व भी वन से लौट आया और शुनःशेप विश्वामित्र का पुत्र बन गया। विश्वामित्र के कोप से हरिश्चंद्र तथा उनकी रानी शैव्या को अनेक कष्ट उठाने पड़े। इन्हें काशी जाकर श्वपच के हाथ बिकना पड़ा, पर अंत में रोहिताश्व की असमय मृत्यु से देवगण द्रवित होकर पुष्पवर्षा करते हैं और राजकुमार जीवित हो उठता है। [रा० द्वि०]

हरिश्चंद्र (भारतेंदु) जन्म भाद्रपद शुक्ल ऋषि पंचमी सं० १९०७ वि०, सोमवार, ९ सितंबर, सन् १८५० ई० को वाराणसी में हुआ। पिता का नाम गोपालचंद्र उपनाम गिरधर दास था। यह अग्रवाल वैश्य तथा वल्लभ संप्रदाय के कृष्णभक्त वैष्णव थे। बाल्यकाल ही से इनकी प्रतिभा के लक्षण दिखलाई पड़ने लगे थे। पाँच छह वर्ष की अवस्था ही में इन्होंने एक दोहा बनाया था तथा एक उक्ति की नई व्याख्या की थी। पहले घर पर ही इन्हें संस्कृत, हिंदी, उर्दू तथा अंग्रेजी की शिक्षा मिली और फिर कुछ वर्षों तक इन्होंने काशी के क्वींस कालेज के हाई स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। यह अति चंचल तथा हठी थे और पढ़ने में मन नहीं लगाते थे पर इनकी स्मरणशक्ति तथा धारणा शक्ति प्रबल थी। सं० १९२२ वि० के लगभग यह सपरिवार जगन्नाथ जी गए और तभी इनका शिक्षाक्रम टूट गया। अपने कवि पिता तथा उनकी साहित्यिक मित्रमंडली के संपर्क में निरंतर रहने से इनकी साहित्यिक बुद्धि जाग्रत हो चुकी थी पर इस जगन्नाथ जी की यात्रा में देश के भिन्न भिन्न भागों के अनुभवों ने इनकी बुद्धि को विशेष रूप से ऐसा विकसित कर दिया कि वहाँ से लौटकर आते ही यह उन सब कार्यों में दत्तचित्त हो कर लग गए जिन्हें यह अंत तक करते रहे। इन्हीं अनुभवों में पाश्चात्य नवीन विचारों, सभ्यता तथा संस्कृति का परिज्ञान भी था। यह स्वभाव से अत्यंत कोमलहृदय, परदुःखकातर, उदारचेता, गुणियों तथा सुकवियों के आश्रयदाता तथा स्वाभिमानी पुरुष थे। इसी दानशीलता में तथा हिंदी की सेवा में इन्होंने अपना सर्वस्व गँवा दिया पर अंत तक अपना यह व्रत निबाहते गए। यह अनन्य कृष्णभक्त थे पर धार्मिक विचारों में अत्यंत उदार थे तथा किसी अन्य धर्म या संप्रदाय के प्रति विद्वेष न रखकर उसका आदर करते थे। स्वसमाज के अंधविश्वासों को दूर करने के लिये इनकी वाणी सतत प्रयत्नशील रही और बालविवाह, विधवाविवाह, विलायतयात्रा, स्त्रीशिक्षा सभी विषयों पर इन्होंने लेख लिखे तथा व्याख्यान दिए। पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव देखकर इन्होंने सन् १८६५ ई० के लगभग घर पर ही बालकों को अंग्रेजी पढ़ाने का प्रबंध किया जो पहले चौखंभा स्कूल कहलाया और अब हरिश्चंद्र कालेज के नाम से एक विशाल विद्यालय में परिणत हो गया है।

देशभक्ति इनका मूल मंत्र था और देशसेवा के लिये मुख्यतः इन्होंने 'निज भाषा उन्नति' ही को साधन बनाया। देश के पूर्व-गौरव का गायन किया, वर्तमान कुदशा पर रुदन किया तथा भविष्य

हरिश्चंद्र (भारतेंदु)

(देखिए—पृ० सं० ३०२-३०३)

में उसके उन्नयन के लिये प्रेरणाएँ दीं। यह सूक्ष्म तथा दूरदर्शी थे अतः इनकी रचनाओं में बहुत सी ऐसी बातें आ गई हैं, जो प्रतिफलित होती जाती हैं। परंपरा की काव्यभाषा का संस्कार कर इन्होंने उसे स्वच्छ, सरल, स्निग्ध चलता स्वरूप दिया तथा खड़ीबोली हिंदी को ऐसी नई शैली में ढाला कि वह उन्नति करती हुई अब देश की राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा हो गई है। इन्होंने साहित्य की धारा को मोड़कर जनता की विचारधारा को उसी में मिला लिया और समयानुकूल साहित्य के अनेक विषयों पर पुस्तकें, कविता, लेख आदि लिखकर उसे सशक्त बनाया। समग्र देश के भिन्न भिन्न प्रांतवासियों को एकत्र होकर एक ही मंच से भारत की उन्नति के उपायों को सोचने और करने की इन्होंने संमति दी और यही राष्ट्रीयता की इनकी प्रथम पुकार थी। इन्होंने हिंदी में पत्रपत्रिकाओं का अभाव देखकर हानि उठाकर भी अनेक पत्रपत्रिकाएं निकालीं और दूसरों को प्रभावित कर निकलवाईं। यह इतने सहृदय तथा मित्रप्रेमी थे कि स्वतः क्रमशः इनके चारों ओर समर्थ साहित्यकारों का भारी मंडल घिर आया और सभी ने इनके अनुकरण पर देश तथा मातृभाषा के उन्नयन में यथाशक्ति हाथ बँटाया। भारतेंदु जी कृत दो सौ से अधिक छोटी बड़ी रचनाएँ हैं, जिनमें नाटक, काव्य, पुरातत्व, जीवनचरित्र, इतिहास आदि सभी हैं। ये सामाजिक, धार्मिक, देशभक्ति आदि सभी विषयों पर रची गई हैं। कविवचनसुधा पत्र, हरिश्चंद्र मैगजीन या हरिश्चंद्रचंद्रिका तथा स्त्रियोपयोगी बालाबोधिनी इनकी पत्रपत्रिकाएं हैं जिनमें इनके लिखे अनेक लेख निकले हैं।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने इनकी सभी रचनाएँ संगृहीत तथा संपादित कराकर भारतेंदुग्रंथावली नामक तीन खंडों में प्रकाशित की है। भारतेंदु जी का देहावसान माघ कृष्ण ६, सं० १९४१ वि०, ६ जनवरी, सन् १८८५ ई० को हुआ था। [ब्र० र० दा०]

(हरिश्चंद्र १) हरिचंद्र (जैन कवि) दिगंबर जैन संप्रदाय के कवि थे। इन्होंने माघ की शैली पर धर्मशर्माभ्युदय नामक इक्कीस सर्गों का महाकाव्य रचा, जिसमें पंद्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित वर्णित है। ये महाकवि बाण द्वारा उद्धृत गद्यकार भट्टार हरिचंद्र से भिन्न थे, क्योंकि वे महाकाव्यकार थे गद्यकार नहीं। सौभाग्य से इस महाकवि ने अंत में कुछ श्लोकों में स्वयं अपना भी परिचय दिया है। हरिचंद्र नोमकवंश के कायस्थकुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता परमगुणशाली आर्द्रदेव तथा माता रथ्या थीं। गुरुकृपा से उनकी वाणी सारस्वते प्रवाह में स्नात होकर निर्मल हो गई थी — 'अर्हत्पदाम्भोरुहचञ्चरीकस्तयोः सुतः श्रीहरिचंद्र आसीत्। गुरुप्रसादादमला बभूवुः सारस्वते स्रोतसि यस्य वाचः।' (धर्मशर्मा०,४) अपने अतिशयस्निग्ध अनुज लक्ष्मण की सहायता से इन्होंने शास्त्रपयोधि का, भाई लक्ष्मण की सहायता से राम की भाँति, पार प्राप्त कर लिया था।

सर्गक्रम से धर्मशर्माभ्युदय का कथानक इस प्रकार है — रत्नपुर नगरवर्णन; रत्नपुराधीश इक्ष्वाकुवंशीय नरेश महासेन, महारानी सुव्रता, राजा की पुत्र-प्राप्ति-चिंता तथा दिव्यमुनि प्राचेतस का आगमन; मुनि महीपाल समागम तथा मुनि द्वारा पंद्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का पुत्ररूप में अवतार लेने का आश्वासन; पुत्ररूप में अवतार लेनेवाले धर्मनाथ का पूर्वजन्म में धातकीखंड द्वीप में वत्सदेश के राजा दशरथ के रूप में वर्णन; राजा महासेन के यहाँ दिव्यांगनाओं का महेंद्र की आज्ञा से रानी की सेवा के लिये उपस्थित होना, रानी का स्वप्न तथा गर्भधारण; गर्भ एवं उत्पत्तिवर्णन; शची द्वारा मायाशिशु देकर धर्मनाथ को इंद्र को देना, इंद्र द्वारा उन्हें सुमेरु पर ले जाना; सुमेरु पर धर्मनाथ का इंद्रादि देवों द्वारा अभिषेक एवं स्तुति तथा पुनः उनका महासेन की महिषी की गोद में आना; धर्मनाथ का स्वयंवर के लिये विदर्भदेशगमन; विंध्याचलवर्णन; षड्ऋतु; पुष्पावचय; नर्मदा में जलक्रीड़ा; सायंकाल, अंधकार, चंद्रोदय आदि वर्णन; पानगोष्ठी, रात्रिक्रीड़ा; प्रभातवर्णन एवं धर्मनाथ द्वारा कुंडिनपुरप्राप्ति; स्वयंवर तथा राजकुमारी द्वारा वरण, विवाह, एवं पुनः कुबेरप्रेषित विमान पर चढ़कर वधूसमेत रत्नपुर आगमनवर्णन; महासेन द्वारा राज्य धर्मनाथ को सौंपकर वैराग्यप्राप्ति तथा धर्मनाथ की राज्य स्थिति; अनेक नरेशों के साथ धर्मनाथ के सेनापति सुषेण का चित्रयुद्धवर्णन; पाँच लाख वर्ष तक राज्य करने के पश्चात् धर्मनाथ द्वारा राज्यत्याग, तपस्या, ज्ञानप्राप्ति एवं दिव्य ऐश्वर्य; धर्मनाथ द्वारा संक्षेप में जिन सिद्धांत का निरूपण।

हरिचंद्र ने अपने इस 'धर्मशर्माभ्युदय' काव्य को रसध्वनिमार्ग का सार्थवाह तथा 'कर्णपीयूषरसप्रवाह' कहा है।

यह वस्तुतः अत्यंत परिमार्जित शैली में सिद्धहस्त कवि की प्रौढ़ रचना समझ पड़ता है। कालिदास का प्रभाव तो कहीं कहीं अतिस्पष्ट प्रतीत होता है, जैसे रघुवंश के 'तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैः'। ३।२६। इस श्लोक का 'उत्संगमारोप्य तमंगजं नृप.' इस श्लोक पर छठे सर्ग में वर्णित रानी सुव्रता की गर्भावस्था रघुवंश की सुदक्षिणा की सी ही है, आदि।

इस काव्य ने स्वयं पश्चाद्वर्ती महाकाव्यों को प्रभावित किया है। बारहवीं शती में महाकवि श्रीहर्ष द्वारा निर्मित 'नैषधीय चरित' धर्मशर्माभ्युदय से अतिशय प्रभावित जान पड़ता है।

हरिचंद्र का समय ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। [चं० प्र० शु०]

हरिहर मध्ययुग के भारतीय इतिहास में हरिहर का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जा चुका है। दक्षिण भारत के अंतिम हिंदू साम्राज्य विजयनगर राज्य के संस्थापकों में हरिहर अग्रणी थे। प्रारंभिक जीवन में वारंगल के राजा प्रतापरुद्र द्वितीय के कर्मचारी के रूप में हरिहर ने कुछ समय व्यतीत किया। मुसलमानी आक्रमण के कारण कांपिलि चले गए, जहाँ १३२७ ई० में बंदी बना लिए गए। दिल्ली जाकर इस्लाम धर्मावलंबी हो जाने पर वे सुल्तान के प्रियपात्र बन गए। कुछ समय पश्चात् सुल्तान ने इन्हे (छोटे भ्राता बुक्क के साथ) दक्षिण में बगावत दबाने का कार्यभार सौंपा। हरिहर ने सब लोगों के साथ सद्व्यवहार किया परंतु हिंदू संस्कृति की विनाशलीला ने उसके कोमल हृदय को द्रवित कर दिया। शीघ्र ही हिंदू धर्म को पुनः अंगीकार कर हरिहर ने १३३६ ई० में वैदिक रीति से अभिषेक संपन्न कर विजयनगर नामक राज्य की संस्थापना की।

अपने पिता संगम के पाँच पुत्रों में हरिहर का नाम सर्वोपरि माना जाता है। वह हरिहर प्रथम के नाम से सिंहासन पर बैठे। संगमवंश के अभिलेखों में वर्णन मिलता है कि हरिहर ने सम्राट् की पदवी धारण की तथा प्रभावहीन राजा से कार्यभार स्वयं ले लिया। अन्य लेखों में 'महामंडलेश्वर हरिहर होयसल देश में शासन करता है' ऐसा उल्लेख है। बहमनी सुलतानों से युद्ध की परिस्थिति में हिंदू संस्कृति की रक्षा ही विजयनगर राज्य की स्थापना का मूल उद्देश्य था।

हरिहर प्रथम की सत्ता को दक्षिण भारत के हिंदू राजाओं ने स्वीकार कर लिया। केंद्रीय शासन को सुदृढ़ करने की ओर इनका ध्यान था। नूनेज का कथन है कि 'मंत्रिमंडल' की सहायता से शासन-कार्य संचालित हो रहा था। हरिहर प्रथम शैव थे, यद्यपि राज्य में अन्य मत भी पल्लवित होते रहे। हरिहर के जीवनचरित् से ज्ञात होता है कि विद्यारण्य स्वामी का उनपर विशेष प्रभाव था। १३५७ ई० में हरिहर ने अपने छोटे भ्राता बुक्क को राज्य का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। पश्चिमी तथा पूर्वी समुद्र के मध्य भूभाग पर राज्य विस्तृत करने में हरिहर प्रथम को अच्छी सफलता मिली।

[बा० उ०]

हरिहरक्षेत्र बिहार की राजधानी पटना से तीन मील उत्तर में गंगा और गंडक के संगम पर स्थित सोनपुर नामक कस्बे को ही प्राचीन काल में हरिहरक्षेत्र कहते थे। ऋषियों और मुनियों ने इसे प्रयाग और गया से भी श्रेष्ठ तीर्थ माना है। ऐसा कहा जाता है कि इस संगम की धारा में स्नान करने से हजारों वर्ष के पाप कट जाते हैं। कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर यहाँ एक विशाल मेला लगता है जो मवेशियों के लिये एशिया का सबसे बड़ा मेला समझा जाता है। यहाँ हाथी, घोड़े, गाय, बैल एवं चिड़ियों आदि के अतिरिक्त सभी प्रकार के आधुनिक सामान, कबल दरियाँ, नाना प्रकार के खिलौने और लकड़ी के सामान बिकने को आते हैं (देखें सोनपुर)। यह मेला लगभग एक मास तक चलता है। इस मेले के संबंध में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। इसी के पास कोनहरा-घाट में पौराणिक कथा के अनुसार गज और ग्राह का वर्षों चलनेवाला युद्ध हुआ था। बाद में भगवान् विष्णु की सहायता से गज की विजय हुई थी। एक अन्य किंवदंती के अनुसार जय और विजय दो भाई थे। जय शिव के तथा विजय विष्णु के भक्त थे। इन दोनों में झगड़ा हो गया तथा दोनों गज और ग्राह बन गए। बाद में दोनों में मित्रता हो गई और वहाँ शिव और विष्णु दोनों के मंदिर साथ साथ बने जिससे इसका नाम हरिहरक्षेत्र पड़ा। कुछ लोगों के अनुसार प्राचीन काल में यहाँ ऋषियों और साधुओं का एक विशाल सम्मेलन हुआ था तथा शैव और वैष्णव के बीच गंभीर वादविवाद खड़ा हो गया किंतु बाद में दोनों में सुलह हो गई और शिव तथा विष्णु दोनों की मूर्तियों की एक ही मंदिर में स्थापना की गई, उसी की स्मृति में यहाँ कार्तिक में पूर्णिमा के अवसर पर मेला आयोजित किया जाता है।

इस मेले का आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा महत्व है।

हर्निया (Hernia) मानव शरीर के कुछ अंग शरीर के अंदर खोखले स्थानों में स्थित हैं। इन खोखले स्थानों को 'देहगुहा' (body cavity) कहते हैं। देहगुहा चमड़े की झिल्ली से ढकी रहती है। इन गुहाओं की झिल्लियाँ कभी कभी फट जाती हैं और अंग का कुछ भाग बाहर निकल आता है। ऐसी विकृति को हर्निया कहते हैं। मनुष्य हर्निया से आक्रांत है, ऐसा कहा जाता है। साधारणतः हर्निया से हमारा आशय उदर हर्निया से ही होता है। हर्निया कई प्रकार के होते हैं। स्थान के अनुसार उनका वर्गीकरण किया गया है। कुछ अन्वेषकों के नाम पर भी हर्निया का नाम दिया गया है, जैसे रिक्टर हर्निया। विभिन्न स्थानों के हर्निया इस प्रकार हैं —

१. कटिप्रदेश हर्निया
२. श्रोणि गवाक्ष (obturator) हर्निया
३. उपस्थिका (perineal) हर्निया
४. नितंब (gluteal) हर्निया
५. उदर हर्निया
६. महाप्राचीरपेशी विवर हर्निया
७. नाभि हर्निया (जन्मजात, शैशव, युवा वस्था में हो सकता है)
८. परानाभि हर्निया (para numblical)
९. उर्वी हर्निया, ककनाभिका (pectineal) हर्निया भी इसी के अंतर्गत आता है।

१०. वंक्षण हर्निया (inguinal hernia) अऋजु या ऋजु हो सकता है। अऋजु हर्निया जन्मजात, शैशव या अर्जित हो सकता है। पूर्ण या अपूर्ण ऋजु हर्निया बाह्य (external) पार्श्व, नाभिस्थ स्नायु के पार्श्व से या अंतर (internal) पार्श्व नाभिस्थ स्नायु के अंदर से अंतरालीय और आवर्तक हर्निया भी हो सकता है। इनके अतिरिक्त फुफ्फुस के, मस्तिष्क के तथा उदरावरण के भी हर्निया होते हैं।

हर्निया में निकलनेवाले अंगों के अनुसार भी हर्निया का वर्गीकरण किया गया है।

हर्निया के कारण — १. गुहा की भित्ति की दुर्बलता या कुवृद्धि। २. जन्म से अंग की आवरणकला के झोले में उपस्थिति। ३. आघात या शल्यकर्मज।

प्रवर्तक (promotor) कारणों में कास, कोष्ठबद्धता, प्रसव, वर्धित पुरस्थ ग्रंथि (prostate gland), मूत्रकृच्छ्रता आदि के कारण उदरगुहा में निरंतर दबाव बढ़ना अथवा 'अंतरंग' का स्थानभ्रष्ट होना हो सकता है। यह रोग पैतृक भी हो सकता है।

अवस्थाएँ एवं उपद्रव — (क) जिस क्रिया में विस्थापित अंग दबाव आदि से पुनः यथास्थान स्थापित किया जा सकता है वह रिड्यूसिबल (reducible) हर्निया कहलाता है।

(ख) शोथ, संकोच आदि के उपद्रवों के कारण जिस हर्निया में विस्थापित अंग पुन; यथास्थान संस्थापित न किया जा सकता हो वह इररिड्यूसिबल हर्निया कहलाता है।

(ग) सशोथ हर्निया।

(घ) अवरुद्ध हर्निया।

(ङ) स्ट्रैंग्यूलेटेड (Strangulated) हर्निया — इसमें विस्थापित अंग द्वारा सूक्ष्म ऊतकों में रुधिर परिवहन रुक जाता है।

क, को छोड़कर हर्निया की सब अवस्थाएँ कष्टसाध्य हैं। ख, घ, और ङ अवस्था में तुरंत शल्यकर्म करना चाहिए।

लक्षण — हर्निया के स्थान पर गोल उभार होना, कुछ उतरने जैसा अनुभव होना, उभार का अंदर दबाकर ठीक किया जा सकना तथा खाँसने पर बढ़ना। आंत्र का हर्निया होने पर उसमें आंत्र कूजन सुनाई देता है तथा थपथपाने पर अनुनाद सुनाई देता है।

चिकित्सा — (क) हर्निया का पट्टा (Truss) बाँधना तथा (ख) शल्यकर्म — इसमें (१) हर्नियाटामी, (२) हर्नियाराफी तथा हर्नियाप्लेक्सी किया जाता है। स्ट्रैंग्यूलेटेड हर्निया में तो शल्यकर्म का उपचार शीघ्रातिशीघ्र करना चाहिए। देर करने से घातक हो सकता है। सर्वांग आसन से भी इसमें लाभ होता है। [स० वि० गु०]

हर्बार्ट, जोहैन (योहान) फ्रीड्रिक (१७७६-१८४१ ई०) जर्मन दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्री। ज्ञान से ओतप्रोत वातावरण में पले। पितामह ओल्डनबर्ग की उच्चतम श्रेणी की पाठशाला में प्रधानाचार्य और पिता पारिषद् थे। यूनानी भाषा के ज्ञानार्जन में माता से सहायता मिली। येना विश्वविद्यालय में फिक्टे के शिष्य थे। इंटरलेकन (स्विट्सरलैंड) में राज्यपाल के तीन पुत्रों के उपशिक्षक १७९७ से १७९९ तक रहे। उसी समय इनका पेस्तैलॉत्सी से संपर्क हुआ। गॉटिंगेन विश्वविद्यालय में कई वर्षों तक शिक्षा सिद्धांतों पर व्याख्यान दिए। इसी काल में पेस्तैलात्सी की शैक्षिक रचनाओं की आलोचना के अतिरिक्त इन्होंने एक पुस्तक शिक्षाविज्ञान पर और दूसरी व्यावहारिक दर्शनशास्त्र पर लिखी। १८०९ में इन्हें कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय में सुप्रसिद्ध दार्शनिक कांट का स्थान मिला। वहीं इन्होंने अध्यापकों का प्रशिक्षणालय और बच्चों का विद्यालय भी चलाया और शिक्षा, मनोविज्ञान एवं तत्वज्ञान संबंधी पुस्तकें भी लिखीं। १८३३ में गॉटिंगेन लौटकर दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक का कार्य मृत्यु पर्यंत किया। इसी बीच इनका 'शिक्षासिद्धांतों की रूपरेखा' नामक ग्रंथ (१८३५ में) प्रकाशित हुआ।

हर्बार्ट का दार्शनिक दृष्टिकोण बहुतत्ववादी यथार्थवाद था। इनके मतानुसार विश्व असंख्य मूल तत्वों से बना है। ये मूल तत्व अथवा सत्' काल तथा स्थान के प्रभाव से परे हैं। मानव बुद्धि द्वारा इनकी जानकारी संभव नहीं। ये सत्' पृथक् बिंदुओं पर रहने से असंबद्ध और एक बिंदु पर होने से संबद्ध कहलाते हैं। संबद्ध 'सत्' आपस में मिल जाते हैं। जब असंबद्ध 'सत्' एक बिंदु पर आते हैं तो परिवर्तन और गुणबाहुल्य की प्रतीति होती है। चेतना के कारण ही विश्व परिवर्तनशील जान पड़ता है। गुण की दृष्टि से मन का दूसरा नाम आत्मा है। तर्कशास्त्र के विशुद्ध औपचारिक पक्ष पर ही हर्बार्ट ने बल दिया।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में हर्बार्ट ने मन की विभिन्न शक्तियों के स्वतंत्र अस्तित्व को अस्वीकार किया और मन की एकरूपता पर बल दिया। इनके मतानुसार तंत्रिकातंत्र द्वारा मन प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण से संपर्क स्थापित करता है और इसी से विचारों की उत्पत्ति होती है। प्रकटीकरण की आंतरिक क्रिया द्वारा विचारों का विकास होता है और सामान्यीकरण द्वारा प्रत्यय बनते हैं। संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण, कल्पना एवं स्मृति, और प्रत्ययात्मक चिंतन तथा निर्णय, ये मन के विकास के तीन स्तर हैं। ज्ञान, संवेदन और इच्छा, मानसिक व्यवहार के तीन मूल पक्ष हैं। हर्बार्ट ने तत्वज्ञान, गणित और अनुभव के आधार पर मनोविज्ञान का स्वरूप निश्चित करने का प्रयास किया।

शिक्षा के सिद्धांतों एवं शिक्षण पद्धति की ओर हर्बार्ट ने विशेष ध्यान दिया। इन्होंने नैतिकता को शिक्षा का सार बताया और सद्गुण को शिक्षा का उद्देश्य। आंतरिक स्वतंत्रता, पूर्णता, सद्भावना न्याय और साम्य को नैतिकता का आधार माना। इच्छा और अंतरात्मा में द्वंद्व के अभाव को आंतरिक स्वतंत्रता कहा गया है। पूर्णता से प्रभावपूर्ण एवं संतुलित दृढ़ संकल्प का बोध होता है। सद्भावना में दूसरों की भलाई चाहने का भाव है। न्याय का संकेत पक्षपात के अभाव की ओर है। सुनीति अथवा औचित्य की भावना साम्य के अंतर्गत आती है। अंतरात्मा का स्वरूप विचारों पर निर्भर है। विचारों का स्रोत जड़ एवं चेतन वातावरण है। प्राकृतिक तथा सामाजिक संसर्ग से प्राप्त अनुभवों द्वारा ही विचारवृत्त निर्मित होता है। विचारवृत्त का विस्तार बहुमुखी रुचि पर निर्भर है। इंद्रियग्राही, जिज्ञासाभावी, सौंदर्यभावी, सहानुभूतिमय, सामाजिक तथा धार्मिक, इस रुचि के छह प्रकार हैं। शिक्षाप्रद अनुदेश द्वारा शिक्षक छात्र के मन में ऐसी रुचि का बीजारोपण कर सकता है। इस प्रकार बच्चों के चरित्रनिर्माण में शिक्षक का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिये सुव्यवस्थित शिक्षणपद्धति आवश्यक है।

हर्बार्ट की शिक्षणप्रणाली में संप्रत्यक्ष के उस पक्ष पर विशेष बल दिया गया है जिसमें पूर्वज्ञान की सहायता से नवीन ज्ञान का आत्मसात् सरल हो जाता है। आत्मसात् के साथ मननक्रिया भी संबद्ध है। आत्मसात् के दो भेदों, स्पष्टता और संगति, तथा मनन के भी दो भेदों, व्यवस्था और प्रयोग, को लेकर हर्बार्ट की 'चतुष्पदी' निर्मित हुई। उनके अनुयायियों ने स्पष्टता के दो भाग, प्रस्तावना और वस्तुप्रस्थापन, कर दिए। इस प्रकार 'पंचपदी' या 'पंचसोपान' का प्रचलन हुआ। 'पंचसोपान' का उद्देश्य था पाठ्यसामग्री को मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करना ताकि छात्र अपने योग्यतानुसार उसे सुगमता से ग्रहण कर सकें। एकाग्रीकरण द्वारा सभी पाठ्य विषयों को साहित्य और इतिहास जैसे एक या दो व्यापक विषयों से संबद्ध कर देने पर बल दिया गया।

कुछ विद्वानों ने हर्बार्ट के विचारों की कड़ी आलोचना की है। उनका कथन है कि हर्बार्ट ने शिक्षणविधि को औपचारिक और यांत्रिक स्वरूप दे दिया। सभी प्रकार के पाठों को 'पंचसोपान' के ढाँचे में ढालना संभव नहीं। बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की उपेक्षा करके केवल ज्ञानसंचार से ही चरित्रनिर्माण नहीं हो सकता।

ज्ञान की अपेक्षा प्रेरणा का महत्व अधिक है। हर्बार्ट का शैक्षिक उद्देश्य एकांगी है। इन्होंने शारीरिक तथा स्त्रीशिक्षा की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया। इनकी पारिभाषिक शब्दावली कृत्रिम है। ये सब होते हुए भी हर्बार्ट के शैक्षिक अंशदान की अवहेलना नहीं की जा सकती। सर्वप्रथम शिक्षा का वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत करने का श्रेय इन्हीं को है। इनके द्वारा किए गए प्रत्ययों के कल्पनिर्माण संबंधी प्रयासों तथा मानसिक मापात्मक अध्ययन के आधार पर आधुनिक मनोभौतिकी एवं प्रायोगिक मनोविज्ञान का विकास हुआ। आज भी संसार की शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएँ इनके विचारों से प्रेरणा ले रही हैं।

सं० ग्रं० — [अंग्रेजी] रॉबर्ट आर० रस्क : द डॉक्ट्रिन्स ऑव द ग्रेट ऐजुकेटर्स; एफ० पी० ग्रेव्ज : ग्रेट एजुकेटर्स ऑव थ्री सेंचुरीज, जी० एफ० स्टाउट : स्टडीज इन फिलॉसॉफी ऐंड साइकॉलॉजी; एच० एम० और ई० फ्रेल्किन : इंट्रोडक्शन टु हर्बार्ट्स साइंस ऐंड प्रैक्टिस ऑव एजुकेशन; पॉल्मनरो : ए ब्रीफ़ कोर्स इन द हिस्टरी ऑव एजुकेशन; एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, खंड ११; एन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खंड १४। [हिंदी] एस० के० पाल : महान् पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री; सीताराम जायसवाल : आधुनिक शिक्षा का विकास; सीताराम चतुर्वेदी : शिक्षा प्रणालियाँ और उनके प्रवर्तक; गुलाबराय : पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास। [जं० सि०]

हर्शेल, सर (फ्रेडरिक) विलियम (Herschel, Sir Frederick William, सन् १७३८–१८२२), ब्रिटिश खगोलज्ञ, बैंड बजानेवाले एक जर्मन के पुत्र थे और आरंभ में नफीरी बजाने के काम पर जर्मन सेना में नियुक्त हुए। सन् १७५७ मे वे इंग्लैंड में आ बसे और लीड्स नगर में पहले संगीतशिक्षा देने और तत्पश्चात् ऑर्गन बजाने का काम करने लगे।

खगोलविज्ञान में रुचि जागृत हो जाने पर, इन्होंने अपने अवकाश का सारा समय गणित और खगोलविज्ञान के अध्ययन मे लगाना आरंभ किया। दूरदर्शी खरीदने के लिये धनाभाव के कारण, इन्होंने स्वयं पाँच फुट फोकस-दूरी के न्यूटनीय परावर्तन दूरदर्शी का निर्माण किया तथा सन् १७७४ में आकाश का व्यवस्थित निरीक्षण आरंभ किया। लगभग सात वर्ष के निरीक्षण के बाद, आकाश में इन्हें एक ऐसी नई वस्तु दिखाई पड़ी, जिसका बिंब चक्रिका रूप का था। अधिक जाँच करने पर सिद्ध हुआ कि यह एक ग्रह था। ऐतिहासिक काल में खोज कर निकाला जानेवाला यह प्रथम ग्रह था, जिसका नाम यूरेनस रखा गया। इस खोज के फलस्वरूप, हर्शेल रॉयल सोसायटी के सदस्य निर्वाचित किए गए, इनको कोपली पदक प्रदान किया गया तथा दो सौ पाउंड की वार्षिक वृत्ति पर वे राजकीय खगोलज्ञ नियुक्त किए गए। तब से संगीत का धंधा छोड़कर, ये अपना सारा समय खगोल विज्ञान के अध्ययन में लगाने लगे।

हर्शेल नाक्षत्रीय खगोलविज्ञान के जनक थे। ये प्रथम खगोलज्ञ थे, जिन्होने मुख्यत: नाक्षत्रीय निकाय का तथा उसके सदस्यों के आपसी संबंधों का अध्ययन आरंभ किया। अध्ययन के परिणामस्वरूप वे इस निश्चय पर पहुँचे कि नाक्षत्रीय निकाय कुम्हार के चक्के सदृश, चिपटित निकाय है और आकाशगंगा इसके विस्तार को प्रदर्शित करती है। तारों के समूहों और नीहारिकाओं पर आपने विशेष ध्यान दिया और इनकी सारणियाँ तैयार कीं। इन्हें विश्वास हो गया कि प्रदीप्त नीहारिकाओं में से कुछ ऐसी हैं जो सुदूर, मंद तारों के समूह नहीं हैं, वरन् तरल, दीप्त पदार्थ से भरी हैं। इन्हें अब गैसीय नीहारिकाएँ कहा जाता है। अन्य नीहारिकाओं को इन्होंने हमारे नक्षत्र निकाय के बाहर का बताया तथा द्वीप विश्वों की संज्ञा दी। इन्हें अब हम आकाशगंगा से बाहर स्थित, सर्पिल नीहारिकाएँ मानते हैं।

हर्शेल ने अनेक युग्म तारों का उल्लेख किया है। बाद में इनमें से कुछ के निरीक्षण से वे यह सिद्ध करने में समर्थ हुए कि वास्तव मे इनमें से प्रत्येक तारों का जोड़ा है और इस जोड़े के तारे उभयनिष्ठ गुरुत्वकेंद्र के चतुर्दिक् घूर्णन करते हैं। इन्होंने यूरेनस तथा शनि के दो दो उपग्रहों का, तारों की आपेक्षिक द्युति का तथा इस बात का भी पता लगाया कि सूर्य, हरकुलीज नामक तारामंडल में स्थित एक बिंदु की ओर गतिमान है।

हर्शेल की इन अपूर्व सेवाओं के कारण, उन्हें सन् १८१६ में नाइट की उपाधि प्रदान की गई। [भ० दा० व०]

हलद्वानी स्थिति : २९° १३' उ० अ० तथा ७९° ३२' पू० दे०। यह नगर भारत के उत्तर प्रदेश राज्य के नैनीताल जिले मे बरेली से नैनीताल जानेवाली सड़क पर स्थित है। इस नगर के समीप के जगलों में हलदू के वृक्ष मिलते हैं जिसके कारण नगर का नामकरण हुआ है। इस नगर की स्थापना मंडी के रूप में हुई थी। नैनीताल जिले तथा कुमायूँ डिवीजन के सरकारी कार्यालय शीतकाल में यहाँ आ जाते हैं। काठगोदाम सहित नगर की जनसंख्या ३८,०३२ (१९६१) है। [भ० ना० मे०]

हलधरदास का जन्म बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिलांतर्गत पदमौल नामक ग्राम में सन् १५२५ ई० के आसपास और देहावसान १६२६ ई० के आसपास हुआ। इनकी तीन पुस्तकों का पता चला है—'सुदामाचरित्र', 'श्री मद्भागवत भाषा' और 'शिवस्तोत्र'। अंतिम पुस्तक संस्कृत में है। 'सुदामाचरित्र' इनकी सर्वप्रसिद्ध पुस्तक है जिसकी रचना सन् १५६५ ई० में हुई थी। यह सुदामाचरित्र परंपरा के अद्यावधि ज्ञात काव्यो मे ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम और काव्य की दृष्टि से उत्कृष्टतम है।

शैशव में ही इनके माता पिता की मृत्यु हो गई थी। अपने अग्रज की छत्रछाया में ये पले। शीतला से पीड़ित होकर इन्होंने दोनों आँखें खो दीं। ये फारसी और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे तथा पुराण, शास्त्र और व्याकरण का भी इन्होंने अध्ययन किया था।

समयक्रम से सूरदास के बाद कृष्ण-भक्ति-परंपरा के दूसरे प्रसिद्ध कवि हलधरदास ही हैं। सूरदास और हलधरदास में जीवन और भक्ति को लेकर बहुत कुछ साम्य भी है। दोनों नेत्रहीन हो गए थे और दोनों ने कृष्ण की सख्यभाव से उपासना की। पर

दोनों में एक बड़ा अंतर भी है। सूर के कृष्ण प्रधानतः लीलाशाली हैं जब कि हलधर के कृष्ण ऐश्वर्यशाली। फिर, सूर एवं अन्य कृष्णभक्त कवियों की प्रतिभा मुक्तक के क्षेत्र में विकसित हुई थी, किंतु हलधर की काव्यप्रतिभा का मानदंड प्रबंध है। 'सुदामाचरित्र' एक उत्तम खंडकाव्य है। इस तरह हलधरदास कृष्णभक्त कवियों में एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं।

सं॰ ग्रं॰ — सियाराम तिवारी : हिंदी के मध्यकालीन खंडकाव्य (दिल्ली); शिवपूजन सहाय : हिंदी साहित्य और बिहार, (पटना); गार्सां द तासी : 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐं ऐंदुस्तानी; मौंटगोमरी मार्टिन : 'ईस्टर्न इंडिया, जिल्द १ (लंदन) आदि। [शि॰ ति॰]

हुलाकू यह एक मंगोल शासक था। हुलाकू खाँ की मंगोल सेना मुल्तान के शासक किश्लू खाँ की राज्यसीमा पर हावी थी। किश्लू खाँ ने अपने राज्य के रक्षार्थ बगदाद स्थित हुलाकू खाँ से वैवाहिक संबंध स्थापित कर लिया था और उसके दरबार में अपना एक पौत्र भी भेज दिया था। इस प्रकार किश्लू मंगोलों से सुरक्षित होकर उनकी सहायता से दिल्ली सुल्तान पर आक्रमण करना चाहता था किंतु हुलाकू इसपर सहमत नहीं हुआ।

सन् १२५८ के अंत में हुलाकू ने एक प्रतिनिधिमंडल दिल्ली के सुल्तान के दरबार में भेजा। मंडल का स्वागत करने में सल्तनत के ऐश्वर्य तथा साजसज्जा का ऐसा प्रदर्शन किया गया कि हुलाकू के प्रतिनिधि प्रभावित हुए बिना न रह सके। जब हुलाकू को दिल्ली सुल्तान की लोकप्रियता तथा समृद्धि का स्तर ज्ञात हुआ तब उसने मंगोल सेना को आदेश भिजवाया कि दिल्ली राज्य की सीमाओं का उल्लंघन न किया जाय। [मि॰ चं॰ पां॰]

हल्दी (Turmeric) एक बहुवर्षीय पादप की जड़ से प्राप्त होती है। यह पौधा ज़िंजीबिरेसी (Zingiberacea) कुल का करकुमाडोमेस्टिका या करकुमा लोंगा (Curcuma domestica or curcuma longa) है। यह पौधा दक्षिणी एशिया का देशज है। भारत के हर प्रदेश में यह उगाई जाती है। उत्तर प्रदेश की निचली पहाड़ियों तथा तराई के भागों में विशेष रूप से इसकी खेती होती है। जड़ चीमड़ और कड़ी होती है। इसके ऊपरी भाग का रंग पीलापन या भूरापन लिए हरा होता है। इसके तोड़ने से अंदर के रेज़िन सदृश भाग का रंग नारंगी भूरे से गहरे लाल भूरे रंग का दीख पड़ता है। जड़ों को साफ कर कुछ घंटे जल में उबालते हैं तब इसे चूल्हे पर सुखाते हैं। इसके पीसने से पीला चूर्ण प्राप्त होता है जिसमें विशिष्ट सुवास और प्रबल तीखा स्वाद होता है। इसका उपयोग वस्त्रों के रँगने और मसाले के रूप में आज भी व्यापक रूप से होता है। भारत में सब साक सब्जियों और दालों में हल्दी आवश्यक रूप से मसाले के रूप में प्रयुक्त होती है। एक समय इसका व्यवहार औषधियों में बहुत होता था। आज भी चातु के साथ मिलाकर ठंढक के लिये चमड़े और आँखों पर लगाते हैं। चूने के साथ मिलाकर दर्द दूर करने के लिये चोटों पर चढ़ाते हैं। रसायनशाला में इससे रँगा हुआ सूखा कागज क्षारों के पहचानने में काम आता है। इसका पीला रंग कच्चा होता है जो धूप से जल्द उड़ जाता है। हल्दी का रंजक पदार्थ करक्यूमिन, $C_{21}H_{20}O_6$ है जिसकी मात्रा हल्दी में लगभग ०.३ प्रतिशत रहती है।

इसको उपजाने के लिये भली भाँति तैयार की हुई तथा अच्छे पानी के निकासवाली हल्की पर उपजाऊ भूमि की आवश्यकता होती है जिसमें आलू के समान मेड़ें बनाई जाती हैं और जिनपर प्रकद के छोटे छोटे टुकड़े अप्रैल मई में लगाए जाते हैं। मेड़ से मेड़ की दूरी डेढ़ इंच तथा पौधे से पौधे की दूरी लगभग ६ इंच से एक फुट तक रहती है। जब पौधे लगभग ६ इंच की ऊँचाई के हो जाते हैं तब मिट्टी चढ़ाई जाती है। नवंबर मास में फसल तैयार हो जाती है तब खेतों से खोदकर निकाल ली जाती है। [वाइ॰ आर॰ मे॰]

हल्लीशक इस नृत्यशैली का एकमात्र विस्तृत वर्णन महाभारत के खिल भाग हरिवंश (विष्णु पर्व, अध्याय २०) में मिलता है। विद्वानों ने इसे रास का पूर्वरूप माना है साथ ही रासक्रीड़ा का पर्याय भी। आचार्य नीलकंठ ने टीका करते हुए लिखा है — हल्लीश क्रीडनं एकस्य पुंसो बहुभि: स्त्रीभि: क्रीडनं सैव रासक्रीड़ा। (हरि॰ २.२०.३६) यह नृत्य स्त्रियों का है जिसमें एक ही पुरुष श्रीकृष्ण होता है। यह दो दो गोपिकाओं द्वारा मंडलाकार बना तथा श्रीकृष्ण को मध्य में रख संपादित किया जाता है। हरिवंश के अनुसार श्रीकृष्ण वंशी, अर्जुन मृदंग, तथा अन्य अप्सराएँ अनेक प्रकार के वाद्ययंत्र बजाते हैं। इसमें अभिनय के लिये रंभा, हेमा, मिश्रकेशी, तिलोत्तमा, मेनका आदि अप्सराएँ प्रस्तुत होती हैं। सामूहिक नृत्य, सहगान आदि से मंडित यह कोमल नृत्य श्रीकृष्णलीलाओं के गान से पूर्णता पाता है। इसका वर्णन अन्य किसी पुराण में नहीं आता। भासकृत बालचरित् में हल्लीश का उल्लेख है। अन्यत्र संकेत नहीं मिलता। [रा॰ ना॰]

हवाचक्की (Wind mill) **तथा पवनशक्ति** (Wind power) पवनशक्ति एक सदिश राशि है। पवनशक्ति का मापन अश्वशक्ति की ईकाई में किया जाता है। जिस भौगोलिक दिशा से हवा बहती है उसे वायु की दिशा कहा जाता है। वायु के वेग को सामान्यत: वायु की गति कहा जाता है।

धरती की सतह पर वायु का प्रत्यक्ष प्रभाव भूमिक्षरण, वनस्पति की विशेषता, विभिन्न संरचनाओं में क्षति तथा जल के स्तर पर तरंग उत्पादन के रूप में परिलक्षित होता है। पृथ्वी के उच्च स्तरों पर हवाई यातायात, रैकेट तथा अनेक अन्य कारकों पर वायु का प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में वायु की गति से बादल का निर्माण एवं परिवहन, वर्षा और ताप इत्यादि पर स्पष्ट प्रभाव उत्पन्न होता है। वायु के वेग से प्राप्त बल को पवनशक्ति कहा जाता है तथा इस शक्ति का प्रयोग यांत्रिक शक्ति के रूप में किया जाता है। संसार के अनेक भागों में पवनशक्ति का प्रयोग बिजली उत्पादन में, आटे की चक्की चलाने में, पानी खींचने में तथा अनेक अन्य उद्योगों में होता है।

अनुमानत: संसार में जितना ऊर्जा की १९५७ ई० में आवश्यकता थी उसका १५ प्रतिशत भाग पवनशक्ति से पूरा किया जाता था। पवनशक्ति की ऊर्जा गतिज ऊर्जा होती है। इसके अतिरिक्त वायु के वेग में बहुत परिवर्तन होता रहता है अत: कभी तो वायु की गति अत्यंत मंद होती है और कभी वायु के वेग में तीव्रता आ जाती है। अत: जिस हवा चक्की को वायु के अपेक्षाकृत कम वेग की शक्ति से कार्य के लिये बनाया जाता है वह अधिक वायु वेग की व्यवस्था में ठीक ढंग से कार्य नहीं करता है। इसी प्रकार तीव्र वेग के वायु को कार्य में परिणत करनेवाली हवाचक्की को वायु के मंद वेग से काम में नहीं लाया जा सकता है। सामान्यत: यदि वायु की गति १२० किमी प्रति घंटा से कम होती है तो इस वायुशक्ति को सुविधापूर्वक हवाचक्की में कार्य में परिणत करना अव्यावहारिक होता है। इसी प्रकार यदि वायु की गति ४८ किमी प्रति घंटा से अधिक होती है तो इस वायु शक्ति के ऊर्जा को हवाचक्की में कार्य रूप में परिणत करना अत्यंत कठिन होता है। परंतु वायु की गति सभी ऋतुओं में तथा सभी समय इस सीमा के भीतर नहीं रहती है इसलिये इसके प्रयोग पर न तो निर्भर रहा जा सकता है और न इसका अधिक प्रचार ही हो सका है। उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी अनेक देशों में पवनशक्ति के व्यावसायिक विकास पर बहुत ध्यान दिया गया है। एक सम तथा ३२ से ४८ किमी घंटा वायु की गतिवाले क्षेत्रों में २००० किलोवाट बिजली का उत्पादन करनेवाली हवाचक्की को सरलता से चलाया जा सकता है जिससे विद्युत् ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है।

हवा की चक्की में वायु की गति से टरबाइन घूमता है जिससे यांत्रिक अथवा विद्युत् शक्ति प्राप्त होती है। केवल अमरीका में ही १९५० ई० में ३ लाख हवाचक्की का उपयोग पानी खींचने में होता था तथा एक लाख हवाचक्की का उपयोग बिजली के उत्पादन में होता था। हालैंड में आज भी इसका उपयोग होता है परंतु धीरे धीरे विद्युत् तथा भाप इंजनों के कारण अन्य देशों में इसका प्रचलन बंद हो गया है। [अ० सि०]

हवाना स्थिति २३° ०२' उ० अ० तथा ८२° २९' प० दे०। यह क्यूबा गणतंत्र की राजधानी एवं पश्चिमी द्वीपसमूह का सर्वप्रमुख व्यापारिक केंद्र है जो क्यूबा द्वीप के उत्तरी पश्चिमी तट पर स्थित है। यह संसार के अच्छे पोताश्रयों में से एक है। इस सुरक्षित पोताश्रय तक बड़े बड़े जहाज चले आते हैं। देश का आयात तथा निर्यात का ३/४ भाग इस बंदरगाह से होता है। निर्यात की मुख्य वस्तुएँ चीनी, तंबाकू, सिगार एवं सिगरेट हैं। खाद्य और वस्त्र का प्रमुख आयात होता है। संसार के प्रत्येक देश के जलयान यहाँ आते हैं। हवाना रेल, सड़क, वायु एवं जलमार्गों का महत्वपूर्ण केंद्र है। अनेक देशों और द्वीपों को नियमित रूप से जलयान यहाँ से जाते हैं। यहीं बाईं ओर प्रकाशगृह तथा दाईं ओर श्वेत प्रवालीय चूना पत्थर द्वारा निर्मित पेज़ियो द मारटी (Paseo De Marti) या प्राडो (Prado) है। पश्चिमी उपकूल पर मालेकान (Malecon) स्थित है जहाँ अब आधुनिक सरकारी भवनों तथा चौड़ी सड़कों का निर्माण किया गया है। मेन पार्क, राष्ट्रपति का प्रासाद, राष्ट्रीय कांग्रेस भवन एवं राष्ट्र का सर्वोच्च न्यायालय दर्शनीय स्थल हैं। पुराने भवनों में ला फ्यूर्जा (La Fuerja) बड़ा गिरजाघर एवं सांता क्लेरा (Santa Clara) उल्लेखनीय हैं। सांता क्लेरा को सरकार ने १९२८ ई० में खरीद लिया, अब इसमें सार्वजनिक निर्माण मंत्रालय है। हवाना में विश्वविद्यालय, 'सोसियाडैड इकानामिका' नामक संस्थान एवं राष्ट्रीय ग्रंथागार हैं जो पर्यटकों के लिये आकर्षण हैं।

२. प्रदेश का क्षेत्रफल ८२५० वर्ग किमी एवं जनसंख्या १५,३८८०३ (१९५३) थी। जनसंख्या का घनत्व प्रति वर्गमील ४८५ व्यक्ति हैं। [रा० प्र० सि०]

हसरत मुहानी इनका नाम फ़ज़्लुल्हसन था पर इनका उपनाम इतना प्रसिद्ध हुआ कि लोग इनका वास्तविक नाम भूल गए। इनका जन्म उन्नाव के एक कस्बा मुहान में सन् १८७५ ई० में हुआ। आरंभिक शिक्षा घर पर ही हुई और उसके बाद यह अलीगढ़ गए। अलीगढ़ के छात्र दो दलों में बँटे हुए थे। एक दल देशभक्त था और दूसरा दल स्वार्थभक्त। हसरत प्रथम दल में सम्मिलित होकर उसकी प्रथम पंक्ति में आ गए। यह तीन बार कालेज से निर्वासित हुए पर अंत में सन् १९०३ ई० में बी० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए। इसके अनंतर इन्होंने एक पत्रिका 'उर्दुएमुअल्ला' निकाली और नियमित रूप से स्वतंत्रता के आंदोलन में भाग लेने लगे। यह कई बार जेल गए तथा देश के लिये बहुत कुछ बलिदान किया। इन्होंने एक खद्दर भंडार भी खोला जो खूब चला।

हसरत मुहानी लखनऊ के प्रसिद्ध शायर 'तस्लीम' के शिष्य थे और मोमिन तथा नसीम लखनवी को बहुत मानते थे। हसरत ने उर्दू गजल को एक नितांत नए तथा उन्नतिशील मार्ग पर मोड़ दिया है। आज उर्दू कविता में स्त्रियों के प्रति जो शुद्ध और लाभप्रद दृष्टिकोण दिखलाई देता है, प्रयसी जो सहयात्री तथा मित्र रूप में दिखाई पड़ती है तथा समय से टक्कर लेती हुई अपने प्रेमी के साथ सहवेदना तथा मित्रता दिखलाती ज्ञात होती है, वह बहुत कुछ हसरत ही की देन है। हसरत ने गजलों ही में शासन, समाज तथा इतिहास की बातों का ऐसे सुंदर ढंग से उपयोग किया है कि उसका प्राचीन रंग अपने स्थान पर पूरी तरह बना हुआ है। हसरत की गजलें अपनी पूरी सजावट तथा सौंदर्य को बनाए रखते हुए भी ऐसा माध्यम बन गई हैं कि जीवन की सभी बातें उनमें बड़ी सुंदरता से व्यक्त की जा सकती हैं। उन्हें सहज में उन्नतशील गजलों का प्रवर्तक कहा जा सकता है।

हसरत ने अपना सारा जीवन कविता करने तथा स्वतंत्रता के संघर्ष में प्रयत्न करने एवं कष्ट उठाने में व्यतीत किया। साहित्य तथा राजनीति का सुंदर सम्मिलन कराना कितना कठिन है, ऐसा जब विचार उठता है तब स्वतः हसरत की कविता पर दृष्टि जाती है। हसरत की मृत्यु १३ मई, सन् १९५१ ई० को कानपुर में हुई। इनकी कविता का संग्रह 'कुल्लियाते हसरत' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। [र० ज०]

हस्तलेखविज्ञान के अंतर्गत हस्तलेख का वैज्ञानिक परीक्षण आता है, जिसका मुख्य उद्देश्य यह निश्चित करना होता है कि कोई लेख व्यक्तिविशेष का लिखा हुआ है या नहीं।

हस्तलेख की पहचान — लेखनकला अर्जित संपत्ति है, जिसे मनुष्य अभ्यास से प्राप्त करता है। लेखक की मनोवृत्ति तथा उसकी मांसपेशियों के सहयोग के अनुसार उसके लेख में विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन विशेषताओं के कारण प्रत्येक व्यक्ति का लेख अन्य व्यक्ति के लेख से भिन्न होता है। जिस प्रकार हम किसी मनुष्य की पहचान उसके सामान्य तथा विशिष्ट लक्षणों को देखकर कर सकते हैं उसी प्रकार किसी लेख के सामान्य तथा विशिष्ट लक्षणों की तुलना

चित्र सं० १ कत्ल के अभियुक्त की नोटबुक का एक पन्ना।

चित्र सं० २ — वह लेख जो अभियुक्त ने न्यायालय में नमूने का लेख देने से इन्कार करते हुए लिखा। दोनों लेखों में समानताएँ देखें; जैसे अक्षर 'अ', 'ह', 'सि', 'स' आदि में।
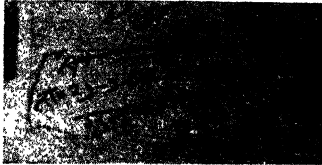
करके हम उसे पहचान सकते हैं। मनुष्य के रंग, रूप, कद आदि उसके सामान्य लक्षण हैं तथा मस्सा, तिल, चोट के निशान, आदि विशिष्ट लक्षण हैं। इसी प्रकार लेख की गति, उसके प्रवाह की अबाधता, उसका झुकाव, कोशल तथा हाशिया, पंक्तियों की सिधाई आदि उसके सामान्य लक्षण हैं और अक्षरों के विभिन्न आकार विशिष्ट लक्षण हैं। दो लेखों के इन्हीं दो प्रकार के लक्षणों का मिलान करके विशेषज्ञ इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उनका लिखनेवाला एक ही व्यक्ति है या नहीं।

विशिष्ट लक्षण, जिनको हम व्यक्तिगत विशेषताएँ भी कह सकते हैं, दो प्रकार के होते हैं — प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष विशेषताएँ उन प्रकट विशेषताओं को कहते हैं जो सामान्य लेखनप्रणाली से विशिष्ट रूप से भिन्न हों, जैसे कुछ लोग अक्षरविशेष को सामान्य आकार का न बनाकर किसी विशिष्ट आकार का बनाते हैं।

'अप्रत्यक्ष विशेषता' व्यक्तिविशेष के लेख मे पुनः पुनः मिलनेवाली उस विशेषता को कहेंगे जिसकी ओर सामान्यतया ध्यान नहीं जाता है (देखिए चित्र सं० ४)। क्योंकि इनकी ओर प्रायः न उस लेखक का ध्यान होता है जो अपने लेख को छिपाने के लिये बिगाड़कर लिखता है, न उस जालसाज का ध्यान होता है जो दूसरे के लेख की नकल करना चाहता है, अतः लेख के पहचानने में इनका विशेष महत्व हो जाता है।

हस्तलेखविज्ञान के अंतर्गत लेखन सामग्री तथा प्रक्षिप्त, अर्थात् बाद में बढ़ाए गए, लेखों का परीक्षण भी आता है, क्योंकि इनसे भी लेख संबंधी प्रश्नों को हल करने में सहायता मिलती है।

विधि में स्थान — आजकल न्यायालय में यह विवाद बहुधा उठा करते हैं कि अमुक लेख किस व्यक्ति का लिखा हुआ है। ऐसी तथा अन्य तत्सदृश परिस्थितियों में हस्तलेख विशेषज्ञ की विशेष आवश्यकता होती है। सामान्यतः न्यायालय में किसी अन्य व्यक्ति की राय ग्राह्य

नहीं होती है। किंतु ऐसी परिस्थिति में हस्तलेख विशेषज्ञ की राय भारत साक्ष्य अधिनियम की धारा ४५ के अधीन ग्राह्य होती है और उसका विशेष महत्व भी होता है। उक्त धारा ४५ के अधीन

चित्र सं० ३—प्रत्यक्ष विशेषताएँ
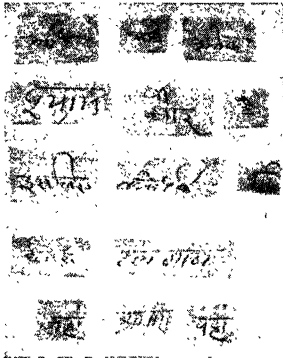
'अ' तथा 'इ' के आकार, शब्द 'और' मे मात्राओं का आकार, शब्द 'रामलाल' में 'ल' का आकार।

उन व्यक्तियों की राय भी ली जा सकती है जो उस व्यक्ति के लेख से सुपरिचित हों और उसे पहचानने मे अपने को समर्थ कहें।

इतिहास — हस्तलेख विशेषज्ञ पहले भी होते थे, विशेषतया विदेशों में। वे प्राय अक्षरों की बनावट को देखकर अपनी राय दिया करते थे, जिसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं होता था और त्रुटि का पर्याप्त अवसर रहता था। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एम्स, हेगन, आसबर्न आदि विद्वानों ने हस्तलेख पहचानने की कला को विकसित करके उसे विज्ञान के स्तर पर पहुँचाया। भारत में इस विज्ञान के प्रथम विशेषज्ञ श्री चार्ल्स आर० हाडलेस थे, जो सन् १८८४ में कलकत्ते के तारघर में लिपिक थे। उनकी हस्तलेखविज्ञान में दक्षता को देखकर सन् १९०० ई० में उनको बंगाल सरकार ने अपना हस्तलेख विशेषज्ञ नियुक्त किया था। आजकल भारत में विभिन्न सरकारों के अपने अपने कार्यालय हैं, जिनमें सुशिक्षित विशेषज्ञ रहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे विशेषज्ञ भी हैं जो राय देने का काम निजी तौर पर करते हैं।

हस्तलेखानुमिति — हस्तलेखविज्ञान के साथ साथ एक और कला भी विकसित हो रही है जिसे अंग्रेजी में ग्रेफॉलॉजी कहते हैं और हिंदी में 'हस्तलेखानुमिति' कह सकते हैं। इसके अनुसार किसी व्यक्ति के लेख को देखकर उसके स्वभाव आदि का ही नहीं अपितु उसके भविष्य का भी अनुमान किया जा सकता है। यह भी कहा जाता है कि जिस व्यक्ति का लेख दाहिनी ओर झुका होता है वह भावुक होता है और जिसका बाईं ओर झुका होता है वह बुद्धि के नियंत्रण में चलनेवाला होता है। लिखने में जिसकी पंक्ति ऊपर को चढ़ती चली जाती है वह आशावादी होता है और जिसकी पंक्ति नीचे की ओर उतरती चली जाती है वह निराशावादी होता है। यद्यपि इस प्रकार के अनुमान बहुधा सत्य निकलते हैं तथापि इनका
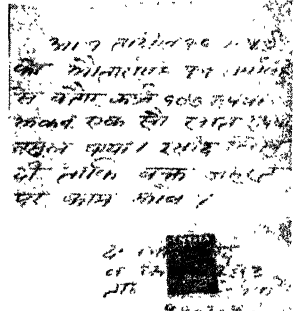
चित्र सं० ४—अप्रत्यक्ष विशेषताएँ

'त' के गोले का डंडे से अधिक नीचे की ओर मिलना, 'ओ' की मात्राओं का समानांतर न होना, 'ह' के नीचे के छोर का बाईं ओर घूमना, तथा 'र' और 'स' मे 'र' के नीचे की छोर का ऊपर की ओर घुमाव।

कोई वैज्ञानिक आधार नहीं होता और हम यही कह सकते हैं कि यह कला अभी तक विज्ञान का स्तर प्राप्त नही कर पाई है।

सं० ग्रं० — ए आसबर्न : क्वेश्चंड डाक्युमेंट्स; एफ बर्यूंसटर : कंटेस्टेड डाक्यूमेंट्स ऐंड फोर्जरीज; डोरोथी सारा : रीडिंग हैंडराइटिंग फ़ार फ़न ऐंड पाप्युलैरिटी : [सि० गु०]

हांगकांग (Hong Kong) चीन के दक्षिणी तट पर सिकियांग नदी के मुहाने पर स्थित एक द्वीप है, जिसकी लंबाई १६ किमी और चौड़ाई ३ से ८ किमी है। स्वयं हांगकांग का क्षेत्रफल लगभग ८२ वर्ग किमी है पर इसमें काउलून प्रायद्वीप (Kowloon

Peninsula) और न्यू टेरिटॉरीज (New Territories) भी मिला हुआ है। यह ब्रिटिश उपनिवेश है। १८४२ ई० में हांगकांग अंग्रेजों के अधिकार में आया, १८६० ई० में काउलून खरीदकर इसमें जोड़ दिया गया और १८९८ ई० में न्यू टेरिटॉरीज ९९ वर्ष के पट्टे पर मिला। हांगकांग की राजधानी विक्टोरिया है जो द्वीप के उत्तरी तट पर स्थित है।

हांगकांग की भूमि पहाड़ी है। विक्टोरिया शिखर (१८२३ फुट) सबसे ऊँचा शिखर है। हांगकांग की लगभग २० प्रतिशत भूमि में ही खेती होती है। काउलून कैंटन और मध्य चीन से रेलों द्वारा संबद्ध है और यहीं हांगकांग का हवाई अड्डा स्थित है। हांगकांग का बंदरगाह मुक्त है। वस्तुओं पर कोई आयात या निर्यात कर नहीं लगता। यहाँ के अधिकांश निवासी चीनी हैं, शेष में अंग्रेज, अमरीकन तथा भारतीय हैं। हांगकांग की आबादी २० लाख से ऊपर है।

जलवायु — यहाँ की जलवायु उपोष्ण कटिबंधीय है। जुलाई का औसत ताप २७·५° सें० और फरवरी का १५° सें० रहता है। वार्षिक वर्षा लगभग ८५ इंच होती है। जाड़े का मानसून उत्तर पूर्व से और गर्मी का मानसून दक्षिण पश्चिम से आता है।

शिक्षा — यहाँ शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य नहीं है पर विद्यालयों का शुल्क बहुत अल्प है। अतः अधिकांश बालक (लगभग ७० प्रतिशत तक) विद्यालयों में पढ़ते हैं। शिक्षा का माध्यम कैंटोनी भाषा है पर उच्चतर विद्यालयों में अंग्रेजी का ही बोलबाला है। यहाँ १९११ ई० में हांगकांग विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी जहाँ अनेक आवश्यक विषयों की शिक्षा दी जाती है।

उद्योग धंधे — यहाँ अनेक पदार्थों का उत्पादन होता है, जैसे वस्त्र, रबर के जूते और बूट, इनेमल सामान, प्लास्टिक, वैक्युअम फ्लास्क, टार्च, खाद्यसामग्री, चीनी का परिष्कार, सीमेंट निर्माण जहाज निर्माण और जहाज मरम्मत। लोहे के कुछ सामान भी यहाँ बनते हैं। कृषि और मछली पकड़ना जीविका के अन्य साधन हैं। है। यहाँ अनेक खनिज पाए गए हैं पर उनका उपयोग अभी बहुत कम हो रहा है। व्यापार बहुत उन्नत है और अधिकांश लोगों की जीविका इसी से चलती है। [रा० स० ख०]

हाइगेंज, क्रिश्चियन (Huygens, Christian, सन् १६२९-१६९५) हालैंड के सुविख्यात गणितज्ञ, खगोलकी तथा भौतिकी के विद्वान्। आपका जन्म हेग में अप्रैल १४, सन् १६२९ को हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा आपको अपने योग्य पिता से मिली, तदुपरांत आपने लाइडेन में शिक्षा पाई।

अनुसंधान कार्य — सन् १६५५ में दूरबीन की निरीक्षण क्षमता बढ़ाने के प्रयत्न में आपने लेंस निर्माण की नई विधि का आविष्कार किया। अपने बनाए हुए लेंस से उत्तम किस्म की दूरबीन तैयार करके आपने शनि के एक नए उपग्रह की खोज की। लोलक (pendulum) के दोलन के लिये आपने सही सूत्र प्राप्त किया और इस प्रकार दीवार घड़ी में समय नियमन के लिये आपने पहली बार लोलक का उपयोग किया। वृत्ताकार गति में उत्पन्न होनेवाले अपकेंद्र बल की भी आपने विशद व्याख्या की, जिसके आधार पर न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के नियमों का सफलतापूर्वक प्रतिपादन किया। सन् १६६३ में आप लंदन की रायल सोसायटी के सदस्य चुने गए।

हाइगेंज का नाम प्रकाश के तरंगवाद (Wave Theory) के साथ विशेषरूप से संलग्न है। यद्यपि १६६५ में हुक ने इस सिद्धांत को सबसे पहले अपनाया था तथापि हाइगेंज ने ही इस सिद्धांत का विशेष रूप से प्रतिपादन किया तथा अपने द्वैतीयिक (secondary) तरंग के सिद्धांत द्वारा प्रकाश के व्यतिकरण तथा अन्य गुणों को प्राप्त किया। इस सिद्धांत की मदद से आपने क्वार्ट्ज तथा अभ्रक के रवों में दुहरे वर्तन (double refraction) से प्राप्त होनेवाली असाधारण (extraordinary) किरण की पक्षदिशा को निर्धारित किया। [भ० प्र० श्री०]

हाइड पार्क लंदन का सबसे बड़ा पार्क। वर्तमान में करीब ३६० एकड़वाला यह पार्क ग्यारहवीं सदी में ऊबड़ खाबड़ जमीन के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। घने वृक्षों के इस जंगल में उस समय जंगली मवेशी और सुअर चरा करते थे।

प्लैंटिजिनेट युग में तत्कालीन शासकों ने इस स्थान की सफाई करवाकर यहाँ शाही परिवार के सदस्यों के लिये शिकार स्थल बनवाया। १५३६ में तत्कालीन शासक हेनरी अष्टम ने इसके चारों ओर कँटिदार तार की सरहद बनवाकर यहाँ जनसाधारण का प्रवेश वर्जित कर दिया। चार्ल्स प्रथम के समय में यह स्थान जनसाधारण के प्रवेश के लिये खोल दिया गया और उसी समय से इसका उपयोग घुड़सवारी सीखने के लिये भी किया जाने लगा। कुछ समय बाद यहाँ सफाई करवाकर चार्ल्स प्रथम ने इस पार्क को कला और फैशन का केंद्र भी बनाया जिसके परिणामस्वरूप उच्च वर्गों के स्त्री पुरुष शाम को मिलने जुलने के लिये यहाँ आने लगे।

१७३० में यहाँ सर्पेंटाइन नामक झील बनाई गई जो आज अपनी सुंदरता के लिये विश्वविख्यात हो चुकी है। कहा जाता है, यूरोप के किसी भी शहर के अंदर इतना सुंदर अन्य कोई स्थान नहीं है। हाइड पार्क का महत्व बढ़ते देख धीरे धीरे लोग इसके पूर्वी ओर मकान बनवाने लगे और शीघ्र ही पश्चिमी भाग को छोड़कर बाकी तीनों ओर बड़ी बड़ी इमारतें खड़ी हो गईं। कोई भी इमारत अपने आपमें किसी महल से कम नहीं।

१८ वीं सदी के मध्य में यह पार्क डकैती, राहजनी, हत्या आदि की घटनाओं के लिये पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुका था। उस समय ये घटनाएँ यहाँ इतनी अधिक बढ़ गई थीं कि शाम को अँधेरा होने के बाद कोई भी व्यक्ति यहाँ अकेले आने का साहस नहीं कर पाता था। महारानी विक्टोरिया के समय से यह पार्क वक्ताओं का स्थल बना। १८७२ में सरकारी आदेश से १५० वर्ग गज का स्थान सभाओं आदि के लिये निश्चित कर दिया गया। वह स्थान आजकल स्पीकर्स कार्नर (वक्ताओं का कोना) कहलाता है। स्पीकर्स कार्नर में होनेवाले भाषणों की एक मुख्य विशेषता यह है कि उनके संबंध में पहले से किसी प्रकार का प्रचार नहीं किया जाता और न किसी प्रकार की सूचना ही दी जाती है।

संभवतः संसार के किसी भी देश में यही एकमात्र ऐसा स्थान

है जहाँ एक ही दिन और एक ही समय पर वक्ताओं वक्ता विभिन्न श्रोतासमूहों के बीच खड़े होकर विविध विषयों पर भाषण करते रहते हैं। महारानी विक्टोरिया के ही शासनकाल में सन् १८५१ में यहाँ एक विशाल अंतरराष्ट्रीय प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था जो ११४ दिन तक रही तथा जिसे ६२ लाख से अधिक दर्शकों ने देखा।

प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धों के काल में इस पार्क का उपयोग नए रंगरूटों को कवायद सिखाने के लिये किया गया था। उस समय जो लोग यहाँ कवायद सीखने के लिये आए थे, वे ही लोग युद्ध समाप्त होने के बाद शांतिकाल में एक बार फिर यहाँ एकत्र हुए थे। उनका स्वागत करने के लिये तत्कालीन सम्राट्, राजपरिवार के सदस्य तथा जनसाधारण का विशाल समूह यहाँ एकत्र हुआ था। हाइड पार्क को इतना अधिक महत्व वस्तुतः इसकी विशालता के कारण ही मिला है। पार्क के साथ एक विशाल उद्यान भी लगा हुआ है जिसे मिलाकर इसका क्षेत्रफल करीब ६०० एकड़ हो जाता है। यहाँ एक ओर तो शांति का पूर्ण साम्राज्य सा छाया रहता है और दूसरी ओर मनोरंजन के ऐसे विविध साधन भी उपलब्ध हैं जो मानसिक थकावट को दूर कर अवकाश का समय व्यतीत करने में सहायता करते हैं। घुड़सवारों के लिये राटन रो नामक स्थान, फूलों के प्रेमियों के लिये एक ही स्थान पर विविध प्रकार के फूलों का संग्रह, संगीतप्रेमियों के लिये कांसर्ट का आयोजन, तैरने के शौकीनों के लिये सर्पेंटाइन झील, नौकाविहार के लिए किराए पर उपलब्ध नावें, आदि प्रत्येक प्रकार के मनोरंजन की सामग्री यहाँ उपलब्ध है। दिन में यह लदनवासियों तथा विदेशी पर्यटकों के लिये घूमने एवं छुट्टी का दिन व्यतीत करने का स्थान माना जाता है तो शाम होते ही यह 'विलासकेंद्र' बन जाता है। १४-१५ वर्ष की लड़कियों से लेकर प्रौढ़ महिलाएँ तक यहाँ अपने शिकार की तलाश में अक्सर घूमती रहती हैं। १९५९ से लंदन के समाचारपत्रों ने इस कलंक के विरुद्ध सामूहिक रूप से आवाज उठाई। शायद तब से अवांछित कार्यों को रोकथाम के लिये पार्क के अंदर ही एक पुलिस स्टेशन बना दिया गया। लदन की वर्ष प्रति वर्ष बढ़ती जा रही यातायात समस्या का समाधान हाइड पार्क के नीचे दो भूगर्भ मार्ग बनाकर किया गया है। हाइड पार्क कार्नर से प्रति दिन औसत एक लाख ३० हजार गाड़ियाँ आती जाती हैं। पार्क के ही नीचे ३६ एकड़ भूमि में एक अंडरग्राउंड कार पार्क भी बनाया गया है, जहा ११०० कारें एक साथ रखी जा सकती हैं। [म० रा० जं०]

हाइड्राइड (Hydrides) हाइड्रोजन जब अन्य तत्वों, धातुओं, उपधातुओं और अधातुओं, से सयोग कर द्विअंगी (binary) यौगिक बनाता है तब उन्हें 'हाइड्राइड' कहते हैं। कुछ ऐसे भी हाइड्राइड प्राप्त हुए हैं जिनमें एक से अधिक धातुएँ विद्यमान हैं। हाइड्राइडों का महत्व इस बात में है कि इनमें हाइड्रोजन की मात्रा सर्वाधिक रहती है और उनसे शुद्ध हाइड्रोजन प्राप्त किया जा सकता है। ये अपचायक और अच्छे जलशोषक होते हैं। इनकी सहायता से धातुओं का उत्कृष्ट निक्षेप भी प्राप्त हो सकता है। कुछ संघननकारक के रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं।

हाइड्राइड चार वर्गों में विभक्त किए गए हैं: १. लवण किस्म के हाइड्राइड (Salt-like hydride), २. धातु किस्म के हाइड्राइड (Metal type hydride), ३. द्विलक या बहुलक (Dimer or polymer) हाइड्राइड और ४. सहसंयोजक (Covalent) हाइड्राइड।

लवण किस्म के हाइड्राइडों को क्रिस्टलीय हाइड्राइड भी कहते हैं। ये क्षार धातुओं और क्षारीय मृत्तिका धातुओं के हाइड्राइड होते हैं। लिथियम हाइड्राइड (LiH), सोडियम हाइड्राइड (NaH), कैल्सियम हाइड्राइड (CaH_2), लिथियम एलुमिनियम हाइड्राइड ($LiAlH_4$) आदि, इसके उदाहरण हैं। ये वर्णहीन, क्रिस्टलीय, विद्युत् कुचालक, अवाष्पशील और अक्रिय विलायकों में अविलेय होते हैं। जल की क्रिया से ये जो हाइड्रोजन मुक्त करते हैं उसका आधा हाइड्रोजन हाइड्राइड से और आधा हाइड्रोजन जल से आता है। अत: हाइड्रोजन की प्राप्त मात्रा हाइड्राइड में उपस्थित हाइड्रोजन की मात्रा से दुगुनी होती है। धातुओं और हाइड्रोजन के सीधे संयोग से विभिन्न तापों पर तप्त करने से हाइड्राइड बनते हैं। ये बड़े सक्रिय होते हैं और जल, ऐल्कोहॉल, कार्बन डाइआक्साइड, सल्फर डायक्साइड, नाइट्रोजन आदि से क्रिया देकर विभिन्न उत्पाद बनाते हैं और हाइड्रोजन मुक्त करते हैं। नाइट्रोजन की क्रिया से ये धातुओं के नाइट्राइड बनते हैं।

धातु किस्म के हाइड्राइडों को अंतरालीय (interstital) हाइड्राइड भी कहते हैं। टाइटेनियम हाइड्राइड (TiH_2), जारकोनियम हाइड्राइड (ZrH_2) और युरेनियम हाइड्राइड (UH_3) इनके उदाहरण हैं। ये कठोर भंगुर, धात्विक चमकवाले और विद्युत् चालक होते हैं। जल पर इनकी कोई क्रिया नहीं होती और निष्क्रिय विलायकों में अविलेय होते हैं।

द्विलक और बहुलक हाइड्राइड साधारणतया अधातुओं के हाइड्राइड होते हैं। ये वाष्पशील हाइड्राइड के अंतर्गत भी आते हैं, जैसे डाइबोरेन (B_2H_6), डेकाबोरेन (B_4H_{10}), ऐलुमिनियम हाइड्राइड (AlH_3)n। ये गैसीय, द्रव या ठोस हो सकते हैं। ये विद्युत् के अचालक होते हैं। जल की इनपर क्रिया होती है और उससे हाइड्रोजन निकलता है। इनके तैयार करने की कोई सामान्य विधि नहीं है। लिथियम ऐलुमिनियम हाइड्राइड पर बोरोनक्लोराइड की क्रिया से डाइबोरेन प्राप्त होता है। बोरोन क्लोराइड या बोरोन ब्रोमाइड पर हाइड्रोजन के विद्युत् विसर्जन द्वारा संयोजन से भी यह प्राप्त हो सकता है।

सहसंयोजक हाइड्राइड — इन हाइड्राइडों में बंध सामान्य सहसंयोजक बंध होते हैं जिनमें बंध का इलेक्ट्रॉन धातु या अधातु और हाइड्रोजन के बीच न्यूनाधिक समान रूप से बँटा रहता है। ये हाइड्राइड भी गैसीय या शीघ्रवाष्पशील द्रव तथा विद्युत् के अचालक होते हैं। जल की क्रिया से या गरम करने से ये सरलता से विघटित हो जाते हैं और हाइड्रोजन मुक्त करते हैं। सिलिकन हाइड्राइड (SiH_4), आर्सीन (AsH_3), जर्मेन (GeH_4) इत्यादि इनके उदाहरण हैं।

हाइड्राइडों का वियोजन — लवण और धातु किस्म के हाइड्राइड

ऊष्मा से वियोजित हो जाते हैं पर यह वियोजन उत्क्रमणीय (reversible) होता है जबकि बहुलक, सहसंयोजक और गौणीय हाइड्राइड भी वियोजित होने पर उनका वियोजन अनुत्क्रमणीय होता है। उच्च ताप पर अपचयन गुण अधिक स्पष्ट होता है। पोटैशियम हाइड्राइड कार्बन का अपचयन कर पोटैशियम फार्मेट बनता है। कैल्सियम हाइड्राइड धातुओं के आक्साइड को लगभग ६००° सें० पर अपचयित कर धातुओं में परिणत कर देता है। गौण लवण हाइड्राइड अधिक प्रबल अपचायक होते हैं। हाइड्रोजनीकरण में अनेक धातुओं के हाइड्राइड प्रबल अपचायक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। संघननकारक के रूप में इनके उपयोग दिन प्रति दिन बढ़ रहे हैं। [र० चं० अ०]

हाइड्रॉक्सिलऐमिन (Hydroxylamine, NH_2OH) वस्तुतः अमोनिया का एक संजात है जिसमें अमोनिया का एक हाइड्रोजन हाइड्रॉक्सिलसमूह से विस्थापित हुआ है। पहले पहल इसका निर्माण १८६५ ई० में लॉसेन (Lossen) द्वारा क्लोराइड के रूप में हुआ था। शुद्ध रूप में लब्रि डब्रुयन (Lobry de Bruyn) ने इसे पहले पहल प्राप्त किया।

इसके तैयार करने की अनेक विधियाँ हैं पर साधारणतया नाइट्राइट पर अम्ल सल्फाइटों की (१:२ ग्रामाणु अनुपात में) क्रिया से हाइड्रॉक्सिलऐमिन सल्फेट के रूप में प्राप्त होता है। एक दूसरी विधि नाइट्रोपैराफिनों के जल अपघटन से है। शुद्ध अजल हाइड्रॉक्सिलऐमिन प्राप्त करने के लिये इसके क्लोराइड को परिशुद्ध मेथाइल ऐल्कोहलीय विलयन में सोडियम मेथिलेट से उपचारित करते हैं। अवक्षिप्त सोडियम क्लोराइड को छानकर निकाल देते हैं और न्यून दबाव पर आसवन से ऐल्कोहल को निकालकर उत्पाद को शुद्ध रूप में प्राप्त करते हैं।

शुद्ध हाइड्रॉक्सिलऐमिन रंगहीन, गंधहीन, क्रिस्टलीय ठोस है जो ३३° सें० पर पिघलता है और २२ मिमी दबाव पर ५८° सें० पर उबलता है। उच्च ताप पर यह विघटित, कभी कभी विस्फोट के साथ, हो जाता है। यह जल में अतिविलेय है और जलीय विलयन समान्यतः स्थायी होता है। शुद्ध क्लोरीन में यह जलने लगता है। यह प्रबल अपचायक होता है। चाँदी के लवणों से चाँदी और ताँबे के लवणों से क्यूप्रस ऑक्साइड अवक्षिप्त करता है। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में यह ऑक्सीकारक भी होता है। फेरस हाइड्रॉक्साइड को फेरिक हाइड्रॉक्साइड में परिवर्तित कर देता है।

हाइड्रॉक्सिलऐमिन के लवण सरलता से बनते हैं। इसके अधिक महत्व के लवण सल्फेट और क्लोराइड हैं। ऐल्डीहाइड और कीटोन के साथ यह ऑक्सिम बनाता है। कार्बनिक रसायन में ऑक्सिम बड़े महत्व के यौगिक हैं। [स० व०]

हाइड्रेज़ीन (Hydrazine) $H_2N\text{-}NH_2$ रंगहीन द्रव, क्वथनांक ११४.५° सें०, गलनांक २.०° सें० जो कर्टियस द्वारा १८८७ ई० में पहले पहल तैयार हुआ था। आजकल राशिग विधि (Rashig Method) से यह तैयार होता है। इस विधि में यह जलीय अमोनिया या यूरिया को जिलेटीन या गोंद की उपस्थिति में हाइपोक्लोराइट के आधिक्य में ऑक्सीकरण से तैयार किया जाता है। यह अभिक्रिया १६०° १८०° सें० ताप पर दबाव में संपन्न होती है और २% की मात्रा में हाइड्रेज़ीन बनता है जिसके आंशिक आसवन द्वारा सांद्रण से ६०-६५% हाइड्रेज़ीन प्राप्त होता है। इससे बेरियम आक्साइड, दाहक सोडा या पोटाश द्वारा निर्जलीकरण से अजल हाइड्रेज़ीन प्राप्त हो सकता है। अजल हाइड्रेज़ीन जल, मेथिल और एथिल ऐल्कोहॉल में सब अनुपात में मिश्र होता है। जलीय विलयन अमोनिया की अपेक्षा दुर्बल क्षारीय होता है, यह दो श्रेणी का लवण, क्लोराइड आदि, बनाता है। जलीय विलयन में हाइड्रेज़ीन प्रबल अपचायक होता है। ताँबे, चाँदी और सोने के लवणों से धातुओं को यह अवक्षिप्त कर देता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में ईंधन के रूप में राकेट और जेट नोदक में यह प्रयुक्त हुआ था। इसको बड़ी सावधानी से संग्रह करने की आवश्यकता होती है क्योंकि यह सरलता से आर्द्रता, कार्बन डाइआक्साइड और ऑक्सीजन से अभिक्रिया देता है। इसके विलयन तथा वाष्प दोनों विषैले होते हैं। हाइड्रेज़ीन के वाष्प और वायु के मिश्रण जलते हैं।

हाइड्रेज़ीन के हाइड्रोजन कार्बनिक मूलकों द्वारा सरलता से विस्थापित होकर अनेक कार्बनिक संजात बनते हैं। एक ऐसा ही संजात फेनिल हाइड्रेज़ीन है जिसका आविष्कार एमिल फिशर ने १८७७ ई० में किया था। इसकी सहायता से उन्होंने कार्बोहाइड्रेटों के अध्ययन में पर्याप्त प्रगति की थी। हाइड्रेज़ीन का एक दूसरा संजात अम्ल हाइड्रेज़ाइड ($RCO_2\ N_2H_4$) है जो अम्ल क्लोराइड या एस्टर पर हाइड्रेज़ीन की अभिक्रिया से बनता है। ऐसे दो सजात सेमी कार्बेज़ाइड, $CO(NH_2)\ N_2H_3$, और कार्बोहाइड्रेज़ाइड $CO\ (N_2H_3)_2$ हैं जिनका उपयोग वैश्लेषिक रसायन में विशेष रूप से होता है। [स० व०]

हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और हाइड्रोजन क्लोराइड हाइड्रोजन क्लोराइड, हाइड्रोजन और क्लोरीन का गैसीय यौगिक है। हाइड्रोजन क्लोराइड गैस के जलीय विलयन को ही हाइड्रोक्लोरिक अम्ल कहते हैं। इस अम्ल का उल्लेख ग्लौबर ने १६४८ ई० में पहले पहल किया था। जोसेफ प्रीस्टली ने १७७२ ई० में पहले पहल तैयार किया और सर हंफ्री डेवी ने १८१० ई० में सिद्ध किया कि यह हाइड्रोजन और क्लोरीन का यौगिक है। इससे पहले लोगों की गलत धारणा थी कि इसमें ऑक्सीजन भी रहता है। तब इसका नाम म्यूरिएटिक अम्ल पड़ा था जो आज भी कहीं कहीं प्रयोग में आता है।

हाइड्रोक्लोरिक अम्ल ज्वालामुखी गैसों में पाया जाता है। मानव जठर में इसकी अल्प मात्रा रहती है और आहार पाचन में सहायक होती है।

हाइड्रोजन और क्लोरीन के सीधे संयोजन से यह बन सकता है। कहीं कहीं व्यापार का हाइड्रोक्लोरिक अम्ल इसी विधि से तैयार होता है। क्रिया सामान्य ताप पर नहीं होती। सूर्यप्रकाश में अथवा २५०° सें० पर गरम करने से संयोजन विस्फोट के साथ होता है। साधारणतया नमक पर गंधकाम्ल की क्रिया से इसका

निर्माण होता है। सामान्य ताप पर हाइड्रोजन क्लोराइड और सोडियम बाइसल्फेट बनते और उच्च ताप पर हाइड्रोजन क्लोराइड और सोडियम सल्फेट बनते हैं।

$$NaCl + H_2SO_4 = NaHSO_4 + HCl$$
सोडियम बाइसल्फेट

$$2\,NaCl + H_2SO_4 = Na_2SO_4 + 2HCl$$
सोडियम सल्फेट
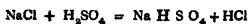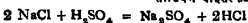
ल ब्लांक विधि से 'धोने का सोडा' के निर्माण में यही उच्च तापवाली विधि प्रयुक्त होती है और यहाँ हाइड्रोजन क्लोराइड उपोत्पाद के रूप में प्राप्त होता है।

हाइड्रोजन क्लोराइड के निर्माण में पोर्सिलेन या काँच के पात्र सुविधाजनक होते हैं क्योंकि सामान्य धातुएँ इससे आक्रांत हो जाती हैं। परंतु अब कुछ ऐसी धातुएँ या मिश्र धातुएँ प्राप्त हुई हैं, जैसे टैंटेलम, हिस्टेलाय (histalloy), डुरिक्लोर (durichlor) जिनके पात्रों का उपयोग हो सकता है क्योंकि ये अम्ल का अत्यधिक प्रतिरोध करती हैं।

शुद्ध हाइड्रोक्लोरिक अम्ल वर्णहीन होता है पर व्यापार का अम्ल लोहे और अन्य अपद्रव्यों के कारण पीले रंग का होता है। विलयन में २८% से ३६% अम्ल रहता है। व्यापार का अम्ल प्रधानतया तीन श्रेणियों का होता है, १८ बोमेका (HCl, २७·९२ प्रतिशत, विशिष्ट गुरुत्व १·१४१७), २० बोमेका (HCl, ३१·४५ प्रतिशत, विशिष्ट गुरुत्व १·१६००) और २२ बोमेका (HCl, ३५·२१, प्रतिशत विशिष्ट गुरुत्व १·१७८९)।

गुण — हाइड्रोजन क्लोराइड वर्णहीन, तीव्र गंधवाली गैस है। ०° सें० और १ वायुमंडलीय दबाव पर एक लिटर गैस का भार १·६३९ ग्राम होता है। द्रव का क्वथनांक — ८५° सें० और हिमांक −११४°, क्रांतिक ताप ५२° सें० और क्रांतिक दबाव ९० वायुमंडलीय है। यह जल में अतिविलेय है। ०° सें० पर एक आयतन जल ५०५ आयतन गैस और २०° सें० पर ४७७ आयतन का घुलता है। गैस के घुलने से ऊष्मा निकलती है। आर्द्र वायु में यह धूम देती है। इसका विलयन स्थायी क्वथनांकवाला द्रव, क्वथनांक ११०°, बनता है। ऐसे द्रव में हाइड्रोजन क्लोराइड २०·२४ प्रतिशत रहता है।

यह रसायनतः प्रबल अम्ल है। अनेक धातुओं, जैसे सोडियम, लोहा, जस्ता, वंग आदि को आक्रांत कर क्लोराइड बनाता और हाइड्रोजन उन्मुक्त करता है। धातुओं के आक्साइडों और हाइड्राक्साइडों को आक्रांत कर धातुओं का क्लोराइड बनाता और जल उन्मुक्त करता है। यह सरलता से आक्सीकृत हो क्लोरीन मुक्त करता है। मैंगनीज डाइआक्साइड पर हाइड्रोजनक्लोराइड की क्रिया से क्लोरीन निकलता है।

सांद्र हाइड्रोक्लोरिक अम्ल चमड़े को जलाता और शोथ उत्पन्न करता है। तनु अम्ल अपेक्षया निर्दोष होता है।

नाइट्रिक अम्ल के साथ मिलकर ($HNO_3 : HCl$ :: (३: १ अनुपात में) यह अम्लराज (aquaregia) बनता है जिसमें नाइट्रोसिल क्लोराइड (NOCl) रहता है जो अन्य धातुओं के साथ साथ प्लेटिनम और स्वर्ण को भी आक्रांत करता है। ये दोनों उत्कृष्ट धातुएँ अन्य किसी एक अम्ल से आक्रांत नहीं होती हैं।

उपयोग — हाइड्रोक्लोरिक अम्ल रसायनशाला का एक बहुमूल्य अभिकारक है। इसके उपयोग अनेक उद्योग धंधों में भी होते हैं। लोहे पर जस्ते या वंग का लेप चढ़ाने के पहले इसी अम्ल से सतह को साफ करते हैं। अनेक पदार्थों, जैसे सरेस, जिलेटिन, अस्थि-कोयला, रंजकों के माध्यम, कार्बनिक यौगिकों आदि के निर्माण, में यह काम आता है। इसके अनेक लवण भी बड़े औद्योगिक महत्व के हैं। यह द्विगुण लवण भी बनाता है जिसके महत्व रासायनिक विश्लेषण में अधिक हैं। पेट्रोलियम कूपों के उपचार, बिनौले से कर्पासिका निकालने और रोगाणुनाशी के रूप में भी यह काम आता है।

हाइड्रोजन (Hydrogen) एक गैसीय द्रव है जिसमें कोई गंध, स्वाद और रंग नहीं होता। यह सबसे हलका तत्व है (घनत्व ०·०९ ग्राम प्रति लिटर)। इसकी परमाणुसंख्या १, संकेत हा (H) और परमाणुभार १·००८ है। यह आवर्तसारणी में प्रथम स्थान पर है। साधारणतया इसके दो परमाणु मिलकर एक अणु (हा$_2$, H_2) बनता है। हाइड्रोजन बहुत नीचे ताप पर द्रव और ठोस बनता है। द्रव हाइड्रोजन − २५३° सें० पर उबलता और ठोस हाइड्रोजन − २५८ सें० पर पिघलता है।

उपस्थिति — असंयुक्त हाइड्रोजन बड़ी अल्प मात्रा में वायु में पाया जाता है। ऊपरी वायु में इसकी मात्रा अपेक्षया अधिक रहती है। सूर्य के परिमंडल में इसकी प्रचुरता है। पृथ्वी पर संयुक्त दशा में यह जल, पेड़ पौधे, जांतव ऊतक, काष्ठ, अनाज, तेल, वसा, पेट्रोलियम, प्रत्येक जैविक पदार्थ में रहता है। अम्लों का यह आवश्यक घटक है। क्षारों और कार्बनिक यौगिकों में भी यह रहता है।

निर्माण — प्रयोगशाला में जस्ते पर तनु गंधक अम्ल की क्रिया से यह प्राप्त होता है। युद्ध के कामों के लिये कई सरल विधियों से यह प्राप्त हो सकता है। 'सिलिकोल' विधि में सिलिकन या फेरो सिलिकन पर सोडियम हाइड्राक्साइड की क्रिया से, 'हाइड्रोलिथ' विधि में कैलसियम हाइड्राइड पर जल की क्रिया से 'हाइड्रिक' विधि में एलुमिनियम पर सोडियम हाइड्राक्साइड की क्रिया से प्राप्त होता है। गर्म स्पंजी लोहे पर भाप की क्रिया से एक समय बड़ी मात्रा में हाइड्रोजन तैयार होता था।

आज हाइड्रोजन प्राप्त करने की सबसे सस्ती विधि 'जल गैस' है। जल गैस में हाइड्रोजन और कार्बन मनॉक्साइड विशेष रूप से रहते हैं। जल गैस को ठंढाकर द्रव में परिणत करते हैं। द्रव का फिर प्रभाजक आसवन करते हैं। इससे कार्बन मनॉक्साइड (क्वथनांक १९१° सें०) और नाइट्रोजन (क्वथनांक १९५° सें०) पहले निकल जाते हैं और हाइड्रोजन (क्वथनांक २५०° सें०) शेष रह जाता है।

जल के वैद्युत अपघटन से भी पर्याप्त शुद्ध हाइड्रोजन प्राप्त हो सकता है। एक किलोवाट घंटा से लगभग ७ घन फुट हाइड्रोजन प्राप्त

हो सकता है। कुछ विद्युत् अपघटनी निर्माण में, जैसे नमक से दाहक सोडा के निर्माण में, उपोत्पाद के रूप में बड़ी मात्रा में हाइड्रोजन प्राप्त होता है।

गुण — हाइड्रोजन वायु या ऑक्सीजन में जलता है। जलने का ताप ऊँचा होता है। ज्वाला रंगहीन होती है। जलकर यह जल (H_2O) और अल्पतर मात्रा में हाइड्रोजन पेरॉक्साइड (H_2O_2) बनाता है। हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के मिश्रण में आग लगाने या विद्युत् स्फुलिंग से बड़े कड़ाके के साथ विस्फोट होता है और जल की बूँदें बनती हैं।

हाइड्रोजन अच्छा अपचायक है। लोहे के मोर्चों को लोहे में और ताँबे के ऑक्साइड को ताँबे में परिणत कर देता है। यह अन्य तत्वों के साथ संयुक्त हो यौगिक बनता है। क्लोरीन के साथ क्लोराइड, (HCl), नाइट्रोजन के साथ अमोनिया (NH_3) गंधक के साथ हाइड्रोजन सल्फाइड (H_2S), फास्फ़रस के साथ फास्फ़ीन (PH_3) ये सभी द्विअंगी यौगिक हैं। इन्हें हाइड्राइड कहते हैं।

हाइड्रोजन एक विचित्र गुणवाला तत्व है। यह है तो अधातु पर अनेक यौगिकों में धातुओं सा व्यवहार करता है। इसके परमाणु में केवल एक प्रोटॉन और एक इलेक्ट्रान होते हैं। सामान्य हाइड्रोजन में ०·००२ प्रतिशत एक दूसरा हाइड्रोजन होता है जिसको भारी हाइड्रोजन की संज्ञा दी गई है। यह सामान्य परमाणु हाइड्रोजन से दुगुना भारी होता है। इसे ड्यूटीरियम (D) कहते हैं। ऑक्सीजन के साथ मिलकर यह भारी जल (D_2O) बनाता है। ड्यूटीरियम हाइड्रोजन का समस्थानिक है। हाइड्रोजन के एक अन्य समस्थानिक का भी पता लगा है। इसे ट्राइटियम (Tritium) कहते हैं। सामान्य हाइड्रोजन से यह तिगुना भारी होता है।

परमाणवीय हाइड्रोजन — हाइड्रोजन के अणु को जब अत्यधिक ऊष्मा में रखते हैं तब वे परमाणवीय हाइड्रोजन में वियोजित हो जाते हैं। ऐसे हाइड्रोजन का जीवनकाल दबाव पर निर्भर करता और बड़ा अल्प होता है। ऐसा पारमाणवीय हाइड्रोजन रसायनतः बड़ा सक्रिय होता है और सामान्य ताप पर भी अनेक तत्वों के साथ संयुक्त हो यौगिक बनाता है।

उपयोग — हाइड्रोजन के अनेक उपयोग हैं। हेबर विधि में नाइट्रोजन के साथ संयुक्त हो यह अमोनिया बनता है जो खाद के रूप में व्यवहार में आता है। तेल के साथ संयुक्त हो हाइड्रोजन वनस्पति (ठोस या अर्धठोस वसा) बनाता है। खाद्य के रूप में प्रयुक्त होने के लिये वनस्पति बहुत बड़ी मात्रा रूप में बनती है। अपचायक के रूप में यह अनेक धातुओं के निर्माण में काम आता है। इसकी सहायता से कोयले से संश्लिष्ट पेट्रोलियम भी बनाया जाता है। (देखें; संश्लिष्ट पेट्रोलियम तथा हाइड्रोजनीकरण) अनेक ईंधनों में हाइड्रोजन जलकर ऊष्मा उत्पन्न करता है। ऑक्सीहाइड्रोजन ज्वाला का ताप बहुत ऊँचा होता है। यह ज्वाला धातुओं के काटने, जोड़ने और पिघलाने में काम आती है। विद्युत् चाप में हाइड्रोजन के अणु के तोड़ने से परमाणवीय हाइड्रोजन ज्वाला प्राप्त होती है जिसका ताप ४२७०° सें० तक हो सकता है।

हल्का होने के कारण बैलून और वायुपोतों में हाइड्रोजन प्रयुक्त होता है तथा इसका स्थान अब हीलियम ले रहा है। हाइड्रोजन बम आजकल का बहुचर्चित विषय है।

हाइड्रोजन बम परमाणुबम का ही एक किस्म है। द्वितीय विश्वयुद्ध में सबसे अधिक शक्तिशाली विस्फोटक, जो प्रयुक्त हुआ था, उसका नाम ब्लॉकबस्टर' (blockbuster) था। इसके निर्माण में तब तक ज्ञात प्रबलतम विस्फोटक ट्राईनाइट्राटोलीन (TNT) का ११ टन प्रयुक्त हुआ था। इस विस्फोटक से २००० गुना अधिक शक्तिशाली प्रथम परमाणु बम था जिसका विस्फोट टी० एन० टी० के २२,००० टन के विस्फोट के बराबर था। अब तो प्रथम परमाणु बम से बहुत अधिक शक्तिशाली परमाणु बम बने हैं।

परमाणु बम में विस्फुटित होनेवाला पदार्थ यूरेनियम या प्लुटोनियम होता है। यूरेनियम या प्लुटोनियम के परमाणु विखंडन (Fission) से ही शक्ति प्राप्त होती है। इसके लिये परमाणु के केंद्रक (nucleus) में न्यूट्रॉन (neutron) से प्रहार किया जाता है। इस प्रहार से ही बहुत बड़ी मात्रा में ऊर्जा प्राप्त होती है। इस प्रक्रम को भौतिक विज्ञानी नाभिकीय विखंडन (nuclear fission) कहते हैं। परमाणु के नाभिक के अभ्यंतर में जो न्यूट्रान होते हैं उन्हीं से न्यूट्रान मुक्त होते हैं। ये न्यूट्रॉन अन्य परमाणुओं पर प्रहार करते हैं और उनसे फिर विखंडन होता है। ये फिर अन्य परमाणुओं का विखंडन करते हैं। इस प्रकार शृंखला क्रियाएँ आरंभ होती हैं। परमाणु बम की अनियंत्रित शृंखला क्रियाओं के फलस्वरूप भीषण प्रचंडता के साथ परमाणु का विस्फोट होता है।

यूरेनियम के कई समस्थानिक ज्ञात हैं। सामान्य यूरेनियम में ९९·३ प्रतिशत यू-२३८ (U-238) और ०·७ प्रतिशत यू-२३५ (U-235) रहते हैं। यू-२३८ का विखंडन उतनी सरलता से नहीं होता जितनी सरलता से यू-२३५ का विखंडन होता है। यू-२३५ में यू-२३८ की अपेक्षा तीन न्यूट्रान कम रहते हैं। न्यूट्रॉन की इस कमी के कारण ही यू २३५ का विखंडन सरलता से होता है।

अन्य विखंडनीय पदार्थ जो परमाणु बम में काम आते हैं वे यू-२३३ और प्लुटोनियम—२३९ हैं। परमाणु विस्फोट के लिये विखंडनीय पदार्थ की क्रांतिक संहति (critical mass) आवश्यक होती है। शृंखला क्रिया के चालू करने के लिये क्रांतिक संहति न्यूनतम मात्रा है। यदि विखंडनीय पदार्थ की मात्रा क्रांतिक संहति से कम है तो न्यूट्रान केवल घुरंघुरं करता रहेगा। मात्रा के धीरे धीरे बढ़ाने से एक समय ऐसी अवस्था आएगी जब कम से कम एक उन्मुक्त न्यूट्रॉन एक नए परमाणु पर प्रहार कर उसका विखंडन कर देगा। ऐसी स्थिति पहुँचने पर विखंडन क्रिया स्वतः चलने लगती है। क्रांतिक संहति की मात्रा गोपनीय है। जो राष्ट्र परमाणु बम बनाते हैं वे ही जानते हैं और दूसरों को बतलाते नहीं।

यदि यू-२३५ की क्रांतिक संहति २० पाउंड है तो दस दस पाउंड दो जगह लेने से शृंखला क्रिया चालू नहीं होगी। २० पाउंड

को एक साथ लेने से ही शृंखलाक्रिया चालू होती। शृंखलाक्रिया में न्यूट्रॉन की संख्या बड़ी शीघ्रता से बढ़ती है।

परमाणु बम में विखंडन से यूरेनियम और उसके निकटवर्ती अन्य पदार्थों का ताप बड़ी शीघ्रता से ऊपर उठता है। धात्विक यूरेनियम बड़ी ऊँची दाब और ताप पर तापदीप्त गैस में परिणत हो जाता है। विस्फोटक पिंड का ताप १०,००,००,०००° सें० तक उठ जाता है। इतने ऊँचे ताप पर यूरेनियम की थापी (tamper) टूट जाती है। तब सारा पिंड बड़ी प्रचंडता से विस्फुटित होता है। परमाणु बम के विस्फुटित होने पर आघात तरंगें (Shock waves) उत्पन्न होती हैं जो ध्वनि की गति से भी अधिक गति से चारों ओर फैलती हैं। जब परमाणु बम को पृथ्वीतल के ऊपर विस्फुटित किया जाता है तो तरंगें पृथ्वीतल से टकराकर ऊपर उठती हैं और नया आघात उत्पन्न करती हैं जो ऊपर और नीचे तीव्रता से फैलता है। बम स्फोट (Bomb blast) का केंद्र तत्काल तप्त होकर निर्वात उत्पन्न करता है। निर्वात भरने के लिये आसपास की ठंढी हवाएँ दौड़ती हैं। इस प्रकार परमाणु बम से घरों पर आघात पर आघात पड़ने से वे टूट जाते हैं।

विस्फोटी यूरेनियम अन्य नए तत्वों में बदल जाता है, उससे रेडियो ऐक्टिववेधी किरणें निकलकर जीवित कोशिकाओं को आक्रांत कर उन्हें नष्ट कर देती हैं। बम का विनाशकारी कार्य (१) आघात तरंगों, (२) वेधी किरणों तथा (३) अत्यधिक ऊष्मा उत्पादन के कारण होता है।

हाइड्रोजन बम या एच-बम (H–Bomb) अधिक शक्तिशाली परमाणु बम होता है। इसमें हाइड्रोजन के समस्थानिक ड्यूटीरियम (deuterium) और ट्राइटिरियम की आवश्यकता पड़ती है। परमाणुओं के संलयन करने (fuse) से बम का विस्फोट होता है। इस संलयन के लिये बड़े ऊँचे ताप, लगभग ५००,००,०००° सें० की आवश्यकता पड़ती है। यह ताप सूर्य के उष्णतम भाग के ताप से बहुत ऊँचा है। परमाणु बम द्वारा ही इतना ऊँचा ताप प्राप्त किया जा सकता है।

जब परमाणु बम आवश्यक ताप उत्पन्न करता है तभी हाइड्रोजन परमाणु संलयित (fuse) होते हैं। इस संलयन (fusion) से ऊष्मा और शक्तिशाली किरणें उत्पन्न होती हैं जो हाइड्रोजन को हीलियम में बदल देती हैं। १९२२ ई० में पहले पहल पता लगा था कि हाइड्रोजन परमाणु के विस्फोट से बहुत अधिक ऊर्जा उत्पन्न हो सकती है।

१९३२ ई० में ड्यूटीरियम नामक भारी हाइड्रोजन का और १९३४ ई० में ट्राइटिरियम नामक भारी हाइड्रोजन का आविष्कार हुआ। १९५० ई० में संयुक्त राज्य, अमरीका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने हाइड्रोजन बम तैयार करने का आदेश दिया। इसके लिये १९५१ ई० में साउथ कैरोलिना में एक बड़े कारखाने की स्थापना हुई। १९५३ ई० में राष्ट्रपति आइज़ेनहावर ने घोषणा की थी कि TNT के लाखों टन के बराबर हाइड्रोजन बम तैयार हो गया है। १९५४ ई० में सोवियत संघ ने हाइड्रोजन बम का परीक्षण किया। चीन और फ्रांस ने भी हाइड्रोजन बम के विस्फोट किए हैं।

हाइड्रोजनीकरण (Hydrogenation) हाइड्रोजनीकरण का अभिप्राय केवल असंतृप्त कार्बनिक यौगिकों से हाइड्रोजन की क्रिया द्वारा संतृप्त यौगिकों के प्राप्त करने से है। इस प्रकार एथिलीन अथवा ऐसेटिलीन से एथेन प्राप्त किया जाता है।

नवजात अवस्था में हाइड्रोजन कुछ सहज अपचेय यौगिकों के साथ सक्रिय है। इस भाँति कीटोन से द्वितीयक ऐल्कोहॉल तथा नाइट्रो यौगिकों से ऐमीन सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं। आजकल यह मान लिया गया है कि कार्बनिक पदार्थों का उत्प्रेरक के प्रभाव से हाइड्रोजन का प्रत्यक्ष संयोजन भी हाइड्रोजनीकरण है। ऐतिहासिक दृष्टि से उत्प्रेरकीय हाइड्रोजनीकरण से हाइड्रोजन (H_2) तथा हाइड्रोजन साइनाइड (HCN) के मिश्रण को प्लैटिनम कालिख पर प्रवाहित कर मेथिलऐमिन सर्वप्रथम प्राप्त किया गया था। पाल सैबेटिये (१८५४-१९४१) तथा इनके सहयोगियों के अनुसंधानों से वाष्प अवस्था में हाइड्रोजनीकरण विधि में विशेष प्रगति हुई। सन् १९०५ ई० में द्रव अवस्था हाइड्रोजनीकरण सूक्ष्म कणिक धातुओं के उत्प्रेरक उपयोगों के अनुसंधान आरंभ हुए और उसमें विशेष सफलता मिली जिसके फलस्वरूप द्रव अवस्था में हाइड्रोजनीकरण औद्योगिक प्रक्रमों में विशेष रूप से प्रचलित है। बीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिकों ने हाइड्रोजनीकरण विधि में विशेष प्रगति की और उसके फलस्वरूप हमारी जानकारी बहुत बढ़ गई है। इपीटा तथा इनके सहयोगियों ने निकेल, कोबाल्ट, लोहा, ताम्र और सारे प्लेटिनम वर्ग की धातुओं की उपस्थिति में हाइड्रोजनीकरण का विशेष अध्ययन किया।

हाइड्रोजनीकरण में एथिल ऐल्कोहॉल, ऐसीटिक अम्ल, एथिल ऐसीटेट, संतृप्त हाइड्रोकार्बन जैसे हाइड्रोकार्बनों में नार्मल हेक्सेन (n-hexane), डेकालिन और साइक्लोहेक्सेन विलायकों का प्रयोग अधिकता से होता है।

उत्प्रेरकीय हाइड्रोजनीकरण द्वारा कठिनता से उपलब्ध पदार्थ भी सहज में प्राप्त किए जा सकते हैं तथा बहुत सी तकनीकी की विधियाँ, जो विशेष महत्व की हैं, इसी पर आधारित हैं। इनमें द्रव ग्लिसराइडों (तेलों) से अर्ध ठोस या ठोस वनस्पति बनाने की विधि अधिक महत्वपूर्ण है। तेल में द्रव ग्लिसराइड रहता है। हाइड्रोजनीकरण से वह अर्ध ठोस वनस्पति में परिवर्तित हो जाता है। मछली का तेल हाइड्रोजनीकरण से गंधरहित भी किया जा सकता है, जो उत्कृष्ट साबुन बनाने के काम आता है। नैफ्थलीन, फिनोल और बेंज़ीन के हाइड्रोजनीकरण से द्रव उत्पाद प्राप्त किए जाते हैं, जो महत्व के विलायक हैं। टर्पीन के उत्प्रेरकीय हाइड्रोजनीकरण से बहुत से महत्व के व्युत्पन्न, विशेषतः मेंथोल, कैंफर (कपूर) आदि प्राप्त होते हैं।

यूरोप में, जहाँ पेट्रोल की बड़ी कमी है, भूरे कोयले तथा बिटुमेनी कोयले के उच्च दबाव (७०० वायुमंडलीय तक) पर हाइड्रोजनीकरण से पेट्रोलियम प्राप्त हुआ है (देखें संश्लिष्ट पेट्रोलियम) अवकतरे

के हाइड्रोजनीकरण से भी ऐसे ही उत्पाद प्राप्त हुए हैं। ईंधन तेल, डीज़ल तेल तथा मोटर और वायुयानों के पेट्रोल का उत्पादन इस प्रकार किया जा सकता है। ऐसी विधि एक समय अमरीका में प्रचलित थी पर ऐसे उत्पाद के मँहगे होने के कारण इनका उपयोग आज सीमित है। यदि प्रयोग किया जानेवाला पदार्थ प्रयोगात्मक ताप पर वैसीय हो तो हाइड्रोजनीकरण के लिये उस पदार्थ और हाइड्रोजन के मिश्रण को, जिसमें हाइड्रोजन की मात्रा अधिक रहे, एक नली या आसवन फ्लास्क में रखे उत्प्रेरक से होकर प्रवाहित करने से उत्पाद प्राप्त कर सकते हैं। असंतृप्त द्रवों का हाइड्रोजनीकरण सुगमता से तथा सरल रीति से संपन्न होता है। द्रव तथा सूक्ष्मकणात्मक उत्प्रेरक को एक आसवन फ्लास्क में भली भाँति मिलाकर तैल ऊष्मक में गरम करते और बराबर हाइड्रोजन प्रवाहित करते रहते हैं। यद्यपि इस प्रयोग में हाइड्रोजन अधिक मात्रा में लगता है, क्योंकि कुछ हाइड्रोजन यहाँ नष्ट हो जाता है, फिर भी यह विधि सुविधाजनक है। यदि इसमें एक प्रकार का यंत्र प्रयोग में लावें, जिससे अवशोषित हाइड्रोजन की मात्रा मालूम होती रहे, तो अच्छा होगा तथा इससे रसायनिक क्रिया किस अवस्था में है इसका ज्ञान होता रहेगा। कुछ हाइड्रोजनीकरण दबाव के प्रभाव में शीघ्रता से पूर्ण हो जाता है। इसके लिये पात्र ऐसी धातु का बना होना चाहिए जो दबाव को सहन कर सके।

साधारणतः ताप के उठाने से हाइड्रोजनीकरण की गति बढ़ जाती है। पर इससे हाइड्रोजन का आंशिक दबाव कम हो जाता है, जिसके फलस्वरूप विलायक का वाष्प दबाव बढ़ जाता है। अतः हर प्रयोग के लिये एक अनुकूलतम ताप होना चाहिए। हाइड्रोजनीकरण की गति और दबाव की वृद्धि में कोई सीधा संबंध नहीं पाया गया है। निकेल उत्प्रेरक के साथ देखा गया है कि दबाव के प्रभाव से उत्पाद की प्रकृति भी कुछ बदल जाती है। हाइड्रोजनीकरण पर उत्प्रेरक की मात्रा का भी कुछ सीमा तक प्रभाव पड़ता है। उत्प्रेरक की मात्रा की वृद्धि से हाइड्रोजनीकरण की गति में कुछ सीमा तक तीव्रता आ जाती है। कभी कभी देखा जाता है कि उत्प्रेरक के रहते हुए भी हाइड्रोजनीकरण रुक जाता है। ऐसी दशा में उत्प्रेरक को हवा अथवा ऑक्सीजन की उपस्थिति में प्रक्षुब्ध करते रहने से क्रिया फिर चालू हो जाती है। कुछ पदार्थ उत्प्रेरक विरोधी अथवा उत्प्रेरक विष होते हैं। गंधक, आर्सेनिक तथा इनके यौगिक और हाइड्रोजन सायनाइड उत्प्रेरक विष हैं। पारद और उसके यौगिक अल्प मात्रा में कोई विपरीत प्रभाव नहीं उत्पन्न करते पर बड़ी मात्रा में विष होते हैं। अम्ल थोड़ी मात्रा में क्रिया की गति को बढ़ाते हैं। आधुनिक अध्ययनों से पता चलता है कि बेंजीन का हाइड्रोजनीकरण प्लैटिनम कालिख की उपस्थिति में पीएच पर निर्भर करता है, अम्लीय अवस्था में अधिक तीव्र तथा क्षारीय दशा में प्रायः नहीं के बराबर होता है।

उत्प्रेरकों के प्रभाव में इतनी भिन्नता है कि इनके संबंध में कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता। साधारण हाइड्रोजनीकरण के लिये प्लैटिनम, धातुओं के आक्साइड, पैलेडियम, क्रोमियम कार्बोनेट, सक्रियकृत कार्बनचूर्ण और नीकेल विशेष रूप से प्रयुक्त होते हैं। एल्कोहॉल, ऐसीटिक अम्ल, एथिल ऐसीटेट विलायक तथा माध्यम काम में लाये जाते हैं।

हाइड्रोजनीकरण बड़े महत्व का तकनीकी प्रक्रम आज बन गया है। पाश्चात्य देशों में तेलों से मारगरीन, भारत में तेलों से वनस्पति घी, कोयले से पेट्रोलियम, अनेक कार्बनिक विलायकों, प्लास्टिक माध्यम, लंबी शृंखलावाले कार्बनिक यौगिकों — जिनका उपयोग पेट्रोल या साबुन बनाने में आज होता है — हाइड्रोजनीकरण से तैयार होते हैं। ह्वेल और मछली के तेलों के इस प्रकार हाइड्रोजनीकरण से मारगरीन और मूँगफली के तेल से कोटोजेम, नारियल के तेल से कोकोजेम और मूँगफली के तेल से डालडा आदि बनते हैं। हाइड्रोजनीकरण के लिये एक निश्चित ताप १००° सें० से २००° सें० और निश्चित दबाव १० से १५ वायुमंडलीय अच्छा समझा जाता है।

एथिलीन सदृश युग्मबंधवाले, ऐसीटिलीन सदृश त्रिकबंधवाले और कीटोनसमूहवाले यौगिक शीघ्रता से हाइड्रोजनीकृत हो जाते हैं। ऐसे यौगिकों में यदि एल्किल समूह जोड़ा जाय तो हाइड्रोजनीकरण की गति उनके भार के अनुसार धीमी होती जाती है। ऐरोमैटिक वलय वाले यौगिक उतनी सरलता से हाइड्रोजनीकृत नहीं होते। उच्च ताप पर हाइड्रोजनीकरण से वलय के टूट जाने की संभावना रहती है। ऐसा कहा जाता कि ट्रांस रूप की अपेक्षा सिस रूप का हाइड्रोजनीकरण अधिक तीव्रता से होता है, पर इस कथन की पुष्टि नहीं हुई है। [द० सिं०]

हाइड्रैज़ोइक अम्ल (HN_3) इसे ऐज़ोइमाइड (Azoimide) भी कहते हैं। यह हाइड्रोजन और नाइट्रोजन का यौगिक है तथा विस्फोटक होता है। इसके लवण ऐज़ाइड (Azide) भी विस्फोटक होते हैं पर अम्ल से कम। इसका एक महत्वपूर्ण लवण लेड ऐज़ाइड (Lead azide) है जो विस्फोटकप्रेरक (detonators) और समाघात-विधानों (percussion cups) में विस्फोटक के चालू करने में प्रयुक्त होता है। ग्रीस (Griess) द्वारा १८६६ ई० में, जब वे डायज़ो यौगिकों का अध्ययन कर रहे थे, इसका कार्बनिक व्युत्पन्न (Organic derivative) पहले पहल तैयार हुआ था। स्वयं अम्ल का निर्माण १८९० ई० में टी० कर्टियस (T. Curtius) द्वारा हुआ था। पीछे लगभग २००° सें० पर सोडामाइड पर नाइट्रस आक्साइड की क्रिया से यह प्राप्त हुआ। $NaNH_2 + N_2O \rightarrow NaN_3 + H_2O$। आज इसके तैयार करने की अनेक विधियाँ ज्ञात हैं जिनसे सावधानी से तैयार करने में अच्छी उपलब्धि हो सकती है।

यह अम्ल वर्णहीन द्रव है जो ३७° सें० पर उबलता है तथा आघात से बड़े ज़ोरों से विस्फोट करता है। इसमें विशिष्ट गंध होती है। इसके वाष्प से सिर दर्द होता है और श्लेष्मल झिल्ली आक्रांत होती है। इसके लवण क्लोराइड जैसे होते हैं। यह दुर्बल अम्लीय होता है।

इसकी संरचना के संबंध में अनेक वर्षों तक विवाद चलता रहा। कुछ लोग इसे चक्रीय सूत्र देने के पक्ष में थे और कुछ लोग विवृत शृंखलासूत्र के पक्ष में थे, पर आज विवृत शृंखलासूत्र ही सर्वमान्य

है जिसमें तीनों नाइट्रोजन परमाणु एक सीधी रेखा में स्थित हैं। जैसा इस सूत्र में दिया है — H – N = N ≡ N [स० व०]

हाइनान (Hainan) चीन के दक्षिण में दीर्घवृत्तीय आकार का द्वीप है जिसकी लंबाई लगभग ३०० किमी, चौड़ाई लगभग १५२ किमी और क्षेत्रफल लगभग ३५८४ वर्ग किमी है। इसका अधिक भाग पहाड़ी है पर दक्षिण छोड़कर अन्य तटों पर सँकरे मैदान हैं। पहाड़ियाँ बड़ी बीहड़ हैं और एक स्थान पर तो ६,३०० फुट ऊँची हो गई हैं। यहाँ की जलवायु उष्ण है, ताप २०° सें० के लगभग वर्ष भर रहता है, सिवाय ऊँची पहाड़ियों पर जहाँ का ताप जाड़े में १०° सें० उतर आता है। औसतन वर्षा १५२·५ सेमी से २०३ सेमी तक होती है। यहाँ के जंगलों में महोगनी (mahogany), देवदार, रोजवुड, आयरनवुड और मैदानों में धान, ईख, शाक सब्जियाँ, छोटे छोटे फल, सुपारी और नारियल उपजते हैं। पशुओं में घोड़ा, सूअर और बैल पाए जाते हैं। कुछ लोह खनिज भी पाए गए हैं। यहाँ मछली पकड़ना और लकड़ी का काम होता है। पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण जनसंख्या लगभग ३० लाख है जिसमें अधिकांश चीनी और शेष में आदिवासी और अन्य लाओ, फ्रांसीसी-हिंदचीनी या मिश्रित लोग हैं। खेती और व्यापार चीनियों के हाथ में है। इसके प्रमुख नगर उत्तरी तट पर कियांगचाऊ (Kiengchaw), और लिंचाऊ (Linbow), दक्षिणी तट पर हाइचाउ (Yaichow), और पूर्वी तट पर लोकचाइ है। हाइहो (Hoihow) यहाँ का प्रमुख बंदरगाह है। [रा० स० स०]

हाउड़ा (हावड़ा) यह पश्चिमी बंगाल (भारत) का एक जिला है जो २२° १३′ से २२° ४७′ उ० अ० एवं ८७° ५१′ से ८८° २२′ पू० दे० रेखाओं के बीच फैला है। इसका क्षेत्रफल १४७२ वर्ग किमी है। जनसंख्या २०,३८,४७७ (१९६१) है। उत्तर एवं दक्षिण में हुगली तथा मिदनापुर जिले हैं। इसकी पूर्वी तथा पश्चिमी सीमाएँ क्रमशः हुगली एवं रूपनारायन नदियाँ हैं। दामोदर नदी इस जिले के बीचोबीच बहती है। काना दामोदर तथा सरस्वती अन्य नदियाँ हैं। नदियों के बीच नीची दलदली भूमि मिलती है। राजापुर दलदल सबसे विस्तृत है। वर्षा सामान्यतः १४५ सेमी होती है। धान मुख्य फसल है पर गेहूँ, जौ, मकई तथा जूट भी उपजाए जाते हैं।

इस जिले का प्रमुख नगर हावड़ा है। कलकत्ता के सामने हुगली नदी के किनारे ११ किमी की लंबाई में बसा है। इसके अंतर्गत सिबपुर, घुसुरी, सलखिया तथा रामकृष्णपुर उपनगर संमिलित हैं। जनसंख्या ५,१२,५९८ (१९६१) है। यह पूर्वी एवं दक्षिणी पूर्वी रेलों का जंकशन तथा कलकत्ता का प्रमुख स्टेशन है। यह हावड़ा पुल द्वारा कलकत्ता से संबद्ध है। [ज० सि०]

हॉकाइडो (Hokkaido) स्थिति : ४३° ३०′ उ० अ० तथा १४१° ०′ पू० दे०। यह द्वीप जापान के बड़े द्वीपों में दूसरा स्थान रखता है। इस द्वीप का क्षेत्रफल ८७५०० किमी है और यह हॉनशू से त्सुगारु (Tsugaru) जलसंयोजी द्वारा पृथक् हो गया है। यह उत्तर में सोया जलसंयोजी द्वारा सैकलीन (Sakhalin) द्वीप से तथा नेमुरो संयोजी द्वारा कूरील द्वीपसमूहों से पृथक् हो गया है। सैकलीन का दक्षिणी अर्धभाग और कूरील द्वीप सोवियत रूस के अधिकार में हैं अतः प्रतिरक्षा की दृष्टि से हॉकाइडो जापान के लिये महत्वपूर्ण है।

यह द्वीप जापान के मुख्य द्वीपों में सबसे कम विकसित है। धान और फलों की खेती, मछली पकड़ना, कोयला खनन तथा जंगल से वन्य सामग्री एकत्र करना यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं। पशुपालन और दुग्धव्यवसाय में भी इस द्वीप का जापान में प्रमुख स्थान है। सापोरो तथा हाकोडाटे यहाँ के प्रमुख नगर हैं। द्वीप के दक्षिणी सिरे पर स्थित हाकोडाटे हॉनशू द्वीप से संचार का केंद्र है। यहाँ की जनसंख्या ४६,७२,५९९ (१९५४) है। [अ० ना० मे०]

हॉकिंस, कैप्टेन विलियम सन् १६०० में इंग्लैंड की महारानी एलिजबेथ ने ईस्ट इंडिया कंपनी को पूर्वीय देशों में व्यापार करने के लिये पंद्रह वर्ष की अवधि के लिये एकाधिकार प्रदान किया। कंपनी के आदेशानुसार पूर्वीय देशों की कुछ जलयात्राएँ हो जाने के बाद सन् १६०८ में फैक्ट्रियाँ खोलने की सुविधा प्राप्त करने के लिये कैप्टेन विलियम हॉकिंस को भारत भेजा गया। विलियम हॉकिंस सर जॉन हॉकिंस का भतीजा था। जब विलियम भारत पहुँचा उस समय यहाँ मुगल सम्राट् जहाँगीर शासन कर रहा था। जहाँगीर ने कैप्टेन विलियम का १६०९ में अपने दरबार में स्वागत किया और उसकी प्रार्थना पर अंग्रेजों को सूरत में बस जाने की आज्ञा दे दी। सूरत के व्यापारियों ने अंग्रेजों को दी गई सुविधा का विरोध किया। उधर पुर्तगाली अपने शत्रुतापूर्ण कारनामों में संलग्न थे। इसपर जहाँगीर ने अंग्रेजों को दी हुई सुविधा रद्द कर दी। विलियम हॉकिंस सन् १६११ में आगरा से चला गया। [मि० चं० पां०]

हॉकिंस, सर जॉन यह एक अंग्रेज एडमिरल था। इसका जन्म प्लिमथ में सन् १५३२ में हुआ तथा इसकी मृत्यु पोर्टोरीको के पास समुद्र में १२ नवंबर, १५९५ को हुई। इसका पिता विलियम हॉकिंस था। बचपन से जॉन अपने परिवार के जहाजों पर ही पला था और उसे नाविक जीवन का काफी ज्ञान हो गया था। एलिजबेथ के समय में समुद्रीय व्यापारमार्गों की खोजबीन तथा लूटपाट का बड़ा जोर था। इसमें जॉन हॉकिंस ने सक्रिय भाग लिया। यह अपने जहाज में गिनी तट पर पहुँचा, वहाँ पुर्तगालियों को लूटा तथा बहुत से हब्शियों को पकड़ लाया। इन हब्शियों को उसने स्पेन के अमरीकी उपनिवेशों में छुपाकर पहुँचा दिया। अमरीका में हब्शी दासों का व्यापार सर जॉन ने ही शुरू किया। सन् १५६२-१५६३ में उसने अपनी प्रथम जलयात्रा सफलतापूर्वक समाप्त की। अगले वर्ष उसने एक ऐसी ही यात्रा और की इससे उसकी काफी ख्याति हो गई और उसे कुछ पुरस्कार भी मिले। इसी बीच अंग्रेजों की स्पेन से काफी स्पर्धा बढ़ गई थी। इसलिये सन् १५६७ में सर जॉन हॉकिंस पुनः अपनी जलयात्रा के लिये चल पड़ा। इस बार फिर उसने बहुत से हब्शियों को और समुद्र में कुछ स्पेनियों को पकड़ लिया और मेक्सिको के बंदरगाह वीराक्रूज में प्रविष्ट हो गया। दुर्बल स्पेन अधिकारियों ने उसके प्रवेश पर कोई विरोध नहीं किया। सर जॉन के दुर्भाग्य से इसी समय स्पेनियों की एक शक्तिशाली सेना वहाँ

जा पहुँची और उसने जॉन पर आक्रमण कर दिया। सर जॉन अपने कुल दो जहाज लेकर वहाँ से बच निकला और इंगलैंड वापस चला गया।

इसके कुछ वर्षों बाद तक वह फिर समुद्र पर नहीं गया। वह अंग्रेजी नौसेना का क्रमशः कोषाध्यक्ष तथा नियंत्रक बना। तत्पश्चात् वह आजीवन नौसेना का एक मुख्य प्रशासनिक अधिकारी बना रहा। सन् १५८८ में इसने स्पेन के प्रसिद्ध 'आरमाडा' के विरुद्ध रियर-एडमिरल के रूप में युद्ध किया। 'आरमाडा' के परास्त होने पर यह 'नाइट' बना दिया गया। सर जॉन के अंतिम दिन असफलता की यातना में बीते। सन् १५९० में इसे पुर्तगाल के तट पर स्पेनी जहाजों का धन लूटने के लिये भेजा गया और १५९५ में यह पुनः अपने चचेरे भाई ड्रेक के साथ धनपूर्ण जहाजों को लूटने के लिये वेस्ट इंडीज की ओर जलयात्रा पर गया। ये दोनों ही यात्राएँ विफल सिद्ध हुईं।
[मि० चं० पां०]

हॉकी (Hockey) इस खेल का नाम हॉकी होने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह पाश्चात्य खेल है, पर जहाँ अन्य खेलों के विजेता पाश्चात्य राष्ट्र रहे हैं वहाँ विश्व में हॉकी खेल में सर्वजेता भारत ही है।

इस खेल को खेलने के लिये दो दलों का होना आवश्यक है। प्रत्येक दल में ११, ११ खिलाड़ी रहते हैं तथा उनके स्थान के विभाजन निम्नलिखित प्रकार से होते हैं—५ अग्रिम पंक्ति (आक्रामक) ३ सहायक पंक्ति (रक्षात्मक, Half backs), २ रक्षक पंक्ति (Backs) तथा गोलरक्षक (Goal Keeper)। कप्तान को यह अधिकार है कि वह उनका स्थान अपने दल के हित में बढ़ा घटा या बदल सकता है।

इस खेल का क्रीडास्थल आयताकार होता है, जिसकी लंबाई १०० गज तथा चौड़ाई अधिक से अधिक ६० गज तथा कम से कम ५५ गज अवश्य होनी चाहिए। पूरे क्रीड़ास्थल को दो भागों में बराबर बराबर विभक्त कर दिया जाता है। इसकी सीमारेखाएँ ३" (इंच) चौड़ी रेखा से बनाई जाती हैं। लंबाई की रेखा को बगल बगल की रेखा (Side lines) तथा चौड़ाई की रेखा को गोल रेखा (Goal lines) के नाम से पुकारा जाता है। क्रीड़ा स्थल के चारों कोने पर ४' फुट ऊँची झंडी लगा देनी चाहिए, साथ ही मध्य रेखा तथा २५ गजवाली रेखा की सीध में भी 'साइड लाइन्स'। पार्श्वरेखा से १ गज की दूरी पर झंडियाँ लगा देनी चाहिए।

मध्य में 'गोल' बनाया जाता है जो १२ फुट चौड़ा और ७ फुट ऊँचा होता है एक जाली भी गोल में बँधी होनी चाहिए। गोल के बाहर अधिक से अधिक ४८ सेमी ऊँचा 'गोलबोर्ड' लगा देना चाहिए।

गोल रेखा से १६ गज की दूरी पर क्रीड़ा क्षेत्र के अंदर की ओर ४ गज की, गोल क्षेत्र के समांतर ३" मोटी सफेद सीधी रेखा खींच देनी चाहिए और गोल के खंभों से दोनों तरफ १६ गज का चाप काट करके उस रेखा में गोलाई से मिला देना चाहिए। इसको रिंग 'डी' एवं स्ट्राइकिंग सरकिल कहते हैं।

इस खेल की गेंद सफेद चमड़े की बनी होनी चाहिए। गेंद का वजन अधिक से अधिक ५$\frac{3}{4}$ औंस और कम से कम ५$\frac{1}{2}$ औंस होना चाहिए। गेंद की परिधि ९$\frac{1}{4}$" से अधिक तथा ८$\frac{13}{16}$" से कम नहीं होनी चाहिए।

इस खेल को खेलने की स्टिक (stick) का बाएँ हाथ के सामने का भाग समतल होता है तथा उसका किनारा गोला होना चाहिए। हाकी स्टिक का पूरा वजन २८ आउंस से अधिक तथा १२ आउंस से कम नहीं होना चाहिए तथा स्टिक की चौड़ाई एवं मोटाई उतनी ही होनी चाहिए जो दो इंच की परिधि से निकल सके।

सेंटर लाइन पर दोनों तरफ के फारवर्ड्स खड़े हो जाएँगे। गेंद क्रीड़ा स्थल के मध्य में रख दिया जाएगा तथा दो खेलाड़ी जिन्हें फारवर्ड सेंटर कहा जाता है गेंद के ऊपर तीन बार स्टिक मिलाएँगे उसके बाद खेल प्रारंभ समझा जाएगा। इस क्रिया को बुल्ली (bully) कहा जाता है। बुल्ली होते समय ५ गज तक कोई खिलाड़ी वहाँ नहीं रहता। गोल के बाद तथा मध्यांतर के बाद गेंद प्रारंभ की भाँति ही केंद्र में रखा जाता है और बुल्ली की जाती है। गोल सरकिल के अंदर पेनाल्टी बुल्ली को छोड़ किसी भी प्रकार की बुल्ली ५ गज के भीतर नहीं ली जाएगी। नियमभंग पर फ्री हिट या संदिग्ध अवस्था में रेफरी पुनः बुल्ली करने की आज्ञा दे सकता है।

नियम — हाकी स्टिक का सामनेवाला समतल भाग ही खेलते समय गेंद मारने के लिये प्रयोग किया जाएगा। कोई भी खिलाड़ी स्टिक को अपने कंधे से अधिक ऊँची खेलते समय नहीं उठाएगा तथा गेंद को स्टिक से इस तरह नहीं लगाया जाएगा कि वह खतरनाक हो, साथ ही अंडरकट हो। बाल को उछालना (स्कुप करना) वहीं तक उचित है जहाँ तक स्कुप किया हुआ गेंद खतरनाक न हो साथ ही अंडरकट या गलत ढंग से स्कुप न किया गया हो। शरीर के किसी अंग से गेंद रोका नहीं जा सकता। केवल हाथ से गेंद रोका जा सकता है अपेक्षाकृत गेंद गिरते ही उसपर चोट स्टिक द्वारा लग जानी चाहिए। किसी भी प्रतिपक्ष दल के खिलाड़ी को गलत ढंग से उसके खेल में बाधा पहुँचाना नियम विरुद्ध है। गोलकीपर गोल सरकिल के अंदर हाथ से या किसी अंग से गेंद रोक सकता है, मार सकता है लेकिन बाल को दो सेकंड से अधिक अपने पास पकड़कर रख नहीं सकता। पेनाल्टी बुल्ली के समय गोलकीपर को भी यह अधिकार नहीं रह जाता है। पेनल्टी बुल्ली के समय गोलकीपर ग्लब्स (दस्ताना) को छोड़कर सभी पैड इत्यादि को उतार देगा।

नियम — (१) सरकिल के बाहर क्रीड़ा स्थल में कहीं भी गलती हो जाने पर प्रतिपक्ष दल को हिट लगाने का अवसर मिलता है।

(२) सरकिल के अंदर अपने ही दल के किसी खिलाड़ी से यदि नियमभंग होता है तो उस अपराध के अनुसार कारनर, पेनाल्टी कारनर एवं पेनाल्टी बुल्ली दी जाती है।

(३) कोई भी गोल सरकिल के अंदर से ही प्रतिपक्ष दल द्वारा ही मारे जाने पर होता है।

(४) यदि प्रतिपक्ष दल के तीन खिलाड़ियों के न होते हुए कोई आक्रामक दल का खिलाड़ी अनुचित लाभ उठाने के लिये गोल रेखा के समीप चला जाता है तो वह आफ साइड्स समझा जाता है।

(५) साइड लाइन से यदि गेंद सीमारेखा से बाहर चली जाती है तो उसके विरोधी को गेंद रोल (लुढ़काने) करने का अवसर मिलता है। लेकिन रोलिंग करते समय तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(क) गेंद हाथ से छूटते ही ६" के भीतर जमीन पकड़ ले।

(ख) सात गजवाली रेखा के भीतर किसी भी खिलाड़ी को नहीं रहना चाहिए।

(ग) हाथ से बाल छूटने पर ही कोई खिलाड़ी अंदर आ सकता है।

यदि गोल रेखा से होता हुआ रक्षक दल से कोई भी गेंद छोड़ा स्थल से बाहर चला जाता है तो आक्रामक दल को कारनर लगाने का अवसर मिलता है। और यदि आक्रामक दल से बाहर चला जाता है तो रक्षक दल को फ्री हिट लगाने का अवसर मिलता है।

इस खेल में दो रेफरी होते हैं तथा दो रेखा निरीक्षक, साथ ही दो गोल निरीक्षक की भी व्यवस्था है।

इस खेल के लिये समय की व्यवस्था ३५-३५ मिनट के दो चक्रों की है। बीच में अधिक से अधिक ५ मिनट का अवकाश होना चाहिए। इसके अतिरिक्त दोनो दल के कप्तानों के आपसी समझौते से भी समय निर्धारित किया जाता है।

ओलंपिक खेलों की शृंखला में हाकी खेल भी सन् १९०८ में एक कड़ी की भाँति जोड़ा गया। १९२८ में पहली बार भारत ने इस खेल में भाग लिया तब से १९६० के पहले के ओलंपिक में भारत ने सर्वजेता का सम्मानित स्थान प्राप्त किया। इसका रिकार्ड निम्नलिखित है —

१९२८	भारत
१९३२	भारत
१९३६	भारत
१९४८	भारत
१९५२	भारत
१९५६	भारत
१९६०	पाकिस्तान तथा भारत द्वितीय रहा।
१९६४	भारत तथा पाकिस्तान द्वितीय।
१९६८	पाकिस्तान, भारत का तृतीय स्थान।

इसके अतिरिक्त एशियाई खेल समारोह में भी भारत का स्थान सर्वोपरि रहा। विश्वमेला में १९६६ में हैंपवर्ग में भारत ने सर्वजेता का स्थान ग्रहण किया है।

भारतवर्ष में भी हॉकी की अच्छी प्रतियोगिताएँ होती हैं जिनमें 'नेशनल हॉकी चैंपियनशिप' १९२८ में प्रारंभ हुआ। (स्वर्गीय श्री रामस्वामी के यादगार स्वरूप 'रामस्वामी कप')। इसमें देश की अच्छी अच्छी टीमें भाग लेती हैं लेकिन मुख्य रूप से सर्विसेज, रेलवेज, पंजाब पुलिस इत्यादि टीमों का स्थान सर्वोपरि है।

दूसरी प्रतियोगिता 'बेटन कप' (Beighton Cup) कलकत्ता की है जो १८९५ ई० में ही प्रारंभ की गई थी।

तीसरी प्रतियोगिता 'आगाखान कप', बंबई, के नाम से प्रसिद्ध है, जो १९३४ ई० में प्रारंभ की गई।

इसके अतिरिक्त महिलाओं के लिये भी 'वीमेंस नेशनल हॉकी चैंपियनशिप' (Women's National Hockey Championship) प्रतियोगिता होती है जिसमें प्रत्येक प्रदेश की महिला टीमें भाग लेती हैं। यह सन् १९३८ से प्रारंभ हुई।

नेहरू शील्ड प्रतियोगिता १९६२ से प्रारंभ हुई है जो दिल्ली में होती है। [आ० सिं० गौ०]

हाजीपुर बिहार (भारत) के मुजफ्फरपुर जनपद का एक प्रखंड (Subdivision) है। स्थिति २५°३९' से २६°१' उ० अ० तथा ८५°४' से ८५°३१' पू० दे० है। यहाँ का धरातल समतल है और छोटी बड़ी कई नदियाँ बहती हैं और ताल भी हैं। उपमंडल की सबसे बड़ी नदी गया है। इसका मुख्यालय हाजीपुर नगर (जनसंख्या १४०४४ (१९६१ ई०) गंगा और गंडक के संगम पर, पटना के ठीक सामने लगभग दो तीन मील उत्तर में स्थित है। पूर्वोत्तर रेलवे का यहाँ जंक्शन भी है। यहाँ के केले और लीची विख्यात हैं।

[ज० सिं०]

हाथ औजार (हस्तोपकरण, Hand Tools) की श्रेणी में वे सब औजार तथा सामान आते हैं जिनकी सहायता से कारीगर अपने नैपुण्य तथा हस्तकौशल द्वारा अपनी दस्तकारी से संबंध रखनेवाले पदार्थों को वांछित रूप, आकार आदि देते हैं। आधुनिक युग में मशीन औजारों (Machine Tools) का भी एक प्रमुख स्थान है, लेकिन तात्विक दृष्टि से देखने पर वे भी हाथ औजारों की सीमा में ही आ जाते हैं। जब किसी प्रक्रिया को हाथों से, शारीरिक बल की सहायता से औजार द्वारा किया जाता है तब वह औजार हाथ औजार कहलाता है और जब वही प्रक्रिया यांत्रिक प्रयुक्ति द्वारा इंजन बल से संचालित होती है, उसे मशीनी औजार कहते हैं।

यांत्रिक इंजीनियरी के अंतर्गत विभिन्न दस्तकारियों से संबंध रखनेवाले हाथ औजारों का, विविध क्रियाओं के अनुसार, निम्न प्रकार से श्रेणी विभाजन किया जा सकता है: (१) फाड़कर काटनेवाला, (२) चीरनेवाला, (३) खुरचनेवाला, (४) चोट लगाकर तोड़ फोड़ करनेवाला, (५) पकड़नेवाला, (६) दबाने और घोपनेवाला, (७) कसकर खींचनेवाला और (८) नापने तथा निशानबंदी करनेवाला औजार। इसके अतिरिक्त गणना करनेवाले उपकरण, जैसे स्लाइड रूल, गणनायंत्र, प्लेनोमीटर आदि, भी औजार ही हैं पर इनका वर्णन इस निबंध के क्षेत्र के बाहर है।

फाड़कर काटनेवाले औजार — ऐसे काटनेवाले औजार चाकू, रुखानी और छेनी हैं। कोमल वस्तुओं, जैसे फल फूल, साग सब्जियों के काटने में चाकू का, लकड़ी काटने में रुखानी का और धातुओं के काटने में छेनी

का व्यवहार होता है। ये औजार कठोर, चिमड़े और दृढ़ इस्पात के बने होते हैं। काटने में धार का कोण कैसा रहना चाहिए यह काटी जानेवाली वस्तु की कठोरता पर निर्भर करता है। चाकू से काटने पर लगभग ५° का कोण, फन्नी से काटने पर कम से कम १२° का कोण और छेनी से काटने पर ३०° से ६५° का कोण रहना चाहिए। ऐलुमिनियम काटने के लिये ३०°, ताँबे के लिये ४५°, इस्पात के लिये ५५°-६५° तथा कड़े इस्पात के लिये ६५° कोण रहना आवश्यक है। औजार की नोक को, काटे जानेवाले पदार्थ पर, कटाई की जगह उचित प्रकार से थामना भी महत्व का है (देखें चित्र १)।
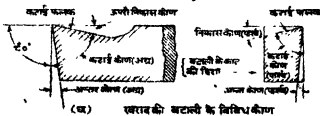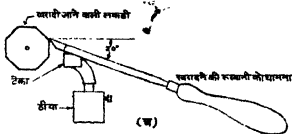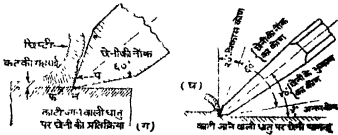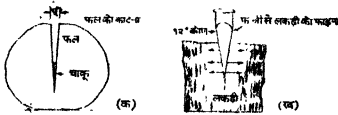
चित्र १

काटने की विभिन्न नोकें

'काटना' शब्द से हम साधारणतया यही समझते हैं कि किसी वस्तु को काटकर दो भाग या छोटे टुकड़े कर देना है पर किसी धातु को छेनी से काटने में हम वास्तव में उसके फाड़ने की क्रिया ही करते हैं। वस्तुतः छेनी से काटने पर तीन क्रियाएँ साथ साथ चलती हैं। एक धातु को फाड़ना, दूसरा छिलन (छिप्टी) को दबाकर दूर करना और तीसरा फाड़ी हुई खुरदरी जगह को साफ कर चिकना बनाना। काटने में छेनी की मध्य रेखा का झुकाव ४०°, छीलन को तोड़कर अलग करने का निकास कोण (Rake angle) २०° और सतह को चिकना करने का अंतर कोण (clearance angle) ४०° चित्र में दिखाया गया है। यही सिद्धांत खराद, रंदा, बरमा आदि औजारों से पदार्थों के काटनेवाले उपकरणों पर भी लागू होता है (देखें चित्र १)।

धातु के खरादने में बटाली (turning tools) का उपयोग होता है। बटाली की धार का कोण कितना रहना चाहिए यह काटी जानेवाली धातु की प्रकृति पर निर्भर करता है। बटाली की धार बहुत तेज रहने से कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि शीघ्र ही वह मोटी हो जाती है। विभिन्न धातुओं के काटने के लिये बटालियों का निकास कोण ०° से ४०° तक रह सकता है। बटालियों की नोंक पर अंतर कोण उतना ही बनाना चाहिए जितना बिना घर्षण की कटाई के लिये पर्याप्त आवश्यक हो। यह ६° से १७° तक हो सकता है। बटालियों की नोकें विविध आकृति की बनाई जाती हैं {देखें चित्र २ (क) से

चित्र २

बटालियों की विभिन्न आकृतियाँ

(ज) तक }। खराद मशीन में काटी जानेवाली वस्तु गोल घूमती है और काटनेवाली बटाली उसकी अपेक्षा स्थिर रहती हुई सीधी रेखा में सरकाई जाती है।

बरमा (Drills)— बरमे से छेद किया जाता है। बरमे की मशीन में काटे जानेवाला पदार्थ स्थिर रहता है और छेदनेवाला औजार अपनी धुरी पर घूमकर और साथ ही बीच की तरफ सरक-कर बेलनाकार छेद बनाता है। बरमे कई प्रकार के होते हैं और उनकी नोकें भी विभिन्न प्रकार की होती हैं (देखें चित्र ३ क से झ तक)। इनमें कटाई के सिद्धांत प्रायः वे ही हैं जो ऊपर दिए हुए हैं। प्रत्येक बरमे में काटनेवाली धारों का कम से कम दो होना आवश्यक है, जो १८०° के अंतर पर हों। साधारण बरमा आकृति 'क' का होता है, लोहा छेदने का बरमा चिपटी आकृति 'ख' का और इंजनचालित बरमों की आकृति 'ग', 'घ' और 'च' किस्म की होती है। गहरे छेद के लिये बरमे की आकृति 'छ', किस्म की और सीधा चौरस छेद करनेवाला बरमा 'झ' आकृति का होता है।

पतली चादरों में छेद करनेवाला सीधी गलीवाला बरमा 'छ' में दिखाया गया है।

चित्र ३

विविध आकृति के बरमें
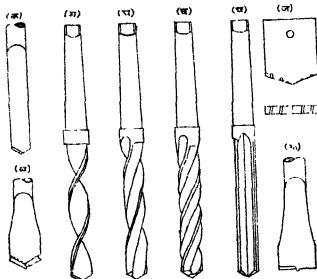
चूड़ी काटने के औजार — (Threading Tools) — बाहरी चूड़ी काटने की बटाली चित्र २ (छ) में और भीतरी चूड़ी काटने की बटाली चित्र २ (ज) में दिखलाई गई है। डाइ और टैप द्वारा भी चूड़ियाँ बनाई जाती हैं। चित्र ४ क, ख, ग मे हाथ संचालित टैप हैं। टैप हाथ से और मशीनों से भी चलाए जाते हैं। मशीनी टैपों के ऊपरी भाग में उन्हें पकड़ने के लिये बरमों के समान व्यवस्था रहती है। हाथ से चलाने के टैपों के विविध अंगों के आकार अनुभव के आधार पर विशेष अनुपातानुसार बनाए जाते हैं।

टैपों में गलियाँ बनाना — $\frac{१}{१६}$" से $\frac{१}{२}$" व्यास तक के टैपों में अक्सर ३ गलियाँ, $\frac{९}{१६}$" से $१\frac{१}{२}$" व्यास तक के टैपों में ४ गलियाँ और $१\frac{७}{८}$" से ३' व्यास तक के टैपों में ६ गलियाँ बनाई जाती हैं। अधिक संख्या में तथा गहरी गलियाँ बनाने से टैप कमजोर हो जाता है।

डाइयाँ — बाहरी चूड़ी काटने की डाइयों की आकृतियाँ चित्र ४ के 'ज' 'झ' 'ट' तथा 'ठ' अनुभागों में दिखाई गई हैं। 'ज' में दो आयताकार गुटकों में बीच में आधा आधा कर, चूड़ी काटने के दाँते बनाए गए हैं। मुलायम धातु के पेचों में बारीक चूड़ियाँ काटने के लिये आकृति 'झ' की डाई का प्रयोग किया जाता है। 'ट' में छह पहल के नट के आकार की डाई दिखाई गई है, जो पुरानी बनी चूड़ियों को साफ करने में काम आती है तथा 'ठ' डाई वैज्ञानिक उपकरणों मे बारीक पेंचों में चूड़ियाँ डालने के काम की है।

बसुला — यह बढ़ई का प्राचीन औजार है, जो लकड़ी को फाड़कर काटता है (देखें चित्र ५ क) इसकी आकृति से ही इसके अंतर कोण, नोंक कोण और निकास कोण का होना स्पष्ट हो जाता है।

रंदा — लकड़ी को थोड़ा छीलने के लिये रंदे का उपयोग होता है। धातुओं को छीलकर समचौरस करने के लिये रंदा मशीन काम

चित्र ४
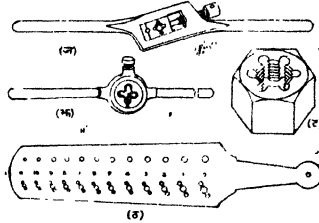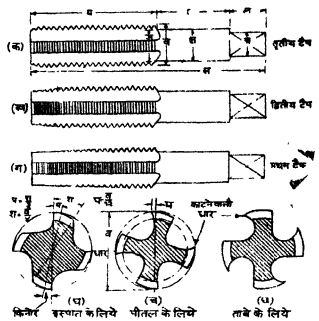
चूड़ी काटने के टैप और डाइयाँ

आती है। खराद मशीन में काटते समय बटाली दाहिने से बाएँ चलती है। अतः उसके पार्श्व निकास कोण को बाएँ से दाहिनी ओर झुकाना पड़ता है। लेकिन रंदे में बटाली की चाल बाएँ से दाहिनी तरफ होती है, अतः उसके पार्श्व निकास कोण को खराद से विपरीत दिशा मे बनाना होता है (देखें चित्र ५)।

छेनी — हाथ के बल से कटाई करने के प्रसाधनों में छेनियाँ प्रमुख हैं। सीधी छेनियों को चौरासी (Firmer chisel) और गोल, अधगोल और V आकार की छेनियों को रुखानी (Gouge) कहते

हैं। इनकी नोकें और बनावट भिन्न भिन्न प्रकार की होती है जैसा

चित्र ५

बढ़ई और फिटरों की छेनियाँ और रुखानियाँ
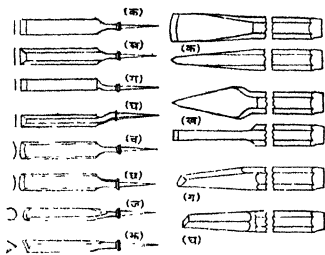
(चित्र ५) में दिखलाया गया है। बढ़ई और फिटरों की छेनियाँ भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं।

काटनेवाला औजार — काटनेवाले औजारों में कैंची और

चित्र ६–७

रेतियाँ और खुरचनी
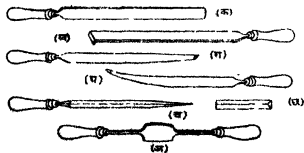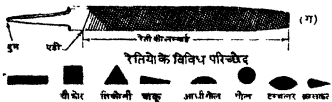
छेदक (Punch) महत्व के हैं, जो अपकर्तक बल (Shearing force) से काम करते हैं। छेदक के ही परिष्कृत रूप आधुनिक प्रकार की विविध डाइयाँ हैं (देखें चित्र ६)। खुरचकर काटनेवाला औजार रेती है जिसे चलाने के समय कारीगर इसे रेती जानेवाली सतह पर, अपने हाथों से नीचे को दबाते जाते हैं और साथ ही साथ आगे को ढकेलते भी जाते हैं। दबाने से इसके दाँते रेते जानेवाले पदार्थ में हलके से घुसते हैं और ढकेलने से उक्त घुसी हुई मात्रा की गहराई के पदार्थ को खुरचकर हटा भी देते हैं।

रेतियों का निर्माण विशेषज्ञों का काम है। रेतियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। ऐसी एक रेती को 'क्रासकट' रेती कहते हैं। रेतियों के परिच्छेद विविध प्रकार के होते हैं। जैसे चित्र ६–७ में दिखाए गए हैं। रेतियों के दाँतों की मोटाई के अनुसार भी वे कई वर्गों में बाँटी जा सकती हैं। लकड़ी, सीसा आदि मुलायम धातुओं को रेतने के लिये

चित्र ८

टैप

मोटे दाँतेवाली 'रैस्प' (Rasp) रेती, उससे बारीक रेती बस्टर्ड

(Bastord) रेती या दर्रा रेती तथा पालिश करने के लिये साफी (Smooth) रेती काम में आती है।

खुरचनी (Scraper) — धरातल को चौरस बनाने में कुछ त्रुटियाँ रह जाती हैं। इन त्रुटियों को खुरचनी से दूर किया जाता है। खुरचनी भिन्न भिन्न तलों के लिये भिन्न भिन्न आकार की होती हैं। ऐसी कुछ खुरचनियाँ चित्र ६–७ में दिखाई गई हैं।

रीमर (Reamer) — बरमा द्वारा छेद किया जाता है। बरमे में काटने के लिये नोक और धार होती है। बरमे द्वारा बनाए

चित्र ९

आरियाँ और मिलिंग कटर

छेद की कभी कभी सफाई करने की आवश्यकता पड़ती है। यह काम रीमर द्वारा किया जाता है। रीमर में नोंक और धार नहीं होती। उसमें केवल गलियाँ होती हैं जो धातु को खुरचकर साफ और चिकना बनाती हैं। इन्हें धीरे धीरे दबाते हुए छेद में किसी हैंडिल की सहायता से सीधा रखकर घुमाना पड़ता है।

गुल्ली (Draft) — चौकोर तथा आयताकार छेद बनाने के लिये यदि उपयुक्त यंत्र न हों तो पहले बरमे से गोल छेद कर लेते और रेती की सहायता से उन्हें वांछित आकार में छाँटकर उनमें उसी आकार की सही बनी हुई एक गुल्ली ठोंक देते हैं। किनारे से खुरची जाकर या छिलकर फालतू धातु हट जाती है और वह खाँचा या छेद उसी गुल्ली की नाप का सही बन जाता है।

ब्रोचिंग (Broaching) — किसी छेद को वांछित आकार या

चित्र १०

सानचक्रियाँ और पेचण गिल्लियाँ

नाप का बनाने के लिये गुल्लियों के स्थान में अब ब्रोचिंग का व्यवहार होता है। यह प्रक्रिया दाँतयुक्त एक छड़ को किसी छेद में दबाकर तथा उसमें से किसी यंत्र की सहायता से खींचकर की जाती है। इस छड़ के दाँत अवांछित धातु को थोड़ा थोड़ा खुरचकर हटा देते हैं। भिन्न भिन्न धातुओं को काटने के लिये ब्रोच के दाँत भिन्न भिन्न आकार के होते हैं (देखें चित्र ८)।

आरी (Saw) — आरी चीरनेवाली, सीधा काटनेवाली, गोल छेद आदि वक्र आकृतियाँ काटनेवाली, कई प्रकार की होती है। इनके अतिरिक्त गोल चक्राकार तथा पट्टनुमा आरियाँ भी होती हैं जो यंत्रों द्वारा चलाई जाती हैं। लकड़ी के अतिरिक्त लोहा, पीतल आदि धातुएँ भी आरियों से काटी जाती हैं, लेकिन गरम लोहा सदैव चक्राकार या पट्ट आरी से ही काटा जाता है। छोटे

चित्र ११-१२
धातु कटाई और चमकाने के औज़ार

तथा हलके काम के लिये एक फ्रेम में लगाकर हाथ से भी आरी चलाई जाती है, जिसकी आकृति चित्र २ में दिखाई गई है। लोहा काटने की हाथ आरियों में बहुधा १८ दाँत, ताँबे और पीतल की चादरें काटने के लिये २४ दाँत और बारीक चीजें चीरने के लिये १२ दाँत प्रति इंच बनाए जाते हैं।

मिलिंग कटर (Milling Cutter) — आधुनिक मिलिंग कटर ठोस चक्राकार आरी का ही परिष्कृत रूप है, जो स्वयं घूमकर धीरे धीरे थोड़ी थोड़ी धातु को खुरचकर काटता है। विविध आकृतिवाली वस्तुओं को चीरने का काम, जो अन्य आरियों से नहीं किया जा सकता, उसे मिलिंग कटर से करते हैं। मिलिंग कटर आज अनेक प्रकार के बनाए गए हैं जिनके दाँतों की रचना भिन्न भिन्न प्रकार की होती है (देखें चित्र ९)।

चूड़ीकाट (Chaser) खराद से चूड़ियाँ काटने पर उनमें सफाई नहीं आती। खराद के ठीये (Tool holder) में रुखानी के स्थान पर चूड़ीकाट बाँध दिया जाता है। चूड़ीकाट में कंघी के समान
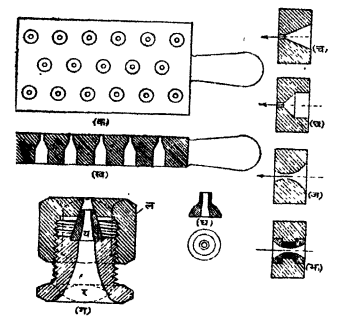
चित्र १३
तार खींचने की डाइयाँ

कुछ दाँत बने होते हैं। इन दाँतों को पूर्व बनी चूड़ियों में फेरकर, खुरचकर सफाई और चिकनापन लाया जाता है।

अपघर्षक औज़ार (Grinding Tools)

सानचक्की (Grinding Wheel) — सानचक्की से औज़ारों पर धार ही नहीं चढ़ाई जाती, बल्कि कलात्मक ढंग से तथा सूक्ष्म सीमाओं के भीतर, आधुनिक यंत्रों के पुर्जे एक मिलीमीटर के हजारवें भाग तक सही काटे, छीले और पालिश कर तैयार किए जाते हैं। उत्तम सानचक्कियाँ और पेषण सिल्लियाँ कार्बोरंडम (Carborundum) और ऐलंडम (alundum) के चूर्ण से बनती हैं। ये पदार्थ क्रमशः सिलिकन कार्बाइड और ऐलुमिनियम आक्साइड हैं। रेत की अपेक्षा ये लगभग दुगुने कठोर होते हैं। इनसे अधिक कठोर हीरा ही होता है। चूर्ण को बाँधने के लिये वानस्पतिक गोंद, बकेलाइट, ऐस्फाल्ट, सेलुलायड, चपड़ा, संश्लिष्ट रेज़िन, या काचमृत्तिका मिलाकर साँचे में दबा और पकाकर विभिन्न आकृतियों की सानचक्कियाँ (देखें चित्र १०) बनाई जाती हैं। विविध प्रयोगों के लिये सानचक्कियों के चुनाव में बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। अपघर्षक

कणों की कठोरता, बारीकी तथा उनके बंधक पदार्थ की बारीकी पर ध्यान देना पड़ता है।

दबाकर, खींचकर अथवा घोंपकर आकृति प्रदान करनेवाले औज़ार — धातुओं में कुछ न कुछ दृढ़ता, नम्यता और आघात-

चित्र १४

विविध हथौड़े और घन
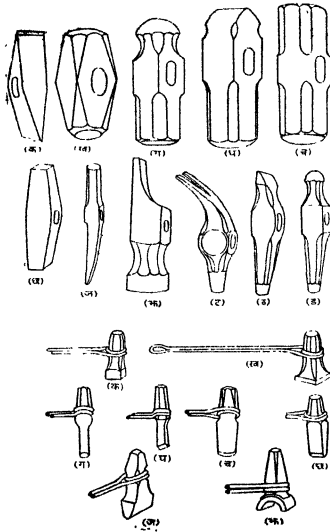
वर्धनीयता अवश्य होती है। इन्हीं गुणों के आधार पर अनेक वस्तुएँ बनाई जाती हैं। इन वस्तुओं के बनाने में जो औज़ार काम आते हैं, उनमें पंच और डाई प्रमुख हैं।

पंच और डाई कई प्रकार के होते हैं। कुछ डाई में से खींचने (drawing), का काम लिया जाता है। कुछ डाई किनारा मोड़नेवाली, कुछ कुतल (curbing) डाई, कुछ तार डालनेवाले डाई (wiring) तथा कुछ डाई फुलानेवाले (bulging) होते हैं। डाई वहीं ही काम आते हैं जहाँ एक ही आकृति का सामान बहुत अधिक संख्या में बनाया जाता है। यदि एक आकृति की दो चार वस्तुएँ बनानी हों, तो डाई की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह काम 'धातु कताई' (metal spinning) से संपन्न होता है।

धातुकताई — इस प्रक्रिया में चौरस चादर को उपयुक्त प्रसाधनों से युक्त खराद पर चढ़ाकर, हाथ से दबाव डालने के लंबे लंबे औज़ारों द्वारा दबा और झुकाकर गोल फुला दिया जाता है। यह प्रक्रिया कुम्हार के चाक के प्रयोग से मिलती जुलती है। ऐसे औज़ार अनेक आकार और प्रकार के होते हैं, जैसा चित्र ११ में दिखलाया गया है।

चमकाना (Barnishing) — धातुओं पर चमक चढ़ाने के अनेक उपाय हैं, सामान्यत: सान या खराद से भी चमक चढ़ाई जा सकती है, पर टेढ़ी मेढ़ी और बेलबूटेवाले पदार्थों पर चमक चढ़ाने के लिये विशेष औज़ारों की जरूरत पड़ती है। ऐसे अनेक प्रकार के औज़ार बने हैं जो चित्र १२ में दिए हुए हैं।
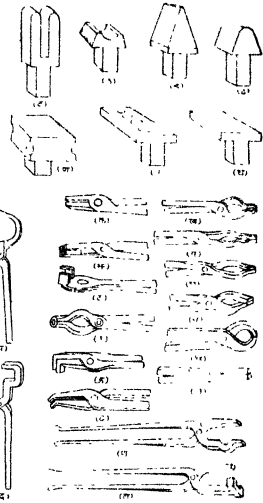
चित्र १५-१६

निहाई, सड़सा और चिमटे

तंतुकर्षण (wire drawing) के औजार — तार बनने का गुण धातुओं की तन्यता पर निर्भर करता है। सब धातुओं के तार खींचे जा सकते हैं। एक ग्रेन सोने से ५०० फुट के लगभग लंबा तार खींचा जा सकता है। प्लैटिनम के ०·००००३ इंच तक व्यास के तार खींचे जा सके हैं। तार डाइयों में खींचे जाते हैं। इन्हें डाई प्लेट कहते हैं। डाई प्लेट में गावदुम आकार के छेद बने होते हैं। प्रत्येक छेद अपने पिछले छेद का ०·६ व्यास का होता है। एक छेद से दूसरे छेद में आने पर तार की ऊपरी सतह की धातु की अतिरिक्त मात्रा रुकावट के कारण पीछे रह जाती है। छेद में कहीं भी तेज कोना या धार न होनी चाहिए। कुछ समय के प्रयोग के बाद डाइयों के छेद ढीले हो जाते हैं जिसे ठोंस कर सुधार लिया जाता है। ०·०६४" से कम व्यास के तार खींचने के लिये हीरे की डाइयाँ प्रयुक्त होती हैं। ०·०००४५" व्यास तक के तार बनाने के लिये डाइयाँ बनी हैं। हीरे की डाइयों में छेदों की यथार्थता की सीमा ०·०००१" समझी जाती है। हीरे की डाई बनाने के लिये कठोर पीतल की टिकिया में हीरे के बैठने लायक छेद बनाकर, उसके दोनों तरफ गुरजक बना दिए जाते हैं (देखें चित्र १३)। फिर बीच में हीरे को बैठाकर गुरजकों में टाँका गलाकर भर दिया जाता है जिससे हीरा मजबूती से यथास्थान जम जाय, बाद में हीरे के छेद को सही कर दिया जाता है।

हथौड़ा और घन — हथौड़े से वस्तुओं पर चोट पहुँचाई जाती है। लगनेवाली चोट की ताकत केवल हथौड़े के भार पर ही नहीं बल्कि प्रधानतया उसके वेग पर निर्भर करती है। सभी हथौड़े गढ़ के इस्पात के बनाए जाते हैं। ये ½ पाउंड से ३ पाउंड तक के होते हैं (देखें चित्र १४)। हथौड़े का प्रधान सिरा, जो चोट करता है, चपटे मुँह का तथा बेलनाकार होता है और दूसरे सिरे पर चोंच (pein) बनी होती है। लोहार के हथौड़े भी प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। लोहार के सहायक १० से १२ पाउंड भार के भारी तथा कभी कभी १६ से २० पाउंड भार तक के हथौड़े काम में लाते हैं, जिन्हें घन या स्लेज (sledge) कहते हैं (देखें चित्र १४)। इनके दाने ३½ फुट तक लंबे होते हैं। भिन्न भिन्न कामों के लिये, जैसे बायलर की पपड़ी तोड़ने, पत्थर तोड़ने, कोयला तोड़ने, रिवट करने, कीलें ठोंकने बायलर की मरम्मत करने आदि के हथौड़े भिन्न भिन्न आकार और प्रकार के होते हैं, जैसा चित्र में दिखलाया गया है।

सँड़सा — गरम वस्तुओं को भली भाँति पकड़ने के लिये सँड़सा या सँड़सियाँ काम में आती हैं। ये भिन्न भिन्न आकार और प्रकार की होती हैं (देखें चित्र १५-१६)

साँचा बनाने के उपकरण — साँचा बनाने के लिये निम्नलिखित चार प्रकार के औजारों की आवश्यकता होती है :

१. मिट्टी भरने तथा कूटकर जमाने के फावड़े, बेलचे तथा छोटे बड़े दुरमुस।

२. हवा निकालने के लिये छेद बनाने की लोहे की सलाखें, जिनके एक सिरे पर हैंडिल लगा हो।

३. छोटी बड़ी नाना प्रकार की करनियाँ (trowels) मढ़ी हुई मिट्टी को साफ करने तथा उसकी जगह नई नई थोपकर दीवारों को चिकनानेवाले (Smoothers) और जमानेवाले (sluters) औजार तथा फालतू मिट्टी छीलनेवाले औजार।

४. प्लंबेगो और काजल आदि पोतनेवाले मुलायम ब्रुश तथा धूल झाड़नेवाले औजार (देखें चित्र १७)।

बाँक (Vice) — वस्तुओं को दृढ़ता से पकड़कर रखने के लिये, ताकि उनपर वांछित प्रक्रियाएँ की जा सकें, बाँकों का उपयोग होता

चित्र १७
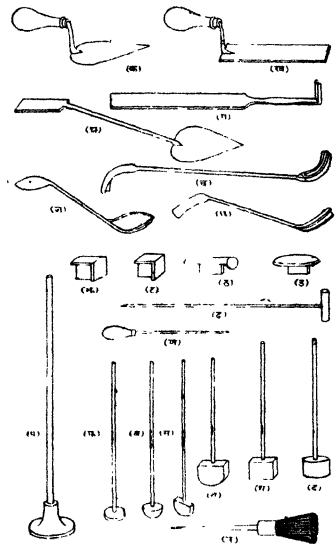
साँचा बनाने के औजार

है। बाँक कई प्रकार के होते हैं। सही यन्त्रायोजी (fitting) कार्यों के लिये समांतर जबड़ोंवाले बाँकों का प्रयोग होता है जो सुविधा के अनुसार कई रूपों में बनाए जाते हैं। तारों को पकड़ने, ऐंठने तथा काटने के लिये प्लास या प्लायर बड़े उपयोगी हैं। कीलें भी इनसे निकाली जाती हैं।

रिंच और पाना (Wrench and Spanner) — बोल्ट आदि पर नट और चूड़ीदार छेदों में पेंच कसने के लिये रिंच और पाना का व्यवहार होता है। इनमें कुछ तो ऐसे होते हैं कि उनके मुंह उनकी डंडी की सीध में रहते हैं और दूसरों के मुंह डंडी की मध्य रेखा से १५° अथवा २२½° कोण पर तिरछे होते हैं।

शिकंजा (Clamp)— पदार्थों को पकड़कर स्थिर रखने के लिये शिकंजों का प्रयोग होता है। शिकंजे भी कई प्रकार के होते हैं और भिन्न भिन्न कार्यों में प्रयुक्त होते हैं।

नापने और निशान बनाने के औजार

कैलिपर (Calippers) और परकार (Tramuls) — वस्तुओं को नापने के लिये पैमाने (Scale) का प्रयोग होता है पर बेलनाकार पदार्थों तथा छेदों के व्यास नापने में इनका प्रयोग नहीं हो सकता। इसके लिये कैलिपर और परकार (Tramuls) प्रयुक्त होते हैं। कैलिपर कई आकार और प्रकार के बने हैं (देखें चित्र १८)।
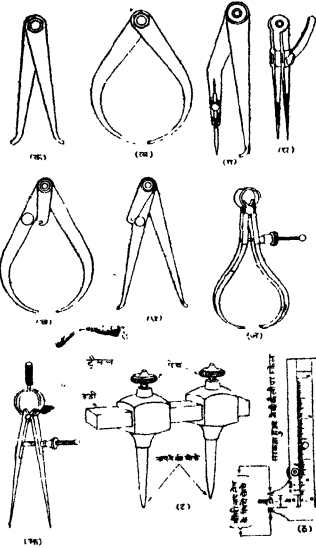
चित्र १८
कैलिपर, ट्रैमल और परकारें

साधारण कैलिपर ३ से १० इंच तक लंबे होते हैं पर २४ इंच तक के कैलिपर भी बने हैं। एक या डेढ़ फुट से अधिक बड़ी मापों के लिये परकार का प्रयोग होता है।

कोण, क्षैतिजता और ऊर्ध्वाधरता नापने के औजार — कोण नापने के लिये सामान्यतः गोनिया का प्रयोग होता है। सरलतम गोनिये में दो भुजाएं ठीक ९०° पर जुड़ी होती हैं। कुछ गोनियों में बड़ी भुजा में एक पाणसम भी लगा रहता है, जिससे आड़ा कटकर नापने से क्षैतिजता का ज्ञान होता है। गोनिया भिन्न
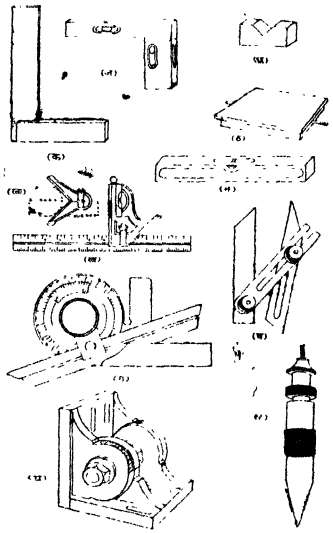
चित्र १९
गोनिया

भिन्न प्रकार के सरल से सरल और सूक्ष्म से सूक्ष्म होते हैं। कुछ गोनियों में मापनी लगी रहती है। एक प्रकार के गोनिये की दोनों भुजाओं में पाणसम लगे रहते हैं, जिनकी सहायता से समकोणता, क्षैतिजता और ऊर्ध्वाधरता तीनों ही मापी [जा सकती हैं। गोनिये से कोण नापने में एक सहायक उपकरण,

फेसप्लेट, की सहायता ली जाती है। फेसप्लेट ढले लोहे का होता है, जिसका ऊपरी तल रंदा कर तथा बारीकी से सही रूप कर सम चौरस बना दिया जाता है। फिटरों (fitters) के लिये यह बड़ा उपयोगी उपकरण है। यह निशानबंदी करने, सही नाप लेने तथा पुर्जों और बदवों के विशिष्ट बरातलों को सही फेस कर सम चौरस करने के काम आता है।

सरफेस गेज — सरफेस गेज फेसप्लेट पर रखकर पुर्जों के विभिन्न तलों की ऊँचाई नापने तथा फेसप्लेट से ही समांतर ऊँचाई प्रदर्शित करनेवाली रेखाएँ पुर्जों पर अंकित करने के काम आता है। फेसप्लेट के समांतर तलों की सिधाई की परीक्षा भी इसके द्वारा की जाती है। इसके द्वारा एक इंच के $\frac{1}{1000}$ वें भाग की त्रुटि भी मालूम हो जाती है। इससे खराद आदि यंत्रों पर बनाए जानेवाले पुर्जों की एककेंद्रीयता तथा खराद की सुगमता का पता लगाया जा सकता है।

निशानबंदी करनेवाले औजार — इनमें पेंसिल, एकटांग कैलिपर खतकस, परकार, गोनिया, बोवल गेज, सरफेस गेज और सेंटर पच मुख्य हैं। मानक नापों के अनेक गेज बने हैं और वे पंचों की सूड़ियों और झिरियों की चौड़ाई नापने के काम में आते हैं। तारों और चादरों की मोटाई नापने के गोलाकार गेज बने हैं, जिनमें मानक मोटाइयों के खाँचे बने रहते हैं।

सूक्ष्ममापी उपकरण — उपर्युक्त उपकरणों द्वारा यथार्थ नाप लेने में प्रयोगकर्ता को अपने सूक्ष्म स्पर्शानुभव तथा दृष्टि से काम लेना होता है, जिसकी योग्यता सभी में एक सी नहीं हो सकती। इस व्यक्तिगत त्रुटि को हटाने के लिये सूक्ष्ममापी उपकरण बने हैं। ऐसे उपकरणों में हैं १. वर्नियर कैलिपर, २. मीटरी नाप के वर्नियर, ३. माइक्रोमीटर कैलिपर, ४. मीटरी नाप के माइक्रोमीटर, ५ अन्य प्रकार के माइक्रोमीटर, ६. मानक गेज, ७. सीमाप्रदर्शक गेज, ८. प्रामाणिक स्लिप गेज, ९. चूड़ी नापने के सीमा गेज, १०. बढन गेज, ११. ज्यादंड तथा १२. बेलन गेज।

वर्नियर कैलिपर — ३ इंच लंबे स्केल के जेबी वर्नियर कैलिपर में $1\frac{1}{2}$ इंच विस्तार तक की चीजें इंच के एक हजारवें भाग तक यथार्थता से नापी जा सकती हैं।

मीटरी नाप का वर्नियर — इस वर्नियर में आधे मिलीमीटरों के निशान होते हैं। इस नाप से $\frac{1}{50}$ मिमी तक की सूक्ष्मता के नाप लिए जा सकते हैं। कुछ मीटरों में प्रधान स्केल के ४९ मिमी के फासले को सरकनेवाले वर्नियर स्केल पर ५० समान भागों में बाँट देते हैं, जिसके कारण वर्नियर पर एक छोटा भाग प्रधान स्केल के एक छोटे भाग से $1\frac{49}{50}=\frac{1}{50}$ मिमी छोटा होता है। इस प्रणाली के कारण प्रधान स्केल पर मिलीमीटरों को आधे भाग में बाँटने की जरूरत नहीं पड़ती।

माइक्रोमीटर कैलिपर — माइक्रोमीटर में $\frac{1}{10000}$ वाँ इंच यथार्थता से नापा जा सकता है। इसमें नापने की सीमा एक इंच के भीतर ही रखी जाती है। अतः आवश्यकतानुसार इसके फ्रेमों को छोटे बड़े कई नापों में बनाया जाता है।

मीटरी नाप के माइक्रोमीटर — इनमें $\frac{1}{1000}$ वें मिमी की यथार्थता तक नाप की जा सकती है।

इनके अतिरिक्त छेदों के भीतरी व्यास और गहराई नापने के भी माइक्रोमीटर बने हैं।

जिन नापों को बारबार नापना पड़ता है, उनके लिये मानक गेज बने हैं। ऐसे मानक गेजों में बेलनाकार वस्तुओं के व्यास नापने के
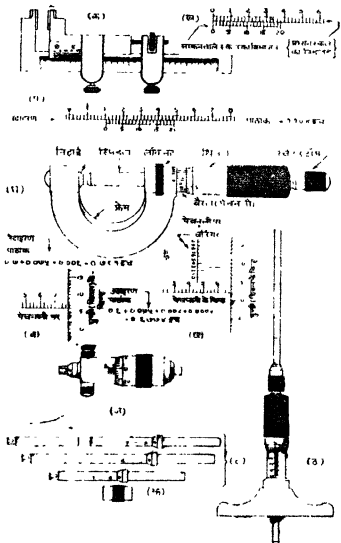
चित्र २०
वर्नियर और माइक्रोमीटर कैलिपर

लिये प्लग और रिंग गेज बने हैं। इनमें प्लग (डाट) भीतरी व्यास और रिंग (वलय) बाहरी व्यास नापता है। एक दूसरे प्रकार के मानक गेज को सीमाप्रदर्शक गेज (Limit gauge)

कहते हैं। यह दोमुँहा गेज होता है। इसका एक मुँह ढीला (go) और दूसरा सख्त (not go) होता है। यदि ऊपर के मुँह में गोला घुस जाता और नीचे के मुँह में नहीं घुस पाता तो वह त्रुटिसहनीयता (Limit of Tolerance) के अनुसार समझा जाता है। अन्यथा यदि वह नीचे के मुँह में भी घुस जाता है तो वह रद्दी समझा जाता है। ऐसे गेज कई प्रकार के बने हैं।

गेज की यथार्थता अथवा प्रामाणिकता नापने के लिये स्लिपगेज बने हैं। आजकल जोहनसन के आविष्कृत स्लिप गेजों का ही प्रयोग होता है, इस स्लिप गेज में बहुत से गुटकों (blocks) को परस्पर मिलाकर एक विशिष्ट नाप बनाकर, गेज के मुँह में डालकर परीक्षा की जाती है। ब्लॉक इस्पात के १३" लंबे और ३/८" चौड़े तथा विभिन्न मोटाइयों के सही सही गुटके बनाकर, एक कुलक (Set) का निर्माण किया जाता है। कारखानों में उपयोग के लिये ८१, ४९, ४१, ३५, २८ गुटकों के सेट बनाए जाते हैं।

चूड़ी नापने के सीमा गेज (Screw thread Limit Gauge) — चूड़ियों के बेलनाकार भाग के ढीले तथा सख्त होने की सीमा नापने का गेज होता है जिसके ऊपर और नीचे के जबड़ों में लगी पिनों को पेंच द्वारा इच्छित सीमा की नाप में समायोजित कर छेद के मुँह पर सीसे की सील लगायी जाती है जिससे उसके समायोजित की हुई नाप में कोई परिवर्तन या छेड़छाड़ न कर सके। [ओं० ना० श०]

हाथरस (भारत) स्थिति: २७° ३६' उ० अ० तथा ७८° ४' पू० दे०। यह नगर उत्तर प्रदेश राज्य के अलीगढ़ जिले में आगरा नगर से ४६ किमी उत्तर में स्थित है। यह प्रमुख व्यापारिक केंद्र है। १८ वीं शताब्दी में नगर जाट सरदार के अधिकार में था जिसके किले के भग्नावशेष अभी भी नगर के पूर्वी किनारे पर हैं। नगर की जनसंख्या ६४,०४५ (१९६१) है। यहाँ लोहे के सामान कैंची, चाकू, घी आदि का व्यापार होता है। [अ० ना० मे०]

हाथी स्तनी वर्ग का एक बृहत्काय चतुष्पद प्राणी है। इसका शरीर ऊँचा, कान बड़े बड़े, आँखें छोटी और नाक और उर्ध्व ओष्ठ मिलकर लंबी सूँड़ में परिवर्तित हो जाते हैं। इसकी औसत ऊँचाई ३ से ४ मीटर और भार ६ टन या इससे अधिक हो सकता है। हाथी हथिनी से प्राय: ३० सेमी अधिक ऊँचा होता है। अफ्रीका में एक बौना हाथी भी पाया जाता है जिसकी औसत ऊँचाई प्राय: १½ मीटर की होती है।

हाथी की सूँड़ लगभग २ मीटर लंबी और प्राय: १३६ किलोग्राम भार की, चमड़ी और अंतर्ग्रथित स्नायु और पेशियों की बनी होती है। यह अस्थिहीन, लचीली और असाधारण मजबूत होती है। इससे वह सूँघता, पानी पीता, भोजन प्राप्त करता और उसे मुँह में डालता तथा अपने जोड़े और बच्चे को सहलाकर प्रेम प्रदर्शन आदि काम करता है। हाथी अपनी सूँड़ से भारी से भारी और छोटे से छोटे यहाँ तक की मूँगफली सदृश वस्तुओं को भी उठा सकता है। हाथी की नासिका छोटी और खोपड़ी बहुत बड़ी होती है।

किस्म — हाथी दो प्रकार का होता है, एक को अफ्रीकी हाथी और दूसरे को भारतीय हाथी कहते हैं। अफ्रीकी हाथी का वंश लॉक्साडांटा (Loxadanta) और जाति अफ्रीकाना है। भारतीय हाथी का वंश एलिफास (Eliphas) और जाति मैक्सिमस (Maximus) है। अफ्रीकी हाथी भारतीय हाथी से बड़ा होता है। अफ्रीकी हाथी के नर और मादा दोनों में गजदंत विकसित होते हैं। जबकि भारतीय हाथी के केवल नर में गजदंत विकसित रहता है। अफ्रीकी हाथी का ललाट अधिक गोल और कान बड़ा होता है। सूँड़ के निचले छोर पर दो लट्टू होते हैं, जबकि भारतीय हाथी में केवल एक लट्टू (Knob) होता है। भारतीय हाथी के अग्रपाद में केवल पाँच और पश्चपाद में चार नाखून होते हैं। जबकि अफ्रीका हाथी के अग्रपाद में केवल चार और पश्चपाद में केवल तीन नाखून होते हैं। अफ्रीकी हाथी की त्वचा अधिक रूक्ष होती है। किसी किसी भारतीय नर हाथी के गजदंत नहीं होता। ऐसे हाथी को 'मखना' हाथी कहते हैं। मखना का शरीर असाधारण बड़ा होता है।

हाथी का वितरण और प्रजनन — एक समय हाथी एशिया, यूरोप और उत्तरी अमरीका के अनेक देशों में पाया जाता था। यहाँ इसके फॉसिल मिले हैं। पर अब यह केवल एशिया और अफ्रीका के कुछ स्थानों में ही पाया जाता है। एशिया के भारत (मैसूर, असम) बर्मा, मलाया, सुमात्रा, बोर्नियो, इंडोनेशिया, थाईलैंड आदि देशों मे तथा अफ्रीका के इथियोपिया, केनिया और युगांडा में यह पाया जाता है। प्रागैतिहासिक हाथी अधिक ऊंचा नहीं होता था और उन्हें सूंड भी न थी। हाथी के पूर्वज हाथी से बहुत मिलते जुलते मैमथ और मैस्टोडान के फॉसिल साइबेरिया और दक्षिण अमरीका तथा कुछ अन्य देशो मे पाए गए हैं। हाथी का मैथुन काल ग्रीष्म अथवा वर्षा का प्रारंभ है। हथिनी २० से २२ मास तक गर्भ धारण करने के बाद सामान्यतः एक ही बच्चा जनती है। बीस वर्ष में बच्चा युवा होता है। ४० वर्ष के बाद उसमें बृद्ध होने के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। हाथी की औसत आयु ६० वर्ष की होती है, यद्यपि कुछ हाथी ७० वर्ष तक जीते पाए गए हैं। जन्म के समय बच्चा १ मीटर ऊँचा और ९० किलोग्राम भार का होता है। तीन चार वर्षों तक हथिनी बच्चे को दूध पिलाती है और सिंह, बाघ, चीते आदि से बड़ी सतर्कता से उसकी रक्षा करती है।

पैर और त्वचा — हाथी के पैर स्तंभ की भाँति सीधे होते हैं। खड़ा रहने के लिये इसे बहुत कम पेशी शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। जब तक बीमार न पड़े या घायल न हो, तब तक अफ्रीकी हाथी कदाचित् ही लेटता है। भारतीय हाथी प्राय: लेटते हुए पाए जाते हैं। हाथी की अँगुलियाँ त्वचा की गद्दी में धँसी रहती हैं। गद्दी के बीच मे चर्बी की एक गद्दी होती है, जो शरीर के भार पड़ने पर फैल जाती और पैर ऊपर उठाने पर सिकुड़ जाती है। हाथी की त्वचा एक इंच मोटी पर पर्याप्त संवेदनशील होती है। त्वचा पर एक एक इंच की दूरी पर बाल होते हैं। इसकी खाल खोल के सदृश और झुर्रीदार होती है। खाल का भार एक टन तक का हो सकता है।

रंग — हाथी स्लेटी भूरे रंग का होता है। कुछ हाथी सफेद होते हैं। इन्हें 'एल्बिनो' कहते हैं। बर्मा आदि देशों में ऐसे हाथी पवित्र माने जाते हैं और इनसे कोई काम नहीं लिया जाता।

दाँत — हाथी के दाँत दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के दाँत बड़े बड़े बाहर निकले हुए होते हैं जिन्हें गजदंत (Tusks) कहते हैं। दूसरे दाँत मुख के अंदर रहते हैं, जो चबाने के काम आते हैं। गजदंत ऊपरी छेदक दंत (incisor) ही हैं। गजदंत १५ किग्रा भार तक या इससे अधिक का हो सकता है। १०० किलोग्राम भार के गजदंत का औसत व्यास २०·३ सेमी और लंबाई ३·५ मीटर तक की हो सकती है। नर हाथी के गजदंत बड़े होते हैं। भारतीय हथिनी के गजदंत नहीं होते। हाथी के चर्वण-दंत कुल २४ होते हैं। पर एक समय में केवल चार ही रहते हैं। पुराने दाँत घिसते घिसते लोप हो जाते हैं, तब अन्य दाँत निकलते हैं। अंतिम दाँत ४० वर्ष की अवस्था में निकलता है। समस्त जीवनकाल में कुल २४ दाँत निकलते हैं।
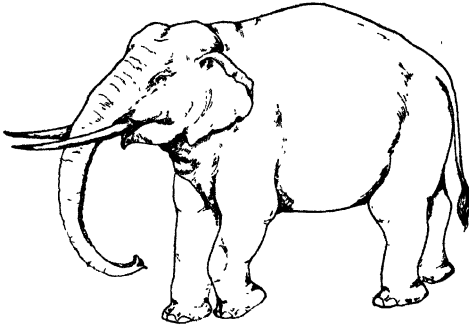
भारतीय हाथी

आहार — हाथी पूर्णतया शाका-हारी होता है। घास, डालपात ईख, पीपल और बरगद के पत्ते और छाल, केले के थंबे, बाँस के पत्ते और अनाज के पौधे हाथी के प्रिय चारे हैं। ये डालियाँ और जड़ भी खाते हैं। एक दिन में २५०–३०० किलो-ग्राम तक चारा खा जाता है। यदि हाथी को पूरा खाना मिले तो यह ५० टन तक का बोझ ढो सकता है।
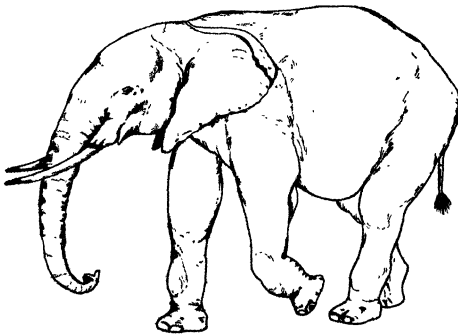
वासस्थान — पहाड़ों और लंबे वृक्षों के जंगलों में, विशेषत: जहाँ बाँस बहुतायत से हों, रहना हाथी पसंद करता है। बर्मा में १०,००० फुट की ऊँचाई तक के स्थानों में विचरण करता हुआ हाथी देखा गया है। हाथी बड़ा तेज चल सकता है, पर छलाँग नहीं मारता।

अफ्रीकी हाथी

प्रकृति — हाथी स्नान करने में ब ा नियमित होता है। अपने बच्चों को नियमित रूप से स्नान कराता है। यह अच्छा तैराक होता है। सारे शरीर को पानी में डुबोकर, केवल साँस के लिये सूँड़ को बाहर निकाले रख सकता है। यह किसी निश्चित स्थान पर पानी पीता, और एक स्थान पर जाकर विश्राम करता है। धूप से बचने के लिये घने जंगलों की छाया में सोता है। हाथी खड़ा खड़ा ही विश्राम करता है, अथवा करवट लेटता है। विश्राम के समय बिलकुल शांत रहता है, केवल कान की फड़फड़ाहट या शरीर के डोलने से उसकी उपस्थिति जानी जाती है।

जंगली हाथी दल बनाकर रहता है। दल में साधारणतया ३०–४० बच्चे, बूढ़े, जवान, नर और मादा रहते हैं। किसी किसी दल में १००–४०० तक रह सकते हैं। प्रस्थान करने पर ये एक कतार में श्रेणीबद्ध चलते हैं। बच्चे आगे आगे और शेष पीछे चलते हैं। आक्रमण के समय यह क्रम बदल जाता है और छोटी छोटी टुकड़ियाँ बनाकर वे विभिन्न दिशाओं में खिसक जाते हैं। आक्रमण की सूचना सूँड़ की गति से देते हैं। कुछ हाथी दल के नियमों का पालन नहीं करते। वे तब शैतान या आवारा (rogue) कहे जाते हैं और उन्हें दल से निकाल दिया जाता है।

ऐसा कहा जाता है कि हाथी कुशाग्रबुद्धि होता है। कुशाग्रता में प्राणियों में पहला स्थान मनुष्य का, दूसरा चिंपैंजी का, तीसरा ओरांग ऊटांग का और चौथा हाथी का आता है। ऐसा कहा जाता है कि हाथी की दृष्टि कमजोर होती है और वह ७५ मीटर से अधिक दूरी पर खड़े किसी मनुष्य को पहचान नहीं सकता। इसकी श्रवणशक्ति अच्छी तथा घ्राणशक्ति और भी अच्छी होती है।

एशिया में हाथी पकड़ने के निम्नलिखित चार तरीके हैं :

१. गड्ढे मे गिराकर — इस रीति से पकड़ने के लिये हाथी के आने जाने के मार्ग मे गड्ढे खोदते हैं और पेड़ पौधों की टहनियो से उन्हे ढंक देते हैं। टहनियों के ऊपर से जाता हुआ हाथी गड्ढे में गिर जाता है और निकल नहीं पाता है।

२. शंकु अँगूठी द्वारा — शंकु अँगूठी लकड़ी का वृत्ताकार फंदा होता है, जिसके जबड़े में लोहे के काँटे लगे रहते हैं। फंदा जमीन में गड़ा और पत्तियों से ढँका होता है। उसपर हाथी का पैर पड़ने से काँटे पैर में गहरे धँस जाते हैं और रुधिर बहने लगता है। यह फंदा लंबी रस्सी से लकड़ी के कुंदे से बँधा होता है, जिससे हाथी जंगल में तेजी से भाग नहीं सकता।

अब कानून द्वारा उपर्युक्त दोनों निर्दय रीतियों का निषेध हो गया है।

३. सरकफंदा लगाकर — इस रीति से हाथी के बच्चे पकड़े जाते हैं। एक मजबूत रस्सी में सरकफदा लगाकर, पैदल या पालतू हाथी पर सवार होकर पकड़नेवाला हाथी के दल का पीछा करता है और अवसर पाकर किसी बच्चे के ऊपर फंदा फेंककर उसका पैर या शरीर का अन्य भाग फंदे से जकड़ देता है। तब दल के अन्य हाथियों को छोरकर भगा दिया जाता है और बच्चे को पालतू हाथियों की सहायता से पकड़ ले जाते हैं।

४. खेदा द्वारा — हाथियों के जंगल में लकड़ी के बड़े और मोटे लट्ठे पास पास गाड़कर एक विस्तृत भूमि घेर दी जाती है, जिसमें प्रवेश के लिये इसी प्रकार निर्मित एक लंबा रास्ता तथा उसके अंत पर एक फाटक होता है। इसे खेदा कहते हैं। चारों तरफ से घेर तथा हँकवा कर, जंगली हाथियों के दल को इस रास्ते में प्रवेश करने तथा आगे बढ़ते जाने के लिये बाध्य कर देते हैं। जब यथेष्ट हाथी खेदा में आ जाते हैं, तो फाटक बंद कर दिया जाता है और पहले से उपस्थित पालतू हाथियों की सहायता से साहसी महावत, एक एक कर, पकड़े हुए हाथियों के पैरों को मजबूत रस्से से पेड़ों से बाँध देते हैं। कुछ दिन बँधे रहने पर पकड़े हाथियों की शक्ति और साहस कम हो जाता है, तब पालतू हाथियों की सहायता से इनको वश में ले आते हैं।

उपयोगिता — हजारों वर्षों से मनुष्य ने हाथी को पालतू बना लिया है और उससे अनेक उपयोगी काम ले रहे हैं। युद्धकाल में सैनिकों, रसद और अस्त्रशस्त्र आदि ढोने में यह काम आता है। आधुनिक काल में मोटरवाहनों के कारण ऐसी उपयोगिता बहुत कम हो गई है। सैनिक हाथी पर चढ़कर युद्ध करते थे, यद्यपि सेना में हाथी दल का रहना निरापद नहीं था। शांतिकाल में हाथी पर चढ़कर शेरों का शिकार किया जाता है। दलदल और कीचड़ में इसकी सवारी अच्छी होती है। मनोरंजन के लिये भी हाथी पर चढ़ा जाता है। लकड़ी के बड़े बड़े कुदों को जंगलों से बाहर ले आने में इसका आज भी उपयोग होता है। पशु उद्यानों और सर्कसों में खेल तमाशे के लिये इसे रखा जाता है। हाथी का गजदंत बड़ा उपयोगी पदार्थ है। गजदंत का उपयोग बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है। एक समय इसके सिंहासन भी बनते थे। हाथी के दाँत के घर बनाने का भी उल्लेख मिलता है। इसका बिलियर्ड गेंद आज भी उपयोग में आता है। सजावट के अनेक सामान, चूड़ियाँ, कंघी, ब्रूश, सुइयाँ, आलपीन, बुरुश, चाकू की मूठ, मूर्तियाँ और अनेक प्रकार के खिलौने हाथीदाँत के बनते हैं।

कृषि को हाथी बहुत क्षति पहुँचाता है। फसलों को खाकर ही नहीं वरन् रौंदकर नष्ट कर देता है। [भृ० प्र०]

हाद्रिअन (७६-१३८) रोमन सम्राट् हाद्रिअन का जन्म २४ जनवरी, सन् ७६ को हुआ। वह मूलतः स्पेनी था और त्राजन से उसका दूर का संबंध था। सन् ८५ में पिता की मृत्यु के पश्चात् वह रोम के भावी सम्राट् त्राजन के संरक्षण में रहने लगा। बाद के पाँच वर्षों तक वह रोम में रहा। १५ वर्ष की उम्र में अपने जन्मस्थान को वापस लौट आया और सैनिक के रूप में उसके जीवन का आरंभ हुआ। सन् ९३ में त्राजन ने उसे रोम बुला लिया। सन् ९५ मे एक ट्रिब्यून के रूप में बुडापेस्ट में उसकी नियुक्ति हुई, जहाँ से चार साल बाद वह रोम वापस चला आया। सन् १०० में महारानी पोलटिना ने उसका विवाह त्राजन की भतीजी विबिया साबिना से करा दिया। सन् १०१ में वह अर्थसचिव, १०५ में लोकाधिकारी और १०६ में प्रीतर बनाया गया। अपनी सख्त बीमारी के कारण जब त्राजन पूर्व से लौट आया तब उसने हाद्रिअन को सीरिया का गवर्नर और वहाँ का सेनापति नियुक्त किया। सन् ११७ में त्राजन ने उसे गोद लेकर अपना उत्तराधिकारी बनाया, तत्पश्चात् सेना और संसद् ने भी उसके उत्तराधिकार को मान्यता प्रदान कर दी। वह उस समय रोम साम्राज्य की गद्दी पर बैठा जब वह चारों ओर गंभीर संकटों से घिरा हुआ था।

शासनारूढ़ होने के बाद हाद्रिअन महान् प्रशासक सिद्ध हुआ। उसने सिनेट से मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखनेवाली त्राजन की नीति को बरकरार रखा लेकिन उसी के साथ नौकरशाही को भी बढ़ावा दिया। साम्राज्य की सुख समृद्धि में उसकी रुचि का पता इसी से चलता है कि उसने दो बार पूरे साम्राज्य का विस्तृत भ्रमण

किया था। स्काटलैंड की घुसपैठ से इंग्लैंड की रक्षा करने के लिये उसने १२१-२२ में इंग्लैंड के उत्तर में एक दीवाल का निर्माण करवाया जो हाड्रियन दीवाल के रूप में प्रसिद्ध है और जिसके अवशेष अब भी वर्तमान हैं। उसने सीमांत प्रतिरक्षा को सुदृढ़ बनाया। अनेक शहर और कस्बे बसाए गए। सरकारी सहायता द्वारा सार्वजनिक निर्माण के कार्य संपन्न हुए। उसने किसानों के ऊपर से टैक्स हटा दिया और 'रोमन ला' को व्यवस्थित रूप दिया।

हाड्रियन प्रतिभासंपन्न, प्रखरबुद्धि और आकर्षक व्यक्तित्व का आदमी था। वह ग्रीक सभ्यता का प्रशंसक था और उसमें अद्भुत कृतत्व शक्ति थी। ऐसा प्रसिद्ध है कि वह एक ही समय लिख, पढ़, बोल और डिक्टेट करा सकता था। उसने अपनी एक आत्मकथा भी लिखी थी, जो अब प्राप्त नहीं है। कहा जाता है, अपने शासन के अंतिम दिनों में वह बहुत निराश हो गया और उसने तीन बार आत्महत्या करने का प्रयत्न किया। १० जुलाई, १३८ को उसकी मृत्यु हो गई। रोम में टाइबर नदी के किनारे उसकी शानदार मजार अब भी विद्यमान है। [स० वि०]

हानोइ (Hanoi) स्थिति : २१° ०' उ० अ० तथा १०५°४५' पू० दे०। यह नगर उत्तरी वियतनाम की राजधानी है, जो हाइफॉक बंदरगाह से १२८ किमी उत्तर में लाल नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। यह रेलमार्ग द्वारा हाइफॉंक तथा दक्षिण पश्चिमी चीन में कुंमिंग से जुड़ा हुआ है। यह प्रमुख व्यापारिक केंद्र है। नगर की जलवायु उष्णकटिबंधी है। यहाँ फरवरी वर्ष का सबसे ठंढा तथा जून वर्ष का सबसे गरम महीना है। लाल नदी नगर के उत्तरी एवं पूर्वी भाग में बहती है तथा नगर के अन्य भागों में अनेक झीलें हैं। नगर १·६ किमी लंबी तथा ८०० मी चौड़ी झील से दो भागों में बँटा हुआ है। इस झील में दो द्वीप हैं, जिनमें से एक पर पगोडा तथा दूसरे पर महल बना है। यहाँ चौड़ी एवं स्वच्छ सड़कें तथा सुंदर इमारतें हैं जिनमें महल, प्रशासकीय भवन, विद्यालय, संग्रहालय तथा पैरिस के ढंग की दुकान एवं कैफे हैं। यहाँ का फूल बाजार प्रसिद्ध है। नगर का दूसरा भाग बड़ा घना बसा है और यहाँ अनेक संकीर्ण बाजार एवं सड़कें हैं, जहाँ पीतल एवं ताँबे के बरतन, कपड़े तथा जवाहरात बिकते हैं। हानोइ में सूत कातने, सूती वस्त्र बुनने, शराब चुआने, साबुन बनाने, कागज बनाने तथा सीमेंट निर्माण के कारखाने हैं। यहाँ की जनसंख्या ४,००,००० (१९६०) है। [अ० ना० मे०]

हानोवर (Hannover) स्थिति : ५२°२३' उ० अ० तथा ९°४१' पू० दे०। यह पश्चिमी जर्मनी के बड़े नगरों में से एक है और उत्तर सागर के ब्रीमेन बंदरगाह से ९६ किमी दूर लाइने तथा इमे (Ihme) नदियों एवं मिटेलैंड नहर के संगम पर स्थित है। यहाँ लोहे, रासायनिक पदार्थों तंबाकू, सिगरेट तथा यंत्र बनाने के कारखाने हैं। हानोवर शिक्षा का केंद्र भी है। तकनीकी तथा पशुचिकित्सा विद्यालय यहाँ की प्रमुख शिक्षण संस्थाएँ हैं। व्यापारिक केंद्र होने के नाते यह सड़क, रेलमार्ग एवं जलमार्ग का संगम स्थल है। यहाँ के नागरिक विशुद्ध जर्मन भाषा बोलने के लिये प्रसिद्ध हैं। यह नगर प्रसिद्ध खगोलज्ञ विलियम हर्शेल तथा प्रसिद्ध दार्शनिक लाइब्नित्स (Leibnitz) का जन्म स्थान है। द्वितीय विश्वयुद्ध में इस नगर पर अनेक बार बम गिराए गए जिसके कारण यहाँ के अनेक प्राचीन भवन एवं कई बड़े उद्योग नष्ट हो गए थे। यह लोअर सैक्सनि (lower Saxony) की राजधानी है तथा यहाँ की जनसंख्या ५,७४,७०० (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

हापुड़ स्थिति : २८°४१' उ० अ० तथा ७७°४७' पू० दे०। यह नगर भारत के उत्तर प्रदेश राज्य के मेरठ जिले में मेरठ नगर से २८ किमी दक्षिण में बुलंदशहर जानेवाली पक्की सड़क पर स्थित है। ऐसा कहा जाता है, इस नगर की स्थापना १० वीं शताब्दी में हुई थी। १८ वीं शताब्दी के अंत में सिंधिया ने अपने फ्रांसीसी जनरल पेरो (Perron) को जागीर के रूप में इस नगर को दे दिया था। नगर की चहारदीवारी तथा खाईं नष्टभ्रष्ट हो गई है, पर पाँच प्रवेशद्वारों के नाम रह गए हैं। चीनी, अनाज, कपास, इमारती लकड़ी, बाँस और पीतल के बरतनों के व्यापार का यह प्रमुख केंद्र है। नगर की जनसंख्या ५५,२२८ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

हारमोन (Hormones) शरीर की अंत:स्रावी ग्रंथियाँ विभिन्न प्रकार के उद्दीपन में ऐसे पदार्थों का स्राव करती हैं जिनसे शरीर में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। ये स्राव रुधिरवाहिनियों द्वारा अंतर्कोशिका ऊतक द्रव से बहकर लक्ष्य अंगों तक पहुँचते हैं। अत: इन ग्रंथियों को वाहिनी ग्रंथि कहते हैं। सर्वप्रथम १९०५ ई० में स्टलिंग ने सेक्रेटिन स्राव के संबंध में हारमोन शब्द का प्रयोग किया था। हार्मोन शब्द का अर्थ होता है उद्दीपन करनेवाला अथवा गति का प्रारंभ करनेवाला। शरीर में अम्लकृत भोजन जब आमाशय से आगे पहुँचता है तब ड्युओडिनल श्लेष्मकला की कोशिकाओं से सिक्रेटिन का स्राव होता है। रुधिर परिवहन द्वारा यह पदार्थ अग्न्याशय में पहुँचकर अग्न्याशयी वाहिनी से मुक्त होनेवाले अग्न्याशयी रस के स्राव का उद्दीपन करता है। इससे यह निश्चित हो गया कि तंत्रिकातंत्र के सहयोग बिना भी शरीर में रासायनिक साम्यावस्था संभव है। हारमोन के प्रभाव से शरीर में उद्दीपन एवं अवरोध दोनों ही होते हैं। हारमोन के प्रभाव से शरीर में आधारभूत उपापचयी रूपांतरण का प्रारंभ नहीं किया जा सकता पर उपापचयी रूपांतरण की गति में परिवर्तन लाया जा सकता है। आधुनिक परिभाषा के अनुसार वाहिनी अथवा अंत:स्रावी ग्रंथियों द्वारा उन्मुक्त स्राव को हारमोन कहते हैं। ये स्राव शरीर में विभिन्न क्रियाओं के बीच रासायनिक साम्यावस्था स्थापित करते हैं, अतः सीमित अर्थ में रासायनिक संतुलन के स्थान में योगदान करते हैं। वनस्पतिजगत् में ऐसे अनेक रासायनिक संतुलनकारी पदार्थ पाए जाते हैं। उन्हें हारमोन माना जाय या नहीं यह विवादास्पद है। इससे हारमोन की परिभाषा बहुत व्यापक हो जाती है। इसके अंतर्गत क्षतिग्रस्त ऊतकों से उत्पन्न द्रव्य हारमोन और वनस्पतिजगत् के पादप हारमोन (Plant hormone, Phyto hormone) भी आ जाते हैं। तंत्रिका छोरों से मुक्त होनेवाले हारमोनों को तंत्रिका या न्यूरो हारमोन कहते हैं।

हारमोन जीवन की विभिन्न क्रियाओं में एकीकरण एवं समन्वय स्थापित करते हैं। पिट्यूटरी या पीयूषग्रंथि के अग्रपिंडक से वृद्धि-

वर्धक हारमोन 'सोमैटो ट्रौफिन' का स्राव होता है। इससे अस्थि और मांसपेशियों की वृद्धि होती है। इससे नाइट्रोजन, शर्करा एवं लाइपिन की उपापचय क्रियाओं पर उपचयी (anabolic) प्रभाव उत्पन्न होता है। पीयूषग्रंथि के अन्य हारमोन ऐंड्रेनोकार्टिको ट्रौफिन (A. C. T. H.) हारमोन, थाइरोट्रौफिन हारमोन (थायरायड ग्रंथि का उद्दीपन करनेवाला), प्रोलैक्टिन हारमोन (स्तनग्रंथि का वर्धन या दुग्ध उत्पादन करनेवाला), गोनाडोट्रौफिन या प्रजननपोषी हारमोन, जिनमें प्रोजेस्टेरोन (स्त्री अंडाशय से उत्पन्न), एंड्रोजेन (पुरुष वृषण से), फोलिकल उद्दीपक हारमोन (स्त्रीशरीर में बीजजनन, पुरुषशरीर शुक्रजनन) हैं।

पीयूषग्रंथि के मध्यपिंड से जिस हारमोन का स्राव होता है वह वर्णक कणिकाओं का विसरण कर चमड़े का रंग गहरा बनता है। पीयूषग्रंथि पश्चपिंडक से वासोप्रेसीन हारमोन और ऑक्सीटोसिन हारमोन का स्राव होता है। वासोप्रेसिनहिनी पीड़क प्रभाव उत्पन्न करता है जिससे रक्तचाप में वृद्धि होती है। ऑक्सीटोसिन हारमोन के प्रभाव से शरीर की स्तनग्रंथि से दुग्ध निष्कासन क्रिया का आरंभ होता है तथा प्रसूतिकार्य के पश्चात् शरीर सामान्य स्थिति में पुन: आ जाता है।

शरीर के गरदन में स्थित थायरायड ग्रंथि, गलग्रंथि से थाइरोक्सिन तथा ट्राइ आयोडो थाइरोनिन नामक हारमोन का स्राव होता है। इस हारमोन के प्रभाव से शरीर ऊतकों एवं ऑक्सीजन उपभोग तथा उपापचय गति में वृद्धि होती है। थाइरायड ग्रंथि के समीप स्थित पैराथाइरायड अथवा उपगलग्रंथि से पैराथोर्मोन का स्राव होता है। इस हारमोन से शरीर के कैल्सियम एवं फास्फरॉस उपापचय पर विशेष प्रभाव देखा जाता है।

आमाशय के समीप स्थित अन्याशयी द्वीपकों से इंसुलिन तथा ग्लुकागौन नामक हारमोन का स्राव होता है। इंसुलिन से शरीर में शर्कराओं का संचय एवं उपभोग का नियंत्रण होता है। इससे रुधिर में शर्करा की मात्रा भी कम होती है।

ऐड्रेनल मेड्युला से ऐड्रेनलिन (एपिनेफिन) तथा नौर-ऐड्रेनलिन (नौर-एपिनेफिन) हारमोन का स्राव होता है। ऐड्रेनलिन, शरीर में संकटकालीन हारमोन होता है और संकट का सामना करने के लिये आवश्यक क्षमता एवं शक्ति उत्पन्न करता है। यह हारमोन हृदय की गति को तीव्र करता है तथा रक्तचाप में वृद्धि करता है। यकृत तथा मांसपेशियों में मध्वंशनक्रिया को प्रोत्साहित करता है जिससे शक्ति का उत्पादन होता है। नौर ऐड्रेनलिन हारमोन पीड़क हारमोन का कार्य करता है तथा शरीर में रक्तचाप का नियंत्रण करता है एवं ऐड्रेनर्जिक तंत्रिका छोरों पर रासायनिक मध्यस्थ का कार्य करता है।

ऐड्रेनल कौर्टेक्स से ऐल्डोस्टेरोन तथा अन्य स्टेरायड हारमोन का स्राव होता है। ऐल्डोस्टेरोन शरीर के जल एवं विद्युत् अपघटनी उपापचय क्रियाओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव उत्पन्न करता है। स्टेरायड हारमोन शर्करा, वसा, प्रोटीन आदि उपापचय क्रियाओं पर विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करता है। शरीर में संक्रमण, सूजन तथा संवेदनशीलता के प्रति अवरोधन उत्पन्न करते हैं।

पुरुषशरीर के वृषण से टेस्टेस्टेरोन हारमोन का स्राव होता है। यह हारमोन पुरुषशरीर के पुनर्जननसंबंधी अंगों को परिपक्व बनाता है एवं उनकी कार्यशीलता को बनाए रखता है। द्वितीयक लैंगिक विशेषताओं को उत्पन्न करता है तथा लैंगिक व्यवहार पर प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पन्न करता है।

स्त्रीशरीर के अंडाशय एवं जरायु से ईस्ट्रेडियोल, ईस्ट्रोन आदि ईस्ट्रोजेन्स हारमोन, प्रोजेस्टेरोन आदि प्रोजेस्टोजेन्स हारमोन तथा रिलैक्सिन हारमोन का स्राव होता है। ईस्ट्रोजेन्स हारमोन स्त्रीशरीर के पुर्नजननपथ को परिपक्व एवं कार्यशील बनाए रखते हैं तथा लैंगिक विशेषताओं को जन्म देते हैं। प्रोजेस्टोजेन हारमोन स्तनग्रंथि का विकास एवं शरीर को गर्भाधान के उपयुक्त बनाने में सक्रिय योगदान देते हैं। गर्भाशय में गर्भ को सुरक्षित रखने में प्रोजेस्टोजेन हारमोन महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। रिलैक्सिन हारमोन के प्रभाव से प्रसूतिक्रिया सरलता से संपन्न होती है।

शरीर के जठरांत्र श्लेष्मकला से सेक्रेटिन हारमोन — इसके प्रभाव से रंध्रिका (acenies) अग्न्याशय से द्रव का स्राव होता है; पैनक्रियोजाइमिन हारमोन — इसके प्रभाव से रंध्रिका अग्न्याशय से किण्व का स्राव होता है। कोलेसिस्टोकिनिन हारमोन — इसके प्रभाव से पित्ताशय का संकुचन एवं रिक्त होने की क्रिया होती है; ऐंटेरोगैस्ट्रोन हारमोन — इसके प्रभाव से आमाशय में अम्लीय रस के स्राव तथा चलिष्णुता का अवरोधन होता है तथा गैस्ट्रिन हारमोन का स्राव होता है। गैस्ट्रिन हारमोन के प्रभाव से आमाशय में अम्ल रस के स्राव का उद्दीपन होता है। उपर्युक्त हारमोन पाचनक्रिया पर विशेष प्रभाव उत्पन्न करते हैं। [प्र० सि०]

हारूँरशीद सन् ७५० ई० में ओमय्यद राजवंश इस्लाम इतिहास की महान् खूनी क्रांति से समाप्त हो गया और अब्बासीद वंश का पाचवाँ खलीफा ७८६ ई० में राजसिंहासन पर बैठा। २३ वर्ष शासन करने के पश्चात् ८०८ ई० में उसकी मृत्यु हुई।

हारूँ शासन के प्रथम १७ वर्ष का युग 'बरमकीदियों का युग' कहलाता है। हारूँ ने सिंहासनारूढ़ होने पर यहया को, जो ईरानी पुजारी वंश के बरमक के पुत्र खालिद का पुत्र था, अपना प्रधान मंत्री नियुक्त किया। इस प्रकार सरकार के सारे कामों का अधिकार यहया और उसके दो पुत्रों फजल और जफर के हाथों में आ गया। बरमकीदियों ने अपनी अतिशय उदारता से जितनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी, उतनी संपूर्ण इस्लाम जाति के इतिहास में किसी वंश ने नहीं प्राप्त की। यदि बहुत सी कहानियाँ उनके बाद के ग्रंथों से निकाल दी जायें; तो भी किसानों और श्रमिकों के शोषण का दोष उनके सिर आता है, जिसके बिना उनकी सिद्धांतहीन उदारता असंभव होती। सन् ८०३ ई० में हारूँ बरमकीदियों की शक्ति से चिढ़ने लगा। जफर का सिर कटवा लिया गया, और यहया तथा फजल को आजीवन कारावास दिया गया। कठोर राजाज्ञा के अनुसार कोई उस अपदस्थ शासक की प्रशंसा नहीं कर सकता था।

हारूँ बाइजेंटीन राज्य के विरुद्ध युद्धों में सदैव सफल रहा, किंतु स्वयं उसके राज्य में बड़े भयानक विद्रोही थे। वह इस स्थिति

में नहीं था कि फैलाना (ट्रिपोली और ट्यूनिस) के अगलबीदियों और टैंजियर्स के इदरीसियों को स्वतंत्र होने में बाधा पहुँचा सकता, और 'मुस्लिम एशिया' के भी विद्रोहियों ने उसके नाकों दम कर दिया था। उसके शासन के अंतिम दिनों में ट्रांसोक्सियाना (मावरु-न्नहर) और पूर्वी फारस दोनों ने विद्रोह कर दिया, और हारूँ उनका दमन करने के प्रयत्न में मशहाद में मारा गया। उसकी मृत्यु के समय उसके कोष में ६० करोड़ 'दिरम' प्राप्त हुए। उसके पश्चात् उसके दोनों पुत्रों आमिन और मामुनर्रशीद में राज्यविभाजन को लेकर युद्ध हो गया। ऐसी शंका हो सकती है कि हारूँ के चरित्र में, मुस्लिम धर्म का कट्टर भक्त होने के बावजूद, हिंसक निर्दयता थी। किंतु इतना होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि उसके राज्य में न्याय और संपन्नता थी।

हारूँ और उसके पुत्र का एक बड़ा सौभाग्य यह था कि उनके राज्यों में मध्यकालीन इस्लाम युग में असांप्रदायिक और धार्मिक विज्ञानों की सतत वृद्धि हुई। अलफखरी ने लिखा है कि "हारूँ का शासन सारे शासनों में सर्वोत्तम था—प्रतिष्ठा, शालीनता और दानशीलता संपूर्ण राज्य में व्याप्त थी। जितने विद्वान्, कवि, न्यायवेत्ता, कुरान पाठक, काजी और लेखक इसके दरबार में एकत्र होते थे, उतने किसी अन्य खलीफा के दरबार में संमान नहीं पाते थे।"

हार्डी, टॉमस (१८४०-१९२८) जन्म वेसेक्स प्रदेश में हुआ। यह प्रदेश प्राचीन काल में इंग्लैंड के नक्शे पर था, किंतु अब नहीं है। उनका सभी साहित्य वेसेक्स से संबंधित है। उनके उपन्यास वेसेक्स के उपन्यास कहलाते हैं और उनकी कविता वेसेक्स की कविता।

हार्डी ने कवितालेखन से साहित्यसेवा आरंभ की, किंतु प्रारंभिक रचनाएँ उन्होंने नष्ट कर दीं। १८७० से १८९८ तक उन्होंने कथासाहित्य को समृद्ध किया। वे जीवन और संसार के परिचालन में कोई न्याय अथवा व्यवस्था न देखते थे उनके अनुसार एक अंधी शक्ति इस जगत् के कार्यकलापों का परिचालन करती थी। इस अंधी शक्ति को वे 'इम्मेनेंट विल' कहते थे — ऐसी चालक-शक्ति जो जीवन और संसार में निहित है।

अपने कथासाहित्य में हार्डी ने जगत् के व्यापारों पर अपना आक्रमण उत्तरोत्तर अधिक तीखा किया। पहले उपन्यासों में यह अपेक्षाकृत हल्का है। १८७१ में उनकी पहली उपलब्ध रचना प्रकाशित हुई, 'डेस्परेट रिमेडीज', १८७२ में दूसरी, 'अंडर दि ग्रीनवुड ट्री' और १८७३ में तीसरी 'ए पेयर ऑव ब्ल्यू आइज'। अगली रचना 'फार फ्राम दि मैडिंग क्राउड' अधिक प्रौढ़ कृति है और इसके प्रकाशन के बाद उनकी ख्याति बढ़ी। आत्मविश्वास प्राप्त कर हार्डी ने विश्व की गति पर अपना आघात अधिक तीव्र कर दिया। इस काल की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ हैं 'दि वुडलैंडर्स', 'दि रिटर्न ऑव दि नेटिव', 'दि ट्रंपेट मेजर' और 'दि मेयर ऑव कास्टरब्रिज'। इसके बाद दो उपन्यास और लिखे गए जिनमें हार्डी घोर निराशा में डूब गए हैं।

आलोचकों के प्रहारों से घबराकर हार्डी ने उपन्यास लिखना छोड़कर कविता लिखना शुरू किया। बीस वर्ष तक उन्होंने कविता लिखी और अपने लिये ख्याति के नए द्वार खोले। कविता में भी हार्डी अपने विचारदर्शन को व्यक्त करते रहे, किंतु कविताओं में व्यक्त भावनाओं से पाठक और आलोचक उस हद तक मर्माहत न हुए। हार्डी का कहना था कि 'यदि गैलिलियो ने कविता में लिखा होता कि पृथ्वी घूमती है, तो शायद उन्हें इतनी तकलीफ न सहनी पड़ती।' कविता को एक बार पुनः अपनाकर हार्डी अपने साहित्यिक जीवन के प्रथम प्रेम की ओर मुड़े थे।

इसी बीच इन्होंने अपनी सबसे महत्वपूर्ण कृति 'दि डाइनास्ट्स' (The dynasts) लिखी। यह तीन भागों में प्रकाशित हुई। यह रचना नाटक के रूप में महाकाव्य है। इसे भौतिक रंग-मंच पर नहीं खेला जा सकता। इसका अभिनय कल्पना के मंच पर ही संभव है। कथावस्तु नैपोलियन के अभियान से संबंधित है। यह विश्वविजेता भी क्रूर नियति का शिकार था। जीवन की शक्ति कालचक्र को घुमाती रहती है और सदाचारी तथा दुराचारी सभी उसमें पिसते रहते हैं। इस रचना में हार्डी का विचारदर्शन बहुत स्पष्टता से व्यक्त हुआ है।

हार्डी की अंग्रेजी साहित्य को महत्वपूर्ण देन है। उन्होंने एक छोटे से क्षेत्र का विशेष अध्ययन किया और क्षेत्रीय साहित्य की सृष्टि की। हिंदी में इस प्रकार के साहित्य को आंचलिक साहित्य कह रहे हैं। उन्होंने मानव जीवन के संबंध में अपने साहित्य में आधारभूत प्रश्न उठाए और जो मर्यादा पूर्वकाल में महाकाव्य और दुःखांत नाटक को प्राप्त थी, वह उपन्यास को प्रदान की। वे अनेक पात्रों के स्रष्टा और अद्भुत कहानीकार थे। किंतु इनके पात्रों में सबसे अधिक सशक्त वेसेक्स है। इस पात्र ने काल का प्रवाह उदासीनताभरे नेत्रों से देखा है, जिनमें न्याय और उचित अनुचित की कोई अपेक्षा नहीं।

उनकी मृत्यु ११ जनवरी, १९२८ को हुई और अब उन्हें वह संमान मिला, जो जीवनपर्यंत कभी न मिला था। [ह० दे० बा०]

हॉर्नली, आगस्टस फ्रेडेरिक रूडोल्फ भारतीय भाषाओं पर कार्य करनेवाले बीम्स, ग्रियर्सन आदि विदेशी विद्वानों एवं भाषा-वैज्ञानिकों के साथ साथ हॉर्नली का नाम भी उल्लेखनीय है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव और विकास का ज्ञान प्राप्त करने में उनकी रचनाओं ने भी यथेष्ट सहायता पहुँचाई है। उनका जन्म १९ अक्तूबर, १८४१ को हुआ था। उन्होंने स्टटगार्ट में और बासेल तथा ट्यूबिनगेन विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर १८६५ में चर्च मिशनरी सोसायटी का कार्य करना प्रारंभ किया। धर्मप्रचार के साथ साथ उनकी रुचि शिक्षण कार्य की ओर भी थी। १८७० ई० में इन्होंने बनारस (वाराणसी) के जयनारायण कॉलेज में अध्यापकत्व किया। तत्पश्चात्, १८७७ में वे कलकत्ते के कैथीड्रल मिशन कॉलेज के प्रिंसिपल नियुक्त हुए और १८८१ में इंडियन एजुकेशनल सर्विस में आ गए। १८८१ से १८९९ ई० तक वे कलकत्ता मदरसा के प्रिंसिपल रहे। इन्हीं सब पदों पर कार्य करते हुए इन्होंने अपना विद्याप्रेम प्रकट किया और ख्याति प्राप्त की। १८९७ ई० में सरकार की ओर से उन्हें सी० आई० ई० की उपाधि मिली। कार्य-व्यस्त रहते हुए भी हॉर्नली भाषाविज्ञान और व्याकरण संबंधी

समस्याओं पर विचार करते रहते थे। उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'ए कंपैरेटिव ग्रैमर ऑव गौडियन लैंग्वेजेज विथ स्पेशल रिफरेंस टु ईस्टर्न हिंदी' (१८८०) है। उन्होंने 'चंद'ज प्राकृत ग्रैमर, चंदकृत रासो के 'रेवातर समयो' (अनुवाद, १८८६), और 'रिपोर्ट ऑन दि ब्रिटिश कलेक्शन ऑव सेंट्रल एशियन ऍटिक्विटीज', 'मैनस्क्रिप्ट रिमेंस ऑव बुधिस्ट लिट्रेचर फाउंड इन ईस्टर्न तुर्किस्तान' (१९१६) का संपादन भी किया। उनके लेख अधिकतर 'जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल और 'दि इंडियन ऍटीक्वेरी' आदि में मिलते हैं। एच० ए० स्टार्क की सहकारिता में उन्होंने 'ए हिस्टरी ऑव इंडिया' (१९०३) शीर्षक पुस्तक प्रकाशित की। बोवर (Bover) हस्तलिखित पोथी का संपादन भी हॉर्नली का महत्वपूर्ण कार्य है। पुरातत्व तथा प्राचीन अभिलेखों का उन्होंने विशेष रूप से अध्ययन किया। [स० सा० वा०]

हार्मोनिक विश्लेषण (Harmonic Analysis) ध्वनि तरंगें (Sound waves), प्रत्यावर्ती धाराएँ (alternating currents), ज्वार भाटा (tides) और मशीनों की हलचल जैसी भौतिक घटनाओं में आवर्ती लक्षण देखने में आते हैं। उपयुक्त गतियों को स्वतंत्र चर के क्रमागत मानों के लिये मापा जा सकता है। यह चर प्राय: समय होता है। इस प्रकार प्राप्त न्यास (data) अथवा उन्हें निरूपित करनेवाला वक्र स्वतंत्र चर का फलन, मान लें f (x) प्रस्तुत करेगा, और किसी भी बिंदु पर वक्र की कोटि y = f (x) होगी। सामान्यत: f (x) का गणितीय व्यंजक अज्ञात होगा; किंतु f (x) को कई एक ज्या (sine) और कोज्या (cosine) के पदों के योग रूप में प्रकट किया जा सकता है। ऐसे योग को फूरिये श्रेणी (Fourier series) कहते हैं (देखें फूरिये श्रेणी)। हार्मोनिक विश्लेषण का ध्येय इन पदों के गुणांकों का निर्धारण करना है। कभी कभी ऐसे विश्लेषण को भी, जिसमें आवर्ती संघटक गोलीय हार्मोनिक (spherical harmonic), बेलनीय हार्मोनिक (cylindrical harmonic) आदि होते हैं, हार्मोनिक विश्लेषण की संज्ञा दी जाती है। यदि हम फूरिये श्रेणी के प्रसार तक सीमित रहें तो इस श्रेणी के उस पद को, जिसका आवर्तकाल f (x) के आवर्तकाल के बराबर है, मूल (fundamental) कहते हैं, और उन पदों को जिनके आवर्तकाल इससे लघुतर होते हैं, अनुवादी (hormonic) कहते हैं।

अनुप्रयोग — फूरिये विश्लेषण के गणितीय भौतिकी, इंजीनियरिंग आदि में अनगिनत अनुप्रयोग हैं। इन्हें व्यापक रूप से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है — एक वर्ग वस्तुत: उनका है जिनमें हलचल सचमुच आवर्ती है, जैसे ज्वारभाटीय तरंगें और दूसरा वर्ग ऋतु, सूर्यकलंक आदि घटनाओं का, जिनका मूल आवर्तकाल सामान्यतया स्पष्ट नहीं होता और जिनके अनुवादियों के आवर्तकाल मूल के अशेष भाजक (aliquot parts) नहीं होते। सच तो यह है कि किसी भी परिमित अनावर्ती (non-periodic) वक्र का विश्लेषण अनुवादी विधि से किया जा सकता है, बशर्ते x दिशा में मापनी को इस प्रकार बदल दिया जाय कि वक्र की लंबाई २π मात्रक हो जाय। अब हम फूरिये विश्लेषण में सामान्यतया प्रयुक्त विधियों का संक्षेप में वर्णन करते हैं :

संख्यात्मक विधियाँ — इनका आरंभ f (x) के निरूपण

$$y = a_1 \sin x + a_2 \sin 2x + a_3 \sin 3x + \dots + b_0 + b_1 \cos x + b_2 \cos 2x + \dots \quad (1)$$

से होता है जिसकी वैधता, $x = 0$ और $x = 2\pi$ के बीच, इन दशाओं में फूरियो ने १८२२ में स्थापित की थी : फलन एकमानी, परिमित और संतत या परिमित संख्यक असांतत्यवाला हो। गुणांक ये हैं :

$$\left.\begin{aligned} b_0 &= \frac{1}{2\pi}\int_0^{2\pi} y\,dx \\ b_k &= \frac{1}{\pi}\int_0^{2\pi} y\cos kx\,dx \\ a_k &= \frac{1}{\pi}\int_0^{2\pi} y\sin kx\,dx \end{aligned}\right\}\dots(2)$$

जहाँ k = 1, 2, 3, ...। (१) को निम्न विकल्प रूप में भी लिखा जा सकता है :

$$y = C_1 \sin(x + \phi_1) + C_2 \sin 2(x + \phi_2) + C_3 \sin 3(x + \phi_3) + \dots, \quad (3)$$

जहाँ $C_k = \sqrt{(a^2_k + b^2_k)},\ \phi_k = \tan^{-1}(b_k/a_k)$.. (4)

किसी आवर्ती घटना के संबंध में प्राप्त अभिलेख पर विचार करें। स्पष्ट है कि समीकरण (i) से f (x) का निरूपण किया जा सकता है और a_k, b_k निर्धारित किए जा सकते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये पहले फलन का आवर्तकाल ज्ञात करना आवश्यक है। हमें 2π रेडियन मान कई भागों, मान लें n, में विभक्त करना होगा। समीकरण (1) में प्रथम n मापी हुई कोटियों का प्रतिस्थापन कर n अनिर्धारित गुणांकों में n समीकरण प्राप्त हो जाएँगे। इनका रूप

$y_k = b_0 + b_1 \cos x_k + b_2 \cos 2x_k + \dots + a_1 \sin x_k + a_2 \sin 2x_k + \dots,\ k = 0, 1, 2, \dots (n-1)$ है और y_k वक्र की k वीं कोटि है। इनसे ये संबंध मिलते हैं :

$$\left.\begin{aligned} b_0 &= \frac{1}{n}(y_0 + y_1 + \dots + y_{n-1}), \\ b_k &= \frac{2}{n}(y_0 \cos k x_0 + y_1 \cos kx_1 + \dots + y_{n-1} \cos k x_{n-1}) \\ a_k &= \frac{2}{n}(y_0 \sin k x_0 + y_1 \sin kx_1 + \dots y_{n-1} \sin kx_{n-1}), \end{aligned}\right\}\dots(5)$$

इन गुणांकों का उपयोग कर वक्रालेखन किया जा सकता है और हो सकता है, यह वक्र प्रयोगदत्त समीकरण से मेल न खाता हो। लेकिन कुछ स्थितियों में फलन काफी सन्निकटत: थोड़े से ही पदों द्वारा निरूपित हो जायगा। यदि तरंगों में नुकीले बिंदु हों तो अच्छा सन्निकटन प्राप्त करने के लिये बहुत से पद लेना आवश्यक होगा।

योजनाबद्ध विधियाँ — समीकरणों (5) को हल करने की साधनविधियाँ योजनाबद्ध होती हैं। इनमें से एक रंगविधि है जिसमें 6 बिंदुओं की योजना है। इसका हम अब विवरण देते हैं।

केवल विषम प्रसंवादियों पर विचार करें और उस बिंदु को मूलबिंदु चुनें जहाँ वक्र x–अक्ष का प्रतिच्छेदन करता है। यह समीकरण सरल करने पर ये होंगे :

$$3\,b_1 = (y_2 - y_4)\sin 30^\circ + (y_1 - y_5)\sin 60^\circ,$$
$$3\,b_3 = -(y_2 - y_4)\sin 90^\circ$$
$$3\,b_5 = (y_2 - y_4)\sin 30^\circ - (y_1 - y_5)\sin 60^\circ$$
$$3a_1 = (y_1 + y_5)\sin 30^\circ + (y_2 + y_4)\sin 60^\circ + y_3\sin 90^\circ$$
$$3a_3 = (y_1 - y_3 + y_5)\sin 90^\circ$$
$$3a_5 = (y_1 + y_5)\sin 30^\circ - (y_2 + y_4)\sin 60^\circ + y_3\sin 90^\circ,$$

देखने में आता है कि y_3 को छोड़ सभी गुणांक योग रूप में या अंतर रूप में विद्यमान हैं। शेष क्रिया को इस प्रकार सारणीबद्ध किया जा सकता है :

मापी हुई कोटियाँ	योग	अंतर		पहली और पाँचवीं		तीसरी	कोज्या पद पहली और पाँचवीं		तीसरी
$y_0 \ldots$		d_0							
$y_1, y_5 \ldots$	S_1	d_1	sin30°	S_2			d_2		
$y_2, y_4 \ldots$	S_2	d_2	sin60°		S_2			d_1	
$y_3 \ldots$	S_3		sin90°	S_3		$S_1 - S_3$	d_0		$d_0 - d_2$
				S_0	S_e	S	D_0	D_e	D
				$a_1 = \frac{S_1 + S_e}{3}$		$a_3 = \frac{S}{3}$	$b_1 = \frac{D_0 + D_e}{3}$		$b_3 = \frac{D}{3}$
				$a_5 = \frac{S_0 - S_e}{3}$			$b_5 = \frac{D_0 - D_e}{3}$		

इस योजना में y_0 बढ़ा दिया गया है और वक्र x–अक्ष का x = 0 पर प्रतिच्छेदन नहीं करता। किंतु यदि x = 0 होने पर f (x) = 0, तो पूर्वगामी समीकरण से y_0 लुप्त हो जाता है।

इस दिशा में ऐसे ही प्रयासों के फलस्वरूप फिशर हिनेन द्वारा चुनी हुई कोटियोंवाली जैसी विधियों का विकास हुआ। हिनेन विधि में रंगे विधि की अपेक्षा परिकलन कम हो जाता है किंतु प्रत्येक गुणांकयुग्म के लिये समदूरस्थ कोटि समुच्चय को मापना होता है। परिकलन की अन्य विधियाँ भी हैं — उदाहरणतया स्टीनमेज एस० पी० टामसन, आदि। ऐसे लेखापत्र भी बनाए गए हैं जिनमें बिना परिकलन किए ही ज्या और कोज्या गुणनखंड का हिसाब लग जाता है। इस तरह की लेखाचित्रीय विधियों के संबंध में सी० एस० सिलव्टर, पेरी, हेरिसन और एलवर्थ के नाम उल्लेखनीय हैं।

यांत्रिक विधि — उपर्युक्त विधियों में श्रम काफी होता है, इसलिये श्रमनिवारक यांत्रिक विधियाँ भी निकाली गई हैं। मान लें, आरेखन 1 के वक्र y = f(x) का विश्लेषण करना है, तो गुणांक a के समानुपाती राशि प्राप्त करने के लिये हमें कोटियों को sin x से गुणा करने पर प्राप्त वक्र के नीचेवाले क्षेत्रफल को ज्ञात करना होगा। इसी प्रकार अन्य गुणांक भी ज्ञात किए जा सकते हैं। इसी कारण मशीनों में यह व्यवस्था रहती है कि उनमें sin (kx) से गुणाकर समाकलन हो जाता है। ऐसी प्रथम मशीन का सुझाव लार्ड केल्विन ने किया था। तब से बहुत प्रगति हो चुकी है और मैसेचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑव टेक्नोलोजी ने एक ऐसे समाकलनलेखा (integraph) का आविष्कार किया है जो किन्हीं भी दो वक्रों के गुणनफल का समाकलन दे देता है। इस दिशा में कुछ उल्लेखनीय यंत्रनिर्माता सेलन बक, वुडबरी, सोमरफेल्ड हैं।

समक्ष विश्लेषण — उपर्युक्त विधियों में प्रयोगदत्त व्यास को आधार माना गया है। समक्ष विश्लेषण (direct analysis) विधि में, जिसे प्यूपीन ने सन् १८९४ में सुझाया था विश्लेषण विचाराधीन घटना की समुचित और उपयुक्त क्रिया द्वारा सीधे होता जाता है। निस्संदेह ऐसी व्यवस्था सदा संभव नहीं होती। एक आदर्श परिस्थिति, जहाँ ऐसा संभव है, विद्युद्धाराओं अथवा वोल्टता में उपस्थित होती है; यहाँ भी जब अधिक प्रसवादी विश्लेषण अपेक्षित हो, हेनरिकी कोरेडी जैसा यांत्रिक विश्लेषण उपयोगी रहता है। [चं० मो०]

हार्मोनियम हार्मोनियम एक ऐसा वाद्ययंत्र है जिसमें तीलियों के कंपन से स्वर पैदा होता है। सर्वप्रथम इसका आविष्कार कोपनहेगन निवासी प्रोफेसर क्रिश्चियन गोटलिएब क्रैटजेंस्टाइन ने १७७९ ई० में किया। १८१८ ई० में ऐंटन हैकेल नामक व्यक्ति ने वियेना में, फिसरमोनिका नामक हार्मोनियम बनाया जो जर्मनी में आज तक प्रचलित है। सन् १८४० में डिबेन नामक व्यक्ति ने एक दूसरे प्रकार का हार्मोनियम बनाया जिसने धीरे धीरे आधुनिक हार्मोनियम का रूप ले लिया।

अन्य वाद्ययंत्रों की तरह, इस वाद्ययंत्र में ट्यूनिंग (स्वर मिलाने) की आवश्यकता नहीं होती। एक बार का ट्यून किया हुआ बाजा कई वर्षों तक ठीक स्वरों को देता रहता है। आजकल कई प्रकार के हार्मोनियम प्रचलित हैं, जैसे — सादा हार्मोनियम, कप्लर हार्मोनियम, स्केलचेंज हार्मोनियम, पाँववाला हार्मोनियम तथा हाथ-पाँववाला हार्मोनियम।

सादा हार्मोनियम एक लकड़ी के संदूक जैसा होता है। उसमें पीछे की ओर एक धौंकनी होती है और आगे की ओर चार या पाँच गोल लट्टू लगे रहते हैं जिन्हें स्टॉप कहते हैं। हार्मोनियम बजाते समय स्टापों को बाहर खींच लेते हैं। उसके ऊपरी हिस्से पर सफेद और काली 'की' या चाबियाँ होती हैं। इन्हीं को दबाने से स्वर निकलते हैं। चाबियों के नीचे पीतल की स्प्रिंग होती हैं जो चाबियों को स्थिर रखती हैं। इन्हें सुंदरियाँ कहते हैं। जब चाबियों को दबाकर छोड़ देते हैं तब इन कमानियों के दबाव से वे ऊपर अपनी पूर्व स्थितियों में आ जाती हैं।

जिस तख्ती पर चाबियाँ होती हैं, उसे कंघी कहते हैं। कंघी के ऊपर बहुत से सूराख बने होते हैं जिनमें चाबियाँ फिट की जाती हैं। कंघी के दूसरी ओर सूराखों के ऊपर तीलियाँ (रीडें) कसी

रहती हैं। धौंकनी चलाने से वायु पैदा होती है जो तीलियों को स्पर्श करती हुई बाहर निकलने का प्रयत्न करती है। जब हम चाबी दबाते हैं तब उसका निचला भाग सूराख से उठ जाता है और धौंकनी से आई हुई हवा तीली को खुली हुई सूराख से बाहर निकलती है और तीली कंपन करने लगती है जिससे स्वर पैदा होता है।

कप्लर हार्मोनियम की बनावट सादे हार्मोनियम की तरह होती है। इन दोनों में केवल यह अंतर है कि कप्लर हार्मोनियम में तारों की बनी हुई एक और कंघी होती है जो चाबियों और पहली कंघी के बीच होती है। इस अतिरिक्त कंघी के तार चाबियों के साथ लगे रहते हैं। जब हम किसी चाबी को दबाते हैं तब उस चाबी-वाले सप्तक की चाबी भी स्वयं दब जाती है जिससे दो स्वर एक साथ उत्पन्न होते हैं और ध्वनि की तीव्रता दोगुनी हो जाती है।

हाथ-पाँववाले हार्मोनियम की बनावट भी सादे हार्मोनियम की तरह होती है। केवल उसमें पाँव से चलनेवाली धौंकनी अलग से फिट कर दी जाती है। पैर से चलनेवाली धौंकनी बाजे से अलग भी की जा सकती है। परंतु पाँववाले हार्मोनियम में धौंकनी अलग नहीं की जा सकती। पाँववाले हार्मोनियम को लपेटकर बक्स में बंद कर सकते हैं।

स्केलचेंज हार्मोनियम में चाबियाँ कंघी पर फिट नहीं की जातीं। वे एक दूसरी तख्ती के साथ लगी रहती हैं और उस तख्ती का संबंध एक बड़े फीते से होता है। उस फीते को इधर उधर घुमाने से चाबियाँ भी अपने स्थान से हटकर दूसरे स्थान पर फिट हो जाती हैं। इस तरह का बाजा उन लोगों के लिये लाभदायक होता है जिन्हें केवल एक स्वर से ही गाने का अभ्यास होता है।

अधिकांश बाजे तीन सप्तकवाले होते हैं और उनमें ३७ स्वर होते हैं। किसी किसी बाजे में ३९ या ४८ स्वर भी होते हैं।

संगीत में तीन प्रकार के स्वर माने गए हैं। शुद्ध, कोमल तथा तीव्र। हार्मोनियम में सफेद चाबियाँ शुद्ध स्वर देती हैं और काली चाबियों से कोमल तथा तीव्र स्वर निकलते हैं। १, ३, ५, ६, ८, १० और १२ नंबरवाली चाबियाँ शुद्ध स्वर देती हैं और २, ४, ९, ११ नंबर की चाबियाँ कोमल स्वर उत्पन्न करती हैं। तीव्र स्वर ७ नंबर की चाबी से उत्पन्न होता है।

१ से १२ तक के स्वरों को मंद्र सप्तक, १३ से २४ तक के स्वरों को मध्य सप्तक और २५ से आगे के स्वरों को तार सप्तक कहते हैं। प्रत्येक सप्तक में सात शुद्ध, चार कोमल और १ तीव्र स्वर होते हैं। इस तरह प्रत्येक सप्तक में कुल १२ स्वर होते हैं।

कई हार्मोनियमों में तीलियों के दो या तीन सेट लगाए जाते हैं। ऐसे बाजों की आवाज तीलियों के एक सेटवाले बाजे से ऊँची होती है। तीन तीलियोंवाले सेट अधिकतर पाँववाले हार्मोनियम में लगाए जाते हैं।

कई बाजों में दो या दो से अधिक धौंकनियाँ होती हैं। इंगलिश हार्मोनियम की धौंकनी में कई परतें होती हैं। इससे वायु पैदा करने की शक्ति बढ़ जाती है। [के० एन० दु०]

हार्वी, विलियम (सन् १५७८-१६५७) अंग्रेज चिकित्सक तथा रक्तपरिसंचरण के खोजकर्ता, का जन्म फोक्स्टन (Folkestone) में हुआ था और इन्होंने कैंटरबरी में तथा काइयस कालेज, कैंब्रिज में शिक्षा पाई थी। चिकित्साशास्त्र का अध्ययन इन्होंने पैडुआ में फैब्रिशियस, हायरोनिमस तथा कैसीरियस के अधीन किया। सन् १६०२ में आपने कैंब्रिज और पैडुआ, दोनों विद्यालयों से एम० डी० की उपाधि प्राप्त की तथा रॉयल कालेज ऑव फिजीशियंस के सन् १६०७ में सदस्य और सन् १६१३, १६२५ और १६२९ में निरीक्षक (censor) मनोनीत हुए। सन् १६०९ में इनकी नियुक्ति सेंट बार्थो-लोमिउ अस्पताल में चिकित्सक के पद पर हुई तथा सन् १६१५ में आप कालेज के शरीरशास्त्र के प्राध्यापक पद पर जीवनपर्यंत के लिये नियुक्त किए गए। आप ब्रिटेन के राजा जेम्स प्रथम तथा चार्ल्स प्रथम, के चिकित्सक भी नियुक्त हुए तथा गृहयुद्ध में ऑक्सफोर्ड के घेरे के समय मर्टन कालेज के छात्राभिरक्षक (वार्डेन) रहे। सन् सन् १६५४ में वृद्धावस्था के कारण इन्होंने रॉयल कालेज ऑव फिजीशियंस के सभापति पद से त्यागपत्र दे दिया और सन् १६५६ में प्राध्यापक पद से।

हार्वी से पूर्व रक्तपरिसंचरण के संबंध में मुख्यतः गैलेन द्वारा प्रचारित विचार मान्य थे। हार्वी ने ही इन विचारों की भूल दर्शायी। इन्होंने स्थापित किया कि हृदय एक पेशी है, अलिंद (auricles) निलयों (ventricles) के पूर्व संकुचित होते हैं, धमनियों में नाड़ी की तरंग उनके विस्तार के कारण उत्पन्न होती है। वस्तुतः हृदय एक पंप है और उसका कार्य धमनियों में रक्त को ढकेलना है। यह पूर्ण-तया नया विचार था। इन्होंने सिद्ध किया कि रक्तपरिसंचरण का एक चक्र होता है। सरल और स्पष्ट प्रयोगों से दिखाया कि शिराओं के वाल्व का कार्य रक्त के वापस जाने को रोकना है, संपूर्ण रक्त फेफड़ों में आकर हृदय के बाएँ भाग में आता है और वहाँ से पूरा संचरणचक्र पूराकर, शिराओं द्वारा हृदय के दाहिने भाग में आता है। तर्क द्वारा वे इस तथ्य पर पहुँचे कि सूक्ष्मतम धमनियों को सूक्ष्मतम शिराओं से जोड़नेवाली केशिकाएँ होती हैं, किंतु सूक्ष्मदर्शी का प्रयोग न करने के कारण वे इसे प्रत्यक्ष न देख सके।

जननसंबंधी आपकी खोजें भी कम महत्व की न थीं। आपने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि प्रायः सब प्राणी, मनुष्य तथा वे भी जिनके बच्चे जीवित उत्पन्न होते हैं, अंडों से पैदा होते हैं। थोड़े थोड़े समय के अंतर पर मुर्गी के अंडे के विकास के तथा चिंकारा हरिण के जननसंबंधी अपने अध्ययन और निरीक्षण का आपने विस्तृत वर्णन किया है।

आपने उपर्युक्त विषयों पर लैटिन भाषा में कई पुस्तकें और लेख लिखे, जिनसे आपकी खोजों का ज्ञान और प्रचार हुआ।

[भ० दा० व०]

हॉवर्ड फ्लोरी, सर (Howard Florey, Sir; सन् १८९८-१९६८) अंग्रेज चिकित्साविज्ञानी का जन्म दक्षिणी ऑस्ट्रेलिया के ऐडलेड (Adelaide) नगर में हुआ था। आपने ऐडलेड, ऑक्सफोर्ड तथा कैंब्रिज विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाई।

सन् १९२५ में आप रॉकफेलर संस्थान के सदस्य होकर संयुक्त राज्य अमरीका गए। सन् १९३१ से १९३५ तक वे शेफील्ड तथा सन् १९३५ से १९६२ तक ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में चिकित्सा-विज्ञान के प्रोफेसर रहे। सर ऐलेग्जैंडर फ्लेमिंग तथा अर्न्स्ट बोरिस चेन (Chain) के साथ आपको भी सन् १९४५ में पेनिसिलियम नोटेटम (penicillium notatum) नामक रोटी तथा पनीर में लगनेवाली फफूँद की खोज तथा पृथक्करण के लिये शरीरक्रिया-विज्ञान तथा कायचिकित्सा संबंधी नोबेल पुरस्कार मिला था। आप चिकित्साविज्ञान के प्रतिष्ठित अनुसंधानी, वैज्ञानिक तथा शिक्षक थे। आपने श्लेष्मल झिल्ली की सूजन तथा उसके द्वारा श्लेष्म स्राव के उत्पादन, धमनी काठिन्य तथा थ्रॉम्बोसिस (Thrombosis) का विशेष अध्ययन किया था।

सन् १९४१ में रॉयल सोसायटी के सदस्य तथा सन् १९४४ में नाइट की उपाधि पाने के अतिरिक्त आपको अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं से पदक तथा अन्य संमान भी मिले थे। [भ० दा० व०]

हाल हालकृत गाहा सत्तसई (गाथा सप्तशती) भारतीय साहित्य की एक सुविख्यात काव्यरचना है। इसमें ७०० प्राकृत गाथाओं का संग्रह है। कर्ता का नाम हाल के अतिरिक्त सालाहण तथा सातवाहन भी पाया जाता जाता है। संस्कृत के महाकवि बाण ने हर्षचरित् की उत्थानिका में इस कृति का कोष या सुभाषित कोष और उसके कर्ता का सातवाहन के नाम से उल्लेख किया है। इससे अनुमान होता है कि मूलतः यह कृति चुने हुए प्राकृत पद्यों का एक संग्रह था। धीरे धीरे उसमें सात सौ गाथाओं का समावेश हो गया और वह सत्तसई के नाम से प्रख्यात हुई। तथापि उसके कर्ता का नाम वही बना रहा। आदि की तीसरी गाथा में ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि इस रचना में हाल ने एक कोटि गाथाओं में से ७०० अलंकारपूर्ण गाथाओं को चुनकर निबद्ध किया। सत्तसई की रचना का काल अनिश्चित है। हाँ, बाण के उल्लेख से इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि गाथाकोष के रूप में उसका संकलन ईसा की सातवीं शती से पूर्व हो चुका था। सातवाहन का एक नामांतर शालिवाहन भी है जो ई० सन् ७८ में प्रारंभ होनेवाले एक संवत् के साथ जुड़ा हुआ पाया जाता है। वायु, विष्णु, भागवत आदि पुराणों में आंध्रभृत्य नामक राजाओं की वंशावली पाई जाती है जिसमें सर्वप्रथम नरेश का नाम सातवाहन तथा १७वें राजा का नाम हाल मिलता है। इस राजवंश का प्रभाव पश्चिम भारत में ईसा की प्रथम तीन-चार शतियों तक गुप्तराजवंश से पूर्व था। उनकी राजधानी प्रतिष्ठानपुर (आधुनिक पैठन) थी। सालवाहन (हाल) कुतूहल कविकृत प्राकृत काव्य लीलावई के नायक हैं। जैन कवि उद्योतनसूरि ने अपनी कुवलयमाला कथा (शक ७००) में सालाहण कवि की प्रशंसा पालित्तय (पादलिप्त) और छप्पण्णय नामक कवियों के साथ साथ की है और यह भी कहा है कि तरंगवती कथा के कर्ता पालित्त (पादलिप्त) से हाल अपनी काव्यगोष्ठियों में शोभायमान होते थे। इससे ७०० शक से पूर्व हाल की ख्याति का पता चलता है।

हालकृत सत्तसई की अनेक टीकाओं में से पीतांबर और कुलनाथकृत दो टीकाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। इसमें तीन सौ से ऊपर गाथाओं में कर्ताओं का भी उल्लेख पाया जाता है जिनमें पालित्तक, प्रवरसेन, सर्वसेन, पोट्टिस, कुमारिल आदि कवियों के नाम पाए जाते हैं।

सत्तसई के सुभाषित अपने लालित्य तथा मधुर कल्पना के लिये समस्त प्राचीन साहित्य में अनुपम माने गए हैं। उनमें पुरुष और नारियों की शृंगारलीलाओं तथा अभ्यास आदि पर नर नारियों के व्यवहारों और सामान्यतः लोकजीवन के सभी पक्षों की अतिसुंदर झलकें दिखाई देती हैं। हाल की इस रचना का भारतीय साहित्य पर गंभीर प्रभाव पड़ा है। अलंकारशास्त्रों में तो उसके अवतरण दृष्टांत रूप से मिलते ही हैं। संस्कृत में आई सप्तशती तथा हिंदी में तुलसी सतसई, बिहारी सतसई आदि रचनाएँ उसी के आदर्श पर हुई हैं (देखिए गाथा स० श०, डा० वेबर द्वारा संपादित, जर्मनी १८७० एवं १८८१; नि०सा० प्रेस, बंबई, १९११)।

हाली, ख्वाजः अल्ताफ हुसेन इनके पूर्वज दिल्ली के गुलाम वंश के समय में हिंदुस्तान आए और पानीपत में जागीर पाकर वहीं बस गए। ये अनसारी कहलाते थे। हाली का जन्म सन् १८३७ ई० में वहीं हुआ और प्रारंभ में उर्दू, फारसी तथा अरबी की शिक्षा इन्हें यहीं मिली। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये यह सन् १८५४ ई० में दिल्ली आए और दो वर्ष बाद संबंधियों के कहने से पानीपत लौट गए। कविता की ओर इनकी रुचि पहले ही से थी पर जब जहाँगीराबाद के नवाब मुस्तफा खाँ 'शेफ्ता' का सत्संग इन्हें मिला तब कविता का प्रेम बढ़ हो गया। शेफ्ता की मृत्यु पर यह लाहौर गए और सरकारी बुकडिपो में अंग्रेजी से उर्दू में अनुवादित पुस्तकों के संशोधन निरीक्षण का कार्य करने लगे। इनके साहित्यिक जीवन का यह काल महत्वपूर्ण है क्योंकि इन्होंने यहाँ बहुत सी अंग्रेजी पुस्तकें पढ़ीं तथा अंग्रेजी साहित्य के विचारों को सूक्ष्म दृष्टि से देखा और समझा। इनको लेकर इन्होंने समग्र उर्दू साहित्य तथा काव्य का संशोधन परिवर्तन करने का आंदोलन चलाया। लाहौर में चार वर्ष रहकर यह दिल्ली चले आए और एक स्कूल में अध्यापक हो गए। यहीं यह सर सैयद अहमद खाँ से मिले और उनके आदेश पर 'मद्दोजज़रे इस्लाम' नामक लंबी कविता लिखी, जिसे 'मुसद्दसे हाली' भी कहते हैं। सन् १८८७ ई० में हैदराबाद सरकार से इन्हें एक सौ रुपए की मासिक वृत्ति मिलने लगी और यह नौकरी छोड़कर साहित्यसेवा में लग गए। सन् १९०४ ई० में इन्हें शम्सुल् उलमा की पदवी साहित्यिक तथा शिक्षण सेवा के उपलक्ष में मिली। सन् १९१४ ई० में इनकी मृत्यु हो गई।

उर्दू भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में हाली का व्यक्तित्व अनुपम है। गजल, मर्सिए आदि कहने के सिवा यह साहित्यमर्मज्ञ, गद्यलेखक, समालोचक आदि सब कुछ थे और प्रत्येक क्षेत्र में इन्होंने कोई न कोई नया मार्ग निकाला, जो इनकी निजी विशेषता है। जिन कवियों ने उर्दू काव्य के प्रवाह को सरलता तथा सत्यता की ओर मोड़ा था उनमें हाली उत्कृष्ट कोटि के थे। उर्दू गद्यलेखन में भी इन्होंने ऐसी शैली चलाई जो साहित्यिकता के साथ जातीय बुद्धि के परिष्करण तथा समाजसुधार में भी अत्यंत लाभप्रद सिद्ध हुई। उर्दू में वैज्ञानिक आलोचना की नींव इनकी रचना 'मुकद्दमः शेरो शायरी'

के साथ ही पढ़ी और साहित्य तथा जीवन का क्या संबंध है इसे इसी बड़े साहित्यिक ने बतलाया। इन्होंने गालिब तथा साअदी की यादगार लिखकर उर्दू में साहित्यिक जीवनचरित्र लिखने का ढंग चलाया। [र० ज०]

हावाई (Hawaii) यह प्रशांत महासागरस्थित एक सागरीय राज्य (Oceanic state) है। २१ अगस्त, १९५९ ई० को संयुक्त राज्य, अमरीका के ५० वें राज्य के रूप में संमिलित हुआ। यह सान-फ्रांसिस्को से ३,३४४ किमी दक्षिण पश्चिम की ओर स्थित है। मुख्य द्वीपसमूह में हावाई, मॉई (Maui), ओहु (Oahu) मोलोकई (Molokai), लनाई (Lanai), निहाउ (Niihau) तथा कहूलाव (Kahoolawe) निकटवर्ती छोटे द्वीप के साथ संमिलित हैं। संपूर्ण द्वीपसमूह १८° ५५' से २८° २५' उ० तथा १५४° ४८' से १७८° २५' प० दे० तक लगभग २६,४० किमी में फैला हुआ है। इसका पूरा क्षेत्रफल १६,५७६ वर्ग किमी और जनसंख्या ६३२,७२२ (१९६० ई०) है। जन संख्या का घनत्व ६० मनुष्य प्रति वर्ग किमी है। १९५० ई० से जनसंख्या में २६.६% वृद्धि हुई। यहाँ की राजधानी होनोलुलू की जनसंख्या १९६० ई० में २,९४,१९४ थी। हीलो की जनसंख्या २५,९६६ (१९६० ई०) है। हावाई द्वीपों का मुख्य समूह ज्वालामुखी के उद्गार से बना है और अधिकांशतः पहाड़ी है। समुद्रतल से ऊँचाई हावाई द्वीप की माउना की चोटी पर १३,७८४ फुट है। आंतरिक भाग अधिकांश जंगली है और सुंदर घाटियों तथा छोटी छोटी नदियों से परिपूर्ण है। यहाँ पर कोई बड़ी नदी अथवा झील नहीं है। कुआई (Kauai) में प्रसिद्ध वैमी (Waimea) कैनियन है। हवाई में ज्वालामुखी तथा लावा उगलनेवाला पहाड़ है जो दर्शकों के लिये बड़ा चित्ताकर्षक है।

हावाई की जलवायु आर्द्र और सम है। व्यापारिक वायुओं के मार्ग में स्थित होने के कारण ये द्वीपसमूह अक्षांशों की ऊँचाई से भी अधिक ठंढे और शीतोष्ण हैं। उत्तरी पूर्वी भाग में दक्षिणी पूर्वी भाग की अपेक्षा अधिक वर्षा होती है। समुद्री धाराएँ ठढक को प्रभावित करती हैं। औसत दैनिक तापांतर होनोलुलु में १०°फ० है और अधिकतम तथा न्यूनतम ताप क्रमशः ८८° फ० व ५६° फ० हैं।

शीतोष्ण प्रदेशीय वनस्पति बहुतायत से पाई जाती है। यहाँ विविध प्रकार के पशु पक्षी और तटीय प्रदेशों में मछलियाँ अधिक मात्रा में पाई जाती हैं।

चीनी उद्योग में बहुत लोग लगे हैं, अन्ननास (Pineapple) उद्योग, फलों तथा रसों के व्यापार से १० करोड़ डालर की प्राप्ति होती है। दूसरे उद्योगों में पशु तथा मुर्गीपालन और कॉफी आदि का उत्पादन आता है। कृषि का औद्योगीकरण हुआ है और कृषि उत्पादन अमरीका के बाजारों में निर्यात किया जाने लगा है। १९५९ ई० में हावाई द्वीपसमूह में ६,२४२ कृषि फार्म थे जो २४,६१,४५५ एकड़ भूमि में उत्पादन करते थे।

वायुयात्रा बहुत अधिक बढ़ गई है। जलयानों का गमनागमन हावाई और प्रशांत सागर के अमरीकी स्थल के बीच होता है। हवाई बहुत से जलमार्गों का केंद्र है। १९६० ई० में ४७२८ किमी लंबी पक्की सड़कें थीं। एक जलयान यात्रा व्यवस्था द्वारा इन द्वीपों के विभिन्न भागों में यातायात का क्रम चलता है। यहाँ पर १३ व्यापारिक वायुयान के अड्डे हैं। हावाई के निवासी प्रायः ईसाई हैं। ६ और १६ वर्ष तक के बालकों के लिये स्कूली शिक्षा अनिवार्य है। १९०७ ई० में हावाई विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इस द्वीप की आदि संस्कृति आधुनिक संस्कृति के प्रभाव से लगभग नष्ट हो चुकी है। यह द्वीप सर्वप्रथम पोलीनेशियन जातियों द्वारा बसा जिनकी उत्पत्ति दक्षिणी पूर्वी एशिया में मानी जाती है। कैप्टेन जेम्स कुक ने १७७८ ई० में हावाई द्वीपों का भ्रमण किया और इसका नाम सैनविच (Sanwich) द्वीप रखा। [शां० ला० का०]

हास्यरस तथा उसका साहित्य (संस्कृत, हिंदी) जैसे जिह्वा के आस्वाद के छह रस प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार हृदय के आस्वाद के नौ रस प्रसिद्ध हैं। जिह्वा के आस्वाद को लौकिक आनंद की कोटि में रखा जाता है क्योंकि उसका सीधा संबंध लौकिक वस्तुओं से है। हृदय के आस्वाद को अलौकिक आनंद की कोटि में माना जाता है क्योंकि उसका सीधा संबंध वस्तुओं से नहीं किंतु भावानुभूतियों से है। भावानुभूति और भावानुभूति के आस्वाद में अंतर है।

भारतीय काव्याचार्यों ने रसों की संख्या प्राय. नौ ही मानी है क्योंकि उनके मत से नौ भाव ही ऐसे हैं जो मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों से घनिष्ठतया संबंधित होकर स्थायित्व की पूरी क्षमता रखते हैं और वे ही विकसित होकर वस्तुतः रस संज्ञा की प्राप्ति के अधिकारी कहे जा सकते हैं। यह मान्यता विवादास्पद भी रही है, परंतु हास्य की रस-रूपता को सभी ने निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है। मनोविज्ञान के विशेषज्ञों ने भी हास को मूल प्रवृत्ति के रूप में समुचित स्थान दिया है और इसके विश्लेषण में पर्याप्त मनन चिंतन किया है। इस मनन चिंतन को पौर्वात्य काव्याचार्यों की अपेक्षा पाश्चात्य काव्याचार्यों ने विस्तारपूर्वक अभिव्यक्ति दी है, परंतु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने इस तत्व का पूरी व्यापकता के साथ अध्ययन कर लिया है और या हास्यरस या हास की काव्यगत अभिव्यंजना की ही कोई ऐसी परिभाषा दे दी है जो सभी सभी प्रकार के उदाहरणों को अपने में समेट सके। भारतीय आचार्यों ने एक प्रकार से सूत्ररूप में ही इसका प्रस्थापन किया है किंतु उनकी संक्षिप्त उक्तियों में पाश्चात्य समीक्षकों के प्रायः सभी निष्कर्षों और तत्वों का सरलता-पूर्वक अंतर्भाव देखा जा सकता है।

हास्यरस के लिये भरत मुनि का नाट्यशास्त्र कहता है —

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधान वेषैश्च
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ॥

भावप्रकाश में लिखा है —

प्रीतिविशेषः चित्तस्य विकासो हास उच्यते।

साहित्यदर्पणकार का कथन है—

वर्णादि वैकृताच्चेतो विकारो हास्य इष्यते

× ×

विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद् भवेत् ॥

दशरूपककार की उक्ति है —

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनस्थपरस्य वा
हास: स्यात् परिपोषोऽस्य हास्य स्त्रिप्रकृति: स्मृत: ।।

तात्पर्य यह है कि हास एक प्रीतिपरक भाव है और चित्तविकास का एक रूप है। उसका उद्रेक विकृत आकार, विकृत वेष, विकृत आचार, विकृत अभिधान, विकृत अलंकार, विकृत अर्थविशेष, विकृत वाणी, विकृत चेष्टा आदि द्वारा होता है — इन विकृतियों से युक्त हास्यपात्रता चाहे अभिनेता की हो, चाहे वक्ता की हो, चाहे अन्य किसी की हो। विकृति का तात्पर्य है प्रत्याशित से विपरीत अथवा विलक्षण कोई ऐसा वैचित्र्य, कोई ऐसा बेतुकापन, जो हमें प्रीतिकर जान पड़े, क्लेशकर न जान पड़े। इन लक्षणों में पाश्चात्य समीक्षकों के प्राय: सभी लक्षण समाविष्ट हो जाते हैं, जहाँ तक उनका संबंध हास्य विषयों से है। ऐसा हास जब विकसित होकर हमें कविकौशल द्वारा साधारणीकृत रूप में, अथवा आचार्य प० रामचंद्र शुक्ल की शब्दावली के अनुसार, मुक्त दशा में प्राप्त होता है, वह हास्यरस कहलाता है।

हास के भाव का उद्रेक देश-काल-पात्र-सापेक्ष रहता है। घर पर कोई धुनी देह बैठा हो तो दर्शक को हँसी न आवेगी परंतु उत्सव में भी वह इसी तरह पहुँच जाय तो उसका आचरण प्रत्याशित से विपरीत या विकृत माना जाने के कारण हँसी जगा देगा; उसका व्यवहार हास की जननी हो जायगा। युवा व्यक्ति श्रृंगार करे तो फबने की बात है किंतु जर्जर बुड्ढे का श्रृंगार हास का कारण होगा; कुर्सी से गिरनेवाले पहलवान पर हम निश्चित ही हँसने लगेंगे परंतु छत से गिरनेवाले बच्चे पर हमारी करुणापूर्ण सहानुभूति ही उमड़ेगी। यह पहले ही कहा गया है कि हास का आधार प्रीति पर होता है न कि द्वेष पर, अतएव यदि किसी की प्रकृति, प्रवृत्ति, स्वभाव, आचार आदि की विकृति पर कटाक्ष भी करना हो तो वह कटूक्ति के रूप में नहीं किंतु प्रियोक्ति के रूप में होगी, उसकी तह में जलन अथवा नीचा दिखाने की भावना न होकर विशुद्ध संशुद्धि की भावना होगी। संशुद्धि की भावनावाली यह प्रियोक्ति भी उपदेश की शब्दावली में नहीं किंतु रंजनता की शब्दावली में होगी।

हास्य के भेदों पर भी आचार्यों ने विचार किया है। उन्होंने हास्य के दो भेद किए हैं। एक है आत्मस्थ और दूसरा है परस्थ। हास्यपात्र की दृष्टि से आत्मस्थ हास्य है स्वत: उस पात्र का हँसना और परस्थ हास्य है दूसरों को हँसाना। सामाजिकों या सहृदय श्रोताओं, अथवा नाट्यदर्शकों की दृष्टि से आत्मस्थ हास्य है अन्यों की हँसी के बिना स्वत: उनमें उद्भूत हास्य और परस्थ हास्य है दूसरों को हँसता हुआ देखकर उनमें उत्पन्न हास्य। दृष्टिकोणों का यह अंतर समझ लेने पर इन दोनों शब्दों के अर्थों का विचार सरलतापूर्वक समाप्त किया जा सकता है। फिर, आचार्यों ने हास्य के छह भेद किए हैं। स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित; जिन्हें भावभेद नहीं किंतु हसनक्रिया के ही भेद मानना पड़ेगा। संक्षेप में, आँखों की मुस्कराहट स्मित है। बत्तीसी दीख पड़ना हसित है, ही ही की सी ध्वनि निकल पड़ना विहसित है। कंधे हिल उठना अपहसित है। पेट पकड़नेवाली हँसी अपहसित है और पूरे ठहाकेवाली झकझोरकारिणी पसलीतोड़ हँसी अतिहसित है। साहित्यदर्पणकार ने स्मित और हसित को श्रेष्ठों के योग्य कहा है। विहसित और उपहसित को मध्यम वर्गीय लोगों के योग्य और अपहसित तथा अतिहसित को नीच लोगों के योग्य कहा है। रंगमंच में दर्शकों के लिये भी हँसने की एक मर्यादा होनी चाहिए, उस दृष्टि से उत्तम, मध्यम, अधम की यह बात भले ही मान ली जा सकती है। नहीं तो झकझोर देनेवाली हँसी केवल नीचों की वस्तु समझ लेने से उच्च वर्गीय लोग स्वास्थ्य के एक महत्वपूर्ण तत्व से वंचित रह जायंगे। डा० रामकुमार वर्मा ने उत्तम, मध्यम, अधम के प्रभाव की दृष्टि से हास्य के तीन भेद माने हैं और इन्हें आत्मस्थ, परस्थ से गुणित करके हसन क्रिया के बारह भेद लिखे हैं। स्मित, हसित आदि हसनक्रियाभेदों को हास्य का अनुभाव ही कहा जा सकता है। इन अनुभावों का वर्णन मात्र कर देना अलग बात है और अपनी रचना द्वारा सामाजिकों में ये अनुभाव उत्पन्न करा देना अलग बात है। हास्यरस की सफल रचना वह है जो हास्यरस के अनुभाव अनायास उत्पन्न करा दे। विदेशी विद्वानों के विचार से हास्य के पाँच प्रमुख भेद हैं जिनके नाम हैं ह्यूमर (शुद्ध हास्य), विट (वाग्वैदग्ध्य), सैटायर (व्यंग), आइरनी (वक्रोक्ति) और फार्स (प्रसहन), ह्यूमर और फार्स हास्य के विषय से संबंधित हैं जबकि विट, सैटायर और आइरनी का संबंध उक्ति के कौशल से है जिनमें पिछले दो का उद्देश्य केवल संतुष्टि ही न होकर संशुद्धि भी रहा करता है। पैरोडी (रचनापरिहास अथवा विरचनानुकरण) भी हास्य की एक विधा है जिसका उक्तिकौशल से संबंध है किंतु जिसका प्रधान उद्देश्य है संतुष्टि। आइरनी का अर्थ परिहास चित्र है। उपहास में, हमारे विचार से, आइरनी (वक्रोक्ति) का भी अंतर्भाव मान लिया जाना चाहिए अन्यथा वह हास्य की कोटि से बाहर की वस्तु हो जाएगी। विट अथवा वाग्वैदग्ध्य को एक विशिष्ट अलंकार कहा जा सकता है।

भारतीय साहित्यपंडितों ने जिस प्रकार श्रृंगार के साथ न्याय किया है उसका दशमांश भी हास्य के साथ नहीं किया, यद्यपि भरत मुनि ने इसकी उत्पत्ति श्रृंगार से मानी है अर्थात् इसे रति या प्रीति का परिमाण माना है और इसे श्रृंगार के बाद ही नवरसों में महत्व का दर्जा दिया है। आनंद के साथ इसका सीधा संबंध है और न केवल रंजनता की दृष्टि से किंतु उपयोगिता की दृष्टि से भी इसकी अपनी विशिष्टता है। यह तन मन के तनाव दूर करता है, स्वभाव की कर्कशता मिटाता है, आत्मनिरीक्षण और आत्मपरिष्कार के साथ ही मीठे ढंग पर समाजसुधार का मार्ग प्रशस्त करता है, व्यक्ति और समाज की थकान दूर कर उनमें ताजगी भरता हुआ जनस्वास्थ्य और लोकस्वास्थ्य का उपकारक बनता है। यह निश्चित है कि संस्कृत साहित्य तथा हिंदी साहित्य में इस हास्यरस के महत्व के अनुपात से इसके उत्तम उदाहरणों की कमी ही है। फिर भी ऐतिहासिक सिंहावलोकन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य में हास्यरस का प्रवाह वैदिक काल से लेकर आज तक निरंतर चला आ रहा है, यद्यपि

वर्तमान काल के पूर्व उसमें विविधता इतनी नहीं जितनी आज दिखाई पड़ रही है।

हास्यरस की धारा के वैविध्य (अथवा भेदों) को विषय और व्यंजना (अर्थात् अर्थ और वाक्) की दृष्टि से देखा जा सकता है। विषय को हम आकृति, प्रकृति, परिस्थिति, वेश, वाणी, व्यवहार और वस्तु में विभक्त कर सकते हैं। आकृति का बेतुकापन है मोटापा, कुरूपता, भद्दापन, अंगभंग, बेजा नजाकत, तोंद, कूबड़, नारियों का अत्यंत कालापन, आदि। इनमें से अनेक विषयों पर हास्यरस की रचनाएँ हो चुकी हैं। ध्यान देने योग्य बात है कि एक समय का हास्यास्पद विषय सभी समयों का हास्यास्पद विषय हो जाए, ऐसा नहीं हुआ करता। आज अंगभंग, निर्बुद्धता आदि हास्य के विषय नहीं माने जाते अतएव अब इनपर रचनाएँ करना हास्य की सुरुचि का परिचायक न माना जाएगा। प्रकृति या स्वभाव का बेतुकापन है उजड्डपन, बेवकूफी, पाखंड, झेंप, खुशामद, अमर्यादित फैशनपरस्ती, कंजूसी, दिखावा पंडितंमन्यता, अतिहास्यपात्रता, अनधिकारपूर्ण महम्मन्यता, आदि। आकृति के बेतुकेपन की अपेक्षा प्रकृति के बेतुकेपन को अपना लक्ष्य बनाकर रचनाएँ करना अधिक प्रशस्त है। रचनाकारों ने कंजूसी आदि की वृत्तियों पर अच्छे व्यंग किए हैं, परंतु अभी इस दिशा में अनेक विषय अछूते ही छूट गए हैं। परिस्थिति का बेतुकापन है बेमेल जोड़ा (उदाहरणार्थ 'कौवा के गले सोहारी', हूर के पहलू में लंगूर', 'मखमल के नीचे बोरी', 'गदहे सों बाचालता अरु बोबी सों मौन', आदि) समय की चूक (अवसर चूकी ग्वालिनी, गावै सारी रात) समाज की असमंजसता में व्यक्ति की विवशता आदि। इसका अत्यंत सुंदर उदाहरण है रामचरितमानस का केवट प्रसंग जिसमें राम का मर्म समझ जाने की डींग हाँकनेवाले मूर्ख किंतु पंडितंमन्य केवट को राम कोई उत्तर नहीं दे पाते और एक प्रकार से चुपचाप आत्मसमर्पण कर देते हैं। यह परिस्थिति का व्यंग था। वेश का बेतुकापन, हास्यपात्र नटों और विदूषकों का प्रिय विषय ही रहा है और प्रहसनों, रामलीलाओं, रासलीलाओं, 'गम्मत', तमाशों आदि में आसानी से दिया जा सकता है। धर्मध्वजियों (बगुलाभक्तों का) वेश, अंधानुकरण करनेवाले फैशनपरस्तों का वेश, 'मर्दानी औरत' का वेश, ऐसे बेतुके वेश हैं जो रचना के विषय हो सकते हैं। वेश के बेतुकेपन की रचना भी आकृति के बेतुकेपन की रचना के समान प्रायः छिछले दर्जे की होगी। वाणी का बेतुकापन है हकलाना, बात बात पर 'जो है सो' के सदृशतकियाकलाम लगाना, शब्दस्खलन करना ('जल भरो' की जगह 'भल जरो' कह देना), अमानवी ध्वनियाँ (मिमियाना, रेंकना, स्वरवैषम्य अथवा फटे बाँस की सी आवाज, बैठे गले की फुसफुसाहट आदि), शेखी के प्रलाप, गपबाजी (जो अभिव्यंजना की विधा के रूप की न हो), पंडिताऊ भाषा, गँवारू भाषा, अनेक भाषा के शब्दों की खिचड़ी, आदि। व्यवहार का बेतुकापन है असमंजस घटनाएँ, फूहड़ हरकतें, अतिरंजना, चारित्रिक विकृति, सामाजिक उच्छृंखलताएँ, कुछ का कुछ समझ बैठना, कह बैठना या कर बैठना, कठपुतलीपन (यंत्रवत् व्यवहार जिसमें विचार या विवेक का अभाव शून्यवत् रहता है) इत्यादि। हास्यरस की अभिव्यंजना के लिये, चाहे वह परिहास की दृष्टि से (संतुष्टि की दृष्टि से) हो चाहे उपहास की दृष्टि से (संशुद्धि की दृष्टि से), व्यवहार का बेतुकापन ही प्रचुर सामग्री प्रदान कर सकता है। वस्तु की दृष्टि से मनुष्य ही क्यों, देव दानव (विष्णु, शंकर, राम, कृष्ण, रावण, कुंभकर्ण आदि) पशु पक्षी (कुत्ते, गधे, ऊँट, उल्लू, कौवा आदि), खटमल, मच्छर, झाड़ू, टोकनी, प्लेट, राशनिंग आदि अनेक विषयों पर सफलतापूर्वक कलमें चलाई गई हैं। परंतु इन वस्तुओं और विशेषतः इष्ट देवों एवं प्रशासनिक व्यंगों के साथ मजाक जहाँ तक प्रीतिभाव को लेकर होगा, वहीं तक हास्यरस की कोटि का अधिकारी कहा जाएगा। खीझभरी अन्य रचनाएँ रौद्र, बीभत्स या अन्य रसों की कोटि में पहुँच जा सकती हैं।

अभिव्यंजना में प्रत्याशित का वैपरीत्य अनेक प्रकार से देखा और दिखाया जा सकता है। इसे बेतुकापन, विकृति, असमंजसता आदि शब्दों से ठीक ठीक नहीं समझाया जा सकता। यह वह वाक्कौशल है जिसके लिये रचनाकार में भी पर्याप्त प्रतिभा अपेक्षित होती है और उस रचना के द्रष्टा, श्रोता या पाठक में भी। जिस सामाजिक (द्रष्टा, श्रोता या पाठक) में हास्य की इच्छा और आशा न होगी, स्वभाव में विनोदप्रियता और हास्योन्मुखता न होगी तथा बुद्धि के शब्दसंकेतों और वाक्यगत अर्थों को समझने की क्षमता न होगी, समझना चाहिए कि उसके लिये हास्यरस की रचनाएँ हैं ही नहीं। इसी प्रकार जिस कलाकार (कवि, लेखक या अभिनेता) में परिष्कारप्रियता, प्रत्युत्पन्नमतित्व, और शब्द तौलने की कला नहीं है वह हास्यरस का सफल लेखक नहीं हो सकता। सफल लेखक अप्रत्याशित शब्दाडंबर के सहारे, शब्द की अप्रत्याशित व्युत्पत्ति के सहारे (जैसे—को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर-बिहारी); अप्रत्याशित विलक्षण उपमाओं आदि अलंकारों के सहारे (जैसे—न साहेब ते सूबे बतलाएँ, गिरी बारी अइसी झन्नायँ, कबौं छउकन जइसी लउक्यायँ, पटाका अइसी दगि दगि जायँ—रमई काका, मन गाड़ी गाड़ो रहै प्रीति सिलयर बिनु लैन, जब लगि तिरछे होत नहिं सिगल दोऊ नैन—सुकवि); विलक्षण तर्कोक्तियों के सहारे (जैसे हाथी के पदचिह्नों के लिये लालबुझक्कड़ी तर्क पाँव में चक्की बाँध के हिरना कूदा होय); वाग्वैदग्ध्य (विट्) की अनेक विधाओं के सहारे यथा, (१) अर्थ के फेर बदल के सहारे (जैसे—'भिक्षुक गो कितको गिरिजा? सुतो माँगन को बलि द्वारे गयो री' सागर शैल सुतान के बीच यों आपस में परिहास भयो री; (२) प्रत्युत्तर में नहले की जगह दहला लगाने की कला के सहारे (जैसे—गावत बाँदर बैठ्यो निकुंज में ताल समेत, तै आँखिन पेखे; गाँव में जाय कै मैं हू बछानि को बैलहिं बेद पढ़ावत देखे — काव्यकानन); सैटायर के सहारे (जैसे—रामचरितमानस के शिवबरात प्रसंग में विष्णु की उक्ति कि बर अनुहारि बरात न भाई, हँसी करइहहु पर पुर जाई), कृष्णायन में उद्धव की उक्ति कि अबन जरैहैं मधुपुरी, श्याम बजैहैं बेनु? भवानीप्रसाद मिश्र जी का गीतफरोश आदि), कटाक्ष (आइरनी) के सहारे (जैसे, करि फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि, रे गंधी मतिअंध तू अतर दिखावत काहि — बिहारी; गुप्त का चंदन बस मेरे नंदन — लोकोक्ति; मुनसी कसाई की कलम तलवार है — मझौवा संग्रह;); विरूपरचनानुकरण (पैरोडी) के सहारे (जैसे, नेता ऐसा चाहिए जैसा रूप सुभाय, चंदा सारा गहि रहै देय रसीद उड़ाय—चोंच, बीती

बिभावरी जाग री; छप्पर पर बैठे कावँ कावँ करते हैं कितने काग री-वेदव); विरूप वचनानुकरण के सहारे (जिसे भी विरूपरचनानुकरण के समान पैरोडी की एक विधा ही समझना चाहिए — जैसे प० नेहरू की भाषण परिपाटी की नकल, किसी अहिंदीभाषी की प्रांतीय अथवा जातीय विशेषताओं से युक्त भाषा की नकल, किसी के तकियाकलामों की नकल); तथा इसी प्रकार की अनेकानेक अभिव्यंजना शैलियों से हास्यरस का उद्रेक कराया करते हैं।

प्रभाव की दृष्टि से, हमारी समझ में, हास्यरस या तो विशेषतः परिहास की कोटि का होता है या उपहास की कोटि का। इन दोनों शब्दों को हमने परंपरागत अर्थ में सीमाबद्ध नहीं किया है। जो संतुष्टि प्रधान काव्य है उसे हम परिहास की कोटि का मानते हैं और जो संसृष्टि प्रधान है उसे उपहास की कोटि का। अनेक रचनाओं में दोनों का मिश्रण भी हुआ करता है। परिहास और उपहास दोनों के लिये सामाजिकों की सुरुचि का ध्यान रखना आवश्यक है। मांसल शृंगारपरक हास, आजकल के शिष्ट समाज को रुचिकर नहीं हो सकता। देवता विषयक व्यंग सहधर्मियों को ही हँसाने के लिये हुआ करता है। उपहास के लिये सुरुचि का ध्यान अत्यंत आवश्यक है। मजा इसमें ही है कि हास्यपात्र (चाहे वह व्यक्ति हो या समाज) अपनी त्रुटियाँ समझ ले परंतु संकेत देनेवाले का अनुगृहीत भी हो जाय और उसे उपदेष्टा के रूप में न देखे। बिना व्यंग के हास को परिहास समझिए, चाहे वह वर्णनात्मक हो चाहे वार्तालाप की कोटि का, और अपने पर अथवा अन्य पर, विशेषतः अन्य पर, व्यंग करके जो प्रभाव दिखाया जाता है वह उपहास है ही। विट, ह्यूमर, पैरोडी आदि के सहारे उत्पन्न वह हास जो विशुद्ध संतुष्टि की कोटि का है, परिहास ही कहा जायगा। अनुभाव की दृष्टि से हास्यरस को मृदुहास की कोटि का समझना चाहिए या अट्टहास की कोटि का। हसित, अपहसित आदि अन्य कोटियों का इन्हीं दोनों में अंतर्भाव मान लेना चाहिए। मृदुहास के दो भेद किए जा सकते हैं, एक है गुप्त हास जिसका आनंद मन ही मन लिया जाता है और दूसरा है स्फुट हास जिसका मुस्कराहट आदि के रूप में अन्य जन भी दर्शन कर सकते हैं। अट्टहास के भी दो भेद किए जा सकते हैं— एक है मर्यादित हास जो हँसनेवाले की परिस्थिति से नियंत्रित रहता है और दूसरा है अमर्यादित हास जिसमें परिस्थिति सापेक्षता का ध्यान नहीं रहता। हास्य के भेदों का यह विवेचन संभवतः अधिक वैज्ञानिक होगा।

नाटकों में प्रहसन की विधा और विदूषक की उपस्थिति से हास्य का सृजन किया है किंतु वह बहुमुखी नहीं होने पाया। सुभाषित के कई श्लोक अवश्य अच्छे बन पड़े हैं जिनमें विषय और उक्ति दोनों दृष्टियों से हास्य की अच्छी अवतारणा की गई है। कुछ उदाहरण दे देना अप्रासंगिक न होगा।

देवताओं के संबंध का मजाक देखिए। प्रश्न था कि शंकर जी ने जहर क्यों पिया? कवि का उत्तर है कि अपनी गृहस्थी की दशा से ऊबकर।

> अत्तुं वांछति वाहनं गणपतेराखुं क्षुधार्तः फणी
> तं च क्रौंचपतेः शिखी च गिरिजा सिंहोऽपि नागाननं।
> गौरी जह्नुसुतामसूयति कलानाथं कपालाननो
> निर्विण्णः स पपौ कुटुम्बकलहादीशोऽपि हालाहलम्॥

शंकर जी का साँप गणेश जी के चूहे की तरफ झपट रहा है किंतु स्वतः उसपर कार्तिकेय जी का मोर दाँव लगाए हुए है। उधर गिरिजा का सिंह गणेश जी के गजमस्तक पर ललचाई निगाहें रख रहा है और स्वत. गिरिजा जी भी गंगा से सौतियाडाह रखती हुई भभक रही हैं। समर्थ होकर भी बेचारे शंकर जी इस बेढंगी गृहस्थी से कैसे पार पाते, इसलिये ऊबकर जहर पी लिया।

त्रिदेव खटिया पर नहीं सोते। जान पड़ता है खटमलों से वे भी भयभीत हो चुके हैं।

> विधिस्तु कमले शेते हरिः शेते महोदधौ
> हरो हिमालये शेते मन्ये मत्कुणशंकया॥

दामाद अपनी ससुराल को कितनी सार वस्तु माना करता है परंतु फिर भी किस अकड़बाजी से अपनी पूजा करवाते रहने की अपेक्षा रखा करता है यह निम्न श्लोकों में देखिए। दोनों ही श्लोक पर्याप्त काव्यगुणयुक्त हैं। जितना विश्लेषण कीजिए उतना ही मजा आता जायगा :

> असारे खलु संसारे, सारं श्वसुर मंदिरं
> हरः हिमालये शेते, हरिः शेते पयोनिधौ॥

× ×

> सदा वक्रः सदा क्रूरः, सदा पूजामपेक्षते
> कन्याराशिस्थितो नित्यं, जामाता दशमो ग्रह.॥

परान्न प्रिय हो कि प्राण, इसपर कवि का निष्कर्ष सुनिए —

> परान्नं प्राप्य दुर्बुद्धे ! मा प्राणेषु दयां कुरु
> परान्नं दुर्लभं लोके प्राणाः जन्मनि जन्मनि॥

राजा भोज ने घोषणा की थी कि जो नया श्लोक रचकर लाएगा उसे एक लाख मुद्राएँ पुरस्कार में मिलेंगी परंतु पुरस्कार किसी को मिलने ही नहीं पाता था क्योंकि उसके मेधावी दरबारी पंडित नया श्लोक सुनते ही दुहरा देते और इस प्रकार उसे पुराना घोषित कर देते थे। किंवदंती के अनुसार कालिदास ने निम्न श्लोक सुनाकर बोली बंद कर दी थी। श्लोक में कवि ने दावा किया है कि राजा निन्नानबे करोड़ रत्न देकर पिता को ऋणमुक्त करें और इसपर पंडितों का साक्ष्य ले लें। यदि पंडितगण कहें कि यह दावा उन्हें विदित नहीं है तो फिर इस नए श्लोक की रचना के लिये एक लाख दिए ही जायँ। इसमें 'कैसा छकाया' का भाव बड़ी सुंदरता से सन्निहित है :

> स्वस्तिश्री भोजराज ! त्रिभुवनविजयी धार्मिक स्ते पिताऽभूत्
> पित्रा ते मे गृहीता नवनवति युता रत्नकोटिर्मदीया।
> तान्स्त्वं मे देहि शीघ्रं सकल बुधजनैर्ज्ञायते सत्यमेतत्
> नो वा जानंति केचिन्नवकृत मितिचेद्देहि लक्षं ततो मे॥

हिंदी के वीरगाथाकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल प्रायः पद्यों के ही काल रहे हैं। इस लंबे काल में हास्य की रचनाएँ यदा कदा होती ही रही हैं परंतु वे प्रायः फुटकर ढंग की ही रचनाएँ रही हैं।

तुलसीदास जी के रामचरितमानस का नारदमोह प्रसंग शिवविवाह प्रसंग, परशुराम प्रसंग आदि और सूरदास जी के सूरसागर का माखनचोरी प्रसंग, उद्धव-गोपी-संवाद प्रसंग आदि अनबरा हास्य के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। तुलसीदास जी का निम्न छंद, जिसमें जराजर्जर तपस्वियों की शृंगारलालसा पर मजेदार चुटकी ली गई है, अपनी छटा में अपूर्व है —

विंध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिवृंद सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी, परसे पद मंजुल कंज तिहारे
कीन्हीं भली रघुनायक जू जो कृपा करि कानन को पगु धारे।।

बीरबल के चुटकुले, लाल बुझक्कड़ के लटके, घाघ और भड्डरी की सूक्तियाँ, गिरधर कबिराय और गंग के छंद, बेनी कविराज के भड़ौवे तथा और भी कई रचनाएँ इस काल की प्रसिद्ध हैं। भारतजीवन प्रेस ने इस काल की फुटकर हास्य रचनाओं का कुछ संकलन अपने 'भड़ौवा संग्रह' में प्रकाशित किया था। इस काल में, विशेषतः दान के प्रसंग को लेकर, कुछ मार्मिक रचनाएँ हुई हैं जिनकी रोचकता आज भी कम नहीं कही जा सकती। उदाहरण देखिए —

चींटे न चाटते मूसे न सूंघते, बांस में माछी न आवत नेरे,
आनि धरे जब से घर में तबसे रहै हैजा परोसिन घेरे,
माटिहु में कछु स्वाद मिले, इन्हैं खात सो ढूढ़त हर्रं बहेरे,
चौंकि परो पितुलोक में बाप, सो आपके देखि सराध के पेरे।।

एक सूम ने संकट में तुलादान करना कबूल कर लिया था। उसके लिये अपना वजन घटाने की उसकी तरकीबें देखिए —

बारह मास लौं पथ्य कियो, षट मास लौं लंघन को कियो कैठो
तापै कहूँ बहू देत खवाय, तो कै करि द्वारत सोच में पैठो
माघो भने नित मैल छुड़ावत, खाल खंचै इमि जात है ऐंठो
मुछ मुड़ाय कै, मूड़ घोटाय कै, फस्द खोलाय, तुला चढ़ि बैठो।।

वर्तमान काल में हास्य के विषयों और उनकी अभिव्यक्ति करने की शैलियों का बहुत विस्तार हुआ है। इस युग में पद्य के साथ ही गद्य की भी अनेक विधाओं का विकास हुआ है। प्रमुख हैं नाटक तथा एकांकी, उपन्यास तथा कहानियाँ, एवं निबंध। इन सभी विधाओं में हास्यरस के अनुकूल प्रचुर मात्रा में साहित्य लिखा गया और लिखा जा रहा है। प्रतिभाशाली लेखकों ने पद्य के साथ ही गद्य की विविध विधाओं में भी अपनी हास्यरसवर्धिनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। इस युग के प्रारंभिक दिनों के सर्वाधिक यशस्वी साहित्यकार हैं भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र। इनके नाटकों में विशुद्ध हास्यरस कम, वाग्वैदग्ध्य कुछ अधिक और उपहास पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अंधेर नगरी' आदि उनकी कृतियाँ हैं। उनका 'चूरन का लटका' प्रसिद्ध है। उनके ही युग के लाला श्रीनिवास दास, श्री प्रतापनारायण मिश्र, श्री राधाकृष्णदास, श्री प्रेमघन, श्री बालकृष्ण भट्ट आदि ने भी हास्य की रचनाएँ की हैं। श्री प्रतापनारायण मिश्र ने 'कलिकौतुक रूपक' नामक सुंदर प्रसहन लिखा है। 'बुढ़ापा' नामक उनकी कविता शुद्ध हास्य की उत्तम कृति है। उस समय अंग्रेजी राज्य अपने गौरव पर था जिसकी प्रत्यक्ष आलोचना खतरे से खाली नहीं थी। अतएव साहित्यकारों ने, विशेषतः व्यंग और उपहास का मार्ग ही पकड़ा था और स्यापा, हजो, वक्रोक्ति, व्यंगोक्ति आदि के माध्यम से सुधारवादी सामाजिक चेतना जगाने का प्रयत्न किया था।

भारतेंदुकाल के बाद महावीरप्रसाद द्विवेदी काल आया जिसने हास्य के विषयों और उनकी अभिव्यंजना प्रणालियों का कुछ और अधिक परिष्कार एवं विस्तार किया। नाटकों में केवल हास्य का उद्देश्य लेकर मुख्य कथा के साथ जो एक अंतर्कथा या उपकथा (विशेषतः पारसी थिएट्रिकल कंपनियों के प्रभाव से) चला करती थी वह द्विवेदीकाल में प्राय: समाप्त हो गई और हास्य के उद्रेक के लिये विषय अनिवार्य न रह गया। काव्य में 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' सदृश रचनाएँ सरस्वती आदि पत्रिकाओं में सामने आईं। उस युग के बाबू बालमुकुंद गुप्त और पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी हास्यरस के अच्छे लेखक थे। प्रथम ने 'भाषा की अनस्थिरता' नामक अपनी लेखमाला 'आत्माराम' नाम से लिखी और दूसरे सज्जन ने 'निरंकुशता-निदर्शन' नामक लेखमाला 'मनसाराम' नाम से। दोनों ने इन मालाओं में द्विवेदी जी से टक्कर ली है और उनकी इस नोकझोंक की चर्चा साहित्यिकों के बीच बहुत दिनों तक रही। श्री बालमुकुंद गुप्त जी का शिवशंभु का चिट्ठा, श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी का कछुवा धर्म, श्री मिश्रबंधु और बदरीनाथ भट्ट जी के अनेक नाटक, श्री हरिशंकर शर्मा के निबंध, नाटक आदि, श्री जी० पी० श्रीवास्तव और उग्र जी के अनेक प्रहसन और अनेक कहानियाँ, अपने अपने समय में जनसाधारण में खूब समादृत हुईं। जी० पी० श्रीवास्तव ने उलटफेर, लंबी दाढ़ी आदि लिखकर हास्यरस के क्षेत्र में धूम मचा दी थी, यद्यपि उनका हास्य उथला उथला सा ही रहा है। निराला जी ने सुंदर व्यंगात्मक रचनाएँ लिखी हैं और उनके कुल्ली भाट, चतुरी चमार, सुकुल की बीबी, बिल्लेसुर बकरिहा, कुकुरमुत्ता आदि पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। पं० विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक निश्चय ही विजयानंद दुबे की चिट्ठियाँ आदि लिखकर इस क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रसिद्धिप्राप्त हैं। शिवपूजन सहाय और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हास्यरस के साहित्य की अच्छी श्रीवृद्धि की है। अन्नपूर्णानंद वर्मा को हम हास्यरस का ही विशेष लेखक कह सकते हैं। उनके 'महाकवि चच्चा', 'मेरी हजामत,' 'मगन रहु चोला', मगन मोद', 'मन मयूर' सभी सुरुचिपूर्ण हैं।

वर्तमान काल में उपेंद्रनाथ अश्क ने 'पर्दा उठाओ, परदा गिराओ' आदि कई नई सूझवाले एकांकी लिखे हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा का एकांकी संग्रह 'रिमझिम' इस क्षेत्र में मील का पत्थर माना गया है। उन्होंने स्मित हास्य के अच्छे नमूने दिए हैं। देवराज दिनेश, उदयशंकर भट्ट, भगवतीचरण वर्मा, प्रभाकर माचवे, जगन्नाथ नलिन, बेढब बनारसी, कांतानाथ चोंच,' भैया जी बनारसी, गोपालप्रसाद व्यास, काका हाथरसी, आदि अनेक सज्जनों ने अनेक विधाओं में रचनाएँ की हैं और हास्यरस के साहित्य को खूब समृद्ध किया है। इनमें से अनेक लेखकों की अनेक कृतियों ने अच्छी प्रशंसा पाई है। भगवतीचरण वर्मा का 'अपने खिलौने' हास्य-

रस के उपन्यासों में विशिष्ट स्थान रखता है। यशपाल का 'चक्कर क्लब' व्यंग के लिये प्रसिद्ध है। कृष्णचंद्र ने 'एक गधे की आत्मकथा' आदि लिखकर व्यंग लेखकों में यशस्विता प्राप्त की है। गंगाधर शुक्ल का 'सुबह होती है शाम होती है' अपनी निराली विधा रखता है।

राहुल सांकृत्यायन, सेठ गोविंद दास, श्रीनारायण चतुर्वेदी, अमृतलाल नागर, डा० बरसानेलाल जी, वासुदेव गोस्वामी, बेधड़क जी, मिश्र जी, भारतभूषण अग्रवाल, आदि के नाम गिनाए जा सकते हैं जिन्होंने किसी न किसी रूप में साहित्य के इस उपादेय अंग की समृद्धि की है।

अन्य भाषाओं की कई विशिष्ट कृतियों के अनुवाद भी हिंदी में हो चुके हैं। केलकर के 'सुभाषित आणि विनोद' नामक गवेषणापूर्ण मराठी ग्रंथ के अनुवाद के अतिरिक्त मोलियेर के नाटकों का, 'गुलिवर्स ट्रैवेल्स' का, 'डान क्विक्जोट' का, सरशार के 'फिसानए आजाद' का, रवींद्रनाथ टैगोर के नाट्यकौतुक का, परशुराम, अजीमबेग चगताई आदि की कहानियों का, अनुवाद हिंदी में उपलब्ध है।

[बा० प्र० मि०]

हिंद महासागर स्थिति : १५° ०' उ० अ० से ३५° ०' द० अ० तथा ४५° ०' से ११२° ०' पू० दे०। इसका विस्तार दक्षिण ध्रुवक्षेत्र से भारत तक और पूर्वी अफ्रीका से आस्ट्रेलिया और तस्मानिया तक है। इसका अधिकतर भाग भूमध्यरेखा के दक्षिण में पड़ता है। अरब सागर और बंगाल की खाड़ी दोनों इसी के भाग हैं। इस सागर में अनेक द्वीप हैं, जिनमें मैडागास्कर, श्रीलंका, मोरिशस, सोकोट्रा, अंडेमन, निकोबार, मालद्वीप, लक्का द्वीप और मगुंई प्रमुख हैं। मिस्र की 'स्वेज नहर' इसे भूमध्य सागर से जोड़ती है। यह ७,४२,४०,००० वर्ग किमी में फैला है। क्षेत्रफल में प्रशांत महासागर के आधे से कम है। इसके जल की मात्रा अटलैंटिक महासागर से कुछ कम है। इसकी औसत गहराई लगभग ३,६०० मी और सबसे अधिक गहराई ७,५०० मी है। हिंद महासागर के क्षेत्र में छह महीने तक मानसूनी हवाएँ उत्तर पूर्व से चलती हैं, जब कि बाकी समय में ये हवाएँ उत्तरी दिशा में दक्षिण पश्चिम की ओर चलती हैं। सन् १९५८ के सितंबर में हिंद महासागर की छानबीन के लिये एक विशाल अंतरराष्ट्रीय योजना (स्पेशल कमेटी ऑन ओशनोग्राफिक रिसर्च) बनाई गई है। इस योजना से १८ देशों ने इस सागर में मछलीक्षेत्रों, तांबे, बेरियम के भंडारों, वायु की गति, रेडियो विकिरण आदि के अध्ययन की योजना बनाई। इसमें मछलियों के अक्षय भंडार का अनुमान है। इसकी तली में रत्नों के भंडार का भी अनुमान है। अनेक नदियों जैसे सिंध, ब्रह्मपुत्र, गंगा, इरावदी, सालवीन, मटल अल अब आवगी आदि का पानी इसमें गिरता है।

छानबीन के कार्य में तीन प्रकार के देश भाग ले रहे हैं। प्रथम वे देश जो छानबीन के लिये अपने जहाज तथा वैज्ञानिक दोनों भेज रहे हैं। इनमें भारत, अमरीका, इंग्लैंड, जापान आदि हैं। दूसरे, वे देश जो समुद्र की ऊपरी सतह एवं मौसम की ही जाँच करेंगे तथा छानबीन में काम करनेवाले जहाजों को सहायता देंगे। तीसरे वे देश, जिन्होंने केवल अपने वैज्ञानिक भेजे हैं। इस प्रकार अब लगभग १८ के स्थान पर २५ देश हिंद महासागर की खोज में लगे हैं।

इस महासागर के पास के क्षेत्र संसार की सबसे घनी आबादी-वाले क्षेत्र हैं। भारत, लंका, इंडोनिशिया, मलाया तथा अफ्रीकी तटों में प्रोटीनयुक्त पदार्थ की बहुत कमी है। इसकी पूर्ति के लिये मछलियों की खोज करना आवश्यक हो गया।

हिंद महासागर की खोज से पता चला है कि महासागर के नीचे बहुत बड़ी बड़ी घाटियाँ हैं। एक घाटी तो ९६० किमी लंबी तथा ४० किमी चौड़ी है। यह घाटी अंडमान के समुद्र से सुमात्रा के उत्तरी सिरे से लेकर बर्मा के एक दक्षिण पश्चिमी टापू के बीच है। यह घाटी महासागर में एक से तीन मील तक की गहराई में है तथा इसके इर्द गिर्द कई ऊँची ऊँची चोटियाँ हैं। सबसे ऊँची चोटी घाटी से ३,६०० मी ऊँची है। छानबीन करनेवालों ने ध्वनि संकेतों की सहायता से इस सागर का एक मानचित्र तैयार किया है। इन ध्वनियों से पता चलता है कि कई बड़ी बड़ी पहाड़ियाँ हैं तथा बहुत नीची जमीनवाले मैदान भी हैं। इसी सिलसिले के बीच बंगाल की खाड़ी के तल में मटमैली नदियों से बनी अनेक बड़ी बड़ी धाराओं की भी खोज की गई है। इनमें सबसे बड़ी जलधारा लगभग ६ किमी लंबी तथा ६० मी चौड़ी है।

महासागर के मौसम संबंधी ज्ञान तथा आँकड़े इकट्ठे करने के लिये बंबई में एक अंतरराष्ट्रीय ऋतुकेंद्र की स्थापना की गई है जो यंत्रों की सहायता से मौसम के बारे में एवं समुद्री तूफानों के बारे में सूचना देता है।

समुद्री भूगर्भीय ज्ञान प्राप्त करने के लिये समुद्र की तलहटी में सूराख किए गए हैं। पानी के भीतर चट्टानों के आसपास तथा नीचे कैमरों से चित्र लिए गए। इससे मिट्टी की जमावट, उसकी उत्पादकता, जलवायु, और चुंबकीय परिवर्तनों के बारे में जानकारी ज्ञात की गई। समुद्रवैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि दक्षिण पूर्व एशिया के समीप की गहराई में फैरो मैंगनीज के क्रिस्टल करोड़ों टनों के लगभग मौजूद हैं। इसी प्रकार और भी कई प्रकार के धातु खनिजों का पता लगा है।

हिंदी (खड़ी बोली) की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ कविता — खड़ी बोली का आधुनिक साहित्य भारतेंदुयुग (१८५७–१९०० ई०) में आविर्भूत हुआ। मध्यकालीन भक्ति और शृंगार की भाषा ब्रजभाषा ही रही किंतु जनजागरण, समाजसुधार संबंधी काव्य खड़ी बोली में ही लिखा गया। १८वीं शताब्दी से ही प्रचलित सधुक्कड़ी खड़ी बोली में रचित सीतल और भगवतरसिक, सहचरीशरण आदि संतों की वाणी और १९वीं शताब्दी के रिसालगिरि, तुकनगिरि, रूपकिशोर आदि लावनीकारों की लावनी परंपरा में भी इस युग में लावनी, गजल और उद्बोधनात्मक कविताएँ लिखी गईं, फिर भी खड़ी बोली का यह प्रयोगयुग था और भारतेंदु को यह शिकायत थी कि खड़ी बोली में कविता जमती नहीं।

द्विवेदीयुगीन काव्यधारा — भारतेंदुयुग के अंत में (१८८६–८७) यह काव्यभाषा खड़ी हो या ब्रज, इस विवाद में श्रीधर पाठक के

एकांतवासी योगी (१८८६ ई०) ने खड़ी बोली की काव्योपयुक्तता सिद्ध कर दी। अतः द्विवेदीयुगीन द्वितीय काव्यधारा में (१९००–१९२०) खड़ी बोली में मुक्तक और प्रबंधकाव्यों की रचना हुई। रंग में भंग, जयद्रथवध, (१९१२), प्रियप्रवास (१९१२), रामचरितचिंतामणि, पथिक (१९१७), मिलन (१९२५) आदि प्रबंधकाव्यों में प्राचीन, नवीन वीरों का चरित गायन हुआ। 'प्रियप्रवास' में भगवान् कृष्ण को जननायक रूप में चित्रित किया गया और पथिक में देशभक्ति की अनुपम झाँकी प्रस्तुत की गई। रीतिकालीन नायिकाभेद, उद्दाम शृंगार, उद्दीपनपरक प्रकृतिचित्रण और कवित्त, सवैयों के स्थान पर, आर्यसमाज और नवराष्ट्रजागरण के कारण मर्यादामय प्रेम, प्रकृति के आलंबनगत चित्रण, नवीन गीतिका, हरिगीतिका आदि छंदों, संस्कृत के वर्णवृत्तों का प्रयोग, समाजसुधारात्मक तथा इतिवृत्तात्मक पद्यों की रचना, इस युग की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, बालमुकुंद गुप्त, सियारामशरण गुप्त, नाथूराम शर्मा 'शंकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय, रूपनारायण पांडेय, लोचनप्रसाद पांडेय और श्रीधर पाठक के प्रयत्न से खड़ी बोली की काव्योपयुक्तता का निर्णय हो गया। प्रियप्रवास और भारतभारती इस युग की विशिष्ट कृतियाँ मानी जाती हैं। शैली की दृष्टि से यह युग अभिधावादी ही रहा, उद्गार और उद्बोधनात्मक काव्य में सूक्ष्म कला का विकास संभव न हो सका।

छायावाद तथा रहस्यवाद — छायावाद और रहस्यवाद (१९२०-३५) तृतीय काव्यधारा है। १९वीं और २०वीं शताब्दी में अंग्रेजी शिक्षा संस्थाओं के कारण अंगरेजी के स्वच्छंदतावादी काव्य का प्रभाव प्रत्यक्षतः और अप्रत्यक्षतः बँगला के माध्यम से हिंदी काव्य पर पड़ा। अतः तृतीय धारा के छायावादी तथा रहस्यवादी काव्य में द्विवेदीयुगीन स्थूल मर्यादावाद, प्रबंधात्मकता और विवरणात्मक प्रकृतिचित्रण के स्थान पर स्वच्छंद प्रेम की पुकार, प्रेयसी का देवीकरण, अंतरराष्ट्रीयता और विश्वमानववाद, प्रकृति और प्रेयसी के माध्यम से निजी आशानिराशाओं का वर्णन, प्रकृति पर चेतना का आरोप, सौंदर्य अनुसंधान, अलौकिक से प्रेम के कारण द्विवेदीयुगीन स्थूल संघर्ष से पलायन, गीतात्मकता, लक्षणा, विशेषणविपर्यय तथा भाषा का कोमलीकरण प्रत्यक्ष और प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। प्रसाद (आँसू, लहर, झरना, कामायनी), सुमित्रानंदन पंत (पल्लव, गुंजन), निराला (जुही की कली, गीतिका के गीत आदि) और महादेवी ने परोक्ष सत्ता को प्रेम का विषय बनाकर प्रकृति में उसके आभास, आत्मनिवेदन और संयोगवियोग की कलात्मक अभिव्यक्तियों द्वारा काव्य को अलंकृत, लाक्षणिक, गीत्यात्मक और सूक्ष्म बनाया। द्विवेदीयुगीन राष्ट्रीयता की गूंज इन कवियों में यत्र तत्र मिलती है, विशेषकर निराला के बादलराग, जागो फिर एक बार आदि कृतियों में। पुनर्जागरण का पौरुषपरक रूप निराला में (राम की शक्तिपूजा), और सांस्कृतिक रूप उपनिषदों के ब्रह्मवादी दर्शन में मिला। कामायनी तृतीय धारा की सर्वोत्कृष्ट कृति है जिसमें रहस्यमय सत्ता की प्राप्ति के आवरण में पुरुष नारी, राजा प्रजा, प्रकृति पुरुष और मानवीय वृत्तियों में सामरस्य स्थापित करने का संदेश प्रस्तुत किया गया। तृतीय धारा में निराला ने मुक्त छंदों, पंत ने संस्कृत वर्णवृत्तों के स्थान पर हिंदी के छंदों, महादेवी और प्रसाद ने गेय गीतों का प्रयोग किया। प्रकृति और प्रेम के भव्य, मार्मिक चित्रण इस युग की विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं। अंगरेजी के शेली, कीट्स और बँगला के कवींद्र रवींद्र से प्रभावित होने पर हिंदी का छायावादी रहस्यवादी काव्य अपनी विशिष्टता की दृष्टि से मौलिक और मार्मिक है। कामायनी में चिंता, आशा, वासनादि मनोवृत्तियों, निराला के तुलसीदास और राम की शक्तिपूजा में मानसिक अंतर्द्वंद्वों, महादेवी के गीतों में मीरा जैसी विरह वेदना और पंत के प्रकृतिचित्रण में सौंदर्यविधान इतना आकर्षक हुआ है कि यह युग हिंदी काव्य का स्वर्णयुग कहा जाता है। भाषा का शृंगार और सांकेतिक शक्ति का विकास अपनी चरम सीमा पर इसी युग में पहुँचा।

हालावाद तथा मांसलवाद — छायावाद के उत्तरकाल (१९३० के पश्चात्) में छायावादी सूक्ष्म, लाक्षणिक रहस्यवादी अभिव्यक्ति के विरुद्ध हालावाद (बच्चन की मधुशाला, मधुबाला १९३३-३५) और मांसलवाद (अंचल की अपराजिता १९३०, मधूलिका आदि) का प्रवर्तन हुआ। बच्चन की हालावादी रचनाओं में फारसी उर्दू के सूफियाना रंग की मस्ती, दीवानगी, मर्यादावाद का विरोध और भोगवादी दृष्टिकोण व्यंजित हुआ है। मांसलवाद में वासना की घोषणा ही प्रधान होती गई। नरेंद्र शर्मा (प्रवासी के गीत) में क्षयी रोमांसवाद की निराशा और भगवतीचरण वर्मा में आत्मविज्ञप्ति अधिक मिलती है। हालावाद और मांसलवाद एक ओर तो द्विवेदीयुगीन संयमवाद और परंपरागत नैतिकतावाद के विरुद्ध था और दूसरी ओर इसमें छायावाद की अस्पष्ट, धूमिल, गहन प्रेमानुभूति के स्थान पर अभिधामय आत्मविज्ञापन अधिक था। उर्दू की 'तरजे अदायगी' की ये रचनाएँ युवकों में अधिक प्रिय हुई।

प्रगतिवाद — खड़ी बोली की चतुर्थ धारा प्रगतिवाद (१९३६ के पश्चात्) है। छायावादयुग में ही रूसी राज्यक्रांति के प्रभाववश साम्यवादी धारणाओं का प्रचार हो चुका था। १९३५-३६ में प्रगतिशील लेखकसंघ की स्थापना हुई। प्रगतिवादी कवि मार्क्सवाद से प्रभावित कवि थे। पंत जी के युगांत, युगवाणी, निराला की 'वह तोड़ती पत्थर,' 'बादलराग,' 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'नए पत्ते' आदि द्वारा इसका रूप स्पष्ट हुआ। यह आंदोलन सामंतवादी—पूँजीवादी तत्वों और साहित्यक्षेत्र में प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध क्रांति लेकर उपस्थित हुआ। जनता के दारिद्र्य, पूँजीपतियों के विरुद्ध आक्रोश, इतिहास, धर्म, संस्कृति, कला की भौतिकवादी व्याख्या, ब्रह्मवाद का विरोध तथा छायावादी अलंकृत शैली के विरुद्ध अभिधावादी शैली का प्रयोग इस धारा की प्रमुख विशेषताएँ हैं। छायावाद में शृंगार तथा प्रगतिवाद में करुण, वीर, रौद्र रसों को अधिक अभिव्यक्ति मिली। किंतु द्विवेदीयुग के सदृश इस युग में पुनः स्थूलता का आगमन हुआ, इसमें कला कम गर्जन तर्जन, उद्गार अधिक मिलते हैं। रांगेय राघव (पिघलते पत्थर, आक्रमण), दिनकर (हुंकार), केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगलसिंह सुमन (जीवन के गान), नागार्जुन, भगवतीचरण वर्मा (भैंसागाड़ी) शमशेर, पंत जी (ग्राम्या), गजानन मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, उदयशंकर भट्ट, अंचल, नरेंद्र शर्मा आदि ने प्रगतिवादी काव्य की सृष्टि की।

प्रेमचंद का 'हंस' इस साहित्य का मुखपत्र था। प्रगतिवादियों ने छायावादियों के विरुद्ध जीवन के यथार्थ को वाणी दी। प्रकृति को रोमानी दृष्टि से न देखकर उसे जीवन की वास्तविकता के संदर्भ में रखकर देखा है। प्रगतिवादी काव्य में व्यंग्य का सर्वाधिक विकास हुआ है। प्रगतिवाद आज भी एक जीवंत काव्यधारा है, उसने अब हुंकारात्मक रूप छोड़कर अधिक सूक्ष्म और कलामय रूप अपनाया है।

प्रयोगवाद — खड़ी बोली काव्य की पंचम धारा प्रयोगवाद कहलाती है (१९४३ ई० के पश्चात्)। स० ही० वा० अज्ञेय ने, जो प्रगतिवादी भी रह चुके थे, १९४३ में प्रथम तारसप्तक में मुख्यतः प्रगतिवादी कवियों की नए ढंग की प्रयोगात्मक रचनाएँ प्रकाशित कीं। १९५१ में द्वितीय सप्तक प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् इस धारा को 'नई कविता' नाम मिला। प्रयाग की 'नई कविता', हैदराबाद की 'कल्पना' और दिल्ली की 'कृति' नामक पत्रिकाओं के अतिरिक्त अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, प्रभाकर माचवे, डा० देवराज, शंभुनाथ सिंह, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, शमशेर, बालकृष्ण राव, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि के काव्यसंग्रहों और स्फुट रचनाओं से प्रयोगवाद या नई कविता का रूप स्पष्ट हुआ। यह काव्य मुख्यतः छायावादी रोमानी दृष्टि और अलंकृति तथा प्रगतिवादी अनगढ़ता के विरुद्ध 'रूपवादी' आंदोलन है। छायावाद का प्रेरणास्रोत अंगरेजी का रोमांटिक काव्य और प्रयोगवाद का प्रेरणास्रोत यूरोप का प्रतीकवाद (फ्रांस), अतियथार्थवाद, अस्तित्ववाद तथा आधुनिक चित्रकलावाद था। प्रगतिशील प्रयोगवादियों पर योरोपीय प्रभाव केवल शिल्प की दृष्टि से ही है किंतु प्रयोगवादी कथ्य के विरोधी प्रयोगवादियों पर उक्त प्रभाव अधिक घनीभूत है; इसमें व्यक्ति की अस्तित्व आशंका, अनास्था, अवसाद, निराशा, भ्रमनाश, सामाजिकता के विरुद्ध व्यक्तिवाद, महत्ता के स्थान पर 'लघुतावाद' अवचेतनस्थित कुंठा, आदि को प्रतीकात्मक और बिबात्मक शैली में व्यक्त किया गया है। 'रस' के स्थान पर बुद्धिवाद, कथ्य को प्रतीकों और बिबों द्वारा यथावत् प्रस्तुत करने की चेष्टा, भाषा के नवीन प्रयोग, वार्तालापात्मक और वक्तव्यपरक शैली पर बल, गूढ़ और अब तक अछूते विषयों की अभिव्यक्ति इस धारा की विशेषताएँ हैं। प्राचीन आख्यानों का नवीन प्रश्नों को प्रस्तुत करने के लिये प्रयोग किया गया है। छंदों की दृष्टि से यह धारा पूर्ण स्वच्छंद है। 'छंदगंध' मात्र ही इस नए काव्य में अधिक है। शब्दलय के स्थान पर अर्थलय के प्रयोग पर अधिक बल दिया गया है, यद्यपि बहुत से कवि गद्यात्मकता के साथ साथ मुक्त छंदों का भी प्रयोग करते हैं। चित्रकला के प्रभाववाद, भविष्यवाद, यथातथ्यवाद तथा टी० एस० इलियट, एज़रा पौंड, बॉदलेयर, मलार्मे, रिल्के, रिंबों आदि कवियों की कला से नई कविता अत्यधिक प्रभावित है। लोकजीवन से प्रभावित कविताएँ भी लिखी गई हैं। घोर व्यक्तिवाद, क्षण में अनुभूत अनुभूतियों की बिबात्मक अभिव्यक्ति से जहाँ नवीनता की सृष्टि अधिक हुई है — विशेषकर नूतन अप्रस्तुत विधान के क्षेत्र में, वहीं भाषा की अव्यवस्थता, अभिव्यक्ति की अस्पष्टता, दुर्बोध संकेतात्मकता, शब्ददारिद्र्य, छंदद्रोह और बौद्धिक आग्रह इस काव्य के दोष हैं।

नवगीतवाद — खड़ी बोली की षष्ठ धारा है नवगीतवाद। बच्चन, नीरज, वीरेंद्र मिश्र, शंभुनाथ सिंह, रंग, रमानाथ अवस्थी, ठाकुरप्रसाद सिंह, अंचल, सुरेंद्र तिवारी, सोम, कमलेश, केदारनाथ सिंह, गिरधर गोपाल, रामावतार त्यागी, गिरजाकुमार माथुर, कैलास वाजपेयी, राही, सुमन और नेपाली आदि गीतकारों ने प्रेम, प्रकृति और समाज के विषय में नूतन अप्रस्तुत विधान द्वारा पदार्थक्षवियों और भावनाओं को वाणी दी है। अपेक्षाकृत सरल और स्पष्ट भाषा का प्रयोग, अहंसापेक्ष अनुभूतियों को अहंनिरपेक्ष करने का चाव और कविसंमेलनों में अधिकाधिक जनप्रियता पाने की इच्छा, इन कवियों की विशेषता है। नई कविता की परिपाटी पर 'नए गीत' भी आज के काव्य की उपलब्धि है।

इन नवीन धाराओं के अतिरिक्त परंपरागत शैली में प्रबंधकाव्य भी लिखे जाते हैं। तक्षशिला (उदयशंकर भट्ट), नूरजहाँ, (गुरुभक्त सिंह), उर्मिला (नवीन), सिद्धार्थ और वर्द्धमान (अनूप शर्मा), दैत्यवंश (हरदयालुसिंह), छत्रसाल (लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी') पार्वती (रामानंद तिवारी) आदि ऐसे ही काव्य हैं। इधर गांधी, प्रेमचंद, मीरा आदि पर भी प्रबंधकाव्य लिखे गए हैं। दिनकर की 'उर्वशी' पुरानी शैली में एक उल्लेखनीय उपलब्धि है जिसमें कामायनी और पार्वती के समान मानवमन के शाश्वत अंतर्विरोध का आकर्षक वर्णन है। किंतु नवीनतावादियों की तुलना में परंपरागत प्रबंधकाव्यों का संमान कम हो रहा है। [वि० उ०]

हिंदी के आधुनिक उपन्यास हिंदी उपन्यास का आरंभ श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरु' (१८४३ ई०) से माना जाता है। हिंदी के आरंभिक उपन्यास अधिकतर ऐयारी और तिलस्मी किस्म के थे। अनूदित उपन्यासों में पहला सामाजिक उपन्यास भारतेंदु हरिश्चंद्र का 'पूर्णप्रकाश' और चंद्रप्रभा नामक मराठी उपन्यास का अनुवाद था। आरंभ में हिंदी में कई उपन्यास बँगला, मराठी आदि से अनुवादित किए गए।

हिंदी में सामाजिक उपन्यासों का आधुनिक अर्थ में सूत्रपात प्रेमचंद (१८८०–१९३६) से हुआ। प्रेमचंद पहले उर्दू में लिखते थे, बाद में हिंदी की ओर मुड़े। आपके 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'गबन', 'निर्मला', 'गोदान' आदि प्रसिद्ध उपन्यास हैं, जिनमें ग्रामीण वातावरण का उत्तम चित्रण है। चरित्रचित्रण में प्रेमचंद गांधी जी के 'हृदयपरिवर्तन' के सिद्धांत को मानते थे। बाद में उनकी रुझान समाजवाद की ओर भी हुई, ऐसा जान पड़ता है। कुल मिलाकर उनके उपन्यास हिंदी में आधुनिक सामाजिक सुधारवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यासों में भिन्न प्रकार के समाजों का चित्रण है, परंतु शैली अधिक काव्यात्मक है। प्रेमचंद की ही शैली में, उनके अनुकरण से विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि अनेक लेखकों ने सामाजिक उपन्यास लिखे, जिनमें एक प्रकार का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद अधिक था। परंतु पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री आदि ने फरांसीसी ढंग का यथार्थवाद और प्रकृतवाद (नैचुरैलिज़म) अपनाया और समाज की बुराइयों का भंडाफोड़ किया। इस शैली

के उपन्यासकारों में सबसे सफल रहे 'चित्रलेखा' के लेखक भगवतीचरण वर्मा, जिनके 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' और 'भूले बिसरे चित्र' बहुत प्रसिद्ध हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क की 'गिरती दीवारें' का भी इस समाज की बुराइयों के चित्रणवाली रचनाओं में महत्वपूर्ण स्थान है। अमृतलाल नागर की 'बूंद और समुद्र' इसी यथार्थवादी शैली में आगे बढ़कर आंचलिकता मिलानेवाला एक श्रेष्ठ उपन्यास है। सियारामशरण गुप्त की नारी' की अपनी अलग विशेषता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास जैनेंद्रकुमार से शुरू हुए। 'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी' आदि से भी अधिक आप के 'त्यागपत्र' ने हिंदी में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान दिया। जैनेंद्र जी दार्शनिक शब्दावली में अधिक उलझ गए। मनोविश्लेषण में स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने अपने 'शेखर: एक जीवनी', 'नदी के द्वीप', 'अपने अपने अजनबी' में उत्तरोत्तर गहराई और सूक्ष्मता उपन्यासकला में दिखाई। इस शैली में लिखनेवाले बहुत कम मिलते हैं। सामाजिक विकृतियों पर इलाचंद्र जोशी के 'संन्यासी', 'प्रेत और छाया', 'जहाज का पंछी' आदि में अच्छा प्रकाश डाला गया है। इस शैली के उपन्यासकारों में धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' और नरेश मेहता का 'वह पथ-बंधु था' उत्तम उपलब्धियाँ हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक बहुत मनोरंजक कथाप्रयोग है जिसमे प्राचीन काल के भारत को मूर्त किया गया है। वृंदावनलाल वर्मा के 'महारानी लक्ष्मी बाई', 'मृगनयनी' आदि में ऐतिहासिकता तो बहुत है, रोचकता भी है, परंतु काव्यमयता द्विवेदी जी जैसी नहीं है। राहुल सांकृत्यायन (१८९५-१९६१), रांगेय राघव (१९२२-१९६३) आदि ने भी कुछ संस्मरणीय ऐतिहासिक उपन्यास दिए हैं।

यथार्थवादी शैली सामाजिक यथार्थवाद की ओर मुड़ी और 'दिव्या' और 'झूठा सच' के लेखक भूतपूर्व क्रांतिकारी यशपाल, और 'बलचनमा' के लेखक नागार्जुन इस धारा के उत्तम प्रतिनिधि हैं। कहीं कहीं इनकी रचनाओं में प्रचार का आग्रह बढ़ गया है। हिंदी की नवीनतम विधा आंचलिक उपन्यासों की है, जो शुरू होती है फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आंचल' से और उसमें अब कई लेखक हाथ आजमा रहे हैं, जैसे राजेंद्र यादव, मोहन राकेश, शैलेश मटियानी, राजेंद्र अवस्थी, मनहर चौहान, शिवानी इत्यादि।

[प्र० मा०]

हिंदी के प्रारंभिक उपन्यास

हिंदी के मौलिक कथासाहित्य का आरंभ इंशा अल्लाह खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' से होता है। भारतीय वातावरण में निर्मित इस कथा में लौकिक परंपरा के स्पष्ट तत्व दिखाई देते हैं। खाँ साहब के पश्चात् पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान और एक सुजान' नामक उपन्यासों का निर्माण किया। इन उपन्यासों का विषय समाजसुधार है।

भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों ने राजनीतिज्ञ या समाजसुधारक के रूप में लिखा। बाबू देवकीनंदन सर्वप्रथम ऐसे उपन्यासलेखक थे जिन्होंने विशुद्ध उपन्यासलेखक के रूप में लिखा। उन्होंने कहानी कहने के लिये ही कहानी कही। वह अपने युग के घात प्रतिघात से प्रभावित थे। हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में खत्री जी ने जो परंपरा स्थापित की वह एकदम नई थी। प्रेमचंद ने भारतेंदु द्वारा स्थापित परंपरा में एक नई कड़ी जोड़ी। इसके विपरीत बाबू देवकीनंदन खत्री ने एक नई परंपरा स्थापित की। घटनाओं के आधार पर उन्होंने कहानियों की एक ऐसी शृंखला जोड़ी जो कहीं टूटती नजर नहीं आती। खत्री जी की कहानी कहने की क्षमता को हम इंशाकृत 'रानी केतकी की कहानी' के साथ सरलतापूर्वक संबद्ध कर सकते हैं।

वास्तव में कथासाहित्य के इतिहास में खत्री जी की 'चंद्रकांता' का प्रवेश एक महत्वपूर्ण घटना है। यह हिंदी का प्रथम मौलिक उपन्यास है। खत्री जी के उपन्यास साहित्य मे भारतीय संस्कृति की स्पष्ट छाप देखने को मिलती है। मर्यादा आपके उपन्यासों का प्राण है।

उपन्यास साहित्य की विकासयात्रा में पं० किशोरीलाल गोस्वामी के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। यह उपन्यासों की दिशा में घर करके बैठ गए। आधुनिक जीवन की विषमताओं के चित्र आपके जासूसी उपन्यासों में पाए जाते हैं। गोस्वामी जी के उपन्यास साहित्य में वासना का झीना परदा प्राय: सभी कहीं पड़ा हुआ है।

जासूसी उपन्यासलेखकों में बाबू गोपालराम गहमरी का नाम महत्वपूर्ण है। गहमरी जी ने अपने उपन्यासों का निर्माण स्वयं अनुभव की हुई घटनाओं के आधार पर किया है, इसलिये कथावस्तु पर प्रामाणिकता की छाप है। कथावस्तु हत्या या लाश के पाए जाने के विषयों से संबंधित है। जनजीवन से संपर्क होने के कारण उपन्यासों की भाषा में ग्रामीण प्रयोग प्राय: मिलते हैं।

हिंदी के आरंभिक उपन्यासलेखकों मे बाबू हरिकृष्ण जौहर का तिलस्मी तथा जासूसी उपन्यास लेखकों में महत्वपूर्ण स्थान है। तिलस्मी उपन्यासों की दिशा में जौहर ने बाबू देवकीनंदन खत्री द्वारा स्थापित उपन्यासपरंपरा को विकसित करने मे महत्वपूर्ण योग दिया है। आधुनिक जीवन की विषमताओं एवं सभ्य समाज के यथार्थ जीवन का प्रदर्शन करने के लिये ही बाबू हरिकृष्ण जौहर ने जासूसी उपन्यासों का निर्माण किया है। 'काला बाघ' और 'मयाह गायब' आपके इस दिशा में महत्वपूर्ण उपन्यास हैं।

हिंदी के प्रारंभिक उपन्यासों का निर्माण लोकसाहित्य की आधार-शिला पर हुआ। कौतूहल और जिज्ञासा के भाव ने इसे विकसित किया। आधुनिक जीवन की विषमताओं ने जासूसी उपन्यासों की कथा को जीवन के यथार्थ में प्रवेश कराया। असत्य पर सत्य की सदैव ही विजय होती है यह सिद्धांत भारतीय संस्कृति का केंद्रबिंदु है। हिंदी के प्रारंभिक उपन्यासों में यह प्रवृत्ति मूल रूप से पाई जाती है।

[गि० चं० त्रि०]

हिंदी पत्रकारिता भारतवर्ष में आधुनिक ढंग की पत्रकारिता का जन्म अठारहवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में कलकत्ता, बंबई और मद्रास में हुआ। १७८० ई० में प्रकाशित हिके (Hickey) का 'कलकत्ता गजट' कदाचित् इस ओर पहला प्रयत्न था। हिंदी के पहले पत्र 'उदंत मार्तंड' (१८२६) के प्रकाशित होने तक इन नगरों की ऐंग्लोइंडियन अंग्रेजी पत्रकारिता काफी विकसित हो गई थी।

इन अंतिम वर्षों में फारसी भाषा में भी पत्रकारिता का जन्म हो चुका था। १८ वीं शताब्दी के फारसी पत्र कदाचित् हस्तलिखित पत्र थे। १८०१ में हिंदुस्तान इंटेलिजेंस ओरिएंटल ऐंथॉलॉजी (Hindusthan Intelligence Oriental Anthology) नाम का जो संकलन प्रकाशित हुआ उसमें उत्तर भारत के कितने ही 'अखबारों' के उद्धरण थे। १८१० में मौलवी इकराम अली ने कलकत्ता से लीथो पत्र 'हिंदोस्तानी' प्रकाशित करना प्रारंभ किया। १८१६ में गंगाकिशोर भट्टाचार्य ने 'बंगाल गजट' का प्रवर्तन किया। यह पहला बंगला पत्र था। बाद में श्रीरामपुर के पादरियों ने प्रसिद्ध प्रचार-पत्र 'समाचारदर्पण' को (२७ मई, १८१८) जन्म दिया। इन प्रारंभिक पत्रों के बाद १८२३ में हमें बंगला भाषा के समाचार-चंद्रिका और 'संवाद कौमुदी', फारसी उर्दू के 'जामे जहाँनुमा' और 'शमसुल अखबार' तथा गुजराती के 'मुंबई समाचार' के दर्शन होते हैं।

यह स्पष्ट है कि हिंदी पत्रकारिता बहुत बाद की चीज नहीं है। दिल्ली का 'उर्दू अखबार' (१८३३) और मराठी का 'दिग्दर्शन' (१८३७) हिंदी के पहले पत्र 'उदंत मार्तंड' (१८२६) के बाद ही आए। 'उदंत मार्तंड' के संपादक पंडित जुगलकिशोर थे। यह साप्ताहिक पत्र था। पत्र की भाषा पछाँही हिंदी रहती थी, जिसे पत्र के संपादकों ने 'मध्यदेशीय भाषा' कहा है। प्रारंभिक विज्ञप्ति इस प्रकार थी — "यह 'उदंत मार्तंड' अब पहले पहल हिंदुस्तानियों के हित के हेत जो आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेजी ओ पारसी ओ बंगाल में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जानने ओ पढ़नेवालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिंदुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ ओ समझ लेय ओ पराई अपेक्षा न करें ओ अपनी भाषा की उपज न छोड़ें, इसलिये दयावान करुणा और गुणनि के निधान सब के कल्यान के विषय गवरनर जेनेरेल बहादुर की आयस से ऐसे साहस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठाटा ...'। यह पत्र १८२७ में बंद हो गया। उन दिनों सरकारी सहायता के बिना किसी भी पत्र का चलना असंभव था। कंपनी सरकार ने मिशनरियों के पत्र को डाक आदि की सुविधा दे रखी थी, परंतु चेष्टा करने पर भी 'उदंत मार्तंड' को यह सुविधा प्राप्त नहीं हो सकी।

हिंदी पत्रकारिता का पहला चरण — १८२६ ई० से १८७३ ई० तक को हम हिंदी पत्रकारिता का पहला चरण कह सकते हैं। १८७३ ई० में भारतेंदु ने 'हरिश्चंद्र मैगजीन' की स्थापना की। एक वर्ष बाद यह पत्र 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैसे भारतेंदु का 'कविवचन सुधा' पत्र १८६७ में ही सामने आ गया था और उसने पत्रकारिता के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया था; परंतु नई भाषाशैली का प्रवर्तन १८७३ में 'हरिश्चंद्र मैगजीन' से ही हुआ। इस बीच के अधिकांश पत्र प्रयोग मात्र कहे जा सकते हैं और उनके पीछे पत्रकला का ज्ञान अथवा नए विचारों के प्रचार की भावना नहीं है। 'उदंत मार्तंड' के बाद प्रमुख पत्र हैं : बंगदूत (१८२९), प्रजामित्र (१८३४), बनारस अखबार (१८४५), मार्तंड पंचभाषीय (१८४६), ज्ञानदीप (१८४६), मालवा अखबार (१८४९), जगद्दीप भास्कर (१८४९), सुधाकर (१८५०), साम्यदंड मार्तंड (१८५०), मजहरुलसरूर (१८५०), बुद्धिप्रकाश (१८५२), ग्वालियर गजेट (१८५३), समाचार सुधावर्षण (१८५४), दैनिक कलकत्ता, प्रजाहितैषी (१८५५), सर्वहितकारक (१८५५), सूरजप्रकाश (१८६१), जगलाभचिंतक (१८६१), सर्वोपकारक (१८६१), प्रजाहित (१८६१), लोकमित्र (१८६५), भारत-खंडामृत (१८६४), तत्वबोधिनी पत्रिका (१८६५), ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका (१८६६), सोमप्रकाश (१८६६), सत्यदीपक (१८६६), वृत्तांतविलास (१८६७), ज्ञानदीपक (१८६७), कविवचनसुधा (१८६७), धर्मप्रकाश (१८६७), विद्याविलास (१८६७), वृत्तांतदर्पण (१८६७), विद्यादर्श (१८६९), ब्रह्मज्ञानप्रकाश (१८६९), पापमोचन (१८६९), जगदानंद (१८६९), जगत-प्रकाश (१८६९), अलमोड़ा अखबार (१८७०), आगरा अखबार (१८७०), बुद्धिविलास (१८७०), हिंदू प्रकाश (१८७१), प्रयागदूत (१८७१), बुंदेलखंड अखबार (१८७१), प्रेमपत्र (१८७२), और बोधा समाचार (१८७२)। इन पत्रों में से कुछ मासिक थे, कुछ साप्ताहिक। दैनिक पत्र केवल एक था 'समाचार सुधावर्षण' जो द्विभाषीय (बंगला हिंदी) था और कलकत्ता से प्रकाशित होता था। यह दैनिक पत्र १८७१ तक चलता रहा। अधिकांश पत्र आगरा से प्रकाशित होते थे जो उन दिनों एक बड़ा शिक्षाकेंद्र था, और विद्यार्थी-समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। शेष ब्रह्मसमाज, सनातन धर्म और मिशनरियों के प्रचार कार्य से संबंधित थे। बहुत से पत्र द्विभाषीय (हिंदी उर्दू) थे और कुछ तो पंचभाषीय तक थे। इससे भी पत्रकारिता की अपरिपक्व दशा ही सूचित होती है। हिंदी-प्रदेश के प्रारंभिक पत्रों में 'बनारस अखबार' (१८४५) काफी प्रभावशाली था और उसी की भाषानीति के विरोध में १८५० में तारामोहन मैत्र ने काशी से साप्ताहिक 'सुधाकर' और १८५५ में राजा लक्ष्मणसिंह ने आगरा से 'प्रजाहितैषी' का प्रकाशन प्रारंभ किया था। राजा शिवप्रसाद का 'बनारस अखबार' उर्दू भाषाशैली को अपनाता था तो ये दोनों पत्र पंडिताऊ तत्समप्रधान शैली की ओर झुकते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि १८६७ से पहले भाषाशैली के संबंध में हिंदी पत्रकार किसी निश्चित शैली का अनुसरण नहीं कर सके थे। इस वर्ष कविवचनसुधा का प्रकाशन हुआ और एक तरह से हम उसे पहला महत्वपूर्ण पत्र कह सकते हैं। पहले यह मासिक था, फिर पाक्षिक हुआ और अंत में साप्ताहिक। भारतेंदु के बहुविध व्यक्तित्व का प्रकाशन इस पत्र के माध्यम से हुआ, परंतु सच तो यह है कि 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के प्रकाशन (१८७३) तक वे भी भाषाशैली और विचारों के क्षेत्र में मार्ग ही खोजते दिखाई देते हैं।

भारतेंदु युग — हिंदी पत्रकारिता का दूसरा युग १८७३ से १९०० तक चलता है। इस युग के एक छोर पर भारतेंदु का 'हरिश्चंद्र मैगजीन' था और दूसरी ओर नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा अनुमोदन-प्राप्त 'सरस्वती'। इन २७ वर्षों में प्रकाशित पत्रों की संख्या ३००—३५० से ऊपर है और ये नागपुर तक फैले हुए हैं। अधिकांश पत्र मासिक या साप्ताहिक थे। मासिक पत्रों में निबंध, नवल कथा (उपन्यास), वार्ता आदि के रूप में कुछ अधिक स्थायी संपत्ति रहती थी, परंतु अधिकांश पत्र १०-१५ पृष्ठों से अधिक नहीं जाते थे

और उन्हें हम आज के शब्दों में 'विचारपत्र' ही कह सकते हैं। साप्ताहिक पत्रों में समाचारों और उनपर टिप्पणियों का भी महत्वपूर्ण स्थान था। वास्तव में दैनिक समाचार के प्रति उस समय विशेष आग्रह नहीं था और कदाचित् इसीलिये उन दिनों साप्ताहिक और मासिक पत्र कहीं अधिक महत्वपूर्ण थे। उन्होंने जनजागरण में अत्यंत महत्वपूर्ण भाग लिया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के इन २५ वर्षों का आदर्श भारतेंदु की पत्रकारिता थी। 'कविवचनसुधा' (१८६७), 'हरिश्चंद्र मैगजीन' (१८७४), श्री हरिश्चंद्र चंद्रिका' (१८७४), बालाबोधिनी (स्त्री-जन की पत्रिका, १८७४) के रूप में भारतेंदु ने इस दिशा में पथप्रदर्शन किया था। उनकी टीकाटिप्पणियों से अधिकारी तक घबराते थे और 'कविवचनसुधा' के 'पंच' पर रुष्ट होकर काशी के मजिस्ट्रेट ने भारतेंदु के पत्रों को शिक्षा विभाग के लिये लेना भी बंद करा दिया था। इसमें संदेह नहीं कि पत्रकारिता के क्षेत्र में भी भारतेंदु पूर्णतया निर्भीक थे और उन्होंने नए नए पत्रों के लिये प्रोत्साहन दिया। 'हिंदी प्रदीप', 'भारतजीवन' आदि अनेक पत्रों का नामकरण भी उन्होंने ही किया था। उनके युग के सभी पत्रकार उन्हें अग्रणी मानते थे।

भारतेंदु के बाद — भारतेंदु के बाद इस क्षेत्र में जो पत्रकार आए उनमें प्रमुख थे पंडित रुद्रदत्त शर्मा, (भारतमित्र, १८७७), बालकृष्ण भट्ट (हिंदी प्रदीप, १८७७), दुर्गाप्रसाद मिश्र (उचित वक्ता, १८७८), पंडित सदानंद मिश्र (सारसुधानिधि, १८७८), पंडित वंशीधर (सज्जन-कीर्त्ति-सुधाकर, १८७८), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (आनंदकादंबिनी, १८८१), देवकीनंदन त्रिपाठी (प्रयाग समाचार, १८८२), राधाचरण गोस्वामी (भारतेंदु, १८८२), पंडित गौरीदत्त (देवनागरी प्रचारक, १८८२), राजा रामपाल सिंह (हिंदुस्तान, १८८३), प्रतापनारायण मिश्र (ब्राह्मण, १८८३), अंबिकादत्त व्यास, (पीयूषप्रवाह, १८८४), बाबू रामकृष्ण वर्मा (भारतजीवन, १८८४), पं० रामगुलाम अवस्थी (शुभचिंतक, १८८८), योगेशचंद्र वसु (हिंदी बंगवासी, १८९०), पं० कुंदनलाल (कवि व चित्रकार, १८९१), और बाबू देवकीनंदन खत्री एवं बाबू जगन्नाथदास (साहित्य सुधानिधि, १८९४)। १८९५ ई० में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन आरंभ होता है। इस पत्रिका से गंभीर साहित्यसमीक्षा का आरंभ हुआ और इसलिये हम इसे एक निश्चित प्रकाशस्तंभ मान सकते हैं। १९०० ई० में 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' के अवतरण के साथ हिंदी पत्रकारिता के इस दूसरे युग पर पटाक्षेप हो जाता है।

इन २५ वर्षों में हमारी पत्रकारिता अनेक दिशाओं में विकसित हुई। प्रारंभिक पत्र शिक्षाप्रसार और धर्मप्रचार तक सीमित थे। भारतेंदु ने सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक दिशाएँ भी विकसित कीं। उन्होंने ही 'बालाबोधिनी' (१८७४) नाम से पहला स्त्री-मासिक-पत्र चलाया। कुछ वर्ष बाद महिलाओं को स्वयं इस क्षेत्र में उतरते देखते हैं — 'भारतभगिनी' (हरदेवी, १८८८), 'सुगृहिणी' (हेमंतकुमारी, १८८९)। इन वर्षों में धर्म के क्षेत्र में आर्यसमाज और सनातन धर्म के प्रचारक विशेष सक्रिय थे। ब्रह्मसमाज और राधास्वामी मत से संबंधित कुछ पत्र और मिर्जापुर जैसे ईसाई केंद्रों से कुछ ईसाई धर्म संबंधी पत्र भी सामने आते हैं, परंतु युग की धार्मिक प्रतिक्रियाओं को हम आर्यसमाजी और सनातनी पत्रों में ही पाते हैं। आज ये पत्र कदाचित् उतने महत्वपूर्ण नहीं जान पड़ते, परंतु इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने हमारी गद्यशैली को पुष्ट किया और जनता में नए विचारों की ज्योति धरी। इन धार्मिक वादविवादों के फलस्वरूप समाज के विभिन्न वर्ग और संप्रदाय सुधार की ओर अग्रसर हुए और बहुत शीघ्र ही सांप्रदायिक पत्रों की बाढ़ आ गई। सैकड़ों की संख्या में विभिन्न जातीय और वर्गीय पत्र प्रकाशित हुए और उन्होंने असंख्य जनों को वाणी दी।

आज वही पत्र हमारी इतिहासचेतना में विशेष महत्वपूर्ण हैं जिन्होंने भाषा, शैली, साहित्य अथवा राजनीति के क्षेत्र में कोई अप्रतिम कार्य किया हो। साहित्यिक दृष्टि से 'हिंदी प्रदीप' (१८७७), ब्राह्मण (१८८३), क्षत्रियपत्रिका (१८८०), आनंद-कादंबिनी (१८८१), भारतेंदु (१८८२), देवनागरी प्रचारक (१८८२), वैष्णव पत्रिका (पश्चात् पीयूषप्रवाह, १८८३), कवि व चित्रकार (१८९१), नागरी नीरद (१८८३), साहित्य सुधा-निधि (१८९४), और राजनीतिक दृष्टि से भारतमित्र (१८७७), उचित वक्ता (१८७८), सार सुधानिधि (१८७८), हिंदुस्तान (दैनिक, १८८३), भारत जीवन (१८८४), भारतोदय (दैनिक, १८८५), शुभचिंतक (१८८७) और हिंदी बंगवासी (१८९०) विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन पत्रों में हमारे १९वीं शताब्दी के साहित्यरसिकों, हिंदी के कर्मठ उपासकों, शैलीकारों और चिंतकों की सर्वश्रेष्ठ निधि सुरक्षित है। यह क्षोभ का विषय है कि हम इस महत्वपूर्ण सामग्री का पत्रों की फाइलों से उद्धार नहीं कर सके। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, सदानंद मिश्र, रुद्रदत्त शर्मा, अंबिकादत्त व्यास और बालमुकुंद गुप्त जैसे सजीव लेखकों की कलम से निकले हुए न जाने कितने निबंध, टिप्पणी, लेख, पंच, हास परिहास और स्केच आज हमें अलभ्य हो रहे हैं। आज भी हमारे पत्रकार उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। अपने समय में तो वे अग्रणी थे ही।

बीसवीं शताब्दी की पत्रकारिता हमारे लिये अपेक्षाकृत निकट है और उसमें बहुत कुछ पिछले युग की पत्रकारिता की ही विविधता और बहुरूपता मिलती है। १९ वीं शती के पत्रकारों को भाषा-शैली-क्षेत्र में अव्यवस्था का सामना करना पड़ा था। उन्हें एक ओर अंग्रेजी और दूसरी ओर उर्दू के पत्रों के सामने अपनी वस्तु रखनी थी। अभी हिंदी में रुचि रखनेवाली जनता बहुत छोटी थी। धीरे धीरे परिस्थिति बदली और हम हिंदी पत्रों को साहित्य और राजनीति के क्षेत्र में नेतृत्व करते पाते हैं। इस शताब्दी से धर्म और समाजसुधार के आंदोलन कुछ पीछे पड़ गए और जातीय चेतना ने धीरे धीरे राष्ट्रीय चेतना का रूप ग्रहण कर लिया। फलतः अधिकांश पत्र साहित्य और राजनीति को ही लेकर चले। साहित्यिक पत्रों के क्षेत्र में पहले दो दशकों में आचार्य द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' (१९०३-१९१८) का नेतृत्व रहा। वस्तुतः इन बीस वर्षों में हिंदी के

मासिक पत्र एक महान् साहित्यिक शक्ति के रूप में सामने आए। शृंखलित उपन्यास कहानी के रूप में कई पत्र प्रकाशित हुए—जैसे उपन्यास १९०१, हिंदी नाविल १९०१, उपन्यास लहरी १९०२, उपन्याससागर १९०३, उपन्यास कुसुमांजलि १९०४, उपन्यास-बहार १९०७, उपन्यास प्रचार १९०१२। केवल कविता अथवा समस्यापूर्ति लेकर अनेक पत्र उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में निकलने लगे थे। वे चलते रहे। समालोचना के क्षेत्र में 'समालोचक' (१९०२) और ऐतिहासिक शोध से संबंधित 'इतिहास' (१९०५) का प्रकाशन भी महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं। परंतु सरस्वती ने 'मिसलेनी' (Miscellany) के रूप में जो आदर्श रखा था, वह अधिक लोकप्रिय रहा और इस श्रेणी के पत्रों में उसके साथ कुछ थोड़े ही पत्रों का नाम लिया जा सकता है, जैसे 'भारतेंदु' (१९०५), नागरी हितैषिणी पत्रिका, बाँकीपुर (१९०५), नागरीप्रचारक (१९०६), मिथिलामिहिर (१९१०) और इंदु (१९०९)। 'सरस्वती' और 'इंदु' दोनों हमारी साहित्यचेतना के इतिहास के लिये महत्वपूर्ण हैं और एक तरह से हम उन्हें उस युग की साहित्यिक पत्रकारिता का शीर्षमणि कह सकते हैं। 'सरस्वती' के माध्यम से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और 'इंदु' के माध्यम से पंडित रूपनारायण पांडेय ने जिस संपादकीय सतर्कता, अध्यवसाय और ईमानदारी का आदर्श हमारे सामने रखा वह हमारी पत्रकारिता को एक नई दिशा देने में समर्थ हुआ।

परंतु राजनीतिक क्षेत्र में हमारी पत्रकारिता को नेतृत्व प्राप्त नहीं हो सका। पिछले युग की राजनीतिक पत्रकारिता का केंद्र कलकत्ता था। परंतु कलकत्ता हिंदी प्रदेश से दूर पड़ता था और स्वयं हिंदी प्रदेश को राजनीतिक दिशा में जागरूक नेतृत्व कुछ देर में मिला। हिंदी प्रदेश का पहला दैनिक राजा रामपालसिंह का द्विभाषीय 'हिंदुस्तान' (१८८३) है जो अंग्रेजी और हिंदी में कालाकाँकर से प्रकाशित होता था। दो वर्ष बाद (१८८५ में), बाबू सीताराम ने 'भारतोदय' नाम से एक दैनिक पत्र कानपुर से निकालना शुरू किया। परंतु ये दोनों पत्र दीर्घजीवी नहीं हो सके और साप्ताहिक पत्रों को ही राजनीतिक विचारधारा का वाहन बनना पड़ा। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी में कलकत्ता के भारतमित्र, बंगवासी, सारसुधानिधि और उचित वक्ता ही हिंदी प्रदेश की राजनीतिक भावना का प्रतिनिधित्व करते थे। इनमें कदाचित् 'भारतमित्र' ही सबसे अधिक स्थायी और शक्तिशाली था। उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल और महाराष्ट्र लोक जागृति के केंद्र थे और उग्र राष्ट्रीय पत्रकारिता में भी ये ही प्रांत अग्रणी थे। हिंदी प्रदेश के पत्रकारों ने इन प्रांतों के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया और बहुत दिनों तक उनका स्वतंत्र राजनीतिक व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सका। फिर भी हम 'अभ्युदय' (१९०५), 'प्रताप' (१९१३), 'कर्मयोगी', 'हिंदी केसरी' (१९०४-१९०८) आदि के रूप में हिंदी राजनीतिक पत्रकारिता को कई डग आगे बढ़ाते पाते हैं। प्रथम महायुद्ध की उत्तेजना ने एक बार फिर कई दैनिक पत्रों को जन्म दिया। कलकत्ता से 'कलकत्ता समाचार', 'स्वतंत्र' और 'विश्वमित्र' प्रकाशित हुए, बंबई से 'वेंकटेश्वर समाचार' ने अपना दैनिक संस्करण प्रकाशित करना आरंभ किया और दिल्ली से 'विजय' निकला। १९२१ में काशी से 'आज' और कानपुर से 'वर्तमान' प्रकाशित हुए। इस प्रकार हम देखते हैं कि १९२१ से हिंदी पत्रकारिता फिर एक बार करवटें लेती है और राजनीतिक क्षेत्र में अपना नया जीवन आरंभ करती है। हमारे साहित्यिक पत्रों के क्षेत्र में भी नई प्रवृत्तियों का आरंभ इसी समय से होता है। फलतः बीसवीं शती के पहले बीस वर्षों को हम हिंदी पत्रकारिता का तीसरा चरण कह सकते हैं।

आधुनिक युग — १९२१ के बाद हिंदी पत्रकारिता का समसामयिक युग आरंभ होता है। इस युग में हम राष्ट्रीय और साहित्यिक चेतना को साथ साथ पल्लवित पाते हैं। इसी समय के लगभग हिंदी का प्रवेश विश्वविद्यालयों में हुआ और कुछ ऐसे कृती संपादक सामने आए जो अंग्रेजी की पत्रकारिता से पूर्णतः परिचित थे और जो हिंदी पत्रों को अंग्रेजी, मराठी और बँगला के पत्रों के समकक्ष लाना चाहते थे। फलतः साहित्यिक पत्रकारिता में एक नए युग का आरंभ हुआ। राष्ट्रीय आंदोलनों ने हिंदी की राष्ट्रभाषा के लिये योग्यता पहली बार घोषित की और जैसे जैसे राष्ट्रीय आंदोलनों का बल बढ़ने लगा, हिंदी के पत्रकार और पत्र अधिक महत्व पाने लगे। १९२१ के बाद गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन मध्यवर्ग तक सीमित न रहकर ग्रामीणों और श्रमिकों तक पहुँच गया और उसके इस प्रसार में हिंदी पत्रकारिता ने महत्वपूर्ण योग दिया। सच तो यह है कि हिंदी पत्रकार राष्ट्रीय आंदोलनों की अग्र पंक्ति में थे और उन्होंने विदेशी सत्ता से डटकर मोर्चा लिया। विदेशी सरकार ने अनेक बार नए नए कानून बनाकर समाचारपत्रों की स्वतंत्रता पर कुठाराघात किया परंतु जेल, जुर्माना और अनेकानेक मानसिक और आर्थिक कठिनाइयाँ झेलते हुए भी हमारे पत्रकारों ने स्वतंत्र विचार की दीपशिखा जलाए रखी।

१९२१ के बाद साहित्यक्षेत्र में जो पत्र आए उनमें प्रमुख हैं स्वार्थ (१९२२), माधुरी (१९२३), मर्यादा, चाँद (१९२३), मनोरमा (१९२४), समालोचक (१९२४), चित्रपट (१९२५), कल्याण (१९२६), सुधा (१९२७), विशालभारत (१९२८), त्यागभूमि (१९२८), हंस (१९३०), गंगा (१९३०), विश्वमित्र (१९३३), रूपाभ (१९३८), साहित्य संदेश (१९३८), कमला (१९३९), मधुकर (१९४०), जीवनसाहित्य (१९४०), विश्वभारती (१९४२), संगम (१९४२), कुमार (१९४४), नया साहित्य (१९४५), पारिजात (१९४५), हिमालय (१९४६) आदि। वास्तव में आज हमारे मासिक साहित्य की प्रौढ़ता और विविधता में किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता। हिंदी की अनेकानेक प्रथम श्रेणी की रचनाएँ मासिकों द्वारा ही पहले प्रकाश में आई और अनेक श्रेष्ठ कवि और साहित्यकार पत्रकारिता से भी संबंधित रहे। आज हमारे मासिक पत्र जीवन और साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति करते हैं और अब विशेषज्ञता की ओर भी ध्यान जाने लगा है। साहित्य की प्रवृत्तियों की जैसी विकासमान झलक पत्रों में मिलती है, वैसी पुस्तकों में नहीं मिलती। वहाँ हमें साहित्य का सक्रिय, सप्राण, गतिशील रूप प्राप्त होता है।

राजनीतिक क्षेत्र में इस युग में जिन पत्रपत्रिकाओं की धूम रही वे

हैं — कर्मवीर (१९२४), सैनिक (१९२४), स्वदेश (१९११), श्रीकृष्ण-संदेश (१९२५), हिंदूपंच (१९२६), स्वतंत्र भारत (१९२८), जागरण (१९२९), हिंदी मिलाप (१९२९), सचित्र दरबार (१९३०), स्वराज्य (१९३१), नवयुग (१९३२), हरिजन सेवक (१९३२), विश्वबंधु (१९३३), नवशक्ति (१९३४), योगी (१९३४), हिंदू (१९३६), देशदूत (१९३८), राष्ट्रीयता (१९३८), संघर्ष (१९३८), चिनगारी (१९३८), नवज्योति (१९३८), संगम (१९४०), जनयुग (१९४२), रामराज्य (१९४२), संसार (१९४३), लोकवाणी (१९४२), सावधान (१९४२), हुंकार (१९४२), और सन्मार्ग (१९४३)। इनमें से अधिकांश साप्ताहिक हैं, परंतु जनमत के निर्माण में उनका योगदान महत्वपूर्ण रहा है। जहाँ तक पत्रकला का संबंध है वहाँ तक हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि तीसरे और चौथे युग के पत्रों में धरती और आकाश का अंतर है। आज पत्रसंपादन वास्तव में उच्च कोटि की कला है। राजनीतिक पत्रकारिता के क्षेत्र में 'आज' (१९२१) और उसके संपादक स्वर्गीय बाबूराव विष्णु पराड़कर का लगभग वही स्थान है जो साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को प्राप्त है। सच तो यह है कि 'आज' ने पत्रकला के क्षेत्र में एक महान् संस्था का काम किया है और उसने हिंदी को बीसियों पत्रसंपादक और पत्रकार दिए हैं।

आधुनिक साहित्य के अनेक अंगों की भाँति हमारी पत्रकारिता भी नई कोटि की है और उसमें भी मुख्यतः हमारे मध्यवित्त वर्ग की सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनीतिक हलचलों का प्रतिबिंब भास्वर है। वास्तव में पिछले १४० वर्षों का सच्चा इतिहास हमारी पत्रपत्रिकाओं से ही संकलित हो सकता है। बँगला के 'कलेर कथा' ग्रंथ में पत्रों के अवतरणों के आधार पर बंगाल के उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यवित्तीय जीवन के आकलन का प्रयत्न हुआ है। हिंदी में भी ऐसा प्रयत्न वांछनीय है। एक तरह से उन्नीसवीं शती में साहित्य कही जा सकनेवाली चीज बहुत कम है और जो है भी, वह पत्रों के पृष्ठों में ही पहले पहल सामने आई है। भाषाशैली के निर्माण और जातीय शैली के विकास में पत्रों का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है, परंतु बीसवीं शती के पहले दो दशकों के अंत तक मासिक पत्र और साप्ताहिक पत्र ही हमारी साहित्यिक प्रवृत्तियों को जन्म देते और विकसित करते रहे हैं। द्विवेदी युग के साहित्य को हम 'सरस्वती' और 'इंदु' में जिस प्रयोगात्मक रूप में देखते हैं, वही उस साहित्य का असली रूप है। १९२१ ई० के बाद साहित्य बहुत कुछ पत्रपत्रिकाओं से स्वतंत्र होकर अपने पैरों पर खड़ा होने लगा, परंतु फिर भी विशिष्ट साहित्यिक आंदोलनों के लिये हमें मासिक पत्रों के पृष्ठ ही उलटने पड़ते हैं। राजनीतिक चेतना के लिये तो पत्र-पत्रिकाएँ हैं ही। वस्तुतः पत्रपत्रिकाएँ जितनी बड़ी जनसंख्या को छूती हैं, विशुद्ध साहित्य का उतनी बड़ी जनसंख्या तक पहुँचना असंभव है। [रा० र० भ०]

हिंदी भाषा और साहित्य 'हिंदी' शब्द विदेशियों का दिया हुआ है। फारसी में संस्कृत की स ध्वनि ह हो जाती है, अतः सिंध से हिंद और सिंधी से हिंदी बना। शब्दार्थ की दृष्टि से हिंद (भारत) की किसी भाषा को हिंदी कहा जा सकता है। प्राचीनकाल में मुसलमानों ने इसका प्रयोग इस अर्थ में किया भी है पर वर्तमानकाल में सामान्यतया इसका व्यवहार उस विस्तृत भूखंड की भाषा के लिये होता है जो पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल की तराई, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण पश्चिम में खंडवा तक फैली हुई है। इसके मुख्य दो भेद हैं—पश्चिमी हिंदी तथा पूर्वी हिंदी।

उर्दू और हिंदुस्तानी

हिंदी के आधुनिक साहित्य की रचना खड़ी बोली में हुई है। खड़ी बोली हिंदी में अरबी फारसी के मेल से जो भाषा बनी वह उर्दू कहलाई। मुसलमानों ने 'उर्दू' का प्रयोग छावनी, शाही लश्कर और किले के अर्थ में किया है। इन स्थानों में बोली जानेवाली व्यावहारिक भाषा 'उर्दू की जबान' हुई। पहले पहले बोलचाल के लिये दिल्ली के सामान्य मुसलमान जो भाषा व्यवहार में लाते थे वह हिंदी ही थी। चौदहवीं सदी में मुहम्मद तुगलक जब अपनी राजधानी दिल्ली से देवगिरि ले गया तब वहाँ जानेवाले पछाँह के मुसलमान अपनी सामान्य बोलचाल की भाषा भी अपने साथ लेते गए। प्रायः पंद्रहवीं शताब्दी में बीजापुर, गोलकुंडा आदि मुसलमानी राज्यों में साहित्य के स्तर पर इस भाषा की प्रतिष्ठा हुई। उस समय उत्तर-भारत के मुसलमानी राज्य में साहित्यिक भाषा फारसी थी। दक्षिण-भारत में तेलुगू आदि द्रविड़ भाषाभाषियों के बीच उत्तर भारत की इस आर्य भाषा को फारसी लिपि में लिखा जाता था। इस दक्खिनी भाषा को उर्दू के विद्वान् उर्दू कहते हैं। शुरू में दक्खिनी बोलचाल की खड़ी बोली के बहुत निकट थी। इसमें हिंदी और संस्कृत के शब्दों का बहुल प्रयोग होता था। छंद भी अधिकतर हिंदी के ही होते थे। पर सोलहवीं सदी से सूफियों और बीजापुर, गोलकुंडा आदि राज्यों के दरबारियों द्वारा दक्खिनी में अरबी फारसी का प्रचलन धीरे धीरे बढ़ने लगा। फिर भी अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक इसका रूप प्रधानतया हिंदी या भारतीय ही रहा।

सन् १७०० के आस पास दक्खिनी के प्रसिद्ध कवि शम्स वलीउल्ला 'वली' दिल्ली आए। यहाँ आने पर शुरू में तो वली ने अपनी काव्यभाषा दक्खिनी ही रखी, जो भारतीय वातावरण के निकट थी। पर बाद में उनकी रचनाओं पर अरबी फारसी का गहरा रंग चढ़ने लगा। इसी समय दिल्ली केंद्र से उर्दू शायरी की परंपरा प्रवर्तित हुई। आरंभ की दक्खिनी में फारसी प्रभाव कम मिलता है। दिल्ली की परवर्ती उर्दू पर फारसी शब्दावली और विदेशी वातावरण का गहरा रंग चढ़ता गया। हिंदी के शब्द ढूँढ ढूँढकर निकाल फेंके गए और उनकी जगह अरबी फारसी के शब्द बैठाए गए। मुगल साम्राज्य के पतनकाल में जब लखनऊ उर्दू का दूसरा केंद्र हुआ तो उसका हिंदीपन और भी सतर्कता से दूर किया गया। अब वह अपने मूल हिंदी से बहुत भिन्न हो गई।

हिंदी और उर्दू के एक मिले जुले रूप को हिंदुस्तानी कहा गया है। भारत में अँगरेज शासकों की कूटनीति के फलस्वरूप हिंदी और उर्दू एक दूसरे से दूर होती गई। एक की संस्कृतनिष्ठता बढ़ती गई और दूसरे का फारसीपन। लिपिभेद तो था ही। सांस्कृतिक वातावरण

की दृष्टि से भी दोनों का पार्थक्य बढ़ता गया। ऐसी स्थिति में अँगरेजों ने एक ऐसी मिश्रित भाषा को हिंदुस्तानी नाम दिया जिसमें अरबी, फारसी या संस्कृत के कठिन शब्द न प्रयुक्त हों तथा जो साधारण जनता के लिये सहजबोध्य हो। आगे चलकर देश के राजनयिकों ने भी इस तरह की भाषा को मान्यता देने की कोशिश की और कहा कि इसे फारसी और नागरी दोनों लिपियों में लिखा जा सकता है। पर यह कृत्रिम प्रयास अंततोगत्वा विफल हुआ। इस तरह की भाषा का ज्यादा झुकाव उर्दू की ओर ही था।

पश्चिमी और पूर्वी हिंदी

जैसा ऊपर कहा गया है, अपने सीमित भाषाशास्त्रीय अर्थ में हिंदी के दो उपरूप माने जाते हैं — पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी।

पश्चिमी हिंदी के अंतर्गत पाँच बोलियाँ हैं — खड़ी बोली, बांगरू, ब्रज, कन्नौजी और बुंदेली। खड़ी बोली अपने मूल रूप में मेरठ, बिजनौर के आसपास बोली जाती है। इसी के आधार पर आधुनिक हिंदी और उर्दू का रूप खड़ा हुआ। बांगरू को जाटू या हरियानवी भी कहते हैं। यह पंजाब के दक्षिण पूर्व में बोली जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार बांगरू खड़ी बोली का ही एक रूप है जिसमें पंजाबी और राजस्थानी का मिश्रण है। ब्रजभाषा मथुरा के आसपास ब्रजमंडल में बोली जाती है। हिंदी साहित्य के मध्ययुग में ब्रजभाषा में उच्च कोटि का काव्य निर्मित हुआ। इसीलिये इसे बोली न कहकर आदरपूर्वक भाषा कहा गया। मध्यकाल में यह बोली संपूर्ण हिंदी प्रदेश की साहित्यिक भाषा के रूप में मान्य हो गई थी। पर साहित्यिक ब्रजभाषा में ब्रज के ठेठ शब्दों के साथ अन्य प्रांतों के शब्दों और प्रयोगों का भी ग्रहण है। कन्नौजी गंगा के मध्य दोआब की बोली है। इसके एक ओर ब्रजमंडल है और दूसरी ओर अवधी का क्षेत्र। यह ब्रजभाषा से इतनी मिलती जुलती है कि इसमें रचा गया जो थोड़ा बहुत साहित्य है वह ब्रजभाषा का ही माना जाता है। बुंदेली बुंदेलखंड की उपभाषा है। बुंदेलखंड में ब्रजभाषा के अच्छे कवि हुए हैं जिनकी काव्यभाषा पर बुंदेली का प्रभाव है।

पूर्वी हिंदी की तीन शाखाएँ हैं — अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी अर्धमागधी प्राकृत की परंपरा में है। यह अवध में बोली जाती है। इसके दो भेद हैं — पूर्वी अवधी और पश्चिमी अवधी। अवधी को बैसवाड़ी भी कहते हैं। तुलसी के रामचरितमानस में अधिकांशतः पश्चिमी अवधी मिलती है और जायसी के पदमावत में पूर्वी अवधी। बघेली बघेलखंड में प्रचलित है। यह अवधी का ही एक दक्षिणी रूप है। छत्तीसगढ़ी पलामू (बिहार) की सीमा से लेकर दक्षिण में बस्तर तक और पश्चिम में बघेलखंड की सीमा से उड़ीसा की सीमा तक फैले हुए भूभाग की बोली है। इसमें प्राचीन साहित्य नहीं मिलता। वर्तमान काल में कुछ लोकसाहित्य रचा गया है।

हिंदी प्रदेश की तीन उपभाषाएँ और हैं — बिहारी, राजस्थानी और पहाड़ी हिंदी।

बिहारी की तीन शाखाएँ हैं — भोजपुरी, मगही और मैथिली। बिहार के एक कस्बे भोजपुर के नाम पर भोजपुरी बोली का नामकरण हुआ। पर भोजपुरी का प्रसार बिहार से अधिक उत्तर प्रदेश में है। बिहार के शाहाबाद, चंपारन और सारन जिले से लेकर गोरखपुर तथा बनारस कमिश्नरी तक का क्षेत्र भोजपुरी का है। भोजपुरी पूर्वी हिंदी के अधिक निकट है। हिंदी प्रदेश की बोलियों में भोजपुरी बोलनेवालों की संख्या सबसे अधिक है। इसमें प्राचीन साहित्य तो नहीं मिलता पर ग्रामगीतों के अतिरिक्त वर्तमान काल में कुछ साहित्य रचने का प्रयत्न भी हो रहा है। मगही के केंद्र पटना और गया हैं। इसके लिये कैथी लिपि का व्यवहार होता है। इसमें कोई साहित्य नहीं मिलता। मैथिली गंगा के उत्तर में दरभंगा के आसपास प्रचलित है। इसकी साहित्यिक परंपरा पुरानी है। विद्यापति के पद प्रसिद्ध ही हैं। मध्ययुग में लिखे मैथिली नाटक भी मिलते हैं। आधुनिक काल में भी मैथिली का साहित्य निर्मित हो रहा है।

राजस्थानी का प्रसार पंजाब के दक्षिण में है। यह पूरे राजपूताने और मध्य प्रदेश के मालवा में बोली जाती है। राजस्थानी का संबंध एक ओर ब्रजभाषा से है और दूसरी ओर गुजराती से। पुरानी राजस्थानी को डिंगल कहते हैं जिसमें चारणों का लिखा हिंदी का आरंभिक साहित्य उपलब्ध है। राजस्थानी में गद्य साहित्य की भी पुरानी परंपरा है। राजस्थानी की चार मुख्य बोलियाँ या विभाषाएँ हैं — मेवाती, मालवी, जयपुरी और मारवाड़ी। मारवाड़ी का प्रचलन सबसे अधिक है। राजस्थानी के अंतर्गत कुछ विद्वान् भीली को भी लेते हैं।

पहाड़ी उपभाषा राजस्थानी से मिलती जुलती है। इसका प्रसार हिंदी प्रदेश के उत्तर हिमालय के दक्षिणी भाग में नेपाल से शिमला तक है। इसकी तीन शाखाएँ हैं — पूर्वी, मध्यवर्ती और पश्चिमी। पूर्वी पहाड़ी नेपाल की प्रधान भाषा है जिसे नेपाली और परबतिया भी कहा जाता है। मध्यवर्ती पहाड़ी कुमायूँ और गढ़वाल में प्रचलित है। इसके दो भेद हैं — कुमाउँनी और गढ़वाली। ये पहाड़ी उपभाषाएँ नागरी लिपि में लिखी जाती हैं। इनमें पुराना साहित्य नहीं मिलता। आधुनिक काल में कुछ साहित्य लिखा जा रहा है। कुछ विद्वान् पहाड़ी को राजस्थानी के अंतर्गत ही मानते हैं।

हिंदी साहित्य

हिंदी साहित्य का आरंभ आठवीं शताब्दी से माना जाता है। यह वह समय है जब सम्राट् हर्ष की मृत्यु के बाद देश में अनेक छोटे छोटे शासनकेंद्र स्थापित हो गए थे जो परस्पर संघर्षरत रहा करते थे। विदेशी मुसलमानों से भी इनकी टक्कर होती रहती थी। धार्मिक क्षेत्र अस्तव्यस्त थे। इन दिनों उत्तर भारत के अनेक भागों में बौद्ध धर्म का प्रचार था। बौद्ध धर्म का विकास कई रूपों में हुआ जिनमें से एक वज्रयान कहलाया। वज्रयानी तांत्रिक थे और सिद्ध कहलाते थे। इन्होंने जनता के बीच उस समय की लोकभाषा में अपने मत का प्रचार किया। हिंदी का प्राचीनतम साहित्य इन्हीं वज्रयानी सिद्धों द्वारा तत्कालीन लोकभाषा पुरानी हिंदी में लिखा गया। इसके बाद नाथपंथी साधुओं का समय आता है। इन्होंने

बौद्ध, शाकर, तंत्र, योग और शैव मतों के मिश्रण से अपना नया पंथ चलाया जिसमें सभी वर्गों और वर्णों के लिये धर्म का एक सामान्य मत प्रतिपादित किया गया था। लोकप्रचलित पुरानी हिंदी में लिखी इनकी अनेक धार्मिक रचनाएँ उपलब्ध हैं। इसके बाद जैनियों की रचनाएँ मिलती हैं। स्वयंभू का 'पउमचरिउ' अथवा रामायण आठवीं शताब्दी की रचना है। बौद्धों और नाथपंथियों की रचनाएँ मुक्तक और केवल धार्मिक हैं पर जैनियों की अनेक रचनाएँ जीवन की सामान्य अनुभूतियों से भी संबद्ध हैं। इनमें से कई प्रबंधकाव्य हैं। इसी काल में अब्दुलरहमान का काव्य 'संदेश-रासक' भी लिखा गया जिसमें परवर्ती बोलचाल के निकट की भाषा मिलती है। इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी तक पुरानी हिंदी का रूप निर्मित और विकसित होता रहा।

वीरगाथा काल

ग्यारहवीं सदी के लगभग देशभाषा हिंदी का रूप अधिक स्फुट होने लगा। उस समय पश्चिमी हिंदी प्रदेश में अनेक छोटे छोटे राजपूत राज्य स्थापित हो गए थे। ये परस्पर अथवा विदेशी आक्रमणकारियों से प्रायः युद्धरत रहा करते थे। इन्हीं राजाओं के संरक्षण में रहनेवाले चारणों और भाटों का राजप्रशस्तिमूलक काव्य वीरगाथा के नाम से अभिहित किया गया। इन वीरगाथाओं को रासो कहा जाता है। इनमें आश्रयदाता राजाओं के शौर्य और पराक्रम का ओजस्वी वर्णन करने के साथ ही उनके प्रेमप्रसंगों का भी उल्लेख है। रासो ग्रंथों में संघर्ष का कारण प्रायः प्रेम दिखाया गया है। इन रचनाओं में इतिहास और कल्पना का मिश्रण है। रासो वीरगीत (बीसलदेवरासो और आल्हा आदि) और प्रबंधकाव्य (पृथ्वीराजरासो, खुमानरासो आदि) — इन दो रूपों में लिखे गए। इन रासो ग्रंथों में से अनेक की उपलब्ध प्रतियाँ चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से संदिग्ध हों पर इन वीरगाथाओं की मौखिक परंपरा असंदिग्ध है। इनमें शौर्य और प्रेम की ओजस्वी और सरस अभिव्यक्ति हुई है।

इसी कालावधि में मैथिल कोकिल विद्यापति हुए जिनकी पदावली में मानवीय सौंदर्य और प्रेम की अनुपम व्यंजना मिलती है। कीर्तिलता और कीर्तिपताका इनके दो अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। अमीर खुसरो का भी यही समय है। इन्होंने ठेठ खड़ी बोली में अनेक पहेलियाँ, मुकरियाँ और दो सखुन रचे हैं। इनके गीतों, दोहों की भाषा ब्रजभाषा है।

भक्तिकाल (सन् १४००-१६०० ई०)

तेरहवीं सदी तक धर्म के क्षेत्र में बड़ी अस्तव्यस्तता आ गई। जनता में सिद्धों और योगियों आदि द्वारा प्रचलित अंधविश्वास फैल रहे थे, शास्त्रज्ञानसंपन्न वर्ग में भी रूढ़ियों और आडंबर की प्रधानता हो चली थी। मायावाद के प्रभाव से लोकविमुखता और निष्क्रियता के भाव समाज में पनपने लगे थे। ऐसे समय में भक्ति-आंदोलन के रूप में ऐसा भारतव्यापी विशाल सांस्कृतिक आंदोलन उठा जिसने समाज में उत्कर्षविधायक सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की। भक्ति आंदोलन का आरंभ दक्षिण के आलवार संतों द्वारा दसवीं सदी के लगभग हुआ। वहाँ शंकराचार्य के अद्वैतमत और मायावाद के विरोध में चार वैष्णव संप्रदाय खड़े हुए। इन चारों संप्रदायों ने उत्तर भारत में विष्णु के अवतारों का प्रचार-प्रसार किया। इनमें से एक के प्रवर्तक रामानुजाचार्य थे, जिनकी शिष्यपरंपरा में आनेवाले रामानंद ने (पंद्रहवीं सदी) उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार किया। रामानंद के राम ब्रह्म के स्थानापन्न थे जो राक्षसों का विनाश और अपनी लीला का विस्तार करने के लिये संसार में अवतीर्ण होते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रामानंद ने ऊँच-नीच का भेदभाव मिटाने पर विशेष बल दिया। राम के सगुण और निर्गुण दो रूपों को माननेवाले दो भक्तों — कबीर और तुलसी को इन्होंने प्रभावित किया। विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत मत का आधार लेकर इसी समय वल्लभाचार्य ने अपना पुष्टिमार्ग चलाया। बारहवीं से सोलहवीं सदी तक पूरे देश में पुराणसंमत कृष्णचरित् के आधार पर कई संप्रदाय प्रतिष्ठित हुए, जिनमें सबसे ज्यादा प्रभावशाली वल्लभ का पुष्टिमार्ग था। उन्होंने शांकर मत के विरुद्ध ब्रह्म के सगुण रूप को ही वास्तविक कहा। उनके मत से यह संसार मिथ्या या माया का प्रसार नहीं है बल्कि ब्रह्म का ही प्रसार है, अतः सत्य है। उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना और उसकी प्राप्ति के लिये भक्त का पूर्ण आत्मसमर्पण आवश्यक बतलाया। भगवान् के अनुग्रह या पुष्टि के द्वारा ही भक्ति सुलभ हो सकती है। इस संप्रदाय में उपासना के लिये गोपीजनवल्लभ, लीलापुरुषोत्तम कृष्ण का मधुर रूप स्वीकृत हुआ। इस प्रकार उत्तर भारत में विष्णु के राम और कृष्ण अवतारों की व्यापक प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि भक्ति का स्रोत दक्षिण से आया तथापि उत्तर भारत की नई परिस्थितियों में उसने एक नया रूप भी ग्रहण किया। मुसलमानों के इस देश में बस जाने पर एक ऐसे भक्तिमार्ग की आवश्यकता थी जो हिंदू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। इसके अतिरिक्त निम्न वर्ग के लिये भी अधिक मान्य मत वही हो सकता था जो उन्हीं के वर्ग के पुरुष द्वारा प्रवर्तित हो। महाराष्ट्र के संत नामदेव ने १४ वीं शताब्दी में इसी प्रकार के भक्तिमत का सामान्य जनता में प्रचार किया जिसमें भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों रूप गृहीत थे। कबीर के संतमत के ये पूर्वपुरुष हैं। दूसरी ओर सूफी कवियों ने हिंदुओं की लोककथाओं का आधार लेकर ईश्वर के प्रेममय रूप का प्रचार किया।

इस प्रकार इन विभिन्न मतों का आधार लेकर हिंदी में निर्गुण और सगुण के नाम से भक्तिकाव्य की दो शाखाएँ साथ साथ चलीं। निर्गुणमत के दो उपविभाग हुए—ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। पहले के प्रतिनिधि कबीर और दूसरे के जायसी हैं। सगुणमत भी दो उपधाराओं में प्रवाहित हुआ—रामभक्ति और कृष्णभक्ति। पहले के प्रतिनिधि तुलसी हैं और दूसरे के सूरदास।

भक्तिकाव्य की इन विभिन्न प्रणालियों की अपनी अलग अलग विशेषताएँ हैं पर कुछ आधारभूत बातों का सन्निवेश सब में है। प्रेम की सामान्य भूमिका सभी ने स्वीकार की। भक्तिभाव के स्तर पर मनुष्यमात्र की समानता सबको मान्य है। प्रेम और करुणा से युक्त अवतार की कल्पना तो सगुण भक्तों का आधार ही है पर

निर्गुणोपासक कबीर भी अपने राम को प्रिय, पिता और स्वामी आदि के रूप में स्मरण करते हैं। ज्ञान की तुलना में सभी भक्तों ने भक्तिभाव को गौरव दिया है। सभी भक्त कवियों ने लोकभाषा का माध्यम स्वीकार किया है।

ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीर पर तात्कालिक विविध धार्मिक प्रवृत्तियों और दार्शनिक मतों का संमिलित प्रभाव है। उनकी रचनाओं में धर्मसुधारक और समाजसुधारक का रूप विशेष प्रखर है। उन्होंने आचरण की शुद्धता पर बल दिया। बाह्याडंबर, रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर उन्होंने तीव्र कशाघात किया। मनुष्य की समता का उद्बोध कर उन्होंने निम्नश्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस शाखा के अन्य कवि रैदास, दादू हैं।

अपनी व्यक्तिगत धार्मिक अनुभूति और सामाजिक आलोचना द्वारा कबीर आदि संतों ने जनता को विचार के स्तर पर प्रभावित किया था। सूफी संतों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा लोकमानस को भावना के स्तर पर प्रभावित करने का प्रयत्न किया। ज्ञानमार्गी संत कवियों की वाणी मुक्तकबद्ध है, प्रेममार्गी कवियों की प्रेमभावना लोकप्रचलित आख्यानों का आधार लेकर प्रबंधकाव्य के रूप में रूपायित हुई है। सूफी ईश्वर को अनंत प्रेम और सौंदर्य का भांडार मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर को जीव प्रेम के मार्ग से ही उपलब्ध कर सकता है। साधना के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को वह गुरु या पीर की सहायता से साहसपूर्वक पार करके अपने परमप्रिय का साक्षात्कार करता है। सूफियों ने चाहे अपने मत के प्रचार के लिये अपने कथाकाव्य की रचना की हो पर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य इसलिये है कि उसमें प्रेम और उससे प्रेरित अन्य संवेगों की व्यंजना सहजबोध्य लौकिक भूमि पर हुई है। उनके द्वारा व्यंजित प्रेम ईश्वरोन्मुख है पर सामान्यतः यह प्रेम लौकिक भूमि पर ही संक्रमण करता है। परमप्रिय के सौंदर्य, प्रेमक्रीड़ा और प्रेमी के विरहोद्वेग आदि का वर्णन उन्होंने इतनी तन्मयता से किया है और उनके काव्य का मानवीय आधार इतना पुष्ट है कि आध्यात्मिक प्रतीकों और रूपकों के बावजूद उनकी रचनाएँ प्रेमसमर्पित कथाकाव्य की श्रेष्ठ कृतियाँ बन गई हैं। उनके काव्य का पूरा वातावरण लोकजीवन का और गार्हस्थिक है। प्रेमाख्यानकों की शैली फारसी के मसनवी काव्य जैसी है।

इस धारा के सर्वप्रमुख कवि जायसी हैं जिनका 'पदमावत' अपनी मार्मिक प्रेमव्यंजना, कथारस और सहज कलाविन्यास के कारण विशेष प्रशंसित हुआ है। इनकी अन्य रचनाओं में 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' आदि हैं, जिनमें सूफी संप्रदायसंमत बातें हैं। इस धारा के अन्य कवि हैं कुतुबन, मंझन, उसमान, शेख नबी, और नूरमुहम्मद आदि।

ज्ञानमार्गी शाखा के कवियों में विचार की प्रधानता है तो सूफियों की रचनाओं में प्रेम का एकांतिक रूप व्यक्त हुआ है। सगुण धारा के कवियों ने विचारात्मक शुष्कता और प्रेम की एकांगिता दूरकर जीवन के सहज उल्लासमय और व्यापक रूप की प्रतिष्ठा की। कृष्णभक्तिशाखा के कवियों ने आनंदस्वरूप लीलापुरुषोत्तम कृष्ण के मधुर रूप की प्रतिष्ठा कर जीवन के प्रति गहन राग को स्फूर्त किया। इन कवियों में सूरसागर के रचयिता महाकवि सूरदास श्रेष्ठतम हैं जिन्होंने कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व का अनेक मार्मिक रूपों में साक्षात्कार किया। वे प्रेम और सौंदर्य के निसर्गसिद्ध गायक हैं। कृष्ण के बालरूप की जैसी विमोहक, सजीव और बहुविध कल्पना इन्होंने की है वह अपना सानी नहीं रखता। कृष्ण और गोपियों के स्वच्छंद प्रेमप्रसंगों द्वारा सूर ने मानवीय राग का बड़ा ही निश्छल और सहज रूप उद्घाटित किया है। यह प्रेम अपने सहज परिवेश में सहयोगी भाववृत्तियों से संपृक्त होकर विशेष अर्थवान् हो गया है। कृष्ण के प्रति उनका संबंध मुख्यतः सख्यभाव का है। आराध्य के प्रति उनका सहज समर्पण भावना की गहरी से गहरी भूमिकाओं को स्पर्श करनेवाला है। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभ के पुत्र विट्ठलनाथ ने कृष्णलीलागान के लिये अष्टछाप के नाम से आठ कवियों का निर्वाचन किया था। सूरदास इस मंडल के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। अन्य विशिष्ट कवि नंददास और परमानंददास हैं। नंददास की कलाचेतना अपेक्षाकृत विशेष मुखर है।

मध्ययुग में कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार हुआ और वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त अन्य भी कई संप्रदाय स्थापित हुए, जिन्होंने कृष्णकाव्य को प्रभावित किया। हितहरिवंश (राधावल्लभी संप्र०), हरिदास (टट्टी संप्र०), गदाधर भट्ट और सूरदास मदनमोहन (गौड़ीय संप्र०) आदि अनेक कवियों ने विभिन्न मतों के अनुसार कृष्णप्रेम की मार्मिक कल्पनाएँ कीं। मीरा की भक्ति दांपत्यभाव की थी जो अपने स्वतःस्फूर्त कोमल और करुण प्रेमसंगीत से आंदोलित करती है। नरोत्तमदास, रसखान, सेनापति आदि इस धारा के अन्य अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए जिन्होंने हिंदी काव्य को समृद्ध किया। यह सारा कृष्णकाव्य मुक्तक या कथाश्रित मुक्तक है। संगीतात्मकता इसका एक विशिष्ट गुण है।

कृष्णकाव्य ने भगवान् के मधुर रूप का उद्घाटन किया पर उसमें जीवन की अनेकरूपता नहीं थी, जीवन की विविधता और विस्तार की मार्मिक योजना रामकाव्य में हुई। कृष्णभक्तिकाव्य में जीवन के माधुर्य पक्ष का स्फूर्तिप्रद संगीत था, रामकाव्य में जीवन का नीतिपक्ष और समाजबोध अधिक मुखरित हुआ। एक ने स्वच्छंद रागतत्व को महत्व दिया तो दूसरे ने मर्यादित लोकचेतना पर विशेष बल दिया। एक ने भगवान् की लोकरंजनकारी सौंदर्यप्रतिमा का संगठन किया तो दूसरे ने उसके शक्ति, शील और सौंदर्यमय लोकमंगलकारी रूप को प्रकाशित किया। रामकाव्य का सर्वोत्कृष्ट वैभव 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास के काव्य में प्रकट हुआ जो विद्याविद् ग्रियर्सन की दृष्टि में बुद्धदेव के बाद के सबसे बड़े जननायक थे। पर काव्य की दृष्टि से तुलसी का महत्व भगवान् के एक ऐसे रूप की परिकल्पना में है जो मानवीय सामर्थ्य और औदात्य की उच्चतम भूमि पर अधिष्ठित है। तुलसी के काव्य की एक बड़ी विशेषता उनकी बहुमुखी समन्वयभावना है जो धर्म, समाज और साहित्य सभी क्षेत्रों में सक्रिय है। उनका काव्य लोकोन्मुख है। उसमें जीवन की विस्तीर्णता के साथ गहराई भी है। उनका महाकाव्य रामचरितमानस राम के संपूर्ण जीवन के माध्यम से व्यक्ति और लोकजीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करता है। उसमें भगवान् राम के लोकमंगलकारी रूप की प्रतिष्ठा है। उनका साहित्य सामा-

जिक और वैयक्तिक कर्तव्य के उच्च आदर्शों में आस्था दृढ़ करनेवाला है। तुलसी की 'विनयपत्रिका' में आराध्य के प्रति, जो कवि के आदर्शों का सजीव प्रतिरूप है, उनका निरंतर और निश्छल समर्पण-भाव, काव्यात्मक आत्माभिव्यक्ति का उत्कृष्ट दृष्टांत है। काव्याभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों पर उनका समान अधिकार है। अपने समय में प्रचलित सभी काव्यशैलियों का उन्होंने सफल प्रयोग किया। प्रबंध और मुक्तक की साहित्यिक शैलियों के अतिरिक्त लोकप्रचलित अवधी और ब्रजभाषा दोनों के व्यवहार में वे समान रूप से समर्थ हैं। तुलसी के अतिरिक्त रामकाव्य के अन्य रचयिताओं में अग्रदास, नाभादास, प्राणचंद चौहान और हृदयराम आदि उल्लेख्य हैं।

आज की दृष्टि से इस संपूर्ण भक्तिकाव्य का महत्व उसकी धार्मिकता से अधिक लोकजीवनगत मानवीय अनुभूतियों और भावों के कारण है। इसी विचार से भक्तिकाल को हिंदी काव्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

रीतिकाल (सन् १७००–१८०० ई०)

१७०० ई० के आस पास हिंदी कविता में एक नया मोड़ आया। इसे विशेषतः तात्कालिक दरबारी संस्कृति और संस्कृत-साहित्य से उत्तेजना मिली। संस्कृत साहित्यशास्त्र के कतिपय अंशों ने उसे शास्त्रीय अनुशासन की ओर प्रवृत्त किया। हिंदी में रीति या काव्यरीति शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के लिये हुआ था। इसलिये काव्यशास्त्रबद्ध सामान्य सृजनप्रवृत्ति और रस, अलंकार आदि के निरूपक बहुसंख्यक लक्षणग्रंथों को ध्यान में रखते हुए इस समय के काव्य को रीतिकाव्य कहा गया। इस काव्य की शृंगारी प्रवृत्तियों की पुरानी परंपरा के स्पष्ट संकेत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी और हिंदी के आदिकाव्य तथा कृष्णकाव्य की शृंगारी प्रवृत्तियों में मिलते हैं।

रीतिकाव्य रचना का आरंभ एक संस्कृतज्ञ ने किया। ये थे आचार्य केशवदास, जिनकी सर्वप्रसिद्ध रचनाएँ कविप्रिया, रसिकप्रिया और रामचंद्रिका हैं। कविप्रिया में अलंकार और रसिकप्रिया में रस का सोदाहरण निरूपण है। लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त-सवैए में हैं। लक्षण-लक्ष्य-ग्रंथों की यही परंपरा रीतिकाव्य में विकसित हुई। रामचंद्रिका केशव का प्रबंधकाव्य है जिसमें भक्ति की तन्मयता के स्थान पर एक सजग कलाकार की प्रखर कलाचेतना प्रस्फुटित हुई है। केशव के कई दशक बाद चिंतामणि से लेकर अठारहवीं सदी तक हिंदी में रीतिकाव्य का अजस्र स्रोत प्रवाहित हुआ जिसमें नर-नारी-जीवन के रमणीय पक्षों और तत्संबंधी सरस संवेदनाओं की अत्यंत कलात्मक अभिव्यक्ति व्यापक रूप से हुई।

रीतिकाल के कवि राजाओं और रईसों के आश्रय में रहते थे। वहाँ मनोरंजन और कलाविलास का वातावरण स्वाभाविक था। बौद्धिक आनंद का मुख्य साधन वहाँ उक्तिवैचित्र्य समझा जाता था। ऐसे वातावरण में लिखा गया साहित्य अधिकतर शृंगारमूलक और कलावैचित्र्य से युक्त था। पर इसी समय प्रेम के स्वच्छंद गायक भी हुए जिन्होंने प्रेम की गहराइयों का स्पर्श किया है। भाषा और काव्यगुण दोनों ही दृष्टियों से इस समय का नर-नारी-प्रेम और सौंदर्य की मार्मिक व्यंजना करनेवाला काव्यसाहित्य महत्वपूर्ण है।

इस समय वीरकाव्य भी लिखा गया। मुगल शासक औरंगजेब की कट्टर सांप्रदायिकता और आक्रामक राजनीति की टकराहट से इस काल में जो विक्षोभ की स्थितियाँ आईं उन्होंने कुछ कवियों को वीरकाव्य के सृजन की भी प्रेरणा दी। ऐसे कवियों में भूषण प्रमुख हैं जिन्होंने रीतिशैली को अपनाते हुए भी वीरों के पराक्रम का ओजस्वी वर्णन किया। इस समय नीति, वैराग्य और भक्ति से संबंधित काव्य भी लिखा गया। अनेक प्रबंधकाव्य भी निर्मित हुए। इधर के शोधकार्य में इस समय की शृंगारेतर रचनाएँ और प्रबंधकाव्य प्रचुर परिमाण में मिल रहे हैं। इसलिये रीतिकालीन काव्य को नितांत एकांगी और एकरूप समझना उचित नहीं है। इस समय के काव्य में पूर्ववर्ती कालों की सभी प्रवृत्तियाँ सक्रिय हैं। यह प्रधान धारा शृंगारकाव्य की है जो इस समय की काव्यसंपत्ति का वास्तविक निदर्शक मानी जाती रही है। शृंगारी काव्य तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। पहला वर्ग रीतिबद्ध कवियों का है जिसके प्रतिनिधि केशव, चिंतामणि, भिखारीदास, देव, मतिराम और पद्माकर आदि हैं। इन कवियों ने दोहों में रस, अलंकार और नायिका के लक्षण देकर कवित्त सवैए में प्रेम और सौंदर्य की कलापूर्ण मार्मिक व्यंजना की है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में निरूपित शास्त्रीय चर्चा का अनुसरण मात्र इनमें अधिक है। पर कुछ ने थोड़ी मौलिकता भी दिखाई है, जैसे भिखारीदास का हिंदी छंदों का निरूपण। दूसरा वर्ग रीतिसिद्ध कवियों का है। इन कवियों ने लक्षण नहीं निरूपित किए, केवल उनके आधार पर काव्यरचना की। बिहारी इनमें सर्वश्रेष्ठ हैं, जिन्होंने दोहों में अपनी 'सतसई' प्रस्तुत की। विभिन्न मुद्राओंवाले अत्यंत व्यंजक सौंदर्यचित्रों और प्रेम की भावदशाओं का अनुपम अंकन इनके काव्य में मिलता है। तीसरे वर्ग में घनानंद, बोधा, द्विजदेव, ठाकुर आदि रीतिमुक्त कवि आते हैं जिन्होंने स्वच्छंद प्रेम की अभिव्यक्ति की है। इनकी रचनाओं में प्रेम की तीव्रता और गहनता की अत्यंत प्रभावशाली व्यंजना हुई है।

रीतिकाव्य मुख्यतः मांसल शृंगार का काव्य है। इसमें नर-नारी-जीवन के स्मरणीय पक्षों का सुंदर उद्घाटन हुआ है। अधिक काव्य मुक्तक शैली में है, पर प्रबंधकाव्य भी हैं। इन दो सौ वर्षों में शृंगारकाव्य का अपूर्व उत्कर्ष हुआ। पर धीरे धीरे रीति की जकड़ बढ़ती गई और हिंदी काव्य का भावक्षेत्र संकीर्ण होता गया। आधुनिक युग तक आते आते इन दोनों कमियों की ओर साहित्यकारों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ।

आधुनिक युग का आरंभ

उन्नीसवीं शताब्दी — यह आधुनिक युग का आरंभ काल है जब भारतीयों का यूरोपीय संस्कृति से संपर्क हुआ। भारत में अपनी जड़ें जमाने के क्रम में अंगरेजी शासन ने भारतीय जीवन को विभिन्न स्तरों पर प्रभावित और आंदोलित किया। नई परिस्थितियों के धक्के से स्थितिशील जीवनविधि का ढाँचा टूटने लगा। एक नए युग की चेतना का आरंभ हुआ। संघर्ष और सामंजस्य के नए आयाम सामने आए।

नए युग के साहित्यसृजन की सर्वोच्च संभावनाएँ खड़ी बोली गद्य में निहित थीं, इसलिये इसे गद्य-युग भी कहा गया है। हिंदी

का प्राचीन गद्य राजस्थानी, मैथिली और ब्रजभाषा में मिलता है पर वह साहित्य का व्यापक माध्यम बनने में असफल था। खड़ी-बोली की परंपरा प्राचीन है। अमीर खुसरो से लेकर मध्यकालीन भूषण तक के काव्य में इसके उदाहरण बिखरे पड़े हैं। खड़ी बोली गद्य के भी पुराने नमूने मिले हैं। इस तरह का बहुत सा गद्य फारसी और गुरुमुखी लिपि में लिखा गया है। दक्षिण की मुसलिम रियासतों में 'दक्खिनी' के नाम से इसका विकास हुआ। अठारहवीं सदी में लिखा गया रामप्रसाद निरंजनी और दौलतराम का गद्य उपलब्ध है। पर नई युगचेतना के संवाहक रूप में हिंदी के खड़ी बोली गद्य का व्यापक प्रसार उन्नीसवीं सदी से ही हुआ। कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में, नवागत अँगरेज अफसरों के उपयोग के लिये, लल्लू जी लाल तथा सदल मिश्र ने गद्य की पुस्तकें लिखकर हिंदी के खड़ी बोली गद्य की पूर्वपरंपरा के विकास में कुछ सहायता दी। सदासुखलाल और इंशाअल्ला खाँ की गद्य रचनाएँ इसी समय लिखी गईं। आगे चलकर प्रेस, पत्रपत्रिकाओं, ईसाई धर्मप्रचारकों तथा नवीन शिक्षा संस्थाओं से हिंदी गद्य के विकास में सहायता मिली। बंगाल, पंजाब, गुजरात आदि विभिन्न प्रांतों के निवासियों ने भी इसकी उन्नति और प्रसार में योग दिया। हिंदी का पहला समाचारपत्र 'उदंत मार्तंड' १८२६ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह हिंदी गद्य के निर्माण और प्रसार में अपने अपने ढंग से सहायक हुए। आर्यसमाज और अन्य सांस्कृतिक आंदोलनों ने भी आधुनिक गद्य को आगे बढ़ाया।

गद्यसाहित्य की विकासमान परंपरा उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से अग्रसर हुई। इसके प्रवर्तक आधुनिक युग के प्रवर्तक और पथप्रदर्शक भारतेंदु हरिश्चंद्र थे जिन्होंने साहित्य का समकालीन जीवन से घनिष्ठ संबंध स्थापित किया। वह संक्रांति और नवजागरण का युग था। अँगरेजों की कूटनीतिक चालों और आर्थिक शोषण से जनता संत्रस्त और क्षुब्ध थी। समाज का एक वर्ग पाश्चात्य संस्कारों से आक्रांत हो रहा था तो दूसरा वर्ग रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। इसी समय नई शिक्षा का आरंभ हुआ और सामाजिक सुधार के आंदोलन चले। नवीन ज्ञान विज्ञान के प्रभाव से नवशिक्षितों में जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण विकसित हुआ जो अतीत की अपेक्षा वर्तमान और भविष्य की ओर विशेष उन्मुख था। सामाजिक विकास में उत्पन्न आस्था और जाग्रत समुदायचेतना ने भारतीयों में जीवन के प्रति नया उत्साह उत्पन्न किया। भारतेंदु के समकालीन साहित्य में, विशेषतः गद्यसाहित्य में तत्कालीन वैचारिक और भौतिक परिवेश की विभिन्न अवस्थाओं की स्पष्ट और जीवंत अभिव्यक्ति हुई। इस युग की नवीन रचनाएँ देशभक्ति और समाजसुधार की भावना से परिपूर्ण हैं। अनेक नई परिस्थितियों की टकराहट से राजनीतिक और सामाजिक व्यंग की प्रवृत्ति भी उद्बुद्ध हुई। इस समय के गद्य में बोलचाल की सजीवता है। लेखकों के व्यक्तित्व से संपृक्त होने के कारण उसमें पर्याप्त रोचकता आ गई है। सबसे अधिक निबंध लिखे गए जो व्यक्तिप्रधान और विचारप्रधान तथा वर्णनात्मक भी थे। अनेक शैलियों में कथासाहित्य भी लिखा गया, अधिकतर शिक्षाप्रधान। पर यथार्थवादी दृष्टि और नए शिल्प की विशिष्टता श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरु' में ही है। देवकीनंदन का तिलस्मी उपन्यास 'चंद्रकांता' इसी समय प्रकाशित हुआ। पर्याप्त परिमाण में नाटकों और सामाजिक प्रहसनों की रचना हुई। भारतेंदु, प्रतापनारायण, श्रीनिवासदास, आदि प्रमुख नाटककार हैं। साथ ही भक्ति और शृंगार की बहुत सी सरस कविताएँ भी निर्मित हुईं। पर जिन कविताओं में सामाजिक भावों की अभिव्यक्ति हुई वे ही नए युग की सृजनशीलता का प्रारंभिक आभास देती हैं। खड़ी बोली के छिटफुट प्रयोगों को छोड़ शेष कविताएँ ब्रजभाषा में लिखी गईं। वास्तव में नया युग इस समय के गद्य में ही अधिक प्रतिफलित हो सका।

बीसवीं शताब्दी (सन् १९००–२० ई०)

इस कालावधि की सबसे महत्वपूर्ण घटनाएँ दो हैं — एक तो सामान्य काव्यभाषा के रूप में खड़ी बोली की स्वीकृति और दूसरे हिंदी गद्य का नियमन और परिमार्जन। इस कार्य में सर्वाधिक सशक्त योग 'सरस्वती' संपादक महावीरप्रसाद द्विवेदी का था। द्विवेदी जी और उनके सहकर्मियों ने हिंदी गद्य की अभिव्यक्तिक्षमता को विकसित किया। निबंध के क्षेत्र में द्विवेदी जी के अतिरिक्त बालमुकुंद, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पूर्णसिंह, पद्मसिंह शर्मा जैसे एक से एक सावधान, सशक्त और जीवंत गद्यशैलीकार सामने आए। उपन्यास अनेक लिखे गए पर उनकी यथार्थवादी परंपरा का उल्लेखनीय विकास न हो सका। यथार्थपरक आधुनिक कहानियाँ इसी काल में जन्मीं और विकासमान हुईं। गुलेरी, कौशिक आदि के अतिरिक्त प्रेमचंद और प्रसाद की भी प्रारंभिक कहानियाँ इसी समय प्रकाश में आईं। नाटक का क्षेत्र अवश्य सूना सा रहा। इस समय के सबसे प्रभावशाली समीक्षक द्विवेदी जी थे जिनकी संशोधनवादी और मर्यादानिष्ठ आलोचना ने अपने समकालीन साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया। मिश्रबंधु, कृष्णबिहारी मिश्र, और पद्मसिंह शर्मा इस समय के अन्य समीक्षक हैं पर कुल मिलाकर इस समय की समीक्षा बाह्यपक्षप्रधान ही रही।

सुधारवादी आदर्शों से प्रेरित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपने 'प्रियप्रवास' में राधा का लोकसेविका रूप प्रस्तुत किया और खड़ी-बोली के विभिन्न रूपों के प्रयोग में निपुणता भी प्रदर्शित की। मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' में राष्ट्रीयता और समाजसुधार का स्वर ऊँचा किया और 'साकेत' में उर्मिला की प्रतिष्ठा की। इस समय के अन्य कवि द्विवेदी जी, श्रीधर पाठक, बालमुकुंद गुप्त, नाथूराम शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल आदि हैं। ब्रजभाषा काव्य-परंपरा के प्रतिनिधि रत्नाकर और सत्यनारायण कविरत्न हैं। इस समय खड़ी बोली काव्यभाषा के परिमार्जन और सामयिक परिवेश के अनुरूप रचना का कार्य संपन्न हुआ। नए काव्य का अधिकांश विचारपरक और वर्णनात्मक है।

सन् १९२०–४० के दो दशकों में आधुनिक साहित्य के अंतर्गत वैचारिक और कलात्मक प्रवृत्तियों का अनेकरूप उत्कर्ष दिखाई पड़ा। सर्वाधिक लोकप्रियता उपन्यास और कहानी को मिली। कथासाहित्य में वस्तुवैचित्र्य की जगह जीते जागते स्मरणीय चरित्रों की सृष्टि हुई। निम्न और मध्यवर्गीय समाज के यथार्थपरक चित्र व्यापक रूप

में प्रस्तुत किए गए। वर्णन की सजीव शैलियों का विकास हुआ। इस समय के सर्वप्रमुख कथाकार प्रेमचंद हैं। वृंदावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास भी उल्लेख्य हैं। हिंदी नाटक इस समय जयशंकर प्रसाद के साथ सृजन के नवीन स्तर पर आरोहण करता है। उनके रोमांटिक ऐतिहासिक नाटक अपनी जीवंत चारित्र्यसृष्टि, नाटकीय संघर्षों की योजना और संवेदनीयता के कारण विशेष महत्व के अधिकारी हुए। कई अन्य नाटककार भी सक्रिय दिखाई पड़े। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में रामचंद्र शुक्ल ने सूर, तुलसी और जायसी की सूक्ष्म भावस्थितियों और कलात्मक विशेषताओं का मार्मिक उद्घाटन किया और साहित्य के सामाजिक मूल्यों पर बल दिया। अन्य आलोचक हैं श्री नंददुलारे वाजपेयी, डा० नगेंद्र तथा डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी।

काव्य के क्षेत्र में यह छायावाद के विकास का युग है। पूर्ववर्ती काव्य वस्तुनिष्ठ था, छायावादी काव्य भावनिष्ठ है। इसमें व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का प्राधान्य है। स्थूल वर्णन विवरण के स्थान पर छायावादी काव्य में व्यक्ति की स्वच्छंद भावनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति हुई। स्थूल तथ्य और वस्तु की अपेक्षा बिंबविधायक कल्पना छायावादियों को अधिक प्रिय है। उनकी सौंदर्यचेतना विशेष विकसित है। प्रकृतिसौंदर्य ने उन्हें विशेष आकृष्ट किया। वैयक्तिक संवेगों की प्रमुखता के कारण छायावादी काव्य मूलत: प्रगीतात्मक है। इस समय खड़ी बोली काव्यभाषा की अभिव्यक्तिक्षमता का अपूर्व विकास हुआ। जयशंकर प्रसाद, माखनलाल, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी, नवीन और दिनकर छायावाद के उत्कृष्ट कवि हैं।

सन् १९४० के बाद छायावाद की संवेगनिष्ठ, सौंदर्यमूलक और कल्पनाप्रिय व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के विरोध में प्रगतिवाद का संघबद्ध आंदोलन चला जिसकी दृष्टि समाजबद्ध, यथार्थवादी और उपयोगितावादी है। सामाजिक वैषम्य और वर्गसंघर्ष का भाव इसमें विशेष मुखर हुआ। इसने साहित्य को सामाजिक क्रांति के अस्त्र के रूप में ग्रहण किया। अपनी उपयोगितावादी दृष्टि की सीमाओं के कारण प्रगतिवादी साहित्य, विशेषत: कविता में कलात्मक उत्कर्ष की संभावनाएँ अधिक नहीं थीं, फिर भी उसने साहित्य के सामाजिक पक्ष पर बल देकर एक नई चेतना जाग्रत की।

प्रगतिवादी आंदोलन के आरंभ के कुछ ही बाद नए मनोविज्ञान या मनोविश्लेषणशास्त्र से प्रभावित एक और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय हुई थी जिसे सन् १९४३ के बाद प्रयोगवाद नाम दिया गया। इसी का संशोधित रूप वर्तमानकालीन नई कविता और नई कहानियाँ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वितीय महायुद्ध और उसके उत्तर॰कालीन साहित्य में जीवन की विभीषिका, कुरूपता और असंगतियों के प्रति असंतोष तथा क्षोभ ने कुछ आगे पीछे दो प्रकार की प्रवृत्तियों को जन्म दिया। एक का नाम प्रगतिवाद है, जो मार्क्स के भौतिकवादी जीवनदर्शन से प्रेरणा लेकर चला; दूसरा प्रयोगवाद है, जिसने परंपरागत आदर्शों और संस्थाओं के प्रति अपने असंतोष की तीव्र प्रतिक्रियाओं को साहित्य के नवीन रूपगत प्रयोगों के माध्यम से व्यक्त किया। इसपर नए मनोविज्ञान का गहरा प्रभाव पड़ा।

प्रगतिवाद से प्रभावित कथाकारों में यशपाल, उपेंद्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर और नागार्जुन आदि विशिष्ट हैं। आलोचकों में रामविलास शर्मा प्रमुख हैं। कवियों में केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, शिवमंगल सिंह 'सुमन' आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

नए मनोविज्ञान से प्रभावित प्रयोगों के लिये सचेष्ट कथाकारों में अज्ञेय प्रमुख हैं। मनोविज्ञान से गंभीर रूप में प्रभावित इलाचंद्र जोशी और जैनेंद्र हैं। इन लेखकों ने व्यक्तिमन के अवचेतन का उद्घाटन कर नया नैतिक बोध जगाने का प्रयत्न किया। जैनेंद्र और अज्ञेय ने कथा के परंपरागत ढाँचे को तोड़कर शैलीशिल्प संबंधी नए प्रयोग किए। परवर्ती लेखकों और कवियों में वैयक्तिक प्रतिक्रियाएँ अधिक प्रखर हुईं। समकालीन परिवेश से वे पूर्णत: संसक्त हैं। उन्होंने समाज और साहित्य की मान्यताओं पर गहरा प्रश्नचिह्न लगा दिया है। व्यक्तिजीवन की लाचारी, कुंठा, आक्रोश आदि व्यक्त करने के साथ ही वे वैयक्तिक स्तर पर नए जीवनमूल्यों के अन्वेषण में लगे हुए हैं। उनकी रचनाओं में एक ओर सार्वभौम संत्रास और विभीषिका की छटपटाहट है तो दूसरी ओर व्यक्ति के अस्तित्व की अनिवार्यता और जीवन की संभावनाओं को रेखांकित करने का उपक्रम भी। हमारा समकालीन साहित्य आत्यंतिक व्यक्तिवाद से ग्रस्त है, और यह उसकी सीमा है। पर उसका सबसे बड़ा बल उसकी जीवनमयता है जिसमें भविष्य की सशक्त संभावनाएँ निहित हैं।

[वि० पा० सि०]

हिंदी में शैव काव्य संस्कृत स्तोत्रों में वैदिक शतरुद्रिय, उत्पलदेव की 'स्तोत्रावली', जगद्धर भट्ट की 'स्तुतिकुसुमांजलि', 'पुष्पदंत' का 'शिवमहिम्नस्तोत्र', रावणकृत 'शिवतांडवस्तोत्र' एवं शंकराचार्य कृत 'शिवानंदलहरी' प्रमुख शैव रचनाएँ हैं। प्रबंधकाव्यों में कालिदासकृत 'कुमारसंभव' भारविकृत 'किरातार्जुनीयम्' मंखक-रचित 'श्रीकंठचरितम्' एवं रत्नाकर प्रणीत 'हरविजय' उल्लेख्य हैं।

हिंदी में भी शैवकाव्य की ये स्तोत्रात्मक एवं प्रबंधात्मक पद्धतियाँ चलीं पर इसके अतिरिक्त शिव के स्वरूपैश्वर्य का स्वतंत्र वर्णन, हास्य के आलंबन, शृंगार के उपमान एवं क्रांति और विनाश के प्रतीक के रूप में भी उनका चित्रण पर्याप्त रूप में हुआ है। मिथिला, पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान में शैव साधना एवं शैव भाव का विशेष महत्व रहा है। फलतः इन प्रदेशों में शैव काव्य का अखंड सृजन होता रहा।

हिंदी साहित्य के आदिकाल में अपभ्रंश और लोकभाषा दोनों में शैव काव्य का प्रचुर प्रणयन हुआ। जैन कवि पुष्पदंत ने अपने 'णायकुमारचरिउ' में शिव द्वारा मदनदहन तथा ब्रह्मा के शिरो॰च्छेद की कथा का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त 'प्राकृतपैंगलम्' में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ शिव के विराट् स्वरूप का स्वतंत्र रूप से विलक्षण वर्णन उपलब्ध होता है।

सिद्ध कवि गुंडरीपा और सरहपा आदि ने भी शैव मत से प्रभावित होकर अनेक पद रचे। नाथपंथ शैवों का ही एक संप्रदाय

था अतः गोरख की बानियों में सर्वत्र ही शिव शक्ति के सामरस्य एवं असंख्य कलायुक्त शिव को सहस्रार में ही देखने का संदेश दिया गया है।

चौदहवीं शताब्दी में मिथिला के महाकवि विद्यापति ने शताधिक शैव गीतों का सृजन किया जो नचारी के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके गीतों में शिव के नटराज, अर्धनारीश्वर एवं हरिहर के एकात्म रूप का चित्रण है तथा शिव के प्रति व्यक्त एक भक्त के निश्छल हृदय की सहज भावनाओं का उद्रेक भी है।

भक्तिकाल में मिथिला के कृष्णदास, गोविंद ठाकुर तथा हरिदास आदि ने स्वतंत्र रूप से शिवमहिमा एवं उनके ऐश्वर्यप्रतिपादक पदों का निर्माण किया। मिथिलेतर प्रदेशों के तानसेन, नरहरि एवं सेनापति ने भी शिव के प्रति भक्तिभाव से पूर्ण अनेक कवित्त रचे।

सूफी कवि जायसी ने शैव मत से प्रभावित होकर पद्मावत में अनेक शैव तत्वों का प्रतिपादन किया। उन्होंने शिवशक्ति या रसायनवाद के सभी उपकरणों को मुक्त भाव से स्वीकार किया एवं रतनसेन को शिवानुग्रह से ही सिद्धि दिलाई। इसी भाँति कबीर आदि ज्ञानमार्गी संतों पर शैव मत एवं नाथपंथियों का प्रभाव है। उन्होंने निरंजन या शून्य को शिवरूप में ही ग्रहण किया।

महाकवि तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' में शिव के प्रति भक्तिभाव से पूर्ण अनेक पदों की रचना की एवं 'पार्वतीमंगल' जैसे स्वतंत्र ग्रंथ में शिवविवाह की कथा को प्रथम बार लोकभाषा में प्रबंधात्मक रूप प्रदान किया। उनके 'रामचरितमानस' के आरंभ में ही शिवकथा कही गई है। मध्य में भी प्रसिद्ध शिवस्तुति है और शिव-उमा-संवाद के रूप में प्रस्तुत कर तुलसी ने रामकथा को शैव परिवेश प्रदान कर दिया है।

सूरदास ने भी सूरसागर में अंतर्कथा के रूप में शिवजीवन के अनेक प्रसंगों को गीतिप्रबंध का रूप देकर प्रस्तुत किया है।

रीतिकालीन कवियों में प्रायः सबने शिव संबंधी काव्यप्रणयन किया जिनमें केशवदास, देव, पद्माकर, भिखारीदास और भूषण प्रमुख हैं। केशव और भिखारी आदि ने अपने लक्षणग्रंथों के उदाहरण के लिये शिव का जहाँ अनेक स्थलों पर वर्णन किया है वहाँ मिथिला के भग्निप्रसाद सिंह, आनंद, उमानाथ, कुंजनदास, चंदनराम, जयरामदास, महीनाथ ठाकुर, लाल झा एवं हिमकर ने स्वतंत्र रूप से शिवसंबंधी पद्य रचे। इनके अतिरिक्त इस काल में प्रणीत शैव काव्यग्रंथों में दीनदयाल गिरि का 'विश्वनाथ नवरत्न', बलदेवसिंह का 'शिवसागर' (दो खंडों में दोहा चौपाई छंदों में रचित प्रबंधकाव्य) तथा बनारसी कवि की 'शिवपच्चीसी' आदि महत्वपूर्ण हैं।

प्रबंध काव्यों में पं० गौरीनाथ शर्मा का दोहा, चौपाई छंद में रचित 'शिवपुराण' महाकाव्य अत्यंत उत्कृष्ट है।

जयशंकरप्रसादकृत 'कामायनी' में शैवों के प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रचुर प्रभाव है तथा इसमें शिव के नटराज रूप के अतिरिक्त उनके सृष्टिरक्षक, सृष्टिसंहारक, सृष्टि की मूल शक्ति एवं महायोगी रूप का भी भव्य और उदात्त वर्णन है। इसमें श्रद्धा के सहयोग से इच्छा, क्रिया और ज्ञान का सामरस्य कर शाश्वत शिवानंद प्राप्त करने का दिव्य संदेश मानव को दिया गया है।

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कृत 'तारकवध' एक विशाल शैव महाकाव्य है। राजस्थान के कवि रामानंद तिवारी का 'पार्वती' महाकाव्य शैव काव्यों में एक उत्कृष्ट उपलब्धि है। इसकी कथा पर यद्यपि कुमारसंभव का प्रभाव है तथापि इसमें शिवसमाज, शिवदर्शन, शिवसंस्कृति आदि का विस्तृत वर्णन कर मानव को शिवसमाज-निर्माण का संदेश दिया गया है।

युगीन भावनाओं एवं राष्ट्रीय परिवेश के आवरण में शिव को तांडव, क्रांति और विध्वंस का प्रतीक मानकर काव्य रचनेवालों में कविवर भारती, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' नाथूराम 'शंकर', रामकुमार वर्मा, रामधारी सिंह 'दिनकर' एवं सुमित्रानंदन पंत प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त अनूप शर्मा, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' आदि अनेक ऐसे उत्कृष्ट कवि हैं जिन्होंने अपनी कविताओं में शिव के प्रति भक्तिभाव व्यंजित कर शैव काव्य के भंडार को भरने में योगदान दिया है। [के० ना० ला०]

हिंदी साहित्य संमेलन राष्ट्रभाषा हिंदी और राष्ट्रलिपि नागरी का प्रचार और प्रसार करनेवाली सुप्रसिद्ध सार्वजनिक संस्था। मुख्य कार्यालय इलाहाबाद में है। इसकी स्थापना संवत् १९६७ विक्रमी (सन् १९१० ई०) में हुई थी। अखिल भारतीय स्तर पर हिंदी की तात्कालिक समस्याओं पर विचार करने के लिये देश भर के हिंदी के साहित्यकारों और प्रेमियों के प्रथम संमेलन की अध्यक्षता महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने की थी। इस अधिवेशन में यह निश्चय हुआ कि इस प्रकार का हिंदी के साहित्यकारों का संमेलन प्रतिवर्ष किया जाय, जिससे हिंदी की उन्नति के प्रयत्नों के साथ साथ उसकी कठिनाइयों को दूर करने का भी उपाय किया जाय। संमेलन ने इस दिशा में अनेक उपयोगी कार्य किए। उसने अपने वार्षिक अधिवेशनों में जनता और शासन से हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने के संबंध में विविध प्रस्ताव पारित किए और हिंदी के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को दूर करने के भी उपाय किए। उसने हिंदी की अनेक परीक्षाएँ चलाईं, जिनसे देश के भिन्न भिन्न अंचलों में हिंदी का प्रचार और प्रसार हुआ।

हिंदी साहित्य संमेलन के इन वार्षिक अधिवेशनों की अध्यक्षता भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध साहित्यिकों, प्रमुख राजनीतिज्ञों एवं विचारकों ने की। महात्मा गांधी इसके दो बार सभापति हुए। महात्मा गांधी के प्रयत्नों से अहिंदीभाषी प्रदेशों में इस संस्था के द्वारा हिंदी का व्यापक प्रचार हुआ। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन संमेलन के प्रथम प्रधान मंत्री थे। उन्हीं के प्रयत्नों से इस संस्था की इतनी उन्नति हुई।

हिंदी साहित्य संमेलन की शाखाएँ देश के निम्नलिखित राज्यों में हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, दिल्ली, पंजाब, मध्यप्रदेश, विदर्भ, बंबई, तथा बंगाल। अहिंदीभाषी प्रदेशों में कार्य करने के लिये इसकी एक शाखा वर्धा में भी है, जिसका नाम 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' है। इसके कार्यालय महाराष्ट्र, बंबई, गुजरात, हैदराबाद, उत्कल, बंगाल तथा असम में हैं। इन दोनों संस्थाओं द्वारा हिंदी की जो विविध

परीक्षाएँ ली जाती हैं, उनमें देश और विदेश के दो लाख से अधिक परीक्षार्थी प्रतिवर्ष लगभग ७०० परीक्षाकेंद्रों में भाग लेते हैं। ये प्रवेशिका, प्रथमा, मध्यमा तथा उत्तमा कहलाती हैं। हिंदी साहित्य-विषय के अतिरिक्त आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, राजनीति, कृषि, एवं शिक्षाशास्त्र में उपाधिपरीक्षाएँ संमेलन द्वारा ली जाती हैं। हिंदी साहित्य संमेलन और उसकी प्रादेशिक शाखाओं द्वारा हिंदी का जो सार्वदेशिक प्रचार हुआ, उसके परिणामस्वरूप देश की स्वतंत्रता के आंदोलन के साथ साथ हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किए जाने का आंदोलन तीव्रतर हुआ, और फिर स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद भारतीय संविधान में हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद दिया गया।

संमेलन के साहित्य विभाग द्वारा एक त्रैमासिक शोधपत्रिका 'संमेलन पत्रिका' का प्रकाशन होता है। साथ ही हिंदी की अनेक उच्च कोटि की पाठ्य एवं साहित्यिक पुस्तकों, पारिभाषिक शब्दकोशों एवं संदर्भग्रंथों का भी प्रकाशन हुआ है जिनकी संख्या डेढ़-दो सौ के करीब है। संमेलन के हिंदी संग्रहालय में हिंदी की हस्तलिखित पांडुलिपियों का भी संग्रह है। इतिहास के विद्वान् मेजर वामनदास वसु की बहुमूल्य पुस्तकों का संग्रह भी संमेलन के संग्रहालय में है, जिसमें पाँच हजार के करीब दुर्लभ पुस्तकें संगृहीत हैं।

हिंदी साहित्य संमेलन द्वारा हिंदी साहित्य की उच्च कक्षाओं, हिंदी शीघ्रलिपि तथा हिंदी टंकण की भी शिक्षा दी जाती है। उसका अपना सुव्यवस्थित मुद्रणालय भी है।

हिंदी साहित्य संमेलन ने ही सर्वप्रथम हिंदी लेखकों को प्रोत्साहित करने के लिये उनकी रचनाओं पर पुरस्कारों आदि की योजना चलाई। उसके मंगलाप्रसाद पारितोषिक की हिंदी जगत् में पर्याप्त प्रतिष्ठा है। संमेलन द्वारा महिला लेखकों के प्रोत्साहन का भी कार्य हुआ। इसके लिये उसने सेकसरिया महिला पारितोषिक चलाया। [रा० प्र० चि०]

हिंदू ऋग्वेद ८,२४,२७ में 'सप्तसिंधवः' [अवेस्ता–हप्त हिंदु] शब्द देश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अन्यत्र उक्त शब्द से सात नदियों का ही आशय व्यक्त होता है। मैक्समूलर के मतानुसार इस शब्द से पंजाब की पाँच नदियों के साथ साथ सिंधु तथा सरस्वती का तात्पर्य निकलता है। सिंधु शब्द का अर्थ है — 'स्यंद (न) शील' = क्षरणशील। संस्कृत वाङ्मय में सिंधु शब्द पाँच अर्थों में प्रयुक्त हुआ है — १. समुद्र, २. नद, ३. नदी, ४. देश तथा ५. गजमद।

वैदिक वाङ्मय में 'स' के स्थान पर 'ह' का अनेकत्र विकास पाया जाता है। 'हरितो न रंह्याः' --अथर्ववेद २०.३०,४। इसकी व्याख्या में निघंटु कहता है -- 'सरितो हरितो भवंति, सरस्वत्यो हरस्वत्यः' (१,१३)। अर्थात् प्रस्तुत हरित् शब्द को उच्चारणभेद के कारण नदीवाचक सरित् शब्द समझना चाहिए और इसी प्रकार 'सरस्वती' का विकास 'हरस्वती' ज्ञेय है। यह वैदिक परिपाटी लोक में आज भी देशभेद से सर्वत्र प्रचलित है।

ईरान देश की सुपुरातन भाषा अवेस्ता में 'सिंधु' देश 'हिंदु' के रूप में उपलब्ध है। वहाँ इस शब्द का अर्थ होता है --- 'भारत'। 'भारतीय' अर्थ इससे अभिप्रेत नहीं है। पुरानी पर्शियन में यह शब्द 'हि (न्) दु' के रूप में उल्लिखित है तथा वहाँ भी इसका अर्थ 'भारत देश' होता है (दे० कार्ल ब्रुगमन् : कंपरेटिव ग्रामर ऑव दि इंडो–जर्मनिक लैंग्वेजेज्, द्वितीय खंड, पृ० ३१४)। ईरानी भाषाओं में संस्कृत भाषा का सकार हकार के रूप में विकसित होता है। संस्कृत के केसरी, मास और सप्ताह वहाँ क्रमशः 'केहरी' 'माह' और 'हफ्ता' हो जाते हैं। मेरुतंत्र आदि कुछ आधुनिक ग्रंथों में काल्पनिक व्याख्याओं द्वारा इसके संस्कृतीकरण का अनैतिहासिक प्रयास किया गया है। सिंधु से प्राप्तविकास 'हिंदू' शब्द भी अविकसित होने से बच नहीं सका। ग्रीक और लैटिन में वह 'इंडो (स)' बोला जाने लगा। इस 'इंडो' का अर्थ होता है — 'एशिया'।

बाद में जिस प्रकार भारत की प्रांतीय भाषाओं में 'सिंधु' को 'सिंध' बोला जाने लगा उसी प्रकार फारसी में 'हिंदु' के स्थान पर 'हिंद' का व्यवहार होने लगा। ईरानदेशीय पारसी संप्रदाय के मान्य ग्रंथ शातीर की १६२वीं आयत में भारतदेश का नाम हिंदू (<हिंद) रूप से प्रतिपादित है। इसी पुस्तक की १६३वीं आयत से प्रमाणित होता है कि उस समय 'हिंद' (<हिंदू) देश के निवासी को 'हिंदी' कहा जाता था — 'चूँ व्यास हिंदी बल्ख आमद'। सिंध (<सिंधु) प्रांत के निवासियों को भी आज लोग सिंधी कहते हैं 'सिंधू' नहीं। मुसलिम धर्म स्वीकार कर लेने के बाद पारस निवासियों ने 'हिंदू' शब्द के साथ 'काफिर', 'काला', 'लुटेरा', 'गुलाम' इत्यादि अर्थों की योजना की।

तात्स्थ्यलक्षणया 'हिंदू' शब्द 'हिंदू देश' = 'भारत' के निवासी अर्थ में भी प्रयुक्त होता रहा है, वह निवासी चाहे किसी भी जाति का क्यों न हो। मौलाना जलालुद्दीन रूमी 'बहरुल उलूम' मसनवी मौलाना रूम पुस्तक के 'दफ्तर दोयम' में हिंदूदेश = भारत के निवासी मुसलमानों को हिंदू नाम से पुकारते हैं —

'चार हिंदू दर यके मस्जिद शुदंद, बहरे ताअत रा के ओ साजिद शुदंद।' (मसनवी मौलवी मानवी, पृ० १९७, मुंशी नवलकिशोर प्रेस, १८९६ ई०) इसका आशय है कि चार हिंदू यानी हिंदुस्तानी मुसलमान एक मस्जिद में गए और इबादत के निमित्त सिजदा करने लगे।

इस्लाम धर्म की तुलना में भारतीय धर्म हिंदू धर्म के नाम से संबोधित होने लगा और पहले की अपेक्षा 'हिंदू' की व्यापकता कम हो गई। दाह किए जानेवाले ही 'हिंदू' माने जाने लगे — 'हिंदू दाह, यवन ईसाई दफन इसी में पाते हैं'। हिंदू के साथ धर्म शब्द के जोड़े जाने के कारण 'हिंदू की परिधि दिनानुदिन संकुचित होती चली गई। हर फिर्का अपने को स्वयं में सीमित समझने लगा। आर्यसमाज ने 'हिंदू' शब्द का बहिष्कार किया और उसके स्थान पर 'आर्य' शब्द की प्रतिष्ठापना की। हिंदी भाषा का नामकरण आर्यभाषा किया। हिंदू (धर्म) को ब्राह्मण (धर्म) समझ लिए जाने के कारण बौद्ध और जैन भी अपने को हिंदू कहने से मुकरने लगे। शेष भारतीय भी अपने को प्रथमतः हिंदू न कहकर वैष्णव, शैव, शाक्त, सिख आदि बताने लगे।

मुस्लिम जाति की तुलना में उनसे पूर्ववर्ती भारतीयों को हिंदू जाति का बताया जाने लगा। वस्तुतः यह भी एक प्रकार का अध्यारोप था। 'हिंदू' नामक कोई भी जाति नहीं थी अपितु ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र प्रादि प्रादि जातियाँ गणनीय थीं। हिंदू नामक न तो कोई पंथ था और न कोई मत ही।

निष्कर्षत: 'हिंदु' या 'हिंदू' वृहत्तर भारत देश की संज्ञा थी। फलत: इस देश के निवासी भी 'हिंदू' कहलाने लगे।

[भा० प्र० वि०]

हिंदूकुश स्थिति : ३६° ०' उ० दे० तथा ७१° ०' पू० दे०। यह मध्य एशिया की विस्तृत पर्वतमाला है, जो पामीर क्षेत्र से लेकर काबुल के पश्चिम में कोह–इ–बाबा तक ८०० किमी लंबाई में फैली हुई है। यह पर्वतमाला हिमालय का ही प्रसार है, केवल बीच का भाग सिंधु नद द्वारा पृथक् हुआ है। प्राचीन भूगोलविद् इस पर्वतश्रेणी को भारतीय कॉकेशस (Indian Caucasus) कहते थे। इस पर्वतमाला का ३२० किमी लंबा भाग अफगानिस्तान की दक्षिणी सीमा बनाता है। इस पर्वतमाला का सर्वोच्च शिखर तिरिचमीर है जिसकी ऊँचाई ७७१२ मी है। इसमें अनेक दर्रे हैं जो ३७९२ मी से लेकर ५३०८ मी की ऊँचाई तक में हैं। इन दर्रों में बरोगहिल (Baroghil) के दर्रे सुगम हैं। हिंदूकुश आब-इ-पंजा से धीरे धीरे पीछे हटने लगता है और दक्षिण पश्चिम की ओर मुड़ जाता है तथा इसकी ऊँचाई बढ़ने लगती है और प्रमुख शिखरों की ऊँचाई ७२०० मी से अधिक तक पहुँच जाती है। इस दक्षिण-पश्चिम की मोड़ में ६४ किमी से ८० किमी तक शिखरों में अनेक दर्रे हैं। इनमे ४५०० मी० की ऊँचाई पर स्थित दुराह समूह के दर्रे महत्वपूर्ण हैं, जो चित्राल एवं ऑक्सस (Oxus) नदियों को जोड़नेवाली महत्वपूर्ण कड़ियाँ हैं। खावक दर्रा वर्ष भर चालू रहता है और बदख्शान से होता हुआ सीधे काबुल तक चला गया है। यह दर्रा महत्वपूर्ण काफिलापथ है। हिंदूकुश के उत्पत्ति स्थान से चार प्रमुख नदियाँ ऑक्सस, यारकंद दरिया, कुनार और गिलगिट निकलती हैं। हिंदूकुश पर्वतमाला की चार प्रमुख शाखाएँ हैं। इन सब शाखाओं से नदियाँ निकलकर मध्य एशिया के सभी प्रदेशों में बहती हैं।

हिंदूकुश की जलवायु शुष्क है और ४५०० मी से अधिक ऊँचे शिखर सदा हिमाच्छादित रहते हैं। जाड़े में यहाँ कड़ाके की सर्दी पड़ती है। ग्रीष्म काल में पहाड़ की निचली ढलानों पर अत्यधिक गरमी पड़ती है। इस पर्वत की मुख्य वनस्पति घास है। ऑक्सस अर्थात् आमू दरिया तथा अन्य छोटी नदियों को यहाँ के हिम के पिघलने से पर्याप्त जल मिलता है। यह पर्वत उत्तर में सोवियत संघ और दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व में अफगानिस्तान, पाकिस्तान एवं कश्मीर के बीच में रोध का कार्य करता है। [अ० ना० मे०]

हिंदू महासभा स्वराज्य के लिये मुस्लिम सहयोग की आवश्यकता समझकर कांग्रेस ने जब मुसलमानों के तुष्टीकरण की नीति अपनाई तो कितने ही हिंदू देशभक्तों को बड़ी निराशा हुई। फलस्वरूप सन् १९१० में पूज्य पं० मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में प्रयाग में हिंदू महासभा की स्थापना की गई।

सन् १९१६ में लोकमान्य तिलक की अध्यक्षता में लखनऊ में कांग्रेस अधिवेशन हुआ। यद्यपि तिलक जी भी मुस्लिमपोषकनीति से क्षुब्ध थे, फिर भी लखनऊ कांग्रेस ने ब्रिटिश अधिकारियों के प्रभाव में पड़कर एकता और राष्ट्रहित की दोहाई देकर मुस्लिम लीग से समझौता किया जिसके कारण सभी प्रांतों में मुसलमानों को विशेष अधिकार और संरक्षण प्राप्त हुए। अंग्रेजों ने भी अपनी कूटनीति के अनुसार चेम्सफोर्ड योजना बनाकर मुसलमानों के विशेषाधिकार पर मोहर लगा दी।

हिंदू महासभा ने सन् १९१७ में हरिद्वार में महाराजा नंदी कासिम बाजार की अध्यक्षता में अपना अधिवेशन करके कांग्रेस लीग समझौते तथा चेम्सफोर्ड योजना का तीव्र विरोध किया किंतु हिंदू बड़ी संख्या में कांग्रेस के साथ थे अतः सभा के विरोध का कोई परिणाम न निकला।

अंग्रेजों ने स्वाधीनता आंदोलन का दमन करने के लिये रौलट ऐक्ट बनाकर क्रांतिकारियों को कुचलने के लिये पुलिस और फौजी अदालतों को व्यापक अधिकार दिए। कांग्रेस की तरह हिंदू महासभा ने भी इसके विरुद्ध आंदोलन चलाया, पर मुसलमान आंदोलन से दूर थे। उसी समय गांधी जी ने तुर्की के खलीफा को अंग्रेजों द्वारा हटाए जाने के विरुद्ध तुर्की के खिलाफत आंदोलन के समर्थन में भारत में भी खिलाफत आंदोलन चलाया। हजारों हिंदू इस आंदोलन में जेल गए परंतु खिलाफत का प्रश्न समाप्त होते ही मुसलमानों ने पुनः कोहाट, मुलतान और मालावार आदि में मार काट कर सांप्रदायिकता की आग भड़काई।

हिंदू महासभा भी राष्ट्रीय एकता समर्थक है किंतु उसका मत यह रहा है कि देश की बहुसंख्यक जनता हिंदू है, अतः उसका हित ही वस्तुतः राष्ट्र का हित है। सभा इसे सांप्रदायिकता नहीं समझती। मुसलमान इस देश में न रहें या दबे रहें, यह उसका लक्ष्य नहीं।

हिंदू महासभा का काशी अधिवेशन — सन् १९२३ के अगस्त मास में हिंदू महासभा का अधिवेशन काशी में हुआ, जिसमें सनातनी, आर्यसमाजी, सिक्ख, जैन, बौद्ध आदि सभी संप्रदाय के लोग बड़ी संख्या मे एकत्र हुए। हिंदू महासभा के इस अधिवेशन ने हिंदुओं को सांत्वना एवं साहस प्रदान किया और वे पूज्य मालवीय जी, स्वामी श्रद्धानंद, लाला लाजपत राय के नेतृत्व में हिंदू महासभा द्वारा दिखाए गए मार्ग पर चलने का प्रयत्न करने लगे। अधिवेशन में संपूर्ण देश में बलपूर्वक मुसलमान बनाए गए हिंदुओं को शुद्ध करने का निश्चय किया गया। तदनुसार संपूर्ण देश में शुद्धि का आंदोलन चल पड़ा जिसमें पूज्य स्वामी श्रद्धानंद प्राणपण से जुट गए। फलस्वरूप शीघ्र ही ५०–६० हजार मलकाना राजपूत पुनः शुद्ध होकर हिंदू बन गए। इसपर एक धर्मांध मुसलमान अब्दुल रशीद ने पूज्य स्वामी श्रद्धानंद जी की हत्या कर दी।

सन् १९२६ का साधारण निर्वाचन — सन् १९२५ में कलकत्ता नगरी में ला० लाजपत राय जी की अध्यक्षता में हिंदू महासभा का अधिवेशन हुआ जिसमें प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता डा० जयकर भी संमिलित हुए।

सन् १९२६ में देश में प्रथम निर्वाचन होने जा रहा था। अंग्रेजों ने कांग्रेस लीग गठबंधन को असफल बनाने एवं मुसलमानों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में विद्रोह और विद्वेष फैलाए रखने के लिये अपनी ओर से असेंबलियों में मुसलमानों के लिये स्थान सुरक्षित कर दिए। इस बात की चेष्टा होने लगी कि हिंदू सीटों पर कट्टर हिंदू सभाइयों के बजाय बुलमुल मुस्लिमसमर्थक कांग्रेसी ही चुने जायें। हिंदू-महासभा ने पृथक् निर्वाचन के सिद्धांत और मुसलमानों के लिये सीटें सुरक्षित करने का तीव्र विरोध किया और निश्चय किया कि चुनाव में अपने प्रखर राष्ट्रवादी प्रतिनिधि भेजे जायें, जो अंग्रेज-मुस्लिम-षड्यंत्र का डटकर विरोध कर सकें हिंदू महासभा के प्रमुख नेता संपूर्ण देश में दौरा करके हिंदुओं में नया जीवन और चेतना उत्पन्न करने लगे। परिणामस्वरूप हिंदू सभा को चुनाव में अच्छी सफलता मिली। इसी समय बंगाल के मुसलमानों ने पुनः अपने अंग्रेज मित्रों के संकेत पर कलकत्ता में समाज के जुलूस पर आक्रमण करके दंगे आरंभ कर दिए परंतु इसका परिणाम उनको महँगा पड़ा।

साइमन कमीशन और हिंदू महासभा — जब अंग्रेजों का साइमन कमीशन, रिफार्म ऐक्ट में सुधार के लिये भारत आया, तो हिंदू महासभा ने भी कांग्रेस के बहुमत पर इसका बहिष्कार किया। लाहौर में हिंदू महासभा के अध्यक्ष लाला लाजपत राय हिंदू महासभा के हजारों स्वयंसेवकों के साथ काले झंडे लेकर कमीशन के बहिष्कार के लिये एकत्र हुए। पुलिस ने बहुत ही निर्दयता से लाठी प्रहार किया, जिसमें लाला जी को भी काफी चोट आई और वह फिर बिस्तर से न उठ सके। थोड़े ही समय में लाहौर में उनका स्वर्गवास हो गया।

ब्रिटिश सरकार ने लंदन में गोलमेज समेलन आयोजित करके हिंदू, मुसलमान, सिक्ख आदि सभी के प्रतिनिधियों को बुलाया। हिंदू महासभा की ओर से डा० धर्मवीर, मुंजे, बैरिस्टर जयकर आदि संमिलित हुए। गांधी जी ने लंदन गोलमेज संमेलन में पुनः मुस्लिम सहयोग प्राप्त करने के लिये मुसलमानों को कोरा चेक दे दिया, परंतु फिर भी सौदेबाजी में वह अंग्रेजों से जीत न सके। अंग्रेजों ने अपनी ओर से सांप्रदायिक निर्णय देकर हिंदुओं के अधिकार घटाकर मुसलमानों के अधिकार और अधिक बढ़ा दिए। हिंदू-महासभा ने इसका तीव्र विरोध किया। सन् १९२६ से लेकर सन् १९३६ तक श्री रामानंद चटर्जी तथा केलकर आदि अध्यक्ष होते हुए भी वस्तुतः भाई परमानंद जी तथा डा० मुंजे ही हिंदू सभा की बागडोर चलाते रहे। डा० मुंजे ने नासिक में हिंदुओं को सैनिक शिक्षा देने के लिये भोंसला मिलिट्री कालेज की भी स्थापना की। हिंदू महासभा ने सिंध प्रांत को बंबई से अलग करने का भी तीव्र विरोध किया।

वीर सावरकर का आगमन — सन् १९३७ में जब हिंदू महासभा काफी शिथिल पड़ गई थी और हिंदू जनता गांधी जी की ओर झुकती चली जा रही थी, तब भारतीय स्वाधीनता के लिये अपने परिवार को होम देनेवाले तरुण तपस्वी स्वातंत्र्य वीर सावरकर कालेपानी की भयंकर यातना एवं रत्नागिरी की नजरबंदी से मुक्त होकर बाहर आए। स्थिति समझकर उन्होंने निश्चय किया कि राष्ट्र की स्वाधीनता के निमित्त दूसरों का सहयोग पाने के लिये सौदेबाजी करने की अपेक्षा हिंदुओं को ही संगठित किया जाय।

वीर सावरकर ने सन् १९३७ में अपने प्रथम अध्यक्षीय भाषण में कहा कि हिंदू ही इस देश के राष्ट्रीय हैं और आज भी अंग्रेजों को भगाकर अपने देश की स्वतंत्रता उसी प्रकार प्राप्त कर सकते हैं, जिस प्रकार भूतकाल में उनके पूर्वजों ने शकों, ग्रीकों, हूणों, मुगलों, तुर्कों और पठानों को परास्त करके की थी। उन्होंने घोषणा की कि हिमालय से कन्याकुमारी और अटक से कटक तक रहनेवाले वह सभी धर्म, संप्रदाय, प्रांत एवं क्षेत्र के लोग जो भारत भूमि को पुण्यभूमि तथा पितृभूमि मानते हैं, खानपान, मतमतांतर, रीतिरिवाज और भाषाओं की भिन्नता के बाद भी एक ही राष्ट्र के अंग हैं क्योंकि उनकी संस्कृति परंपरा, इतिहास और मित्र और शत्रु भी एक हैं—उनमें कोई विदेशीयता की भावना नहीं है।

वीर सावरकर ने अहिंदुओं का आवाहन करते हुए कहा कि हम तुम्हारे साथ समता का व्यवहार करने को तैयार हैं, परंतु कर्तव्य और अधिकार साथ साथ चलते हैं। तुम राष्ट्र को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानकर अपना कर्तव्यपालन करो, तुम्हें वे सभी अधिकार प्राप्त होंगे जो हिंदू अपने देश में अपने लिये चाहते हैं। उन्होंने कहा कि यदि तुम साथ चलोगे तो तुम्हें लेकर, यदि तुम अलग रहोगे तो तुम्हारे बिना और अगर तुम अंग्रेजों से मिलकर स्वतंत्रता संग्राम में बाधा उत्पन्न करोगे तो तुम्हारी बाधाओं के बावजूद हम हिंदू अपनी स्वाधीनता का युद्ध लड़ेंगे।

हैदराबाद का सत्याग्रह — इसी समय मुस्लिम देशी रियासतों में अंग्रेजों के वरदहस्त के कारण वहाँ के शासक अपनी हिंदू जनता पर भयंकर अत्याचार करके उनका जीवन दूभर किए हुए थे, अतएव हिंदू महासभा ने आर्यसमाज के सहयोग से निजाम हैदराबाद के पीड़ित हिंदुओं के रक्षार्थ सन् १९३९ में ही संघर्ष आरंभ कर दिया और संपूर्ण देश से हजारों सत्याग्रही निजाम की जेलों में भर गए। हैदराबाद के निजाम ने समझौता करके हिंदुओं पर होनेवाले प्रत्यक्ष अत्याचार बंद कराने की प्रतिज्ञा की।

सन् १९३६ के निर्वाचनों में जब मुस्लिम लीग के कट्टर अनुयायी चुनकर गए और हिंदू सीटों पर कांग्रेसी चुने गए, जो लीग की किसी भी राष्ट्रद्रोही माँग का समुचित उत्तर देने में असमर्थ थे, तब पाकिस्तान बनाने की माँग जोर पकड़ती गई। हिंदू महासभा ने अपनी शक्ति भर इसका विरोध किया।

भागलपुर का मोर्चा — सन् १९४१ में भागलपुर अधिवेशन पर अंग्रेज गवर्नमेंट की आज्ञा से प्रतिबंध लगा दिया गया कि बकरीद के पहले हिंदू महासभा अपना अधिवेशन न करे, अन्यथा हिंदू मुस्लिम दंगे की संभावना हो सकती है। वीर सावरकर ने कहा कि हिंदू-महासभा दंगा करना नहीं चाहती, अतः दंगाइयों के बदले शांतिप्रिय नागरिकों के अधिकारों का हनन करना घोर अन्याय है। वीर सावरकर लगभग ५,००० प्रतिनिधियों के साथ भागलपुर आ रहे थे कि अंग्रेजी सरकार ने उन्हें गया में ही रोककर गिरफ्तार कर लिया। भाई परमानंद, डा० मुंजे, डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी आदि नेता भी बंदी बनाए गए, फिर भी न केवल भागलपुर में वरन्

संपूर्ण बिहार प्रांत में तीन दिनों तक हिंदू महासभा के अधिवेशन आयोजित हुए जिसमें वीर सावरकर का भाषण पढ़ा गया तथा प्रस्ताव पारित हुए।

पाकिस्तान की स्थापना — हिंदू महासभा के घोर विरोध के पश्चात् भी अंग्रेजों ने कांग्रेस को राजी करके मुसलमानों को पाकिस्तान दे दिया और हमारी परम पुनीत भारत भूमि, जो इतने अधिक आक्रमणों का सामना करने के बाद भी कभी खंडित नहीं हुई थी, खंडित हो गई। यद्यपि पाकिस्तान की स्थापना हो जाने से मुसलमानों की मुहमाँगी मुराद पूरी हो गई और भारत में भी उन्हें बराबरी का हिस्सा प्राप्त हो गया है, फिर भी कितने ही मुसलिम नेता तथा कर्मचारी छिपे रूप से पाकिस्तान का समर्थन करते तथा भारत-विरोधी गतिविधियों में सहायक होते रहते हैं। फलस्वरूप कश्मीर, असम, राजस्थान आदि में अशांति तथा विदेशी आक्रमण की आशंका बनी रहती है।

देश की परिस्थितियों को देखते हुए हिंदू महासभा इसपर बल देती है कि देश की जनता को, प्रत्येक देशवासी को अनुभव करना चाहिए कि जब तक संसार के सभी छोटे मोटे राष्ट्र अपने स्वार्थ और हितों को लेकर दूसरों पर आक्रमण करने की घात में लगे हैं, उस समय तक भारत की उन्नति और विकास के लिये प्रखर हिंदू राष्ट्रवादी भावना का प्रसार तथा राष्ट्र को आधुनिकतम अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित होना नितांत आवश्यक है। (वि० ना० अ०)

हिटलर, अडोल्फ (१८८९–१९४५) हिटलर का जन्म आस्ट्रिया में २० अप्रैल, १८८९ को हुआ। उनकी प्रारंभिक शिक्षा लिंज नामक स्थान पर हुई। पिता की मृत्यु के पश्चात् १७ वर्ष की अवस्था में वे वियना गए। कला विद्यालय में प्रविष्ट होने में असफल होकर वे पोस्टकार्डों पर चित्र बनाकर अपना निर्वाह करने लगे। इसी समय से वे साम्यवादियों और यहूदियों से घृणा करने लगे। जब प्रथम विश्वयुद्ध प्रारंभ हुआ तो वे सेना में भर्ती हो गए और फ्रांस में कई लड़ाइयों में उन्होंने भाग लिया। १९१८ ई० में युद्ध में घायल होने के कारण वे अस्पताल में रहे। जर्मनी की पराजय का उनको बहुत दुःख हुआ।

१९१९ ई० में उन्होंने नाजी दल की स्थापना की। इसका उद्देश्य साम्यवादियों और यहूदियों से सब अधिकार छीनना था। इसके सदस्यों में देशप्रेम कूट कूटकर भरा था। इस दल ने यहूदियों को प्रथम विश्वयुद्ध की हार के लिये दोषी ठहराया। आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण जब नाजी दल के नेता हिटलर ने अपने ओजस्वी भाषणों में उसे ठीक करने का आश्वासन दिया तो अनेक जर्मन इस दल के सदस्य हो गए। हिटलर ने भूमिसुधार, वर्साई संधि को समाप्त करने, और एक विशाल जर्मन साम्राज्य की स्थापना का लक्ष्य जनता के सामने रखा जिससे जर्मन लोग सुख से रह सकें। इस प्रकार १९२२ ई० में हिटलर एक प्रभावशाली व्यक्ति हो गए। उन्होंने स्वस्तिक को अपने दल का चिह्न बनाया। समाचारपत्रों के द्वारा हिटलर ने अपने दल के सिद्धांतों का प्रचार जनता में किया। भूरे रंग की पोशाक पहने सैनिकों की टुकड़ी तैयार की गई। १९२३ ई० में हिटलर ने जर्मन सरकार को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया। इसमें वे असफल रहे और जेलखाने में डाल दिए गए। वहीं उन्होंने 'मेरा संघर्ष' नामक अपनी आत्मकथा लिखी। इसमें नाजी दल के सिद्धांतों का विवेचन किया। उन्होंने लिखा कि आर्य जाति सभी जातियों से श्रेष्ठ है और जर्मन आर्य हैं। उन्हें विश्व का नेतृत्व करना चाहिए। यहूदी सदा से संस्कृति में रोड़ा अटकाते आए हैं। जर्मन लोगों को साम्राज्यविस्तार का पूर्ण अधिकार है। फ्रांस और रूस से लड़कर उन्हें जीवित रहने के लिये भूमि प्राप्त करनी चाहिए।

१९३०–३२ में जर्मनी में बेरोजगारी बहुत बढ़ गई। संसद् में नाजी दल के सदस्यों की संख्या २३० हो गई। १९३२ के चुनाव में हिटलर को राष्ट्रपति के चुनाव में सफलता नहीं मिली। जर्मनी की आर्थिक दशा बिगड़ती गई और विजयी देशों ने उसे सैनिक शक्ति बढ़ाने की अनुमति न दी। १९३३ में चांसलर बनते ही हिटलर ने जर्मन संसद् को भंग कर दिया, साम्यवादी दल को गैरकानूनी घोषित कर दिया और राष्ट्र को स्वावलंबी बनने के लिये ललकारा। हिटलर ने डा० जोज़ेफ गोयबल्स को अपना प्रचारमंत्री नियुक्त किया। नाजी दल के विरोधी व्यक्तियों को जेलखानों में डाल दिया गया। कार्यकारिणी और कानून बनाने की सारी शक्तियाँ हिटलर ने अपने हाथों में ले लीं। १९३४ में उन्होंने अपने को सर्वोच्च न्यायाधीश घोषित कर दिया। उसी वर्ष हिंडनबर्ग की मृत्यु के पश्चात् वे राष्ट्रपति भी बन बैठे। नाजी दल का आतंक जनजीवन के प्रत्येक क्षेत्र में छा गया। १९३३ से १९३८ तक लाखों यहूदियों की हत्या कर दी गई। नवयुवकों में राष्ट्रपति के आदेशों का पूर्ण रूप से पालन करने की भावना भर दी गई और जर्मन जाति का भाग्य सुधारने के लिये सारी शक्ति हिटलर ने अपने हाथ में ले ली।

हिटलर ने १९३३ में राष्ट्रसंघ को छोड़ दिया और भावी युद्ध को ध्यान में रखकर जर्मनी की सैन्य शक्ति बढ़ाना प्रारंभ कर दिया। प्रायः सारी जर्मन जाति को सैनिक प्रशिक्षण दिया गया।

१९३४ में जर्मनी और पोलैंड के बीच एक दूसरे पर आक्रमण न करने की संधि हुई। उसी वर्ष आस्ट्रिया के नाजी दल ने वहाँ के चांसलर डॉलफ़स का वध कर दिया। जर्मनी की इस आक्रामक नीति से डरकर रूस, फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया, इटली आदि देशों ने अपनी सुरक्षा के लिये पारस्परिक संधियाँ कीं।

उधर हिटलर ने ब्रिटेन के साथ संधि करके अपनी जलसेना ब्रिटेन की जलसेना का ३५ प्रतिशत रखने का वचन दिया। इसका उद्देश्य भावी युद्ध में ब्रिटेन को तटस्थ रखना था किंतु १९३५ में ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने हिटलर की शस्त्रीकरण नीति की निंदा की। अगले वर्ष हिटलर ने वर्साई की संधि को भंग करके अपनी सेनाएँ फ्रांस के पूर्व में राइन नदी के प्रदेश पर अधिकार करने के लिये भेज दीं। १९३७ में जर्मनी ने इटली से संधि की और उसी वर्ष आस्ट्रिया पर अधिकार कर लिया। हिटलर ने फिर चेकोस्लोवाकिया के उन प्रदेशों को लेने की इच्छा की जिनके अधिकतर निवासी जर्मन थे। ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने हिटलर को संतुष्ट करने के लिये म्यूनिक के समझौते से चेकोस्लोवाकिया को इन प्रदेशों को हिटलर को देने के लिये विवश किया। १९३९ में हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया के शेष भाग पर भी अधिकार कर लिया। फिर हिटलर ने रूस से

संधि करके पोलैंड का पूर्वी भाग उसे दे दिया और पोलैंड के पश्चिमी भाग पर उसकी सेनाओं ने अधिकार कर लिया। ब्रिटेन ने पोलैंड की रक्षा के लिये अपनी सेनाएँ भेजीं। इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारंभ हुआ। फ्रांस की पराजय के पश्चात् हिटलर ने मुसोलिनी से संधि करके कृष्ण सागर पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का विचार किया। इसके पश्चात् जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया। जब अमरीका द्वितीय विश्वयुद्ध में सम्मिलित हो गया तो हिटलर की सामरिक स्थिति बिगड़ने लगी। हिटलर के सैनिक अधिकारी उनके विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगे। जब रूसियों ने बर्लिन पर आक्रमण किया तो हिटलर ने ३० अप्रैल, १९४५, को आत्महत्या कर ली। प्रथम विश्वयुद्ध के विजेता राष्ट्रों की संकुचित नीति कारण ही स्वाभिमानी जर्मन राष्ट्र को हिटलर के नेतृत्व में आक्रामक नीति अपनानी पड़ी। [ओं० प्र०]

हिडिंब, हिडिंबा वनवास काल में जब पांडवों का घर जला दिया गया तो वे भागकर दूसरे जंगल में गए, जहाँ पीली आँखोंवाला हिडिंब राक्षस अपनी बहन हिडिंबा के साथ रहता था। इस राक्षसी का भीम से प्रेम हो गया जो हिडिंब को बहुत बुरा लगा। युद्ध में भीम ने इसे मार डाला और वहीं जंगल में कुंती की आज्ञा से दोनों का ब्याह हुआ। इन्हें घटोत्कच नामक पुत्र हुआ। [रा० द्वि०]

हिडेकी यूकावा (Hideki Yukawa, सन् १९०७-) जापान के सर्वश्रेष्ठ भौतिकीविद् हैं। कियोटो विश्वविद्यालय से स्नातक की डिग्री प्राप्त कर लेने के बाद सन् १९२९ से सन् १९३२ तक आपने मौलिक कणों के बारे में अनुसंधान किया। तदुपरांत कियोटो और ओसाका विश्वविद्यालय में आपने अध्यापन का कार्य किया तथा सन् १९३९ में डी० एस-सी० की डिग्री प्राप्त की। तब से आप कियोटो विश्वविद्यालय में सैद्धांतिक (Theoretical) भौतिकी के प्रोफेसर के पद पर कार्य कर रहे हैं।

अनुसंधान कार्य — सन् १९३५ तक परमाणुनाभिक की यह रचना स्थापित हो चुकी थी कि नाभिक में प्रोटॉन तथा न्यूट्रॉन संकरी सी जगह में ठँसे रहते हैं।

धन जाति के ये प्रोटॉन कण एक दूसरे के अति निकट होने के कारण इनमें परस्पर जबर्दस्त हटाव बल होता है, अत: इन्हें तो तुरत बिखर जाना चाहिए। किंतु ऐसा होता नहीं है। इस प्रश्न का समाधान युकावा ने निरे सैद्धांतिक आधार पर सन् १९३५ में प्राप्त किया। गणित की सहायता से नाभिक के अंदर आपने एक ऐसे बल क्षेत्र की कल्पना की जो न गुरुत्वाकर्षण की है और न विद्युच्चुंबकीय। यही बल नाभिक के प्रोटॉनों को परस्पर बाँधे रखता है। इस कल्पना के फलस्वरूप युकावा ने बतलाया कि नाभिक में ऐसे कण अवश्य विद्यमान होने चाहिए जिनकी संहति इलेक्ट्रॉन की लगभग २०० गुनी हो तथा विद्युत् आवेश ठीक इलेक्ट्रॉन के बराबर ही धन या ऋण जाति का हो। इन कणों को उसने 'मेसॉन' नाम दिया। अगले पाँच वर्षों के अंदर ही प्रयोग द्वारा वैज्ञानिकों ने मेसॉन कण प्राप्त भी किए। इस प्रकार युकावा की भविष्यवाणी सही उतरी। 'मेसॉन' की खोज के उपलक्ष में ही युकावा को सन् १९४९ में भौतिकी का नोबेल पुरस्कार मिला। [भ० प्र० श्री०]

हितहरिवंश (१५०२-५२ ई०) राधावल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हितहरिवंश का पैतृक घर उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले के देववन (वर्तमान देवबंद) नामक नगर में था। देवबंद में ही इनका प्रारंभिक जीवन व्यतीत हुआ। सोलह वर्ष की उम्र में रुक्मिणी देवी के साथ इनका विवाह हुआ, जिससे इनके एक पुत्री और तीन पुत्र उत्पन्न हुए। तीस वर्ष की उम्र होने पर हरिवंश जी के मन में किसी आभ्यंतर प्रेरणा से व्रजयात्रा करने की बलवती इच्छा पैदा हुई। बच्चों के छोटे होने के कारण इनकी पत्नी इस यात्रा में साथ न जा सकीं।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए हरिवंश जी ने अनुभव कर लिया था कि संसार का तिरस्कार कर वैराग्य धारण करना ही ईश्वरप्राप्ति का एकमात्र साधन नहीं है, गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी ईश्वराराधन हो सकता है और दांपत्य प्रेम को उन्नयन की स्थिति तक पहुँचाकर भवबंधन कट सकते हैं। व्रजयात्रा करने के लिये जब वे जा रहे थे तब मार्ग में चिरथावल गाँव में एक धर्मपरायण ब्राह्मण आत्मदेव ने अपनी दो युवती कन्याओं का विवाह हरिवंश जी से करने का आग्रह किया। इस आग्रह का प्रेरक एक दिव्य स्वप्न था जो हरिवंश जी तथा आत्मदेव को उसी रात में हुआ था। फलत: दिव्य प्रेरणा मानकर हरिवंश जी ने यह विवाह स्वीकार कर लिया और वृंदावन की ओर चल पड़े। वृंदावन पहुँचने पर मदनटेर नामक स्थान पर उन्होंने डेरा डाला। उनकी मधुर वाणी और दिव्य वपु पर मुग्ध हो दर्शकमंडली एकत्र होने लगी और तुरंत वृंदावन में उनके शुभागमन का समाचार सर्वत्र फैल गया। वृंदावन में स्थायी रूप से बस जाने पर उन्होंने मानसरोवर, वंशीवट, सेवाकुंज और रासमंडल नामक चार सिद्ध केलिस्थलों का प्राकट्य किया।

राधावल्लभीय उपासनापद्धति को प्रचलित करने के लिये हरिवंश जी ने सेवाकुंज में अपने उपास्यदेव का विग्रह संवत् १५९१ वि० (सन् १५३४ ई०) में स्थापित किया। इस संप्रदाय की उपासनापद्धति अन्य वैष्णव भक्ति संप्रदायों से भिन्न तथा अनेक रूपों में नूतन है। माधुर्योपासना को नया रूप देने में सबसे अधिक योग इन्हीं का माना जाता है। हरिवंश के मतानुसार प्रेम या 'हिततत्व' ही समस्त चराचर में व्याप्त है। यह प्रेम या हित ही जीवात्मा को आराध्य के प्रति उन्मुख करता है। राधाकृष्ण की भक्ति से तत्सुखीभाव की स्थापना कर उसे सांसारिक स्वार्थ या आत्मसुख कामना से हरिवंश जी ने सर्वथा पृथक् कर दिया है। इस संप्रदाय की उपासना रसोपासना कही जाती है जिसमें इष्ट देवी राधा की ही प्रधानता है।

हितहरिवंश जी लिखित चार ग्रंथ प्राप्त हैं—राधासुधानिधि और यमुनाष्टक संस्कृत के ग्रंथ हैं। 'हित चौरासी' तथा 'स्फुट वाणी' इनकी सुप्रसिद्ध हिंदी रचनाएँ हैं। व्रजभाषा में लालित्य और पेशलता की छटा इनकी हिंदी रचना में सर्वत्र ओतप्रोत है।

हितहरिवंश का निधन विक्रम सं० १६०९ (सन् १५५२ ई०) में वृंदावन में हुआ। अपने निधन से पूर्व इन्होंने व्रज में माधुर्यभक्ति

का पुनरुत्थान कर एक नूतन पद्धति को प्रतिष्ठित कर दिया था। इनकी शिष्यपरंपरा में भक्त कवि हरिराम व्यास, सेवक जी, ध्रुवदास जी आदि बहुत प्रसिद्ध हिंदी कवि हैं। [वि० स्ना०]

हिपॉक्रटीज़ (Hippocrates, ४६० से ३५७ ई० पू०), यूनानी चिकित्सक थे, जो यूरोपीय तथा पश्चिम एशिया के देशों में चिकित्साशास्त्र के जनक के नाम से प्रसिद्ध हैं। संभवत: इनका जन्म लघु एशिया के निकटवर्ती द्वीप, कोस (Cos), में हुआ था और ये ऐस्क्लिपिग्रोस (Asclepios) नामक चिकित्सक के वंशज थे।

देवबाधा और मंत्रोपचार से बंधनमुक्त कर, यूनानी चिकित्सा को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय इन्हीं को दिया जाता है। हिपॉक्रटीज के नाम से प्रसिद्ध ग्रंथों के संग्रह में लगभग ७० ग्रंथ हैं, जिनमें से संभवतः कुछ ही इनके लिखे हों, क्योंकि इस संग्रह के प्राचीनतम और अंतिम ग्रंथों की लिखावट में शताब्दियों का अंतर जान पड़ता है। रोगों का वर्णन, ऋतुदोषों को व्याधियों का कारण बताना, महामारियों से संबंधित सिद्धांत, सूक्तियों में निबद्ध रोगसंबंधी बातें तथा शल्यचिकित्सा योग्य अवस्थाओं का वर्णन, आदि उपर्युक्त संग्रह की प्रमुख विशिष्टताएँ हैं। इन ग्रंथों में शरीररचना तथा शरीरक्रिया-विज्ञान की केवल प्रारंभिक बातें हैं। जिन रोगों का वर्णन किया है उनमें मलेरिया, न्यूमोनिया, कनपेड़ (मंप्स) तथा यक्ष्मा भी हैं। शल्यचिकित्सा के क्षेत्र में उपयुक्त यंत्रों का वर्णन, अस्थिभंग और विस्थापन तथा बवासीर का उपचार, खोपड़ी का छेदन इत्यादि भी वर्णित हैं।

हिपॉक्रटीज ने चिकित्सा के क्षेत्र में अवतीर्ण होनेवाले नए चिकित्सकों के लिये एक शपथ का निर्देश किया था, जो प्रसिद्ध हो गई है। इस शपथ की विषयवस्तु से इस महान् चिकित्सक के चारित्रिक तथा उच्च नैतिक विचारों का परिचय प्राप्त होता है। [भ० दा० व०]

हिपार्कस (Hipparchus, संभवत: १६० से १२५ वर्ष ई० पू०), यूनानी खगोलज्ञ, का जन्म लघु एशिया के बिथिनिया (Bithynia) प्रदेश के नाइसीया (Nicaea) में हुआ था। यूनानी खगोलविज्ञान की दृढ़ नींव डालने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है।

इन्होंने सूर्य की गति (अर्थात् वर्ष का निर्धारण), उसकी असंगतियाँ तथा भानति, पृथ्वी की कक्षा के पात तथा भूम्युच्च और चंद्रमा की कक्षा की कुछ विशेषताओं का पता लगाया था। कहा जाता है, इन्होंने गोलीय त्रिकोणमिति का आविष्कार किया तथा गोलों के समतल पर प्रक्षेप बनाए। इनकी तैयार की हुई योजना के अनुसार ग्रहों की गतियाँ वृत्तीय हैं और दृश्य गतियों से इस योजना का मेल बैठाने के लिये, इन्होंने पूर्ववर्ती रेखागणितज्ञ तथा खगोलज्ञ, ऐपॉलोनियस (तृतीय शताब्दी ई० पू०) का अनुगमन कर अधिचक्रों तथा उत्केंद्रों का आश्रय लिया। हिपार्कस अन्य खगोलीय गणनाओं के अतिरिक्त, चंद्रग्रहणों की गणना करने में भी समर्थ थे।

खगोलविज्ञान को इनकी मुख्य देन विषुव अयनों का आविष्कार तथा तत्संबंधी गणनाएँ थीं। इन्होंने १,०८० तारों की एक सारणी भी तैयार की थी, जिसमें भोगांशों तथा शरों द्वारा तारों के स्थान भी निश्चित किए थे। [भ० दा० व०]

हिप्पोपॉटेमस (Hippopotamus) एक बृहत्काय स्तनी प्राणी है। हिप्पोपॉटेमस का अर्थ है दरियाई घोड़ा पर घोड़ा जाति से इसका कोई संबंध नहीं है बल्कि सूअर जाति के प्राणियों के साथ इसकी निकटता है। हिप्पोपॉटेमस अफ्रीका की नदियों, झीलों और दलदलों में पाया जाता है। एक समय यह संसार के अनेक भागों में जैसे, यूरोप, भारत, बर्मा, मिस्र, अलजीरिया आदि देशों में फैला हुआ था जैसा उनके जीवाश्मों से पता लगता है। स्थल के स्तनी प्राणियों में हाथी के बाद यही सबसे भारी दूसरा प्राणी है, यद्यपि गैंडा इससे बड़ा होता है, तथापि भार में कम होता है।

हिप्पोपॉटेमस की औसत लंबाई ३.६ मी, कंधे के पास की ऊँचाई १.५ मी और पेट का अधिकतम घेरा शरीर की लबाई के प्राय: बराबर ही होता है। इसका थूथन (muzzle) बहुत ही चौड़ा और गोलाकार होता है। मुख बहुत बड़ा होता है। कृंतक (incisor) मूलयुक्त नहीं होते उसमें बराबर वृद्धि होती रहती है। रदनक (Canine) बहुत बड़े और मुड़े हुए और लगातार बढ़नेवाले होते हैं। आमाशय जटिल होता है और अंधनाल (Caecum) अनुपस्थित होता है। आँखें सिर के सबसे ऊँचे भाग में कान की सतह से थोड़ा नीचे स्थित होती हैं। कान बहुत छोटे छोटे और लचीले होते हैं। टाँगें छोटी और पैर चौड़े होते हैं जिनमें प्रत्येक में चार खुरदार असम अंगुलियाँ होती हैं। त्वचा बालरहित और किसी किसी भाग में दो इंच तक मोटी होती है। इनका रंग गहरा भूरा से लेकर नीला भूरा होता है। नर की अपेक्षा मादा कुछ छोटी और प्राय: हल्के रग की होती है।

हिप्पोपॉटेमस झुंडों में रहनेवाला प्राणी है और २० से ४० के गिरोह में नदियों में या नदी के किनारों पर रहता है जहाँ उसे अनुकूल भोजन उपलब्ध हो सके। इसका मुख्य भोजन घास तथा जलपौधे हैं जिनको यह बहुत अधिक मात्रा में भोजन करता है। इसके आमाशय में ५ से ६ बुशेल तक भोजन अँट सकता है। यह दिन में जल में किसी छाये के नीचे सोता, जलाशय में क्रीड़ा करता अथवा तटवर्ती की शय्या पर विश्राम करता है। रात्रि में ही भोजन की तलाश में नदी के बाहर निकलता है: यदि स्थान शांत है तो दिन में भी बाहर निकल सकता है। यह कुशल तैराक तथा गोताखोर होता है। कम पानी में तेज चल भी सकता है। जमीन पर भारी भरकम स्थूल शरीर होते हुए मनुष्य से भी तेज दौड़ सकता है। जल के अंदर ५ से १० मिनट तक डुबकी लगाए रह सकता है। जल की सतह पर नाक से जल का फव्वारा छोड़ता है। खेतों को चरकर और रौंदकर अपार क्षति पहुँचाता है। किसान आग जलाकर इसे भगाते हैं। हिप्पोपॉटेमस नदी के मुहाने पर नदी से निकलकर समुद्र में भी कभी कभी चला जाता है।

हिप्पोपॉटेमस सरल प्रकृति का आरामप्रिय और मनुष्य की छाया से दूर रहनेवाला प्राणी है, पर अपने बच्चे की सुरक्षा के लिये अथवा घायल होने पर कभी कभी भीषण और विकराल क्रूरता का प्रदर्शन कर सकता है। भीषण प्रहार से वह देशी नावों

तक को उलट और तोड़ सकता है। क्रोधित होने पर उसकी गुर्राहट और डकार एक मील की दूरी से सुनाई पड़ सकती है। कुछ वृद्ध हिप्पोपॉटेमस भी हाथियों की भाँति चिड़चिड़े और आवारा (rogue) बन जाते हैं और तब खतरनाक होते हैं तथा व्यक्तियों पर आक्रमण कर सकते हैं।

अफ्रीकावासी हिप्पोपॉटेमस का मांस और चर्बी खाते हैं। इसकी खाल से मुँठ, चाबुक तथा अन्य सामान बनते हैं। दाँत दृढ़ तथा सघन होता है और पीला नहीं पड़ता। एक समय उससे कृत्रिम दाँत बनता था। अफ्रीकावासी इस पशु का शिकार करते हैं। जमीन पर ही इसका शिकार आसान है, जल में निरापद नहीं है। इसकी खाल गोली से अभेद्य होती है। मस्तिष्क पर निशाना मारने से ही यह मरता है।

मादा हिप्पोपॉटेमस को रस्सी से बाँधकर बर्छी से मारकर जल से बाहर निकालते हैं। उसके पीछे बच्चे उसके साथ साथ बाहर आते हैं और उन्हें पकड़कर बंदी और पालतू बनाकर चिड़ियाघरों में रखते हैं। बंदी अवस्था में भी यह प्रजनन और संतानवृद्धि करता है। हिप्पोपॉटेमस आठ मास में लगभग १०० पाउंड भार के बच्चे का जन्म देता है। बच्चा जब तक तैरना नहीं सीखता तब तक मादा अपनी गर्दन पर उसे लिए फिरती है। छह साल में बच्चा वयस्क होता है और लगभग ३० वर्ष तक जीता है।

हिप्पोपॉटेमस दो प्रकार का होता है। एक बृहत्काय हिप्पोपॉटेमस (Hippopotamus amphibius) जिसका औसत भार लगभग ८०० पाउंड और दूसरा बौना हिप्पोपॉटेमस (Hppopotamus biberieusis) का भार ४०० से ६०० पाउंड होता है। यह ६ फुट लंबा और २½ फुट ऊँचा होता है।

बौना हिप्पोपॉटेमस प्रायः लुप्त हो रहा है। यह अब बहुत कम देखा जाता है जबकि एक समय यह अनेक देशों भारत, बर्मा, उत्तरी अफ्रीका, सिसिली, माल्टा, क्रीट आदि में बहुतायत से पाया जाता था। बृहत्काय हिप्पोपॉटेमस अब अफ्रीका के कुछ सीमित स्थानों में ही पाया जाता है जबकि एक समय यह अनेक देशों में यूरोप तथा एशिया में, पाया जाता था जैसा उसके पाए जानेवाले जीवाश्मों से ज्ञात होता है। [भृ० प्र०]

हिम वायुमंडल की मुक्त हवा में बहते, उठते या गिरते समय जो पानी जमकर ठोस हो जाता है उसे हिम कहते हैं। हिम प्रायः षट्कोणीय सुंदर क्रिस्टलों के रूप में होता है। कभी कभी बदली के बिना भी हिमपात होता है। इसका कारण हिम का स्वतः बन जाना है या हवा में जलबिंदुधारी साधारण मेघ बनने के लिये पर्याप्त जलवाष्प एकत्र होने के पहले ही ऊर्ध्वपातन केंद्रक के अस्तित्व में हिम का बन जाना है। अधिकांश हिम का रंग सफेद होता है। सफेद होने का कारण क्रिस्टलों के छोटे छोटे सतहों से प्रकाश का परावर्तन है। कुछ क्षेत्रों के हिम; जैसे ग्रीनलैंड और उत्तरध्रुवीय क्षेत्र के, लाल और हरे रंग के भी पाए गए हैं। इनका यह रंग हिम में बहुत छोटे छोटे जीवित पदार्थों के रहने के कारण होता है। धूल के कणों के कारण हिम काला भी होता है।

हिम के प्रकार — मुक्त वायु में बहते समय बनने के कारण हिम क्रिस्टल कई प्रकार के होते हैं और बहुत ही सुंदर होते हैं। क्रिस्टलों में त्रिकोण सममिति होती है। क्रिस्टल संरचना से हवा का प्रकार भी जाना जा सकता है। पृथ्वी की सतह के एक तिहाई भाग पर ही हिमपात होता है। शेष दो तिहाई भाग पर कभी हिमपात नहीं होता। भारत के हिमालय के क्षेत्र में ही कश्मीर, कुमाऊँ, दार्जिलिंग, आदि क्षेत्रों में हिमपात होता है।

धरती पर पहुँचनेवाले हिमकण कुछ मिमी व्यास से लेकर कई सेमी० तक के हो सकते हैं। ये हिमकण षट्कोणाकार होते हैं। छोटे छोटे कणों को ३०० मी की ऊँचाई से गिरने में घंटों समय लग सकता है। अत: जान पड़ता है, ये धरती के निकट ही बनते हैं क्योंकि हिमकणों के बनने लायक परिस्थिति कुछ ही समय तक रहती है। साधारण आकार के हिमकण आठ दस मिनटों में धरती पर आ पहुँचते हैं। ये संभवतः कुछ ही मील की ऊँचाई पर बनते हैं। कभी कभी पक्षाभ मेघ में हिम बन जाते हैं।

कुछ सुंदरतम हिम क्रिस्टल ताराकार होते हैं। डिजाइन और आर्ट वर्क में इन्हीं हिम क्रिस्टलों को निरूपित किया जाता है। निचाई के बादलों में जो हिम बनते हैं वे बहुत ही नाजुक, जटिल और आदर्श होते हैं। सूक्ष्मदर्शी से देखने पर कई प्रकार के संरचनावाले हिम क्रिस्टल दिखाई पड़ते हैं।

धरती पर पहुँचने पर हिमकणों में परिवर्तन होता है। धरती पर पहुँचने के पूर्व इनका घनत्व ०.१० से अधिक नहीं होता, सामान्यतः यह ०.०५ होता है। धरती पर गिरने के बाद उसके कोरों का वाष्पीकरण हो जाता है। वाष्पीकरण द्वारा उड़ा हुआ जल अक्सर आस पास के क्रिस्टलों पर जम जाता है।

हिम क्रिस्टलों की प्रतिकृति —१९४० ई० में विंसेंट जे० शेफर ने हिम क्रिस्टलों को साँचे में ढालने की तरकीब निकाली। सिंथेटिक रेजिन पॉलीविनाइल फार्मल का २% विलयन एथिलीन डाइक्लोराइड में विलीन किया गया और पानी के हिमांक से निम्न ताप पर हिमीकरण किया गया। इसकी पतली परत काँच के प्लेट या काले कार्डबोर्ड के टुकड़े पर फैलाई गई। काँच के प्लेट या कार्डबोर्ड पर जब हिम क्रिस्टल गिरते हैं तब उसके दोनों सतहों पर विलयन का आवरण चढ़ जाता है। कुछ ही मिनटों में एथिलीन डाइक्लोराइड वाष्पीकृत हो जाता है और क्रिस्टल एक पतले, चिमड़े, सुघट्य खोल में आवृत रह जाते हैं। इस खोल की भीतरी सतह क्रिस्टल के दोनों सतहों की ठीक ठीक छाप लिए रहता है। अब मणिभ का ऊर्ध्वपातन होता है या वह गल जाता है तब पानी ठोस सुघट्य पटल से निकल जाता है और खोल फॉसिल जैसा होता है। इसमें हिम क्रिस्टल के सभी वर्तन और प्रकाश-प्रकीर्णन-गुण ज्यों के त्यों रहते हैं।

तेज हवा से ये भीओ बह जाते हैं। हिम का उपयोग जलवितरण स्रोत के रूप में किया जाय, इसके लिये प्रयत्न कई स्थानों पर चल रहे हैं।

पहाड़ों पर गिरे हिम बड़े महत्व के हैं। उनके गलने से जो पानी बनता है वह नदियों का स्रोत होता है जिससे विद्युत् उत्पादन किया जा सकता है और सिंचाई हो सकती है। पहाड़ी प्रदेशों में हिमपात से

मिट्टी में आर्द्रता आती है जिससे उसमें फसलें उगाई जा सकती हैं। पर हिम का पानी उतना अधिक नहीं है जितना वर्षा का पानी होता है।

हिमनद (हिमानी, Glacier) बड़े बड़े हिमखंडों को जो अपने ही भार के कारण नीचे की ओर खिसकते रहते हैं, हिमनद या हिमानी कहते हैं। नदी और हिमनद में इतना अंतर है कि नदी में जल ढाल की ओर बहता है और हिमनद में हिम नीचे की ओर खिसकता है। नदी की तुलना में हिमनद की प्रवाहगति बड़ी मंद होती है। यहाँ तक लोगों की धारणा थी कि हिमनद अपने स्थान पर स्थिर रहता है। हिमनद के बीच का भाग पार्श्वभागों (किनारों) की अपेक्षा तथा ऊपर का भाग तली की अपेक्षा अधिक गति से आगे बढ़ता है। हिमनद साधारणतः एक दिन रात में चार पाँच इंच आगे बढ़ता है। पर भिन्न भिन्न हिमनदों की गति भिन्न होती है। अलास्का और ग्रीनलैंड के हिमनद २४ घंटे में १२ मी से भी अधिक गति से आगे बढ़ते हैं। हिमप्रवाह की गति हिम की मात्रा और उसके विस्तार मार्ग की ढाल एवं ताप पर निर्भर करती है। बड़े हिमनद छोटे हिमनदों की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से बहते हैं। हिमनदों का मार्ग जितना अधिक ढालू होगा उतनी ही अधिक उसकी गति होगी। हिमनद का प्रवाह ताप के घटने बढ़ने पर भी निर्भर करता है। ताप अधिक होने पर हिम शीघ्र पिघलता है और हिमनद वेग से आगे बढ़ता है। यही कारण है कि ग्रीष्म ऋतु में हिमनदों की प्रवाहगति बढ़ जाती है।

हिमनद पृथ्वी के उन्हीं भागों में पाए जाते हैं जहाँ हिम पिघलने की मात्रा की अपेक्षा हिमप्रपात अधिक होता है। साधारणतः हिमनद रचना के लिये हिम का सौ दो सौ फुट मोटी तहों का जमा होना आवश्यक होता है। इतनी मोटाई पर दबाव के कारण बर्फ हिम में परिवर्तित हो जाता है।

हिमस्तरों में हिम के भिन्न भिन्न स्तर देखे जा सकते हैं। प्रत्येक स्तर एक वर्ष के हिमपात का द्योतक है। दबाव के कारण नीचे का स्तर अपने ऊपरवाले स्तर की अपेक्षा अधिक सघन होता है। इस प्रकार बर्फ अधिकाधिक घना होता जाता है और पहले दानेदार हिम 'नेवे' की तथा बाद में ठोस हिम की रचना होती है।

प्रतिबल (stresses) के प्रभाव में बर्फ में दरारें पड़ जाती हैं। ये दरारें दो सौ फुट तक गहरी हो सकती हैं। इससे अधिक गहराई पर यदि कोई दरार होती भी है तो वह दबाव के कारण भर जाती है। साधारणतः ये दरारें तब उत्पन्न होती हैं जब हिम किसी पहाड़ी या ढालवें मार्ग पर होकर आगे बढ़ता है।

स्थल की वह रेखा जिसके ऊपर निरंतर बर्फ जमी रहती है हिमरेखा कहलाती है। हिमरेखा के ऊपर का भाग हिमक्षेत्र कहलाता है। हिमरेखा की ऊँचाई विभिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न होती है। भूमध्यरेखा पर यह ऊँचाई ४५५० मी से ५४६० मी तक हो सकती है जब कि ध्रुव प्रदेशों में हिमरेखा सागरतल के निकट रहती है। आल्प्स में हिमरेखा की ऊँचाई २७५ मी०, ग्रीनलैंड में ६०६ मी०, पाइरेनीस में १६७५ मी०, कोलेरडो में ३७६२ मी० तथा हिमालय में ४५५० मी० से ५१५० मी० है।

रूप, आकार और स्थिति के आधार पर हिमनदों को निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं : १ — दरी हिमानियाँ, २ — प्रपाती हिमानियाँ, ३ — गिरिपाद हिमानियाँ, ४ – हिमाटोप, ५ — हिमस्तर।

दरी हिमानियाँ — पर्वतों की घाटियों में बहती हैं। इन्हें हिम हिमक्षेत्रों से प्राप्त होता है। आल्प्स में हिमानियाँ बहुतायत से देखने को मिलती हैं तथा यहीं पर सबसे पहले इनका विस्तृत अध्ययन किया गया था। इसी कारण इन्हें अल्पाइन हिमानियाँ भी कहा जाता है। दरी हिमानियों की प्रवाहगति साधारणतः कम होती है क्योंकि इनकी मोटाई कम होती है। छोटी छोटी दरी हिमानियाँ ६० मी से ९० मी तक मोटी होती हैं और बड़ी लगभग ३०० मी० मोटी। हिमानियों की मोटाई हिम के अंदर भूकंप लहरें उत्पन्न करके जानी जाती है। आल्प्स में दो हजार से अधिक दरी हिमानियाँ हैं। ये साधारणतः ३ किमी से ६ किमी लंबी हैं पर यहाँ की सबसे बड़ी हिमानी अलेट्श लगभग १४ किमी० लंबी है। हिमालय में भी बहुत सी विशालकाय दरी हिमानियाँ देखने को मिलती हैं। यह अधिक ऊँचाई पर स्थित हैं और ८ से ४८ किमी तक लंबी हैं। अलास्का में १२० किमी लंबी दरी हिमानियाँ भी विद्यमान हैं।

एक विशेष प्रकार की पर्वतीय हिमानी जो पर्वतों की ढालों पर गहरे गड्ढों में स्थित है प्रतापी हिमानी (सर्क हिमानी) कहलाती है। यह साधारणतः छोटी होती है। कभी कभी यह पर्वत के प्रवण ढाल पर बहती है। हिमानी प्रदेशों में बहुत से हिमज गह्वर (सर्क) आज भी झीलों के रूप में देखने को मिलते हैं। यह दो ओर से प्रवण शिलाओं से घिरे रहते हैं और एक ओर को खुले रहते हैं। पीरपंजाल क्षेत्र में १८०० मी की ऊँचाई पर ऐसे बहुत से हिमज गह्वर विद्यमान हैं। राकी पर्वत में भी बहुत सी प्रपाती हिमानियाँ देखने को मिलती हैं। किन्हीं किन्हीं भागों में प्रपाती हिमानी और दरी हिमानियों के बीच संक्रमण (transition) की सभी अवस्थाएँ देखने को मिलती हैं।

पर्वतों के नीचे समतल भूमि पर कई हिमानियों के मिलने से एक विशाल हिमनद की रचना होती है, इसे ही गिरिपाद हिमनद कहते हैं। यह पर्वत की तलहटी में बर्फ की झील सी दिखाई देती है। अलास्का की मलास्पिना हिमानी इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। सेंट एलियास पर्वत की तलहटी से यह हिमानी लगभग ३८४० वर्ग किमी० क्षेत्र में फैली है और बहुत धीमी गति से आगे की ओर बढ़ रही है। इस हिमानी की सीमाएँ (किनारे) शिलाओं के मलबे तथा वनवृक्षों से ढँके हैं। किन्हीं किन्हीं उच्च अक्षांशीय स्थित प्रदेशों में मैदान और पठार हिम से आच्छादित रहते हैं। इन्हें हिमाटोप कहा जाता है। इनका क्षेत्रफल अधिक नहीं होता। वास्तव में यह हिमचादरों, जिनका वर्णन नीचे किया गया है, का छोटा रूप है। स्कैंडिनेविया, आइसलैंड और स्पिट्सबर्गेन में बहुत से हिमाटोप देखने को मिलते हैं।

हिमचादरें लाखों वर्ग मील क्षेत्र को ढँके रहती हैं। इनकी

रचना हिमाटोप की वृद्धि से या दरी और गिरिपाद हिमानियों के विस्तार से होती है। ग्रीनलैंड और अंटार्कटिक की हिमचादरें इसका सुंदर उदाहरण हैं। विक्टर अभियान (सन् १९४९-५२) के परिणामस्वरूप ग्रीनलैंड हिमचादर के विषय में निम्नलिखित ज्ञान प्राप्त हुआ है: क्षेत्रफल १७,२६,४०० वर्ग किमी॰, समुद्रतल से औसत ऊँचाई २१३५ मी॰, हिम की औसत मोटाई १५१५ मी, आयतन, २६×१०⁵ घन किमी। दक्षिण ध्रुवीय हिमचादर ग्रीनलैंड हिमचादर की अपेक्षा कई गुना अधिक बड़ी है। विशालकाय हिमस्तरों को महाद्वीपी हिमानियों के नाम से भी संबोधित किया जाता है।

हिमचादरों के विस्तृत क्षेत्र में कहीं कहीं एकलित शिलाओं की चोटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। इन शिलाद्वीपों को हिमस्थाएँ (नूनाटाक, Nunatak) कहते हैं। ग्रीनलैंड आदि ध्रुवीय प्रदेशों में हिमनदी बिना पिघले ही समुद्र तक पहुँच जाती है और वहाँ कई बड़े और छोटे खंडों में विभाजित हो जाती है। ये हिमखंड पानी में तैरते रहते हैं। इनका १/१० भाग जल के ऊपर तथा ९/१० भाग जल के नीचे रहता है। इन्हें प्लावीहिम (Iceberg) कहते हैं। गर्म भागों में पहुँचकर हिमखंड पिघल जाते हैं और इनमें का पदार्थ पत्थर आदि समुद्र में जमा हो जाता है। परिणामस्वरूप उस स्थान पर समुद्र की तली ऊँची हो जाती है। न्यूफाउंडलैंड तट की रचना इसी प्रकार हुई है।

हिमनद निक्षेप — हिमनदी के पिघलने पर जो निक्षेप बनते हैं उन्हें हिमोढ़ कहते हैं। ये निक्षेप दो प्रकार के होते हैं। पहली श्रेणी में वे निक्षेप आते हैं जो बर्फ के पिघलने के स्थान पर ही हिमानी द्वारा लाए गए पदार्थों के जमा होने से बनते हैं। इनमें स्तरीकरण का अभाव रहता है। इन निक्षेपों में छोटे बड़े सभी प्रकार के पदार्थ एक साथ मिश्रित रहते हैं। तदनुसार मिट्टी से लेकर बड़े बड़े विशाल शिलाखंड यहाँ देखने को मिलते हैं। हिमोढ़ में यदि मिट्टी की मात्रा अधिक होती है तो उसे गोलाश्म मृत्तिका (Till or Boulder clay) कहते हैं। गोलाश्म मृत्तिका में विद्यमान बड़े बड़े पत्थरों पर पड़ी धारियों के आधार पर हिमनद के प्रवाह की दिशा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। हिमोढ़ के जमा होने से हिमानीय प्रदेश में छोटे छोटे टीले बन जाते हैं। ड्रमलिन (Drumlin) हिमोढ़ से बनी नीची पहाड़ियाँ हैं जिनका आकार दीर्घवृत्ताकार होता है। इनका लंबा अक्ष हिमनद के प्रवाह की दिशा के समानांतर होता है। इसके प्रवणढाल हिम के प्रवाह की दिशा को इंगित करते हैं। ड्रमलिन साधारणत: १५ मी से ६० मी॰ तक ऊँचा होता है।

दूसरी श्रेणी के निक्षेप पर्तदार होते हैं। बर्फ के पिघलने से जो पानी प्राप्त होता है उसी पानी के साथ हिमानी द्वारा लाया गया शैल पदार्थ बहता है। जल की प्रवाहगति पर निर्भर यह पदार्थ आकार के अनुसार जमा हो जाता है। पहले बड़े बड़े पत्थर फिर छोटे पत्थर तत्पश्चात् बालू कण और अंत में मिट्टी। यदि एक विशाल हिमनद किसी लगभग सपाट सतह पर दीर्घ काल तक स्थिर रहता है तो मलबे से लदा पानी बहुत सी जलधाराओं के रूप में प्रवाहित होता है और मलबा एक रूप से सतह पर जमा हो जाता है, इसे (outwash plain) हिमानी अपक्षेप कहते हैं। कैम भी एक प्रकार की हिमनद पदार्थों से बनी पर्तदार पहाड़ियाँ हैं जो साधारणत: १५ मी॰ से ४५ मी तक ऊँची होती हैं। ये हिमक्षेत्रों में एकलित पहाड़ियों के रूप में या छोटे छोटे समुदायों में दिखाई देती हैं। साधारणतः ये घाटियों की तलहटी में, पर कभी कभी पहाड़ियों की ढालों या उनकी चोटियों पर भी दृष्टिगोचर होती हैं।

हिमनदयुग पृथ्वी के आरंभ से अब तक के काल को भूवैज्ञानिक आधार पर कई युगों में विभाजित किया गया है। इनमें प्लाइस्टोसीन या अत्यंत नूतनयुग को हिमनदयुग या हिमयुग के नाम से भी संबोधित करते हैं। इस युग में पृथ्वी का बहुत बड़ा भाग हिम से ढका था। पिछले सहस्रों वर्षों में अधिकांश हिम पिघल गया और बहुत सी हिमचादरें लुप्त हो गई हैं। ध्रुव प्रदेशों के अतिरिक्त केवल कुछ ही भागों में हिमस्तर दिखाई देता है। भूवैज्ञानिकों ने ज्ञात किया है कि प्लाइस्टोसीनयुग में शीतोष्ण कटिबंध व उष्ण कटिबंध के बहुत से भाग हिमाच्छादित थे। इन्हें इन भागों में हिमनदों की उपस्थिति के प्रमाण मिले हैं। इन स्थानों पर गोलाश्म मृत्तिका (प्रस्तरयुक्त चिकनी मिट्टी) तथा हिमानियों का मलबा दिखाई देता है। साथ ही हिमानीय प्रदेशों के अमिट चिह्न जैसे हिमानी के मार्ग की चट्टानों का चिकना होना, उनपर बहुत सी खरोंचों के निशान पड़े रहना, शिलाओं पर धारियाँ होना आदि विद्यमान हैं। हिमानीय प्रदेशों की घाटियाँ अंग्रेजी के अक्षर 'यू' के आकार की होती हैं तथा इनमें हिम भेड़पीठ शैल (Roches mountonnees) तथा हिमजगह्वर (Cirgua) रचनाएँ देखने को मिलती हैं। अनियत गोलाश्म अर्थात् अनाथ शिलाखंड की उपस्थिति भी हिमानीय प्रदेशों की पहचान है। ये वे शिलाखंड हैं जिनका उस क्षेत्र की शिलाओं से कोई संबंध नहीं है, ये तो हिमनद के साथ एक लंबी यात्रा करते हुए आते हैं और हिम पिघलने पर अर्थात् हिमनद के लोप होने पर वहीं रह जाते हैं।

हिमनदयुग का विस्तार — उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर भूविज्ञानियों ने यह तथ्य स्थापित किया है कि प्लाइस्टोसीनयुग में यूरोप, अमरीका, अटार्कटिका और हिमालय का लगभग २०५ लाख वर्ग किमी॰ क्षेत्र हिमचादरों से ढका था। उत्तरी अमरीका में मुख्यत: तीन हिमकेंद्रों लैब्रोडोर, कीवाटिन और कोरडिलेरियन से चारों दिशाओं में हिम का प्रवाह हुआ जिसने लगभग १०२ लाख वर्ग किमी॰ क्षेत्र को ढक लिया। यहाँ हिम की मोटाई लगभग दो मील थी। उत्तरी यूरोप में हिम का प्रवाह स्कैंडिनेविया प्रदेश से दक्षिण पश्चिम दिशा में हुआ जिससे इंग्लैंड, जर्मनी और रूस के बहुत से भाग बर्फ से ढक गए, इसी प्रकार भारत के भी अधिकांश भाग इस युग में हिम से आच्छादित थे।

प्लाइस्टोसीन हिमनदयुग के जो प्रमाण हमारे देश में मिले हैं उनमें हिमालयक्षेत्र से प्राप्त प्रमाण पुष्ट और प्रभावशाली हैं। हिमालय के विस्तृत क्षेत्र में हिमानियों का मलबा मिलता है, नदियों की घाटियों में हिमोढयुक्त मलबे की पर्तें दिखाई देती हैं तथा स्थान स्थान पर, जैसे पुटवार में, अनियत गोलाश्म भी मिले हैं। प्रायद्वीपीय

भारत में भी हिमनदयुग के प्रमाण मिले हैं, पर यह प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष हैं। नीलगिरि पर्वत, अन्नामलाई और शिवराई पर्वत शिखरों में शीत जलवायु की वनस्पतियाँ एवं जीवाश्म मिले हैं। पारसनाथ की पहाड़ियों तथा अरावली पर्वत में वनस्पतियों के अवशेष मिले हैं जो अब हिमालय पर्वत में उगती हैं। यह परोक्ष प्रमाण इस बात के द्योतक हैं कि उस समय इन भागों की जलवायु आज की जलवायु से भिन्न थी।

हिमनदयुग का वर्गीकरण — विस्तृत अध्ययन कर भूवैज्ञानिकों ने ज्ञात किया है कि हिमानियाँ कई बार आगे की ओर अग्रसर हुई हैं और कई बार पीछे की ओर हटी हैं। उन्होंने यूरोप में प्लाइस्टोसीन युग में चार हिमकालों (हिमयुगों) तथा चार अंतर्हिमकालों की स्थापना की है। हिमकालों के स्पष्ट प्रमाण क्रमशः आल्प्स में गुंज, मिंडल, रिस और वुर्म नदियों की घाटियों में मिले हैं अतः इन चारों हिमकालों को गुंज हिमकाल, मिंडल हिमकाल और वुर्म हिमकाल की संज्ञा दी गई है। इनमें गुंज हिमकाल सबसे पहला है, उसके बाद मिंडल हिमकाल, फिर रिस हिमकाल और सबसे अंत में वुर्म हिमकाल का आगमन हुआ। इन हिमकालों के बीच का समय, जब हिम का संकुचन हुआ, अंतर्हिमकाल कहलाता है। सर्वप्रथम आदिमानव की उत्पत्ति गुंज और मिंडल हिमकालों के बीच आँकी गई है। विश्व के अन्य भागों, जैसे अमरीका आदि में भी, इन चारों हिमकालों की स्थापना की पुष्टि हुई है। भारत में भी यूरोप के समकक्ष चारों हिमकालों के चिह्न मिले हैं। शिमला क्षेत्र में फैली पींजोरस्तर की चट्टानें गुंज हिमयुग के समकालीन हैं। ऊपरी कंग्लामरिट — प्रस्तर शिलाएँ मिंडल हिमकाल के समकक्ष हैं। नर्मदा की जलोढक रिस हिमकाल के समकालीन आँकी गई हैं तथा पुटवार की लोयस एवं रेत वर्मयुग के निक्षेपों के समकक्ष हैं। डीटेरा एवं पीटरसन नामक भूवैज्ञानिकों ने तो काश्मीर घाटी में पाँच हिमकालों की कल्पना की है।

नीचे की सारणी में प्लाइस्टोसीन हिमयुग की तुलनात्मक सारणी प्रस्तुत की गई है

भारत	आल्प्स	जर्मनी	उत्तरी अमरीका	वर्ष पूर्व (मिलान-कोविच के अनुसार)
पुटवार लोयस और रेत	वुर्म हिमकाल	वाइशेल हिमकाल	विस्कौंसिन हिमकाल	२००० १४४०००
	अंतहिम काल			१८३०००
नर्मदा की जलोढ	रिस हिमकाल	आलेहिमकाल	इलिनायिन हिमकाल	३०५०००
	अंतर्हिम काल			४२९०००
ऊपरी प्रस्तर कंग्लामरिट	मिंडेल हिमकाल	एल्सटर हिमकाल	कंसान हिमकाल	४७८००० ५४३०००
	अंतर्हिम काल			
पींजोर स्तर	गुंजहिमकाल		नेब्रास्कन हिमकाल	५९२०००

अन्य हिमनद युग — यद्यपि प्लाइस्टोसीन युग को ही हिमनदयुग के नाम से संबोधित किया जाता है, तथापि भौमिक इतिहास के अन्य युगों में भी ऐसे प्रमाण मिले हैं जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि पृथ्वी के बृहद् भाग इससे पूर्व भी कई बार हिमचादरों से ढँके थे। अब से लगभग २५ करोड़ वर्ष पूर्व कार्बनीयुग में अफ्रीका, भारत, ऑस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अमरीका के बृहद् भाग हिमाच्छादित थे। अनुमानतः कार्बनीयुग में हिम का विस्तार प्लाइस्टोसीन युग की अपेक्षा कहीं अधिक था। कनाडा, दक्षिणी अफ्रीका और भारत में कैंब्रियनपूर्वकल्प की शिलाओं में गोलाश्म मृत्तिका तथा हिमानियों की विद्यमानता के अन्य चिह्न भी मिले हैं। किन्हीं किन्हीं क्षेत्रों में मध्यजीवकल्प तथा नवजीवकल्प से भी हिमस्तर के प्रमाण उपलब्ध हैं।

हिमावरण का कारण — हिमानियों की रचना के लिये आवश्यक है न्यून ताप तथा पर्याप्त हिमपात। हिमक्षेत्रों में हिमपात की मात्रा अधिक होती है और ग्रीष्म ऋतु का ताप उस हिम को पिघलाने में असमर्थ रहता है, अतः प्रति वर्ष हिम एकत्र होता रहता है। इस प्रकार निरंतर हिम के जमा होने से हिमानियों की रचना होती है। उपयुक्त वातावरण मिलने पर हिमानियों का आकार बढ़ता जाता है और यह बृहद् रूप धारण कर लेती हैं और पृथ्वी का एक बड़ा भाग बर्फ से ढँक जाता है।

जलवायु परिवर्तन, जल-थल-मंडलों की स्थिति से परिवर्तन, सूर्य की गर्मी का प्रभाव कम होना, ध्रुवों का अपने स्थान से पलायन, वायुमंडल में कार्बन डाईऑक्साइड की बहुलता हिमावरण के कारण माने गए हैं। जलवायु संबंधी परिवर्तन ही हिमावरण का मूल कारण है। यह पृथ्वी की निम्नलिखित गतियों पर निर्भर है — घूर्णाक्ष का अयन (Precession of the axis of rotation), पृथ्वी के अक्ष की परिभ्रमणदिशा का कक्षा पर विचरण (Variation of inclination to the plane of orbit), भूकक्षा का अयन (Precession of the Earth's orbit) तथा कक्षा की उत्केंद्रता में परिवर्तन (Change in the eccentricity of the orbit)। इनका पृथक् पृथक् रूप में जलवायु पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, परंतु यदि सब एक साथ एक ही दिशा में प्रभावकारी होते हैं तो जलवायु में मूल परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ जब कक्षा की उत्केंद्रता अधिक तथा अक्ष का झुकाव कम हो और पृथ्वी अपने कक्षामार्ग में सबसे अधिक दूरी पर हो तब उत्तरी गोलार्ध में ग्रीष्म ऋतु में बहुत कम ताप उपलब्ध होगा। शरद ऋतु लंबी होगी तथा शीत अधिक होगा। इसके विपरीत कक्षा की लघु उत्केंद्रता तथा अक्ष का विपरीत दिशा में विचरण मृदुल जलवायु का प्रेरक है। खगोलात्मक आधार पर ग्रीष्म और शीत जलवायु का आवागमन लगभग एक लाख वर्षों के अंतराल पर होता है। प्लाइस्टोसीन युग में ज्ञात हिमकालों से मोटे तौर पर इसकी पुष्टि होती है।

[म० ना० मे०]

हिमलर, हेनरिख (१९००–१९४५) जरमन पुलिस दल (गेस्टापो) के अध्यक्ष। आरंभ में म्युनिक विश्वविद्यालय में कृषि की शिक्षा

प्राप्त की। १९२७ में वे जरमनी कि काली कुर्ती दल के उपनेता और १९२९ में नेता निर्वाचित हुए। १९३१ में वे हिटलर द्वारा नियुक्त शासक दल के उपनेता बने। जरमनी और जरमन अधिकृत प्रदेशों में नाजीविरोधी तत्वों का उन्होंने अत्यंत नृशंसतापूर्वक दमन किया। १९४४ के अंत तक उनकी शक्ति और प्रभुत्व का इतना अधिक विस्तार हो गया कि जरमनी में हिटलर के बाद उन्हीं की गणना की जाने लगी। १९४५ में हिटलर के पतन और मृत्यु के पश्चात् उन्होंने सांघातिक विष की टिकिया खाकर आत्महत्या कर ली।

[भ० स्व० च०]

हिम हॉकी साधारण हॉकी सदृश एक खेल है जो बर्फ से ढँकी हुई भूमि पर खेला जाता है। इसका सबसे अधिक प्रचलन कैनाडा मे हुआ, जहाँ भूमि दीर्घकाल तक बर्फ से ढँकी रहती है।

इस खेल के प्रत्येक पक्ष में छह खिलाड़ी होते हैं। ये बर्फ पर फिसलनेवाली स्केट (लोहे की खड़ाऊँ) पहिनकर खेलते हैं। गेंद के स्थान पर कठोर गोल, चकत्ती का जिसे पक (puck) कहते हैं, प्रयोग होता है। यह चकत्ती २·५ सेमी मोटी तथा ८ सेमी व्यास की होती है। जिस क्षेत्र में यह खेल खेला जाता है उसे रिंक (rink) कहते हैं। यह लगभग ६० मी लंबा और २६ मी चौड़ा होना चाहिए। रिंक के दोनों सिरों से दस फुट पर, हिम की चौड़ाई के आर पार खींची रेखा के मध्य में गोल रहता है। यह १·५ मी ऊँचा तथा क्षेत्र के मध्य के संमुख लगभग २ मी चौड़ा खुला होता है। गोलकीपर को छोड़ अन्य सब खिलाड़ियो के हाथ में ऐसी स्टिक होती है जिसका फल हत्थे से ४५ अंश के कोण पर मुड़ा होता है, इसकी एड़ी से हत्थे के सिरे तक की लंबाई १३५ सेमी तथा एड़ी से फल के सिरे तक ३८ सेमी होती है। हत्थे ५ सेमी × २ सेमी चौकोर होते हैं, किंतु फल चौड़ाई में बढ़कर ५ सेमी हो जाता है। गोलकीपर की स्टिक के हत्थे तथा फल दोनों की चौड़ाई १० सेमी होती है। खेल के क्षेत्र को हिम के आर पार, गोल से १५ मी की दूरी पर रेखाएँ खींचकर, तीन परिक्षेत्रों में बाँट देते हैं। बचाव करनेवाले दल के गोल के पास का परिक्षेत्र बचाव का, मध्य का परिक्षेत्र निष्पक्ष तथा सबसे दूरवाला आक्रमण परिक्षेत्र कहलाता है। प्रत्येक पक्ष के खिलाड़ियो में गोलकीपर, दायाँ रक्षक, वाम रक्षक, मध्य का तथा दाएँ और बाएँ पार्श्विक होते हैं। सामान्यतः पिछले तीन आगे बढ़कर खेलते हैं। खेल के ६० मिनटों का समय २० मिनटों की तीन पालियों में बाँटा जाता है। यदि खेल बराबर का रहा तो समय कुछ बढ़ा दिया जाता है। रेफरी, अर्थात् मध्यस्थ, जब पक को क्षेत्र के केंद्र में आमने सामने खड़े मध्य के खिलाड़ियो के बीच में डाल देता है तो खेल आरंभ हो जाता है।

[भ० दा० व०]

हिमाचल प्रदेश भारतीय गणतंत्र का केंद्रशासित राज्य है, जो भारत के उत्तर पश्चिम में स्थित है। इस राज्य का, १ नवंबर, १९६६ के पूर्व, क्षेत्रफल २७,८६६ वर्ग किमी एवं जनसंख्या १३,५१,१४४ (१९६१) थी, पर पंजाब राज्य के पुनर्गठन के कारण १ नवंबर, १९६६ ई० को हरियाणा राज्य बना और पंजाब के तीन पहाड़ी जिले, शिमला, काँगड़ा एवं लाहुल और स्पिटी, हिमाचल प्रदेश में संमिलित कर दिए गए जिसके कारण अब यहाँ का क्षेत्रफल लगभग ५३,१३८ वर्ग किमी एवं जनसंख्या २५,४६,७६८ हो गई है। इस राज्य के उत्तर में जंमू और काश्मीर राज्य, पश्चिम एवं पश्चिम दक्षिण में पंजाब, दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व में उत्तर प्रदेश राज्य तथा पूर्व में तिब्बत है। चिनाब, व्यास, रावी, सतलज एवं यमुना नदियाँ इस राज्य से होकर बहती हैं। पंजाब के पुनर्गठन का सबसे अधिक लाभ हिमाचल प्रदेश राज्य को ही प्राप्त हुआ है। राज्य का भूभाग बढ़ जाने के साथ साथ इसकी खनिज एवं अन्य संपत्ति में भी पर्याप्त वृद्धि हो गई है। इस राज्य में अब नौ जिले हैं : चंबा, मंडी, बिलासपुर, महासू, सिरमौर, किन्नौर, लाहुलस्पिटी, शिमला एवं काँगड़ा हैं। राज्य की राजधानी शिमला है।

यह राज्य पर्वतीय प्रदेश में है। इसमें हिमालय तथा शिवालिक की पहाड़ियाँ फैली हुई हैं। यहाँ यातायात के साधन कम हैं, अधिकतर कुली तथा टट्टू का उपयोग किया जाता है। यहाँ की जलवायु शीतल तथा स्वास्थ्यवर्धक है। जाड़े में यहाँ कड़ाके की सर्दी पड़ती है और कभी कभी हिमपात भी होता है। ग्रीष्म काल मे यहाँ ठंढा रहता है और यहाँ का मौसम बड़ा सुहावना रहता है। वर्षा अधिकतर ग्रीष्म काल में मानसूनी हवाओं से होती है।

यहाँ के पर्वतों पर सघन वन हैं। इन वनों में चीड़, देवदार तथा सनोवर के वृक्ष मिलते हैं और इनकी लकड़ी राज्य के लिये प्रमुख आय की स्रोत है। पहाड़ी ढालों पर चाय, फलों एवं मेवों के बगीचे हैं। आलू यहाँ का प्रमुख कृषि उत्पाद है। यहाँ से भारत की २० प्रतिशत आलू की माँग पूरी की जाती है। गेहूँ, मक्का, जौ, चना, तंबाकू आदि यहाँ की मुख्य उपज हैं। नमक आय का दूसरा प्रमुख साधन है। जंगलों से इमारती लकड़ी, जलावन लकड़ी, लकड़ी का कोयला, गंदाबिरोजा आदि प्राप्त होते हैं। यहाँ के लोगों का मुख्य उद्यम लकड़ी काटना, खेती करना, मक्खन, घी आदि बनाना, भेड़ों के ऊन से कंबल, शाल, पट्टू, आदि तैयार करना है। नाहन में एक लोहे का कारखाना भी है। यहाँ के मुख्य नगर शिमला, चंबा, मंडी, बिलासपुर आदि हैं। जोगेंद्रनगर के पास उल्ह जलविद्युत् प्रणाली का शक्तिगृह है, जहाँ से इस राज्य के नगरों में विद्युत् पहुँचाई जाती है।

इतिहास—१५ अप्रैल, १९४८ को ३० पहाड़ी राज्यों को मिलाकर यह प्रदेश बना और चीफ कमीश्नर इसका प्रशासक नियुक्त किया गया। १९५१ में यह सी वर्ग का राज्य बना जिसकी विधानसभा में ३६ सदस्य थे और तीन मंत्री थे। सन् १९५४ में बिलासपुर राज्य इसमें संमिलित हो गया और विधानसभा की सदस्य संख्या ४१ हो गई। १९५६ ई० में राज्यपुनर्गठन आयोग की ने संस्तुति की कि हिमाचल प्रदेश पंजाब में संमिलित कर दिया जाय पर इस प्रदेश ने अपना पृथक् अस्तित्व बनाए रखा। इस तरह पृथक् रहने का मूल्य हिमाचल प्रदेश को चुकाना पड़ा और १ नवंबर १९५६ ई० को यह प्रदेश केंद्रीय शासन के अंतर्गत चला गया। यहाँ की विधानसभा भंग हो गई और शासन चलाने के लिये प्रशासक नियुक्त कर दिया गया। १९६३ ई० को पुनः लोकप्रिय शासन की स्थापना प्रदेश में हुई। केंद्र यद्यपि राज्य विस्तार में पंजाब एवं हरियाणा से पर्याप्त बड़ा है पर केंद्र ने इसे पूरे राज्य का दर्जा देने से इनकार कर दिया है जिसके कारण यहाँ बड़ा असंतोष है। १ नवंबर, १९६६ को पंजाब

के पुनर्गठन के कारण इस राज्य में कुछ नए क्षेत्रों के संमिलित हो जाने से नेतृत्व संबंधी गंभीर समस्या उत्पन्न हो गई है और इन नए क्षेत्रों के विकास के लिये तेजी से कार्य करना आवश्यक हो गया है।

[भ० ना० मे०]

हिमालय पर्वतमाला भारत के उत्तर में भारत और तिब्बत के मध्य में सिंध एवं ब्रह्मपुत्र नदियों से घिरी हुई विश्व की सबसे विशाल पर्वतमाला है। यह उत्तर में तिब्बत और भारत एवं दक्षिण में भारत, सिक्किम, भूटान के मध्य प्राकृतिक रोध का कार्य करता है तथा भारत को उत्तर में शेष एशिया से पृथक् करता है। बरमा के उत्तरी सिरे पर यह पर्वतप्रणाली दक्षिण पश्चिम की ओर दोहरा मोड़ लेती है और पटकोई श्रेणी एवं पहाड़ी के रूप में आराकान योमा तक चली जाती है। इस पर्वतमाला की लंबाई २,५०० किमी, चौड़ाई १०० से लेकर ४०० मी तथा क्षेत्रफल लगभग ५,००,००० वर्ग किमी है। इस पर्वतमाला के कुछ शिखर विश्व के सर्वोच्च शिखर हैं। सिंध नद के उत्तर पश्चिम में इस पर्वतमाला का जो क्षेत्र हिंदूकुश की ओर पामीर से दक्षिण में फैला हुआ है ट्रैंस हिमालय कहलाता है। हिमालय पर्वतमाला पश्चिम से पूर्व की ओर धनुषाकार फैली हुई है और इसका उत्तलभाग भारत के उत्तरी मैदान की ओर है। हिमालय एक पर्वतमाला नहीं है, वरन् इसमें कई पर्वतश्रेणियाँ हैं।

प्राचीन भूगोलविद् भी इस पर्वतमाला से परिचित थे। वे इस पर्वतमाला को इमस (Imaus) या हिमस (Himaus) तथा हीमोड के नाम से जानते थे। इमस या हिमस नाम इस पर्वतमाला के पश्चिमी भाग और हीमोड नाम पूर्वी भाग के लिये प्रयुक्त होता था। सिकंदर के साथ आए यूनानियों ने इसे भारतीय कॉकेशस (Indian Caucasus) नाम से पुकारा था।

उच्च उभाड़, हिमाच्छादित शिखर, गहरी कटी हुई स्थलाकृति, पूर्ववर्ती अपवाह, जटिल भूवैज्ञानिक संरचना तथा उपोष्ण अक्षांश में समृद्ध शीतोष्ण वनस्पति हिमालय की विशेषताएँ हैं। पश्चिम से पूर्व की ओर फैली इन पर्वतश्रेणियों को दो भागों में विभक्त किया गया है : (१) पश्चिमी हिमालय तथा (२) पूर्वी हिमालय। काली नदी पूर्व में पश्चिमी हिमालय की सीमा बनाती है जबकि सिगालिला की ऊँची अनुप्रस्थ श्रेणी पूर्वी हिमालय की पश्चिमी सीमा बनाती है। उत्तर से दक्षिण की ओर हिमालय पर्वतमाला को तीन भागों में विभक्त किया गया है : (१) उत्तर में बृहत् हिमालय या हिमाद्रि (२) मध्य में लघु हिमालय तथा (३) दक्षिण में शिवालिक या बाह्य हिमालय।

(१) **बृहत्हिमालय या हिमाद्रि** — ये उत्तर में हिमालय की सर्वोच्च और प्रधान श्रेणियाँ हैं। बृहत् हिमालय नया नाम है। प्राचीन नाम हिमाद्रि था। इन श्रेणियों को पूर्व और पश्चिम दो भागों में बाँट सकते हैं। पश्चिमी भाग कराकोरम है। समुद्रतल से इस भाग की औसत ऊँचाई ८,००० मी से अधिक है। इस भाग का सर्वोच्च शिखर गॉडविन ऑस्टिन या के$_2$ (८,६११ मी) है। पूर्वी भाग में माउंट एवरेस्ट (८,८४८ मी) तथा कांचनजुंगा (८,५९८ मी) आदि स्थित हैं। यह पर्वतीय भाग पश्चिम और पूर्व में एकाएक समाप्त होकर अक्षःशायी शैलों की अक्षसंधि (Syntaxial) मोड़ की समानरूपता को प्रकट करता है। ये श्रेणियाँ असममित हैं जिनमें दक्षिण की ओर अत्यल्प पर्वतस्कंध (Spurs) हैं। इसकी उत्तरी ढाल धीरे धीरे ढालवाँ होती है और कुछ महत्वपूर्ण नदी घाटियों में चली जाती है। ये घाटियाँ बहुत दूर तक समांतर चली गई हैं। हिमाद्रि के क्रोड में ग्रेनाइट है तथा इसके पार्श्व में रूपांतरित तलछट हैं। इसकी दक्षिणी ढाल से सतलज एवं सिंध नदी तथा इसके पूरब से ब्रह्मपुत्र एवं सानपो नदी निकलती है।

(२) **लघु हिमालय** — यह बृहत् हिमालय के दक्षिण में स्थित हिमालय की मध्यश्रेणी है। इसकी अधिकतम ऊँचाई लगभग ५,००० मी और चौड़ाई ७५ किमी है। काश्मीर की घाटी और नेपाल में काठमांडू की घाटी बृहत् एवं लघु हिमालय के मध्य में स्थित हैं। काश्मीर की घाटी समुद्रतल से १,७०० मीटर ऊँची, १५० किमी लंबी तथा ८० किमी चौड़ी है। यह श्रेणी अत्यधिक संपीडित एवं परिवर्तित शैलों की बनी है। इनका निर्माणकाल ऐल्गॉङ्किन (Algonkin) काल से लेकर आदिनूतन (Eocene) तक है। यहाँ के कुछ शिखर वर्ष भर हिमाच्छादित रहते हैं। इस श्रेणी का प्राचीन नाम हिमाचल है।

(३) **बाह्य हिमालय** — यह पर्वतमाला हिमालय का बाह्यतम गिरिपाद है। इसे शिवालिक पर्वत भी कहते हैं। यह लघु हिमालय एवं गंगा के मैदान के मध्य में स्थित है। इसकी औसत ऊँचाई ६०० मी से लेकर १,५०० मी तक है। इस श्रेणी को हिमालय से निकलकर मैदान में बहनेवाली अनेक नदियों ने कई भागों में बाँट दिया है। यह श्रेणी उत्तर पश्चिम में शिवालिक, उत्तर प्रदेश के उत्तर पूर्वी भाग में डुंडवा और बिहार में चुरिया आदि के नाम से प्रसिद्ध है। शिवालिक पहाड़ियाँ तृतीय काल के नवीनतम शैल हैं। इस पर्वतप्रणाली का नाम देहरादून के समीप की शिवालिक पहाड़ियों के नाम पर पड़ा है। यह पर्वतमाला सुदूर उत्तर में उठते हुए हिमालय की नदी के निक्षेप से बनी है। बाद में पृथ्वी की हलचल के कारण यह दृढ़ीभूत, वलित एवं भ्रंशित हुई। मध्यनूतन (Miocene) से लेकर निम्न अत्यंत नूतन (lower pleistocene) तक के हिमालय के उत्थान के चिह्न इसपर मिलते हैं। कगारभ्रंश (fault scarps), अपनत शीर्ष (anticlinal crest) तथा अभिनत पहाड़ियाँ (Synclinal hills) शिवालिक की विशेषताएँ हैं। शिवालिक पहाड़ों के शिखरों पर कगार हैं तथा ढाल के उतार पर चौरस संरचनात्मक घाटियाँ हैं जिन्हें दून (dunes) कहते हैं। शिवालिक के आंतरिक भाग में समांतर कटकों और संरचनात्मक घाटियों की श्रेणियाँ हैं। शिवालिक पहाड़ियों में स्तनी वर्ग के समृद्ध जीवाश्म पाए गए हैं, जो निम्नलिखित हैं : डिनोथेरियम, मैस्टोडोन, इलेफस, स्टेगोडोन, हिप्पोपोटमस, ब्रुथेरियम, सिवथेरियम, पस-हयेना, जिराफ़, हिप्परियॉन तथा एप।

पश्चिमी हिमालय

पश्चिमी हिमालय को पश्चिम से पूर्व की ओर चार क्षेत्रों में

विभाजित किया गया है : उत्तरी काश्मीर हिमालय, दक्षिणी काश्मीर हिमालय, पंजाब हिमालय और कुमायूँ हिमालय।

काश्मीर हिमालय — हिमालय का सबसे चौड़ा भाग काश्मीर में है। यह पश्चिम से पूर्व की ओर ७०० किमी लंबा तथा उत्तर से दक्षिण की ओर ५०० किमी चौड़ा है। इसके पर्वतीय क्षेत्र का क्षेत्रफल ३,५०,००० वर्ग किमी है। यहाँ की ऊँचाई, जंगलों, मिट्टियों, जलवायु एवं अभिगम्यता में बड़ा वैषम्य है। काश्मीर क्षेत्र में संपूर्ण हिमालय की अपेक्षा अधिक हिम और हिमनद हैं। इसके भी प्रमाण हैं कि भूतकाल मे पहलगाम से लेकर काश्मीर की घाटी तक में हिमनदों ने बड़े भूभाग को घेर रखा था। बृहद् हिमालय की श्रेणी को उत्तरी काश्मीर और दक्षिणी काश्मीर के मध्य विभाजनरेखा मान सकते हैं।

दक्षिणी काश्मीर हिमालय — जंमू पहाड़ियाँ काश्मीर शिवालिक का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये पहाड़ियाँ झेलम नदी से लेकर रावी तक फैली हुई हैं। ये पहाड़ियाँ बहुत कटी हुई हैं और अभिनत घाटियाँ प्राय: कटक (ridge) बनाती हैं। इन पहाड़ियों के दक्षिण में शुष्क पथरीली धरातल की झालर (fringe) है जिसे कंडी कहते हैं। इस कंडी में धरातल पर सिंचाई के लिये जल नहीं है। जंमू पहाड़ियों के पीछे पुंछ पहाड़ियाँ हैं जो प्रारंभिक बलुआ पत्थर एवं शेल की बनी हैं। इनकी अधिकतम ऊँचाई ३,००० मी है। इन पहाड़ियों का झुकाव शैल के नतिलंब (Strike) के अनुरूप है। जंमू पहाड़ियों के उत्तर में लघु हिमालय की प्रक्षेपी श्रेणियाँ हैं। इस पट्टी की औसत ऊँचाई ३,००० मी एवं औसत चौड़ाई १०० किमी है। इस पट्टी की विशेषता इसका ऊबड़ खाबड़पन तथा स्पष्ट उभार है। इस पट्टी के निम्नतल, ४०० मी में मुज्फ्फराबाद के समीप जेहलम महाखड्ड है। श्रीनगर से ५० किमी दक्षिण पश्चिम में पीर पंजाल का ४,७४३ मी ऊँचा शिखर है। काश्मीर के इस खंड की अधिकांश रैटिक श्रेणियाँ अनुदैर्घ्य प्रक्षेप की हैं और ये या तो बृहत् हिमालय से द्विशाखित होती हैं या उससे तिरछी फैली हैं तथा कई अनुप्रस्थ श्रेणियाँ हैं। पीर पंजाल पहले प्रकार का उदाहरण है। यह बृहत् हिमालयश्रेणी से नंगा पर्वत के १०० किमी दक्षिण पश्चिम से निकलकर पूर्व की ओर ४०० किमी में फैला हुआ है। क्षेपभ्रंश (thurst faulting) के कारण पीर पंजाल की व्युत्पत्ति हुई है। इस श्रेणी में पीर पंजाल (३,४९४ मी) तथा बनिहाल (२,८३२ मी) नामक दो प्रसिद्ध दर्रे हैं। बनिहाल दर्रा भारत के मैदानी भाग से काश्मीर की घाटी में जाने का प्रमुख मार्ग है। यह श्रेणी चनाब, जेहलम तथा किशनगंगा से भंग हो गई है। पीर पंजाल की औसत ऊँचाई ४,००० मीटर है पर इसके कुछ शिखर, विशेषत: लाहुल में, वर्ष भर हिमाच्छादित रहते हैं।

उत्तरी काश्मीर हिमालय — सिंध नद काश्मीर को विकर्णत: पार करता है और यहाँ इसकी कुल लंबाई ६५० किमी है। यह तिब्बत में २५० किमी लंबे बृहद् वक्र में बहने के उपरांत दमचोक के दक्षिण पूर्व में काश्मीर में प्रवेश करता है। दमचोक से स्कार्दु तक असममित घाटी में बहने का कारण यह है कि नदी का दाहिना किनारा ग्रैनाइट शेल का एवं बायाँ किनारा तृतीय काल के चूनापत्थर एवं शेल का है। इस नदी में बाएँ किनारे पर जास्कार, द्रास एवं अस्तोर नदियाँ तथा दाहिने किनारे पर श्योक एवं गिलगिट नदियाँ मिलती हैं।

सिंध नदी के उत्तर में काराकोरम पर्वत स्थित है। इसे संस्कृत साहित्य में कृष्णगिरि कहा गया है। यह ऊँचे शिखरों एवं बहुत से हिमनदों का क्षेत्र है। काराकोरम के अनेक हिमनदों की धाराएँ तीव्र गति से बहनेवाली तथा मध्यस्थ हिमोढ़ (medial moraines) है। सायचेन (Siachen) हिमनद इस प्रकार का है और नुब्रा नदी को जल प्रदान करता है। रिमो (Rimo) हिमनद अपने प्रकार का है और इसके द्वारा एक ही साथ उत्तर में बहनेवाली यारकंद नदी तथा दक्षिण में बहनेवाली श्योक नदी का जलभरण होता है। यहाँ की सर्वोच्च आबाद घाटी ब्रल्दु (Braldu) हिमालय का द्वितीय सर्वोच्च शिखर K_2 (८,६११ मीटर) पश्चिमी काराकोरम में है। इसके अतिरिक्त हिडेन पीक (८,०६८ मी) ब्राड पीक (८,०४७ मी) तथा गशरब्रुम द्वितीय (८,०३५ मी) अन्य शिखर हैं। संसार के आठ हजार मीटर से ऊँचे १४ शिखरों में से चार काराकोरम में हैं। रकपोशी (Rakposhi, ७,७८८ मी) तथा हरमोश (७,३९७ मी) यहाँ के अन्य प्रसिद्ध शिखर हैं। काराकोरम की घाटियाँ ग्रीष्म में बड़ी गरम रहती हैं पर यहाँ की रातें, विशेषकर शीतकाल में, अत्यधिक ठंढी रहती हैं।

लद्दाख पठार काश्मीर हिमालय के उत्तर पूर्वी भाग में है। तथा इसकी औसत ऊँचाई ५,३०० मीटर है। यह भारत का सर्वोच्च पठार है। ५,३०० से लेकर ५,८०० मी की ऊँचाई तक तीन समप्राय भूमि (pene plain) के अवशेष इस पठार में हैं। यह भारत के अगम्य, उच्च एवं शुष्क भागों में से एक है। यहाँ का संपूर्ण भूभाग सोपाननुमा है। चांगचेन्मो (Chang chenmo) श्रेणी लद्दाख को दो स्पष्ट भागों में विभाजित करती है। चांग चेन्मो श्रेणी के उत्तर में चांग चेन्मो नदी असममित तथा चौरस तलवाली घाटी में पश्चिम की ओर बहती है। यहाँ अनेक गरम स्रोत हैं। ऊँची ढालों पर पर्वतीय झीलें हैं। सुदूर उत्तर में आंतर अपवाह बेसिन है, जो मध्यजीवी (Mesozoic) कल्प के चूनापत्थर और शेल के कटने से बना है। इस बेसिन में अनेक लवणजलीय झीलें हैं जिनका अपवाह अभिकेंद्री है। यह पठार पर्वत एवं मैदानों में विभाजित है। दक्षिण से उत्तर की ओर लिंग्जितांग (Lingzitang) मैदान, लोकजुंग (Lokzhung) पर्वत अक्साइ (Aksai) श्रेणी तथा सोडा (Soda) मैदान हैं। यहाँ के मैदानों में भूतकालीन हिमनदक्रिया के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। ये मैदान पूर्णत: शुष्क एवं वनस्पतिरहित हैं। यहाँ खानाबदोश भी चरागाह की खोज में घूमने का साहस नहीं करते हैं।

पंजाब हिमालय — हिमालय का वह भाग जो पंजाब और हिमाचल प्रदेश में पड़ता है पंजाब हिमालय कहलाता है। इसमें हिमालय के तीनों खंड, बृहत् हिमालय, लघु हिमालय तथा बाह्य हिमालय, स्पष्टत: विद्यमान हैं। सिंध और जेहलम के अतिरिक्त पंजाब के मैदान को उपजाऊ बनानेवाली सभी नदियाँ हिमालय के इसी भाग से निकली हैं।

काश्मीर की पीर पंजाल श्रेणी रावी के नदीशीर्ष से कुछ ऊपर

में हिमाचल प्रदेश में प्रवेश करती है और पूर्व की ओर १२० किमी तक चली गई है तथा उत्तर में चिनाब और दक्षिण में व्यास एवं रावी की जलविभाजक बनती है। यहाँ पीर पंजाल का उच्चतम शिखर ५,००० मी ऊँचा है और सदा हिमाच्छादित रहता है। रावी के दक्षिण मे व्यास की घाटी की ओर चापाकार हिमाच्छादित धवलाधर (Dhaoladhar) श्रेणी है और इसका उत्तल भाग काँगड़ा की घाटी की ओर है। धवलाधर का सर्वोच्च शिखर ५,००० मीटर से कुछ अधिक ऊँचा है। काँगड़ा घाटी व्यास नदी के बरा दक्षिण से धवलाधर श्रेणी के पाद से लेकर हमीरपुर पठार के उत्तरी छोर तक चली गई है। हिमालय के इस भाग का महत्व संभावित खनिज तेल संपदा के कारण बढ़ गया है। व्यास के ऊपर का भाग कुलु घाटी कहलाता है और यह रोहतांग दर्रे (Rohtang pass) द्वारा लाहुल एवं स्पिटी घाटी से संबंधित है। कुलु के दो उच्च शिखर देओ तिब्बा (Deo Tibba, ६,००१ मी) तथा इंद्रासन (६,२२० मी) हैं।

कुमायूँ हिमालय — हिमालय का यह भाग उत्तर प्रदेश राज्य में है। इस भाग में गंगा एवं यमुना नदियों के स्रोत हैं। कुमायूँ हिमालय का क्षेत्रफल लगभग ३८,००० वर्ग किमी है और हिमालय के तीनों खंड, बृहत् हिमालय, लघु हिमालय तथा बाह्य हिमालय, इस क्षेत्र में हैं।

कुमायूँ हिमालय मे बृहत् हिमालय का क्षेत्रफल लगभग ६,६०० वर्ग किमी है। गंगोत्री हिमाल गंगोत्री एवं केदारनाथ हिमनदों का और नंदादेवी हिमाल माइलम एवं पिंडारी हिमनदों का भरण करते हैं। गंगोत्री हिमनद ३० किमी लंबा है और इसके चार सहायकों में से प्रत्येक ८ किमी लंबा है। बद्रीनाथ के ठीक ऊपर नीलकंठ है। कुमायूँ हिमालय का सर्वोच्च शिखर नंदादेवी (७,८१७ मीटर) है। नंदादेवी के पूर्वी एवं पश्चिमी शिखरों को ३ किमी लंबे एवं ७,५०० मी ऊँचे भयावह ककची कटक जोड़ते हैं। दूनागिरि (७,०६६ मी) उत्तरी भुजा के दक्षिणी सिरे पर तथा त्रिशूल (७,१२० मी) दक्षिणी भुजा पर है। यहाँ अन्य शिखर नंदकोट (६,८६१ मी), नदाकना (६,३०९ मी) तथा नदाघुंती (६,०६३ मी) हैं। सुदूर पश्चिम में जास्कार श्रेणी पर कामेट हिमाल है जिसका कामेट शिखर ७,७५६ मी ऊँचा है। विष्णुगंगा के पश्चिम में गंगोत्री हिमालय के ऊपर शिखरों का दूसरा समूह है जिसमें निम्नलिखित शिखर संमिलित हैं : सटोपंथ (७,०८४ मी), बद्रीनाथ (७,१३८ मी), केदारनाथ (६,९४० मी), गंगोत्री (६,६१४ मी) तथा श्रीकंठ (६,७२८ मी)।

कुमायूँ हिमालय के लघु हिमालय के खंड में मुख्यत: दो रेखीय श्रेणियाँ हैं : मसूरी और नागतिब्बा। मसूरी श्रेणी मसूरी नगर से लैंसडौन तक १२० किमी लंबाई में फैली हुई है। इस श्रेणी की २,००० मी से २,६०० मी की ऊँचाई तक की चोटियों पर अनेक पहाड़ी नगर हैं। देहरादून से यह दक्षिणी खड़ी ढाल सहित समतल शीर्षवाली श्रेणी दिखाई पड़ती है। मसूरी हिमालय के पहाड़ी नगरों की रानी कहलाता है। नैनीताल के समीप अनेक ताल हैं जिनमें से नैनीताल एवं भीमताल उल्लेखनीय हैं। नैनीताल से ३० किमी उत्तर में दूसरा पहाड़ी नगर रानीखेत है।

कुमायूँ हिमालय अर्थात् शिवालिक श्रेणियाँ, गंगा एवं यमुना नदियों के मध्य में ७४ किमी तक फैला हुआ है और जंगलों से आच्छादित इसकी ढालें और समतल चोटियाँ ९०० मी से लेकर, १,००० मी तक ऊँची हैं। शीर्ष सामान्यतः कठोर संगुटिकाश्म का बना हुआ है और ढालें कोमल चूनापत्थर के बनी हैं। हरद्वार से ऋषिकेश तक शिवालिक माला में गहरी ढालों एवं कगारों के अनुक्रम हैं। शिवालिकमाला के पीछे संरचनात्मक गर्त समांतर चले गए हैं और ये पश्चिम में पूर्व की अपेक्षा अधिक विकसित हैं। पश्चिम में देहरादून प्ररूपी संरचनात्मक गर्त है जो ७५ किमी लंबा और १५-२० किमी चौड़ा है।

मध्य हिमालय

मध्य हिमालय का क्षेत्रफल १,१६,८०० वर्ग किमी है और संपूर्ण नेपाल इसमें स्थित है। पश्चिम में कर्नाली नदी, मध्य में गंडक और पूर्व में कोसी नदी द्वारा यहाँ के जल का निकास होता है। नेपाल की मध्य घाटी, जहाँ नेपाल की राजधानी काठमांडू स्थित है, नेपाल को दो भागों में विभक्त करती है। नेपाल की घाटी रूपांतरित अवसादी शैल की अपनत (anticlinal) पहाड़ियों के कटने से बनी है। उत्तर में अभिनत (Synclinal) पहाड़ियाँ इसे घेरे हुए हैं और दक्षिणी भाग उच्चावाच प्रतिलोमन (inverce of relief) प्रदर्शित करता है। संसार के आठ हजार मीटर ऊँचाईवाले शिखरों में से अधिकांश यहीं हैं। यहाँ पश्चिम से पूर्व की ओर मिलनेवाले शिखर ये हैं : धौलागिरी (८,१७२ मी), अन्नपूर्णा (८,०७८ मी), मनासलु (८,१५६ मी), गोसाईंथान (८,०१३ मीटर), चो ओयू (Cho oyu, ८,१५३ मी), माउंट एवरेस्ट (८,८४८ मी), मकालू (८,४८१ मी), एवं कांचनजुंगा (८,५९८ मी)। विश्व का सर्वोच्च शिखर माउंट एवरेस्ट एकनत (uniclinal) संरचना है जो १,०७० मी मोटी है तथा रूपांतरित चूनापत्थर एवं अन्य अवसादों से बनी है। उपर्युक्त सभी शिखर सदा हिमाच्छादित रहते हैं और अनेक हिमनदों का भरण करते हैं।

पूर्वी हिमालय

पूर्वी हिमालय के पश्चिमी भाग के अंतर्गत सिक्किम हिमालय, दार्जिलिंग हिमालय आते हैं तथा पूर्वी हिमालय के शेष भाग को असम हिमालय घेरे हुए है।

सिक्किम हिमालय — बृहत् हिमालयमाला सिक्किम में प्रवेश करते ही अपनी दिशा बदलकर पूर्ववर्ती हो जाती है और इस दिशा में ४२० किमी तक, कंगटो (Kangto, ७,०९० मी) तक चली जाती है। और अंत में इसकी दिशा उत्तर पूर्व की ओर हो जाती है तथा ३०० किमी दूर नमचा बरवा (७,७५६ मी) में समाप्त हो जाती है। सिक्किम में हिमालय की दक्षिण सीमा पर शिवालिक श्रेणी का केवल संकीर्ण फ्रिंज (fringe) है। जहाँ कहीं भी प्रमुख हिमालय क्षेत्र दक्षिण की ओर बढ़ा है, वहाँ शिवालिक श्रेणी तिरोहित हो गई है।

सिक्किम हिमालय के अंतर्गत बृहत् नदी घाटी है, जो तिस्ता नदी और उसकी अनेक सहायक नदियों द्वारा चौड़ी एवं गहरी की

गई है। यह संरचनात्मकतः, अपनत घाटी है। भूस्खलन एवं हिम के ध्वस्त शैल सिक्किम में संचार को कठिन बना देते हैं। सिक्किम हिमालय की पश्चिमी सीमा सिंगालिला (Singalila) श्रेणी बनाती है। फलुत तक सिंगालिला के चौरस शिखर के कारण कांचन-जुंगा तथा वैसी ही दो अन्य चोटियों कबु (७,३१६ मी) और जनो (७,७१० मी) तक जाने का मार्ग सुगम है। डोंक्या (Dongkya) श्रेणी सिक्किम की पूर्वी सीमा बनाती है। यह श्रेणी बहुत खड़ी धार है, केवल नातु ला (Natu La) और जेलेप ला (Jelep La) दर्रे पर्याप्त चिकने हैं और इनसे होकर सिक्किम से चुंबी घाटी को जानेवाले व्यापारिक मार्ग गए हैं।

दार्जिलिंग हिमालय — दार्जिलिंग हिमालय में मुख्यत: उत्तरी एवं दक्षिणी दो श्रेणियाँ हैं। सिंगालिला श्रेणी पश्चिमी बंगाल के दार्जिलिंग जिले को नेपाल से पृथक् करती है। तराई के मैदानों से लेकर सेंचल शिखर (Senchal, २,६१५ मी) तक दार्जिलिंग श्रेणी एकाएक उठ गई है। दार्जिलिंग जिले में दार्जिलिंग श्रेणी के तीन उच्चतम शिखर हैं: संदकफू (Sandakphu, ३,६३० मी), सबरगम (३,५४३ मी) और फलुत (३,५६६ मी) दार्जिलिंग हिमालय का जल निकास पश्चिम से पूर्व की ओर मेची बालासन, महान रंगित और तिस्ता से होता है। तिस्ता सबसे बड़ी नदी है। पहाड़ियों के मध्य में तिस्ता की घाटी की आकृति आयत के रूप में है और इसकी अधिकतम लंबाई उत्तर से दक्षिण की ओर है। कोमल स्लेट और शिस्ट के काटने से तिस्ता की घाटी बनी है। तिस्ता, अपने और महान रंगित के संगम के दक्षिण में, अनुप्रस्थ अपनत के अक्ष के साथ साथ बहती है।

भूटान हिमालय — भूटान हिमालय का क्षेत्रफल २२,५०० वर्ग किमी है। इसके अंतर्गत गहरी घाटियाँ एवं उच्च श्रेणियाँ संमिलित हैं। थोड़ी थोड़ी दूर पर स्थलाकृतिक लक्षण तीव्रता से परिवर्तित हो जाते हैं अतः इनका जलवायु पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। भूटान की एक दिन की यात्रा में ही साइबीरिया की कड़ाके की ठंढ, सहारा की भीषण गरमी और भूमध्यसागरीय इटली के सुहावने मौसम सदृश मौसमों का अनुभव हो जाता है। भूटान में तोरसा नदी के पूर्व में शिवालिक श्रेणी पुन: प्रकट होती है और भूटान राज्य की संपूर्ण लंबाई में यह श्रेणी फैली हुई है। भूटान हिमालय में दक्षिण की ओर जानेवाली श्रेणियाँ हैं। इनमें से मसंग क्युंग्दु (Masang Kyungdu) श्रेणी का शिखर चोमो ल्हारी (Chomo Lhari) ७,३१४ मी ऊँचा है। थिंफू (Thimphu) श्रेणी लिंगशी (Lingshi) शिखर (५,६२३ मी) से आगे बढ़ती है। लिंगशी श्रेणी में लिंगशी ला और युले ला दर्रे चुंबा घाटी में जाने के मार्ग हैं। थिंफू श्रेणी से पूर्व में पुनखा घाटी है जिसका तल अत्यंत असम है।

असम हिमालय — हिमालय का सर्वाधिक पूर्वीय भाग असम के नेफा (Nepha) क्षेत्र में है। हिमालय के तीनों खंड, बृहत् हिमालय, लघु हिमालय एवं बाह्य हिमालय, असम हिमालय में हैं। असम हिमालय का क्षेत्रफल ६७,५०० वर्ग किमी है। ब्रह्मपुत्र घाटी के ऊपर जंगलों से भरी शिवालिक पहाड़ियाँ एकाएक ८०० मीटर ऊँची उठ जाती हैं। लघु हिमालय की अधिकांश श्रेणियाँ शीतोष्ण जंगलों से ढँकी हुई हैं। यहाँ बृहत् हिमालय (हिमाद्रि) का झुकाव उत्तर पूर्व से दक्षिण पश्चिम की ओर है और इसके अनेक शिखर ५,००० मी से अधिक ऊँचे हैं।

दिहांग नदी दिबांग एवं लुहित नदियों से मिलने के पश्चात् ब्रह्मपुत्र कहलाती है। दिहांग मानसरोवर से लगभग १०० किमी दक्षिण पूर्व में तछोग खबब छोरटेन (Tachhog khabab Chhorten) के समीप के चेमयुंगदुंग (Chemayoungdung) हिमनद के प्रोथ (Snout) से निकलती है। यह पूर्व की ओर तिब्बत में उथली घाटी में १,२५० किमी बहने के बाद दक्षिण की ओर तीव्रता से मुड़ जाती है और इस मोड़ तक यह सांपो (Tsangpo) कहलाती है।

पूर्वी हिमालय में पश्चिम हिमालय की अपेक्षा अधिक वर्षा होती है। दार्जिलिंग में लगभग २५४ सेमी वर्षा होती है। तराई के क्षेत्र में घास, ऊँची झाड़ियाँ एवं छोटे पेड़वाले जंगल हैं। प्रथम हिमालय के जंगल उपोष्ण कटिबंधी से लेकर मानसूनी जलवायुवाले हैं। बांज, चेस्टनट, रोडोडेनड्रान, मैग्नोलिया तथा देवदार के वृक्ष मिलते हैं।

हिमालय की उत्पत्ति — हिमालय पर्वतमाला विश्व की नूतन पर्वतमालाओं में से एक है। इसका निर्माण बृहत् टेथिस सागर के तल के उठने से, आज से पाँच से छह करोड़ वर्ष पूर्व हुआ था। हिमालय को अपनी पूर्ण ऊँचाई प्राप्त करने में ६० से ७० लाख वर्ष लगे। यह ऐल्पीयप्रणाली का वलित पर्वत है। भूविज्ञानियों का मत है कि प्राचीन काल में स्थल भाग के दो भूखंड थे। उत्तरी भूखंड से उत्तरी महाद्वीप, यूरेशिया आदि तथा दक्षिणी भूखंड से गोंडवाना, दक्षिणी भारत, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि बने। उत्तरी एवं दक्षिणी भूखंडों के मध्य में टेथिस (Tethys) नामक समुद्र था जिसका अवशेष अब का भूमध्यसागर है। टेथिस सागर में उत्तर (upper) कार्बनी कल्प से उपर्युक्त दोनों भूखंडों से कीचड़, मिट्टी आदि का जमाव होता रहा। इस जमाव का उत्थान पर्वतन गति-काल (Period of orogenic) से आरंभ हुआ। यह उत्थान मध्य आदिनूतन (Eocene) से लेकर तृतीय महाकल्प के अंत तक तीन आंतरायिक अवस्थाओं में हुआ। पहली अवस्था पश्च नुमुलाइटिक (Post Numulitic) से लेकर आदिनूतन के अंत तक रही। दूसरी अवस्था लगभग मध्यनूतन (Miocene) में हुई। तीसरी अवस्था, जो सबसे महत्वपूर्ण अवस्था है, पश्च अति-नूतन (post pliocene) कल्प से प्रारंभ हुई और अत्यंतनूतन कल्प के मध्य तक समाप्त नहीं हुई थी। इस अवस्था में हिमालय की वर्तमान शृंखला को बनाने के लिये श्रेणी के अक्षीय भाग के साथ बाह्य शिवालिक के गिरिपादों का उत्थान हुआ। टेथिस सागर का उपर्युक्त निक्षेप ६,००० मी से अधिक मोटा है और इसमें उत्तर कार्बनी, पर्मियन (Permian), ट्राइऐस (Trias), जुरैसिक (Jurassic), क्रिटेशस (Cretaceous) और आदिनूतन (Eocene) कल्प के निक्षेप हैं जिनमें सामुद्रिक जीवाश्मों की सुरक्षित सिलसिला है।

भूविज्ञान — मध्य एशिया के बृहत् पठार के साथ साथ भूपर्पटी के तीव्र आमोटन (Crumpling) से हिमालय का निर्माण हुआ है। हिमालय के पर्वतीय चाप के बाहर प्रायद्वीपीय श्रेणी के अतिरिक्त भारतीय प्रायद्वीप में और कहीं भी इस आमोटन का प्रभाव परिलक्षित नहीं हुआ है। भारतीय प्रायद्वीप में पुराजीवी (Palaeozoic) महाकल्प के पहले का कोई भी वलन नहीं है। हिमालय में भूविज्ञानी अनुक्रम (कैंब्रियन से आदिनूतन तक) लगभग पूर्णतः समुद्री हैं। श्रेणी में प्राय: अंतराल भी हैं, पर इस लंबी अवधि में संपूर्ण उत्तरी भाग टेथिस सागर के अंदर रहा। भारतीय प्रायद्वीप में जुरैसिक और क्रिटेशसकल्प के पूर्व के समुद्री जीवाश्म कहीं नहीं प्राप्त हुए हैं। हिमालय की वलित समुद्री तहों के मध्य में तथा सिंध और गंगा के मैदान के क्षैतिज स्तरों के मध्य में जलोढ़ एवं हवा द्वारा लाए गए नूतन निक्षेपों की मोटी तह है। यह स्पष्ट है कि हिमालय के संमुख बृहत् गर्त है पर इसका कोई प्रमाण नहीं है कि यह गर्त समुद्र के अंदर रहा।

भूविज्ञानी दृष्टि से हिमालय को तीन क्षेत्रों में विभक्त कर सकते हैं : (१) उत्तरी क्षेत्र (तिब्बती क्षेत्र), (२) हिमालयी क्षेत्र तथा (३) दक्षिणी क्षेत्र।

(१) उत्तरी क्षेत्र — उत्तर पश्चिम को छोड़कर इस क्षेत्र में पुराजीवी एवं मध्यजीवीकल्प के जीवाश्मवाले स्तर अत्यधिक विकसित हैं। दक्षिणी पार्श्व में इस प्रकार के शैल नहीं हैं।

(२) हिमालयी क्षेत्र — इस क्षेत्र के अंतर्गत बृहत् एवं लघु हिमालय का अधिकांश संमिलित है। यह क्षेत्र रूपांतरित एवं क्रिस्टलीय शैलों से निर्मित है तथा यहाँ के जीवाश्महीन स्तर पुराजीवीकल्प के हैं।

(३) दक्षिणी क्षेत्र — इस क्षेत्र के स्तर तृतीय कल्प के, विशेषत: उच्च तृतीय कल्प के हैं। इस क्षेत्र के प्राचीनतम स्तर स्पिटी घाटी में हैं तथा ये आद्यमहाकल्प के नाइस के बने हैं। ये स्तर जीवाश्मवाले स्तर हैं और कैंब्रियनप्रणाली के हैं। स्पिटी क्षेत्र के निम्न पुराजीवीकल्प के स्तरों में कोई अव्यवस्था नहीं है लेकिन मध्य हिमालय के अन्य भागों में परमियनकाल के प्राचीन स्तरों के संगुटिकाश्म विषमत: विन्यस्त हैं। यह संगुटिकाश्म महत्वपूर्ण आधाररेखा (datum line) बनाता है। परमियन से लेकर लियस (Lias) तक मध्य हिमालय में अंतराल के कोई चिह्न नहीं हैं। स्पिटी शैल अनुगामी हैं, यद्यपि इनमें मध्य एवं उच्च जुरैसिक के जीवाश्म मिलते हैं, तथापि इनके आधार पर कोई अंतराल सिद्ध नहीं होता है। स्पिटी शैल क्रिटेशस स्तरों का समविन्यस्तत: अनुवर्ती है और ये दोनों बिना किसी अंतराल के आदिनूतनकल्प की नुमुलिटी स्तरों (Nummulitic beds) का अनुगमन करते हैं। तृतीय कल्प का प्रारंभ तीव्र आग्नेय सक्रियता द्वारा चिह्नित है जिसमें अंतर्वेधन (Intrusion) एवं बहिर्वेधन (Extrusion) हुआ। दूसरा अगामी निक्षेप चूनापत्थर है जो प्राय: अधिक झुका हुआ और नुमुलिटी स्तरों पर विषमत: विन्यस्त है तथा उप हिमालय के निम्नशिवालिक से मिलता जुलता है पर पर इसमें कोई भी जीवाश्म नहीं मिला है। संपूर्ण पर हुंद (Hundes) के नवीन तृतीयक काल के स्तर विषमविन्यस्तत: उपरिशायित हैं और ये स्तर वलित एवं क्षैतिज हैं।

हिमालय की पट्टी के उत्तरी भाग में, कम से कम स्पिटी क्षेत्र में, उत्तरी आद्यकल्प के तथा किसी भी विस्तार के वलन नहीं हैं। वलन, हुंद के तृतीय काल के स्तरों के बनने के पूर्व ही, पूर्ण हो गया था। अत: इस भाग की श्रृंखलाओं का उत्थान मध्यनूतन (Miocene) कल्प में प्रारंभ हुआ था, जबकि शिवालिक सदृश चूनापत्थर का विक्षोभ यह प्रकट करता है कि वलन अतिनूतन (Pliocene) कल्प तक चलता रहा। हिमालय के दक्षिणी पार्श्व में श्रृंखलाओं के निर्माण का इतिहास अधिक स्पष्ट है। उपहिमालय तृतीयकाल के स्तरों का बना हुआ है जबकि निम्नहिमालय तृतीयपूर्वकाल के स्तरों का बना है और इन स्तरों में कोई जीवाश्म नहीं मिला है। इस श्रृंखला की संपूर्ण लंबाई में जहाँ कहीं भी शिवालिक का तृतीयपूर्वकाल के शैलों से संगम हुआ है वहाँ उत्क्रमित भ्रंश (Reversed fault) दिखाई पड़ता है। इस भ्रंश का शीर्ष अवर श्रृंखला के केंद्र की ओर है। प्राचीन शैल, जो मुख्य हिमालय का निर्माण करते हैं, आगे की ओर उपहिमालय के नवीन स्तरों के ऊपर ढकेल दिए गए हैं। लगभग प्रत्येक जगह भ्रंश शिवालिक स्तरों की उत्तरी सीमा बनाता है। वास्तव में भ्रंश मुख्यत: शिवालिक स्तरों के निक्षेप के कारण उत्पन्न हुए हैं और जैसे ही ये बने हिमालय आगे की ओर इनपर ढकेल दिया गया जिससे ये वलित एवं उल्टे हो गए। शिवालिक नदीय (Fluviatile) एवं वेगप्रवाही (Torrential) निक्षेप हैं और उन्हीं निक्षेपों के समान हैं जो सिंध गंगा के मैदान में गिरिपादों पर बने हैं। उत्क्रमित भ्रंश लगभग समांतर भ्रंशों की माला है। हिमालय दक्षिण की ओर अनेक अवस्थाओं में बना है। श्रृंखला के पाद पर उत्क्रमित भ्रंश बना और इसपर पर्वत अपने आधार के स्तरों पर आगे की ओर ढकेल दिए गए और इस प्रक्रिया में उनमें आमोटन एवं वलन हुए तथा मुख्य श्रृंखला के संमुख उपहिमालय बना। यह प्रक्रिया अनेक बार दोहराई गई। इस क्षेत्र में होनेवाले आजकल के भूकंप भ्रंशरेखा पर खोजे जा सकते हैं और ये इस बात के प्रतीक हैं कि पर्पटीय संतुलन अभी तक नहीं हुआ है।

जलवायु — २१३९ मी की ऊँचाई पर जाड़े में औसत ताप ५° सें० और ग्रीष्म का औसत ताप १८° सें० रहता है पर घाटियों में मई एवं जून के महीनों मे दिन का ताप ३२° सें० से लेकर ३८° सें० रहता है। जाड़े मे ३००० मीटर की ऊँचाई पर ताप ०° सें० रहता है। ४००० मीटर की ऊँचाई पर ताप मई के अंत से लेकर अक्टूबर के मध्य तक हिमांक से ऊपर रहता है। ५,००० मी की ऊँचाई पर ताप कभी भी हिमांक से ऊपर नहीं आता चाहे कितनी ही गरमी क्यों न पड़े। तिब्बत का ताप हिमालय के ताप की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील है। तिब्बत में ४००० मी की ऊँचाई पर सर्वाधिक गरम महीनों में भी ताप लगभग १५° सें० रहता है। पश्चिम की अपेक्षा पूर्वी हिमालय में अधिक वर्षा होती है।

वन्यजंतु — भारत की ओर के हिमालय में लंगूर, हाथी, गैंडा, बाघ, तेंदुआ, गंधमार्जार, नेवला, भालू, मोल आदि

मिलते हैं। शिवालिक में मध्यनूतन तथा अतिनूतनकल्प के स्तनधारियों से संबंधित स्तनधारियों के ८४ स्पेशीज के जीवाश्म मिलते हैं। लंगूर लगभग ४००० मी की ऊँचाई तक मिलते हैं। हिमालय के जंगलों में लोमड़ी एवं भेड़िये नहीं मिलते। पर ये दोनों जतु एवं वनबिलाव, हिमप्रदेशी चीता, जगली गदहा, कस्तूरीमृग, बारहसिंहा और भेड़ तिब्बत की ओर के हिमालय में मिलते हैं। जगली क्षेत्रों में जंगली कुत्ता एवं जंगली सूअर मिलते हैं लेकिन गवल नीची भूमि पर पाए जाते हैं। पूर्वी हिमालय में चींटीखोर के दो स्पेशीज मिलते हैं। अधिक ऊँचाई पर याक मिलते हैं जो बालों की मोटी तहों से ढँके रहते हैं।

महाश्येन, गिद्ध और अन्य शिकारी पक्षी हिमालय में ऊँचाई पर मिलते हैं। भारत की ओर के मैदानों से लगे जंगलों में मोर मिलते हैं। यहाँ तीतर और चकोर भी मिलते हैं जो ऊँचाई पर हिम में रहने के लिये अनुकूलित हो गए हैं।

भारत की ओर के हिमालय में अजगर मिलते हैं। नाग लगभग २,००० मी की ऊँचाई तक मिलते हैं। छिपकलियाँ तथा मेंढक असाधारण ऊँचाई तक मिलते हैं। फ्रिनोसीफेलस (Phrenocephalus) छिपकली एव मेढक तिब्बत में भी पाए गए हैं। हिमालय के जल में कैटफिश या कार्प कुल की मछलियाँ मिलती हैं। कैटफिश की कुछ जातियाँ तथा कार्प की अनेक जातियाँ तिब्बत के जल में मिलती हैं। तीव्र पर्वतीय जलप्रवाह में रहनेवाली मछलियों में शैलों को पकड़ने के लिये, चूषक (Suckers) रहते हैं। हिमालय क्षेत्र में सैलमॉन कुल की मछलियाँ नहीं मिलती हैं। यहाँ तितलियों के कई कुल मिलते हैं जिनमें से प्रमुख ये हैं : पैपिलियानिडी (Papilionidae), निफैलिडी (Nymphalidae), मार्फिडी (Morphidae) तथा डनेडी (Danaidae)।

हिमालय का महत्व — भारत के उत्तरी मैदान के निर्माण, आर्थिक जीवन एवं जलवायु पर हिमालय का बहुत प्रभाव पड़ा है। यदि उत्तर में हिमालय न होता तो सिंध एवं गंगा का विशाल उपजाऊ मैदान आज मरुभूमि होता। हिमालय ही भारत की अधिकांश वर्षा का कारण है। गरमी के दिनों में हिमालय दक्षिण पश्चिमी मानसूनी हवाओं को भारत में ही रोक लेता है जिससे उत्तरी भारत के मैदान एवं हिमालय की भारतीय ढालों पर घोर वर्षा होती है। इस वर्षा के कारण अनेक नदियाँ हिमालय से निकलकर मैदान में बहती हैं, जिनसे बहुत सी मिट्टी बहकर सिंध गंगा के मैदान में एकत्र होती है जिससे भूमि उर्वरा हो जाती है। हिमालय के स्थायी हिमाच्छादित भागों में गरमी के मौसम में बर्फ पिघलती है जिसके कारण गंगा के मैदान की हिमालय से निकलनेवाली नदियों में ग्रीष्म में भी जल रहता है।

शीतकाल से ध्रुवीय ठंढी हवाओं के कारण मध्य एशिया का अधिकांश जम जाता है और वहाँ ठंढी हवाओं की आँधियाँ चलती हैं, पर हिमालय की ऊँची श्रेणियाँ इन हवाओं को भारत में आने से रोकती हैं और भारत शीतकाल में जमने से बच जाता है।

हिमालय की २,५०० किमी लंबाई उत्तर में भारत की सीमा बनाती है और भारत को उत्तरी एशिया से पृथक् करती है। इससे देश की सुरक्षा होती है। हिमालय में उत्तर पश्चिम में खैबर, बोलन, गोमल आदि दर्रे हैं जो भारत एवं मध्य एशिया के बीच प्राचीन व्यापारिक मार्ग हैं। हिमालय की तराई में घने वनों की पट्टियाँ हैं जिनसे उपयोगी लकड़ी, जड़ीबूटी आदि प्राप्त होती हैं। हिमालय की घाटियों में स्थित पहाड़ी नगर ग्रीष्म ऋतु में भारत के मैदानी प्रदेशों के लिये प्रमुख आकर्षण के स्थान हैं। काश्मीर तो विश्व भर के पर्यटकों के आकर्षण का केंद्र है। इससे भारत को पर्याप्त विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। श्रीनगर, शिमला, अल्मोड़ा, मसूरी, नैनीताल, दार्जिलिंग, शिलौंग आदि प्रसिद्ध पर्वतीय नगर हैं जहाँ लोग ग्रीष्म ऋतु में मैदानी गरमी से बचने के लिये आकर रहते हैं।

[अ० ना० मे०]

हिरण्याक्ष कश्यप और दिति का पुत्र और हिरण्यकशिपु का भाई। इसकी पत्नी का नाम उपदानवी तथा पुत्रों के नाम शबर, शकुनि, कालनाभ, महानाभ, उलूक तथा भूतसंतापन था (मत्स्य पु० ६.१४)। इसने देवताओं को त्रस्त कर रसातल में प्रवेश किया। वहीं वराह रूपधारी विष्णु द्वारा मार डाला गया। मार्कंडेयपुराण के अनुसार उसकी मृत्यु शाकद्वीप के सुमन पर्वत पर हुई।

[च० भा० पा०]

हिरॉडोटस यूनानी इतिहासकार का जन्म एशिया माइनर में केरिया (Caria) के हालीकारनासस (Halicarnassus) में ईसा से लगभग ४८४ वर्ष पूर्व हुआ था। उसने बड़े विस्तृत भूखंड का भ्रमण किया और इटली के थुरी बूटियम में लगभग ४२४ ई० पू० उसकी मृत्यु हुई।

हेरोडोटस ने यूनान और फारस के युद्ध (४६० ई० पू०–४७९ ई० पू०) से संबंधित 'हिस्टोरिया' (Historiae) के लिये हालीकारनासस को ४५७ ई० पू० में छोड़ा और तत्कालीन ज्ञात संसार के बहुत से देशों का भ्रमण किया। उसने फोनिशिया (Phoenicia), मिस्र, लिबिया, अरब, मेसोपोटामिया, एशिया माइनर, सीथिया (scythia) थ्रेस और यूनान की यात्रा की। तत्पश्चात् वह थूरी में निवास करने लगा और वहीं पर इतिहास लिखने का काम किया। यह इतिहास ९ खंडों में है और आइओनिक (Ionic) भाषा में लिखा हुआ है। इसमें फारस, लीडिया (Lydia) और मिस्र का पूर्वकालीन इतिहास है और विशेषकर यूनान और फारस के संघर्ष का उल्लेख है। यह इतिहास ४७९ ई० पू० तक का है। इसमें हमें माराथान (Marathon), थर्मोपाइली (Thermopylae) और सालामीज (Salamis) के बारे में बहुत सा ज्ञान प्राप्त होता है। इन ग्रंथों में भावाभिव्यक्ति इतनी उत्कृष्ट है कि प्राचीन काल से ही हिरोडोटस को फादर आव हिस्ट्री या 'इतिहास का जनक' कहा जाता है। उसकी पुस्तकों में इतिहास तथा भूगोल के विस्तृत वर्णन और रहन सहन तथा रीति रिवाज एवं ख्यातिप्राप्त महान् व्यक्तियों का चित्रण किया गया है। इस क्रम में एक बहुत बड़े इतिहासकार एडवर्ड गिब्बन (१७३७–१७९४ ई०) ने कहा है, 'हिरोडोटस कभी कभी बच्चों के लिये तो कभी कभी दार्शनिकों के लिये लिखता है'। प्रोफेसर डी० गाडले का ४ खंडों में 'हिरॉडोटस'

१६२०-२४ ई० में लंदन में प्रकाशित हुआ। यूनानी भाषा के साथ साथ अंग्रेजी अनुवाद अत्यंत सुंदर है। [श० ला० का०]

हिरोशिमा स्थिति : ३४° २३' उ० अ० एवं १३२° २८' पू० दे०। जापान के हांशू द्वीप के दक्षिणी तट पर स्थित यह नगर हिरोशिमा परफेक्चर की राजधानी, एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र एवं बंदरगाह है यह ओसाका के १८० मील पश्चिम में आंतरिक समुद्रतट पर हिरोशिमा खाड़ी पर सघन जनसंख्यावाले क्षेत्र के मध्य में स्थित है। इस नगर के समीप में ही इत्सुकू या इनाकु शिमा का पवित्र स्थान है। इनाकु शिमा का अर्थ प्रकाश द्वीप है जो बेंटेन नामक देवी को समर्पित है। इस द्वीप के कारण हिरोशिमा संपूर्ण जापान में विख्यात है। यह हांशू के अन्य भागों से नदी, रेल एवं नहरों से मिला हुआ है। सिल्क, सूती वस्त्र, यंत्र, जलयान, मोटर, रबर, फल एवं मत्स्य उद्योग उल्लेखनीय हैं। हिरोशिमा द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व एक महत्वपूर्ण औद्योगिक, रेलमार्ग केंद्र, बंदरगाह एवं सैनिक केंद्र था। ६ अगस्त, १९४५ को संयुक्त राज्य की सेनाओं ने इस नगर पर पहला परमाणु बम गिराया जिससे दो तिहाई भवन नष्ट हो गए एवं लगभग ८० हजार लोगों की मृत्यु हुई। इसके तीन दिन बाद नागासाकी पर बम गिराया गया और शीघ्र ही १४ अगस्त, १९४५ को जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया। मृतकों की संख्या के बराबर ही घायल, पंगु, रुग्ण एवं बीमारों की संख्या थी।

बम गिरने के स्थान पर एक अंतरराष्ट्रीय शांति चैत्य बनाया गया है। मिसेन (Misen) ५४० मी सर्वोच्च बिंदु है। यहाँ से नगर का दृश्य बहुत ही मनोहर लगता है। बहुत से मंदिर, चैत्य तथा पगोडा यहाँ हैं। हिरोशिमा में विश्वविद्यालय एवं संग्रहालय हैं।

इस नगर की जनसंख्या ४,३१,२८५ (१९६०) है।

[रा० प्र० सिं०]

हिशाम इब्न अल कालबी इराक में कूफाह का एक परिवार अल कालबी, जो ८वीं और ९वीं शताब्दियों मे उन्नति पर था। हिशाम के पिता अबुल नजर मुहंमद इतिहास तथा भाषाविज्ञान के अध्ययन में लीन रहते थे। उनकी मृत्यु २०४ से २०६ हिजरी (८१९-८२१ ई०) के बीच में हुई।

अबुल मुनजिर हिशाम ने अपने पिता की इतिहास अध्ययन की परंपरा को जारी रखा। रूढ़िवादी आलोचकों ने दोनों विद्वानों की प्राय: निंदा की है और उनपर जालसाजी का भी आरोप लगाया है किंतु आधुनिक अनुसंधान से इस बात की पुष्टि हो गई है कि उनके बहुत से मत सत्य हैं। उन्होंने ये मत प्राय: वैज्ञानिक पद्धति से निश्चित किए थे। [मु० या०]

हिसार हरियाणा राज्य (भारत) का एक जिला और नगर है। जिले की जनसंख्या १५,४०,५०८ (१९६१) तथा क्षेत्रफल ११,६१४·३५ वर्ग किमी० है। बीकानेर के महान् मरुस्थल के उत्तरपूर्वी सीमा पर यह जिला स्थित है। इसमें अधिकांशत: ठिगने वृक्ष और झाड़ियों से युक्त बलुए मैदान हैं जो दक्षिण में चलकर विशृंखलित एवं असम हो गए हैं। दक्षिण के उठे हुए चट्टानी पहाड़ सैकत सागर के द्वीप जैसे लगते हैं। अनिश्चित रूप से जल आपूर्ति करनेवाली घाघर एकमात्र नदी है। यमुना नहर जिला से होकर जाती है। जलवायु शुष्क है। कपास पर आधारित उद्योग होते हैं। भिवानी, हिसार, हाँसी तथा सिरसा मुख्य व्यापारिक केंद्र हैं। अच्छी नस्ल के साँड़ों के लिये हिसार विख्यात है।

मुस्लिम विजय के पूर्व हिसार का अर्ध बलुआ भाग चौहान राजपूतों का प्रधान स्थान था। १८वीं शताब्दी के अंत में भट्टी और भटियाना लोगों ने इसे अधिकृत किया था। १८०३ ई० में अंशत: यह ब्रिटिश अधिकार में आ गया किंतु १८१० ई० तक इनका शासन लागू न हो सका। १८५७ ई० के प्रथम स्वतंत्रता युद्ध, जिसे अंग्रेज सैनिक विद्रोह कहते हैं, के बाद निरापद रूप से, हिसार ब्रिटिश अधिकार में आ गया।

जिला मुख्यालय हिसार नगर में है। नगर की जनसंख्या ६०,२२२ (१९६१) तथा क्षेत्रफल १७·५३ वर्ग किमी है। दिल्ली से १५५ किमी उत्तर पश्चिम पश्चिमी यमुना नहर पर स्थित हिसार राजकीय पशु फार्म के लिये विशेष विख्यात है। सम्राट् फिरोजशाह ने १३५६ ई० में इसकी स्थापना की थी। १७८३ ई० के दुर्भिक्ष में हिसार प्राय: पूर्णत: जनहीन हो गया था, किंतु आयरलैंड के साहसी जार्ज थामस ने एक दुर्ग बनवाकर इसे पुन: बसाया।

[शां० ला० का०]

हिस्टीरिया (Hysteria) की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। बहुधा ऐसा कहा जाता है, हिस्टीरिया अवचेतन अभिप्रेरणा का परिणाम है। अवचेतन अंतर्द्वंद्व से चिंता उत्पन्न होती है और यह चिंता विभिन्न शारीरिक, शरीरक्रिया संबंधी एवं मनोवैज्ञानिक लक्षणों में परिवर्तित हो जाती है। रोगलक्षण में बाह्य लाक्षणिक अभिव्यक्ति पाई जाती है। तनाव से छुटकारा पाने का हिस्टीरिया एक साधन भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, अपनी विकलांग सास की अनिश्चित काल की सेवा से तंग किसी महिला के दाहिने हाथ में पक्षाघात संभव है।

अधिक विकसित एवं शिक्षित राष्ट्रों में हिस्टीरिया कम पाया जाता है। हिस्टीरिया भावात्मक रूप से अपरिपक्व एवं संवेदनशील, प्रारंभिक बाल्यकाल से किसी भी आयु के, पुरुषों या महिलाओं में पाया जाता है। दुर्लालित एवं आवश्यकता से अधिक संरक्षित बच्चे इसके अच्छे शिकार होते हैं। किसी दुःखद घटना अथवा तनाव के कारण दौरे पड़ सकते हैं।

रोग के लक्षण बड़े विस्तृत हैं। एक या एक से अधिक अंगों के पक्षाघात के साथ बहुधा पूर्ण संवेदनशीलता, जिसमें सुई अथवा चाकू से चुभाने की भी अनुभूति न हो, हो सकती है। अन्य लक्षणों में शरीर में अस्पष्ट ऐंठन (हिस्टीरिकल फिट) या शरीर के किसी अंग में ऐंठन, थरथराहट, बोलने की शक्ति का नष्ट होना, निगलते तथा श्वास लेते समय दम घुटना, गले या आमाशय में 'गोला'

जकना, बहरापन, हंसने या चिल्लाने का दौरा आदि है। रोग के लक्षण एकाएक प्रकट या लुप्त हो सकते हैं पर कभी कभी लगातार सप्ताहों अथवा महीनों तक दौरे बने रह सकते हैं। युद्धकाल में ऐसे रोगी भी पाए गए जो कुछ समय के लिये अथवा जीवनपर्यंत अपने को भूल गए हैं।

हिस्टीरिया का उपचार संवेदनात्मक व्यवहार, पारिवारिक समायोजन, शामक औषधियों का सेवन, सांत्वना, बहलाने, तथा पुनःशिक्षण से किया जाता है। समय समय पर पक्षाघातित अंगों के उपचार हेतु शामक औषधियों तथा विद्युत् उद्दीपनों की भी सहायता ली जाती है। रोग का पुनरावर्तन प्रायः होता रहता है।

[नि० न० गु०]

हीर रांझा पंजाब की प्रेमकथाओं में सबसे प्रसिद्ध और पुरातन किस्सा। हीर (नायिका) झंग (लाहौर के पश्चिम) के सरदार, चूचक स्याल की लड़की थी। रांझा (नायक) तख्त हजारे का रहनेवाला था। अपनी भाभियों के दुर्व्यवहार से तंग आकर वह झंग में आ गया। यहीं चिनाब के किनारे उसकी मुलाकात हीर से हुई। शीघ्र ही दोनों में प्रेम हो गया। रांझा चूचक की भैंसें चराने पर नौकर हो गया। हीर और रांझा का प्रेम बढ़ने लगा। बात खुल गई तो माँ बाप ने हीर को कहीं अन्यत्र ब्याह दिया। रांझा जोगी का वेश बनाकर वहाँ पहुँचा और हीर को निकाल लाया, किंतु विरोधियों ने उन्हें रास्ते में आ घेरा। इस किस्से के प्रथम कवि, दामोदर, के अनुसार एक मध्यस्थ के निर्णय से हीर रांझा को सौंप दी गई और वे दोनों मक्के की यात्रा पर चले गए। वारिस-शाह और उसके बाद के कवियों के किस्से दुखांत हैं। हीर ने माँ बाप के दिए विष से और रांझा ने हीर के वियोग में प्राण दे दिए।

लोकविश्वास के अनुसार यह घटना सच्ची बताई जाती है। हीर की समाधि झंग में स्थित है। दामोदर कवि अकबर के राज्यकाल में हुआ है। वह अपने को हीर के पिता चूचक का मित्र बताता है और कहता है कि यह सब मेरी आँखों देखी घटना है। दामोदर (१५७२ ई०) के बाद पंजाबी साहित्य में लगभग ३० किस्से 'हीर' या 'हीर रांझा' नाम से उपलब्ध हैं जिनमें गुरुदास (१६०७), अहमद गूजर (१६९२), गुरु गोविंदसिंह (१७००), मियाँ चिराग आवान (१७१०), मुकबल (१७५५), वारिसशाह (१७७५), हामिदशाह (१८०५), हाशिम, अहमदयार, पीर मुहम्मद बख्श, फजलशाह, मौलाशाह, मौलाबख्श, भगवानसिंह, किशनसिंह आरिफ (१८८९), संत हजारासिंह (१८९४), और गोकुलचंद शर्मा के किस्से सर्वविदित हैं, किंतु जो प्रसिद्धि वारिसशाह की कृति को प्राप्त हुई वह किसी अन्य कवि को नहीं मिल पाई। नाटकीय भाषा, अलंकारों और अन्योक्तियों की नवीनता, अनुभूति की विस्तृति, आचार व्यवहार की आदर्शवादिता, इश्क मजाजी से इश्क हकीकी की व्याख्या, वर्णन और भाव का ओज इत्यादि इनके किस्से की अनेक विशेषताएँ हैं। इसमें बैत छंद का प्रयोग अत्यंत सफलतापूर्वक हुआ है। ग्रामीण जीवन के चित्रण, दृश्यवर्णन, कल्पना और साहित्यिकता की दृष्टि से मुकबल का 'हीर रांझा' वारिस की 'हीर' के समकक्ष माना जा सकता है।

[ह० बा०]

हीरा (Diamond) बहुमूल्य पत्थरों में हीरा का स्थान सर्वोच्च है। युगों से यह राजपरिवारों और समृद्ध व्यक्तियों के आभूषण का मुख्य अंग रहा है। भारत प्राचीन समय से ही हीरों का उत्पादक रहा है और विश्व के सुंदरतम तथा विशालतम हीरों में भारत की देन अनुपम है। किंतु दो तीन शताब्दियों से, जब से दक्षिणी अफ्रीका के किंबरली प्रदेश में हीरों की अत्यंत उत्पादक खानें मिली हैं, भारतीय हीरे के उद्योग को पर्याप्त आघात पहुँचा है। गत कुछ वर्षों से इस उद्योग को पुनः बढ़ावा मिल रहा है और आशा की जाती है कि हीरों के खनन का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर यह उद्योग प्रगति-पथ पर द्रुत गति से अग्रसर होगा।

रासायनिक संरचना तथा भौतिक गुण — हीरा कार्बन का ही शुद्ध रूप है। अधिकतर यह वर्णहीन होता है, यद्यपि कभी कभी इसमें पीले अथवा नीले वर्ण की एक साधारण सी झलक रहती है। मोह के कठोरता मापदंड में इसकी कठोरता १० है अर्थात् यह विश्व का सर्वाधिक कठोर पदार्थ है। ये भंगुर होते हैं। हीरे के क्रिस्टल अधिकतर अष्टफलकीय (Octahedral) होते हैं तथा ऐसा समझा जाता है कि ये दो चतुष्फलकीय के संयोग से बने हैं। हीरों में विदलन तल अष्टफलकीय तलों के अनुप्रस्थ होता है। इसकी विशेष द्युति को हीरक द्युति (Admantine) कहते हैं। कुछ गहरे वर्ण के सघन क्रिस्टलीय हीरे 'कृष्ण हीरे' या बोर्ट (Bort) कहलाते हैं।

प्राप्तिस्थान — भारत में हीरा कैंब्रियनपूर्वयुग की जीवाश्म-हीन शिलाओं में प्राप्त होता है जो क्रमशः उत्तर और दक्षिण भारत में विंध्यन क्रम तथा कडप्पा (Cuddapah) एवं कर्नूल क्रम के नाम से विख्यात हैं।

भौगोलिक दृष्टि से देश के हीरकमय प्रदेश तीन भागों में वर्गीकृत किए जा सकते हैं : (१) मध्यभारतीय क्षेत्र, (२) दक्षिणी तथा (३) पूर्वी क्षेत्र।

[१] मध्यभारतीय क्षेत्र

भारत के हीरों का उत्पादन पूर्ण रूप से प्रायः इसी क्षेत्र में होता है तथा अन्य क्षेत्रों का उत्पादन अत्यंत नगण्य अथवा शून्य ही समझा जा सकता है। यह क्षेत्र लगभग ९६ किमी लंबा और १६ किमी चौड़ा है तथा इसके अंतर्गत पन्ना, अजयगढ़, चरखारी, कबार, कोठी, पठार, चौबेपुर तथा बरौंधा आदि स्थान आते हैं। स्थानीय हीरकमय शैल की जातियों के आधार पर यह क्षेत्र पुनः तीन भागों में विभक्त किया गया है।

(क) हीरकमय संपिंडित शैल — संपीडित शैलस्तर ही इस क्षेत्र में हीरों का प्रधान स्रोत है। कुछ क्षेत्रीय लोग इन्हें मुड्ढा के नाम से जानते हैं। इसकी दो मुख्य स्तरें हैं जिनमें एक विंध्यन क्रम के अंतर्गत कैमूर तथा रीवा श्रेणियों के मध्य तथा दूसरी रीवा और भांडेर श्रेणी के मध्य स्थित हैं। कैमूर और रीवा के बीच स्थित स्तर हीरों का मुख्य उत्पादक है। इस मुड्ढे की मोटाई लगभग २ मी है जिसमें विभिन्न

प्रकार के जेस्परमय (Jasper bearing) पिंड एवं प्रस्तर वटियाँ हैं। हीरों के मूल स्रोत के संबंध में अभी भी मतभेद है। पन्ना से १६ किमी की दूरी पर मझगवाँ में एक विशिष्ट हीरकमय संपिंडित पहाड़ी पाई गई है जो ज्वालामुखी उद्भव की है तथा बहुत कुछ अंशों में किंबरली प्रदेश (अफ्रीका) के पीलों के समान है जिससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि कुछ हीरे अवश्य ही मझगवाँ के संपिंडित पीलों से प्राप्त हुए होंगे।

(ख) हीरकमय पृथुसिकम तथा बजरी — भौतिक दृष्टि से अत्यंत कठोर एवं रासायनिक शुद्धता के कारण, सामान्यतः हीरे पर ऋतुक्षारण (Weathering) का प्रभाव नहीं होता। पूर्व-अर्वाचीन (Pre-Recent) तथा अर्वाचीन युगों में विध्यन क्रम की कुछ शिलाएँ अपरदन (erosion) तथा विखंडन द्वारा पृथुसिकम तथा बजरी में परिवर्तित हो गईं किंतु हीरे प्रभावहीन ही रहे। इस प्रकार हीरकमय स्तरों ने अपरदन और विखंडन द्वारा प्रभावित हो बालू और बजरी को जन्म दिया।

(ग) हीरकमय ज्वालाश्मचय (Diamondiferous Agglomerate) —पन्ना के समीप मझगवाँ में हीरों का एक प्राथमिक निक्षेप पाया जाता है। इसमें सरपेंटीन की अधिकता है जिसमें श्वेत कैल्साइट का इस प्रकार प्रवेश हुआ है कि एक जाल सा बन गया है। लोह अभ्रक के कण भी इसमें अधिकता से पाए जाते हैं। इस शैल के दृश्यांश का आकार नासपाती जैसा ही है जिसकी अधिकाधिक लंबाई तथा चौड़ाई क्रमशः ४८० मी तथा ३०० मी है। इसके चारों ओर बालु पत्थर (Sandstone) की शिलाएँ हैं। भूविज्ञानी श्री के० पी० सिनोर के निरीक्षण से ऐसा ज्ञात होता है कि यह पातालीय तथा संभवतः ज्वालामुखीय ग्रीवा प्रदर्शित करती है।

सन् १९५० ई० में दक्षिण अफ्रीका की ऐंग्लो अमरीकन कार्पोरेशन के खनन इंजीनियर श्री ए० जैमसन हेरीसन तथा प्रधान भूविज्ञानी डा० ए० ई० वाटर्स ने इस क्षेत्र के हीरों के उत्पादन के संबंध में कुछ विशिष्ट आँकड़े प्रस्तुत किए। उनके अनुसार सामान्यतः हीरों की मात्रा की दर एक कैरट प्रति १००० घन फुट हुई। सन् १९५४-५५ में भारतीय भूविज्ञान सर्वेक्षण तथा भारतीय खान ब्यूरो द्वारा भी इस क्षेत्र का विस्तृत सर्वेक्षण किया गया जिससे यह ज्ञात हुआ कि प्रति १०० टन शैल से प्रायः १२·५ कैरट हीरे प्राप्त होते हैं जिनका औसत मूल्य १७५० रुपए के लगभग होता है।

[२] दक्षिणी क्षेत्र

कर्नूल क्रम के अंतर्गत बानगनापल्ली स्तरसमूह हीरकमय है। यह क्षेत्र कडप्पा, अनंतपुर, कर्नूल, कृष्णा, गुंटूर एवं गोदावरी जिलों में फैला हुआ है। इन स्थानों में शिलाओं के अपरदन और विखंडन से प्राप्त बजरी एवं जलोढक हीरकमय होती है और इसीलिये वर्षा के पश्चात् कभी कभी अनायास ही हीरे पृथ्वी के ऊपर ही मिल जाते हैं।

कृष्णा जिले में हीरे, कोलापिल्ली बालु पत्थर के साहचर्य में मिलते हैं। इस क्षेत्र के मुख्य उत्पादन केंद्र परतिआल तथा गोलपिल्ली हैं जहाँ हीरकमय जलोढक तथा बजरी में हीरों की खानें स्थित हैं।

[३] पूर्वी क्षेत्र

इस क्षेत्र के मुख्य उत्पादन केंद्र महानदी की घाटी स्थित संबलपुर व चाँदा जिलों में हैं। अन्य क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में भी नदी की जलोढक तथा बजरी हीरकमय हैं। विंध्यन एवं कर्नूल क्रमों के स्तरों में तो अभी तक हीरे देखने को नहीं मिले हैं। जहाँ तक खनन का प्रश्न है, नदी की बालू ही सीमा है।

हीरों का खनन — आज भी हीरों का खनन प्राचीन विधियों से ही होता है क्योंकि परिस्थितिवश यह आर्थिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से सर्वोत्तम है। खनन में मानवी शक्ति की ही प्रधानता है तथा फावड़े, कुदाली, सब्बल, घन और छेनी आदि का ही प्रयोग किया जाता है। खानें अधिकतर खुली हुई गड्ढे की तरह हैं, यद्यपि कहीं कहीं सुरंगों के अंदर भी खुदाई की जाती है। यह सब उस क्षेत्र की परिस्थितियों तथा कुछ आर्थिक एवं व्यावहारिक पहलुओं पर निर्भर करता है कि खनन का क्या रूप हो। कुछ समय से मझगवाँ की खानों को आधुनिक यंत्रों से सुसज्जित करने की योजनाएँ चल रही हैं जो उत्पादनवृद्धि में सहायक होंगी।

हीरे निकालने की विधियाँ — मध्यभारतीय क्षेत्र में जहाँ शैलस्तरों में हीरे मिलते हैं, खुदाई द्वारा हीरे निकाले जाते हैं। यहाँ पर शिलाएँ इतनी कठोर होती हैं कि कुछ गहरे गड्ढे करने के पश्चात् आगे और शिलाओं को तोड़ना अत्यंत कठिन हो जाता है अतः इन्हें पहिले ईंधन द्वारा तपाते हैं। पर्याप्त तप्त हो जाने पर तीव्रता से पानी डाल दिया जाता है जिससे अति शीघ्रता से तापपरिवर्तन होता है फलतः शिलाएँ टूट जाती हैं। तत्पश्चात् शिलाओं के इन खंडों को घन द्वारा तोड़कर चूरा कर देते हैं। इस चूरे को सुखाकर इसमें से हीरे बीन बीनकर निकाल लिए जाते हैं।

हीरकमय जलोढक तथा बजरी के खनन की विधि अत्यंत साधारण है। साधारण यंत्रों से खोदकर तथा पानी से धोकर हीरे निकाले जाते हैं। यही विधि हीरों के दक्षिणी एवं पूर्वी क्षेत्रों में प्रयोग की जाती है। कहीं कहीं पर ये स्तर साधारण मिट्टी से आच्छादित रहते हैं। ऐसे स्थानों पर पहले ऊपर की परतें हटाई जाती हैं। इसके लिये अधिकतर सीढ़ी जैसी वेदी (Terrace) बना दी जाती है फिर नीचे खुदाई की जाती है। रामखिरिया की खानें इसी प्रकार की हैं।

मझगवाँ क्षेत्र में सारे कार्य अब धीरे धीरे आधुनिक यंत्रों से होने लगे हैं। पत्थर और मिट्टी की खुदाई, ढुलाई, चूरा करने तथा धोने आदि सभी में ये यंत्र प्रयोग किए जाते हैं। हीरे चुनने का कार्य भी यंत्रों द्वारा ही संचालित होता है।

भारत में हीरों का उद्योग और उसका भविष्य — यद्यपि प्राचीन तम काल से ही भारत हीरों का उत्पादक रहा, तथापि १९२७ ई० तक उत्पादन नितांत अल्प था। इसके पश्चात् उत्पादन में वृद्धि के लक्षण दृष्टिगोचर हुए। सन् १९४१ के उपरांत कुछ विशेष वृद्धि होती दिखाई दी। मात्रा की दृष्टि से सर्वाधिक उत्पादन सन् १९५० में हुआ जबकि प्राप्त हीरों का भार २७९९ कैरट था जिनका मूल्य ४,१७,८५७ रु० हुआ था। मूल्य को ध्यान में रखते हुए उत्पादन

सन् १९५३ में सर्वाधिक हुआ जब २२०७ कैरट का मूल्य ५,६१,६१० रु० प्राप्त हुआ। देश की आंतरिक खपत पर दृष्टि रखते हुए यह अत्यंत आवश्यक है कि हीरों का उत्पादन बढ़ाया जाय। अतः गत कुछ वर्षों से भारत सरकार ने भी इसमें विशेष रुचि ली है। पन्ना के सभी हीरकमय क्षेत्रों में भूभौतिकीय विधियों से सर्वेक्षण तथा अन्वेषण कार्य द्रुत गति पर हैं। कुछ रूसीविशेषज्ञों ने हाल ही में हीरों के खननक्षेत्रों का निरीक्षण किया था। इन विशेषज्ञों के अनुसार यदि सारी खानें पूर्णरूपेण यंत्रों द्वारा संचालित की जायें तो प्रति दिन का उत्पादन १८८५ कैरट तक पहुँच सकता है। सन् १९५७ में हीरों का उत्पादन ७६० कैरट था जिसका मूल्य १,६८,००० रु० प्राप्त हुआ।

विश्व के प्रसिद्ध हीरे — 'कोहनूर' जब इंग्लैंड ले जाया गया तब उसका भार १८६ कैरट, आबदार रत्न के रूप में कटाई के पश्चात् १०६ कै०। 'ग्रौरलाफ'–१९४ कै०; 'रीजेंट' अथवा 'पिट' १ ७ कै०; फ्लोरेंटाइन अथवा ग्रैंड ड्यूक ग्रॉव टस्कैनी' — १३३ कैरट, 'दक्षिण का सितारा' (जो ब्राजील में मिला) — २४५ कै० काटने से पूर्व तथा १२५ कै० काटने के पश्चात्, नारंगी-पीला तिफैनी १२५ कैरट।

अपने रंग तथा दुर्लभता के लिये प्रसिद्ध हीरे — हरा ड्रेसडन — ४० कैरट तथा गहरा नीला 'होप' (यह भारत में मिला है) — ४४ कैरट।

दक्षिण अफ्रीका में कुछ बहुत बड़े हीरे प्राप्त हुए हैं जिनमें उल्लेखनीय जागर्स फौंटेन खदान से प्राप्त एक्सेलसियर ६९६ कैरट; जुबली ६३४ कैरट, तथा इंपीरियल — ४५७ कैरट आदि हैं।

विश्व का विशालतम हीरा 'कुलिनन' अथवा 'स्टार ग्रॉव अफ्रीका' जिसका भार जब वह मिला ३०२५ कैरट (१½ पाउंड से भी ऊपर) था, सन् १९०५ में 'प्रीमियर' खदान से प्राप्त हुआ। इसे ट्रांसवाल विधानसभा ने इंगलैंड के सप्तम एडवर्ड को भेंट किया था। बाद में इसे १०५ टुकड़ों में काट दिया जिनमें से भी दो क्रमशः ५१६ और ३०९ कैरट के वर्तमान कटे हीरों में विशालतम है।

[वी० एस० दु०]

हीराकुड भारत के उड़ीसा राज्य के संबलपुर जिले में इब और महानदी के संगम पर स्थित यह कस्बा है। इस स्थान की प्रसिद्धि का कारण यहाँ बन रहा हीराकुड बाँध है। यहाँ स्वर्णधूल एवं हीरा भी प्राप्त होता है। महानदी मध्य प्रदेश के पठार से निकलकर पूर्व की ओर बहती हुई बंगाल की खाड़ी में गिरती है। इस नदी पर संबलपुर नगर से १४ किमी पश्चिम की ओर ४७७७ मी लंबे, १६० मी ऊँचे हीराकुड बाँध का निर्माण कार्यचल रहा है। यह बाँध विश्व का सबसे लंबा बाँध है। इसके अतिरिक्त संबलपुर और कटक के बीच दो बाँध बनाने की योजना है। हीराकुंड जलाशय का क्षेत्रफल १,७७,६०० एकड़ है और इससे १,७८५ एकड़ जमीन की सिंचाई होगी तथा १२३ हजार किलोवाट बिजली बनेगी। इस योजना से उड़ीसा के लौह उद्योग के उन्नत होने की पूर्ण संभावना है। राजगंगपुर में एक सीमेंट का कारखाना स्थापित किया गया है जिसको विद्युत् शक्ति हीराकुड बाँध से दी जाती है। [प्र० ना० मे]

हीलियम अक्रिय गैसों का एक प्रमुख सदस्य है। इसका संकेत ही (He), परमाणुभार ४, परमाणुसंख्या २, घनत्व ०·१७८५, क्रांतिक ताप—२६७·६०० और क्रांतिक दबाव २·२६ वायुमंडल, क्वथनांक -२६८·६० सें० और गलनांक -२७२° सें० है। इसके दो स्थायी समस्थानिक He^3, परमाण्विक द्रव्यमान ३·०१७० और He^4 परमाण्विक द्रव्यमान ४·००३९ और दो अस्थायी समस्थानिक He^5 परमाण्विक द्रव्यमान ५·०१३७ और रेडियोऐक्टिव He^6, परमाण्विक द्रव्यमान ६·०२०८ पाए गए हैं।

१८६८ ई० में सूर्य के सर्वग्रास ग्रहण के अवसर पर सूर्य के वर्णमंडल के स्पेक्ट्रम में एक पीली रेखा देखी गई थी जो सोडियम की पीली रेखा से भिन्न थी। जानसेन ने इस रेखा का नाम D_3 रखा और सर जे० नार्मन लॉकयर इस परिणाम पर पहुँचे कि यह रेखा किसी ऐसे तत्व की है जो पृथ्वी पर नहीं पाया जाता। उन्होंने ही हीलियस (Helios, ग्रीक शब्द, अर्थात् सूर्य) के नाम पर इसका नाम हीलियम रखा। १८९४ ई० में सर विलियम रामजेम ने क्लीवाइट नामक खनिज से निकली गैस की परीक्षा से सिद्ध किया कि यह गैस पृथ्वी पर भी पाई जाती है। क्लीवाइट को तनु सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ गरम करने और शुष्क क्लीवाइट को निर्वात में गरम करने से इस गैस को प्राप्त किया था। ऐसी गैस में ८० प्रतिशत नाइट्रोजन था। नाइट्रोजन के निकाल लेने पर गैस के स्पेक्ट्रम परीक्षण से स्पेक्ट्रम में D_3 रेखा मिली। पीछे पता लगा कि कुछ उल्कालोह में भी यह गैस विद्यमान थी। रामजे और ट्रैवर्स ने इस गैस की बड़े परिश्रम और बड़ी सूक्ष्मता से परीक्षा कर देखा कि यह गैस वायुमंडल में भी रहता है। रामजे और फ्रेडरिक सॉडी ने रेडियोऐक्टिव पदार्थों के स्वतःविघटन से प्राप्त उत्पाद में भी इस गैस को पाया। वायुमंडल में बड़ी अल्प मात्रा (१८,६०० में एक भाग), कुछ अन्य खनिजो जैसे योरानाइट और मोनेज़ाइट से निकली गैसों में यह पाया गया। मोनेज़ाइट के प्रति एक ग्राम में १ घन सेमी गैस पाई जाती है। पेट्रोलियम कूपों से निकली प्राकृतिक गैस में इसकी मात्रा १ प्रतिशत से लेकर ८ प्रतिशत तक पाई गई है।

उत्पादन — प्राकृतिक गैस के धोने से कार्बन डाइग्रॉक्साइड और अन्य अम्लीय गैसें निकल जाती हैं। धोने में मोनोइथेनोलेमिन और ग्लाइकोल मिला हुआ जल प्रयुक्त होता है। धोने के बाद गैस को सुखाकर उसे OF से ३००° ताप तक ठंढा करते हैं। उस ताप पर प्रति वर्ग इंच ६०० पाउंड से अधिक दबाव डालते हैं। इससे हीलियम और कुछ नाइट्रोजन को छोड़कर अन्य सब गैसें तरलीभूत हो जाती हैं। अब हीलियम (५० प्रतिशत) और नाइट्रोजन (५०%) का मिश्रण बच जाता है। इसे और ठंढा कर प्रति वर्ग इंच २५०० पाउंड दबाव से दबाते हैं जिससे अधिकांश नाइट्रोजन तरलीभूत हो जाता है और हीलियम की मात्रा ९८·२% तक पहुँच जाती है। यदि इससे अधिक शुद्ध हीलियम प्राप्त करना हो तो सक्रियकृत

नारियल के कोयले को द्रव नाइट्रोजन के ऊष्मक में रखकर उसके द्वारा हीलियम को पारित करते हैं जिससे केवल लेशमात्र अपद्रव्यवाला हीलियम प्राप्त होता है।

गुण — वर्णरहित, गंधहीन और स्वादहीन गैस है। ताप-ध्वनि और विद्युत का सुचालक है। जल में अल्प विलेय है। अन्य विलायकों में अधिक घुलता है। इसका तरलन हुआ है। द्रव हीलियम दो रूपों में पाया गया है। इसका घनत्व ०·१२२ है। इसका ठोसीकरण भी हुआ है। तरल द्रव के १४० वायुमडल दबाव पर २७२° से० पर कीसम ने १९२६ ई० में ठोस हीलियम प्राप्त किया था। इसकी गैस में केवल एक परमाणु रहता है। इसकी विशिष्ट ऊष्माओं का अनुपात ४ : १·६६७ है। किसी भी तत्व के साथ यह कोई यौगिक नहीं बनता। इसकी संयोजकता शून्य है। आवर्तसारणी में इसका स्थान प्रथम समूह के प्रबल विद्युत् धनीय तत्वों और सप्तम समूह के प्रबल विद्युत् ऋणीय तत्वों के बीच है।

उपयोग — वायुपोतों में हाइड्रोजन के स्थान में अब हीलियम का प्रयोग होता है यद्यपि हाइड्रोजन की तुलना में इसकी उत्थापक क्षमता ९२·६ प्रतिशत ही है पर हाइड्रोजन के ज्वलनशील होने और वायु के साथ विस्फोटक मिश्रण बनने के कारण इसका ही अब उपयोग हो रहा है। मौसम का पता लगाने के लिये बैलूनों में भी हीलियम का आज उपयोग हो रहा है। हल्की धातुओं के जोडन और अन्य धातुकर्मसंबंधी उपचारों में निष्क्रिय वायुमडल के लिये हीलियम काम में आ रहा है। ओषधियों में भी विशेषत: दमे और अन्य श्वसन रोगों में आक्सीजन के साथ मिलाकर कृत्रिम श्वसन में हीलियम का उपयोग बढ़ रहा है। [स० व०]

हुगली पश्चिमी बंगाल का एक जिला है जो २२° ३६' से २३° १४' उ० अ० तथा ८७° ३०' से ८८° ३०' पू० दे० रेखाओं के बीच फैला है। इसके उत्तर में बर्दवान, दक्षिण में हावड़ा तथा पश्चिम में मिदनापुर एवं बाँकुड़ा जिले हैं। पूरब में हुगली नदी इसकी सीमा निर्धारित करती है। इस जिले का क्षेत्रफल ३११३ वर्ग किमी एवं जनसंख्या २२,११,४१८ (१९६१) है। हुगली, दामोदर तथा रूपनारायण इस जिले की प्रमुख नदियाँ हैं। नदियों के बीच विस्तृत असमतल क्षेत्र मिलते हैं। दानकुनी, बालि तथा दनकी उल्लेखनीय दलदली क्षेत्र हैं। इस जिले में प्रधानत: धान की खेती होती है। यह जिला उद्योग के दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण है। हुगली, चंदरनगर तथा सिरामपुर मुख्य नगर हैं।

हुगली नगर २२° ५५' उ० एवं ८८° २४' पू० दे० पर बसा है। हुगली चिनसुरा की कुल जनसंख्या ८३,१०४ (१९६१) है। [ज० सि०]

हुगली नदी गंगा नदी की एक शाखा है जो पश्चिमी बंगाल में बहती है। यह मुर्शिदाबाद जिले में गंगा से अलग होकर डायमंड हारबर के पास बंगाल की खाड़ी में गिरती है। कलकत्ता, हावड़ा तथा कलकत्ता के अनेक औद्योगिक उपनगर इसके किनारे बसे हैं। इस नदी में ज्वार आता है जिसके सहारे समुद्री जहाज कलकत्ता तक पहुँच जाते हैं। यही कारण है कि इसके द्वारा काफी व्यापार होता है। जूट तथा सूती कपड़े के कारखाने इसके किनारे अधिक हैं। समुद्र में गिरने से कुछ पहले इसमें दामोदर तथा रूपनारायण नदियाँ मिलती हैं। [ज० सि०]

हुबली स्थिति : १५° २०' उ० अ० तथा ७५° ९' पू० दे०। यह नगर भारत गणराज्य के मैसूर राज्य में धारवाड़ जिले में है। यह धारवाड़ नगर से २४ किमी दक्षिण पूर्व में स्थित है और दक्षिणी रेलवे का जंकशन है। यह कपास, अनाज, नमक, ताँबे के बरतन, साबुन एवं खाद के व्यापार का प्रमुख केंद्र है। नगर में सूत कातने, कपास ओटने और गाँठ बाँधने के कारखाने हैं। यहाँ रेलवे का वर्कशाप तथा वस्त्र बुनने की मिल है। यहाँ सेना की छावनी है। नगर की जनसंख्या १,७१,३२६ (१९६१) है। [अ० ना० मे०]

हुमायूँ (१५०८-१५५६) प्रथम मुगल सम्राट्, जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर के ज्येष्ठ पुत्र नसीरुद्दीन मुहम्मद हुमायूँ मिर्जा का जन्म बाबर की शिया पत्नी माहम बेगम के गर्भ से, काबुल के दुर्ग में हुआ था। उसे सैनिक शिक्षा के अतिरिक्त, अरबी फारसी तथा तुर्की भाषा की समुचित शिक्षा दी गई थी। १५२३ से १५२९ तक वह बदख्शाँ का शासक रहा। बाबर के भारतीय अभियान में वह अपने पिता के साथ था तथा पानीपत के प्रथम युद्ध में मुगल सेना के दाहिने चक्र का सेनापति था। उसके पश्चात् उसने आगरे पर अधिकार किया। खानवा के युद्ध में वह मुगल सेना के दाहिने चक्र का नेता था। अप्रैल, १५२७ में वह बदख्शाँ लौट गया तथा दो वर्ष पश्चात् पुन: भारत वापस आया। १५३० ई० की ग्रीष्म ऋतु में अल्पविरामी ज्वर से उसकी अवस्था अत्यंत शोचनीय हो गई। अपने पुत्र की जान बचाने के लिये बाबर ने हुमायूँ के स्थान पर अपना जीवन देने की भगवान् से प्रार्थना की। संयोगवश हुमायूँ स्वस्थ हो गया और बाबर की अवस्था बिगड़ती गई। २६ दिसंबर को बाबर की मृत्यु हुई और उसके चार दिन बाद हुमायूँ गद्दी पर बैठा।

हुमायूँ को अपने पिता से रिक्त राजकोश, असंगठित साम्राज्य तथा अविश्वसनीय सेना प्राप्त हुई। सबसे कठिन समस्या उसके भाइयों की थी। हुमायूँ के तीन भाई कामरान, अस्करी तथा हिंदाल थे। इनमें कामरान सबसे उग्र था। तैमूरी परंपरा के आधार पर हुमायूँ ने साम्राज्य का विभाजन कर दिया। इस तरह कामरान को काबुल तथा कंधार, अस्करी को संभल तथा हिंदाल को अलवर प्राप्त हुआ। कामरान के पंजाब में प्रवेश करने के पश्चात् उसे संतुष्ट करने के लिये उसे पंजाब तथा हिसार फिरोजा भी दे दिए गए। इस तरह मुगल साम्राज्य को गृहयुद्ध से बचा लिया गया। हुमायूँ के बाह्य शत्रुओं में अफगान तथा गुजरात के शासक प्रमुख थे।

प्रारंभिक घटनाओं में अफगानों की दादरा के युद्ध में पराजय (जुलाई अगस्त, १५३१) तथा दीनपनाह नामक नगर (दिल्ली में) की स्थापना थी। गुजरात का शासक बहादुरशाह योग्य, जनप्रिय, शक्तिशाली तथा महत्वाकांक्षी था। उसने मालवा, रायसीन तथा निकट के कई स्थानों पर अधिकार कर लिया। मुगलों के शत्रुओं

को उसने अपने दरबार में शरण दी तथा दिल्ली पर अधिकार करने की योजना बनाई। हुमायूँ ने प्रारंभ में शांति से समस्या का समाधान करना चाहा, किंतु इसमें विफल होकर उसने गुजरात पर आक्रमण किया। नवंबर, १५३४, में बहादुरशाह चित्तौड़ के दुर्ग का घेरा डाले हुए था। हुमायूँ के अभियान की सूचना पाकर वह शीघ्रता से चित्तौड़ से संधि कर गुजरात की तरफ बढ़ा। मंदसौर नामक स्थान पर दोनों सेनाएँ एक दूसरे को घेरे पड़ी रहीं। अपने विश्वसनीय उमरावों से विश्वासघात के भय से बहादुरशाह मंदसौर से भाग गया। हुमायूँ ने उसका पीछा किया। बहादुरशाह ने द्यू में शरण ली। बिना किसी विशेष संघर्ष के पूरा गुजरात हुमायूँ के अधिकार में आ गया। अपने भाई अस्करी को गुजरात का गवर्नर नियुक्त करके बादशाह स्वयं मालवा चला गया। इसी बीच अस्करी की मूर्खताओं तथा बहादुरशाह की जनप्रियता के कारण गुजरात में मुगलों के विरुद्ध मुक्ति आंदोलन प्रारंभ हुआ और कुछ ही दिनों में अस्करी को वहाँ से भागना पड़ा। हुमायूँ को फरवरी, १५३७ ई० में आगरा वापस आना पड़ा।

इस बीच शेरखाँ ने बंगाल तथा बिहार में अपनी शक्ति बढ़ा ली थी। १५३७ में हुमायूँ शेरखाँ के विरुद्ध आगरे से रवाना हुआ। मार्ग में चुनार के दुर्ग पर अधिकार करने में उसे काफी समय लगा (जनवरी से जून, १५३८ ई०)। मनेर में हुमायूँ तथा शेरखाँ के बीच संधि की शर्तें निश्चित सी हो गई थीं, किंतु इसी बीच बंगाल के पराजित शासक के पहुँचने तथा बंगाल विजय की आशा दिलाने पर वह बंगाल की तरफ अग्रसर हुआ। शेरखाँ ने खुलकर मुगलों से युद्ध नहीं किया तथा बंगाल की राजधानी गौड़ पर हुमायूँ का अधिकार हो गया। दुर्भाग्यवश हुमायूँ कई महीने गौड़ में पड़ा रहा। उसने शासन में भी विशेष रुचि नहीं ली। इस बीच उसका भाई हिंदाल बंगाल से भागकर आगरा पहुँच गया। कामरान भी आगरा पहुँच गया। १५३९ ई० के प्रारंभ में हुमायूँ गौड़ से रवाना हुआ। चौसा के मैदान में अफगानों तथा मुगलों के बीच २६ जून को भीषण संघर्ष हुआ। मुगल पराजित हुए तथा हुमायूँ को निजाम नामक भिश्ती के मशक की सहायता से नदी पार करनी पड़ी। आगरे लौटकर हुमायूँ ने अपने भाइयों को संगठित करना चाहा किंतु उसे सफलता न मिली। इस बीच शेरखाँ ने पूर्वी भागों पर अधिकार कर लिया था तथा आगरा की ओर बढ़ रहा था। हुमायूँ ने पुनः अपना भाग्य आजमाना चाहा, किंतु कन्नौज की लड़ाई में (१७ मई, १५४०) पुनः पराजित हुआ। यहाँ से भागकर वह आगरा होते हुए लाहौर पहुँचा। यहाँ भी उसके भाइयों ने उसका विरोध किया और विवश होकर उसे सिंध तथा राजपूताना के भागों में जाना पड़ा। पंजाब पर शेरशाह ने अधिकार कर लिया।

२१ अगस्त, १५४१ को सिंध में हुमायूँ ने हमीदा बानो से विवाह किया। मई, १५४२ में वह जोधपुर गया। यहाँ के शासक मालदेव ने लगभग एक वर्ष पूर्व उसे आमंत्रित किया था। इस बीच परिस्थिति बदल चुकी थी। उसे संदेह हुआ कि सहायता के स्थान पर कहीं मालदेव उसे बंदी न बना लें क्योंकि शेरशाह का दूत जोधपुर में पहुँच चुका था। हुमायूँ को अमरकोट में शरण मिली। यहीं १५ अक्टूबर, १५४२ ई० को अकबर का जन्म हुआ। भारत में कोई आशा न देखकर हुमायूँ ईरान की तरफ रवाना हुआ।

ईरान निवास के समय वहाँ के शिया शासक शाह तहमास्प से हुमायूँ का मतभेद हो गया किंतु बाद में शाह ने उसे एक सेना दी। हुमायूँ ने कंधार तथा काबुल पर अधिकार किया। १५४५ से १५५३ का समय भाइयों के संघर्ष की करुण कहानी है। चार बार काबुल पर कामरान ने अधिकार किया और चार बार हुमायूँ ने पुनः वापस लिया। अंत में हिंदाल मारा गया, अस्करी निष्कासित हुआ तथा कामरान अंधा बना दिया गया।

इसी समय शेरशाह के पुत्र इस्लामशाह की मृत्यु से सूर साम्राज्य विघटित हो गया। नवंबर, १५५४ में हुमायूँ ने पंजाब पर आक्रमण किया तथा माछीवाड़ा और सरहिंद के युद्धों में अफगानों को पराजित कर दिल्ली तथा आगरे पर अधिकार किया। इन विजयों में बैरमखाँ का प्रमुख हाथ था। २६ जनवरी, १५५६ ई० को अपने पुस्तकालय की सीढ़ी से गिर जाने के परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हो गई।

हुमायूँ अच्छे डील डौल का, गेहुएँ रंग का आकर्षक व्यक्ति था। वह कई भाषाओं का विद्वान था। वह फारसी में कविताएँ लिखता था तथा गणित, ज्योतिष और नक्षत्रशास्त्र में उसकी विशेष रुचि थी। उसका धार्मिक दृष्टिकोण उदार था तथा उसके ऊपर सूफी प्रभाव था। उसने शिया स्त्री से विवाह किया तथा अनेक शिया अमीरों को प्रमुख स्थान दिया। हिंदुओं के प्रति भी वह उदार था। उसने मुगल चित्रकला को जन्म दिया। मुगल सांस्कृतिक परंपरा में उसका विशेष योगदान था। उसका वास्तविक राजत्व काल ग्यारह वर्षों से अधिक नहीं था (१५३०–४० तथा १५५५–५६)। उसका अधिक समय आंतरिक तथा बाह्य संघर्षों में बीता। मुगल शासनीय संगठन में उसका योगदान शून्य है। उसकी असफलता के लिये उसके चारित्रिक दोष — आलस्य, कठिन परिस्थितियों में तत्काल निर्णय न कर पाना, अंधविश्वास, विलासिता तथा परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं। उसने साहित्य, वास्तुकला, चित्रकला, सांस्कृतिक तथा धार्मिक सहिष्णुता के आधार पर साम्राज्य के निर्माण की कल्पना की जिसे उसके योग्य पुत्र अकबर महान् ने साकार किया। [ह० चं० ओ०]

हुविष्क कुषाण शासकों में हुविष्क का राज्यकाल बड़ा महत्वपूर्ण है। इसकी पुष्टि तत्कालीन कुषाण लेखों तथा सिक्कों (मुद्राओं) से होती है। लेखों के आधार पर इसने कनिष्क संवत् २८–६० तक राज्य किया। यह लेख प्रायः मथुरा के कंकाली टीले तथा अन्य निकट स्थानों से खोदाई में मिले। अफगानिस्तान में वरधक नामक स्थान से इसी शासक का सं० ५२ का एक लेख मिला। विद्वानों का मत है कि यह सम्राट् कनिष्क का कनिष्ठ पुत्र था और अपने भाई वासिष्क (२४–२८) के बाद सिंहासन पर बैठा। आरा के सं० ४१ के लेख में एक अन्य कुषाण सम्राट् महाराज राजातिराज देवपुत्र कैसर कनिष्क का उल्लेख है जिसके पिता का नाम वाजेष्क था। ल्यूडर्स तथा कुछ अन्य विद्वानों के विचार में कनिष्क प्रथम की मृत्यु के बाद कुषाण साम्राज्य का विभाजन हो गया था। उत्तरी पश्चिमी भाग पर वासिष्क तथा आरा के कनिष्क द्वितीय ने राज्य किया, और उसके बाद हुविष्क

का दोनों भागों पर अधिकार हो गया। यह सुझाव हुविष्क के राज्यकाल (२८–६०) में एक अन्य कुषाण सम्राट् वसु के कनिष्क की गुत्थी सुलझाने के लिये दिया गया था। विभाजन का कहीं भी संकेत नहीं मिलता है। वासिष्क के लेख क्रमश: २४ तथा २८ वर्ष के मथुरा तथा साँची में मिले। अत: उसका उत्तरी पश्चिमी भाग पर राज्य करने का लेखों से संकेत नहीं मिलता। हुविष्क ३२ वर्ष अथवा इससे भी कुछ अधिक काल तक संपूर्ण कुषाण साम्राज्य का शासक रहा और उसके बाद संवत् ६७ से ९८ तक वासुदेव ने राज्य किया।

हुविष्क के राज्यकाल के सं० २८ में वकन (वधकर्ता) से एक मध्य एशियाई सरदार मथुरा आया और उसने केवल ब्राह्मणों ही के लिये ५५० पुराणों की धनराशि दो विभिन्न श्रेणियों के पास जमा कर दी। इसमें इस समय की सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था का पता चलता है। हुविष्क ने एक पुण्यशाला का भी निर्माण किया, जिसका इस लेख में विवरण है, तथा अपने पूर्वजों की मूर्तियाँ भी स्थापित कीं। इस सम्राट् की विभिन्न प्रकार की स्वर्णमुद्राओं से प्रतीत होता है कि इसका राज्यकाल संपन्न युग था। पूर्व में इसका राज्य पटना तथा गया तक विस्तृत था, जैसा पाटलिपुत्र की खोदाई में मिले मिट्टी के बोधगया मंदिर के एक प्रतीक से पता चलता है। कल्हण की राजतरंगिणी में हुष्क, जुष्क तथा कनिष्क का उल्लेख है। हुष्क द्वारा बसाए गए हुष्कपुर की समानता वर्तमान बरामुला से की जाती है।

सं० ग्रं० — स्तेन केनो : कॉर्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम, भाग २; शास्त्री, के० ए० नीलकंठ : काम्प्रीहिस्ट्री ऑव इंडिया, भाग २; पुरी, बी० एन० : इंडिया अंडर दि कुषाएस, बंबई, १९६५। [बै० पु०]

हुनान प्रांत दक्षिणी मध्य चीन में तुंगतिंग झील के दक्षिण में स्थित एक प्रांत है। इसके उत्तर में हुपे, पश्चिम में सचवान और क्वेचाऊ, दक्षिण में क्वांगसी और क्वांगतुंग तथा पूर्व में कियांगसी प्रांत हैं। हुनान का क्षेत्रफल २०२२४० वर्ग किमी एवं जनसंख्या ३४,२१९,०२१ (१९६०) है। इस प्रांत का दक्षिणी एवं पश्चिमी भाग पठारी है। उत्तरी पूर्वी भाग तुंगतिंग बेसिन का एक निचला भाग है जो काँप मिट्टी का बना हुआ है। तुंगतिंग झील में सियांग, यूआन और त्जू (Tzu) नदियाँ गिरती हैं। पठारी भाग मुख्यत: लाल बालू पत्थर द्वारा निर्मित है तथा कहीं कहीं चूनापत्थर एवं ग्रेनाइट भी विद्यमान हैं। हेंगशान, नानलिंग एवं वूलिंग मुख्य पर्वतश्रेणियाँ हैं। यहाँ की जलवायु महाद्वीपीय है। गर्मी की ऋतु में अधिक गरमी तथा जाड़े में ठंढक पड़ती है। धान सबसे महत्वपूर्ण फसल है। गरमी में तुंगतिंग झील के समीपवर्ती क्षेत्र से इसकी दो फसलें ली जाती हैं। गेहूँ, सोयाबीन, चाय, रैमी, कपास, तंबाकू एवं जौ अन्य उल्लेखनीय फसलें हैं। दक्षिणी पश्चिमी पहाड़ी क्षेत्र से चीड़, ओक, तुंग, दीवार एवं कपूर की लकड़ियों को यू आन और त्जू नदियों में से बहाकर लुगदी तथा कागज के कारखानों को पहुँचाते हैं। हुनान में पर्याप्त खनिज संपदा है। ऐंटीमनी एवं पारे के उत्पादन में चीन में इसका प्रथम स्थान है। सोना, सीस, जस्ता, टंगस्टन, कोयला, टिन, मालिब्डेनम और गंधक अन्य महत्वपूर्ण खनिज हैं। चांगसा इस प्रांत की राजधानी है। धातुशोधन का कार्य प्रमुख स्थान रखता है। कृत्रिम रेशमी वस्त्र, कागज, पॉसिलेन और कढ़ाई अन्य उल्लेखनीय उद्योग हैं। हेंगयांग, चांगतेह, योयांग मुख्य व्यापारिक केंद्र हैं। गमनागमन का मुख्य साधन हांकाऊ कैंटन रेलमार्ग है। सियांग तथा यूआन की निचली घाटियों में जनसंख्या का घनत्व अधिक है। यहाँ के निवासी चीनी हैं तथा मंदारिन भाषा बोलते हैं। पहाड़ियों में मिआयो और याओ नामक जनजातियाँ निवास करती हैं। यह तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से ही चीन के अंतर्गत है। द्वितीय विश्वयुद्धकाल में जापानियों ने कुछ क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया था। १९४९ ई० से यह साम्यवादी शासन के अधीन है। [रा० प्र० सिं०]

हूपे मध्य चीन में तुंगतिंग झील के उत्तर में स्थित एक प्रांत है। इसके उत्तर में होनान, पश्चिम में शेंसी और सचवान, दक्षिण में हुनान और कियांगसी और पूर्व में आन्हवी (Anhwei) प्रांत हैं। हूपे का क्षेत्रफल १८४३२० वर्ग किमी एवं जनसंख्या ३,०७,९०,००० (१९६०) है। हूपे प्रांत का अधिकांश भाग काँप मिट्टी द्वारा निर्मित मैदान है। इसमें यांगटीसी और हान नदियाँ बहती हैं। इनके मुहाने के निकट स्थित हांगकांग, हांयांग और वूचांग नगर मिलकर वूहान नामक विशाल नगर का निर्माण करते हैं। ये नगर सड़क एवं नदी मार्ग के गमनागमन के केंद्र तथा मध्य चीन के प्रमुख व्यापारिक एवं औद्योगिक क्षेत्र हैं। समीप में स्थित ह्वांगशीह मध्य चीन का सबसे बड़ा लोह एवं इस्पात का कारखाना है। हूपे की जलवायु महाद्वीपीय है जहाँ जाड़े में ठंढक तथा गर्मी की ऋतु गरम एव नम होती है। धान एवं कपास गरमी की मुख्य फसलें हैं। इनके अतिरिक्त, चाय, सोयाबीन, और मक्का की खेती भी उल्लेखनीय है। जाड़े की फसलों में गेहूँ, जौ, रेमी, रेपसीड, सोयाबीन महत्वपूर्ण हैं। झीलों एवं नदियों से सिंचाई होती है। विशाल किंगक्याग जलाशय द्वारा सिंचित क्षेत्र में विस्तार हुआ है। कृषि उपज को सियांगफाऊ एवं शासी से होकर होनान एव हूनान प्रांतों को भेजा जाता है। इस प्रांत में लोह खनिज, जिप्सम, कोयला एवं नमक भी पाया जाता है। यांगटीसी नदी एवं उत्तर से दक्षिण पेकिंग हांकाऊ कैंटन रेलमार्ग के कारण हूपे की आर्थिक समृद्धि हुई है। जनसंख्या चीनी है और मंदारिन बोली बोलती है। १६६० ई० के आसपास हूपे प्रांत का निर्माण हुआ। द्वितीय विश्वयुद्धकाल में जापान ने कुछ भाग पर, विशेषकर हांकाऊ क्षेत्र पर, अधिकार कर लिया था। १९४९ ई० से यह साम्यवादी शासन के अंतर्गत है। वूचांग इस प्रांत की राजधानी है। [रा० प्र० सिं०]

'हृदयेश', चंडीप्रसाद (१८९८–१९३६ ई०) का जन्म पीलीभीत के एक संपन्न परिवार में हुआ था। लखनऊ विश्वविद्यालय से इन्होंने बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। संस्कृत साहित्य के अध्ययन में इनकी विशेष रुचि थी। सन् १९१९ ई० में ये हिंदी कहानी-क्षेत्र में आए। अलंकृत शैली की कहानी लिखनेवालों में इन्हें अधिक ख्याति मिली। इनकी अधिकांश कहानियाँ काव्याख्यायिका की श्रेणी में आती हैं। 'शांतिनिकेतन' शीर्षक इनकी कहानी बहुचर्चित है।

इसमें नारी के द्विधा रूप — रमणी तथा जननी — का सांकेतिक पद्धति से मनोहर चित्रण किया गया है। वस्तुतः नारी का मातृरूप ही शांतिनिकेतन है। 'हृदयेश' जी की अंतर्वृत्ति बाह्य एवं आभ्यंतर प्रकृति की रमणीयता को एकरूपता प्रदान करने में अधिक रमी है। इनके कथासाहित्य में शृंगार तथा शांतरस की अभिव्यक्ति हुई है। एतदर्थ भावाभिव्यंजन के लिये इन्होंने संस्कृत की तत्समता और उपसर्गयुक्त मधुर पदावली का प्रयोग सफलता से किया है। इनकी कहानियाँ भावप्रधान हैं अतः कथावस्तु गौण है। उपन्यास में भी इन्होंने इसी शैली का सहारा लिया है।

इनकी कृतियाँ ये हैं—नंदननिकुंज, वनमाला, गल्पसंग्रह (कहानी संग्रह)। मनोरमा, मंगलप्रभात (उपन्यास)। [रा० ब० पा०]

हेकेल, एर्न्स्ट हाइनरिख (Haeckel, Ernst Heinrich, सन् १८३४–१९१९), जर्मन प्राणिविज्ञानी तथा दार्शनिक, का जन्म प्रशिया के पॉट्सडैम नगर में हुआ था। इन्होंने बर्लिन, वर्ट्सबुर्ग (Wurzburg) तथा विएना में फिर्शो (Virchone), कलिकर (Kolliker) तथा जोहैनीज मुलर (Johannes Muller) के अधीन अध्ययन कर चिकित्साशास्त्र के स्नातक की उपाधि सन् १८५७ में प्राप्त की।

कुछ समय तक चिकित्सक का काम करने के पश्चात् आप जेना विश्वविद्यालय में प्राणिविज्ञान के प्रवक्ता तथा सन् १८६५ में प्रोफेसर नियुक्त हुए।

डार्विन के सिद्धांत से बहुत प्रभावित होकर आपने 'सामान्य आकारिकी' पर महत्वपूर्ण ग्रंथ सन् १८६६ में, दो वर्ष बाद 'सृजन का प्रकृतिविज्ञान' तथा सन् १८७४ में 'मानवोद्भवविज्ञान' शीर्षक ग्रंथ लिखे। प्राणियों के विकास में पुनरावर्ती क्रमों का इन्होंने प्रतिपादन किया तथा जंतुओं के पारस्परिक संबंधों का दिग्दर्शन कराने के लिये एक आनुवंशिक सारणी तैयार की। रेडियोलेरिया, गहन सागरी मेड्यूसाओं तथा सेराटोसाओं और साइफोनोफोराओं पर प्रस्तुत प्रबंध लिखने के अतिरिक्त हेकेल ने व्यवस्थित जातिवृत्त नामक एक बड़ा ग्रंथ भी लिखा। इनके कुछ अन्य वैज्ञानिक ग्रंथ बड़े लोकप्रिय हुए।

विकास सिद्धांत के दार्शनिक पहलू का भी आपने गंभीर अध्ययन किया तथा धर्म के स्थान पर एक वैज्ञानिक अद्वैतवाद का प्रचार किया। हेकेल के अद्वैतवाद में प्रकृति का कोई उद्देश्य या अभिकल्पना, नैतिक व्यवस्था, मानवीय स्वतंत्रता अथवा वैयक्तिक ईश्वर को कोई स्थान नहीं है। हेकेल ने अपने समय के बुद्धिजीवियों में स्वतंत्र विचार करने की एक लहर उत्पन्न कर दी तथा प्रायोगिक जीवविज्ञान के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

[भ० दा० व०]

हेग स्थिति : ५२° ४' उ० अ० एवं ४° १९' पू० दे० नीदरलैंड्स के पश्चिमी भाग में एम्सटर्डम के ३० मील दक्षिण पश्चिम में स्थित दक्षिणी हालैंड नामक प्रदेश की राजधानी है। यों तो एम्सटर्डम को राष्ट्रीय राजधानी होने का गौरव प्राप्त है फिर भी हेग ही नीदरलैंड्स की वास्तविक राजधानी है क्योंकि संसद एवं राष्ट्राध्यक्ष का आवास यहीं है। यह यूरोप के सुंदर एवं आकर्षक नगरों में से एक है। १२४८ ई० में काउंट विलियम ने यहाँ आखेट के लिये एक किले का निर्माण कराया। इस किले के चारों ओर नगर का विकास हुआ है। किले के समीपवर्ती क्षेत्र को 'बिनेनहाफ' कहते हैं। यह नगर सुंदर भवनों एवं उद्यानों के लिये विख्यात है। रिडर जाल या 'हाल ऑव नाइट्स' में प्रति वर्ष तीसरे मंगलवार को संसद का उद्घाटन करने महारानी पधारती हैं। यहाँ बहुत से संग्रहालय हैं जिनमें चित्रों एवं पांडुलिपियों का मीरमानो वेस्ट्रीनलेनम (Meermann Westreenlanum) संग्रहालय महत्वपूर्ण है। प्रोटेस्टेंट एवं गोथिक गिरजाघर, ललितकला अकादमी, रायल पुस्तकालय एवं प्रासाद तथा पीस पैलेस दर्शनीय स्थल हैं। पीस पैलेस में हेग का स्थायी न्यायालय या अंतरराष्ट्रीय न्यायालय है। आधुनिक भवनों में शेल एवं के० एल० एम० भवन उल्लेखनीय हैं। शिक्षण संस्थाओं में अंतरराष्ट्रीय विद्यालय, अमरीकी विद्यालय, रायल संगीत संरक्षिका (Conservatory) अंतरराष्ट्रीय विधि अकादमी एवं समाजविज्ञान संस्थान हैं। वेस्टब्रुइन (६१७ एकड़) और ज्यूडरपार्क (२१० एकड़) महत्व के हैं।

हेग, एम्सटर्डम, राटर्डम, यूट्रेक्ट एवं पेरिस से रेलमार्गों द्वारा जुड़ा हुआ है। एम्सटर्डम के पास में हवाईअड्डा है। यहाँ विद्युत् यंत्र उद्योग, रसायन, मुद्रण यंत्र एवं रबर तथा विलासिता की वस्तुओं का निर्माण होता है। समीप में स्थित शेवेनिंगम एक विख्यात समुद्री स्थल है। विलियम तृतीय नामक इंग्लैंड का राजा यहीं पैदा हुआ था।

हेग का क्षेत्रफल ६४ वर्गकिमी एवं जनसंख्या ६०६,७२८ (१९५३) थी। [रा० प्र० सि०]

हेगेलीय दर्शन (Hegelian Philosophy) सुप्रसिद्ध दार्शनिक जार्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिक हेगेल (१७७०-१८३१) कई वर्ष तक बर्लिन विश्वविद्यालय में अध्यापक रहे और उनका देहावसान भी उसी नगर में हुआ। उनके लिखे हुए आठ ग्रंथ हैं, जिनमें प्रपंचशास्त्र (Phenomenologie des Geistes), न्याय के सिद्धांत (Wissenschaft der Logic) एवं दार्शनिक सिद्धांतों का विश्वकोश (Encyclopädie der philosophischen Wissenschaften), ये तीन ग्रंथ विशेषतया उल्लेखनीय हैं। हेगेल के दार्शनिक विचार जर्मन देश के ही कांट, फिक्टे और शैलिंग नामक दार्शनिकों के विचारों से विशेष रूप से प्रभावित कहे जा सकते हैं, हालाँकि हेगेल के और उनके विचारों में महत्वपूर्ण अंतर भी है।

हेगेल का दर्शन निरपेक्ष प्रत्ययवाद या चिद्वाद (Absolute Idealism) अथवा वस्तुगत चैतन्यवाद (Objective Idealism) कहलाता है; क्योंकि उनके मत में आत्मा अनात्मा, द्रष्टा दृश्य, एवं प्रकृति पुरुष सभी पदार्थ एक ही निरपेक्ष ज्ञानस्वरूप परम तत्व या सत् की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। उनके अनुसार विश्व न तो अचेतन प्रकृति या पुद्गलों का परिणाम है और न किसी परिच्छिन्न व्यक्ति के मन का ही खेल। जड़-चेतन-गुण-दोष-मय समस्त संसार में एक ही असीम, अनादि एवं अनंत चेतन तत्व, जिसे हम परब्रह्म कह

सकते हैं, ओतप्रोत है। उससे पृथक् किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं। वह निरपेक्ष चिद् या परब्रह्म ही अपने आपकी अपनी ही स्वाभाविक क्रिया से विविध वस्तुओं या नैसर्गिक घटनाओं के रूप में संतत प्रकट करता रहता है। उसे अपने से पृथक् किसी अन्य साधन या सामग्री की आवश्यकता नहीं। हेगेल के अनुसार पुद्गलात्मक विश्व और हमारे मन, परस्पर भिन्न होने पर भी, एक ही निरपेक्ष सक्रिय परब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ होने के नाते एक दूसरे से घनिष्ठतापूर्वक सबंधित एवं अवियोज्य हैं। हेगेल के विचार में संसार का सारा ही विकासात्मक क्रियाकलाप सक्रिय ब्रह्म का ही क्रियाकलाप है। क्या जड़ क्या चेतन, सभी पदार्थ और प्राणी उसी एक निरपेक्ष चिद्रूप सत् के सीमित या परिच्छिन्न व्यक्त रूप हैं। अचेतन प्रकृति, प्राणयुक्त वनस्पतिजगत्, चेतन पशुपक्षी तथा स्वचेतन मनुष्यों के रूप में वही एक परब्रह्म अपने आपको क्रमशः अभिव्यक्त करता है, और उसकी प्रवतक की अभिव्यक्तियों में आत्मसंविच्चियुक्त मानव ही सर्वोच्च अभिव्यक्ति है, जिसके दार्शनिक, धार्मिक तथा कलात्मक उत्तरोत्तर उत्कर्ष के द्वारा ब्रह्म के ही निजी प्रयोजन की पूर्ति होती है। दूसरे शब्दों में, ब्रह्म अपने आपको विश्व के विविध पदार्थों के रूप में प्रकट करके ही अपना विकास करता है।

इस प्रकार, हेगेल का निरपेक्ष ब्रह्म एक सक्रिय मूर्त सार्वभौम (Concrete universal) या गत्यात्मक (Dynamic) एवं ठोस सार्वभौम तत्व है, अमूर्त सार्वभौम (Abstract universal) नहीं। वह शंकराचार्य के ब्रह्म के सदृश न तो शांत या कूटस्थ (Static) है, और न भेदशून्य। हेगेल ने शैलिंग के भेदशून्य (Differenceless) ब्रह्म को एक ऐसी अंधकारपूर्ण रात्रि के समान बताकर, जिसमें विविध रंगों की सभी गौएँ काली दिखाई पड़ती हैं, सभी भेदशून्य ब्रह्मवादियों की कटाक्षपूर्ण आलोचना की है। शैलिंग चराचरात्मक समस्त विश्व की आविर्भूति ब्रह्म से स्वीकार करते हुए भी उसे सब प्रकार के भेदों से रहित तथा प्रपंच के परे मानते थे। परंतु भेदशून्य अगत्यात्मक तत्व से भेदपूर्ण तथा गत्यात्मक सृष्टि के उदय या विकास को स्वीकार करना हेगेल को युक्तियुक्त नहीं प्रतीत हुआ। उन्होंने ब्रह्म को विश्वातीत नहीं माना। हेगेल का ब्रह्म किसी हद तक श्रीरामानुजाचार्य के ईश्वर से मिलता जुलता है। वे, श्रीरामानुजाचार्य की तरह, ब्रह्म के सजातीय विजातीय भेद तो नहीं मानते, परंतु उसमें स्वगतभेद अवश्य स्वीकार करते हैं। उन्होंने उसे भेदात्मक अभेद (Identity-in difference) या अनेकतागत एकता (unity-in-diversity) के रूप में स्वीकार किया है, शुद्ध अभेद या कोरी एकता के रूप में नहीं। इसी प्रकार, श्रीरामानुजाचार्य का सिद्धांत भी विशिष्टाद्वैत है, शुद्धाद्वैत या अद्वैत नहीं। हेगेल छांदोग्योपनिषद् के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (३·१४·१), ऋग्वेद के 'पुरुष एवेदं सर्वम्' तथा श्रीमद्भगवद्गीता के 'सर्वतः पाणिपादं' (१३·१३) आदि सिद्धांत के अनुमोदक तो अवश्यमेव कहे जा सकते हैं; परंतु मांडूक्योपनिषद् के 'अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः...' (१२) सिद्धांत के माननेवाले नहीं।

हेगेल ने क्रियात्मक एवं गतिशील विश्व के विभिन्न रूपों में होनेवाली ब्रह्म की आत्माभिव्यक्ति को एक विशेष यौक्तिक या बौद्धिक नियम के अनुसार घटित होनेवाली माना है। उनका कहना था कि सत्य यौक्तिक है और यौक्तिक सत्य है। दूसरे शब्दों में, उनके अनुसार बौद्धिक विचार का नियम और संसार के विकास का नियम एक ही है, और उन्होंने यह नियम विरोध या विरोध का नियम (Law of Contradiction) बतलाया है। इसके अनुसार जडात्मक जगत् एवं वैयक्तिक मन (mind) दोनों ही के रूप में निरपेक्ष ब्रह्म के विकास का हेतु उस तत्व का आंतरिक विरोध (opposition) या व्याघात (Contradiction) ही है। हेगेल के अनुसार दो विरोधी या परस्पर व्याघातक विचारों या पदार्थों का समन्वय एक तीसरे विचार या पदार्थ में हुआ करता है। उदाहरणार्थ, हमारे मन में सर्वप्रथम 'सत्' (being) का विचार उदय होता है, या यों कहिए कि संसार के समस्त पदार्थों की आदि अवस्था 'सत्' ही है। परंतु 'केवल सत्' या 'सन्मात्र' वस्तुतः असत् सदृश है। अतः सत् के अंतस्थल में ही असत् या अभाव (non being) अन्तर्हित है; और सत् असत् की यह विप्रतिपत्ति ही सत् के भावी विकास का मूल हेतु बन जाती है। चूँकि विप्रतिपत्ति या विरोध यौक्तिक विचार को सह्य नहीं, अतः वह स्वभाव से ही उसके निराकरण की ओर अग्रसर हो जाता है तथा सत् और असत् नामक विरोधी प्रत्ययों के समन्वय का निष्पादन 'भव' (becoming) नामक प्रत्यय में कर देता है। हेगेल प्रारंभिक प्रत्यय को पक्ष या निधान (Thesis) उसके विरोधी प्रत्यय को प्रतिपक्ष या प्रतिधान (Antithesis) तथा उनके मिलानेवाले प्रत्यय को समन्वय या समाधान (Synthesis) कहते हैं और उनकी यह पक्ष से समन्वयोन्मुखी पूरी प्रक्रिया विरोध समन्वय न्याय या द्वंद्व-समन्वय विधि (Dialectical method) अथवा त्रिकवाद (Dialecticism) नाम से जानी जाती है। उपर्युक्त उदाहरण में 'सत्' पक्ष, 'असत्' प्रतिपक्ष तथा 'भव' समन्वय है। इस प्रकार हेगेल के विरोध-समन्वय-न्याय में पक्ष, प्रतिपक्ष, एवं समन्वय तीनों ही का समाहार होता है। इसे कुछ और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिये हम अपने बाह्य ज्ञान को लें और देखें कि उसमें यह नियम किस प्रकार लागू होता है। हेगेल के कथनानुसार, किसी को भी बाह्य ज्ञान तभी होता है जब पहले ज्ञेय पदार्थ का विषय द्वारा ज्ञाता या विषयी का विरोध होता है (अर्थात् वह विषय उस तथाकथित विषयी को उसके बाहर निकालता है) और तत्पश्चात् वह विषयी उस विषय से विशिष्ट होकर अपने आपमें समाविष्ट होता है। यहाँ 'विषयी' पक्ष तथा 'विषय' प्रतिपक्ष है, और उनका समन्वय विषयी द्वारा प्राप्त विषय संबंधी ज्ञान में होता है।

वस्तुतः हेगेल के मत में विचार एवं विश्व के सारे ही विकास की प्रगति, अनिवार्य रूप से, इसी विरोध समन्वय न्याय के अनुसार होती है। उन्होंने अनुभव या संसार के प्रायः सभी क्षेत्रों की व्याख्या में इस न्याय की प्रयुक्तता को प्रदर्शित करने का दुःसाध्य किंतु प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि विश्व में जो कुछ भी होता है वह सब इस नियम के अनुसार होता है, और इसके परिणामस्वरूप उत्तरोत्तर नवीन भेदप्रभेद या पदार्थों का आविर्भाव होता रहता है। कोई भी भेद कभी भी निरपेक्ष प्रत्यय या परब्रह्म के बाहर

नहीं होता, और न वह ब्रह्म ही कभी प्रापंचिक पदार्थों से पृथक् होता है परंतु संसार में कभी ब्रह्म की संभाव्यताओं (Potentialities) का अंत नहीं होता, और इस दृष्टि से हम उसे संसारातीत भी कह सकते हैं। हेगेल ने इसी ब्रह्म या निरपेक्ष प्रत्यय में समस्त भूत, वर्तमान एवं भावी भेदों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है।

'हेगेल का ब्रह्म व्यक्ति है अथवा नहीं ?' यह प्रश्न विवादग्रस्त है। हैलडेन आदि पंडित उसे व्यक्ति मानते हैं; परंतु प्रो० मैकटैगार्ट आदि विद्वानों की संमति में वह व्यक्ति नहीं कहा जा सकता।

हेगेल, निस्संदेह, एक कट्टर सत्कार्यवादी विचारक थे। उनके अनुसार कार्य अपने कारण में अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व भी मौजूद रहता है। वस्तुतः वे कारण एवं कार्य तथा गुणी और गुण को एक दूसरे से अभिन्न और अन्योन्याश्रित मानते थे। जिस प्रकार कारणों के अभाव में कार्य नहीं हो सकता अथवा गुण बिना गुणी के नहीं रह सकता, उसी प्रकार, हेगेल के मत में, कार्य के अभाव में भी कोई घटना या वस्तु कारण नहीं कहला सकती, ठीक वैसे ही जैसे बिना गुण के गुणी नहीं।

हेगेल का निरपेक्ष प्रत्यय या ब्रह्म, जिसे वे कभी कभी ईश्वर (God) भी कहते हैं, कांट की 'पारमार्थिक या अपने आपमें की वस्तुओं' (Things-in-themselves) के सदृश अज्ञेय नहीं। वह हमारे चिंतन का विषय बन सकता है, क्योंकि हम और हमारी चिंतनशक्ति, बुद्धिपरिच्छिन्न होने पर भी, उसी के अनुरूप हैं। दूसरे शब्दों में, चूँकि हमारे सीमित विचार के नियम वही हैं जो सार्वभौम ईश्वर या उसके विचाररूप विश्व के, अतः वह (ईश्वर) हमें बुद्धि द्वारा अवगत हो सकता है। हेगेल के इस विचाररूप प्रयत्न से निस्संदेह ही उस चौड़ी खाई को पाटने का श्लाघनीय कार्य किया जो कांट ने पारमार्थिक और व्यावहारिक वस्तुओं के बीच में, उन्हें क्रमशः अज्ञेय एवं ज्ञेय बताकर, खोद डाली थी।

समीक्षा — हेगेलीय दर्शन, एक अत्यंत महत्वपूर्ण, उत्कृष्ट एवं उत्कट बौद्धिक प्रयास होने पर भी, आपत्तियों से मुक्त नहीं। उसके विरुद्ध, संक्षेप में निम्नांकित बातें प्रस्तुत की जा सकती हैं —

(१) हेगेलीय दर्शन की सत्यता स्वीकार कर लेने पर हमारी निजी सुदृढ़ स्वातंत्र्य भावना को इतना भारी धक्का लगता है कि वह जड़सहित हिल जाती है। जब प्राकृतिक एवं मानसिक सारी ही सृष्टि की गति वस्तुतः परब्रह्म की ही गति या क्रिया है, तो फिर हमारे वैयक्तिक स्वतंत्र प्रयत्न के लिये स्थान अथवा अवसर कहाँ ? हेगेल मानवीय स्वतंत्रता को मानते हुए उसे ईश्वरीय स्वतंत्रता द्वारा सीमित स्वीकार करते हैं। परंतु उनकी यह मान्यता मानव को अस्वतंत्र मानने के समान ही प्रतीत होती है। जिस क्षेत्र, जिस अर्थ, जिस मात्रा और जिस समय में हम स्वतंत्र कहे जा सकते हैं, उसी क्षेत्र, उसी अर्थ, उसी मात्रा एवं उसी समय में हमारी स्वतंत्रता सीमित या परतंत्र नहीं कही जा सकती। उसे सीमित करने का स्पष्ट अर्थ है उसे छीन लेना।

(२) हेगेल निरुपाधि ब्रह्म को एक ओर तो पूर्ण एवं काल से अपरिच्छिन्न स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर, विश्व के रूप में उसका कालगत विकास भी मानते हैं। परंतु इन दोनों मान्यताओं में विरोध मालूम होता है। हेगेल इन दो प्रकार की बातों को एक दूसरी के साथ ठीक ठीक संबंधित नहीं कर सके।

(३) हेगेल सार्वभौम चित् या निरुपाधि ब्रह्म को बुद्धि द्वारा ज्ञेय मानते हैं। परंतु, यथार्थतः, जो कुछ बुद्धि से ज्ञात होता है, या हो सकता है, वह सार्वभौम या निरुपाधि नहीं हो सकता। हेगेल ने बुद्धि में ब्रह्मज्ञान की क्षमता मानकर बुद्धि का अनुचित महत्व प्रदान कर दिया है। बौद्धिक विचार स्वभाव से ही द्वैत या भेद में भ्रमण करके जीवित रहनेवाले होते हैं। अतः सार्वभौम चित् या निरुपाधि ब्रह्म, जो एक या परिपूर्ण सत् है, बौद्धिक विचार का विषय नहीं बन सकता। ब्रैडले महोदय की यह धारणा कि ब्रह्म को हम अपरोक्षानुभूति द्वारा ही अनुभव कर सकते हैं, बुद्धि द्वारा जान नहीं सकते, हेगेल के विचार की अपेक्षा कहीं अधिक समीचीन प्रतीत होती है। केनोपनिषद् ने 'मतं यस्य न वेद सः' इन शब्दों द्वारा ब्रह्म के बौद्धिक ज्ञान का खंडन किया है, तथा माण्डूक्योपनिषद् ने 'एकात्मप्रत्ययसार' इस कथन से ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति ही संभव बतलाई है। और ऐसी ही बात आधुनिक युग के प्रख्यात दार्शनिक हेनरी बर्गसाँ ने भी स्वीकार की है। [रा० सि० नो०]

हेजैज (Hejaz) सऊदी अरब गणतंत्र के उत्तरी पश्चिमी भाग में अकाबा खाड़ी और लाल सागर के किनारे स्थित एक क्षेत्र है। हेजैज और नेज्द क्षेत्र मिलकर सऊदी अरब का निर्माण करते हैं। इसका क्षेत्रफल ३,८४,००० वर्ग किमी है। यह क्षेत्र लगभग १२८० किमी लंबा तथा १६० से ३२० किमी तक चौड़ा है। इसका दक्षिणी भाग पर्वतीय एवं पठारी है जो एक पतली एवं लंबी तटीय मेखला तथा भीतरी मरुस्थलों के बीच में स्थित है। यहाँ कई मरुद्यान तथा कुछ नदी धाराएँ हैं जिन्हें वादी (wadi) कहते हैं। खजूर, गेहूँ, ज्वार, बाजरा मुख्य कृषि उपज हैं। मधु, एवं फलों की प्राप्ति भी होती है। ऊँट, घोड़े, भेड़ और खच्चर पाले जाते हैं जिनसे खाल और ऊन की प्राप्ति होती है। खनिज तेल थोड़ी मात्रा में निकाला जाता है। सोना होने का अनुमान है लेकिन अभी इसकी खुदाई प्रारंभ नहीं हुई है।

निर्यात नगण्य है। तेलस्रोतों एवं तीर्थयात्रियों से पर्याप्त मुद्रा की प्राप्ति हो जाती है। हेजैज तीर्थयात्रा के लिये एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है जहाँ प्रति वर्ष हजारों मुसलमान यात्री विभिन्न देशों से जिद्दा नामक प्रसिद्ध बंदरगाह से होकर प्रवेश करते हैं। मक्का एवं मदीना की पवित्र नगरियाँ यहीं हैं। ताइफ अन्य महत्वपूर्ण नगर है। जिद्दा के अतिरिक्त येम्बो, एल वज्ह, रेबिग, लिथ और कुनाफिदा अन्य छोटे बंदरगाह हैं।

इस क्षेत्र में नाममात्र की सड़कें हैं। केवल जिद्दा से मक्का एवं मदीना को जोड़नेवाली सड़क है जो डामर की बनी हुई है। जिद्दा में एक हवाई अड्डा भी है। १२५८ ई० में बगदाद के खलीफा की पराजय के बाद इसपर मिस्र का अधिकार हो गया। हेजैज फिर तुर्कों एवं वहाबियों के अधिकार में रहा। १९१६ ई० में मक्का के शरीफ हुसेन इब्न अली ने तुर्कों को हराकर स्वतंत्र हेजैज की घोषणा की। १९२४ ई० में हुसेन इब्न अली को पराजित करके इब्न सऊद

ने इस क्षेत्र को मिलाकर सऊदी अरब की स्थापना की। हेजैज की जनसंख्या लगभग २०,००,००० है। [रा० प्र० सिं०]

हेटी स्थिति : १७° १०′ — १९° ५८′ उ० अ० एवं ६८° २०′ — ७४° १०′ प० दे०। वेस्टइंडीज के हिस्पैनियोला नामक द्वीप के पश्चिमी एक तृतीयांश भाग में विस्तृत गणतंत्र है। इसके उत्तर में अटलांटिक महासागर, पश्चिम में विंडवर्ड पैसेज, दक्षिण में कैरेबीयन सागर और पूर्व में डोमिनिकन गणतंत्र स्थित है। इसका क्षेत्रफल २७,७५० वर्ग किमी एवं जनसंख्या लगभग ४० लाख है। घनत्व प्रति वर्ग किमी १४४ व्यक्ति है जो मध्य अमरीकी देशों में सबसे अधिक है। लगभग ९०% निवासी निग्रो हैं। शेष में विदेशी और अन्य लोग हैं। मुख्य नगर एवं राजधानी पोर्टो प्रिंस है। कैप हाइटीन दूसरा महत्वपूर्ण नगर है। यहाँ की राजकाज की भाषा फ्रांसीसी है। रोमन कैथोलिक राजधर्म है।

तटरेखाएँ कटी फटी हैं। इस देश के ⅔ भाग में पर्वतश्रेणियाँ फैली हुई हैं। इनकी सर्वाधिक ऊँचाई २,४२४ मी है। कई छोटी छोटी नदियाँ इस भूमाग में बहती हैं जिनमें आर्टी बोनाइत एवं एल इस्तरे महत्वपूर्ण हैं। इतांग सामत्रे और इतांग डि मिरागोआने उल्लेखनीय झीलें हैं। यहाँ की जलवायु उष्णकटिबंधीय, है तथा तापमान २१° से ३५° से के बीच रहता है। निचले मैदानों में पर्वतीय ढालों पर वर्षा अधिक, औसत ४५ इंच, होती है। वनों से चीड़, महोगनी, सीडार, रोजवुड, एवं कुछ अन्य लकड़ियों की प्राप्ति होती है।

केवल तृतीयांश भूभाग ही कृषि योग्य है। अधिकांश लोग कृषि पर ही आधारित हैं। काफी, सीसल, केला, कपास, चावल, ईख, गन्ना, कोकोआ एवं तंबाकू मुख्य कृषि उपज हैं। खनिज सोना, चाँदी, ताँबा और लोहा पाया जाता है। लेकिन बाक्साइट, ताँबा, लिगनाइट और मैंगनीज ही निकाले जाते हैं। सूती वस्त्र, साबुन, सीमेंट, दवा, चीनी, वार्निश, एवं रंग तथा प्लास्टिक की वस्तुओं का निर्माण होता है। पर्यटन उद्योग भी विकसित है। प्रति व्यक्ति आय लैटिन अमरीकी देशों की तुलना में कम है। भूमिसुधार, सिंचाई, जलविद्युत् तथा स्वास्थ्य सेवाओं में कुछ प्रगति हुई है।

यातायात — हेटी न्यूयार्क, फ्लोरिडा, पनामा तथा यूरोप एवं सुदूर पूर्व के देशों से स्टीमर सेवाओं द्वारा संबद्ध है। कुछ सड़कों की लंबाई ३००० किमी है। रेलमार्ग पोर्टो प्रिंस से वेरहीज तक गया है। कृषि उपज को समीपवर्ती बाजार में स्त्रियों के सर पर लादकर या बरो (Burro) द्वारा पहुँचाया जाता है। यहाँ से संयुक्त राज्य अमरीका, जमैका, डोमिनिकन गणतंत्र एवं पोर्टोरीको को वायुसेवाएँ हैं। निर्यात की मुख्य वस्तुओं में काफी, सीसल, चीनी, बाक्साइट एवं ताँबा है। हस्तशिल्प की वस्तुएँ एवं सुगंधित तेल कम महत्व के नहीं हैं। सूती वस्त्र, खाद्य पदार्थ, यंत्र, मोटर गाड़ियाँ एवं खनिज तेल मुख्य आयात हैं।

शिक्षा — प्रारंभिक शिक्षा फ्रांसीसी भाषा में अनिवार्य एवं निःशुल्क है। विधि, चिकित्साविज्ञान एवं दंतविज्ञान संकायों में निःशुल्क उच्च शिक्षा दी जाती है। इनके अतिरिक्त कृषि, तकनीकी, मानवविज्ञान, प्रसूतिविद्या एवं औषधि निर्माण के राष्ट्रीय विद्यालय हैं। ये सभी हेटी विश्वविद्यालय के अंग हैं। ८०% से अधिक जनसंख्या निरक्षर है।

सेंट लुइस डी बंधुओं का ग्रंथागार, बिब्लियोथेक नेशनेल, राष्ट्रीय एवं फिशर संग्रहालय तथा राष्ट्रीय ग्रंथागार दर्शनीय हैं। [रा० प्र० सिं०]

हेडिन, स्वेन एंडर्स यह स्वीडन का अन्वेषण यात्री था जिसका जन्म १९ फरवरी, १८६५ ई० को स्टाकहोम में हुआ और मृत्यु १९५२ ई० में हुई। उपसाला विश्वविद्यालय में उसकी शिक्षा हुई और तदनंतर बर्लिन तथा हाल (Halle) में शिक्षा ग्रहण की। १८८५-८६ ई० में वह फारस और मेसोपोटामिया गया और १८९० ई० में फारस के शाह से संबंधित ऑस्कर राजा के दूतावास में नियुक्त हुआ। उसी वर्ष उसने खुरासान और तुर्किस्तान की यात्राएँ कीं और १८९१ में काशगर पहुँच गया। उसकी तिब्बत की यात्राओं ने उसे एशिया के आधुनिक यात्रियों में प्रथम स्थान प्राप्त कराया। १८९३ और १८९७ ई० के बीच उसने एशिया महाद्वीप के आरपार यात्रा की। ओरेनबर्ग से चलकर यूराल पार किया और पामीर तथा तिब्बत के पठार से होते हुए पेकिंग पहुँचा। दो अन्य यात्राओं में इन मार्गों के ज्ञान में विशेष जानकारी की तथा सतलज, सिंधु और ब्रह्मपुत्र के उद्गम स्थानों की खोज की। सन् १९०२ में वह स्वीडेन का नोबुल बना दिया गया और सन् १९०९ में भारत सरकार ने के० सी० आई० ई० की उपाधि दी। सन् १९०७ में उसने चीनी-स्वीडेन यात्रा का चीन को मार्गदर्शन किया और इसके परिणामों के प्रकाशित करने के लिये कई वर्ष परिश्रम किया। स्वेन हेडन ने कई पुस्तकें लिखीं जिनमें से ये उल्लेखनीय हैं — 'फारस, मेसोपोटामिया और काकेशस की यात्रा' (१८८७), 'एशिया से होकर' (१८९८), 'मध्य एशिया की यात्रा का वैज्ञानिक परिणाम' (१९०४-१९०७) ८ खंडों में, 'हिमालय के पार' (१९०९-१९१२) ३ खंडों में, 'स्थलीय यात्रा से भारत' (१९१०) दो खंडों में, 'दक्षिणी तिब्बत' (१९१७-१९२२) १२ खंडों में, 'चीनी-स्वीडेन यात्रा के वैज्ञानिक परिणाम' (१९३७-१९४२) ३० खंडों में। [चां० ला० का०]

हेतु तर्कशास्त्र का पारिभाषिक शब्द। धुएँ को देखकर आग का अनुमान होता है। इस अनुमान में धुएँ को हेतु कहते हैं। धूम और अग्नि में अविनाभाव संबंध होना चाहिए। साध्य (अग्नि) का पक्ष में (पर्वत, गाँव आदि जहाँ धूम दिखाई पड़ता हो) अस्तित्व तभी ज्ञात हो सकता है जब हेतु या लिंग ऐसा हो जो सर्वदा साध्य के साथ वर्तमान देखा गया हो। अनुमान की मानसिक प्रक्रिया को जब दूसरे के लिये शब्दों में व्यक्त करते हैं तो हम न्यायशास्त्र के अनुसार पाँच अवयवों के वाक्यों का तथा बौद्ध एवं पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अनुसार तीन अवयवों के वाक्यों का प्रयोग करते हैं। पाँच अवयवोंवाले वाक्य में दूसरा अवयव हेतु कहलाता है—जैसे :

१. पर्वत में आग है (प्रतिज्ञा)।

२. क्योंकि उसमें धुआँ है (हेतु)।

३. जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ आग रहती है, जैसे रसोई में (उदाहरण)।

४. इस पर्वत में जो धूम है वह आग के साथ व्याप्त है (उपनय)।

५. अतः पर्वत में धूम है। (निगमन)।

इसी अनुमान को तीन अवयवोंवाले वाक्य में इस तरह कहा जाएगा :

१. जहाँ जहाँ धुआँ है वहाँ आग होती है।

२. पर्वत में धुआँ है।

३. अत पर्वत में आग है।

इस तीन अवयवोंवाले वाक्य में हेतु के लिये कोई अलग वाक्यावयव नहीं आता, हेतु का प्रयोग केवल पद के रूप में होता है।

हेतु के लिये पाँच बातों का होना आवश्यक माना गया है — १. इसे पक्ष में वर्तमान रहना चाहिए, २. इसे उन स्थानों पर होना चाहिए जहाँ साध्य वर्तमान रहता है, ३. इसे वहाँ नहीं रहना चाहिए जहाँ साध्य नहीं रहता, ४. इसे अबाधित होना चाहिए अर्थात् इसे पक्ष के विरुद्ध नहीं होना चाहिए, और ५. इसे इसके विरोधी तत्वों से रहित होना चाहिए।

हेतु तीन प्रकार के होते हैं : १. अन्वयव्यतिरेकी वह हेतु है जो साध्य के साथ रहता है और साध्य के अभाव में नहीं रहता — जैसे धूम और आग। २. केवलान्वयी हेतु सर्वदा साध्य के साथ रहता है—उनका अभाव संभव नहीं है—जैसे ज्ञेय और प्रमेय। ३. केवलव्यतिरेकी हेतु अपने अभाव के साथ ही साध्य से संबद्ध होता है — जैसे —गध और पृथ्वी से इतर द्रव्य।

दूषित अनुमानों में हेतु वास्तव में हेतु नहीं होता अतः उसको हेत्वाभास कहते हैं। [रा० च० पां०]

हेनरी स्टील ऑलकॉट, कर्नल थियोसाफिस्ट प्रचारक और 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' के संस्थापक सदस्य। २ अगस्त, १८३२ को अमरीका के न्यूजर्सी राज्य के ऑरेंज नामक स्थान में जन्म हुआ। पहले न्यूयार्क में फिर कोलंबिया विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की। आरंभ से ही अध्यात्म में उनकी रुचि हो गई और वे 'न्यूयार्क सन' के संवाददाता के रूप में 'एडी' परिवार की चमत्कारिक घटनाओं की जाँच करने के लिये नियुक्त हुए। तत्पश्चात् वह बहुत समय तक 'न्यूयार्क ग्राफिक' में अध्यात्मवाद और आत्मा संबंधी विभिन्न घटनाओं पर लेख लिखते रहे। इसी समय पहली बार १८७४ में मैडम ब्लैवेट्स्की से उनकी भेंट हुई। उन दोनों ने डब्ल्यू० क्यू० जज के साथ १७ नवंबर, १८७५ को थियोसॉफिकल सोसाइटी की स्थापना की। आलकॉट आजीवन सोसाइटी के अध्यक्ष रहे। १८७० में आलकॉट मैडम ब्लैवेट्स्की तथा अन्य साथियों के साथ भारत आए और यहाँ थियोसॉफिकल सोसाइटी की स्थापना से लेकर उसके संगठन और प्रशासन में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे।

१८८० में मैडम ब्लैवेट्स्की के साथ उन्होंने सीलोन की यात्रा की और वहाँ उन्होंने ब्लैवेट्स्की सहित अपने को बुद्ध की शिक्षाओं तथा पंचशील का अनुयायी घोषित किया। सीलोन में उन्होंने बौद्ध शिक्षा-संस्थाओं को संगठित करने में बहुत परिश्रम किया; व्याख्यान दिए, धन एकत्र किया। कोलंबो में बुद्धिस्ट थियोसॉफिकल सोसाइटी संगठित की, जो आज भी एक बड़ी शिक्षासंस्था के रूप में कार्य कर रही है।

कर्नल आलकॉट मेस्मेरिज्म द्वारा चिकित्सा में सिद्धहस्त थे, उसका प्रयोग उन्होंने बहुत दिनों तक भारत और सीलोन में किया। उनकी लिखित कुछ पुस्तकें ये हैं : 'ओल्ड डायरी लीव्ज' जिसमें उनके संस्मरण संगृहीत हैं। 'द बुद्धिस्ट कैटेचिज्म' (बौद्ध प्रश्नोत्तरी) उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। 'पीपुल फ्राम द अदर वर्ल्ड' में आध्यात्मिक घटनाओं का विवेचन है। [सो० वा०]

हेनरी प्रथम (१०६८-११३५) नॉर्मन वंश का इंग्लैंड का राजा था तथा विजयी विलियम का कनिष्ठ पुत्र था। ११०० ई० में उसने शासन ग्रहण किया क्योंकि उसका बड़ा भाई रॉबर्ट पवित्र स्थलों में मोर्चा लेने के कारण अनुपस्थित था। उसने रॉबर्ट को ११०६ ई० में टिंचेब्रे (Tinchebrai) में हराकर नॉरमंडी को अपने शासन में ले लिया तथा कैंटरबरी के आर्कबिशप ऐंसेल्म (Anselm) से अभिषेक के प्रश्न पर झगड़ा किया जिसमें उसे लज्जित होना पड़ा। उसके प्रशासकीय तथा वैधानिक सुधार उसे 'न्याय के शेर' की उपाधि दिलाने में सहायक हुए। स्कॉटलैंड के शासक की लड़की मैटिल्डा से विवाह किया तथा इस विवाह से एकमात्र पुत्र जल में डूबो दिया गया (११०० ई०)। हेनरी बुद्धिमान् तथा शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ।

स० ग्रं० — के० नॉरगेट . इंग्लैंड अंडर द ऐंजेविन किंग्स; एच० डब्ल्यू० सी० डेविस : इंग्लैंड अंडर द नॉर्मन्स ऐंड ऐंजेविंस।

हेनरी द्वितीय (११३३-११८९) हेनरी प्रथम की पुत्री मैटिल्डा तथा काउंट ऑव ऐंजू ज्यॉफ्री प्लैंटेजेनेट का पुत्र था। उसका राजतिलक ११५४ ई० में हुआ था। इसका उद्देश्य सामंतों तथा चर्च की शक्ति को क्षीण करना तथा राजशक्ति की वृद्धि करना था। इसके शासन में केंद्रीय सरकार की शक्तियों की वृद्धि, राजा की अदालत एवं स्वायत्त शासन का विकास तथा जूरी प्रथा की स्थापना आदि विशेष घटनाएँ हुई। ११६४ के क्लेरेंडन विधान ने राज्य तथा चर्च के संबंधों को नियमबद्ध किया। कैंटरबरी के आर्कबिशप बेकेट (Becket) से हेनरी के चर्चनीति पर संघर्ष और बाद में बेकेट के वध ने कुछ समय के लिये राज्य की चर्चविरोधी नीति को धक्का पहुँचाया। आयरलैंड को अंशतः विजित किया गया। हेनरी अद्भुत योग्यता, शक्ति तथा संगठनक्षमता रखनेवाला व्यक्ति था।

सं० ग्रं० — के० नोरगेट : 'इंग्लैंड अंडर द ऐंजेविन किंग्स्।'

हेनरी तृतीय (१२०७-७२) — राजा जॉन का ज्येष्ठ पुत्र और इंग्लैंड का शासक था। १२१६ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। उसके दीर्घ शासन में साइमन डी. मॉटफोर्ट के नेतृत्व में सामंतों का असंतोष फैला और १२५८ ई० के 'प्राविजन्स ऑव ऑक्सफोर्ड' द्वारा राजा की शक्तियों पर नियंत्रण लागू किया गया। राजा तथा मॉटफोर्ट की अध्यक्षता में लोकप्रिय दल के बीच गृहयुद्ध छिड़ा जिसका अंत राजा की पराजय में हुआ। मॉटफोर्ड ने नगरों तथा बरोज

(Boroughs) के प्रतिनिधियों की एक नई संसद् बुलाकर 'हाउस ऑव कॉमन्स' की स्थापना की। हेनरी के कुशासन में इंग्लैंड को अत्यधिक करों के कारण कष्ट था।

सं० ग्रं० — के० नोरगेट : माइनॉरिटी ऑव हेनरी III; एच० डब्ल्यू० सी० डेविस : 'इंग्लैंड अंडर द नॉरमन्स ऐंड ऐंजेविन्स'।

हेनरी चतुर्थ (१३६७–१४१३) एडवर्ड तृतीय के चौथे पुत्र जॉन ऑव गौंएट का पुत्र तथा लंकास्टर वंश का प्रथम व्यक्ति हेनरी चतुर्थ इंग्लैंड का राजा था। वह १३९९ ई० में गद्दी पर बैठा। उसने वेल्स तथा नौर्थंबरलैंड के विद्रोहों को दबाया। पार्लियामेंट के पक्ष के ही कारण उसने गद्दी प्राप्त की थी अतएव उसने पूरे शासन में वैधानिक व्यवस्था का ही निर्वाह किया। पादरियों का समर्थन प्राप्त करने के लिये इसने विक्लिफ के अनुयायियों का दमन किया और कुछ को जीवित जला दिया। स्कॉटलैंड के राजा जेम्स (तत्पश्चात् जेम्स प्रथम) को बंदी किया तथा इंग्लैंड के कारागार में १८ वर्षों तक रखा। हेनरी संगीतप्रेमी तथा कट्टर-पंथी था।

सं० ग्रं० — जे० एच० वाइली : हिस्टरी ऑव इंग्लैंड अंडर हेनरी फोर्थ; जे० एच० फ्लेमिंग : 'इंग्लैंड अंडर द लैंकैस्ट्रियन्स;' कैंब्रिज मेडीवल हिस्टरी, वॉल्यूम VII।

हेनरी पंचम (१३८७-१४२२) इंग्लैंड का राजा तथा हेनरी चतुर्थ का ज्येष्ठ पुत्र था। १४१३ ई० में गद्दी पर बैठा। उसके दो उद्देश्य थे — प्रथम, लॉलार्डस का दमन करके चर्च के अधिकार को पुष्ट करना तथा द्वितीय, विदेशी विजयों द्वारा यश प्राप्त करना। उसने फ्रांस से शतवर्षीय युद्ध फिर से छेड़ा तथा १४१५ ई० में ऐंजिनकोर्ट की गौरवशाली विजय प्राप्त कर नॉरमंडी ले लिया। १४२० की ट्रायज (Troyes) की संधि ने युद्ध में अंग्रेजी सफलता का उच्चतम बिंदु प्रदर्शित कर दिया। फ्रांस में हेनरी का तृतीय मोर्चा उसकी आकस्मिक मृत्यु के कारण अधूरा ही रह गया।

सं० ग्रं० — सी० एल० किंग्सफर्ड : हेनरी; आर० बी० मावत : हेनरी; जे० एच० वाइली ऐंड डब्ल्यू० एफ़ वाफ़ 'द रेन ऑव हेनरी।

हेनरी षष्ठ (१४२१-१४७१) हेनरी पंचम का एकमात्र पुत्र तथा इंग्लैंड का राजा था। अपने राज्याभिषेक पर १४२२ ई० में वह केवल नौ महीने का था। उसके चाचा ड्यूक ऑव बेडफर्ड ने संरक्षक के रूप में काम किया। शतवर्षीय युद्ध जोन ऑव आर्क के आविर्भाव तक सफलतापूर्वक चलता रहा। १४५३ ई० तक कैले को छोड़कर फ्रांस में ब्रिटेन के सारे प्रदेश अंग्रेजों के हाथ से निकल गए थे। हेनरी ने ऐंजू की मार्गरेट से १४४५ ई० में विवाह किया। १४५३ ई० में वह अशक्त हो गया। उसके उपरांत हाउस ऑव लैंकेस्टर तथा यॉर्क के बीच गुलाबों का गृहयुद्ध इंग्लैंड की गद्दी के लिये छिड़ा। १४६१ ई० की यॉर्क विजयों के उपरांत हेनरी १४७० ई० तक कारागार में रहा। वह कुछ समय के लिये गद्दी पर आया परंतु १४७१ ई० में उसका वध कर दिया गया। हेनरी पवित्र, विद्वान् किंतु दुर्बल शासक था। उसने १४४० ई० में ईटन की तथा १४४१ ई० में किंग्स कॉलेज, कैंब्रिज की स्थापना की।

सं० ग्रं० — जे० गार्डनर : हाउसेज ऑव लैंकैस्टर ऐंड यॉर्क; एफ. ए. गैसक्वेट : द रिलिजस लाइफ ऑव हेनरी।

हेनरी सप्तम (१४५७-१५०९) इंग्लैंड का शासक तथा ट्यूडर वंश का संस्थापक हेनरी सप्तम रिचमंड के अर्ल एडमंड ट्यूडर मार्गरेट ब्यूफर्ट का पुत्र था। १४८५ ई० में इसने बॉसवर्थ के युद्ध में रिचर्ड तृतीय को परास्त किया। अगली जनवरी में इंग्लैंड का शासक हुआ तथा उसने एडवर्ड चतुर्थ की ज्येष्ठ पुत्री एलिजाबेथ ऑव यॉर्क से विवाह कर दोनों घरानों को एक कर दिया। उसने लैंबर्ट सिमनल और पर्किन वारबिक के राजगद्दी के लिये किए गए विद्रोहों का दमन किया। हेनरी ने सामंतों का दमन कर तथा जनस्वीकृति एवं संसद् की सहायता से एक सुदृढ़ राजतंत्र की स्थापना की। गृहशासन में स्थायित्व लाने के लिये उसने सुचारु शासन, राष्ट्रीय आर्थिक आत्मनिर्भरता, के कदम उठाए। राज्य की आर्थिक स्वाधीनता के लिये उसने धन पैदा करने के नए साधन निकाले। उसकी वैदेशिक नीति शांतिप्रियता की थी। १४९२ ई० का फ्रांस से अल्पकालीन संघर्ष अकेला उदाहरण है। उसने व्यापार और वाणिज्य को प्रोत्साहन देने के लिये संधियाँ कीं। हेनरी की राजवंशीय वैवाहिक नीति की अभिव्यक्ति उसकी ज्येष्ठ पुत्री मार्गरेट का स्कॉटलैंड के जेम्स चतुर्थ से तथा उसके ज्येष्ठ पुत्र आर्थर का एरागॉन की कैथरीन से विवाह में मिलती है। हेनरी ने नए ज्ञान का संरक्षण किया और उसके शासन में इंग्लैंड में नूतन जागृति विकसित हुई।

सं० ग्रं० — जी० टैंपरले : 'हेनरी vii; ए० एफ० पोलार्ड : रेन ऑव हेनरी vii; सी० एच० विलियम्स : हेनरी vii; आर० डी० इन्स : इंग्लैंड अंडर द ट्यूडर्स,।

हेनरी अष्टम (१४९१—१५४७) हेनरी सप्तम और एलिजबेथ ऑव यॉर्क का द्वितीय पुत्र हेनरी अष्टम इंग्लैंड का राजा था। अपने ज्येष्ठ भ्राता आर्थर की मृत्यु हो जाने के कारण वह १५०९ ई० में गद्दी पर बैठा। उसने अपने भाई की विधवा स्त्री कैथरीन से विवाह किया। पावन संघ (Holy league) का सदस्य होने के कारण १५१२ ई० में फ्रांस पर आक्रमण किया। १५ वर्षों तक कार्डिनल वूल्जे उसका प्रमुख मंत्री रहा जिसकी वैदेशिक नीति संतुलन पर आधारित होकर इंगलैंड के संमान को महाद्वीप में बढ़ाने में सहायक हुई। प्रारंभ में उसने सुधार आंदोलन के प्रश्न पर पोप का समर्थन किया और पोप से 'धर्म के संरक्षक' की उपाधि प्राप्त की। बाद में कैथरीन के परित्याग के प्रश्न पर पोप की अस्वीकृति देख हेनरी ने रोम से संबंधविच्छेद कर लिया। पोप के विरुद्ध उठाए गए प्रमुख कदमों में ऐक्ट ऑव अपील्स १५३३, ऐक्ट ऑव सुप्रीमेसी १५३४, मठों तथा गिरजाघरों का दमन १५३६, छह धाराओं का विधान, १५३९ इत्यादि हैं। रोमन चर्च के कुछ सिद्धांतों को यथावत् रखा गया। १५२९ ई. में वूल्जे के पतन के उपरांत टॉमस क्रैनमर तथा टॉमस क्रॉमवेल राज्य के प्रमुख सलाह-कार हुए। हेनरी ने एक मातहत संसद् की सहायता से अपने को निरंकुश बना लिया तथा अवैधानिक साधनों द्वारा धन इकट्ठा किया। १५४२ ई० में सॉल्वे मॉस (Solway Moss) पर स्कॉट्स को

हराया तथा आयरलैंड को दबाया। हेनरी की छह पत्नियाँ क्रमश: कैथरीन, ऐनबुलीन, जेनसेमूर, ऐन ऑव क्लीव्ज, कैथरीन हॉवर्ड तथा कैथरीन पार थीं। हेनरी साहसी, स्वेच्छाचारी तथा निर्दय था।

सं० ग्रं० — ए० एफ० पोलार्ड : हेनरी vii; एच० ए० एल० फिश : पोलिटिकल हिस्टरी ऑव इंग्लैंड १४८५-१५४७; ए० डी० इन्स : इंग्लैंड अंडर दि ट्यूडर्स।

हेनरी चतुर्थ (फ्रांस) (१५५३ - १६१०) बूरबान के ऐंथनी तथा जीन डी एलब्रेट का तृतीय पुत्र हेनरी चतुर्थ फ्रांस और नेवार का राजा था। वह ह्यू गेनॉट दल का नेता बना तथा फ्रांस के धार्मिक युद्धों में प्रमुख स्थान (१५६४ ई०) प्राप्त किया। १५७२ ई० में मार्ग्रेट से विवाह किया। हेनरी तृतीय की मृत्यु पर १५८९ ई० में फ्रांस का राजा हुआ। इसने युद्ध को जारी रखा तथा १५९० में ईव्री (Ivery) की विजय प्राप्त की किंतु पेरिस को लेने में असफल रहा। ईडिक्ट ऑव नैंट्स (१५९८) ने धार्मिक प्रश्नों का निपटारा ह्यू गेनॉट्स को सुविधाएँ देकर किया। हेनरी ने सामंतों का दमन कर राजकीय शक्ति को पुन: स्थापित किया। अपने मंत्री सली की सहायता से उसने आर्थिक व्यवस्था का संगठन किया। कृषि का विकास किया, सड़कें और नहरें बनवाईं, व्यापार और जलशक्ति को प्रोत्साहन दिया तथा भारत और उत्तरी अमरीका में उपनिवेश स्थापित किए। उसकी वैदेशिक नीति ब्रिटिश मैत्री पर आधारित थी। हेनरी का १६१० ई० में एक धर्मांध के द्वारा वध हुआ।

सं० ग्रं० — पी० एफ० विलर्ट : हेनरी ऑव नेवार; एच० डी० सिडिक: हेनरी ऑव नेवार।

हेनरी चतुर्थ (रोमन सम्राट्) (१०५०-११०६) हेनरी तृतीय का पुत्र हेनरी चतुर्थ बृहत् रोमन साम्राज्य का जर्मन सम्राट् था। (१०६५) ई० में अपनी माँ के संरक्षण में गद्दी पर बैठा। १०७५ में सैक्सन विद्रोहों का दमन किया। उसके शासन की प्रमुख घटना पोप ग्रेगरी सप्तम से अभिषेक के प्रश्न पर संघर्ष था। हेनरी पोप के द्वारा बहिष्कृत किया गया किंतु १०७७ ई० में उसने क्षमा माँग ली। १०८० ई० में फिर बहिष्कृत किया गया। १०८४ ई० में हेनरी ने रोम में प्रवेश किया। पोप को निष्कासित किया तथा क्लेमंट तृतीय के नाम से एक नया पोप स्थापित किया, जिसने हेनरी का सम्राट् के रूप में राजतिलक किया। १०९० ई० मे वह फिर इटली गया और वहाँ पराजित हुआ। १०९३ से अपनी मृत्यु तक हेनरी जर्मनी के विद्रोही राजाओं से संघर्ष करता रहा। उसका पुत्र भी बागी हो गया। हेनरी बंदी बना और विवशता में उसे राज्य त्यागना पड़ा। वह लीज की ओर भागा और एक दूसरे संग्राम की तैयारी के बीच उसकी मृत्यु हो गई।

हेनरी पंचम (१०८१-११२५) हेनरी चतुर्थ का द्वितीय पुत्र हेनरी पंचम जर्मन सम्राट् था। १०९९ ई० में वह जर्मनी का सम्राट् निर्वाचित हुआ था। ११०४ ई० में उसने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया और उसे अपदस्थ कर उत्तराधिकारी हुआ। इंग्लैंड के हेनरी प्रथम की पुत्री मैटिल्डा से उसने विवाह किया। ११११ ई० मे सम्राट् के रूप में उसका राजतिलक हुआ। यद्यपि उसे पोप की सहायता से राज्य मिला था फिर भी वह अभिषेक के प्रश्न पर पोप से संघर्ष करता रहा जब तक ११२२ ई० में समझौता नहीं हो गया। जर्मनी में उसकी केंद्रीकरण की नीति के कारण सैक्सनी और राइनलैंड में विद्रोह हुए। कुछ सफलताओं के उपरांत वह १११५ ई० में हारा। १११६ ई० में वह फिर इटली गया और राजमुकुट ग्रहण किया। १११८ ई० में वह बहिष्कृत किया गया। जर्मनी वापस लौटने पर उसने शांति स्थापित की। ११२४ ई० में फ्रांस के लुई षष्ठ के विरुद्ध एक सैनिक टुकड़ी भेजी। ११२५ ई० में हेनरी यूट्रेक्ट में नि:संतान मर गया।

हेनरी षष्ठ (११६५-११९७) फ्रेडरिक बारबरोसा का पुत्र हेनरी षष्ठ ११९० ई० में जर्मनी का राजा हुआ। ११९१ मे रोम में उसे सम्राट् की उपाधि मिली। सिसली की राजकुमारी कांस्टेंस से विवाह किया। उसका सूक्ष्म शासन इटली के सतत युद्धों से पूर्ण है। जर्मनी में उसने शांति स्थापित की। हेनरी का प्रमुख उद्देश्य साम्राज्यवादी व्यवस्था को वंशानुगत कर देना था किंतु राजाओं एवं पोप के विरोध के कारण उसकी महत्वाकांक्षा असफल रही। ११९७ ई० में मेसिना में उसकी मृत्यु हो गई।

हेमचंद जोशी हिंदी के प्रमुख भाषाशास्त्री तथा इतिहासज्ञ का जन्म नैनीताल में २१ जून, सन् १८९४ ई० को हुआ। शिक्षा दीक्षा अलमोड़ा, प्रयाग तथा वाराणसी में हुई। काशी हिंदू विश्वविद्यालय से इतिहास में एम० ए० किया। बरलिन विश्वविद्यालय में भी आपने उच्च अध्ययन किया और पेरिस विश्वविद्यालय से ऋग्वेदकाल में आर्थिक राजनीतिक स्थिति पर शोधप्रबंध प्रस्तुत कर डी. लिट्. की उपाधि ली। फ्रांस तथा जर्मनी मे आप अनेक वर्ष रहे तथा वहाँ भाषा एवं साहित्य का गहन अध्ययन किया। स्वाधीनता आंदोलन में भी आपने प्रारंभ मे भाग लिया था। गांधी की अपेक्षा तिलक का आपपर अधिक प्रभाव था। आप प्राय: सभी प्रमुख भारतीय भाषाएँ जानते थे। ग्रीक, लैटिन, इतालवी आदि भाषाओं के भी आप अच्छे ज्ञाता थे। सन् १९२२ में आपकी 'स्वाधीनता के सिद्धांत' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। सन् '४० में भारत का इतिहास और '४४ में विक्रमादित्य नामक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। पिशेल के प्राकृत भाषा के व्याकरण का अनुवाद आपकी उल्लेख्य कृति है। आपने संस्मरण, यात्रा विवरण तथा प्रमुख पत्र पत्रिकाओं में सैकड़ों महत्वपूर्ण निबंध लिखे हैं। मासिक विश्वमित्र, विश्ववाणी तथा धर्मयुग का संपादन कर आपने हिंदी पत्रकारिता को नवीन दिशा प्रदान की। हिंदी भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में आपकी सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी।

[ल० श० व्या०]

हेमचंद दासगुप्त भूविज्ञानी थे। इनका जन्म सन् १८७८ में दीनाजपुर जिले में हुआ था। जिला स्कूल से प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत १८९५ में आपने कलकत्ता प्रेसीडेंसी कालेज में प्रवेश किया। यहाँ सन् १९०० में आपने एम० ए० (आनर्स) की डिग्री प्राप्त की। तीन वर्ष पश्चात् आपकी नियुक्ति इसी विद्यालय में डिमॉन्स्ट्रेटर के पद पर हुई। धीरे धीरे उन्नति करते हुए आप इसी विद्यालय में भूविज्ञान के प्रोफेसर हो गए।

बहुत सी संस्थाओं से आपका निकट संबंध था। भारतीय विज्ञान कांग्रेस के विकास में आपने महत्वपूर्ण योग दिया। आप उसकी कार्यकारिणी के सदस्य थे तथा सन् १९२८ ई० में उसके भूविज्ञान विभाग के अध्यक्ष चुने गए। 'जियालोजिकल माइनिंग ऐंड मेटालरजिकल सोसाइटी ऑव इंडिया' के आप संस्थापकों में से थे तथा आपने उसके सेक्रेटरी के रूप में भी कार्य किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय की विभिन्न संस्थाओं के भी आप सदस्य थे। इनके अतिरिक्त आप 'बंगीय साहित्य परिषद्', 'एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' तथा 'इंडियन एसोसिएशन फार कल्टिवेशन ऑव साइंस' के भी प्रमुख कार्यकर्ताओं में से थे। जमशेदपुर में ताता स्टील कंपनी स्थापित करने में आपका प्रमुख हाथ था। आप ही की संमति से यह कंपनी जमशेदपुर में स्थापित हुई। आपका जीवन बहुत सादा था। आपका देहावसान १ जनवरी, सन् १९३३ को हुआ। [म० ना० मे०]

हेमिपटेरा (Hemiptera. हेमि (hemi) आधा, टेरॉन (pteron) एक पक्ष के अंतर्गत खटमल, जूँ, चिल्लर, लाक कीट (जैसे लाख का कीड़ा), सिकाडा (Cicada) और वनस्पति खटमल जिसे गाँवों में लाहीं कहते हैं। इन्हें मत्कुणगण भी कहा जाता है। मत्कुण का अर्थ होता है खटमल। इस प्रकार के कीटों को हेमिप्टेरा नाम सबसे पहिले लीनियस (Linnaeus) ने १७३५ ई० में दिया था। इस नाम का आधार यह था कि इस गण की बहुत सी जातियों में अग्रपक्ष का अर्ध भाग झिल्लीमय और शेष अर्ध भाग कड़ा होता है। किंतु यह विशिष्टता इस गण के सब कीटों में नहीं पाई जाती। सबसे महत्वपूर्ण लक्षण जो इस गण की सभी जातियों में मिलता है और जिसकी ओर सबसे पहले फैब्रीसियस (Fabricius) का ध्यान सन् १७७५ में गया था, इन कीटों के मुख भाग हैं। मुख भाग में चोंच के आकार का शुंड होता है, यह सुई के समान नुकीला और चूसनेवाला होता है। इससे कीट छेद बना सकता है अधिकांश कीट पौधों के रस इसी से चूसते हैं। इससे वे पौधों को अत्यधिक हानि पहुँचाते हैं। हानियाँ दो प्रकार से हो सकती हैं—एक तो रस के चूसने से और दूसरी वाइरस (virus) के प्रविष्ट कराने से। इन कीटों का रूपांतरण अपूर्ण होता है। इनमें से अधिकांश कीट छोटे अथवा मध्य श्रेणी के होते हैं किंतु कोई कोई बहुत बड़े भी हो सकते हैं, जैसे जलवासी हेमिप्टेरा और सिकाडा। साधारणतया इन कीटों का रंग हरा या पीला होता है किंतु सिकाडा लालटेन मक्खी और कपास के हेमिप्टेरे के रंग प्राय: भिन्न होते हैं।

शरीररचना — सिर की आकृति विभिन्न प्रकार की होती है। शृंगिकाएँ प्राय: चार या पाँच खंडवाली होती हैं, किंतु सिलाइडी (Psyllidae) वंश के कुछ कीटों में दस खंडवाली और काकसाइडी वंश के कुछ नरों में पचीस खंडवाली भी होती हैं। मुखभाग छेद करके भोजन चूसने के लिये बने होते हैं। चिबुकास्थि (mandible) जंभिका (maxilla) सुई के आकार की होती हैं, सब आपस में सटे रहते हैं और मिलकर शुंड बनाते हैं। प्रत्येक जंभिका में दो खाँचे होते हैं और दोनों जंभिका आपस में इस प्रकार सटी रहती हैं कि दोनों ओर के खाँचों से मिलकर दो महीन नलियाँ बन जाती हैं। इस प्रकार बनी हुई नलियों में से ऊपरवाली चूषण-नली कहलाती है और इसके द्वारा भोजन चूसा जाता है। नीचेवाली नली से होकर पौधे के भीतर प्रवेश करने के लिये लार निकलती है इसलिये इसको लारनली कहते हैं। लेबियम में कई खंड होते हैं। यह म्यान के आकार का होता है; इसमें ऊपर की ओर एक खाँच होती है जिसमें अन्य मुखभाग, जिस समय चूसने का कार्य नहीं करते, सुरक्षित रहते हैं। लेबियम भोजन चूसने में कोई भाग नहीं लेता। जंभिका तथा लेबियम की स्पर्शिनियों का अभाव रहता है। वक्ष के अग्रखंड का ऊपरी भाग बहुत बड़ा तथा ढाल के आकार का होता है। टाँगों के गुल्फ (tarsus) दो या तीन खंडवाले होते हैं। पक्षों में विभिन्नताएँ पाई जाती हैं और शिराओं (veins) की संख्या बहुत कम रहती है। यह गण पक्षों की रचना के आधार पर दो उपगणों में विभाजित किया गया है। एक उपगण हेटरॉप्टेरा (Heteroptera) के अग्रपक्ष हेमइलायटरा (hemelytra) कहलाते हैं। इनका निकटस्थ भाग चिमड़ा होता है और इलायटरा से मिलता जुलता है, केवल अर्ध भाग ही इलायटरा की तरह होता है, इसी कारण इस उपगण को हेमइलायटरा या अर्ध इलायटरा कहते हैं। पक्षों का दूरस्थ भाग झिल्लीमय होता है। पश्चपक्ष सदा झिल्लीमय होते हैं और जब कीट उड़ता नहीं रहता उस समय अग्रपक्षों के नीचे तह रहते हैं। अग्रपक्षों का कड़ा निकटस्थ भाग दो भागों मे विभाजित रहता है। अगला भाग जो चौड़ा होता है, कोरियम (Corium) कहलाता है, तथा पिछला भाग जो सँकरा होता है क्लेवस (Clavus) कहलाता है। कभी कभी कोरियम भी दो भागों में विभाजित हो जाता है। दूसरा उपगण होमोप्टेरा (Homoptera) है क्योंकि इसके समस्त अग्रपक्ष की रचना एक सी होती है। अग्रपक्ष पश्चपक्षों की तुलना में प्राय: अधिक दृढ़ होते हैं। इस उपगण की बहुत सी जातियाँ पक्षहीन भी होती हैं, किन्हीं किन्हीं जातियों के केवल नर ही पक्षहीन होते हैं, या नरों में केवल एक ही जोड़ी पक्ष होते हैं। अंडरोपण इंद्रियाँ प्राय: ही पाई जाती हैं।

परिवर्धन — अधिकांश हेमिपटेरा गण के अर्भक (nymph) की आकृति प्रौढ़ जैसी ही होती है केवल इसके पक्ष नहीं होते और आकार में छोटा होता है। यह अपने प्रौढ़ के समान ही भोजन करता है। निर्मोको मोल्ट्स (moults) की संख्या भिन्न भिन्न जातियों मे भिन्न भिन्न हो सकती है। सिकाडा का जीवनचक्र बहुत लंबा होता है, किसी किसी सिकाडा की अर्भक अवस्था तेरह से सत्रह वर्ष तक की होती है, इसका अर्भक बिल में रहता है इसलिये इनमें बिल मे रहनेवाले कीटों की विशेषताएँ पाई जाती हैं। काकसाइडी (Coccidae) वंश के नरों में तथा एल्युरिडाइडी (Aleurididae) वंश के दोनों लिंगियों में प्यूपा की दशा का आभास आ जाता है, अर्थात् इनमें निंफ के जीवन में प्रौढ़ बनने से पूर्व एक ऐसा समय आता है जब वे कुछ भी खाते नहीं हैं। यह प्यूपा की प्रारंभिक दशा है। ये कीट इस प्रकार अपूर्ण रूपांतरण से पूर्ण रूपांतरण की ओर अग्रसर होते हैं। अधिकांश हिटरॉपटेरा में एक वर्ष में एक ही पीढ़ी होती है, किंतु होमोप्टेरा में जनन अति शीघ्रता से होता है। इतनी शीघ्रता से जनन का होना बहुत महत्व रखता है और इनको बहुत हानिकारक बना देता है। ग्रीष्मकाल में बहुत से एफिड

की एक पीढ़ी सात ही दिन में पूरी हो जाती है। हेरिक (Herrick) ने अनुमान लगाया है कि गोभी की एफिड में ३१ मार्च से १५ अगस्त तक बारह पीढ़ियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, इतने दिनों में एक मादा ५,६४,०८,७२,५७,५०,९२,३४,५५२ एफिड उत्पन्न कर सकेगी, इनकी तौल लगभग ८,२७,६२,७२,५०,५४१ सेर होगी अर्थात् एक वर्ष में २०,६६,०६,८१,२६७ मन एफिड उत्पन्न हो जाएगी किंतु सच तो यह है कि कोई भी कीट अपनी अधिक से अधिक जननशक्ति को नहीं पहुँच पाता है, क्योंकि अनेक विपरीत परिस्थितियाँ होती हैं, अनेक शत्रु होते हैं जो इनको खा जाते हैं, जिनके कारण इनकी संख्या इतनी अधिक नहीं बढ़ने पाती। इसलिये इतनी अधिक जननशक्ति होते हुए भी इनकी संख्या बहुत नहीं बढ़ती।

जीवन — अधिकतर हेमिप्टेरागण पौधों के किसी भाग का रस चूसकर अपना निर्वाह करते हैं, केवल थोड़े से ही ऐसे हेमिप्टेरा हैं जो अन्य कीटों का देहद्रव या स्तनधारियों और पक्षियों का रक्त चूसते हैं। एफीडाइडी (Aphididae), काकसाइडी और सिलाइडी (Psyllidae) वंशों की कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो पिटिका (gall) बनाती हैं। देहद्रव चूसनेवाले अधिकांश अन्य कीटों का ही शिकार करते हैं। ऐसी प्रकृति रिडुवाइडी (Reduvidae) वंश के कीटों और जलमत्कुणों में पाई जाती है, कुछ बड़े जलमत्कुण छोटी छोटी मछलियों और बेंगचियों (tadpole) पर भी आक्रमण करते हैं। रक्त चूसनेवाले मत्कुण कशेरुकदंडियों (Vertebrates) का रक्त चूसते हैं। रिडुवाइडी वंश के ट्रायटोमा (Triatoma) की जातियाँ, जो अयनवृत्त में पाई जाती हैं, बुरी तरह से रक्त चूसती हैं। ट्रायटोमा मेजिस्टा (Triatoma megista) प्राणनाशक 'चागास' (Chagas) रोग मनुष्यों में फैलाता है। खटमल संसार के समस्त देशों में उन मनुष्यों के साथ पाया जाता है जो गंदे रहते हैं। ऐसा विश्वास है कि यह अनेक प्राणनाशक रोगों का संचारण करता है जैसे प्लेग, कालाआजार, कोढ़ आदि। रिडुवाइडी वंश की कुछ जातियाँ पक्षियों का भी रस चूसती हैं।

पौधों का रस चूसनेवाले कीड़े अपने सुई के समान मुखभागों को बड़ी सरलता से पौधों में घुसा देते हैं, इनकी लार में एंज़ाइम (enzyme) होते हैं जो इनका इस कार्य में सहायता करते हैं। इनमें से कुछ कीटों की लार में ऐसे एन्ज़ाइम होते हैं जो पौधों की कोशिकाभित्ति (cell wall) को घुला देते हैं और ऊतकों को द्रव बना देते हैं। किन्हीं किन्हीं मत्कुणों की लार का एन्ज़ाइम स्टार्च को शर्करा बना देता है। बहुत से हेमोप्टेरा के भोजन में शर्करा अधिक होती है जिसको ये बूँद बूँद कर अपनी गुदा से निःस्रवण करते हैं। यह निःस्राव मधु-ओस (honey-dew) कहलाता है। मधु-ओस चींटियाँ बहुत पसंद करती हैं अतः वे इनकी खोज में घूमती फिरती हैं। कोई कोई चींटियाँ मधु-ओस का निःस्राव करनेवाली (एफिड) को अपने घोसलों में मधु ओस प्राप्त करने के लिये ले जाती हैं और देखभाल तथा रक्षा करती हैं।

जलवासी मत्कुणों, की जल में रहने के कारण तैरने और श्वसन के लिये, देहरचना में परिवर्तन आ गए हैं। वे कीट जो जलतल पर रहते हैं उनकी देह नीचे की ओर से मखमल की तरह मुलायम बालों से ढँकी रहती है जिस कारण ये कीट भीगने से बचे रहते हैं। वास्तविक जलवासियों की शृंगिकाएँ गुप्त रहती हैं क्योंकि जल में डूबे हुए कीटों को तैरने में बाधा डालते हैं। इनकी टाँगें पतवार की तरह हो जाती हैं। श्वसन के लिये भी बहुत से परिवर्तन आ जाते हैं, श्वसन इंद्रियाँ इनके पुच्छ की ओर पाई जाती हैं, ये बार बार जलतल पर आते हैं, और इन इंद्रियों द्वारा श्वसन करते हैं। किन्हीं किन्हीं कीटों में वायु को अपने पास रखने का भी प्रबंध होता है, जिस कारण उनको इतनी शीघ्रता से जलतल पर नहीं आना पड़ता है और इस वायु को श्वसन करने के काम में लेते रहते हैं।

बहुत से मत्कुणों में ध्वनि उत्पन्न करनेवाली इंद्रियाँ होती हैं। डाल्लाकार मत्कुणों की पश्च टाँगों पर बहुत छोटी छोटी गुल्लिकाएँ होती हैं। जब ये कीट अपनी ये टाँगें अपने उदर पर, जो खुरखुरा होता है, रगड़ते हैं तो ध्वनि उत्पन्न होती है। कोरिक्साइडी (Corixidae) वंश के कीटों के गुल्फाग्रिका (Pretarsus) पर दंत होते हैं। जब ये दंत दूसरी ओर वाली टाँग की उर्विका (फीमर, Femur) पर की खूँटियों पर रगड़े जाते हैं तो ध्वनि उत्पन्न होती है। सिकाडा में पश्चवक्ष के नीचे की ओर एक जोड़ी झिल्लियाँ होती हैं, इन झिल्लियों में विशिष्ट प्रकार की पेशियों द्वारा कंपन होता है और इस प्रकार ध्वनि होती है। किसी किसी सिकाडा में में ये झिल्लियाँ उदर के अग्रभाग में दोनों ओर पाई जाती हैं और ढक्कनों द्वारा सुरक्षित रहती हैं। हिमालय की घाटियों के जंगलों में पाए जानेवाले सिकाडा की ध्वनि लगभग बहरा करनेवाली और थकानेवाली होती है।

हानि और लाभ - मत्कुणगण पौधों को अत्यधिक हानि पहुँचाते हैं अतः इनका मनुष्य के हित से घनिष्ठ संबंध रहता है। अत्यधिक हानि पहुँचानेवाली जातियों में ईख का पायरेला (Pyrilla) है जो पौधों का रस चूस ईख की वृद्धि रोक देता है। धान का मत्कुण (Leptocorisa) बढ़ते हुए धान के दानों का रस चूस लेते हैं और इस प्रकार अंत में केवल धान की भूसी ही रह जाती है। कपास का मत्कुण (Dysdercus) कपास की ढोंडियों को छेदकर हानि पहुँचाते हैं। सेब की ऊनी एफिड (Eriosoma) काश्मीर के सेबों को बहुत हानि पहुँचाता है। संतरे की श्वेत मक्खी (Dialeurodes citri) और आइसेरिया परचेसी (Icerya purchasis), जो भारत में लगभग ३० वर्ष पूर्व आस्ट्रेलिया से आई थीं, मध्य भारत में संतरे और मोसमी को बहुत हानि पहुँचाती हैं। असम में चाय मुरचा (Tea blight), जो हेलियोपेल्टिस (Heliopeltis) द्वारा होता है, चाय को बहुत हानि पहुँचाता है। सच तो यह है कि काकसाइडी और एफीडाइडी दोनों ही वंशों के कीट बहुत हानिकारक हैं। कुछ श्वेत मक्खियाँ, द्रुयूका (एफिड) और कुछ अन्य मत्कुण पौधों में वायरस प्रवेश कर भिन्न भिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न कर हानियाँ पहुँचाते हैं।

यदि मनुष्य के लाभ की दृष्टि से देखा जाए तो लाख का कीट (Lacifer lacca) बहुत ही महत्व रखता है।

इन कीटों से लाख बनती है और लाख से चपड़ा बनाया जाता है (देखें 'लाख और चपड़ा')।

भौगोलिक वितरण — मत्कुणगण का वितरण बड़ा विस्तृत है, पर वे संसार के ठंढे भागों में नहीं पहुँच सके हैं। इस गण की अधिकांश जातियाँ भारत में पाई जाती हैं।

भूवैज्ञानिक वितरण — मत्कुणगण लोअर पर्मिएनयुग (Lower Permian) में कानसस (Kansas) और जर्मनी की चट्टानों में पाए गए हैं। जर्मन फासिल यूगरान (Eugeron) के मुखभाग मत्कुणगणीय हैं, केवल एक ही अंतर है कि लेबियम दो होते हैं जिनका आपस में समेकन नहीं हुआ है। पक्षों का शिराविन्यास (Venation) लगभग काकोच की तरह का है। इन लक्षणों के कारण इसको एक लुप्त हुआ पृथक् गण माना जाता है और इसका नाम प्राग्मत्कुणगण (Protohemiptera) रखा गया है। कानसस की चट्टानों में वास्तविक मत्कुणगण भी पाए गए हैं। वास्तविक मत्कुणगण सबसे प्रथम इप्सविच् के अपर ट्रायस (Upper trias of Ipswich) में मिले हैं। जुरेसिक (Jurassic) समय के पश्चात् मत्कुणगण के फसिलत्वाशेष अधिकता से पाए जाते हैं। जुरैसिक समय में दोनों उपगण मिलते हैं।

वर्गीकरण — मत्कुणगण पक्षों की रचना के आधार पर दो उपगणों में विभाजित किए गए हैं — होमाप्टेरा (Homaptera) में समस्त अग्रपक्ष एक सा होता है, किंतु हिटराप्टेरा (Heteroptera) में समस्त अग्रपक्ष एक सा नहीं होता है अर्थात् इसका निकटस्थ भाग कड़ा और दूरस्थ भाग झिल्लीमय होता है।

सं० ग्रं० — ए० डी० इम्स : ए जेनरल टेक्स्ट बुक ऑव इंटामालोजी रिवाइज्ड बाई ओ० डब्ल्यू० रिचर्ड्स ऐंड आर० जी० डेविस (१९५७); टी० वी० आर० ऐयर : ए हैंडबुक ऑव इकोनामिक इंटामालोजी फार साउथ इंडिया (१९४०); ए० डी० इम्स ऐंड एन० सी० चटर्जी : इंडियन फारेस्ट मेमॉइर ३ (१९१५); डब्ल्यू० एल० डिसटैंड : फॉना ऑव ब्रिटिश इंडिया (१९०२-१४); एच० एम० लेफराय : इंडियन इंसेक्ट्स लाइफ (१९०९)।

[रा० र०]

हेमू, राजा विक्रमाजीत यह जन्म से मेवात स्थित रिवाड़ी का हिंदू बनिया था। अपने वैयक्तिक गुणों तथा कार्यकुशलता के कारण यह सूर सम्राट् आदिलशाह के दरबार का प्रधान मंत्री बन गया था। यह राज्य कार्यों का संचालन बड़े योग्यता पूर्वक करता था। आदिलशाह स्वयं अयोग्य था और अपने कार्यों का भार वह हेमू पर डाले रहता था।

जिस समय हुमायूँ की मृत्यु हुई उस समय आदिलशाह मिर्जापुर के पास चुनार में रह रहा था। हुमायूँ की मृत्यु का समाचार सुनकर हेमू अपने स्वामी की ओर से युद्ध करने के लिये दिल्ली की ओर चल पड़ा। वह ग्वालियर होता हुआ आगे बढ़ा और उसने आगरा तथा दिल्ली पर अपना अधिकार जमा लिया। तर्दीबेग खाँ दिल्ली की सुरक्षा के लिये नियुक्त किया गया था। हेमू ने बेग को हरा दिया और वह दिल्ली छोड़कर भाग गया।

इस विजय से हेमू के पास काफी धन, लगभग १५०० हाथी तथा एक विशाल सेना एकत्र हो गई थी। उसने अफगान सेना की कुछ टुकड़ियों को प्रचुर धन देकर अपनी ओर कर लिया। तत्पश्चात् उसने प्राचीन काल के अनेक प्रसिद्ध हिंदू राजाओं की उपाधि धारण की और अपने को राजा विक्रमादित्य अथवा विक्रमाजीत कहने लगा। इसके बाद वह अकबर तथा बैरम खाँ से लड़ने के लिये पानीपत के ऐतिहासिक युद्धक्षेत्र में आ डटा। ५ नवंबर, १५५६ को युद्ध प्रारंभ हुआ। इतिहास में यह युद्ध पानीपत के दूसरे युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। हेमू की सेना संख्या में अधिक थी तथा उसका तोपखाना भी अच्छा था किंतु एक तीर उसकी आँख में लग जाने से वह बेहोश हो गया। इसपर उसकी सेना तितर बितर हो गई। हेमू को पकड़कर अकबर के संमुख लाया गया और बैरम खाँ के आदेश से मार डाला गया।

[मि० चं० पां०]

हेरोद (ई० पूर्व० ७३ से ४ तक) जुदेआ का बादशाह हेरोद ऐंटीपेटर का पुत्र था। ई० पूर्व ४७ में रोम की सेवाओं के पुरस्कारस्वरूप जूलियस सीजर ने ऐंटीपेटर को जुदेआ का प्रशासक नियुक्त किया था। उस समय ऐंटीपेटर ने हेरोद को गवर्नर बना दिया। लेकिन ई० पूर्व ४३ में ऐंटीपेटर की हत्या और देश पर पार्थियनों के कब्जा कर लेने के कारण वह रोम भाग आया। रोम में उसने मार्क एंटोनी का समर्थन प्राप्त किया। ऐंटोनी ने ई० पूर्व ४० में हेरोद को यहूदियों का शासक बनाने की स्वीकृति सीनेट से लेकर उसे कुस्तुतुनियाँ भेज दिया। यहाँ आकर उसने ई० पूर्व ३७ में रोमन सेनाओं की सहायता से जेरुसलम पर अधिकार कर लिया और वहाँ का शासक बन गया। बाद में उसने राजकुमारी मेरी आयूनी से अपनी दूसरी शादी कर अपनी स्थिति को और सुदृढ़ कर लिया।

अपने शासनकाल के पहले चरण (ई० पूर्व ३७ से २५) में हेरोद ने प्रतिस्पर्धियों को दबाकर अपनी गद्दी को सुरक्षित बनाया। रोम के एक प्रतिनिधि शासक के रूप में वह रोम का विश्वासपात्र बना रहा। लेकिन रोम में ऐंटोनी और आक्टेवियस की प्रतिद्वंद्विता के कारण उसकी स्थिति डावाँडोल बनी रहती थी। ई० पूर्व ३१ के युद्ध में आक्टेवियस ने उसे क्षमा करके उसको अपना समर्थन प्रदान किया।

उसके शासनकाल का दूसरा भाग (ई० पू० २५ से १३ तक) महान् निर्माण का काल है। उसने उस समय अनेक भव्य भवनों का निर्माण करवाया। सोमारिया नगर का पुनर्निर्माण और जेरुसलम का जीर्णोद्धार करवाया, थियटर, ओपेरा और खेलकूद के केंद्र बनवाए। जेरुसलम के महान् मंदिर में पुनरुद्धार का काम शुरू किया। वह सफल शासक था, फिर भी शासन की कठोरता और दमन नीति के कारण वह जनता की शुभेच्छा नहीं प्राप्त कर सका। बाद में घरेलू झगड़ों के कारण उसके शासन को बहुत हानि पहुँची। ई० पूर्व ४ में जेरुसलम में उसकी मृत्यु हो गई।

[स० वि०]

हेल, जॉर्ज एलरी (Hale, George Ellery, सन् १८६८–१९३८) अमरीकन ज्योतिर्विद् थे। इन्होंने यर्किज (Yerkes) और माउंट विल्सन वेधशालाओं का संगठन तथा निर्देशन किया। ये शिकागो विश्वविद्यालय में खगोल भौतिकी के प्रोफेसर भी थे। आपने स्पेक्ट्रमी सूर्यचित्री नामक यंत्र का आविष्कार किया तथा इसकी सहायता से सूर्य के परिमंडल स्तरों के फोटो लेकर उनका विश्लेषण किया।

सौर तथा तारास्पेक्ट्रम विज्ञान को आपकी देन चिरस्थायी है। आपने सूर्य के धब्बों में चुंबकीय क्षेत्रों का भी पता लगाया।

[भ० दा० व०]

हेल्म हॉल्ट्ज़, हेर्मान लुडविख फर्डिनेंड फॉन (सन् १८२१–१८६४), जर्मन शरीर क्रिया वैज्ञानिक तथा भौतिक विज्ञानी, का जन्म पॉट्सडैम नामक स्थान में हुआ था। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् आपने सेना में सर्जन के पद से जीवन आरंभ किया, पर सन् १८४५ में कनिक्सबर्ग में, सन् १८८५५ में बॉन तथा १८५८ में हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालयों में शरीर क्रिया विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् १८७१ में आपने बर्लिन विश्वविद्यालय मे भौतिकी के प्रोफेसर तथा शार्लेटनबर्ग में भौतिकीय प्राविधि संस्थान के निदेशक के पद सँभाले। यहाँ आप जीवन पर्यंत रहे।

हेल्म हॉल्ट्ज ने शरीर क्रिया विज्ञान से लेकर यांत्रिकी तक के विविध क्षेत्रों में अनुसंधान किए। सन् १८४७ में इस विषय पर लिखे आपके लेख के कारण आप 'ऊर्जा की अविनाशिता' नामक प्राकृतिक नियम के संस्थापक माने जाते हैं। सन् १८५१ में इन्होंने 'नेत्रांतर्दर्शी' (Opthalmoscope) का आविष्कार किया। शरीर क्रिया वैज्ञानिक प्रकाशिकी के क्षेत्र में आपकी अन्य देन भी अत्यंत महत्व की हैं, जैसे चक्षुओं के प्रकाशिक नियतांक नापने के लिये आपने विशेष यंत्र बनाए तथा वर्णदर्शन (Colour vision) संबंधी सिद्धांत प्रतिपादित किया। 'स्वर संवेदन' (Sensations of Tone) पर आपने जो पुस्तक लिखी, वह शरीर क्रियात्मक ध्वनिकी (Physiological acoustics) की आधारशिला हो गई। हेल्म होल्ट्ज ने विद्युत् दोलन तथा तरल गतिकी के क्षेत्र में श्रेष्ठ अनुसंधान किए तथा द्रव पदार्थ की श्यानता नापने की एक सुंदर रीति निकाली।

हेल्म हॉल्ट्ज अनुभववादी थे। नैसर्गिक (innate) भावनाओं में उनका विश्वास नहीं था। उनकी धारणा थी कि सब ज्ञान अनुभव पर आधारित होता है जिसका एक अंश एक पीढ़ी से दूसरी को वंशगत प्राप्त हो जाता है।

[भ० दा० व०]

हेवलॉक, सर हेनरी यह एक अंग्रेज सैनिक था। इसका जन्म ५ अप्रैल, सन् १७९५ को हुआ था और मृत्यु २४ नवंबर, सन् १८५७ को हुई। अपने चार भाइयों में यह दूसरा था। यह धनाढ्य पोत निर्माणकर्ता का पुत्र था। 'चार्टर हाउस स्कूल' में शिक्षा प्राप्त करके यह सन् १८१३ में 'मिडिल टेंपल' में प्रविष्ट हुआ। वकालत में उसकी कोई विशेष रुचि नहीं हुई इसलिये उसने सेना में पदार्पण किया। सन् १८२३ में वह भारत आ गया। लगभग छह वर्ष बाद उसने जोशुआ मार्शमन की पुत्री से विवाह कर लिया। सन् १८३८ में वह सेना में कप्तान बन गया। प्रथम अफ़गान युद्ध में गजनी तथा काबुल पर आक्रमण करके उन्हें अपने अधिकार में करते समय वह सर विलोबी कॉटन का अंगरक्षक था। इसने सिख तथा मराठा युद्धों में अपनी वीरता दिखाई और अंत में भारतस्थित सेनाओं का 'एडजुटेंट जेनरल' बन गया। फारस के युद्ध में सेना की एक टुकड़ी का नेतृत्व करने के लिये सर आउटरम ने हेनरी को सन् १८५७ में आमंत्रित किया। हैवलॉक वहाँ से लौटा ही था कि भारत में विद्रोह छिड़ गया। १८५७ के इस विद्रोह में सर हेनरी ने बड़ी वीरता दिखाई और वह उसके नायकों मे से एक बन गया। उसने विभिन्न स्थानों पर विद्रोही दलों को हराया। इलाहाबाद, लखनऊ तथा कानपुर में विद्रोहियों को दबाने के संबंध मे सहायता देने के लिये सर हैवलाक ने सराहनीय कार्य किया। इन कार्यों के लिये उसे अनेक संमान प्राप्त हुए। उसे 'के० सी० बी०' की उपाधि दी गई तथा वह सेना मे मेजर जेनरल बना दिया गया। उसे 'बैरोनेट' भी बनाया गया, परंतु उस समय तक पेचिश की बीमारी से उसकी मृत्यु हो चुकी थी।

[मि० चं० पां०]

हेस्टिंग्स, फ्रांसिस रॉडन सर जॉन रॉडन का पुत्र फ्रांसिस रॉडन हेस्टिंग्स ६ दिसंबर, १७५४ ई० को आयरलैंड के उच्च सामंत परिवार में उत्पन्न हुआ। वह दक्ष सेनानी तथा कुशल व्यवस्थापक था। उसकी शिक्षा हैरो तथा ऑक्सफर्ड में संपन्न हुई। सत्रह वर्ष की अवस्था में उसने सेना में प्रवेश किया। आंग्ल-अमरीकी युद्ध (१७७५–८२) में उसने भाग लिया। पिता की मृत्यु पर उसने अर्ल ऑव मोयरा का पद ग्रहण किया (१७९३); तथा १८०४ मे उसने विवाह किया।

लार्ड मिंटो के बाद १८१३ में हेस्टिंग्स भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य के उत्तरी सीमांत पर गुरखों की अग्रगामी नीति के कारण ईस्ट इंडिया कंपनी के संबंध नेपाल से विकृत हो चुके थे। तज्जनित युद्ध में नेपाल को, पराजित हो, अंगरेजों से सगौली की संधि करनी पड़ी। इस सफलता के फलस्वरूप हेस्टिंग्स मारक्विस ऑव हेस्टिंग्स की पदवी से विभूषित हुआ।

हेस्टिंग्स ने पिंडारियों के संरक्षक सिंधिया को कूटनीति द्वारा उनसे विलग कर दोनों को अशक्त बना दिया। फिर उसने पिंडारियों का मूलोच्छेदन कर दिया। पठानों को दबाने में भी वह पूर्ण सफल हुआ। तदनंतर अंतिम आंग्ल मराठा युद्ध में, पेशवा बाजीराव को पराजित कर, हेस्टिंग्स ने मराठा साम्राज्य को ध्वस्त कर दिया। अंत में सिंधिया, होल्कर तथा बरार के राजा को शक्तिहीन बना भारत में अंगरेजों की सार्वभौम सत्ता स्थापित कर दी। सौभाग्य से उसे ब्रिटिश भारत के योग्यतम अधिकारियों — एल्फिंस्टन, मनरो, मेटकाफ, मैल्कम, तथा ओक्टरलोनी — का सहयोग प्राप्त था। युद्धों के बावजूद उसने खजाने में प्राय. दो करोड़ रुपयों की बचत की। भारतीयों में शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। प्रेस की स्वतंत्रता का अनुमोदन किया। भारत में उसके अंतिम दिन डब्ल्यू० पामर ऐंड कंपनी नामक व्यापारी संस्था से संबंधित आलोचना के कारण कटु प्रमाणित हुए। अत. १८२१ में उसने त्यागपत्र दे दिया किंतु अपनी अवधि समाप्त कर १ जनवरी, १८२३ में उसने भारत छोड़ा। इंग्लैंड

पहुँचने पर वह माल्टा का गवर्नर नियुक्त हुआ। वहीं घोड़े से गिर कर आहत होने के कारण २८ नवंबर, १८२९ को उसकी मृत्यु हो गई।

सं० ग्रं० — जे० एफ० रॉस : द मारक्विस ग्रॉव हेस्टिंग्स; मारक्वोनस ग्रॉव ब्यूट (एडिटर) : दि प्राइवेट जर्नल ग्रॉव द मारक्विस ग्रॉव हेस्टिंग्स; एच० टी० प्रिंसेप : ऐडमिनिस्ट्रेशन ग्रॉव द मारक्विस ग्रॉव हेस्टिंग्स। [रा० ना०]

हेस्टिंग्ज, वारेन (१७३२-१८१८) वारेन हेस्टिंग्ज सन् १७५० में ईस्ट इंडिया कंपनी में लेखक नियुक्त होकर कलकत्ता पहुँचा। सिराजुद्दौला से कलकत्ता वापस लेने तथा संधि करने में उसने क्लाइव को सहायता दी। मीरजाफर के शासनकाल में वह मुर्शिदाबाद में सहायक रेजीडेंट रहा। तत्पश्चात् वह पटना की फैक्ट्री में प्रधान नियुक्त हुआ। १७६२ में वह कलकत्ता कौंसिल का सदस्य बना। उसी वर्ष उसने मीरकासिम के साथ व्यापारिक समझौता किया और मुंगेर की संधि करने में वैसिटर्ट को सहायता दी। बंगाल की लूट में उसका हाथ न था। १७६३ में वह इस्तीफा देकर इंगलैंड चला गया।

१७६९ में वारेन हेस्टिंग्ज मद्रास कौंसिल का सदस्य नियुक्त हुआ। १७७२ में वह बंगाल का गवर्नर बना। दो वर्ष में उसने वहाँ के शासन के लिये अनेक कार्य किए, यथा द्वैध शासन का अंत करना; कलकत्ते को राजधानी बनाना; पुलिस व्यवस्था को संगठित करना; डाकुओं, लुटेरों तथा आक्रमणकारी संन्यासियों को दबाना; राजस्व बढ़ाना; व्यापार की वृद्धि करना; नमक तथा अफीम के व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करना; सीमांत राज्यों के साथ व्यापारिक संबंध कायम करना; जिले को शासन की इकाई बनाना; प्रत्येक जिले में एक अंग्रेज कलेक्टर नियुक्त करना और मालगुजारी, न्याय और शासन उसके जिम्मे करना; माल के मामलों के लिये कलेक्टरों के ऊपर कमिश्नर तथा उनके ऊपर कलकत्ते में राजस्व बोर्ड रखना; न्याय के लिये कलेक्टरों के ऊपर सदर दीवानी और सदर निजामत अदालतें खोलना, देशी कानूनों का संग्रह करवाना; कर्मचारियों के भ्रष्टाचार को बंद करना तथा उनके व्यापार करने, भूमि रखने, घूस या इनाम लेने पर रोक लगाना। सम्राट् शाहआलम की पेंशन बंद करके, कड़ा और इलाहाबाद का अवध के नवाब के हाथ बेचकर, बंगाल के नवाब की पेंशन आधी करके तथा रुहेलों के विरुद्ध अवध को सहायता देकर वारेन हेस्टिंग्ज ने कंपनी की आय बढ़ाई। इन कार्यों के लिये उसकी कटु आलोचना हुई।

१७७४ में वारेन हेस्टिंग्ज बंगाल का गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ। ग्यारह वर्ष तक वह उस पद पर रहा। रेग्युलेटिंग ऐक्ट की त्रुटियों के कारण उसे अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। कौंसिल के तीन सदस्य विरोधी हो गए। दो वर्ष तक वह निर्णायक मत का प्रयोग न कर सका। १७८० में उसे फ्रैंसिस से द्वंद्वयुद्ध करना पड़ा। इंग्लैंड वापस जाकर फ्रैंसिस ने उसके विरुद्ध घोर प्रचार किया। प्रेसिडेंसियों ने बंगाल के आधिपत्य की अवहेलना की। उनके कार्यों के कारण प्रथम आंग्ल मराठा तथा द्वितीय आंग्ल मैसूर युद्ध हुए। सर्वोच्च न्यायालय तथा कंपनी के न्यायालयों में झगड़े होने लगे, जिन्हें वारेन हेस्टिंग्ज ने सर एलिजह इंपे को सदर दीवानी अदालत का प्रधान बनाकर मिटाया।

वैदेशिक मामलों में वारेन हेस्टिंग्ज ने कूटनीति का परिचय दिया। फ्रांस के साथ युद्ध छिड़ जाने पर उसने चंद्रनगर, पांडीचेरी और माही पर अधिकार कर लिया। आंग्ल मराठा युद्ध में उसने भोंसले को तटस्थ रखा, गायकवाड़ को मित्र बनाया, निजाम को मराठों से अलग किया तथा ग्वालियर पर अधिकार कर सिंधिया को संधि करने के लिये बाध्य किया और उसकी सहायता से सालबाई की संधि की जिससे मराठों से मित्रता हो गई और मैसूर मराठा गठबंधन टूट गया। मैसूर युद्ध में वारेन हेस्टिंग्ज ने हैदर अली को कहीं से सहायता न पहुँचने दी। फिर भी अंग्रेजों की बड़ी हानि हुई। अंत में हैदर अली की मृत्यु के पश्चात् मंगलोर की संधि द्वारा उसने टीपू से मित्रता कर ली, जिससे खोए हुए प्रदेश तथा कैदी वापस मिले। वारेन हेस्टिंग्ज ने अवध को संधियों से जकड़कर अंतराल राज्य बनाया। उसने भूटान आसाम के साथ मैत्रीभाव बढ़ाया, कूच-बिहार को आश्रित बनाया तथा तिब्बत से संपर्क स्थापित करने के लिये बोगल और टर्नर को भेजा। ऐसी स्थिति में बाह्य आक्रमणों तथा आंतरिक विद्रोहों से बंगाल को कोई भय न रहा। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ जम गई।

अपना कार्य बनाने के लिये वारेन हेस्टिंग्ज ने उचित और अनुचित का विचार न किया। युद्धों के समय धनाभाव के कारण उसने राजा चेतसिंह को गद्दी से हटा दिया, बनारस पर अधिकार कर लिया और उसके उत्तराधिकारी से चालीस लाख रुपए प्रतिवर्ष लिए; फैजाबाद की बेगमों से जागीरें तथा खजाना छीनने के लिये आसफ-उद्दौला को सैनिक सहायता दी; तथा विरोधी नंदकुमार पर जालसाजी का मुकदमा चलवाकर उसे फाँसी दिला दी। इन अनुचित कार्यों के लिये उसकी बहुत निंदा हुई।

सांस्कृतिक क्षेत्र में हेस्टिंग्ज ने कलकत्ते में मुस्लिम मदरसा खोला। सर विलियम जोन्स से बंगाल में एशियाटिक सोसायटी कायम कराई तथा कई अंग्रेज विद्वानों को भारतीय कानून की पुस्तकों का अंग्रेजी में अनुवाद करने के लिये प्रोत्साहित किया।

१७८५ में वारेन हेस्टिंग्ज इंग्लैंड वापस गया। वहाँ उसके विरुद्ध, भारत में उसके अनुचित कार्यों को लेकर, सात वर्ष तक पार्लियामेंट में मुकदमा चला, जिससे वह निर्धन हो गया। अंत में उसे सभी अभियोगों से मुक्ति मिल गई। कंपनी ने उसे ४००० पौंड वार्षिक पेंशन तथा ५०,००० पौंड कर्ज दिया। १८१८ में उसका देहांत हो गया। [ही० ला० गु०]

हैंगकाऊ खाड़ी चीन के चेकियांग प्रांत में हैंगकाऊ नगर के पूर्व में १६० किमी लंबी एवं ११२ किमी चौड़ी खाड़ी है। यह पूर्वी चीन सागर का प्रवेश द्वार (inlet) है जो सिएनतांग नदी के ज्वार मुहाने (Estuary) का निर्माण करता है। इस खाड़ी के किनारे समुद्री दीवारों से सुरक्षित हैयेन, हैनिंग, सियाओशान, त्सेकी और सिनहाई हैं। इससे कुछ दूरी पर चूसान द्वीप स्थित है। हैंगकाऊ की खाड़ी वर्णनीय ज्वारभाटों के लिये प्रसिद्ध है। इन्हें 'हैंगकाऊ

बोर' के नाम से जानते हैं। इनका दृश्य हैनिंग से बहुत ही आकर्षक दिखलाई देता है। बोर एवं धारा की तेजी तथा उथले पानी के कारण यह खाड़ी जलयानों के आवागमन के लिये उपयुक्त नहीं है।
[रा० प्र० सिं०]

हैंपशिर दक्षिणी इंगलैंड में एक काउंटी है जो पश्चिम में डार्सेटशिर और विल्टशिर, उत्तर में बर्कशिर, पूर्व में सरे और ससेक्स तथा दक्षिण में इंगलिश चैनेल द्वारा घिरी हुई है। इस काउंटी का क्षेत्रफल ३८४५ वर्ग किमी तथा जनसंख्या १३,३६,०८४ (१९६१) है। हैंपशिर का धरातल असमान है। उत्तर से दक्षिण खड़िया मिट्टी की पहाड़ियाँ फैली हुई हैं। इन्हे उत्तरी एवं दक्षिणी पहाड़ियाँ कहते हैं। इनकी औसत ऊँचाई १५० मी है तथा ये कहीं कहीं ३०० मी तक ऊँची हैं। कृषि यहाँ का प्रधान उद्योग है। भेड़, सूअर यहाँ पाले जाते हैं। दुग्ध एवं साग सब्जी उल्लेखनीय उपज हैं। हैंपशिर नस्ल की भेडों के लिये यह काउंटी विख्यात रही है। लेकिन इनका स्थान अब क्यून नस्ल की भेड़ों ने ले लिया है। इचेन, वी, टेस्ट तथा एवन नदियाँ हैंपशिर में बहती हैं। बादवाली दोनो नदियाँ स्ट्राउट एवं सालमन मछलियों के लिये विख्यात हैं। इस काउंटी मे इंगलैंड के दो प्रसिद्ध बंदरगाह — साउथैंपटन एवं पोर्टस्माउथ हैं। ये व्यापारिक एवं औद्योगिक केंद्र हैं। यहाँ की राजधानी विंचेस्टर है। इस्टले में रेल का कारखाना, बोर्नमाउथ एवं क्राइस्टचर्च पर्यटनकेंद्र (resort) एवं गास पोर्ट, बेसिंगस्टोक तथा एल्डरशाट सैनिक केंद्र हैं। प्रागैतिहासिक काल के आवासों के बहुत से प्रमाण हैं। ऐंग्लो-सैक्सन साम्राज्य का अंग होने के कारण यहाँ बहुत सी प्राचीन ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सामग्रियाँ हैं। कई स्थानों पर पाषाण, कांस्य एवं लौहयुग के औजार एवं लंब स्तूप मिले हैं।

यहाँ की विभूतियों में जेन आस्टिन, विलियम काबेट, चार्ल्स डिकेंस, जॉन केबल, चार्ल्स किंग्स्ले, जार्ज मेरेडिथ, मैरी मिटफर्ड, फ़्लोरेंस नाइटिंगेल, आइज़क वाट्स, गिलबर्ट ह्वाइट एवं शारलाट एम० यंग उल्लेखनीय हैं। जेन आस्टिन एवं गिलबर्ट ह्वाइट के आवासगृह अब संग्रहालय हैं। ११ सदस्य यहाँ से संसद में जाते हैं।

२ — मैसाचुसेट्स (संयुक्त राज्य अमरीका) में भी इस नाम की एक काउंटी है। क्षेत्रफल १३७५ वर्ग किमी है। यह मुख्यत : कृषि एवं वनों का क्षेत्र है। कनेक्टीकट एवं वेस्टफील्ड नदियाँ इसमें बहती हैं। नार्थैंपटन हैंपशिर की राजधानी है। [रा० प्र० सिं०]

हैज़लिट, विलियम (१७७८–१८३०) का परिवार हालैंड से आकर आयरलैंड में बस गया था। बाल्यावस्था में ही हैज़लिट अपने पिता के साथ कुछ दिनों के लिये अमरीका गए और वहाँ से लौटने पर उनका परिवार सन् १७८७ में वेम् नामक स्थान पर निवास करने लगा। हैज़लिट के बाल्यकाल और युवावस्था के वर्ष यहीं बीते। १५ साल की आयु में वे धार्मिक शिक्षा के लिये हाकनी की एक पाठशाला में भेजे गए किंतु वहाँ उनका मन न लगा और शीघ्र ही वे अपने बड़े भाई के साथ चित्रकारी सीखने लगे। चित्रकारी में उनकी अभिरुचि आजीवन बनी रही और उनके अंकित किए हुए कई चित्रों ने यथेष्ट ख्याति प्राप्त की। सन् १७९६ में वे बर्क के लेखों से प्रभावित हुए तथा सन् १७९८ में उनकी भेंट कोलरिज से हुई। इन दोनों घटनाओं से उनकी सुषुप्त प्रतिभा जाग्रत हो गई तथा धीरे धीरे साहित्यिक जगत् में उनकी पैठ होने लगी।

१३ वर्ष की अवस्था में ही हैज़लिट ने लेखन कार्य प्रारंभ किया किंतु बहुत समय तक उनकी रचनाएँ वैशिष्टयहीन थीं। सन् १७९८ में कोलरिज से साक्षात्कार के उपरांत उनकी अभिरुचि परिष्कृत हुई किंतु तब भी अनेक वर्षों तक वे स्फुट विषयों, जैसे दर्शन, अर्थशास्त्र इत्यादि पर पुस्तिकाएँ और निबंध लिखते रहे। सन् १८१५ और १८२२ के बीच के सात वर्षों मे हैज़लिट की सर्वाधिक सफल साहित्यरचना हुई। निबंध और वक्तृताओं के क्षेत्र में उनकी कृतियों ने विशेष यश प्राप्त किया। 'राउंड टेबुल' और 'टेबुल टाक' में संगृहीत उनके लेख तथा प्राचीन कवियों और नाटककारों पर उनके प्रसिद्ध भाषण इसी कालावधि में रचे गए। सरा वाकर नामक निम्न श्रेणी की स्त्री के प्रति आकर्षित हो जाने के कारण उनकी दूसरी पत्नी ने उनका परित्याग कर दिया। सन् १८२२ के आस पास कुछ समय तक इन उलझनों के कारण उनका मन विक्षुब्ध था और लाइबर एमारिस के प्रकाशन से उनकी अत्यधिक बदनामी हुई। धीरे धीरे चित्त शांत होने पर हैज़लिट ने कई और ग्रंथ लिखे— करेक्टरिस्टिक्स, दी जर्नी थ्रू फ्रांस ऐंड इटली, स्केचेज ऑव दि प्रिंसिपल पिक्चर गैलरीज इन इंगलैंड, दि प्लेन स्पीकर, दि स्पिरिट ऑव दी एज इत्यादि। अपने जीवन के अंतिम दो वर्ष लेखक ने नेपोलियन का जीवनचरित् लिखने में व्यतीत किए।

हैज़लिट स्वभाव से असहिष्णु और अप्रसन्न मन के व्यक्ति थे और उनका जीवन द्वंद्व तथा क्षोभ में बीता। उनके असफल पारिवारिक जीवन ने उनके स्वभाव को और भी तीक्ष्ण बना दिया था। उनकी राजनीतिक चेतना अत्यंत तीव्र एवं उदार थी। फ्रांस की राज्यक्रांति से जिस स्वातंत्र्य प्रेम की सृष्टि हुई उसका प्रभाव हैज़लिट के मन पर निरंतर बना रहा।

हैज़लिट मुख्यतः पत्रकार थे अतएव उनकी रचनाओं में प्रचुर वैविध्य है। लैंब की भाँति उनकी रचनाओं का क्षेत्र सीमित नहीं है वरन् उसमे प्रकृति, मानव, दर्शन, अर्थशास्त्र सभी का समावेश हुआ है। उनकी साहित्यिक समीक्षा उच्च कोटि की है। कोलरिज की भाँति उन्होंने नवीन सिद्धांतो की स्थापना नहीं की और न प्राचीन शास्त्रीय समीक्षकों की भाँति स्वीकृत प्रतिमानों द्वारा साहित्यिक मूल्यों के आँकने का प्रयास ही किया। उन्होंने अपने संवेदनशील मन पर पड़नेवाले प्रभाव को आधार बनाकर साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन किया है अत: उनकी आलोचनाओं को हम 'परख' की संज्ञा दे सकते हैं। हैज़लिट की गद्य शैली लैंब की गद्य शैली की अपेक्षा अधिक नवीन और सुस्पष्ट है। अपनी तीव्र अनुभूति, परिष्कृत अभिरुचि, उदार मनोवृत्ति तथा विशद ज्ञान के कारण आज भी उनकी गणना अंग्रेजी के मूर्धन्य निबंधलेखकों और समीक्षकों में होती है।
[रा० प्र० द्वि०]

हैदराबाद १. जिला— यह जिला भारत के आंध्र प्रदेश की राजधानी है। इससे पूर्व यह निज़ामराज्य की राजधानी था। इसके उत्तर में मेदक, पूर्व में नलगोंडा, दक्षिण तथा पश्चिम में महबूबनगर

पश्चिम में मैसूर राज्य का गुलबर्गा जिला है। इसकी जनसंख्या २०,६२,६६५ (१९६१ ई०) है। इसका क्षेत्रफल ४७८० वर्ग किमी है।

२. नगर — स्थिति १७° २०' उ० अ० तथा ७८° ३०' पू० दे०। यह नगर समुद्रतल से ५१६ मी की ऊँचाई पर कृष्णा की सहायक नदी मुसी के दाहिने तट पर स्थित है। नगर की जनसंख्या १२,५१,११९ (१९६१ ई०) है। यह बंबई, मद्रास कलकत्ता से मध्य रेलवे से तथा दिल्ली, मद्रास, बंगलोर और बंबई से वायुमार्गों द्वारा संबद्ध है। यह नगर कुतबशाही के पाँचवें शासक मुहम्मद कुली द्वारा १५८९ ई० में बसाया गया था। प्रसिद्ध गोलकुंडा का किला यहाँ से लगभग ८ किमी की दूरी पर है। यहाँ पर मसजिदों की संख्या मंदिरों से अधिक है। नगर में निजाम की अनेक अनूठी इमारतें भी हैं। मक्का मसजिद, उच्च न्यायालय, सिटी कालेज, उस्मानियाँ अस्पताल तथा स्टेट पुस्तकालय आदि उल्लेखनीय इमारतें हैं। उस्मानियाँ विश्वविद्यालय का भवन भी दर्शनीय है। इस विश्वविद्यालय की प्रमुख विशेषता यह है कि यहाँ पर अध्ययन तथा अध्यापन का माध्यम एक समय उर्दू थी। अंग्रेजी दूसरी भाषा के रूप में तब पढ़ाई जाती थी। यहाँ की निजामियाँ वेधशाला भी उल्लेखनीय है।

हैदराबाद भारत के बड़े नगरों में एक है। यह व्यापार का प्रमुख केंद्र है। यहाँ मुख्यतः कपास तथा कपड़े का उद्योग होता है। नगर के मध्य भाग में ५५ मी ऊँची 'चार मीनार' नामक इमारत स्थित है। पूरा नगर पत्थर की दीवाल से घिरा हुआ है जिसमें १३ मुख्य द्वार हैं।

३. हैदराबाद नाम का एक नगर पाकिस्तान के दक्षिणी भाग में भी है। यह सिंधक्षेत्र का प्रमुख नगर है। यह नगर रेगिस्तानी भूभाग में सिंध नदी के उत्तरी पूर्वी किनारे पर स्थित है। सिंध नदी से सिंचाई हो सकनेवाले भाग में गेहूँ की उपज होती है। पुराने बाग तथा सिंध के मीरों के मकबरे दर्शनीय स्थल हैं। नगर की जनसंख्या ४,३४,५३७ (१९६५ ई०) है।

हैन्स, एंडरसैन (१९०३-१९५६), जरमन रसायनज्ञ, इनका जन्म जर्मनी में हुआ। इन्होंने बाल्यकाल में प्रारंभिक शिक्षा पाने के बाद म्यूनिख विश्वविद्यालय में अध्ययन प्रारंभ किया और सन् १९२८ ई० में रसायनविज्ञान की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर उपाधि प्राप्त की। उस समय इनकी आयु केवल २५ वर्ष की थी। उसी वर्ष इन्होंने 'बायर कंपनी' को अपनी सेवाएँ अर्पित कीं और अनुसंधान की दिशा में दिन प्रति दिन प्रगति करते चले गए। इनकी विशेष रुचि मैलेरिया नाशक पदार्थों का अनुसंधान करने में थी और इसी हेतु आपने एमाइनो क्विनोलीन्स वर्ग के विषमज्वरनाशक द्रव्य की खोज करने में प्राणपण से लग गए तथा १९३४ ई० में इन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। आपने क्लोरोक्विन नामक औषधि का आविष्कार किया। जिससे ऊष्णकटिबंधी प्रदेशों में होनेवाले घातक मैलेरिया से पीड़ित करोड़ों मनुष्य को रोग से मुक्ति मिली और उनकी जीवनरक्षा हुई।

इसके अतिरिक्त इन्होंने रोगीवाणनाशक तथा एम्यूरीन नामक विटामिन बी₁ की खोज और इनको तैयार करने में भी महत्वपूर्ण कार्य किया। इनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान क्लोरोक्विन है।

[शि० ना० ख०]

हैमबुर्ग जर्मनी का एक बड़ा बंदरगाह है। एक समय यह हैमबुर्ग राज्य की राजधानी था। अब यह जर्मनी के फेडेरल रिपब्लिक के अधीन है। यहाँ की भूमि बड़ी उपजाऊ है। राई, जौ, गेहूँ तथा आलू की अच्छी फसलें होती हैं। हैमबुर्ग के अतिरिक्त बरगेडॉफ (Berge dorf) और कुक्सहैवन अन्य बड़े नगर हैं। हैमबुर्ग नगर समुद्र से १२० किमी अंदर एल्बे नदी की उत्तरी शाखा पर बर्लिन से २८५ किमी उत्तर पश्चिम में सपाट भूमि पर स्थित है। इस नगर में नहरों का जाल बिछा हुआ है। इसके बीच से ऐल्सटर (Alster) नदी भी बहती है जो इसे दो भागों में विभक्त करती है। छोटे भाग को बिनेन ऐल्सटर (Binnen alster) कहते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध में बंबारी से इसे बहुत क्षति पहुँची थी। पर युद्ध के बाद नगर का पुनः निर्माण हो गया है। द्वितीय युद्ध के पहले यह कॉफी का बहुत बड़ा केंद्र था और यहाँ मुद्रा का भी विनिमय होता था। आजकल यहाँ से चीनी, कॉफी, ऊनी और सूती सामान, लोहे के सामान, तंबाकू, कागज और मशीनों के तैयार माल बाहर भेजे जाते हैं और बाहर से कच्चे ऊन, कच्चे चमड़े, तंबाकू, लोहे, अनाज और कॉफी के कच्चे माल मंगाए जाते हैं। जहाज निर्माण का अच्छा व्यवसाय होता है, जहाजों की मरम्मत भी होती है। यह बंदरगाह वर्ष भर खुला रहता है। यहाँ का विश्वविद्यालय सुप्रसिद्ध है। इसमें अनेक आधुनिक विषयों की पढ़ाई होती है। [र० स० ख०]

हैमलेट शेक्सपियर का एक दुःखांत नाटक है, जिसका अभिनय सर्वप्रथम सन् १६०३ ई० तथा प्रकाशन सन् १६०४ ई० के लगभग हुआ था।

डेनमार्क का राजा क्लाडियस अपने भाई की हत्या करके सिंहासनारूढ़ हुआ। मृत राजा की पत्नी गरट्रूड, जिसकी सहायता से हत्या संपन्न हुई थी, अब क्लाडियस की पत्नी तथा डेनमार्क की महारानी बन गई। इस प्रकार अपने पिता की मृत्यु के बाद मृत राजा का पुत्र हैमलेट उत्तराधिकार से वंचित रह जाता है। हैमलेट जब विटेनबर्ग से, जहाँ वह विद्यार्थी था, वापस लौटता है तब उसके पिता की प्रेतात्मा उसे क्लाडियस और गरट्रूड के अपराध से अवगत कराती है तथा क्लाडियस के प्रति प्रतिहिंसा के लिये प्रेरित करती है। हैमलेट स्वभाव से विषादग्रस्त तथा दीर्घसूत्री है, अतः वह प्रतिहिंसा का कार्य टालता जाता है। अपनी प्रतिहिंसा की भावना छिपाने के लिये हैमलेट एक विक्षिप्त व्यक्ति के समान व्यवहार करता है जिससे लोगों के मन में यह धारणा होती है कि वह लार्ड चेंबरलेन पोलोनियस की पुत्री ओफीलिया के प्रेम में पागल हो गया है। ओफीलिया को उसने प्यार किया था किंतु बाद में उसके प्रति हैमलेट का व्यवहार अनिश्चित एवं व्यंगपूर्ण हो गया। अपने पिता की प्रेतात्मा द्वारा बताए हुए जघन्य तथ्यों की पुष्टि हैमलेट एक ऐसे नाट्य अभिनय के माध्यम से करता है जिसमें उसके पिता के वध की कथा दुहराई गई है। क्लाडियस की तीव्र प्रतिक्रिया से हैमलेट के मन में यह निश्चित हो जाता है कि प्रेतात्मा द्वारा बताई

हुई बातें सत्य हैं। नाट्य अभिनय के उपरांत वह अपनी माता की भर्त्सना करता है तथा क्लाडियस के धोखे में परदे के पीछे छिपे हुए पोलोनियस को मार डालता है। अब क्लाडियस हैमलेट की हत्या के लिये व्यवस्था करता है और इस अभिप्राय से उसे इंग्लैंड भेजता है। रास्ते में समुद्री डाकू उसे बंदी बनाते हैं और वह डेनमार्क लौट आता है। ओफीलिया की मृत्यु होती है तथा पोलोनियस का पुत्र एवं ओफीलिया का भाई लेयरटीज हैमलेट को द्वंद्व युद्ध के लिये चुनौती देता है। लेयरटीज को क्लाडियस का समर्थन प्राप्त है। वह विष से बुझी हुई तलवार लेकर हैमलेट से लड़ता है। दोनों घायल होते हैं और मरते हैं। अपनी मृत्यु के पूर्व हैमलेट क्लाडियस को मार डालता है और गरट्रूड भी अनजाने में विष मिली हुई मदिरा पीकर मर जाती है।

इस नाटक में अनेक महत्वपूर्ण नैतिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्नों का समावेश हुआ है तथा समीक्षकों ने इसमें निबद्ध समस्याओं पर गंभीर विचार प्रकट किए हैं। [रा० प्र० द्वि०]

हैमिल्टन, विलियम रोवन (१८०५-१८६५ ई०) आइरिश गणितज्ञ। इन्होंने पंचघातीय समीकरण, वेगालेख्य, दोलित (Fluctuating) फलनों और अवकल समीकरणों के संख्यात्मक हल पर शोधपत्र लिखे। हैमिल्टन का प्रधान अन्वेषण है—चतुर्वर्णांक, जो इनके बीजगणित के अध्ययन की चरमसीमा के परिचायक हैं। इन्होंने इसपर एक पुस्तक 'एलिमेंट्स ऑव क्वाटेरनियोंस', (Elements of quaternions) भी लिखना प्रारंभ किया था परंतु इसके पूर्ण होने से पूर्व ही २ सितंबर, १८६५ ई० को इनका देहांत हो गया।

हैरो इंग्लैंड में लंदन के १८ किमी उत्तर पश्चिम में मिडिलसेक्स काउंटी में एक आवासीय क्षेत्र है जिसका क्षेत्रफल ५१ वर्ग किमी एवं जनसंख्या २,०८,९६ (१९६१) है। यहाँ फोटोग्राफी, मुद्रण एवं चश्मा काँच से संबंधित उद्योग धंधे हैं। यह नगर हैरो नामक पब्लिक विद्यालय के लिये प्रसिद्ध है। इस विद्यालय की स्थापना १५७१ ई० में हुई थी। इसके स्नातकों में अनेक सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ हुए हैं जिनमें भारत के प्रथम प्रधान मंत्री स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू भी एक थे। [रा० प्र० सि०]

हैलमाहेरा द्वीप (Halmahera) स्थिति : २° १४′ उ० से ०° ५६′ द० अ० एवं १२७° २१′ पू० से १२८° ५१′ पू० दे०। हिंदेशिया में मलक्का द्वीपसमूह का सबसे बड़ा द्वीप है। क्षेत्रफल १७५८७ वर्ग किमी है। हैलमाहेरा द्वीप सेलेबीज के २४० किमी पूर्व में मलक्का जलमार्ग के उस पार है। इसमें ४ प्रायद्वीप हैं। सबसे बड़ा प्रायद्वीप १६० किमी लंबा एवं ६४ किमी चौड़ा है। ये द्वीप ३ बड़ी एवं गहरी खाड़ियों द्वारा एक दूसरे से अलग हैं। इस द्वीप का अधिकांश भाग जंगलों एवं पहाड़ियों से ढका हुआ है। कई सक्रिय ज्वालामुखी पर्वत यहाँ हैं। तटीय मैदान बहुत ही सँकरा है। हैलमाहेरा की मुख्य उपज जायफर (Nutmeg), आयरनवुड (Iron wood) रेजिन, साबू; धान, तंबाकू एवं नारियल हैं।

द्वितीय विश्वयुद्धकाल में हैलमाहेरा जापानी हवाई अड्डा था। १९४४ ई० में बमवर्षा द्वारा बुरी तरह नष्ट हो गया था। यह ब्रिटेन एवं हालैंड के अधिकार में रह चुका है। डचों ने १९४९ ई० में इसे हिंदेशिया को सौंप दिया। इसे जिलोला द्वीप भी कहते हैं। [रा० प्र० सि०]

होमियोपैथी एक चिकित्सा पद्धति है जिसके प्रवर्तक फ्रीडरिख सैमुएल हानेमान थे। इनका जन्म एक दरिद्र परिवार में १० अप्रैल, १७५५ ई० को जर्मनी के माइसेन नगर में हुआ था। इनके पिता मिट्टी के बर्तनों पर चित्रकारी का व्यवसाय करते थे। इनका बाल्यकाल आर्थिक कठिनाइयों में बीता। इन्होंने यूनानी, हिब्रू, अरबी, लैटिन, इतालवी, स्पेनी, फारसी तथा जर्मन भाषाओं के साथ ही रसायन और चिकित्साविज्ञान का भी गहन अध्ययन किया। २४ वर्ष की उम्र में एम० डी० परीक्षा उत्तीर्णकर कुछ समय ड्रेसडेन अस्पताल में प्रधान शल्य चिकित्सक रहने के बाद लाइपसिग के निकटस्थ एक गाँव में निजी तौर पर चिकित्साकार्य प्रारंभ किया। १० वर्षों तक ख्याति और धनार्जन करने के बाद रोगियों पर एलोपैथी दवाओं के कुप्रभाव को देखकर इन्होंने चिकित्सा करना छोड़ दिया और रसायन का अध्ययन तथा विज्ञान की पुस्तकों का अनुवाद करना प्रारंभ किया। १७९० ई० में डब्ल्यू० क्यूलेन (Wc Cullen) की औषधविवरणी (Materia Medica) का जर्मन भाषा में अनुवाद करते समय इनके मस्तिष्क में होमियोपैथी पद्धति का सूत्रपात हुआ। स्काच लेखक की सिनकोना (Cinchona) के ज्वरहारी गुणों की व्याख्या से असंतुष्ट होकर इन्होंने अपने ऊपर सिनकोना के कई प्रयोग किए। इससे उनके शरीर में एक प्रकार की मलेरिया के लक्षण उत्पन्न हो गए। जब जब उन्होंने दवा की खुराक ली, बीमारी का दौरा पड़ा। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि रोग उन्हीं दवाओं से शीघ्रतम प्रभावशाली और निरापद रूप से ठीक होते हैं जिनमें उस रोग के लक्षणों को उत्पन्न करने की क्षमता होती है। चिकित्सा के समरूपता के सिद्धांतानुसार औषधियाँ उन रोगों से मिलते जुलते रोग दूर कर सकती हैं, जिन्हें वे उत्पन्न कर सकती हैं। औषधि की रोगहर शक्ति जिससे उत्पन्न हो सकने वाले लक्षणों पर निर्भर है जिन्हें रोग के लक्षणों के समान किंतु उनसे प्रबल होना चाहिए। अतः रोग अत्यंत निश्चयपूर्वक, जड़ से, अविलंब और सदा के लिये नष्ट और समाप्त उसी औषधि से हो सकता है जो मानव शरीर में, रोग के लक्षणों से प्रबल और लक्षणों से अत्यंत मिलते जुलते सभी लक्षण उत्पन्न कर सके।

इनके द्वारा प्रवर्तित होमियोपैथी का मूल सिद्धांत है सिमिलिया सिमिलिबस क्यूरेंटर (Similia Similibus Curanter) अर्थात् रोग उन्हीं औषधियों से निरापद रूप से, शीघ्रातिशीघ्र और अत्यंत प्रभावशाली रूप से निरोग होते हैं, जो रोगी के रोगलक्षणों से मिलते जुलते लक्षण उत्पन्न करने में सक्षम हैं।

होमियोपैथी दवाएँ टिंचर (tincture), संपेषण (trituration) तथा गोलियों के रूप में होती है और कुछ ईथर या ग्लिसरीन में घुली होती हैं, जैसे सर्पविष। टिंचर मुख्यतया पशु तथा वनस्पति जगत् से व्युत्पन्न हैं। इन्हें विशिष्ट रस, मातृ टिंचर या मैट्रिक्स

टिंचर कहते हैं और इनका प्रतीक ग्रीक अक्षर थीटा (θ) है। मैट्रिक्स टिंचर तथा संपेषण से विभिन्न सामर्थ्यों (potencies) को तैयार करने की विधियाँ समान हैं।

टिंचर से विभिन्न तनुताओं (dilutions) या भिन्न भिन्न सामर्थ्य की ओषधियाँ तैयार की जाती हैं। तनुता के मापक्रम में हम ज्यों ज्यों ऊपर बढ़ते हैं, त्यों त्यों अपरिष्कृत पदार्थ से दूर हटते जाते हैं। यही कारण है कि होमियोपैथी विधि से निर्मित ओषधियाँ विषहीन एवं अहानिकारक होती हैं। इन ओषधियों में आश्चर्यजनक प्रभावशाली ओषधीय गुण होता है। ये रोगनाशन में प्रबल और शरीर गठन के प्रति निष्क्रिय होती हैं।

गंधक, पारा, संखिया, जस्ता, टिन, बेराइटा, सोना, चाँदी, लोहा, चूना, ताँबा तथा टेल्यूरियम इत्यादि तत्वों तथा अन्य बहुत से पदार्थों से ओषधियाँ बनाई गई हैं। तत्वों के यौगिकों से भी ओषधियाँ बनी हैं। होमियोपैथी ओषधविवरणी में २६० से २७० तक ओषधियों का वर्णन किया गया है। इनमें से अधिकांश का स्वास्थ्य नर, नारी या बच्चों पर परीक्षण कर रोगोत्पादक गुण निश्चित किए गए हैं। शेष दवाओं को विवरणी में अनुभवसिद्ध होने के नाते स्थान दिया गया है।

इस चिकित्सा पद्धति का महत्वपूर्ण पक्ष ओषधि सामर्थ्य है। प्रारंभ में हानेमान उच्च सामर्थ्य (२००,१००००) की ओषधि प्रयुक्त करते थे, किंतु अनुभव से इन्होंने निम्नसामर्थ्य (१X,३X, ६X, १२X या ६, १२, ३०) की ओषधि का प्रयोग प्रभावकारी पाया। आज भी दो विचारधारा के चिकित्सक हैं। एक तो उच्च सामर्थ्य की ओषधियों का प्रयोग करते हैं और दूसरे निम्न सामर्थ्य की ओषधियों का। अब होमियोपैथिक ओषधियों के इंजेक्शन भी बन गए हैं और इनका व्यवहार भी बढ़ रहा है।

हानेमान ने अनुभव के आधार पर एक बार में केवल एक ओषधि का विधान निश्चित किया था, किंतु अब इस मत में भी पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। आधुनिक चिकित्सकों में से कुछ तो हानेमान के बताए मार्ग पर चल रहे हैं और कुछ लोगों ने अपना स्वतंत्र मार्ग निश्चित किया है और एक बार में दो, तीन ओषधियों का प्रयोग करते हैं।

होमियोपैथी पद्धति में चिकित्सक का मुख्य कार्य रोगी द्वारा बताए गए जीवन इतिहास एवं रोगलक्षणों को सुनकर उसी प्रकार के लक्षणों को उत्पन्न करनेवाली ओषधि का चुनाव करना है। रोग लक्षण एवं ओषधि लक्षण में जितनी ही अधिक समानता होगी रोगी के स्वस्थ होने की संभावना भी उतनी ही अधिक रहती है। चिकित्सक का अनुभव उसका सबसे बड़ा सहायक होता है। पुराने और कठिन रोग की चिकित्सा के लिये रोगी और चिकित्सक दोनों के लिये धैर्य की आवश्यकता होती है। कुछ होमियोपैथी चिकित्सा पद्धति के समर्थकों का मत है कि रोग का कारण शरीर में सोरा-विष की वृद्धि है।

होमियोपैथिक चिकित्सकों की धारणा है कि प्रत्येक जीवित प्राणी में इंद्रियों के क्रियाशील आदर्श (functional norm) को बनाए रखने की प्रवृत्ति होती है और जब यह क्रियाशील आदर्श विकृत होता है, तब प्राणी में इस आदर्श को प्राप्त करने के लिये अनेक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। प्राणी को ओषधि द्वारा केवल उसके प्रयास में सहायता मिलती है। ओषधि अल्प मात्रा में देनी चाहिए, क्योंकि बीमारी में रोगी अतिसंवेदी होता है। ओषधि की अल्प मात्रा न्यूनतम प्रभावकारी होती है जिससे केवल एक ही प्रभाव प्रकट होता है। रुग्णावस्था में ऊतकों की रूपांतरित संग्राहकता के कारण यह एकावस्था (monophasic) प्रभाव स्वास्थ्य के पुनः स्थापन में विनियमित हो जाता है। [हे० कु० ब०]

होल्कर वंश के लोग होलगाँव के निवासी होने से होल्कर कहलाए। सर्वप्रथम मल्हारराव होल्कर ने इस वंश की कीर्ति बढ़ाई। मालवा-विजय में पेशवा बाजीराव की सहायता करने पर उन्हें मालवा की सूबेदारी मिली। उत्तर के सभी अभियानों में उन्होंने में पेशवा को विशेष सहयोग दिया। वे मराठा संघ के सबल स्तंभ थे। उन्होंने इंदौर राज्य की स्थापना की। उनके सहयोग से मराठा साम्राज्य पंजाब में अटक तक फैला। सदाशिवराव भाऊ के अनुचित व्यवहार के कारण उन्होंने पानीपत के युद्ध में उसे पूरा सहयोग न दिया पर उसके विनाशकारी परिणामों से मराठा साम्राज्य की रक्षा की।

मल्हारराव के देहांत के पश्चात् उसकी विधवा पुत्रवधू अहल्या बाई ने तीस वर्ष तक बड़ी योग्यता से शासन चलया। सुव्यवस्थित शासन, राजनीतिक सूझबूझ, सहिष्णु धार्मिकता, प्रजा के हित-चिंतन, दान पुण्य तथा तीर्थस्थानों में भवननिर्माण के लिये वे विख्यात हैं। उन्होंने महेश्वर को नवीन भवनों से अलंकृत किया। सन् १७९५ में उनके देहांत के पश्चात् तुकोजी होल्कर ने तीन वर्ष तक शासन किया। तदुपरांत उत्तराधिकार के लिये संघर्ष होने पर, अमीरखाँ तथा पिंडारियों की सहायता से यशवंतराव होल्कर इंदौर के शासक बने। पूना पर प्रभाव स्थापित करने की महत्वाकांक्षा के कारण उनके और दौलतराव सिंधिया के बीच प्रतिद्वंद्विता उत्पन्न हो गई, जिसके भयकर परिणाम हुए। मालवा की सुरक्षा जाती रही। मराठा संघ निर्बल तथा असंगठित हो गया। अंत में होल्कर ने सिंधिया और पेशवा को हराकर पूना पर अधिकार कर लिया। भयभीत होकर बाजीराव द्वितीय ने १८०२ में बेसीन में अंग्रेजों से अपमानजनक संधि कर ली जो द्वितीय आंग्ल मराठा युद्ध का कारण बनी। प्रारंभ में होल्कर ने अंग्रेजों को हराया और परेशान किया पर अंत में परास्त होकर राजपुरघाट में संधि कर ली, जिससे उन्हें विशेष हानि न हुई। १८११ में यशवंतराव की मृत्यु हो गई।

अंतिम आंग्ल-मराठा-युद्ध में परास्त होकर मल्हारराव द्वितीय को १८१८ में मंदसौर की अपमानजनक संधि स्वीकार करनी पड़ी। इस संधि से इंदौर राज्य सदा के लिये पंगु बन गया। गदर में तुकोजी द्वितीय अंग्रेजों के प्रति वफादार रहे। उन्होंने तथा उनके उत्तराधिकारियों ने अंग्रेजों की डाक, तार, सड़क, रेल, व्यापार-कर आदि योजनाओं को सफल बनाने में पूर्ण सहयोग दिया। १९०२ से अंग्रेजों के सिक्के होल्कर राज्य में चलने लगे। १९४८ में अन्य

देशी राज्यों की भाँति इंदौर भी स्वतंत्र भारत का अभिन्न अंग बन गया और महाराज होल्कर को निजी कोष प्राप्त हुआ।

[हो० ला० गु०]

होशियारपुर स्थिति : ३१° ३२' उ० अ०, ७५° ५७' पू० दे०। पंजाब राज्य (भारत) का एक जिला, तहसील तथा नगर है। जिले की जनसंख्या ११,३३,४९३ (सन् १९६१) तथा क्षेत्रफल ५७२४ वर्ग किमी है। जिले का पश्चिमी भाग मैदानी व पूर्वी भाग पहाड़ी है। ब्यास नदी उत्तरी सीमा तथा सतलज नदी पूरब दक्षिण तथा दक्षिण सीमा से बहती है। ब्यास के किनारे चावल तथा अन्य क्षेत्रों में मुख्यत. गेहूँ, गन्ना, तंबाकू आदि उत्पन्न किए जाते हैं।

होशियारपुर का समीपवर्ती क्षेत्र जालंधर के कटोच राज्य का भाग था। कालांतर में कटोच राज्य विघटित हो गया और वर्तमान जिला दातारपुर और जस्वाँ राजाओं में बँट गया। १७५९ ई० तक की शांति के पश्चात् उन्नत सिक्खों के आतंक से १८१८ ई० में पूरा राज्य लाहौर में मिल गया। १८४५-४६ के प्रथम सिक्ख युद्ध के पश्चात् यह ब्रिटिश सरकार के अधीन आ गया था।

जिला मुख्यालय होशियारपुर नगर में है। लोकप्रचलन के अनुसार १४ वीं शताब्दी के आरंभ में इसकी स्थापना हुई थी। १८०९ ई० में महाराज रणजीत सिंह ने इसे अधिकृत किया था। कपास पर आधारित वस्तुएँ, लकड़ी के सामान, जूते, ताँबे के बरतन, लाख रंजित सामान आदि यहाँ बनते हैं। पंजाब विश्वविद्यालय से संबद्ध ३ महाविद्यालय यहाँ हैं। नगर की जनसंख्या ५०,७३९ (१९६१) थी। क्षेत्रफल १०.१२ वर्ग किमी है। [आं० ला० का०]

हौवा प्रचलित व्युत्पत्ति के अनुसार हौवा का अर्थ है 'सभी मनुष्यों की माता'। ईश्वर ने हौवा की सृष्टि करके आदम को उसे पत्नी स्वरूप प्रदान किया था। वह अपने पति के अधीन रहते हुए भी आदम की भाँति पूर्ण मानव है। बाइबिल में प्रतीकात्मक ढंग से शैतान द्वारा हौवा का प्रलोभन चित्रित किया गया है। उसके अनुसार शैतान साँप का रूप धारण कर ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करने के लिये हौवा को प्रेरित करता है और बाद मे हौवा अपने पति को भी वैसा ही करने के लिये फुसलाती है (दे० आदम, आदि पाप)। संत पाल अपने पत्रों में शिक्षा देते हैं कि ईसा रहस्यात्मक रूप से द्वितीय आदम हैं जो प्रथम आदम का उद्धार करते हैं। इस शिक्षा के आधार पर ईसा की माता मरियम को द्वितीय हौवा माना गया है, वह ईसा के अधीन रहकर और उनके मुक्ति कार्य मे सहायक बनकर प्रथम हौवा का उद्धार करती हैं।

सं० ग्रं० — एनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी ऑव दि बाइबिल, न्यूयार्क, १९६३ [का० बु०]

ह्यू कापे (लगभग ९३८-९९६ ई०) ह्यू कापे फ्रांस का बादशाह और ह्यू महान् का ज्येष्ठ पुत्र था। उसे कापेटियन राजवंश की स्थापना करने का श्रेय प्राप्त है।

जुलाई, ९८७ में ह्यू कापे राजगद्दी पर बैठा। गद्दी पर बैठते ही राज्य में उसकी अच्छी धाक जम गई। लेकिन अपने राज्य के बड़े-बड़े सामंतों का समर्थन प्राप्त करने के लिये उसे शाही जमीन की भारी भेंट अदा करनी पड़ी। वास्तव में फ्रांस के बादशाह के रूप में ह्यू कापे उतना शक्तिशाली नहीं था जितना कि वह फ्रांस के ड्यूक के रूप में था। लारेन का चार्ल्स उसकी सत्ता के संमुख झुकने के लिये तैयार नहीं हुआ और उसने अपने सहयोगियों के साथ उस पर आक्रमण कर दिया। इस संघर्ष के पहले दौर में ह्यू कापे की स्थिति बहुत ही खतरनाक थी लेकिन किसी प्रकार उसकी रक्षा हुई और चार्ल्स को धोखे से पकड़कर उसके हवाले कर दिया गया। चार्ल्स को बंदी बनाए जाने बाद के संघर्ष समाप्त हो गया।

सन् ९८७ में ह्यू कापे ने रीमस के आर्कबिशप के रिक्त स्थान पर अरनल्फ की नियुक्ति की लेकिन उसके विश्वासघाती सिद्ध होने पर उसने उसके स्थान पर गरबर्ट की नियुक्ति कर दी। इस कारण पोप से उसका संघर्ष छिड़ गया। पोप ने ह्यू कापे और गरबर्ट दोनों को धर्मबहिष्कृत कर दिया। ह्यू कापे भी अडिग बना रहा और उसकी मृत्यु (२४ अक्तूबर, ९९६) तक यह संघर्ष चलता रहा। [स० वि०]

ह्यूगेनो व्युत्पत्ति की दृष्टि से ह्यूगेनो (Huguenot) संभवत: एक जर्मन शब्द आइडगेनोस्सेन (Eidgenossen) से संबंधित है, जेनेवा में १६वीं शताब्दी में आइडगेनोस्सेन का एक विकृत रूप अर्थात् एगुनो (Eiguenots) प्रचलित था जो ह्यूगेनो से मिलता जुलता है। सन् १५६० ई. के बाद फ्रांस के प्रोटेस्टैंट धर्मावलंबियों के लिये ह्यूगेनो शब्द ही सामान्यतः प्रयुक्त होने लगा था।

धार्मिक दृष्टि से कैलविन ने फ्रांस के प्रोटेस्टेंटों पर गहरा प्रभाव डाला है किंतु ह्यूगेनो एक राजनीतिक दल भी था जो कास्पार डे कोलिग्नी के नेतृत्व में समस्त फ्रांस में फैलकर अत्यंत प्रभावशाली बन गया। २४ अगस्त, १५७२, को बहुत से अन्य ह्यूगेनो नेताओं के साथ दे कोलिग्नी की हत्या कर दी गई (यह घटना मेसेकर ऑव सेंट बरथोलोम्यू के नाम से विख्यात है) किंतु इससे प्रोटेस्टैंट आंदोलन समाप्त नहीं हुआ और संघर्ष चलता रहा।

सन् १५९८ ई० में नैंट (Nantes) की राजाज्ञा के फलस्वरूप ह्यूगेनो लोगों को धार्मिक स्वतंत्रता मिली। उस समय फ्रांस में १२% प्रोटेस्टैंट थे। राजा लुइ चौदहवें ने सन् १६८५ ई० में नैंट की राजाज्ञा रद्द करके ह्यूगनो लोगों को नागरिक अधिकारों से वंचित कर दिया। वे बड़ी संख्या में हॉलैंड आदि प्रोटेस्टैंट देशों में प्रवासी बन गए। जो फ्रांस में रह गए उनपर बहुत अत्याचार हुआ जिससे वे प्राय: देहातों में छिप गए। सन् १७८७ ई० में ही उनको फिर नागरिक अधिकार दिए गए। आजकल फ्रांस में दो प्रतिशत लोग प्रोटेस्टैंट हैं जिनमें से ५/८ कैलविनिस्ट और ३/८ लूथरन हैं।

[का० बु०]

ह्यू म, एलेन ओक्टेवियन (१८२९-१९१२) इनका जन्म २२ अगस्त, १८२९ को इंगलैंड में हुआ था। इन्होंने भारत में भिन्न-भिन्न पदों पर काम किया और १८८२ में अवकाश ग्रहण किया। इसी समय ब्रिटिश सरकार के असंतोषजनक कार्यों के फलस्वरूप भारत में अद्भुत जागृति उत्पन्न हो गई और वे अपने को संबद्धित

करने लगे। इस कार्य में ह्यूम साहब से भारतीयों को बड़ी प्रेरणा मिली। १८८४ के अंतिम भाग में सुरेंद्रनाथ बनर्जी तथा व्योमेशचंद्र बनर्जी और ह्यूम साहब के प्रयत्न से इंडियन नेशनल यूनियन का संघटन किया गया।

२७ दिसंबर, १८८५ को भारत के भिन्न भिन्न भागों से भारतीय नेता बंबई पहुंचे और दूसरे दिन संमेलन आरंभ हुआ। इस संमेलन का सारा प्रबंध ह्यूम साहब ने किया था। इस प्रथम संमेलन के सभापति व्योमेशचंद्र बनर्जी बनाए गए थे जो बड़े योग्य तथा प्रतिष्ठित बंगाली क्रिश्चियन वकील थे। यह संमेलन 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ह्यूम भारतवासियों के सच्चे मित्र थे। उन्होंने कांग्रेस के सिद्धांतों का प्रचार अपने लेखों और व्याख्यानों द्वारा किया। इनका प्रभाव इंग्लैंड की जनता पर संतोषजनक पड़ा। वायसराय लार्ड डफरिन के शासनकाल में ही ब्रिटिश सरकार कांग्रेस को शंका की दृष्टि से देखने लगी। ह्यूम साहब को भी भारत छोड़ने की राजाज्ञा मिली।

ह्यूम के मित्रों में दादा भाई नौरोजी, सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी, सर फीरोज शाह मेहता, श्री गोपाल कृष्ण गोखले, श्री व्योमेशचंद्र बनर्जी, श्री बालगंगाधर तिलक आदि थे। इनके द्वारा शासन तथा समाज में अनेक सुधार हुए।

उन्होंने अपने विश्राम के दिनों में भारतवासियों को अधिक से अधिक अधिकार अंग्रेजी सरकार से दिलाने की कोशिश की। इस संबंध मे उनको कई बार इंग्लैंड भी जाना पड़ा।

इंग्लैंड में ह्यूम साहब ने अंग्रेजों को यह बताया कि भारतवासी अब इस योग्य हैं कि वे अपने देश का प्रबंध स्वयं कर सकते हैं। उनको अंग्रेजों की भाँति सब प्रकार के अधिकार प्राप्त होने चाहिए और सरकारी नौकरियों में भी समानता होना आवश्यक है। जब तक ऐसा न होगा, वे चैन से न बैठेंगे।

इंग्लैंड की सरकार ने ह्यूम साहब के सुझावों को स्वीकार किया। भारतवासियों को बड़े से बड़े सरकारी पद मिलने लगे। कांग्रेस को सरकार अच्छी दृष्टि से देखने लगी और उसके सुझावों का संमान करने लगी। ह्यूम साहब तथा व्योमेशचंद्र बनर्जी के हर सुझाव को अंग्रेजी सरकार मानती थी और प्रत्येक सरकारी कार्य में उनसे सलाह लेती थी।

ह्यूम अपने को भारतीय ही समझते थे। भारतीय भोजन उनको अधिक पसंद था। गीता तथा बाइबिल को प्रतिदिन पढ़ा करते थे।

उनके भाषणों में भारतीय विचार होते थे तथा भारतीय जनता कैसे सुखी बनाई जा सकती है और अंग्रेजी सरकार को भारतीय जनता के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इन्हीं सब बातों को वह अपने लेखों तथा भाषणों में कहा करते थे।

वे कहते थे कि भारत में एकता तथा संघटन की बड़ी आवश्यकता है। जिस समय भी भारतवासी इन दोनों गुणों को अपना लेंगे उसी समय अंग्रेज भारत छोड़कर चले जाएँगे।

ह्यूम लोकमान्य बालगंगाधर तिलक को सच्चा देशभक्त तथा भारत माता का सुपुत्र समझते थे। उनका विश्वास था कि वे भारत को अपने प्रयास द्वारा स्वतंत्रता अवश्य दिला सकेंगे। [मि० च०]

ह्यूम, डेविड (१७११–१७७६) विश्वविख्यात दार्शनिक, ह्यूम स्काटलैंड (एडिनबरा) के निवासी थे। आपके मुख्य ग्रंथ हैं — 'मानव प्रज्ञा की एक परीक्षा' (An Enquiry Concerning Human Understanding) और 'नैतिक सिद्धांतों की एक परीक्षा' (An Enquiry Concerning the Principles of Morals)

ह्यूम का दर्शन अनुभव की पृष्ठभूमि में परमोत्कृष्ट है। आपके अनुसार यह अनुभव (impression) और एकमात्र अनुभव ही है जो वास्तविक है। अनुभव के अतिरिक्त कोई भी ज्ञान सर्वोपरि नहीं है। बुद्धि से किसी भी ज्ञान का आविर्भाव नहीं होता। बुद्धि के सहारे मनुष्य अनुभव से प्राप्त विषयों का मिश्रण (संश्लेषण) एवं विच्छेदन (विश्लेषण) करता है। इस बुद्धि से नए ज्ञान की वृद्धि नहीं होती।

प्रत्यक्षानुभूत वस्तुओं में संबंध होते हैं, जो तीन प्रकार के हैं — सादृश्य संनिकर्ष (साहचर्य या सामीप्य) तथा कारणता। समानता के आधार पर एक वस्तु से दूसरी का स्मरण होना, निकटता के कारण घोड़ा से घुड़सवार की याद आना और सूर्य को प्रकाश का कारण समझना, इन विभिन्न संबंधों के उदाहरण हैं।

उपर्युक्त तीन संबंधों में कारणता संबंध ने दार्शनिकों का ध्यान अधिक आकृष्ट किया। 'कारणता' के संबंध में ह्यूम का विचार है कि 'कारणता' का आरोप करना व्यर्थ है। कारण और कार्य का संबंध वास्तविक नहीं है। बाह्य जगत् में हम दो घटनाओं को साथ घटते देखते हैं। ऐसा सदैव होने की अनुभूति के आधार पर हम एक को कार्य और दूसरे को कारण समझ लेते हैं। सूर्य के चमकने से प्रकाश की सदैव प्राप्ति है, अवश्य; परंतु इससे एक को कारण और दूसरे को कार्य कैसे कहा जा सकता है ? वास्तव में दोनों के मध्य किसी भी 'कारण संबंध' का अनुभव नहीं होता। इसीलिये ह्यूम के मतानुसार कार्य पूर्णतया कारण से भिन्न है और उन्हें एक को दूसरे में सन्निहित समझना मूर्खता है। 'प्रकृति समरूपता' और 'कारणता' का उद्भव मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि से होता है। दूसरे शब्दों में यों कहें कि इनका भावपक्ष ही प्रधान है, विषयपक्ष नहीं।

'कारणता' के सदृश ही द्रव्य (Substance) में आस्था रखना भ्रमपूर्ण है। किसी भी वस्तु में विभिन्न गुणों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। 'ये गुण किसी 'आश्रय' (Support) में हैं,' ऐसा समझना उचित नहीं। इस प्रकार के 'आश्रय' का ज्ञान अनुभव के परे है। किसी वस्तु से एक एक कर यदि अन्यान्य गुणों को हटाया जाय तो अंत में शून्यता ही शेष रहती है। अतः द्रव्य का अस्तित्व अंतकथा

मात्र है। इस प्रकार ह्यूम के विचार में 'कारणता' के समान ही द्रव्य में विश्वास का हेतु आत्मगत अभ्यास है, जिसे भ्रमवश विषयगत बनाया जाता है।

भौतिक द्रव्य की भाँति ही ह्यूम मानसिक द्रव्य को भी नहीं मानते। उनके अनुसार आत्मा या मन अनुभवों के एकीकरण के अलावा और कुछ नहीं है। मन एक रंगमंच मात्र ही है जहाँ भाव, विचार, अनुभव इत्यादि मानसिक अवस्थाएँ नृत्य करती दिखाई देती हैं; परंतु वह मन भी स्वतः अनुभव से परे रहता है। इन मानसिक विचारों का 'आश्रय' मन या आत्मा है. इसकी पुष्टि अनुभव से कतई नहीं होती।

धर्म के संबंध में ह्यूम की धारणा है कि इसकी उत्पत्ति मनुष्य की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि से नहीं बल्कि भौतिक परिवेश से होती है। इसका आधार संवेदना है, भावना नहीं। मानवस्वभाव धर्म का उत्प्रेरक अवश्य है, पर वह स्वभाव बुद्धि पर आधारित नहीं है, अनुभव से पोषित है। इस स्वभाव का संचालन मानसिक चिंतन से नहीं होता, भय और शारीरिक सुख से नियंत्रित होता है। यह आशा और उत्सुकता ही है जो अदृश्य शक्ति में आस्था उत्पन्न करती है और उससे भविष्य में मंगल होने की कामना को जन्म देती है।

धर्म की धारणा के समान ही ह्यूम ने अनुभवागोचर ईश्वर का भी खंडन किया। प्राकृत वस्तुओं को देखकर उनके कारण की जिज्ञासा स्वाभाविक है। परंतु संसार को कार्य मानकर उसका कारण ईश्वर को मान लेना अनुभव के परे है। वास्तव में कार्य-कारण-भाव तथा उसके द्वारा ईश्वर में आस्था का बोध स्वाभाविक नहीं है। निश्चय ही जो अनुभव से परे है उसे न हम जान सकते हैं और न सिद्ध ही कर सकते हैं। यह सही है कि ह्यूम ने ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वास नहीं किया, परंतु वे अंत तक कहते रहे कि उसका ज्ञान संभव नहीं है। इस प्रकार ह्यूम ने दर्शन के क्षेत्र में अपने को समीचीन संशयवादी सिद्ध किया। [ज० न० म०]

ह्यूमस किसी एक भूमि में बारबार फसल के उगाने और उसमें खाद न देने से कुछ समय के बाद भूमि अनुत्पादक और ऊसर हो जाती है। भूमि की उर्वरता के नाश होने का प्रमुख कारण भूमि से उस पदार्थ का निकल जाना है जिसका नाम 'ह्यूमस (Humus) दिया गया है। ह्यूमस कार्बनिक या अखनिज पदार्थ है जिसकी उपस्थिति से ही भूमि उर्वर होती है। वस्तुतः ह्यूमस वानस्पतिक और जांतव पदार्थों के विघटन से बनता है। सामान्य हरी खाद, गोबर, कंपोस्ट इत्यादि खादों और पेड़ पौधों, जंतुओं और सूक्ष्म जीवाणुओं से यह बनता है। ह्यूमस के अभाव में मिट्टी मृत और निष्क्रिय हो जाती है और उसमें कोई पेड़ पौधे नहीं उगते।

ह्यूमस में पेड़ पौधों के आहार ऐसे रूप में रहते हैं कि उनसे पेड़ पौधे अपना आहार अल्प ग्रहण कर लेते हैं। उसके अभाव में पेड़ पौधे अच्छे फलते फूलते नहीं हैं। मिट्टी के खनिज अंश में भी कुछ ह्यूमस रह सकता है पर वह सदा ही ऐसे रूप में नहीं रहता कि पौधे उससे लाभ उठा सकें ह्यूमस से मिट्टी की भौतिक दशा अच्छी रहती है ताकि वायु और जल उसमें सरलता से प्रवेश कर जाते हैं। इससे मिट्टी भुरभुरी रहती है। एक ओर जहाँ ऐसी मिट्टी नमी का अवशोषण कर उसको रोक रखती है वहाँ दूसरी ओर आवश्यकता से अधिक जल को निकाल देने में भी समर्थ होती है। ह्यूमस से मिट्टी में बैक्टीरिया और अन्य सूक्ष्म जीवाणुओं के बढ़ने और सक्रिय होने की अनुकूल स्थिति उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार पौधों के पोषक तत्व की प्राप्ति में सहायता मिलती है। वस्तुतः पौधों के आहार प्रस्तुत करने का ह्यूमस एक प्रभावकारी माध्यम होता है। बलुआर मिट्टी में इसके रहने से पानी रोक रखने की क्षमता बढ़ जाती है जिससे बलुआर मिट्टी का सुधार हो जाता है और मटियार मिट्टी में इसके रहने से उसका कड़ापन कम होकर उसे भुरभुरी होने में इससे सहायता मिलती है।

ह्यूमस की प्राप्ति के दो स्रोत हैं, एक प्राकृतिक और दूसरा कृत्रिम। प्राकृतिक स्रोत में वायु और वर्षा के जल से कुछ ह्यूमस मिट्टी को प्राप्त हो सकती है। कृत्रिम स्रोत है मिट्टी में हरी खाद, गोबर खाद, कंपोस्ट आदि डालना। खनिज उर्वरकों से ह्यूमस नहीं प्राप्त होता। अतः केवल कृत्रिम उर्वरक डालकर खेतों को उपजाऊ नहीं बनाया जा सकता। उर्वरकों के साथ साथ ऐसी खाद भी कुछ अवश्य रहनी चाहिए जिससे मिट्टी में ह्यूमस आ जाय। ह्यूमसवाली मिट्टी काले या भूरे रंग की, भुरभुरी एवं सछिद्र होती है और उसमें जल अवशोषण की क्षमता अधिक रहती है। [फू० स० व०]

ह्यूरन झील संयुक्त राज्य अमरीका की बड़ी झीलों में इसका सुपीरियर झील के बाद दूसरा स्थान है। मिशिगन और एरी झीलों के बीच स्थित यह ४०० किमी० लंबी एवं २४८ किमी चौड़ी है। इसका क्षेत्रफल ५८,८८० वर्ग किमी है। इस झील का ३४,००८ वर्ग किमी भाग कनाडा में पड़ता है। ह्यूरन झील का सबसे गहरा भाग २२७ मी० है। सुपीरियर एवं मिशिगन झीलों से पानी ह्यूरन झील में आता है तथा सेंट क्लेयर नदी, सेंट क्लेयर झील एवं डिट्रायट नदी में से होकर इसका पानी ईरी झील में चला जाता है। ह्यूरन झील में अप्रैल से लेकर दिसंबर तक जलयान चला करते हैं। ईरी, सुपीरियर एवं मिशिगन झीलों के बंदरगाहों से व्यापार होता है। व्यापार की मुख्य वस्तुएँ लौहखनिज, अनाज, चूनापत्थर एवं कोयला हैं। राकपोर्ट एवं रोजर्स सिटी पश्चिमी तट पर मुख्य बंदरगाह हैं जहाँ बड़े बड़े जलयान चले आते हैं। इसका पानी बहुत स्वच्छ है और अनेक प्रकार की मछलियाँ इस पानी में पाई जाती हैं। झील के उत्तरी भाग में कुछ छोटे छोटे द्वीप भी हैं। [रा० प्र० सिं०]

ह्यूस्टन (Houston) स्थिति ; २९° ४५' उ० अ० एवं ९५° २१' प० दे०। संयुक्त राज्य अमरीका के टेक्सास राज्य का सबसे बड़ा नगर, सर्वप्रमुख औद्योगिक केंद्र एवं बंदरगाह है। यह रसायन एवं तेलशोधन उद्योग के लिये विख्यात है। यहाँ जलयान, इस्पात, कृत्रिम रबर, कागज, इस्पात की पाइप, वस्त्र, सीमेंट, रेलगाड़ियाँ तथा वस्त्रनिर्माण एवं मांस को डिब्बों में बंद करनेवाले यंत्रों का निर्माण होता है। यह देश के दक्षिणी भाग का थोक व्यापार का केंद्र तथा कपास और पशु की मंडी है। यहाँ से पेट्रोलियम, कपास,

बिनौला, चमड़ा, अनाज, रसायनक, लकड़ी, चावल एवं निर्मित वस्तुओं का निर्यात तथा कहवा, जूट, अखबारी कागज, केला, चीनी, एवं लकड़ी का आयात होता है। ह्यूस्टन सड़कों एवं छह रेलमार्गों का केंद्र है।

ह्यूस्टन नगर की जनसंख्या ९,३८,२१९ एवं उपनगरों सहित ११,३९,६७८ (१९६०) थी। [रा० प्र० सि०]

ह्विग पार्टी इंग्लैंड की एक राजनीतिक पार्टी जिसका यह नाम चार्ल्स द्वितीय (१६६०-१६८५) के राज्यकाल में पड़ा। इस राजा के समय में कैथलिक धर्म को माननेवालों को राज्य की सेवाओं और पार्लमेंट की सदस्यता से वंचित कर दिया गया था पर राजा का छोटा भाई कैथलिकधर्मी जेम्स उसका उत्तराधिकारी था। उसको उत्तराधिकार से वंचित करने के लिये शैफ्ट्सबरी के अर्ल के नेतृत्व में कंट्रीपार्टी ने देश में प्रबल आंदोलन किया। शैफ्ट्सबरी ने पार्लमेंट में तीन बार इस संबंध का बिल प्रस्तुत किया पर राजा और उसके समर्थकों के विरोध के कारण उसको सफलता न मिली। १६७९ में जब राजा ने पार्लमेंट की बैठक स्थगित कर दी तो शीघ्र अधिवेशन बुलाने के लिये शैफ्ट्सबरी और उसके साथियों ने स्थान स्थान से उसके पास पिटीशन भिजवाए। राजा के समर्थकों ने इनका पिटीशनर (प्रार्थी) नाम रख दिया किंतु शीघ्र ही इनका ह्विग नाम पड़ गया। ह्विग शब्द की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों में मतभेद है, पर अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि स्काटलैंड के ह्विगमोर शब्द का यह रूपांतर है। धर्मरक्षा के लिये प्रतिज्ञाबद्ध हठी स्काचों को ह्विगमोर कहा जाता था। उन्होंने १६४८ में देश की राजधानी एडिनबरा पर आक्रमण किया था। राजा के समर्थकों की दृष्टि में पिटीशनरों का कार्य राजा पर आक्रमण के समान था। उन्होंने इन्हें ह्विग नाम से पुकारना आरंभ किया और शीघ्र ही यह नाम स्थायी हो गया। चार्ल्स के समय में ह्विग पार्टी अपने उद्देश्य की पूर्ति में असफल रही किंतु १६८५ में जेम्स द्वितीय के राजपद ग्रहण करने के बाद उसकी कैथलिकधर्मी नीति और स्वेच्छाचारिता का पार्टी ने समुचित विरोध किया। उसके निष्कासन और नियंत्रित राजतंत्र की स्थापना में इस पार्टी का प्रमुख हाथ था। राजपद का दैवी सिद्धांत और वंशानुगत अधिकार इस पार्टी को स्वीकार न था। कैथलिकों के अतिरिक्त अन्य प्राटेस्टेंट संप्रदायों के प्रति यह पार्टी सहिष्णुता की नीति की समर्थक थी। राज्य के नियंत्रण से मुक्त धर्मव्यवस्था की स्वतंत्र सत्ता भी पार्टी को मान्य न थी। विलियम (१६८९-१७०२) और ऐन (१७०२-१७१४) के समय यह पार्टी फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की समर्थक रही।

कैबिनेट (मंत्रिमंडल) की व्यवस्था को आरंभ करने का श्रेय भी इस पार्टी को है। १६९५ से १६९८ तक ह्विग जंटो के और १७०८ से १७१० तक पार्टी के नाम से ह्विगों ने शासन का संचालन किया। १७१४ में हनोवर वंश के जॉर्ज प्रथम के इंग्लैंड के राजा होने से १७६० में वंश के तीसरे राजा जॉर्ज तृतीय के राज्यारोहण तक शासनसूत्र पार्टी के हाथ में रहा। पार्टी ने उचित अनुचित सभी उपायों से अपना प्राधान्य बनाए रखा। कैबिनेटव्यवस्था के रूप में मंत्रीय उत्तरदायित्व के सिद्धांत को शासन में स्थायी बनाया। विदेशों में इंग्लैंड के प्रभाव के विस्तार और उपनिवेशों की स्थापना की नीति पार्टी ने अपनाई। पार्टी फ्रांस के विरुद्ध युद्धरत रही। पार्टी के ४६ वर्ष के शासन में व्यापार, कृषि और उद्योगधंधों की वृद्धि के कारण देश की आर्थिक समृद्धि हुई। जार्ज तृतीय के शासन के आरंभ में ही पार्टी के हाथ से शासनसूत्र निकल गया। १८३० तक टोरी पार्टी का अधिक बोलबाला रहा। १८३० के चुनाव में ह्विग पार्टी ने बहुमत से कामन्स सभा में प्रवेश किया। १८३२ के प्रथम रिफार्म ऐक्ट और बाद के सुधारवादी कानूनों को स्वीकृत कराने का श्रेय ह्विग पार्टी को है। इस पार्टी ने अब लिबरल नाम ग्रहण कर लिया और अभी तक पार्टी का यही नाम है। इंग्लैंड की राजनीति में बहुत समय तक ह्विग पार्टी का प्रमुख स्थान रहा। [मि० पं०]

ह्वेनसांग (ह्वान चुआंग, मृत्यु ६६४ ई०) बौद्ध भिक्षु के प्रसिद्ध विद्वान्, अनुवादक, विश्वयात्री तथा चीन के बौद्ध नेता। बाल्यकाल से ही बौद्ध धर्म के अध्ययन की ओर उसकी रुचि हो गई थी। वयस्क होने के पूर्व ही उसने संघ में प्रवेश किया और फिर होनान, शेंसी होपेह आदि राज्यों के विविध स्थानों की यात्रा की। उस समय के विख्यात बौद्ध विद्वानों के अनेक व्याख्यान उसने सुने और संस्कृत भाषा का भी अध्ययन किया। शीघ्र ही उसने अनुभव किया कि धर्मग्रंथों में वर्णित सिद्धांतों तथा उनके व्याख्याता विद्वानों के विचारों में बड़ा अंतर और परस्पर विरोध भी है। इसलिये अपनी शंकाओं के समाधान के लिये उसने भारत की यात्रा करने का निश्चय किया। सन् ६२९ (या ६२७) ई० में मध्य एशिया के स्थलमार्ग से वह कश्मीर पहुँचा। दो वर्ष वहाँ अध्ययन करने के उपरांत वह नालंदा (बिहार) पहुँचा। वहाँ पाँच वर्षों तक उसने आचार्य शीलभद्र तथा अन्य विद्वानों के पास बैठकर शिक्षा पाई। फिर उसने पूरब, पश्चिम तथा दक्षिण भारत के भी अनेक बौद्ध केंद्रों का पर्यटन किया और बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन किया।

पर्यटन के बाद वह पुन: नालंदा लौट आया और बौद्ध धर्म पर संस्कृत में दो ग्रंथों की रचना की। उसकी ख्याति सुनकर कामरूप के राजा ने और कन्नौज के हर्षवर्धन ने भी उसे आमंत्रित किया। उसने एक बड़े शास्त्रार्थ संमेलन का आयोजन किया। महायान संप्रदायवालों ने उसे महायानदेव की उपाधि से तथा हीनयानियों ने मोक्षदेव की उपाधि से विभूषित किया। ६४५ ई० में वह स्वदेश लौट गया और अपने साथ बुद्ध की सात मूर्तियाँ तथा ६५७ ग्रंथ भारत से लेता गया।

चीन के सम्राट् तथा जनता ने उसकी विद्वत्ता तथा सेवाओं का संमान किया। उसने चीन के विभिन्न भागों से विविध विषयों के अनेक विद्वानों को इकट्ठा किया, जिन्होंने अनुवाद कार्य में उसकी सहायता की। सन् ६४५ से ६६४ ई० तक उन्नीस वर्षों में ७५ ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में किया गया, जिनमें 'महाप्रज्ञ पारमिता सूत्र' तथा 'योगाचार भूमिशास्त्र' मुख्य थे। चीनी भिक्षुओं में उसके

अनुवादों का बड़ा महत्व है। पश्चिमी देशों के बौद्ध तीर्थों की यात्रा का उसका विवरण एशिया के इतिहास की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। [ज० यू०]

ह्वाइटहेड, एल्फ्रेड नार्थ (१८६१–१९४७) ह्वाइटहेड का जन्म १८६१ में इंग्लैंड में हुआ था। ट्रीनिटी कालेज (कैंब्रिज) में १९११–१९१४ में फेलो रहे और यूनिवर्सिटी कालेज, लंदन में १९१४–२४ में व्यावहारिक तथा मिकेनिक्स पढ़ाने का कार्य किया। इंपीरियल कालेज ऑव साइंस और टेक्नालाजी, लंदन में व्यावहारिक गणित के अध्यापक पद पर भी कार्य किया। १९२४ में वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय में दर्शन के अध्यापक नियुक्त हुए। इसी पद पर उन्होंने १९३८ में अवकाश ग्रहण किया।

ह्वाइटहेड की सर्वाधिक प्रसिद्ध दार्शनिक रचनाओं में 'प्रिंसिपिया मैथेमेटिका' तीन भाग (बर्टेंड रसेल के साथ), 'ऐन इनक्वायरी कंसर्निंग दि प्रिंसिपल्स ऑव नेचुरल नालेज' (१९१९), 'कासेप्ट ऑव नेचर' (१९२०), साइंस एंड दी माडर्न वर्ल्ड' (१९२६), 'रिलीजन इन दी मेकिंग' (१९२६), 'सिंबालिज्म' (१९२८), 'प्रोसेस एंड रियलिटी' (१९२९), 'एडवेंचर्स ऑव आइडियाज' (१९३३), 'दि प्रिंसिपल्स ऑव रिलेटिविटी' (१९२२), और 'मोड्स ऑव थाट' (१९३८) हैं।

ह्वाइटहेड दर्शन के क्षेत्र में काम करने के पूर्व वैज्ञानिक के रूप मे प्रसिद्ध हो गए थे। वे गणितीय तर्कशास्त्र के प्रवर्तकों में से एक थे। तिरसठ वर्ष की उम्र में उन्होंने गणित का अध्यापन कार्य छोड़कर दर्शन का अध्यापकपद स्वीकार कर लिया था। अभी तक दर्शन के क्षेत्र मे अंतिम सत्ता का निर्धारण मनस् या पुद्गल के रूप में किया जाता था। उन्होंने इस विभाजन पद्धति पर विचार करने का विरोध किया। गतिशील भौतिकी से प्रभावित होकर उन्होने अपनी दार्शनिक पद्धति की स्थापना की। उनके मतानुसार सत् एक ही है और जो कुछ प्रतीत होता है या हमारे प्रत्यक्षीकरण में आता है वह यथार्थ है। व्यक्ति के अनुभव में आनेवाली सत्ता के परे किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। ससार में न स्थिर प्रत्यय है और न द्रव्य; केवल घटनाओं का एक संघट है। सब घटनाएँ दिक्कालीय इकाइयाँ हैं। दिक् और काल की अलग अलग अवधारणा भ्रामक है।

ह्वाइटहेड की दार्शनिक पद्धति 'जैवीय' (आर्गेनिक) कहलाती है। सब घटनाएँ एक दूसरी को प्रभावित करती हैं और स्वयं भी प्रभावित होती हैं। यह संसार जैवीयरूप से एक है। आधारभूत तत्व गति या प्रक्रिया ही है। वह सर्जनात्मक है। सृजन का मूर्तरूप ईश्वर है। सृजन सर्वप्रथम ईश्वर रूप में ही व्यक्त होता है। हमारे अनुभव में आनेवाले तथ्य अनुभूतिकण कहे जा सकते हैं। उनके परे हमारा अनुभव नहीं पहुँच सकता है। वास्तविक सत्ताओं (एक्चुअल एंटिटी) के सघट से वस्तुओं का निर्माण होता है। वास्तविक सत्ता का उदाहरण नही दिया जा सकता है। एक संवेदना बहुत कुछ वास्तविक सत्ता है। वास्तविक सत्ताएँ लाइब्नीज के चिद्बिंदुओं जैसे ही हैं किंतु वे गवाक्षहीन नहीं है। इनका जीवन क्षण भर का होता है। इनकी रचना शून्य से संभव नही है। संसार की सब वास्तविक सत्ताएँ मिलकर एक वास्तविक सत्ता की रचना करता हैं। सृजन में नवीनता का कारण यह है कि एक वास्तविक सत्ता अधिक घनिष्टता से संबंधित है और दूसरी दूर और अप्रत्यक्ष रूप से संबंधित है। संसार की रचना मे सृजन और वास्तविक सत्ताओं के अतिरिक्त संभावित आकारों (पासिबिल फार्म) की भी आवश्यकता है। इन आकारों की दिक्कालीय सत्ता नही होती। वे शाश्वत होते हैं।

ह्वाइटहेड का दर्शन प्रकृतिवादी है किंतु पूर्व प्रकृतिवाद की तरह भौतिकवादी नहीं। यद्यपि वे भौतिकता और आध्यात्मिकता के विभाजन का विरोध करते हैं, तथापि उनका सिद्धांत अध्यात्मवाद की ओर अधिक झुकता है। [हृ० ना० मि०]
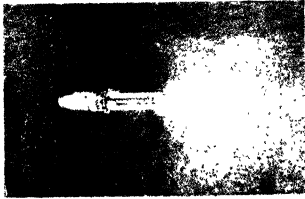
परिशिष्ट

अंतरिक्ष यात्रा और चंद्रविजय (देखें पृष्ठ ४०७)

सैटर्न ५

मेरिनर ४

जेमिनी ३

मौसमसूचक उपग्रह

टेल्स्टार संचार उपग्रह

केप केनेडी से प्रक्षेपित विभिन्न उपग्रह

रेंजर ६

अंतरिक्ष यात्रा और चंद्रविजय

प्रोजेक्ट मर्करी (पृथ्वी परिक्रमा हेतु उड़ान)

अपोलो ११ (चंद्रविजय हेतु प्रस्थान)

एल्ड्रिन चंद्रतल पर
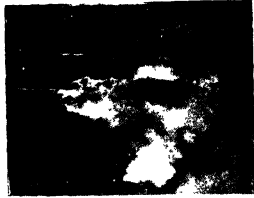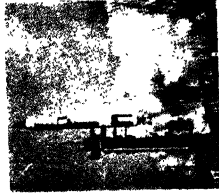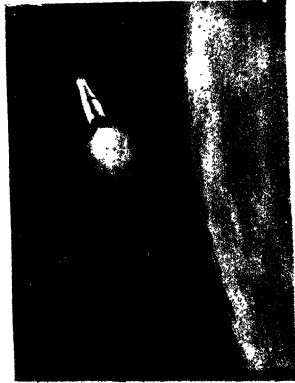
चंद्रमा से प्रस्थान
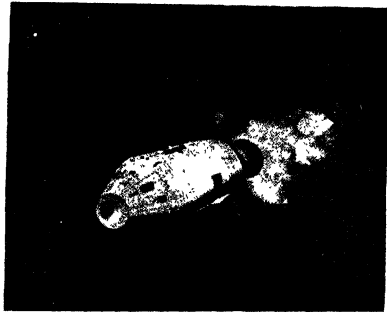
पृथ्वी की ओर यात्रा
(चंद्र कक्ष से बाहर आने के लिये अपोलो रॉकेट का विस्फोट)

अभिज्ञान शाकुंतलम्-एक मुग्धकारी दृश्य

(देखें पृष्ठ ४१२)

हिंदी विश्वकोश

परिशिष्ट

अंतरिक्षयात्रा और चंद्रविजय मानव प्रारंभ से ही अंतरिक्ष के प्रति जिज्ञासु रहा है। अंतरिक्षयात्रा अब केवल अध्ययन का ही विषय नहीं रह गई। अमरीका तथा रूस के कृत्रिम उपग्रहों के छोड़ने की घोषणा से संशय और कल्पना वास्तविकता के धरातल पर आने लगी। कल तक जिसका अस्तित्व वैज्ञानिक गल्पकारों की कल्पना में था, वह आज साकार हो रहा है। आकाशमंडल में भूमंडल से इतर पिंडों के अस्तित्व और भ्रमण की चर्चा सर्वत्र व्याप्त है। चंद्रमा के स्थायी रूप से पृथ्वी से विमुख अर्धांश के, तथा रेडिएशन जैसी सौर रश्मियों के अध्ययन में सफल वेधशाला के रूप में इसका प्रयोग किया जा सकेगा। ग्रहों पर उपनिवेश भी बसाए जा सकेंगे।

ग्रह के चारो ओर चलनेवाले आकाशीय पिंडों को उपग्रह कहते हैं। चंद्रमा पृथ्वी का उपग्रह है। अपने ग्रहों की परिक्रमा करने में उपग्रह एक निश्चित कक्षा में निश्चित वेग से घूमते हैं जिससे प्रत्येक स्थान पर अपकेंद्रबल, गुरुत्वीयबल के बराबर और उसके विपरीत हो जाता है।

यदि किसी उपग्रह का द्रव्यमान m है जो M द्रव्यमान के एक ग्रह के चारों ओर v वेग से घूम रहा है और उसकी वृत्ताकार त्रिज्या r है तो

अपकेंद्रबल = आकर्षण

या $\frac{m v^2}{R} = \frac{G. Mm}{R^2}$ जिसमें G गुरुत्वांक है,

या $v^2 = \frac{G M}{R}$

या $v^2 R = G M$. जो एक नियतांक के बराबर होगा।

पृथ्वी से चंद्रमा ३,८०,००० किमी दूर है अतः उसका वेग एक किमी प्रति सेकंड के लगभग है जो पृथ्वी के पास के उपग्रह के वेग का केवल $\frac{1}{8}$ है। अतः चंद्रमा एक महीने में पृथ्वी की परिक्रमा पूरी करता है जब कि पृथ्वी के पास का उपग्रह एक दिन में १५ परिक्रमा कर लेता है।

यदि किसी कृत्रिम उपग्रह को पृथ्वी की परिक्रमा करने के लिये अंतरिक्ष में भेजना है तो उसके लिये कम से कम ८ किमी या ५ मील प्रति से० का वेग आवश्यक है। इस वेग को प्रथम अंतरिक्ष वेग (first cosmic velocity) कहते हैं। यदि वेग ११.२ किमी प्रति सेकंड हो जाय तो वह द्वितीय अंतरिक्ष वेग या पलायन वेग (Escape velocity) कहलाता है। उपग्रह इस वेग द्वारा पृथ्वी के आकर्षणक्षेत्र से बाहर हो जायगा तथा सौर मंडल में अन्यत्र चला जाएगा।

पलायन वेग वह कम से कम वेग है जिससे किसी वस्तु को पृथ्वी से ऊपर की ओर फेंकने पर वह वस्तु पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण सीमा से बाहर निकल जाय और फिर लौटकर पृथ्वी पर वापस न आ सके।

इसे निम्न सूत्र से ज्ञात करते हैं—

$$v = \sqrt{\frac{2GM}{R}}$$

जहाँ v = वस्तु का पलायन वेग

G = गुरुत्वाकर्षणीय नियतांक = ६.६६×१०^{-८} स० ग० स० मात्रक

M = पृथ्वी का द्रव्यमान = ६×१०^{२७} ग्राम

R = पृथ्वी की त्रिज्या = ६.४×१०^{८} सेमी

इन मानों को समीकरण में प्रतिष्ठापित करने पर—

v = १.१×१०^{६} सेमी / से०

= ११ किमी प्रति से० या ७ मील प्रति० से०

= ३६००० फुट/से० या २५००० मील प्रति घंटा लगभग।

तीव्रगामी जेट विमानों और राकेटों का आविष्कार होने से कृत्रिम उपग्रहों को अंतरिक्ष में भेजने तथा अन्य ग्रहों पर अंतरिक्ष यानों में जाने में सुविधा हो गई। ४ अक्टूबर, १९५७ को रूस द्वारा छोड़ा गया कृत्रिम उपग्रह एक स्वचालित राकेट था जो बहुस्टेजी राकेट से पूर्वनिर्धारित कक्षा में छोड़ा गया था। स्पुतनिक के साथ ही उसको ले जानेवाला राकेट भी पृथ्वी की परिक्रमा उसके लगभग १००० किमी की दूरी पर तथा लगभग उसी ऊँचाई पर करता रहा और अंत में घने वायुमंडल में प्रविष्ट होने से जलकर राख हो गया।

एस० सी० क्लार्क (ग्रहविज्ञानवेत्ता), एफ० ए० आर० एस० ने 'शून्य की छानबीन' (The Exploration of Space) नामक पुस्तक में लिखा है कि राकेट की रचना चीनियों ने लगभग एक हजार वर्ष पूर्व की थी और उसका पहला प्रयोग १२१२ में मंगलों के विरुद्ध काइजेंग के आक्रमण में किया था जब मंगलों ने कैफंग नगर को घेरा था तो चीनियों ने आत्मरक्षार्थ अग्नि छड़ियों का उपयोग किया

था। बाद में इसका प्रयोग आतिशबाजी, पटाखे और बान तक सीमित हो गया।

अंतरिक्ष यात्रा खतरे से खाली नहीं होगी। अंतरिक्ष में पदार्थ का घनत्व बहुत कम है, किंतु थोड़ा भी घर्षण पैदा होने से यान की गति धीमी पड़ सकती है। भीषण गति से चलनेवाली एक छोटी उल्का भी बहुत मजबूत धातुनिर्मित अंतरिक्ष यान में आर पार छेद कर सकती है। यान की किसी भी दीवार में छिद्र होते ही उसमें संचित आक्सीजन पलक झँपते ही उड़ जायगी और यान के यात्री दम घुटने से बेमौत मर जाएँगे। वायुमंडल के बाद सूर्य के प्रचंड ताप का सामना करना होगा। जब तक वह अंतरिक्ष में दिखाई देगा, तब तक उसका न अस्त होगा और न उदय। यह इसलिये भी आवश्यक है कि उपग्रह अपनी सोलर बैटरियों के लिये सूर्य से ही ऊर्जा प्राप्त करते हैं। बैटरियों पर सूर्य का प्रकाश लगातार पड़ना चाहिए। उपग्रह का संतुलन ठीक रहना चाहिए, अत: इसके लिये गोलाकार आकृति ठीक होगी। उपग्रह का भार उसको ले जानेवाले राकेट की सामर्थ्य के अनुसार होना चाहिए। उदाहरणार्थ स्पूतनिक—२ में उपग्रह स्वयं तृतीय मंच राकेट का एक भाग था और उपग्रह राकेट से अलग नहीं हुआ। उपग्रह का ढाँचा हल्के किंतु मजबूत पदार्थ Al या Mg या किसी मिश्र धातु का होना चाहिए। किंतु यदि उपग्रह की सहायता से आयनमंडल की जानकारी करनी है तो ढाँचा एक प्लास्टिक का बनाया जायगा जो फौलाद की तरह मजबूत होगा किंतु वह न तो विद्युत् का सुचालक होगा और न ही चुंबक से प्रभावित। यान का ईंधन ऐसा होना चाहिए जो कम से कम मात्रा में अधिक क्षमता दे तथा कम स्थान घेरने के साथ भार में अधिक वृद्धि न करे। इसके लिये अणु शक्ति या सोलर एनर्जी का प्रयोग उचित होगा। राकेट ऐसी शक्ति उत्पन्न करने में सहायक है। राकेट विमानों में ईंधन और उसके जलाने के लिये आक्सीकारक दोनों ही विमान में ले जाए जाते हैं और आसपास के वातावरण से हवा को अंदर लेने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

वैज्ञानिक विधि से राकेटों का अध्ययन सबसे पहले अमरीकी भौतिक शास्त्री डा० राबर्ट गोडार्ड ने १९०८ में प्रारंभ किया था। १९१९ में उन्होंने अपनी रिपोर्ट में कहा कि राकेट की उड़ान के लिये हवा की उपस्थिति आवश्यक नहीं है, वह वायुमंडल के बाहर अंतरिक्ष में उड़ सकता है और चंद्रमा तक पहुँचाया जा सकता है।

राकेट के मुख्य हिस्से वायुफ्रेम, दहनकक्ष, निकास नोजिल, प्रणोदक भंडार, भारयोग तथा संदेशक प्रबंध हैं।

अंतरिक्ष में भेजे जानेवाले राकेटों का आकार सिगार की तरह होता है। यह राकेट २५००० मील प्रति घंटा का आवश्यक वेग नहीं प्राप्त कर सकता अत: बहुमंचीय राकेट काम में लाए जाते हैं।

प्रथम स्टेज और राकेट सबसे बड़ा और भारी होता है और अंतिम राकेट सबसे छोटा और हल्का। सबसे पहले प्रथम स्टेज राकेट काम में लाया जाता है और जब इसका काम समाप्त हो जाता है तो यह जलकर अलग हो जाता है। इसके बाद दूसरा राकेट त्वरण की वृद्धि करता है, यह भी जलने के बाद अलग हो जाता है और तीसरा राकेट काम करने लगता है। प्रथम स्टेज राकेट का ईंधन व्यय तृतीय स्टेज राकेट से लगभग ६० गुना और प्रणोद लगभग १०० गुना होता है और इतना ही अधिक उसका भार होता है। तृतीय स्टेज राकेट में जितना भार ले जाना होता है उसी के हिसाब से प्रथम स्टेज राकेट को बनाया जाता है। पायलट की जगह या कक्षा में भेजे जानेवाले उपग्रह की जगह सबसे ऊपर के भाग में होती है। स्पुतनिक को अंतरिक्ष में भेजने के लिये त्रिमंचीय राकेट प्रयोग में लाए गए थे। ऐसे राकेट या विमान जिनमें कोई मनुष्य न हो और उड़ान के बीच में भी जिनके मार्ग में परिवर्तन किया जा सके, नियंत्रित मिसाइल कहलाते हैं। लंबी मारवाले राकेटों में सैटर्न का नाम उल्लेखनीय है। यह संसार का सबसे बड़ा राकेट है। जुपिटर, थोर, रेडस्टोन, वैनगार्ड और ऐटलस अन्य प्रसिद्ध अमरीकी राकेट हैं। राकेटों का उपयोग युद्ध अस्त्रों की भाँति, सूक्ष्म उल्काओं, त्रिकिरण आदि के अध्ययन में तथा अंतरिक्षयात्रा के लिये किया जाता है।

अंतरिक्ष में यान किसी कारणवश यदि भटक में पड़ जाय तो उसके भीतर के लोग चंद मिनटों में मर जाएँगे और यान त्रिशंकु की तरह एक प्रस्तरखंड जैसा लटकता रह जायगा। यदि संयोग-वश वह किसी नक्षत्र या अन्य आकाशीय पिंड की परिधि में नहीं आता तो लाखों वर्ष तक इसी दशा में पड़ा रह सकता है। मानव शरीर पर न कोई रासायनिक प्रक्रिया होगी, न वह नष्ट होगा। विभिन्न गुरुत्वाकर्षणों से भी कठिनाई उत्पन्न होगी, मुख, आँख और हृदय की गति पर इसका प्रभाव पड़ेगा। इसके अतिरिक्त स्नायविक तथा मानसिक अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है। आज का मेधावी कल का महामूर्ख बन सकता है। अंतरिक्ष में काफी समय तक रहने से प्रजनन शक्ति नष्ट हो सकती है।

अंतरिक्ष यान को २५००० मील प्रति घंटा की चाल से चलने पर, चंद्रमा तक पहुँचने में कुल ६ घंटे लगेंगे। आइन्सटीन के सापेक्षवाद के सिद्धांत के अनुसार अंतरिक्ष में काल प्रवाह वही नहीं होगा जो पृथ्वी पर है, वापस आने पर हमारा यात्री हो सकता है अपने को अपने उन समवयस्कों से अधिक युवा या कम उम्र का अनुभव करे जिन्हें पृथ्वी पर छोड़कर वह अंतरिक्ष यात्रा के लिये गया था। अंतरिक्ष अनिवार्यत: तीन आयामीयात्ना नहीं है। यूक्लिड की रेखागणित के आगे चतुर्थ आयाम की भी कल्पना कर ली गई है।

अंतरिक्ष में मानवचालित उड़ान — चंद्रयात्रा का अभियान मानवचालित उड़ान के लिये संयुक्त राज्य अमरीका की नेशनल ऐरोनॉटिक ऐंड स्पेस एजेंसी (NASA) ने चार योजनाएँ बनाई हैं —(१) मर्करी, (२) जैमिनी, (३) अपोलो और (४) X-१५।

मर्करी योजना के तीन उद्देश्य हैं —

(क) मनुष्य की अंतरिक्ष यात्रा संबंधी क्षमता का अध्ययन,

(ख) पृथ्वी की परिक्रमा के लिये मानवचालित यान को कक्षा में भेजना,

(ग) चालक को सुरक्षित पृथ्वी पर वापस लाना। नासा ने १९६० में चाँद पर उतरने के दस वर्षीय कार्यक्रम की घोषणा की थी।

अंतरिक्षयात्री अपने साथ आक्सीजन तथा खाने पीने की वस्तुएँ यथेष्ट मात्रा में ले जाते हैं जो लौटने तक के लिये पर्याप्त हों। कड़ी सर्दी तथा तेज गर्मी से सुरक्षा का ध्यान रहता है। पृथ्वी के चतुर्दिक् तीव्र विकिरणों से बचाव के लिये यात्री एक विशेष पोशाक तथा कनटोप पहनते हैं। यात्री को विशेष रूप से बाँधकर रखा जाता है ताकि ऊपर जाते समय नीचे की ओर तीव्र त्वरण और ऊपर से उतरते समय अवत्वरण का अनुभव उसे न हो। पायलट को एक शंक्वाकार कैपसूल (व्यास, पेंदी पर ७ फुट, ऊँचाई १० फुट) के भीतर चित लेटाकर एक कोच से बाँध दिया जाता है। अंतरिक्ष में वह भारहीनता तथा पूर्ण निष्क्रियता का अनुभव करता है अतः उसका भोजन लेई की तरह पतला करके एक दबनेवाली धातु के ट्यूब में भर दिया जाता है, यात्री टूथपेस्ट की नली की तरह ट्यूब को मुँह से लगाकर पीछे से दबाता है जिससे खाना उसके पेट में चला जाता है। अंतरिक्ष से वापस आते समय अंतरिक्ष यान की गति कई हजार मील प्रति घंटे होने के कारण यान की धातु गर्म होकर पिघल सकती है। इससे रक्षा के लिये मर्करी कैप्सूल पर एक विशेष आवरण होता है जिसका कुछ भाग जल जाता है और नीचे की धातु सुरक्षित रहती है। यान के पृथ्वी के पास पहुँचने पर हवाई छतरी खुल जाती है और पश्च राकेट छोड़े जाते हैं जिससे यान की चाल धीमी पड़ जाती है और वह पानी की सतह पर उतारा जा सकता है

अंतरिक्षयात्रा की सफल उड़ान — रूसी और अमरीकी वैज्ञानिकों ने अब तक कई बार अंतरिक्ष यानों में पृथ्वी की परिक्रमा की है और सकुशल पृथ्वी पर लौटकर आ गए हैं।

सबसे पहले ४ अक्टूबर, १९५७ को सोवियत रूस ने अपना पहला कृत्रिम उपग्रह स्पुतनिक-१ छोड़ा। इसका भार १८४ पौंड (८३·६ किग्रा) तथा व्यास ५८ सेमी था और इसमें कोई मानव नहीं था। यह पृथ्वी से ९५० किमी की दूरी पर लगभग ८ किमी या ५ मील प्रति सेकेंड के वेग से परिक्रमा करने लगा जिससे पूरी एक परिक्रमा में इसे ९६·२ मिनट लगे। इसके द्वारा भेजे गए रेडियो संकेत पृथ्वी के विभिन्न स्थानों पर सुने गए। ५८ दिन तक यह घूमता रहा। तत्पश्चात् बैटरी कमजोर होने के कारण वेग घटना शुरू हो गया और ४ जनवरी, १९५८ को यह जलकर भस्म हो गया। रूसी भाषा के 'साथी' का समकक्ष शब्द स्पुतनिक की चर्चा सर्वत्र होने लगी और स्पुतनिक युग का आरंभ हुआ। एक महीने बाद नवंबर, १९५७ में एक जीवित कुतिया लाइका को बैठाकर स्पुतनिक–२ छोड़ा गया। लगभग एक सप्ताह तक कुतिया की शारीरिक क्रियाओं की रेडियो द्वारा सूचना प्राप्त होती रही, उसके पश्चात् कुतिया मर गई।

अमरीका ने अपना पहला उपग्रह एक्सप्लोरर-१, ३१ जनवरी, १९५८ को छोड़ा। इसके बाद ७ अक्टूबर, १९५९ को रूसी अंतरिक्ष यान लूनिक-३ चंद्रमा के पीछे से गुजरा और उसने चंद्रमा के पीछे के भाग के फोटो लेकर पृथ्वी पर भेज दिए। कुछ अंतरिक्ष यान पृथ्वी से लाखों मील दूर सूर्य की परिक्रमा करने के लिये भी प्रेषित किए गए हैं।

१२ अप्रैल, १९६१ को रूसी उड़ाके मेजर यूरी गागारिन ने अपने अंतरिक्षयान वोस्तोक-१ में पहली अंतरिक्षयात्रा की। इस प्रकार प्रथम मानव को अंतरिक्ष में भेजने तथा सकुशल वापस बुलाने में सोवियत रूस सफल हो गया। इस वर्ष ५ मई, १९६१ को अमरीकी अंतरिक्ष यात्री एलन बी० शेपर्ड ने उपकक्षा में १५ मिनट परिक्रमा की और वह सकुशल अंतरिक्ष में उतर गया।

मर्करी योजना के अंतर्गत ग्लेन ने अपनी अंतरिक्षयात्रा से सिद्ध कर दिया कि (क) ट्यूब में भरा हुआ खाना पायलट बिना किसी कठिनाई के खा सकता है, (ख) पायलट अपने हाथ से यान का नियंत्रण कर सकता है और (ग) भारहीनता की दशा में वह अच्छी तरह कार्य कर सकता है।

१४ जून, १९६३ को रूस के कर्नल बाइकोवस्की ने पाँच दिन तक लंबी अंतरिक्षयात्रा की और रूस की कुमारी तरश्कोवा ने तीन दिन तक पृथ्वी की परिक्रमा की।

१२ अक्टूबर, १९६४ को रूसी यान वोस्खोद में एक साथ तीन व्यक्तियों ने २४ घंटे तक पृथ्वी की परिक्रमा की। ये सभी यात्री उड़ानों के बाद सकुशल पृथ्वी पर वापस आ गए। इनमें से कुछ यात्री अपने यान से बाहर निकलकर थोड़ी देर तक अंतरिक्ष में तैरते रहे, और फिर यान में आकर बैठ गए।

१९६७ के आरंभ में सोवियत रूस का लूना-१३ चंद्रमा पर बगैर झटका के उतरा। उससे प्राप्त सूचनाओं के आधार पर चंद्रमा की सतह कठोर है और मानव उसपर उतर सकता है।

२० अप्रैल, १९६७ को ६५ घंटे की यात्रा के बाद अमरीकी सर्वेयर-३, चंद्रमा पर बिना झटका के उतरा।

अमरीका के अपोलो-११ की उड़ान के पहले रूसी ल्यूना-१५ की उड़ान के संदर्भ में सोवियत संघ ने सोयुज-४, सोयुज-५ को जोड़ा।

चंद्रयान और इसे छोड़नेवाले राकेट में ५६ लाख पुर्जे थे, अनगिन कंप्यूटर उड़ान की हर क्षण निगरानी कर रहे थे, पाँच हजार से अधिक लोगों ने पुर्जों की जाँच पड़ताल की थी. २४०० करोड़ डालर की लागत तथा लाखों यंत्रों का हजारों मस्तिष्कों का चिंतन और परिश्रम — मनुष्य के ज्ञान, साधन, शक्ति और कर्म का अपूर्व संयोजन था।

अंतरिक्ष संधि — २७ जनवरी, ६७ को संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ और ब्रिटेन ने बाह्य अंतरिक्ष में आणविक अस्त्रास्त्र को निषिद्ध घोषित करनेवाले समझौते पर हस्ताक्षर किए। दिसंबर, १९६६ में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा द्वारा अनुमोदित संधि की शर्तों के अनुसार 'बाह्य अंतरिक्ष' पर किसी भी देश की प्रभुसत्ता नहीं है और सभी देशों को अंतरिक्ष अनुसंधान की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। इस संधि पर हस्ताक्षर करनेवाले सभी देश बाह्य अंतरिक्ष का केवल शांतिमय उपयोग के लिये प्रयोग कर सकते हैं और चाँद तथा दूसरे ग्रहों पर किसी भी तरह के सैनिक केंद्रों की स्थापना निषिद्ध है। चाँद तथा

दूसरे ग्रहों पर किसी भी तरह के प्रतिष्ठान स्थापित करनेवाले देश समुचित समय की सूचना के बाद, दूसरे देशों को उनका निरीक्षण करने देंगे।

१९६३ की आंशिक आणविक परीक्षण निषेध संधि के बाद की इस दूसरी निर्णायक संधि की शर्तों के अनुसार अंतरिक्ष में आणविक अस्त्रास्त्र और सामूहिक विनाश के दूसरे साधनों से सुसज्जित उपग्रहों, अंतरिक्षयानों आदि के छोड़ने पर प्रतिबंध है, यह संधि इस बात की भी व्यवस्था करती है कि त्रुटिवश किसी दूसरे देश के सीमाक्षेत्र में उतर जानेवाले अंतरिक्षयात्री उनके देश को सौंप दिए जाएँगे।

जेमिनी योजना — इस योजना में दो अंतरिक्षयात्री एक यान में जाकर दो अंतरिक्षयानों को अंतरिक्ष में मिलाने का यांत्रिक विकास तथा एक सप्ताह तक उड़ान करके अनेक वैज्ञानिक अनुसंधान करेंगे। इसमें मानवरहित एगिना बी राकेट, एटलस बूस्टर की सहायता से छोड़ने की योजना है। निर्धारित समय पर पृथ्वी से छोड़ा गया जेमिनी यान एगिना बी से जाकर मिल जायगा।

अपोलो योजना, चाँद पर मानव चरण और वहाँ जय ध्वजोत्तोलन—

चाँद पृथ्वी से २ करोड़ ३० लाख मील दूर एक वर्तुलाकार गोला है, जिसका व्यास २१६० मील है। इसका वजन पृथ्वी से ८१ गुना कम है तथा गुरुत्वाकर्षण पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का १/६ है। वहाँ पृथ्वी की तरह वातावरण, पानी और प्राणवायु नहीं है। वहाँ N_2, S, P एवं CO_2 है। चंद्रमा रात को अति शीतल और दिन को अति उष्ण रहता है।

१६ जुलाई, १९६९ को चंद्रमा की यात्रा का स्वप्न साकार करने के लिये अमरीका के केप कैनडी चंद्रकेंद्र से नील आर्मस्ट्रांग, एडविन एल्ड्रिन और माइकल कालिंस ने ८ लाख किमी की साहसिक खतरनाक यात्रा का श्रीगणेश किया।

१०९ मीटर या ३६३ फुट ऊँचे सैटर्न-५ प्रक्षेपक के सबसे ऊपरी हिस्से पर लगे यान अपोलो ११ में ये तीनों साहसी यात्री बैठे थे। यान में उड़ान की दिशा, गति, स्थिति तथा विभिन्न केंद्रों से दूरियाँ ज्ञात करने के यंत्र लगे थे। प्रक्षेपण के २ घंटे ४४ मिनट बाद रात्रि ९ बजकर ४६ मिनट पर तीनों यात्रियों ने पृथ्वी की कक्षा को छोड़कर अपने गंतव्य स्थल की ओर प्रयाण किया। लगातार ७३ घंटे की यात्रा के पश्चात् चाँद पर पहुँचना था। सैटर्न प्रक्षेपक के तीसरे खंड के विलग होने के कुछ देर (३१ मिनट) बाद 'कमान कक्ष' से चंद्रकक्ष के उलटकर जुड़ने की प्रक्रिया पूर्ण हुई। किंतु उसके आगे रूस का मानवरहित यान ल्यूना — १५ उड़ रहा था, १७ जुलाई को ल्यूना — १५ चंद्रमा के पास पहुँच गया।

२१ जुलाई की रात्रि १ बजकर ४७ मिनट पर आर्मस्ट्रांग की आवाज चंद्रमा से आई 'The Eagle has landed' (गरुड़ चंद्र पर उतर गया है)। आकाश की समस्त अजेय दुर्गम ऊँचाइयों को लाँघकर इंसान के कदम चाँद पर पहुँच गए। इस साहसपूर्ण सफलता से पूरे विश्व का सिर ऊँचा उठ गया, और मानव गौरव तथा गर्व का अनुभव करने लगा। पहरेदार कालिंस १११ किमी की ऊँचाई पर उड़ान भर रहा था। भोजन और आराम के बाद दोनों ने चंद्र मिट्टी के नमूने एकत्र करना प्रारंभ किया। एल्ड्रिन ने सूचना पृथ्वी पर भेजी कि पत्थर पाउडर भरे हैं तथा चट्टानें फिसलने वाली हैं।

योजनानुसार नील आर्मस्ट्रांग ने उस पट्ट का अनावरण किया जिसमें लिखा है — यहाँ पृथ्वी के इंसान ने जुलाई, १९६९ में पहली बार अपने कदम रखे, हम यहाँ समस्त मानवता की शांति के लिये आए। यात्रियों ने राष्ट्रध्वज का झंडा (जिसमें भारतीय तिरंगा भी था) फहराया — राष्ट्रपति निक्सन ने टेलीफोन पर चंद्रयात्रियों से बात कर कहा 'दुनियाँ के इतिहास में, इस अभूतपूर्व अनमोल घड़ी में सब एक हो गए हैं, सबको आपकी विजय पर गर्व है'।

एल्ड्रिन एक घंटे ५४ मिनट तक चंद्रतल पर रहा। २ घंटे ११ मिनट तक चंद्र सतह पर विचरण करके आर्मस्ट्रांग 'गरुड़' यान में वापस लौटा।

मकड़ा चंद्र कक्ष २१ फुट ऊँचा है तथा उसकी परिधि ३१ फुट है। वह अपोलो ९ तथा १० में प्रयोग किया जा चुका है। इन दोनों यात्राओं में कमान कक्ष से अलग होकर कुछ समय बाद यह चंद्रकक्ष सफलता के साथ पुन: जुड़ गया था। करोड़ो रुपए की लागत से बने इसमें दो हिस्से हैं – ऊपरी और निचला। ऊपरी हिस्सा यात्रियों के बैठने के लिये है, निचले हिस्से में ४ पैर हैं, वे धीरे से चाँद पर कक्ष को उतार देंगे। नीचे एक स्वचालित टैलीविजन यंत्र लगा रहता है। चंद्रयात्रियों के दस ८२-८२ किग्रा के होते हैं किंतु चंद्रमा पर उन्हें १४ किग्रा के बराबर ही अनुभव होगा।

चाँद से वापसी — २१ जुलाई, ६९ की रात्रि ११ बजकर २१ मिनट पर गरुड़ (ईगल) के दोनों यात्रियों ने चाँद से रवाना होने का निश्चय किया। चाँद के चक्कर लगा रहे 'कोलंबिया' यानी कमानकक्ष से मिलना ३ घंटे बाद हुआ। भोर में ३ बजकर ३ मिनट पर ईगल ने कोलंबिया को पकड़ा। २२ जुलाई को ११ बजकर ३३ मिनट पर यान उस काल्पनिक रेखा को पार कर गया जहाँ पृथ्वी और चाँद की गुरुत्वाकर्षण शक्ति बराबर है। यान की गति ४३८१ किमी से ४०,००० किमी प्रति घंटे हो गई। यात्रियों के पास अनमोल मिट्टी के नमूने थे। पृथ्वी के वातावरण में प्रवेश तथा प्रशांत महासागर में सफल अवतरण के लिये यान को ३६,१९४ फुट से० का वेग चाहिए था किंतु मौसम की खराबी के कारण निर्धारित स्थान से ४०० किमी दूर तीनों यात्री २४ जुलाई को रात १० बजकर २० मिनट पर उतर गए।

अपोलो ११ का कमानकक्ष उल्टा गिरा, किंतु थोड़ी देर बाद सीधा कर दिया गया। यात्री जलपोत हार्नेट तथा हेलीकोप्टरों की सहायता से आगे बढ़े। अमरीकी राष्ट्रपति ने उनका स्वागत किया परंतु यात्रियों ने विशेष कक्ष से स्वागत का उत्तर दिया जहाँ उन्हें तीन सप्ताह के लिये पृथ्वी के बाह्य संपर्क से दूर वैज्ञानिक जाँच के लिये रखना था।

२६ अक्टूबर को दोपहर २ बजकर ४५ मिनट पर चंद्रविजेताओं का स्वागत भारत (बंबई) में किया गया।

अपोलो–१२, प्रक्षेपण — १४ नवंबर।

चाँद पर — १९ नवंबर को चंद्रमा के पश्चिम गोलार्ध में तूफानों के महासागर में कोनराड तथा बीन वहाँ उतरे जहाँ ३१ महीना पहले १९ अप्रैल, ६७ को सर्वेयर–३ नामक अमानव अमरीकी चंद्रयान उतरा था। वह ६ मीटर गहरे एक गड्ढे के भीतर पड़ा हुआ था।

धरती पर — २४ नवंबर (प्रशांत महासागर) को अपोलो १२ के अंतरिक्ष यात्री चार्ल्स कोनराड, रिचार्ड गोर्डन, एलन बीन लौटे।

इस बार चंद्रयात्रियों ने कमान और सेवाकक्ष का नाम यांकी क्लिपर (१८वीं शताब्दी के मध्य तेज भागनेवाले व्यापारिक जलपोत) तथा चंद्रकक्ष का नाम इंटरपिड (अमरीकी नौसैनिक जलपोत, जिसके सहारे आजादी की लड़ाई अमरीका ने लड़ी) रखा। १७ नवंबर को तीनों यात्रियों द्वारा चंद्रमा की कक्षा मे प्रवेश तथा १९ नवंबर को कोनराड तथा बीन का चंद्रमा पर अवतरण।

अपोलो-१२ की यात्रा के लक्ष्यों में दो महत्वपूर्ण हैं — चंद्रमा के मौसम का अध्ययन करने के लिये ५ यंत्रों को चंद्रतल पर स्थापित करना तथा चंद्रतल की मिट्टी और पत्थर इकट्ठे करना।

अपोलो-११ के चंद्रयात्री २२ किग्रा० मिट्टी ले आए थे। अपोलो १२ के चंद्र यात्री ५० किग्रा से अधिक वजन के पत्थर, रेत और धूल का खजाना ले आए हैं। परीक्षण से पता चला है कि चंद्रमा और पृथ्वी समवयस्क हैं। अब कवियों को अपने उपमान और वैज्ञानिकों को अपने विचार चंद्रमा के विषय मे बदलने पड़ रहे हैं।

चंद्रमा के मुख का काला कलंक पश्चिमी खगोल शास्त्रियों द्वारा सागर (मेर) कहलाता है। वह समतल मैदान है जो पर्वतमालाओं से घिरा है। चंद्रमा की रेतीली भूमि से प्राप्त धूलिकण पिसे हुए कोयले की भाँति तथा राख की तरह धूसर हैं। धूलि तथा शिलाखंडों में काँच की उपस्थिति पाई गई है। क्रोकिसया नामक शैलविशेष का परीक्षण अभी हो रहा है। पता चला है, पृथ्वी की ही तरह चंद्रमा की आयु तीन और चार अरब वर्ष के बीच है। ३०० से ५०० मील लंबी दरारें वहाँ हैं। चंद्रमा के मैदान ऊँची ऊँची पर्वतमालाओं से घिरे हैं। इम्ब्रियम नामक मैदान के तीन ओर पर्वत है। इनके नाम पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने यूरोपीय पर्वतमालाओं के आधार पर कपेथियम, ऐपिनाइन्स, काकेशस, आल्प्स, जुरा रखे हैं। चंद्रमा पर अनेक गर्तों का पता लगा है जिनमें क्लेवियस (व्यास १४६ मील तथा गहराई लगभग १५००० फुट) सबसे बड़ी है। चाँद पर घाटियाँ भी हैं जो डेढ़ सौ मील तक लंबी तथा ५ मील तक चौड़ी हैं। कुछ सीधी हैं तथा कुछ घुमावदार।

अपोलो-११ द्वारा चंद्रमा से लाए गए पत्थरों के टुकड़ों और धूल के रासायनिक परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि चंद्रमा पर किसी भी समय जीव का अस्तित्व नहीं था। अभी भी चाँद के शांत सागर से लाए नमूनों का परीक्षण जारी है।

अपोलो-१२ के यात्री तूफान सागर में उतरे थे, वे लगभग १ मन शैलखंड आदि अपने साथ लाए हैं। उनका भी परीक्षण चल रहा है। चंद्रमा पर जल तथा वायु का अस्तित्व नहीं है। जहाँ एक ओर चाँद पर स्वर्ण, रजत तथा प्लैटिनम का नितांत अभाव है वहाँ दूसरी ओर चंद्रतल की धूलि एवं शैलखंडों में टाइटैनियम, जर्कोनियम तथा इट्रियम की अधिकता है।

चाँद पर कुछ पट्टियाँ और धारियाँ हैं जिन्हें किरण (प्रकाशीय नहीं) कहते हैं, इनकी उत्पत्ति गर्तों से हुई है।

चाँद के शांत सागर में किरणों की दो धारियाँ हैं — पहली किरणपंक्ति दक्षिण पूर्व में २०० मील दूर थियोफिलस गर्त से तथा दूसरी १०० मील दक्षिण पश्चिम में अलफ्रैगनस गर्त से उत्पन्न हुई है।

अमरीका ने १९७२ तक चंद्रमा पर अनुसंधान के लिये और ८ समानव अपोलो मिशन का कार्यक्रम बनाया है। उसने अंतरिक्ष में ओ० ए० ओ०-२ नामक एक ज्योतिषीय प्रयोगशाला स्थापित की है। अभी अनेक ग्रह, उपग्रह, सितारे तथा नक्षत्र ऐसे हैं जहाँ पहुँचने में मानव को कई प्रकाश वर्ष (१ वर्ष में प्रकाश द्वारा चली गई दूरी-१,८६,००० मील प्रति सेकंड की दर से) लगेंगे। वह कुछ दूरस्थ ग्रहों पर अपने जीवनकाल मे पहुँच पाएगा भी, संदेहास्पद है, लौटने की तो बात ही क्या।

अपोलो-१३ का प्रक्षेपण १२ मार्च, ७० के स्थान पर अब १२ अप्रैल, ७० को होने की संभावना है, यह चंद्रमा के एक पठारी भाग फ्रामोरी में उतरेगा।

अपोलो-१४ जुलाई ७० के स्थान पर अब अक्टूबर में उड़ान भरेगा।

चाँद के अतिरिक्त मंगल और शुक्र पर भी पहुँचने की योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं।

५ जनवरी, ७० से ९ जनवरी, ७० तक ह्यूस्टन (टेक्सास) में हुए चांद्र विज्ञान सम्मेलन में वैज्ञानिकों ने कहा है कि चंद्रधूलि पृथ्वी से एक अरब वर्ष अधिक प्राचीन है। इसका यह अर्थ नहीं कि चंद्रमा अधिक प्राचीन है क्योंकि १ अरब वर्षों का पृथ्वी का इतिहास महाप्रलय के कारण वैज्ञानिकों को उपलब्ध नहीं है। पृथ्वी की अवस्था उन्होंने ४ अरब ५५ करोड़ वर्ष आँकी है। कैलीफोर्निया इंस्टिट्यूट आँव टेक्नालाजी के वैज्ञानिकों का कहना है कि चंद्रमा के पृथ्वी का टुकड़ा होने का सिद्धांत गलत है। उनका मत है कि ३ अरब ६५ करोड़ वर्ष पूर्व चंद्रमा पिघला हुआ था। नमूने के ६० दिन के अध्ययन के ये कुछ परिणाम हैं। अब तक अपोलो-११ द्वारा लाए गए नमूनों के १/३ अंश का अध्ययन किया गया है। वहाँ की मिट्टी और शिलाखंड आठ देशों के १४२ वैज्ञानिक दलों के पास अध्ययनार्थ भेजे गए हैं। सम्मेलन में पढ़े गए निबंधों में बताया गया कि चंद्रमा पर न तो जीव है, न जल है और संभवतः वे वहाँ कभी थे ही नहीं। इंग्लैंड के कैंब्रिज विश्वविद्यालय के डा० एस० ओ० एग्रेल ने कहा — चंद्रयात्री आर्मस्ट्रांग तथा एल्ड्रिन चंद्रतल के शांत सागर के एक छोटे से क्षेत्र से ही शिलाखंड लाए थे परंतु उनमें अन्य क्षेत्रों के तत्व भी विद्यमान हैं, जो उल्काओं के आघात के कारण उड़कर शांत सागर की सतह पर पहुँच गए होंगे।

सम्मेलन मे लगभग १००० वैज्ञानिकों ने भाग लिया। नोबेल पुरस्कार विजेता डाक्टर हेराल्ड यूरे ने कहा — अपोलो द्वारा प्राप्त

जानकारियों से चंद्रमा की उत्पत्ति, उसकी उम्र, पहाड़ियों तथा गह्वरों के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती, सिवाय इसके कि वहाँ किसी प्रकार के जीवन का अस्तित्व न था और न है। अधिकांश वैज्ञानिक इस बात पर सहमत थे कि चंद्रमा पर जल होने का कोई संकेत नहीं मिलता और न कभी वहाँ जल था। चंद्रमा के अंदरूनी हिस्से की बनावट के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। इस प्रकार चंद्रमा अब भी एक रहस्य ही बना हुआ है। [कि० ना० सि०]

अन्नादुरै, कांजीवरम् नटराजन् तमिलनाडु के लोकप्रिय नेता, अपने प्रदेश के प्रथम गैरकांग्रेसी मुख्य मंत्री एवं द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम दल के संस्थापक थे। इनका जन्म १५ सितंबर, १९०९ को कांजीवरम् के एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। मद्रास विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् उन्होंने अपना जीवन एक शिक्षक के रूप में प्रारंभ किया, पर शीघ्र ही ये पत्रकारिता के क्षेत्र में आ गए। तमिल जागरण में इनके निबंधों से महत्वपूर्ण योगदान किया। श्री अन्नादुरै ने 'जस्टिस' नामक तमिल पत्र के सहायक संपादक एवं बाद में 'विडुथलाई' नामक पत्र के संपादक के पद पर कार्य किया। इन्होंने सन् १९४२ में तमिल साप्ताहिक 'द्रविड़नाडु', सन् १९५७ में अंग्रेजी साप्ताहिक 'होमलैंड' तथा एक वर्ष पश्चात् 'होमरूल' नामक पत्रिका निकाली थी। ये हिंदी के प्रबल विरोधी तथा तमिल भाषा और साहित्य के पुनरुत्थानकर्ता थे।

श्री अन्नादुरै प्रारंभ में द्रविड़ कड़गम के सदस्य थे, पर अपने राजनीतिक गुरु से असंतुष्ट होने के कारण इन्होंने सन् १९४९ में अपने सहयोगियों के साथ द्रविड़ कड़गम से संबंध विच्छेद कर लिया और द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम की स्थापना की। सन् १९५७ में विधानसभा का सदस्य निर्वाचित होने के पश्चात् अन्नादुरै सक्रिय राजनीति में आए। इन्होंने द्रविड़ों के लिये पृथक् 'द्रविड़स्तान' का नारा दिया और प्रदेश से कांग्रेस शासन को समाप्त करने का व्रत लिया। द्रविड़मुन्नेत्र कड़गम ने इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अनेक आंदोलन किए। दस वर्ष पश्चात् राज्य की बागडोर अन्नादुरै के हाथों में आ गई। यद्यपि इनकी असामयिक मृत्यु ने इन्हें मुख्य मंत्री के रूप में दो वर्ष से भी कम अवधि तक प्रदेशवासियों की सेवा करने का ही अवसर दिया, तथापि यह अल्पावधि भी अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण रही है।

ये प्रतिभासंपन्न राजनेता, कुशल प्रशासक एवं सिद्धहस्त समाजशिल्पी थे। जनतांत्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना और पददलितों के उत्थान के लिये ये जीवन पर्यंत संघर्षरत रहे। इनके सबल नेतृत्व में कड़गम ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। ये जीवन पर्यंत दल के महासचिव बने रहे। दल पर अपने असाधारण प्रभाव के कारण ही ये दल की पृथकतावादी नीतियों को राष्ट्रीय अखंडता के हित में रचनात्मक मोड़ देने में सफल रहे। सन् १९६२ में चीनी आक्रमण के समय श्री अन्नादुरै ने कड़गम के सदस्यों को राष्ट्रीय सुरक्षा में हर संभव योगदान करने के लिये प्रोत्साहित किया। ये दल के प्रतिवादियों को शनैः शनैः सहिष्णुता के मार्ग पर ला रहे थे। प्रारंभ में कड़गम में उत्तर भारतीयों एवं ब्राह्मणों का प्रवेश निषिद्ध था, पर अन्ना की प्रेरणा से द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम के सिद्धांतों में विश्वास रखनेवालों के लिये दल की सदस्यता का द्वार खुल गया। संविधान की होली खेलने की योजना बनानेवालों के नेता ने तमिलनाडु का मुख्यमंत्रित्व ग्रहण करते समय संविधान में पूर्ण निष्ठा व्यक्त की। कड़गम के सत्तारूढ़ होने पर केंद्र से विरोध के संबंध में अनेक आशकाएँ व्यक्त की गई थीं, पर श्री अन्नादुरै ने किसी प्रकार का संवैधानिक संकट नहीं उत्पन्न होने दिया। उनका हिंदीविरोध अवश्य स्थिर था, लेकिन जिस प्रकार उनके दृष्टिकोण में क्रमिक परिवर्तन आ रहा था और क्षेत्रीयता के संकुचित मोह का स्थान राष्ट्रीयता की भावना लेती जा रही थी, उससे यह अनुमान हो चला था कि भविष्य में उनका हिंदीद्रोह भी समाप्त हो जायगा और तमिलनाडु के विद्यालयों में त्रिभाषा सिद्धांत के अनुसार हिंदी की पढ़ाई प्रारंभ हो जायगी।

श्री अन्नादुरै राजकाज में क्षेत्रीय भाषा के प्रयोग के पक्षपाती थे। इन्होंने अपने प्रदेश में तमिल के प्रयोग को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। मद्रास राज्य का नामकरण तमिलनाडु करने का श्रेय भी इन्हीं को है।

तमिलनाडु का मुख्यमंत्रित्व ग्रहण करने से पूर्व राज्यसभा के सदस्य के रूप में भी इन्होंने ख्याति प्राप्त की थी। सन् १९६७ के महानिर्वाचन में तमिलनाडु में द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम की अभूतपूर्व सफलता ने अन्ना को अपने दल को राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठापित करने की प्रेरणा प्रदान की थी। यदि असमय ही ये कालकवलित न हो गए होते तो संभवतः भविष्य में द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम का स्थान भारत मुन्नेत्र कड़गम ने ले लिया होता।

कैंसर के असाध्य रोग से पीड़ित अन्नादुरै की इहलीला ३ फरवरी, १९६९ को समाप्त हो गई। [ला० ब० पां०]

अभिज्ञान शाकुंतलम् महाकवि कालिदास का एक विश्वविख्यात नाटक जिसका अनुवाद प्राय. सभी विदेशी भाषाओं में हो चुका है। शकुंतला राजा दुष्यंत की स्त्री थी जो भारत के सुप्रसिद्ध राजा भरत की माता और मेनका अप्सरा की कन्या थी। महाभारत में लिखा है कि शकुंतला का जन्म विश्वामित्र के वीर्य से मेनका अप्सरा के गर्भ से हुआ था जो इसे वन में छोड़कर चली गई थी। वन में शकुंतों (पक्षियों) आदि ने हिंसक पशुओं से इसकी रक्षा की थी, इसीसे इसका नाम शकुंतला पड़ा। वन में से इसे कण्व ऋषि उठा लाए थे और अपने आश्रम में रखकर कन्या के समान पालते थे। एक बार राजा दुष्यंत अपने साथ कुछ सैनिकों को लेकर शिकार खेलने निकले और घूमते फिरते कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँचे। ऋषि उस समय वहाँ उपस्थित नहीं थे; इससे युवती शकुंतला ने ही राजा दुष्यंत का आतिथ्यसत्कार किया। उसी अवसर पर दोनों में प्रेम और फिर गंधर्व विवाह हो गया। कुछ दिनों बाद राजा दुष्यंत वहाँ से अपने राज्य को चले गए। कण्व मुनि जब लौटकर आए, तब यह जानकर बहुत प्रसन्न हुए कि शकुंतला का विवाह दुष्यंत से हो गया। शकुंतला उस समय गर्भवती हो चुकी थी। समय पाकर उसके गर्भ से बहुत ही बलवान् और तेजस्वी पुत्र

उत्पन्न हुआ, जिसका नाम भरत रखा गया। कहते हैं, इस देश का 'भारत' नाम इसी के कारण पड़ा। कुछ दिनों बाद शकुंतला अपने पुत्र को लेकर दुष्यंत के दरबार में पहुँची। परंतु शकुंतला को बीच में दुर्वासा ऋषि का शाप मिल चुका था। राजा ने इसे बिलकुल नहीं पहचाना, और स्पष्ट कह दिया कि न तो मैं तुम्हें जानता हूँ और न तुम्हें अपने यहाँ आश्रय दे सकता हूँ। परंतु इसी अवसर पर एक आकाशवाणी हुई, जिससे राजा को विदित हुआ कि यह मेरी ही पत्नी है और यह पुत्र भी मेरा ही है। उन्हें कण्व मुनि के आश्रम की सब बातें स्मरण हो आईं और उन्होंने शकुंतला को अपनी प्रधान रानी बनाकर अपने यहाँ रख लिया। महाकवि कालिदास के लिखे हुए प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' में राजा दुष्यंत और शकुंतला के प्रेम विवाह, प्रत्याख्यान और ग्रहण आदि का वर्णन है। पौराणिक कथा में आकाशवाणी द्वारा बोध होता है पर नाटक में कवि ने मुद्रिका द्वारा इसका बोध कराया। कालिदास का यह नाटक विश्वविख्यात है। [वि० वि०]

'उग्र', पांडेय बेचन शर्मा का जन्म मिर्जापुर जनपद के अंतर्गत चुनार नामक कस्बे में पौष शुक्ल ८, सं० १९५७ वि० को हुआ था। इनके पिता का नाम वैद्यनाथ पांडेय था। वे सरयूपारीण ब्राह्मण थे। वे अत्यंत अभावग्रस्त परिवार में उत्पन्न हुए थे अत: पाठशालीय शिक्षा भी इन्हें व्यवस्थित रूप से नहीं मिल सकी। अभाव के कारण इन्हें बचपन में रामलीला मंडली में काम करना पड़ा था। वे अभिनय कला में बड़े कुशल थे। बाद में काशी के सेंट्रल हिंदू स्कूल से आठवीं कक्षा तक शिक्षा पाई, फिर पढ़ाई का क्रम टूट गया। साहित्य के प्रति इनका प्रगाढ़ प्रेम लाला भगवानदीन के सामीप्य में आने पर हुआ। इन्होंने साहित्य के विभिन्न ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया। प्रतिभा इनमें ईश्वरप्रदत्त थी। ये बचपन से ही काव्यरचना करने लगे थे। अपनी किशोर वय में ही इन्होंने प्रियप्रवास की शैली में 'ध्रुवचरित्' नामक प्रबंधकाव्य की रचना कर डाली थी।

मौलिक साहित्य की सर्जना में ये आजीवन लगे रहे। इन्होंने काव्य, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि क्षेत्रों में समान अधिकार के साथ श्रेष्ठ कृतियाँ प्रस्तुत कीं। कहानी, उपन्यास आदि को इन्होंने अपनी विशिष्ट शैली प्रदान की। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उग्र जी ने सच्चे पत्रकार का आदर्श प्रस्तुत किया। वे असत्य से कभी नहीं डरे, उन्होंने सत्य का सदैव स्वागत किया, भले ही इसके लिये उन्हें कष्ट झेलने पड़े। पहले काशी के दैनिक 'आज' में 'ऊटपटाँग' शीर्षक से व्यंग्यात्मक लेख लिखा करते थे और अपना नाम रखा था 'अष्टावक्र'। फिर 'भूत' नामक हास्य-व्यंग्य-प्रधान पत्र निकाला। गोरखपुर से प्रकाशित होनेवाले 'स्वदेश' पत्र के 'दशहरा' अंक का संपादन इन्होंने ही किया था। तदनंतर कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाले 'मतवाला' पत्र में काम किया। 'मतवाला' ने ही इन्हें पूर्ण रूप से साहित्यिक बना दिया। फरवरी, सन् १९३८ ई० में इन्होंने काशी से 'उग्र' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। इसके कुछ साल अंक ही प्रकाशित हुए, फिर यह बंद हो गया। इंदौर से निकलनेवाली 'वीणा' नामक मासिक पत्रिका में इन्होंने सहायक संपादक का काम भी कुछ दिनों तक किया था। वहाँ से हटने पर 'विक्रम' नामक मासिक पत्र इन्होंने पं० सूर्यनारायण व्यास के सहयोग से निकाला। पाँच अंक प्रकाशित होने के बाद ये उससे भी अलग हो गए। इसी प्रकार इन्होंने 'संग्राम', 'हिंदी पंच' आदि कई अन्य पत्रों का संपादन किया, किंतु अपने उग्र स्वभाव के कारण कहीं भी अधिक दिनों तक ये टिक न सके। इसमें संदेह नहीं उग्र जी सफल पत्रकार थे। ये सामाजिक विषमताओं से आजीवन संघर्ष करते रहे। ये विशुद्ध साहित्यजीवी थे और साहित्य के लिये ही जीते रहे। सन् १९६७ में दिल्ली में इनका देहावसान हो गया।

इनके रचित ग्रंथ इस प्रकार हैं —

नाटक—महात्मा ईसा, चुंबन, गंगा का बेटा, आवारा, अन्नदाता माधव महाराज महान्।

उपन्यास—चंद हसीनों के खतूत, दिल्ली का दलाल, बुधुआ की बेटी, शराबी, घंटा, सरकार तुम्हारी आँखों में, कढ़ी में कोयला, जीजीजी, फागुन के दिन चार, जुहू।

कहानी—कुल ९७ कहानियाँ।

काव्य—ध्रुवचरित, बहुत सी स्फुट कविताएँ।

आलोचना—तुलसीदास आदि अनेक आलोचनात्मक निबंध।

संपादित—गालिब : उग्र।

उग्र जी की मित्रमंडली में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', जयशंकर प्रसाद, शिवपूजन सहाय, विनोदशंकर व्यास आदि प्रसिद्ध साहित्यकार थे। दो महाकवि उग्र जी के विशेष प्रिय थे : गोस्वामी तुलसीदास तथा उर्दू के प्रसिद्ध शायर असदुल्ला खाँ गालिब। इनकी रचनाओं के उद्धरण उग्र जी ने अपने लेखों में बहुश: दिए हैं। [ला० त्रि० प्र०]

किदवई, रफी अहमद भारतीय राजनीति के जाज्वल्यमान नक्षत्र थे। उनका जन्म बाराबंकी जिले के मसौली ग्राम के एक जमींदार परिवार में हुआ था। उनके पिता इम्तियाज अली एक उच्चपदस्थ सरकारी अधिकारी थे। जब रफी मात्र आठ वर्ष के थे, उनकी माँ का देहावसान हो गया और उनके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया। रफी और उनके अन्य तीन सहोदरों को इम्तियाज अली ने अपने भाई विलायत अली के यहाँ स्थानांतरित कर दिया। विलायत अली बाराबंकी के ख्यातिलब्ध वकील और प्रमुख राष्ट्रीय मुसलमान नेता थे। उन्हीं के संरक्षण में रफी अहमद के व्यक्तित्व का विकास हुआ। रफी के विद्यार्थी जीवन में कोई विशिष्टता नहीं थी; वे सामान्य स्तर के छात्र थे। उनकी स्मरणशक्ति अवश्य बड़ी तीव्र थी। उन्होंने गवर्नमेंट हाई स्कूल (बाराबंकी) से सन् १९१३ ई० में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की और एम० ए० ओ० कालेज, अलीगढ़, से सन् १९१८ में कला में स्नातक उपाधि प्राप्त की। दो वर्ष पश्चात् जब उनकी कानून की परीक्षा प्रारंभ होनेवाली थी, उन्होंने महात्मा गांधी के आह्वान पर सरकार द्वारा नियंत्रित एम० ए० ओ० कालेज का अन्य कतिपय सहपाठियों के साथ बहिष्कार कर दिया और असहयोग आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। उनके चाचा विलायत अली खाँ सन् १९१८ में ही दिवंगत हो गए थे। परीक्षा का बहिष्कार कर असहयोग आंदोलन में भाग लेने पर

रफी के राजभक्त पिता अत्यंत रुष्ट हुए, पर रफी अहमद डिगे नहीं। वे प्रायः घर से दूर रहते थे। ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध प्रदर्शन करने और नारे लगाने के अभियोग में उन्हें दस मास का कठोर कारावास का दंड दिया गया।

रफी अहमद का विवाह सन् १९१८ में हुआ था। लगभग एक वर्ष पश्चात् उन्हें एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। दुर्भाग्यवश बच्चा सात वर्ष की आयु में ही चल बसा। रफी अहमद और उनकी पत्नी के जीवन में यह नियति का क्रूरतम आघात था।

कारावास से मुक्ति के पश्चात् रफी अहमद भारतीय राजनीति के एक प्रमुख केंद्र मोतीलाल नेहरू के प्रासादतुल्य आवास आनंदभवन चले गए। उनकी प्रतिभा, राजनीतिक कुशलता और विश्वसनीय व्यक्तित्व से प्रभावित होकर पं० मोतीलाल नेहरू ने शीघ्र ही उन्हें अपना सचिव नियुक्त कर दिया। मोतीलाल और जवाहरलाल की भाँति किदवई का भी गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों में विश्वास नहीं था। वे मोतीलाल नेहरू द्वारा संगठित स्वराज्य पार्टी के सक्रिय सदस्य हो गए। किदवई का नेहरूद्वय और विशेषकर जवाहरलाल में अटूट विश्वास था। उनकी संपूर्ण राजनीति जवाहरलाल जी के प्रति इस मोह से प्रभावित रही। वे नेहरू के पूरक थे। नेहरू जी योजना बनाते थे और रफी अहमद उसे कार्यान्वित करते थे। वे अच्छे वक्ता नहीं थे, लेकिन संगठन की उनमें अपूर्व क्षमता थी, जिससे उनकी राजनीति सदैव चमत्कारपूर्ण और रहस्यमयी बनी रही। सन् १९२६ में वे स्वराज्य पार्टी के टिकट पर लखनऊ फैजाबाद क्षेत्र से केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्य निर्वाचित हुए और स्वराज्य पार्टी के मुख्य सचेतक नियुक्त किए गए। रफी अहमद गांधी-इरविन-समझौते से असंतुष्ट थे। प्रतिक्रियास्वरूप स्वराज्य प्राप्ति हेतु क्रांति का मार्ग ग्रहण करने के लिये उद्यत थे। इस संबंध में सन् १९३१ के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के करांची अधिवेशन के अवसर पर उन्होंने मानवेंद्रनाथ राय से परामर्श किया। उनके परामर्शानुसार किदवई ने जवाहरलाल जी के साथ इलाहाबाद और समीपवर्ती जिलों के किसानों के मध्य कार्य करना प्रारंभ किया और उनके जागरण और जमींदारों द्वारा किए जा रहे उनके दोहन और शोषण की समाप्ति के लिये सतत प्रयत्नशील रहे। किदवई शीघ्र ही संपूर्ण देश को इस संघर्ष में संमिलित करने में सफल हुए।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के निर्णयानुसार रफी अहमद ने केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। वे उत्तर प्रदेश कांग्रेस के महामंत्री और बाद में अध्यक्ष निर्वाचित हुए। सन् १९३७ के महानिर्वाचन में वे उत्तर प्रदेश कांग्रेस के चुनाव संचालक थे। वे स्वयं दो स्थानों से प्रत्याशी रहे, पर दोनों क्षेत्रों से पराजित हुए। मुसलिम लीग के प्रभाव के कारण उत्तर प्रदेश में मुसलमानों के लिये सुरक्षित स्थानों में से एक पर भी कांग्रेस प्रत्याशी विजयी न हो सका। रफी अहमद बाद में एक उपनिर्वाचन में विजयी हुए। वे उत्तर प्रदेश की अंतरिम सरकार में राजस्व मंत्री नियुक्त किए गए। उत्तर प्रदेश दखीलकारी (टेनेंसी) विधेयक उनके मंत्रित्वकाल की क्रांतिकारी देन थी। द्वितीय महायुद्ध के समय कांग्रेस के निर्णयानुसार सभी अंतरिम मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिए।

रफी अहमद का व्यक्तित्व अत्यंत रहस्यमय और निर्भीक था। उत्तर प्रदेश मंत्रिमंडल में वरिष्ठ पद पर रहकर उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिये उच्च कमान के आधिकारिक प्रत्याशी पट्टाभि सीतारमैया के विरुद्ध सुभाषचंद्र बोस को खुला समर्थन दिया और उनके पक्ष में प्रचार किया। श्री बोस विजयी हुए। सन् १९५२ में उन्होंने अध्यक्ष पद के लिये सरदार वल्लभ भाई पटेल के प्रत्याशी पुरुषोत्तमदास टंडन के विरुद्ध डा० सीतारमैया का समर्थन किया। श्री टंडन पराजित हुए।

सन् १९४६ में रफी अहमद किदवई पुन. उत्तर प्रदेश के राजस्वमंत्री नियुक्त हुए। उन्होंने कांग्रेस के चुनाव घोषणापत्र के अनुसार जमींदारी उन्मूलन का प्रस्ताव विधान सभा द्वारा सिद्धांत रूप में स्वीकृत कराया। देशविभाजन के समय वे उत्तर प्रदेश के गृहमंत्री थे। श्री किदवई किसी भी राष्ट्रीय मुसलमान से अधिक धर्मनिरपेक्षता के पक्षपाती थे। उनके हृदय में मानवमात्र के लिये समान स्थान था, पर दुर्भाग्यवश उनके विरुद्ध सांप्रदायिकता को प्रश्रय देने की तीव्र चर्चा प्रारंभ हो गई। इस प्रकरण को समाप्त करने के लिये जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें केंद्र में बुला लिया। वे केंद्रीय मंत्रिमंडल के संचार एवं नागरिक उड्डयन मंत्री नियुक्त किए गए। यद्यपि सांप्रदायिकता की आग में उनके निरपराध चचेरे भाई को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी और यह श्री किदवई के लिये अत्यंत दुःखद रहा, तथापि वे अपनी मान्यताओं से लेशमात्र भी विचलित नहीं हुए।

जवाहरलाल जी की समाजवाद में आस्था थी और सरदार पटेल दक्षिणपंथी विचारधारा के पोषक थे। कांग्रेस संगठन पर सरदार का अधिकार था। यद्यपि सरदार पटेल ने नेहरू जी को प्रधान मंत्री स्वीकार कर लिया था, तथापि किदवई को इस कटु सत्य का स्पष्ट भान था कि सरदार पटेल की उपस्थिति में नेहरू जी शासन के नाममात्र के अध्यक्ष रहेंगे। वे नेहरू जी का मार्ग निष्कंटक बनाना चाहते थे, जिससे कांग्रेस की सत्ता उनके हाथ में हो और इस प्रयास में विफल होने की स्थिति में उनकी योजना थी, कि जवाहरलाल जी अपने समर्थकों के साथ कांग्रेस के विकल्प रूप में एक नया संगठन स्थापित करें। रफी अहमद ने अपने योजनानुसार दोनों छोरों पर चार वर्षों तक संघर्ष किया पर वे अपने प्रयास में विफल रहे। डाक्टर सीतारमैया अध्यक्ष रूप में प्रभावहीन सिद्ध हुए और आचार्य कृपलानी सरदार पटेल के प्रत्याशी टंडन द्वारा पराजित हुए। उत्तर प्रदेश में रफीसमूह के विधायकों पर अनुशासनहीनता के आरोप लगाकर उसके नेताओं को कांग्रेस से निष्कासित कर दिया गया। रफीसमूह विरोध पक्ष में आ गया। मई, १९५१ में कांग्रेस महासमिति की आहूत बैठक में टंडन जी से समझौता न होने पर आचार्य कृपलानी ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया, पर रफी की अनिश्चय की स्थिति बनी रही। यदि वे नेहरू जी का मोह त्यागकर कांग्रेस से पृथक् हो गए होते तो या तो राजनीति में समाप्त हो जाते या देश के सर्वोच्च नेता होते और शीघ्र ही शासन

जॉन फ़िट्जेराल्ड केनेडी

(देखें पृष्ठ ४१५)

इंदिरा गांधी

(देखें पृष्ठ ४१६)

की बागडोर उनके हाथ में आ जाती। जुलाई में बंगलोर अधिवेशन से निराश होकर उन्होंने कांग्रेस की प्रारंभिक सदस्यता और केंद्रीय मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया और किसान मजदूर प्रजा पार्टी की सदस्यता स्वीकार कर ली। टंडन जी द्वारा दबाव डालने पर जवाहरलाल जी ने १० अगस्त को केंद्रीय मंत्रिमंडल से उनका त्यागपत्र स्वीकार कर लिया और स्वयं कांग्रेस कार्यसमिति से त्यागपत्र दे दिया। कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में टंडन जी का अध्यक्ष पद से त्यागपत्र स्वीकृति होने और जवाहरलाल जी के कांग्रेस अध्यक्ष निर्वाचित होने के पश्चात् रफी अहमद पुनः कांग्रेस में लौट आए।

सन् १९५२ में बहराइच संसदीय निर्वाचन क्षेत्र से विजयी होने के पश्चात् वे भारत के खाद्य और कृषि मंत्री नियुक्त हुए। संचार और नागरिक उड्डयन मंत्री के रूप में कई क्रांतिकारी कार्यों के लिये उन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी। सभी को शंका थी कि खाद्य से अशुभ खाद्य मंत्रालय उनके राजनीतिक भविष्य के लिये अशुभ सिद्ध होगा। पर किदवई ने चमत्कार कर दिया। खाद्य-समस्या का विश्लेषण कर कृत्रिम अभाव की स्थिति को समाप्त करने के लिये मनोवैज्ञानिक उपचार के लिये आवश्यक पग उठाए और खाद्यान्न व्यापार को नियंत्रणमुक्त कर दिया। प्रकृति ने भी किदवई का साथ दिया। यह उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा का चरमोत्कर्ष था। शीघ्र ही उपप्रधान मंत्री के रिक्त स्थान पर उनकी नियुक्ति की संभावना थी। लेकिन सन् १९५१ से ही उच्च रक्तचाप और हृद्रोग से पीड़ित रफी अहमद के स्वास्थ्य ने उनका साथ नहीं दिया। स्वास्थ्य की निरंतर उपेक्षा करनेवाले रफी अहमद मृत्यु की उपेक्षा न कर सके। २४ अक्टूबर, १९५४ को हृदयगति रुक जाने से उनका देहावसान हो गया। [सा० व० पां०]

केनेडी, जॉन फिट्ज़ेराल्ड अमरीका के ३५ वें राष्ट्रपति। जन्म २९ मई, सन् १९१७ ई० को बोस्टन के ब्रुकलिन उपनगर में हुआ था। पिता का नाम श्री जोसेफ केनेडी एवं माता का नाम श्रीमती रोज फिट्ज़ेराल्ड केनेडी था। इनके पूर्वज आयरलैंड से आए थे। न्यू इंग्लैंड (पूर्वोत्तर अमरीका) के राजनीतिक जीवन में इस परिवार का प्रमुख स्थान था। बोस्टन में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् श्री केनेडी ने लंदन स्कूल ऑव इकानामिक्स में विद्याध्ययन किया जहाँ उनके प्रोफेसर लेबर पार्टी के विचारक हेराल्ड लास्की भी थे। इन्होंने हारवर्ड और मेसाचुसेट्स विश्वविद्यालयों में अपना अध्ययन पूर्ण किया।

विद्यार्थी जीवन में पीठ पर लगी फुटबाल की चोट के कारण इन्हें स्थल सेना में प्रवेश न मिल सका। सैनिक सेवा के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ होने के कारण इन्होंने इस चोट की विशेष चिकित्सा कराई, आवश्यक व्यायाम किया और इसके बाद नौसेना में कमीशनप्राप्त अधिकारी के रूप में भर्ती कर लिए गए। इन्हें कार्यालय में बैठकर कार्य करने का आदेश मिला; किंतु यह इन्हें रुचिकर न लगा, अतः इन्होंने गश्त लगानेवाली टारपीडो नौका पर ड्यूटी लगाने का अनुरोध किया। अंततोगत्वा इन्हें प्रशांत महासागर क्षेत्र में भेज दिया गया। २ अगस्त, १९४३ ई० को गश्त करनेवाली टारपीडो नौका पी० टी० १०९, जिसके ये लेफ्टिनेंट थे, को एक जापानी विध्वंसक ने दो टुकड़ों में खंडित कर दिया। दुर्घटना में उनकी पीठ पर चोट लगी परंतु इसके बावजूद ये समुद्र में कूद गए और अपने कई साथियों के प्राणों की रक्षा की। डूबती हुई टारपीडो नौका से बुरी तरह घायल एक साथी को एक जीवनपेटी की सहायता से बचाकर एक द्वीप पर ले गए। शत्रु अधिकृत उस क्षेत्र में एक सप्ताह का कष्टमय जीवन व्यतीत करने के पश्चात् अपनी टुकड़ी को सुरक्षित क्षेत्र में ले आए। इस प्रकार इन्होंने अपने अदम्य साहस का परिचय दिया जिसके फलस्वरूप इन्हें नौसेना एवं मैरिन कोर का पदक देकर संमानित किया गया।

सन् १९४५ ई० में नौसेना की सेवा से अवकाश ग्रहण करने पर इन्होंने पत्रसंपादक के रूप में कार्य आरंभ किया और सन् १९४६ ई० में राजनीति की ओर उन्मुख हुए। सन् १९४८ में बोस्टन क्षेत्र से प्रतिनिधि सभा के सदस्य निर्वाचित हुए और सन् १९५६ ई० में अमरीका के उपराष्ट्रपति पद के लिये डेमोक्रेटिक दल के उम्मीदवार के रूप में चुनाव में असफल रहे। सन् १९६० ई० में ये डेमोक्रेटिक पार्टी की ओर से राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार हुए और ८ नवंबर, सन् १९६० ई० में लगभग ४३ वर्ष की आयु में प्रथम रोमन कैथलिक राष्ट्रपति बने।

२० जनवरी, सन् १९६१ को शपथ ग्रहण के अवसर पर अपने उद्घाटन भाषण में इन्होंने अपने देशवासियों और संपूर्ण विश्व के लोगों से अनुरोध किया कि वे मानव के सामान्य शत्रुओं—अत्याचार, दरिद्रता, रोग एवं युद्ध के विरुद्ध सहयोग प्रदान करें। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये इन्होंने एक नई पीढ़ी और एक नवीन प्रशासन की शक्ति और त्याग को प्रयुक्त करने की प्रतिज्ञा की।

राष्ट्रपति की हैसियत से अपनी कार्यविधि के प्रथम सौ दिनों के अंदर, जो किसी नए प्रशासन के लिये परंपरागत रूप में कठिन अवधि होती है, इन्होंने कांग्रेस के समक्ष शिक्षा के हेतु संघीय सहायता के लिये एक कार्यक्रम और अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन देने के लिये अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत किए। अपने प्रशासन के अंतर्गत विद्वानों और अन्य बुद्धिजीवियों को विभिन्न पदों पर नियुक्त किया। व्हाइट हाउस में इन्होंने अगणित कलाकारों को आमंत्रित कर सांस्कृतिक क्षेत्र को राजकीय मान्यता प्रदान की।

देश के आंतरिक पक्ष में, इन्होंने करों में कटौती, औद्योगिक ढाँचे के परिवर्तनों से प्रभावित होकर आर्थिक दृष्टि से क्षतिग्रस्त होनेवाले क्षेत्रों के लिये सहायता, एक विस्तृत आवास-व्यवस्था-कार्यक्रम, वृद्धजनों के लिये चिकित्सा व्यवस्था, नागरिक अधिकार कानूनों के दृढ़ीकरण जैसे कार्यों और उपायों पर बल दिया।

अंतरराष्ट्रीय मामलों में श्री केनेडी ने बर्लिन में तनाव कम करने के लिये अपने देश के प्रयास को जारी रखा। स्वतंत्र एवं तटस्थ लाओस के निर्माण पर बल दिया। प्रभावकारी आणविक परीक्षा प्रतिबंध संधि के लिये आह्वान किया, सर्वव्यापक निःशस्त्रीकरण संधि संपन्न करने के लिये प्रयत्न किया तथा एशिया के विकासोन्मुख राष्ट्रों को सहायता का वचन दिया।

अक्टूबर, सन् १९६२ ई० में अमरीकी राष्ट्र संघटन (आर्गनाइजेशन ऑव अमरीकन स्टेट्स) के सर्वसंमतिपूर्ण समर्थन से तथा

'मेनरो सिद्धांत' की धारणा के अनुसार इन्होंने क्यूबा में सोवियत आक्रामक प्रक्षपास्त्र संग्रहों के चोरी चोरी हो रहे निर्माण को रोकने तथा उन्हें वहाँ से हटा दिए जाने के लिये तत्काल कार्रवाई की। इस सिलसिले में अमरीका ने जो सुदृढ़ दृष्टिकोण अपनाया उसके परिणामस्वरूप आक्रामक अस्त्रास्त्रों के प्रश्न पर सोवियत संघ के साथ युद्ध का संकट टला।

श्री केनेडी अपने प्रशासन के सभी निर्णयों के लिये पूर्ण रूप से उत्तरदायी रहे।

२२ नवंबर, सन् १९६३ ई० को अमरीका के दक्षिण शहर डलास में २५ मील प्रति घंटा की रफ्तार से चलती हुई उनकी कार पर कहीं से कुछ सुनी गोलियाँ छूटीं और राष्ट्रपति केनेडी का आहत शरीर एक ओर लुढ़क पड़ा। ३० मिनट के पश्चात् अमरीका के सबसे युवा एवं उत्साही, उदार एवं शांतिप्रेमी राष्ट्रपति जान फिट्ज़ेराल्ड केनेडी का निधन हो गया। [रा०]

गांधी, इंदिरा भारत गणराज्य के प्रथम प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू की पुत्री तथा पंडित मोतीलाल नेहरू की पौत्री इंदिरा जी भारत की तृतीय प्रधान मंत्री हैं। इनका जन्म सन् १९१७ ईसवी में हुआ और शिक्षा शांतिनिकेतन, कैंब्रिज तथा स्विटजरलैंड में हुई। अल्पवय से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में भाग लेना आरंभ कर दिया था, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के संपर्क में आईं तथा स्वातंत्र्य आंदोलन में जेल भी गईं। यद्यपि सन् १९६४ के पूर्व देश के शासनतंत्र में इन्होंने कोई पद ग्रहण नहीं किया तो भी कांग्रेस अध्यक्षा (१९५७ ई०) के रूप में भारतीय जनता के जीवन से तादात्म्य स्थापित करने का इन्हें पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ था। पिता के साथ कई बार विदेश यात्राएँ कर चुकने के कारण यह प्रमुख विदेशी राजनयिकों के संपर्क में भी आ चुकी थीं। पंडित नेहरू की मृत्यु के बाद सर्वप्रथम यह सूचना और प्रसारण मंत्री (१९६२ ई०) के रूप में श्रीलालबहादुर शास्त्री के केंद्रीय मंत्रिमंडल में शामिल हुईं और उनके निधन पर जनवरी, १९६६ ई० से प्रधान मंत्री पद पर आसीन हैं। यह विश्व के सबसे बड़े गणराज्य की प्रथम महिला प्रधान मंत्री हैं। अपने शासन काल में समूचे देश का दौरा करने के साथ ही आपने फ्रांस, अमरीका, इंग्लैंड, रूस तथा अन्य देशों का भी दौरा किया और सर्वत्र अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त की।

इन्हें भी देश की विभिन्न बड़ी समस्याओं का सामना करना पड़ा और निरंतर करना पड़ रहा है। खाद्यान्न की समस्या, नागालैंड तथा चंडीगढ़ की समस्या आदि का समाधान इन्होंने सफलतापूर्वक किया। इनके समय में पंजाब और हरियाणा की दो अलग सरकारें बनीं और असम राज्य के अंतर्गत मेघालय राज्य की स्थापना हुई।

समाजवादी शासन की दिशा में देश निरंतर अग्रसर है जिसका प्रथम चरण है भारतीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण। इनके कार्यकाल में एक कटु प्रसंग भी उपस्थित हुआ—महान संस्था कांग्रेस में दो दल हो गए। राष्ट्रपति के चुनाव में मतदान की स्वतंत्रता के प्रश्न को लेकर कांग्रेस दो भागों में विभक्त हो गई और इंदिरा जी की नीतियों की समर्थक कांग्रेस को, जिसे वे वास्तविक कांग्रेस मानती हैं, सत्ताधारी कांग्रेस तथा दूसरे को संगठन कांग्रेस नाम दिया जाने लगा।

इंदिरा जी शांतिनिकेतन की कुलपति, काशी नागरीप्रचारिणी सभा की संरक्षक तथा केंद्रीय संगीत नाटक अकादमी की अध्यक्षा भी हैं। इनके प्रयत्नों से देश में नई समाजवादी जागृति और कांग्रेस में नवचेतना का संचार हुआ है। [ता० पां०]

जर्मन भाषा एवं साहित्य जर्मन भाषा—भारोपीय परिवार के जर्मेनिक वर्ग की भाषा, सामान्यतः उच्च जर्मन का वह रूप है जो जर्मनी में सरकारी, शिक्षा, प्रेस आदि का माध्यम है। यह आस्ट्रिया में भी बोली जाती है। इसका उच्चारण १८९८ ई० के एक कमीशन द्वारा निश्चित है। लिपि फ्रेंच और अंग्रेजी से मिलती जुलती है। वर्तमान जर्मन के शब्दादि में बलाघात होने पर काकल्यस्पर्श है। तान (टोन) अंग्रेजी जैसी है। उच्चारण अधिक सशक्त एवं शब्दक्रम अधिक निश्चित है। दार्शनिक एवं वैज्ञानिक शब्दावली से परिपूर्ण है। शब्दराशि अनेक स्रोतों से ली गई है।

उच्च जर्मन—केंद्र, उत्तर एवं दक्षिण में बोली जानेवाली—अपनी पश्चिमी शाखा (लो जर्मन-फ्रिजियन, अंग्रेजी) से लगभग छठी शताब्दी में अलग होने लगी थी। भाषा की दृष्टि से 'प्राचीन हाई जर्मन' (७५०–१०५०), 'मध्य हाई जर्मन' (१३५० ई० तक), 'आधुनिक हाई जर्मन' (१२०० ई० के आसपास से अब तक) तीन विकास चरण हैं। उच्च जर्मन की प्रमुख बोलियों में थिरिंज, श्लिज्टुश, आधुनिक प्रधान स्विस या उच्च अलेमैनिक, फ्रकोनियन (पूर्वी और दक्षिणी), टिपूअरियन तथा साइलेसियन आदि हैं।

जर्मन साहित्य—जर्मन साहित्य, विशेषतः साहित्य, संसार के प्रौढ़तम साहित्यों में से एक है। जर्मन साहित्य सामान्यतः छह छह सौ वर्षों के व्यवधान (६००, १२००, १८०० ई०) में विभक्त माना जाता है। प्राचीन काल में मौखिक एवं लिखित दो धाराएँ थीं। ईसाई मिशनरियों ने जर्मनों को रूने (Rune) वर्णमाला दी। प्रारंभ में (८०० ई०) ईसामसीह पर आधारित साहित्य (अनुवाद एवं पंद्य) रचा गया।

प्रारंभ में वीरकाव्य (एपिक) मिलते हैं। स्काल्ड का 'हाल्डिब्रैंडे लाइडलिड'. (पिता पुत्र के बीच मरणांतक युद्धकथा) जर्मन बैलेड साहित्य की उल्लेख्य कृति है। ओल्ड टेस्टामेंट के अनेक अनुवाद हुए।

दरबारी वीरकाव्य — हिंदी के तथाकथित 'वीरगाथाकाल' की भाँति चारण, घुमक्कड़, पेशेवर, भट्टमंडलों (गायक) की वीर बैलेडें बनीं। यद्यपि इनसे शिल्प, भाषा एवं नैतिक मूल्यों में ह्रास हुआ तथापि साथ ही विषयवैविध्य भी हुआ। फ्रांस एवं इस्लाम के अभ्युदय तथा प्रभाव से अनेक 'एपिक' बने। होहेस्टाफेन सम्राटों के अनेक कवियों में से वुलफ्राम ने 'पार्जीवाल' महान् काव्यकृति रची। अज्ञातनामा चारणकृत 'निबेलुंगेनलीड' वैसे ही वीरलोककाव्य है जैसे हिंदी में 'आल्हा' है।

प्रबंधकाव्य—वीरों एवं उनकी नायिकाओं के पारस्परिक प्रणय और युद्ध विषयक विशिष्ट साहित्यधारा 'मिनेज़ांगर' के प्रमुख कवियों में से वाल्थर, फॉनडेर फोगलवाइड को सर्वश्रेष्ठ प्रणयगीतकार (जैसे विद्यापति) कहा गया है।

अवनति का द्वितीय दौर (१२२०-१४५० ई०) — परवर्ती जर्मन साहित्य अधिकांशत: कल्पनाग्राही रहा। इसी काल में कवि बनाने के 'स्कूल' खुले, जिन्हें इन्हीं कवियों के नाम पर उनकी पेचीली एवं अलंकृत शैली के कारण 'माइस्तेर्सिंगेर' कहा गया। गद्य का विकास फ्रांसीसी लेखकों के प्रभाव से हुआ। पंद्रहवीं शताब्दी से मुद्रण के कारण गद्य, कथासाहित्य बहुत लिखा गया। महान् सुधारक मार्टिन लूथर महान् साहित्यकार न था किंतु बाइबिल के उसके अद्भुत अनुवाद को तत्कालीन जनता ने 'रामचरितमानस' की तरह स्वीकारा तथा परवर्ती लेखक इससे प्रेरित एवं प्रभावित हुए।

पुनर्जागरण : लूथरकाल (१७वीं शती) — रेनेसाँ के कारण अनेक साहित्यिक एवं भाषावैज्ञानिक संस्थाएँ जन्मी, आलोचना-साहित्य का अंग्रेजी, विशेषत शेक्सपियर पद्धतिवाले, रंगमंच के प्रवेश से (१६२० ई०) काव्य प्रधानत: धार्मिक एवं रहस्यवादी रहा। कवियों में ओपित्स, साइमन डाख तथा पाल फ्लेमिंग प्रमुख हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक नवसंगीतसर्जना हुई। लाइबनित्स जैसे दार्शनिकों के प्रभाव से साहित्य में तार्किकता एवं बुद्धिवाद आया। ग्रीमेल्सहाउसेन का यथार्थवादी युद्धउपन्यास 'सिपलीसिसिमस' कृति है। अतिशयोक्ति एवं वैचित्र्यप्रधान नाटक तथा व्यंग्य साहित्य का भी प्रणयन हुआ किंतु वस्तुत: धार्मिक संघर्षों के कारण कोई विशेष साहित्यिक प्रगति न हुई।

१८वीं शती

प्रसिद्ध नाटककार गाटशेड के प्रतिनिधित्व में मर्यादावादी एवं बुद्धिवादी जर्मन साहित्य प्रारंभ हुआ। कापस्टाक ने उन्मादक रसप्रवाही काव्य लिखा। लेसिंग ने नाटक (१७७९ ई०), आलोचना एवं सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण निर्णायक योगदान किया। इसके आलोचना के मानदंडों एवं कृतित्व ने शताब्दियों तक जर्मन साहित्य को प्रभावित किया है।

आधुनिक युग

१८वीं शताब्दी के तीसरे चरण से जर्मन साहित्य का युग प्रारंभ होता है। उपर्युक्त बुद्धिवाद के विरुद्ध 'स्तूर्म उन्ड द्रांग' (तूफान और आग्रह) नामक तर्कशून्य, भावुक, साहित्यिक आंदोलन चल पड़ा। इसका प्रेरक ग्रोटफ्रीडहर्डर था। नवयुवक गेटे तथा शिलर प्रचारक थे। सामाजिकता, राष्ट्रीयता, अतींद्रिय सत्ता पर विश्वास और तर्कशून्यभावुकता इसकी विशेषताएँ हैं।

इसके बाद क्लासिकल काल (१७८६ ई० से) के देदीप्यमान नक्षत्र जोहानवोल्फगैंग गेटे ने विश्वविख्यात नाटक 'फास्ट' लिखा। इसमें गेटे ने 'शाकुंतलम्' का प्रभाव स्वीकारा है। 'विल्हेम मेइस्तर' प्रसिद्ध उपन्यास है। गेटे के ही टक्करवाले शिलर (साहित्यकार और इतिहासकार) ने 'रूसो' से प्रभावित प्रसिद्ध नाटक 'डी राउबर' (डाकू) लिखा। दार्शनिक कांट उसी समय हुए। इस काल का साहित्य आदर्शोन्मुखी, जनप्रिय एवं शाश्वत मूल्योंवाला है।

१९वीं शताब्दी

रोमांटिक काल—इस शताब्दी में रोमांटिक एवं यथार्थवादी दो परस्पर विरोधी चेतनाएँ विकसीं, परिणामत: क्लासिकल कालीन आदर्शों, मान्यताओं का विरोध हुआ तथा ऊहात्मक, स्वप्निल, आभासगर्भित विगत अतीत अथवा सुदूर भविष्य का सुखद धूमिल वातावरणप्रधान साहित्य लिखा जाने लगा। इसका सूत्रपात 'आर्थेनाउम' (१७९८) पत्रिका के प्रकाशन से प्रारंभ होता है। अतींद्रिय तत्वों की स्वीकृति, बिंबात्मक एवं प्रतीकात्मक (विशेषत: परियों के कथानकों द्वारा), प्रणयगीतात्मक रूमानी साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ थीं। नोवालिस, टिक, श्लेगल बंधुद्वय आदि प्रमुख रूमानी साहित्यकार हैं। हाफमान गायक, गीतकार, और इन सबसे बढ़कर कथाकार था। उसके पात्र भीषण तथा अपार्थिव होते थे। इसका प्रभाव परवर्ती जर्मन साहित्य पर बहुत पड़ा।

परवर्ती शताब्दियों तक प्रभावित करनेवाली सर्वाधिक उपलब्धि शेक्सपियर के नाटकों का छंदविहीन काव्य में अनुवाद है। जर्मनी के राजनीतिक संघर्षों (जेना युद्ध १८०६ ई० मुक्ति युद्ध १८१३ ई०) में नैपोलियन विरोधी राष्ट्रभावनापरक साहित्य रचा गया। नाटकों में देशप्रेम, बलिदान एवं प्रतीकात्मकता है।

अतीतोन्मुखता के परिणामस्वरूप लोकसाहित्य का संग्रह प्रारंभ हुआ, साथ ही जर्मन कानून, परंपराओं भाषा, साहित्य एवं संगीत को नवीन वैज्ञानिक संदर्भों में देखा गया। प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक 'ग्रिम' ने भाषाकोश लिखा। अन्य भाषाविश्लेषक 'बाप' भी उसी समय हुए। ग्रिम बंधुओं का कहानीसंग्रह 'किंडर उंड हाउस मार्खेन' (घरेलू कहानियाँ) शीघ्र ही जर्मन बच्चों का उपास्य बन गया।

मार्क्सवाद के आते आते वर्ग-संघर्ष-विरोधी साहित्य का प्रणयन प्रारंभ हुआ। ऐसे साहित्यकार (हाइनृख हाइने, कार्ल गुत्सको, हाइनृख लाउबे, थ्योडोर मुंट आदि) 'तरुण जर्मन' कहलाए। सरकार ने इनकी कृतियाँ जप्त करके अनेक को देशनिकाला दे दिया। हाइने अंतिम रोमांटिक कवि था किंतु उसमें थैलीशाहों का खुला विद्रोह मिलता है। उस समय ऐतिहासिक एवं समस्याप्रधान नाटक बने। भाव एवं भाषा दोनों ही दृष्टियों से आंचलिकता आने लगी। राजनीतिक कविताओं के लिये यार्ज हर्वे, फर्डीनेंड फाली-ग्राथ (वाल्टह्विटमैन का पहला अनुवादक) आदि प्रसिद्ध हैं। फ्रीड्रिख हेबेल ने दु:खांत नाटकों से विदेशियों को भी प्रभावित किया।

यथार्थवादी उपन्यासधारा में मेधावी स्विस लेखक गोटफ्रीड केलर हुआ। ओटो लुडविग का कथासाहित्य कल्पनाप्रधान है। सामाजिक उपन्यास वस्तुत: इसी काल में उभर पा सके। थ्योडर स्टोर्म ने मनोवैज्ञानिक कहानियाँ तथा प्रगीत लिखे। स्विस लिरिककारों में महान् 'कोनराड फर्डीनेंड मेयर' ने अत्यंत ललित, भावप्रधान, सुगठित प्रांजल भाषा में प्रगीत लिखे। साहित्य की समस्त यथार्थवादी विधियों ने विदेशी साहित्य से प्रेरणाएँ ग्रहण कीं।

वागनर और नीत्शे — इन दोनों के प्रभाव से निराशावादी, प्रतिक्रियाप्रधान साहित्य रचा गया। नीत्शे की 'महामानव' संबंधी

मान्यताएँ उसके साहित्य में व्यक्त हुईं। इसी से बाद में नाजी धारा प्रभावित हुई।

'आर्नोहोल्स' के नेतृत्व में प्रकृतिवादी साहित्य (यथातथ्य प्राकृतिक निरूपण) की भी एक धारा पाई जाती है।

बीसवीं शताब्दी

रसवादी परंपरा—बर्लिन के प्रकृतिवादी साहित्य के समानांतर वियना की कलात्मक रसवादिता की धारा भी आई। इसमें सौंदर्य के नवीन आयामों की खोज हुई। उपन्यासजगत् में अत्यधिक उपलब्धि हुई। 'टामस मान' जर्मन मध्यवर्ग का महान् व्याख्याता (उपन्यासकार एवं गद्य-महाकाव्य-प्रणेता) था। उसने डरजौबर्ग (जादू का पहाड़ १९२४ ई०) में पतनोन्मुख यूरोपीय समाज का चित्रण किया। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, ऐतिहासिक मिथ एवं प्रतीकात्मकता के माध्यम से उसने परवर्ती साहित्यिकों को बहुत प्रभावित किया। हरमन हेस ने वैयक्तिक अनुभूतियों के सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किए। इस काल के सभी साहित्यिकों में रहस्यवाद और प्रतीकात्मकता है तथा प्राकृतिक साहित्य का विरोध पाया जाता है।

वर्तमान युग—वर्तमान युग के सूत्र पहले से ही पाए जाने लगे थे। 'टामस मान' स्वयं वर्तमान का प्रेरक था। प्रभाववादी धारा (इंप्रेशनिस्ट—लगभग १९१० ई०), जिसमें वर्तमान की ध्वंसात्मक आलोचना या आंतरिक अनुभूतियों की प्रत्यक्ष अनुभूति पाई जाती है तथा जिसमें जार्जहिम, हेनरिख बर्श आदि प्रमुख साहित्यिक हैं, वस्तुत: आधुनिक साहित्यिक चेतना की एक मंजिल है।

अभिव्यंजनावाद—महासमर के बाद अभिव्यंजनावाद की धारा वेगवती हुई। इनकी दृष्टि अंतश्चेतना के सत्योद्घाटन में ही है। नाटक के क्षेत्र में नई टेकनीक, कथावस्तु एवं उद्देश्य की नवीनता के कारण रंगमंच की आवश्यकता बढ़ी। जार्जकेसर, अर्नेस्ट टालर के नाटक, वेर्फेल के लिरिक प्रसिद्ध हैं। वेर्फेल के १९१४ के बाद के लिरिकों में व्यापक वेदांत — मृत्यु, मोक्षजगत् में ब्रह्म सत्ता का अस्तित्व — मिलता है। 'वाल्टर वान मोलो' ने ऐतिहासिक नाटक लिखे। अर्नेस्ट तथा थ्योडर ने महाकाव्य लिखे। फ्रायड तथा आइंस्टीन के सिद्धांतों का प्रभाव इस काल के साहित्य में पड़ा तथा आलोचना के नए मानदंड आए। स्पेंगलर आदिकों की मानवता की नवीन व्याख्या अत्यंत प्रभावकारी हुई।

१९३९ ई० के युद्ध के दौरान जर्मन साहित्य में भी उथल पुथल मची तथा 'थामस मान' जैसे लेखक देशनिष्कासित कर दिए गए। नात्सीवाद (नाजी) के समर्थक साहित्यकारों में पाल अर्नेस्ट, हांस ग्रिम, हरमान स्टेह, विल वेस्पर आदि प्रमुख थे। युद्धोत्तर साहित्य में भी अस्थिरता रही, धार्मिक दृष्टिकोण से वर्तमान समस्याओं को देखा गया। काव्य एवं उपन्यासों में युद्धविभीषिका चित्रित हुई। 'गडंगेसर' तथा हेनरिख बाल ने युद्धोत्तर परिस्थितियों का लोमहर्षक चित्रण प्रस्तुत किया।

समग्र रूप में हम पाते हैं कि जर्मन साहित्य में सार्वभौम दृष्टिकोण का अभाव है और संभवत: इसी से यह यूरोपीय सांस्कृतिक धारा से किंचित् पृथक् पड़ता है। संकीर्ण और एकांगी दृष्टिकोण की प्रबलता, अत्यधिक तात्विकता, बाहर से अधिक ग्रहण करने की पारंपरिक प्रवृत्ति आदि कारणों से अंग्रजी, फ्रेंच जैसे साहित्यों की तुलना में जर्मन साहित्य विदेशों में अपेक्षित प्रसिद्धि न पा सका। फिर भी काल्पनिकता, अतींद्रियबोध, रागात्मक तथा लोकतात्विक भूमिका के कारण यह इतर साहित्यों से पृथक् एवं महत्वपूर्ण है।

सं० ग्रं० — बी० ओ० मोर्गन : क्रिटिकल बिब्लियोग्राफी ऑव जर्मन लिटरेचर, १४८१-१९३५; जे० कोनर : बिब्लोग्रफिशेस हांडबुख डेस ड्वायटश्येज मिफ्टुम्स; भगवतशरण उपाध्याय : विश्व-साहित्य की रूपरेखा। [भ० दी० मि०]

ठाकुर, रवींद्रनाथ का जन्म कलकत्ता नगर में ७ मई, सन् १८६१ ई० को हुआ था। इनके पिता का नाम महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर था। प्रारंभिक पाठशाला में इनका नाम लिखाया गया किंतु वहाँ इनका मन नहीं लगा। यज्ञोपवीत संस्कार हो जाने के बाद ये बचपन में ही अपने परिवार के साथ हिमालय की यात्रा पर गए थे, जहाँ उनकी प्रतिभा को विकास का पूरा अवकाश मिला था। इनका पालन पोषण बचपन में नौकरों के ही जिम्मे रहा। पढ़ाने के लिये घर पर शिक्षक आते थे। अखाड़े में एक पहलवान इन्हें कुश्ती कला भी सिखाता था। सोलह वर्ष की वय में इन्होंने अपना नाम छिपाकर छद्मनाम से 'भानुसिंह की पदावली' नामक एक काव्यसंग्रह लिख डाला था और यह लिख दिया था कि ब्राह्मसमाज के पुस्तकालय में प्राचीन कवि भानुसिंह की यह पदावली मुझे हाथ लगी। बहुतों ने इसे सच भी मान लिया था। इसके बाद ये शिक्षाप्राप्ति के लिये इंग्लैंड भेजे गए। वहाँ जो कटु मधुर अनुभव इन्होंने प्राप्त किए उसका विशद उल्लेख इन्होंने अपने 'स्मृतिग्रंथ' में किया है। ये बराबर काव्यरचना में दत्तचित्त रहे। इंग्लैंड में इनका परिचय अंग्रेजी के विख्यात महाकवि डब्ल्यू० बी० यीट्स से हो गया। उन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने अपने कई बँगला काव्यसंग्रहों से १०३ गीतों का अनुवाद 'गीतांजलि' नाम से अंग्रेजी में किया और उसी पर इन्हें सन् १९१३ में विश्व का सबसे बड़ा पुरस्कार 'नोबेल प्राइज' मिला। फिर तो इनकी ख्याति देश विदेश में सर्वत्र फैल गई और भारत में भी लोग इन्हें महाकवि समझने लगे। इसके पश्चात् इन्होंने कलकत्ते से दूर बोलपुर में 'शांतिनिकेतन' नामक आश्रम की स्थापना की और प्राचीन भारतीय आश्रमों की भाँति वहाँ शिक्षण की व्यवस्था की। वहाँ विविध विषयों के उच्च विद्वान् सादगी के वातावरण में शिक्षादान करने लगे। रवींद्र काव्य में विश्वप्रेम को राष्ट्रीयता से उच्च स्थान देने के अभिलाषी रहे हैं। ब्राह्मसमाज में दीक्षित होने के कारण जाति पाँति में उनका विश्वास नहीं था और न मंदिरों के प्रति उन्हें आस्था थी। वे मानवता को सर्वोपरि मानते थे।

रवींद्रनाथ कवि, नाटककार, निबंधकार, उपन्यासकार, अभिनेता, संगीतज्ञ और कुशल चित्रकार भी थे। उनकी प्रतिभा का ही परिणाम है कि उनके नाम से संगीत के क्षेत्र में 'रवींद्र संगीत' की धूम मच गई।

रवींद्र की साहित्यिक कृतियों का अनुवाद विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में हो गया है। एक समय था, जब अनेक भारतीय भाषाओं के कवि रवींद्र के काव्य का अनुकरण करने में अपनी प्रतिष्ठा समझते थे। रवींद्र ने अकेले जितना विपुल साहित्य दिया, इस काल में

रवींद्रनाथ ठाकुर (देखें पुष्ठ ४१८)

बादशाह खाँन (देखें पुष्ठ ४२२)

सत्यनारायण शास्त्री (देखें पुष्ठ ४१४)

सर सैयद अहमद खाँ (देखें पुष्ठ २०८)

रफ़ी अहमद किदवई (देखें पृष्ठ ४१३)

हो ची मिन्ह (देखें पृष्ठ ४२३)

अंबिकाप्रसाद वाजपेयी (देखें पृष्ठ ५०१)

कांजीवरम् नटराजन् अन्नादुरै (देखें पृष्ठ ४१२)

लाला हरदयाल (देखें पृष्ठ २१२)

संभवतः कोई भी उतना न दे सका। उनकी बहुमुखी प्रतिभा और महान् व्यक्तित्व के कारण संपूर्ण विश्व ने भारतवर्ष का परिचय पाने के लिये गांधी और रवींद्रनाथ को ही पर्याप्त माना। वह गुरुदेव नाम से प्रसिद्ध थे और महात्मा गांधी उनका बड़ा आदर करते थे। यहाँ तक कि जब अस्सी वर्षों की आयु में शांतिनिकेतन के लिये धनसंग्रहार्थ गुरुदेव स्वयं अपनी अभिनयमंडली लेकर भारतभ्रमण के लिये निकले तब महात्मा जी ने उन्हें आश्वासन दिया कि शांतिनिकेतन के लिये वह निधि एकत्र कर देंगे।

स्वतंत्र भारत का राष्ट्रगान 'जन गण मन अधिनायक जय हे भारत भाग्य विधाता' गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर की ही कृति है।

शांतिनिकेतन में ही सन् १९४१ ई० में रवींद्रनाथ का निधन हुआ। [ला० त्रि० प्र०]

तारासिंह, मास्टर कट्टर सिक्ख नेता थे। इनका जन्म रावलपिंडी के समीपवर्ती ग्राम के एक खत्री परिवार में सन् १८८३ में हुआ था। वे बाल्यावस्था से ही कुशाग्रबुद्धि एवं विद्रोही प्रकृति के थे। १७ वर्ष की वय में सिक्ख धर्म की दीक्षा ले ली और अपना पैतृक गृह त्यागकर गुरुद्वारे को ही आवास बना लिया। तारासिंह ने स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण कर अध्यापक के रूप में अपना जीवन प्रारंभ किया। एक खालसा विद्यालय के अवैतनिक हेडमास्टर हो गए पर मात्र दस रुपए मासिक में अपना निर्वाह करते थे। यह तारासिंह का अपूर्व त्याग था। यद्यपि बाद में धार्मिक आंदोलनों में सक्रिय रूप से भाग लेने के कारण उन्होंने अध्यापन कार्य सदा के लिये छोड़ दिया, तथापि हेडमास्टर तारासिंह, मास्टर तारासिंह के ही नाम से विख्यात हुए।

मास्टर तारासिंह ने प्रथम महायुद्ध के समय राजनीति में प्रवेश किया। उन्होंने सरकार की सहायता से सिक्खपंथ को बृहत् हिंदू समाज से पृथक् करने के सरदार उज्वलसिंह मजीठिया के प्रयास में हर संभव योग दिया। सरकार को प्रसन्न करने के लिये सेना में अधिकाधिक सिक्खों को भर्ती होने के लिये प्रेरित किया। सिक्खों को इस राजभक्ति का पुरस्कार मिला। सब रेलवे स्टेशनों का नाम गुरुमुखी में लिखा जाना स्वीकार किया गया और सिक्खों को भी मुसलमानों की भाँति इंडिया ऐक्ट १९१९ में पृथक् सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। महायुद्ध के बाद मास्टर जी ने सिक्ख राजनीति को कांग्रेस के साथ संबद्ध किया और सिक्ख गुरुद्वारों और धार्मिक स्थलों का प्रबंध हिंदू मठाधीशों और हिंदू पुजारियों के हाथ से छीनकर उनपर अधिकार कर लिया। इससे अकाली दल की शक्ति में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। मास्टर तारासिंह शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के प्रथम महामंत्री चुने गए। ग्रंथियों की नियुक्ति उनके हाथ में आ गई। इनकी सहायता से अकालियों का आतंकपूर्ण प्रभाव संपूर्ण पंजाब में छा गया। मास्टर तारासिंह बाद में कई बार शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के अध्यक्ष चुने गए।

मास्टर तारासिंह ने सन् १९२१ के सविनय अवज्ञा आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया, पर सन् १९२८ की भारतीय सुधारों संबंधी नेहरू कमेटी की रिपोर्ट का इस आधार पर विरोध किया कि उसमें पंजाब विधानसभा में सिक्खों को ३० प्रतिशत प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था। अकाली दल ने कांग्रेस से अपना संबंध विच्छेद कर लिया। १९३० में पूर्ण स्वराज्य का संग्राम प्रारंभ होने पर मास्टर तारासिंह तटस्थ रहे और द्वितीय महायुद्ध में अंग्रेजों की सहायता की। सन् १९४६ के महानिर्वाचन में मास्टर तारासिंह द्वारा संगठित 'पंथिक' दल अखंड पंजाब की विधानसभा में सिक्खों को निर्धारित ३३ स्थानों में से २० स्थानों पर विजयी हुआ। मास्टर जी ने सिक्खिस्तान की स्थापना के अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये श्री जिन्ना से समझौता किया। पंजाब में लीग का मंत्रिमंडल बनाने तथा पाकिस्तान के निर्माण का आधार ढूंढ़ने में उनकी सहायता की। लेकिन राजनीति के चतुर खिलाड़ी जिन्ना से भी उन्हें निराशा ही हाथ लगी। भारत विभाजन की घोषणा के बाद अवसर से लाभ उठाने की मास्टर तारासिंह की योजना के अंतर्गत ही देश में दंगों की शुरुआत अमृतसर से हुई, पर मास्टर जी का यह प्रयास भी विफल रहा। लेकिन उन्होंने हार न मानी; सतत संघर्ष उनके जीवन का मूलमंत्र था। मास्टर जी ने संविधानपरिषद् में सिक्खों के सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को कायम रखने, भाषासूची में गुरुमुखी लिपि में पंजाबी को स्थान देने तथा सिक्खों को हरिजनों की भाँति विशेष सुविधाएँ देने पर बल दिया और सरदार पटेल से आश्वासन प्राप्त करने में सफल हुए। इस प्रकार संविधानपरिषद् द्वारा भी सिक्ख संप्रदाय के पृथक् अस्तित्व पर मुहर लगवा दी तथा सिक्खों को विशेष सुविधाओं की व्यवस्था कराकर निर्धन तथा दलित हिंदुओं के धर्मपरिवर्तन द्वारा सिक्ख संप्रदाय के त्वरित प्रसार का मार्ग उन्मुक्त कर दिया। तारासिंह इसे सिक्ख राज्य की स्थापना का आधार मानते थे। सन् १९५२ के महानिर्वाचन में कांग्रेस से चुनाव समझौते के समय वे कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा पृथक् पंजाबी भाषी प्रदेश के निर्माण तथा पंजाबी विश्वविद्यालय की स्थापना का निर्णय कराने में सफल हुए।

मास्टर तारासिंह ने विभिन्न आंदोलनों के सिलसिले में अनेक बार जेलयात्राएँ कीं, पर दिल्ली में आयोजित एक विशाल प्रदर्शन का नेतृत्व करने से पूर्व सरदार प्रतापसिंह द्वारा बंदी बनाया जाना उनके नेतृत्व के ह्रास का कारण बना। उन्होंने अपने स्थान पर प्रदर्शन का नेतृत्व करने के लिये अपने अन्यतम सहयोगी संत फतेहसिंह को मनोनीत किया। संत ने बाद में मास्टर जी की अनुपस्थिति में ही पंजाबी प्रदेश के लिये आमरण अनशन प्रारंभ कर दिया, जिसे समाप्त करने के लिये मास्टर तारासिंह ने कारावास से मुक्ति के पश्चात् संत फतेहसिंह को विवश किया और प्रतिक्रियास्वरूप सिक्ख समुदाय के कोपभाजन बने। अपनी प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिये उन्होंने स्वयं आमरण अनशन प्रारंभ कर दिया, जिसे उन्होंने केंद्रीय सरकार के आश्वासन पर ही त्यागा। सरकार ने वार्तार्थ मास्टर जी के स्थान पर संत को आमंत्रित किया। घटनाक्रमों ने अब तक मास्टर जी के नेतृत्व को प्रभावहीन और संत को विख्यात बना दिया था। वे हर मोड़ पर उलझते गए और संत जी की लोकप्रियता उसी अनुपात में बढ़ती गई। सरदार प्रतापसिंह के राजनीतिक कौशल ने सिक्ख राजनीतिक शक्ति के अक्षय स्रोत शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी से भी मास्टर को निष्कासित करने में संत को सफल बनाया। मास्टर जी संत जी से पराजित हुए। उनके

४५ वर्ष पुराने नेतृत्व का अंत हो गया; उनकी राजनीतिक मृत्यु हो गई। सन् १९६९ में उनके दल को विधानसभा में मात्र तीन स्थान प्राप्त हुए। यद्यपि १९६६ में हुए पंजाब विभाजन की पूर्वपीठिका तैयार करने का संपूर्ण श्रेय मास्टर तारासिंह को ही है, तथापि पंजाबी सूबा बना मास्टर तारा सिंह के यशःशरीर के शव पर। विजय की वरमाला संत जी के गले में पड़ी। पर उस वयोवृद्ध सिक्ख-नेता ने आत्मसमर्पण करना सीखा नहीं था। वे अंत तक मैदान में डटे रहे। वे जीवनपर्यंत विवाद के केंद्र बने रहे, लेकिन जड़ कभी नहीं हुए।

२२ नवंबर, सन् १९६७ को ८१ वर्ष की वय में देश के राजनीतिक जीवन का यह इंद्रधनुषी व्यक्तित्व समाप्त हो गया। [ला० ब० पां०]

ध्यानचंद, मेजर जन्म २९ अगस्त, सन् १९०५ ई० को इलाहाबाद में हुआ था। जाति के राजपूत हैं। हॉकी के विश्वविख्यात खिलाड़ी हैं। १९२२ ई० में दिल्ली में प्रथम ब्राह्मण रेजीमेंट में भर्ती हुए। सन् १९२७ ई० में लांस नायक बना दिए गए। सन् १९३२ ई० में लॉस एंजल्स जाने पर नायक नियुक्त हुए। सन् १९३७ ई० में जब भारतीय हाकी दल के कप्तान थे तो उन्हें जमादार बना दिया गया। जब द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ हुआ तो सन् १९४३ ई० में 'लेफ्टिनेंट' नियुक्त हुए और भारत के स्वतंत्र होने पर सन् १९४८ ई० में कप्तान बना दिए गए।

जब ये ब्राह्मण रेजीमेंट में थे उस समय मेजर बले तिवारी से, जो हाकी के शौकीन थे, हाकी का प्रथम पाठ सीखा। सन् १९२२ ई० से सन् १९२६ ई० तक सेना की ही प्रतियोगिताओं में हाकी खेला करते थे। दिल्ली में हुई वार्षिक प्रतियोगिता में जब इन्हें सराहा गया तो इनका हौसला बढ़ा। १३ मई, सन् १९२६ ई० को न्यूजीलैंड मे पहला मैच खेला था। न्यूजीलैंड में २१ मैच खेले जिनमें ३ टेस्ट मैच भी थे। इन २१ मैचों में से १८ जीते, २ मैच अनिर्णीत रहे और एक में हारे। पूरे मैचों में इन्होने १९२ गोल बनाए। उनपर कुल २४ गोल ही हुए।

ओलंपिक प्रतियोगिता में (अमस्तरडम में) १७ मई, सन् १९२८ ई० को आस्ट्रिया को ६–०, १८ मई को बेल्जियम को ९–०, २० मई को डेनमार्क को ५–०, २२ मई को स्विटजरलैंड को ६–० तथा २६ मई को हालैंड को ३–० से हराकर विश्व भर में हॉकी के चैंपियन घोषित किए गए और २९ मई को उन्हे पदक प्रदान किया गया।

२७ मई, सन् १९३२ ई० को श्रीलंका में दो मैच खेले। एक मैच में २१–० तथा दूसरे में १०–० से विजयी रहे। ४ अगस्त, १९३२ ई० को ओलंपिक खेलों में जापान को ११–१ तथा ११ अगस्त को अमरीका को २४–१, से हराकर पुनः विश्वविजयी हुए।

सन् १९३५ ई० में भारतीय हाकी दल के न्यूजीलैंड के दौरे पर इनके दल ने ४९ मैच खेले। जिसमें ४८ मैच जीते और एक वर्षा होने के कारण स्थगित हो गया। १७ जुलाई, १९३६ ई० को जर्मन एकादश से पहला मैच खेला और १–४ से हार गए।

५ अगस्त, १९३६ ई० को हंगरी के विरुद्ध खेले और ४–० से जीते। ७ अगस्त को ७–० से अमरीका को हराया और १० अगस्त को जापान को ९–० से परास्त किया। १२ अगस्त को फ्रांस को १०–० से हराया। १५ अगस्त को फाइनल में जर्मनी को ८–१ से परास्त किया और पुनः विश्वविजयी हुए।

अप्रैल, १९४९ ई० को प्रथम कोटि की हाकी से संन्यास ले लिया। [रा०]

परामनोविज्ञान मनोविज्ञान की एक शाखा है, जिसका संबंध मनुष्य की उन अधिसामान्य शक्तियों से है, जिनकी व्याख्या अब तक के प्रचलित सामान्य मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों से नहीं हो पाती। इन तथाकथित प्राकृतेतर तथा विलक्षण प्रतीत होनेवाली अधिसामान्य घटनाओं या प्रक्रियाओं की व्याख्या में ज्ञात भौतिक प्रत्ययों से भी सहायता नहीं मिलती। परचित्तज्ञान, विचारसंक्रमण, दूरानुभूति, पूर्वाभास, अतींद्रियज्ञान, मनोजनित गति या 'साइकोकाइनेसिस' आदि कुछ ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जो एक भिन्न कोटि की मानवीय शक्ति तथा अनुभूति की ओर संकेत करती हैं। इन घटनाओं की वैज्ञानिक स्तर पर घोर उपेक्षा की गई है और इन्हे बहुधा जादू टोने से जोड़कर, गुह्यविद्या का नाम देकर विज्ञान से अलग समझा गया है। किंतु ये विलक्षण प्रतीत होनेवाली घटनाएँ घटित होती हैं। वैज्ञानिक उनकी उपेक्षा कर सकते हैं, पर घटनाओं को घटित होने से नहीं रोक सकते। घटनाएँ वैज्ञानिक ढाँचे में बैठती नहीं दीखतीं — वे आधुनिक विज्ञान की प्रकृति की एकरूपता या नियमितता की धारणा को भंग करने की चुनौती देती प्रतीत होती हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आज भी परामनोविज्ञान को वैज्ञानिक संदेह तथा उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। किंतु वास्तव मे परामनोविज्ञान न जादू टोना है, न वह गुह्यविद्या, प्रेतविद्या या तन्त्रमंत्र जैसा कोई विषय। इन तथाकथित प्राकृतेतर, पराभौतिक एवं परामानसकीय, विलक्षण प्रतीत होनेवाली अधिसामान्य घटनाओं या प्रक्रियाओं का विधिवत् तथा क्रमबद्ध अध्ययन ही परामनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य है। इन्हे प्रयोगात्मक पद्धति की परिधि में बाँधने का प्रयत्न, इसकी मुख्य समस्या है। परामानसिकीय अनुसंधान या 'साइकिकल रिसर्च' इन्हीं पराभौतिक विलक्षण घटनाओं के अध्ययन का अपेक्षाकृत पुराना नाम है जिसके अंतर्गत विविध प्रकार की उपात घटनाएँ भी संमिलित हैं जो और भी विलक्षण प्रतीत होती हैं तथा वैज्ञानिक धरातल से और अधिक दूर हैं — उदाहरणार्थ प्रेतात्माओं, या मृतात्माओं से संपर्क, पाल्टरजीस्ट या ध्वनिप्रेत, स्वचालित लेखन, या भाषण आदि। परामनोविज्ञान अपेक्षाकृत सीमित है — यह परामानसिकीय अनुसंधान का प्रयोगात्मक पक्ष है — इसका वैज्ञानिक अनुशासन और कड़ा है।

मानव का अदृश्य जगत् से इंद्रियेतर संपर्क में विश्वास बहुत पुराना है। लोककथाएँ, प्राचीन साहित्य, दर्शन तथा धर्मग्रंथ पराभौतिक घटनाओं तथा अद्भुत मानवीय शक्तियों के उदाहरणों से भरे पड़े हैं। परामनोविद्या का इतिहास बहुत पुराना है — विशेष रूप से भारत में। किंतु वैज्ञानिक स्तर पर इन तथाकथित पराभौतिक विलक्षण घटनाओं का अध्ययन उन्नीसवीं शताब्दी की देन है। इससे पूर्व इन तथाकथित रहस्यमय क्रियाव्यापारों को समझने की

दिशा में कोई संगठित वैज्ञानिक प्रयत्न नहीं हुआ। आधुनिक परामनोविज्ञान का प्रारंभ सन् १८८२ से ही मानना चाहिए जिस वर्ष लंदन में परामानसिकीय अनुसंधान के लिये 'सोसाइटी फॉर साइकिकल रिसर्च' (एस० पी० आर०) की स्थापना हुई। यद्यपि इससे पहले भी कैंब्रिज में 'घोस्ट सोसाइटी', तथा ऑक्सफर्ड में 'फैस्मेटोलाजिकल सोसाइटी' जैसे संस्थान रह चुके थे, तथापि एक संगठित वैज्ञानिक प्रयत्न का आरंभ 'एस० पी० आर०' की स्थापना से ही हुआ जिसकी पहली बैठक १७ जुलाई, १८८२ ई० में प्रसिद्ध दार्शनिक हेनरी सिजविक, की अध्यक्षता में हुई। इसके संस्थापकों में हेनरी सिजविक, उनकी पत्नी ई० एम० सिजविक, आर्थर तथा गेराल्ड बालफोर, लार्ड रेले, एफ० डब्ल्यू० एच० मायर्स तथा भौतिक शास्त्री सर विलियम बैरेट थे।

संस्थान का उद्देश्य इन तथाकथित रहस्यमय प्रतीत होनेवाली घटनाओं को वैज्ञानिक ढंग से समझना, विचारसंक्रमण, दूरज्ञान, पूर्वाभास, प्रेतछाया, संमोहन आदि के दावों की वैज्ञानिक तथा निष्पक्ष जाँच करना था। संस्था की 'प्रोसीडिंग्स' तथा शोधपत्रिकाएँ, जिनकी संख्या अब सौ से भी अधिक पहुँच चुकी है, अनेक प्रयोगात्मक अध्ययनों से भरी हुई हैं। संस्थान से सर ओलिवर लाज, हेनरी बर्गसाँ, गिल्बर्ट मरे, विलियम मैक्डूगल, प्रोफेसर सी० डी० ब्राड, प्रो० एच० एच० प्राइस, तथा प्रो० एफ० सी० एस० शिलर जैसे विख्यात मनोवैज्ञानिक संबंधित हैं। बाद में इसी प्रकार के कुछ अन्य अनुसंधानकेंद्र दूसरे देशों में भी खुले। 'अमरीकन सोसाइटी फॉर साइकिकल रिसर्च' की स्थापना सन् १८८४ ई० में हुई और उसके संस्थापक सदस्य विलियम जेम्स इस संस्था से जीवनपर्यंत संबंधित रहे। अमरीका में इस दिशा में कदम उठानेवाले लोगों में रिचार्ड हाउसन, एस० न्युकोंब, स्टेनले हॉल, मार्टन प्रिंस, तथा डब्ल्यू० एफ० प्रिंस प्रमुख हैं। बास्टन, पेरिस, हालैंड, डेनमार्क, नार्वे, पोलैंड आदि में भी परामानसिकीय अनुसंधानकेंद्र स्थापित हुए हैं। ग्रोनिंजन विश्वविद्यालय, हालैंड, हारवर्ड वि० वि०, ड्यूक वि० वि० तथा नार्थ कैरोलिना वि० वि० में भी इस दिशा में प्राथमिक एवं महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं। एक अंतरराष्ट्रीय संस्थान 'इंटरनेशनल कांग्रेस ऑव साइकिकल रिसर्च' की भी स्थापना हुई है। इसके वार्षिक अधिवेशनों में परामनोविज्ञान में रुचि रखनेवाले मनोवैज्ञानिक भाग लेते हैं। आधुनिक परामनोवैज्ञानिकों में जे० बी० राइन, प्रैट, गार्डनर मर्फी, जी० एन० एम० टिरेल कैरिंगटन, एस० जी० सोल, के० एम० गोल्डने के नाम उल्लेखनीय हैं।

कुछ परामानसिकीय क्रियाव्यापार

परभावानुभूति (टेलीपैथी)—एफ० डब्ल्यू० एच० मायर्स का दिया हुआ शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'दूरानुभूति'। 'ज्ञानवाहन के ज्ञात माध्यमों से स्वतंत्र एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क में किसी प्रकार का भाव या विचारसंक्रमण' टेलीपैथी कहलाता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक 'दूसरे व्यक्ति की मानसिक क्रियाओं के बारे में अतींद्रिय ज्ञान' को ही दूरानुभूति की संज्ञा देते हैं।

अतींद्रिय प्रत्यक्ष (क्लेयरवायंस)—शाब्दिक अर्थ है 'स्पष्ट दृष्टि'। इसका प्रयोग 'द्रष्टा से दूर या परोक्ष में घटित होनेवाली घटनाओं या दृश्यों को देखने की शक्ति' के लिये किया जाता है, जब द्रष्टा और दृश्य के बीच कोई भौतिक या ऐंद्रिक संबंध नहीं स्थापित हो पाता। वस्तुओं या वस्तुनिष्ठ घटनाओं का अतींद्रिय प्रत्यक्ष' क्लेयरवायंस तथा मानसिक घटनाओं का अतींद्रिय प्रत्यक्ष टेलीपैथी कहलाता है।

पूर्वाभास या पूर्वज्ञान—किसी भी प्रकार के तार्किक अनुमान के अभाव में भी भविष्य में घटित होनेवाली घटना की पहले से ही जानकारी प्राप्त कर लेना या उसका संकेत पा जाना पूर्वाभास कहलाता है।

मनोजनित गति (टेली काइनेसिस या साइकोकाइनेसिस)—बिना भौतिक संपर्क या किसी ज्ञात माध्यम के प्रभाव के निकट या दूर की किसी वस्तु में गति उत्पन्न करना मनोजनित गति कहलाता है। 'पाल्टरजीस्ट' या ध्वनिप्रेतप्रभाव, किसी प्रकार के भौतिक या अन्य तथाकथित प्रेतात्मा के प्रभाव से तीव्र ध्वनि होना, घर के बर्तनों या सामानों का हिलना डुलना या टूटना, के प्रभाव भी मनोजनित गति के अंदर आते हैं।

अनेक प्रयोगात्मक अध्ययनों से उपर्युक्त क्रियाव्यापारों की पुष्टि भी हो चुकी है। कुछ अन्य घटनाएँ भी हैं जिनपर उपयुक्त प्रयोगात्मक अध्ययन अभी नहीं हो पाए हैं, किंतु वर्णनात्मक स्तर पर उनके प्रमाण मिले हैं, जैसे स्वचालित लेखन या भाषण, किसी अनजान एवं अनुपस्थित व्यक्ति का कोई सामान देखकर उसके बारे में बतलाना, प्रेतावास आदि।

परामानसिकी के प्रयोगात्मक अध्ययन—प्रसिद्ध अमरीकन परामनोवैज्ञानिक जे० बी० राइन ने इन अजनबी एवं अनियमित प्रतीत होती घटनाओं को प्रयोगात्मक पद्धति की परिधि में बाँधने का प्रयत्न किया और उन्हें काफी सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई। उन्होंने १९३४ में ड्यूक वि० वि० में परामनोविज्ञान की प्रयोगशाला की स्थापना की तथा अतींद्रिय ज्ञान (ई० एस० पी०) पर अनेक प्रयोगात्मक अध्ययन किए। 'ई० एस० पी०' शब्द १९३० के लगभग प्रो० राइन के कारण ही सामान्य प्रचलन में आया। इसका अर्थ है 'सांवेदनिक या ऐंद्रिक ज्ञान के अभाव में भी किसी बाह्य घटना या प्रभाव का आभास, बोध या उसके प्रति प्रतिक्रिया।' यह शब्द सभी प्रकार के अतींद्रिय ज्ञान के लिये प्रयुक्त किया जाता है। (आधुनिक मनोवैज्ञानिक आजकल ई० एम० पी० के स्थान पर 'साई' का प्रयोग करने लगे हैं क्योंकि अतींद्रिय ज्ञान अपने अर्थ में ही किसी विशिष्ट सिद्धांतबद्धता की ओर संकेत करता है।)

प्रो० राइन ने 'जेनर कार्ड्स' का उपयोग किया जिनमें पाँच ताशों का एक सेट होता है। इन ताशों में अलग अलग संकेत बने हैं, जैसे गुणा, गोला, तारक, टेढ़ी रेखाएँ तथा चतुर्भुज। प्रयोगकर्ता उसी कमरे में या दूसरे कमरे में 'जेनर' ताश की गड्डी फेंट लेता है और उसे उल्टा रखता है। प्रयोज्य कार्ड के चिह्न का अनुमान लगाता है। परिणाम निकालने में सामान्य संभावना सांख्यिकी का उपयोग किया जाता है जिसके अनुसार अनुमानों की सफलता की संभावना यहाँ १/५ है, अर्थात् पचीस अनुमानों में पाँच। तर्क यह है कि यदि प्रयोज्य संभावित प्रत्याशा से अधिक सही अनुमान लगा लेता है तो

निश्चित रूप से यह किसी अतींद्रिय प्रत्यक्ष की शक्ति की ओर संकेत करता है, यदि प्रयोग की दशाओं का नियंत्रण इस बात का संदेह न उत्पन्न होने दे कि प्रयोज्य को कोई ऐंद्रिक संकेत मिल गया होगा।

राइन ने इन जेनर कार्डों की सहायता से संभावना की सांख्यिकी को आधार मानकर अनेक प्रयोगात्मक दशाओं में अतींद्रिय प्रत्यक्ष, दूरानुभूति, परभावानुभूति तथा पूर्वाभास आदि पर अनेक अध्ययन किए।

आलोचकों ने संभावित त्रुटियों की ओर भी ध्यान दिलाया है जो निम्नलिखित हैं —

१. सांख्यिकीय त्रुटि, २. निरीक्षण या रेकार्डिंग की त्रुटि, ३. मानसिक झुकाव, आदत तथा समान प्रवृत्ति, ४. किसी भी स्तर के संवेदनिक या ऐंद्रिक संकेत।

अधिक नियंत्रित प्रयोगात्मक दशाओं में तथा उपयुक्त प्रयोगात्मक प्राकल्पों की सहायता से इन त्रुटियों को कम या समाप्त किया जा सकता है। अन्य अनेक अध्ययनों में दूरानुभूति तथा अतींद्रिय प्रत्यक्ष के प्रमाण मिले। जी० एन० एम० टिरेल ने एक प्रतिभासम्पन्न प्रयोज्य के साथ परिमाणात्मक अनुसंधान किया। कैरिंगटन ने दूरानुभूति तथा पूर्वाभास के लिये 'जेनर' चिह्नों के स्थान पर स्वतंत्र चिह्नों का प्रयोग किया। डाक्टर एस० जी० सोल ने अधिक नियंत्रित दशाओं में अतींद्रिय प्रक्रियाओं का अध्ययन किया तथा जेनर से भिन्न चिह्नोंवाले कार्डों का उपयोग किया।

अन्य अंग्रेज मनोवैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों में कैंब्रिज वि० वि० के सी० डी० ब्राड, एच० एच० प्राइस तथा आर० एच० थूले अमरीका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डाक्टर गार्डनर मरफी तथा श्मीडलर, वुडरुफ, सी० बी० नाश, करलिस ओसिस, दार्शनिक डुकास, मनोचिकित्सक मीरलू, स्टीवेंसन तथा उल्मैन के नाम उल्लेखनीय हैं।

भारत में भी राइन शैली के प्रयोग कई विश्वविद्यालयों में दुहराए गए, विशेष रूप से लखनऊ वि० वि० में प्रो० कालीप्रसाद के निर्देशन में। काशी हिंदू वि० वि० में प्रो० भी० ला० आत्रेय के समय में परामनोविज्ञान पर कुछ शोधकार्य हुए तथा जयपुर वि० वि० में परामनोविज्ञान का एक संस्थान स्थापित किया गया।

परामनोविज्ञान का विषयक्षेत्र बड़ी ही महत्वपूर्ण शोधसामग्री प्रस्तुत करता है जिसका व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक दोनों ही दृष्टियों से बहुत महत्व है। [रा० स० ना० श्री०]

बादशाह खान बादशाह खान के परदादा आबेदुल्ला खान सत्यवादी होने के साथ ही साथ लड़ाकू स्वभाव के भी थे। पठानी कबीलियों के लिये और भारतीय आजादी के लिये वे बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ लड़े थे। आजादी की लड़ाई के लिये ही उन्हें प्राणदंड दिया गया था। जैसे बलशाली थे वैसे ही समझदार और चतुर भी। बादशाह खान के दादा सैफुल्ला खान भी लड़ाकू स्वभाव के थे। उन्होंने सारी जिंदगी अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई लड़ी। जहाँ भी पठानों के ऊपर अंग्रेज हमला करते रहे, वहाँ सैफुल्ला खान मदद में जाते रहे।

ऐसा जान पड़ता है, आजादी की लड़ाई का सबक बादशाह खान ने अपने दादा से ही सीखा था। बादशाह खान के पिता बैराम खान का स्वभाव कुछ भिन्न था। वे शांत थे और ईश्वरभक्ति में लीन रहा करते थे। वे विशेषतया धर्मनिष्ठ मनुष्य थे। बैराम खान ने अपने लड़के को शिक्षित बनाने के लिये मिशन स्कूल में भरती कराया था, यद्यपि पठानों ने उनका बड़ा विरोध किया। मिशन स्कूल में विग्रम साहब का प्रभाव खान साहब पर बहुत पड़ा। मिशनरी स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने के पश्चात् वे अलीगढ़ गए किंतु वहाँ रहने की कठिनाई के कारण गाँव में ही रहना पसंद किया। गर्मी की छुट्टियों में खाली रहने पर समाजसेवा का कार्य करना इनका मुख्य काम था। शिक्षा समाप्त होने के बाद यह देशसेवा में लग गए।

पेशावर में १९१९ ई० में फौजी कानून (मार्शल ला) का आदेश लागू था। बादशाह खान को सरकार झूठी बगावत में फँसाकर जेल भेजना चाहती थी। बादशाह खान ने उस समय शांति का प्रस्ताव पास किया, इसपर भी वे गिरफ्तार किए गए। बादशाह खान के कहने पर तार तोड़ा गया, इस प्रकार के गवाह अंग्रेजी सरकार तैयार करना चाह रही थी किंतु कोई ऐसा व्यक्ति तैयार नहीं हुआ जो सरकार की तरफ से गवाही दे। फिर भी झूठे आरोप में बादशाह खान को छह मास की सजा दी गई। उन्हीं दिनों कुछ लोगों ने अफवाह फैलाई कि बादशाह खान को गोली मार दी गई है। यह अफवाह सुनकर उनके पिता अधीर हो उठे पर कुछ दिनों पश्चात् उसी जेल में वे भी पहुँचे और अपने पुत्र को देखकर प्रसन्न हुए।

खुदाई खिदमतगार का सामाजिक कार्य राजनीतिक कार्य में परिवर्तित हो गया एवं सत्याग्रह के रोग का इलाज खान साहब को जेल में भरकर किया गया। गुजरात के जेल में आने के पश्चात् उनका पंजाब के अन्य राजबंदियों से परिचय हुआ। उस समय उन्होंने ग्रंथ साहब के बारे में दो ग्रंथ पढ़े। फिर गीता का अध्ययन किया। उनकी संगति से अन्य कैदी भी प्रभावित हुए और गीता, कुरान, तथा ग्रंथ साहब आदि सभी ग्रंथों का अध्ययन सबने किया। बादशाह खान को गीता का पूरा अर्थ सन् १९३० ई० में प० जगतराम से प्राप्त हुआ।

पख्तून जिर्गा या तरुण अफगान नामक नया समाज उन्होंने खड़ा किया। "पख्तून जिर्गा" मासिक में अधिकतर वे ही लोग लिखते थे, जो देश के लोगों के मन में देशभक्ति उत्पन्न कर सकें। खान साहब का कहना है तथा प्रत्येक खुदाई खिदमतगार की यही प्रतिज्ञा होती है कि "हम खुदा के बंदे, दौलत या मौत की हमें कदर नहीं है। हम और हमारे नेता सदा आगे बढ़ते चलते हैं। मौत को गले लगाने के लिये हम तैयार हैं"। पुनः सरहदी गांधी आज भी यही पैगाम जनता को दे रहे हैं। हिंदू तथा मुसलमानों के आपसी मेल मिलाप को जरूरी समझकर उन्होंने गुजरात के जेलखाने में गीता तथा कुरान के दर्जे लगाए, जहाँ योग्य संस्कृतज्ञ और मौलवी संबंधित दर्जे को चलाते थे। सन् १९३० ई० के इरविन गांधी समझौते के कारण खान साहब भी छोड़े गए लेकिन खान साहब ने सामाजिक कार्यों की फिक्र जारी रखी। गांधी जी इंग्लैंड से लौटे ही थे कि सरकार ने कांग्रेस पर फिर पाबंदी लगा दी अतः बाध्य होकर व्यक्तिगत अवज्ञा का आंदोलन आरंभ हुआ। सीमा प्रांत में भी सरकार की ज्यादतियों के विरुद्ध आव-

गुजारी आंदोलन शुरु कर दिया गया और सरकार ने खान बंधुओं को आंदोलन का सूत्रधार बनाकर सारे घर को कैद कर सजा दी।

१९३४ ई० में जेल से छूटकर खान बंधु वर्धा में रहने लगे थे। अब्दुल गफ्फार खान को गांधी जी के निकटत्व ने अधिक प्रभावित किया और इस बीच उन्होंने सारे देश का दौरा किया। कांग्रेस के निश्चय के अनुसार १९३९ में प्रांतीय कौंसिलों पर अधिकार प्राप्त हुआ तो सीमा प्रांत में भी कांग्रेस मंत्रिमंडल डा० खान के नेतृत्व में बना लेकिन गफ्फार खान साहब उससे अलग रहकर जनता की सेवा करते रहे। १९४२ के अगस्त में क्रांति के सिलसिले में रिहा हुए। खान अब्दुल गफ्फार खान फिर गिरफ्तार हुए और १९४७ में छूटे लेकिन देश का बटवारा उनको गवारा न था इसलिये पाकिस्तान से इनकी विचारधारा नहीं मिली अत: पाकिस्तान की सरकार में इनका प्रांत शामिल है लेकिन सरहदी गांधी पाकिस्तान से स्वतंत्र 'पख्तूनिस्तान' की बात करते हैं, अत: इन दिनों जब कि वह भारत का दौरा कर रहे हैं, वह कहते हैं—"भारत ने उन्हें भेड़ियों के सामने डाल दिया है तथा भारत से जो आकांक्षा थी, एक भी पूरी न हुई। भारत को इस बात पर बार बार विचार करना चाहिए।" [कि० प्र०]

भावे, आचार्य विनोबा एक महान् समाजसेवी हैं। इनका जन्म कोलाबा जिले के गगोदा नामक ग्राम में ११ सितंबर, सन् १८९५ में हुआ था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा गगोदा ग्राम तथा बड़ोदा कालेज बड़ोदा में संपन्न हुई। दस वर्ष की अल्प वय में ही देशसेवा की भावना से इन्होंने अविवाहित जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा की और इस व्रत का निर्वाह किया। उन्नीस वर्ष की वय में इन्होने कालेज जीवन त्याग दिया और संस्कृत अध्ययनार्थ काशी चले आए। उसी समय से परिजनों के मोहबंधन से मुक्त इस महात्मा का जीवन देशसेवा एवं दलितोद्धार में समर्पित है। काशी हिंदू विश्वविद्यालय में महात्मा गांधी की ऐतिहासिक वक्तृता से ये अत्यंत प्रभावित हुए। इन्होंने महात्मा गांधी से संपर्क स्थापित किया और सन् १९१५ में साबरमती आश्रम के सदस्य हो गए। इन्होंने आश्रम के संपूर्ण क्रियाकलाप में मनोयोगपूर्वक सक्रिय भाग लिया। इनकी निष्ठा और कर्तव्यपरायणता से प्रभावित होकर गांधी जी ने वर्धा में स्थापित नवीन आश्रम के संचालन का संपूर्ण उत्तरदायित्व इन्हें सौंप दिया। इन्होंने जिस तत्परता एवं कुशलता से आश्रम की व्यवस्था की वह प्रशंसनीय रही। इन्होंने वर्धा के निकट धाम नदी के तट पर पौनार नामक स्थान पर एक नए आश्रम की स्थापना की। ये लंबी अवधि तक महिला आश्रम (वर्धा) के संचालक रहे। द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका में भारत को घसीटने की ब्रिटिश सरकार की तत्कालीन नीति के विरुद्ध प्रारंभ व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन में भाग लेने के लिये सन् १९४० में विनोबा भावे को गांधी जी ने अपना प्रथम प्रतिनिधि नामांकित किया। स्वातंत्र्य आंदोलन के सिलसिले में इन्होंने जेलयात्राएँ भी कीं।

अहिंसा पर आधारित शोषणमुक्त समाज की संरचना हेतु ये सतत प्रयत्नशील हैं। सर्वोदय इनकी समग्र साधना का मूलमंत्र है। भूदान यज्ञ और संपत्तिदान आंदोलन के ये प्रणेता हैं। इस यज्ञ की सफलता के लिये विदेह विनोबा ने देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पदयात्राएँ की हैं। पुनीत संकल्प के साथ १ सितंबर, १९५१ से प्रारंभ यह पदयात्रा १९ वर्षों से अविराम गति से चल रही है। सफलता ने सर्वत्र व्रत की साधना को सहयोग प्रदान किया है। सर्वोदय इनका साध्य और हृदयपरिवर्तन साधन है। अनेक भूस्वामियों का हृदयपरिवर्तन कर ये उनकी अतिरिक्त भूमि भूमिहीन किसान श्रमिकों में वितरित करने में सफल हुए हैं। भूदान अब ग्रामदान और ग्रामराज्य की स्थिति में पहुँच चुका है जो गांधी जी के रामराज्य की ओर उन्मुख है।

विनोबा भावे ने सन् १९६० में भिंड और मोरेना जिलों के डाकुओं से आतंकित क्षेत्र की यात्रा की। शांति और अहिंसा का यह देवदूत महात्मा बुद्ध की भाँति दस्युओं का हृदयपरिवर्तन करने में सफल हुआ। उन्नीस दुर्दांत डाकुओं ने आत्मसमर्पण कर दिया।

आचार्य भावे सर्वतोभावेन महात्मा गांधी के सच्चे अनुयायी हैं। ये एक कुशल वक्ता, महान् विचारक एवं सत्य के अनन्य साधक हैं। ये जीवन के अवसानकाल में भी महात्मा गांधी के स्वप्नों के भारत के निर्माण में सतत प्रयत्नशील हैं। इन्हें अंग्रेजी, अरबी, फारसी तथा भारत की संपूर्ण राजभाषाओं का सम्यक् ज्ञान है। इन्होंने सभी धर्मों का गहन अध्ययन किया है। मराठी तथा हिंदी में सत्य, अहिंसा, नैतिक सामाजिक मूल्यों, सर्वोदय एवं ग्रामराज्य से संबंधित अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों का प्रणयन किया है जो समाज और सर्वोदय दर्शन की अमूल्य निधि हैं। भगवद्गीता का मराठी अनुवाद 'गीताई' इनकी अत्यंत महत्वपूर्ण कृति है। [ला० ब० पां०]

मिन्ह, हो-चि साम्यवादी विश्व में मार्क्स, एंजिल्स, लेनिन, स्टालिन के समानांतर उसी पंक्ति में स्थान ग्रहण करनेवाले हो चि मिन्ह, वियतनाम के राष्ट्रपति हिंदचीन के लेनिन और एशिया के महानतम रहस्यमय व्यक्ति माने जाते रहे हैं। इनका जन्म मध्य वियतनाम के 'न्गे' प्रांत के 'किमलिएन' ग्राम में एक किसान परिवार में १९ मई, सन् १८९० ई० को हुआ था। उनके जीवन की प्रत्येक दृष्टि साम्यवादियों के लिये सर्वहारा क्रांति तथा राष्ट्रवादियों के लिये विश्व की प्रबलतम साम्राज्यवादी शक्तियों – फ्रांस और अमेरिका—के विरुद्ध संघर्ष की लंबी किंतु शिक्षाप्रद कहानी रही है। इन सभी संग्रामों का प्रेरणास्रोत हो चि मिन्ह के इच्छापत्र के अनुसार मार्क्सवाद, लेनिनवाद और सर्वहारा का अंतरराष्ट्रीयतावाद ही रहा है। यदि लेनिन ने रूस में 'वर्गसंघर्ष' का उदाहरण प्रस्तुत किया तो हो चि मिन्ह ने 'राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष' का उदाहरण वियतनाम के माध्यम से प्रस्तुत किया। उन्होंने स्पष्ट कहा, जिस प्रकार पूँजीवाद का अंतरराष्ट्रीय रूप साम्राज्यवाद है उसी प्रकार वर्गसंघर्ष का अंतरराष्ट्रीय रूप मुक्तिसंघर्ष है।

हो चि मिन्ह जन्म के समय 'न्यूगुयेन सिह कुंग' के नाम से जाने जाते थे, किंतु १० वर्ष की अवस्था में इन्हें 'न्यूगुयेन काट थान्ह' के नाम से पुकारा जाने लगा। इनके पिता न्यूगुयेन मिन्ह सोस को भी राष्ट्रीयता के कारण गरीबी की जिंदगी बितानी पड़ी। उनका देहांत सन् १९३० ई० में हुआ। इनकी बहन 'थान्ह' को कई वर्षों तक जेल की सजा तथा अंत में देशनिकाले का दंड दिया गया।

ऐसे फ्रांसीसी साम्राज्यविरोधी परिवार में तथा भयंकर साम्राज्यवादी शोषण से पीड़ित देश, वियतनाम में, जहाँ देश का नक्शा लेकर चलनेवालों को देशद्रोह की सजा दी जाती थी, जन्म हुआ था।

हो-चि मिन्ह् ने फ्रांस, अमेरिका इंग्लैंड तीनों देशों की यात्रा में सर्वत्र साम्राज्यवादी शोषण को अपनी आँखों से देखा था। १९१७ की रूसी क्रांति ने 'हो' को अपनी ओर आकर्षित किया और सभी समस्याओं का हल 'हो' को इसी मजदूर क्रांति में दिखाई पड़ा। 'हो' ने तब मार्क्सवाद और लेनिनवाद का गहरा अध्ययन किया और फ्रांसीसी कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य बन गए। इसी कम्यूनिस्ट पार्टी की मदद और समर्थन से हो-चि मिन्ह् ने एक क्रांतिकारी पत्रिका 'ली पारिया' निकालना आरम्भ किया। 'ली पारिया' फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध उसके सभी उपनिवेशों में शोषित जनता को क्रांति के लिये प्रोत्साहित करती थी। १९२३ में पार्टी की तरफ से सोवियत यूनियन, जहाँ अंतरराष्ट्रीय कम्यूनिस्ट पार्टी का पाँचवाँ समेलन आयोजित था, भेजे गए। वहीं पर १९२५ में स्टालिन से मिले। 'हो' को 'कम्यूनिस्ट अंतरराष्ट्रीय' की ओर से चीन में क्रांतिकारियों के संगठन तथा हिंदचीन में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के लिये भेजा गया था। सन् १९३० में 'कम्यूनिस्ट अंतरराष्ट्रीय' की राय से हिंदचीन के सभी कम्यूनिस्टों को एक साथ मिलाकर 'हिंदचीन' की कम्यूनिस्ट पार्टी तथा १९३३ में 'वियत मिन्ह्' नामक संयुक्त मोर्चा बनाया। 'हो' १९४५ तक हिंद चीन के कम्यूनिस्ट आंदोलन तथा गुरिल्ला युद्ध के सक्रिय नेता रहे। 'लंबे अभियान' और, जापान विरोधी युद्ध में भी उपस्थित थे। इस संघर्ष में इन्हें अनेक यातनाएँ सहनी पड़ीं। च्यांग काई शेक की सेना ने इन्हें पकड़कर बड़ी ही अमानवीय दशाओं में एक वर्ष तक कैद रखा जिससे इनकी आँखें अंधी होते होते बचीं। २ सितंबर, १९४५ को 'हो' ने वियतनाम (शांतिसदेश) जनवादी गणराज्य की स्थापना की। फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों ने अंग्रेज साम्राज्यवादियों की मदद से हिंदचीन के पुराने सम्राट् 'बाओदाई' की ओट लेकर फिर से साम्राज्य वापस लेना चाहा। भयंकर लड़ाइयों का दौर आरंभ हुआ और आठ वर्षों की खूनी लड़ाई के पश्चात् फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों को दिएन बियेन फू के पास १९५४ में भयंकर मात खानी पड़ी। तत्पश्चात् जिनेवा समेलन बुलाना स्वीकार किया गया। इसी वर्ष हो-चि मिन्ह् वियतनामी जनवादी गणराज्य के राष्ट्रपति नियुक्त हुए। फ्रांसीसियों के हटते ही अमेरिकनों ने दक्षिणी वियतनाम में 'बाओदाई' का तख्ता 'डियेम' नामक प्रधान मंत्री के माध्यम से पलटवा कर 'वियतकांग' देशभक्तों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। युद्ध बढ़ता गया। दुनियाँ के सबसे शक्तिशाली अमेरिकी साम्राज्यवाद ने द्वितीय विश्वयुद्ध में यूरोप पर जितने बम गिराए थे, उसके दुगुने बम तथा जहरीली गैसों का प्रयोग किया। तीन करोड़ की वियतनामी जनता ने अमेरिकी साम्राज्यवादियों के हौसले पस्त कर दिए। मरने के एक दिन पूर्व ३ सितंबर, १९६९ ई० को हो-चि मिन्ह् ने अपनी जनता से साम्राज्यवादियों को 'टोनकिन' की खाड़ी में डुबा देने की बात कही थी।

हो-चि मिन्ह् का विश्वसाम्राज्यवादियों की जड़ें उखाड़ने में महत्वपूर्ण हिस्सा रहा। उनका कथन था वियतनामी मुक्तिसंग्राम विश्व-मुक्ति-संग्राम का ही एक हिस्सा है और मेरी जिंदगी विश्वक्रांति के लिये समर्पित है। [के० ना० त्रि०]

मेगस्थनीज यूनानी सामंत सिल्यूकस ने, जो मध्य एशिया में बहुत सबल सेनापति हो गया था, भारत में फिर राज्यविस्तार की इच्छा से ३०५ ई० पू० भारत पर आक्रमण किया था किंतु उसे संधि करने पर विवश होना पड़ा था।

संधि के अनुसार मेगस्थनीज नाम का राजदूत चंद्रगुप्त के दरबार में आया था। वह कई वर्षों तक चंद्रगुप्त के दरबार में रहा। उसने जो कुछ भारत में देखा, उसका वर्णन उसने 'इंडिका' नामक पुस्तक में किया है। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र का बहुत ही सुंदर और विस्तृत वर्णन किया है। वह लिखता है कि भारत का सबसे बड़ा नगर पाटलिपुत्र है। यह नगर गंगा और सोन के संगम पर बसा है। इसकी लंबाई साढ़े नौ मील और चौड़ाई पौने दो मील है। नगर के चारों ओर एक दीवार है जिसमें अनेक फाटक और दुर्ग बने हैं। नगर के अधिकांश मकान लकड़ी के बने हैं।

मेगस्थनीज ने लिखा है कि सेना के छोटे बड़े सैनिकों को राजकोष से नकद वेतन दिया जाता था। सेना के काम और प्रबंध में राजा स्वयं दिलचस्पी लेता था। रणक्षेत्रों में वे शिविरों में रहते थे और सेवा और सहायता के लिये राज्य से उन्हें नौकर भी दिए जाते थे।

पाटलिपुत्र पर उसका विस्तृत लेख मिलता है। पाटलिपुत्र को वह समानांतर चतुर्भुज नगर कहता है। इस नगर में चारों ओर लकड़ी की प्राचीर है जिसके भीतर तीर छोड़ने के स्थान बने हैं। वह कहता है कि इस राजप्रासाद की सुंदरता के आगे ईरानी राजप्रासाद सूष्मा और इकबतना फीके लगते हैं। उद्यान में देशी तथा विदेशी दोनों प्रकार के वृक्ष लगाए गए हैं। राजा का जीवन बड़ा ही ऐश्वर्यमय है।

मेगस्थनीज ने चंद्रगुप्त के राजप्रासाद का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। सम्राट् का भवन पाटलिपुत्र के मध्य में स्थित था। भवन चारों ओर सुंदर एवं रमणीक उपवनों तथा उद्यानों से घिरा था।

प्रासाद के इन उद्यानों में लगाने के लिये दूर दूर से वृक्ष मँगाए जाते थे। भवन में मोर पाले जाते थे। भवन के सरोवर में बड़ी-बड़ी मछलियाँ पाली जाती थीं। सम्राट् प्रायः अपने भवन में ही रहता था और युद्ध, न्याय तथा आखेट के समय ही बाहर निकलता था। दरबार में अच्छी सजावट होती थी और सोने चाँदी के बर्तनों से आँखों में चकाचौंध पैदा हो जाती थी। राजा राजप्रासाद से सोने की पालकी या हाथी पर बाहर निकलता था। सम्राट् की वर्षगाँठ बड़े समारोह के साथ मनाई जाती थी। राज्य में शांति और अच्छी व्यवस्था रहती थी। अपराध कम होते थे। प्राय: लोगों के घरों में ताले नहीं बंद होते थे। [शि० प्र०]

रघुवंश (महाकाव्य) समालोचकों ने कालिदास का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'रघुवंश' को माना है। आदि से अंत तक इसमें निपुण कवि का विलक्षण कौशल व्यक्त होता है। दिलीप और सुदक्षिणा के तपोमय जीवन से प्रारंभ इस काव्य में क्रमशः रघुवंशी राजाओं की वदान्यता, वीरता, त्याग और तप की एक के बाद एक कहानी उद्घाटित होती

है और काव्य की समाप्ति कामुक अग्निवर्ण की विलासिता और उसके अवसान से होती है। दिलीप और सुदक्षिणा का तपःपूत आचरण, वरतंतु के शिष्य कौत्स और रघु का संवाद, इंदुमती-स्वयंवर, अजविलाप, राम और सीता की विमानयात्रा, निर्वासित सीता की तेजस्विता, समुद्रवर्णन, अयोध्या नगरी की शून्यता आदि का चित्र एक के बाद एक उभरता जाता है और पाठक विमुग्ध बना हुआ मनोयोग से उनको देखता जाता है। अनेक कथानकों का एकत्रीकरण होने पर भी इस महाकाव्य में कवि ने उनका एक दूसरे से इस प्रकार समन्वय कर दिया है जिससे उनमें स्वाभाविक प्रवाह का संचार हो गया है। 'रघुवंश' के अनेक नृपतियों की इस ज्योतित नक्षत्रमाला में कवि ने आदिकवि वाल्मीकि के महिमाशाली राम को तेजस्विता और गरिमा प्रदान की है। वर्णनों की सजीवता, आगत प्रसंगों की स्वाभाविकता, शैली का माधुर्य तथा भाव और भाषा की दृष्टि से 'रघुवंश' संस्कृतमहाकाव्यों में अनुपम है।

रघुवंश महाकाव्य की शैली क्लिष्ट अथवा कृत्रिम नहीं, सरल और प्रसादगुणमयी है। अलंकारों का सुरुचिपूर्ण प्रयोग स्वाभाविक एवं सहज सुंदर है। चुने हुए कुछ शब्दों में वर्ण्य विषय की सुंदर झाँकी दिखाने के साथ कवि ने 'रघुवंश' के तेरहवें सर्ग मे दृष्ट वस्तु के सौंदर्य की पराकाष्ठा दिखलाने की अद्भुत युक्ति का आश्रय लिया है। गंगा और यमुना के संगम की, उनके मिश्रित जल के प्रवाह की छटा का वर्णन करते समय एक के बाद एक उपमाओं की शृंखला उपस्थित करते हुए अंत में कवि ने शिव के शरीर के साथ उसकी शोभा की उपमा दी है और इस प्रकार सौंदर्य को सीमा से निकालकर अनंत के हाथों सौंप दिया —

हे निर्दोष अंगोंवाली सीते, यमुना की तरंगों से मिले हुए गंगा के इस प्रवाह को जरा देखो तो सही, जो कहीं कृष्ण सर्पों से अलंकृत और कहीं भस्मांगराग से मंडित भगवान् शिव के शरीर के समान सुंदर प्रतीत हो रहा हो।

कालिदास मुख्यतः कोमल और रमणीय भावों के अभिव्यंजक कवि हैं। इसीलिये प्रकृति का कोमल, मनोरम और मधुर पक्ष उनकी इस कृति में भी अंकित हुआ है। [वि० ना० त्रि०]

रणजीतसिंह का जन्म सन् १७८० ई० में हुआ था। महानसिंह के मरने पर रणजीतसिंह बारह वर्ष की अवस्था में मिस्ल सुकरे चकिया का नेता हुआ। सन् १७९८ ई० में जमान शाह के पंजाब से लौट जाने पर उसने लाहौर पर अधिकार कर लिया। धीरे धीरे सतलज से सिंधु तक, जितनी मिस्लें राज कर रही थीं, सबको उसने अपने वश में कर लिया। सतलज और यमुना के बीच फुलकियाँ मिस्ल के शासक राज्य कर रहे थे। सन् १८०६ ई० में रणजीतसिंह ने इनको भी अपने वश में करना चाहा, परंतु सफल न हुआ।

रणजीतसिंह में सैनिक नेतृत्व के गुण थे। वह दूरदर्शी था। वह साँवले रंग का नाटे कद का मनुष्य था। उसकी एक आँख शीतला के प्रकोप से चली गई थी। परंतु यह होते हुए भी वह तेजस्वी था। इसलिये जब तक वह जीवित था, सभी मिस्लें दबी थीं।

उस समय अंग्रेजों का राज्य यमुना तक पहुँच गया था और फुलकियाँ मिस्ल के राजा अंग्रेजी राज्य के प्रभुत्व को मानने लगे थे। अंग्रेजों ने रणजीतसिंह को इस कार्य से मना किया। रणजीतसिंह ने अंग्रेजों से लड़ना उचित न समझा और संधि कर ली कि सतलज के आगे हम अपना राज्य न बढाएँगे। रणजीतसिंह ने फ्रांसीसी सैनिकों को बुलाकर, उनकी सैनिक कमान में अपनी सेना को विलायती ढंग पर तैयार किया।

अब उसने पंजाब के दक्षिणी, पश्चिमी और उत्तरी भागों पर आक्रमण करना प्रारंभ किया, और दस वर्ष में मुल्तान, पेशावर और कश्मीर तक अपने राज्य को बढ़ा लिया।

रणजीतसिंह स्वयं कुरूप ही था परंतु सुंदर स्त्रियाँ और सुंदर पुरुष उसे समान रूप से आकृष्ट करते थे और वह ऐसे लोगों से घिरा रहना पसंद करता था।

रणजीतसिंह ने पेशावर को अपने अधिकार में अवश्य कर लिया था, किंतु उस सूबे पर पूर्ण अधिकार करने के लिये उसे कई वर्षों तक कड़ा संघर्ष करना पड़ा था। वह पूरे पंजाब का स्वामी बन चुका, और उसे अंग्रेजों के हस्तक्षेप का सामना नहीं करना पड़ा। परंतु जिस समय अंग्रेजों ने नैपोलियन की सेनाओं के विरुद्ध सिक्खों से सहायता माँगी थी, उन्हें प्राप्त न हुई।

रणजीतसिंह ने सन् १८०८ ई० में अपनी महत्वाकांक्षिणी सास सदाकौर के नाम पेशावर का राज्य परिवर्तित कर दिया था। क्योंकि वह अंग्रेजों की एजेंट महिला थी। रणजीतसिंह ने अपनी कुचक्रप्रिय सास से झगड़ा करके उसे कैद कर लिया था और हुदनी के गढ़ को अपने अधिकार में कर लिया था। ब्रिटिश सेना की एक टुकड़ी ने बंदी विधवा सदाकौर को छुड़ाया और अधिकार को वापस दिलाया। ब्रिटिश सेना के साथ रणजीतसिंह किसी प्रकार का झगड़ा नहीं चाहते थे।

अंग्रेजों की तरफ से संधि की शर्तों को भंग करने का आरोप लगाया जा सकता था। इसलिये चुपचाप मौन रहकर उसने तैयारियाँ प्रारंभ की थीं फिर भी १८०९ ई० में लार्ड मिंटो से संधि कर ली। यद्यपि इस संधि से महाराज को सिक्खों में बहुत अपमानित होना पड़ा था। उपर्युक्त संधि के कारण पंजाब के अफगानी राज्य तथा अफगानिस्तान को कुछ हद तक आतंकित कर सके थे। १८०१, १८०६ तथा १८१० ई० में मुलतान पर चढ़ाई की और अधिकार कर लिया एवं शाह शुजा से संधि करके अपने यहाँ रखा और उससे एक गिलास पानी के लिये 'कोहेनूर हीरा' प्राप्त किया। १८११ ई० में काबुल के शाह महमूद के आक्रमण की बात सुनकर, और यह जानकार कि महमूद का इरादा काश्मीर के शासक पर आक्रमण का है, उसने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया ताकि महमूद को वापस जाना संभव हो जाय और उसकी मित्रता भी इसे मिल जाय। काश्मीर के बाद इसने पेशावर पर १८२२ में चढ़ाई कर दी, यारमुहम्मद खाँ अफगानियों का नेतृत्व करता हुआ बहुत बहादुरी से लड़ा लेकिन अंत में पराजित हुआ। इस युद्ध में सिक्खों का भी बड़ा नुकसान हुआ। १८३८ में पेशावर पर रणजीतसिंह के अधिकार

से भयभीत होकर दोस्तमुहम्मद खाँ काबुलनरेश बहुत भयभीत हुआ और रूस तथा ईरान से दोस्ती कर ली। इस बात को ध्यान में रखकर अंग्रेजों ने स्वयं रणजीतसिंह तथा शाहशुजा के साथ एक त्रिगुटसंधि कराई। महाराजा रणजीतसिंह अस्वस्थ हो रहे थे। १८३८ में लकवा का आक्रमण हुआ, यद्यपि उपचार किया गया और अंग्रेज डाक्टरों ने भी इलाज किया, लेकिन २७ जून, १८३९ ई० को उसका प्राणांत हो गया। यह उदारहृदय भी था। काशी-विश्वनाथ मंदिर पर जो स्वर्णपत्र आज दिखाई देता है वह उसकी काशीयात्रा तथा उदारता का परिचायक है। उसने दान के लिये ४७ लाख रुपए की संपत्ति अलग कर रखी थी। जगन्नाथमंदिर पर भी वह कोहेनूर हीरा चढ़ाना चाहता था लेकिन उस हीरे को तो विदेश में जाकर छिन्न भिन्न होना था। महाराजा के बाद सिक्खों के आपसी वैमनस्य, राष्ट्रद्रोह तथा अंग्रेजी कूटनीतिज्ञता का जवाब न देने की असमर्थता से सिक्ख राज्य मिट गया। [शि० प्र०]

रसेल, बर्ट्रेंड, लार्ड अंग्रेज दार्शनिक, गणितज्ञ और समाजशास्त्री थे। इनका जन्म ट्रेलेक, वेल्स के प्राचीनतम एवं प्रतिष्ठित रसेल-घराने में १८ मई, सन् १८७२ में हुआ था। तीन वर्ष की अबोधावस्था में ही ये अनाथ हो गए। इनके सर से माता पिता का साया उठ गया। इनके पितामह ने इनका लालन पालन किया। इनकी शिक्षा दीक्षा घर पर ही हुई। इनके अग्रज की मृत्यु के पश्चात् ४५ वर्ष की वय में इन्हें लार्ड की उपाधि प्राप्त हुई। इनका चार बार विवाह हुआ। प्रथम विवाह २२ वर्ष की वय में और अंतिम ८० वर्ष की वय मे। प्रारंभ से ही इनकी रुचि गणित और दर्शन की ओर थी, बाद में समाजशास्त्र इनका तीसरा विषय हो गया। इन्होंने ११ वर्ष की अल्प वय में गणित के एक सिद्धांत का अनुसंधान किया था जो इनके जीवन की एक महान् घटना थी। गणित के क्षेत्र में इनकी देन शास्त्रीय थी, जिससे वह बहुत लोकप्रिय नहीं हो सकी, लेकिन महानता निर्विवाद है। ए० एन० ह्वाइटहेड के सहयोग से रचित 'प्रिंसिपिया मैथेमेटिका' अपने ढंग का अपूर्व ग्रंथ है। इन्होंने 'नाभिकी भौतिकी' और 'सापेक्षता' पर भी लिखा है।

बर्ट्रेंड रसेल 'रायल ह्यूमन सोसाइटी' के सदस्य रहे। प्रथम विश्वयुद्ध के समय अपनी शांतिवादी नीतियों के कारण इन्हें जेलयात्रा करनी पड़ी। महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् इन्होंने लेबर पार्टी की सदस्यता ग्रहण कर ली। इन्होंने चीन और रूस की यात्राएँ कीं और रूस यात्रा के पश्चात् 'बोल्शेविज्म' पर एक ग्रंथ की रचना की। ये पेकिंग, शिकागो, हॉरवर्ड और न्यूयार्क के विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक रहे। ये ब्रिटेन की 'इंडिया लीग' के अध्यक्ष चुने गए थे। अतः भारत के स्वतंत्रतासंग्राम से भी इनका निकट का संबंध था। अपनी इच्छा के विपरीत ये सदैव किसी न किसी विवाद या आंदोलन से संबंधित रहे। वृद्धावस्था में भी ये परमाणु-परीक्षण-विरोधी आंदोलनों के सूत्रधार थे। 'विवाह और नैतिकता' नाम की इनकी पुस्तक लंबी अवधि तक विवाद का विषय बनी रही। द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका के फलस्वरूप गणित और दर्शन के अतिरिक्त समाजशास्त्र, राजनीति, शिक्षा एवं नैतिकता संबंधी समस्याओं ने भी इनकी चिंतनधारा को प्रभावित किया। ये विश्वसंघीय सरकार के कट्टर समर्थक थे। इन्होंने पाप की परंपरावादी गलत धारा का खंडन कर आधुनिक युग में पाप के प्रति यथार्थवादी एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया।

बर्ट्रेंड रसेल बीसवीं शती के प्रख्यात दार्शनिक, महान् गणितज्ञ और शांति के अग्रदूत थे। विश्व की चिंतनधारा को इतना अधिक प्रभावित करनेवाले ऐसे महापुरुष कभी कदाचित् ही उत्पन्न होते हैं। इन्हें मानवता से प्रेम था; ये जीवनपर्यंत इस युग के पाखंडों और बुराइयों के विरुद्ध संघर्षरत रहे। युद्ध, परमाणविक परीक्षण एवं वर्णभेद का विरोध इनका लक्ष्य था। दक्षिण वियतनाम में अमरीकी सैनिकों की बर्बरता और नरसंहार की जाँच के लिये संयुक्त-राष्ट्रसंघ से अंतरराष्ट्रीय युद्धापराध आयोग के गठन की सबल शब्दों में माँग कर इस महामानव ने विश्वमानवता को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया।

सन् १९५० में इन्हें साहित्य का 'नोबेल' पुरस्कार प्रदान किया गया। इन्होंने ४० ग्रंथों का प्रणयन किया था। 'इंट्रोडक्शन टु मैथेमेटिकल फिलॉसॉफी', 'आउटलाइन ऑव फिलॉसॉफी' तथा 'मैरेज ऐंड मोरैलिटी' इनकी महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

२ फरवरी, १९७० को ९६ वर्ष की वय में इनका देहांत हो गया। [ला० ब० पां०]

राजगोपालाचारी, चक्रवर्ती महान् कूटनीतिज्ञ, कुशल राजनेता, स्वतंत्र पार्टी के संस्थापक एवं भारत के भूतपूर्व एकमात्र भारतीय गवर्नर जनरल हैं। इनका जन्म मद्रास के सलेम जिलांतर्गत प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार मे सन् १८७९ मे हुआ था। ये अत्यंत कुशाग्रबुद्धि छात्र थे। इन्होंने प्रारंभिक शिक्षा बंगलोर मे प्राप्तकर प्रेसीडेंसी कालेज, मद्रास, से बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की तथा लॉ-कालेज मद्रास से कानून की स्नातक उपाधि प्राप्त की। अध्ययन समाप्तकर इन्होंने सन् १९०० में सलेम में वकालत प्रारंभ की। शीघ्र ही इनकी गणना उच्च कोटि के वकीलों में होने लगी। महात्मा गांधी के आह्वान पर राजगोपालाचारी ने सन् १९१९ मे सत्याग्रह आंदोलन तथा सन् १९२० में असहयोग आंदोलन में सक्रिय भाग लिया। गांधी जी के बंदीकाल में इन्होंने उनके पत्र 'यंग इंडिया' का संपादन किया। ये सन् १९२१ से सन् १९२२ तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के महासचिव तथा सन् १९२२ से सन् १९४२ तक और पुनः सन् १९४६ से सन् १९४७ तक इसकी कार्यसमिति के सदस्य रहे। 'अखिल भारतीय बुनकर संघ' के स्थापनाकाल से सन् १९३५ तक ये उसकी कार्यकारिणी के सदस्य थे। इसके अतिरिक्त ये 'अखिल भारतीय मद्यनिषेध परिषद्' के सचिव तथा 'दक्षिण भारत हिंदीप्रचार सभा' के उपाध्यक्ष रहे।

सन् १९३६ के महानिर्वाचन के पश्चात् मद्रास राज्य की अंतरिम कांग्रेस सरकार के जुलाई, सन् १९३७ में 'प्रधान मंत्री' नियुक्त हुए। इन्होंने बड़ी ही कुशलतापूर्वक शासनसूत्र का संचालन किया। कांग्रेस के निर्णयानुसार इन्होंने अन्य कांग्रेसी मंत्रियों के साथ नवंबर,

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी (देखें पृष्ठ ४२६)

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन (देखें पृष्ठ ४१८)

सन् १९३९ में प्रधान मंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया। जुलाई, सन् १९४० में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की पूना में आयोजित बैठक में इन्होंने अविलंब अंतरिम केंद्रीय सरकार के गठन की स्वीकृति प्राप्त होने की स्थिति में ब्रिटिश सरकार को द्वितीय महायुद्ध की रणनीति में सहयोग प्रदान करने पर बल दिया और तदनुकूल प्रस्ताव स्वीकृत कराने में सफल हुए। ४ दिसंबर, सन् १९४० को ये भारत अधिनियम के अंतर्गत बंदी बना लिए गए और इन्हें एक वर्ष का कारावास दंड दिया गया। इन्होंने विभिन्न राष्ट्रीय आंदोलनों के अवसर पर पाँच बार जेलयात्राएँ कीं। कांग्रेस के वर्धा अधिवेशन के पश्चात् आनंदभवन, इलाहाबाद में आयोजित कार्यसमिति की बैठक में इन्होंने समिति के मुस्लिम लीग तथा ब्रिटिश सरकार के प्रति अन्य सदस्यों की नीति से सहमत न होने के कारण कार्यसमिति की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। इनकी उस समय की नीतियों के कारण इनकी कटु आलोचनाएँ हुईं और कार्यसमिति से त्यागपत्र देने के लिये विवश किया गया। ये अपनी नीतियों पर अटल रहे और सहज भाव से त्यागपत्र दे दिया। सन् १९४१ से सन् १९४६ तक ये देश के राजनीतिक इतिहास में सर्वाधिक अपमानित व्यक्ति रहे। इस धीर गंभीर राजनीतिज्ञ ने कभी संयम नहीं खोया। जिन नीतियों को इनकी बुद्धि उचित मानती थी उनका अन्यों के विरोध या निंदा के भयवश परित्याग नहीं किया। यह इनके स्वभाव की विशिष्टता है।

सितंबर, सन् १९४४ में गांधी जिन्ना वार्ता के समय राजगोपालाचारी गांधी जी के कूटनीतिक सहायक रहे। जुलाई, सन् १९४६ में ये पुनः कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य बनाए गए। ये सितंबर, १९४६ से १५ अगस्त १९४७ तक केंद्रीय मंत्रिमंडल के सदस्य रहे तथा भिन्न-भिन्न अवधि तक उद्योग तथा आपूर्ति, शिक्षा और वित्त विभाग का कार्यभार वहन किया। स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् अगस्त, सन् १९४७ में ये पश्चिम बंगाल के राज्यपाल नियुक्त हुए और २० जून, सन् १९४८ तक इस पद पर आसीन रहे। नवंबर, सन् १९४७ में तत्कालीन वॉयसराय लार्ड माउंटबेटन के अवकाशकाल में यह भारत के कार्यकारी वॉयसराय रहे। २१ जून, सन् १९४८ को लार्ड माउंटबेटन के पदमुक्त होने पर परिपक्व बुद्धि, सूक्ष्म दृष्टि एवं विस्तृत अनुभवयुक्त इस महान् राजनीतिज्ञ ने भारतराष्ट्र के गवर्नर जनरल का पद ग्रहण किया। इन्होंने २६ जनवरी, सन् १९५० को भारत के पूर्ण गणतंत्र घोषित होने तक गवर्नर जनरल के पद की गरिमा का बड़ा ही कुशलतापूर्वक निर्वाह किया।

गवर्नर जनरल का पद समाप्त होने के पश्चात् मई, सन् १९५० से दिसंबर, सन् १९५० तक राजा जी केंद्रीय मंत्रिमंडल में निर्विभागीय मंत्री रहे तथा जनवरी, सन् १९५१ से नवंबर, सन् १९५१ तक केंद्रीय गृहमंत्री पद का कार्यसंचालन किया। प्रथम महानिर्वाचन के पश्चात् ये मद्रास के मुख्य मंत्री निर्वाचित हुए और इन्होंने सन् १९५४ तक सफलतापूर्वक शासनसूत्र सँभाला। शासन से पृथक् होने के पश्चात् इन्होंने स्वतंत्र पार्टी की स्थापना की जिसे इनके कूटनीतिक चमत्कार ने शीघ्र ही संसद् में द्वितीय स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया।

राजा जी सन् १९५५ में प्रथम बार भारत के सर्वोच्च अलंकरण 'भारतरत्न' से विभूषित होनेवाली विभूतियों में हैं। चमत्कारपूर्ण बुद्धि, दंभहीन स्वभाव एवं विश्लेषण की सूक्ष्म प्रतिभा इनके व्यक्तित्व की विशिष्टताएँ हैं। कूटनीति इनके संघर्षशील जीवन का प्रमुख आयुध है। ९० वर्ष की वय में भी इनकी क्रियाशीलता विलक्षण है। इनका महनीय व्यक्तित्व राष्ट्र का गौरव है।

राजगोपालाचारी ने तमिल तथा अंग्रेजी में अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रणयन किया है। तमिल भाषा में इन्होंने सुकरात, मार्कस ऑरेलियस, भगवद्गीता, महाभारत तथा उपनिषदों पर ग्रंथों तथा लघु कथाओं की रचना की है। अंग्रेजी में 'महाभारत', 'रामायण', 'भगवद्गीता' 'उपनिषद् ऐंड हिंदुइज्म', 'डॉक्ट्रिन ऐंड वे ऑव लाइफ' आदि ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने एक प्रोहिबिशन मैनुअल तथा कई पुस्तिकाएँ लिखी हैं। [ला० ब० पा०]

राधाकमल मुखर्जी, डॉ० भारत में आधुनिक समाजशास्त्र के प्रतिष्ठापक विद्वान् थे। ये क्षेत्रीय समाजशास्त्र, संस्कृति एवं सभ्यता के समाजशास्त्र, कला समाजशास्त्र तथा मूल्यों के समाजशास्त्र के अध्ययन के विश्व के कुछ गण्यमान प्रणेताओं में से थे। इनका जन्म पश्चिमी बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले के बहरामपुर नामक ग्राम में एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में ७ दिसंबर, सन् १८८९ को हुआ था। इन्होंने प्रेसीडेंसी कालेज कलकत्ता से शिक्षा प्राप्त की तथा सन् १९२० में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने इन्हें पी-एच० डी० की उपाधि से विभूषित किया। ये सन् १९१५ से १९१७ तक लाहौर में एक कालेज के प्रधानाचार्य तथा सन् १९१६ से १९२१ तक कलकत्ता विश्वविद्यालय में अध्यापक रहे। सन् १९२१ में इनकी नियुक्ति लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के प्राध्यापक एवं अध्यक्ष पद पर हुई। इन्होंने सन् १९५२ में इस पद से अवकाश ग्रहण किया। ये सन् १९५५ से १९५७ तक लखनऊ विश्वविद्यालय के उपकुलपति तथा जीवन के अंत तक इस विश्वविद्यालय के 'जे० के० इंस्टीट्यूट ऑव सोशियालॉजी ऐंड ह्यूमन रिलेशंस' के संचालक रहे।

यूरोप तथा अमरीका के लगभग सभी प्रमुख विश्वविद्यालयों में डॉ० मुखर्जी की व्याख्यानमालाएँ आयोजित की गईं। ये काशीविद्यापीठ के 'एमेरिटस प्रोफेसर' थे। सन् १९५५ में लंदन के विख्यात प्रकाशनसंस्थान मैकमिलन ने इनके सम्मान में एक अभिनंदनग्रंथ प्रकाशित किया जिसमें विश्व के आधुनिक युग के अनेक शीर्षस्थ समाजशास्त्रियों, दार्शनिकों, मनोवैज्ञानिकों, अर्थशास्त्रियों एवं कलामर्मज्ञों ने विशेष लेख लिखकर डॉ० मुखर्जी का अभिनंदन किया। अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, एवं सौंदर्यशास्त्र में इनकी गहरी पैठ थी। ये महान् कलापारखी थे। भारतीय कला के प्रति इन्हें विशेष अनुराग था। ये कई वर्ष लखनऊ के प्रख्यात भातखंडे संगीत महाविद्यालय की प्रबंधसमिति के अध्यक्ष रहे। ये उत्तर प्रदेश ललित कला अकादमी के भी अध्यक्ष थे। इन्होंने 'विश्व-आहार-संगठन' तथा 'अंतरराष्ट्रीय श्रमसंगठन' में भारत का प्रतिनिधित्व किया

था। ये भारत सरकार एव राज्य सरकारों की अनेक समितियों के सदस्य रहे।

इनकी कृतियों में प्राच्य और पाश्चात्य दोनों विचारधाराओं का समन्वय हुआ है। इनकी उपलब्धियाँ बहुमुखी थी। ये ज्ञान के अत्यधिक विखंडन एवं विशेषीकरण की प्रवृत्ति को समाज की सर्वांगीण प्रगति के लिये अहितकर मानते थे। इनकी चिंतनधारा पर भारतीय संस्कृति के आधारभूत मूल्यों का गहन प्रभाव था। इन्होंने लगभग ५० ग्रंथों का प्रणयन किया। इनके कतिपय महत्वपूर्ण ग्रंथ निम्नलिखित हैं — 'द सोशल स्ट्रक्चर ऑव वैल्यूज', 'द सोशल फंक्शन ऑव आर्ट', 'द डायनामिक्स ऑव मॉरल्स', 'द फिलासॉफी ऑव पर्सनालिटी', 'सोशल इकोलॉजी', 'द सिंबालिक लाइफ ऑव मैन', 'द डेस्टिनी ऑव सिविलिज़ेशन', 'द फिलॉसॉफी ऑव सोशल साइंसेज', 'द वननेस ऑव मैनकाइंड', 'द होराइजन ऑव मैरेज', 'द फ्लावरिंग ऑव इंडियन आर्ट' तथा 'कॉस्मिक आर्ट ऑव इंडिया'। इन्होंने गीता पर एक भाष्य लिखा था।

सन् १९६८ में ७९ वर्ष की वय में इस भारतीय समाजशास्त्री की इहलीला समाप्त हो गई। [ला० ब० पां०]

राधाकृष्णन्, डॉ० सर सर्वपल्ली आधुनिक युग के तत्वदर्शी चिंतक; प्राच्य जगत् की दार्शनिक परंपरा के योग्यतम व्याख्याता तथा विश्वविख्यात भारतीय दार्शनिक हैं। इनका जन्म ५ सितंबर, सन् १८८८ को आंध्र प्रदेश के चित्तूर जिले के तिरुत्तनी नामक ग्राम में एक मध्यम श्रेणी के ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा तिरुपति तथा वैलोर की ईसाई मिशनरियों में हुई। इन्होंने सन् १९०९ में मद्रास विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। कुशाग्र बुद्धि एवं अध्यवसाय के फलस्वरूप इन्होंने सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। शैशव काल हिंदुओं के तीर्थस्थलों, तिरुत्तनी और तिरुपति में माता पिता के सान्निध्य में व्यतीत कर राधाकृष्णन् धार्मिक विचारों से अनुप्राणित हुए। मिशनरियों द्वारा हिंदू धर्म की अग्राह्य आलोचना ने इनमें हिंदू दर्शन को निकट से परखने की जिज्ञासा उत्पन्न की जिसने कालांतर में उन्हें विश्व का महानतम दार्शनिक बना दिया।

छात्रजीवन समाप्त करने के पश्चात् डा० राधाकृष्णन् सन् १९०९ में मद्रास के प्रेसीडेंसी कालेज में दर्शन के अध्यापक नियुक्त हुए और शीघ्र ही भारतीय विश्वविद्यालयों में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली। अपनी अप्रतिम प्रतिभा और अध्यापनकुशलता के फलस्वरूप ये सन् १९१८ में ३० वर्ष की अल्प वय में ही मैसूर विश्वविद्यालय में दर्शन-विभाग के आचार्यपद पर नियुक्त हुए और तीन वर्ष पश्चात् कलकत्ता विश्वविद्यालय में इन्हें दर्शन की 'चेयर' प्रदान की गई। यह इनके शिक्षकजीवन की महान् गौरवास्पद सफलता थी। भारत-विख्यात कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित पद तथा अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त आध्यात्मिक पत्रों में प्रकाशित इनके महत्वपूर्ण दार्शनिक निबंधों ने इन्हें दर्शन के क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्रदान की। सन् १९२६ में इन्होंने हारवर्ड विश्वविद्यालय में आयोजित दर्शन कांग्रेस में भारत का प्रतिनिधित्व किया। वहाँ इन्होंने भारतीय अध्यात्म-दर्शन की बड़ी ही पांडित्यपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की और आधुनिक सभ्यता का विशद विश्लेषण किया। उनकी बौद्धिक प्रखरता और आध्यात्मिक ज्ञान की प्रशंसा हुई। इस व्याख्यानमाला से इनकी विश्वव्यापी ख्याति का महाद्वार खुल गया। इसके पश्चात् अन्यान्य देशों में इनकी व्याख्यानमालाएँ आयोजित की गईं और सर्वत्र महान् दार्शनिक और अध्यात्मवादी के रूप में इन्हें सम्मान प्रदान किया गया।

डा० राधाकृष्णन् कई विश्वविख्यात संस्थाओं के प्रतिष्ठित पदों पर आसीन रहे हैं। सन् १९३६ में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्राच्य आचार एवं धर्म के 'स्पाल्डिंग प्रोफेसर' नियुक्त हुए। ये, आक्सफोर्ड में ऑल सोल्स कालेज के सदस्य तथा बंगाल की 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' के 'आनरेरी' सदस्य रहे हैं। विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों ने इन्हें सम्मानित उपाधियाँ प्रदान की हैं। सन् १९३० में वाराणसी में आयोजित ऑल एशिया एजुकेशनल कांफ्रेंस के ये सभापति थे। सन् १९३१ में ये आंध्र विश्वविद्यालय के उपकुलपति नियुक्त हुए। बाद में डा० राधाकृष्णन् काशी हिंदू विश्वविद्यालय के उपकुलपति तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। सन् १९४६ से सन् १९५० तक इन्होंने यूनेस्को में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का नेतृत्व किया तथा सन् १९४८ में ये यूनेस्को के अधिशासी-मंडल के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। डा० राधाकृष्णन् सन् १९५० में कलकत्ता में आयोजित भारतीय दर्शन कांग्रेस के रजत जयंती-अधिवेशन के सभापति रहे। सन् १९४८ में भारत सरकार द्वारा नियुक्त 'विश्वविद्यालय आयोग' के ये अध्यक्ष थे। इस आयोग ने विश्वविद्यालय शिक्षासंबंधी अपने विशद प्रतिवेदन में शिक्षा का नवीन स्वरूप निर्मित करने के लिये व्यापक सुझाव प्रस्तुत किए। ये भारतीय संविधान सभा के भी सदस्य रहे। सन् १९४९ में ये सोवियत संघ में भारत के राजदूत नियुक्त हुए। अपने चार वर्षों के कार्यकाल में में इन्होंने भारत-रूस-मैत्री को सुदृढ़ किया, जो भारत की विदेश-नीति की महान् उपलब्धि है।

राधाकृष्णन् सन् १९५२ में भारतीय गणतंत्र के प्रथम उपराष्ट्रपति निर्वाचित हुए और इस सम्माननीय पद की गरिमा का दस वर्षों तक कुशलतापूर्वक निर्वाह किया। इस अवधि में इन्होंने अनेक देशों की सद्भावना यात्राएँ कीं तथा भारत राष्ट्र के उपराष्ट्रपति और अध्यात्म तथा नैसर्गिक तत्वों के व्याख्याता के रूप में ख्याति के शिखर पर पहुँच गए। सन् १९५४ में तत्कालीन राष्ट्रपति डा० राजेंद्र प्रसाद ने इन्हें राष्ट्र की सर्वोच्च सम्मानित उपाधि 'भारतरत्न' से विभूषित किया। राज्यसभा के अध्यक्ष के रूप में इन्होंने जिस न्यायपरता, राजनीतिक कुशलता एवं प्रशासनिक क्षमता का परिचय दिया वह अनुकरणीय है। सन् १९६२ में ये भारतीय गणराज्य के द्वितीय राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। भौतिक प्रगति के इस युग में दार्शनिक द्वारा शासन-सूत्र-संचालन की कणाद, कपिल और कौटिल्य की परंपरा के ये प्रतीक बन गए। दार्शनिक के नृपति बनने का प्लेटो का स्वप्न साकार हुआ। अपने पाँच वर्षों के कार्यकाल में इन्होंने अपने विशद अनुभव, विलक्षण प्रतिभा तथा प्रशासनिक

कुशलता से राष्ट्रपति पद की प्रतिष्ठा की श्रीवृद्धि की। वे अपनी अलौकिक वाणी, आध्यात्मिक उपदेशों एवं परिपक्व राजनीतिक सलाहों द्वारा सदैव जनता एवं सरकार का मार्गदर्शन करते रहे।

राष्ट्रपति पद से अवकाश प्राप्त कर डा० राधाकृष्णन् दर्शन के अनुशीलन एवं सर्जन में रत हैं। प्राच्य एवं पाश्चात्य जगत् के आध्यात्मिक मूल्यों में समन्वय का सूत्रपात करनेवाला यह मनीषी अर्ध शताब्दी से अधिक अवधि से भारतीय जीवनदर्शन एवं आध्यात्मिक उपलब्धियों की महत्ता निदर्शित करता चला आ रहा है। इस भौतिकवादी युग में ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक की वह आध्यात्मिक परंपरा, जिससे जीवन का दिव्य संदेश संपुटित है, आज के दिग्भ्रांत मनुष्य के संमुख रखकर डा० राधाकृष्णन् उसको आशा का संदेश सुनाते हुए एक ऐसे आत्मिक धर्म के उदय की घोषणा करते हैं जो मानवता को पूर्णता की ओर अग्रसर करने का मार्ग प्रशस्त करेगा।

डा० राधाकृष्णन् ने अनेक ग्रथों का प्रणयन किया है जो दर्शनशास्त्र की अमूल्य निधि हैं। इनके कतिपय प्रमुख ग्रंथ 'वेदांत के आचरण', 'मनोविज्ञान के तत्व', 'हिंदुओं का जीवनदर्शन', 'ठाकुर का दर्शन', 'धर्म और समाज' तथा 'भारतीय दर्शन' हैं।

[श्या० ब० पा०]

राय, डाक्टर विधानचंद्र : बंगाल के मुख्य मंत्री एवं ख्यातिप्राप्त चिकित्सक थे। इनका जन्म १ जुलाई, सन् १८८२ को पटना के एक प्रवासी बंगाली परिवार में हुआ था। मातापिता के ब्रह्मसमाजी होने से डाक्टर राय पर ब्रह्मसमाज का बाल्यावस्था से ही अमिट प्रभाव पड़ा था। उनके पिता प्रकाशचंद्र राय डिप्टी मजिस्ट्रेट थे, पर अपनी दानशीलता एवं धार्मिक वृत्ति के कारण कभी अर्थसंचय न कर सके। अत: विधानचंद्र राय का प्रारंभिक जीवन अभावों के मध्य ही बीता। बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण कर वे सन् १९०१ में कलकत्ता चले गए। वहीं से उन्होंने एम० डी० की परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्हें अपने अध्ययन का व्ययभार स्वयं वहन करना पड़ता था। योग्यताछात्रवृत्ति के अतिरिक्त अस्पताल में नर्स का कार्य करके वे अपना निर्वाह करते थे। अर्थाभाव के कारण डाक्टर विधानचंद्र राय ने कलकत्ता के अपने पाँच वर्ष के अध्ययनकाल में पाँच रुपए मूल्य की मात्र एक पुस्तक खरीदी थी। मेधावी इतने थे कि एल० एम० पी० के बाद एम० डी० परीक्षा दो वर्षों की अल्पावधि में उत्तीर्ण कर कीर्तिमान स्थापित किया। फिर उच्च अध्ययन के निमित्त इंग्लैंड गए। विद्रोही बंगाल का निवासी होने के कारण प्रवेश के लिये उनका आवेदनपत्र अनेक बार अस्वीकृत हुआ। बड़ी कठिनाई से वे प्रवेश पा सके। दो वर्षों में ही उन्होंने एम० आर० सी० पी० तथा एफ० आर० सी० एस० परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर लीं। कष्टमय एवं साधनामय विद्यार्थीजीवन की नींव पर ही उनके महान् व्यक्तित्व का निर्माण हुआ।

स्वदेश लौटने के पश्चात् डाक्टर राय ने सियालदह में अपना निजी चिकित्सालय खोला और सरकारी नौकरी भी कर ली। लेकिन अपने इस सीमित जीवनक्रम से वे संतुष्ट नहीं थे। सन् १९२३ में वे सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी जैसे दिग्गज राजनीतिज्ञ और तत्कालीन मंत्री के विरुद्ध बंगाल-विधान-परिषद् के चुनाव में खड़े हुए और स्वराज्य पार्टी की सहायता से उन्हें पराजित करने में सफल हुए। यहीं से इनका राजनीति में प्रवेश हुआ। डाक्टर राय देशबंधु चित्तरंजन दास के प्रमुख सहायक बने और अल्पावधि में ही उन्होंने बंगाल की राजनीति में प्रमुख स्थान बना लिया। सन् १९२८ में श्री मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन की स्वागतसमिति के वे महामंत्री थे। डा० राय राजनीति में उग्र राष्ट्रवादी नहीं वरन् मध्यममार्गी थे। लेकिन सुभाषचंद्र बोस और यतींद्रमोहन सेनगुप्त की राजनीतिक प्रतिस्पर्धा में वे सुभाष बाबू के साथ थे। वे विधानसभाओं के माध्यम से राष्ट्रीय हितों के लिये संघर्ष करने में विश्वास करते थे। इसीलिये उन्होंने 'गवर्नमेंट आॅव इंडिया ऐक्ट' के बनने के बाद स्वराज्य पार्टी को पुन: सक्रिय करने का प्रयास किया। सन् १९३४ में डाक्टर अंसारी की अध्यक्षता में गठित पार्लमेंटरी बोर्ड के डा० राय प्रथम महामंत्री बनाए गए। महानिर्वाचन में कांग्रेस देश के सात प्रदेशों में शासनारूढ़ हुई। यह उनके महामंत्रित्व की महान् सफलता थी।

विश्व के डाक्टरों में डाक्टर राय का प्रमुख स्थान था। प्रारंभ में देश में उन्होंने अखिल भारतीय ख्याति पं० मोतीलाल नेहरू, महात्मा गांधी प्रभृति नेताओं के चिकित्सक के रूप में ही अर्जित की। वे रोगी का चेहरा देखकर ही रोग का निदान और उपचार बता देते थे। अपनी मौलिक योग्यता के कारण वे सन् १९०९ में 'रॉयल सोसायटी आॅव मेडिसिन', सन् १९२५ में 'रॉयल सोसायटी आॅव ट्रापिकल मेडिसिन' तथा १९४० में 'अमरीकन सोसायटी आॅव चेस्ट फ़िज़ीशियन' के फेलो चुने गए। डा० राय ने सन् १९२३ में 'यादवपुर राजयक्ष्मा अस्पताल' की स्थापना की तथा चित्तरंजन सेवासदन' की स्थापना में भी उनका प्रमुख हाथ था। कारमाइकेल मेडिकल कालेज को वर्तमान विकसित स्वरूप प्रदान करने का श्रेय डा० राय को ही है। वे इस कालेज के अध्यक्ष एवं जीवन पर्यंत 'प्रोफेसर आॅव मेडिसिन' रहे। कलकत्ता एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालयों ने डा० राय को डी० एस-सी० की संमानित उपाधि प्रदान की थी। वे सन् १९३९ से ४५ तक 'आॅल इंडिया मेडिकल काउंसिल' के अध्यक्ष रहे। इसके अतिरिक्त वे 'कलकत्ता मेडिकल क्लब', 'इंडियन मेडिकल असोसिएशन,' 'यादवपुर टेक्निकल कालेज', 'राष्ट्रीय शिक्षा परिषद्', भारत सरकार के 'हायर इंस्टीट्यूट आॅव टेक्नालाजी', 'आॅल इंडिया बोर्ड आॅव बायोफिज़िक्स' तथा यादवपुर विश्वविद्यालय के अध्यक्ष एवं अन्यान्य राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं के सदस्य रहे। चिकित्सक के रूप में उन्होंने पर्याप्त यश एवं धन अर्जित किया और लोकहित के कार्यों में उदारतापूर्वक मुक्तहस्त दान दिया। बंगाल के अकाल के समय आपके द्वारा की गई जनता की सेवाएँ अविस्मरणीय हैं।

डाक्टर विधानचंद्र राय वर्षों तक कलकत्ता कारपोरेशन के सदस्य रहे तथा अपनी कार्यकुशलता के कारण दो बार मेयर चुने गए। उन्होंने कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य के रूप में सविनय अवज्ञा आंदोलन में सन् १९३० और १९३२ में जेलयात्रा की। वे सन् १९४२ से सन् १९४४ तक कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे तथा विश्वविद्यालयों की समस्याओं के समाधान में सदैव सक्रिय योग देते रहे।

१५ अगस्त, सन् १९४७ को उन्हें उत्तर प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया गया पर उन्होंने स्वीकार नहीं किया। प्रदेश की राजनीति में ही रहना अधिक उपयुक्त समझा। वे बंगाल के स्वास्थ्यमंत्री नियुक्त हुए। सन् १९४८ में डा० प्रफुल्लचंद्र घोष के त्यागपत्र देने पर प्रदेश के मुख्य मंत्री निर्वाचित हुए और जीवन पर्यंत इस पद पर बने रहे। विभाजन से त्रस्त तथा शरणार्थी समस्या से ग्रस्त समस्याप्रधान प्रदेश के शासन के सफल संचालन में उन्होंने अपूर्व राजनीतिक कुशलता एवं दूरदर्शिता का परिचय दिया। उनके जीवनकाल में वामपंथी अपने गढ़ बंगाल में सदैव विफलमनोरथ रहे। बंगाल के औद्योगिक विकास के लिये वे सतत प्रयत्नशील रहे। दामोदर घाटी निगम और इस्पात नगरी दुर्गापुर बंगाल को डाक्टर राय की महती देन हैं।

१५ वर्ष की यौवनावस्था में ही स्वेच्छया ब्रह्मचर्य व्रत धारण करनेवाली माँ अघोरकामिनी राय के सुपुत्र डाक्टर विधानचंद्र राय आजीवन अविवाहित रहे। उनमें कार्य करने की अद्भुत क्षमता, उत्साह और शक्ति थी। वे निष्काम कर्मयोगी थे। उनकी महत्वाकांक्षी और समत्व प्रवृत्ति के कारण उनमें ८० वर्ष की वय में भी युवकों का सा साहस और उत्साह बना रहा। रोगी की नाड़ी की भाँति ही उन्हें देश की नाड़ी का भी ज्ञान था। राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उनकी बहुमुखी सेवाएँ थीं। देश के औद्योगिक विकास, चिकित्साशास्त्र में महत्वपूर्ण अनुसंधान कार्य तथा शिक्षा की उन्नति में उनका प्रमुख कृतित्व था। संघर्षमय जीवन की उनकी राजनीति और चिकित्सा के क्षेत्र में महान् उपलब्धियों एवं देश की प्रदत्त महती सेवाओं के लिये उन्हें सन् १९६१ में राष्ट्र के सर्वोत्तम अलंकरण 'भारतरत्न' से विभूषित किया गया। डाक्टर राय बंगाल प्रदेश कांग्रेस के प्राण और कांग्रेस कार्यसमिति के प्रभावशाली सदस्य रहे। राजर्षि टंडन और पं० जवाहरलाल नेहरू के मध्य तथा बाद में नेहरू जी और श्री रफी अहमद किदवई के मध्य समझौता कराने में आपका प्रमुख हाथ रहा।

भगवान् बुद्ध की भाँति डाक्टर विधानचंद्र राय का स्वर्गवास उनके जन्म दिवस १ जुलाई को सन् १९६२ में हुआ।

[ला० ब० पां०]

लक्ष्मण सिंह, राजा भारतेंदु हरिश्चंद्र युग से पूर्व की हिंदी गद्यशैली के प्रमुख विधायक थे। इनका जन्म आगरा के वजीरपुरा नामक स्थान में ९ अक्टूबर, १८२६ ई० को हुआ था और मृत्यु १४ जुलाई, १८९६ ई० को हुई। १३ वर्ष की अवस्था तक आप घर पर ही संस्कृत और उर्दू की शिक्षा ग्रहण करते रहे, और सन् १८३९ में अंग्रेजी पढ़ने के लिये आगरा कालेज में प्रविष्ट हुए। कालेज की शिक्षा समाप्त करते ही पश्चिमोत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेंट गवर्नर के कार्यालय में अनुवादक के पद पर नियुक्त हुए। आपने बड़ी योग्यतापूर्वक कार्य किया और १८५५ में इटावा के तहसीलदार नियुक्त हुए। सन् १८५७ के विद्रोह में आपने अंग्रेजों की भरपूर सहायता की और अंग्रेजों ने उन्हें पुरस्कारस्वरूप डिप्टीकलक्टरी का पद प्रदान किया। १८७० ई० में राजभक्ति के परिणामस्वरूप लक्ष्मण सिंह जी को 'राजा' की उपाधि से संमानित किया। अंग्रेज सरकार की सेवा में रहते हुए भी लक्ष्मण सिंह का साहित्यानुराग जीवित रहा। सन् १८६१ में इन्होंने आगरा से 'प्रजाहितैषी' नामक पत्र निकाला। सन् १८६३ में महाकवि कालिदास की अमर कृति अभिज्ञान शाकुंतलम् का हिंदी अनुवाद 'शकुंतला नाटक' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें हिंदी की खड़ी बोली का जो नमूना आपने प्रस्तुत किया उसे देखकर लोग चकित रह गए। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने अपनी 'गुटका' में इस रचना को स्थान दिया। उस समय के प्रसिद्ध हिंदीप्रेमी फ्रेडरिक पिन्काट उनकी भाषा और शैली से बहुत प्रभावित हुए और १८७५ में इसे इंग्लैंड में प्रकाशित कराया। इस कृति से लक्ष्मण सिंह जी को पर्याप्त ख्याति मिली और इसे इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में पाठ्यपुस्तक के रूप में स्वीकार किया गया। इससे लेखक को धन और संमान दोनों मिले। इस संमान से राजा साहब को अधिक प्रोत्साहन मिला और उन्होंने १८७७ में कालिदास के 'रघुवंश' महाकाव्य का हिंदी अनुवाद किया और इसकी भूमिका में अपनी भाषासंबंधी नीति को स्पष्ट करते हुए कहा —

'हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोलचाल है। हिंदी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी फारसी के परंतु कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी फारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं, जिसमें अरबी फारसी के शब्द भरे हों।

सन् १८८१ ई० में आपका 'मेघदूत' के पूर्वार्ध और १८८३ ई० में उत्तरार्ध का पद्यानुवाद प्रकाशित हुआ जिसमें — चौपाई, दोहा, सोरठा, शिखरिणी, सवैया, छप्पय, कुंडलिया और घनाक्षरी छंदों का प्रयोग किया गया है। इस पुस्तक में अवधी और ब्रजभाषा, दोनों के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यह अपने ढंग का अनूठा प्रयोग है।

आप कलकत्ता विश्वविद्यालय के 'फेलो' और 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के सदस्य रहे। सन् १८८८ ई० में सरकार की सेवा से मुक्त होने पर आप आगरा की चुंगी के वाइस चेयरमैन हुए और आजीवन इस पद पर बने रहे।

अनुवादक के रूप में राजा लक्ष्मण सिंह को सर्वाधिक सफलता मिली। आप शब्द प्रतिशब्द के अनुवाद को उचित मानते थे, यहाँ तक कि विभक्तिप्रयोग और पदविन्यास भी संस्कृत की पद्धति पर ही रहते थे। राजा साहब के अनुवादों की सफलता का रहस्य भाषा की सरलता और भावव्यंजना की स्पष्टता है। उनकी टकसाली भाषा का प्रभाव उस समय के सभी लोगों पर पड़ा और तत्कालीन सभी विद्वान् उनके अनुवाद से प्रभावित हुए। [रा० मि०]

वर्मा, रामचंद्र (१८९०-१९६९ ई०) इनका जन्म काशी के एक संमानित खत्री परिवार में हुआ। वर्मा जी की पाठशालीय शिक्षा साधारण ही थी किंतु अपने विद्याप्रेम के कारण इन्होंने विद्वानों के संसर्ग तथा स्वाध्याय द्वारा हिंदी के अतिरिक्त उर्दू, फारसी, मराठी, बँगला, गुजराती, अंग्रेजी आदि कई भाषाओं का अच्छा

अध्ययन कर लिया था। इनकी जिज्ञासु वृत्ति जीवन के अंतिम काल तक पूर्णतया जागरूक रही। विभिन्न भाषाओं के ग्रंथों के आदर्श अनुवाद इन्होंने प्रस्तुत किए हैं। अंग्रेजी के 'हिंदू पालिटी' ग्रंथ का अनुवाद इन्होंने 'हिंदू राजतंत्र' नाम से किया है। मराठी भाषा की ज्ञानेश्वरी, 'छत्रसाल आदि पुस्तकों के सफल अनुवाद द्रष्टव्य हैं।

वर्मा जी की स्थायी देन भाषा के क्षेत्र में है। अपने जीवन का अधिकांश इन्होंने शब्दार्थनिर्णय और भाषापरिष्कार में बिताया। इनका प्रारंभिक जीवन पत्रकारिता का रहा। सन् १९०७ ई० में ये 'हिंदी केसरी' के संपादक हुए। यह पत्र नागपुर से प्रकाशित होता था। तदनंतर बाँकीपुर से निकलनेवाले 'बिहार बंधु' का इन्होंने योग्यतापूर्वक संपादन किया। बाद में नागरीप्रचारिणी-पत्रिका के संपादकमंडल में रहे। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से संपादित होनेवाले 'हिंदी शब्दसागर' में ये सहायक संपादक नियुक्त हुए। सन् १९१० ई० से १९२९ ई० तक इन्होंने उसमें कार्य किया। बाद में इन्हें 'संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर' के संपादन का भार दिया गया। इसके अनंतर ये स्वतंत्र रूप में भाषा और कोश के क्षेत्र में कार्यरत रहे। इन्होंने आजीवन इस बात का प्रयास किया कि लोग शुद्ध हिंदी लिखने और बोलने पर ध्यान दें। शब्दों के अर्थविनिर्णय के क्षेत्र में भी इन्होंने गहरी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। इस कार्य के लिये वे बराबर चिंतन और मनन किया करते थे। इनकी अनूठी हिंदीसेवा के कारण भारत सरकार ने इन्हें 'पद्मश्री' की संमानित उपाधि से अलंकृत किया था। इसमें किंचिन्मात्र संदेह नहीं कि ये आजीवन हिंदी-सेवा में जिए। शब्दार्थनिर्णय के प्रति गहरी रुचि रखने के कारण इन्होंने अपने भवन का नाम ही 'शब्दलोक' रख लिया था। अंतिम काल में इन्होने हिंदी का एक बृहत् कोश 'मानक हिंदी कोश' के नाम से तैयार किया जो पाँच खंडों में हिंदी साहित्य संमेलन से प्रकाशित हुआ है।

इनके कतिपय प्रसिद्ध ग्रंथों के नाम हैं, अच्छी हिंदी, उर्दू-हिंदी-कोश, हिंदी प्रयोग, प्रामाणिक हिंदी कोश, शिक्षा और देशी भाषाएँ, हिंदी कोशरचना, आदि।

सन् १९६९ में इनका काशीवास हो गया। इनकी सादगी और स्वभाव की सरलता प्रत्येक मिलनेवाले साहित्यिक पर अपना प्रभाव डाले बिना न रहती थी। वर्मा जी हिंदी में जिए और हिंदी के लिये जिए। [ला० चि० प्र०]

वाजपेयी, अंबिकाप्रसाद जन्म : कानपुर, ३० दिसंबर, १८८०, निधन : लखनऊ, २१ मार्च, १९६८ संपादकाचार्य पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी हिंदी पत्रकारिताजगत् के प्रेरणास्रोत ही नहीं, जनक थे। सेवा, त्याग, देशनिष्ठा एवं प्रखर नैतिक आग्रह से ही पत्रकारिता की ओर उन्मुख होकर आद्योपांत संघर्षरत रहे। उन्होंने पत्रकारिता को पेशा नहीं, साधना समझा था। वह तपस्वी वृत्ति के कर्मठ पत्रकार थे।

वाजपेयी जी के पत्रकारजीवन का प्रादुर्भाव सन् १९०५ ई० में हिंदी बंगवासी से प्रारंभ होता है। सन् १९११ ई० में स्व० बालमुकुंद गुप्त के बाद साप्ताहिक 'भारतमित्र' के संपादक हुए। उन्होंने 'भारतमित्र' को प्रथम हिंदी दैनिक पत्र का स्वरूप भी प्रदान किया। सन् १९१९ में इसका संपादन छोड़कर उन्होंने इंडियन नेशनल पब्लिशर्स लिमिटेड नामक संस्था बनाकर कलकत्ते से 'स्वतंत्र' दैनिक निकाला पर उसे सन् १९३० में अंगरेजी सरकार के कोपभाजन से बंद करना पड़ा। हिंदी साहित्य संमेलन के सन् १९३६ के काशी अधिवेशन के अध्यक्ष रहे। संमेलन ने उन्हें साहित्यवाचस्पति की उपाधि से विभूषित किया था।

वाजपेयी जी का राजनीतिक जीवन भी आकर्षक था। स्वाधीनता संग्राम के सिलसिले में उन्होंने देशबंधु चित्तरंजन दास और मौलाना अबुल कलाम आजाद के साथ जेलयात्रा भी की। कुछ समय तक उन्होंने मौलाना फजलुल हक के साथ कृषक प्रजा पार्टी में भी काम किया था। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद सन् १९५२ से सन् १९५८ तक वह उत्तर प्रदेश विधानपरिषद् के सदस्य रहे।

उनके प्रमुख ग्रंथों में हिंदीकौमुदी, हिंदुओं की राजकल्पना, भारतीय शासनपद्धति, संध्या और तर्पण, हिंदुस्तानी मुहावरे (संग्रह), शिक्षा (अनुवाद) पर्शियन इनफ्लुएंस आन हिंदी (अंग्रेजी), और हिंदी पत्रकारिता का इतिहास उल्लेखनीय हैं। हिंदी समाचार-पत्रों के संबंध में उनकी अंतिम पुस्तक उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित होनेवाली है।

पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ने इस शताब्दी के उत्तरार्ध तक अपने विविध मौलिक प्रयासों से हिंदी पत्रकारिता को आधुनिक विश्व के साथ चलने योग्य बना दिया। हिंदी के प्रति इनकी सेवाएँ अनूठी हैं। [के० ना० त्रि०]

वाजपेयी, नंददुलारे का जन्म उन्नाव जिले के मगरायल नामक ग्राम में सन् १९०६ ई० में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा हजारीबाग में संपन्न हुई। उन्होंने विश्वविद्यालयी परीक्षा काशी हिंदू विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की। वाजपेयी जी पत्रकार, संपादक, समीक्षक और अंत मे प्रशासक भी रहे। वे कुछ समय तक 'भारत' के संपादक रहे। उन्होने काशी नागरीप्रचारिणी सभा मे 'सूरसागर' का तथा बाद में गीता प्रेस, गोरखपुर मे रामचरितमानस का संपादन किया। वाजपेयी जी कुछ समय तक काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदीविभाग मे अध्यापक तथा कई वर्षों तक सागर विश्वविद्यालय के हिंदीविभाग के अध्यक्ष रहे। मृत्यु के समय वे विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के उपकुलपति थे। २१ अगस्त, १९६७ को उज्जैन में हिंदी के वरिष्ठ आलोचक आचार्य वाजपेयी जी का अचानक निधन हो गया जिससे हिंदी संसार की दुर्भाग्यपूर्ण क्षति हुई है।

शुक्लोत्तर समीक्षा को नया संबल देनेवाले स्वच्छंदतावादी समीक्षक आचार्य वाजपेयी का आगमन छायावाद के उन्नायक के रूप में हुआ था। उन्होंने छायावाद द्वारा हिंदीकाव्य में आए नवोन्मेष का, नवीन सौंदर्य का स्वागत एवं सहृदय मूल्यांकन किया। अपने गुरु आचार्य शुक्ल से बहुत दूर तक प्रभावित होते हुए भी उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की आधारभूत मान्यताओं के माध्यम से युग की संवेदनाओं को ग्रहण करते हुए, कवियों, लेखकों

या कृतियों की वस्तुपरक आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं। वे भाषा को साध्य न मानकर साधन मानते थे। वाजपेयी जी ने अनेक आलोचनात्मक ग्रंथों की रचना की है जिनमें प्रमुख हैं — जयशंकर प्रसाद, आधुनिक साहित्य, हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, नया साहित्य : नए प्रश्न, साहित्य : एक अनुशीलन, प्रेमचंद : एक साहित्यिक विवेचन, प्रकीर्णिका, महाकवि सूरदास, महाकवि निराला। इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ग्रंथों का संपादन किया है। इन संपादित ग्रंथों की भूमिका मात्र से उनकी सूक्ष्म एवं तार्किक दृष्टि का सहज ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है। समग्रत. छायावाद युग आचार्य वाजपेयी के समग्र व्यक्तित्व की संश्लिष्टि है, उसमें उनकी क्रांतदर्शी प्रज्ञा तथा अतलभेदिनी अंतर्दृष्टि विद्यमान है। [रा० कु० सि०]

विश्वकोश का अर्थ है विश्व के समस्त ज्ञान का भांडार। अतः विश्वकोश वह कृति है जिसमें ज्ञान की सभी शाखाओं का संनिवेश होता है। इसमें वर्णानुक्रमिक रूप से व्यवस्थित अन्यान्य विषयों पर संक्षिप्त किंतु तथ्यपूर्ण निबंधों का संकलन रहता है। यह संसार के समस्त सिद्धांतों की पाठ्यसामग्री है। विश्वकोश अंग्रेजी शब्द 'इनसाइक्लोपीडिया' का समानार्थी है, जो ग्रीक शब्द इनसाइक्लियोस (एन = ए सर्किल तथा पीडिया = एजुकेशन) से निर्मित हुआ है। इसका अर्थ शिक्षा की परिधि अर्थात् निर्देश का सामान्य पाठ्यविषय है।

विश्वकोश का उद्देश्य संपूर्ण विश्व में विकीर्ण कला एवं विज्ञान के समस्त ज्ञान को संकलित कर उसे व्यवस्थित रूप में सामान्य जन के उपयोगार्थ उपस्थित करना तथा भविष्य के लिये सुरक्षित रखना है। इसमें समाविष्ट भूतकाल की ज्ञानविज्ञान की उपलब्धियाँ मानव सभ्यता के विकास के लिये साधन प्रस्तुत करती हैं। यह ज्ञानराशि मनुष्य तथा समाज के कार्यव्यापार की संचित पूँजी होती है। आधुनिक शिक्षा के विश्वपर्यवसायी स्वरूप ने शिक्षार्थियों एवं ज्ञानार्थियों के लिये संदर्भग्रंथों का व्यवहार अनिवार्य बना दिया है। विश्वकोश में संपूर्ण संदर्भों का सार निहित होता है इसलिये आधुनिक युग में इसकी उपयोगिता असीमित हो गई है। इसकी सर्वाधिक उपादेयता की प्रथम अनिवार्यता इसकी बोधगम्यता है। इसमें संकलित जटिलतम विषय से संबंधित निबंध भी इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि वह सामान्य पाठक की क्षमता एवं उसके बौद्धिक स्तर के उपयुक्त तथा बिना किसी प्रकार की सहायता के बोधगम्य हो जाता है। उत्तम विश्वकोश ज्ञान के मानवीयकरण का माध्यम है।

प्राचीन अथवा मध्ययुगीन निबंधकारों द्वारा विश्वकोश (इनसाइक्लोपीडिया) शब्द उनकी कृतियों के नामकरण में प्रयुक्त नहीं होता था पर उनका स्वरूप विश्वकोशीय ही था। इनकी विशिष्टता यह थी कि ये लेखकविशेष की कृति थे। अतः ये वस्तुपरक कम, व्यष्टिपरक अधिक थे तथा लेखक के ज्ञान, क्षमता एवं अभिरुचि द्वारा सीमित होते थे। विषयों के प्रस्तुतीकरण और व्याख्या पर उनके व्यक्तिगत दृष्टिकोणों की स्पष्ट छाप रहती थी। ये संदर्भग्रंथ नहीं वरन् अन्यान्य विषयों के अध्ययन हेतु प्रयुक्त निर्देशक निबंधसंग्रह थे।

विश्व की सबसे पुरातन विश्वकोशीय रचना अफ्रीकावासी मार्सियनस मिनस फेलिक्स कॅपेला की 'सटीराम सटीरिक' है। उसने पाँचवीं शती के प्रारंभकाल में गद्य तथा पद्य में इसका प्रणयन किया। यह कृति मध्ययुग में शिक्षा का आदर्शागार समझी जाती थी। मध्ययुग तक ऐसी अन्यान्य कृतियों का सर्जन हुआ, पर वे प्रायः एकांगी थीं और उनका क्षेत्र सीमित था। उनमें त्रुटियों एवं विसंगतियों का बाहुल्य रहता था। इस युग की सर्वश्रेष्ठ कृति ब्यूविअस के विसेंट का ग्रंथ 'बिब्लियोथेका मंडी' या 'स्पेकुलम मेजस' था। यह तेरहवीं शती के मध्यकालीन ज्ञान का महान् संग्रह था। उसने इस ग्रंथ में मध्ययुग की अनेक कृतियों को सुरक्षित किया। यह कृति अनेक विलुप्त आकर (क्लैसिकल) रचनाओं तथा अन्यान्य ग्रंथों की मूल्यवान पाठ्यसामग्रियों का सार प्रदान करती है। प्राचीन ग्रीस में स्प्यूसिपस तथा अरस्तू ने महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की थी। स्प्यूसिपस ने पशुओं तथा वनस्पतियों का विश्वकोशीय वर्गीकरण किया तथा अरस्तू ने अपने शिष्यों के उपयोग के लिये अपनी पीढ़ी के उपलब्ध ज्ञान एवं विचारों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने के लिये अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया। इस युग में प्रणीत विश्वकोशीय ग्रंथों में प्राचीन रोमवासी प्लिनी की कृति 'नैचुरल हिस्ट्री' हमारी विश्वकोश की आधुनिक अवधारणा के अधिक निकट है। यह मध्य युग का उच्च आधिकारिक ग्रंथ है। यह ३७ खंडों एवं २४९३ अध्यायों में विभक्त है जिसमें ग्रीकों के विश्वकोश के सभी विषयों का संनिवेश है। प्लिनी के अनुसार इसमें १०० लेखकों के २००० ग्रंथों से संगृहीत २०,००० तथ्यों का समावेश है। सन् १५३६ से पूर्व इसके ४३ संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। इस युग की एक प्रसिद्ध कृति फ्रांसीसी भाषा में १९ खंडों में प्रणीत (सन् १३६०) बार्थोलोमिव द ग्लैंविल का ग्रंथ 'डी प्रॉप्रिएटेटिबस रेरम' था। सन् १४९५ में इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ तथा सन् १५०० तक इसके १५ संस्करण निकल चुके थे।

जॉर्जियस फाठिअम रिंजल बर्जिगस (१५४१) एवं हंगरी के काउंट पॉल्स स्कैलिगस द लिका (१५५९) की कृतियाँ सर्वप्रथम विश्वकोश (इनसाइक्लोपीडिया) के नाम से अभिहित हुईं। जोहान हेनरिच आल्स्टेड ने अपना विश्वकोश 'इनसाइक्लोपीडिया सेप्टेम टॉमिस डिस्टिंक्टा' सन् १६३० में प्रकाशित किया जो इस नाम को संपूर्णतः चरितार्थ करता था। इसमें प्रमुख विज्ञानों एवं विभिन्न कलाओं से संबंधित अन्यान्य विषयों का समावेश है। फ्रांस के शाही इतिहासकार जीन डी मैग्नन का विश्वकोश 'सर्ॅ साइंस युनिवर्स' के नाम से १० खंडों में प्रकाशित हुआ था। यह ईश्वर की प्रकृति से प्रारंभ होकर मनुष्य के पतन के इतिहास तक समाप्त होता है। लुइस मोरेरी ने १६७४ में एक विश्वकोश की रचना की जिसमें इतिहास, वंशानुसंक्रमण तथा जीवनचरित् संबंधी निबंधों का समावेश था। सन् १७५९ तक इसके २० संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। एटीन चाविन की सन् १७१३ में प्रकाशित महान् कृति 'कार्टेजिनयम' दर्शन का शब्दकोश है। फ्रेंच एकेडेमी द्वारा फ्रेंच भाषा का महान् शब्दकोश सन् १६९४ में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् कला और विज्ञान के शब्दकोशों की एक शृंखला बन गई। विंसेंज़ो मेरिया कोरोनेली ने

सन् १७०१ में इटैलियन भाषा में एक वर्णानुक्रमिक विश्वकोश 'बिब्लियोटेका युनिवर्सल सैक्रोप्रोफाना' का प्रकाशन प्रारंभ किया। ४५ खंडों में प्रकाश्य इस विश्वकोश के ७ ही खंड प्रकाशित हो सके।

अंग्रेजी भाषा में प्रथम विश्वकोश 'ऐन युनिवर्सल इंग्लिश डिक्शनरी ऑव आर्ट्स ऐंड साइंस' की रचना जॉन हैरिस ने सन् १७०४ में की। सन् १७१० में इसका द्वितीय खंड प्रकाशित हुआ। इसका प्रमुख भाग गणित एवं ज्योतिष से संबंधित था। हैंबर्ग में जोहानम के रेक्टर जोहान हुब्नर के नाम पर दो शब्दकोश क्रमशः सन् १७०४ और १७१० में प्रकाशित हुए। बाद में इनके अनेक संस्करण निकले। इफ्रेम चैंबर्स ने सन् १७२८ में अपनी साइक्लोपीडिया दो खंडों में प्रकाशित की। उसने प्रत्येक विषय से संबंधित विकीर्ण तथ्यों को समायोजित करने का प्रयास किया। हर निबंध में चैंबर्स ने संबंधित विषय का संदर्भ दिया है। सन् १७४८-४९ में इसका इटैलियन अनुवाद प्रकाशित हुआ। चैंबर्स द्वारा संकलित एवं व्यवस्थित ७ नए खंडों की सामग्री का संपादन कर डॉ० जॉनहिल ने पूरक ग्रंथ सन् १७५३ में प्रकाशित किया। इसका संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण (१७७८-८८) अब्राहम रीज द्वारा प्रकाशित हुआ। लाइपजिग के एक पुस्तकविक्रेता जोहान हेनरिच जेड्लर ने एक बृहद् एवं सर्वाधिक व्यापक विश्वकोश 'जेड्लर्स युनिवर्सल लेक्सिकन' प्रकाशित किया। इसमें सात सुयोग्य संपादकों की सेवाएँ प्राप्त की गई थीं और एक विषय के सभी निबंध एक ही व्यक्ति द्वारा संपादित किए गए थे। सन् १७५० तक इसके ६४ खंड प्रकाशित हुए तथा सन् १७५१ से ५४ के मध्य ४ पूरक खंड निकले।

'फ्रेंच इंसाइक्लोपीडिया' अठारहवीं शती की महत्तम साहित्यिक उपलब्धि है। इसकी रचना 'चैंबर्स साइक्लोपीडिया' के फ्रेंच अनुवाद के रूप में अंग्रेज विद्वान् जॉन मिल्स द्वारा उसके फ्रांस आवासकाल में प्रारंभ हुई, जिसे उसने मोंटफ्री सेलस की सहायता से सन् १७४५ में समाप्त किया। पर वह इसे प्रकाशित न कर सका और इंग्लैंड वापस चला गया। इसके संपादन हेतु एक एक कर कई विद्वानों की सेवाएँ प्राप्त की गईं और अनेक संघर्षों के पश्चात् यह विश्वकोश प्रकाशित हो सका। यह मात्र संदर्भ ग्रंथ नहीं था; यह निर्देश भी प्रदान करता था। यह आस्था और अनास्था का विचित्र संगम था। इसने उस युग के सर्वाधिक शक्तिसंपन्न चर्च और शासन पर प्रहार किया। संभवतः अन्य कोई ऐसा विश्वकोश नहीं है, जिसे इतना राजनीतिक महत्व प्राप्त हुआ हो और जिसने किसी देश के इतिहास और साहित्य पर क्रांतिकारी प्रभाव डाला हो। पर इन विशिष्टताओं के होते हुए भी यह विश्वकोश उच्च कोटि की कृति नहीं है। इसमें स्थल स्थल पर त्रुटियाँ एवं विसंगतियाँ थीं। यह लगभग समान अनुपात में उच्च और निम्न कोटि के निबंधों का मिश्रण था। इस विश्वकोश की कटु आलोचनाएँ हुईं।

इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका स्कॉटलैंड की एक संस्था द्वारा एडिनबर्ग से सन् १७७१ में तीन खंडों में प्रकाशित हुई। तब से इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रत्येक नवीन संस्करण में विशद संशोधन परिवर्धन किए गए। इसका चतुर्दश संस्करण सन् १९२९ में २३ खंडों में प्रकाशित हुआ। सन् १९३३ में प्रकाशकों ने वार्षिक प्रकाशन और निरंतर परिवर्धन की नीति निर्धारित की और घोषणा की कि भविष्य के प्रकाशनों को नवीन संस्करण की संज्ञा नहीं दी जायगी। इसकी गणना विश्व के महान् विश्वकोशों में है तथा इसका संदर्भ ग्रंथ के रूप में अन्यान्य देशों में उपयोग किया जाता है।

अमरीका में अनेक विश्वकोश प्रकाशित हुए, पर वहाँ भी प्रमुख ख्याति इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका को ही प्राप्त है। जॉर्ज रिप्ले एवं चार्ल्स एडर्सन डाना ने 'न्यू अमरीकन साइक्लोपीडिया' (१८५८-६३) १६ खंडों में प्रकाशित की। इसका दूसरा संस्करण १८७३ से १८७६ के मध्य निकला। एल्विन जे० जॉनसन का विश्वकोश जॉनसंस न्यू युनिवर्सल साइक्लोपीडिया (१८७५-७७) ४ खंडों में प्रकाशित हुआ, जिसका नया संस्करण ८ खंडों में १८९३-९५ में प्रकाशित हुआ। फ्रांसिस लीबर ने 'इंसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना' का प्रकाशन १८२९ मे प्रारंभ किया। प्रथम संस्करण के १३ खंड सन् १८३३ तक प्रकाशित हुए। सन् १८३५ में १४ खंड प्रकाशित किए गए। सन् १८५८ में यह पुनः प्रकाशित की गई। सन् १९०३-०४ में एक नवीन कृति 'इंसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना' के नाम से १६ खंडों में प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् इस विश्वकोश के अनेक संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण निकले। सन् १९१८ में यह ३० खंडों में प्रकाशित हुआ और तब से इसमें निरंतर संशोधन परिवर्धन होता आ रहा है। प्रत्येक शताब्दी के इतिहास का पृथक् वर्णन तथा साहित्य और संगीत की प्रमुख कृतियों पर पृथक् निबंध इस विश्वकोश की विशिष्टताएँ हैं।

ऐसे विश्वकोशों के भी प्रणयन की प्रवृत्ति बढ रही है जो किसी विषय विशेष से संबद्ध होते हैं। इनमें एक ही विषय से संबंधित तथ्यों पर स्वतंत्र निबंध होते हैं। यह संकलन संबद्ध विषय का सम्यक् ज्ञान कराने में सक्षम होता है। इंसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइंसेज इसी प्रकार का अत्यंत महत्वपूर्ण विश्वकोश है।

भारतीय वाङ्मय में संदर्भ ग्रंथों का कभी अभाव नहीं रहा, पर नगेंद्रनाथ वसु द्वारा संपादित बँगला विश्वकोश ही भारतीय भाषाओं से प्रणीत प्रथम आधुनिक विश्वकोश है। यह सन् १९११ में २२ खंडों में प्रकाशित हुआ। नगेंद्रनाथ वसु ने ही अनेक हिंदी विद्वानों के सहयोग से हिंदी विश्वकोश की रचना की जो सन् १९१६ से १९३२ के मध्य २५ खंडों में प्रकाशित हुआ। श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने मराठी विश्वकोश की रचना की जो महाराष्ट्रीय ज्ञानकोशमंडल द्वारा २३ खंडों में प्रकाशित हुआ। डॉ० केतकर के निर्देशन में ही इसका गुजराती रूपांतर प्रकाशित हुआ।

स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् कला एवं विज्ञान की वर्धनशील ज्ञानराशि से भारतीय जनता को लाभान्वित करने के लिये आधुनिक विश्वकोशों के प्रणयन की योजनाएँ बनाई गईं। सन् १९४७ में ही एक हजार पृष्ठों के १२ खंडों में प्रकाश्य तेलुगु भाषा के विश्वकोश

की योजना निर्मित हुई। तमिल में भी एक विश्वकोश के प्रणयन का कार्य प्रारंभ हुआ।

हिंदी विश्वकोश—राष्ट्रभाषा हिंदी में एक मौलिक एवं प्रामाणिक विश्वकोश के प्रणयन की योजना हिंदी साहित्य के सर्जन में संलग्न नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ने तत्कालीन सभापति महामान्य पं० गोविंद वल्लभ पंत की प्रेरणा से निर्मित की जो आर्थिक सहायता हेतु भारत सरकार के विचारार्थ सन् १९५४ में प्रस्तुत की गई। पूर्व निर्धारित योजनानुसार विश्वकोश २२ लाख रुपए के व्यय से लगभग दस वर्ष की अवधि में एक हजार पृष्ठों के ३० खंडों में प्रकाश्य था। किंतु भारत सरकार ने ऐतदर्थ नियुक्त विशेषज्ञ समिति के सुझाव के अनुसार ५०० पृष्ठों के १० खंडों में ही विश्वकोश को प्रकाशित करने की स्वीकृति दी तथा इस कार्य के संपादन हेतु सहायतार्थ ६॥ लाख रुपए प्रदान करना स्वीकार किया। सभा को केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय के इस निर्णय को स्वीकार करना पड़ा कि विश्वकोश भारत सरकार का प्रकाशन होगा।

योजना की स्वीकृति के पश्चात् नागरीप्रचारिणी सभा ने जनवरी, १९५७ में विश्वकोश के निर्माण का कार्यारंभ किया। केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय के निर्देशानुसार 'विशेषज्ञ समिति' की संस्तुति के अनुसार देश के विश्रुत विद्वानों, विख्यात विचारकों तथा शिक्षा क्षेत्र के अनुभवी प्रशासकों का एक पचीस सदस्यीय परामर्शमंडल गठित किया गया। सन् १९५८ में समस्त उपलब्ध विश्वकोशों एवं संदर्भग्रंथों की सहायता से ७०,००० शब्दों की सूची तैयार की गई। इन शब्दों की सम्यक् परीक्षा कर उनमें से विचारार्थ ३०,००० शब्दों का चयन किया गया। मार्च, सन् १९५९ में प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के भूतपूर्व प्रोफेसर डॉ० धीरेंद्र वर्मा प्रधान संपादक नियुक्त हुए। विश्वकोश का प्रथम खंड लगभग डेढ़ वर्षों की अल्पावधि में ही सन् १९६० में प्रकाशित हुआ। इस खंड के प्रकाशन के समय तक विश्वकोश विभाग का पूर्णरूपेण संगठन कर लिया गया। विश्वकोश के प्रधान संपादक डॉ० धीरेंद्र वर्मा ने नवंबर, सन् १९६१ के प्रारंभ में त्यागपत्र दे दिया। कुछ समय पश्चात् डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी ने प्रधान संपादक का पद ग्रहण किया और खंड १० के प्रकाशन तक कार्यभार सँभाला। विश्वकोश के प्रकाशनकाल में इसके तीन मंत्री एवं संयोजक बदले। खंड १ के प्रकाशन के समय डॉ० राजबली पांडेय संयोजक एवं मंत्री थे। खंड २ और ३ डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के संयोजकत्व में तथा खंड ८ तक पं० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' के संयोजकत्व में प्रकाशित हुए। अंतिम ३ खंडों के संयोजक एवं मंत्री श्री सुधाकर पांडेय थे। विश्वकोश के प्रणयन में प्रारंभ से अंत तक उनका प्रमुख योगदान रहा और डा० रामप्रसाद त्रिपाठी के अंतिम दो वर्षों के विदेश प्रवासकाल में उन्होंने प्रधान संपादक का भी संपूर्ण उत्तरदायित्व वहन किया।

प्रारंभ में परामर्शमंडल के अध्यक्ष पं० गोविंदवल्लभ पंत थे। उनके पश्चात् खंड १० तक का प्रकाशन महामहिम डॉ० संपूर्णानंद जी की अध्यक्षता में तथा अंतिम दो का प्रकाशन पं० कमलापति त्रिपाठी की अध्यक्षता में हुआ।

विश्वकोश का द्वादश खंड हमारे संमुख है। अन्य ११ खंडों से संबंधित प्रमुख तथ्य निम्नलिखित तालिका में स्पष्ट हैं। इस तालिका से प्रकट है कि विश्वकोश का प्रथम संस्करण १२ वर्षों की अल्पावधि में १२ खंडों तथा ६००९ पृष्ठों में प्रकाशित हुआ। इसमें ५०७ रंगीन तथा सादे चित्रफलक दिए गए हैं। सभी खंडों को विविध चित्रों, मानचित्रों और कलाकृतियों से सुसज्जित करने और उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। इसमें देश विदेश के ख्यातिप्राप्त सहस्राधिक विशिष्ट विद्वानों की रचनाओं का संकलन किया गया है। नौ खंडों के प्रकाशन के पश्चात् भी प्रमुख विषयों से संबंधित लगभग २००० निबंध 'योहान' के बाद वर्णक्रम से प्रकाशनार्थ शेष रह गए थे। अतः केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा नियुक्त 'पुनरीक्षण समिति' की संस्तुति पर दो अतिरिक्त खंडों के प्रकाशन की स्वीकृति प्राप्त हुई। बारहों खंडों के प्रकाशन का संपूर्ण व्ययभार केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय ने वहन किया। प्रथम संस्करण पर व्यय कुल धनराशि १५,६५,४८१ रुपए थी। बारहवें खंड के अंत में परिशिष्ट में ५६

खंड	अध्यक्ष, परामर्शमंडल	संयोजक एवं मंत्री	प्रधान संपादक	संपादक, विज्ञान	संपादक, मानवतादि	प्रकाशनवर्ष	पृष्ठ	फलक	निबंध	लेखक
१.	पं० गोविंदवल्लभ पंत	डॉ० राजबली पांडेय	डॉ० धीरेंद्रवर्मा	डॉ० गोरखप्रसाद	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	१९६०	५०४	३९	१०१४	१९८
२.	डॉ० संपूर्णानंद	डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा	,,	डॉ० फूलदेवसहाय वर्मा	,,	१९६२	५०८	६९	८३३	२४६
३.	,,	,,	डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी	,,	,,	१९६३	५०४	६३	८२८	१९१
४.	,,	पं० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'	,,	,,	मुकुंदीलाल श्रीवास्तव	१९६४	५०४	३९	७४६	२१८
५.	,,	,,	,,	,,	,,	१९६५	५०४	२६	७६७	२०१
६.	,,	,,	,,	,,	,,	१९६६	५०८	५२	६११	२०८
७.	,,	,,	,,	,,	,,	१९६६	५०४	३५	५९३	२०५
८.	,,	,,	,,	,,	,,	१९६७	५०४	४०	६५७	१९०
९.	,,	पं० सुधाकर पांडेय	,,	,,	,,	१९६७	५०८	३२	६५१	२५१
१०.	,,	,,	,,	,,	,,	१९६८	४९६	४१	६१२	२१६
११.	पं० कमलापति त्रिपाठी	,,	,,	,,	,,	१९६९	५०६	३५	३१५	२१८

निबंध दिए गए हैं जो किन्हीं कारणों से निर्धारित स्थान पर नहीं दिए जा सके थे। परिशिष्ठ के पश्चात् बारहों खंडों के निबंधों की सूची दी गई है।

विश्वकोश का संग्रथन हिंदी वर्णमाला के अक्षरक्रम से हुआ है। विदेशी व्यक्तियों एवं कृतियों के नाम यथासंभव उनकी भाषा के उच्चारण के अनुरूप लिखे गए हैं तथा जहाँ कहीं भ्रम की आशंका रही है वहाँ उन्हें कोष्ठक में रोमन में भी दे दिया गया है। उच्चारण के लिये वेब्स्टर शब्दकोश को प्रमाण माना गया है। इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका इस विश्वकोश के संमुख आदर्श रही है। उसके विषय संचय की प्रक्रिया, वर्णक्रमीय संगठन एवं व्यवस्था की विधि को अपनाया गया है पर सामग्री का संकलन स्वतंत्र रूप से किया गया है। इसमें इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका द्वारा प्राच्य देशों के कतिपय उपेक्षित आवश्यक विषयों को स्थान दिया दिया है तथा उसकी त्रुटियों और भ्रांतियों का यथासंभव निराकरण करने का प्रयास किया गया है।

बारह खंडों की परिमिति के कारण कतिपय विषयों का समावेश नहीं हो पाया है। विश्वकोश का प्रकाशन आश्चर्यजनक त्वरित गति से हुआ। अत: कतिपय त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक था। राष्ट्रभाषा हिंदी के इस शालीन प्रयास का सर्वत्र स्वागत हुआ एवं इसकी प्रशंसा की गई। यह बीसवीं शती की भारत की महान् साहित्यिक उपलब्धि है। इसके माध्यम से कला और विज्ञान की आधुनिकतम उपलब्धियों से भारतीय भाषाओं का भांडार भरने के लिये प्रचुर सामग्री उपलब्ध होगी तथा यह भारत की अन्य भाषाओं में विश्वकोश निर्माण का आधार प्रस्तुत करेगा। [ला० ब० पां०]

वेश्यावृत्ति अर्थलाभ के लिये स्थापित संकर यौनसंबंध, जिसमें उस भावनात्मक तत्व का अभाव होता है जो अधिकांश यौनसंबंधों का एक प्रमुख अंग है। विधान एवं परंपरा के अनुसार वेश्यावृत्ति उपस्त्री सहवास, परस्त्रीगमन एवं अन्य अनियमित वासनापूर्ण संबंधों से भिन्न होती है। संस्कृत कोशों में यह वृत्ति अपनानेवाली स्त्रियों के लिये विभिन्न संज्ञाएँ दी गई हैं। वेश्या, रूपाजीवा, पण्यस्त्री, गणिका, वारवधू, लोकांगना, नर्तकी आदि को गुण एवं व्यवसायपरक अभिधा है — वेशं (बाजार) आजीवो यस्या: सा वेश्या (जिसकी आजीविका में बाजार हेतु हो), गणयति इति गणिका (रुपया गिननेवाली), रूपं आजीवो यस्या: सा रूपाजीवा (सौंदर्य ही जिसकी आजीविका का कारण हो); पण्यस्त्री — पण्यै: क्रीता स्त्री (जिसे रुपया देकर आत्मतुष्टि के लिये क्रय कर लिया गया हो)।

वेश्यावृत्ति सभी सभ्य देशों में आदिकाल से विद्यमान रही है। वह सदैव सामाजिक यथार्थ के रूप में स्वीकार की गई है और विधि एवं परंपरा द्वारा इसका नियमन होता रहा है। सामंतवादी समाज में यह अभिजातवर्ग की कलात्मक अभिरुचि एवं पार्थिव गौरवप्रदर्शन का माध्यम थी। आधुनिक यांत्रिक समाज में यह हमारी विवशता, मानसिक विक्षेप, भोगैषणा एवं निरंतर बढ़ती हुई आंतरिक कुंठा के क्षणिक उपचार का द्योतक है। वस्तुत: यह विघटनशील समाज के सहज अंग के रूप में विद्यमान रही है। सामाजिक स्थिति में आरोह अवरोह आता रहा है, किंतु इसका अस्तित्व अक्षुण्ण, अप्रभावित रहा है। प्राच्य जगत् के प्राचीन देशों में वेश्यावृत्ति धार्मिक अनुष्ठानों के साथ संबद्ध रही है। इसे हेय न समझकर प्रोत्साहित भी किया जाता रहा। मिस्र, असीरिया, बेबीलोनिया, पर्शिया आदि देशों में देवियों की पूजा एवं धार्मिक अनुष्ठानों में अत्यधिक अमर्यादित वासनात्मक कृत्यों की प्रमुखता रहती थी तथा देवस्थान व्यभिचार के केंद्र बन गए थे। यहूदी अवश्य इस प्रथा के अपवाद थे। उनमें मोजेज के अन्यान्य अध्यादेशों का उद्देश्य स्पष्टतया धर्म एवं प्रजातीय रक्त की शुद्धता और रतिरोगों से जनस्वास्थ्य को सुरक्षित रखना था। वेश्यावृत्ति प्रवासी स्त्रियों तक ही सीमित थी। यह यहूदी स्त्रियों के लिये निषिद्ध थी। पर धर्माध्यक्षों की कन्याओं के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों द्वारा नियमभंग करने पर किसी प्रकार के दंड का विधान नहीं था। यद्यपि देवस्थानों और यरूसलम में ऐसी स्त्रियों का प्रवेश वर्जित था, तथापि पार्श्व पथ उनसे सदैव आकीर्ण रहते थे। बाद के अभ्युदयकाल में स्वेच्छाचारिता में और वृद्धि हुई।

प्राचीन यूनान — एथेंस नगर में वेश्यावृत्ति के संबंध में निर्धारित नियम जनस्वास्थ्य एवं शिष्टाचार को दृष्टिगत कर अभिकल्पित थे। वेश्यालयों पर राज्य का अधिकार था जो क्षेत्रविशेष में सीमित थे। वेश्याओं का परिधान विशिष्ट होता था तथा सार्वजनिक स्थलों में उनका प्रवेश निषिद्ध था। वे किसी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान में भाग नहीं ले सकती थीं। पर्शिया युद्ध के पश्चात् और अधिक बाध्यकारी कानून प्रभावशील हुए लेकिन अत्यधिक गुणसंपन्ना एवं प्रतिभाशालिनी गणिकाओं के संमुख वे टिक नहीं सके। समय की गति के साथ विनियमों को क्रियाशील तथा प्रभावकारी बनाए रखना प्रशासन के लिये दुष्कर होता गया। अन्य नगरों में वेश्यावृत्ति चरम सीमा पर थी। वासनापूर्ति के लिये विख्यात कॉरिंथ नगर में देवी के मंदिर में सहस्रों वेश्याएँ सेविका रूप में रहती थीं और देवीपूजा यौनाचार पर आवरण बन गई थी।

रोमवासियों के दृष्टिकोण में यहूदियों के जातीय गौरव एवं मिस्रवासियों के सार्वजनिक शिष्टाचार का सम्यक् समावेश था। समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा थी। वेश्याओं के लिये पंजीकरण आवश्यक था। उन्हें राजकीय कर देना पड़ता था तथा भिन्न परिधान धारण करना पड़ता था। वेश्यालयों पर राजकीय नियंत्रण था और वेश्यागमन को निंद्य माना जाता था। एक बार वेश्यावृत्ति अपनाने के पश्चात् इस व्यवसाय को सदा के लिये त्याग देने अथवा विवाहित हो जाने पर भी किसी स्त्री का पंजीयन समाप्त नहीं हो सकता था। ईसाई धर्म की स्थापना एवं प्रसार के पश्चात् इस समस्या के प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपनाया गया। ईसाइयों ने वेश्याओं के पुनरुद्धार और समाज में पुन:प्रतिष्ठा हेतु प्रयास किया। सम्राट् जस्टिनियम की महिषी थियोडोरा ने, जो स्वयं वेश्या का जीवन व्यतीत कर चुकी थी, पतिता स्त्रियों के लिये एक सुधारगृह की स्थापना की। वेश्यालयों का संचालन दंडनीय था।

प्राचीन भारत — वेदों के दीर्घतमा ऋषि, पुराणों की अप्सराएँ, आर्ष काव्यों, रामायण एवं महाभारत की शताधिक उपकथाएँ

मनु, याज्ञवल्क्य, नारद आदि स्मृतियों का आविष्ट कथन, तंत्रों एवं गुह्य साधनाओं की शक्तिस्थानीया रूपसी कामिनियाँ, उत्सवविशेष की शोभायात्रा में आगे आगे अपना प्रदर्शन करती हुई नर्तकियाँ किसी न किसी रूप में प्राचीन भारतीय समाज में सदैव अपना संमानित स्थान प्राप्त करती रही हैं। 'नारी प्रकाशो सर्वगम्या' कहकर वेश्याओं की ही स्तुति की गई है। 'पद्मपुराण' के अनुसार मंदिरों में नृत्य के लिये बालिकाएँ क्रय की जाती थी। ये नर्तकियाँ वेश्याओं से भिन्न नहीं थी। ऐसी मान्यता थी कि मंदिरों में नृत्य हेतु बालिकाएँ भेंटस्वरूप प्रदान करनेवाला स्वर्ग प्राप्त करता था। 'भविष्यपुराण' के अनुसार सूर्यलोकप्राप्ति का सर्वोत्तम साधन सूर्यमदिर में वेश्याओं का समूह भेंट करना माना जाता था। दशकुमारचरित, कालिदास की रचनाएँ, समयमातृका, दामोदर गुप्त का 'कुट्टनीमतं' आदि ग्रंथों में वारांगनाओं का अतिरंजित वर्णन मिलता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र ने इन्हे राजतंत्र का अविच्छिन्न अंग माना है तथा एक सहस्र पण वार्षिक शुल्क पर प्रधान गणिका की नियुक्ति का आदेश दिया है। महानिर्वाणतंत्र में तो तीर्थस्थानों में भी देवचक्र के समारंभ में शक्तिस्वरूपा वेश्याओं को सिद्धि के लिये आवश्यक माना है। वे राजवेश्या, नागरी, गुप्तवेश्या, ब्रह्मवेश्या तथा देववेश्या के रूप में पंचवेश्या हैं। स्पष्ट है कि समाज का कोई अंग एवं इतिहास का कोई काल इनसे विहीन नहीं था। इनके विकास का इतिहास समाजविकास का इतिहास है। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की सिद्धि मे ये सदैव उपस्थित रही हैं। वैदिक काल की अप्सराएँ और गणिकाएँ मध्ययुग में देवदासियाँ और नगरवधुएँ तथा मुसलिम काल में वारांगनाएँ और वेश्याएँ बन गईं। प्रारंभ में ये धर्म से संबद्ध थीं और चौसठों कलाओं मे निपुण मानी जाती थीं। मध्ययुग मे सामतवाद की प्रगति के साथ इनका पृथक् वर्ग बनता गया और कलाप्रियता के साथ कामवासना संबद्ध हो गई, पर यौनसंबंध सीमित और संयत था। कालांतर में नृत्यकला, संगीतकला एवं सीमित यौनसंबंध द्वारा जीविकोपार्जन में असमर्थ वेश्याओं को बाध्य होकर अपनी जीविका हेतु लज्जा तथा संकोच को त्याग कर अश्लीलता के उस स्तर पर उतरना पड़ा जहाँ पशुता प्रबल है।

वेश्यावृत्ति समाज के लिये एक अभिशाप है। अनेक वेश्यागामी अपना ऐश्वर्य, यौवन, पारिवारिक सुख और मानसिक शांति गँवा बैठते हैं। परिवार की संपत्ति शनै: शनै. वेश्या को समर्पित हो जाती है और परिवार के सदस्यों की क्षुधापूर्ति भी नही हो पाती। अभावों के मध्य उनका जीवन दुर्वह हो जाता है। ऐसे पुरुषों की पत्नियों को जीवन में तिल तिल कर जलना ही लिखा होता है। अनेक पत्नियाँ अपनी कामपिपासा शांत करने के लिये पर-पुरुष-गमन हेतु विवश होती हैं। शिशुओं के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास नही हो पाता। समाज की प्राथमिक इकाई परिवार के विघटन का दुष्प्रभाव सामाजिक संगठन पर पड़ता है। वेश्यागमन द्वारा रतिजरोगग्रस्त अनेक स्वैराचारियों का जीवन नरकतुल्य हो जाता है। रोगाणुओं के संक्रमण से, जनस्वास्थ्य पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है।

आधुनिक युग में स्त्रियों को वेश्यावृत्ति की ओर प्रेरित करनेवाले प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं —

आर्थिक कारण — अनेक स्त्रियाँ अपनी एवं आश्रितों की क्षुधा की ज्वाला शांत करने के लिये विवश हो इस वृत्ति को अपनाती हैं। जीविकोपार्जन के अन्य साधनों के अभाव तथा अन्य कार्यों के अत्यंत श्रमसाध्य एवं अल्पवैतनिक होने के कारण वेश्यावृत्ति की ओर आकर्षित होती हैं। धनीवर्ग द्वारा प्रस्तुत विलासिता, आत्मनिरति तथा छिछोरेपन के अन्यान्य उदाहरण भी प्रोत्साहन के कारण बनते हैं। कानपुर के एक अध्ययन के अनुसार लगभग ६५ प्रतिशत वेश्याएँ आर्थिक कारणवश इस वृत्ति को अपनाती हैं।

सामाजिक कारण—समाज ने अपनी मान्यताओं, रूढ़ियों और त्रुटिपूर्ण नीतियों द्वारा इस समस्या को और जटिल बना दिया है। विवाह संस्कार के कठोर नियम, दहेजप्रथा, विधवाविवाह पर प्रतिबंध, सामान्य चारित्रिक भूल के लिये सामाजिक बहिष्कार, अनमेल विवाह, तलाकप्रथा का अभाव आदि अनेक कारण इस घृणित वृत्ति को अपनाने मे सहायक होते हैं। इस वृत्ति को त्यागने के पश्चात् अन्य कोई विकल्प नहीं होता। ऐसी स्त्रियो के लिये समाज के द्वार सर्वदा के लिये बंद हो जाते हैं। वेश्याओं की कन्याएँ समाज द्वारा सर्वथा त्याज्य होने के कारण अपनी माँ की ही वृत्ति अपनाने के लिये बाध्य होती हैं। समाज मे स्त्रियों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा अधिक होने तथा शारीरिक, सामाजिक एवं आर्थिक रूप से बाधाग्रस्त होने के कारण अनेक पुरुषों के लिये विवाहसंबंध स्थापित करना संभव नही हो पाता। इनकी कामतृप्ति का एकमात्र स्थल वेश्यालय होता है। वेश्याएँ तथा स्त्रीव्यापार में संलग्न अनेक व्यक्ति भोली भाली बालिकाओं की विषम आर्थिक स्थिति का लाभ उठाकर तथा सुखमय भविष्य का प्रलोभन देकर उन्हें इस व्यवसाय में प्रविष्ट कराते हैं। चरित्रहीन माता, पिता अथवा साथियो का संपर्क, अश्लील साहित्य, वासनात्मक मनोविनोद और चलचित्रों में कामोत्तेजक प्रसंगो का बाहुल्य आदि वेश्यावृत्ति के पोषक प्रमाणित होते हैं।

मनोवैज्ञानिक कारण — वेश्यावृत्ति का एक प्रमुख आधार मनोवैज्ञानिक है। कतिपय स्त्रीपुरुषों में कामज प्रवृत्ति इतनी प्रबल होती है कि इसकी तृप्ति मात्र वैवाहिक संबंध द्वारा संभव नहीं होती। उनकी कामवासना की स्वतंत्र प्रवृत्ति उन्मुक्त यौनसंबंध द्वारा पुष्ट होती है। विवाहित पुरुषों के वेश्यागमन तथा विवाहित स्त्रियों के विवाहेतर संबंध मे यही प्रवृत्ति क्रियाशील रहती है।

वेश्यावृत्ति समाज में व्याप्त एक आवश्यक बुराई है। इसे समाप्त करने के सभी प्रयास अब तक निष्फल गए हैं। समाजसुधारकों ने इस वृत्ति को सदैव हेय दृष्टि से देखा है, लेकिन वे इसे इस भय से सहन करते आए हैं कि इसके मूलोच्छेद से अनैतिकता में और अधिक वृद्धि होगी। सोवियत संघ और ब्रिटेन की सरकारें वेश्यावृत्ति को समाप्त करने में विफल रहीं। उन्मूलन के दुष्परिणामों को दृष्टिगत कर उन्हें अपनी नीति परिवर्तित करनी पड़ी। राजकीय नियंत्रण वेश्याओं की नियमित स्वास्थ्यपरीक्षा आदि कतिपय व्यवस्थाएँ कर संतोष करना पड़ा। लगभग ऐसे ही नियम अन्य यूरोपीय देशों में भी हैं।

भारतवर्ष में वैवाहिक संबंध के बाहर यौनसंबंध अच्छा नहीं

भगवान शंकर

(देखे परिशिष्ट पृष्ठ ४३७)

समझा जाता है। वेश्यावृत्ति भी इसके अंतर्गत है। लेकिन दो वयस्कों के यौनसंबंध को, यदि वह जनशिष्टाचार के विपरीत न हो, कानून व्यक्तिगत मानता है, जो दंडनीय नहीं है। 'भारतीय दंड-विधान' १८६० से 'वेश्यावृत्ति उन्मूलन विधेयक' १९५६ तक सभी कानून सामान्यतया वेश्यालयों के कार्यव्यापार को संयत एवं नियंत्रित रखने तक ही प्रभावी रहे हैं। वेश्यावृत्ति का उन्मूलन सरल नहीं है, पर ऐसे सभी संभव प्रयास किए जाने चाहिए जिससे इस व्यवसाय को प्रोत्साहन न मिले, समाज की नैतिकता का ह्रास न हो और जनस्वास्थ्य पर रतिज रोगों का दुष्प्रभाव न पड़े। कानून स्त्रीव्यापार में संलग्न अपराधियों को कठोरतम दंड देने में सक्षम हो। यह समस्या समाज की है। समाज समय की गति को पहचाने और अपनी उन मान्यताओं और रूढ़ियों का परित्याग करे, जो वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन प्रदान करती हैं। समाज के अपेक्षित योगदान के अभाव में इस समस्या का समाधान संभव नहीं है।

सं० ग्रं० — मनुस्मृति, वात्स्यायन कामसूत्र; कौटिल्य अर्थशास्त्र; दामोदर गुप्त : कुट्टनीमतं; महानिर्वाण तंत्र; कालिदास : मेघदूत; दशकुमारचरित; जोहान जैकब मेयर : सेक्सुअल लाइफ इन एंशेंट इंडिया; विद्याधर अग्निहोत्री : फालेन वीमेन; हैवलाक एलिस : स्टडीज इन दि साइकालाजी ऑव सेक्स; जी० एम० हाल : प्रॉस्टीच्यूट — ए सर्वे ऐंड ए चैलेंज; लीग ऑव नेशंस — रिपोर्ट आन दि ट्रैफिक इन वीमेन ऐंड चिल्ड्रेन, भाग १ एवं २; फ्लेक्सनर : प्रास्टिच्यूशन इन यूरोप; सैंजर : हिस्ट्री ऑव प्रास्टीच्यूशन; रिपोर्ट्स ऑव दी इंटरनेशनल कांफ्रेंस ऑन ट्रैफिक इन वीमेन ऐंड चिल्ड्रेन (जेनेवा, १९२१); रिपोर्ट ऑव एक्स्पर्ट्स ऑन ट्रैफिक इन वीमेन ऐंड चिल्ड्रेन (जेनेवा १९२७)।

[ला० ब० पा०]

शंकर या शिव हिंदुओं के एक प्रसिद्ध देव जो सृष्टि का संहार करनेवाले और पौराणिक त्रिमूर्ति के अंतिम देव कहे गए हैं। वैदिक काल में यही रुद्र के रूप में पूजे जाते थे; पर पौराणिक काल में ये शंकर, महादेव और शिव आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। पुराणानुसार इनका रूप इस प्रकार है—सिर पर गंगा, माथे पर चंद्रमा तथा तीसरा नेत्र, गले में साँप तथा नरमुंडों की माला, सारे शरीर में भस्म, व्याघ्रचर्म ओढ़े हुए और बाएँ अंग में अपनी स्त्री पार्वती को लिए हुए। इनके पुत्र गणेश तथा कार्तिकेय, गण भूत और प्रेत, प्रधान अस्त्र त्रिशूल और वाहन बैल है, जो नंदी कहलाता है। इनके धनुष का नाम पिनाक है जिसे धारण करने के कारण यह पिनाकी भी कहे जाते हैं। इनके पास पाशुपत नामक एक प्रसिद्ध अस्त्र था, जो इन्होंने अर्जुन को उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर दे दिया था। पुराणों में इनके संबंध में बहुत सी कथाएँ हैं। यह कामदेव का दहन करनेवाले माने जाते हैं। समुद्रमंथन के समय जो विष निकला था, वह इन्होंने पान किया था। वह विष इन्होंने अपने गले में ही रखा और नीचे अपने पेट में नहीं उतारा इसलिये इनका गला नीला हो गया और यह नीलकंठ कहलाने लगे। परशुराम ने अस्त्रविद्या की शिक्षा इन्हीं से पाई थी। संगीत, नृत्य तथा अभिनय के भी यह प्रधान आचार्य और परम तपस्वी तथा योगी माने जाते हैं। इनके नाम से एक पुराण भी है जो शिवपुराण कहलाता है। इनके उपासक "शैव" कहलाते हैं। इनका निवासस्थान कैलास माना जाता है।

[वि० मि०]

शंकराचार्य अद्वैत मत के प्रवर्तक प्रसिद्ध शैव आचार्य जिनका जन्म सन् ७८८ ई० में केरल देश में कालपी अथवा काषल नामक ग्राम में हुआ था; और जो ३२ वर्ष की अल्प आयु में सन् ८२० ई० में केदारनाथ के समीप स्वर्गवासी हुए थे। इनके पिता का नाम शिवगुरु और माता का नाम सुभद्रा था। बहुत दिन तक सपत्नीक शिव की आराधना करने के अनंतर शिवगुरु ने पुत्ररत्न पाया था, अतः उसका नाम शंकर रखा। जब ये तीन ही वर्ष के थे तब इनके पिता का देहांत हो गया। ये बड़े ही मेधावी तथा प्रतिभाशाली थे। छह वर्ष की अवस्था में ही ये प्रकांड पंडित हो गए थे और आठ वर्ष की अवस्था में इन्होंने संन्यास ग्रहण किया था। इनके संन्यास ग्रहण करने के समय की कथा बड़ी विचित्र है। कहते हैं, माता एकमात्र पुत्र को सन्यासी बनने की आज्ञा नहीं देती थी। एक दिन जब शंकर अपनी माता के साथ किसी आत्मीय के यहाँ से लौट रहे थे, तब नदी पार करने के लिये वे उसमें घुसे। गले भर पानी में पहुँचकर इन्होंने माता को सन्यास ग्रहण करने की आज्ञा न देने पर डूब मरने की धमकी दी। इससे भयभीत होकर माता ने तुरंत इन्हें संन्यासी होने की आज्ञा प्रदान की और इन्होंने गोविंद स्वामी से संन्यास ग्रहण किया। इन्होंने ब्रह्मसूत्रों की बड़ी ही विशद और रोचक व्याख्या की है। पहले ये कुछ दिनों तक काशी में रहे, और तब इन्होंने विजिलबिंदु के तालवन में मंडन मिश्र को सपत्नीक शास्त्रार्थ में परास्त किया। इन्होंने समस्त भारतवर्ष में भ्रमण करके बौद्ध धर्म को मिथ्या प्रमाणित किया तथा वैदिक धर्म को पुनरुज्जीवित किया। उपनिषदों और वेदांतसूत्रों पर लिखी हुई इनकी टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने भारतवर्ष में चार मठों की स्थापना की थी जो अभी तक बहुत प्रसिद्ध और पवित्र माने जाते हैं और जिनके प्रबंधक तथा गद्दी के अधिकारी शंकराचार्य कहे जाते हैं। वे चारों स्थान निम्नलिखित हैं —

(१) बदरिकाश्रम, (२) करवीर पीठ, (३) द्वारिका पीठ और (४) शारदा पीठ। इन्होंने अनेक विधर्मियों को भी अपने धर्म में दीक्षित किया था। ये शंकर के अवतार माने जाते हैं। [वि० मि०]

शक प्राचीन काल में मध्य एशिया की एक निराश्रय जनजाति, जो यूहेची जनजाति के दबाव के कारण भारत की ओर अग्रसर हुई। भारत के पश्चिमोत्तर भाग कपिशा और गांधार में यवनों के कारण ठहर न सके और बोलन घाटी पार कर भारत में प्रविष्ट हुए। तत्पश्चात् उन्होंने पुष्कलावती एवं तक्षशिला पर अधिकार कर लिया और वहाँ से यवन हट गए। ७२ ई० पू० शकों का प्रतापी नेता मोग्रस उत्तर पश्चिमांत के प्रदेशों का शासक था। उसने महाराजाधिराज महाराज की उपाधि धारण की जो उसकी मुद्राओं पर अंकित है। उसी ने अपने अधीन क्षत्रपों की नियुक्ति की जो तक्षशिला, मथुरा, महाराष्ट्र और उज्जैन में शासन करते थे। कालांतर में ये स्वतंत्र हो गए। शक विदेशी समझे जाते थे

यद्यपि उन्होंने शैव मत को स्वीकार कर लिया था। मालव जन ने विक्रमादित्य के नेतृत्व में मालवा से शकों का राज्य समाप्त कर दिया और इस विजय के स्मारक रूप में विक्रम संवत् का प्रचलन किया जो आज भी हिंदुओं के धार्मिक कार्यों में व्यवहृत है। शकों के अन्य राज्यों को शकारि विक्रमादित्य गुप्तवंश के चंद्रगुप्त द्वितीय ने समाप्त करके एकच्छत्र राज्य स्थापित किया। शकों को भी अन्य विदेशी जातियों की भाँति भारतीय समाज ने आत्मसात् कर लिया। शकों की प्रारंभिक विजयों का स्मारक शक संवत् आज तक प्रचलित है। [रा०]

शक्ति ईश्वर की वह कल्पित माया है जो उसकी आज्ञा से सब काम करनेवाली और सृष्टिरचना करनेवाली मानी जाती है। यह अनंतरूपा और अनंतसामर्थ्यसंपन्ना कही गई है। यही शक्ति जगत्-रूप में व्यक्त होती है और प्रलयकाल में समग्र चराचर जगत् को अपने में विलीन करके अव्यक्तरूपेण स्थित रहती है। यह जगत् वस्तुत. उसकी व्यवस्था का ही नाम है। गीता में वर्णित योगमाया यही शक्ति है जो व्यक्त और अव्यक्त रूप में है। कृष्ण 'योगमाया-मुपाश्रितः' होकर ही अपनी लीला करते हैं। राधा उनकी आह्लादिनी शक्ति है। शिव शक्तिहीन होकर कुछ नहीं कर सकते। शक्तियुक्त शिव ही सब कुछ करने में, न करने में, अन्यथा करने में समर्थ होते हैं। इस तरह भारतीय दर्शनों में किसी न किसी नाम रूप से इसकी चर्चा है। पुराणों में विभिन्न देवताओं की विभिन्न शक्तियों की कल्पना की गई है। इन शक्तियों को बहुधा देवी के रूप में और मूर्तिमती माना गया है। जैसे, विष्णु की कीर्ति, कांति, तुष्टि, पुष्टि आदि; रुद्र की गुणोदरी, गोमुखी, दीर्घजिह्वा, ज्वालामुखी आदि। मार्कंडेयपुराण के अनुसार समस्त देवताओं की तेजोराशि देवी शक्ति के रूप में कही गई है जिसकी शक्ति वैष्णवी, माहेश्वरी, ब्रह्माणी, कौमारी, नारसिंही, इंद्राणी, वाराही आदि हैं। उन उन देवों के स्वरूप और गुणादि से युक्त इनका वर्णन प्राप्त होता है।

तंत्र के अनुसार किसी पीठ की अधिष्ठात्री देवी शक्ति के रूप में कही गई है, जिसकी उपासना की जाती है। इसके उपासक शाक्त कहे जाते हैं। यह शक्ति भी सृष्टि की रचना करनेवाली और पूर्ण सामर्थ्यसंपन्न कही गई है। बौद्ध, जैन आदि संप्रदायों के तंत्र-शास्त्रों में शक्ति की कल्पना की गई है, इन्हें बोद्धाभार्या भी कहा गया है। तांत्रिकों की परिभाषा में युवती, रूपवती, सौभाग्यवती विभिन्न जाति की स्त्रियों को भी इस नाम से कहा गया है और विधिपूर्वक इनका पूजन सिद्धिप्रद माना गया है।

प्रभु, मंत्र और उत्साह नाम से राजाओं की तीन शक्तियाँ कही गई हैं। कोश और दंड आदि से संबंधित शक्ति प्रभुशक्ति, संधि-विग्रह आदि से संबंधित मंत्रशक्ति और विजय प्राप्त करने संबंधी शक्ति को उत्साहशक्ति कहा गया। राज्यशासन की सुदृढ़ता के निमित्त इनका होना आवश्यक कहा गया है।

शब्द के अंतर्निहित अर्थ को व्यक्त करने का व्यापार शब्दशक्ति नाम से अभिहित है। ये व्यापार तीन कहे गए हैं — अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। आचार्यों ने इसे शक्ति और वृत्ति नाम से कहा है। घट के निर्माण में मिट्टी, चक्र, दंड, कुलाल आदि कारण हैं और चक्र का घूमना शक्ति या व्यापार है जिससे घड़ा बनता है, इसी तरह अर्थबोध कराने में शब्द कारण है और अभिधा, लक्षणा आदि व्यापार शक्तियाँ हैं। मम्मट ने व्यापार शब्द का प्रयोग किया है तो विश्वनाथ ने शक्ति का। 'शक्ति' में ईश्वरेच्छा के रूप में शब्द के निश्चित अर्थ के संकेत को माना गया है। यह प्राचीन तर्कशास्त्रियों का मत है। बाद में 'इच्छा मात्र' को 'शक्ति' माना गया, अर्थात् मनुष्य की इच्छा से भी शब्दों के अर्थसंकेत की परंपरा को माना। 'तर्कदीपिका' में शक्ति को शब्द अर्थ के उस संबंध के रूप में स्वीकार किया गया है जो मानस में अर्थ को व्यक्त करता है। [वि० मि०]

शशांक बंगाल का हिंदू राजा जिसने सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में बंगाल पर शासन किया। मालवा के राजा देवगुप्त से दुरभि-संधि करके हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री के पति कन्नौज के मौखरी राजा ग्रहवर्मन को मारा। तदनंतर राज्यवर्धन को धोखे से मारकर अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न किया। पर जब राज्यवर्धन के कनिष्ठ भ्राता ने उसका पीछा किया तो वह बंगाल भाग गया।

अंतिम गुप्त सम्राटों की दुर्बलता के कारण जो स्वतंत्र राज्य हुए उनमें गौड़ या उत्तरी बंगाल भी था। जब महासेन गुप्त सम्राट् हुआ तो उसकी दुर्बलता से लाभ उठाकर शशांक ने गौड़ में स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। उस समय शशांक महासेन गुप्त का सेनापति था। उसने कर्णसुवर्ण को अपनी राजधानी बनाई। आजकल कर्णसुवर्ण के अवशेष मुर्शिदाबाद जिले के रंगामाटी नामक स्थान में पाए गए हैं। शशांक बंगाल का पहला महान् राजा था। शशांक के जीवन के विषय में निश्चित रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि वह महासेन गुप्त का सेनापति नरेंद्रगुप्त था—महासामंत और शशांक उसकी उपाधियाँ हैं। उसने समस्त बंगाल और बिहार को जीत लिया तथा समस्त उत्तरी भारत पर विजय करने की योजना बनाई।

शशांक हिंदू धर्म को मानता था और बौद्ध धर्म का कट्टर शत्रु था। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि शशांक के बाद बंगाल और बिहार में पालवंशीय राजाओं ने प्रजा की संमति से नया राज्य स्थापित किया और बौद्ध धर्म को एक बार फिर आश्रय मिला। 'शशांक' पर प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्व० राखालदास बंद्योपाध्याय ने एक बड़ा ऐतिहासिक उपन्यास लिखा है। [रा०]

शास्त्री, सत्यनारायण आधुनिक आयुर्वेदजगत् के प्रख्यात पंडित और चिकित्साशास्त्री। आयुर्वेद की धवल परंपरा को सजीव बनाए रखने के लिये आपने जीवन भर कार्य किया। जन्म सन् १८८७ ई० (संवत् १९४४ की माघ कृष्ण गणेश चतुर्थी) को ननिहाल, काशी के भगतलकुंआ मुहल्ले, में हुआ था। ८ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने भाषा, गणित आदि विषयों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। महामहोपाध्याय पं० गंगाधर शास्त्री तथा महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री से आपने साहित्य, न्याय, विविध दर्शनों तथा अन्य विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया था। आपने ज्योतिर्विद् जयमंगल ज्योतिषी

से ज्योतिष का, योगिराज शिवदयाल शास्त्री से योग, वेदांग एवं तंत्र तथा कविराज नर्मदास से आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी।

१९२५ ई० में ये काशी हिंदू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद महाविद्यालय के प्राध्यापक नियुक्त हुए और १९३८ ई० में इसके प्रिंसिपल हो गए। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में आयुर्वेद विभाग खुलने पर वहाँ संमानित विभागाध्यक्ष और बाद में प्राचार्य नियुक्त हुए।

सन् १९५० ई० में भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्रप्रसाद ने आपको अपना निजी चिकित्सक नियुक्त किया और उनकी मृत्यु तक उनके निजी चिकित्सक रहे। इस रूप में भी आपने आयुर्वेद-जगत् का गौरववर्धन किया।

ये अखिल भारतीय सरयूपारीण पंडित परिषद् और काशी-शास्त्रार्थ-महासभा के अध्यक्ष, काशी विद्वत्परिषद् और विद्वत्प्रतिनिधि-सभा के संरक्षक भी थे। ये वाराणसेय शास्त्रार्थ महाविद्यालय के स्थायी अध्यक्ष और अर्जुन दर्शनानंद आयुर्वेद महाविद्यालय, वाराणसी के संस्थापक भी थे। १९३८ ई० में ये हिंदू विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में भारतीय चिकित्सा परिषद् के सदस्य चुने गए थे।

काशी की परंपरा के अनुसार प्रारंभ से ही शास्त्री जी गरीब तथा असहाय विद्यार्थियों को सहायता देकर घर पर ही उन्हें विद्यादान देते रहे।

सन् १९५५ ई० में 'पद्मभूषण' के अलंकरण से आपको विभूषित किया गया। आपको यह उपाधि भारत सरकार द्वारा संस्कृत और आयुर्वेद के प्रति की गई सेवाओं के लिये प्रदान की गई। किंतु १९६७ ई० में हिंदी आंदोलन के समय जब नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ने हिंदीसेवी विद्वानों से सरकारी अलंकरण के त्याग का अनुरोध किया तब आपने भी अलंकरण का त्याग कर दिया। नाड़ीज्ञान तथा रोगनिदान के आप अन्यतम आचार्य थे। रोगी की नाड़ी देखकर रोग और उसके स्वरूप का सटीक निदान तत्काल कर देना आपकी सबसे बड़ी विशेषता रही।

२३ सितंबर, १९६९, मंगलवार को ८२ वर्ष की आयु में अगस्त-कुंडा स्थित निवासस्थान पर शास्त्री जी का देहांत हो गया। मृत्यु के कुछ देर पूर्व उन्होंने कहा—'अब त्रयोदशी हो गई, अच्छा मुहूर्त आ गया है।' आपने पद्मासन लगाकर बैठने की कोशिश की किंतु वह संभव न हो पाने के कारण आपने प्राणायाम किया और कुछ श्लोकों का उच्चारण करते हुए प्राण त्याग दिए। [रा०]

शिवाजी भोंसले ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में स्वतंत्र मराठा राज्य के संस्थापक। शिवनेर दुर्ग में अप्रैल, १६२७ ई०, अथवा (जेधेयांची शकावली के अनुसार) फरवरी, १६३० ई० में जन्म लिया। पूना जिले में चालीस हजार हून की वार्षिक आयवाली पैतृक जागीर थी। वहीं माता जीजाबाई और गुरु दादाजी कोंडदेव के संरक्षण में बाल्यावस्था बीती। पिता, शाहजी भोंसले, पहले निजामशाही और बाद में आदिलशाही राज्य के उच्च पदाधिकारी थे। शिवाजी ने १६४५ में 'हिंदवी स्वराज्य' की स्थापना का व्रत लिया और आगामी वर्ष में तोरण दुर्ग पर अधिकार कर लिया। १६४७ में कोंडदेवजी परलोक सिधारे। अगले वर्ष शाहजी जिंजी दुर्ग में बंदी बनाए गए। मुगल साम्राट् शाहजहाँ का पाँच हजारी मंसबदार बनना स्वीकार कर शिवाजी ने अपने पिता को मुक्त करा लिया। १६५६ में जावली तथा अन्य दुर्ग जीतकर इन्होंने अपने राज्य को दुगुना कर लिया। १६५९ में बीजापुरी सेनापति अफजलखाँ को मारकर उसकी सेना को खदेड़ दिया। १६६३ में पूना में ठहरे हुए मुगल सेनापति शायस्ता खाँ पर रात में एकाएक आक्रमण कर उसे क्षति पहुँचाई। अगले वर्ष सूरत शहर को लूटा। उसी वर्ष शाहजी का देहांत हुआ।

मुगल साम्राट् औरंगजेब ने शिवाजी के दमनार्थ १६६५ में राजा जयसिंह को दक्षिण भेजा। शत्रु के सैन्यबल के विरुद्ध सफल होने की संभावना न देखकर शिवाजी ने पुरंदर नामक स्थान पर संधि कर ली। उक्त संधि के अनुसार चार लाख हून की वार्षिक आयवाले तेईस दुर्ग मुगलों को दे दिए गए और दक्षिण में मुगल सेना के सहायतार्थ पाँच हजार मराठा अश्वारोही सैनिक भेजने का वचन भी दिया गया। वचनबद्ध होने के कारण शिवाजी ने बीजापुर के विरुद्ध मुगलों को सहायता दी।

राजा जयसिंह की प्रेरणा से १६६६ में शिवाजी आगरा में औरंगजेब के दरबार में उपस्थित हुए। वहाँ यथोचित सम्मान के अभाव पर क्षोभ प्रकट करने के कारण उन्हें तीन मास कड़ी देखरेख में बिताने पड़े। तदुपरांत पूर्वनिश्चित योजनानुसार रात में वे आगरा से निकल भागे और मथुरा, इलाहाबाद, बनारस, गया आदि शहरों से होते हुए राजगढ़ पहुँच गए। आगामी तीन वर्ष शिवाजी ने शासन-संगठन में बिताए और राजा जसवंत सिंह एवं शाहजादा शाहआलम की मध्यस्थता से मुगलों से मैत्री संबंध बनाए रखा। तत्पश्चात् एक एक करके उन किलों को हस्तगत करना प्रारंभ किया जो पुरंदर की संधि के अनुसार मुगलों को दिए गए थे। १६७० में सूरत शहर को दुबारा लूटा। १६७४ में शिवाजी ने रायगढ में छत्रपति की उपाधि धारण की। जब दक्षिण से मुगल सैनिक उत्तर पश्चिम सीमांत प्रदेश की ओर भेज दिए गए तो सुअवसर पाकर १६७७ में शिवाजी ने कर्णाटक तथा मैसूर पठार के अभियानों में इतने दुर्ग लिए कि उनकी वार्षिक आय में लगभग बीस लाख हून की वृद्धि हो गई।

राज्यविस्तार के साथ साथ शिवाजी ने शासनव्यवस्था पर भी समुचित ध्यान दिया। असैनिक झगड़ों का निपटारा पंचायतों द्वारा किया जाता था। राजस्व के रूप में भूमि की उपज का २/५ लिया जाता था। लगान वसूली के लिये राज्य के कर्मचारी नियुक्त थे। मुगलई प्रदेशों से चौथ एवं सरदेशमुखी उगाहने का विधान था। परामर्शदात्री अष्टप्रधान परिषद् में पेशवा का स्थान सर्वोपरि था। आयव्यय का निरीक्षण अमात्य के सुपुर्द था। राज्य की प्रमुख घटनाओं को लिपिबद्ध करना मंत्री का काम था। गृहमंत्री का कार्य सचिव करता था। परराष्ट्रमंत्री सुमंत कहलाता था। धार्मिक विषय पंडितराव के अधीन थे। न्याय विभाग का कार्य न्यायाधीश की देखरेख में होता था।

सैनिक संगठन सुव्यवस्थित तथा अनुशासन कठोर था। दस पदातिकों पर एक नायक, पाँच नायकों पर एक हवलदार, दो या तीन हवलदारों पर एक जुमलादार और दस जुमलादारों पर एक-हजारी होता था। पदाति सेना में सातहजारी और उनके ऊपर सेनापति या सर-ए-नौबत होता था। अश्वारोहियों में 'बारगीर' को राज्य की ओर से घोड़े मिलते थे जबकि 'सिलाहदार' को अपने घोड़े लाने पड़ते थे। एक हवलदार के अधीन पचीस अश्वारोही, एक जुमलादार के नीचे पाँच हवलदार और एक हजारी के अधीन दस जुमलादार होते थे। पाँच हजारी पूरे रिसाले के सेनापति के अधीन होते थे। प्रत्येक दुर्ग में एक हवलदार, एक सबनिस (वेतनवितरक) तथा एक सर-ए-नौबत रहता था। मराठा सेना में सिद्दी संबल, सिद्दी हलाल, दौलतखाँ, नूरखाँ आदि मुसलमान अधिकारी भी नियुक्त थे। कोलाबा में नौसेना की व्यवस्था की गई थी। वेतन नकद दिया जाता था।

शिवाजी के विरोधियों ने भी उनकी प्रशंसा की है। हिंदू धर्म एवं संस्कृति के स्तंभ एवं संरक्षक होते हुए भी अन्य धर्मावलंबियों के प्रति उनकी नीति सहिष्णुतापूर्ण एवं उदार थी। किलोशी के मुसलमान बाबा याकूत का भरण पोषण शिवाजी द्वारा ही किया जाता था। लूट के माल में मिले 'कुरानशरीफ' को किसी मौलवी के सुपुर्द कर दिया जाता था। राज्य की ओर से केवल मंदिरों को ही नहीं बल्कि मस्जिदों को भी दान दिया जाता था। युद्ध में पकड़े गए बच्चों एवं स्त्रियों पर किसी भी प्रकार का अनाचार वर्जित था। शिवाजी बड़ी सूझबूझवाले, प्रजाहितैषी, चतुर, प्रतिभावान्, सहृदय व्यक्ति एवं दक्ष सैनिक थे। वे विद्वानों के आश्रयदाता भी थे। अप्रैल, १६८० में उनका स्वर्गवास हुआ।

सं० ग्रं० — [अंग्रेजी में] जे० सरकार : शिवाजी ऐंड हिज़ टाइम्ज; जी० एस० सरदेसाई : द मेन करेंट्स ऑव मराठा हिस्टरी; एस० एन० सेन : द ऐड्मिनिस्ट्रेटिव सिस्टम ऑव द मराठाज़; के० ए० एन० शास्त्री : हिस्टरी ऑव इंडिया, पार्ट टू); सर वुल्जली हेग ऐंड सर रिचर्ड बर्टन: कैंब्रिज हिस्टरी ऑव इंडिया (वॉल्यूम फोर); एम० जी० रानाडे : राइज ऑव द मराठा पावर।

[हिंदी में]—डा० ईश्वरीप्रसाद : भारत का इतिहास (भाग २); गो० स० सरदेसाई : शालोपयोगी भारतवर्ष (खंड १); जयचंद्र विद्यालंकार : इतिहासप्रवेश। [जं० सिं०]

शेषनाग (१) भगवान् की सर्पवत् आकृतिविशेष। इनका आख्यान विभिन्न पुराणों में मिलता है। कालिकापुराण में कहा गया है कि प्रलयकाल आने पर जब सारी सृष्टि नष्ट हो जाती है तब भगवान् विष्णु अपनी प्रिया लक्ष्मी के साथ इनके ऊपर शयन करते हैं और उनके ऊपर वे अपनी फणाओं की छाया किए रहते हैं। इनका पूर्व फण कमल को ढके रहता है, उत्तर का फण भगवान् के सिरोभाग का और दक्षिण फण चरणों का आच्छादन किए रहता है। प्रतीची का फण भगवान् विष्णु के लिये व्यंजन का कार्य करता है। इनके ईशान कोण के फण शंख, चक्र, नंद, खड्ग, गरुड़ और युग तूणीर धारण करते हैं तथा आग्नेय कोण के फण गदा, पद्म आदि धारण करते हैं। सारी सृष्टि के विनाश के पश्चात् भी ये बचे रहते हैं, इसीलिये इनका नाम 'शेष' है। सर्पाकार होने से इनके नाम से 'नाग' विशेषण जुड़ा हुआ है।

पुराणों में इन्हें सहस्रशीर्ष या सौ फणवाला कहा गया है। इनके एक फण पर सारी वसुंधरा अवस्थित कही गई है। ये सारी पृथ्वी को धूलि के कण की भाँति एक फण पर सरलतापूर्वक लिए रहते हैं। पृथ्वी का भार अत्याचारियों के कारण जब बहुत प्रवर्धित हो जाता है तब इन्हें अवतार भी धारण करना पड़ता है। लक्ष्मण और बलराम इनके अवतार कहे गए हैं। इनका कहीं अंत नहीं है इसीलिये इन्हें 'अनंत' भी कहा गया है। गोस्वामी तुलसीदास ने लक्ष्मण की वंदना करते हुए उन्हें शेषावतार कहा है :

> बंदौं लछिमन पद जलजाता। सीतल सुभग भगत सुखदाता।।
> रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जस जाका।।
> सेष सहस्रसीस जगकारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन।।
> —बालकांड, १७।३,४

रात्रि के समय आकाश में जो वक्राकृति आकाशगंगा दिखाई पड़ती है और जो क्रमश: दिशा परिवर्तन करती रहती है, वह निखिल ब्रह्मांडों को अपने में समेटे हुए है। उसकी अनेक शाखाएँ दिखाई पड़ती हैं। वह सर्पाकृति होती है। इसी को शेषनाग कहा गया है। पुराणों तथा काव्यों में शेष का वर्ण श्वेत कहा गया है। आकाश-गंगा श्वेत होती ही है। यह 'ॐ' की आकृति में विश्व ब्रह्मांड को घेरती है। 'ॐ' को ब्रह्म कहा गया है। वही शेषनाग है।

(२) व्याकरणशास्त्र के महाभाष्यकार पतंजलि शेषावतार कहे जाते हैं।

(३) 'परमार्थसार' नामक संस्कृत ग्रंथ के रचयिता।

[ला० त्रि० प्र०]

संतसाहित्य 'संत' शब्द संस्कृत 'सत्' के प्रथमा का बहुवचनांत रूप है, जिसका अर्थ होता है सज्जन और धार्मिक व्यक्ति। हिंदी में साधु पुरुषों के लिये यह शब्द व्यवहार में आया। कबीर, सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास आदि पुराने कवियों ने इस शब्द का व्यवहार साधु और परोपकारी पुरुष के अर्थ में बहुश: किया है और उसके लक्षण भी दिए हैं। यह आवश्यक नहीं कि संत उसे ही कहा जाय जो निर्गुण ब्रह्म का उपासक हो। इसके अंतर्गत लोकमंगलविधायी सभी सत्पुरुष आ जाते हैं, किंतु आधुनिक कतिपय साहित्यकारों ने निर्गुणिए भक्तों को ही 'संत' की अभिधा दे दी और अब यह शब्द उसी अर्थ में चल पड़ा है। अत: 'संतसाहित्य' का अर्थ हुआ, वह साहित्य जो निर्गुणिए भक्तों द्वारा रचा जाय।

लोकोपकारी संत के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह शास्त्रज्ञ तथा भाषाविद् हो। उसका लोकहितकर कार्य ही उसके संतत्व का मानदंड होता है। हिंदी साहित्यकारों में जो 'निर्गुणिए संत' हुए उनमें अधिकांश अपढ़ किंवा अल्पशिक्षित ही थे। शास्त्रीय ज्ञान का आधार न होने के कारण ऐसे लोग अपने अनुभव की ही बातें कहने को बाध्य थे। अत: इनके सीमित अनुभव में बहुत सी ऐसी बातें हो सकती हैं, जो शास्त्रों के प्रतिकूल ठहरें। अल्पशिक्षित होने के कारण

इन संतों ने विषय को ही महत्व दिया है, भाषा को नहीं। इनकी भाषा प्रायः अनगढ़ और पँचरंगी हो गई है। काव्य में भावों की प्रधानता को यदि महत्व दिया जाय तो सच्ची और खरी अनुभूतियों की सहज एवं साधारणीकृत अभिव्यक्ति के कारण इन संतों में कइयों की बहुतेरी रचनाएँ उत्तम कोटि के काव्य में स्थान पाने की अधिकारिणी मानी जा सकती हैं। परंपरापोषित प्रत्येक बात का आँख मूँदकर ये समर्थन नहीं करते। इनके चिंतन का आधार सर्वमानववाद है। ये मानव मानव में किसी प्रकार का अंतर नहीं मानते। इनका कहना है कि कोई भी व्यक्ति अपने कुलविशेष के कारण किसी प्रकार का वैशिष्ट्य लिए हुए उत्पन्न नहीं होता। इनको दृष्टि में वैशिष्ट्य दो बातों को लेकर मानना चाहिए: अभिमानत्यागपूर्वक परोपकार या लोकसेवा तथा ईश्वरभक्ति। इस प्रकार स्वतंत्र चिंतन के क्षेत्र में इन संतों ने एक प्रकार की वैचारिक क्रांति को जन्म दिया।

इतिहास—निर्गुणिए संतों की वाणी मानवकल्याण की दृष्टि से जिस प्रकार के धार्मिक विचारों एवं अनुभूतियों का प्रकाशन करती है वैसे विचारों एवं अनुभूतियों को पुरानी हिंदी में बहुत पहले से स्थान मिलने लगा था। विक्रम की नवीं शताब्दी में बौद्ध सिद्धों ने जो रचनाएँ प्रस्तुत की उनमें वज्रयान तथा सहजयान संबंधी सांप्रदायिक विचारों एवं साधनाओं के उपन्यसन के साथ साथ अन्य संप्रदाय के विचारों का प्रत्याख्यान बराबर मिलता है। उसके अनंतर नाथपंथी योगियों तथा जैन मुनियों की जो बानियाँ मिलती हैं, उनमें भी यही भावना काम करती दिखाई पड़ती है। बौद्धों में परमात्मा या ईश्वर को स्थान प्राप्त न था, नाथपंथियों ने अपने वचनों में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की। इन सभी रचनाओं में नीति को प्रमुख स्थान प्राप्त है। ये जगह जगह लोक को उपदेश देते हुए दिखाई पड़ते हैं। पुरानी हिंदी के बाद जब हिंदी का विकास हुआ तब उसपर भी पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव अनिवार्यतः पड़ा। इसीलिये हिंदी के आदिकाल के दोहों में जो रचनाएँ मिलती हैं उनमें से अधिकांश उपदेशपरक एवं नीतिपरक हैं। उन दोहों में कतिपय ऐसे भी हैं जिनमें काव्य की आत्मा झलकती सी दिखाई पड़ जाती है। किंतु इतने से ही उसे काव्य नहीं कहा जा सकता।

पंद्रहवीं शती विक्रमी के उत्तरार्ध से संतपरंपरा का उद्भव मानना चाहिए। इन संतों की बानियों में विचारस्वातंत्र्य का स्वर प्रमुख रहा। वैष्णव धर्म के प्रधान आचार्य रामानुज, निंबार्क तथा मध्व विक्रम की बारहवीं एवं तेरहवीं शती में हुए। इनके माध्यम से भक्ति की एक वेगवती धारा का उद्भव हुआ। इन आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी पर जो भाष्य प्रस्तुत किए, भक्ति के विकास में उनका प्रमुख योग है। गोरखनाथ के चमत्कारप्रधान योगमार्ग के प्रचार से भक्ति के मार्ग में कुछ बाधा अवश्य उपस्थित हुई थी, जिसकी ओर गोस्वामी तुलसीदास ने संकेत भी किया है :

"गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग।"

तथापि वह उत्तरोत्तर विकसित होती गई। उसी के परिणाम-स्वरूप उत्कल में संत जयदेव, महाराष्ट्र में वारकरी संप्रदाय के प्रसिद्ध संत नामदेव तथा ज्ञानदेव, पश्चिम में संत सधना तथा वेनी और कश्मीर में संत लालदेव का उद्भव हुआ। इन संतों के बाद प्रसिद्ध संत रामानंद का प्रादुर्भाव हुआ, जिनकी शिक्षाओं का जन-समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। यह इतिहाससिद्ध सत्य है कि जब किसी विकसित विचारधारा का प्रवाह अवरुद्ध करके एक दूसरी विचारधारा का समर्थन एवं प्रचार किया जाता है तब उसके सिद्धांतों के युक्तियुक्त खंडन के साथ उसकी कतिपय लोकप्रिय एवं लोकोपयोगी विशेषताओं को आत्मीय भी बना लिया जाता है। जगद्गुरु शंकर, राघवानंद, रामानुज, रामानंद आदि सबकी दृष्टि यही रही है। श्रीसंप्रदाय पर नाथपंथ का प्रभाव पड़ चुका था, वह उदारतावादी हो गया था। व्यापक लोकदर्शन के फलस्वरूप स्वामी रामानंद की दृष्टि और भी उदार हो गई थी। इसीलिये उनके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शिष्यों में जुलाहे, रैदास, नाई, डोम आदि सभी का समावेश देखा जाता है। इस काल में जो सत्याभिनिवेशी भक्त या साधु हुए उन्होंने सत् के ग्रहणपूर्वक असत् पर निर्मम प्रहार भी किए। प्राचीन काल के धर्म की जो प्रतीकप्रधान पद्धति चली आ रही थी, सामान्य जनता को, उसका बोध न होने के कारण, कबीर जैसे संतों के व्यंग्यप्रधान प्रत्यक्षपरक वाग्बाण आकर्षक प्रतीत हुए। इन संतों में बहुतों ने अपने सत्कर्तव्य की इतिश्री अपने नाम से एक नया 'पंथ' निकालने में समझी। उनकी सामूहिक मानवतावादी दृष्टि संकीर्णता के घेरे में आ पड़ी। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक नाना पंथ एक के बाद एक अस्तित्व में आते गए। सिक्खों के आदि गुरु नानकदेव ने (सं० १५२६-९५) नानकपंथ, दादू दयाल ने (१६१०-१६६०) दादूपंथ, कबीरदास ने कबीरपंथ, बावरी ने बावरीपंथ, हरिदास (१७ वीं शती उत्तरार्ध) ने निरंजनी संप्रदाय और मलूकदास ने मलूकपंथ को जन्म दिया। आगे चलकर बाबालाली संप्रदाय, धामी संप्रदाय, साध संप्रदाय, धरनीश्वरी संप्रदाय, दरियादासी संप्रदाय, दरियापंथ, शिवनारायणी संप्रदाय, गरीबपंथ, रामसनेही संप्रदाय आदि नाना प्रकार के पंथों एवं संप्रदायों के निर्माण का श्रेय उन संतों को है जिन्होंने सत्यदर्शन एवं लोकोपकार का व्रत ले रखा था और बाद में संकीर्णता को गले लगाया। जो संत निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हुए राम, कृष्ण आदि को साधारण मनुष्य के रूप में देखने के आग्रही थे वे स्वयं ही अपने आपको राम, कृष्ण की भाँति पुजाने लगे। संप्रदाय-पोषकों ने अपने आदि गुरु को ईश्वर या परमात्मा सिद्ध करने के लिये नाना प्रकार की कल्पित आख्यायिकाएँ गढ़ डालीं। यही कारण है कि उन सभी निर्गुणिए संतों के वृत्त अपने पंथ या संप्रदाय की पिटारी में ही बंद होकर रह गए। इधर साहित्य में जब से शोधकार्य ने बल पाया है तब से साहित्यग्रंथों के कतिपय पृष्ठों में उनकी चर्चा हो जाती है, जनसामान्य से उनका कोई संपर्क नहीं रह गया है। इन संप्रदायों में दो एक संप्रदाय ऐसे भी देख पड़े, जिन्होंने अपने जीवन में भक्ति को गौण किंतु कर्म को प्रधानता दी। सतनामी संप्रदायवालों ने मुगल सम्राट् औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह का झंडा ऊपर लहराया था (सं०

१७२१ वि०)। नानकपंथ के नवें गुरु श्री गोविंद सिंह ने अपने संप्रदाय को सेना के रूप में परिणत कर दिया था। इसी संतपरंपरा में आगे चलकर राधास्वामी संप्रदाय (१९ वीं शती) अस्तित्व में आया। यह संतपरंपरा राजा राममोहन राय (ब्रह्मसमाज, १८३५-६०), स्वामी दयानंद (सं० १८८१-१९४१ वि०—आर्यसमाज), स्वामी रामतीर्थ (सं० १९३०-६३), तक चली आई है। महात्मा गांधी को इस परंपरा की अंतिम कड़ी कहा जा सकता है।

साहित्य—जैसा पहले कहा जा चुका है, इन संप्रदायों और पंथों के बहुसंख्यक आदि गुरु अशिक्षित ही थे। अतः वे मौखिक रूप में अपने विचारों और भावों को प्रकट किया करते थे। शिष्यमंडल उन्हें याद कर लिया करता था। आगे चलकर उन्हीं उपदेशात्मक वचनों को शिष्यों द्वारा लिपिबद्ध कर लिया गया और वही उनका धर्मग्रंथ हो गया। इन कथनों एवं वचनों के संग्रह में कहीं कहीं उत्तम और सामान्य काव्य की बानगी भी मिल जाती है। अतः इन पद्यकार संतों में कतिपय ऐसे संत भी हैं जो मुख्यतः संत होते हुए भी गौणतः कवि भी हैं। इसमें कइयों ने अपनी शास्त्रीय शिक्षा के अभाव को बहुश्रुतता द्वारा दूर करने का प्रयास अवश्य किया है, वह भी दर्शन के क्षेत्र में, साहित्य के क्षेत्र में नहीं। इनमें बहुतों का साहित्य के स्वरूप से परिचय तक नहीं था किंतु उनकी अनुभूति की तीव्रता किसी भी भावुक के चित्त को आकृष्ट कर सकती है। ऐसे संतों में कबीर का स्थान प्रमुख है। हिंदू तथा मुस्लिम दोनो की धार्मिक परंपराओं एवं रूढ़िगत कतिपय मान्यताओं पर, बिना दूरदर्शितापूर्वक विचार किए, उन्होंने जो व्यंग्यात्मक प्रहार किए और अपने को सभी ऋषियों मुनियों से आचारवान एवं सच्चरित्र घोषित किया, उसके प्रभाव से समाज का निम्न वर्ग अप्रभावित न रह सका एवं आधुनिक विदेशी सभ्यता में दीक्षित एवं भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति से पराङ्मुख कतिपय जनों को उसमें सच्ची मानवता का संदेश सुनने को मिला। रवींद्रनाथ ठाकुर ने ब्रह्मसमाजी विचारों से मेल खाने के कारण कबीर की बानियों का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया और उससे आजीवन प्रभावित भी रहे। कबीर की रचना मुख्यतः साखियों और पदों में हुई है। इनमें उनकी स्वानुभूतियाँ तीव्र रूप से सामने आई हैं। संतपरंपरा में हिंदी के पहले संतसाहित्यस्रष्टा जयदेव हैं। ये गीतगोविंदकार जयदेव से भिन्न हैं। सधना, त्रिलोचन, नामदेव, सेन नाई, रैदास, पीपा, धन्ना, नानकदेव, अमरदास, धर्मदास, दादूदयाल, बषना जी, बावरी साहिबा, गरीबदास, सुंदरदास, दरियादास, दरिया साहब, सहजो बाई आदि इस परंपरा के प्रमुख संत हैं।

संतवाणी की विशेषता यही है कि वह सर्वत्र मानवतावाद का समर्थन करती है। [ला० वि० प्र०]

संयुक्त समाजवादी दल (संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी) मई १९६४ ई० में प्रजा समाजवादी दल (प्रजा सोशलिस्ट पार्टी) तथा समाजवादी दल (सोशलिस्ट पार्टी) के रामगढ़ और गया अधिवेशनों में विलयन का निश्चय किया गया और ६ जून, १९६४ ई० को दिल्ली में दोनों दलों की संयुक्त बैठक में विलयन की पुष्टि की गई। इस प्रकार संयुक्त समाजवादी दल दोनों के एकीकरण से बना।

इस दल का स्थापनाधिवेशन २९ जनवरी, १९६५ ई० को वाराणसी में हुआ। इस अधिवेशन के पूर्व २८ जनवरी को संसोपा की राष्ट्रीय समिति की बैठक सारनाथ (वाराणसी) में हुई। इस बैठक की अध्यक्षता दल के अध्यक्ष श्री एस० एम० जोशी ने की। दिल्ली में हुई समिति की बैठक की कार्रवाई पढ़ी जाने पर उसे गलत बताया गया और यह आरोप किया गया कि प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर कार्रवाई तोड़ मरोड़कर लिखी गई। बैठक की समाप्ति तक कोई निर्णय नहीं हो सका। दूसरे दिन की बैठक में प्रतिनिधित्व का प्रश्न हल हो गया और संशोधित कार्रवाई की पुष्टि हुई। किंतु बहुमत के तीव्र विरोध के कारण स्थापनाधिवेशन मे डा० राममनोहर लोहिया को आमंत्रित करने का सर्वाधिक विवादग्रस्त और बहुचर्चित प्रस्ताव पास न हो सका।

स्थापना अधिवेशन मे अध्यक्ष श्री० एस० एम० जोशी ने ध्वज फहराते हुए देश में मौलिक क्रांति करने के लिये पार्टी के सदस्यों का आह्वान किया। इस अधिवेशन मे लगभग ११ सौ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। अधिवेशन के प्रथम दिन लोहियासमर्थक प्रतिनिधियों को एक बिल्ला बाँटा गया। बिल्ले पर पार्टी के झंडे के ऊपर छपा था—"लोहिया छोड़ेंगे नही पार्टी तोड़ेंगे नही"।

अधिवेशन के तीसरे दिन सम्मेलन की कार्रवाई होने के पूर्व संसोपा की राष्ट्रीय समिति की बैठक हुई। इस बैठक में श्री हरिविष्णु कामत ने प्रसोपा पक्ष के १२ सदस्यों के हस्ताक्षर से सम्मेलन से अलग हो जाने की घोषणा की। उस दिन सम्मेलन प्रारंभ होते ही श्री जोशी ने प्रतिनिधियों को सूचना दी कि राष्ट्रीय समिति की बैठक में १२ सदस्यों ने हट जाने की सूचना दी है।

प्रसोपा प्रतिनिधियों के पंडाल छोड़ने के बाद अध्यक्ष श्री एम० एम० जोशी ने कहा कि इसे प्रसोपा का अलग होना नहीं कहा जायगा क्योंकि मैं भी प्रसोपा का हूँ। सम्मेलन मे एक प्रस्ताव सर्वसंमति से पास हुआ जिसे अध्यक्ष पद से श्री जोशी ने उपस्थित किया था। प्रस्ताव में कहा गया कि—"प्रसोपा तथा सोपा का एकीकरण अस्थायी नही था बल्कि स्थायी था। रामगढ़ तथा गया संमेलनों में निर्णय द्वारा दोनों दल एक हो गए। संयुक्त-सोशलिस्ट पार्टी दोनों के एकीकरण से बनी है। अब न कोई सोशलिस्ट पार्टी है, न प्रजा सोशलिस्ट पार्टी। प्रसोपा या सोपा के नाम पर कोई व्यक्ति या समूह कार्य नही कर सकता। उनका कार्य उनका व्यक्तिगत होगा। सोशलिस्ट पार्टी ने जून, १९६४ ई० की बैठक में अपना चुनावचिह्न झोपड़ी माना है और चुनाव आयोग ने भी इसे मान्यता दी है। यह सम्मेलन स्पष्ट शब्दों में पुन: घोषित करना चाहता है कि सोपा और प्रसोपा एकीकरण से ससोपा बनी।"

किंतु १९६७ ई० के महानिर्वाचन के पूर्व चुनाव आयोग ने प्रसोपा को चुनावचिह्न झोपड़ी और संसोपा को बरगद प्रदान किया।

स्थापना अधिवेशन में अध्यक्ष श्री जोशी ने निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किए—(१) धनी और गरीबों के बीच उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा अंतर यदि समाप्त नहीं किया जा सकता तो कम किया जाय

और जितनी भी तेजी से हो संपत्ति बढ़ाई जाय। इसके लिये किफायत का सहारा लेकर बचत में वृद्धि करनी होगी। विद्यमान परिस्थितियों में केवल अमीरों से ही बचत की आशा की जा सकती है बशर्ते अधिकतम और न्यूनतम आय का अनुपात १ : १० रखने का कड़ाई से पालन किया जाय और व्यय की अधिकतम सीमा पर नियंत्रण करके धनिकों को किफायत के लिये बाध्य किया जा सकता है। जब तक प्रत्येक व्यक्ति को एक सौ रुपया नहीं मिलता तब तक किसी की अधिकतम आय एक हजार रुपए से ऊपर न होने दी जाय। (२) स्कूली शिक्षा पाने की अवस्था के सभी लड़कों और लड़कियों के स्कूल जाति, धर्म या धन का भेद किए बिना एक ही प्रकार के हों। (३) सभी छात्रों को कम से कम तीन भाषाएँ पढ़ाई जायँ। मातृभाषा, दक्षिण की द्रविड़ परिवार की चार भाषाओं में से कोई एक भाषा उत्तर में पढ़ाई जाय और अंग्रेजी भाषा सभी जगह। (४) भारत सरकार की किसी भी अखिल भारतीय सेवा में जाने से पूर्व दक्षिण की द्रविड़ परिवार की किसी एक भाषा का ज्ञान अनिवार्य हो। (५) समाज के पिछड़े वर्गों को अपने भाग्यनिर्माण और नई समाजव्यवस्था की रचना के लिये ठोस अधिकार प्राप्त हो। उनके लिये नौकरियों में स्थान सुरक्षित रहे और संरक्षण में पिछड़ा वर्ग कमीशन द्वारा सुझाया गया अनुपात न्यूनतम हो। अन्याय के प्रतिरोध और माँगों की पूर्ति के लिये पिछड़े वर्गों के दलों और संघटनों द्वारा प्रारंभ आंदोलनों में सक्रिय सहयोग और सहायता दी जाय। कृषि और उद्योग की वस्तुओं के मूल्यों के बीच उचित संबंध हो या गल्ले के उत्पादन के लिये विशेष प्रोत्साहन दिया जाय। (७) ट्रेड यूनियनों, सहकारी संस्थाओं, पंचायत राज-संस्थाओं और युवक संघटनों में काम किया जाय। (८) कक्षाओं, कैंपों, अध्ययन मंडलों के आयोजन और पुस्तिकाओं तथा साहित्य के प्रकाशन द्वारा जीवन के समाजवादी मूल्यों पर विशेष जोर देते हुए कार्यकर्ताओं को समाजवाद के सिद्धांत और व्यवहार की ट्रेनिंग तथा शिक्षा दी जाय।

ससोपा ने सर्वप्रथम १९६७ ई० के चतुर्थ महानिर्वाचन में भाग लिया। इस निर्वाचन में लोकसभा के कुल ५२० सीटों में से ५११ के लिये चुनाव हुआ। इस दल ने ११२ सीटों पर अपने उम्मीदवार खड़े किए जिसमें से २३ उम्मीदवार विजयी घोषित हुए।

विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं में कुल ३४८७ सीटों में से इस दल ने ८१३ सीटों पर अपने उम्मीदवार खड़े किए जिनमें से १८० उम्मीदवार विजयी घोषित हुए। १९६७ ई० के महानिर्वाचन के बाद बिहार और उत्तर प्रदेश में बनी संयुक्त विधायक दल की सरकारों में इसके क्रमशः ५ और ३ नेताओं ने मंत्रीपद ग्रहण किया। केरल, पश्चिम बंगाल और मध्य प्रदेश की संयुक्त विधायक दल की सरकारों में भी इस दल के नेताओं ने भाग लिया।

श्री जोशी के बाद बिहार के श्री कर्पूरी ठाकुर इस दल के दूसरे अध्यक्ष हुए। [रा०]

संवत् समयगणना का मापदंड—भारतीय समाज में अनेक प्रचलित संवत् हैं। मुख्य रूप से दो संवत् चल रहे हैं, प्रथम विक्रम संवत् तथा दूसरा शक संवत्। विक्रम संवत् ई० पू० ५८ वर्ष प्रारंभ हुआ। यह संवत् मालव गण के सामूहिक प्रयत्नों द्वारा गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रम के नेतृत्व में उस समय विदेशी माने जानेवाले शक लोगों की पराजय के स्मारक रूप में प्रचलित हुआ। जान पड़ता है, भारतीय जनता के देशप्रेम और विदेशियों के प्रति उनकी भावना सदा जागृत रखने के लिये जनता ने सदा से इसका प्रयोग किया है क्योंकि भारतीय सम्राटों ने अपने ही संवत् का प्रयोग किया है। इतना निश्चित है कि यह संवत् मालव गण द्वारा जनता की भावना के अनुरूप प्रचलित हुआ और तभी से जनता द्वारा ग्राह्य एवं प्रयुक्त है। इस संवत् के प्रारंभिक काल में यह कृत, तदनंतर मालव और अंत में विक्रम संवत् रह गया। यही अंतिम नाम इस संवत् के साथ जुड़ा हुआ है। शक संवत् के विषय में बुद्धुआ का मत है कि इसे उज्जयिनी के क्षत्रप चष्टन ने प्रचलित किया। शक राज्यों को चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने समाप्त कर दिया पर उनका स्मारक शक संवत् अभी तक भारतवर्ष में चल रहा है। शक संवत् ७८ ई० में प्रारंभ हुआ। [रा०]

संस्कृत भाषा और साहित्य विश्व की समस्त प्राचीन भाषाओं और उनके साहित्य (वाङ्मय) में संस्कृत का अपना विशिष्ट महत्व है। यह महत्व अनेक कारणों और दृष्टियों से है। भारत के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन एवं विकास के सोपानों की संपूर्ण व्याख्या—संस्कृत वाङ्मय के माध्यम से आज उपलब्ध है। सहस्राब्दियों से इस भाषा और इसके वाङ्मय को — भारत में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त रही है। भारत की यह सांस्कृतिक भाषा रही है। सहस्राब्दियों तक समग्र भारत को सांस्कृतिक और भावात्मक एकता में आबद्ध रखने का इस भाषा ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसी कारण भारतीय मनीषा ने इस भाषा को अमरभाषा या देववाणी के नाम से सम्मानित किया है। ऋग्वेदकाल से लेकर आज तक इस भाषा के माध्यम से सभी प्रकार के वाङ्मय का निर्माण होता आ रहा है। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी के छोर तक किसी न किसी रूप में संस्कृत का अध्ययन अध्यापन अब तक होता चल रहा है। भारतीय संस्कृति और विचारधारा का माध्यम होकर भी यह भाषा — अनेक दृष्टियों से — धर्मनिरपेक्ष (सेक्यूलर) रही है। धार्मिक, साहित्यिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और मानविकी (ह्यूमैनिटी) आदि प्रायः समस्त प्रकार के वाङ्मय की रचना इस भाषा में हुई।

ऋग्वेदसंहिता के कतिपय मंडलों की भाषा संस्कृतवाणी का सर्वप्राचीन उपलब्ध स्वरूप है। ऋग्वेदसंहिता इस भाषा का पुरातनतम ग्रंथ है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ऋग्वेदसंहिता केवल संस्कृतभाषा का प्राचीनतम ग्रंथ नहीं है — अपितु वह आर्य जाति की संपूर्ण ग्रंथराशि में भी प्राचीनतम ग्रंथ है। दूसरे शब्दों में, समस्त विश्ववाङ्मय का वह (ऋक्संहिता) सबसे पुरातन उपलब्ध ग्रंथ है। दस मंडलों के इस ग्रंथ का द्वितीय से सप्तम मंडल तक का अंश प्राचीनतम और प्रथम तथा दशम मंडल अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। ऋग्वेदकाल से लेकर आज तक उस भाषा की अखंड और अविच्छिन्न परंपरा चली आ रही है। ऋक्संहिता केवल भारतीय वाङ्मय की ही अमूल्य निधि नहीं है — वह समग्र आर्यजाति की, समस्त विश्ववाङ्मय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विरासत है।

विश्व की प्राचीन प्रागैतिहासिक संस्कृतियों का जो अध्ययन हुआ है, उसमें कदाचित् आर्यजाति से संबद्ध अनुशीलन का विशिष्ट स्थान है। इस वैशिष्ट्य का कारण यही ऋग्वेदसंहिता है। आर्यजाति की आद्यतम निवासभूमि, उनकी संस्कृति, सभ्यता, सामाजिक जीवन आदि के विषय में जो अनुशीलन हुए हैं, ऋक्संहिता उन सबका सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रामाणिक स्रोत रहा है। पश्चिम के विद्वानों ने संस्कृत भाषा और ऋक्संहिता से परिचय पाने के कारण ही तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययन को सही दिशा दी तथा आर्यभाषाओं के भाषाशास्त्रीय विवेचन में प्रौढ़ि एवं शास्त्रीयता का विकास हुआ। भारत के वैदिक ऋषियों और विद्वानों ने अपने वैदिक वाङ्मय को मौखिक और श्रुतिपरंपरा द्वारा प्राचीनतम रूप में अत्यंत सावधानी के साथ सुरक्षित और अविकृत बनाए रखा। किसी प्रकार के ध्वनिपरक, मात्रापरक, यहाँ तक कि स्वर (ऐक्सेंट) परक परिवर्तन से पूर्णतः बचाते रहने का निःस्वार्थ भाव से वैदिक वेदपाठी सहस्राब्दियों तक अथक प्रयास करते रहे। 'वेद' शब्द से मंत्रभाग (संहिताभाग) और 'ब्राह्मण' का बोध माना जाता था। 'ब्राह्मण' भाग के तीन अंश — (१) ब्राह्मण, (२) आरण्यक और (३) उपनिषद् कहे गए हैं। लिपिकला के विकास से पूर्व मौखिक परंपरा द्वारा वेदपाठियों ने इनका संरक्षण किया। बहुत सा वैदिक वाङ्मय धीरे धीरे लुप्त हो गया है। पर आज भी जितना उपलब्ध है उसका महत्व असीम है। भारतीय दृष्टि से वेद को अपौरुषेय माना गया है। कहा जाता है, मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने मंत्रों का साक्षात्कार किया। आधुनिक जगत् इसे स्वीकार नहीं करता। फिर भी यह माना जाता है कि वेदव्यास ने वैदिक मंत्रों का संकलन करते हुए संहिताओं के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित किया। अतः संपूर्ण भारतीय संस्कृति वेदव्यास की युग युग तक ऋणी बनी रहेगी।

संस्कृत भाषा—ऋक्संहिता की भाषा को संस्कृत का आद्यतम उपलब्ध रूप कहा जा सकता है। यह भी माना जाता है कि उक्त संहिता के प्रथम और दशम मंडल की भाषा अपेक्षाकृत परकालवर्ती है तथा शेष मंडलों की भाषा प्राचीनतर है। कुछ विद्वान् प्राचीन वैदिक भाषा को परवर्ती पाणिनीय (लौकिक) संस्कृत से भिन्न मानते हैं। पर यह पक्ष भ्रमपूर्ण है। वैदिक भाषा अभ्रांत रूप से संस्कृत भाषा का आद्य उपलब्ध रूप है। पाणिनि ने जिस संस्कृत भाषा का व्याकरण लिखा है उसके दो अंश हैं — (१) वैदिक भाषा (जिसे अष्टाध्यायी में 'छन्दस्' कहा गया है) और (२) भाषा (जिसे लोकभाषा या लौकिक भाषा के रूप में रखा गया है)। 'व्याकरण महाभाष्य' नाम से प्रसिद्ध आचार्य पतंजलि के शब्दानुशासन में भी वैदिक भाषा और लौकिक भाषा के शब्दों का आरंभ में उल्लेख हुआ है। 'संस्कृत नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः' के द्वारा जिसे देवभाषा या संस्कृत कहा गया है उसे संभवतः यास्क, पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के समय तक छंदोभाषा (वैदिक भाषा) और लोकभाषा के दो नामों, स्तरों और रूपों द्वारा व्यक्त किया गया था। बहुत से विद्वानों का मत है कि भाषा के लिये 'संस्कृत' का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्मीकिरामायण के सुंदरकांड (३० सर्ग) में हनुमान् द्वारा विशेषणरूप से (संस्कृता वाक्) किया गया है। भारतीय परंपरा की किंवदंती के अनुसार संस्कृत भाषा पहले अव्याकृत थी, उसके प्रकृति, प्रत्ययादि का विश्लिष्ट विवेचन नहीं हुआ था। देवों द्वारा प्रार्थना करने पर देवराज इंद्र ने प्रकृति, प्रत्यय आदि के विश्लेषण विवेचन का उपायात्मक विधान प्रस्तुत किया। इसी 'संस्कार' विधान के कारण भारत की प्राचीनतम आर्यभाषा का नाम 'संस्कृत' पड़ा। ऋक्संहिताकालीन साधुभाषा तथा 'ब्राह्मण', 'आरण्यक' और 'दशोपनिषद्' की साहित्यिक वैदिक भाषा के अनंतर उसी का विकसित स्वरूप 'लौकिक संस्कृत' या 'पाणिनीय संस्कृत' हुआ। इसे ही 'संस्कृत' या संस्कृत भाषा (साहित्यिक संस्कृत भी) कहा गया। पर आज के कुछ भाषाविद् संस्कृत को संस्कार द्वारा बनाई गई कृत्रिम भाषा मानते हैं। ऐसा मानते हैं कि इस संस्कृत का मूलाधार पूर्वतर काल की उदीच्य, मध्यदेशीय या आर्यावर्तीय विभाषाएँ थीं। 'विभाषा' या 'उदीचाम्' शब्द से पाणिनिसूत्रों में इनका उल्लेख उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त भी 'प्राच्य' आदि बोलियाँ थीं। परंतु 'पाणिनि' ने भाषा का एक सार्वदेशिक और सर्वभारतीय परिष्कृत रूप स्थिर कर दिया। धीरे धीरे पाणिनिसम्मत भाषा का प्रयोगरूप और विकास प्रायः स्थायी हो गया। पतंजलि के समय तक 'आर्यावर्त' (आर्यनिवास) के शिष्ट जनों में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। [प्रागादर्शात्प्रत्यक्कालकवनाद्दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रमेतस्मिन्नार्यावर्ते आर्यनिवासे...... (महाभाष्य, ६।३।१०९)] पर शीघ्र ही वह समग्र भारत के द्विजातिवर्ग और विद्वत्समाज की सांस्कृतिक और आकर भाषा हो गई।

संस्कृत भाषा के विकासस्तरों की दृष्टि से अनेक विद्वानों ने अनेक रूप से इसका ऐतिहासिक कालविभाजन किया है। सामान्य सुविधा की दृष्टि से अधिक मान्य निम्नांकित कालविभाजन दिया जा रहा है — (१) (आदिकाल) वेदसंहिताओं और वाङ्मय का काल — ई० पू० ४५०० से ८०० ई० पू० तक। (२) (मध्यकाल) ई० पू० ८०० से ८०० ई० तक जिसमें शास्त्रों, दर्शनसूत्रों, वेदांग ग्रंथों, काव्यों तथा कुछ प्रमुख साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण हुआ, (३) (परवर्तीकाल) ८०० ई० से लेकर १६०० ई० या अब तक का आधुनिक काल — जिस युग में काव्य, नाटक, साहित्यशास्त्र, तंत्रशास्त्र, शिल्पशास्त्र आदि के ग्रंथों की रचना के साथ साथ मूल ग्रंथों की व्याख्यात्मक कृतियों की महत्वपूर्ण सर्जना हुई। भाष्य, टीका, विवरण, व्याख्यान आदि के रूप में जिन सहस्रों ग्रंथों का निर्माण हुआ उनमें अनेक भाष्य और टीकाओं की प्रतिष्ठा, मान्यता, और प्रसिद्धि मूलग्रंथों से भी कहीं कहीं अधिक हुई। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधुनिक विद्वानों के अनुसार भी संस्कृत भाषा का अखंड प्रवाह पाँच सहस्र वर्षों से बहता चला आ रहा है। भारत में यह आर्यभाषा का सर्वाधिक महत्वशाली, व्यापक और संपन्न स्वरूप है। इसके माध्यम से भारत की उत्कृष्टतम मनीषा, प्रतिभा, अमूल्य चिंतन मनन, विवेक, रचनात्मक सर्जना और वैचारिक प्रज्ञा का अभिव्यंजन हुआ है। आज भी सभी क्षेत्रों में इस भाषा के द्वारा ग्रंथनिर्माण की क्षीण धारा अविच्छिन्न रूप से बह रही है। आज भी यह भाषा, अत्यंत सीमित क्षेत्र में ही सही, बोली जाती है। इसमें व्याख्यान होते हैं, शास्त्रार्थ होते हैं और भारत के विभिन्न प्रादेशिक भाषाभाषी पंडितजन इसका परस्पर वार्तालाप में प्रयोग करते हैं। हिंदुओं के सांस्कारिक कार्यों में आज भी यह प्रयुक्त होती

है। इसी कारण ग्रीक और लैटिन आदि प्राचीन मृत भाषाओं (डेड लैंग्वेजेज) से संस्कृत की स्थिति भिन्न है। यह मृतभाषा नहीं, अमरभाषा है।

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से संस्कृत भाषा आर्य-भाषा परिवार के अंतर्गत रखी गई है। आर्यजाति भारत में बाहर से आई या यहीं इसका निवास था — इत्यादि विचार अनावश्यक होने से यहाँ नहीं किया जा रहा है। पर आधुनिक भाषाविज्ञान के पंडितों की मान्यता के अनुसार भारत यूरोपीय भाषाभाषियों की जो नाना प्राचीन भाषाएँ, (वैदिक संस्कृत, अवस्ता अर्थात् प्राचीनतम पारसी ग्रीक, प्राचीन गॉथिक तथा प्राचीनतम जर्मन, लैटिन, प्राचीनतम आइरिश तथा नाना केल्ट बोलियाँ, प्राचीनतम स्लाव एवं बाल्टिक भाषाएँ, अरमीनियन, हित्ती, बुखारी आदि) थीं, वे वस्तुतः एक मूलभाषा थी (जिसे मूल आर्यभाषा, आद्य आर्यभाषा, इंडोजर्मेनिक भाषा, आद्य भारत-योरोपीय भाषा, फादरलैंग्वेज आदि) देशकालानुसारी विभिन्न शाखाएँ थी। उन सबकी उद्गमभाषा या मूलभाषा को आद्यआर्यभाषा कहते हैं। कुछ विद्वानों के मत में — वीरा— मूलनिवासस्थान के वासी सुसंगठित आर्यों को ही 'वीरोस' (wiros) या वीरास् (वीराः) कहते थे।

वीरोस् (वीरो) शब्द द्वारा जिन पूर्वोक्त प्राचीन आर्यभाषा-समूह भाषियो का द्योतन होता है उन विविध प्राचीन भाषा-भाषियों को विराम् (संवीरा.) कहा गया है। अर्थात् समस्त भाषाएँ पारिवारिक दृष्टि से आर्यपरिवार की भाषाएँ हैं। संस्कृत का इनमें अन्यतम स्थान है। उक्त परिवार की 'केंतुम्' और 'शतम्' (दोनों ही शतवाचक शब्द) दो प्रमुख शाखाएँ हैं। प्रथम के अंतर्गत ग्रीक, लातिन आदि आती हैं। संस्कृत का स्थान 'शतम्' के अंतर्गत भारत-ईरानी शाखा में माना गया है। आर्यपरिवार में कौन प्राचीन, प्राचीनतर और प्राचीनतम है यह पूर्णतः निश्चित नहीं है। फिर भी आधुनिक अधिकांश भाषाविद् ग्रीक, लातिन आदि को आद्य आर्य-भाषा की ज्येष्ठ संतति और संस्कृत को उनकी छोटी बहिन मानते हैं। इतना ही नहीं भारत ईरानी-शाखा की प्राचीनतम अवस्ता को भी संस्कृत से प्राचीन मानते हैं। परंतु अनेक भारतीय विद्वान् समझते हैं कि 'जिंद-अवस्ता' की अवस्ता का स्वरूप ऋक्भाषा की अपेक्षा नव्य है। जो भी हो, इतना निश्चित है कि ग्रथरूप में स्मृतिरूप से अवशिष्ट वाङ्मय में ऋक्संहिता प्राचीनतम है और इसी कारण वह भाषा भी अपनी उपलब्धि में प्राचीनतम है। उसकी वैदिक संहिताओं की बड़ी विशेषता यह है कि हजारों वर्षों तक जब लिपि-कला का भी प्रादुर्भाव नहीं था, वैदिक संहिताएँ मौखिक और श्रुतिपरंपरा द्वारा गुरुशिष्यों के समाज में अखंड रूप से प्रवहमान थीं। उच्चारण की शुद्धता को इतना सुरक्षित रखा गया कि ध्वनि और मात्राएँ ही नहीं, सहस्रों वर्षों पूर्व से आज तक वैदिक मंत्रों में कहीं पाठभेद नहीं हुआ। उदात्त अनुदात्तादि स्वरों का उच्चारण शुद्ध रूप में पूर्णतः अविकृत रहा। आधुनिक भाषावैज्ञानिक यह मानते हैं कि स्वरों की दृष्टि से ग्रीक, लातिन आदि के 'केंतुम्' वर्ग की भाषाएँ अधिक संपन्न भी हैं और मूल या आद्य आर्यभाषा के अधिक समीप भी। उनमें उक्त भाषा की स्वरसंपत्ति अधिक सुरक्षित है। संस्कृत में व्यंजनसंपत्ति अधिक सुरक्षित है। भाषा के संबंधात्मक अथवा रूपात्मक विचार की दृष्टि से संस्कृत भाषा को विभक्ति-प्रधान अथवा 'श्लिष्टभाषा' (एग्लुटिनेटिव लैंग्वेज) कहा जाता है।

प्रामाणिकता के विचार से इस भाषा का सर्वप्राचीन उपलब्ध व्याकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी है। कम से कम ६०० ई० पू० का यह ग्रंथ आज भी समस्त विश्व में अतुलनीय व्याकरण है। विश्व के और मुख्यतः अमरीका के भाषाशास्त्री संघटनात्मक भाषा विज्ञान की दृष्टि से अष्टाध्यायी को आज भी विश्व का सर्वोत्तम ग्रंथ मानते हैं। 'ब्लूमफील्ड' ने अपने 'लैंग्वेज' तथा अन्य कृतियों में इस तथ्य की पुष्ट स्थापना की है। पाणिनि के पूर्व संस्कृत भाषा निश्चय ही शिष्ट एवं वैदिक जनों की व्यवहारभाषा थी। असंस्कृत जनों में भी बहुत सी बोलियाँ उस समय प्रचलित रही होंगी। पर यह मत आधुनिक भाषाविज्ञों को मान्य नहीं है। वे कहते हैं कि संस्कृत कभी भी व्यवहारभाषा नहीं थी। जनता की भाषाओं को तत्कालीन प्राकृत कहा जा सकता है। देवभाषा तत्वतः कृत्रिम या सुरवार द्वारा निर्मित ब्राह्मणपंडितों की भाषा थी, लोकभाषा नहीं। परंतु यह मत सर्वमान्य नहीं है। पाणिनि से लेकर पतंजलि तक सभी ने संस्कृत को लोक की भाषा कहा है, लौकिक भाषा बताया है। अन्य सैकड़ों प्रमाण सिद्ध करते हैं कि 'संस्कृत' वैदिक और वैदिकोत्तर पूर्वपाणिनिकाल में लोकभाषा और व्यवहारभाषा (स्पोकेन लैंग्वेज) थी। यह अवश्य रहा होगा कि देश, काल और समाज के संदर्भ में उसकी अपनी सीमा रही होगी। बाद में चलकर वह पठित समाज की साहित्यिक, और सांस्कृतिक भाषा बन गई। तदनंतर यह समस्त भारत में सभी पंडितों की, चाहे वे आर्य रहे हों या आर्येतर जाति के — सभी की, सर्वमान्य सांस्कृतिक भाषा हो गई और आसेतुहिमाचल इसका प्रसार, समादर और प्रचार रहा एवं आज भी बना हुआ है। लगभग सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से योरप और पश्चिमी देशों के मिशनरी एवं अन्य विद्याप्रेमियों को संस्कृत का परिचय प्राप्त हुआ। धीरे धीरे पश्चिम में ही नहीं, समस्त विश्व में संस्कृत का प्रचार हुआ। जर्मन, अंग्रेज, फ्रांसीसी, अमरीकी तथा योरप के अनेक छोटे बड़े देश के निवासी विद्वानों ने विशेष रूप से संस्कृत के अध्ययन अनुशीलन को आधुनिक विद्वानों में प्रज्ञाप्रिय बनाया। आधुनिक विद्वानों और अनुशीलकों के मत से विश्व की पुराभाषाओं में संस्कृत सर्वाधिक व्यवस्थित, वैज्ञानिक और संपन्न भाषा है। वह आज केवल भारतीय भाषा ही नहीं, एक रूप से विश्वभाषा भी है। यह कहा जा सकता है कि भूमंडल के प्रत्न भाषा-साहित्यों में कदाचित् संस्कृत का वाङ्मय सर्वाधिक विशाल, व्यापक, चतुर्मुखी और संपन्न है। संसार के प्रायः सभी विकसित और संसार के प्रायः सभी विकासमान देशों में संस्कृत भाषा और साहित्य का आज अध्ययन अध्यापन हो रहा है।

बताया जा चुका है कि इस भाषा का परिचय होने से ही आर्य जाति, उसकी संस्कृति, जीवन और तथाकथित मूल आद्य आर्य-भाषा से संबद्ध विषयों के अध्ययन का पश्चिमी विद्वानों को ठोस आधार प्राप्त हुआ। प्राचीन ग्रीक, लातिन, अवस्ता और ऋक्संस्कृत आदि के आधार पर मूल आद्य आर्यभाषा की ध्वनि, व्याकरण और स्वरूप की परिकल्पना की जा सकी जिसमें ऋक्संस्कृत का सबसे

सबसे अधिक महत्व का है। ग्रीक, लातिन प्रत्नगाथिक आदि भाषाओं के साथ संस्कृत का पारिवारिक और निकट संबंध है। पर भारत-इरानी-वर्ग की भाषाओं के साथ (जिनमे अवस्ता, पहलवी, फारसी, ईरानी, पश्तो आदि बहुत सी प्राचीन नवीन भाषाएँ हैं) संस्कृत की सर्वाधिक निकटता है। भारत की सभी प्राच, मध्यकालीन एवं आधुनिक आर्यभाषाओं के विकास में मूलतः ऋग्वेद—एवं तदुत्तरकालीन संस्कृत का आधारिक एवं औपादानिक योगदान रहा है। आधुनिक भाषावैज्ञानिक मानते हैं कि ऋग्वेदकाल से ही जनसामान्य में बोलचाल की तथाभूत प्राकृत भाषाएँ अवश्य प्रचलित रही होंगी। उन्ही से पालि, प्राकृत अपभ्रंश तथा तदुत्तरकालीन आर्यभाषाओं का विकास हुआ। परंतु इस विकास मे संस्कृत भाषा का सर्वाधिक और सर्वविध योगदान रहा है। यहीं पर यह भी याद रखना चाहिए कि संस्कृत भाषा ने भारत के विभिन्न प्रदेशों, और अंचलों की आर्येतर भाषाओं को भी काफी प्रभावित किया तथा स्वयं उनसे प्रभावित हुई; उन भाषाओं और उनके भाषणकर्ताओं की संस्कृति और साहित्य को तो प्रभावित किया ही, उनकी भाषाओं शब्दकोश उनकी ध्वनिमाला और लिपिकला को भी अपने योगदान से लाभान्वित किया। भारत की दो प्राचीन लिपियाँ—(१) ब्राह्मी (बाएँ से लिखी जानेवाली) और (२) खरोष्ट्री (दाएँ से लेख्य) थी। इनमें ब्राह्मी को संस्कृत ने मुख्यत. अपनाया।

भाषा की दृष्टि से संस्कृत की ध्वनिमाला पर्याप्त संपन्न है। स्वरों की दृष्टि से यद्यपि ग्रीक, लातिन आदि का विशिष्ट स्थान है, तथापि अपने क्षेत्र के विचार से संस्कृत की स्वरमाला पर्याप्त और भाषानुरूप है। व्यंजनमाला अत्यंत संपन्न है। सहस्रों वर्षों तक भारतीय आर्यों के आद्यश्रुतिसाहित्य का अध्ययनाध्यापन गुरु शिष्यो द्वारा मौखिक परंपरा के रूप में प्रवर्तमान रहा क्योंकि कदाचित् उस युग में (जैसा आधुनिक इतिहासज्ञ लिपिशास्त्री मानते हैं), लिपिकला का उद्भव और विकास नहीं हो पाया था। संभवतः पाणिनि के कुछ पूर्व या कुछ बाद से लिपि का भारत में प्रयोग चल पड़ा और मुख्यतः 'ब्राह्मी' को संस्कृत भाषा का वाहन बनाया गया। इसी ब्राह्मी ने आर्य और आर्येतर अधिकांश लिपियों की वर्णमाला और वर्णक्रम को भी प्रभावित किया। आदि मध्यकालीन नाना भारतीय द्रविड़ भाषाओं तथा तमिल, तेलगु आदि की वर्णमाला पर भी संस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि का पर्याप्त प्रभाव है। ध्वनिमाला और ध्वनिक्रम की दृष्टि से पाणिनिकाल से प्रचलित संस्कृत वर्णमाला आज भी कदाचित् विश्व की सर्वाधिक वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय वर्णमाला है। संस्कृत भाषा के साथ साथ समस्त विश्व में प्रत्यक्ष या रोमन अकारांतक के रूप में आज समस्त संसार में इसका प्रचार हो गया है।

संस्कृत साहित्य—यहाँ साहित्य शब्द का प्रयोग 'वाङ्मय' के लिये है। ऊपर वेद संहिताओं का उल्लेख हुआ है। वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनकी अनेक शाखाएँ थी जिनमें बहुत सी लुप्त हो चुकी हैं और कुछ सुरक्षित बच गई हैं जिनके संहितग्रंथ हमें आज उपलब्ध हैं। इन्हीं की शाखाओं से संबद्ध ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् नामक ग्रंथों का विशाल वाङ्मय प्राप्त है। वेदांगों में सर्वप्रमुख कल्पसूत्र हैं जिनके अवांतर वर्गों के रूप में श्रौत सूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र (शुल्बसूत्र भी हैं) का भी व्यापक साहित्य बचा हुआ है। इन्ही की व्याख्या के रूप में समयानुसार धर्मसंहिताओं और स्मृतिग्रंथो का जो प्रचुर वाङ्मय बना, मनुस्मृति का उनमे प्रमुख स्थान है। वेदांगो में शिक्षा—प्रातिशाख्य, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छंद शास्त्र से संबद्ध ग्रंथों का वैदिकोत्तर काल से निर्माण होता रहा है। अब तक इन सबका विशाल साहित्य उपलब्ध है। आज ज्योतिष की तीन शाखाएँ—गणित, सिद्धांत और फलित विकसित हो चुकी हैं और भारतीय गणितज्ञो की विश्व को बहुत सी मौलिक देन है। पाणिनि और उनसे पूर्वकालीन तथा परवर्ती वैयाकरणों द्वारा जाने कितने व्याकरणो की रचना हुई जिनमें पाणिनि का व्याकरण-संप्रदाय २५०० वर्षों से प्रतिष्ठित माना गया और आज विश्व भर मे उनकी महिमा मान्य हो चुकी है। यास्क का निरुक्त पाणिनि से पूर्वकाल का ग्रंथ है और उससे भी पहले निरुक्तिविद्या के अनेक आचार्य प्रसिद्ध हो चुके थे। शिक्षा-प्रातिशाख्य ग्रंथो में कदाचित् ध्वनिविज्ञान, शास्त्र आदि का जितना प्राचीन और वैज्ञानिक विवेचन भारत की संस्कृत भाषा में हुआ है—वह अनुपम और आश्चर्यकारी है। उपवेद के रूप मे चिकित्सा-विज्ञान के रूप में आयुर्वेद विद्या का वैदिककाल से ही प्रचार था और उसके संहिताग्रंथ (चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, भेडसंहिता आदि) प्राचीन भारतीय मनीषा के वैज्ञानिक अध्ययन की विस्मयकारी निधि हैं। इस विद्या के भी विशाल वाङ्मय का कालांतर में निर्माण हुआ। इसी प्रकार धनुर्वेद और राजनीति, गांधर्ववेद आदि को उपवेद कहा गया है तथा इनके विषय को लेकर ग्रंथ के रूप में अथवा प्रसंगातर्गत संदर्भों में पर्याप्त विचार मिलता है।

वेद, वेदांग, उपवेद आदि के अतिरिक्त संस्कृत वाङ्मय में दर्शनशास्त्र का वाङ्मय भी अत्यंत विशाल है। पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा, सांख्य, योग, वैशेषिक और न्याय—इन छह प्रमुख आस्तिक दर्शनो के अतिरिक्त पचासो से अधिक आस्तिक-नास्तिक दर्शनों के नाम तथा उनके वाङ्मय उपलब्ध हैं जिनमें आत्मा, परमात्मा, जीवन, जगत्पदार्थमीमांसा, तत्वमीमांसा आदि के संदर्भ में अत्यंत प्रौढ विचार हुआ है। आस्तिक षड्दर्शनो के प्रवर्तक आचार्यों के रूप में व्यास, जैमिनि, कपिल, पतंजलि, कणाद, गौतम आदि के नाम संस्कृत साहित्य में अमर हैं। अन्य आस्तिक दर्शनों में शैव, वैष्णव, तांत्रिक आदि सैकडो दर्शन आते हैं। आस्तिकेतर दर्शनों में बौद्धदर्शनों, जैनदर्शनो आदि के संस्कृत ग्रंथ बडे ही प्रौढ और मौलिक हैं। इनमें गंभीर विवेचन हुआ है तथा उनकी विपुल ग्रंथराशि आज भी उपलब्ध है। चार्वाक, लोकायतिक, गार्हपत्य आदि नास्तिक दर्शनों का उल्लेख भी मिलता है। वेदप्रामाण्य को माननेवाले आस्तिक और तदितर नास्तिक दर्शन के आचार्यों और मनीषियों ने अत्यंत प्रचुर मात्रा मे दार्शनिक वाङ्मय का निर्माण किया है। दर्शन सूत्र के टीकाकार के रूप में परमादृत शंकराचार्य का नाम संस्कृत साहित्य में अमर है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, भरत का नाट्य शास्त्र आदि संस्कृत के कुछ ऐसे अमूल्य ग्रंथरत्न हैं—जिनका समस्त संसार के प्राचीन वाङ्मय में स्थान है। श्रीमद्भगवद्गीता का संसार

में—कहा जाता है—बाईबिल के बाद सर्वाधिक प्रचार है तथा विश्व की उत्कृष्टतम कृतियों में उसका उच्च और अन्यतम स्थान है।

वैदिक वाङ्मय के अनंतर सांस्कृतिक दृष्टि से वाल्मीकि के रामायण और व्यास के महाभारत को भारत में सर्वोच्च प्रतिष्ठा मानी गई है। महाभारत का आज उपलब्ध स्वरूप एक लाख पद्यों का है। प्राचीन भारत की पौराणिक गाथाओं, समाजशास्त्रीय मान्यताओं, दार्शनिक आध्यात्मिक दृष्टियों, मिथकों, भारतीय ऐतिहासिक जीवनचित्रों आदि के साथ साथ पौराणिक इतिहास, भूगोल और परंपरा का महाभारत महाकोश है। वाल्मीकि रामायण आद्य लौकिक महाकाव्य है। उसकी गणना आज भी विश्व के उच्चतम काव्यों में की जाती है। इनके अतिरिक्त अष्टादश पुराणों और उपपुराणादिकों का महाविशाल वाङ्मय है जिनमें पौराणिक या मिथकीय पद्धति से केवल आर्यों का ही नहीं, भारत की समस्त जनता और जातियों का सांस्कृतिक इतिहास अनुबद्ध है। इन पुराणकार मनीषियों ने भारत और भारत के बाहर से आयात सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक ऐक्य की प्रतिष्ठा का सहस्राब्दियों तक सफल प्रयास करते हुए भारतीय संस्कृति को एकसूत्रता में आबद्ध किया है।

संस्कृत के लोकसाहित्य के आदिकवि वाल्मीकि के बाद गद्य पद्य के लाखों श्रव्यकाव्यों और दृश्यश्रव्यरूप नाटकों की रचना होती चली जिनमें अधिकांश लुप्त या नष्ट हो गए। पर जो स्वल्पांश आज उपलब्ध है, सारा विश्व उसका महत्व स्वीकार करता है। कवि कालिदास के "अभिज्ञानशाकुंतलम्" नाटक को विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में स्थान प्राप्त है। अश्वघोष, भास, भवभूति, बाणभट्ट, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, शूद्रक, विशाखदत्त आदि कवि और नाटककारों को अपने अपने क्षेत्रों में अत्यंत उच्च स्थान प्राप्त है। सर्जनात्मक नाटकों के विचार से भी भारत का नाटक साहित्य अत्यत संपन्न और महत्वशाली है। साहित्यशास्त्रीय समालोचन पद्धति के विचार से नाट्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र के अत्यत प्रौढ़, विवेचनपूर्ण और मौलिक प्रचुरसंख्यक कृतियों का संस्कृत में निर्माण हुआ है। सिद्धांत की दृष्टि से रसवाद और ध्वनिवाद के विचारों को मौलिक और अत्यंत व्यापक चिंतन माना जाता है। स्तोत्र, नीति और सुभाषित के भी अनेक उच्च कोटि के ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त शिल्प, कला, संगीत, नृत्य आदि उन सभी विषयों के प्रौढ़ ग्रंथ संस्कृत भाषा के माध्यम से निर्मित हुए हैं जिनका किसी भी प्रकार से आदि-मध्यकालीन भारतीय जीवन में किसी पक्ष के साथ संबंध रहा है। ऐसा समझा जाता है कि द्यूतविद्या, चौरविद्या आदि जैसे विषयों पर ग्रंथ बनाना भी संस्कृत पंडितों ने नहीं छोड़ा था। एक बात और थी। भारतीय लोकजीवन में संस्कृत को ऐसी शास्त्रीय प्रतिष्ठा रही है कि ग्रंथों की मान्यता के लिये संस्कृत में रचना को आवश्यक माना जाता था। इसी कारण बौद्धों और जैनों के दर्शन, धर्मसिद्धांत, पुराणगाथा आदि नाना पक्षों के हजारों ग्रंथों की पाली या प्राकृत में ही नहीं संस्कृत में समधाल रचना हुई है। संस्कृत विद्या की न जाने कितनी महत्वपूर्ण शाखाओं का यहाँ उल्लेख भी अल्पस्थानता के कारण नहीं किया जा सका है। परंतु निष्कर्ष रूप से पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भारत की प्राचीन संस्कृत भाषा—अत्यंत समर्थ, संपन्न और ऐतिहासिक महत्व की भाषा है। इस प्राचीन वाणी का वाङ्मय भी अत्यंत व्यापक, सर्वतोमुखी, मानवतावादी तथा परम संपन्न रहा है। विश्व की भाषा और साहित्य में संस्कृत भाषा और साहित्य का स्थान अत्यंत महत्वशाली है। समस्त विश्व के प्राच्यविद्याप्रेमियों ने संस्कृत को जो प्रतिष्ठा और उच्चासन दिया है, उसके लिये भारत के संस्कृतप्रेमी सदा कृतज्ञ बने रहेंगे। [क० प० त्रि०]

संस्कृति सामाजिक अंतःक्रियाओं एवं सामाजिक व्यवहारों के उत्प्रेरक प्रतिमानों का समुच्चय है। इस समुच्चय में ज्ञान, विज्ञान, कला, आस्था, नैतिक मूल्य एवं प्रथाएँ समाविष्ट होती हैं। संस्कृति भौतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय के उपयुक्त मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाओं और सम्यक चेष्टाओं की समष्टिगत अभिव्यक्ति है। यह मनुष्य के वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के स्वरूप का निर्माण, निर्देशन, नियमन और नियंत्रण करती है। अतः संस्कृति मनुष्य की जीवनपद्धति, वैचारिक दर्शन एवं सामाजिक क्रियाकलाप में उसके समष्टिवादी दृष्टिकोण की अभिव्यंजना है। इसमें प्रतीकों द्वारा अर्जित तथा संप्रेषित मानवव्यवहारों के सुनिश्चित प्रतिमान संनिहित होते हैं। संस्कृति का अपरिहार्य अभ्यंतर कालक्रम में प्रादुर्भूत एवं संचित परंपरागत विचारों और तत्संबद्ध मूल्यों द्वारा निर्मित होता है। इसका एक पक्ष मानव-व्यवहार के निर्धारण और दूसरा पक्ष कतिपय विधिविहित व्यवहारों की प्रामाणिकता तथा औचित्यप्रतिपादन से संबद्ध होता है। प्रत्येक संस्कृति में चयनक्षमता एवं वरणात्मकता के सामान्य सिद्धांतों का संनिवेश होता है, जिनके माध्यम से सांस्कृतिक आधेय के नाना रूप क्षेत्रों में मानवव्यवहार के प्रतिमान सामान्यीकरण द्वारा अवकरणीय होते हैं।

सांस्कृतिक मान प्रथाओं के सामान्यीकृत एवं सुसंगठित समवाय के रूप में स्थिरता की ओर उन्मुख होते हैं, यद्यपि संस्कृति के विभिन्न तत्वों में परिवर्तन की प्रक्रिया शाश्वत चलती रहती है। किसी अवयवविशेष में परिवर्तन सांस्कृतिक प्रतिमानों के अनुरूप स्वीकरण एवं अस्वीकरण का परिणाम होता है। सांस्कृतिक प्रतिमान स्वयं भी परिवर्तनशील होते हैं। समाज की परिस्थिति में परिवर्तन की शाश्वत प्रक्रिया प्रतिमानों को प्रभावित करती है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया सांस्कृतिक प्रतिमानों के परिवर्तन की प्रक्रिया है।

संस्कृति मनुष्य एवं उसके पर्यावरण के मध्य एक अंतर्वर्ती चर है। यह मानवसमूहों के वचन और कर्म में समरूपता स्थापन की प्रवृत्ति का प्रकाशन है। संस्कृति और मानवसमूहों की अंतःक्रियाओं का नैरंतर्य सांस्कृतिक प्रगति एवं सामाजिक संबंध का प्रेरक होता है। सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक प्रतिमान अंतस्संबद्ध होते हैं। मानव समाज में इनका पृथक् अस्तित्व असंभव है। यदि सामाजिक संरचना समान जीवनपद्धति को अंगीकार करनेवाले व्यक्तियों का संगठित स्वरूप है, तो संस्कृति सर्वस्वीकृत जीवनपद्धति है। यदि सामाजिक संरचना सामाजिक संबंधों का समुच्चय है तो

संस्कृति इन संबंधों का आधार है। सामाजिक संरचना अर्जित, प्रयुक्त, रूपांतरित एवं संचारित भौतिक और अभौतिक साधनों पर आधारित होती है और संस्कृति इन साधनों के उपादानों पर बल देती है।

संस्कृति प्रकृतिप्रदत्त नहीं होती। यह सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा अर्जित होती है। अत. संस्कृति उन संस्कारों से संबद्ध होती है, जो हमारी वंशपरंपरा तथा सामाजिक विरासत के संरक्षण के साधन हैं। इनके माध्यम से सामाजिक व्यवहार की विशिष्टताओं का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में निगमन होता है। निगमन के इस नैरंतर्य में ही संस्कृति का अस्तित्व निहित होता है और इसकी संचयी प्रवृत्ति इसके विकास को गति प्रदान करती है, जिससे नवीन आदर्श जन्म लेते हैं। इन आदर्शों द्वारा बाह्य क्रियाओं और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों का समानयन होता है तथा सामाजिक संरचना और वैयक्तिक जीवनपद्धति का व्यवस्थापन होता रहता है।

संस्कृति के दो पक्ष होते हैं—(१) आधिभौतिक संस्कृति, (२) भौतिक संस्कृति। सामान्य अर्थ में आधिभौतिक संस्कृति को संस्कृति और भौतिक संस्कृति को सभ्यता के नाम से अभिहित किया जाता है। संस्कृति के ये दोनों पक्ष एक दूसरे से भिन्न होते हैं। संस्कृति आभ्यंतर है, इसमें परंपरागत चिंतन, कलात्मक अनुभूति, विस्तृत ज्ञान एवं धार्मिक आस्था का समावेश होता है। सभ्यता बाह्य वस्तु है, जिसमें मनुष्य की भौतिक प्रगति में सहायक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक उपलब्धियाँ संमिलित होती हैं। संस्कृति हमारे सामाजिक जीवनप्रवाह की उद्गमस्थली है और सभ्यता इस प्रवाह में सहायक उपकरण। संस्कृति साध्य है और सभ्यता साधन। संस्कृति सभ्यता की उपयोगिता के मूल्यांकन के लिये प्रतिमान उपस्थित करती है।

इन भिन्नताओं के होते हुए भी संस्कृति और सभ्यता एक दूसरे से अंत संबद्ध हैं और एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। सांस्कृतिक मूल्यों का स्पष्ट प्रभाव सभ्यता की प्रगति की दिशा और स्वरूप पर पड़ता है। इन मूल्यों के अनुरूप जो सभ्यता निर्मित होती है, वही समाज द्वारा गृहीत होती है। सभ्यता की नवीन उपलब्धियाँ भी व्यवहारों, हमारी मान्यताओं या दूसरे शब्दों में हमारी संस्कृति को प्रभावित करती रहती हैं। समन्वयन की प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है।

संपर्क में आनेवाली भिन्न संस्कृतियाँ भी एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। भिन्न संस्कृतियों का संपर्क उनमें सहयोग अथवा असहयोग की प्रक्रिया की उद्भावना करता है। पर दोनों प्रक्रियाओं का लक्ष्य विषमता को समाप्त कर समतास्थापन ही होता है। सहयोग की स्थिति में व्यवस्थापन तथा आत्मसात्करण समतास्थापन के साधन होते हैं और असहयोग की स्थिति में प्रतिस्पर्धा, विरोध एवं संघर्ष की शक्तियाँ क्रियाशील होती हैं और अंततः सबल संस्कृति निर्बल संस्कृति को समाप्त कर समता स्थापित करती है।

संस्कृति के भौतिक तथा आधिभौतिक पक्षों का विकास समानांतर नहीं होता। सभ्यता के विकास की गति संस्कृति के विकास की गति से तीव्र होती है। फलस्वरूप सभ्यता विकासक्रम में संस्कृति से आगे निकल जाती है। सभ्यता और संस्कृति के विकास का यह असंतुलन सामाजिक विघटन को जन्म देता है। अतः इस प्रकार प्रादुर्भूत सांस्कृतिक विलंबना द्वारा समाज में उत्पन्न असंतुलन और अव्यवस्था के निराकरण हेतु आधिभौतिक संस्कृति में प्रयत्नपूर्वक सुधार आवश्यक हो जाता है। विश्लेषण, परीक्षण एवं मूल्यांकन द्वारा सभ्यता और संस्कृति का नियमन मानव के भौतिक और आध्यात्मिक अभ्युत्थान में अनुपम सहयोग प्रदान करता है।

संस्कृति यद्यपि किसी देश या कालविशेष की उपज नहीं होती, यह एक शाश्वत प्रक्रिया है, तथापि किसी क्षेत्रविशेष में किसी काल में इसका जो स्वरूप प्रकट होता है उसे एक विशिष्ट नाम से अभिहित किया जाता है। यह अभिधा काल, दर्शन, क्षेत्र, समुदाय अथवा सत्ता से संबद्ध होती है। मध्ययुगीन संस्कृति, भौतिक संस्कृति, पाश्चात्य संस्कृति, हिंदू संस्कृति तथा मुगल संस्कृति आदि की संज्ञाएँ इसी आधार पर प्रदान की गई हैं। विशिष्ट अभिधान संस्कृति के विशिष्ट स्वरूपबोध के साथ इस तथ्य को उद्भासित करता है कि संस्कृति को विशेषण प्रदान करनेवाले कारक द्वारा संस्कृति का सहज स्वरूप अनिवार्यतः प्रभावित हुआ है।

सं० ग्रं० — रांगेय राघव, डॉ० गोविंद शर्मा : संस्कृति एवं समाज-शास्त्र; डॉ० देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन; डा० राजबली पांडेय : प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति; पराशर : भारतीय समाज और संस्कृति का इतिहास; डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : सभ्यता और संस्कृति (निबंध); लक्ष्मण शास्त्री : वैदिक संस्कृति का इतिहास; डॉ० मंगलदेव शास्त्री, भारतीय संस्कृति का विकास; प्रो० राधाकमल मुखर्जी : भारतीय संस्कृति और कला; डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन : धर्म और समाज; डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी : इंडियन सिविलिजेशन; ह्वाइट, लेस्ली ए० : दी साइंस ऑव कल्चर; एडवर्ड बी० टेलर : ओरिजिन ऑव कल्चर; रैडक्लिफ, ए० आर०, ब्राउन : मेथड इन सोशल एंथ्रापॉलोजी; पार्सन्स, टॉलकाट : दी सोशल सिस्टम; डब्ल्यू० रेमंड मैन ऐंड कल्चर; इंटरनैशनल इंसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइंसेज़। [ला० ब० पां०]

सगर अयोध्या के एक प्रसिद्ध सूर्यवंशी राजा जो बड़े धर्मात्मा तथा प्रजारंजक थे। इनका विवाह विदर्भ राजकन्या केशिनी से हुआ था। इनकी दूसरी स्त्री का नाम सुमति था। इन स्त्रियों सहित सगर ने हिमालय पर कठोर तपस्या की। इससे संतुष्ट होकर महर्षि भृगु ने इन्हें वर दिया कि तुम्हारी पहली स्त्री से तुम्हारा वंश चलानेवाला पुत्र होगा और दूसरी स्त्री से ६० हजार पुत्र होंगे। सगर की पहली स्त्री से असमंजस नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो बड़ा उद्धत था। उसे सगर ने अपने राज्य से निकाल दिया। इसके पुत्र का नाम अंशुमान था। सगर की दूसरी स्त्री से ६० हजार पुत्र हुए। एक बार सगर ने अश्वमेध यज्ञ करना चाहा। अश्वमेध का घोड़ा इंद्र ने चुरा लिया और उसे पाताल में जा छिपाया। सगर के पुत्र उसे ढूँढ़ते ढूँढ़ते पाताल पहुँचे। वहाँ महर्षि कपिल के समीप अश्व को बँधा पाकर उन्होंने उनका अपमान किया। मुनि ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप देकर भस्म कर डाला। सगर ने अपने पुत्रों के न आने पर अंशुमान को उन्हें ढूँढ़ने के लिये भेजा।

अंशुमान ने पाताल में पहुँचकर मुनि को प्रसन्न किया और वहाँ से घोड़ा लेकर अयोध्या पहुँचा। अश्वमेध यज्ञ समाप्त करके सगर ने तीस सहस्र वर्ष राज्य किया। राजा भगीरथ उन्हीं के वंश के थे जो गंगा को पृथिवी पर लाए थे। इसी कारण गंगा का एक नाम भागीरथी है। [वि० त्रि०]

सत्याग्रह उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में गांधी जी के दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के अधिकारों की रक्षा के लिये कानून भंग शुरू करने तक संसार 'निःशस्त्र प्रतिकार' अथवा निष्क्रिय प्रतिरोध (पैसिव रेजिस्टेन्स) की युद्ध नीति से ही परिचित था। यदि प्रतिपक्षी की शक्ति हमसे अधिक है तो सशस्त्र विरोध का कोई अर्थ नहीं रह जाता। सबल प्रतिपक्षी से बचने के लिये 'निःशस्त्र प्रतिकार' की युद्धनीति का अवलंबन किया जाता था। इंग्लैंड में स्त्रियों ने मताधिकार प्राप्त करने के लिये इसी 'निष्क्रिय प्रतिरोध' का मार्ग अपनाया था। इस प्रकार प्रतिकार में प्रतिपक्षी पर शस्त्र से आक्रमण करने की बात छोड़कर, उसे दूसरे हर प्रकार से तंग करना, छल कपट से उसे हानि पहुँचाना, अथवा उसके शत्रु से संधि करके उसे नीचा दिखाना आदि उचित समझा जाता था।

गांधी जी को इस प्रकार की दुर्नीति पसंद नहीं थी। दक्षिण अफ्रीका में उनके आंदोलन की कार्यपद्धति बिल्कुल भिन्न थी। उनका सारा दर्शन ही भिन्न था अतः अपनी युद्धनीति के लिये उनको नए शब्द की आवश्यकता महसूस हुई। सही शब्द प्राप्त करने के लिये उन्होंने एक प्रतियोगिता की जिसमें स्वर्गीय मगनलाल गांधी ने एक शब्द सुझाया 'सदाग्रह' जिसमें थोड़ा परिवर्तन करके गांधी जी ने 'सत्याग्रह' शब्द स्वीकार किया। अमरीका के दार्शनिक थोरो ने जिस सिविल डिसओबिडियेन्स (सविनय अवज्ञा) की टेकनिक का वर्णन किया है, 'सत्याग्रह' शब्द उस प्रक्रिया से मिलता जुलता था।

'सत्याग्रह' का मूल अर्थ है सत्य के प्रति आग्रह (सत्य + आग्रह) सत्य को पकड़े रहना। अन्याय का सर्वथा विरोध करते हुए अन्यायी के प्रति वैरभाव न रखना, सत्याग्रह का मूल लक्षण है। हमें सत्य का पालन करते हुए निर्भयतापूर्वक मृत्यु का वरण करना चाहिए और मरते मरते भी जिसके विरुद्ध सत्याग्रह कर रहे हैं, उसके प्रति वैरभाव या क्रोध नहीं करना चाहिए।'

'सत्याग्रह' में अपने विरोधी के प्रति हिंसा के लिये कोई स्थान नहीं है। धैर्य एवं सहानुभूति से विरोधी को उसकी गलती से मुक्त करना चाहिए, क्योंकि जो एक को सत्य प्रतीत होता है, वही दूसरे को गलत दिखाई दे सकता है। धैर्य का तात्पर्य कष्टसहन से है। इसलिये इस सिद्धांत का अर्थ हो गया, 'विरोधी को कष्ट अथवा पीड़ा देकर नहीं, बल्कि स्वयं कष्ट उठाकर सत्य का रक्षण।'

महात्मा गांधी ने कहा था कि सत्याग्रह में एक पद 'प्रेम' अध्याहृत है। सत्याग्रह मध्यमपदलोपी समास है। सत्याग्रह यानी सत्य के लिये प्रेम द्वारा आग्रह (सत्य+प्रेम+आग्रह = सत्याग्रह)।

गांधी जी ने लार्ड हंटर के सामने सत्याग्रह की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार की थी—'यह ऐसा आंदोलन है जो पूरी तरह सच्चाई पर कायम है और हिंसा के उपायों के एवज में चलाया जा रहा।' अहिंसा सत्याग्रह दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, क्योंकि सत्य तक पहुँचने और उसपर टिके रहने का एकमात्र उपाय अहिंसा ही है। और गांधी जी के ही शब्दों में 'अहिंसा किसी को चोट न पहुँचाने की नकारात्मक (निगेटिव) वृत्तिमात्र नहीं है, बल्कि वह सक्रिय प्रेम की विधायक वृत्ति है।'

सत्याग्रह में स्वयं कष्ट उठाने की बात है। सत्य का पालन करते हुए मृत्यु के वरण की बात है। सत्य और अहिंसा के पुजारी के शस्त्रागार में 'उपवास' सबसे शक्तिशाली शस्त्र है। जिसे किसी रूप में हिंसा का आश्रय नहीं लेना है, उसके लिये उपवास अनिवार्य है। 'मृत्यु पर्यंत कष्ट सहन और इसलिये मृत्यु पर्यंत उपवास भी, सत्याग्रही का अंतिम अस्त्र है।' परंतु अगर उपवास दूसरों को मजबूर करने के लिये आत्मपीड़न का रूप ग्रहण करे तो वह त्याज्य है। आचार्य विनोबा जिसे सौम्य, सौम्यतर, सौम्यतम सत्याग्रह कहते हैं, उस भूमिका में उपवास का स्थान अंतिम है।

'सत्याग्रह' एक प्रतिकारपद्धति ही नहीं है, एक विशिष्ट जीवन-पद्धति भी है जिसके मूल में अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय, निर्भयता, ब्रह्मचर्य, सर्वधर्म समभाव आदि एकादश व्रत हैं। जिसका व्यक्तिगत जीवन इन व्रतों के कारण शुद्ध नहीं है, वह सच्चा सत्याग्रही नहीं हो सकता। इसीलिये विनोबा इन व्रतों को 'सत्याग्रह निष्ठा' कहते हैं।

'सत्याग्रह' और 'निःशस्त्र प्रतिकार' में उतना ही अंतर है, जितना उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव में। निःशस्त्र प्रतिकार की कल्पना एक निर्बल के अस्त्र के रूप में की गई है और उसमें अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये हिंसा का उपयोग वर्जित नहीं है, जबकि सत्याग्रह की कल्पना परम शूर के अस्त्र के रूप में की गई है और इसमें किसी भी रूप में हिंसा के प्रयोग के लिये स्थान नहीं है। इस प्रकार सत्याग्रह निष्क्रिय स्थिति नहीं है। वह प्रबल सक्रियता की स्थिति है। सत्याग्रह अहिंसक प्रतिकार है, परंतु वह निष्क्रिय नहीं है।

अन्यायी और अन्याय के प्रति प्रतिकार का प्रश्न सनातन है। अपनी सभ्यता के विकासक्रम में मनुष्य ने प्रतिकार के लिये प्रमुखतः चार पद्धतियों का अवलंबन किया है—(१) पहली पद्धति है बुराई के बदले अधिक बुराई। इस पद्धति से दंडनीति का जन्म हुआ और जब इससे समाज और राष्ट्र की समस्याओं के निराकरण का प्रयास हुआ तो युद्ध की संस्था का विकास हुआ। (२) दूसरी पद्धति है, बुराई के बदले समान बुराई अर्थात् अपराध का उचित दंड दिया जाय, अधिक नहीं। यह अमर्यादित प्रतिकार को सीमित करने का प्रयास है। (३) तीसरी पद्धति है, बुराई के बदले भलाई। यह बुद्ध, ईसा, गांधी आदि संतों का मार्ग है। इसमें हिंसा के बदले अहिंसा का तत्व अंतर्निहित है। (४) चौथी पद्धति है बुराई की उपेक्षा। आचार्य विनोबा कहते हैं—'बुराई का प्रतिकार मत करो बल्कि विरोधी की समुचित चिंतन में सहायता करो। उसके

सहविचार में सहकार करो। शुद्ध विचार करने, सोचने समझने, व्यक्तिगत जीवन में उसका अमल करने और दूसरों को समझाने में ही हमारे लक्ष्य की पूर्ति होनी चाहिए। सामनेवाले के सम्यक् चिंतन में मदद देना ही सत्याग्रह का सही स्वरूप है।' इसे ही विनोबा सत्याग्रह की सौम्यतर और सौम्यतम प्रक्रिया कहते हैं। सत्याग्रह प्रेम की प्रक्रिया है। उसे क्रम क्रम, अधिकाधिक निखरते जाना चाहिए।

सत्याग्रह कुछ नया नहीं है, कौटुंबिक जीवन का राजनीतिक जीवन में प्रसार मात्र है। गांधी जी की देन यह है कि उन्होंने सत्याग्रह के विचार का राजनीतिक जीवन में सामूहिक प्रयोग किया। कहा जाता है, लोकतंत्र में, जहाँ सारा काम 'लोक' की राय से, लोकप्रतिनिधियों के माध्यम से चल रहा है, सत्याग्रह के लिये कोई स्थान नहीं है। विनोबा कहते हैं--वास्तव में सामूहिक सत्याग्रह की आवश्यकता तो उस 'तंत्र' में नहीं होगी, जिसमें निर्णय बहुमत से नहीं, सर्वसमति से होगा। परंतु उस दशा में भी व्यक्तिगत सत्याग्रह पड़ोसी के सम्यक् चिंतन में सहकार के लिये तो हो ही सकता है। परंतु लोकतंत्र में जब विचारस्वातंत्र्य और विचारप्रचार के लिये पूरा अवसर है, तो सत्याग्रह को किसी प्रकार के 'दबाव, घेराव अथवा बंद,' का रूप नहीं ग्रहण करना चाहिए। ऐसा हुआ तो सत्याग्रह की सौम्यता नष्ट हो जायगी। सत्याग्रही अपने धर्म से च्युत हो जायगा।

आज दुनिया के विभिन्न कोनों में सत्याग्रह एवं अहिंसक प्रतिकार के प्रयोग निरंतर चल रहे हैं। द्वितीय महायुद्ध में हजारों युद्धविरोधी 'पैसेफिस्ट' सेना में भरती होने के बजाय जेलों में रए हैं। बर्ट्रंड रसेल जैसे दार्शनिक युद्धविरोधी सत्याग्रहों के कारण जेल के सीखचों के पीछे बंद हुए थे। अणुअस्त्रों के कारखाने आल्डर मास्टन से लंदन तक, प्रतिवर्ष ६० मील की पदयात्रा कर हजारों शांतिवादी अणुअस्त्रों के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हैं। नीग्रो नेता मार्टिन लूथर किंग के बलिदान की कहानी सत्याग्रह संग्राम की अमर गाथा बन गई है। इटली के डैनिलो डोलची के सत्याग्रह की कहानी किसको रोमांचित नहीं कर जाती। ये सारे प्रयास भले ही सत्याग्रह की कसौटी पर खरे न उतरते हों, परंतु ये शांति और अहिंसा की दिशा में एक कदम अवश्य हैं।

सत्याग्रह का रूप अंतरराष्ट्रीय संघर्ष में कैसा होगा, इसके विषय में आचार्य विनोबा कहते हैं—मान लीजिए, आक्रमणकारी हमारे गाँव में घुस जाता है, ता मैं कहूँगा कि तुम प्रेम से आओ---उनसे मिलने हम जाएँगे, डरेंगे नहीं। परंतु वे कोई गलत काम कराना चाहते हैं तो हम उनसे कहेंगे, हम यह बात मान नहीं सकते हैं---चाहे तुम हमें समाप्त कर दो। सत्याग्रह के इस रूप का प्रयोग अभी अंतरराष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिये नहीं हुआ है। परतु यदि अणुयुग की विभीषिका से मानव संस्कृति की रक्षा के लिये, हिंसा की शक्ति को अपदस्थ करके अहिंसा की शक्ति को प्रतिष्ठित होना है, तो सत्याग्रह के इस मार्ग के अतिरिक्त प्रतिकार का दूसरा मार्ग नहीं है। इस अणुयुग में अस्त्र का प्रतिकार शस्त्र से नहीं हो सकता। [वं० श्री०]

समाज मानवीय अंतःक्रियाओं के अक्रम की एक प्रणाली है। मानवीय क्रियाएँ चेतन और अचेतन दोनों स्थितियों में साभिप्राय होती हैं। व्यक्ति का व्यवहार कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के प्रयास की अभिव्यक्ति है। उसकी कुछ नैसर्गिक तथा अर्जित आवश्यकताएँ होती हैं — काम, क्षुधा, सुरक्षा आदि। इनकी पूर्ति के अभाव में व्यक्ति में कुंठा और मानसिक तनाव व्याप्त हो जाता है। वह इनकी पूर्ति स्वयं करने में सक्षम नहीं होता अतः इन आवश्यकताओं की सम्यक् संतुष्टि के लिये अपने दीर्घ विकासक्रम में मनुष्य ने एक समष्टिगत व्यवस्था को विकसित किया है। इस व्यवस्था को ही हम समाज के नाम से संबोधित करते हैं। यह व्यक्तियों का ऐसा संकलन है जिसमें वे निश्चित संबंध और विशिष्ट व्यवहार द्वारा एक दूसरे से बँधे होते हैं। व्यक्तियों की यह संगठित व्यवस्था विभिन्न कार्यों के लिये विभिन्न मानदंडों को विकसित करती है, जिनके कुछ व्यवहार अनुमत और कुछ निषिद्ध होते हैं।

समाज में विभिन्न कर्ताओं का समावेश होता है, जिनमें अंतःक्रिया होती है। इस अंतःक्रिया का भौतिक और पर्यावरणात्मक आधार होता है। प्रत्येक कर्ता अधिकतम संतुष्टि की ओर उन्मुख होता है। सार्वभौमिक आवश्यकताओं की पूर्ति समाज के अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये अनिवार्य है। तादात्म्यजनित आवश्यकताएँ संरचनात्मक तत्वों के सहअस्तित्व के क्षेत्र का नियमन करती हैं। क्रिया के उन्मेष की प्रणाली तथा स्थितिजन्य तत्व, जिनकी ओर क्रिया उन्मुख है, समाज की संरचना का निर्धारण करते हैं। संयोजक तत्व अंतःक्रिया की प्रक्रिया को संतुलित करते हैं तथा वियोजक तत्व सामाजिक संतुलन में व्यवधान उपस्थित करते हैं। वियोजक तत्वों के नियंत्रण हेतु संस्थाकरण द्वारा कर्ताओं के संबंधों तथा क्रियाओं का समायोजन होता है जिससे पारस्परिक सहयोग की वृद्धि होती है और अंतर्विरोधों का शमन होता है। सामाजिक प्रणाली में व्यक्ति को कार्य और पद, दंड और पुरस्कार, योग्यता तथा गुणों से संबंधित सामान्य नियमों और स्वीकृत मानदंडों के आधार पर प्रदान किए जाते हैं। इन अवधारणाओं की विसंगति की स्थिति में व्यक्ति समाज की मान्यताओं और विधाओं के अनुसार अपना व्यवस्थापन नहीं कर पाता और उसका सामाजिक व्यवहार विफल हो जाता है, ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर उसके लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो पाती, क्योंकि उसे समाज के अन्य सदस्यों का सहयोग नहीं प्राप्त होता। सामाजिक दंड के इसी भय से सामान्यतया व्यक्ति समाज में प्रचलित मान्य परंपराओं की उपेक्षा नहीं कर पाता, वह उनमें समायोजन का हर संभव प्रयास करता है।

चूँकि समाज व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों की एक व्यवस्था है इसलिये इसका कोई मूर्त स्वरूप नहीं होता; इसकी अवधारणा अनुभूतिमूलक है। पर इसके सदस्यों में एक दूसरे की सत्ता और अस्तित्व की प्रतीति होती है। ज्ञान और प्रतीति के अभाव में सामाजिक संबंधों का विकास संभव नहीं है। पारस्परिक सहयोग एवं संबंध का आधार समान स्वार्थ होता है। समान स्वार्थ की सिद्धि समान आचरण द्वारा संभव होती है। इस प्रकार का सामूहिक आचरण समाज द्वारा निर्धारित और निर्देशित होता है। वर्तमान सामाजिक मान्यताओं की समान लक्ष्यों से संगति के संबंध में सहमति

अनिवार्य होती है। यह सहमति पारस्परिक विमर्श तथा सामाजिक प्रतीकों के आत्मीकरण पर आधारित होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को यह विश्वास रहता है कि वह जिन सामाजिक विधाओं को उचित मानता और उनका पालन करता है, उनका पालन दूसरे भी करते हैं। इस प्रकार की सहमति, विश्वास एवं तदनुरूप आचरण सामाजिक व्यवस्था को स्थिर रखते हैं। व्यक्तियों द्वारा सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्थापित विभिन्न संस्थाएँ इस प्रकार कार्य करती हैं, जिससे एक समवेत इकाई के रूप में समाज का संगठन अप्रभावित रहता है। असहमति की स्थिति अंतर्वैयक्तिक एवं अंत:संस्थात्मक संघर्षों को जन्म देती है जो समाज के विघटन के कारण बनते हैं। यह असहमति उस स्थिति में पैदा होती है जब व्यक्ति सामूहिकता के साथ आत्मीकरण में असफल रहता है। आत्मीकरण और नियमों को स्वीकार करने में विफलता कुलागत अधिकारों एवं सीमित सदस्यों के प्रभुत्व के प्रति मूलभूत अभिवृत्तियों से संबद्ध की जा सकती है। इसके अतिरिक्त ध्येय निश्चित हो जाने के पश्चात् अवसर का अभाव इस विफलता का कारण बनता है।

सामाजिक संगठन का स्वरूप कभी शाश्वत नहीं बना रहता। समाज व्यक्तियों का समुच्चय है और विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये विभिन्न समूहों में विभक्त है। अत: मानव मन और समूह मन की गतिशीलता उसे निरंतर प्रभावित करती रहती है। परिणामस्वरूप समाज परिवर्तनशील होता है। उसकी यह गतिशीलता ही उसके विकास का मूल है। सामाजिक विकास परिवर्तन की एक चिरंतन प्रक्रिया है जो सदस्यों की आकांक्षाओं और पुनर्निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में उन्मुख रहती है। संक्रमण की निरंतरता में सदस्यों का उपक्रम, उनकी सहमति और नूतनता से अनुकूलन की प्रवृत्ति क्रियाशील रहती है।

सं॰ ग्रं॰—मैक आइवर एवं पेज : सोसाइटी; डेविस : ह्यूमन सोसाइटी; ऐंडर्सन : सोसाइटी; एस॰ कोनिग; मैन ऐंड सोसायटी; गार्डिनर : इंडिविजुअल ऐंड दी सोसाइटी; स्वीडेलम फ्राफर्ड : मैन इन सोसाइटी; मेरिल : सोसाइटी ऐंड कल्चर; शापिरो : मैन, कल्चर ऐंड सोसाइटी; फाउंडेशंस ऑव माडर्न सोशियालाजी सिरीज; इंकल्स : ह्वाट इज सोशियालाजी; विलफ्रेडो पैरेटो : माइंड, सेल्फ ऐंड सोसाइटी; मर्टन : सोशल थियरी ऐंड सोशल स्ट्रक्चर; मैक्सवेबर : थियरी ऑव एकोनामिक ऐंड सोशल आर्गेनाइजेशन।

[ला॰ ब॰ पा॰]

समाजसेवा वैयक्तिक आधार पर, समूह अथवा समुदाय में व्यक्तियों की सहायता करने की एक प्रक्रिया है, जिससे व्यक्ति अपनी सहायता स्वयं कर सके। इसके माध्यम से सेवार्थी वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में उत्पन्न अपनी कतिपय समस्याओं को स्वयं सुलझाने में सक्षम होता है। अत: हम समाजसेवा को एक समर्थकारी प्रक्रिया कह सकते हैं। यह अन्य सभी व्यवसायों से सर्वथा भिन्न होती है, क्योंकि समाजसेवा उन सभी सामाजिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक कारकों का निरूपण कर उसके परिप्रेक्ष्य में क्रियान्वित होती है, जो व्यक्ति एवं उसके पर्यावरण—परिवार, समुदाय तथा समाज को प्रभावित करते हैं। सामाजिक कार्यकर्ता पर्यावरण की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक शक्तियों के साथ व्यक्तिगत जैविकीय, भावात्मक तथा मनोवैज्ञानिक तत्वों की गतिशील अंत:क्रिया को दृष्टिगत कर ही सेवार्थी को सेवा प्रदान करता है। वह सेवार्थी के जीवन के प्रत्येक पहलू तथा उसके पर्यावरण में क्रियाशील, प्रत्येक सामाजिक स्थिति से अवगत रहता है क्योंकि सेवा प्रदान करने की योजना बनाते समय वह इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

समाजसेवा का उद्देश्य व्यक्तियों, समूहों और समुदायों का अधिकतम हितसाधन होता है। अत: सामाजिक कार्यकर्ता सेवार्थी को उसकी समस्याओं का समाधान करने में सक्षम बनाने के साथ उसके पर्यावरण में अपेक्षित सुधार लाने का प्रयास करता है और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त सेवार्थी की क्षमता तथा पर्यावरण की रचनात्मक शक्तियों का प्रयोग करता है। समाजसेवा सेवार्थी तथा उसके पर्यावरण के हितों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करती है।

समाजसेवा का वर्तमान स्वरूप निम्नलिखित जनतांत्रिक मूल्यों के आधार पर निर्मित हुआ है :

(१) व्यक्ति की अंतर्निहित क्षमता, समग्रता एवं गरिमा में विश्वास—समाजसेवा सेवार्थी का परिवर्तन और प्रगति की क्षमता मे विश्वास करती है।

(२) स्वनिर्णय का अधिकार—सामाजिक कार्यकर्ता सेवार्थी को अपनी आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति की योजना के निर्धारण की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करता है। निस्संदेह कार्यकर्ता सेवार्थी को स्पष्ट अंतर्दृष्टि प्राप्त करने मे सहायता करता है जिससे वह वास्तविकता को स्वीकार कर लक्ष्यप्राप्ति की दिशा में उन्मुख हो।

(३) अवसर की समानता में विश्वास — समाजसेवा सबको समान रूप से उपलब्ध रहती है और सभी प्रकार के पक्षपातों और पूर्वाग्रहों से मुक्त कार्यकर्तासमूह अथवा समुदाय के सभी सदस्यों को उनकी क्षमता और आवश्यकता के अनुरूप सहायता प्रदान करता है।

(४) व्यक्तिगत अधिकारों एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों मे अंतस्संबद्धता व्यक्ति के स्वनिर्णय एवं समान अवसरप्राप्ति के अधिकार, उसके परिवार, समूह एवं समाज के प्रति उसके उत्तरदायित्व से संबद्ध होते हैं। अत: सामाजिक कार्यकर्ता व्यक्ति की अभिवृत्तियो एवं समूह तथा समुदाय के सदस्यों की अंत:क्रियाओं, व्यवहारों तथा उनके लक्ष्यों के निर्धारण को इस प्रकार निदेशित करता है कि उनके हित के साथ उनके वृहद् समाज का भी हितसाधन हो।

समाजसेवा इस प्रयोजन के निमित्त स्थापित विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से वहाँ नियुक्त प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा प्रदान की जाती है। कार्यकर्ताओं का ज्ञान, अनुभव, व्यक्तिगत कुशलता एवं सेवा करने की उनकी मनोवृत्ति सेवा के स्तर की निर्धारक होती है। कार्यकर्ता में व्यक्तित्वविकास की संपूर्ण प्रक्रिया एवं मानवव्यवहार तथा समूहव्यवहार की गतिशीलता तथा उनके निर्धारक तत्वों का सम्यक् ज्ञान समाजसेवा की प्रथम अनिवार्यता है। इस

प्रकार ज्ञान पर आधारित समाजसेवा व्यक्ति को समूहों अथवा समुदाय की सहज योग्यताओं तथा सर्जनात्मक शक्तियों को उन्मुक्त एवं विकसित कर स्वनिर्धारित लक्ष्य की दिशा में क्रियाशील बनाती है, जिससे वे अपनी संवेगात्मक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान ढूंढने में स्वयं सक्रिय रूप से प्रवृत्त होते हैं। सेवार्थी अपनी दुर्बलताओं—कुंठा, नैराश्य, हीनता, असहायता एवं असंपृक्तता की भावग्रंथियों और मानसिक तनाव, द्वंद्व तथा विद्वेषजनित आक्रमणात्मक मनोवृत्तियों का परित्याग कर कार्यकर्ता के साथ किस सीमा तक सहयोग करता है, यह कार्यकर्ता और सेवार्थी के मध्य स्थापित संबंध पर निर्भर करता है। यदि सेवार्थी समूह या समुदाय है तो लक्ष्यप्राप्ति में उसके सदस्यों के मध्य वर्तमान संबंध का विशेष महत्व होता है। समाजसेवा में संबंध ही संपूर्ण सहायता का आधार है और यह व्यावसायिक संबंध सदैव साभिप्राय होता है।

समाजसेवा के तीन प्रकार होते हैं —

(१) वैयक्तिक समाजसेवा — इस प्रक्रिया के माध्यम से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की सहायता वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में उत्पन्न उसकी कतिपय समस्याओं के समाधान के लिये करता है जिससे वह समाज द्वारा स्वीकार्य संतोषपूर्ण जीवन व्यतीत कर सके।

(२) सामूहिक समाजसेवा — एक विधि है जिसके माध्यम से किसी सामाजिक समूह के सदस्यों की सहायता एक कार्यकर्ता द्वारा की जाती है, जो समूह के कार्यक्रमों और उसके सदस्यों की अंतः-क्रियाओं को निर्देशित करता है। जिससे वे व्यक्ति की प्रगति एवं समूह के लक्ष्यों की प्राप्ति में योगदान कर सकें।

(३) सामुदायिक संगठन — वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक संगठनकर्ता की सहायता से एक समुदाय के सदस्य को समुदाय और लक्ष्यों से अवगत होकर, उपलब्ध साधनों द्वारा उनकी पूर्ति आवश्यकताओं के निमित्त सामूहिक एवं संगठित प्रयास करते हैं।

इस प्रकार समस्त सेवा की तीनों विधियों का लक्ष्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति है। उनकी सहायता इस प्रकार की जाती है कि वे अपनी आवश्यकताओं, व्यक्तिगत क्षमता तथा प्राप्य साधनों से भली भाँति अवगत होकर प्रगति कर सकें तथा स्वस्थ समाज-व्यवस्था के निर्माण में सहायक हों।

सं० ग्रं०—राजाराम शास्त्री : समाजसेवा का स्वरूप; वाडिया : हिस्ट्री ऐंड फिलॉसफी ऑव सोशल वर्क इन इंडिया; फीडलैंडर : कांसेप्ट्स ऐंड मेथड्स ऑव सोशल वर्क; क्लार्क : प्रिंसिपुल्स ऑव सोशल वर्क; स्ट्रूप : सोशल वर्क; फिंक : फील्ड ऑव सोशल वर्क; विस्नों : फिलॉसफी ऑव सोशल वर्क; यूनो : ट्रेंड्स वर्क; ऐन इन्साइक्लोपीडिया ऑव सोशल वर्क, भारतीय संस्करण; कोराकैसियस : न्यू डाइरेक्शंस इन सोशल वर्क; मिरियम वान वाटर्स : फिलासफ़िकल ट्रेंड्स इन मॉडर्न सोशल वर्क; आर्लीन जॉनसन : डेवेलपमेंट ऑव बेसिक मेथड्स ऑव सोशल वर्क, प्रैक्टिस ऐंड एजुकेशन, सोशल वर्क जर्नल, जुलाई, १९५०; हेलेन विटनर : सोशल वर्क; ए० ए० एस० डब्ल्यू०—सोशल वर्क ईयर बुक, १९५२; राजाराम शास्त्री : सोशल वर्क ट्रेडीशन इन इंडिया। [रा० श० पां०]

समुद्रगुप्त (३२८–३७८ ई०) गुप्तवंशीय महाराजाधिराज चंद्रगुप्त प्रथम की पट्टमहिषी लिच्छवि कुमारी श्रीकुमारी देवी का पुत्र। चंद्रगुप्त ने अपने अनेक पुत्रों में से इसे ही अपना उत्तराधिकारी चुना और अपने जीवनकाल में ही समुद्रगुप्त को शासनभार सौंप दिया था। प्रजाजनों को इससे विशेष हर्ष हुआ था किंतु समुद्रगुप्त के अन्य भाई इससे रुष्ट हो गए थे और उन्होंने आरंभ में गृहयुद्ध छेड़ दिया था। भाइयों का नेता 'काच' था। काच के नाम के कुछ सोने के सिक्के भी मिले हैं। गृहकलह को शांत करने में समुद्रगुप्त को एक वर्ष का समय लगा। इसके पश्चात् उसने दिग्विजययात्रा की। इसका वर्णन प्रयाग में अशोक मौर्य के स्तंभ पर विशद रूप में खुदा हुआ है। पहले इसने आर्यावर्त के तीन राजाओं — अहिच्छत्र का राजा अच्युत, पद्मावती का भारशिववंशी राजा नागसेन और राजा कोटकुलज — को विजित कर अपने अधीन किया और बड़े समारोह के साथ पुष्पपुर में प्रवेश किया। इसके बाद उसने दक्षिण की यात्रा की और क्रम से कोशल, महाकांतार, कौराल पिष्टपुर का महेंद्रगिरि (मद्रास प्रांत का वर्तमान पीठापुरम्), कोट्टूर, ऐरंडपल्ल, कांची, अवमुक्त, वेंगी, पाल्लक, देवराष्ट्र और कोस्थलपुर (वर्तमान कुट्टलूर), बारह राज्यों पर विजय प्राप्त की।

जिस समय समुद्रगुप्त दक्षिण विजययात्रा पर था उस समय उत्तर के अनेक राजाओं ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर विद्रोह कर दिया। लौटने पर समुद्रगुप्त ने उत्तर के जिन राजाओं का समूल उच्छेद कर दिया उनके नाम हैं : रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चंद्रवर्मा, गणपति नाग, नागसेन, अच्युत नंदी और बलवर्मा। इनकी विजय के पश्चात् समुद्रगुप्त ने पुनः पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) में प्रवेश किया। इस बार इन सभी राजाओं के राज्यों को उसने अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। आटविक राजाओं को इसने अपना परिचारक और अनुवर्ती बना लिया था। इसके पश्चात् इसकी महती शक्ति के संमुख किसी ने सिर उठाने का साहस नहीं किया। सीमाप्रांत के सभी नृपतियों तथा यौधेय, मालव आदि गणराज्यों ने भी स्वेच्छा से इसकी अधीनता स्वीकार कर ली। समतट (दक्षिणपूर्वी बंगाल), कामरूप, नेपाल, डवाक (आसाम का नागा प्रदेश) और कर्तृपुर (कुमायूं और गढ़वाल के पर्वतप्रदेश) इसकी अधीनता स्वीकार कर इसे कर देने लगे। मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक और खर्परिक नामक गणराज्यों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। दक्षिण और पश्चिम के अनेक राजाओं ने इसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था और वे बराबर उपहार भेजकर इसे संतुष्ट रखने की चेष्टा करते रहते थे, इनमें देवपुत्र शाहि शाहानुशाहि, शक, मुरुंड और सैंहलक (सिंहल के राजा) प्रमुख हैं। ये नृपति आत्मनिवेदन, कन्योपायन, दान और गरुड़ध्वजांकित आज्ञापत्रों के ग्रहण द्वारा समुद्रगुप्त की कृपा चाहते रहते थे। समुद्रगुप्त का साम्राज्य पश्चिम में गांधार से लेकर पूर्व में आसाम तक तथा उत्तर में हिमालय के कीर्तिपुर जनपद से लेकर दक्षिण में सिंहल तक फैला हुआ था। प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के सांधिविग्रहिक महादंडनायक हरिषेण ने लिखा है, 'पृथ्वी भर में कोई उसका प्रतिरथ नहीं था। सारी धरित्री को उसने अपने बाहुबल से बाँध रखा था।'

इसने अनेक नष्टप्राय जनपदों का पुनरुद्धार भी किया था, जिससे इसकी कीर्ति सर्वत्र फैल गई थी। सारे भारतवर्ष में अबाध शासन स्थापित कर लेने के पश्चात् इसने अनेक अश्वमेध यज्ञ किए और ब्राह्मणों, दीनों, अनाथों को अपार दान दिया। शिलालेखों में इसे 'चिरोत्सन्न अश्वमेधाहर्त्ता' और 'अनेकाश्वमेधयाजी' कहा गया है। हरिषेण ने इसका चरित्रवर्णन करते हुए लिखा है —

'उसका मन सत्संगसुख का व्यसनी था। उसके जीवन में सरस्वती और लक्ष्मी का अविरोध था। वह वैदिक धर्म का अनुगामी था। उसके काव्य से कवियों के बुद्धिवैभव का विकास होता था। ऐसा कोई भी सद्गुण नहीं है जो उसमें न रहा हो। सैकड़ों देशों पर विजय प्राप्त करने की उसकी क्षमता अपूर्व थी। स्वभुजबल ही उसका सर्वोत्तम सखा था। परशु, बाण, शंकु, शक्ति आदि अस्त्रों के घाव उसके शरीर की शोभा बढ़ाते थे। उसकी नीति थी साधुता का उदय हो तथा असाधुता का नाश हो। उसका हृदय इतना मृदुल था कि प्रणतिमात्र से पिघल जाता था। उसने लाखों गायों का दान किया था। अपनी कुशाग्र बुद्धि और संगीत कला के ज्ञान तथा प्रयोग से उसने ऐसे उत्कृष्ट काव्य का सर्जन किया था कि लोग 'कविराज' कहकर उसका सम्मान करते थे।'

समुद्रगुप्त के सात प्रकार के सिक्के मिल चुके हैं, जिनसे उसकी शूरता, युद्धकुशलता तथा संगीतज्ञता का पूर्ण आभास मिलता है। इसने सिंहल के राजा मेघवर्ण को बोधगया में बौद्धविहार बनाने की अनुमति देकर अपनी महती उदारता का परिचय दिया था। यह भारतवर्ष का प्रथम आसेतुहिमाचल का सम्राट् था। इसकी अनेक रानियों में पट्टमहिषी दत्त देवी थी, जिनसे सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने जन्म लिया था। [ला० बि० प्र०]

सरयू इस पुण्यसलिला नदी का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद में मिलता है। उसके मंडल ४.३०.१८ से विदित होता है कि इसके तट पर 'अर्ण' और 'चित्ररथ' नामक दो नृपतियों की राजधानियाँ थीं। वे दोनों ही प्रजापालक एवं न्यायप्रिय राजा थे। अतः ऋषियों ने उनके प्रति मंगलकामना प्रकट की है। ऋग्वेद के मं० ५.५३.९ तथा मं० १०.६४.९ में कहा है कि इसके शांत एवं पुनीत तट पर बैठकर ऋषि लोग तत्वचिंतन एवं यज्ञादि धर्मानुष्ठान किया करते थे। महाभारत में भी अनेक स्थलों पर पुण्यसरित् सरयू का उल्लेख है। वाल्मीकि ने रामायण में सरयू को अनेक स्थलों पर वर्णन का विषय बनाया है। इसके रम्य तट पर स्थित अयोध्यापुरी सूर्यवंशी नृपतियों की राजधानी रही है। महाराज दशरथ तथा राम के राजत्वकाल में इसका गौरव विशेष परिवर्धित हो गया था। महाराज सगर, रघु तथा राम ने इसके तट पर अनेक अश्वमेध यज्ञ किए थे। श्रीराम के अनुज कुमार लक्ष्मण ने सरयू में ही अनंतरूप में शरीरत्याग किया था। यह अतिशय दुःखद समाचार सुनकर श्रीराम ने भी इस नदी के ही माध्यम से साकेतधाम अपनाया था। इन प्राचीन ग्रंथों के उल्लेख से पता चलता है कि यह अत्यंत प्राचीन नदी है।

हरिवंशपुराण में भी इसकी पुण्यगाथा गाई गई है। कालिका पुराण में कहा गया है कि सुवर्णमय मानसगिरि पर जब अरुंधती के साथ ऋषिवर्य वशिष्ठ का विवाह हुआ तब संकल्प एवं पूजन का जल तथा शांतिसलिल पहले पर्वत की कंदरा में प्रविष्ट हुआ। तत्पश्चात् वह सात मार्गों में विभक्त होकर गिरिकंदरा, गिरिशिखर और सरोवर में होता हुआ सात सरिताओं के आकार में प्रवाहित हुआ। जो जल हंसावतार के पास की कंदरा में जा गिरा उससे सर्वकल्मष-हारिणी मंगलमयी सरयू का उद्भव हुआ। वहीं कहा गया है कि यह नदी दक्षिण विपुगामिनी और चिरस्थायिनी है। जो फल किसी व्यक्ति को गंगास्नान से मिलता है वही फल इसमें मज्जन से प्राप्त होता है। इसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रदान करनेवाली कहा गया है।

सरयू हिमाचल से निकलकर नेपाल से आगे बढ़ती है। वहाँ प्रारंभ में इसका नाम 'कौरियाला' है। पर्वत की अधित्यका में आने पर अनेक नदियाँ इसमें आ मिली हैं। भूपृष्ठ पर पहुँचकर यह दो भागों में विभक्त हो गई है। पश्चिमवाहिनी का नाम 'कौरियाला' तथा पूर्ववाहिनी का नाम गिरवा नदी है। ये दोनों ही शाखाएँ और नीचे उतरकर एक दूसरी से मिल गई हैं। खीरी जिले में 'सुहेली' नामक एक नदी इसमें आ मिली है। खीरी और बहराइच से आगे कटाईघाट तथा ब्रह्मघाट के पास क्रमशः चौका और दहावार नामक दो नदियाँ इसमें आ मिली हैं। इसके पश्चात् इसका नाम 'घर्घरा' या 'घाघरा' पड़ गया है। उत्तर में गोंडा, दक्षिण में बाराबंकी तथा फैजाबाद और पश्चिम में अयोध्या को छोड़ती हुई यह नदी दक्षिण और पूर्व की ओर बढ़ गई है। फिर यह उत्तर में बस्ती तथा गोरखपुर और दक्षिण में आजमगढ़ को छोड़ती है। पहले गोरखपुर जिले में 'कुआनो' नदी इसमें मिली है, आगे चलकर राप्ती और मुचोरा नदियाँ आ मिली हैं। यह नदी अपना मार्ग कभी उत्तर और कभी दक्षिण की ओर बदलती रहती है, जिसके चिह्न बराबर मिलते हैं। सन् १६०० ई० में विशाल बाढ़ आई थी जिससे गोंडा जिले का 'कुराशा' नगर धारा में बह गया था।

संस्कृत में इसका नाम 'सरयु' भी मिलता है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में इसकी महिमा का बहुशः आख्यान किया है। भगवान् राम लंकाविजय से लौटते समय अपने यूथपति वीरों से इसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं :

> जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि।
> उत्तर दिसि बह सरजू पावनि ॥
> जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा।
> मम समीप नर पावहिं बासा ॥—उत्तरकांड, ४।४

[ला० बि० प्र०]

सर्वोदय अंग्रेज लेखक रस्किन की एक पुस्तक है—'अनटू दिस लास्ट'—इस अंतवाले को भी। इस पुस्तक में मुख्यतः तीन बातें बताई गई हैं —

(१) व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में निहित है।

(२) वकील का काम हो या नाई का, दोनों का मूल्य समान ही है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवसाय द्वारा आजीविका चलाने का समान अधिकार है।

(३) मजदूर, किसान और कारीगर का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है।

इस पुस्तक के नाम का आधार बाईबिल की एक कहानी है। अंगूर के एक बाग के मालिक ने अपने बाग में काम करने के लिये कुछ मजदूर रखे। मजदूरी तय हुई एक पेनी रोज। दोपहर को और तीसरे पहर शाम को जो बेकार मजदूर मालिक के पास आए, उन्हें भी उसने काम पर लगा दिया। काम समाप्त होने पर सबको एक पेनी मजदूरी दी, जितनी सुबहवाले को, उतनी ही शामवाले को। इसपर कुछ मजदूरों ने शिकायत की, तो मालिक ने कहा, "मैंने तुम्हारे प्रति कोई अन्याय तो किया नहीं। क्या तुमने एक पेनी रोज पर काम मंजूर नहीं किया था। तब अपनी मजदूरी ले लो और घर जाओ। मैं अंतवाले को भी उतनी ही मजदूरी दूंगा, जितनी पहलेवाले को।"

"सुबहवाले को जितना, शामवाले को भी उतना ही—प्रथम व्यक्ति को जितना, अंतिम व्यक्ति को भी उतना ही, इसमें समानता और अद्वैत का वह तत्व समाया है, जिसपर सर्वोदय का विशाल प्रासाद खड़ा है" (दादाधर्माधिकारी—'सर्वोदय दर्शन')

रस्किन की इस पुस्तक का गांधी जी ने गुजराती में अनुवाद किया 'सर्वोदय' के नाम से। सर्वोदय अर्थात् सबका उदय, सबका विकास। सर्वोदय भारत का पुराना आदर्श है। हमारे ऋषियों ने गाया है—'सर्वेपि सुखिन: संतु'। सर्वोदय शब्द भी नया नहीं है। जैन मुनि समंतभद्र कहते हैं—सर्वापदामंतकर निरंतं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव'। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'वसुधैव कुटुंबकं', अथवा 'सोऽहम्' और 'तत्वमसि' के हमारे पुरातन आदर्शों में 'सर्वोदय' के सिद्धांत अंतर्निहित हैं।

'सर्वोदय' का आदर्श है अद्वैत और उसकी नीति है समन्वय। मानवकृत विषमता का वह अंत करना चाहता है और प्राकृतिक विषमता को घटाना चाहता है। जीवमात्र के लिये समादर और प्रत्येक व्यक्ति के प्रति सहानुभूति ही सर्वोदय का मार्ग है। जीवमात्र के लिये सहानुभूति का यह अमृत जब जीवन में प्रवाहित होता है, तब सर्वोदय की लता में सुरभिपूर्ण सुमन खिलते हैं। डार्विन ने कहा—'प्रकृति का नियम है, बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर जीवित रहती है।' हक्सले ने कहा—'जीओ और जीने दो।' सर्वोदय कहता है—'तुम दूसरों को जिलाने के लिये जीओ।' दूसरों को अपना बनाने के लिये प्रेम का विस्तार करना होगा, अहिंसा का विकास करना होगा और शोषण को समाप्त कर आज के सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन करना होगा।'

'सर्वोदय' ऐसे वर्गविहीन, जातिविहीन और शोषणमुक्त समाज की स्थापना करना चाहता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपने सर्वांगीण विकास का साधन और अवसर मिले। विनोबा कहते हैं—'जब हम सर्वोदय का विचार करते हैं, तब ऊँच नीच भाववाली वर्णव्यवस्था दीवार की तरह सामने खड़ी हो जाती है। उसे तोड़े बिना सर्वोदय स्थापित नहीं होगा। सर्वोदय को सफल बनाने के लिये जातिभेद मिटाना होगा और आर्थिक विषमता दूर करनी होगी। इनको मिटाने से ही सर्वोदय समाज बनेगा।'

'सर्वोदय ऐसी समाजरचना चाहता है जिसमें वर्ण, वर्ग, धर्म, जाति, भाषा आदि के आधार पर किसी समुदाय का न तो संहार हो, न बहिष्कार हो। सर्वोदय की समाजरचना ऐसी होगी, जो सर्व के निर्माण और सर्व की शक्ति से सर्व के हित में चले, जिसमें कम या अधिक शारीरिक सामर्थ्य के लोगों को समाज का संरक्षण समान रूप से प्राप्त हो और सभी तुल्य पारिश्रमिक (इक्वीटेबल वेजेज) के हकदार माने जायँ। विज्ञान और लोकतंत्र के इस युग में सर्व की शांति का ही मूल्य है और वही सारे विकास का मापदंड है। सर्व की शांति में पूंजी और बुद्धि में परस्पर संघर्ष की गुंजाइश नहीं है। वे समान स्तर पर परस्पर पूरक शक्तियाँ हैं। स्वभावत: सर्वोदय की समाजरचना में अंतिम व्यक्ति समाज की चिंता का सबसे पहले अधिकारी है।

सर्वोदय समाज की रचना व्यक्तिगत जीवन की शुद्धि पर ही हो सकती है। जो व्रत नियम व्यक्तिगत जीवन में 'मुक्ति' के साधन हैं वे ही जब सामाजिक जीवन में भी व्यवहृत होंगे, तब सर्वोदय समाज बनेगा। विनोबा कहते हैं—'सर्वोदय की दृष्टि से जो समाजरचना होगी, उसका आरंभ अपने जीवन से करना होगा। निजी जीवन में असत्य, हिंसा, परिग्रह आदि हुआ तो सर्वोदय नहीं होगा, क्योंकि सर्वोदय समाज भी विषमता को अहिंसा से ही मिटाना चाहता है। साम्यवादी का ध्येय भी विषमता मिटाना है, परंतु इस अच्छे साध्य के लिये वह चाहे जैसा साधन इस्तेमाल कर सकता है, परंतु सर्वोदय के लिये साधनशुद्धि भी आवश्यक है।'

गांधी जी भी कहते हैं—'समाजवाद का प्रारंभ पहले समाजवादी से होता है। अगर एक भी ऐसा समाजवादी हो, तो उसपर शून्य बढ़ाए जा सकते हैं। हर शून्य से उसकी कीमत दसगुना बढ़ जाएगी, लेकिन अगर पहला अंक शून्य हो, तो उसके आगे कितने ही शून्य बढ़ाए जायँ, उसकी कीमत फिर भी शून्य ही रहेगी।'

इसीलिये गांधी जी सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, शरीरश्रम, निर्भयता, सर्वधर्मसमन्वय, अस्पृश्यता और स्वदेशी आदि व्रतों के पालन पर इतना जोर देते थे।

(१) पारिश्रमिक की समानता—जितना वेतन नाई को उतना ही वेतन वकील को। 'अनटू दिस लास्ट' का यह तत्व सर्वोदय में पूर्णत: गृहीत है। साम्यवाद भी पारिश्रमिक में समानता चाहता है। यह तत्व दोनों में समान है।

(२) प्रतियोगिता का अभाव — प्रतियोगिता संघर्ष को जन्म देती है। साम्यवादी के लिये संघर्ष तो परम तत्व ही है। परंतु सर्वोदय संघर्ष को नहीं, सहकार को मानता है। संघर्ष में हिंसा है। सर्वोदय का सारा भवन ही अहिंसा की नींव पर खड़ा है।

(३) साधनशुद्धि — साम्यवाद साध्य की प्राप्ति के लिये साधनशुद्धि को आवश्यक नहीं मानता। सर्वोदय में साधनशुद्धि प्रमुख है। साध्य भी शुद्ध और साधन भी शुद्ध।

(४) आनुवंशिक संस्कारों से लाभ उठाने के लिये ट्रस्टीशिप की योजना — विनोबा कहते हैं—"संपत्ति की विषमता कृत्रिम व्यवस्था के कारण पैदा हुई है, ऐसा मानकर उसे छोड़ भी दें, तो मनुष्य की शारीरिक और बौद्धिक शक्ति की विषमता पूरी तरह दूर नहीं हो सकती। शिक्षण और नियमन से यह विषमता कुछ अंश तक कम की जा सकती। किंतु आदर्श की स्थिति में कुछ

विषमता के सर्वथा अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिये शरीर, बुद्धि और संपत्ति इन तीनों में से जो जिसे प्राप्त हो, उसे यही समझना चाहिए कि वह सबके हित के लिये ही मिली है। यही ट्रस्टीशिप का भाव है। अपनी शक्ति और संपत्ति का ट्रस्टी के नाते ही मनुष्यमात्र के हित के लिये प्रयोग करना चाहिए। ट्रस्टीशिप में अपरिग्रह की भावना निहित है। साम्यवाद में आनुवंशिकता के लिये कोई स्थान नहीं है। उसकी नीति तो आभिजात्य के प्रहार की रही है।

(५) विकेंद्रीकरण — सर्वोदय सत्ता और संपत्ति का विकेंद्रीकरण चाहता है जिससे शोषण और दमन से बचा जा सके। केंद्रीकृत औद्योगीकरण के इस युग में तो यह और भी आवश्यक हो गया है। विकेंद्रीकरण की यही प्रक्रिया जब सत्ता के विषय में लागू की जाती है, तब इसकी निष्पत्ति होती है शासनमुक्त समाज में। साम्यवादी की कल्पना में भी राजसत्ता तेज गर्मी में रखे हुए घी की तरह अंत में पिघल जानेवाली है। परंतु उसके पहले उसे जमे हुए घी की तरह ही नहीं, बल्कि ट्राट्स्की के सिर पर मारे हुए हथौड़े की तरह, ठोस और मजबूत होना चाहिए। (ग्रामस्वराज्य)। परंतु गांधी जी के आदि, मध्य और अंत तीनों स्थितियों में विकेंद्रीकरण और शासनमुक्तता की बात रही है। यही सर्वोदय का मार्ग है।

इस समय संसार में उत्पादन के साधनों के स्वामित्व की दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं—निजी स्वामित्व (प्राइवेट ओनरशिप) और सरकार स्वामित्व (स्टेट ओनरशिप)। निजी स्वामित्व पूँजीवाद है, सरकार स्वामित्व साम्यवाद। पूँजीवाद में शोषण है, साम्यवाद में दमन। भारत की परंपरा, उसकी प्रतिभा और उसकी परिस्थिति, तीनों की माँग है कि वह राजनीतिक और आर्थिक संगठन की कोई तीसरी ही पद्धति विकसित करे, जिससे पूँजीवाद के 'निजी अभिक्रम' और साम्यवाद के 'सामूहिक हित' का लाभ तो मिल जाय, किंतु उनके दोषों से बचा जा सके। गांधी जी की 'ट्रस्टीशिप' और 'ग्रामस्वराज्य' की कल्पना और विनोबा की इस कल्पना पर आधारित 'ग्रामदान—ग्राम स्वराज्य' की विस्तृत योजना में, दोनों के दोषों का परिहार और गुणों का उपयोग किया गया है। यहाँ स्वामित्व न निजी है, न सरकार का, बल्कि गाँव का है, जो स्वायत्त है। इस तरह सर्वोदय की यह क्रांति एक नई व्यवस्था संसार के सामने प्रस्तुत कर रही है'। [वं० श्री०]

सिंह, ठाकुर गदाधर का जन्म सन् १८६१ ई० में एक मध्यमवर्गीय राजपूत परिवार में हुआ था। आरंभ में इन्होंने एक सफल सैनिक का जीवन व्यतीत किया। बाद में यात्रावृत्तांतलेखन की ओर प्रवृत्त हुए। १९०० में इन्होंने एक सैनिक अधिकारी के रूप में चीन की यात्रा की। उसी समय चीन में 'बाक्सर विद्रोह' हुआ था। ब्रिटिश सरकार ने 'बाक्सर विद्रोह' का दमन करने के लिये राजपूत सेना की एक टुकड़ी चीन भेजी थी, ठाकुर साहब उसके एक विशिष्ट सदस्य थे। सम्राट् एडवर्ड के तिलकोत्सव के समारोह में आपको इंग्लैंड जाने का अवसर प्राप्त हुआ। वहाँ जाकर ठाकुर साहब ने जो कुछ देखा, उसे अपनी लेखनी द्वारा व्यक्त किया। ठाकुर साहब से पहले शायद ही किसी ने यात्रासंस्मरण लिखे हों। सन् १९१८ ई० में पंचास वर्ष की अल्पायु में इनका स्वर्गवास हो गया।

ठाकुर गदाधर सिंह की यात्रासंस्मरण की दो कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं, १. 'चीन में तेरह मास' और २. 'हमारी एडवर्ड-तिलक-यात्रा।'

'चीन में तेरह मास' नामक ग्रंथ ३१६ पृष्ठों में है और काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय में इसकी एक प्रति सुरक्षित है। लेखक ने इस पुस्तक में अपनी चीनयात्रा का मनोहर वृत्तांत एवं अपने सैनिक जीवन की साहसपूर्ण कहानी जिस रोचक ढंग से लिखी है वह अत्यंत मनमोहक तथा सुरुचिपूर्ण सामग्री कही जा सकती है। पुस्तक में जहाँ चीन के साधारण जीवन की कहानी है वहाँ उनके सैनिक जीवन का साहसपूर्ण ब्योरा भी है। उससे उस समय की चीनी जनता की मनोदशा, रहन सहन और आचार व्यवहार पर पूरा प्रकाश पड़ता है।

'एडवर्ड-तिलक-यात्रा' नामक कृति में लेखक ने इंग्लैंडयात्रा का रोचक वर्णन किया है। इस पुस्तक में यात्राविवरण के साथ साथ उनके संस्मरण भी हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशक में ठाकुर गदाधर सिंह हिंदी-गद्य के विशिष्ट लेखकों में माने जाते हैं। यह द्रष्टव्य है कि उस समय तक हिंदी गद्य का कोई स्वरूप निश्चित नहीं हो पाया था। भाषा के परिष्कार और उसकी व्यंजनाशक्ति को बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा था। गदाधर सिंह की कृतियों ने हिंदी गद्य के निर्माणयुग में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इनकी भाषा का स्वरूप सरल, सहज, स्वाभाविक था। इनकी हास्य व्यंग्यपूर्ण शैली पाठकों के मन को मोह लेती थी। यही कारण है कि गदाधर सिंह उस समय में यात्रा संस्मरण लिखकर ही प्रसिद्ध हो गए। [रा० मि०]

सिकंदर मकदूनिया (मेसीडन) प्रारंभ में यद्यपि एक पिछड़ा राज्य था किंतु सिकंदर के कारण वह इतिहास में अमर हो गया। ३५९ ई० पू० में फिलिप यहाँ का राजा हुआ। फिलिप की मृत्यु के बाद उसका बेटा सिकंदर ३३६ ई० पू० में मकदूनिया का राजा हुआ। उस समय उसकी अवस्था २० वर्ष की थी। वह उत्साह से भरा युवक था। उसकी शिक्षा दीक्षा प्रसिद्ध विद्वान् अरस्तू द्वारा हुई थी।

सिकंदर महान् विजेता बनना चाहता था। भाग्य से उसको पिता की सुसंगठित सेना और राज्य प्राप्त हुए थे। अपने पिता के समय में एथेन्स और थीब्स के विरुद्ध युद्ध में वह अश्वारोही दल का नायक रह चुका था। गद्दी पर बैठते ही उसने राज्य में विद्रोही शक्ति को कुचल डाला।

३३४ ई० पू० में सिकंदर लगभग साढ़े तीन हजार कुशल सैनिकों को लेकर विश्वविजय के लिये निकल पड़ा। ११ वर्षों में उसने अद्भुत सफलता प्राप्त की और साम्राज्य की सीमाओं को चारों ओर दूर दूर तक फैलाया। एशिया माइनर जीतकर भूमध्यसागर के तटवर्ती देशों को रौंदता हुआ फिनियों की शत्रुता का बदला लेता

वह एकाएक मिस्र की नील नदी की घाटी में आ पहुँचा और मिस्र को जीतकर उसने वहाँ अपने नाम पर सिकंदरिया नगर बसाया। फिर वह एशिया की ओर लौटा। एशिया में सर्वप्रथम उसकी मुठभेड़ फारस के सम्राट् दारा से हुई। दारा ने उसकी शक्ति को देखकर संधि का प्रस्ताव रखा किंतु सिकंदर ने अपनी शक्ति को कायम रखने के लिये इसे स्वीकार नहीं किया। सिकंदर सीरिया होता हुआ बेबीलोन पहुँचा और उसको जीतकर और आगे बढ़ा। दजला के तट पर आरावेला के मैदान में दारा तृतीय और सिकंदर की सेनाएँ आमने सामने डट गईं। सिकंदर की सेनाओं ने उसे रौंद दिया। दारा की सेना बहुत अधिक थी। सिकंदर ने दारा का पीछा किया किंतु दारा को उसकी प्रजा ने ही मार डाला। कास्पियन सागर तट से होकर सिकंदर खुरासान और पार्थिया को रौंदता हुआ तथा हिंदूकुश को पार करता हुआ भारत की सीमा पर पहुँचा। मार्ग में बैक्ट्रिया के राजकुमार के विद्रोह को दबाता हुआ वह भारत विजय का स्वप्न शीघ्र ही पूरा कर लेना चाहता था।

भारत में उस समय अनेक बहादुर राजा राज्य कर रहे थे। सर्वप्रथम सिकंदर ने अस्पसियों के साथ युद्ध किया। इस जाति के साथ सिकंदर का भयंकर युद्ध हुआ था। सिकंदर विजयी हुआ और वहाँ २३,००० मजबूत बैलों को पकड़कर उन्हें कृषि के कार्य के लिये मकदूनिया भेज दिया। एक एक करके रास्ते में आनेवाले राजाओं को जीता। कहीं पर भय दिखाकर और कहीं पर लोभ या धोखा देकर विजयी हुआ। 'अश्वक' जाति के राज्य की ओर से ७०,००० आयुधजीवी (जिनका पेशा ही युद्ध था) अपने वचन को रखने के लिये अंत तक युद्ध करते रहे। परतंत्र जीवन स्वीकार करने से अधिक उन्होंने मृत्यु का आलिंगन करना ही अच्छा समझा। इस घटना से सिकंदर की वीरता और उदारता दोनों ही कलंकित हो गईं। इस घटना ने सिद्ध कर दिया कि सिकंदर वीर तो था किंतु उसमें राजनीतिक ईमानदारी का सर्वथा अभाव था। भारत की ऊपरी सीमा के देशों को जीतकर सिकंदर ने निकानर और फिलिप्स नामक अपने दो सेनानायकों को इन इलाकों का शासक बनाया।

निकानर सिंधु नदी के पश्चिमी भाग का शासक हुआ और फिलिप्स पुष्करावती (पेशावर) का शासक हुआ। सिकंदर पुनः आगे बढ़ा और तक्षशिला के पास रुका। तक्षशिला के राजा आंभीक ने स्वार्थ के कारण सिकंदर का साथ देना उचित समझा। आंभीक ने सिकंदर को सिंधु नदी पार करने में सहायता दी और भेदिया का काम किया। अटक के पास ओहिंद (वर्तमान उंड) नामक स्थान पर नौकाओं का पुल बना, उसने नदी पार की। उसके साथ ११,००० सैनिक थे। दूसरे किनारे पोरस का पुत्र उसका मुकाबला करने के लिये २००० अश्वारोहियों और १२० रथों के साथ तैयार था। पोरस ने झेलम के किनारे सिकंदर का डटकर मुकाबिला किया और अंत में पकड़ा गया। सिकंदर के प्रश्न पर उसने वीरोचित उत्तर दिया, 'मेरे साथ एक समान राजा की तरह व्यवहार होना चाहिए।' इस जवाब ने सिकंदर को बहुत प्रभावित किया और उसने उसका यथोचित संमान करके उसका राज्य उसे लौटा दिया। आगे मालव और क्षुद्रक राज्यों के संयुक्त विरोध के डर से सिकंदर ने सेना को दो भागों में स्वदेश जाने की आज्ञा दी। एक सेना सामुद्रिक मार्ग से यूनान रवाना हुई। दूसरी को अपने साथ लेकर पैदल यूनान चला। मार्ग में बाबुल नामक स्थान पर ३२३ ई० पू० में उसकी मृत्यु ३२ साल की उम्र में हो गई। ३२४ ई० पू० तक सिंधु क्षेत्र उसके साम्राज्य से बाहर हो गया। कहा जाता है, सिकंदर ने आईने का आविष्कार किया। निजामी ने ईरानी भाषा में 'सिकंदरनामा' लिखकर उसकी कीर्ति को अक्षुण्ण बना दिया। [भि० प्र०]

सुकरात (४६९-३९९ ई० पू०) को सूफियों की भाँति मौखिक शिक्षा और आचार द्वारा उदाहरण देना ही पसंद था। वस्तुतः उसके समसामयिक भी उसे सूफी समझते थे। सूफियों की भाँति साधारण शिक्षा तथा मानव सदाचार पर वह जोर देता था और उन्हीं की तरह पुरानी रूढ़ियों पर प्रहार करता था। वह कहता था, "सच्चा ज्ञान संभव है बशर्ते उसके लिये ठीक तौर पर प्रयत्न किया जाए; जो बातें हमारी समझ में आती हैं या हमारे सामने आई हैं, उन्हें तत्संबंधी घटनाओं पर हम परखें, इस तरह अनेक परखों के बाद हम एक सचाई पर पहुँच सकते हैं। ज्ञान के समान पवित्रतम कोई वस्तु नहीं है।'

बुद्ध की भाँति सुकरात ने कोई ग्रंथ नहीं लिखा। बुद्ध के शिष्यों ने उनके जीवनकाल में ही उपदेशों को कंठस्थ करना शुरू किया था जिससे हम उनके उपदेशों को बहुत कुछ सीधे तौर पर जान सकते हैं; किंतु सुकरात के उपदेशों के बारे में वह भी सुविधा नहीं। सुकरात का क्या जीवनदर्शन था यह उसके आचरण से ही मालूम होता है, लेकिन उसकी व्याख्या भिन्न भिन्न लेखक भिन्न भिन्न ढंग से करते हैं। कुछ लेखक सुकरात की प्रसन्नमुखता और मर्यादित जीवनोपभोग को दिखलाकर कहते हैं कि वह भोगी था। दूसरे लेखक शारीरिक कष्टों की ओर से उसकी बेपर्वाही तथा आवश्यकता पड़ने पर जीवनसुख को भी छोड़ने के लिये तैयार रहने को दिखलाकर उसे सादा जीवन का पक्षपाती बतलाते हैं। सुकरात को हवाई बहस पसंद न थी। वह एथेन्स के बहुत ही गरीब घर में पैदा हुआ था। गंभीर विद्वान् और ख्यातिप्राप्त हो जाने पर भी उसने वैवाहिक जीवन की लालसा नहीं रखी। ज्ञान का संग्रह और प्रसार, ये ही उसके जीवन के मुख्य लक्ष्य थे। उसके अधूरे कार्य को उसके शिष्य अफलातून और अरस्तू ने पूरा किया। उसके दर्शन को दो भागों में बाँटा जा सकता है, पहला सुकरात का गुरु-शिष्य-यथार्थवाद और दूसरा अरस्तू का प्रयोगवाद।

तरुणों को बिगाड़ने, देवनिंदा और नास्तिक होने का झूठा दोष उसपर लगाया गया था और उसके लिये उसे जहर देकर मारने का दंड मिला था।

सुकरात ने जहर का प्याला खुशी खुशी पिया और जान दे दी। उसे कारागार से भाग जाने का आग्रह उसके शिष्यों तथा स्नेहियों ने किया किंतु उसने कहा —

भाइयो, तुम्हारे इस प्रस्ताव का मैं आदर करता हूँ कि मैं यहाँ से भाग जाऊँ। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन और आत्मा के प्रति मोह होता है। भला प्राण देना कौन चाहता है? किंतु यह उन साधारण लोगों

के लिये है जो लोग इस नश्वर शरीर को ही सब कुछ मानते हैं। आत्मा अमर है फिर इस शरीर से क्या डरना ? हमारे शरीर में जो निवास करता है क्या उसका कोई कुछ बिगाड़ सकता है ? आत्मा ऐसे शरीर को बार बार धारण करती है अतः इस क्षणिक शरीर की रक्षा के लिये भागना उचित नहीं है। क्या मैंने कोई अपराध किया है ? जिन लोगों ने इसे अपराध बताया है उनकी बुद्धि पर अज्ञान का प्रकोप है। मैंने उस समय कहा था—विश्व कभी भी एक ही सिद्धांत की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। मानव मस्तिष्क की अपनी सीमाएँ हैं। विश्व को जानने और समझने के लिये अपने अंतस् के तम को हटा देना चाहिए। मनुष्य यह नश्वर काया-मात्र नहीं, वह सजग और चेतन आत्मा में निवास करता है। इस-लिये हमें आत्मानुसंधान की ओर ही मुख्य रूप से प्रवृत्त होना चाहिए। यह आवश्यक है कि हम अपने जीवन में सत्य, न्याय और ईमानदारी का अवलंबन करें। हमें यह बात मानकर ही आगे बढ़ना है कि शरीर नश्वर है। अच्छा है, नश्वर शरीर अपनी सीमा समाप्त कर चुका। टहलते टहलते थक चुका हूँ। अब संसार रूपी रात्रि में लेटकर आराम कर रहा हूँ। सोने के बाद मेरे ऊपर चादर चढ़ा देना।" [चि० प्र०]

स्कंदगुप्त (४५५–४६७ ई०) गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम महेंद्रादित्य का पुत्र था। अपने पिता के शासनकाल में ही इसने प्रबल पुष्यमित्रों को पराजित करके अपनी अद्भुत प्रतिभा और वीरता का परिचय दे दिया था। यह कुमारगुप्त की पट्टमहिषी महादेवी अनंत देवी का पुत्र नहीं था। यह उनकी दूसरी रानी से था। पुष्यमित्रों का विद्रोह इतना प्रबल था कि गुप्त शासन के पाए हिल गए थे, किंतु इसने अपने निस्सीम धैर्य और अप्रतिम वीरता से शत्रुओं का सामूहिक संहार करके फिर से शांति स्थापित की। यद्यपि कुमारगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र पुरुगुप्त था, तथापि इसके शौर्यगुण के कारण राजलक्ष्मी ने स्वयं इसका वरण किया था।

इसके राज्यकाल में हूणों ने कंबोज जनपद को विजित कर गांधार में प्रवेश किया। हूण बड़े ही भीषण योद्धा थे, जिन्होंने पश्चिम में रोमन साम्राज्य को तहस नहस कर डाला था। हूणराज एटिला का नाम सुनकर यूरोपीय लोग काँप उठते थे। कंबोज, कंधार आदि जनपद गुप्तसाम्राज्य के अंग थे। शिलालेखों में कहा गया है कि गांधार में स्कंदगुप्त का हूणों के साथ इतना भयंकर संग्राम हुआ कि संपूर्ण पृथ्वी काँप उठी। इस महासंग्राम में विजयश्री ने स्कंदगुप्त का वरण किया। इसका शुभ्र यश कन्याकुमारी अंतरीप तक छा गया। बौद्ध ग्रंथ 'चंद्रगर्भपरिपृच्छा' में वर्णित है कि हूणों की सैन्यसंख्या तीन लाख थी और गुप्त सैन्यसंख्या दो लाख थी, किंतु विजयी हुआ गुप्त सैन्य। इस महान् विजय के कारण गुप्तवंश में स्कंद-गुप्त 'एकवीर' की उपाधि से विभूषित हुआ। इसने अपने बाहुबल से हूण सेना को गांधार के पीछे ढकेल दिया।

स्कंदगुप्त के समय में गुप्तसाम्राज्य अखंड रहा। इसके समय की कुछ स्वर्णमुद्राएँ मिली हैं, जिनमें स्वर्ण की मात्रा पहले के सिक्कों की अपेक्षा कम है। इससे प्रतीत होता है कि हूणयुद्ध के कारण राजकोष पर गंभीर प्रभाव पड़ा था। इसने प्रजाजनों की सुख सुविधा पर भी पूरा पूरा ध्यान दिया। सौराष्ट्र की सुदर्शन झील की दशा इसके शासनकाल के प्रारंभ में खराब हो गई थी और उससे निकली नहरों में पानी नहीं रह गया था। स्कंदगुप्त ने सौराष्ट्र के तत्कालीन शासक पर्णदत्त को आदेश देकर झील का पुनरुद्धार कराया। बाँध दृढ़ता से बाँधे गए, जिससे प्रजाजनों को अपार सुख मिला। पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने इसी समय उस झील के तट पर विशाल विष्णुमंदिर का निर्माण कराया था।

इसने राज्य की आभ्यंतर अशांति को दूर किया और हूण जैसे प्रबल शत्रु का मानमर्दन करके 'आसमुद्रक्षितीश' पद की गौरवरक्षा करते हुए साम्राज्य में चतुर्दिक् शांति स्थापित की। स्कंदगुप्त की कोई संतान नहीं थी। अतः इसकी मृत्यु के पश्चात् पुरुगुप्त सम्राट् बना। [शा० सि० प्र०]

स्वयंवर हिंदू समाज का एक विशिष्ट सामाजिक संस्थान। इस बात के प्रमाण हैं कि वैदिक काल में यह प्रथा समाज के चारों वर्णों में प्रचलित थी और यह विवाह का आरूप था। रामायण और महाभारतकाल में भी यह प्रथा राजन्यवर्ग में प्रचलित थी। पर इसका रूप कुछ संकुचित हो गया था। राजन्य कन्या पति का वरण स्वयंवर में करती थी परंतु यह समाज द्वारा मान्यता प्रदान करने के हेतु थी। कन्या को पति के वरण में स्वतंत्रता न थी। पिता की शर्तों के अनुसार पूर्ण योग्यताप्राप्त व्यक्ति ही चुना जा सकता था। पूर्व-मध्यकाल में भी इस प्रथा के प्रचलित रहने के प्रमाण मिले हैं, जैसा संयोगिता के स्वयंवर से स्पष्ट है। आर्यों के आदर्श ज्यों ज्यों विस्मृत होते गए, इस प्रथा में कमी होती गई और आज तो स्वयंवरा को उपहास का विषय ही माना जाता है। आर्यों ने स्त्रियों को संपत्ति का अधिकार मान्य किया था और उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता दी थी। इसी पृष्ठभूमि में स्वयंवर प्रथा की प्रतिष्ठापना हुई पर धीरे धीरे यह संकुचित और फिर विलुप्त हो गई। [रा०]

हर्षवर्धन अंतिम हिंदू सम्राट्, जिसने पंजाब छोड़कर समस्त उत्तरी भारत पर राज्य किया। शशांक की मृत्यु के उपरांत वह बंगाल को भी जीतने में समर्थ हुआ। हर्षवर्धन के शासनकाल का इतिहास मगध से प्राप्त दो ताम्रपत्र, राजतरंगिणी, चीनी यात्री युवेन संग के विवरण, और हर्ष एवं बाणभट्टरचित संस्कृत काव्य ग्रंथों में प्राप्त है। शासनकाल ६०६ से ६४७ ई०। वंश—थानेश्वर का पुष्य-भूति वंश।

६०५ ई० में प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के पश्चात् राज्यवर्धन राजा हुआ पर मालव नरेश देवगुप्त और गौड़ नरेश शशांक की दुरभिसंधि-

वश मारा गया। हर्षवर्धन ६०६ में गद्दी पर बैठा। हर्षवर्धन ने बहन राज्यश्री का विंध्याटवी से उद्धार किया, थानेश्वर और कन्नौज राज्यों का एकीकरण किया। देवगुप्त से मालवा छीन लिया। शशांक को गौड़ भगा दिया। दक्षिण पर अभियान किया पर आंध्र पुलकेशिन द्वितीय द्वारा रोक दिया गया। उसने साम्राज्य को सुंदर शासन दिया। धर्मों के विषय में उदार नीति बरती। विदेशी यात्रियों का संमान किया। चीनी यात्री युवेन संग ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। प्रति पाँचवें वर्ष वह सर्वस्व दान करता था। इसके लिये बहुत बड़ा धार्मिक समारोह करता था। कन्नौज और प्रयाग के समारोहों मे युवेन संग उपस्थित था। हर्ष साहित्य और कला का पोषक था। कादंबरीकार बाणभट्ट उसका अनन्य मित्र था। हर्ष स्वयं पंडित था। वह वीणा बजाता था। उसकी लिखी तीन नाटिकाएँ नागानंद, रत्नावली और प्रियदर्शिका संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। हर्षवर्धन का हस्ताक्षर मिला है जिससे उसका कलाप्रेम प्रगट होता है। [रा०]

हुसेन, डाक्टर जाकिर भारत के तृतीय राष्ट्रपति। आपका जन्म ८ फरवरी, १८९७ को हैदराबाद में एक अफ़गान परिवार में हुआ था। आपके पूर्वज अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में उत्तर-प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले के एक कस्बे कायमगंज में आ बसे थे। बाद में आपके पिता वकील फिदाहुसेन सपरिवार हैदराबाद चले गए। जब जाकिरहुसेन मात्र नौ वर्ष के थे, इनके पिता का संरक्षण इनसे सदा के लिये छिन गया। इनका परिवार कायमगंज लौट आया। इनकी प्रारंभिक शिक्षा इटावा के इस्लामिया हाई स्कूल में हुई। इन्होंने अलीगढ़ के एम० ए० ओ० कालेज से अर्थशास्त्र की स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त कर बर्लिन विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में ही डाक्टरेट किया। अध्ययनकाल में आपकी गणना सदैव सुयोग्य एवं शिष्ट छात्रों में की जाती थी। अपनी साधारण वेशभूषा, सरल स्वभाव एवं सात्विक आचरण के कारण ये विद्यार्थी जीवन में 'मुर्शिद' (आध्यात्मिक नेता) के नाम से विख्यात थे।

सन् १९२० में जब जाकिरहुसेन एम० ए० ओ० कालेज में एम० ए० के छात्र थे, महात्मा गांधी अली बंधुओं के साथ अलीगढ़ आए। उन्होंने कालेज के छात्रों एवं अध्यापकों के समक्ष देशभक्ति की भावनाओं से ओतप्रोत ओजस्वी भाषण किया। गांधी जी ने अंग्रेज सरकार द्वारा संचालित अथवा नियंत्रित शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार कर राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करने के लिये छात्रों एवं अध्यापकों का आह्वान किया। गांधी जी के भाषण का जाकिर-हुसेन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इन्होंने कालेज त्याग दिया और कतिपय छात्रों एवं अध्यापकों के सहयोग से एक राष्ट्रीय शिक्षणसंस्थान की स्थापना की जो बाद में 'जामिया मिल्लिया इस्लामिया' के नाम से विख्यात हुआ। इन्होंने इस संस्था का पोषण प्रायः ४० वर्षों तक किया।

डाक्टर हुसेन ने अपना जीवन एक शिक्षक के रूप में प्रारंभ किया। दो वर्ष पश्चात् वे उच्च अध्ययन हेतु बर्लिन चले गए। वहाँ से अर्थशास्त्र में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त कर लौटने के पश्चात् ये जामिया मिल्लिया के वाइस चांसलर बनाए गए। २९ वर्ष की अल्पायु में इतने गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होना इनके व्यक्तित्व की महनीयता का द्योतक है। उसमानिया विश्वविद्यालय के ६०० रुपए मासिक के आमंत्रण को अस्वीकार कर पावन कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर इन्होंने जामिया मिल्लिया में केवल ७५ रुपए मासिक वेतन पर अध्यापन किया। विषम आर्थिक स्थितियों में भी ये निराश नहीं हुए। ये संस्था की अस्तित्वरक्षा के लिये सतत संघर्ष करते रहे। जामिया-मिल्लिया इनके त्यागमय जीवन की महान् पूँजी और इनकी २२ वर्षों की मौन साधना और घोर तपस्या का ज्वलंत उदाहरण है। ये देश की अनेक शिक्षणसमितियों से संबद्ध रहे। डा० हुसेन महात्मा गांधी द्वारा विकसित की गई बुनियादी शिक्षा अभियान के सूत्रधार थे। इन्होंने शिक्षा के सुधार और मूल्यांकन से संबंधित अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकों की रचना की। ये हिंदुस्तानी तालीमी संघ, सेवाग्राम, विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग आदि अनेक शिक्षण समितियों के सदस्य तथा सभापति रहे। सन् १९३७ में जब प्रांतों को कुछ सीमा तक स्वायत्तता मिली और गांधी जी ने जनप्रिय प्रांतीय सरकारों से बुनियादी शिक्षा के प्रसार पर बल देने का अनुरोध किया तब गांधी जी के आमंत्रण पर डा० जाकिरहुसेन ने बुनियादी शिक्षासंबंधी राष्ट्रीय समिति की अध्यक्षता स्वीकार की। विभाजन के पश्चात् तत्कालीन शिक्षामंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद के अनुरोध पर इन्होंने अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर का कार्य संभाला। उस समय यह विश्वविद्यालय पृथक्तावादी मुसलमानों के षड्यंत्र का केंद्र था। ऐसी स्थिति में इन्होंने विश्वविद्यालय प्रशासन का गंभीर उत्तरदायित्व ग्रहण किया और आठ वर्षों तक कुशलतापूर्वक उसका निर्वाह किया। इन्होंने कई बार यूनेस्को में भारत का प्रतिनिधित्व भी किया।

डाक्टर जाकिर हुसेन सन् १९५२ में राज्यसभा के सदस्य मनोनीत किए गए। विद्वत्ता एवं राष्ट्रीय सेवाओं के लिये इन्हें सन् १९५४ में 'पद्मविभूषण' की उपाधि दी गई। सन् १९५७ मे ये बिहार के राज्यपाल नियुक्त हुए। सन् १९६२ में भारत के उप-राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। राज्यसभा के अध्यक्ष पद पर इन्होंने जिस निष्पक्षता और योग्यता का परिचय दिया वह इनके उत्तरा-धिकारियों के लिये अनुकरणीय थी। भारत के सर्वोच्च आदर्शों के ताने बाने में बुने इनके बहुमुखी व्यक्तित्व तथा इनके द्वारा संपन्न शालीन सेवाओं के लिये इन्हें सन् १९६३ में भारत का सर्वोच्च अलंकरण 'भारतरत्न' प्रदान किया गया।

सन् १९६७ में डा० हुसेन भारत के तृतीय राष्ट्रपति निर्वाचित हुए और मृत्युपर्यंत इस पद पर बने रहे। अपने कार्यकाल की अल्प अवधि में इन्होंने अपने पद की गरिमा बढ़ाई। ३ मई, सन् १९६९ को सहसा हृदय की गति बंद हो जाने से इनका असामयिक निधन हो गया।

डाक्टर जाकिरहुसेन सफल लेखक भी थे। इनकी कृतियों में जहाँ एक ओर ज्ञान विज्ञान की गुरु गंभीर धारा प्रवाहित होती है वहीं दूसरी ओर 'अब्बू की बकरी' जैसी लोकप्रिय बालो-पयोगी रचनाओं की प्रचुरता है। इन्होंने प्लेटो द्वारा रचित

सुकरात
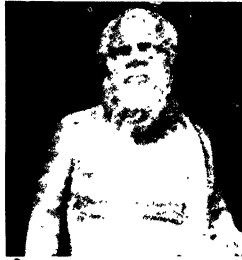
(देखें पृष्ठ १२४)

गोयस जूलियस सीज़र

(देखें पृष्ठ ११०)

पुस्तक 'रिपब्लिक' का उर्दू में अनुवाद किया। शिक्षा से संबंधित अनेक ग्रंथों एवं कहानियों के अतिरिक्त इन्होंने अर्थशास्त्र पर भी एक ग्रंथ की रचना की। 'एलिमेंट्स ऑव एकानामिक्स' तथा अर्थशास्त्र की अनेक महत्वपूर्ण कृतियों का उर्दू में अनुवाद किया। सुंदर हस्तलिपि में अपनी प्रगाढ़ रुचि का उपयोग इन्होंने गालिब की कविताओं के अत्यंत मनोहर प्रकाशन में किया। ये उर्दू के शीर्षस्थ संस्मरणलेखक भी थे। इन्होंने कार्ल मार्क्स के दर्शन का अनुशीलन भी किया था। [ला० ब० पां०]

विषयसूची

(हिंदी विश्वकोश के संपूर्ण बारह खंडों की)

विषयसूची

खंड १

खंड ५

खंड ८

निबंध — पृष्ठ संख्या

खंड ११

खंड १२

परिशिष्ट